र्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

जनवरी, 2009 ■ अठारह रुपये

JAN - JUN

40



मान साहित्य परिवार की ओर से नववर्ष की शुभकामनायें

कदम-कदम पर क्रांति

IFFCO



...किसानों के लिए



...समाज के लिए



...राष्ट्रहित के लिए

यही है इफको की पहचान

हमारा प्रयास
जागरूक एवं खुशहाल किसान

चार दशकों से इफको का प्रयास रहा है कि भारत का किसान हर दृष्टि से सम्पन्न बने और इसके लिए सहकारिता को माध्यम बनाते हुए इफको विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी और कृषि आधारित विकास के लाभ किसानों तक पहुंचाने के लिए प्रयासरत है। इफको को गर्व है कि आज हम किसान भाईयों के चेहरे पर मुस्कान ला पाने में सफल हो पाए हैं।

अपने **5** संयंत्रों और **17** सहयोगी संस्थाओं के माध्यम से इफको किसानों तक उत्तम गुणवत्ता वाले उर्वरकों के अलावा, सूचना प्रौद्योगिकी के लाभ तो पहुंचा ही रही है, साथ ही इफको किसान संचार लिमिटेड के माध्यम से मोबाइल फोन के द्वारा भी कृषि क्रांति लाने की चेष्टा कर रही है।

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड

इफको सदन, सी–1, डिस्ट्रिक्ट सेन्टर, साकेत प्लेस, नई दिल्ली–110017

दूरभाष : 91-11-26510001, 91-11-42592626 (पीबीएक्स) वेबसाइट : www.iffco.nic.in

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

संस्थापक सम्पादक
विभूति नारायण राय

सम्पादक
कुंवर पाल सिंह ◻ नमिता सिंह

सह-सम्पादक
◻ **अजय बिसारिया** ◻ **राजीवलोचन नाथ शुक्ल**

प्रवन्ध सम्पादक : **राजीव श्रीवास्तव**

सलाहकार : **वेद शर्मा, बीकानेर**

विशेष सहयोग : **परवेज़ फ़ातिमा**

शब्दांकन : **विसारत अली**

रेखांकन : **संदीप राशिनकर**

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 ◻ जनवरी, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 18/-; ◻ वार्षिक : 200/-; ◻ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ◻ आजीवन : 2000/- ◻ **विदेशों में साधारण अंक :** 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।
(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से वर्तमान साहित्य, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

इस अंक में



□

दिसंबर, 08 के अंक में आपने दुष्यंत कुमार पर अच्छी सामग्री दी है। विजय बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के आलेख काफ़ी जानकारी पूर्ण हैं। दुष्यंत कुमार का एक दुर्लभ पत्र और उसके साथ उनकी दो अप्रकाशित ग़ज़लें छापकर आपने 'वर्तमान साहित्य' के इस पन्ने को दस्तावेज़ी बना दिया है।

सुभाष रस्तोगी, चंडीगढ़

□

'वर्तमान साहित्य' का नवंबर, 08 अंक। इसाक अश्क, दिलीप कुमार, उत्तमा केसरी की कविताएँ अच्छी लगीं। उषाराजे सक्सेना, सुरेश पंडित, अमलेन्दु उपाध्याय, वीरेन्द्र सिंह यादव के आलेख भी अच्छे लगे।

सच्चिदानंद विशाल, पटना

□

'वर्तमान साहित्य' नवंबर, 08 का अंक। सुभाष गाताड़े ने साँई छाप नेता के अधोवस्त्र बड़ी बेरहमी से छीन लिए हैं 'आँसू' कहानी में। मिलान कुंदेरा की चेक-कथा, विषय वस्तु के बाँकपन वाली अजीब खेल-गाथा बन गई है। अलबत्ता दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात' की कविताएँ और श्री चतुर्भुज सहाय का मुनित्रय लेख अंक की आबरू है। कविता-चयन में आपका हाथ साफ़ नहीं है, विशेषतः छंद में, ख़ातिर जमा रहे।

सलीम खान फरीद, हसामपुर, सीकर

□

नवंबर, 08। संपादकीय के लिए नमिता सिंह को धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्हें आज भी अपने शहर से कहीं न कहीं जुड़ाव है। कहानियाँ आज के समाज से जुड़ी बातें प्रस्तुत करती हैं। 'आज की बात' के अंतर्गत अमलेंदु उपाध्याय का 'कैफ़ी का आजमगढ़ ही क्यों' ने तो पत्रिका में जान सी डाल दी है। लघुकथाओं में पूरन सिंह की स्टीकर व गूंज अपने आप में बेजोड़ सी हैं। समय संवाद के अंतर्गत कुँवरपाल सिंह द्वारा लिखित 'इस देश का मुसलमान क्या एक वोट मात्र है', मन को प्रभावित करने वाला है।

प्रणव कुमार गौरव, वाराणसी

□

'वर्तमान साहित्य' का नवंबर, 08 अंक। इसाक अश्क के गीतों ने मन मोह लिया। कितने सीधे शब्द कितने क़रीब से आँखों के रास्ते दिल में उतर कर आनंदित कर जाते हैं।

डॉ. सत्येन्द्र के लोक साहित्यिक अवदानों को बहुमूल्य मानता हुआ हर्षनंदिनी भाटिया का आलेख और कथा-सृजन पर सूरज पालीवाल की पड़ताल भी प्रभावकारी है। कथाओं ने तो पूरी गंभीरता बनाये रखी।

अश्विनी कुमार आलोक, बैशाली

□

वर्तमान साहित्य का नबम्वर अंक। सुन्दर संवेदना के उच्चतम शिखर को छूती हुई कहानियाँ! तथा भावनाओं से ओत-प्रोत, जिंदगी से भरी कविताओं, विचारपूर्ण सारगर्मित संपादकीय के लिए नमिता जी को धन्यवाद व बधाई! 'वर्तमान-साहित्य' पत्रिका हिन्दी जगत में मील का पत्थर साबित हुई है।

मनोज तिवारी की कहानी 'बलदेव काका और मैं' मन को छू गयी। अनीता पंडा की कहानी, 'एग्रीमेंट' नारी-विमर्श की एक बेहतरीन कृति के रूप में नारी-मन की पीड़ा और वेदना के दंश को बयां करती है। भारतीय परिवेश में यह पनप भले ही रही हो, पर सहज ग्राह्य नहीं है। फिर भी यह एक त्रासद स्थिति है, 'आँसू' 'पश्चाताप, कहानियाँ तथा लघुकथा 'मनुवा वो पंछी भया ने भी बेहद प्रभावित किया। उत्तिमा केशरी जी अपनी कविताओं में जीवन के राग-विराग का अच्छा ताना-बाना बुन पाती हैं। कलसी की ग़ज़लों को पढ़कर लगा जैसे ज़िंदगी की खुली किताब पढ़ी जा रही हो।

वर्तमान साहित्य का यह अंक अनूठी कृतियों का एक गुलदस्ता है। विशेष उल्लेखनीय कृति के रूप में सूरज पालीवाल की आज़ादी की पूर्व संध्या में बिलबिलाते युवकों की कथा उकेरती 'कहानी की बात' हमारे देश व समाज के सच को सामने लापाने में सफल हुई है।

पद्मा मिश्रा, एल.आई.जी-114, आदित्यपुर-2

□

सच है कि "बिखराव किसी भी समाज का भला नही करता।" आपकी 'अपनी बात' इस बार आपकी अति संवेदना को व्यक्त

करता एक सारगर्भित लेख बहुत अच्छा लगा।

जन्मशताब्दी पर हर्षनन्दिनी जी ने डॉ. सतेन्द्र का स्मरण करा उनके लोक-साहित्य सेवा का सुन्दर लेख प्रस्तुत किया। डॉ. सत्येन्द्र जी ने ब्रज लोक-साहित्य पर जितना भी कार्य किया वह सब बहुमूल्य और संग्रहणीय है। लघु कथाओं में राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से संबंधित कहानी 'असली लोग' बहुत अच्छी लगी। 'बलदेव काका और मैं' बढ़िया कहानी है। 'पश्चाताप' कहानी वृद्धावस्था और विवाह की कठिनाइयों पर केन्द्रित एक ऐसी समस्या, जिसके बीज समाज हमारी ज़िंदगी में जबरदस्ती बोता है और जिसे मरते दम तक भोगना पड़ता है। चतुर्भुज सहाय जी ने अपने लेख 'मुनित्रय' में पाणिनी, काव्यायन और पंतजलि का परिचय जिस रोचकता से किया है उससे संस्कृत की क्लिष्टता का भय समाप्त हो गया। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वर्तिका आदि व्याकरण ग्रंथों के निर्माण प्रक्रिया और उसकी साहित्य में उपयोगिता, भाषा में योगदान से हम सभी का ज्ञानवर्धन हुआ है।

उषा राजे सक्सेना का लेख प्रवासी हिन्दी साहित्य को पढ़ने की उत्सुकता को बढ़ाने वाला है। 'लिव इन रिलेशनशिप' पर आधारित सुरेश पण्डित का लेख सार्त्र और सिमोन के सहजीवन के आधार पर दिलचस्प है। इस प्रकार के संबंध प्रेरणा के तौर पर नहीं चल सकते। इसके लिए हिम्मत, जागरूकता और विवेक की जरूरत पड़ती है।

समय संवाद में कुँवरपाल सिंह जी ने मुस्लिम समाज के साथ हो रहे भेद-भाव तथा उन्हें आतंकवादी घोषित कर अपनी राजनीतिक रोटी सेंकने वाले नेताओं पर प्रश्न चिन्ह है।

सन्ध्या मिश्रा, कानुपर



वर्तमान साहित्य नवम्बर 2008 का सम्पादकीय काफी प्रभावित करनेवाल है। देश का, समाज का, गाँव का, कॉलोनी का बँटवारा हमारी राष्ट्रीय एकता-अखण्डता को निश्चित तौर पर प्रभावित करता है। मुम्बई में आतंकवादी घटना घटी हैं। यह बँटवारे का ही दुष्परिणाम है। लोग बँटवारे में ही समस्या का समस्या ढूँढ़ते हैं। यह सियासी खेल है। इससे आम मेहनतकश अधिकांश जनता का भला होने वाला नहीं है।

जब तक जाति, धर्म, क्षेत्रीयता का खेल चलता रहेगा, हम लोग बँटते रहेंगे। इधर महाराष्ट्र में बिहारियों को बाहर निकालने का खेल बाल ठाकरे कर रहे थे। परिणामस्वरूप उन्होंने देखा नहीं कि किस तरह 'घर फूटे गंवार लूटे' की कहावत मुम्बई में ही चरितार्थ हो गई। अब बाल ठाकरे बोलते क्यों नहीं। मूक क्यो हो गए हैं। ये तमाम जो समस्याएँ हैं आपके संपादकीय की मूल चिंता है।

आप का प्रत्येक संपादकीय हिन्दुस्तान की जनता को दृष्टि देने वाला है।

उत्तिमा केसरी की कविताएँ अच्छी लगी। शमीम राव सारथी की लघुकथा 'असली लोग' पढ़कर काफी प्रभावित हुआ। एक मजदूर लेखक का जन से जुड़ा रहना स्वाभाविक है। उनकी लघुकथा पढ़कर मुझे बांग्ला दलित मजदूर लेखक मनोरंजन व्यापारी का स्मरण हो आया।

कैफी का 'आजमगढ़ ही क्यों है आतंक का निशाना' शीर्षक लेख में अमलेंदु उपाध्याय ने राजनीति से प्रेरित मंशा को उजागर कर उनकी पोल खोलता है। पाठक मंच में हिन्दी के लिए माफी...शीर्षक से सुदर्शन प्रियदर्शनी ने जो विचार रखा है, क़ाबिले तारीफ है। पत्र में जो तथ्य उजागर किये गये हैं वे सच हैं और राष्ट्रहित में है। हमेशा से स्वार्थी तत्व हिन्दी को विश्व भाषा बनाने में बाधक रहे हैं। पत्र लेखक का विचार जन-जन में जागरण पैदा करेगा, ऐसी आशा हैं।

वर्तमान साहित्य पत्रिका ही नहीं एक आंदोलन है।

महेन्द्र नारायण पंकज, बिहार



'वर्तमान साहित्य' अक्तूबर अंक में महात्मा गाँधी के संबंध में कई लेख ज्ञानवर्धक लगे। श्री जबरीमल पारख का लेख 'महात्मा गाँधी और हमारा समय' उनके बचपन, विद्यार्थी जीवन एवं दक्षिण अफ्रीका में घटित विभिन्न घटनाओं का सार्थक विश्लेषण किया है।

अब्दुल बिसमिल्ला का लेख भी अनूठे व्यंगात्मक तरीके से गाधी के आलोचकों का मुंह बंद कर देता है। वर्तमान समय में बहुराष्ट्रवाद आरक्षण पर लेखक का नजरिया विचारणीय है। इफ़्तख़ार आलम का सर सैय्यद खाँ पर लेख उनके उदारवादी एवं तार्किक दृष्टिकोण को तत्थात्मक तरीके से प्रस्तुत करता है जो लेखक के गहन अध्ययन का परिचायक है।

आपकी पत्रिका की विशेषता उत्कृष्ट लघु-कथाओं में है जो अन्यंत्र नहीं मिलती।

गद्यात्मक कविताएँ कविताएँ चाहे जितनी भी प्रचलित हो जाये वे हिन्दी साहित्य में मुझे हिजड़े की तरह ही लगती हैं। नाम पद्य (कविता) पर चेहरा गद्य का और अर्थ भी अस्पष्ट। जैसे खीर में नमक डाला हो। न लय न ताल। हाल भी बेताल की तरह भागता हुआ। दूसरी भाषा से हिन्दी में रूपान्तरित कविताएँ गद्यात्मक हो, यह तो समझ में आता है क्योंकि पद्य में उनमें भाव ठीक उसी रूप में देना संभव हमेशा नहीं होता पर हिन्दी की कविता गद्यात्मक होने से दूसरे पर कम असर डालती है और बहुधा नीरस होती हैं

विभूतिनारायण सिंह, फुलवरिया, वाराणसी



'वर्तमान साहित्य' का अक्तूबर, 08 अंक। महमूद दरवेश, अहमद फराज और वेणुगोपाल को सभी साहित्यिक पत्रिकाएँ स्मरण कर रही हैं, इसी बीच डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का निधन जयपुर में 24 अक्तूबर को हो गया। मार्क्सवादी आलोचक, उपन्यासकार और कवि के रूप में उनका त्रिआयामी व्यक्तित्व था। 7 जनवरी 1925 को इटावा, उत्तर प्रदेश में जन्मे उपाध्याय जी हिन्दी विभाग के प्रोफ़ेसर व अध्यक्ष तो रहे ही कानुपर विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। जबरीमल्ल पारख मेरे शहर जोधपुर की हसनजमाल की गली के रहने वाले हैं, वे मीडिया विज्ञ तो हैं ही, इस बार उसी शिद्दत से उन्होंने महात्मा गांधी पर कलम चलाई है, अब्दुल बिस्मिल्लाह तो सर्वज्ञ हैं हर पत्रिका में अलग विषय उठाते हैं, मेरे समकालीन कवि अनिल गंगल की कविता में यदि यही धार रही तो वे बड़ी कविता के बाड़े में घुस ही जायेंगे। श्याम सुंदर चौधरी की कहानी 'शब्द चुक गये' में संबंधों की नजदीकियाँ किंतु वर्गों की दूरियाँ हैं, आत्मीयता के सैलाब से अंतराल पट जाते हैं। रवीन्द्र कुमार पाठक ने धर्म, संप्रदाय, मज़हब की पुनर्व्याख्या की है। जीवन सिंह ने विजेन्द्र जी की कविता उद्धृत करने के लिए आलेख लिखा है। गांधी केंद्रित और गांधी को समर्पित इस अंक के लिए साधुवाद स्वीकार करें।

हितेश व्यास, कोटा, राजस्थान



'वर्तमान साहित्य' का सितम्बर अंक। 'अपनी बात' में सारगर्भित तथ्य का खुलासा करते हुए अच्छा लगा। डॉ. सईदा हमीद और शाइस्ता अंबर जैसी स्त्रियों की ऊर्जा पूरे स्त्री समाज में भर जाए तो समाज का ढाँचा ही बदल जाए। आज हर कोई अपने बेटे-बेटियों को अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में पढ़ने के लिए भोजन चाहता है। पब्लिक स्कूलों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने तो इंटरमीडिएट में ही हिन्दी को वैकल्पिक विषय बना दिया है। हिन्दी साहित्य पढ़ने-समझने की उम्र आते-आते स्कूल और अभिभावक दोनों ही बच्चों को साहित्य से दूर करते जा रहे है। ये बच्चे डॉक्टर, इंजीनियर और एम.बी.ए. के लिए हिन्दी का महत्व नहीं स्वीकारते। आज अमेरिका जैसे देश हिन्दी को दूसरी भाषा का दर्जा दे रहे हैं। ऐसे में विद्यार्थी, अध्यापक, साहित्यकार तथा आमनागरिक का कर्तव्य है कि हिन्दी को बढ़ावा दें। नगर-नगर, गाँव-गाँव साहित्यिक क्लब बनाए जाने की योजना सराहनीय कदम है।

अरविन्द अवस्थी, मीरजापुर



वर्तमान साहित्य के 25 वर्ष पूरे होने पर हार्दिक बधाई व अभिनंदन। वर्तमान साहित्य के माध्यम से आप लगातार नये रचनाकारों से परिचय करा रहे है। साथ ही सम्पादकीय व समय संवाद के माध्यम से शिक्षित, उद्वेलित व आंदोलित कर रहे है।

सुरेश उपाध्याय, इन्दौर



प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्षतावादियों द्वारा उग्र एवम् सांप्रदायिक हिन्दू संगठनों और मानसिकता का विरोध प्रशंसनीय है। इस विरोध में समाज, राष्ट्र और विश्व के भविष्य की चिंता है और एक नये मनुष्य के निर्माण का स्वप्न भी। अल्पसंख्यकों पर होने वाले अत्याचारों, हिंसक घटनाओं और भेदभाव वाली नीतियों को निशाला बनाने और मानवाधिकार की दुहाई देने वाले हिन्दू बुद्धिजीवियों की विशाल संख्या आश्वस्तकारी हैं। दिक़्क़त यहाँ होती है कि इन्हीं बातों पर मुस्लिम मुद्धिजीवी और लेखक मौन साधे रहते हैं। जब किसी मुस्लिम आतंकी संगठन द्वारा किसी आतंकवादी घटना को अंज़ाम दिया जाता है तब ही वे बोलते हैं और सिर्फ़ इतना कि आतंकवादियों का कोई मज़हब नहीं होता। क्या उनके सिर्फ़ इतना बोलने से आतंकवाद के ख़िलाफ़ मिलजुलकर कोई लड़ाई लड़ी जा सकती है ? जबकि वे भी जानते हैं कि यह एक दुतरफ़ा समस्या है। हिन्दू बुद्धिजीवियों द्वारा एकतरफ़ा समय-संवाद कितना कारगर होगा और कब तक ? 'वर्तमान साहित्य' के नवंबर अंक का आख़िरी पन्ना पढ़ने के बाद मैं सोचने लगा।

केशव शरण, वाराणसी



नवंबर, 2008 अंक। संपादकीय से लेकर पुस्तक समीक्षा तक बड़ी बारीक़ी एवं रुचि लेकर पढ़ डाला। उत्कृष्ट चयन सामग्री से भरपूर यह पत्रिका अपनी कुछ विशेषताओं के कारण अन्य पत्रिकाओं से अलग पहचान बनाती है। वह है–पुस्तक समीक्षा एवं आलेख जैसे-'आज की बात' एवं 'समय संवाद'। पुस्तक समीक्षा द्वारा पुस्तकों की विषय वस्तु आदि की जानकारी विस्तारपूर्वक मिल जाती है। इस अंक के आलेख 'वैश्विक परिप्रेक्ष्य में...', 'इस देश का मुसलमान...' कई प्रश्न छोड़ जाते हैं हमारे चिंतन के लिए। आलोक सातपुते की लघुकथा 'सच', दिनेश पालीवाल की 'पश्चाताप' जुल्म की शक्ल...' शीर्षक आलेख बहुत सारे ऐसे पहलुओं पर रोशनी डालता है, जिसके आलोक में हम कई समस्याओं का समाधान पा सकते हैं। संपूर्ण समाज से बौद्धिक संघर्ष करने और सही दिशा दिखाने के लिए 'वर्तमान साहित्य' को साधुवाद !

अनीता पंडा

द्वारा-श्री वी.के. पंडा, रायतांग बिल्डिंग, शिलांग (मेघालय) 793001

अपनी बात

अबकी बार 'अपनी बात' लिखने से पहले बहुत सोचना पड़ा। कई मुद्दों पर, नज़र डालती लेकिन हरबार ध्यान वहाँ से हट जाता और एक ही बिन्दु पर अटक जाता.. आँखों के सामने पर्दा खिंच जाता, जिस पर मुंबई पर हुये आतंकी हमले की रील चलने लगती।

मुझे लगा कि पत्रिका में लिखने के लिए, मेरे लिये यह विषय नहीं हो सकता। एक तो साहित्य, संस्कृति की पत्रिका और फिर एक स्त्री की कलम! अभी कुछ ही वर्ष पहले मेरे एक अत्यंत प्रिय और बुजुर्ग कथाकार ने अपनी पत्रिका के कहानी अंक के लिये मुझसे कहानी भेजने के लिए कहा। मैंने अपने को बहुत गौरवान्वित महसूस किया, लेकिन अगली ही पंक्ति में लिखा था कि "सांप्रदायिकता से अलग किसी अन्य विषय पर कहानी हो तो अच्छा रहेगा। वैसे आपकी मर्ज़ी..." मुझे लगा, खासा बदनाम हो गयी हूँ मैं... सांप्रदायिकता के अनगिनत रूप हैं आज और उनके नतीजे समाज का विखंडन कर रहे हैं। समाज को विकृत और खंडित करने वाला हर मुद्दा हमारी चिंता का विषय बनता है... इसीलिये लेखन में भी आता है। कैसे बचा जाय ! लोग कहते हैं कि राजनीति बहुत खराब चीज़ है। औरतों को राजनीति के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये (राजनीति से पद, सम्मान पाना अलग बात है) घर, परिवार, कैरियर... निरे क्षेत्र हैं खपने-खपाने के लिये। मेरा मानना है कि "हम राजनीति के चक्कर में नहीं पड़ते" या कि "राजनीति-वाजनीति से हमें क्या मतलब" जैसे फिकरे भी दरअसल एक राजनीति का हिस्सा होते हैं। यूं आज के समय में निरपेक्ष होना सुविधाजनक है, लाभकारी सौदा है। अपना मंतव्य ज़ाहिर कर देने से, अपनी सोच सामने रख देने से किसी एक पाले में खड़ा होना अनिवार्य हो जाता है। "तय करो किस ओर हो तुम..." मुझे लगा इस मुद्दे पर बात होनी ही चाहिये। विश्व आज जिस घटनाक्रम पर चिंतित है, नये कूटनीतिक समीकरण बन रहे हैं, उस पर अपना भी तो कोई मन्तव्य होना चाहिए। राजनीति से अलग नागरी समाज का भी कोई पक्ष होता है, खास तौर से जब राष्ट्रीय त्रासदी के कठिन समय में नेताओं की दिशाहीन बयानवाज़ी और वोट की राजनीति भ्रमित करती हो।

वैश्विक राजनीतिक पटल पर पहली बार आतंकवाद के मुद्दे पर विश्व समुदाय भारत के पक्ष में एकजुट खड़ा दिखाई देता है। भारत के प्रति इस पक्षधरता के पीछे पाकिस्तान की धरती से उठने वाले आतंकवादी बवंडर की लपेट में आने का भय ही मुख्य कारण है। इसीलिये पश्चिम में एक मांग यह उठ रही है कि कितने अरब डॉलर की धनराशि खर्च करके पाकिस्तान के नाभिकीय हथियार खरीद लिये जांय ताकि वे आतंकवादियों के हाथों में न पड़ सकें। दरअसल पश्चिमी देशों ने पाकिस्तान, अफगानिस्तान में कट्टरपंथी आतंकवादियों का जो भस्मासुर पैदा किया था, उससे आज किसी की मुक्ति नहीं है।

घृणा के बीज भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटिश शासन काल में ही बो दिये गये। 1906 में मुस्लिम लीग और 1925 में हिन्दू महासभा बनी। दोनों सांप्रदायिक दलों के गठन में ब्रिटिश राज्य का वरद हस्त था। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने अपना पृथक अस्तित्व बनाया। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के साथ-साथ हिन्दूवादी और कट्टरपंथी मुस्लिम राजनीति की विषबेल भी बढ़ने लगी थी। घोर धार्मिकता की हिंसा और राजनीति के मध्य देश का विभाजन हुआ और पाकिस्तान राष्ट्र बना जिसकी बुनियाद में ही घृणा की राजनीति की ईंटें थीं, अलगाव के शोलों से निर्मित राख के ढेर थे।

जनतांत्रिक राष्ट्र के रूप में भारत के सामने समाजवादी-स्वरूप लिये विकास का स्वप्न था। लोकतांत्रिक व्यवस्था पर टिकी हुई आस्था थी। इसके विपरीत पाकिस्तान में वहाँ के आकाओं की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के स्वप्न थे, इसीलिये वहां जनतंत्र नहीं था, सैनिक थे, तानाशाह थे और था विकास का परजीवी रास्ता। जनता की आशा-आकांक्षाएँ तानाशाही बूटों के तले थीं। विपन्नता और असहायता से उपजे असंतोष की पूर्ति के लिये एक स्थाई कार्यक्रम था, घृणा का प्रचार। हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी जनता के प्रति हर संभव कुत्सित घृणा का पाठ नयी पीढ़ी के लिये मानो अनिवार्य एजेण्डा बना। इसके लिये चाहे इतिहास को विकृत करना पड़े, विज्ञान को हास्यास्पद बनाकर नया विज्ञान बना दिया जाय। याने अब तक मानव समाज ने पिछले हज़ारों वर्षों से जो उपलब्धि प्राप्त की, उसे नकार कर विज्ञान को विदूषक बना कर पेश किया जाय। अंध धार्मिकता और कट्टरवाद का यही ढंग होता है। हमारे देश में भी पिछले कुछ वर्षों में वैदिक गणित, वैदिक विज्ञान जैसे विषय निर्मित किये गये थे और हास्यास्पद स्थिति होने लगी थी। जहाँ पिछली तीन पीढ़ियों से नफ़रत की विषबेल बोई गयी हो वह आज अमरबेल का रूप धारण कर चुकी है। एक ओर नफ़रत का शासकीय एजेण्डा, दूसरी ओर सामान्य सामाजिक विकास के बंद रास्ते और आम जनता की ग़रीबी और बदहाली।

चाहते हुए या न चाहते हुये भी मुफ़्त शिक्षा और परवरिश के लिये मदरसों में बच्चे भेजे ही जायेंगे, वे कट्टरपंथ में दीक्षित किये ही जायेंगे...अंधधार्मिकता अंततः मनुष्य को विवेक शून्य कर देती है।

पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी राजनीति ने इस कट्टरता और धार्मिकता से उपजी विवेक शून्यता को बढ़ाने में जैसे आग में घी डाला हो। यह सर्वविदित है कि भारत की सार्वभौमिकता और आत्मनिर्भरता पश्चिमी देशों की आँखों में हमेशा खटकती रही है। संतुलन बनाये रखने के लिये पाकिस्तानी सेना पर सदैव अमरीका का न सिर्फ़ वरदहस्त रहा बल्कि वहाँ की खुफ़िया एजेन्सी आई.एस.आई. का गठन और कार्यप्रणाली भी सी.आई.ए. की तर्ज पर हुई जिसका लगभग स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा है। इसीलिये वहाँ कोई भी सरकार रही या अब रहे, वह न तो सेना और न ही आई.एस.आई. के विरुद्ध जा सकती है। चाहे वे सैनिक तानाशाह रहे हों या अल्पकालिक चुनी हुई सरकारें हों, न चाहते हुये भी भारत विरोधी रुख अख्तियार करना उनके लिये लाज़िमी है।

हमारे एक दोस्त और प्रसिद्ध शायर पाकिस्तान गये तो उनके एक किशोर भतीजे ने उनसे ताज्जुब से पूछा कि क्या सचमुच वे हिन्दुस्तान में नमाज़ पढ़ सकते हैं ? रोज़ा रख सकते हैं? ईद-बकरीद जैसे त्योहार मना सकते हैं... और कि सचमुच उनके सिर पर चोटी नहीं है... क्योंकि उसने हिन्दुस्तानी मुसलमानों के बारे में ऐसा ही सुना था।

पश्चिमी देशों की वर्चस्ववादी राजनीति ने पूरे मनोयोग से इन कट्टरपंथियों की मदद की। तालिबानों को खड़ा करने और पोसने वालों में अमेरिका सबसे प्रमुख रहा। धन और हथियारों की पूरी मदद दी गयी। तालिबानों की मदद से अफगानिस्तान की जनता द्वारा चुनी गयी सरकार ख़त्म कराई गयी और फिर तालिबानों ने जो कहर ढाया उसकी कहानी दुनियाँ के सामने है। जिनको मदरसों में पाला पोसा गया, हाथों में हथियार थमाये गये... अब दिमाग उनका, हथियार किसी और के... वे अफगानिस्तान की जनता पर उठे, कश्मीर में उठे और उठ रहे हैं, हिन्दुस्तान की जनता के ऊपर उठते रहे और उठ रहे हैं, अमरीकी लोगों पर उठ रहे हैं... हज़ार फन काढ़े विषैला नाग चारों ओर विष वमन कर रहा है...।

मुंबई में जो हुआ, वह घृणा से उपजी हिंसा का वीभत्स तांडव था। किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता अंततः क्रूर और अमानवीय हो जाती है। तर्क और विवेक के लिये वहाँ कोई जगह नहीं होती। अभी मालेगाँव विस्फोट और उसके बाद के खुलासे तथा नये घटनाक्रम इसी प्रकार की सांप्रदायिक कट्टरता से उपजी विवेकहीनता और अमानवीयता के उदाहरण हैं। ऐसे में यह बहुत भोला, सरलीकृत समाधान दिखाई देता है कि पाकिस्तान पर हमला कर दो। उसे नेस्तनाबूद कर दो... और जब ये वक्तव्य राजनीति के पंडितों, नेताओं की ओर से आते हैं तो और ताज्जुब होता है। हमेशा हिंसा का जवाब हिंसा नहीं होता। रणभूमि की नीति नागरी समाज में नहीं लागू होती। सांप्रदायिकता से उपजी हिंसा की क्रिया-प्रतिक्रिया की अनवरत शृंखला को हम नब्बे के दशक से देख रहे हैं। विशेष रूप से मुंबई-गुजरात के शहरों के दंगे। अयोध्या और बाबरी मस्जिद की घटनाओं के बाद दंगे। फिर मुंबई में होने वाले सीरियल ब्लास्ट... फिर गुजरात-2002 फिर आतंकी हमले...

यह हिंसा-दर-हिंसा से पैदा हुआ कोलाज है जिसमें अगर हम फंस गये तो देश की शक्ल गायब हो जायेगी। विकास के रास्ते बंद हो जायेंगे। दोनों मुल्कों की सिर्फ़ जनता के पास ही इसका समाधान है, मित्रता के सूत्र हैं। आम जनता की एकजुटता और विवेक, परस्पर मित्रता और सहयोग के लिये बढ़े हाथ ही आतंकवादियों को जवाब दे सकते हैं। आज नफ़रत और हिंसा से पैदा किया गया भस्मासुर हर ओर दौड़ रहा है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान से लेकर ब्रिटेन-अमरीका तक। हमारे अपने युवक क्यों आतंकवादी बन रहे हैं, इसकी भी पड़ताल ज़रूरी है। अन्याय, ग़ैर बराबरी और दमन से असंतोष को कब तक दबाया जा सकता है। राजनीति और सत्ता की महत्वाकांक्षा आज इतने खतरनाक मोड़ पर है कि अगर अभी भी सांप्रदायिकता और कट्टरवाद को दफ़न नहीं किया गया तो हर गली कूचे में गोलियों की भड़भड़ाहट गूंजेगी। नौजवानों की हताशा और बेरोजगारी का समाधान ढूँढिये। धर्म और संप्रदाय के आधार पर नफ़रत की खेती बंद कीजिये... जनतांत्रिक व्यवस्था को मजबूत कीजिये... इसी से आतंकवाद का खात्मा होगा। सामाजिक अशांति विकास के रास्ते अवरुद्ध करती है और जनतांत्रिक नागरिक अधिकारों को भी नष्ट करती है।

× × ×

मुंबई में आतंकवादी हमलों की जब ख़बरें आ रही थीं उसी दौरान् छोटी सी खबर एक बड़े राजनेता के निधन की भी आई। भूतपूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह राजनीति के दांवपेंच में भले ही निपुण न हों लेकिन एक ईमानदार और जनप्रिय नेता के रूप में वे हमेशा याद किये जायेंगे। एक संवेदनशील कलाकार और कवि के रूप में उन्होंने बौद्धिक जगत में अपनी खास पहचान बनाई। ये उनका ही बूता था कि दलित अस्मिता के एजेंडा को उन्होंने अमली जामा पहनाया और मंडल कमीशन की रिपोर्ट को क्रियान्वित कर वे एक फ़कीर के रूप में सत्ता के गलियारे से बाहर निकल आये। आज भारतीय राजनीति में दलित चेतना अपनी निर्णायक भूमिका में है और निश्चित रूप से इसके सूत्रधार विश्वनाथ प्रताप सिंह रहे। लंबे अर्से से चल रही अपनी अस्वस्थता के बावजूद, वे कभी किसानों के आंदोलन के साथ खड़े दिखाई देते तो कभी मजदूरों और आम जनता के संघर्षों के साथ अपना स्वर बुलंद करते। एक जनप्रिय नेता तथा विचारशील कवि और कलाकार के रूप में वे हमेशा याद किये जायेंगे।

नमिता सिंह

(नमिता सिंह)

दामोदर धर्मानंद कोसांबी : प्रथम परिचय

रमेशकुंतल मेघ

दामोदर धर्मानंद कोसांबी (31.07.1907–29.06.1966) ने लगभग उनसठ वर्ष की आयु पायी थी। तदापि वे ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद, राहुल सांकृत्यायन, रजनीपाम दत्त, मानवेन्द्र राय, श्रीपाद अमृत डांगे, डी.पी. चट्टोपाध्याय जैसे बौद्धिक महाभीमों की पंक्ति में आते हैं। उनका अधिकांश कार्यवृत्त गणित शाखाओं, खगोलशास्त्र, मुद्राविज्ञान (नूमिस्मेटिक्स) आदि पर है। उन्होंने मार्क्सवाद के विचार-दर्शन को जो ऊँचाई दी है, वह ज्योर्जी लुकॉच, बर्तोल्त ब्रेख़्त, अंतोनिओ ग्राम्शी के समकक्ष आँकी जा रही है। अतः उन पर टिप्पणी करना अथवा आलेखन करना बेहद मुश्किल तथा चुनौती भरा है। इसीलिये यहाँ जो भी लिखा जा रहा है वह सिर्फ़ भूमिका ही है। इसे रेखांकित कर लिया जाए। अवश्य।

द्वंद्व न्याय का उपयोग उन्होंने गेलिलियो, न्यूटन, आइंस्टीन, आर्यभट्ट तथा भास्कराचार्य की धारा वाले आत्ममंथन में भी किया है। उनका दूसरा द्विपर्ण ऐतिहासिक भौतिकवाद पर भी शिद्दत से केंद्रित रहा है। उनकी संदर्भित तीन प्रवर्तक पुस्तकें हैं (हिन्दी में अनूदित भी हैं) :1. इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री (1956), 2. मिथ ऐन्ड रियल्टी : स्टडी इन दि फ़ार्मेशन आफ़ इंडियन कल्चर (1962) तथा 3. दि कल्चर एन्ड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ ऐंशियेंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइंस (1965)। स्पष्ट है कि उन्होंने इतिहास में पूर्वेतिहास को तथा सभ्यता में संस्कृति को अंतर्निहित किया है। उनकी इतिहास-आलेखकारी (हिस्टोरियोग्राफ़ी) भी अनुपम है। इसके घटक तत्त्वों में लोकजन (पीपुल) संस्कृति, विचार-चिंतन तथा संस्थाएँ शामिल की जाती हैं। इसकी संरचना (मार्क्सवादी) 'इतिहास-दर्शन' तथा 'इतिहासवाद' के समायोजन से होती है। अतः लोकजन तथा संस्कृति, संस्थाएँ तथा विचार का संयोजन इसे समाजविज्ञानों से समन्वित कर देता है।

उदारतावादी खेमों में उन्हें वैज्ञानिक, भारतविद् तथा मानववादी माना जाता है और उनकी मार्क्सवादी तेजस्विता को नज़रअंदाज़ किया जाता है। यह सही है कि न वे कट्टरपंथी थे और न ही बोनापार्टवादिता के शिकार थे। वे सृजनात्मक मार्क्सवाद के बानी थे, यथेष्ट मौलिक थे। थोड़ा खुले ढंग से दुस्साहस करके यह भी सोचा जा सकता है कि जिस प्रकार माओ ने मार्क्सवाद को चीनी संस्कृति से, ग्राम्शी ने इटैलियन रिनैंसाइ-रोमी संस्कृति से जोड़ा, उसी तरह कोसांबी ने भारतीय मार्क्सवाद का संकल्प बनाया। उन्होंने अनेक ग्रामीण और क़बीलाई समूहों पर 'फ़ील्ड वर्क' किया, भाषा-विज्ञान के आधार पर संस्कृत की शब्दावली तथा पारिभाषिकों के मूल मनोरथ उद्‌घाटित किये तो पुरातत्त्व-नृतत्त्व-धातु रसायन के आधार पर 'ऐशियाटिक प्रणाली' से भी इतस्ततः प्रस्थान करके भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक एवं वर्गीय-राष्ट्रीय पुनर्रचना की। यही सारत्व है।

दामोदर (धर्मानंद) कोसांबी एक स्कॉलर, दार्शनिक,पाली विद्वान धर्मानंद कोसांबी (1879-1946) के यशस्वी पुत्र (1907-1966) थे। उन्हें संस्कृत की विद्वत्ता पिता से विरासत में मिली थी। वे स्वयं भौतिकशास्त्री तथा गणितज्ञ बने। 1945 के बाद से अलबर्ट आईंस्टीन के संपर्क में रहे तथा सापेक्षता के सिद्धांत पर उनसे संवाद-विवाद करते रहे। इसके साथ-साथ कोसांबी इतिहास-आलेखकार तथा पुरातत्त्वविद और मार्क्सवादी चिंतक भी थे।

वे 1918 से 1929 तक अमेरिका में रहकर पढ़े। 1929-32 तक बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी के गणित विभाग में अध्यापन-शोध किया। 1933 में पुणे के फर्गुसन कॉलेज में चले गये। 1935-39 में उनके दो बेटियाँ हुईं। 1947-56 तक 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फ़ंडामेंटल रिसर्च' के गणित विभाग में रहे। 1956-66 के बीच इतिहास की तीन प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं। 29 जून, 1966 में पुणे में एक रात सोते-सोते ही शांत दशा में उनका जीवन समाप्त हो गया।

हमें मालूम है कि मार्क्सवादी वृत्त में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के बीच सिद्धांत एवं अनुप्रयोग के जैसा रिश्ता भी है। कोसांबी इसमें गहराई से पैठते गये। भारत में ज़्यादातर ऐतिहासिक भौतिकवाद के क्षेत्र में कुछ मानक कार्य हुए है। एक सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है :

क. मानवेन्द्रनाथ राय : 'रीज़न रोमैंटिसिज़्म एन्ड रिवोल्यूशन'

ख. श्रीपाद अमृत डांगे : 'इंडिया : फ्राम प्रिमिटिव कम्यूनिज़्म टु स्लेवरी'

ग. डी. डी. कोसांबी : पहली तथा तीसरी किताब

घ. डी. पी. चट्टोपाध्याय : 'लोकायत'

च. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन

इस सूची में कई अनेक नाम और जोड़े जा सकते हैं।

कोसांबी ने मार्क्सवादी द्वंद्वमान (डायलेक्टिक्स) में समावेशी गणित (मैथमेटिक्स) तथा पुरातत्त्व (ऑर्कियोलॉजी) का आयाम जोड़ा। यह बेहद मौलिक दिशा है। इसी कड़ी में उन्होंने अनुजाति-विज्ञान (एथनोग्राफ़ी) द्वारा कुछ प्राचीन क़बीलों का भी ऐतिहासिक भौतिकवादी निरूपण किया। उन्होंने मार्क्सवाद को दर्शन के साथ-साथ विज्ञान से भी संयुक्त किया। वे कहते हैं कि विज्ञान कोई प्रतिभाशाली लोगों द्वारा दिमाग़ में वैज्ञानिक समस्या का नतीजा नहीं है, बल्कि यह तभी फूलता-फलता है,जब प्रबल सामाजिक ज़रूरत होती है, जब तदनुरूप ज़रूरी अन्वेषण होते हैं और समाज के श्रम तथा सृजन में अभिनव स्वतंत्रता प्राप्त होती है। इसे इतिहास पर लागू करते हुए उन्होंने पाया कि भारतीय इतिहास का काल-चक्र बिखरा-छिटका हुआ है। इसलिए, राजवंश तथा युद्ध नहीं, उनमें भी अंतर्निहित प्रमुख उत्पादन संबंध कालक्रम का भी निर्धारण करते हैं। वे मानते हैं कि नृपनाममाला के मुक़ाबले हल या कुम्हारी चाक या जुलाही पुतली/चकरी (उत्पादन-प्रणाली) ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। तदपि, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इनकी शुरुआत कब और कहाँ और किनके द्वारा हुई? किसने इस संबंधता में अधिशेष (सरप्लस) का उपयोग करके संपत्ति बनायी तथा शोषण-चक्र क़ायम किया। इसके खोजने के लिए उन्होंने भाषाविज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र,पुरातत्त्व से यह सब संबद्ध करके भारतीय इतिहास के अध्ययन की भूमिका निर्मित की। उन्होंने ग्रामदेवताओं के द्वारा जनजातियों के प्रवजन, यात्रा तथा व्यापार मार्गों की शिनाख़्त की। उन्होंने पाया कि भारत में खाद्य-संग्राहकों एवं पशुपालक क़बीलों के मिलन से किसानी-बस्तियों की नींव पड़ी। उन्होंने मार्क्ससम्मत (एशियाटिक सोसाइटी की अवधारणा) से हट कर भी इतिहास की पुनर्रचना की। वे यूरोपीय इतिहास-लेखन से शनैः शनैः प्रस्थान करते चले गये। बाइजेंटियम राजाओं तथा रोमन-फ़ोलों से तुलना करके उन्होंने भारतीय विलक्षणता को बताया। उन्होंने सामाजिक ज़रूरत की पुकार को युग परिवर्तन का हेतु सिद्ध किया।

उन्होंने नृतत्त्वशास्त्र (एंथ्रोपोलॉजी) का इस्तेमाल भी क़बीलाई जनजातियों के प्रसंग में बख़ूबी किया। इसी क्रम में उन्होंने कई हिन्दू देवताओं के क़बीलाई उद्‌गम भी ढूँढ निकाले। वे ब्राह्मणों की संस्कृत भाषा तथा रहस्यात्मक श्लोकों में अवगुंठित पड़े हुए थे। उन्होंने यह पाया था कि प्रवचन की विधि द्वारा ही भारतीय इतिहास की कालक्रमिकता संभव है। इसके लिए उन्होंने प्रथाओं के प्राचीनतम उल्लेखों, श्रम एवं कार्य की तकनीकों तथा खाद्य-सामग्रियों का सहारा लिया। उनकी पद्धतियाँ अनमोल रहीं-सटीक और संरचनापूर्ण। उन्होंने लिखा : "कुछ शताब्दियों पहले कई देशों के अग्रणी बुद्धिजीवी-कर्मकांडी समुदायों में धर्म-दर्शन एवं धार्मिक अनुष्ठान के सवाल ही सर्वोच्च थे। जिन देशों के अग्रणी बुद्धिजीवी इन्हीं अटकलों में फँसे रहे, वे शनैः शनैः मूढ़ता (जहालत) में घिरते चले गये। भारत भी उन देशों में से एक है, यद्यपि उसकी संस्कृति सहस्रों वर्ष पुरानी है।.... उत्पादन की आधुनिक प्रणाली अपनाये बिना उसका उद्धार असंभव है", (स्टेप्स इन साइंस'नामक लेख)।

उन्होंने भाषा तथा भाषाविज्ञान का भी भरपूर उपयोग किया। एक मिसाल है कि उन्होंने भर्तृहरि के शतक काव्य के बजाय उनके 'सुभाषितों' पर आग्रह करके भारत-विद्या (इंडोलॉजी) का एक नया आयाम खोला। भारत-विद्या में एक ही सम्राट या अनेक कार्य के जैन, बौद्ध, ब्राह्मण स्रोतों में भिन्न-भिन्न नाम हो जाया करते हैं। इसलिए उन्होंने 'पाठालोचन' का सहारा लिया। उसमें भी वे मूलतः सांख्यिकी पद्धतियों को लागू करते रहे। पूरे पाँच वर्षों तक 1100 ई.पू. एक संस्कृति काव्य-कीर्तन की छानबीन करके बंगाल (पाल वंश) तथा नेपाल की पांडुलिपियों का अनुशीलन करके, कोई पचासेक अज्ञात कवियों को ढूँढ निकाला। ऐसी यात्रा में वे मिथक के आदि स्रोत, यहाँ तक कि पुराणकार ब्राह्मणों के पौराणिक आधार पूर्वेतिहास में खोज निकाले। वे स्रोत उन्हें पिछड़ी जातियों के घुमंतू समूहों तथा क़बीलाई अल्पसंख्यकों में भी मिले। उन्होंने संस्कृतीकृत देवमंडलों से -अपनी पद्धति के छन्ने द्वारा--तादात्म्यीकरण को पृथक् करके नये-नये प्राचल (पैराडाइम) बनाये।

सिक्कों के अध्ययन (नूमिस्मेटिक्स) को भी उन्होंने वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी दिशाएँ दीं। यहाँ भी इसके साथ उन्होंने इसे अभिलेख शास्त्र (एपिग्राफ़ी) एवं पुरातत्त्व के रू-ब-रू खड़ा कर दिया। इस आधार पर उन्होंने तक्षशिला के (गांधारी) इतिहास की पुनर्रचना भी कर डाली।

सिक्कों के लिए भी 'सही स्थल पर खुदाई' ही रहस्य खोलती है। वे पुरातात्त्विक धूल-माटी (आर्कियोलॉजिकल मड) तथा धातु के प्रदूषण द्वारा क्षरण (मेटल के मिनरल द्वारा ह्रास) की जाँच करते हैं। वे प्राचीन मुद्राओं की मापतौल करके इतिहास के कालखंडों को निर्धारित करते हैं। वे धातु-मुद्राओं के क्रमशः क्षरण के फ़ार्मूले बनाते हैं। छेद वाले सिक्कों तथा अन्य सिक्कों की रोमन-ग्रीक सिक्कों से तुलना करके उन्होंने भारत में क्रीतदास (स्लेवरी) प्रथा से संबंधित कई विवादों पर अभिमत दिये।

दामोदर धर्मानंद कोसांबी ने अंतर्ज्ञानुशासनों के सुपरिगठन (सुपर स्ट्रक्चर) के नये-नये घटकों (भाषा विज्ञान), अनुजाति विज्ञान, पुरातत्त्व, नृतत्त्वविज्ञान आदि का अवलंब लेकर मार्क्सवादी विज्ञान, संस्कृति तथा इतिहास की भारतीय अवधारणाओं को दैदीप्यमान किया।

फ़्लैट नं. 3 (भू-तल), स्वास्तिक बिहार-थर्ड
मनसा देवी काम्प्लेक्स, पंचकूला-134109 (हरियाणा)

पुष्पिता अवस्थी की कविताएँ

शब्द-यात्रा

शतास्दियों की यात्रा करते हुए
थक चुके हैं शब्द !

शब्दों को नहीं दिखता है
ठीक-ठीक...
नयी शताब्दी की चकाचौंध से
धुँधला गयी हैं आँखें

पुरानी शताब्दियों के युद्ध के ख़ून से
लाल हैं—शब्द की आँखें

युद्ध नयी शताब्दी के मठाधीशों का
रंजक नशा है

डरती हैं—शब्दों की आँखें
सत्ता से आँख मिलाने में
और
सहमती हैं—आँसू भरी आँखों से
अपनी छाती मिलाने में।

शब्द-प्राण

शब्द
छूते हैं—देह
और देह जीती है—शब्द

प्रेम में
प्राणवान होती है
ऐसे ही देह
और ऐसे ही शब्द

प्रणयानुभूति

स्त्री
शब्दों में जीती है—प्रेम
स्त्री
आँखों में जीती है—रात
और पुरुष
रात में जीता है—स्त्री

स्त्री
शंख ध्वनि में
जीती है—आस्था के स्वर
पुरुष
शंख देह में
भोगता है—विश्वास-तरंग

स्वत्व

आदमी के भीतर
होती है—एक औरत
और
औरत के भीतर
होता है—एक आदमी

आदमी अपनी ज़िन्दगी में
जीता है—कई औरतें
और
औरत ज़िंदगी भर
जीती है—अपने भीतर का आदमी

औरत
अपने पाँव में चलती है
अपने भीतरी आदमी की चाल
बहुत चुपचाप

आदमी
अपने भीतर की औरत को
जीता है—दूसरी औरतों में
और
औरत जीती है
अपने भीतर के आदमी को
अपने ही अंदर
अपने स्वत्व के लिए...

रजत-पत्र

नदी
पृथ्वी के भीतर भी
बहती है—चुपचाप
और कहती है—
अंतर का आर्तनाद
सतह का कसैला दुःख

नदी बनाती है—तर पगडंडियाँ
अपने रेतीले तलवों से
लिख जाती है—
जल (आत्म) धार कथा
पहाड़ों के रेते जाने की व्यथा

सूर्यरश्मि
चुनती है—
रुपहले रजकण
नदी की
विजय-कथा का
रजत-पत्र



P.O. Box 1080
1810 K.B. Alkamaar, Netherlands

यशपाल की सिगरेट

शिवरतन थानवी

बात 1952-53 की होगी। 'ज्वाला' साप्ताहिक के लिए इंटरव्यू लेना था। देश के महान् साहित्यकार यशपाल का जोधपुर में आगमन हुआ था। भला ऐसे अलभ्य अवसर को हाथ से कैसे जाने देता? दिन-भर का सारा काम छोड़ा और उनका इंटरव्यू लेने चल पड़ा।

इंटरव्यू के पश्चात् उनके साथ बैठकर जलपान किया। जलपान में चाय, केले, अमरूद और कुछ नमकीन भी था। चाय का दौर काफी देर तक चला क्योंकि बीच-बीच में इधर-उधर की गपशप भी हो जाती थी।

जलपान के बाद बाज़ार चलने की ठहरी। यशपाल को चुंदरी खरीदनी थी। मैं दौड़ा-दौड़ा गया और ताँगा ले आया। ताँगेवाले के पास आगे यशपाल बैठे और पीछे की सीट पर पन्नालाल व्यास और चिरंजीलाल 'पंकज' बैठे। हम तीनों को पत्रकारिता व लेखन का शौक था। तीनों ने यशपाल को खूब पढ़ा था। मैंने अपनी साईकिल सम्हाली और सब लोग बाजार की ओर भाग चले। तांगे ने चौपासनी रोड, सीवांची गेट और खांडा फलसा नाप कर हमें गन्तव्य स्थान सराफ़ा बाज़ार में ला खड़ा किया। सामने ही चुँदरीवाले की दुकान थी। सेठ ने ग्राहक पहचाना और तपाक से बोल उठा, 'आइए आइए, बैठिए। कहिए, क्या चीज दिखाऊँ?'

दूकान में घुसते ही यशपाल ने जेब टटोली और देखा कि सिगरेटें खत्म हो चुकी हैं। अतः एक रुपया निकाला और पूछा कि पास ही कहीं कैरेवन सिगरेट तो मिल जाएगी न? मैंने उत्तर दिया, 'हां हां, क्यों नहीं, अभी ले आता हूं' और बिना साईकिल लिए ही गांछा बाजार की तरफ इस आशा से चल पड़ा कि निकट वाली पान की दूकानों में मिल ही जाएगी।

पीछे से यशपाल की आवाज आई कि मिल जाय तो एक की जगह दो-तीन पैकेट लेता आऊं। 'बहुत अच्छा' कह कर मैं आगे बढ़ा और 20-25 कदम के फासले पर बनी हुई पान की बढ़िया फैंसी दूकानों के समक्ष जा खड़ा हुआ। किसी मित्र के लिए लेनी होती तो मैं शंकित नजरें इधर-उधर डाल पैसे बढ़ा देता और सिगरेटों को जेब के हवाले कर चुपचाप खिसक खड़ा होता, क्योंकि तनिक भी किसी 'बंधु प्रवर' की दृष्टि पड़ी नहीं कि घर में घुसना भी मुश्किल। और ठीक भी है, चोरी से बीड़ी-सिगरेट पीने वाले लोग मित्र का तो ही बहाना बनाया करते हैं, फिर भला हमें कोई क्यों छोड़ने बैठेगा। लेकिन आज यहाँ वैसी कोई बात नहीं थी। न तो मैं किसी हमजोली मित्र के लिए ले जा रहा था और न मित्र का बहाना बना कर स्वयं के लिए ही। मुझे सिगरेटें उस व्यक्ति के लिए ले जानी थीं जिससे साहित्य-संसार के हजारों पाठक भली प्रकार परिचित थे और जिसका अनेक स्थलों पर तो उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के बाद ही दूसरा नाम लिया जाता है। मुझे न तो किसी आक्षेप का भय था और न किसी प्रकार की आशंका थी, प्रत्युत् कुछ गर्व ही अनुभव कर रहा था।

बड़े इत्मीनान से रुपया पारदर्शी पत्थर की प्लेट में रखा और पूछा- 'क्यों जी, तुम्हारे यहाँ केरेवन-कारवाँ-सिगरेट मिलेगी?'

पानवाला पान गिनने में व्यस्त था। तब तक मैंने आदमकद आईने में अपनी शक्ल देखी, कुछ मुस्कुराया और ललाट पर छितराती बालों की लट को ऊपर डाल कर कमीज का कालर-बटन भी ठीक कर लिया। आज मैं अधिक प्रसन्न था।

अचानक याद आयी कि मैं श्रृंगारदान पर नहीं, पान की दूकान पर सिगरेट लेने खड़ा हूँ। सिर ऊपर उठाया तो देखा कि महाशय अभी तक पान गिनने में मशगूल थे। बड़ा गुस्सा आया उस पर। कुछ ख्याल ही नहीं है कि मैं जिस व्यक्ति के लिए सिगरेट ले जा रहा हूँ उसका एक-एक क्षण कितना मूल्यवान है? परन्तु मैं कुछ कहूँ कि उसके पहले ही वह बोल पड़ा, 'हाँ बाबूजी, क्या माँगा आपने?'

खैर, आखिर कुछ तो सुध ली। मैं नरम पड़ गया और बोला, 'मैंने तो कारवाँ सिगरेट मांगी थी भाई!'

'कौन सी? पैसे-पैसे वाली बाबूजी?' उसने पानों में ही आँखें गड़ाये फिर प्रश्न पूछ डाला।

उसका यह प्रश्न सुन मुझे बड़ी हैरानी हुई, किंतु फिर ख्याल आया कि शायद समझा नहीं हो। अतः पुनः उसे समझाने के सुर में मैं बोला, 'अरे उस्ताद, वही जिस पर ऊंटों की कतार बनी हुई होती है।'

'हां-हां बाबूजी, वही तो। मैं भी तो उसी की बात कर रहा था। वह पैसे-पैसे में ही मिला करती है।'

मात्र एक पैसे की एक सिगरेट जिसे ये लोग रखते भी नहीं, यशपाल पीते हैं! विस्मय से मैं उसे देखता ही रह गया।

पास के दो दूकानदारों ने भी हमारा यह वार्त्तालाप सुन लिया

था, उनकी ओर मुखातिब होते ही बिना कोई प्रश्न किए टका-सा जवाब मिला, 'यहाँ तो कहीं नहीं मिलेगी। शायद आगे कटला बाजार में मिल जाए।'

मैंने सोचा, यहां नहीं तो आगे ही सही। कहीं न कहीं तो मिल ही जाएगी। वापिस जाने की चिंता थी, साईकिल भी छोड़ आया था। कुछ तेज़ी से कदम बढ़ाये। करीब दो सौ कदम पर एक छोटी-सी दूकान जा पहुँचा। पूछा तो मुसीबत बढ़ गई। दूकानवाला कह रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि मैं नाम ही भूल गया होऊं और 'कार्टन' के स्थान पर 'कैर्वन', 'कार्वन' या 'कारवाँ' याद रहा हो?

बड़ा असमंजस पैदा हो गया। मैं कोई सिगरेट पियक्कड़ तो था नहीं जो मुझे भेद-प्रभेद सभी ध्यान रहते, और न मुझे अपने कानों पर ही इतना अविश्वास था कि यशपाल से दुबारा पूछता। उन्होंने कहा कि सिगरेट लानी है और मैं लेने चल पड़ा। वापिस पूछने या अखराने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि मैं जानता हूँ कि 'कारवाँ' का मतलब ऊंटों का काफ़िला होता है और मैंने खुद एकाधबार सिगरेट की डिब्बियों पर ऊंटों का चित्र देखा है। बस, यही थी वह आधारभूमि जिस पर मेरा विश्वास खड़ा था, मेरी याददाश्त खड़ी थी। इसी याददाश्त को यह दूकानदार 'कार्टन' की आड़ में चुनौती दे रहा था। शायद उसकी दूकान में 'कार्टन' नाम की कोई सिगरेट होगी जिसे वह बेचना चाह रहा हो। मैंने हार मानने से इनकार किया और स्मरण शक्ति की सक्षमता में विश्वास रखते हुए स्पष्ट उत्तर दिया कि मुझे कार्टन-वार्टन नहीं बल्कि ऊंट-छाप 'कैरवन' या 'कारवाँ' ही चाहिए।

ऐसा दृढ़तापूर्ण उत्तर सुन वह बिल्कुल निरुत्तर हो गया और नकारात्मक गर्दन हिला, विवशता प्रकट कर दी। फिर दूसरे ही क्षण, ग्राहक जाता देख, अंतिम अस्त्र फेंका, 'साहब, ये सिगरेट तो आगे घंटाघर तक भी नहीं मिलने की।'

इस उत्तर ने तो और समस्या खड़ी कर दी। अब क्या किया जाय? क्या बिना सिगरेट ही लौट जाऊँ? या और आगे चल कर देखा जाए? उधर उन्हें भी तो प्रतीक्षा करते काफ़ी देर हो गई है। वे भी क्या समझेंगे कि देखों शिवरतन एक सिगरेट भी नहीं ला सका। किन्तु आगे चल कर भी मिलने का कौन भरोसा?

आखिर यही तय पाया कि कार्टन-वार्टन नहीं खरीदनी, वापिस ही लौट चला जाए। कह देंगे की मजबूरी है, नहीं मिली।

दूकान पर लौटा तो देखा कि रंग-बिरंगी चुंदरियां बिखरी पड़ी हैं और यशपाल तन्मयतापूर्वक एक-एक को देख कर उनकी क़ीमत पूछते जा रहे हैं। स्पष्ट था कि अभी और कुछ देर लगेगी। अतः मैंने फिर एक प्रयत्न कर लेने की सोची और पन्नालाल को इशारा कर उसी ओर के बाजार की तरफ चल पड़ा जिधर से हम आये थे।

इस बार साईकिल ले ली जिससे कि कम समय में अधिक दूकानों पर पूछा जा सके। और हुआ भी यही, इस बार मैंने पहले की अपेक्षा तिगुनी दूकानें ढूंढ़ मारी अर्थात् बारह दूकानों पर जा-जा कर पूछ डाला। लेकिन पता नहीं यशपाल ने कैसी अद्‌भुत वस्तु माँगी थी जो करीब मील भर के चक्कर में भी सर्वथा अप्राप्य सिद्ध हो रही थी। हाँ भरने का तो कोई नाम ही नहीं ले रहा थां। दूकान पर पचासों तरह की सिगरेटों के बक्स सजे हुए हैं, डिब्बियाँ सजी हुई हैं, परंतु दूकानदार छूटते ही कहता है, "साहब, ये तो नहीं मिलेगी। और तो कहो सो ही दे दूँ।" अब उसे भला मैं कैसे समझाता कि यशपाल ने 'कैरवन' सिगरेट ही मांगी है, उन्हें जबरदस्ती मैं दूसरी पिला नहीं सकता।

अंत में वही हुआ जो प्रथम चक्कर में हुआ था, अर्थात् मुझे खाली हाथ ही लौटना पड़ा।

उधर यशपाल का सौदा भी समाप्ति पर था। क्रयवार्ता उपसंहार पर चल रही थी। शायद यशपाल को कोई चीज पसंद नहीं आई थी। वे अपनी रूचि के अनुकूल वस्तु अब जयपुर में ही खरीदने का इरादा ज़ाहिर कर रहे थे और व्यापारी महाशय जयपुर की वस्तुएँ यहाँ से ही निर्यातित बता कर एकाध चुँदरी खरीद ही डालने का आग्रह कर रहे थे। परंतु यशपाल भला अपना निश्चय कब बदलने वाले थे? ठीक भी है, जब कोई चीज़ पसंद नहीं आए तो फिर 'खरीद डालने' का प्रश्न ही कैसा? वे तांगे पर चढ़े और मैंने विवशता प्रकट करते हुए उनका रुपया उन्हें वापस लौटा दिया। ग्लानि तो बहुत हुई लेकिन क्या करता? और कोई उपाय भी नहीं था।

जब मैंने उन्हें बिना एक भी चुँदरी खरीदे लौट जाते देखा तो बड़ा विस्मय हुआ, क्योंकि मुझे पन्नालाल से पता लगा था कि पिछली दफ़ा जब वे दिसंबर 1951 में जोधपुर आये थे तो इसी दूकान से श्रीमतीजी के लिए दो चुंदरियां ले गए थे जो उन्हें बहुत पसंद आई थीं। संभव है इस बार भी उन्होंने वैसी ही चुंदरियां फिर लाने का आग्रह किया हो और उसी के अनुसार वे इसी दूकान पर आये हों। पर अब तो स्पष्ट था कि वे खाली हाथों ही लौट रहे थे। श्रीमतीजी ने कुछ मँगाया था और वे उसे बिना लिये ही चले जा रहे थे। निश्चित तौर से उनकी मनःस्थिति वैसी ही होगी जैसी मेरी थी। उन्होंने मुझसे सिगरेट मँगाई और मैं नहीं ला पाया, उनसे श्रीमतीजी ने चुँदरी मँगाई और वे नहीं ले जा पाये। उनकी चिंता या ग्लानि का परिमाण अपेक्षाकृत अधिक ही रहा होगा। मुझे एक दो कि.मी. ही भटकना पड़ा था, और वे सैकड़ों कि.मी. दूर आ कर खाली हाथ जा रहे थे।

मस्तिष्क में तुलनीयता-अतुलनीयता के झूले में झूलता मैं साईकिल पर सवार हो गया और उनके तांगे के पीछे-पीछे चल दिया। थोड़ा ही चले होंगे कि उन्होंने ताँगा रुकवाया और चार कदम पीछे जा कर एक पान वाले से वही प्रश्न किया जो मैं अभी-अभी दसियों पान वालों से कर चुका था। मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब उसने उन्हें चट से 'कैरवन' का एक पैकट पकड़ा दिया। अभी-अभी मैं इस दूकान के पास की दूकान से पूछ कर गया था और आगे भी काफी दूर तक पूछ आया था, फिर इसे

उस समय क्या हो गया था जो मुझे मिला ही नहीं? मुझसे रहा नहीं गया। पूछ ही लिया, 'क्यों जनाब, अभी पाँच मिनट पहले आप कहाँ तशरीफ ले गए थे?' पान वाले ने उत्तर दिया, 'हां, किवाड़ भिड़ा कर पानी लाने जरा पास की गली में चला गया था। वहां नल लगा हुआ है।'

खैर, सिगरेट तो मिली पर मज़ा यह कि उसकी समूची दूकान में भी यह केवल एक ही पैकेट बचा था।

मुझे इस विचित्र घटना पर हँसी आए बिना न रही। यशपाल भी हँसे और मुस्कराते हुए सिगरेट सुलगा कर तांगे की ओर बढ़ गए।

जैसे सिगरेट मिली वैसे ही संभव है उनकी श्रीमतीजी की पसंदवाली चुँदरी भी उन्हें जयपुर में कहीं मिल गई हो।

मोची स्ट्रीट फलोदी-342301 जोधपुर (राज.)

'वर्तमान साहित्य' क्लब कानपुर

'वर्तमान साहित्य' के अक्टूबर 08 अंक पर क्लब की बैठक के केन्द्र में महात्मा गांधी के सिद्धांतों पर गंभीर आलेख रहे। गांधीजी की विचारधारा और दर्शन पर आधारित जवरीमल्ल पारख, अब्दुल बिस्मिल्लाह, कन्हैया त्रिपाठी, प्रो. कुंवरपाल सिंह के विचारों पर विशेष चर्चा हुई। सन्ध्या मिश्रा ने कहा कि अंबेडकर से लेकर गांधी तक ने जिस जातिवाद को ख़त्म करने के लिये क्या-क्या नहीं सहा, वही जाति आज एक जातीय संघर्ष के रूप में हमारे सामने है। केन्द्रीय राजनीति में आज यह अहम मुद्दा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में हम गांधी को याद न करें तो क्या करें ? हमारा हर वह काम हिंसा है, जिससे दूसरा व्यक्ति आहत होता हो। महात्मा गांधी का उद्देश्य भारत को आजाद करा लेना भर नहीं था बल्कि मानवता के संदेश को विश्व में फैलाना था। आरती त्रिपाठी का कहना था कि गांधी जी आजीवन स्वतंत्रता के पक्षधर रहे, क्योंकि वे जानते थे कि बिना स्त्रियों के सहयोग के समाज पूर्ण उन्नति नहीं कर सकता। बीना सिंह ने कहा कि गांधी जी का स्वराज गांवों की उन्नति को लेकर चला था। आज वाद तथा सामाजिक मूल्यों के व्यवसायिकरण ने गांव को प्रायः जनशून्य तथा महानगरों को अत्यधिक भीड़ के घनत्व से पाट दिया है। ऐसे में गरीब और अधिक निर्धन तथा धनी और ज़्यादा रईस होते जा रहे हैं। असमानता के इस दौर में हम गांधी के विचारों का पुनरावलोकन करें। जयासिंह ने कहा कि आज जब सवर्ण हिन्दू दलित, मुस्लिम, दलित आदि विभेदक वर्ग हावी हो रहे हैं, तब गांधी जी का अस्पृश्यता निवारण का विचार शिद्दत से याद आता है। मशीनीकरण के होने से मात्र अमीरों को ही लाभ हुआ है। आज प्रायः नेता, गांधी जी के विचारों को मंच पर बोलते तो हैं, उन्हें आचरण में नहीं उतारते, जिसकी वजह से देश कहाँ से कहाँ जा रहा है। विभाश्री सिंह ने कहा कि गांधी जी के धर्म का तात्पर्य था वे नैतिक मूल्य जो मनुष्यों को मनुष्य बनाते हैं। आज जबकि धर्मोन्माद के द्वारा नरसंहार हो रहे हैं, ऐसे में गांधी का धर्म ही हमको सुरक्षा दे सकता है। गांधी जी का मानना था कि अगर हम किसी देश से आर्थिक सहायता लेते हैं तो हमारी संस्कृति हमारी राजनीति वैसी ही हो जायेगी। पाश्चात्य देशों के प्रति हमारा जो रुझान है एक हद तक तो ठीक है लेकिन उसके अंधानुकरण ने हमारी संस्कृति और मानसिकता को बुरी तरह विकृत किया है। संयोजिका दया दीक्षित ने कहा कि गांधी जी के विचार हमारे लिये ही नहीं वरन आगत पीढ़ी के लिए भी पूर्णतः अनुकरणीय हैं। यदि लोकतंत्र का चौथा पाया मीडिया गांधी जी की रचनात्मकता से आंशिक प्रेरणा भी ले तो बजाय अंधविश्वास भय, आतंक और धार्मिक आडम्बरों को फैलाने के ऐसी खबरें और जानकारियाँ दे जो देशवासियों को चैतन्यता और क्रियेटिविटी से जोड़ें। बैठक में संकल्प लिया गया कि अगली सभा में गांधी जी की 'हिन्द स्वराज' एवं 'सत्य के प्रयोग' नामक कृतियों पर भी चर्चा होगी।

प्रस्तुति : दया दीक्षित

सूचना : 'वर्तमान साहित्य' क्लब द्वारा वर्तमान साहित्य के अक्टूबर 08 अंक में गांधी जी की विचारधारा पर महत्वपूर्ण लेख है। इन लेखों पर प्रतिक्रियात्मक आलेख 25 फरवरी 2009 तक आमंत्रित हैं। स्तरीय होने पर इनमें से दो आलेखों का प्रकाशन 'वर्तमान साहित्य' के किसी आगामी अंक में किया जायेगा। आलेख प्रेषित करने का पता :

दया दीक्षित

128/387 वाई वन ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर (उ.प्र.)-208011

दन-दन चकवा मामू घर के पकवा...

सन्मार्ग

(1)

रोज की तरह महापात्र ने आज भी लंच के बाद मेरे टेबुल पर कई पत्रों को रख दिया है। पहले तो इन्हें बड़े जोश से पढ़ता था। अब लगता है इन रंगीन चमक-दमक वाले पत्रों में कबाड़ के सिवा कुछ होता ही नहीं है। किसी पत्र में कोई बैंक यह सूचना देता है कि आपको कार के लिए इतने लाख का लोन आबंटित कर दिया है। किसी में विभिन्न रंगीन अर्द्धनग्न स्त्रियों और बड़े-बडे मॉलों के तस्वीरों के मध्य यह सूचना होती है कि फलां जगह से फलां-फलां सामान की खरीदारी करें तो इतने प्रतिशत तक विशेष छूट मिलेगी जो कि कभी मिलती नहीं और अगर मिलती भी है तो अपने बूते की बाहर की बात होती है। अब तो इन पत्रों की तरफ देखने का भी जी नहीं करता। कुछ दिनों पहले तक यह बात नहीं थी, पहले इतने पत्र भले न आते हों, परंतु जब भी आते थे, अजब सी उत्सुकता मन में रहती थी। किसी लिफाफे या अंतर्देशीय पत्र को फाड़ते हुए या किसी पोस्टकार्ड को पलटते हुए न जाने कितनी आशाओं, आकांक्षाओं और स्वप्नों का ज्वार उफनता, अतीत के अनगिनत बिम्ब उभरते इनको पढ़के। अब तो ना के बराबर ही इस तरह के पत्र आते हैं क्योंकि इसके मुख्य स्रोत अपनी श्रीमती जी अब साथ ही रहने आ गई हैं जो दो बच्चे की माँ होने के बाद भी जब भी सामने आती हैं तो यूँ महसूस होता है कि आज भी वह एक बंद लिफाफे की तरह न जाने कितने मजमून अपने अंदर दबाये हुऐ हैं जो शायद ताउम्र धीरे-धीरे उद्‌घाटित होती रहेगी। यही रहस्य और रोमांच शायद हर पुरुष को एक अनजानी औरत के साथ बाँध देता है और वह पूरी उम्र बंधा रहता है।

बीच-बीच में बाबूजी का पत्र आता है जिसमें अपने समाचार के साथ गाँव-घर, खेती-गृहस्थी, केस-मुकदमे सब का ब्यौरा होता है। साथ ही अपने आखिरी सपने कच्चे खपरेल के दुर्गा मंदिर को पक्का करवाने के बारे में ज़रूर ज़िक्र होता है। भाईयों से तो अब फोन या मोबाईल पर ही बातचीत हो जाती है। परंतु उस दिन इन कूड़े-कबाड़े पत्रों के बीच एक लिफाफा मिला। पता तो जाना-सुना था परंतु जिसने पत्र भेजा था, भेजा नहीं बल्कि भेजी थी उसका नाम पहली बार ही देखा। फाड़ने से पहले कई बार उलट-पलट कर देखा, सारावाँ... यह जगह जानी पहचानी होने के बावजूद ऐसी कोई वहाँ नाते-रिश्तेदारी नही है कि कोई मुझे पत्र लिखे। उसमें भी छाया देवी नाम की कोई महिला! बड़ी देर तक आश्चर्य में पड़ा रहा। कई बार पते को ठीक से पढ़ा। वह भी बिल्कुल सही है। अंत में पूरी तरह से सुनिश्चित हो जाने के बाद यह फैसला किया कि पत्र को खोल कर पढ़ लिया जाए, परंतु इसे खोलना और भी मुश्किल है। इसको खोलने वाले तिकोने पर ख़ूब सारा गोंद लगाया गया था, तथा उसके उपर पूरे तिकोनो पर क्रमानुसार क्रास का चिन्ह लगाया गया था। यानी खोल कर पढ़ने की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई थी। बस एक ही रास्ता बचता था फाड़ कर पढ़ने का। शुक्र है कि अंदर के दोनों पत्रों में भी साफ़-साफ़ ऊपर ही नाम लिखकर मोड़ा गया था अन्यथा किशोर का पत्र भी फट सकता था। मैं अपना पत्र खोलकर पढ़ने लगा....

श्री गणेशाय नमः

पूज्य चाचा जी
सादर प्रणाम।

यहाँ का सब समाचार बाबा बासुकी नाथ की कृपा से ठीक है। आपलोग भी बाबा भोलेनाथ की कृपा से ठीक ही होंगे। चाचा जी, कृपा कर इसमें जो एक और चिट्ठी है युगल किशोर जी तक पहुँचा देने का कष्ट कीजिएगा। आपलोगों को तो पता ही होगा कि उन्होंनें हमारे जिंदगी के साथ कैसा खिलवाड़ किया है। हम माँ, बेटियाँ उनके फैक्टरी वाले पते पर चिट्ठी लिख-लिख कर और फोन कर थक गईं परंतु कोई सही जबाब नहीं मिलता है। अगर आप उन तक यह पत्र पहुँचा दें और मेरी तरफ़ से एक बार जबाब देने को कहें तो हम आपका एहसान ज़िंदगी भर नहीं भूलेंगे। एक बार फिर आपसे हम प्रार्थना करते हैं कि यह चिट्ठी ज़रूर पहुँचा दीजिएगा।

आपकी बहू।

पिछले सप्ताह की घटना के बाद मुझे खेद के साथ यह स्वीकार करने में कोई परेशानी नहीं है कि बहुत संभव है इस पत्र की परिणति भी उसके अन्य पत्रों से अलग न हो, सप्ताह भर में मुश्किल से एक इतवार तो मिलता है और पिछला मैं जनाब किशोर जी पर ही होम कर चुका था। पिछले शनिवार को ज्यों ही ऑफिस से घर जाने को था कि दिल्ली ट्रेफिक पुलिस का फ़ोन आ गया कि आप किसी किशोर नाम के आदमी को जानते हैं। उसके पॉकेट डायरी में सबसे पहले आपका नाम औेर पता लिखा है। नोएडा मोड़

के पास उसका ऐक्सीडेंट हुआ है, आप जल्दी से आ जायें। वह अभी बेहोश है। बेहोशी की बात सुनकर मैं होश में आया वरना मैं तो तत्काल ही सोचने को मज़बूर हो गया था कि उस अंतिम यात्रा की तैयारी इस वीरान देश में मैं अकेले कैसे कर पाऊँगा। क्या उसका वह कृतघ्न परिवार और अपना आदर्श ग्राम समाज जिसने जीते जी एक बार उसकी सुध भी नहीं ली, इस समय आयेगा?... जहाँ तक बेहोशी का प्रश्न है तो वह पिछले दो सालों से होश में रहा ही कब है। घबराहट में, आफिस का सब काम धाम छोड़-छाड़कर वहाँ पहुँचा। पास के ही एक सरकारी हस्पताल में पुलिस ने भर्ती करा दिया था, मेरे पहुँचने के क़रीब घंटे भर बाद वह होश में आ गया था। माथा, कमर और हाथ के कोहुनी में काफी चोट लगी थी। किसी बाइक वाले ने सामने से धक्का मारा था। शुक्र था चोट ज़्यादा ख़तरनाक नहीं थी। जान बच गई। साइकिल मुड़-तुड़कर बेकार हो गई थी। किसी तरह जनाब को घर पहुँचाया। घर क्या मुश्किल से आठ फीट बाय दस की ईट और एसबेस्टस से बनी झुग्गी है। जिन गलियों में एक रिक्शा भी नहीं जा सकता, जहाँ की बजबजाती गंदगी में सुअर और इन्सान के बच्चे एक साथ रेंगते हैं। नाले का गंदा पानी और कूड़ा-कचरा जहाँ का तहाँ ठहरा रहता है परंतु देसी दारू की तेज धार हर दूसरे पुरुष के धमनियों में चौबीसो घंटे गतिमान रहती है। वहाँ उसका इंतज़ार उससे करीब चार अंगुल लंबी, दुबली-पतली, छरहरी पत्नी और दो साल का बेटा काफ़ी देर से बेसब्री से कर रहे थे। दवाइयों को उसकी पत्नी को देते हुए मैंने कहा सप्ताह भर ये दवाइयाँ चलेंगी। बीच-बीच में माथे की पट्टियाँ चेंज करवा लेना।... उसके घूंघट के कारण उसके चेहरे की कोई प्रतिक्रिया का पता नहीं चला और शाब्दिक प्रतिक्रिया उसने 'जी, अच्छा' से ज़्यादा व्यक्त की नहीं। वह शायद किशोर के साथ होने वाले ऐसे हादसों की अभ्यस्त हो चुकी है। मैंने उसके बेटे के सर पर हाथ रखकर पुचकारा। वह बार-बार मेरे हाथ और पाकेट की तरफ़ देखता रहा। मैं समझ गया उसने खाली हाथ के पुचकार को सहज रूप से स्वीकार नहीं किया। मैंने उसे तुरंत दो का सिक्का पकड़ाया... उसके गालों में दो भँवर उठे, वह पूरे शरीर से मुस्कुराया मेरे गाल को झट से चूमा और दुकान की तरफ छू मंतर हो गया। किशोर को एकबार फिर यह हिदायत देकर कि नशा मत किया करो, जिसे छोड़ना उसके बूते की बात नहीं है! ज़रूरत पड़े तो फोन करना। साथ ही दिमाग में तत्काल कौंधा था कि फोन नहीं करे तो ही अच्छा है। मैं करीब दो हज़ार रुपये का चूना लगाकर लगभग आधी रात को अपने घर पहुँचा जहाँ भूखे, प्यासे, शंकाओं अशंकाओं तथा निद्रा और जागरण के मध्य गोते लगाती धर्मपत्नी मेरा इंतज़ार करती पतिव्रत धर्म का पालन कर रही थी। लाख समझाने के बावजूद कि मैं जल्दीबाज़ी में मकान मालिक के घर फोन करना भूल गया था, वह मानने को तैयार नहीं। दो दिन पहले ही तो विस्फोट के साथ अंदर का सारा गर्दो-गुबार बाहर आया है। अब सबकुछ सामान्य हुआ है। नहीं तो सबकुछ टाइम पर मिल जायेगा परंतु सीधी आँखों से देखना और सामान्य बातचीत बंद। सिर्फ़ मेरे तरफ़ से 'बात ही बात' उधर से 'चीत' नहीं। उसके बाद यह पत्र पहुँचाने की बात सुनकर तो मेरा दिल दहल उठा। पिछले सप्ताह अपने घर के घाटे के बजट को पूरा करने के लिए आफ़िस से हज़ार रुपये एडवांस लिया था। वह तो एकाउंटेंट होने के कारण किसी तरह मैनेज कर लेता हूँ वरना पता नहीं किस-किस के आगे हाथ फैलाना पड़े। उसके बाद अब यह पत्र पहुँचाने जाऊँ। मैंने मन मसोसकर इस पत्र को अपने बैग के उस खाने में रख दिया जिसे कभी-कभार ही खोला जाता है। वह भी तभी, जब बैग की गंदगी मेरी पत्नी की सहनशीलता, जो कि इस मामले मे मुझसे काफ़ी कम है की सीमाओं को पार कर जाता है।

आज इसकी स्थिति को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता है कि क्या गाँव का यह वही अलमस्त अल्हड़ किशोर है? क्या परिस्थितियाँ इस कदर, एक अच्छे खासे अपनी शर्तों पर जीने वाले इन्सान को कठपुतली बना कर नचा सकती हैं? किशोर मुझसे उम्र में एकाध साल बड़ा था परंतु क़द में मैं हमेशा उससे बीस नहीं बल्कि शुरू से बाइस रहा। हाँ शारीरिक गठन में वह मुझसे ज़्यादा चुस्त-दुरुस्त था। बचपन से लेकर किशोरावस्था तक हमदोनों में जबर्दस्त मुकाबला था। वह उठापटक का खेल हो या अजय नदी के किनारे घंटो गाना गाने का मुकाबला, महेन्द्र कपूर का वह गाना .. ना मुंह छुपा के जियो और ना सर झुका के जियो, गमों का दौ[र] भी आये तो मुस्कुरा के जियो... जब वह गाता तो सबके साथ में उपर भी इसका असर कुछ इस तरह का होता कि मैं उसको चुनौती देने के लिए रफी के, ओ दुनियाँ के रखवाले -की शरण में जाना ही उचित समझता। खासकर अंतिम पैरे, रखवाले-रखवाले में अपनी सारी ताकत झोंक देता, चेहरा, गरदन सब लाल, रक्तिम और पसीने से तरबतर। सभी साथियों के वाहवाही के बावजूद भी मुझे लगता था कि किशोर के अंदर से दर्द और वेदना की जो एक लहर उभरती है, उसे छूना मेरे बस की बात नहीं है। अब मुझे महसूस होता है कि अपनी पीड़ा को वह भले ही अपने सदाबहार ठहाकों में छुपा लेता था परंतु उसके घर की आर्थिक स्थिति कमजोर थी। सुनने में तो यहाँ तक आता था कि उन दिनों कई-कई दिनों तक घर में भोजन तक नहीं पकता था। उँची जाति के निम्न मध्यम वर्ग का संयुक्त परिवार जब दरिद्रता के चपेट में आता है तो उसके घर के बड़े-बड़े खाली बर्तनों की हल्के से टकराने की भी आवाज़ बड़ी तेज़ गूँजती है। उसका संगत देता हुआ खाली पेट उससे भी ज़्यादा गुँजायमान होने लगता है, जोकि मुखरित होकर बिना कोई राग तान का संगत लिए बड़ी जल्दी हिंसक रूप धारण करती है। जठराग्नि जब धधकती है तो कोई प्रेम, भावना और रिश्ते को नहीं पहचानती। यहाँ सिर्फ़ संयोग, हाथ में अनायास आया कोई भी हथियार और ताकत सर चढ़कर बोलता है और सामने वाले को इसका शिकार बनाता है। इसके चपेट में कभी बुजुर्ग बाप आते हैं तो कभी निरीह माँ और कभी अबोध बच्चे। बाद में भले ही वा[...]

पश्चाताप की आग में जले परंतु यह जठराग्नि क्षणों में बहुत कुछ जलाकर भस्म कर चुकी होती है। आजकल किशोर का घर भी इन्हीं परिस्थितियों से गुज़र रहा था। वह शायद इन गानों के माध्यम से तथा ईश्वर के प्रति अंधभक्ति से उबरने का एक प्रयास ही था परंतु आंतरिक पीड़ा शायद इन गीतों के माध्यम से ही रिसते हुए अभिव्यक्ति की मार्ग तलाशती थी। पढ़ाई के मामले में वह मुझसे गच्चा खा गया। मैं मैट्रिक में मात्र दो नंबर कम होने के कारण सेकेंड डिवीजन हो गया, वहाँ वह किसी तरह थर्ड डिवीजन से पास हो पाया। उसके बाद जहाँ मैं आगे की पढ़ाई के लिए पहले देवघर और फिर पटना तक आया, वह वहाँ खेती तथा इधर-उधर के कामों में गाँव तो कभी देवघर करता रहा। पटना से बी.काम करते-करते पाँच भाइयों में सबसे बड़ा होने के कारण जहाँ मेरी शादी जल्दी करा दी गई, वहीं पाँच भाइयों में तीसरे नंबर पर होने के कारण उसकी शादी जल्दी नहीं हो पायी। घर के हालात और पारिवारिक जिम्मेदारियों के कारण अब आगे की पढ़ाई उसी तरह संभव नहीं थी तो दिल्ली की ओर रूख किया। कुछ दिन धक्के खाने के बाद एक प्राइवेट कंपनी में पहले असिस्टेंट एकाउंटेन्ट और फिर एकाउंटेन्ट बनकर पारिवारिक बोझ ढोने लगा। इस बीच जब-जब गाँव जाना हुआ किशोर को उसी तरह फक्कड़ों के भाँति जीते देखा। लगता ही नहीं था कि ज़िंदगी की कोई चिंता उसे हो। वह इस समय भी अपना ज़्यादातर समय गाँव के लड़कों के संग ढोलक और हारमोनियम में गानों और भजनों में अलमस्त होकर गुजार रहा था। उसे देखने पर यह लगता था कि न तो इसे अभी तक भविष्य की कोई चिंता, न तो वर्तमान का कोई ख़ौफ इसके मन में है। हाल-समाचार पूछने पर यही बताता कि भोले बाबा की कृपा से सब ठीक है, ज़िंदगी मस्ती में कट रही है ... अपना बताइये, आप भी कहाँ दिल्ली, धक्का (ढाका) चले गये... इधरे रहते। आप जैसे पढ़े लिखे लोगों को कहीं काम की कमी थोड़े ही है...। मैं भी हाँ में हाँ मिला देता, हाँ तुम ठीक ही कह रहे हो। कुछ दिनों बाद बाबूजी या भाइयों के किसी पत्र से पता चला कि किशोर की शादी देवघर के बाबा मंदिर में हो गई है। मुझे भी संतुष्टि हुई की चलो अब वह थोड़ा अपना और अपने परिवार की चिंता तो करेगा।

एक दिन ऑफ़िस थोड़ा लेट से पहुँचा तो एकाउन्ट्स सेक्शन के गेट पर ही महापात्र ने सूचना दी कि आपसे, आपके गाँव का कोई मिलने आया है। मैंने कहा अच्छा और जैसे ही अपने टेबुल की ओर बढ़ा उसने दनाक से मेरे पास आकर कहा- ''सिन्हा जी, प्रणाम'' मैंने उसे देखा... अरे किशोर, क्या हाल है भाई और गाँव में सब कैसे हैं! ''सब बढ़िया है,'' उसने मेरे आफ़िस में मेरे केबिन और टेबुल कुर्सियों की ओर नज़र फेरते हुए थोड़ा आश्चर्य मिश्रित मुस्कान के साथ कहा, ''आपने तो बहुत तरक्की कर ली है।'' मैनें कहा—''कहाँ यार बस किसी तरह गुजारा चल रहा हैं'', हालाँकि मन के किसी कोने से एक आवाज़ उभरी थी कि चलो गाँव का कोई आदमी पहली बार मान्यता तो दे रहा है वरना गाँव के अधिकांश लोग तो आजतक यही कहते हैं कि कम्पटीशन के माध्यम से नौकरी लेने की हिम्मत नहीं थी इसलिए दिल्ली भागकर प्राइवेट नौकरी कर ली। मैंने उसे बैठने को कहा और राजेन्दर सिंह को चाय लाने को कहा। बाद में मैंने ग़ौर किया कि इसने मुझे सिन्हा जी कहकर पुकारा। चलो एक तरह से ठीक ही है। गाँव में आज भी कोई मेरा नाम प्रदीप कहकर नहीं बुलाता है। उसमें अपनी तरफ़ से एक और आकार की मात्रा जोड़कर प्रदीपा कहता है। परंतु दूसरे ही क्षण ध्यान उसके हुलिए पर चला गया। अब यह कितना ठिगना लगता है। अपनी तरफ से तो वह सज सँवर कर ही आया था, सफेद शर्ट में नील डला हुआ था जो धूप में सुखाने के कारण कहीं ज़्यादा तो कहीं कम लग रही थी। पैन्ट भी शायद ज़्यादा ढीली होने की वजह से एक सस्ती से बेल्ट से कुछ ज़्यादा ही टाइट कर दी थी जिसके कारण कमर से जाँघ तक पैंट में सलवटें पड़ गई थी जो बड़ा भद्दा दिख रहा था। हालाँकि उसने शेव बना रखी थी परंतु छोटे चेहरे पे मोटी-मोटी मूछें उस पर नाक के बाल भी निकलकर मूछों के साथ ही मिल गये थे। सच कहूँ तो उसे अब अपना साथी कहते हुए थोड़ी परेशानी महसूस करने लगा था। ''किशोर तुम थोड़ा बैठो, मैं अपना ज़रूरी काम निपटाता हूँ''। ''हाँ प्रदीप जी, काम तो ज़रूरी है। हम बैठे हैं ना, आप अपना काम कीजिए।'' मैं लंच तक अपने कैश बुक और लेजर में खो गया। बीच-बीच में उसकी तरफ कभी नज़र मार लेता तो पाता कि अपने अँगूठे क़ो नाक के छेद में घुसाकर खुजला रहा है। एकबार तो देखा कि बड़ी तल्लीनता से—छोरी पतरकी रे मारे गुलेलवा-के धुन पर गंगा से जल भरी के लेके कंवरीया जयबे बाबाधाम-गा रहा है और सामने की टेबुल पर धीरे-धीरे थाप दे रहा है। पूरे स्टाफ का ध्यान उसकी तरफ था। मैंने धीरे से उसे आँखों के इशारे से ऐसा करने से रोका तो हड़बड़ाकर सावधानी से बैठ गया। लंच में मैंने पूछा-''किशोर अब आराम से गाँव घर का समाचार बताओ।'' उसने कहा- ''उघर का सब समाचार तो ठीक है, आपको तो पता ही होगा कि इधर बहुत दिनों से हम गाँव जा ही नहीं पाये हैं। आप तो जानते ही हैं मेरा भी परिवार अब बढ़ गया है। दो बेटी हो गई। उधर कोई रोजी-रोज़गार नहीं है सो हम भी सुरेश सिंह के साथ अब इधरे आ गये हैं। हो सके तो हमको भी कहीं लगवा दीजिए''... यह कहकर आशा भरी नज़रों से मुझे थोड़ी देर तक देखता रहा। फिर कहा-''आप तो इतना बड़ा आफ़िस चलाते हैं।'' ''अरे नहीं, मैं क्या आफ़िस चलाता हूँ। मैं तो महज एक स्टाफ हूँ।'' उसने मेरी बात बीच में ही काटकर, मेरे कुर्सी टेबल कम्प्यूटर तथा चकाचक आफ़िस की तरफ नज़र फेरते हुए कहा-''बाबा भोला की कृपा से आप जो तरक़्क़ी किए हैं वह गाँव भर में कोई नहीं किया है। अब हम चलते हैं। आपको बहुत डिस्टर्ब किए''। ठीक है तो इतवार को घर पे आना, वहीं महफिल जमेगी और मैंने अपने घर का पता लिखकर उसे दे दिया। ''तुम सुरेश सिंह के पास बेगमपुर झुग्गी, मालवीय नगर में ही ठहरे हो ना?'' ''हाँ हाँ।'' यह सुरेश की बेगमपुर की झुग्गी का एक

कमरा भर नहीं, पूरा जनता धर्मशाला है। गाँव के तरफ़ से आनेवाले सभी बेरोज़गार लड़कों का प्रथम पड़ाव वही होता है और तबतक रहता है जबतक रोजी-रोज़गार की व्यवस्था नहीं हो जाती है तथा पहला वेतन नहीं उठा लेता है। "तब तो मुनीरका विलेज वहाँ से नज़दीक ही है।" मैनें कहा और वह चला गया। मैने भी चैन की साँस ली। चलो कहाँ एक कमरे के मकान में इसे ले जाता और परेशानी में पड़ता। ऐसे भी किशोर की उपस्थिति में काम में अपने आप को केंद्रित नहीं कर पा रहा था और उसको भी शाम सात बजे तक का समय काटना यहाँ भारी पड़ जाता।

रविवार को वह अनिल जी के साथ मेरे घर आया, जो कि गाँव के रिश्ते में उसके बहनोई लगते थे। काफ़ी खुश था। हाल-समाचार पूछते ही वह चहक उठा-"सिन्हा जी बाबा भोला, मैया काली, माँ दुर्गा, माँ बुढ़ेश्वरी, माँ तिलेश्वरी" आदि क़रीब पच्चीसों देवी-देवताओं के नाम लेने के बाद यह बताया की "इन सब की कृपा से मुझे नोएडा में एक एक्सपोर्ट फैक्टरी में चेकर का काम मिल गया है। तनख़्वाह अभी बाइस सौ रुपया मिलेगा और वहीं दल्लुपुरा में डेरा भी ले लिए हैं। सब व्यवस्था अनिल जी करवा दिए है। अब कोई चिंता की बात नहीं है।" मैं उसको यह कहकर उसकी खुशियों पर कुठाराघात नहीं करना चाहता था कि 'बेटा जब उन सीलन भरे कमरों में कपड़ों और धागों के ढेर के बीच रात-दिन बिना आराम किए काम करोगे और मालिक वेतन के समय यह बहाने बनाएगा कि अभी विदेश से पैसा नहीं आया है, कुछ लो और काम चलाओ तो कुछ दिनों के बाद ही गाँव की मटरगस्ती में बनाया गया यह नाटा गठीला शरीर, ढाँचा भर ही नज़र आयेगा'। खैर, मैंने यह सोचकर कुछ नहीं कहा कि परिवार वाला हो गया है। कभी-न कभी अपनी जिम्मेदारियाँ तो उठानी ही पड़ेगी। वे लोग खा-पीकर खुशी-खुशी विदा हुए थे।

"सिन्हा साहब ओ सिन्हा साहब, लेटर पढ़ते-पढ़ते आप कहाँ ग़ायब हो जाते हो, आपको गुप्ता जी ने बुलाया है"

"अरे यार मुझे तो पता ही नहीं चला"

2

हालाँकि किशोर ने बहुत कोशिश की कि वह गाँव के उन लड़कों से अलग दिखे जो दिल्ली से कमाकर जब लौटता है तब दिल्ली के फुटपाथों पर खरीदे हुए बड़े-बड़े जूतों और जींस टी शर्ट को शायद सोते समय भी नहीं उतारता है और तेरेको-मेरेको का ऐसा पाठ करता है मानो अपनी गाँव की भाषा से कभी कुछ लेना देना ही नहीं रहा हो। यह अलग बात है कि फिर कुछ दिनों बाद दिल्ली जाते समय उसके पैरों में हवाई चप्पल भी नहीं होते और किराये के लिए गाँव के बनिये के सामने ठेठ देशी भाषा में ही वह या उसका बाप दस या बारह रुपये सैकड़ा सूद प्रतिमाह के हिसाब से कर्ज़ लेने के लिए गिड़गिड़ाता नज़र आता है। परंतु फिर भी रात को अपने पत्नी के पास आते ही उसमें थोड़ी अहमन्यता आ ही गई और थोड़ा बहक ही गया- "अरे हम क्या तुमको झूठ कह रहे हैं। चौधरी एक्सपोर्ट में सबकुछ मेरे ही इशारे पर होता है। मालिक मेरे भरोसे पर छोड़कर चार-चार, पाँच-पाँच दिन गायब रहते हैं। तीस चालीस लोगों को देखना इतना आसान थोड़े ही है लेकिन बाबा भोला की कृपा से सब बढ़िया चल रहा है। जानती हो हमरा पूजा-पाठ और टीका लगाने के कारण वहाँ सब हमको पंडित जी कहता है। वहाँ अपना डेरा है घर का सब सामान है। प्रदीप जी क्या हैं हमारे सामने। वहाँ पाँच-छः साल से काम कर रहे हैं और अभी भी हैं एक कंपनी में एकाउटेंट। एक रूम का डेरा लेकर उसी में पूरा परिवार के साथ रहते हैं। और हमको अभी छः महीना भी नहीं हुआ है, चौधरी साहब कहते हैं पंडित जी फैक्टरी तुम्हीं संभालो। हम कभी-कभार ही देखने और पेमेंट वगैरह करने आयेंगे। यहाँ भी कोई ज़िंदगी है।" छाया को अपने सीने से लगाते हुए उसने कहा-"अब चलो, हमलोग वहीं रहेंगे। अपनी दोनों बेटियाँ भी वहीं पढ़ेंगी। हमलोगों ने बहुत दुख काट लिया। भगवान की कृपा से अब सब ठीक है।"

"जानती हो, आज देखा दोनों रीति और नीति ढेर सारे बच्चों के साथ दोनों हाथ फैलाकर गोल-गोल घूम रही थी। दन-दन चकवा मामू घर के पकवा, दन-दन चकवा, मामू घर के पकवा खेल रही थी। जब मैंने कहा-"यह क्या खेल रही हो बेटी" तो दोनों कहने लगी-"जानते हैं पापा, घूमते तो हमलोग हैं, परंतु लगता है कि हमारे साथ पूरी दुनियाँ घूम रही है। मकान, गाछ-वृछ पहाड़, नदी, मंदिर सबकुछ हमारे साथ-साथ घूमती है। जितना तेज हाथ फैलाकर घूमते जाते हैं उतना ही तेज सब चीजें घूमती रहती हैं। अंत में जब थककर स्थिर हो जाते हैं, फिर भी थोड़ी देर तक लगता है कि सब घूम ही रहा है।" आज जब वो दोनों घूम रही थी तो बड़ी प्यारी लग रही थी। कभी वो अकेली हाथ फैलाकर घूमती तो कभी दोनों एक दूसरे के हथेलियां जकड़ और शरीर टाइट कर एक दूसरे के सहारे आसमान की ओर देखती हुई घूम रही थी। लग रहा था मानो दो छोटी-छोटी सुंदर परियाँ स्वर्ग लोक से उतर रही हो, उनके बाल यूँ उमड़-घुमड़ रहे थे मानो वे दोनों बादलों में चक्कर लगा रहीं हों। मैं हक्का-बक्का एकटक उन दोनों को निहारता रहा। निहारते-निहारते मुझे यूँ लगा मानो अगर तत्काल इन्हें नहीं पकड़ा तो बादलों में खो जायेंगी। दोनों आसमान में चक्कर लगाते-लगाते स्वर्ग लोक में वापस चली जायेंगी। मैंने तत्काल दोनों को समेटकर सीने में भर लिया।" फिर अपने ही अंदर डूबते उतरते हुए कहा-"दुख की बात तो बस यही है कि वो कब तक मामू घर के पकवा पर ही घूमेंगी। अपना गाँव तो आज तक एक बार भी नही गई।" अगले ही क्षण अपने होठों पर विश्वास भरी मुस्कान लाते हुए बोल पड़ा-"लेकिन चिंता की कोई बात नही है। दिल्ली में हम जहाँ रहते हैं वहाँ बहुत बड़ा छत है। दोनों वहीं पर दन-दन चकवा घूमेंगी। उसके साथ पूरी दिल्ली घूमेगी, लाल किला, इंडिया गेट, कुतुब मीनार, संसद भवन सब इन दोनों के साथ घूमेगी।"

"हम तो कहते हैं कि और कुछ दिन अकेले रहकर कुछ पैसा-वैसा जमा कर लीजिए। हम नहीं चाहते हैं कि आप हमलोगों को ले जाकर परेशानी में पड़ जायें?"

"अरे हम कह रहे हैं अब कोई दिक्कत नहीं हैं।" उसकी भरी-भरी छातियों को अपने पंजो में भरते हुए धीरे से एक आँख मारते हुए उसने कहा-"अब तुम्हारे बिना नहीं रहा जाता। लोग कहते हैं कि दिल्ली के ठंडा में तो शादी-शुदा आदमी कितनो ही रजाई कंबल ओढ़ ले, बिना बीवी के जाता ही नहीं है"

"भट्ट। अपने आपको पंडिजी कहते हैं और यही सब बात करते हैं। लाजो नहीं लगता है"

"तुम्हारे लिए ही तो माय-बाप, भाई, गाँव गिरान सब छोड़ दिए और तुम भट्ट कहती हो" उसने साड़ी को पेटीकोट समेत घुटनों से उपर उठाते हुए कहा–

"एक बात कहें मानिएगा?"

"अभिए सब कहोगी क्या? इतने दिनों बाद मिले हैं। तुम्हारी भी गजब आदत है। सब मुश्किल बात इसी घड़ी में मनवा लेना चाहती हो"

"नहीं, नहीं पहले सुन लीजिए"

किशोर ने खीझते हुए हारकर कहा "बोलो"

"हमको दिल्ली ले जाने से पहले एक बार आप पुनिया को दिल्ली ले जाकर उसका इलाज करवा दीजिए। देवघर में इलाज़ करवा-करवा कर थक गये हैं। कोई डाक्टर उसके बीमारी को पकड़ ही नहीं पाता हैं। डाक्टर का कहना है कि इसको पटना या दिल्ली का डॉक्टर ही इलाज कर सकता है। इतनी सीधी-सादी लड़की को पता नहीं क्या हो गया है। साल भर से एकदम मथछिनाही जैसे करती है। कुछ काम कर रही है तो घंटों से उसी में लगी रहती है, फिर भी नहीं कर पाती है। नदी में नहा रही है तो दो-तीन घंटा नहा ही रही है। कभी-कभी तो रात-बिरात को सब कपड़ा लत्ता खोल-खालकर फेंक देती है। कुछ कहो तो दिनभर बिना कुछ खाये-पिये ढ़र-ढ़र लोर बहायेगी। पूरा गाँव गिरान तो अब उसको पगली कहने लगा है। आप ही सोचिए इस जवान-जहान लड़की को इस हालत में बूढ़ी माय के साथ इस बदनाम बस्ती में किसके सहारे छोड़ कर हम दिल्ली में चैन से रह सकेंगे?"

"हमको तुम पहले क्यों नहीं बताई। हम पहले ही मँगवा लेते और वहाँ मेडिकल में दिखा देते"

"आपका नया-नया नौकरी था और सयानी लडकी को किसके साथ भेज देती।"

"हम भी तो सयाने है?" किशोर ने आँख नचाते हुए शरारत से कहा।

"लेकिन आप पर भगवानों से ज़्यादा भरोसा है।"

"अरे वहाँ अगल-बगल के लोग सब क्या कहेगा, गया था बीवी को लाने और साली को लेकर आ गया"

"अरे वह तो दिल्ली है, कोई हमरा गाँव थोड़े ही है जहाँ तनी-तनी बात पर आग लग जाये।"

किशोर मन ही मन सोचकर रह गया कि तुमको क्या पता कि 'वहाँ लोग सिर्फ धू-धू कर अपने में ही जलते रहते हैं और पड़ोसियों को भी तब पता चलता है जब सब खाक हो जाता है।'

"कौन चिंता में पड़ गये। नहीं ले जाना हो तो कोई बात नहीं, हमलोग किसी तरह समय काट ही रहे हैं....!"

"ले जायेंगे देबी जी इतने दिनों बाद मिले हैं। काहे रात ख़राब कर रही हो... ।"

मेडिकल के चौथे तल्ले के बरामदे से वह नीचे देखता है और सोचता है दिल्ली आए इतने दिन हो गए। नौकरी भी ज्वाइन नहीं किया, साला कहाँ फँस गये, इस जाड़े में सुबह पाँचे बजे लाइन के चक्कर में उठकर सब काम धाम छोड़-छाड़कर भागो, यहाँ लाइन में लगो। उसके बाद गार्ड अंदर भी नहीं जाने देगा, कहेगा यह महिला विभाग है, गेन्कोलॉजिस्ट डिपाटमेंट, यहाँ पुरुषों को अंदर जाना मना है। अब उसको कैसे समझायें कि वह गूंगी डॉक्टरनी के पास मुँह खोलेगी तभी न कुछ बीमारी का पता चलेगा। आज एक सप्ताह हो गया है लेकिन मुश्किल से हमसे सिर्फ़ हाँ हूँ के सिवा कोई बात ही नहीं की है। बात तो पहले भी कम ही करती थी लेकिन जहाँ ज़रूरी है वहाँ तो करना ही पड़ता है। खाली लंबी धिडंग हो गयी है। तभी गार्ड आवाज़ लगाता है पुन्नी कुमारी का आदमी कौन है? वह दौड़कर पहुँचता है-"हम हैं, क्या बात है?" आपको मैडम अंदर बुला रही हैं। "आप ही पुन्नी कुमारी के साथ आये है"। "जी मैडम"। "हमने हर तरह से इनका चेक अप कर लिया है परंतु गायनी से संबंधित कोई बीमारी इनको नहीं है। मैं इनको साइकियट्रिस्ट यानी मनोचिकित्सक को रेफर कर रही हूँ। आप इनको लेकर इस बरामदे को पार करने के बाद जो कमरे आयेंगे, 409 नंबर के कमरा में इनको लेकर जायें। शायद वहाँ के इलाज से ठीक हो जायेंगी।" वह और भी कुछ पूछकर आश्वस्त होना चाहता था परंतु क्या पूछे क्या नहीं, वह तो डाक्टरनी को देख कर ही हतप्रभ है। आदमी या औरत हो तो बात करे, यहाँ की अधिकतर डाक्टरनियों के सफेद, कोमल, झलमल देह को देखकर लगता है बर्फ के एकदम सफेद सिल्लियों को रूखानी से काट-काटकर बनाया गया है। न एक इंच ज़्यादा न एक इंच कम। उसके उपर से सफेद झकाझक कपड़े, चेहरा देखते ही दिमाग चौधिंया जाता है। मानो एकाएक कोई हजार वाट का बल्ब जला दिया हो। उससे आखिर आदमी क्या नज़र मिला कर बात करेगा, इंसान झूठ बोल सकता है परियाँ भी कहीं झूठ बोलती हैं। धोखा देती है क्या! अगर झूठ बोलती तो मुखड़ा कुछ न कुछ मलिन तो हो ही जाता! "ठीक है मैडम" से ज़्यादा कुछ कह ही नहीं सका और मैडम के बताये हुए कमरे की तरफ पुन्नी को लेकर चल दिया।

फिर वहाँ भी वही चक्कर, कार्ड जमा हो गया। ख़ैर, जल्दी ही नंबर आ गया। यहाँ भी डाक्टरनी ही थी परंतु थोड़ी दुबली-पतली

और उम्रदार, यही कोई चालीस पैंतालीस की लग रही थी लेकिन ज़्यादा की भी हो सकती है क्योंकि यहाँ चेहरे और बालों से उम्र का पता नहीं चलता है। हमरा गाँव जैसे थोड़े ही, कि लड़की का बियाह हुआ। तीन-चार साल में तीन-चार ठो बाल बच्चा हुआ, उसके बाद बुढ़िया में गिनती होने लगती है। यहाँ तो बुढ़िया से बुढ़िया को भी बहन जी से उपर कुछ कहे तो ऐसे ताकेगी की जैसे जिन्दे निगल जायेगी। ऐसे बहन जी भी जरा शकल-सूरत और पहनावा आदि देखकर ही कहना पड़ता है। परसों ही तो बस में कंडक्टर ने एक औरत को बहन जी कह दिया, वो हंगामा हुआ कि जिसका ठिकाना नहीं, सीधे ही कह दिया-मैं तेरी बहन लगती हूँ? मैडम जी कहा करो।

मैडम ने बड़े प्यार से पूछा- "क्या तकलीफ है आपको?" इसके पास कोई जवाब ही नहीं, खाली ढेबर-ढेबर आँख से डाक्टरनी को ताके जा रही है। "आपने अपना नाम तो बताया ही नहीं पहले अपना नाम बताइये"। अभियो मुँहे ताके जा रही है जैसे मुँहा को कोई भीतर से अंटी सुत्ता से सिल दिया हो। किशोर से बर्दाश्त नहीं हुआ-"पुन्नी कुमारी नाम है इसका।" मैडम उसी तरह मुस्कुराते हुए कहा-"अरे वाह, बड़ा सुंदर नाम है। देखो पुन्नी तुमको क्या तकलीफ है, नहीं बतलाओगी तो मैं तुम्हारा इलाज कैसे करूँगी? हाँ बोलो।" पुन्नी ने अटकते हुए मुँह खोला- "माथा में हमेशा दर्द रहता है, हाँ मथवा हमेशा चकराता है, हर समय सन्न-सन्न का आवाज़ आते रहता है।" "और?" "बड़ी गरमी लगता है। मन करता है हमेशा पानींये में डूबे रहें। देहो में हमेशा दर्द रहता है। हमेशा सोते रहने का मन करता है, लेकिन सोते हैं तो नींदो नहीं आता है। देहवा हमेशा कसकसाते रहता है। लगता कोई हमेशा दबाते रहे या पकड़ कर चुर-चार दे"। "तुम्हारी उम्र क्या हुई है?" डाक्टरनी कार्ड में उम्र देखकर भी चुप रही। वह उसी से कहलवाना चाहती थी-"हाँ बोलो ?" छब्बीस साल।" फिर उन्होनें ने किशोर से कहा-"आप थोड़ी देर के लिए बाहर जाइये प्लीज। मुझे इनसे अकेले में कुछ बातें करनी हैं।" लेकिन मैडम ठीक हो जाएगी ना? "हाँ मैं पूरी कोशिश करूँगी, अभी आप बाहर जाइए प्लीज।"

किशोर भुनभुनाते हुए बाहर आया-"ई महारानी के चक्कर में हमरा नौकरियो जायेगा। साला हम धोबी का कुत्ता घर के न घाट के रहेंगे।"

"इनके गार्जियन आप ही हैं?" "यही समझिए मैडम यहाँ तो हमीं हैं।"

"आप इनका कौन लगते हैं?" "हम इसका जीजा लगते है।"

थोड़ी चुप्पी के बाद डॉक्टरनी ने कहा- "खैर जो भी हो- देखिए। इनको बीमारी तो कोई खास नहीं है और मैंने दवाइयाँ भी लिख दी हैं परंतु इसके स्थायी इलाज के लिए इनके हमउम्र लड़के से इनकी शादी करवा दीजिए। इस उम्र में अक्सर अलग-थलग रहने वाले को यह बीमारी हो जाती है। इसका सही इलाज एक अच्छा जीवन साथी ही है।"

लौटते समय बस में किशोर सोचता है, ब्याह? जीवन साथी? कहाँ से करेगी बुढ़िया? सब हमरे जैसन फक्कड़ भोला का भक्त थोड़े ही है। यहाँ कायस्थ लाला जात का गैलो गुजरल लड़का को कम से कम पचास-साठ हजार नगद चाहिए। संताल परगना में जमीनों नहीं बिकता है कि बेच-बाच कर मुक्ति पा लिया जाय। पता नहीं बुढ़िया कब तक इसको ढोयेगी और बुढ़िया के बाद हमरे कपार पर बेल फूटेगा? और नहीं तो क्या कौन है और उसका सगा नाते रिश्तेदार? तभी अपना बस स्टाप आ गया-"चलो पुन्नी उतरो" "सोचते विचारते पता नहीं कब समय बीत गया, नहीं तो यही रास्ता काटने में न जाने कितना परेशानी होती है।

आज ग़जब की ठंड है। सूरज लगातार दो तीन दिनों से दिखाई ही नहीं पड़ा है। कुहासा दोपहर तक छंटता है तो दोपहर के बाद फिर एक दो घंटे बाद सबकुछ अपने गिरफ़्त में लेना प्रारंभ कर देता है। चार बजते-बजते दल्लुपुरा के जिस मकान में किशोर रहता है गली के उस पार के मकान भी दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। सर्दी और थकान के मारे ही वह आज भी हस्पताल से आने के बाद काम पर नहीं गया। आज पुन्नी ही शाम का खाना बना रही है। वह वहीं बगल में सर दर्द, देह दर्द के कारण सोया रहा। आज पुन्नी खुश लग रही है। उसके हर बात का जवाब भी दे रही है। उसने उस छोटे कमरे को अपने ढंग से सहेज दिया है। उसने किशोर को उठाया-"जीजा जी उठिए खाना खा लीजिए, उठिए ना"। किशोर का कंबल हटाकर उसे हिलाया। किशोर उठ गया, उसने आँख मलते-मलते जिधर खाना बनाता था उधर ध्यान गया, "अरे आज तूने खाना बनाया है और पूरे कमरे की सफाई भी की है। आज बहुत खुश नज़र आ रही है।" पुन्नी के होठों पर अचानक एक हँसी की बिजली कौंधी और उसके नीचे मोतियों की माला सी दंतपंक्तियाँ दिख जाने से पूरा कमरा जगमगा उठा। किशोर ने कहा-"तुम भी खा लो ना।" "हाँ हम भी खा रहे हैं।" इस जाड़े में खाना खाने के बाद सोने के सिवा कोई काम नहीं था। गर्मी या अन्य कोई मौसम होता तो ड्यूटी से आने के बाद भी वह घर में कहाँ टिकता था। यहाँ भी उसने गले की मधुर आवाज़ तथा थोड़ा भंग और कभी-कभार गाँजे के एक-दो कश ले लेने के कारण उस क्षेत्र के लोगों का एक समाज बन गया है जो सब इसको कायस्थ होने के बावजूद भी पंडित जी कहता है। कल शाम को दुकान में गोपाल दिख गया था, "का पंडितजी अबकी जब से आये हैं हमलोगों को भुला दिए हैं। लगता है भौजाई निकलने नहीं देती है का", कहकर फिस फिस्साकर हँस दिया।

"अरे नहीं, साला आजकल इस मौसम में पता ही नहीं चल रहा है कब सुबह कब शाम हो रहा है"

"हाँ पंड़ित जी साथ में भौजाई हो तो औरो पता नहीं चलता है!"

किशोर भी हँसी में यह बात ग़ायब हो जाने देता है कि वह

जिसे लाया है वह उसकी पत्नी नहीं साली है। कौन इतने लोगों को बताते फिरे। फिर एक ही रूम में साली के साथ कोई कैसे रह सकता है? यह भी कोई बताने की बात है?

उस कमरे का आकार इतना ही बड़ा था कि खाना वगैरह बनाने के सामान तथा अन्य कई घर गृहस्थी के छोटे-छोटे सामान रखने के बाद दो लोगों के लिए अलग बिछावन के लिए जगह की कोई गुंजाइश नहीं थी। उन दोनों का बिछावन तो एक ही था, हाँ ओढ़ने के लिए किशोर ने अपना कंबल उसे दे दिया था और खुद एक पुरानी बिछावन वाली चादर पुन्नी के शॉल के साथ मिलाकर ओढ़ रहा था। खाना खाने के बाद नींद आ गई वह सो गया परंतु मारे ठंड के नींद जल्दी ही टूट गई। फिर वह नींद के लिए कोशिश करने लग गया। उसने अपने नाटे क़द के शरीर को जितना सिकोड़ सकता था सिकोड़ कर चादर को चारो तरफ से दबा लिया लेकिन कंपकपी है कि जाने का नाम ही नहीं ले रही थी। ठंडा सिर्फ़ ऊपर से ही नहीं, नीचे पक्के पर बिछे उस पतली कथरी से भी आ रही थी। गाँव होता तो बिछावन के नीचे मोटा तह करके धान के पुआल बिछा देता और उसके ऊपर कथरी बिछाकर सो जाता और ऊपर से कोई कथरी या कंबल डाल लिया। थोड़े ही देर में शरीर पसीने-पसीने हो जाता, परंतु अभी तो उसे लग रहा था कि वह कथरी पर नहीं उसे सीधे बर्फ़ की सिल्ली पर सुला दिया हो और शरीर का हर अंग-अंग बर्फ़ की भांति जम रहा हो। वह क्या करे! उसका ध्यान पुन्नी की तरफ गया। वह आराम से कंबल में सिकुड़कर सो रही थी। वह अपने दोनों तरफ से कंबल को अपने शरीर के इर्द गिर्द दबा कर सोयी हुई थी। अगर दोनों एक ही कंबल में सो जाये तो ठंड से मुक्ति मिल सकती है। परंतु क्या यह ठीक होगा! ठीक बेठीक क्या होता है? पहले इस ठंड से बचना ज़रूरी है। और कोई दूसरा उपाय नहीं है। पहले इस शरीर को गर्मी चाहिए... उसने अपने शरीर को छू कर देखा। उसके सारे रोंगटे खड़े थे। हमको गर्मी चाहिए चाहे इस कंबल से मिले या इसके शरीर से। अब बहुत हो गया, भगवान का यही मर्ज़ी है। यह सोचकर उसने कमरे के दीवारों की तरफ नज़र फेरा जिसके चारों तरफ उसने सभी देवी-देवताओं के अनगिनत फोटो लगा रखे थे। सब उसको सोये नजर आये। डाक्टरनी कह रही थी इसकी शादी करा दो। यानी इसको हिस्टीरिया है। इसको ठीक होने के लिए चाहिए पुरुष का शरीर। यह तो कह रही थी कि इसका शरीर हमेशा गर्मी से तपता रहता है। हमेशा पानी में डूबे रहने का मन करता है और हम तो मारे ठंड के काँप रहे हैं। नहीं हमको भी ठंडा कहाँ लग रहा है। मेरे शरीर से तो पसीना छूट रहा है! वह उठ बैठा, मेरा शरीर भी तप रहा है। उसने अपने माथे को छूकर देखा। पसीने की बूदें उसके माथे पर छलक आयी थी। तो क्या हमको भी हिस्टीरिया हो गया है! वह जोर-जोर से हाँफ रहा था। हाँ, हमको भी हिस्टीरिया हो गया है। हमारे हर अंग को आज हिस्टीरिया मार गया है! इसको भी हिस्टीरिया है और अब हमको भी हिस्टीरिया हो गया है ! पुन्नी को भी चाहिए एक पुरुष का शरीर और मुझे भी चाहिए इसका शरीर। दूसरा कोई रास्ता नहीं ! कहाँ जायें इस रात को? क्या करें? सब विधि का विधान है! उसकी धड़कनें धाड़-धाड़ धड़क रही थी। किशोर ने धीरे से थरथराते, काँपते कंबल को हटाया और खुद को भी उसके अंदर कर लिया। पुन्नी थोड़ी कुनमुनाई और करवट बदल कर सो गई। वह भी थोड़ी देर स्थिर रहा पर ज़्यादा देर अपने आप को रोक नहीं सका। अपने एक पैर को पुन्नी के दोनों पैरों के बीच कर दिया और अपने शरीर और हाथ से अपने घेरे में ले लिया। तभी वह जाग गई। पुन्नी ने कहा-''यह क्या कर रहे हैं?'' उसने कहा-''आज बहुत जाड़ा है।'' पुन्नी उसे छुड़ाकर उठकर बैठ गई और कहा-''यह पाप है''। ''कोई पाप नहीं है, सब विधि का विधान है'' कहकर किशोर ने अपनी बाहों में समेटकर सीने में भर लिया। उसने भी दो-चार बार नहीं-नहीं के सिवा ज़्यादा कुछ नहीं कहा। इस भयंकर जाड़े में एक पुराने और नये हिस्टीरिया के मरीजों को मिल जाने और उससे उठने वाले ज्वार से पूरा कमरा देर तक भट्ठी सा तपता रहा।

सुवह-सुवह ही किशोर काम पर जाने लगा, जाते-जाते वह इतना ही कह सका, तुम खाना वगैरह बना के खा लेना। मैं शाम को आऊँगा। पुन्नी ने कहा, हमको घर पहुँचा दीजिए। किशोर ने आँख चुराते हुए कहा ''देखते हैं'' और वह चल पड़ा। पुन्नी उसे अपनी बड़ी-बड़ी आँखो से निहारती रही, जब तक वह आँखो से ओझल नहीं हो गया।

चौधरी एक्सपोर्ट हाउस में सब उसे अजूबे की भाँति देख रहे थे। उनमें ज़्यादातर तो बिहार के ही मुस्लिम दर्जी थे, सब का एक ही सवाल था-''क्यों पंडित जी ले आये भाभी जी को? बहुत दिन लगा दिए।'' किशोर अभी रात की खुमारी से उबर भी नहीं पाया था कि वही प्रश्न से घिर गया। अब वह क्या जवाब दे? क्या कहे, जिसे वह लाया है बीबी नहीं साली हैं? और वह इससे पीछा छुड़ाने के लिए सबको बोलता गया- ''हाँ भाई ले आये हैं। क्या करते बीमार थी इसलिए उसका इलाज कराने लगा। ठीक होती तभी तो लेकर आता, इसी में लेट हो गया।'' फिर मालिक आया, किशोर को बुलाया, आश्चर्य और गुस्से से उसे घूरते हुए हथेली चमकाते हुए बोला- ''हाँ भई तुम यहाँ कैसे? तुम तो एक सप्ताह के लिए गये थे बीबी को लाने और आज एक महीने से ज़्यादा हो रहा है।'' ''साहब ऐसा है कि...'' नज़र धरती में गाड़े, थूक घोटते हुए किशोर ने कहा। ''क्या ऐसा है कि बैन के निकल बाहर तुम सभी बिहारियों का यही हाल है। दो महीना काम किया नहीं की बीबी के पास जाने के लिए मन मचलने लगता है। तू अपना देख ले मैंने दूसरा लड़का रख लिया।'' नहीं साहब ऐसा मत कीजिए मेरी पत्नी बीमार हो गई थी। उसी के इलाज में टाइम लग गया। अब हम उसको यहीं ले आये हैं। अब कोई छुट्टी नहीं करूँगा। अब मन लगाकर काम करूँगा। आप निकाल देंगे तो परिवार के साथ बहुत दिक्कत हो जाएगी साहब। आप ही के भरोसे तो मैं फैमिली को

यहाँ लाया हूँ। अब क्या करेगें हम। थोडी देर तक उसे घूरते रहने के बाद चौधरी ने पहले के अपेक्षा रोष को कुछ कम करते हुए किशोर से कहा-''अब जा भी यहाँ से''। किशोर थोड़ी देर तक आशा भरी नज़रों से चौधरी के तरफ देखता रहा परंतु चौधरी जानबूझकर उसे नजरंदाज करते हुए फाइल पलटता रहा। उधर से कोई प्रतिक्रिया नहीं पा निराश होकर जाने लगा। दिल बैठ गया। सीने में एक लहर सी उठी। सिर की नसें तड़तडाने लगी। आँखो के आगे घनघोर अँधेरा छाने लगा। वह लड़खड़ाते दो-तीन कदम ही आगे बढ़ाया था कि पीछे से आवाज़ आई। वह पलटा ''सुन तुम सीधा-साधा पंडत आदमी है, इसलिए तेरेको एक बार माफ़ करता हूँ। मैंने आज तक किसी बिहारी को एडवांस नहीं दिया। तेरेको पहली बार अपना समझ कर दिया। अब मन लगाकर काम कर, अपना समझ कर। यह नहीं कि अब परिवार ले आया है तो शाम को आठ बजे तक गायब हो गये। अब रात के नौ-दस भी बज सकते हैं। आखिरकार तुम यहाँ का सुपरवाइजर है और अब यह भी चिंता नही है कि घर जाकर रोटी बनानी है। किशोर की धमनियों में पुनः रक्त संचार तीव्र गति से होने लगी- ''हाँ साहब बिल्कुल। बिल्कुल। आख़िर यह हमलोगों का ही तो काम है। टाइम देखेगें तो काम कैसे चलेगा और अब तो खाना बनाने वाली भी आ गई है, अब किस बात की चिंता!'' चौधरी ने किशोर की मज़बूरी का फायदा उठाकर अपने पंजे में दबोच लिया जहाँ उसके सुबह नौ बजे काम पर आने का समय तो निश्चित था परंतु काम पर से जाने का कोई समय अब निश्चित नहीं रहा और न ही सुपरवाइजर के झुनझुने के आगे कोई ओवरटाइम मिलने वाला था।

वह देर रात को घर आया। पुन्नी घर में खाना पकाकर शाम से ही उसका इंतजार कर रही थी। उसने साइकिल कमरे में घुसाकर, हाथ-पैर धो, अगरबत्ती जलाया और चारो तरफ दीवारों में चिपके देवी-देवताओं को कुछ मंत्र सा बुदबुदाते हुए अगरबत्ती दिखाया। पहले इन्हीं मंत्रों को वह पूरे स्वर और तान के साथ गाकर पूजा करता था। आज शायद वह इन देवताओं से भी नज़र ठीक से नहीं मिला पा रहा था, किसी तरह रुटीन पूरा किया। ''कुछ खाना बनाई है क्या?'' पुन्नी ने कुछ जबाव देने की जगह उसे अपनी बड़ी-बड़ी आँखो से एक नज़र देखा और दाल, भात और आलू का भरता सामने कर दिया। वह खाने लगा, आधा खा लेने के बाद उसने पुन्नी से नज़र चुराते हुए कहा कहा ''तुम भी खा लो ना''। पुन्नी ने फिर थोड़ा चावल-दाल उसके मना करने के बावजूद किशोर की थाली में डाल दिया और और बचा-खुचा खुद खा लिया। किशोर और पुन्नी दोनों अपनी-अपनी चादर तान कर सो गये। आधी रात के समय फिर किशोर को जोरों का जाड़ा लगा, फिर उसके हिस्टीरिया ने फन उठाया, वह पुन्नी के कंबल में घुसा। वह भी इसके इंतजार में थी, फिर मान-मर्दन शुरू हुआ। कुछ देर बाद दोनों करवट बदलकर सो गये। सुबह पुन्नी के उठाने के बावजूद वह उठने की हिम्मत नही जुटा पा रहा था। फिर किसी तरह वह उठा। दैनिक क्रिया से निवृत हुआ और जो मिला उसे मुँह में डाल साइकिल उठाकर फैक्ट्री चला गया। यह दिनचर्या महीनों तक चलती रही। सुबह वह सबसे पहले चौधरी को खुश करने के लिए फैक्ट्री पहुँच जाता और रात को देर तक दौड़-भागकर काम करता रहता और रात को कमरे पे आकर जो मिलता उसे निगल कर निढाल हो जाता। अब अंतर इतना ही आया था कि एक ही कंबल में दोनों आराम से सो जाते और जब भी उनके अंदर का हिस्टीरिया फुंफकारता, बेहिचक उसे शांत कर लेते।

उसे होश तब आया जब उसे एक दिन फैक्ट्री में कपड़ों को चेक करते-करते सिर में चक्कर आया और वहीं गश खाकर गिर गया। उसे वहाँ के दर्जियों ने उठाया। वह बुखार में तप रहा था। उसे डाक्टर को दिखाया तब उसे होश आया। डाक्टर ने कहा-''शरीर में रक्त की कमी है, एनीमिया है।'' खाना वगैरह ठीक से खाने और आराम की सलाह दी। किशोर के शरीर का पोर-पोर दर्द के मारे टूट रहा था। चौधरी के कहने पर एक मजदूर ने उसे घर पहुँचा दिया। वह लगातार तीन दिन तक सोता रहा। पुन्नी उसे उठाती। दवा खिलाती और जो भी थोड़ा-बहुत मिल जाता वह खाकर लुढ़क जाता। यह शायद उसके जीवन की अंतिम सहज और स्वाभाविक नींद थी...!

तीन दिनों में जब भी उसकी नींद टूटती उसकी नजर अनायास छत के कोने में चली जाती जहाँ एक मकड़ी बड़ा सा जाला बुनती नजर आती। चौथे दिन जब उसकी तबीयत कुछ ठीक हुई बिछावन पर पड़े-पड़े पुनः किशोर की नजर उस कोने में चली गयी जहाँ हर तरफ से जाला बुनकर मकड़ी खुद उसमें कैद हो गई और उससे निकलने का अनथक प्रयास कर रही थी। जितना निकलने का प्रयास करती उतना और फंसती जाती। वह सोयी हुई पुन्नी की तरफ देखता और सोचता कि पुन्नी को यहाँ लाकर उससे बहुत बड़ी गलती हुई है। अब किसी तरह जल्दी से जल्दी पुन्नी को उसके घर पहुँचाना ही होगा। उठकर मकड़ी के जाले को साफ करने के लिए झाड़ू उठाई। उसी समय मकान मालकिन दरवाजा पीटने लगी ''अरे बिहारी, ओ बिहारी। तन्ने अभी तक किराया नहीं दिया। जल्दी किराया दे।'' उसे छोड़कर उसने दरवाज़ा खोला। ''हाँ किराया के नहीं दिया अभी तक...।'' किशोर ने नज़र चुराते हुए कहा-''आंटी दे दूंगा एक-दो दिनों में।'' ''दे दूँगा नहीं, जल्दी से दे दे। तुमलोगों का क्या भरोसा। कब यहाँ से सामान-सुमान उठाकर भग जायेगा। तू तो कह रहा था तेरी दो छोरी भी है। उसे कहाँ रख आया है... ।'' किशोर को लगने लगा अब वह गया काम से। तभी अनायास मुँह से निकल गया- ''अभी वो नानी के पास हैं, जल्दी ही ले आऊंगा।'' बोलकर लगा कि किसी तरह उसकी जान छुटी! ''सुन। आज कल में किराया दे दियो, नहीं तो खाली कर दे कमरा।'' कहते हुए सर को झटकते हुए वह चली गयी। किशोर फिर वापस बिछावन पर लेटकर सोचने लगा अब क्या करें, वेतन मात्र अठारह सौ मिलने लगा है क्योंकि दो हजार रुपये ससुराल जाते समय जो

एडवांस लिया था वह प्रति महीने चार सौ रुपये के हिसाब से कटने लगा। चार पाँच सौ रुपया तो उसके इलाज में ही खर्च हो गया। अब वह कैसे किराया दे और कैसे पुन्नी को घर पहुँचाये? और इतना सब वह तब न कर पायेगा जब चौधरी उसे छुट्टी देगा? उसने तो सभी को यही कहा है ना कि वह अपने परिवार को ले आया है...सोच-सोच कर उसका सिर चकराने लगा। तभी उसका ध्यान पुन्नी की तरफ गया जो आह आह कर अपने पेट को दबाये बेचैन हो रही थी...।

''मुबारक़ हो आप बाप बनने वाले हैं''

नर्स की यह बात सुनते ही उसे लगा कि पूरा हस्पताल घूम रहा है। सिर्फ़ हस्पताल ही नहीं पुन्नी भी, डॉक्टर भी, आस-पास जो भी था सब घूम रहा था। उसकी पत्नी भी दोनों बेटियाँ भी। उसने स्थिर होने के लिए पुन्नी का हाथ पकड़ लिया और बाहर बरामदे में बैठ गया।

घर आकर किसी तरह हिम्मत जुटाकर उसने पुन्नी से पूछा-''अब क्या करें ?'' अभी तक पुन्नी सिर्फ डकर-डकर किशोर को घूर रही थी और कसमसा रही थी, अब आपे से बाहर हो गई-''हमको क्या पता है कि क्या करना है। हमको सिर्फ़ इतना पता है कि अब घूम कर गाँव नहीं जाना है, चाहे जो हो जाये।'' किशोर ने उसे समझाने के ख्याल से कहा- ''सुनो पुन्नी तुम बात तो सुनो। बच्चा ख़राब करवा देते हैं और तुमको घर पहुँचा देते हैं।''

पुन्नी दाँत पर दाँत चढ़ाते हुए बोली-''आपका दिमाग सनक गया है क्या...? हम क्या आपको यह कहे थे कि हमको दिल्ली ले चलिए?.... हमको आपलोग ज़बर्दस्ती यहाँ ले आये। उसके बाद बताया कि हमको हिस्टीरिया हो गया। फिर भी चलो कोई बात नहीं! घर पहुँचा देते, सो नही, हमको हिस्टीरिया हुआ था। आपको क्या हुआ था? हमको ई पता नहीं है कि एक औरत या जवान लड़की को हिस्टीरिया कैसे होता है। और होता भी है तो वह उसे अंदर ही अंदर दबाती, कसमसाती और भोगती रहती है। परंतु अब हमको इतना पता चल गया है कि एक अकेली औरत को एकांत में पाते ही अधिकांश मर्दों को हिस्टीरिया हो जाता है। वह चाहे आपके जैसा दिनभर ओम नमः शिवाय का रट लगाने वाला और पंडित जी कहलाने वाला आदमी ही क्यों न हो। सो यहीं पर आप हमरा हिस्टीरिया के साथ-साथ अपना हिस्टीरिया का भी दो महीने से लगातार इलाज करने लगे। और अब जब बच्चा ठहर गया तो कहते हैं कि बच्चा खराब करवा कर घर चलो। उसने फुँफकारते हुए कहा-''हम बच्चा खराब करवाने का पाप नही करेंगे और ना ही यह मुँह लेकर गाँव जायेंगे। बाकी आपको जो करना है सो करिये।

किशोर ने कहा-''तुम यहाँ कैसे रहेगी? वहाँ किसी को कुछ पता नहीं चलेगा?''

''पाप कभी छुपता नहीं है। हवा-बतास की तरह पहुँच ही जाता है।'' फिर पलटकर बोली-''हम कह दिए सो कह दिए। न ही हम बच्चा ख़राब करेंगे और न ही हम गाँव जायेंगे। अब आपका जो मर्ज़ी है, चाहे तो आप हमको रखिए या मार कर नदी-नाला में फेंक दीजिए... और फूट-फूट कर रोने लगी।

किशोर अंत में सिर पकड़ कर बैठ गया। शाम तक यूँ ही बैठा ही रहा। फिर उठा तो सड़क पार कर झुग्गियों के पास एक छोटी दुकान में पहुँचा और दुकान वाले से कहा-''और भई क्या हाल हैं?'' पंडितजी अपनी बताओ बड़ी दिनों बाद दर्शन दिए''। सुहाना है क्या?'' (यानी भंग की गोली) ''अरे पंडितजी न तो होली है और न दशहरा, फिर सुहाना सफ़र क्या करोगे''? ''यहाँ रोज होली और दशहरा हो रहा है यार, चार देना।'' दो वहीं पर किशोर ने फाँक लिया और कमरे में आकर बिछावन पर उलट गया। थोड़ी देर में ही फिर सब कुछ घूमने लगा, 'दन-दन चकवा'/ नदी के किनारे घंटों बैठकर ना मुँह छुपा के ज़ियो और ना सर झुका के जियो, गमों का दौर भी आये तो मुस्कुरा के जियो... गाँव में सभी छोटे बड़े का सम्मान मिलता था। पूरे बैसाख भर चलने वाले कीर्तन की पूरी व्यवस्था किशोर के सर पर ही होती थी। ना जन्माष्टमी का कृष्ण उत्सव इसके बिना संभव था और ना होली का फगुआ से ही अपने को अलग कर सकता था, सबका मुखिया लोग ज़बर्दस्ती हमको ही बना देते थे। गाँव का पूरा सामुदायिक उत्सव मेरे ही कंधे पर घर वालों के लिए क्या-क्या नहीं किया। चाहे मंझले भाई का टी.बी. का इलाज हो, चाहे घर में खेती की शुरूआत। इसके पहले मेरे बाप भाइयों को इधर- उधर दलाली कर घर बैठे रोज-रोज माँस मछली खाने की आदत थी। आखिर कितने दिन ये सब चलता। घर में सब दाने-दाने को मोहताज होने लगे। आपस में भूख से सिरफुट्टवल करते थे। खेत रेहन पर रखकर सब मौज उड़ा लिए और जो था उसमें पानी बहता। खेती कैसे करते। राजा के दीवान के वंशज थे ? कायस्थ भी कहीं खुद खेती करता है ? वह तो सिर्फ कलम और दिमाग का खाता है हुँह! चाहे दिमाग हो या न हो! घर की दयनीय स्थिति को देख पढाई-लिखाई छोड़कर-छाड़कर दूसरों के खेतों में दो दिनों तक मजदूरी करता तो उसके एवज में उसका एक दिन हल-बैल ले कर दिन-दिन भर जोतकर खेती की शुरूआत की, तब जाकर धीरे-धीरे घर वालों का पेट भरने लगा। सब खेतों को रेहन से छुड़वाया। खुद का बैल लिया। जैसे ही घर की स्थिति कुछ सुधरने लगी तो बड़े भाई और भौजाई मालिक, मालकिन बन गये।

शादी-ब्याह की तरफ घर समाज ने कोई ध्यान नहीं दिया। घर की दयनीय दशा को देखकर कोई रिश्ता आता ही नहीं था। जो आ भी गया उसे गाँव वाले टिबियाहा खानदान कहकर डराकर भगा देता। वह तो बुल्लु दा की पत्नी थी जो अपनी चचेरी बहन से देवघर बाबा मंदिर में बियाह करवा दी। छाया की विधवा माँ बेचारी कहाँ से दान दहेज देती। उसके पास एक खपरैल घर और कुछ जमीन के सिवा है क्या। जमीन यहाँ बिकती नहीं। दो जवान बेटियों की शादी हो जाये यही उसके लिए सबसे बड़ी मुक्ति थी। बेटा कोई

था नहीं जो कुछ करता धरता। और मैंने शादी कोई दूसरी जाति या गलत खानदान में तो किया नहीं? फिर भी भाई लोग तो दूर अपने माँ बाप भी कभी नहीं कहा कि एक बार दुलहनिया को घर ले आओ। घर समाज सब ख़िलाफ हो गया। कहने लगे यह भी कोई ब्याह है? न देवता-पित्तर का पूजा, ना हित कुटुम्ब और न ही गोतिया भाई का खान-पान। अपने मनमर्जी से किया है तो अपने मर्जी से जहाँ मन तहाँ रक्खे। इस गाँव और घर में उसके लिए कोई जगह नहीं है। एक मिनट में गाँव के सबसे ज़्यादा सामाजिक आदमी को असामाजिक बना कर निर्वासित कर दिया।

क्या करता। आ गया दिल्ली। सब विधि का विधान है। गया था बीबी को लाने, ले आया साली को। मेरी पत्नी को हमपर भगवानो से ज़्यादा भरोसा है। हो गया भरोसा पूरा! वह क्या जाने किस तरह हम एक बिछावन में ही सोकर सिर्फ़ उसके भरोसा पर टिके रहने के लिए रात-रात भर जाग-जाग कर कितने रात काट दिये। आखिर कहाँ तक टिके रहते, जैसे ही पता चला कि पुन्नी को हिस्टीरिया है तो हमको भी लगा कि हम जनम-जनम से हीस्टीरिया के बीमार हों। एकबार जायेगें फिर मेडिकल में और मैडम से पूछेंगे कि हिस्टीरिया भी कहीं छुआछूत की बीमारी तो नहीं है? जो दूसरे के साथ सटने से या एक रूम में साथ रहने से लग जाती है? अब यह कहती है कि बच्चा ख़राब नहीं करेगी। वह बिछावन से उठ बैठा, आख़िर क्यों करेगी बच्चा ख़राब? हाँ क्यों करेगी बच्चा ख़राब? हमने भी तो 'कल्याण' में पढ़ा है हर जीव में शिव का वास है। यानी जितना जीव उतना शिव। कोई जीव की हत्या यानी शिव की हत्या। हम नहीं करेगें बच्चा ख़राब, हम भी यह पाप क्यों करेंगे? लेकिन तब रीति और नीति को जो वादा किया था कि बेटी तुम्हें दिल्ली ले जाकर दिन-दिन भर छत पर दन-दन चकवा मामू घर के पकवा करवायेंगे, अब उसका क्या होगा? नीति और रीति क्या करती। वह शुरू से वही पैदा हुई और वहीं रह गई। अब क्या होगा दोनों बेटी और माँ वहाँ दन-दन चकवा मामूघर पकवा करेगी और हम यहाँ साली और उससे हुए बच्चे के संग दन-दन चकवा मामू घर के पकवा करेंगे, सब विधि का विधान है!

कुछ दिनों के अंदर ही किशोर ने नरेश गुज्जर के दल्लुपुरा वाले मकान को छोड़कर खोड़ा के झुग्गियों में एक झुग्गी चार सौ रुपये के किराये पर ले लिया। वहीं बगल में एक मंदिर है जहाँ खुद ही तथाकथित पंडितजी होने के कारण मंत्र पढ़कर पुन्नी से शादी कर लिया उसके कुछ दिनों बाद ही उसे एक बेटा हुआ जिसका नाम उसने कृपाशंकर रखा है यानी बाबा भोले की कृपा से ही तो वह हुआ! अब वह दो साल का है। उसकी जटाओं से गंगा तो नहीं परंतु आठ फुट की झुग्गी में वह मिनट भर भी नहीं रुकना चाहता। नतीजा यह होता है कि उसके ठीक द्वार पर बहने वाले शाश्वत नाले में आते जाते एक दो-डुबकी उसकी रोज लग जाती है। दल्लुपुरा से निकलने के बाद किशोर चौधरी एक्सपोर्ट में भी नहीं टिक पाया और दो सालों में दसियों एक्सपोर्ट हाउस बदल डाले और हर जगह से निकाला जाता रहा। चौधरी एक्सपोर्ट में था तभी एक दो पत्र उसे छाया के मिले थे जिसे उसने सब विधि का विधान है!, कहकर जेब में रख लिया था। अब उसको नींद बहुत कम ही आती है। वह हमेशा कुछ न कुछ सोचता और बड़बड़ाता रहता है। पहले सुहाना का पाउच एक-एक बार में चार-पाँच भी खा लेता था परंतु अब विलियम फाइव खाता है, तब कहीं थोड़ी देर के लिए नींद आती है। उसे यह बात समझ में नहीं आ रही है कि पुन्नी का हिस्टीरिया का इलाज कर देने के बावजूद वह आज भी वैसे ही गुमसुम, चुपचाप सी क्यों रहती है? किशोर के हर जगह नौकरी कर लेने तथा जितने भी जान-पहचान के लोग इधर थे, से कर्ज़ वगैरह ले लेने के बाद भी स्थिति दिनों दिन गिरते जाने के कारण खासकर पिछले एक्सीडेंट के बाद पुन्नी ने उसे घर बिठा दिया है और खुद ही एक अच्छे एक्सपोर्ट हाउस में नौकरी कर ली है। जहाँ किशोर को पच्चीस सौ रूपया से ज़्यादा वेतन कभी नहीं मिला वहीं पुन्नी पैंतीस सौ रुपये शुरूआत से ही वेतन उठा रही है। अब उसको इस बात की हिस्टीरिया सवार है कि किसी तरह इस झुग्गी से उठकर कहीं एक ठीक-ठाक कमरा किराये पर ले और कृपाशंकर को ठीक-ठाक स्कूल में भेजे। किशोर अब भी पूजा-पाठ उसी तल्लीनता से करता है बल्कि पहले से कहीं ज़्यादा। साथ ही उसके शरीर की सारी हड्डियों को भी आपस में हरि कीर्तन करते साफ़ देखा जा सकता है।

3

रिसीवर मुझको थमाते हुए महापात्र ने कहा-"सिन्हा जी आपका फ़ोन"। जुबान खोलने से पहले ही आँखों के इशारे से ही पूछ लिया किसका और जवाब का इंतजार किए बिना ही.. हलो कौन बोल रहा है, हाँ सुरेश! बोलो हाँ आपलोगों की दया से सब ठीके-ठाक है। किशोर का हाल समाचार क्या है? जबसे एक्सीडेंट हुआ है उसके बाद कहाँ मिल पाये हैं। सुनते हैं आजकल घरे पर रहता है और पूरा मथछिनाहा जैसे करता है। दिनभर भाँग का गोला में मगन रहता है और पूजा-पाठ करते रहता है। क्या करें यार, पहले कभी-कभार आ जाता था। माँगता था तो कुछ न कुछ दे भी देता था। सुनते हैं अब 'दोसरकी' पुन्नी खुद ही कोई एक्सपोर्ट हाउस में काम पकड़ ली है। चलो अच्छा ही की, नहीं तो पता नहीं क्या होता? चलिए न एक बार देख आते हैं। आखिर घर गाँव का आदमी है। हाँ मैं भी यही सोच रहा था। आ जाओ इतवार को मेरे घर, वहीं से चल देंगे... ठीक है... और भाभी जी और बाल-बच्चे सब ठीक हैं ना। हाँ सभी ठीक हैं... तो रखते हैं, ठीक है।

इतवार का दिन। इस दिन पर श्रीमती जी अपना हक मानती हैं। सब कुछ उनके अनुसार चलेगा। यह समझौता बिना किसी दस्तावेज का मोहताज हुए पूरी तरह लागू है। सुबह सो कर उठते ही चाय के साथ पहला हुक्म यह मिला कि तुरंत बाल कटाने जायेंगे, नहीं तो सैलून में नंबर लग जायेगा और आप हर आनेवाले

को पहले आप-पहले आप के चक्कर में लेट होते जायेंगे। आपकी गप्पबाजी कभी ख़त्म नहीं होगी और इस तरह सुबह का पूरा बेला निकल जायेगा''। खैर मैंने समझौते पर टिके रहकर हुक्म का पालन किया और बाल कटाकर आ गया। तभी देखता हूँ कि हमारी बड़ी बेटी जयंती बड़ी तल्लीनता के साथ हिज्जे कर-कर के कुछ पढ़ रही है। मैंने पूछा-''क्या पढ़ रही हो बेटा? वह पलंग से कूदकर मेरे पास आ गई और एक मुड़ा-तुड़ा कागज मुझे पकड़ाते हुए कहा-''पापा चिट्ठी पढ़ कर सुनाओ ना।'' मैंने पत्र को उलट-पलट कर देखा। शुरूआत में कुछ समझ में नहीं आया परंतु एक दो लाइन पढ़ने के बाद ही पता चल गया कि यह वही पत्र है जिसे मैने बैग में रख दिया था। मुझे पता चल गया कि आज मेरे बैग की भी सफाई हो रही है। चलो, बड़ा अच्छा मौका है। यह पत्र भी आज अपने सही ठिकाने पर पहुँच जाएगा चाहे देर से ही सही।

—''अरे क्या कर रहे हो, आकर नहाते क्यो नहीं। पानी चला जायेगा। सारा काम अभी पड़ा है''

—''अरे सुरेश आओ बैठो''

—''आप तो अभी तक नहाये भी नहीं हैं। आप जानते नहीं हैं, केतना दूर जाना है। दल्लुपुरा यहीं है क्या? जल्दी नहाइये'' सुरेश ने आते ही जल्दी मचा दी।

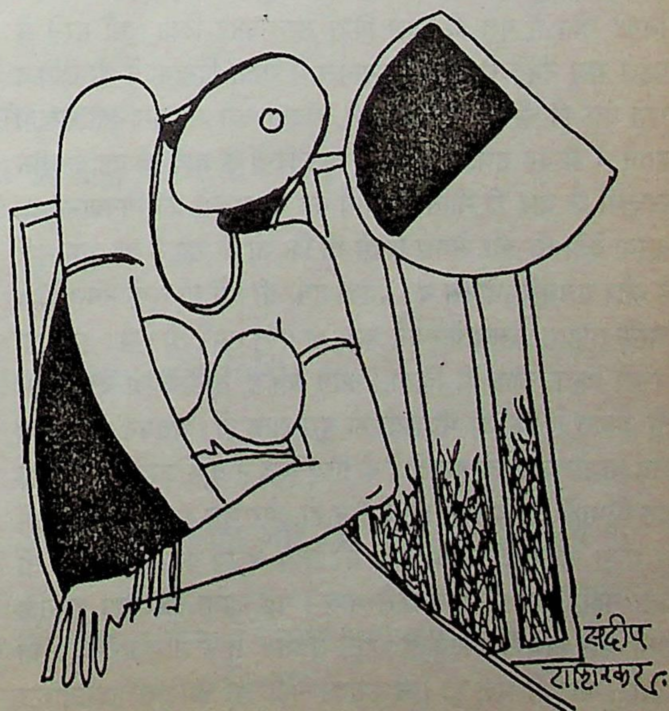
अभी आया, कहकर मैं आगे बढ़ा। वहाँ बाथरूम के आगे साधना मिल गई। उसने आँखे तरेरी, वह आँखो से कह रही है, मैं सब समझ गई, तुम इस संडे का भी हिसाब-किताब पहले ही लगाये बैठे हो... मैं बाथरूम में घुस गया।

''अब जल्दी चलिए ना। आप केतना देर नहाते हैं, पता नहीं मेरा सारा सब्जी पड़ा ही हुआ है। आकर बेचना है, नहीं तो कल तक सब ख़राब हो जायेगा''

साधना ने नाश्ता लगा दिया। सुरेश सिंह ने ''ना ना हम घर से खाकर आये हैं,'' कहते हुए भी पाँच-छह परांठे उड़ा दिये। तब से चुप साधना को मनाने की कोशिश की मैंने'' क्या करें किशोर की हालत ठीक नहीं है। पता नहीं उसका क्या होगा, उसी को देखने जा रहा हूँ'' वह कुछ नहीं बोली मेरे तरफ से नजरें हटा ली और अपने अस्तित्व के हर रोम-रोम से मुझे एकटक देखने लगी। वह जब गुस्सा होती है तो ऐसा ही करती है। मैं खुले आँखो उसकी नस-नस में उतरते हुए सीढ़ियों से उतर गया।

हम दोनों किशोर के दरवाजे पर खड़े हैं। अस्थि पंजरों का एक ढाँचा, ललाट के नीचे हड्डियों की खोंड़र में मकई के दो पीले दानों के समान आँखे। सूखी हथेली में अँगूठे से तँबाकू मलता करीब-करीब आधे टूटे फीते वाली फोल्डिंग खाट में धँसा। कही शून्य में निहार रहा है। दमे से बेहाल जर्जर फेफड़ों के बीच तेज-तेज साँस खींचता चौंतीस साल का बूढ़ा किशोर। जिसकी खाँसी और उठती गिरती साँसो की ध्वनि ऐसी भाँय-भाँय निकल रही है मानो यह ध्वनि इसके सीने से प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि कहीं कोई खाली गुफा या खाली पुराने बंद सीलन भरे किले की दीवारो से प्रतिध्वनित होकर आ रही हो। नीचे वहीं कोने में चटाई पर माथे के पास कथरी और गंदा सा तकिया रखे हाथ पैर सिमटी-सिकुड़ी पुन्नी भी सोयी हुई है। एक कोने में जूठे बर्तनों और स्टोव पर ढेर सारी मक्खियाँ भिन-भिना रही है। पुन्नी के मुँह पर भी कई मक्खियाँ बैठी है। उसके पूरे चेहरे पर चकत्ते-चकत्ते से झांइयों के दाग हैं। मुझे उस पर पहली बार कुछ दया सी आई। कुछ देर के इंतजार के बाद मैंने आवाज़ लगायी... किशोर, ने मेरी तरफ नजर फेरा और उठने का प्रयास करने लगा। तब तक पुन्नी उठ बैठी और सर पर आँचल ले लिया। किशोर ने खाँसियों के दौर में भी मुस्कुराने का असफल प्रयास किया जिसके कारण चेहरा विकृत सा हो गया। मेरे मना करने के बावजूद भी उठकर प्लास्टिक की कुर्सी पर रखे कपड़ों को हटा कर झाड़ने लगा तबतक सुरेश सिंह ने वहीं फोल्डिंग पर ही अपने बैठने की जगह तलाश ली और धँस गया।

मैंने इधर-उधर देखा, कृपाशंकर नहीं था, तबतक वह सामने वाले झुग्गी से भागते हुए आ गया। किशोर ने बलगम को घोंटते हुए कृपाशंकर से कहा, अरे कहाँ भाग जाता है! चल बाबा को प्रणाम कर। उसने टप से मेरा पाँव छू लिया। ''अरे तुम तो बहुत बड़ा हो गया है... कहते हुए एक चाकलेट उसे पकड़ा दिया। वह मेरे पास ही चिपक गया। पैसा दिया होता तो अबतक चाकलेट लेने भाग गया होता। किशोर ने पुन्नी को भी इशारे-ही-इशारे में पाँव छूने को कह दिया। पुन्नी ने भी मेरे पाँव छुये। किशोर ने कहा-''हम जानते हैं हम आपसे उमर में एक-डेढ़ साल के बड़े हैं परंतु गाँव के रिश्ते में तो आप चाचा लगते हैं। असली चीज़ तो रिश्ता ही है, रिश्ते कहाँ टूट पाते हैं!'' उसके आँखो के उठते भँवर कह रहे थे, ये रिश्ते ही हैं जिन्होंने मुझे इस हालात में पहुँचाया है। काश! पीछे छूट गये सब रिश्तों को मैं भी त्याग पाता तो आज इस हालत में



नहीं पहुँचता!

आगे क्या बात करें, इस समय सबके सामने यही प्रश्न था। मौन अपनी पूरी वाचालता के साथ माहौल में व्याप्त हो गया। इसे तोड़ने के प्रयास हर तरफ से कुछ न कुछ हुए परंतु मुँह खुलने से पहले आँखे टकराई और वापस अपने दड़बे में सिमट गये। स्थिति जस की तस। अंत में इसे तोड़ने के लिए मैंने ही मुँह खोला-''और किशोर, तबियत अब ठीक रहती है ना। तुम तो उधर आना बिल्कुल भूल ही गए। कभी परिवार बच्चों को लेकर मेरी तरफ़ भी आओ यार" उसने नज़रें धरती में गड़ाते हुए कहा-''अब कौन सा मुँह लेकर आप लोगों के पास आयें?''

—''अरे यार जो हो गया सो तो हो गया। अब कबतक उसी का माला जपता रहेगा और जीते जी अपने आपको मारते रहेगा''

—''हाँ जो कपार में लिखवा कर लाये हैं कोई उसको मिटा थोड़े ही सकता है?''

तभी मुझे चिट्ठी की याद आयी और बरबस पाकेट में हाथ चला गया। पुन्नी वहीं कोने में दीवार में सिमटी खड़ी थी ''पुन्नी तुम्हारी चिट्ठी है। मेरे नाम से होने के कारण गलती से लिफाफा फट गया।'' मैंने कृपाशंकर को उसे देने के लिए दे दिया जो तबसे मेरे गोद में ही चिपककर बैठा था। वह लेकर पढ़ने लगी

प्रिय पुन्नी

सदा सुहागिन रहो,

तुम्हारे जीजा जी, जीजा जी नहीं अब तुम्हारे पति को चिट्ठी लिख-लिखकर थक गई परंतु उन्होंने एक का भी जवाब देना ज़रूरी नहीं समझा। वे क्या जबाव देंगे, वे शायद तुम्हारे प्यार में इतने पागल हो गये हैं कि उनको इस बात का होश ही नहीं होगा कि यहाँ पर बेसहारा पत्नी और दो छोटी-छोटी बेटियाँ एक-एक दिन किस तरह गुजारा कर रही होगी। मैं तुम्हें कैसे बताऊँ कि इस बिगड़े गाँव में पूरा दो साल किस तरह काट दिया। माँ मरने से पहले रोज नीति से रामचरितमानस में यात्रा दिखवाती थी लेकिन रोज एक ही चौपाई निकलती थी, होवहीं वही जो राम रची राखा। इतने में ही वह समझ जाती थी, कुछ दिनों के बाद तो वह दो-तीन अच्छरों के बाद ही नीति से आगे का नौ अक्षरों को गिनवाना बंद करवा देती थी और समझ जाती थी कि जो हो रहा है वह शुभ नहीं है और रामचरितमानस बंद करवा देती थी। मैं तो तुम्हें उनसे ज़िद करके तुम्हारा इलाज करवाने भेजा था परंतु तुमने तो? खैर तुमलोगों ने जो किया ठीक ही किया। आगे बहिन, तुम्हारी तो बचपन से ही आदत है कि जो भी लेती हो पूरा लेती हो। बचपन में बाबूजी जब बाजार जाते तो हमलोगों के लिए कुछ न कुछ ज़रूर लाते। चाहे वह निमकी या बिस्कुट ही क्यों न हो और मुझे चुरा कर भी उसमें से थोड़ा अगर दे देते या मैया मेरे लिए अलग करके रख देती तो पता नहीं, फिर भी तुम्हें कैसे मालूम पड़ जाता और तुम तबतक रोती और हाथ-पैर पटकती रहती जबतक तुम्हें सारा नहीं दे दिया जाता। बाद में भले ही तुम उसको नहीं खा सको तो खराब कर उसको छोड़ दो या फेंक दो। हुँह, तुम्हारी वह आदत अभी तक नहीं गई है! खैर मुझे अब तुमलोगों से कोई शिकायत नहीं है।

और अब एक खुशी का समाचार तुमको देना चाहती हूँ, मुझे अब गाँव में ही पारा टीचर की नौकरी मिल गई है। यहाँ की सरकार ने फैसला किया है कि गाँव के प्राथमिक स्कूलों में पारा टीचर की नियुक्ति गाँव की ही इंटर पास लड़कियों या महिलाओं में से होगी। चूंकि इस गाँव में दो ही महिला इंटर पास थी अतः मेरी और सुनिता दोनों की नियुक्ति मिल गई हालाँकि कई लोग यह कहकर मेरा विरोध कर रहे थे कि मैं अब शादी के बाद यहाँ की नहीं रही। परंतु पंचायत समिति ने इन बातों को नहीं माना और मेरी नियुक्ति हो गई है। उम्मीद है कि अब वेतन भी मिलने लगेगा। वेतन तीन हज़ार रुपये प्रति महीना है। लोगों का यह कहना है कि यह नौकरी स्थाई हो जायेगी तब पूरा वेतन मिला करेगा। अब तो गाँव तथा पास के अन्य गाँवों के भी बच्चे हमसे ट्यूशन पढ़ने आते हैं। इस तरह पूरा समय कट जाता है। दोनों नीति और रीति बहुत अच्छी तरह से पढ़ रही हैं। वे तुम लोगों को हमेशा याद करती हैं।

तुम्हारा बेटा कैसा है। अब तो वह बड़ा हो गया होगा। लिखना, हो सके तो तुम लोग एकबार यहाँ घूमने के ही खातिर आ जाओ। मैं इतना ही कह सकती हूँ कि मैं न तो अपना हक माँगूंगी और न ही तुम्हारा हक छीनूंगी। इतना तो मुझ पर भरोसा कर ही सकती हो।

तुम्हारी.? छाया

जबतक पुन्नी पत्र पढ़ती रही उसके चेहरे का रंग उतरता चढ़ता रहा। एक असहज मौन पूरे माहौल पर हावी रहा। बीच-बीच में किशोर के दमे की बोझिल साँसें उसे और असह्य बना रही थी जिसे तोड़कर मैंने एक दो वाक्यों में बातचीत निबटाकर इस घुटन से निकलना चाहा-''अब जो ज़िंदगी मिली है, उसी को जीना है। हो सके तो कुछ दिनों के लिए गाँव चले जाओ। हवा बदलने से कुछ स्वास्थ्य में सुधार आयेगा। यहाँ तो दिनोंदिन तुम्हारी स्थिति ख़राब होती जा रही है।

तभी पुन्नी अकस्मात सिर के पल्लू को पीछे खिसकाते हुए पहली बार मुझसे बेझिझक नजरें मिलाते हुए फूट पड़ी- ''नहीं चाचा जी, स्थिति कुछ खराब नहीं हुआ है। हम अब अच्छा कमा रहे हैं। हम परसों से शाही एक्सपोर्ट में काम करने जायेंगे। अच्छे मुहल्ले की सैकडों औरतें उसमें काम करने आती है। अब हमको अगले महीने से छः हजार वेतन मिलेगा। ओवरटाइम अलग तथा पी.एफ. इलाज के लिए ई.एस.आई का कार्ड का सुविधा भी।'' वह एक साँस में बोले जा रही थी-''हम अच्छा मुहल्ला में एक रूम भी किराये पर ले लिए हैं।'' कृपाशंकर के बालों में अँगुलियाँ फेरते हुए बातों को आगे बढ़ाया-''अब कृपाशंकर को भी कोई अच्छे स्कूल भेजेंगे। ये खाली अपना और कृपाशंकर का ध्यान रखें, नहीं मन लगता है तो सारावाँ चले जायें दीदी के पास। वहाँ भी भगवान के कृपा से अब सब ठीक है। वहाँ से थोड़ा मन भटके तो अपना गाँव भी हो

आयें। वहाँ अपना बपौती घर है, कोई कैसे नहीं रहने देगा? आखिर ये किसलिए शर्मिंदा हैं। इनके बाप दादों ने तो बेटों के लिए तीन-तीन शादियाँ की हैं, इन्होंने दो कर ली तो कौन सा पाप किया? इनको भी तो कम से कम एक बेटा चाहिए कि नहीं? उसने थोड़ा रुककर आँखों से किशोर की सूखी हड्डियों में जहर बुझी चिकौटियाँ काटते हुए वाक्य पूरा किया, ''अपना वंश चलाने के लिए?'' कहकर वह किशोर की तरफ अपनी तीखी नजरों से देखने लगी।

मैं उसके बोलने के विश्वास और कटाक्ष से मिले-जुले लहजे को देखकर इतना ही कह सका-''और क्या, मेरे ही आफिस में कितनी औरतें हैं जो खुद काम करती है और उसके पति घर में बच्चों की देखभाल करते हैं।''

एक नए विश्वास और उर्जा से पुन्नी का पूरा चेहरा दिपदिपा रहा है। मैं किशोर की आँखों में अपनी दृष्टि डालकर मंत्रमुग्ध सा हो गया। किशोर एक बार फिर से नदी के किनारे चाँदनी रातों में अभ्रक मिश्रित चमकती पतली रेत की चादर पर लेटकर जब अपना मधुर संगीत... ना मुँह छुपा के जियो और ना सर झुका के जियो, ग़मों का दौर भी आये तो मुस्कुरा के जियो... छेड़ेगा तो इसका सारा दुख अजय नदी अपने निर्मल जल के साथ कल-कल, छल-छल करती हुई कहीं दूर समुद्र की अतल गहराइयों में छोड़ आएगी, जहाँ कोई समुद्री जीव या बड़ी मछली उसे झट से निगल जायेगी।

परंतु यह क्या ? अगले ही पल किशोर उठ कर कुबड़े की भाँति खड़ा हो गया, दोनों हाथों को फैलाकर अपने टूटते-बिखरते रागों में गाने लगा... अब हम करेंगे दिल्ली से सारावाँ... सारावाँ से दिल्ली, दिल्ली से बलमपुरा, बलमपुरा से सारावाँ, सारावाँ से दिल्ली. .. यानी दन-दन चकवा मामू घर के पकवा, दन-दन चकवा मामू घर के पकवा, दन-दन-चकवा... और वहीं गोल-गोल तेज़ गति से घूमने लगा।

द्वारा-संतोष कुमार गुप्ता,
4/122, फ्लैट नं. जी-4 वैशाली, गाजियाबाद-201012

वर्तमान साहित्य : कमलेश्वर-कहानी पुरस्कार-2009

पुरस्कृत कहानी **'अँधेरे में सुगंध'** लेखक **'कैलाश चंद्र'** , रीवा

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कहानियाँ भी सराही गयीं :

1. क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया—हृदय नारायण सिंह 'अभिज्ञात', कोलकाता।
2. हॉम वर्क—चमेली जुगरान, दिल्ली।
3. वैसनी टू—दया हीत, इलाहाबाद।
4. कागज़ का हवाई जहाज—प्रेमरंजन अनिमेष, पटना।
5. धर्म के लिए ही तो जा रही हूँ—चन्द्रलेखा ढढवाल, धर्मशाला।
6. रूस में एक लेखक था—अशोक गुप्ता, दिल्ली।
7. आकाश पर मत थूको—संजय कुमार, पटना।
8. शामगाह—वासुदेव, रांची।
9. केवट मतवारो माने नहीं—कामेश्वर पाण्डेय, कोरवा (दत्तीसगढ़)।
10. ध्वंस-दिनेश पालीवाल, इटावा।

निर्णायक मंडल में प्रो. जबरीमल पारख, प्रो. अब्दुल बिस्मिल्लाह और डॉ. सूरज पालीवाल थे।

पुरस्कार समारोह 27 जनवरी, 2009 को श्रीमती गायत्री कमलेश्वर तथा अन्य आमंत्रित अतिथियों के सानिध्य में अलीगढ़ में आयोजित होगा।

ग़ज़लें

वशिष्ठ अनूप

(1)

गाँव-घर का नज़ारा तो अच्छा लगा
सबको जी भर निहारा तो अच्छा लगा

गर्म रोटी के ऊपर नमक तेल था
माँ ने हँसकर दुलारा तो अच्छा लगा

अजनबी शहर में नाम लेकर मेरा
जब किसी ने पुकारा तो अच्छा लगा

एक लड़की ने बिखरी हुई ज़ुल्फ़ को
उँगलियों से सँवारा तो अच्छा लगा

हर समय जीत का था चढ़ा इक नशा
अपने बेटे से हारा तो अच्छा लगा

रेत पर पाँव जलते रहे देर तक
जब नदी ने पखारा तो अच्छा लगा

एक खिड़की खुली, एक परदा उठा
झिलमिलाया सितारा तो अच्छा लगा

दो हृदय थे, उफनता हुआ सिंधु था
बह चली नेह-धारा तो अच्छा लगा

चाँद-तारों की, फूलों की चर्चा चली
ज़िक्र आया तुम्हारा तो अच्छा लगा।

(2)

यहाँ-वहाँ से, कहाँ-कहाँ से तिनके लाती है
कई दिनों से एक बया घोंसला बनाती है

उसके मन की पीड़ाओं को कौन समझता है
दुनिया कहती कोयल कितना मीठा गाती है

चुपके-चुपके माँ बेटी के भीतर उतर गयी
माँ जैसे ही बेटी को बेटी समझाती है

बचपन के दिन धीरे-धीरे पीछे छूट रहे
वह ख़ुद से बातें करती ख़ुद से शरमाती है

पेट अधम है चाहे जैसा करम करा ले ये
वरना ज़िल्लत की रोटी कब किसको भाती है

फूलों-फूलों, बाग़ों-बाग़ों, खेतों-खेतों से
इक मधुमक्खी कैसे-कैसे शहद जुटाती है

उसे पता है वह अपनी पहचान गवाँ देगी
फिर भी नदिया सागर से क्यों मिलने जाती है

(3)

मोम जैसी पिघलती बहन-बेटियाँ
नित नयी जंग लड़तीं बहन-बेटियाँ

ज़िंदगी की मधुर हसरतों से भरी
हैं चिताओं में जलती बहन-बेटियाँ

एक शीशे के घर जैसी है ज़िंदगी
ईंट-पत्थर से डरती बहन-बेटियाँ

सृष्टि की मूल आधार जननी हैं ये
नव्य संसार गढ़ती बहन - बेटियाँ

एक पल को सँवरतीं-बिहँसतीं मगर
एक पल में बिखरतीं बहन-बेटियाँ

हर क़दम पर परीक्षाएँ देती हैं ये
हर घड़ी जीती-मरतीं बहन-बेटियाँ

एक रोटी की, धोती की ख़ातिर यहाँ
रोज़ एवरेस्ट चढ़तीं बहन-बेटियाँ

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, बी. एच. यू., वाराणसी

गांधीजी और हिन्दुस्तानी

अली अहमद फ़ातमी

हिन्दुस्तान के माध्यम से जब हम 'हिन्दुस्तानी' की बात करते हैं, तो सर्वप्रथम यही विचार उभरता है– वह भाषा, जो हिन्दुस्तान में बोली जाती है। लेकिन, हिन्दुस्तान में तो सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती हैं, वे सब की सब हिन्दुस्तानी हैं--फिर हिन्दुस्तानी की कल्पना क्या है और यह कल्पना कहाँ और कब पैदा हुई? भाषा के माध्यम से 'हिन्दुस्तानी' भाषा की कल्पना सबसे पहले महात्मा गांधी ने प्रस्तुत की थी। इस विषय पर गांधी जी के कई लेख और भाषण हैं। एक विचार है कि उर्दू-हिन्दी के विवाद के बाद गाँधी जी ने यह ख़ाका बनाया। लेकिन उन्होंने दक्षिण में दिये गये भाषणों में भी हिन्दुस्तानी की बात उठायी। गाँधी जी का सोच तो बड़ा था पर बुनियाद में हिन्दी-उर्दू के मेल-जोल की ही तस्वीर थी। अपने एक लेख 'हिन्दी बनाम उर्दू' में जो 'हरिजन' जुलाई, 1937 में छपा, वे लिखते हैं :

"मेरा विश्वास है कि–

1. हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के शब्द एक ही भाषा का पता देते हैं जो उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं और जो देवनागरी या फ़ारसी लिखावट में लिखी जाती है।
2. 'उर्दू' शब्द प्रचलित होने से पहले इस भाषा के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों 'हिन्दी' शब्द प्रयोग करते थे।
3. 'हिन्दुस्तानी' शब्द भी बाद को इसी भाषा के लिए प्रयोग किया गया।
4. हिन्दुओं और मुसलमानों–दोनों को ऐसी भाषा बोलना चाहिए जिसे उत्तर भारत के ज़्यादातर लोग समझते हैं।
5. जब तक अविश्वास है, दोनों अलग-अलग रहेंगे, लेकिन दोनों को फ़ारसी व देवनागरी लिपि सीखनी चाहिए।
6. जब हमारे दिल एक हो जाएँगे, तमाम धर्मों को विभिन्न धारे मान कर चलने लगेंगे, उस समय हम मिली-जुली लिखावट में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी तक पहुँच जाएँगे।
7. 'हिन्दुस्तानी' को धार्मिक भेद-भाव से अलग रखना चाहिए।"

हिन्दी-उर्दू के विवाद को देखते हुए गांधीजी की इस परिकल्पना का स्वागत हुआ। मौलवी अब्दुल हक़ और राजेन्द्रप्रसाद ने एक मिला-जुला बयान दिया :

"हम इस बात पर एक राय हैं कि 'हिन्दुस्तानी' हिन्दुस्तान की मिली-जुली ज़बान हो और उर्दू और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जाए, हिन्दुस्तानी को दोनों लिखावटों में स्वीकार किया जाए। 'हिन्दुस्तानी' से हम उत्तरी हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली ज़बान के मिले जुले हिस्से से मुराद लेते हैं और हमारा ख़्याल है कि इस ज़बान के लुग़त (शब्दकोश) के लिएं आम शब्दों को ही कसौटी बनाना चाहिए। हिन्दी और उर्दू के विद्वानों के सहयोग से 'हिन्दुस्तानी' शब्दों का एक शब्दकोश तैयार करना चाहिए। दोनों भाषाओं को क़रीब लाया जाए और हिन्दुस्तानी भाषा को तरक्क़ी दी जाए–इस प्रकार दोनों ज़बानों के बोलने वाले भी क़रीब आ सकेंगे।"

गांधी जी इस बयान से खुश हुए। अक्तूबर, 1938 में एक और लेख 'हिन्दुस्तानी, हिन्दी और उर्दू' में लिखा:

"हमारा अस्ल मुक़ाबला हिन्दी और उर्दू में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी में है। हिन्दी-उर्दू बहस की कोई बुनियाद नहीं है... हिन्दुस्तानी का एक विभाग होना चाहिए, जो ऐसे शब्द इकट्ठा करे, जो शब्दकोश में न हों। इस विभाग को यह तय करना है कि मौजूदा साहित्य में कौन-कौन सी किताबें, रिसाले, अख़बार हैं, जो हिन्दुस्तानी कहलाएँगे, चाहे उर्दू लिखावट में हों, चाहे देवनागरी। यह एक अहम काम है, इसका किया जाना ज़रूरी है। कुछ लोग ऐसे हैं जो महज़ उर्दू या महज़ हिन्दी के बाक़ी रहने का ख़्वाब देख रहे हैं। यह ख़्याल एक नापाक ख़्वाब है। इस्लाम की अपनी एक संस्कृति है, इसी तरह हिन्दू की भी अपनी एक संस्कृति है। भविष्य का हिन्दुस्तान इन दोनों का एक ख़ूबसूरत गुलदस्ता होगा। वह मुबारक़ दिन आएगा, जब दोनों की जुबान हिन्दुस्तानी हो जाएगी।"

'हिन्दुस्तानी' शब्द और उसके अर्थ को लेकर गांधी जी पर शक भी किया गया और तरह-तरह के सवाल भी किये गये, लेकिन गांधी जी इससे कभी भी बददिल नहीं हुए और सही सवाल का सही जवाब देते रहे। गांधी जी से एक सवाल किया गया कि आप मुझे बताएँ कि 'हिन्दुस्तानी' से मुराद क्या है? इसका जवाब देते हुए गांधी जी ने कहा :

"मैं समझता हूँ कि मौलवी अब्दुल हक़ ने एक लुग़त (शब्दकोश) तैयार किया है, जिसमें बनारस के हिन्दी लुग़त में पाये जाने वाले तमाम उर्दू लफ़्ज़ उस्मानिया लुग़त में पाये जाने वाले तमाम हिन्दी लफ़्ज़ शामिल हैं। मैंने कांग्रेस से सिफ़ारिश की है कि वह मौलवी साहब की लुग़त को अपना ले और नये लफ़्ज़ों के लिए मैंने एक बोर्ड बनाने का सुझाव दिया है, जिसमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और राजेन्द्र बाबू शामिल हों।" (हरिजन 28 जनवरी, 1939)

ज़रूरी न था कि देश की दूसरी भाषाओं के बोलने वालों को 'हिन्दुस्तानी' की परिकल्पना दुरुस्त लगे। चिंताएँ हुईं, विरोध भी

हुए। आसाम के कुछ क़बीलों को रोमन सिखाया जाने लगा तो गांधी जी ने इसे नापसंद किया और साफ़ तौर पर कहा कि हिन्दुस्तान में सिर्फ़ एक लिखावट आम हो सकती है और वह है देवनागरी, वह अपनी मौजूदा शक्ल में हो या सुधार के बाद—उर्दू या फ़ारसी लिखावट इसके बिल्कुल साथ-साथ चलेगी, जबकि मुसलमान अपनी ही मर्ज़ी और ख़ालिस साइंटिफ़िक और क़ौमी निगाह के तहत देवनागरी की बरतरी न तस्लीम कर लें। रोमन लिखावट दूसरी दोनों लिखावटों के साथ नहीं चल सकती, रोमन लिखावट के हिमायती इन दोनों का हटाव चाहते हैं। गांधी जी से रोमन से संबंधित एक और सवाल किया गया कि अनपढ़ अवाम को रोमन लिखांवट क्यों न सिखायी जाय, इससे हिन्दी-उर्दू की मौजूदा बहस ख़त्म हो जाएगी। इस सवाल के जवाब में गांधी जी ने ख़ासतौर पर कहा :

''हिन्दी व उर्दू के बजाय रोमन लिखावट लाना वैसा ही है, जैसेकि घोड़े के सामने गाड़ी रख दी जाए। हमारे बच्चों को पहले हिन्दी और उर्दू दोनों लिखावटें सीखनी हैं। मुश्किल समस्याएँ इस तरह हल नहीं की जा सकतीं कि उनको नज़रअंदाज़ कर दिया जाए। जब लोगों के दिल जुदा हैं, उस वक़्त तक रोमन लिखावट उनको जोड़ नहीं सकती।''(हरिजन, 16 मार्च, 1940)

इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दुस्तानी के तसव्वुर में गांधी जी के ज़ेहन में केवल भाषायी एकता नहीं थी, बल्कि क़ौमी एकता भी थी। वे भाषा के ज़रिये टूटे हुए दिल भी जोड़ना चाहते थे। इसीलिए, जब कांग्रेस के कुछ लोग हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी शब्द बोलने लगे, तो उन्होंने कड़ी आपत्ति की। इस संबंध में उन्होंने गुजराती को भी ज़्यादा अहमियत नहीं दी। सब जानते हैं कि गांधी जी गुजरात के थे और गुजराती उनकी मादरी ज़बान थी, एक जगह वे लिखते हैं :

''गुजराती ज़बान मेरी मादरी ज़बान है, लेकिन वह क़ौमी ज़बान नहीं हो सकती। मुल्क के लोगों के तीसवें हिस्से से ज़्यादा गुजराती भाषा नहीं बोली जाती, इसमें मुझे तुलसीदास की रामायण कहाँ मिलेगी।'' (हरिजन 3 अप्रैल, 1937)

इसी प्रकार, उन्होंने देश की दूसरी भाषाओं के बारे में भी अपने विचार प्रकट किये और नतीजा निकालते हुए कहा—''इसी लिए मैं कहता हूँ कि इस देश को हिन्दुस्तानी ही जोड़े रख सकती है, जो देवनागरी या उर्दू लिखावट में लिखी जानी चाहिए।''

गांधी जी न भाषा के विद्वान थे और न प्रोफ़ेसर, फिर भी वे 'हिन्दुस्तानी' के पीछे दीवाने से हो रहे थे। कांग्रेस को बार-बार लिखते, प्रस्ताव पारित करवाते, समितियाँ बनवाते। इन सबके पीछे उनका हिन्दुस्तानी ज़ेहन यह महसूस कर रहा था :

''यह बात नहीं कि ज़बान के पीछे मैं दीवाना हो गया हूँ, न इसका यह मतलब है कि अगर ज़बान की क़ीमत पर स्वराज्य मिलता है, तो मैं उसे लेने से इन्कार कर दूँगा। लेकिन, जैसाकि मैं कहता रहा हूँ, सत्य और अहिंसा की कुरबानी देने से मिलने वाला स्वराज्य मैं हरगिज़ न लूँगा। फिर भी, ज़बान पर इतना ज़ोर इसलिए देता हूँ कि क़ौमी एकता हासिल करने का यह एक बहुत बड़ा माध्यम है और जितनी मज़बूत इसकी बुनियाद होगी, उतनी ही मज़बूत हमारी एकता होगी।'' (हरिजन, 10 अप्रैल, 1937)

गांधी जी अपने लेखों व भाषणों में दुनिया भर के देशों की भाषाओं की जानकारी देते हैं और यह भी कहते हैं कि भाषाएँ जितनी भी सीखी जाएँ, अच्छी बात है, इससे मनुष्य जानकार ही नहीं सभ्य भी होता है। प्रेमचंद गांधीवाद से निकल कर मार्क्सवाद के निकट आ चुके थे, लेकिन हिन्दुस्तानी के मामले में वे गांधीजी से सहमत थे। उन्हीं दिनों उन्होंने भी 'उर्दू-हिन्दी- हिन्दुस्तानी' नाम का एक लंबा लेख लिखा-

''क़ौमी ज़बान के बग़ैर किसी क़ौम का वजूद ही ज़ेहन में नहीं आता। जब तक हिन्दुस्तान की कोई क़ौमी ज़बान नहीं है, वह क़ौमियत का दावा नहीं कर सकता। सच तो यह है कि हिन्दुस्तान की क़ौमी ज़बान न तो उर्दू हो सकती है, जो अरबी-फ़ारसी से भरी है और न हिन्दी, जो संस्कृत के बोझिल शब्दों से लदी हुई है। हमारी क़ौमी ज़बान तो वही हो सकती है, जिसकी बुनियाद उमूमियत (आम बोलचाल) पर क़ायम हो, वह 'हिन्दुस्तानी' है। जिस तरह, अंग्रेज़ों की अंग्रेज़ी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी, चीन की चीनी है, उसी तरह हिन्दुस्तान की क़ौमी ज़बान न उर्दू है, न हिन्दी बल्कि हिन्दुस्तानी है, जो सारे मुल्क में समझी जाती है और बड़े हिस्से में बोली जाती है।''

ज़रूरत इस बात की है कि इन बुजुर्गों के सपने पूरे किये जाएँ। मुल्क की यूनीवर्सिटी, विशेषकर उर्दू-हिन्दी यूनीवर्सिटी 'हिन्दुस्तानी' का विभाग बाक़ायदा खोले। इन महान लेखकों, विचारकों के विचारों को जमा करे और बदली हुई समाजी भाषायी संस्कृति में जायज़ा लेकर एक ख़ाका तैयार करे, जिसमें केवल भाषायी एकता न हो, बल्कि क़ौमी एकता भी झलके। हिन्दी-उर्दू भाषाएँ सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि से जितनी क़रीब हैं, शायद कोई भी नहीं। हिन्दुस्तानी इसी मेलमिलाप की प्रतीक हो।

विभाग के उद्देश्यों में सर्वप्रथम भाषा की सतह पर दोनों भाषाओं के आम बोलचाल के शब्दों को लेकर एक शब्दकोश तैयार करना हो। धर्म की सतह पर दोनों की निकटताओं को समझना, विशेषकर सूफ़ीज़्म और भक्ति की मिली-जुली तहज़ीब को समझना। तीज-त्योहार, रस्मो-रिवाज़, नारे-मुहावरे, कपड़े-ज़ेवर, आदि को समझना और इसकी 'हिन्दुस्तानियत' को प्रकाशित करना। ऐसे हिन्दुस्तानी मुहावरे, लोकोक्तियाँ या इशारों को समझना, जो भारत के मिले-जुले समाज से पैदा हो रहे हैं। ऐसे साहित्य, नज़्मों, शायरों पर क़रीब से शोध करना जो भारतीय संस्कृति विशेषकर हिन्दुस्तानी में डूबे हुए हैं। उदाहरणतः जायसी, तुलसी, कबीर, नज़ीर आदि जो पूरे तौर पर हिन्दुस्तानी हैं। नज़ीर अकबराबादी ने भगवान राम-कृष्ण, होली-दीपावली पर बेशुमार नज़्में कही हैं, इसी प्रकार हिन्दू शायरों ने मुसलिम पैग़ंबरों, त्योहारों पर जो काम किया है, उन्हें जमा करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार और भी मिले-जुले काम हैं, जो किये जा सकते हैं।

उर्दू विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

बापू की उर्दू दोस्ती

शाहनवाज़ आलम

आधुनिक राष्ट्र के जनक, सत्य, अहिंसा के पुजारी, वर्गहीन समाज के संस्थापक, आदर्शवादी विचारधारा के प्रवर्तक आध्यात्मिक शिक्षक, महान राजनीतिज्ञ एवं शिक्षाविद् मोहनदास करम चन्द जिसको सारा भारत महात्मा गांधी और बापू के नाम से जानता है, अज़ीम शख़्सियत के मालिक थे। वे बयक वक़्त राजनैतिक नेता भी थे और शिक्षाविद् भी। वह पत्रकार भी थे और समाज सुधारक भी, वह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के वाहिद नेता थे जिन्होंने बिना किसी को कोई कष्ट पहुँचाए भारत को गुलामी से निजात दिलायी। वह साम्प्रदायिकता के विरोधी थे। उन्होंने जीवन भर सत्य-अहिंसा, सादगी, एकता, धर्मनिरपेक्षता का प्रचार किया, रंग, नस्ल, धर्म एवं भाषा के आधार पर होने वाले झगड़े को रोका। अंग्रेज़ों की तो नीति ही थी 'फूट डालो और राज करो' और इसमें वे सफल भी हुए। मुरादाबाद के अंग्रेज़ कमान्डेन्ट लेफ़्टीनेंट कर्नल कुक के शब्दों में :

'हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हम पूरी ताक़त के साथ मुख़्तलिफ़ मज़हबों और ज़ातों के दरम्यान मौजूद भेद-भाव बना रहने दें, हमें यह फ़र्क़ो-इम्तियाज़ ख़त्म करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, 'एख़्तेलाफ़ पैदा करो और हुकूमत करो' ही हिन्दुस्तानी हुकूमत का उसूल होना चाहिए।''

(डॉ. मोहम्मद अक़ील- तक़्सीमे हिन्द और उर्दू नॉवेल)

अंग्रेज़ों की यह नीति सफल हुई और भारत के राजनेता तीन भागों में विभक्त हो गये। जिना के नेतृत्व में मुस्लिम लीगी और मफ़ाद परस्त मुसलमानों ने साम्प्रदायिकता का नंगा नाच शुरू किया। राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और ख़ान अब्दुल गफ्फ़ार ख़ान को हिन्दुओं का दलाल, कांग्रेस का हरामी बच्चा तक कहा गया। इन लोगों ने इस्लाम, शरीयत, कुरआन, कुफ़्र, मस्जिद, मंदिर को अपना ओढ़ना बिछौना बना लिया। जिना ने 1942 में कहा-[2]

"The difference between Hindu and Muslims is deeprooted and inradicable. We are a nation with our own distinctive culture and civilization language and literature, art and architecture, names, nomenclature, sense of value and proportion, legal, laws and moral codes, customs and calendar History and tradition, aptitude and ambition."(Raj Mohan Gandhi) Jinnah

दूसरी ओर हिन्दू साम्प्रदायिकता वी. डी. सावरकर की रहनुमाई में जारेहाना अन्दाज़ अख़्तेयार करती गयी। सावरकर ने हिन्दू महासभा को फ़ासिज़्म की सूरत अता कर दी। आर. एस. एस. ने अपना ख़ौफ़नाक चेहरा ज़ाहिर किया। संघ का नारा था-''हिन्दुस्तान हिन्दुओं का''[3]। आर. एस. एस. के अमीर गोलवरकर ने अपनी किताब 'वी' (हम) के माध्यम से हिन्दू साम्प्रदायिकता का प्रचार किया। इटली और जर्मनी का हवाला दिया, जहाँ मज़हब के नाम पर खून की होली खेली गयी थी। उन्होंने कहा कि-[4]

''हम अपनी आज़ादी की राह मुसलमान के खून से बनायेंगे। स्वराज्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के बाद ही हो सकता है, ऐसा कहने वाला (महात्मा गांधी) हमारे समाज का ग़द्दार है।''

हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग के कार्यकर्ताओं ने अपने-अपने सम्प्रदाय की मुहाफ़ज़त में आवाज़ उठाई, लाला लाजपत राय, मालवीय और एन.सी. केलकर हिन्दू महासभा के मेम्बर बन गये। उन्होंने पंडित मोतीलाल नेहरू जैसे राष्ट्रवादी नेता को मुसलमानों का दोस्त और गायख़ोर बताया। गोलवलकर ने अपनी किताब 'वी' में लिखा है-[5]

"The non Hindu, peoples in Hindustan must either adopt the Hindu culture and Language, must learn to respect and hold in reverence, Hindu religion must entertain no idea but those of glorification of the Hindu race and culture. They must not only give up their attitude of intolerance and ungratefulness towards this land and its agelong tradition but must also cultivate the positive attitude of love and devotion instead-in one word, they must cease to be foreigners, or may stay in the country, wholly sub-ordinated to the Hindu nation, claiming, nothing, deserving no privileges, for less any preferential treatment, not even citizens rights"

(India's struggle for independence, Vipin Chandra, page-437)

तीसरा ग्रुप उन राष्ट्रवादी नेताओं का था जो साम्प्रदायिकता

से दूर थे और भारत वर्ष को तोड़ना नहीं बल्कि जोड़ना चाहते थे। इन नेताओं में प्रमुख रूप से महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, चितरंजनदास, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, जवाहरलाल नेहरू, डॉ. एस. एस. अन्सारी, सुभाषचन्द्र बोस, राजेन्द्रप्रसाद आदि थे। इन नेताओं के यहाँ ऊँच-नीच, ग़रीब-अमीर, ज़ात-मज़हब, भाषा इत्यादि का कोई महत्व नहीं था। केवल राष्ट्र और इंसानियत की सच्ची सेवा को ही अपना कर्तव्य समझते थे। एकता, अखण्डता, धर्मनिरपेक्षता ही उनका लक्ष्य था। साम्प्रदायिक तनाव को कम करने के लिए इन नेताओं ने अथक कोशिश की, लेकिन नियति को कौन टाल सकता है। दोनों सम्प्रदाय के इस्तेजालअंगेज़ नारों, लेखों, प्रोपेगंडों, अखंड भारत और पाकिस्तान के नारों ने पूरे हिन्दुस्तान में सांप्रदायिक दंगों का एक सिलसिला क़ायम कर दिया। कलकत्ता, नोवाख़ाली, बिहार में धर्म और जाति के नाम पर गलियों, सड़कों पर इन्सानी खून बहाये गये। इसी साम्प्रदायिकता की आग ने हिन्दू-मुसलमानों को भारत विभाजन की आग में झोंक दिया। एकता, अहिंसा, सत्य, भ्रातृत्व के उपासक जिन्होंने जीवन भर भारत के नैतिक स्तर को उठाने की कोशिश की, इसी साम्प्रदायिकता का शिकार हो गये। मैं अपने शीर्षक की मुनासेबत से महात्मा गांधी की उर्दू दोस्ती की तरफ़ आता हूँ। गांधीजी की मातृभाषा गुजराती थी और शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी था। स्कूल में उन्होंने थोड़ी-बहुत संस्कृत भी पढ़ी थी। लंदन में बैरिस्टरी करते समय लैटिन और फ्रांसीसी भाषा सीखी। 1821 ई. में सेठ अब्दुल्ला के फ़र्म के मुक़दमें के सिलसिले में दक्षिण अफ़्रीका गये। वहाँ उन्होंने भारतीयों की दशा सुधारने का संकल्प लिया और यह महसूस किया कि मुसलमानों और मद्रासियों से मेल-जोल रखने के लिए उर्दू और तमिल सीखना आवश्यक है। उन्हीं के शब्दों में-[6]

"My experience in Natal had shown me that I should acquire a knowledge of urdu to get into closer contact with the Musalmans, and of Tamil to get into closer touch with the Madras indians."

भाषा एक-दूसरे को समझने में सहायक होती है। भाषा का वास्तविक लक्ष्य दिलों को जोड़ना है, तोड़ना नहीं। उर्दू-प्रेम, सौहार्द, एकता एवं सभ्यता की भाषा है। गांधीजी इससे अछूते कैसे रह सकते थे। 1896 में अफ़्रीका से भारत आते समय जलयान पर उर्दू सीखी। उन्होंने अपनी आत्मकथा "My experiment with truth" में लिखा है-[7]

"....At the request of the English friend who read Urdu with me, I found out a good Urdu Munshi from among the deck Passengers and we made excellent progress in our studies. The officer had a better memory than I...I often found it difficult to decipher urdu letters... I had hoped to continue these studies even after reaching India; but it was impossible. Most of my reading since 1893 has been done in Jail. I did make some progress in Tamil and Urdu in jails. Tamil in South African Jails and urdu in Yeravda Jail, and the little I could do by way of reading is now rusting away for want of practice..."

अफ़्रीका के अपने तीसरे सफ़र में गांधीजी ने 1904 में टॉलस्टॉय फ़र्म के नाम से एक आश्रम खोला, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, यूरोपियन सभी एक समान रहते थे। उन्होंने बड़े-बूढ़े बच्चों के लिए स्कूल चलाते थे। उनमें कुछ मुसलमान लड़के भी थे जिनको गांधीजी ने उर्दू पढ़ाया था-[8]

"We gave three period at the most to literary training, Hindi, Tamil, Gujrati and Urdu were all taught and tuition was given through the vernacular. Of the boys I had undertaken to teach Tamil and Urdu, the little Tamil I knew was acquired.....The urdu script was all that I had acquired on a single voyage and my knowledge of the language was confined to the familiar, Persian and Arabic words that I had learnt from contact with Musalman friends.....It was comparatively easier to teach the Musalman boys urdu. They knew the script I had simply to stimulate in them an interest in reading and to improve their handwriting."

(My experement with truth, page-278)

यरवदा जेल से रिहाई के बाद उनके उर्दू ख़ुतूत सामने आने लगे जो गांधी संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं। उन्होंने अपने हमअसरों के उर्दू ख़त का जवाब उर्दू रस्मुलख़त में ही दिया चन्द उदाहरण प्रस्तुत हैं —

मोहम्मद रज़ा अन्सारी अपने लेख, गाँधी जी का ख़त अकादमी के हर्फ़-ए-आज़ादी, नम्बर पृष्ठ-153, पर लिखते हैं-

"गांधीजी से मुरासलात में दिक़्क़त ये थी कि मैं अंग्रेज़ी और हिन्दी से ना बलद, वह उर्दू ख़त पढ़ लेंगे मगर क्या जवाब भी उर्दू में दे सकेंगे"....गांधीजी को अपना ख़याल लिख भेजा, इस दरख़्वास्त के साथ कि इसका जवाब अगर उर्दू में न दिया जा सके तो रोमन रस्मुलख़त में लिखने की ज़हमत गवारा करें....क़रीब छः महीने बाद गाँधी जी का 8 सितम्बर 1940 ई. उर्दू में लिखा हुआ ख़त दस्तेयाब हुआ, जिसमें देर से जवाब देने की माफ़ी माँगी गयी थी।"

गांधीजी के उर्दू पत्र के चंद नमूने संलग्न हैं जो 'नयादौर' पत्रिका के निस्फ़ सदी न. 1995 ई. के पृष्ठ संख्या 169 से लिया गया है।

गांधीजी ने पहले-पहल लखनऊ के कांग्रेस मंच से उर्दू में भाषण दिया, अपनी टूटी-फूटी भाषा में बोलना शुरू किया। अध्यक्ष ने संकेत किया कि वे अंग्रेज़ी में बोलें, परन्तु गाँधीजी हिन्दुस्तानी

में ही बोलते गये। उन्होंने कहा कि -'मैं अपने श्रोताओं को एक वर्ष का समय देता हूँ कि वे हिन्दुस्तानी सीख लें, मैं अब कांग्रेस के मंच से कभी इंग्लिश में नहीं बोलूँगा'' गांधीजी जब कांग्रेस में आये तो तमाम कार्यक्रम, अध्यक्षीय भाषण, घोषणापत्र इत्यादि उर्दू और देवनागरी लिपि में छपने लगे।

गांधीजी की मातृभाषा गुजराती थी और पढ़ाई अंग्रेज़ी में परन्तु वे जानते थे कि भारत की राष्ट्रीय भाषा हिन्दुस्तानी ही हो सकती है और भारत की अनेक भाषाओं के बीच संपर्क होने में हिन्दुस्तानी ही समर्थ है। वॉइसराय ने जब एक सम्मेलन में गांधीजी को बुलाया तो उन्होंने हिन्दी में भाषण दिया, जो वॉइसराय के सामने पहली घटना थी। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि बहुत से लोगों ने मुझे हिन्दुस्तानी में भाषण देने पर मुबारकबाद दी। उन्होंने कहा कि यह पहला मौक़ा है कि ऐसे जलसे में हिन्दुस्तानी भाषा सुनने में आयी....मुझे ये मालूम करके कि वॉइसराय के मशविरों के जलसे में मुझसे पहले किसी ने हिन्दुस्तानी में भाषण नहीं दिया, अपनी क़ौम की हालत पर बड़ा दुःख हुआ, जैसे मेरा दिल मुरझा गया।...''

स्वतंत्रता की घड़ी जैसे-जैसे क़रीब आती गयी, भारत सांप्रदायिकता की आग में झुलसने लगा। धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, भाषा के नाम पर झगड़े होने लगे। राजभाषा के नाम पर राजनीति की जाने लगी। महात्मा गांधी हिन्दुस्तानी के पक्षधर थे जो नागरी और उर्दू दोनों लिपि में हो। गांधीजी ने उस्मानिया विश्वविद्यालय में 1939 ई. में जो भाषण दिया था उसके कुछ अंश प्रस्तुत हैं-[9]

''राष्ट्रभाषा अभी नहीं बनी है। अभी तो इसका जन्म ही हुआ है। हिन्दी में अभी तक ऐसी किताबें नहीं मिलतीं, जिसके ज़रिये साइंस जैसे मज़मूनों को पढ़ाया जा सके। हाँ, बंगला और उर्दू में ऐसी कुछ किताबें तैयार हुई हैं लेकिन बंगला से भी ज़्यादा तरक्क़ी उर्दू ज़बान ने की है। उस्मानिया युनिवर्सिटी ने सबसे ज़्यादा काम किया है। इन लोगों ने इसपर लाखों रुपया ख़र्च भी किया है। उनके यहाँ ऊँचे-ऊँचे दर्जे में साइंस जैसे मज़मूनों की भी तालीम उर्दू के मारफ़त दी जाती है। हिन्दी में अभी ऐसा नहीं हुआ।''

उर्दू-हिन्दी-हिन्दुस्तानी नाम के झगड़े के सिलसिले में गाँधीजी की राय थी-[10]

''नाम का झगड़ा मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। नाम कुछ भी हो लेकिन काम ऐसा हो जिससे सारे राष्ट्र का, मुल्क का, देश का भला हो। इसमें किसी भी नाम से बैर होना ही नहीं चाहिए..... ''सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'' इक़बाल के इस तराने को सुनकर किस हिन्दुस्तानी का दिल नहीं उछलेगा? अगर न उछले तो उसे कमनसीब समझूँगा। इक़बाल के इस तराने को मैं हिन्दी कहूँ, हिन्दुस्तानी कहूँ या उर्दू? कौन कहता है कि इसमें राष्ट्रभाषा नहीं भरी पड़ी है। इसमें मिठास नहीं है? विचार की बुजुर्गी नहीं है? भलें ही इस विचार के साथ मैं अकेला ही हूँ। यह साफ़ है कि जीत कभी संस्कृत भरी हिन्दी की होने वाली नहीं है, न फ़ारसी भरी उर्दू की। जीत तो हिन्दुस्तानी ही की हो सकती है। जब हम अंदरूनी अदावत को भूलेंगे तभी इन बनावटी झगड़ों को भूल जाएंगे और इस पर शर्मिंदा होंगे।''

गांधीजी की उर्दू दोस्ती इससे भी साबित होती है कि उत्तर-प्रदेश के कृषि-विभाग से एक ''खाद'' नाम की पुस्तिका निकलती थी। पंडित केशवदेव मालवीय जो उस समय कृषिमंत्री थे, प्रस्तावना लिखवाने के लिए गांधीजी के पास गये। गांधीजी ने पूछा-यह सिर्फ़ देवनागरी लिपि में है, उर्दू लिपि में क्यों नहीं है? कृषिमंत्री के बताने पर कि उत्तर-प्रदेश की सरकारी ज़बान 'हिन्दी देवनागरी लिपि' हो गयी है, गांधीजी ने कहा–

''मेरी तो दोनों ज़बानें हैं। केशवदेव! इसे ले जाओ, जब उर्दू में इसका अनुवाद लाओगे, तो मैं इस पर दो शब्द उर्दू में लिख दूँगा।''

यह वाक़या पंडित सुंदरलाल जी ने 1953 में लखनऊ में एक सम्मेलन में सुनाया था जिसको मोहम्मद रज़ा अंसारी ने अपने में लेख उर्दू अकादमी के हर्फ़े आज़ादी नं. के पृ. 59 में उल्लेख किया है।

भारत दो टुकड़े होकर स्वतंत्र हुआ, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान। पाकिस्तान ने अपनी राष्ट्रभाषा उर्दू बनायी तो भारत के कुछ नेताओं की हठधर्मी के कारण यहाँ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की घोषणा की गयी। इस संदर्भ में महान स्वतंत्रता सेनानी विश्वंभरनाथ पांडेय, एडीटर 'नयादौर' (अवध अंक) से भेंटवार्ता के कुछ अंश-[11]

''यह बड़े खेद का विषय है कि कुछ हिन्दी वालों की हठधर्मी के कारण गांधीजी के उर्दू के सम्बन्ध में मत को ठुकरा दिया गया। गांधीजी इच्छुक थे नागरी और फ़ारसी लिपि में जो भाषा लिखी जाय वही भारतीय एवं देशी भाषा हो......जनता ने इसे अपनी बोलचाल की भाषा बनाकर बहुत सरल कर दिया था। परंतु अंग्रेज़ नौकरशाही के इशारे पर दोनों भाषा हिन्दी एवं उर्दू में संस्कृत एवं फ़ारसी के शब्दों को ज़बरदस्ती भर दिया गया ।''

गांधीजी ने उर्दू की मुख़ालफ़त को मुसलमानों की मुख़ालफ़त माना और इसकी पुरज़ोर मज़म्मत की। उनके पत्र जो उन्होंने अपनी मृत्यु के 19 दिन पहले लिखा था- उसमें पाकिस्तान की नक़ल से मना किया और कहा-[12] "Not to copy the bad manners of Pakistan with a vengeance" उन्होंने मज़ीद कहा, उर्दू की मुख़ालफ़त मुसलमानों की मुख़ालफ़त है और मुसलमान खुद अपने ही मुल्क में हिंदुओं की निगाह में ग़ैर मुल्की हो गये हैं। गांधीजी के शब्दों में-[13]

"Opposing Urdu with 'put a wanton affront' on the Muslims, who "in the eyes of Hindus have become aliens in their own land"

उन्होंने उर्दू की तारीफ़ करते हुए कहा-[14]

"is set free from bondage of orthodoxy"..... those who learn it will lose nothing but gain"

लेकिन उर्दू विरोधी गतिविधियों ने इतना ज़ोर पकड़ा कि गांधीजी को भी हरिजन का उर्दू एडीशन बन्द करना पड़ा। लोगों ने

उर्दू पत्र-पत्रिका पढ़ना बन्द कर दिया और उर्दू को मुसलमान और पाकिस्तान की ज़बान घोषित कर दिया गया। गांधीजी ने अपने पत्र में लिखा है-[15]

"(I have at) Two weeks ago, I (referred to this) hinted in the Gujrati columns that Harijan printed in the urdu script was likely to be stopped as its sale was steadily duindling. A part even from financial considerations, I saw no meaning in publishing it, if thre was no demand for it."

गांधीजी ने पूरी ज़िंदगी हिन्दुस्तानी भाषा की वकालत की और साम्प्रदायिकता की मुख़ालेफ़त की किन्तु सांप्रदायिकता का बीज डाला जा चुका था और आज यह एक तनावर दरख़्त का रूप धारण कर चुका है। असम, बंगाल और महाराष्ट्र में भाषाके आधार पर होने वाले संघर्ष इसी का परिणाम हैं। धर्म, भाषा और जातीय संघर्ष ने विकराल रूप धारण कर लिया है। वक़्त आ गया है कि हम महात्मा गांधी के आदर्शों को अपनाएँ वरना, भाषावाद, प्रांतवाद, आतंकवाद के शोले इस महान देश को झुलसा कर रख देंगे।

संदर्भ-संकेत

1. तक्सीमे हिन्दी और उर्दू नॉवेल- डॉ. मोहम्मद अक़ील
2. Jinah : Raj Mohan Gandhi
3. आधुनिक भारत-पी. एल. गौतम, पृ. 555
4. 'वी' (हम) - गोलवलकर India's Struggle for independence, written by Vipin Chandra, pg.437
5. वही, गोलवलकर, वही
6. My experiments with truth-M.K. Gandhi, Translated by M.Desai, page-137-138
7. वही, पृ. 138
8. वही, पृ. 278
9. गाँधीजी और उर्दू ज़वान का मसला-इशरत अली सिद्दीक़ी, पृ. 111
10. वही, पृ. 233
11. नया दौर, अवध अंक, पृ. 2
12. Mahatma Gandhi praised urdu in last letter (Hindustan Times) Press Trust of India, London, 29 June 2007.
13. वही,
14. वही
15. वही.

156 वसीयाबाद-नूरुल्लाह रोड, इलाहाबाद-211003 उ.प्र.

साहित्य अमृत : युवा हिन्दी कहानी प्रतियोगिता

प्रसिद्ध विद्वान तथा साहित्यकार स्व. पं. विद्यानिवास मिश्र के संपादकत्व में प्रारंभ हुई साहित्य अमृत पिछले तेरह वर्षों से नियमित रूप से पाठकों को श्रेष्ठ एवं सृजनात्मक साहित्य उपलब्ध करा रही है। वर्तमान में कर्नाटक के पूर्व राज्यपाल तथा साहित्य-प्रेमी श्री त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी इसके प्रधान संपादक हैं।

साहित्य अमृत ने सन 2005 में 'युवा हिन्दी कहानी प्रतियोगिता' तथा सन 2007 में 'युवा हिंदी कविता प्रतियोगिता' आोयोजित की थी जिसमें देश भर के युवा कथाकारों व कवियों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया था। व्यंग्य विधा को संपुष्ट करने एवं उभरते व्यंग्यकारों को सामने लाने के उद्देश्यों से साहित्य अमृत ने 'युवा हिंदी व्यंग्य प्रतियोगिता' का आयोजन कर रहा है। प्रतियोगिता में व्यंग्य भेजने की अंतिम तिथि 31 जनवरी, 2009 है।

कृते साहित्य अमृत
(ब्रजेंद्र त्रिपाठी)
सलाहकार (मानद्)

●●●

परिवेश सम्मान-2008 सुभाषचन्द्र कुशवाहा को

साहित्यिक पत्रिका 'परिवेश' द्वारा प्रतिवर्ष किसी रचनाकार को दिया जाने वाला पन्द्रहवाँ परिवेश सम्मान वर्ष 2008 के लिए कवि-कथाकार श्री सुभाष चन्द्र कुशवाहा को देने का निर्णय लिया गया है। इससे पूर्व यह सम्माान श्री हरीचरन प्रकाश, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सुल्तान अहमद, सुधीर विद्यार्थी, अष्टभुजा शुक्ल, दामोदर दत्त दीक्षित, कमलेश भट्ट 'कमल', दिनेश पाठक, हसन जमाल, योगेन्द्र आहूजा, शिवकुमार पराग, राजीव पाण्डे, अल्पना मिश्र एवं श्री शैलेन्द्र चौहान को दिया जा चुका है।

प्रस्तुति : मूलचन्द गौतम

कविताएँ

कपिलेश भोज

धुंध में मिले दो यायावर...

श्रावणी बरसात के एक दिन
दो यायावर आ पहुँचे
कौसानी के अनासक्ति आश्रम...
समूची प्रकृति थी भीगी-भीगी
हिमालय की चोटियाँ थीं
घने बादलों में ओझल
और
चारों ओर छायी थी गहरी धुंध...

उन दोनों में एक था पुरुष
और एक थी युवती
परिचय अभी था उनका नया-नया
और इतने निकट थे वे पहली बार
मगर
वे नहीं आये थे वहाँ
एकांत क्षणों में प्रेमालाप करने
और न वे आये थे
कोलाहल भरी ज़िंदगी से
कुछ पलों के लिए मुक्ति पाने
ज़िंदगी ने उनके सम्मुख
खड़े कर दिये थे जो सवाल
उन सवालों के झंझावत ने ही
उन्हें पहुँचा दिया था इस वीराने में...

वे आये थे बापू के 'अनासक्ति' आश्रम
मगर थे ज़िंदगी को जीने
और उसे जीने लायक बनाने
की आसक्ति से भरपूर...
यह था 'ऑफ़ सीजन'
भला इतनी धारासार बारिश और धुंध में
किस यात्री को आना था यहाँ
और क्या देखने...

सो, आश्रम के एक लंबे गलियारे में
वे दोनों थे अकेले
बाहर धारासार बारिश थी
घनघोर बादलों की आवाजाही थी
बीच-बीच में टीन की छतों पर
तड़-तड़-टप-टप की आवाज़ थी
पेड़ों की भीगी पत्तियों की सरसराहट थी
आश्रम के कर्मचारियों की आवाज़ें थीं
और थी गरमा-गरम चाय
ऐसे में वे उधेड़ रहे थे परत-दर-परत
स्वयं की और दूसरों की ज़िंदगी की कुछ सीवनें

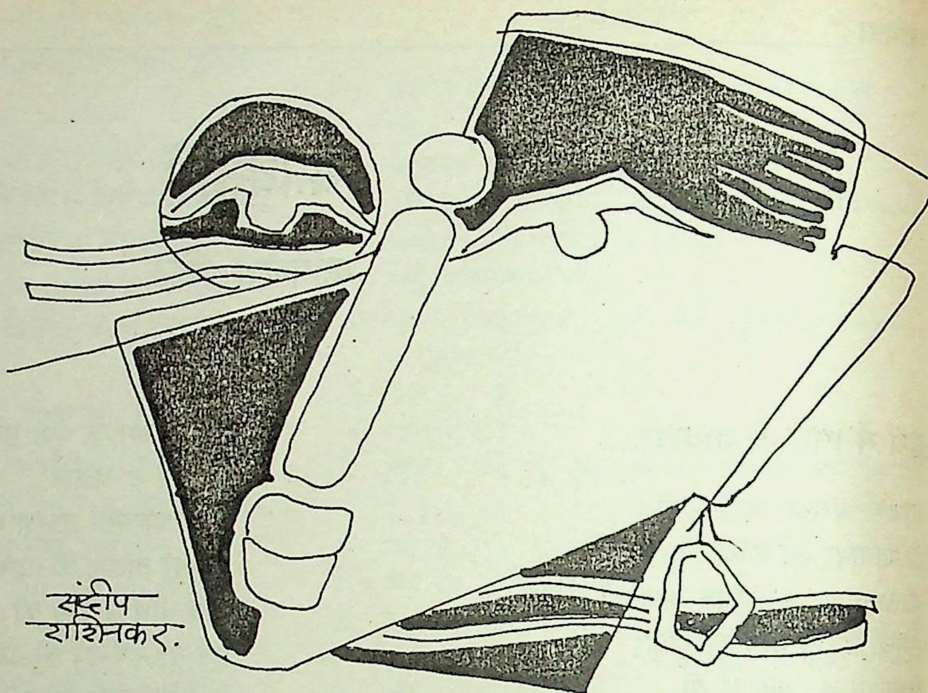
सामान उनके पास कुछ ज़्यादा नहीं था
लेकिन वे लाद कर लाये थे
अपने ज़माने के युवाओं की अशांति
उनके विभ्रम और उनके दर्द
उधेड़ रहे थे वे उन्हें ही
और बनाने की कोशिश में थे
एक पगडंडी...

बाहर थी शांति
लेकिन वे जूझ रहे थे
अपने ज़माने की अशांति
झंझावत से
हालाँकि वे मुस्कुरा भी रहे थे
और बीच-बीच में उनके ठहाकों से
कंपायमान हो रहा था वह गलियारा
लेकिन वे ढूँढ रहे थे एक पगडंडी
जिस पर वे ही नहीं
और भी चल कर पहुँच सकें
उस मुकाम पर
जहाँ सार्थक हो सके जीना
और जहाँ रचा जा सके कुछ बेहतर
बाहर अभी धुंध जारी थी

मगर दो दिन की मशक़्क़त के बाद
वे सफल हुए बहुत हद तक
अपने भीतर की धुंध को छाँटने में...

और जब उन्हें नज़र आने लगी
एक पगडंडी
तब अपना-अपना सामान बाँध कर
लौट पड़े वे
जीवन-अरण्य में धँसने
और वहाँ कुछ नया पैदा कर देने
के उल्लास की चमक
अपनी आँखों में लिए...

हे मेरे पाठक !
मेरी नज़र है उन पर
और जब वे अगली बार
फिर मिलेंगे
किसी हेमंत, किसी शिशिर
किसी बसंत सा किसी शरद में
मैं भेजूँगा तुम तक
उनकी ख़बर
तुम्हें भी हो तलाश
किसी पगडंडी की...



मत हो जाओ अभिभूत, पहुँचो ऊर्जा के उद्गम तक

मित्र,
देखते हो जब ऊर्जावान और तेजस्वी व्यक्तियों को तुम
तब हतप्रभ रह जाते हो
अभिभूत हो जाते हो
गद्गद हो जाते हो...
और अंत में बन जाते हो उनके अनुगामी
तब तुम सत्य के अथक अन्वेषणकर्ता नहीं
दूसरों के द्वारा खींच दी गई लक्ष्मण-रेखा के भीतर
रेंगने वाले जीव में बदल जाते हो
तब तुम बन जाते हो सूर्यमुखी का फूल
और दूसरों के प्रभामंडल से तय करते हो
अपनी दिशा...

शायद तुम्हें मालूम नहीं है
कि ऐसा करने से
कितने कमज़ोर, कितने नाजुक
और कितने पीले हो गये हो तुम
इतने नाजुक
कि ज़िंदगी के ताप और उसके खुरदरेपन से
बिदक कर
बार-बार भाग रहे हो उससे दूर-दूर
और कभी किसी आश्रम, कभी किसी एकांतालय
कभी किन्हीं निर्जन राहों में
ढूँढ रहे हो मुक्ति की छाँव
बैसाखियाँ फेंको प्रिय
धँसो जीवन के महाअरण्य में
पैरों को मजबूती प्रदान करते हुए
और स्वयं पहुँचो
ऊर्जा के उस उद्गम तक
तभी
हाँ, केवल तभी
नहा उठोगे तुम भी ऊर्जा से
तब तुम स्वयं भी हो सकोगे ऊर्जावान
और तेजस्वी...

ग्राम व पोस्ट-सोमेश्व
जिला-अल्मोड़ा-263637 (उत्तराखं

चर्चित लेखक, उपन्यासकार और शिक्षाविद प्रोफ़ेसर विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का पिछले दिनों जयपुर में निधन हो गया। वर्तमान साहित्य परिवार की ओर से उनको हार्दिक श्रद्धांजलि।

वैक्कम मो. बशीर और 'बाल्यकाल सखि'

टी.एन. सतीशन

मलयालम उपन्यास साहित्य का गौरवपूर्ण इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना है। 'इंदुलेखा' मलयालय उपन्यास साहित्य के प्रारंभिक दौर का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपन्यास है। मलयालम उपन्यास साहित्य का दूसरा दौर 1940 से आरंभ होता है, जो केरल में प्रगतिशील आंदोलन का समय था। यह एक ऐसा महान् नवजागरण था, जो वैक्कम मुहम्मद बशीर, तकाषी शिवशंकर पिल्लई, पी.केशवदेव तथा एस.के. पोट्टक्काट जैसे युवा कथाकारों के समूह को उदय होते हुए देख रहा था। बशीर की कृति 'बाल्यकाल सखि' मलयालम के उपन्यास साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात करने वाली रचना के रूप में आयी। अपने इस पहले उपन्यास के प्रकाशित होते ही बशीर ने मलयालम साहित्य के प्रमुख रचनाकारों में स्थान प्राप्त कर लिया था।

बशीर का जन्म मध्य केरल के वैक्कम नगर में सन् 1908 में हुआ। यद्यपि, उनका जन्म एक परंपरावादी मुस्लिम परिवार में हुआ था, पर उन्हें धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेज़ी शिक्षा का अध्ययन भी कराया गया। अपने स्कूली दिनों में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने उन पर गहरा प्रभाव डाला और उन्होंने उसमें सक्रिय रूप से भाग भी लिया। जब वे स्कूल में पढ़ते थे, कालीकट में नमक-सत्याग्रह में भाग लेने के कारण उन्हें जेल जाना पड़ा।

जेल से छूटने के बाद उन्होंने पूरे भारत सहित विदेशों के व्यापक दौरे किये। इन यात्राओं में उन्होंने हिंदू तथा सूफ़ी संतों का सत्संग किया। अपने जीवन के शुरूआती दौर में उन्हें आजीविका के लिए अनेक काम करने पड़े, कभी खानसामा रहे, तो कभी संपादक, क्लर्क, दरबान की नौकरी की; कभी ट्यूशन पढ़ायी, तो कभी किसी मिल में नौकर हो गये, कभी जादूगर बने, तो कभी ख़लासी का काम किया। कभी खेल का सामान बेचने के लिए ऐजेन्ट बने, तो कभी चाय की दूकान या किताबों की दूकान लगानी पड़ी। जीवन में इतने सारे कामों के अनुभव ने उन्हें कथा-लेखन में बहुत मदद की।

बशीर के लगभग तीस प्रकाशित ग्रंथ हैं, जिनमें कहानी, उपन्यास और नाटक सम्मिलित हैं। उनमें प्रमुख हैं—बाल्यकाल सखि (1944), प्रेमलेखनम् (1944), शब्दंगलम (1947), उप्पूप्पाकोश नेदारन्नु नेन्डारन्नु (1953) तथा अनुरागतिन्टे दिनंगल (1983)। जन्मदिनम् (1945), विहिकालुड़े स्वर्ग (1948), पावप्पेट्टावरुडे वेश्या (1952), आनप्पूड़ा (1975)। उन्हें अनेक पुरस्कार तथा सम्मानों से विभूषित किया गया। भारत सरकार द्वारा पद्मश्री तथा कालीकट विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डी.लिट् की उपाधि प्रदान की गयी। आधुनिक भारतीय भाषाओं सहित अनेक विदेशी भाषाओं में उनके साहित्य का अनुवाद किया गया है।

बशीर अद्भुत प्रतिभासंपन्न कथाकार थे। उनके समूचे लेखन में हमें मौलिकता एवं विलक्षणता का परिचय मिलता है। उनकी कथन-शैली बेजोड़ है। उनकी संवाद शैली की अन्तःशक्ति और जीवन-भाषा उसे अतिरिक्त सहजता और सौंदर्य प्रदान करते हैं। उनकी एक और उल्लेखनीय विशेषता है, जो उन्हें हर वर्ग के पाठकों के बीच आकर्षण का केंद्र बनाती है, 'मातिलुकल' में बशीर लिखते हैं—"मैं हँसने का कोई अवसर नहीं छोड़ता, यह मनुष्य को ईश्वर का विशेष उपहार है।"

जीवन के प्रति बशीर का अपना दृष्टिकोण है। उनकी रचनाओं में उनका मानवीय-दर्शन स्पष्ट रूप से झलकता है। उनकी प्राथमिकता का केंद्र मनुष्य है। वे मानवीय मूल्यों को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि वे युद्ध या विनाश के दर्शन से कभी समझौता नहीं करते। 'बाल्यकाल सखि' में उनका कथन है—"हर जगह मनुष्य एक जैसे हैं, केवल भाषा और भूषा ही बदलती है। "मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके संताप और दुःख हर जगह एक जैसे हैं—इस सत्य को उन्होंने अपने निजी अनुभवों से जाना। मनुष्य के गुणों से प्रभावित होकर उन्होंने उसकी सुंदर अभिव्यक्ति की। उन्होंने गांधी के सिद्धांतों से प्रभावित होकर मनुष्य के गुणों को रेखांकित किया। दलितों के दुःखों से उनके हृदय को कष्ट पहुँचता था, उन्होंने हिंसा और रक्तपात का कभी समर्थन नहीं किया। उनके राजनीतिक-सामाजिक उपन्यासों में प्रेम के संदेश को ही प्रमुखता दी गयी है।

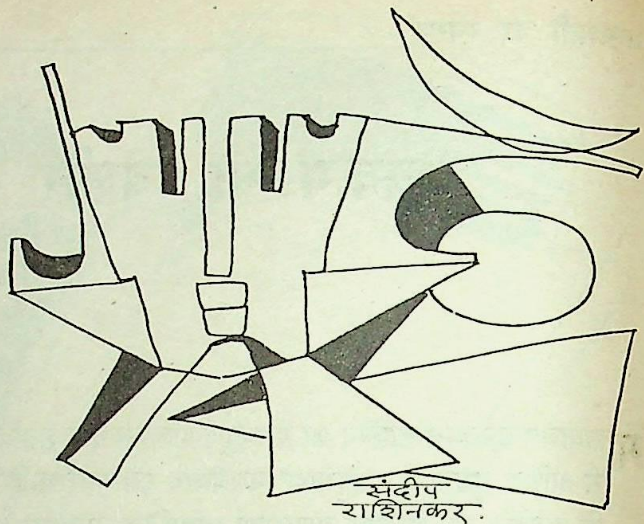
'बाल्यकाल सखि' बशीर की सर्वाधिक लोकप्रिय और श्रेष्ठतम रचना के रूप में प्रसिद्ध है। यह मजीद और सुहरा की दुःखद प्रेमकथा है। मुस्लिम समुदाय की यह पवित्र प्रेमकथा पहली बार किसी उपन्यास की मूल कथा के रूप में चित्रित हुई है। यह सीधे सरल युवा-हृदयों की असफल प्रेम-कहानी है। मजीद और सुहरा बचपन के मित्र हैं, जो एक दूसरे से प्रेम करते हैं, लेकिन विपरीत स्थितियों में विवाह नहीं कर पाते। मजीद गाँव से सात वर्ष के लिए

बाहर चला जाता है। एक दूसरा आदमी सुहरा से निकाह कर लेता है। उसका पति, जो पेशे से कसाई है, क्रूर और लालची है तथा उससे दुर्व्यवहार करता है। शारीरिक और मानसिक यातना जब असह्य हो जाती है, तो सुहरा अपने मायके लौट जाती है। निर्वासन के सात वर्ष बाद मजीद सुहरा के साथ विवाह की आशा लेकर गाँव लौटता है, तब तक स्थितियाँ बिल्कुल बदल चुकी होती हैं। सारे सपने-बिखर चुके होते हैं। सुहरा अब किसी और की हो चुकी है। वह उसे खो चुका होता है। उसके घर की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चुकी है। दो बहनों के विवाह की ज़िम्मेदारी के साथ पूरे घर की ज़िम्मेदारी उसके कंधों पर आ जाती है। बिना दहेज और गहनों के उनसे कोई शादी नहीं करना चाहता। लिहाज़ा, उनके विवाह के लिए धन कमाने के लिए वह फिर घर से चला जाता है।

बहनों की शादी निपटा कर मजीद सुहरा से शादी करना चाहता है। उसका यह सपना कभी पूरा नहीं होता। शहर में उसे एक सेल्स-प्रतिनिधि की नौकरी मिल जाती है। क्रूर दुर्दैव एक बार फिर अपना असर दिखाता है। अमीन बनने के बजाय एक दुर्घटना में उसकी टाँग टूट जाती है और वह बेरोज़गार हो जाता है। किंतु, इस दुःखद घटना का ज़िक्र वह अपने संबंधियों से नहीं करता। शहर के सारे लोगों को उससे हमदर्दी है, मगर उसे कोई भी नौकरी नहीं देता। इस तरह की हमदर्दी उसे ख़ब्ती बना देती है। अपना परिवार बचाने की नीयत से वह बार-बार नौकरी तलाश करता है। अंततः उसे एक बड़े होटल में बर्तन साफ़ करने का काम मिल जाता है। वहीं उसे अपनी माँ के पत्र से सुहरा की मृत्यु का समाचार मिलता है, जिससे उसके सारे सपने बिखर जाते हैं।

'बाल्यकाल सखि' एक भिन्न क़िस्म की प्रेमकथा है। मजीद और सुहरा के प्रेम का चित्रण अत्यंत मार्मिक है। उपन्यासकार के अनुसार इसकी शुरूआत दुश्मनी से हुई, इसके बावजूद वे प्रेम करते हैं। वे अपना प्रेम हृदय में ही छिपाये रहते हैं, व्यक्त नहीं करते। सुहरा, यद्यपि दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लेती है, लेकिन प्रेम वह मजीद से करती है। मजीद भी उससे प्रेम करता है और उससे पुनर्विवाह करना चाहता है। किंतु, नियति-चक्र की प्रबलता से उनका प्रेम परवान नहीं चढ़ सका।

बशीर पाठकों पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। वे एक ऐसे नायक को प्रस्तुत करते हैं, जिसका अंतस्थल नितांत दुःखी है, लेकिन वह अपनी मनोव्यथा को कभी प्रकट नहीं होने देता। दयनीयता की सीमा तक दुखी मजीद हमेशा प्रसन्न-वदन व्यक्ति का मुखौटा लगाये रहता है। वह होटल के कर्मचारियों से हँसी-मज़ाक तो करता है, परंतु कभी भी अपनी मनोव्यथा या दुखों की चर्चा नहीं करता। लगता है, उपन्यासकार जैसे बताना चाहता है कि जीवन की त्रासद स्थितियाँ कभी-कभी मृत्यु से भी ज़्यादा कष्टदायी होती हैं। लेकिन, ध्यान देने योग्य बात है कि उपन्यासकार जीवन के दुखों-कष्टों या व्यथित कर देने वाली स्थितियों का चित्रण तो करता है, लेकिन निराश-हताश होने की वकालत कभी नहीं करता।



कहीं-कहीं कथा-नायक और उपन्यासकार के चरित्रों में समानता भी दृष्टिगोचर होती है। लेखक ने कथा-नायक मजीद में अपने अनेक गुणों का समावेश कर दिया है। बशीर के पिता की तरह मजीद का पिता भी इमारती लकड़ी का व्यवसाय करता है। दोनों को अपनी मर्ज़ी से घूमने-फिरने और नये-नये लोगों के संपर्क में आने का शौक था। बशीर को बाग़वानी का शौक था। जेल में रहने के बावजूद अधिकारियों द्वारा उन्हें जेल के अंदर बाग़वानी की छूट दी गयी थी। इससे लेखक का प्रकृति के प्रति रुझान व्यक्त होता है। उपन्यास में सुहरा की मदद से मजीद द्वारा अपने घर के सामने एक बग़ीचा लगाने का वृतांत है।

इस उपन्यास में जपाकुसुम (गुड़हल) का गहन निहितार्थ है। दोनों ने मिलकर चीनी गुलाब का पौधा रोपा था। सुहरा इसे सींचने की ज़िम्मेदारी लेती है। एक दिन सुहरा अपने बालों में लाल गुलाब का फूल लगा कर मिलने आती है। मजीद टिप्पणी करता है कि जब वह जपाकुसुम (गुड़हल) बालों में लगा लेती है, तो और भी ज़्यादा सुंदर दिखती है। 'चीनी गुलाब' के पौधे के पास उनकी अंतिम भेंट की स्मृति उनके प्रेम और आत्मीयता को दर्शाती है।

'बाल्यकाल सखि' उपन्यास बशीर की उपन्यास-कला के सहज गुणों को व्यक्त करता है। जीवन के निजी अनुभवों की कलात्मक प्रस्तुति और उनकी प्रांजल अभिव्यक्ति बशीर की मुख्य शक्ति है। अपने पात्रों द्वारा वे खुद को ही अभिव्यक्त करते हैं। लेखक के व्यक्तित्त्व की छाया पात्रों में विशेष रूप से झलकती है, जैसे कि इस उपन्यास में। पाठक के लिए कथन की विशिष्ट शैली और शालीन विनोद-प्रियता उनके उपन्यासों की अन्य विशेषताएं हैं। पाठक उनकी घनीभूत संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति का आस्वादन करता है।

रीडर, आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ़
अनुवाद : राजीवलोचन नाथ शुक्ल
रीडर, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ़

वैक्कम मो. बशीर की मलयाली कहानी–टाइगर

टाइगर एक भाग्यशाली कुत्ता है। पूरा देश जब अकाल की चपेट में था और लोग भूखों मरने पर मजबूर थे, तब भी उसका असर टाइगर के शरीर पर दिखायी न दिया। जब वह बैठा होता, तो उसे देख कर कोई भी उसे कंबल में लिपटा हुआ एक मोटा गट्ठर समझने की ग़लती कर सकता था। उसकी चारों टाँगें और पूँछ सफ़ेद हैं। उसकी आँखें बादामी लाल रंग की हैं। पुलिसवालों की आँखों की तरह टाइगर की आखें भी भावहीन हैं।

टाइगर सड़क का एक आवारा कुत्ता है। शहर के एक नाले में उसका जन्म हुआ था। उसे अपने गुज़रे कल के बारे में कुछ नहीं पता। जब से उसे याद है, तब से वह पुलिस-स्टेशन में ही है। वह बचपन से ही स्टेशन के परिसर और उसके ऊपर के चौकोर आकाश के टुकड़े के नीचे शोरगुल करता रहा है। उसके दोस्त स्टेशन के चोर और पुलिसवाले हैं। वह बंदियों और पुलिसवालों में अंतर जानता है। पुलिस इन्स्पेक्टर से उसे बड़ा प्यार है। जेल के बंदियों का कहना है कि इन्स्पेक्टर और टाइगर की आँखें एक जैसी हैं।

टाइगर जेल के क़ैदियों में कोई अंतर नहीं करता। जेल के बंदियों में हत्यारे, छोटे-मोटे चोर और राजनेता शामिल हैं। अगर टाइगर के संबंध में कहा जाए, तो उसके हिसाब से दुनिया में दो प्रकार के लोग हैं—अपराधी और पुलिसवाले। स्टेशन की काल कोठरी के पैंतालीस बंदी टाइगर की दृष्टि में एक समान हैं। जो राजनेता अकेले एक कोठरी में क़ैद हैं, वे टाईगर के लिए महत्त्वहीन हैं। टाइगर यह देखता है कि सारी कोठरियाँ एक जैसी हैं। किसी में भी रोशनी या हवा नहीं आती है। मल-मूत्र की दुर्गंध में, खटमल द्वारा काटे हुए फटे, पुराने चिथड़ों को ओढ़कर; दाढ़ी, मूँछ बढ़ाये ये रंगहीन प्राणी अंधकार में बिना किसी रोशनी की अवस्था में जीते जा रहे हैं।

कोठरियों से निकलने वाली दुर्गंध इन्सान के हृदय को क्षय करने वाली है। लेकिन, बंदियों की चिंता यह सब नहीं हैं। अतृप्त भूख ही उनकी एकमात्र चिंता का कारण है। वे शाम को इसीलिए सोते हैं कि सुबह चावल की लपसी उन्हें मिल सके। उसे खाने के बाद दोपहर के भोजन के बारे में सोचते हैं और उसके बाद शाम के भोजन के बारे में। एक तरह से बड़ी परेशानी है। किसी की भी भूख कभी समाप्त नहीं होती। सभी बंदियों की यही इच्छा है कि जल्द से जल्द उन्हें सज़ा सुना दी जाए, ताकि वे जेल भेजे जा सकें। पुलिसवालों द्वारा लगाये गये अभियोगों से मुक्ति मिलना नामुमकिन था। सज़ा मिलने के पश्चात शीघ्र ही उन्हें जेल भेज दिया जाएगा। बंदियों के लिए स्वर्ग है जेल, वहीं दूसरी ओर पुलिस स्टेशन की कोठरी उनके लिए नरक है। सभी बंदियों का हृदय क्रोध से भरा हुआ है। अपनी आँखों से वे टाइगर के प्रति इस क्रोध को व्यक्त करते हैं। टाइगर को इससे कोई परेशानी नहीं है। टाइगर बड़ी गंभीर मुद्रा में कोठरी के सामने इधर से उधर चहलक़दमी करता है। नहीं तो वह किसी भी कोठरी के दरवाज़े के सामने जाकर लेट जाता है। दोपहर के खाने के समय वह इन्स्पेक्टर के कमरे के दरवाज़े पर पहरा देता है; इन्स्पेक्टर खाने के पश्चात् डकार लेते हुए मुड़े हुए केले के पत्ते को टाईगर के सामने रख देता है। वह एक इन्सान के खाने के बराबर चावल जल्दी-जल्दी खा जाता है। यह देखकर कोठरियों में बंद क़ैदियों के मुँह में पानी भर आता है।

खाने के बाद टाइगर स्टेशन के आँगन के बग़ीचे में झपकी लेता है। छोटी-सी नींद के बाद वह फिर से कोठरी के दरवाज़े पर जा खड़ा होता है। उसकी आँखों में एक मुस्कुराहट का भाव दिखता है, जो दर्शाता है मानो उसे उन बंदियों के सारे राज़ मालूम हैं। ज़्यादातर झूठे मामले हैं। पुलिसवालों और इन्स्पेक्टर द्वारा रिश्वत लेकर बनाये गये झूठे मामले। किसी ने ज़िंदगी में अगर एक बार चोरी की है, तो अब उसको शहर भर की सभी चोरियों के लिए ज़िम्मेदार माना जा रहा है। उन्होंने जो जुर्म नहीं किया, उसे भी कोठरियों में पहुँचकर वे अपने सर ले लेते हैं। कचहरी में न्यायाधीश के सामने भी सारे झूठे अभियोगों को पुलिस की निरर्थक निकटता के कारण मान लेते हैं। सरकार द्वारा बंदियों की प्रतिदिन की रसद के लिए एकमुश्त धनराशि निश्चित की गयी है। एक पुलिसवाले की मासिक आय इस धनराशि से तीस गुना कम है। पुलिसवाले को खाना है, कपड़े पहनने हैं, पत्नी और बच्चों की परवरिश करनी है। दूसरी और कोई चिंता नहीं है। इस तुच्छ-सी आय में वह अपनी आवश्यकताएँ कैसे पूरी करता है ? कोठरी में बंद क़ैदी गुस्से के साथ सलाखों से हाथ बढ़ा कर टाइगर को सहलाते हैं।

"हमारा खाना खाकर मोटे हो गये हो," वे कहते हैं।

टाइगर उत्तर में पूँछ हिलाया है। वह इस भाव से उन्हें देखता है मानो कह रहा हो कि—"हाँ! यही है ज़िंदगी। इसको बदलना किसी के बस में नहीं है।"

क्या सच में इसे बदला जा सकता है ?

शुरू-शुरू में कुछ ने कहा, "हमारी भूख ख़त्म नहीं होती। सरकार द्वारा निश्चित किया गया भोजन हमें मिलना चाहिए।"

लेकिन, उन्हें मिलने थे पुलिसवालों के घूँसे और इन्स्पेक्टर के बूट। यही नहीं, इंस्पेक्टर बड़बड़ाकर बोलता–"सरकार द्वारा निश्चित ! सरकार तो तुम सब की बाप है ?"

"सरकार कइयों की बाप है ?"

वे बोलते,

"सरकार तो टाइगर है।"

क्या यह सही तुलना है ? हर एक बंदी को सरकार द्वारा निश्चित धनराशि में खाना देने की ज़िम्मेदारी एक होटल वाले की है। बहुत छोटे स्तर पर उसने होटल का काम शुरू किया। बंदियों की वजह से उसका काम अच्छा चल निकला। बड़ी-बड़ी मूँछों और तोंद वाला है होटलवाला। उसकी और पुलिस इन्स्पेक्टर की अच्छी जमती है। उसी के होटल पर इन्स्पेक्टर और स्टेशन का मुंशी भोजन करते हैं। उन्हें भोजन और कॉफ़ी के पैसे देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। यही नहीं, इन्स्पेक्टर और मुंशी को होटलवाला हर महीने एक निश्चित धनराशि भी देता है। इस नुकसान की भरपाई वह बंदियों के लिए निर्धारित किये गये अंश में से करता है। पचास-साठ बंदी रोज़ देखते हैं, उनको भोजन अगर न भी मिले, तो पूछने वाला कौन है ? मामले की सुनवाई के लिए जब कचहरी ले जाया जाता है, तो न्यायाधीश के सामने बताने की कोशिश भी करना चाहें, तो यह सोचकर कुछ नहीं कहते कि वापस तो स्टेशन की कोठरी में ही आना है, न ? इन्स्पेक्टर वापस आकर हँसते हुए पूछता है, लेकिन वह हँसी !

"तू बोलेगा, ऐं, वे ?"

उसके बाद बेहोश होने तक मारता है। इस मार का अंजाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे बंदियों को कोई शिकायत नहीं होती। वे इसका बदला उस कुत्ते से लेते हैं। बंदियों को टाइगर पसंद नहीं है, यह सब जानते हैं। इन्स्पेक्टर को इस बात पर आश्चर्य होता है। उस भोले से पशु को वे प्रेम क्यों नहीं कर सकते ? वह सोचता है।

लेकिन, बंदियों ने टाइगर से कभी प्रेम नहीं किया। उन्हें जब भी मौक़ा मिलता, वे उसे चोट पहुँचाने से नहीं चूकते थे। जैसे ही टाइगर को ज़रा से भी खतरे का आभास होता, वह कराहने लगता।

"कौन कुत्ते को परेशान कर रहा है ?" इन्स्पेक्टर अपने कमरे से अपना डंडा घुमाते हुए आता।

"कुत्तो, क्या मैंने तुम्हें टाइगर को परेशान करने से मना नहीं किया? जिसने भी उसे परेशान किया है, वह अपना हाथ आगे बढ़ाये।"

सलाखों के बीच से एक हाथ बाहर दिखता है। उस हाथ की उँगलियों को कस के पकड़ कर इन्स्पेक्टर ज़ोर-ज़ोर से मारता है। आस-पास का वातावरण रोने की आवाज़ से भर उठता है। मार की वजह से हाथ जगह-जगह से फट जाता है और उस से ख़ून टपक-टपक कर ज़मीन पर गिरता है। टाइगर उसे चाटकर साफ़ कर देता है।

कोठरी के बंदी किया हुआ अपराध फिर से करते हैं। सजा के कारण वे टाइगर को और परेशान करने का निश्चय करते हैं। उस कुत्ते को परेशान करने के कारण ज़्यादातर बंदियों को सज़ा मिल चुकी है। टाइगर जान-बूझ कर उन्हें सदैव यह अपराध करने पर मजबूर करता है।

वैसे टाइगर कभी बाहर नहीं जाता। वह बड़ा डरपोक है। लेकिन फिर भी यदि कोई दूसरा कुत्ता ग़लती से आ जाए, तो वह बड़े भयंकर तरीक़े से भौंकता है। उस समय वह किसी शेर से कम नहीं होता। लेकिन, यदि कभी पुलिस स्टेशन के बाहर निकल कर वह किसी मरियल से कुत्ते को भी देख ले, तो दुम दबा कर वापस अंदर भाग आता है। यह दृश्य देखकर अपराधियों में से एक ने हँस कर कहा–"देखो, हमारे इन्स्पेक्टर आ रहे हैं।"

उस समय उनमें से एक दार्शनिक बोला–"हम सब भी इसी प्रकार के इन्स्पेक्टर हैं।"

इस बातचीत का विषय एक बड़ी बहस में बदल गया। पक्ष में तीन लोग और विपक्ष में एक रह गया। जब यह बहस अपनी चरम सीमा पर थी, तब इन्स्पेक्टर ख़ुशख़बरी के साथ अंदर आया।

"यह शोर कैसा ?"

किसी ने कुछ नहीं कहा।

"खोलो", चौकीदार से इन्स्पेक्टर ने कहा। चौकीदार ने दरवाज़ा खोला और बंदी बाहर निकल आये। इन्स्पेक्टर ने कहा–"तुम लोगों से मिलने कोई आया है।"

जब वे पहुँचे, तो पता चला कि बहस शुरू करने वाले दार्शनिक के दोस्त ढेर सारे संतरे और दूसरी खाने की वस्तुएँ लेकर उससे मिलने आये थे। उन संतरों में से दो संतरे इन्स्पेक्टर ने खा लिये। दूसरी खाने की चीज़ें उन्होंने मिल कर खा लीं। मुलाक़ात करने आये दोस्तों के पास उन्हें देने को कोई नया समाचार नहीं था। देश में ग़रीबी बड़ी भयंकर है। भूख से लोग मर रहे हैं; साथ ही युद्ध और सामान की बढ़ती महँगाई; एक तरह से बड़ी भयंकर भुखमरी है।

"हमें भी उसका अनुभव हो रहा है," दार्शनिक ने कहा।

"तुम्हें कैसा अनुभव ? अच्छा भोजन मिलता है। किसी प्रकार की परेशानी कहाँ है। भाग्यशाली लोग।"

तभी दार्शनिक ने दरवाज़े पर आये टाइगर की ओर उँगली से इशारा करते हुए कहा–"काश, उस कुत्ते के समान हम भाग्यशाली होते।"

यह सुनकर इन्स्पेक्टर और दूसरे बंदी हँसे। बाहर निकाले गये बंदी वापस कोठरी में चले गये। चार लोग तृप्त थे। उनका पेट उनके दोस्तों द्वारा लायी गयी खाने की वस्तुओं से ही भर गया था। उस शाम, उनके खाने के बाद भी काफ़ी चावल बच गया। बचे हुए चावल को उन्होंने उठाकर अपने साथी बंदियों की कोठरी के दरवाज़े के सामने रख दिया। उस कोठरी के बाइस बंदी दरवाज़े के पास लालच के साथ आ गये। एक बंदी ने जब सलाखों के बीच से केले के पत्ते को खींचा, तो उसमें से थोड़े से चावल के दाने ज़मीन पर गिर गये। झट से टाइगर ने वे दाने चाटने शुरू कर दिए। इक्कीस

बंदी बैठे रहे, जबकि एक ने परोसना शुरू किया। एक पूरी कलछी भी नहीं थी सबके लिए; लेकिन तब भी उन्होंने बड़ी रुचि के साथ खाया। परोसने वाले ने पाँच लोगों के हाथ में थोड़ा-थोड़ा डाल दिया। टाइगर आगे बढ़कर ज़मीन पर गिरी तरकारी को चाटने लगा। एक बंदी ने उसके मुँह पर लात दे मारी। वह ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा, जैसे कि उसके प्राण ख़तरे में हों। चौकीदार भाग कर आया; कुछ पुलिसवाले भी आये। इन्स्पेक्टर भी आया। इन्स्पेक्टर ने मानो उनका हृदय ही उनसे नोंच लिया हो, जब उसने उनसे परोसे गये खाने को वापस पत्ते पर रखने को कहा और उसे कोठरी के बाहर ले लिया और टाइगर को खाने को दे दिया। जैसे कि यह कम नहीं था, इन्स्पेक्टर ने चौकीदार से कहकर दरवाज़ा खुलवाया और अंदर जाकर बाइस के बाइस बंदियों पर लात और घूसों की बौछार कर दी।

यह घटना यूँ ख़त्म हुई कि उस रात दस बजे टाइगर फिर से बड़ी ज़ोर से कराहने लगा। पुलिस स्टेशन उस रात चीख़ने-चिल्लाने की आवाज़ से गूँज उठा। चौकीदार भाग कर जब पहुँचा, तो उसने देखा कि दो बंदी टाइगर का सिर सलाखों में से अंदर की ओर खींच रहे हैं। दो लोग थे, यह बात तो निश्चित थी। चौकीदार एक ही को पहचान पाया।

इन्स्पेक्टर ने उसे बाहर निकाला। एक चोरी के मामले में वह दोषी पाया गया था। इन्स्पेक्टर ने सबसे पहले उसके चेहरे पर मारा, फिर एक लात मारी। वह मुँह के बल ज़मीन पर गिर पड़ा। उसकी पीठ पर लातों की बौछार शुरू हो गई। अंत में उसे खींच कर उठा लिया। मुँह से ख़ून, ज़मीन पर एक दाँत भी पड़ा था। ख़ून से ज़मीन पर एक छोटा-सा कुंड बन गया है।

यह दृश्य पैंतालीस बंदियों, नौ पुलिसवालों और टाइगर द्वारा देखा गया। ज़मीन पर पड़े ख़ून को टाइगर ने चाटकर सुखा दिया।

इन्स्पेक्टर ने पूछा—''दूसरा कौन था, बे ?''

लेकिन पहले बंदी ने नहीं बताया।

''नहीं बताओगे?''... उसकी टाँगें दोनों सलाखों के बीच से बाहर निकाल कर बाँध दीं और पैर के सफ़ेद निचले हिस्से में डंडे से ज़ोर-ज़ोर से इन्स्पेक्टर प्रहार करने लगा, लेकिन फिर भी उसने कुछ नहीं बताया। पैर का सफ़ेद हिस्सा मार के कारण फट गया। फटने से ख़ून निकल आया, लेकिन फिर भी उसने नहीं बताया। वह बेहोश हो गया। इस कारण टाइगर जब उसके पैर को अपनी खुरदुरी ज़बान से चाट रहा था, तब भी वह बिना हिले-डुले पड़ा रहा।

टाइगर एक भाग्यशाली कुत्ता है।

अनुवाद : अब्राहम वर्गीस

ई-21, एकता नगर, बेगपुर, अलीगढ़ (उ.प्र.)

गीत

वर्षगाँठ पर सोनचिरैया

तौसीफ़ सत्यमित्रम्

ढीले हो जाएंगे बंधन
गाँठ मग़र कस जाएगी,
वर्षगांठ पर सोनचिरैया
क्या-क्या बोल सुनाएगी।।

जलसे हमने जलकर देखे
जल काजल में बदल गया,
जाल संभाले मछुआरा मन
मत्स्यगंध पर फ़िसल गया,

आगामी सन्तति पुरखों की-
थाती ही खो जाएगी।।

पुष्पक में बैठे हैं हम सब
इन्द्रलोक में जाना है,
अग्निपरीक्षा का भय केवल
कंचन ही निखराना है,

उंची-उंची सभी उड़ाने-
नीची ही रह जाएंगी।।

टूटी-बिखरी संज्ञाओं को
आओ क्रियापदों से जोड़ें,
संस्कार की सुप्तभूमि में
बीज विशेषण वाले छोड़ें,

वरना, व्यथा भारती माँ की-
कोरी ही रह जाएगी।।

द्वारा-शफ़ीक़ अहमद ख़ाँ

दिलदार नगर ख़ास, जनपद-ग़ाज़ीपुर-232326

एक लड़की और बीस पाउंड

महेन्द्र दवेसर 'दीपक'

कहाँ आकर ठहर गयी है उसकी ज़िंदगी? कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि उसके अपने अब्बा उसके लिए मौत का सामान कर देंगे। लेकिन उस दिन, उन्हीं के ब्रीफ़केस में उसके लिए ख़रीदा गया ज़हर देख लिया समीना अख़्तर ने । यदि यह ज़हर न देखा होता, तो उसे आज की यह रात देखने को न मिलती।. ...रात, जो समीना को उसकी उम्र से भी लंबी हो गयी लगती है। सुबह होने तक न जाने वह कहाँ होगी? शायद ठंड से अकड़ी उसकी लाश यहीं मिले.....लंडन के पिकेडिली सर्कस की इस दूकान के पोर्च तले।

अब्बा और अम्मी के बीच हो रही खुसर-पुसर सुन ली थी समीना ने। सोलह वर्ष की कच्ची उम्र में उसकी फूफी—अब्बा की सैयदा आपा—अपने पचास वर्षीय तलाक़शुदा देवर अरशद के साथ उसके निकाह के लिए हाथ धो कर पीछे पड़ी हुई थीं। अभी तो समीना ने स्कूल में 'ओ' लेवल की—दसवीं की—परीक्षा दी ही थी और परिणाम की प्रतीक्षा कर रही थी। वह तो कॉलेज और युनिवर्सिटी के सपने देख रही थी।

इधर अरशद तो कुल छह जमाअतें पास है.....बस उर्दू पढ़-लिख लेता है। लाहौर के पास बर्क़ी गाँव में कोई तीस एकड़ ज़मीन है उसकी। दो बच्चों का बाप है। उसका बड़ा लड़का नजम तो समीना से दो ही साल छोटा है और नजम की छोटी बहन यासमीन अभी बारह की हुई है। तो क्या ये दोनों उसे 'अम्मी' कह कर पुकारा करेंगे? क्या उसे इंगलैंड के खुले वातावरण को छोड़ कर बर्क़ी नाम के उस पाकिस्तानी गाँव की घुटन में उस बूढ़े किसान के साथ बाक़ी ज़िंदगी गुज़ारनी होगी? फिर उसकी आँखों के सामने तैर गयी अपने भविष्य की तस्वीर। अजनबियों के बीच वे लगेंगे बाप-बेटी.....लेकिन वह होगी तो अरशद की बीवी ही...और फिर उम्र में इतना फ़र्क़? वह तो 'अब्बा बुज़ुर्गवार' की तरह हुक़्म चलाएगा और यह चुपचाप सुनती, तड़पती, फड़फड़ाती रहेगी। नहीं, उसे हर्गिज़ मंज़ूर नहीं यह ज़िंदगी।

लेकिन वह करे भी तो क्या करे? अब्बा के ब्रीफ़केस में उसने अपनी मौत देख ली थी। नहीं, वह ज़हर नहीं था। था तो वह काग़ज़ का ही टुकड़ा, लेकिन था वह घातक से घातक ज़हर-सा ख़तरनाक। पाकिस्तान के लिए तीन हवाई टिकट थे। अब्बा-अम्मी के तो वापसी टिकट थे, मगर उसके अपने टिकट में वापसी दर्ज नहीं थी। आख़िर फूफी की साज़िश चल ही गयी। उन्होंने अब्बा-अम्मी से अपनी बात मनवा ही ली।

उसने अम्मी से शिकायत की, "इस रिश्ते से तो अच्छा होगा कि आप मुझे ज़हर पिला दो। मैं हँसते-हँसते पी लूँगी।"

दीवारों के कान होते होंगे, लेकिन समीना की अम्मी के तो जैसे कान ही नहीं थे। उन्होंने बेटी की बात अनसुनी कर दी। वह चीख़ी-चिल्लायी। उसने अपनी बात दोहरायी तो वे बोलीं, "तू तो पागल हो गयी है। हमारे यहाँ शादियाँ यूँ ही नहीं हो जाती हैं। दामाद ख़रीदने पड़ते हैं। लाखों का दहेज़ देना पड़ता है। दहेज देना तो क्या, शादी के बाद तू उस घर में इतनी अमीर हो जाएगी कि एक दिन हमें भी ख़रीद सकेगी।"

"यह कैसी तिजारत है? कैसा सोच है? दहेज़ से भी बच जाओ...दामाद ख़रीदो नहीं, बेटी बेच दो। वसूली का क्या, बाद में होती रहेगी। अम्मी मैंने कहा न, मुझे ज़हर पिला दो,"

वह सिसकियाँ भरती, पैर पटकती अपने कमरे में चली गयी।

समीना ने ज़हर नहीं पिया। वह दौड़ी-दौड़ी गयी अपनी सबसे प्यारी सहेली बल्ली को अपना दुखड़ा सुनाने। बलजीत कौर समीना से दो साल बड़ी है। हँस दी बलजीत,

"यार, तेरा फ़्यूचर तो बड़ा ब्राइट है। तीस साल की उम्र तक तो छह बच्चों की अमीर बेवा ज़मींदारनी होगी..... सब पर हुकूमत करेगी।"

"मेरी जान पर बनी और तुझे मज़ाक सूझ रहा है।"

तब बलजीत ने उसे समझाया कि एक ही आग में जल रही हैं वे दोनों । उसे भी तो दार जी ने अल्टीमेटम दे रखा था, "जे मैं तैन्नूं फेर ओस मुंडे नाल देख लिया, ते दोनां नूं वड्ड दवांगा।"

बलजीत को भी यूँ क़त्ल होना मंजूर नहीं था। वह 'मुंडा' था—जगी—जगदेव सिंह। दिखायी देना तो क्या, वह तो उसके साथ जीने-मरने को तैयार थी। फ़ैसला हुआ कि दोनों घर से भाग चलें। समीना अकेली होती तो शायद यह हिम्मत न कर पाती। बलजीत ने उसका हौसला बढ़ा दिया। घर छोड़ने से पहले उसने बलजीत से पूछ लिया था, "बल्ली तू तो जा रहेगी अपने यार के साथ। मेरा क्या होगा? मैं क्या करूँगी? कहाँ रहूँगी?"

उसने विश्वाम दिलाया, "सिम्मी डार्लिंग, घबराती क्यों हो? जहाँ हम दोनों रहेंगे, तू भी साथ रह लेना।"

भोली सिम्मी सहेली के चक्कर में आ गयी। चक्कर में आ गयी और फिर पछतायी। अगले ही सप्ताह बलजी और जग्गी का तो हो गया गुरुद्वारे में 'आनंद कारज' और उन्होंने स्पेन में हनीमून की तैयारी भी कर ली। अब सिम्मी का क्या हो? जग्गी ने तो साफ़ कह दिया—"हम हनीमून पर होंगे, इसे कहाँ साथ में ढोते फिरेंगे?"

तब उसकी सबसे प्यारी सहेली ने धीरे से कह दिया—"सारी" और सिम्मी डार्लिंग अकेली टापती रह गयी।

अब वह क्या करे, कहाँ जाए? देर तक बर्मिंघम में रही तो किसी न किसी की नज़र में आ जाएगी। घर से भाग कर उसने पूरे परिवार की नाक कटवा दी थी और परिवार की नाक के बदले में उसकी अपनी गरदन पर छुरी चल सकती थी। उसने सोच लिया, अब वह वहाँ नहीं रहेगी। वह लंदन की भीड़ में खो जाएगी। किसी को पता भी नहीं चलेगा कि लड़की कहाँ गुम हो गयी। उसने अपना बड़ा-सा एयरबैग उठाया और लंदन की गाड़ी पर चढ़ गयी और पहुँच गयी पिकेडिली सर्कस। बचपन में वह कभी यहाँ आयी थी। अभी भी बच्ची ही तो थी वह। यहाँ की चमक-दमक उसे दुबारा यहाँ खींच लायी। अब आगे अल्लाह की मर्ज़ी।

हर शहर में कुछ स्थान ऐसे होते हैं, जहाँ माना जाता है कि उनका दिल धड़कता है। जैसे लंदन में ट्राफ़ालगर स्कुएयर या पिकेडिली सर्कस। पिकेडिली सर्कस तो बस दिल ही दिल है। यहाँ पर स्थापित है सौ साल से भी पुरानी यूनानी कामदेव ईरोस की मूर्ति, जिसकी छाया तले आज के प्रेमी, प्रेमिकाएँ मिलते हैं। यहाँ पर चौबीसो घंटे जलती-बुझती-धड़कती नियान की बत्तियों की तरह दिल से दिल मिल कर धड़कते हैं। शाम होते-होते इन दिलों की भीड़ लग जाती है और धड़कनें तेज़ हो जाती हैं। दूकानों की रौनक भी बढ़ जाती है और वहाँ होते हैं करोड़ों के सौदे।

दूकानें यहाँ और भी हैं....चलती-फिरती, बेबस, मजबूर दूकानें। सिम्मी बिकाऊ नहीं थी मगर बाज़ार में तो थी। ग्राहकों के इशारे हुए और बहुत हुए।

पिकेडिली की उस बंद दूकान के उस पोर्च तले सिमटी, सिकुड़ी, ख़ामोश वह सब देखती, सुनती, सहती रही।

जिस अल्लाह की मर्ज़ी के हाथों में उसने अपनी ज़िंदगी की डोर सौंपी थी, वह ख़ामोश नहीं है। उसने सोच लिया था कि जनवरी का महीना आ गया है। अब इंगलैंडवासियों को साइबेरिया की तेज़-तुंद हवाओं का मज़ा चखाया जाएगा। जब उन हवाओं ने इधर का रुख़ किया तो वे दुनिया भर के बादल भी साथ समेट लायीं।

सिम्मी जब घर से निकली थी, तो उसके पास लगभग डेढ़ सौ पाउंड थे। पचास का तोहफ़ा तो उसने अपनी बेवफ़ा सहेली के विवाह पर दे डाला। अब उसे ध्यान आया कि लंदन आने के लिए ट्रेन का बहुत ज़्यादा भाड़ा दे बैठी थी। कोच में आती, तो बहुत सस्ता पड़ता। पैसे बचे थे बहुत कम, मगर उसने सुन लिया था कि शाम को कड़ाके की सर्दी पड़ने वाली है। उसने 'सेल' में आधी क़ीमत पर एक कंबल मोल ले लिया—मूल्य केवल अठारह पाउंड। उसके पास तो अब एक पूरा पाउंड भी नहीं रहा था।

दूर बिग बेन के घड़ियाल ने अभी बारह का घंटा बजाया है। अभी तो बस आधी रात हुई है। थोड़ी देर पहले एक कॉन्स्टेबल वहाँ से गुज़रा था और समीना को वहाँ से हटने के लिए कह गया था। अब यहाँ से हट कर वह कहाँ जाए? नाम की सही, पर सिर पर छत तो है। लेकिन यह छत भी किस काम की? तेज़, तिरछी हवा में पानी में सने बर्फ़ के छींटे तीरों की तरह चुभ रहे हैं और अठारह पाउंड का यह कंबल झीना, काग़ज़ी लगता है। अब यदि वह कॉन्स्टेबल फिर से आ जाए, तो वह उससे फ़रियाद करेगी, 'मुझे रात भर के लिए बंद कर दो।' कम से कम सिर पर ढंग की छत तो होगी। बारिश तो नहीं पड़ेगी और शायद पेट भरने को भी कुछ मिल जाए।

लेकिन वह कॉन्स्टेबल फिर नहीं आया। वहाँ पहुँच गया योगेश चोपड़ा। वह यहाँ के एक अख़बार में छोटा-मोटा पत्रकार है। आज ही बॉलीवुड की एक नयी फ़िल्म रिलीज़ हुई है और पास के एक होटल में उसके अभिनेता अभिनेत्रियों का स्वागत-समारोह चल रहा था। कॉकटेल पार्टी के बाद डिनर भी हुआ। डिनर के बाद योगेश घर लौट रहा था। इतने ख़राब मौसम में उसकी कार धीरे-धीरे खिसक रही थी। तभी उसकी नज़र समीना पर पड़ गयी। उसके भीगे कपोलों में अब आँखों के आँसू भी शामिल हो रहे थे। योगेश ने गाड़ी रोकी और उस पर सवालों की बौछार कर दी—"कौन हो तुम? कौन हैं तुम्हारे माँ-बाप? घर से भाग कर आयी हो? कहाँ से आयी हो?"

उसने अपना नाम बता दिया सिम्मी।

"हाँ मैं घर से भाग कर आयी हूँ। मर जाऊँगी, अपना पता-वता कुछ नहीं बताऊँगी। वो पचास साल के बूढ़े से मेरी शादी कर रहे हैं। वहाँ भी मरना था, अब यहाँ भी मर रही हूँ...ओ.के.?"

इन गिने-चुने शब्दों में वह रोते-रोते अपनी बात कह गयी और योगेश का दिल दहला गयी।

"जो मौसम का हाल है, यहाँ तो तुम सचमुच मर जाओगी। कुछ खाया-पिया भी है कि अभी तक भूखी हो?"

वह चुप रही। उसकी नज़रें साफ़ कह रही थीं कि पेट भी खाली, जेब भी खाली। योगेश ने अपने बटुए में झाँका। उसके पास बीस पाउंड से छोटा कोई नोट ही नहीं था। उसने एक नोट उसके हाथों में थमा दिया।

"देखो, तुम जैसी बेसहारा लड़कियों और औरतों की सहायता के लिए 'शेल्टर' नाम की एक संस्था ने जगह-जगह हॉस्टल स्थापित कर रखे हैं, यहाँ की निवासी लड़कियों की सुरक्षा के लिए। इन स्थानों के पते पुरुषों को बिलकुल नहीं दिये जाते। मैं एक जर्नलिस्ट हूँ और आम लोग जो नहीं जानते, हम जर्नलिस्ट लोग जानते हैं। ऐसे ही एक हॉस्टल का पता तुम्हें देता हूँ। जैसे भी हो सके, अपना पेट भरो और फिर वहाँ चली जाओ। सहारा मिल जाएगा।"

योगेश ने अपना विज़िटिंग कार्ड निकाला और उस पर वह पता लिख दिया। अब वह चलने को हुआ। तभी पीछे से आवाज़

आयी, "सर, मैं इस शहर में बिलकुल नयी हूँ। इस वक़्त रात में और इस मौसम में कहाँ भटकती फिरूँगी? आप ही अपने घर ले चलिए।"

"ना बाबा, ना। मैं तुम्हें अपने साथ कैसे ले जा सकता हूँ। मैं शादीशुदा हूँ। घर में बीवी है, मेरे दो बच्चे हैं। वे सब क्या समझेंगे?"

वह गिड़गिड़ायी, "मैं भी ऐसी-वैसी लड़की नहीं हूँ। आपके परिवार में जाऊँगी, तो ठीक रहूँगी। आप नहीं ले जाएँगे तो सुबह तक तो शायद मैं बचूँगी भी नहीं। बच भी गयी, तो सुबह तक न जाने मेरा क्या हश्र हो....मौसम ख़राब, सुनसान रात और मैं एक अकेली लड़की।"

योगेश पल भर को रुका, सोच में पड़ गया।

"प्लीज़ सर, आपकी कोई बहन तो होगी। आप ही ले चलिए न अपने घर। भाभी जी ठीक समझ जाएँगी। मुझे छोड़ कर मत जाइए....प्लीज़....प्लीज़।"

कुछ ही मिनट पहले मिली, सड़क पर खड़ी इस अपरिचित और अज्ञात लड़की ने उसके साथ यह कौन-सा रिश्ता जोड़ लिया था? वह इन्कार न कर सका और उसे अपनी कार में बिठा लिया। जो बीस पाउंड उसे दिये थे, दे दिये। अब उसे वापस माँगना तो बेढब और बेतुका होता।

योगेश की गाड़ी के घर पहुँचते-पहुँचते रात के दो बज चुके थे। उसने अपनी चाबी से घर का दरवाज़ा खोला। उसकी पत्नी प्रीति अभी तक उसका इंतज़ार कर रही थी। पति के साथ एक अजनबी लड़की को देख कर वह चौंक गयी। योगेश ने परिचय कराया–"यह सिम्मी है। बेचारी बेघर है। रात भर हमारे यहाँ रहेगी। सुबह उठकर 'शेल्टर' के एक हॉस्टल में चली जाएगी।"

प्रीति ने एक नज़र सिम्मी को देखा, गर्दन झटक कर मुँह मोड़ा और बेडरूम में जा घुसी। यह योगेश ही था, जिसने उसके लिए सैंडविच बनाये, चाय बनायी। फिर बैठक में ही कालीन पर उसका बिस्तर लगा कर 'गुडनाइट' कह कर वह भी बेडरूम में चला गया।

प्रीति अभी तक जाग रही थी। न तो वह स्वयं सोयी और न उसने योगेश को ही सोने दिया। बहुत देर तक झगड़ते रहे वे दोनों। प्रीति ने इल्ज़ामों और सवालों की बारिश कर दी–"तुम नहीं सुधरोगे। तुम्हारी नज़र तो एक जगह टिक ही नहीं सकती, भटकती रहती है। जहाँ भी कोई लड़की देखी, मचल गये। पार्टियों में तुम मुझे छोड़ कर दूसरी लड़कियों के साथ डांस करते हो। कुछ तो शर्म करो । दो-दो बच्चों के बाप हो। एक तो यह मुआ जर्नलिज़्म। इसकी ओट में न जाने कहाँ-कहाँ भटकते हो तुम। कई-कई रातें घर से बाहर बिताते हो। ऊपर से इस मुई सरकार ने चौबीसो घंटे के लिए खुले छोड़ दिये हैं बदमाशियों के अड्डे।"

जैसे तीखे प्रीति के इल्ज़ाम थे, वैसे ही थे उसके सवाल।

"डिनर तो रात बारह बजे तक ख़त्म हो गया होगा। दो बजे तक कहाँ थे तुम? यह लड़की तुम्हें कब मिली? कहाँ मिली? न जान न पहचान, यहाँ में क्यों उठा लाये इसे? सैकड़ों-हज़ारों आवारा लड़के-लड़कियाँ घूमते हैं शहर में। क्या सभी को यहाँ ले आओगे?"

इस झगड़े के दौरान् योगेश के मुँह से कहीं निकल गया कि उसने सिम्मी को बीस पाउंड भी दिये थे। इस बात ने तो जले पर नमक छिड़क दिया–"यह तो बड़ा अच्छा हुआ, सस्ते में ही सौदा हो गया। लड़की सुंदर भी है, जवान भी। यहाँ लाने से पहले इसे कहाँ-कहाँ लेकर गये थे?"

....और फिर उसने अपना फ़तवा सुना दिया–"मैं अपने घर को रंडियों का रैन-बसेरा नहीं बनने दूँगी।"

बेडरूम के बंद दरवाज़े के दूसरी तरफ़ बैठक में पड़ी सिम्मी भी कहाँ सो सकी? अंदर से आ रही आवाज़ें उसे साफ़ सुनायी दे रही थीं। प्रीति के 'सस्ते में सौदा', 'रंडियों का रैन् बसेरा' जैसे शब्द समीना के गले में तेज़ाब की तरह उतर गये। उसके अंतर में भी बहुत से सवाल मचल रहे थे। यह उसके साथ क्या हो रहा है, क्यों हो रहा है? क्यों उसके अपने माँ-बाप उसकी जान के दुश्मन बन गये? क्यों उसकी सबसे प्यारी सहेली उसे दग़ा दे गयी? यह एक भला आदमी इस घर में उसे सहारा देने को तैयार हो गया था, क्यों उस पर बिजलियाँ बरस रही हैं? पति को सामने बिठा कर चोट तो उस पर भी की जा रही है। उसने इन मैडम का क्या बिगाड़ा है? क्यों औरत ही औरत की दुश्मन हो जाती है?

इन सवालों के जवाब नहीं थे समीना के पास। जवाब थे, तो बस उसकी ग़रीब आँखों में जमे-ठहरे आँसू। वे भी अब पिघल कर उसके चेहरे पर उतर आये थे। रात अभी बाक़ी है भी, तो क्या हुआ? अब वह और नहीं सुनेगी, और नहीं सहेगी।

कमरे की कॉफ़ी-टेबल पर पड़े थे एक फूलदान और एक मैगज़ीन-'एशियन वोमन'। उसने उसके एक पन्ने का कोरा हिस्सा फाड़ कर उस पर लिखा–"थैंक यू।" काग़ज़ का वह टुकड़ा और योगेश का दिया हुआ बीस पाउंड का नोट उसने फूलदान के नीचे टिकाया। फिर वह निराश्रिता-मासूम लड़की अपने अंदर का तूफ़ान अपने अंदर समेटे चुपचाप उस तूफ़ानी रात के अँधेरे में कहीं दूर निकल गयी।

कुछ ही देर बाद योगेश टॉयलेट जाने के लिए उठा, जो बैठक के साथ जुड़ा हुआ था। सिम्मी कहीं दिखायी नहीं दी। शायद बाथरूम में होगी। लेकिन बाथरूम तो ख़ाली था। लड़की घर से ग़ायब थी। कॉफ़ी टेबल पर फूलदान के नीचे रखा मिला–उसका दिया हुआ वह बीस पाउंड का नोट और सिम्मी के हाथ की लिखी वह स्लिप। कलेजे पर हथौड़ा-सा लगा। सुबह सवेरे जब उसने वह स्लिप और बीस पाउंड का नोट प्रीति को दिखाया तो एक हल्की-सी मुस्कान के साथ वह कह गयी–"चलो अच्छा हुआ....छुट्टी मिली।"

70, पर्ले डाउन्स रोड, साउथ क्रॉयडॉन,
सरे, यू.के., सी.आर.-2 ओ.आर.बी.

क्रांति क्यों नहीं आती

बलजिन्दर नसराली

कुछ दिनों बाद ही मेरे हाथ की उँगुली पर एक फफोला उगने लगता है। यह बड़ा होता जाता है। मैं इसको तोड़ कर हथेली पर रख कर देखता हूँ—यह प्लास्टिक का बना लगता है।

मेरे साथ यह कुछ पिछले दो सालों से घटित हो रहा है। फफोले को देखने-परखने के बाद मैं इसको अपने कमरे के कनास पर रखे पुराने फफोलों के साथ जोड़ कर रख देता हूँ। इस प्रकार कनास पर फफोलों की एक गेंद बन गयी है। कभी-कभी यह गेंद इधर से उधर और उधर से इधर को आती-जाती है। दो अदृश्य शक्तियाँ इससे खेलती हैं। जैसे फिल्मों में होता है। मेरी बुरी दशा हो जाती है।

"आप नौकरी की कोई कोशिश करो जी। कच्ची नौकरी की क्या विसात। हमारे घरवालों ने आपकी शिक्षा देख कर रिश्ता कर दिया था। लड़का पी.एच.–डी. है, अपने आप पक्का हो जाएगा। साढ़े छह हज़ार से क्या बनता है? मूर्ख से मूर्ख आदमी भी यही पूछता है—भाई, नौकरी पक्की है? आदमी क्या बताए? झूठ बोलना पड़ता है। बड़ी शर्म आती है।"

अमन की इस बात ने मेरी तीसरे पहर से शुरू हुई दलीलों को ख़ारिज़ कर दिया। रात को उसके समीप जाने के सारे प्रयास जो शुरू किये थे, धरे के धरे रह गये। मुझे उसके साथ सोये हुए एक हफ़्ते से ज़्यादा हो गया है।

पहले सोफ़िया को मुश्किल से सुलाया है।

जब मैं छोटा था, मैं अपने चाचा के घर रह रही दीदी के पास पँजीरी खाने जाता था, तो वह मेरी माँ की बुराई करने बैठ जाती थी, "माजरे की औरतों को अक़्ल नहीं होती। माजरे के लोगों के पास ज़मीन ज़्यादा होती है, पर अक़्ल कम। तेरी माँ तरखान माजरे की है।"

मैं अपनी माँ के ख़िलाफ़ कुछ भी नहीं सुन सकता था, इसलिए मैं पँजीरी खाये बिना ही उठ कर आ जाता था। उस समय यह बात समझ नहीं आती थी। अब आती है। माजरा छोटा गाँव होता है। वहाँ लोग कम होते हैं। घटनाएँ कम घटित होती हैं। लोगों का अनुभव कम होता है। परिणामस्वरूप समझ भी कम होती है।

अमन पिपल माजरे की है।

मैं अब पँजीरी खाये बिना ही सोने की कोशिश करता हूँ। अमन रसोई में चाय बना रही है। गैस के दूसरे चूल्हे पर सोफ़िया के नहाने के लिए पानी रखा हुआ है। यह नित्य कर्म है। चाय पीते-पीते यह सोफ़िया की कापियाँ चैक करेगी। फिर सोफ़िया को नहलाएगी। साथ के साथ सोफ़िया स्कूल न जाने की ज़िद करेगी। ये झूठ-मूठ का कोई लालच देकर उसको तैयार कर देगी। रिक्शा बाहर दरवाज़े पर आकर भोंपू बजाएगा। ये उसकी जेब में रूमाल डालते हुए साढ़े बारह किलो का बैग उसके कन्धों पर रखेगी और कहेगी, "पापा को बाय करो।" सोफ़िया की रोती-सी "बाय" मेरे सामने आ गिरेगी।

मुझे घटित होने वाली घटनाओं के सारे विस्तार पता हैं। इनमें मेरी कोई रुचि नहीं। आजकल मैं इस सवाल से संघर्ष करता रहता हूँ कि घटनाओं के घटित होने के सच का पता लग जाए, तो उनमें रुचि क्यों नहीं रहती। यद्यपि सपने सच नहीं होते, फिर भी सपनों को याद करते रहना और उनके अँधेरे कोनों में कुछ ढूँढते रहने में मेरी विशेष रुचि है।

एक और सपना मुझे बार-बार आता है। लगता है, मैं अपने गाँव वाले घर में हूँ। अचानक गाँव के ऊपर आकाश में कई जहाज़ घूमते दिखायी देते हैं। इनकी गिनती शायद पाँच या सात है। मुझे गाँव में किसी विपत्ति का अंदेशा लगता है। एक जहाज़ हमारे घर पर ही चक्कर काट रहा है। ध्यान से देखता हूँ तो जहाज के अंदर बैठी सवारियाँ भी दिखायी देने लगती हैं। नंगी सफ़ेद टाँगों वाली एयर होस्टेस इधर-उधर घूम रही है। उनको नीचे घरों में खड़े लोगों की घबराहट का कोई पता नहीं है। देखते ही देखते जहाज़ डगमगाने लगता है। सवारियाँ और जहाज़ के स्टाफ़ में हलचल मच जाती है। कुछ सैकिंडों में जहाज़ गाँव के साथ लगते खेतों में गिर जाता है। गाँव के लोग जल्दी-जल्दी जहाज़ की ओर दौड़ते हैं। मैं भी उनके पीछे हो जाता हूँ और तभी मेरी आँख खुल जाती है।

"आपको यह सपना इसलिए आता है, क्योंकि आपने जहाज़ नज़दीक से कभी देखा नहीं, और जहाज़ को देखने की आपके मन में बड़ी इच्छा है। सपने में आप अपनी इच्छा पूरी करने के लिए जहाज़ को ही नीचे गिरा लेते हो," अमन कहती है।

"जहाज़ को नीचे गिरा कर उसमें चढ़ कर मैं तेरे से बहुत दूर चला जाना चाहता हूँ" मैं अपने ढंग से सोचता हूँ।

"अच्छा जी!" वह मुझे घूरते हुए कहती है।

"जाओ जहाँ जाना है और मैं अपना कोई और रास्ता देखने लायक तो बनूँ।

उसकी यह "और रास्ता वाली' बात मुझे चुभ जाती है। कुछ समय के लिए मेरे मन में शंका के बादल उड़ने लगते हैं। शंका का एक कारण इसकी सुंदरता भी है। इतनी सुंदर लड़की से विवाह होने के बारे में मैंने कभी सोचा भी नहीं था। सुंदर लड़कियों के चाल-चलन पर मुझे हमेशा एक शंका-सी रही है। मुझे वो कहावत याद आ जाती है– 'राँड रँडापा तब काटे जब रँडुए काटन दें।' पर फिर मुझे इसकी अपनी माँ के बारे में कही हुई बात याद आ जाती है–"मेरी माँ मुझे ज़रा भी अच्छी नहीं लगती। ये मेरे बाप को धोखा देती रही है। ज़मीन के लालच में इसने रिश्तेदारी में दूर-निकट का एक कुँआरा मामा कई साल हमारे घर में रखा। वो मरते समय अपनी सारी ज़मीन और नक़दी इसको सौंप गया। तभी से मेरे मायके वाले अमीर हो गये।"

शक्ल-सूरत से तो यह भी अपनी माँ जैसी ही है। पर स्वभाव में ख़ासा अंतर है। यह तो चालू औरतों की अपने आप पर परछाँई भी नहीं पड़ने देती। अपनी माँ के बारे में इतना कड़वा सच बोलने का साहस मुछे अच्छा लगता है।

"सामने वालों का लड़का इंजीनियर लग गया है किसी बड़ी कंपनी में। तीस हज़ार आरंभिक वेतन है। मर जाएँ आपके कॉलेज वाले... न तो पक्का करते हैं... न वेतन बढ़ाते हैं। शर्म के मारे किसी रिश्तेदार से बात नहीं कर सकती मैं तो। मायके वाले कब तक खिलाते रहेंगे। कल को भाभी आ जाएगी....," वो गुरुद्वारे से वापिस आकर कहती है।

सुन कर मैं बोलता नहीं, ज़ब्त करता हूँ। गुस्सा आ रहा है। अख़बार पढ़ रहा हूँ, पर ध्यान उसकी बातों पर ही मँडरा रहा है। मुझे कौन-सी शर्म नहीं आती? अपने गाँव के लोगों से मैं भी झूठ बोलता हूँ। वो तो कार के बारे में भी पूछ लेते हैं, "अपनी ले ली कार?"

"हाँ ताऊ, माँगने पर आजकल कौन देता है?... तुम तो ट्रॉली पर लिखवाये हुए हो, अपनी बना लो मित्रो, रोज माँगने पर नहीं मिलती।"

ताऊ हँसने लगता है,

"ज़रूरत थी ताऊ, बच्चों को बसों में कौन घसीटता फिरे?"

उस समय मेरे अंदर एक और आदमी बाँहें मार-मार कर बोलने लगता है–घसीटता फिरे से तेरा क्या मतलब? बाक़ी आधी दुनिया तो मूर्ख है, जो अपने बच्चों को साइकिलों-बसों पर लिये फिरते हैं? वो किसकी माँ को मौसी कहें? कहाँ डाका डालें?

कभी-कभी कोई रिश्तेदार आ जाता है, तो वह मेरे भरे-पूरे घर को देख कर हैरान रह जाता है। फिर शाबाशी देने की तरह कहता है, "देख लो, तुमने विवाह में कुछ लिया नहीं, फिर भी अपनी मेहनत से सारा कुछ बना लिया।"

मैं हाँ-हूँ कह देता हूँ। अब मैं यह कैसे बताऊँ कि मेरी घरवाली अपने मायके से धीरे-धीरे सारा कुछ ले आयी है। टेलीविज़न मेरे घर तब आता है, जब अमन को मेरे कॉलेज जाने के बाद समय बिताना कठिन लगता है। फ्रिज तब लाया जाता है, जब पड़ोसियों के फ्रिज में दूध रखने जाना और फिर सुबह लेकर आना कठिन लगता है। फिर जब इसकी छोटी बहिन के विवाह से महीना पहले कार आती है, तो मैं अमन के साथ कम, कार को देख कर शेखी बघार रहे अपने अंदर वाले आदमी से ज़्यादा लड़ता हूँ। साले के साथ आयी मेरी सास कहती है, "ले बेटा, अब कुछ बोलना मत। मुझे पता है, तू बहुत धनी रूह वाला है, पर हमसे यह सहन नहीं होता कि हमारा छोटा जमाई कार में आये और बड़ा पढ़ा-लिखा जमाई स्कूटर पर आये। हमारे लिए तो एक बराबर हैं दोनों।"

"ले भाई कामरेड, तेरा तो इन्क़लाब आ गया।"

अब किराये के मकान की ड्योढ़ी में खड़ी चैरी रंग की मारुति सबका ध्यान आकर्षित करती है। मेरे कामरेड दोस्त मुझसे मज़ाक में कहते हैं, "सौहुरे दी लाल मारुति ने चक्का जाम कराता।"

'मारुति' से उनका अर्थ हमारी कार नहीं होता, बल्कि घरवाली होती है। 'चक्का जाम' का भाव भी यह होता है कि वह अब मुझे उनकी महफ़िलों में कम आने देती है।

महफ़िलों में भी मैं इसके उलाहनों से तंग आकर ही जाने लगा हूँ। वास्तव में इसे हमारा कुछ भी पसंद नहीं है। पढ़े-लिखे नौकरी करते लड़के से इसने विवाह तो कर लिया, पर मेरी कच्ची नौकरी वाली स्थिति इससे सहन नहीं होती। उस बेबसी में ही यह मेरे माँ-बाप को कुछ-न-कुछ कह बैठती है, जो फिर मुझे बर्दाश्त नहीं होता। मैं कहता कुछ नहीं, बस अवसर देखकर बिना बताये बाहर निकल जाता हूँ। मास्टर गुरबीर के किराये के मकान पर रोज़ महफ़िल लगती है। गुरबीर की घरवाली उसको छोड़ कर किसी कांग्रेसी नेता की रखैल बन गयी है। गुरबीर के लिए अब ज़िंदगी का दूसरा नाम शराब है। पीता तो वह पहले भी था, पर अब सिर्फ़ पीता है। इस महफ़िल के पक्के सदस्य तीन-चार जने हैं। मैं सदस्य तो हूँ, पर पक्का नहीं। वैसे पक्का सदस्य तो एक प्रकार से गुरबीर ही है। बाक़ी सारे कभी न कभी छुट्टी कर जाते हैं। सभी को अपना घर दिखायी देता है। गुरबीर के टूटते घर को हमने देखा है।

गुरबीर के घर मैं अमन को भूलने के लिए जाता हूँ। उसकी बुड़बुड़ से तंग आकर जाता हूँ। अपनी नौकरी की चर्चा से खीझकर जाता हूँ। पर, अमन यहाँ भी किसी न किसी रूप में उपस्थित रहती है। चाहे वह महफ़िल में मेरे ज़्यादा न जाने के कारण दोस्तों की चुभन के रूप में हो या फिर पीने के बाद उत्पन्न होने वाले क्लेश के डर के कारण हो।

इस क्लेश के डर से मैं ज़रूरत से ज़्यादा पी लेता हूँ ताकि अमन क्या कहती है, इसका पता ही न लगे। मैं जाता भी तब हूँ, जब वह सो जाती है। परिणामस्वरूप वह सुबह बुत बन कर फिरती रहती है। बोलती नहीं। ब्रेकफ़ास्ट नहीं मिलता।

मैं तैयार होकर कॉलेज के लिए चल पड़ता हूँ। नशा अभी भी बाक़ी है। रात की पी हुई की गंध मुँह से निकल कर कभी-कभी नाक में घुसती है। मैं नीचे वाला होंठ बाहर को निकाल कर फिर नाक की ओर फूँक मारता हूँ। सोलन नम्बर-1 की जगह यह सिर्फ़ एल्कोहल की गंध है।

पहले पीरियड में आज पाश पढ़ाना है। हाज़िरी लेने के बाद लड़के-लड़कियाँ किताबें खोल कर बैठे हैं। 'हम लड़ेंगे साथी' का शीर्षक मेरे सामने है। नशे के कारण सिर आज भी घूम रहा है। फिर भी पढ़ाने लगता हूँ :

कतल होए जज्बयां दी कसम खा के
बुझीयां होईयां नज़रां दी कसम खा के
हथ ते पए रटणा दी कसम खा के
असीं लड़ांगे साथी कि
लड़न बाझों कुछ वी नहीं मिलदा।

मेरे सामने हारे हुए क़ाफ़िले हैं। लाशों से भरे मैदान की ओर पीछे मुड़कर देखते हुए भी उनकी बांहें हवा में लहराती हैं। बीच में ही अमन दिखायी देती है। हमारी लड़ाई के कई दृश्य जीवंत हो उठते हैं। टूटते बर्तन, आग बरसाती अमन और डर-डर रोती सोफ़िया। मैं खड़ा होकर एक कविता पढ़ा कर ही बस करता हूँ।

"सर, पाश पढ़ते समय कुछ होने लगता है। यह क्या होता है? पहले बैंच पर बैठी सिमरन पूछती है। ऐसी जोशीली कविता सुनकर लड़कों को कुछ होने लग जाता है, यह तो मुझे मालूम है; पर लड़कियों को भी कुछ होता है, यह प्रयोगवादी मसला है।

'तुम्हें क्या होने लगा?' (वास्तव में यह लड़की दूसरों से अलग है। दो सालों से मेरा अभिवादन करती आ रही है। पिछले साल सेक्शन बदलवा कर मेरे पास आना चाहती थी, पर प्रो. पीतम सिंह दिलदार ने आज्ञा नहीं दी थी।)

"सर यही तो मुझे समझ नहीं आ रहा।"

"वास्तव में पाश की कविता में गहरायी बहुत है। गुरु गोविन्द सिंह और शाह मुहम्मद के बाद यह पहला कवि है, जो आदमी को घर से भागने के लिए तैयार कर सकता है। दाँतों के दर्द से ऊब चुके आदमियों को वर्ग की लड़ाई में शामिल करवा सकता है," मेरे अंदर एक और कविता बोलने लगती है।

अगले दिन वह आग-बबूला हो मेरे पास आती है। मैं खाली पीरियड में प्रो. शशि के पास बैठा हूँ।

"सर, ये लोग नहीं समझ सकते। पी-एच.डी. करके भी खाली हैं।"

"क्या हो गया......?

"मैडम सेठी कक्षा में कह रहे थे कि पेपर नज़दीक आ गये हैं, हर रोज़ एक बार गुरबाणी का पाठ ज़रूर याद कर लिया करो। मुझ से फिर बोला गया। मैंने कहा, पाठ करने से क्या होता है? यह ब्रह्मणवाद है। सिक्खों के किरदार का बुरा हाल, इस प्रकार बिना समझे पातों ने ही किया है। कहने लगी तू हिन्दू होगी? मैंने कहा मेरा बाप गुरुद्वारों का पाठी है, दो फुट की कृपाण पहनता है। मेरी माँ अच्छी तरह सुबह-शाम पाठ करती हैं, मुझे जो चाहो समझो आप। यह कह कर मैं कक्षा से उठ कर आ गयी।"

"तुमने बातें अच्छी की, पर इस प्रकार कक्षा से उठ कर नहीं आते।"

"क्यों न आऊँ सर? आप भी कमाल करते हो। इस प्रकार तो इन लोगों के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती। इनको बदलने के लिए एक क्रांति की ज़रूरत है या फिर कम से कम एक सिविल वार तो लगे ही।... क्रांति आ सकती है सर?"

शशि मुस्कुरा रहा है। शायद इसलिए कि हम पीठ पीछे सिमरन को क्रांति कहने लगे हैं। क्रांति तो आ गई। साला बनिया कह रहा होगा, "मार्क्स का कथन है कि पूँजीवाद का अगला सोपान समाजवाद है। इसलिए क्रांति तो आएगी ही आएगी।"

जब भी क्रांति हमारी तरफ़ आती है, तो शशि उसी समय ठोकर-सी लगाते हुए कहता है, "वो आ गयी भई तेरी क्रांति।"

क्रांति उसके पास कंठ-संगीत पढ़ती है। शशि की कक्षा छोटी होती है। दरी पर बैठ कर हारमोनियम बजाते रहते हैं या फिर बातें करते रहेंगे। शशि की गैरहाज़री में उसकी कक्षा में एक दिन एक गायक क़िस्म का लड़का क्रांति को प्रपोज कर बैठा। उसके उसको इस तरह चुप करा दिया जैसे ये उसके करने-सुनने वाली बातें ही नहीं हैं। वास्तव में, पता नहीं क्या कहा होगा, मुझे तो पैसिव वॉइस में मोटी-सी बात का पता लगा है।

शशि बिगड़ा हुआ बनिया है। छात्रों से दोस्तों की तरह व्यवहार करता है—"कुड़िये देख लै, तुम्हें ऐसा लड़का चिराग लेकर भी नहीं मिलेगा। तेरे घरवालों की जूतियाँ घिस जायेगी... फिर भी उन्हें पाठी लड़का ही मिलेगा।"

सिमरन या क्रांति गुरुद्वारे के ग्रंथी की लड़की है। दोनों भाई कपड़ा बेचते हैं।

"सर मुझे तो पावेल सर अच्छे लगते हैं...," क्रांति झुक कर जवाब देती है।

"वे तो विवाहित हैं?" हैरान हुआ शशि बात छोड़ना नहीं चाहता था।

"इस बात से क्या फ़र्क़ पड़ता है?" लड़की निर्लज्जता से कह देती है।

मैं शशि की बातें सुन कर पहले तो हैरान होता हूँ कि मुझे भी कोई प्यार करता है! मन में खुशी के लड्डू फूटते हैं। जीत का अहसास होता है। मर्दानगी में संपूर्णता हुई लगती है। कुछ क्षण बाद मन डर के अहसास से घिर जाता है। मन में अमन, सोफ़िया, प्रिंसीपल, नौकरी, पता नहीं क्या-क्या... उथल-पुथल हो जाता है। जूतों का हार पता नहीं कहाँ से आकर लटक जाता है। सोच पहाड़ी सड़क की तरह बन जाती है। कहीं ख़ूबसूरत दृश्य उभरते हैं—धरती की ऊंची-नीची सुंदरता, आसमान छूती ऊचाईयाँ, हरी-भरी प्रकृति, रमणीय हवा कहीं मन को हैरान करती प्रकृति की नग्न सुंदरता.

.. विस्मयपूर्ण आनंद। कहीं गहरी खाइयाँ, साँस सुखा देने वाले दृश्य, भयानक मोड़।

मोड़ पर मेरी सोच की गाड़ी एक फ़ासले पर आकर रुक जाती है। क्रांति से कुछ फ़ासला रख कर चलने का फ़ैसला करता हूँ।

घर पहुँचकर सहज रहने का प्रयत्न करता हूँ। फिर भी अमन की हर दृष्टि, हर सवाल कोई छानबीन करता प्रतीत होता है। आदमी कितना सच्चा होता है।

"पावेल आज बाज़ार चलें शॉपिंग करने.....?" अमन चाय पिलाने के बाद पूछती है।

मुझे पता है इसकी मम्मी पैसे देकर गयी होगी। वह पहले भी दे जाती रही है। मुझे बुरा तो लगता है, पर मैं रोकता नहीं। इसने या उसने रुकना भी नहीं और मैं कहाँ से दूँगा? मेरी तनख़्वाह में तो गुज़ारा मुश्किल से होता है। इसके और सोफ़िया के कपड़ों के पैसे पिपल माजरे से ही आते हैं।

"शराब और चिकन मेरी तरफ़ से", अमन लालच देती है।

मैं उसको कहना चाहता हूँ—तेरी तरफ़ से कैसे हुआ? तेरे मायके की तरफ़ से हुआ। पर मैं कहता नहीं। यह मामला भी लड़ाई का कारण बनता रहा है। इसके मायके में कोई पीता नहीं। इसका बाप नौकर को भेजकर गांव के ठेके से संतरा मार्का मँगवा लेता। मैं मेज़ पर पड़ी बोतल को देख कर अंदर ही अंदर खीझता रहता।

"नाभे की बंद बोतल इसी को कहा जाता है, मेरा ख़्याल है," इसके पापा ने कहा था।

मैं और खीझ जाता। तुम्हारी लड़की को बोलते हैं, कहना चाहता हूँ; पर नहीं कहता। वर्षों से मैं प्रोफ़ेसर लगा हूँ। मैं कभी इतनी सस्ती शराब के नज़दीक से नहीं गुज़रा। अमन से शिकायत की, तो वह कहती कि इन्हें क्या पता कौन-सी अच्छी होती है।

"डॉक्टर साहब, चलें जी?" अमन प्यार से आग्रह करती है।

डॉक्टर साहब ये मुझे कार आने के बाद कहने लगी है। कार आने से बहुत कुछ बदला है। साधारण दूकान से सामान नहीं लेना। साधारण ढाबे पर नहीं रुकना। साधारण कपड़े न पहनना।

"आप होकर आओ। ऑटो ले लो बाज़ार तक," मैं कहता हूँ।

"ऑटो तो बिल्कुल नहीं लेती। ऑटो की सवारी कोई सवारी है।"

नियमस्वरूप चाहे कैसी भी हो, पर इसकी यह बात मुझे अच्छी लगती है। ऐसी बातें उसमें शारीरिक आकर्षण पैदा करती हैं।

"जितनी मैं सुंदर हूँ, कोई और हो, पैर धो-धो पीए।"

बात चाहे इसने ऐसे ही कही है, पर मुझे इसके कई-कई अर्थ दिखायी देते हैं। मतलब मैं सुंदर नहीं उतना। इसको अपनी सुंदरता पर बड़ा गर्व है। मेरे मामूली-से साँवले रंग को ये गुस्से में आकर काला कह देती है या कई बार मेरे हाथ के पास अपना हाथ रखकर कहेगी, "देखो जी, मेरा रंग कितना साफ़ है।"... इन शब्दों का लक्षण-शब्द-शक्ति के अनुसार कोई और अर्थ निकलता है। मतलब तेरे हाथ ज़्यादा काले हैं। मतलब....

"मैं तुम्हें कार चलाना सिखा दूँगा, फिर अपने आप चले जाया करना," मेरी बात सुन कर सोफ़िया उछलने लग जाती है, 'आह जी! मम्मी काल तलाऊगी, फेल असीं लोज मारकीट जाया तरांगे।"

वैसे मैं भी यह ख़तरा मोल नहीं लेने लगा। कार सीखने से औरतों को पंख निकल आते हैं। इस डर से ही मैं बाज़ार जाने का निर्णय ले लेता हूँ। पहले अमन तैयार होती है। फिर सोफ़िया कपड़े बदलती है। चलने से पहले मेरी तैयारी का जायज़ा लिया जाता है।

बाज़ार में मुझे कोई दूकानदार पसंद नहीं आता। इनको मैं और आगे और आगे ले जाता हूँ। बड़े-बड़े काउंटरों के पीछे बैठे दूकानदार मुझे डकैतों का सुधरा हुआ रूप लगते हैं। उनकी "जी आया नूं" (स्वागत) कहने वाली मुस्कराहट मुझे यह कहती प्रतीत होती है, "आओ जी, अपने कपड़े उतरवाओ... हम किस लिए हैं बादशाहो।" मैं अमन को यह बात बता देता हूँ।

"आप अपनी कामेडी अपने पास रखो जी," वह कहती है।

मैं चुप करके एक शोरूम में उसके पीछे-पीछे प्रवेश करता हूँ। वह सूट देख रही है। बीच-बीच में मुझसे पूछती रहती है, "देखो जी, यह प्रिंट ठीक है?"

"ठीक ही होगा... एक जैसे ही होते हैं सारे...।"

"एक जैसे...?" वह हँस पड़ती है, "सारे एक जैसे कैसे हो गये डाक्टर साहब?"

डॉक्टर साहब वह दूकानदार को सुनाने के लिए कहती है।

सूट कटवा कर वह एक और दुकान में ले जाती है। कितना ही सामान निकाल कर रखे जाती है। उसकी ऐसी आदतों को देख कर मुझे किसी की कही एक बात याद आ जाती है–'जैसे-जैसे बाज़ार हमारे घर में प्रवेश करता है, वैसे-वैसे हम घर से बाहर निकलते जाते हैं।'

घर वापिस आते हुए मैं उससे इतने खर्चे का कारण पूछता हूँ।

"ऐसा करने से मैं टेंशन से बची रहती हूँ। आपकी नौकरी का क्या पता, कुछ बने या नहीं। सरकार भी पोस्टें नहीं निकालती।"

अँधेरा हो चुका है। वह मुझे पैसे देकर शराब लाने को कहती हुई घर में बैठ कर पीने को प्रेरित करती है। मैं न उससे पैसे लेता हूँ और न ही घर बैठ कर पीने के लिए मानता हूँ। उसके रोकते रहने पर भी मैं घर से बाहर निकल जाता हूँ।

गुरबीर के घर से गहरा अँधेरा होने पर वापिस आता हूँ।

"रोटी लाओ..."

"अब रोटी भी वहां से खा आते? मुझसे नहीं परोसी जाती। अपने आप खा लो" ये करवट बदल कर लेट जाती है। उसकी लंबी

वेणी मुझे साँप की तरह फुंकारे मारती लगती है। गुस्सा मुझे आँधी की तरह चढ़ता है। मैं इसको वेणी से पकड़ कर बैठा लेता हूँ।

"नाँ तू बहन...मुझे रोटी भी नहीं परोस सकती...चल निकल घर से बाहर। तुझे तो मैं पक्की नौकरी वाले के साथ भेजूँ..."

ये खड़ी हो जाती है। आग बरसाती नज़रों से मुझे देखती है। मुझे और गुस्सा चढ़ जाता है।

"चल निकल घर से बाहर", मैं उसको घसीटता हुआ दरवाज़े की ओर ले जाता हूँ। ये शायद पड़ोसियों को तमाशा दिखाने से डरती है। बोलती नहीं, चुपचाप बाहर निकल कर खड़ी हो जाती है। मैं साँकल लगा लेता हूँ।... इसको बाहर खड़ा देख कर मेरा गुस्सा पेशाब के झाग की तरह बैठने लगता है। मन में दया पैदा होती है। जी करता है, मुझे साँकल लगाने से रोके। मैं अंदर आने को मुड़ता हूँ, तो ये दबी आवाज़ में कहती है, "जुलूस मत निकालो, दरवाज़ा खोलो।"

मैं उन्हीं पैरों मुड़कर उसे अंदर करता हूँ। रसोई में जाकर एक पैग और लगाता हूँ।

"ना, मैं क्यों घर से बाहर निकलूँ? घर में आपका है क्या? कार मेरी, फ़र्नीचर मेरा, सब कुछ मेरा। किराया मैं अपने आप भर दूंगी। आप निकलो बाहर," बात पूरी करके ये सिसक-सिसक कर रोने लगती है।

मैं खड़ा-खड़ा इसे देखता रहता हूँ। फिर चुपचाप बाहर को चल पड़ता हूँ। अभी मैं दरवाज़ा पार कर दस क़दम ही आया हूँ कि ये पीछे दौड़ कर आती है, "क्यों आपको पागलपन हुआ है, चलो अंदर।"

मैं मुड़ आता हूँ। सारी रात ये मेरी छाती पर बाँह रख कर पड़ी रहती है।

अगले दिन क्रांति मुझे उस दिन की तरह लगती है जो किसी उदास रात के बाद आता है। वह रोज़ की तरह वहीं खड़ी है, जहाँ मैं अपने स्कूटर पर कॉलेज में प्रवेश करता हूँ। स्थायी प्रोफ़ेसरों की कारों के पास स्कूटर खड़ा करके मैं लॉक करता हूँ। क्रांति की सत श्री अकाल को मैं चाबी के साथी ही दिल के ऊपर वाली जेब में सँभाल लेता हूँ।

तीसरे पीरियड में चाय पीते हुए प्रो. सिंगला एक अध्यापक द्वारा स्कूल की नाबालिग़ लड़की के साथ मुँह काला करने की ख़बर पता नहीं क्यों ऊँची-ऊँची पढ़कर सबको सुनाने लगता है। अचानक सामने घर के मैदान में खड़ी क्रांति के दिमाग़ में घूमते अहसास मुझे दिखायी देने लगते हैं। उसका दिमाग़ पारदर्शी हो जाता है और मैं डर जाता हूँ। एक-दो इंच का पावेल उसके दिमाग़ में बैठा है। मैं उसको बाहर कैसे निकालूँ।

मेरे आस-पास बैठे प्रोफ़ेसर मुझे अलग प्रकार की नज़रों से देखने लगते हैं। फिर जूतों का हार मेरे सामने लटक जाता है। बड़ी मुश्किल से मैं अपने मुँह से निकलने लगी एक फिल्मी-सी चीख़ रोकता हूँ।

वास्तव में मेरी तरफ़ तो कोई भी नहीं देख रहा। प्रो. सिंगला ख़बर पूरी करने में जुटा हुआ है। पता नहीं कैसी मानसिकता है। मैं तो ऐसी ख़बर वाला अख़बार ही फाड़ दूँ।

कालेज में होते हुए मैं क्रांति के सामने ऐसे ज़ाहिर करता हूँ कि जैसे उसने शशि को कुछ भी नहीं बताया। जैसे सारा कुछ पहले की तरह ही है। पर, सारा कुछ पहले की तरह नहीं चल रहा।

हम दोनों एक-दूसरे को छिप-छिप कर देखते रहते हैं। समय बीतता जा रह है। मैं मोहब्बतविहीन ज़िंदगी जी रहा हूँ। ज़िंदगी के साठ-पैंसठ सालों को दिनों में बांट कर देखता हूँ। चौबीस-पच्चीस हज़ार दिन बनते हैं। फिर इनको रुपयों में बदल कर देखता हूँ। इतने का तो स्कूटर मोटर-साइकल भी नहीं आता। आधे दिन बिता चुका हूँ। बारह-तेरह हज़ार शेष हैं। मुझे टाइम-बम वाली घड़ी की सुई आगे बढ़ती दिखायी देती है।

क्रांति और मैं दरिया के आमने-सामने खड़े किनारों की तरह हैं। बीच में कॉलेज की ज़िंदगी, कच्ची नौकरी, इज़्ज़त, अमन और अन्य पता नहीं क्या-कुछ पसर गया है।

अंतिम पेपर देने के बाद वह मेरे पास आती है, "सर, अब मैं क्या करूँ?"

"यूनीवर्सिटी में रेगुलर एम.ए. कर लो। आवेदन-पत्र मिलने लगे हैं। फ़ीस की कोई समस्या तो नहीं?"

"नहीं, फ़ीस तो घरवाले दे देंगे।"

यूनीवर्सिटी में उसको प्रवेश मिल जाता है।

"पावेल साहब, मैंने आपको मिलने आना है, फ्री हो? मैं आ जाऊँ?" वह फ़ोन पर पूछती है। मैं उसके मुँह से अपना नाम सुन कर चौक जाता हूँ।

"हाँ, फ्री हूँ, पर मैं घर में अकेला हूँ..."

"कोई बात नहीं। मुझे पता है आप अकेले हो। मैंने ज़रूरी बात करनी है। आ जाऊँ?"

"आ जाओ।"

मेरा दिल तेज़ी से धड़कने लगता है। मुझे पता है उसने क्या बात करनी है। उसने पहली बार मुझे मेरा नाम लेकर बुलाया है। मैं उसके मन की दशा को समझने का प्रयत्न कर रहा हूँ। नाम लेकर वह खुद को मेरे बराबर ला रही है।

उसके घर से मेरे घर आने में पंद्रह मिनट लगते हैं। अपनी कल्पना में मैं उसको स्कूटर से घर आते देखता हूँ। मेरे कान दस्तक की प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्कूटी रुकती है। दरवाज़ा खोल कर वह अंदर आ गयी है।

"आ जाओ क्रांति," मुझे अपनी आवाज़ बेगानी-सी लगती है।

वह चुपचाप सोफ़े पर बैठ जाती है।

"मैं आपको कैसे बताऊँ?... मुझे समझ नहीं आ रहा," बोलते-बोलते वह गर्दन झुका लेती है। मैं उसके चेहरे को निहारता हूँ। मुझे खुद नहीं सूझ रहा कि क्या कहूँ। वह एकदम नज़रें उठा

कर मेरी आँखों में आँखें डाल कर कहती है, "मुझे आपसे प्यार हो गया है।"

उसका सिर झुक जाता है। जैसे कोई गुरुद्वारे या मंदिर में खड़ा होता है।

मैं अभी भी स्पष्ट नहीं कि मुझे क्या कहना है। कुछ शब्द मेरी जुबान पर फैले-फैले पड़े हैं। मैं रसोई में जाकर पानी का घूँट भरता हूँ। साथ के साथ शब्दों को तरतीब दे रहा हूँ। वह पानी पकड़ कर एक घूँट भरकर रख देती है। जैसे उसको पानी नहीं जवाब चाहिए।

"तेरे जैसी समझदार लड़की किसी को प्यार करे, उसको और क्या चाहिए क्रांति? पर तुम मुझसे बहुत छोटी हो। मेरी अपनी सीमाएँ हैं... तुम भावुक न होओ। हम अच्छे दोस्त बनने की कोशिश करेंगे..."

"मैंने जो कहना था कह दिया। यह सब कुछ मुझे भी पता हैं। मैंने बहुत रोका, पर यह हो गया। अब आगे सोचना आपका काम है," कहते हुए वह उठ खड़ी होती है और चुपचाप चली जाती है।

मैं कॉलेज से रिलीव हो चुका हूँ। टेबल-मार्किंग करने जाता हूँ। सोच का प्रत्येक कोना क्रांति ने क़ाबिज किया हुआ है। उसको अपनाने के ख्याल से डर लगता है। एक पाप का अहसास होता है... घर में नौकरी के मामले पर होता कष्ट-क्लेश क्रांति के कारण और बढ़ सकता है।

पर शायद मैं क्रांति को छोड़ना भी नहीं चाहता।

गर्मी की छुट्टियाँ समाप्त हो चुकी हैं। मैं साक्षात्कार की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। प्रो. सिंगला का घर नज़दीक है। वह तो रेगुलर हैं, उसे तो जाना ही है। जैसे ही वह स्कूटर को बाहर निकाल कर रेस देने लगता है, अमन को टेंशन होने लगता है। मैंने बहुत बार सिंगला साहब से कहा है कि स्कूटर को इस प्रकार रेस देने की ज़रूरत नहीं होती। यह रेस के बिना भी चल पड़ता है। पर वह कहाँ मानता है। कहता है, इस प्रकार स्कूटर गर्म हो जाता है। मैं उसको कैसे समझाऊँ कि भाई! गर्मी तो हमारे घर में पैदा होने लगती है।

क्रांति का फ़ोन अक्सर आता रहता है। अमन के सामने बात खुल कर नहीं होती। मैं बच-बच कर बात करता हूँ। शब्दों के लिंगका ध्यान रखता हूँ। पर अमन पता नहीं कहाँ से सूँघ लेती है। बाद में सवाल-जवाब करती रहती है। मैं मोबाइल लेने की सोचता हूँ।

कॉलेज जाने लगा हूँ। मेरे कालेज के रास्ते में क्रांति का घर आता है, उसके यूनीवर्सिटी के रास्ते में मेरा घर आता है। मैं जब उसके घर के पास से गुज़रता हूँ, तो नतमस्तक होते हुए सोचता हूँ कि उस घर में एक शख़्स रहता है, जिसका दिल मेरे दिल के साथ धड़कता है। वह मेरे घर के पास से गुज़रती होगी, तो ज़रूर सोचती होगी कि उस घर में एक आदमी रहता है, जो उसके बारे में बिल्कुल नहीं सोचता।

पगली! सोचता क्यों नहीं... सोच-सोच कर मेरा बुरा हाल हुआ रहता है।

क्रांति अपनी भतीजी को साथ लेकर कुछ समझने आती है। उसके जाने के बाद अमन अपना गुस्सा निकालती है, "क्या आपने इस माँग खानी ज़ात को पीछे लगाया हुआ है! क्या समझने आती है यह?" अमन एक ही साँस में दो सवाल करती है।

"क्यों माँग खानी ज़ात कैसे हुई? काम करके रोटी खाते हैं," मुझे सचमुच गुस्सा आ जाता है। क्रांति के बारे में इस प्रकार के शब्द मैं सुन नहीं सकता।

"मुझे तो भाई हमारे गाँव वाले ग्रंथी का परिवार याद आ जाता है। जब उसके बच्चे डाली माँगने आते हैं, तो उनके भी ऐसे ही कपड़े होते हैं, जैसे इसके साथ आयी भतीजी ने पहने हुए थे... गुरु ग्रंथ साहब' पर डालने वाले रूमाल के बने हुए।"

"अच्छे कपड़े पहन कर कोई अच्छा नहीं बन जाता," मैं इतना कह कर बात ठप्प कर देता हूँ। क्रांति के पक्ष में ज़्यादा बोलने से आंतरिक दशा का भेद बाहर निकल सकता है। मैं क्रांति से उसके रूखे व्यवहार के कारण पैदा हुए गुस्से को भी बाहर नहीं निकाल सकता।

सोफ़िया हँस रही है। उसने क्रांति के साथ आयी लड़की के साथ खेलने से मना कर दिया था।

"तुम अब घर क्यों नहीं आतीं?" कई दिनों बाद मिली क्रांति से मैं पूछता हूँ।

"मैडम गुस्सा करते हैं, मुझे पता है।"

"जब वह घर नहीं होती, तब तो आ सकती हो?"

"हमें बातें ही करनी होती हैं, आप कॉलेज से फ्री हो कर यहाँ यूनीवर्सिटी आ जाया करो। मैं पाँच बजे तक पुस्तकालय में पढ़ती हूँ।

"बातों के अलावा कुछ और भी तो हो सकता है...," मैं कह देता हूँ।

वह एकदम मेरी आँखों में देखती है। फिर गर्दन झुकाते हुए कहती है, "आप इस तरह भी सोचते हो?"

मैं अपने आप पर ही हैरान हो रहा हूँ कि मैं अपनी ख़ूबसूरत घरवाली के होते हुए भी उसकी तरफ़ और आगे क्यों बढ़ता जा रहा हूँ। यह क्या होता है, जो सुंदरता से भी ज़्यादा आकर्षित करता है।

हम चाय पीने के लिए कैंटीन के बाहर बैंच पर एक वृक्ष की छाया में बैठ जाते हैं। पास से जा रहे छात्र-संगठन वाले लड़के मुझे देख कर रुक जाते हैं। मैं क्रांति को उनसे मिलवाता हूँ। वह पहले से ही उनको जानती है।

"इन्होंने प्रवेश के समय मेरी बहुत मदद की थी।"

छात्रों को संगठन से जोड़ने के लिए प्रवेश के समय उनकी मदद करने का ढंग हमने ही लागू किया था। उनके चले जाने के बाद में क्रांति को कुछ साल पहले उन दिनों की बातें बताता हूँ

जब मैं इस संगठन में काम करता था और हम लाल पोस्टरों से दीवारें भर देते थे।

"मैं भी इनकी सदस्य हूँ," वह बड़े गर्व से बताती है।

"तेरा संगठन में काम करना अच्छी बात है। ये लड़के अच्छे होते हैं, पर सँभल कर चलना, एक-आध बुरा भी होता है।"

"उस प्रकार के बुरे आदमी को मैं पहले ही दिल दे चुकी हूँ.. एक ही तो दिल था," वह शरारती नज़रों से देखती है।

अमन मायके गयी हुई है। मैं क्रांति को फ़ोन करता हूँ। वह आने के लिए मान जाती है।

"कौन-सा सूट पहनकर आओगी?" कई बार मैं ऐसी हल्की बातों पर उतर आता हूँ।

"जो कहो," वह भी मज़े लेती है। सूट उसके पास ज़्यादा महँगे तो नहीं होते, पर हैं विशेष। वह अपने भाइयों के थान से बढ़िया रंग चुन लेती है। उसको सस्ते सूती सूट बहुत सजते हैं।

पता नहीं कब वह मेरे सामने कुर्सी पर आ कर बैठ गयी है। उसके होने से घर की फिजा में एक ऐसी खुशबू घुल गयी है जिससे मैं ज़्यादा परिचित नहीं। मेरी नज़रें उसके शरीर पर घूमती हैं। मैं जैसे पहाड़ों पर घूम रहा हूँ। एक पहाड़ी पर चढ़ता, एक पहाड़ी उतरता। मेरे देखते-ही-देखते वह हवा के झोंके की तरह जैसे आयी थी, वैसे ही बाहर निकल जाती है।

मैं सोच रहा हूँ, वह आयी भी थी? एक बार किसी संग्रहालय में संगमरमर की मूर्ति देख कर मेरी आँखें भर आयी थीं। काश! यही मुझे प्यार करे।

टेलीफ़ोन बजा है।

"सॉरी! मैं एकदम आ गयी। आपको बुरा लगा होगा, पर मैं डर गयी थी। आपको कुछ होने लगा था!"

"तुम आयी भी थीं?"

"हाँ जी! आयी थी। सच कहूँ तो मुझे भी कुछ होने लगा था। मैं अपने आप से डर गयी थी। क्या हम दोस्तों की तरह नहीं मिल सकते?"

"दोस्ती की सीमाएँ निश्चिंत नहीं होती। तू मेरे को बहुत अच्छी लगती है।"

"वो मेरे को पता है... क्या इस तरह नहीं हो सकता कि आप मैडम को छोड़ दो और..."

"नहीं क्रांति, यह नहीं हो सकता। हम शायद पति-पत्नी की तरह अच्छी तरह निभा नहीं पाएँगे। मैं तुम्हें एक दोस्त के रूप में ही देखता हूँ। विवाह मुहब्बत को नष्ट कर देता है। देख लो, मेरा और अमन का क्या हाल हुआ रहता है।"

"फिर आप मुझे प्रो. शशिभूषण की तरह ही एक दोस्त मान लो।"

"वह मर्द है...।"

"क्या हममें एक सहज दोस्ती नहीं हो सकती?"

मैं खीझ कर फ़ोन काट देता हूँ। इससे मिलती-जुलती बातें हमारे बीच पहले भी हो चुकी हैं। बात बनती ही नहीं। पर क्रांति से पीठ मोड़ कर भी मुझे कुछ दिखायी नहीं देता। अमन के पास में ज़रूरत से जाता हूँ। उसके शरीर के हर मोड़, हर ऊँचाई, हर नीचाई, यहाँ तक कि हर तिल से परिचित हूँ। मुझे पता होता है कि अब क्या होगा!

मन बहुत उदास है। मैं अमन से नाराज़ रहता हूँ। परसों से क्रांति मुझसे नाराज़ है। फ़ोन नहीं उठाती। मैंने उसके पापा के बारे में कुछ कह दिया था। यदि उठाती है, तो बात नहीं करती। बात करती है, तो नाराज़गी झलकती है। मैं बहुत समझाता हूँ उसको कि मैंने खीझ कर बोला था।

उसका फ़ोन आया था। हमारे पड़ोसियों के यहाँ अखंड पाठ के भोग के बाद कीर्तन हो रहा था। बोली टेलीफ़ोन में शोर कैसा सुनाई दे रहा है? मैंने कहा—तेरे पापा जैसे लगे हुए हैं, ढोलकियाँ पीटने। पहले तो वह थोड़ा-सा हँसी और फिर गंभीर होकर कहने लगी कि इस तरह नहीं बोलते। पर बाद में, उसको मेरे इस तरह बोलने पर काफ़ी तक़लीफ़ हुई, जैसे कई जख़्मों की गहराइयों का बाद में पता चलता है।

वह सामने चली आ रही है। उसके साथ छात्र-संगठन वाले लड़के-लड़कियाँ हैं। मैं कॉलेज से फ़्री हो कर कैंपस में आया हूँ, पागलों की तरह फिरता। उसको हर जगह ढूँढा, और किसी से आँख नहीं मिलायी।

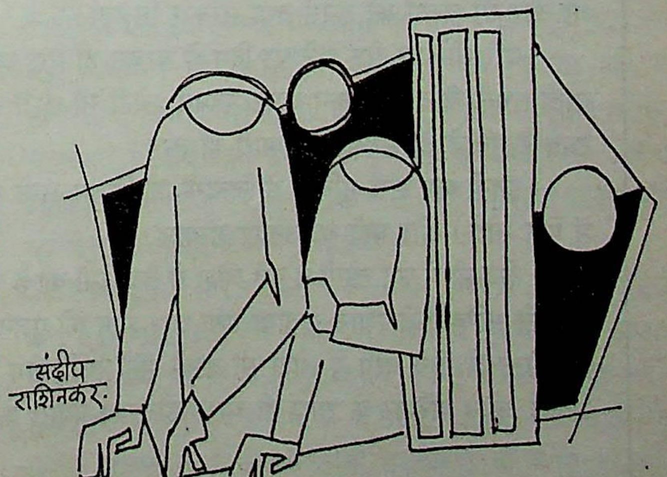
सभी मेरे सामने बैंचों पर बैठ जाते हैं। क्रांति मुझे बताती है कि वे भगत सिंह का शहीदी दिवस मना रहे हैं। 23 मार्च को कैंपस में नाटक करेंगे।

"सर, हम आस-पास के सभी कॉलेजों में अपने संगठन के यूनिट स्थापित करना चाहते हैं। हम कल कॉलेज आएँगे। हमें मीटिंग करने के लिए कुछ छात्रों से मिलवा दें।"

"तेरे जूनियरों में तेरी सहेलियाँ तो हैं....?"

"वह तो ठीक है, पर हमें ज़्यादा छात्रों की ज़रूरत है। हम 11 बजे कैंटीन पर पहुँच जाएँगे।"

हमारा प्राचार्य बड़ा कठोर है। पिछले दस सालों से उसने कॉलेज में किसी संगठन की यूनिट नहीं बनने दी। मेरे बारे में



थोड़ी-सी भनक लग गयी तो अगले सेशन से अपना बिस्तर गोल समझो। पर, क्रांति के सामने भी डरपोक नहीं बना जा सकता। मैं हाँ कर देता हूँ।

"11 बज गये हैं। अपने विश्वास योग्य चार-पाँच लड़के कैंटीन भेज देता हूँ। यह याद करा कर कि मेरा नाम नहीं लेना किसी से।

पाँचवें पीरियड में चाय पीने जाते हैं।

"अंदर लड़के-लड़कियाँ कैसे इकट्ठे हुए बैठे हैं?" फ़िज़ीकल वाला प्रो. कुलविन्दर पूछता है। वह अध्यापक-संगठन का ज़िला-प्रधान बनने को फिरता है।

"कोई मीटिंग-मुटिंग कर रहे हैं जनाब," वेटर जवाब देता है।

"संगठन बना रहे हैं...." प्रो. उर्मिला अपने उजले से दाँतों से भेद बाहर निकालती है। जब इनको कोई महिला अध्यापक नहीं मिलती साथ बैठने को.... उर्मिला ही सही।

"संगठन-संगुठन नहीं बनने देना। ये तो संगठन के बिना ही मुश्किल से काबू में आते है। संगठन बन गया तो फिर तीसरे दिन ही हमारी जिंदाबाद.... मुर्दाबाद किया करेंगे," प्रो. कुलविन्दर ने कहा।

"बिल्कुल-बिल्कुल," ट्यूशन पढ़ा-पढ़ा मोटा बना फिरता शर्मा ऐसे बोला, जैसे कहता हो—कुरबल-कुरबल।

उसी समय मीटिंग वाले छात्र बाहर निकलने शुरू हो जाते हैं। सबसे आगे क्रांति है।

"इस सरदारनी की भी...," उर्मिला कहती है।

अब मुझे समझ आता है कि क्रांति क्यों मुझ पर मरती है। एक दिन तो फ़ोन पर रो ही पड़ी थी। कहती, "प्रोफ़ेसर मुझे कोई भी और अच्छा नहीं लगता। आपके पढ़ाने का अंदाज़, मेहनती स्वभाव और मुहब्बती लहज़ा...। अपना क्या बनेगा...।'

अब यदि मैं क्रांति या संगठन या ज़िंदाबाद-मुर्दाबाद के पक्ष में चलता हूँ, तो इनमें किसी को भी मेरी बात हजम नहीं होगी। प्राचार्य के कान भरेंगे। मैं स्टाफ़ में आउटसाइडर बन के रह जाऊँगा।

आउटसाइडर तो मैं घर में भी हूँ। घर में सब कुछ है। फ़्रिज, टी.वी., सोफ़े, गैस, चाकू, गद्दों वाले पलंग और चैरी रंग की मारुति। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि यहाँ कुछ भी मेरा नहीं हैं। हर चीज़ अमन की है। इस बेगानेपन के अहसास से बचने के लिए मैं क्रांति की ओर दौड़ता हूँ। अमन किसी के साथ शापिंग करने गयी है। मुझे छुट्टी है। क्रांति को तीन बार फ़ोन कर चुका हूँ। वह चुपचाप सुनती है। सिसकती है। बोलती नहीं। उसकी साँसों की आवाज़ से फ़ोन चलने का पता लगता है। उसके सिसकने में उसकी मुहब्बत की गहराई पाता हूँ।

पावेल साहब मेरी प्रतीक्षा मत करो... मैं यूनीवर्सिटी को चली हूँ। हमने 23 मार्च वाले कार्यक्रम की तैयारी करनी है...

फ़ोन बंद हो जाता है।

व्याख्याता, स्नातकोत्तर विभाग, यूनीवर्सिटी ऑफ़ जम्मू एण्ड काश्मीर

लघुकथा

संस्कार

नीता सिंह

नये फ्लैट में कदम रखते ही बगल में झोपड़ पट्टियों पर नजर पड़ी और मन वितृष्णा से भर गया। साथ ही अपनी सहेली की बात दिमाग में कौंध गयी, "मैंने तो एक मकान में महज इसलिए नहीं शिफ्ट किया क्योंकि उसके बगल में झोपड़ पट्टी थी और मेरे बच्चों को उनसे क्या संस्कार मिलता।"

धीरे-धीरे घर सेट होने पर दिन में बरबस ही मेरा ध्यान उधर खिंच जाता उनकी दिनचर्या देखने लगती तो अपनी भूल जाती। भले ही कम से कम कपड़े पहनते, छोटी सी छोटी झोपड़ी में रहते लेकिन वे भी हमारे जैसे है। वे भी हँसते है, रोते है, खाते है, लड़ते है, झगड़ते है हमारी ही तरह।

इतनी कम सुख-सुविधा में जिन्दगी को कितने अच्छे ढंग से जी रहे है। न कोई आगे की चिन्ता न पीछे का गम। सुख-दुख में एक साथ। और यही था उनका संस्कार।

दीवाली में उन लोगों ने बड़े जोश से तैयारियाँ की है चूँकि लॉइट का एक मात्र साधन स्ट्रीट लैम्प ही था इसलिए विभिन्न रंगों की झण्डियों से स्थान सजाया गया था। शाम को पूजन के बाद चारों तरफ पटाखों का शोर और जगमग शहर, इनके बीच लैम्पपोस्ट के नीचे बसी ये छोटी सी बस्ती जहाँ सभी लोग मिलजुलकर त्योहार मना रहे थे। और यहाँ इस बड़े से शहर में हम अकेले अपने परिवार के साथ ही व्यस्त होने का प्रयास कर रहे थे।

2/340 विशाल खंड, गोमतीनगर, लखनऊ (उ.प्र.), 226010

सांस्कृतिक केंद्र है मधुबनी

संजय कुमार /चक्रधर ठाकुर

मधुबनी पेंटिंग यानी मिथिला चित्रकला से शायद ही कोई अपरिचित हो! मधुबनी पेंटिंग केवल देश में ही नहीं, विदेशों में भी अपने नाम का डंका बजवा चुकी है। महान लोक कवि विद्यापति की यह धरती सांस्कृतिक क्षितिज के शिखर पर तो है ही साथ ही, ग्रामीण व क़स्बाई मिट्टी की खुशबू से यहाँ का रोम-रोम प्रभावित दीखता है। सबसे अहम बात यह है कि मधुबनी को विश्व के सांस्कृतिक पटल पर लाने में यहाँ की आधी आबादी की अहम भूमिका रही है। यहाँ के जितवारपुर, मँगरौनी, भच्छी, रॉटी आदि गाँवों की औरतें ही मधुबनी पेंटिंग बनाती हैं। यही वजह है कि मधुबनी पेंटिंग में ग्रामीण पुट के साथ-साथ लोक-संस्कृति भी साफ़ झलकती है। विश्व के मानचित्र पर मधुबनी को लाने में महिलाओं के योगदान को नज़रअंदाज़ क़तई नहीं किया जा सकता।

मिथिलांचल की हृदय-स्थली मधुबनी की मिट्टी सांस्कृतिक गतिविधियों से उपजी है। यहाँ के लोगों की मधुरवाणी से किसी का भी हृदय द्रवित हो जाता है। अजंता और एलोरा के चित्रों की तरह ही मधुबनी के हर घर, आँगन या कहें कि हर जगह उकेरे गये चित्र पर्यटकों को मंत्र-मुग्ध कर देने के लिए काफ़ी हैं। पूजाघर से लेकर कुम्हार के चाक तक उपस्थित मधुबनी चित्रकला की माँग यूरोप और अमेरिका में दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। मधुबनी के बारे में पौराणिक कथाओं में कहा गया है कि भगवान शिव भी उगना यानी नौकर, तो कभी लड़के के रूप में मधुबनी के गाँव में आते रहे।

महान लोक कवि विद्यापति की यह ज़मीन अपनी नैसर्गिक वास्तुकला और भव्य सांस्कृतिक परंपरा के लिए विश्वप्रसिद्ध है। यहाँ की धरती भारत के सांस्कृतिक इतिहास को आलोकित तो करती ही रही है साथ ही, यहाँ के निवासियों का सरल सात्त्विक आचरण एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

मधुबनी के दर्शन और कर्म की वैचारिक रश्मि से विश्व की मानस-चेतना अद्यावधि आकर्षित होती रही है। प्राकृतिक हृदयहारिणी सुषमा से मंडित मधुबनी के कण-कण में शील, सभ्यता, विनम्रता, पवित्रता, न्याय-मीमांसा, सामाजिक आचार-व्यवहार, काव्य और संगीत परिव्याप्त हैं। प्रकृति अपने समस्त मधुमय वैभव से यहाँ के पावन स्थल में आनंद की वर्षा करती रही है। यहाँ की संस्कृति को जीवन-सौंदर्य कहा जा सकता है। यहाँ की मिट्टी सुजला, सुफला, उर्वरा से अनुप्रेरित रही है। परमार्थ, मैत्री, सहिष्णुता, धैर्य, ज्ञान, ध्यान यहाँ की सांस्कृतिक धड़कन हैं। यहाँ की विशिष्ट सांस्कृतिक परंपरा भारतीय संस्कृति के निर्माण, विस्तार और उन्नयन में प्रचुर योगदान करती रही है। यहाँ की संस्कृति एक विशाल वट-वृक्ष सदृश्य है, जिसके वृंतों पर मानव-जीवन की लतिकाएँ फलती फूलती हैं। यहाँ के लोगों की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक स्थितियों के अतिरिक्त उनकी सांस्कृतिक और पारंपरिक अवधारणाएँ काफ़ी उत्कृष्ट और प्रेरणादायी रही हैं। जीवन के गंभीर भाव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म उद्घाटन यहाँ के लोगों का स्वभाव रहा है। यहाँ की संस्कृति एक ऐसा विमल दर्पण है, जिसमें भारतीय संस्कृति की आत्मा प्रतिबिंबित होती रही है।

मधुबनी मुख्यतः कृषि-प्रधान क्षेत्र है। यहाँ के अधिकांश निवासी कृषि पर निर्भर हैं। इसके अलावा अतिरिक्त समय में वे छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों से जीविकोपार्जन करते हैं। सादा जीवन और अध्यात्म-चिंतन यहाँ के निवासियों का मूल मंत्र रहा है। धनी-मानी लोग भी साधारण परिधान में दृष्टिगत होते हैं। चूँकि मधुबनी मैदानी इलाका है, इस कारण यहाँ की भूमि बड़ी उर्वरा है। यहाँ की ज़मीन साल भर विभिन्न तरह की फ़सलें पैदा करती है। यहाँ के लोग भोजन के विशेष शौकीन होते है। 'शत-विहाय भोक्तव्यम्' सिद्धांत का पालन बड़ी तत्परता से करते हैं। निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी घर आये अतिथि का सत्कार काफ़ी तत्परता से करता है।

यहाँ के लोग मिष्ठान-प्रेमी होते हैं तथा विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ अतिथि-सत्कार में प्रयोग करते हैं। दही-चूड़ा यहाँ का बहुत प्रचलित और लोकप्रिय भोजन है, जो रुचिकर होने के साथ-साथ स्वास्थ्यवर्द्धक भी है। यहाँ बाग़ीचे में आम के पेड़ बहुतायत में पाये जाते हैं। फल सुभोजन के अतिरिक्त यहाँ के लोगों के जीविकोपार्जन् के साधन भी हैं। भोजनोपरांत पान-सुपारी का वितरण अनिवार्य माना जाता है।

साल भर कोई न कोई पर्व-त्योहार होता ही रहता है। ऐसी कोई तिथि नहीं, जहाँ कोई त्योहार न पड़ता हो। यहाँ के पर्व-त्योहारों में नागपंचमी, अनंत चतुर्दशी अक्षय नवमी, देवोत्थान एकादशी, शिवरात्रि, झूलन, कृष्णा-अष्टमी, चौठचंद्र, दशहरा, दीया-बाती, जूर शीतल, जानकी नवमी, विवाह पंचमी, मधुश्रावणी, कोजागरा, वरसाइत,

भ्रातृद्वितीया, सामा चकेवा, जितिया, छठ आदि प्रमुख हैं। चौंठचंद्र यहाँ के प्रमुख त्योहारों में से एक है। यह त्योहार भाद्रपद शुक्ल पक्ष की चौथ तिथि को मनाया जाता है। इस तिथि को रात में सविधि चंद्रमा की पूजा की जाती है। कोजागरा यहाँ के लोगों का काफ़ी महत्त्वपूर्ण त्योहार है। इसका संबंध दांपत्य-जीवन से है। यह शरद पूर्णिमा की ज्योत्सना-स्नात रजनी में उल्लास से मनाया जाता है।

सामा चकेवा, जट-जाटिन, झिझिया, दसौत, लोरिक सल्हेस यहाँ के प्रमुख लोक-पर्व हैं। 'सामा चकेवा' महिला लोक-नाट्य है, जिसका अभिनय कार्तिक शुक्ल द्वितीया से आरंभ होकर पूर्णिमा तक होता है। 'सामा चकेवा' मिथिला का प्रसिद्ध लोकप्रिय महिला-नाट्य है, जिसका अभिनय कार्तिक शुक्ल द्वितीया से आरंभ होकर पूर्णिमा तक होता है। 'सामा चकेवा' को भोजन के लिए झपना वाला पौती में नया चूड़ा और गुड़ रखा जाता है। मिथिला में शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात में सामा का गीत गाया जाता है, जिसमें स्त्रियाँ गीत के माध्यम से अपने सभी भाइयों के नाम लेती हैं। इस अवसर पर कई तरह के गीत गाये जाते हैं :

डाला ल बहार भैली
बहिनों से फल्लाँ बहिनों
फल्लाँ, भइयाँ लेल डाला छीन
सुनु गे राम सजनी।
मचिया बैसल तोहे बाबा हो वरहिता
तोरो पूता लेल डाला छीन सुन गे राम सजनी।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन सामा को नया चूड़ा, दही, गुड़, भोजन करा कर, पानी पिला कर, पान-सुपारी देकर चंगेरा में दीप जला कर उसे सिर पर रख कर खेत में सभी स्त्रियाँ एकजुट हो कर एक-दूसरे के चंगेरी, जिसमें सामा रहता है, आपस में बदलती हैं और तब गीत गाते हुए सामा का विर्सजन किया जाता है, जिसे स्थानीय भाषा में 'सामा भसान' कहते है। वास्तव में, मिथिला का यह लोक पर्व भाई-बहन की सुख-समृद्धि की कामना के लिए नैसर्गिक प्रेम का प्रतीक है।

यहाँ के लोक-नाट्य में जट-जाटिन का विशेष स्थान है, जो आश्विन, कार्तिक, जेठ, वैशाख की चाँदनी में महिलाओं द्वारा मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। स्त्रियाँ देवराज इंद्र से वर्षा करने के लिए प्रार्थना करती हैं। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, वे काफ़ी लोकप्रिय हैं। मिथिला की स्त्रियाँ वर्षा की कामना से वैसाख-जेठ की चाँदनी रात में मनोरंजक अभिनय प्रस्तुत करती हैं, जिसे जट-जाटिन करते हैं। ये अभिनय अपने आप में संपूर्ण नाटक है। इसमें एक ओर दांपत्य प्रेम का उभरता हुआ संबंध पक्ष है, तो दूसरी ओर वर्षा की कामना के उद्देश्य को लिये स्त्रियाँ देवराज इंद्र से ग्रीष्म और ताप से जलती हुए धरती को जल-वर्षा से तृप्त करने की प्रार्थना करती हैं। इसमें स्त्रियों द्वारा हल जोतने की परिपाटी है। तत्पश्चात् मेंढ़क को ओखली में देकर कुटा जाता है। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं :

जाटिन- हँसुली जब-जब अनलियों रे जटवा, हँसुली काहें न लेले रे
अरे, बाली उमरिया रे जटवा हँसुली काहे न ले ले रे।
जट -हँसुली जब-जब अनलियो गे जटिन हँसुली।
अरे, बाली उमरिया गे जटिन हँसुली काहे न पेंहले गे।

झिझिया आश्विन महीने में खेले जाने वाला लोक-नाट्य है, जो काफ़ी लोकप्रिय है। पुरुष लोग भी समय-समय पर व्रत करते हैं। इस नाट्य में एक तौला में एक सौ आठ छिद्र कर उसमें दीप जलाया जाता है। बाद में उसे सर पर लेकर नृत्य किया जाता है। यह मिथिला के लोक-नाट्य की महत्त्वपूर्ण अंग है। ये पर्व-त्योहार लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के आनंदों का अमर वरदान लेकर आते हैं। वस्तुतः पर्व-त्योहारों के मधुमय क्षणों में ही यहाँ के लोगों के आंतरिक और प्राकृतिक जीवन के दर्शन होते हैं। इन पर्व-त्योहारों के मधुमय-मंगलमय संदेश आज लोक-संस्कृति के परिचायक हैं। आधुनिक आडंबरी सभ्यता से दूर, भारतीय परंपराओं से आबद्ध, यहाँ का लोक-जीवन नितांत अकृत्रिम, सरल एवं मोहक है।

वहीं पर 'दसौत' मिथिला में बहुत विधि विधान से किया जाता है। इसमें नव-दंपत्ति को पहले सुबह पालो (हल में प्रयुक्त होने वाला) पर बैठा कर नहलाया जाता है। इसके बाद टोले-पड़ोस के लोग हास-परिहास करते हैं। इस अवसर पर गाँव की स्त्रियाँ गीत गाती है :

एतय कतय सै एले गे मौसी
ख्वासीन बनि कय एले गे मौसी
कनिया काकी बनवे गे मौसी

जबकि लोक-परंपरा के तहत 'सल्हेस' का गह्वर मिथिला के गाँव में देखने को मिलता है, जिसमें सल्हेस की पूजा होती है। सल्हेस बाबा की पीढ़ी पर तत्मेय का प्रसाद-भोग लगाया जाता है। इसके बाद ग्रामीण अपने दुख और समस्या के निवारण के लिए गोहारि करवाते हैं और गाते हैं :

गे बड़-बड़ भक्ति हम ईश्वर से के लिए
शिलानाथ शिलबती पूजा के लिए
रवि, शनि हम पावनि टेकालिए
पुरेन पात पर धार ढारालिए
विसौल जाए विश्वामित्र पुजलिए
फुलहर गोलिए, गिरजा माई पुजलिए।

गीतों के माध्यम से यहाँ के लोगों की लोक-मनोरंजक भावना और सौंदर्य-चेतना का बोध होता है।

संस्कृति को जीवन-सौंदर्य कहा गया है। जिस तरह मनुष्य का कार्य-व्यवहार समग्र रूप में उसका व्यक्तित्त्व माना जाता है, उसी तरह किसी समाज के विभिन्न प्रकार के आचार-विचार, रहन-सहन, बौद्धिक विकास, चिंतन-मनन का समेकित स्वरूप उसकी संस्कृति है। कोई समाज अपनी संस्कृति से जाना जाता है। मधुबनी की मिट्टी सुजला, सुफला, बौद्धिक स्तर पर उर्वरा और

चेतनात्मक संस्कार से अनुप्रेरित रही है। सात्विक गुण से परिपूर्ण यहाँ की संस्कृति ज्ञान-ध्यान, साहित्य-साधना, मानवता के मूल तत्त्व-करुणा परमार्थ, मैत्री, सहिष्णुता, धैर्य एवं जीवन की कटु/मधु अनुभूति से अनुप्राणित है।

मधुबनी की संस्कृति खुली पुस्तक की तरह है, जिससे सुगमता से पढ़ा जा सकता है। यहाँ के निवासी अपने आचरण, व्यवहार एवं वार्तालाप के द्वारा सुंदर और सुखमय जीवन का परिचय देते हैं। यहाँ पर धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर (यथा उपनयन, विवाह, मुडंन आदि में) घर को सजाया जाता है। मधुबनी की लोक-संस्कृति में यहाँ की लोक-कला ऐसा दैदीप्यमान नक्षत्र है, जिसके प्रकाश में यहाँ मिट्‌टी-पानी, राग-रंग, गीत-संगीत-नृत्य आदि प्रकृति की गोद में स्वयं फलित-पुष्पित होते रहे हैं। यहाँ के लोक-नाट्य विशाल जनसमुदाय की भावाभिव्यक्ति की कलात्मक प्रस्तुति हैं। इन प्रस्तुतियों में अनेक देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों, पत्र-पुष्पों-वृक्षों के चित्र भी बनाये जाते हैं, जो यहाँ की लोक-कला की अनुपम झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इन लोक-चित्रों से यहाँ के लोगों की धार्मिक भावना का परिचय मिलता है। अष्टदल कमल, मछली, सुगा आदि के चित्र यहाँ की तंत्र-संबंधी विचारधारा से अवगत कराते हैं। इसके अतिरिक्त, लोक-गीतों में यहाँ नचारी का बहुत प्रचलन है। ये शिव-विषयक गीत हैं, जो शिव के दैनंदिन जीवन पर आधारित हैं।

मधुबनी ज़िले पर प्रकृति की विशेष अनुकंपा रही है। यह प्रदेश न तो पर्वतीय है, न मरुभूमि, अपितु मैदानी इलाक़ा है। यहाँ कमलाबलान, जीवछा, बछराजा आदि नदियों का जल संपूर्ण ज़िले को उपजाऊ बनाये रखता है। सतत् जल-प्लावित होने के कारण यहाँ की भूमि बहुत ही उर्वर है। पावस ऋतु में नदियों का अविरल प्रवाह पूरे उफान पर होता है, तब चारों ओर फैली अपार जल-राशि की शोभा देखते ही बनती है। ख़ासकर तब, जब चाँदनी रात में यह अपार जल-राशि ऐसी लगती है, जैसे प्रकृति ने सर्वत्र मोती के भंडार बिखेर दिये हों। नदियों और जलाशयों के कारण यह क्षेत्र हमेशा हरा-भरा रहता है। यहाँ पर सौराठ उचैस्थान, कपिलेश्वर स्थान, कलना स्थान आदि पर्यटन क्षेत्र हैं, जहाँ भारत के अन्य प्रांतों के लोग भी धार्मिक भावना से दर्शन करने आते हैं। यहाँ पर बोली जाने वाली मैथिली भाषा अपनी कोमलता और मिठास के लिए प्रसिद्ध है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि मधुबनी की अपनी सांस्कृतिक निजता है, जो भारत के अन्य प्रांतों के लोगों को भी आकृष्ट करती है। यहाँ की संस्कृति के उन्नयन में धर्म का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। भारत की अनेक महान विभूतियों की जन्मभूमि होने के कारण विश्व-इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म, दर्शन, कला आदि क्षेत्रों में यहाँ की बहुमुखी एवं सारस्वत प्रतिभा का स्पष्ट परिचय मिलता है। यहाँ का जन-जीवन सौम्य, शांत और संतुष्ट जीवन का प्रतीक है। विद्यापति सदृश महाकवि की जन्म-स्थली; शृंगार और दर्शन का क्षेत्र; ज्ञान और अनुराग का क्षेत्र... निवासियों के हृदय में स्नेह-सुधा का सागर उभरता है और ललाट पर ज्ञान का दिव्य प्रकाश। यहाँ का सामान्य जीवन बड़ा ही सुखमय और विनोदपूर्ण है। यहाँ की संस्कृति में लौकिकता और आध्यात्मिकता का मणि-कांचन संयोग दिखलायी पड़ता है।

सांस्कृतिक रूप से धनी मधुबनी में पिछले कुछेक वर्षों से सांस्कृतिक गतिविधियों में ठहराव दीख पड़ रहा है। साहित्यिक हलचल नहीं के बराबर है। दशकों से मधुबनी में साहित्यिक हलचल पैदा करने वाली दो महत्त्वपूर्ण संस्थाओं 'साहित्य कुंज' और 'स्वचालित कवि-गोष्ठी' की गतिविधियाँ लगभग उप्प सी हैं। प्रख्यात भाषा-शास्त्री हिन्दी के विद्वान डॉ. धर्मप्रिय लाल के संरक्षण में 'साहित्य कुंज' ने मधुबनी में सांस्कृतिक ज़मीन तैयार की है। विनोद ठाकुर विश्वास, जगन्नाथ झा, रजनीबाला अग्रवाल, रघुनंदन यादव, अनिल कुमार मिश्र, सतीश साजन, हरेंद्र भट्ट आदि कवियों को तराशने में 'साहित्य कुंज' की भूमिका अहम रही है। 'साहित्य कुंज' के संचालन में दर्ज़नों काव्य-गोष्ठियाँ आयोजित हो चुकी हैं, लेकिन धर्मप्रिय लाल के निधन के बाद संस्था की गतिविधियों पर विराम सा लग गया है। वहीं स्वचालित संस्था की कवि-गोष्ठी का सिलसिला जारी है। जे.पी. सिंह, उदय जायसवाल, विनय विश्वबंधु, मुकेश वाचाल आदि कवि इस संस्था को जीवंत बनाने की दिशा में सक्रिय हैं।

दूसरी ओर, रंगकर्म की दृष्टि से मधुबनी शहर वर्षों से एक विशिष्ट केंद्र के रूप में रहा है। मधुबनी से सटे हाँटी गाँव में मिथिला की प्रसिद्ध किर्त्तनियाँ नाच की परंपरा का उद्‌भव हुआ था। शहर में लोकहित रंगपीठ, जमघट, इप्टा, विण्टा आदि संस्थाएँ नाट्य-प्रस्तुति करती रही हैं। लेकिन, इन दिनों नाट्य-प्रस्तुतियों में कमी देखी जा रही है।

विख्यात मधुबनी चित्रकला का उद्‌भव कब हुआ, इसकी ठीक-ठीक जानकारी पाना असंभव-सा है। फिर भी, मधुबनी के बुजुर्ग बताते हैं कि यह रामायण काल में भी अस्तित्त्व में थी। उस समय इस कला का स्वरूप पूरी तरह से पारंपरिक था। लोग बताते हैं कि 1964 तक इसका पारंपरिक स्वरूप बना रहा, लेकिन जैसे-जैसे इस कला को बाज़ार मिलने लगा, इसमें गिरावट आने लगी। आज यह कला व्यवसाय के क़रीब पहुँच चुकी है। हालाँकि इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की भूमिका अहम है, जिसने मधुबनी चित्रकला को जीवकोपार्जन के रूप में स्वीकारने पर बाध्य किया। इसका फ़ायदा उठाते हुए बिचौलियों ने संगठित रूप से इस कला का उत्पादन शुरू कर दिया, जिससे इसका फ़ायदा ग़रीब कलाकारों को नहीं मिलता।

मधुबनी चित्रकला को नया स्वरूप प्रदान कराने में महाराष्ट्र के भास्कर कुलकर्णी का योगदान उल्लेखनीय है। इसके लिए वे यहाँ आदर के पात्र हैं। 1962 में मधुबनी आकर उन्होंने कलाकारों का चयन किया। उनकी कलाकृतियों को अपनाया। प्रसिद्ध लोक-कला समालोचक श्रीमती पुपुल जयकरवे ने भी कलाकारों को प्रोत्साहित

करने में अहम भूमिका निभायी। वहीं इस कला को बढ़ावा देने में उपेंद्र महारथी और स्व. ललित नारायण मिश्र का योगदान सराहनीय है, जिनकी बदौलत मधुबनी की लोक-चित्रकला ने देश-विदेश में धूम मचायी। इस संदर्भ में जापान के हासेगावा की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने जापान में एक मिथिला-पेंटिंग संग्रहालय ही बना डाला है। उनका संग्रहालय दुर्लभ मिथिला पेंटिंग की परंपरा को संजोये है। मधुबनी चित्रकला की देश-विदेश में मची धूम ने भारत सरकार का ध्यान खींचा और जितवारपुर की जगदंबा देवी को 1975 में, 1981 में सीता देवी और 1984 में जी.देवी को पद्मश्री से नवाज़ा गया। आज मधुबनी चित्रकला को आगे बढ़ाने में सक्रिय राँटी की महासुंदरी देवी, विभा दास, गोदावरी दत्त आदि को भी कई राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हो चुके हैं।

'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के रचयिता महाकवि कालिदास की जन्मभूमि के विषय में विद्वानों के बीच मतभेद अवश्य है, लेकिन उनकी कर्मभूमि मधुबनी जिलांतर्गत 'उच्चैठ' ही थी। अभी भी आसपास के बच्चों को उसी डीह की मिट्टी से अक्षर-आरंभ करवाया जाता है। कुछ लोगों का मानना है कि कालिदास की डीह (घर) इसी जिले के रहिका में थी, परंतु महाकवि की कहानियों को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि उन्हें उच्चैठ में ही भगवती से वरदान प्राप्त हुआ।

ऐसी मान्यता है कि कुछ पंडितों द्वारा मूर्ख कालिदास की शादी राजकुमारी विद्योत्तमा से छलपूर्वक करा दी गयी। विद्योत्तमा को कालिदास की मूर्खता के विषय में ज्ञात हुआ, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। दोनों शादी के फेरों में बँध चुके थे। अहंकारी विद्योत्तमा ने कालिदास की बेइज़्ज़ती कर विद्वान बनने की बात कही। कालिदास वहाँ से प्रस्थान कर सीधे उच्चैठ स्थित गुरुकुल पहुँचे तथा गुरुकुल में रह रहे छात्रों की चाकरी करने को विवश हुए। लेकिन, उनके मन में विद्योत्तमा के प्रति प्रतिशोध की भावना जागृत थी। जिस मंदिर में कालिदास को ज्ञान की प्राप्ति हुई, उस मंदिर का वर्णन महामहोपाध्याय पंडित परमेश्वर झा रचित 'मिथिलातत्त्वं विमर्श' में भी मिलता है। मैथिली अकादमी द्वारा प्रकाशित नाटक 'वरदान' में तो इसका विशद् वर्णन है। बात चाहे जो भी रही हो, लेकिन इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उच्चैठ स्थित यह मंदिर कालिदास के पूर्व का है। नवरात्र में यहाँ की स्थिति देखने लायक होती है। धार्मिक दृष्टिकोण के अलावा यह स्थल रमणीय भी है।

मधुबनी से सात-आठ किलोमीटर दूर जीवछ नदी के पश्चिमी तट पर स्थित सौराठ गाँव में बहुचर्चित दूल्हों का बाज़ार लगता है, सौराठ सभा में निश्चित अवधि तक के लिए मेला लगता है। जहाँ मुख्य रूप से वैवाहिक संबंधों का निवारण किया जाता है। इस सभागाछी का नामकरण इसलिए नहीं किया गया कि यहाँ वर्ष में एक बार वर पक्ष (दूल्हा तथा उसके अभिभावकगण) आते हैं तथा सभा लगाते हैं, बल्कि प्राचीनकाल में यहाँ शास्त्रार्थ के लिए सभा का आयोजन किया जाता था। समस्त मिथिला के ब्राह्मण-प्रतिनिधि एकत्रित होकर यहाँ समाज और संस्कृति से जुड़े अनेक विषयों पर शास्त्रार्थ किया करते थे। 'मिथला परिक्रमा' के दूसरे अंक में इस बात को उद्धृत किया गया है कि जब गुरुकुल-पद्धति प्रचलित थी, तब अनेक आचार्य अपनी शिष्य-मंडली के साथ इस सभास्थल पर आते थे तथा आम लोगों की उपस्थिति में छात्रगण शास्त्रार्थ किया करते थे। संभवतः यही कारण है कि इस बाग़ीचे का नाम 'सभागाछी' पड़ा। अभी भी गाँव के लोग यहाँ एकत्रित होते हैं तथा सभा का आयोजन किया करते हैं। यहाँ अवस्थित चाय-पान तथा जलपान की दूकान पर एकत्रित लोग आपस में वाद-विवाद किया करते हैं। यह अलग बात है कि अब वाद-विवाद का विषय कुछ और होता है, जबकि पहले सिर्फ़ धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषय पर शास्त्रार्थ होते थे। सभागाछी में भी एक महादेव मंदिर है, जिसे लोग माधवेश्वरनाथ महादेव कहते हैं। महाराजा माधव सिंह द्वारा निर्मित यह मंदिर भी आकर्षण का केंद्र है, जहाँ ग्रामवासियों के अतिरिक्त दूर-दूर से लोग पूजा-अर्चना के लिए आते हैं।

मधुबनी ज़िले में कई ऐतिहासिक और पौराणिक स्थल हैं। दूर-दराज़ से इन्हें देखने के लिए लोग आते रहते हैं। इनमें बलिराज गढ़, फुलहर, मदनेसर, शिलानाथ, उग्रनाथ, उच्चैठ, राजनगर (कई मंदिरों के लिए चर्चित), राजराजेश्वरी (यहाँ अर्द्धनारीश्वर की अद्भुत प्रतिमा है), मंगरौनी(विद्वानों के गाँव के रूप में चर्चित है), गिलेशन बाज़ार, अकौर (यहाँ पाषाण काल से भी पहले की मूर्ति है), पाताल गंगा (जनश्रुति है कि पांडव अपने अज्ञातवास के दौरान् यहाँ रुके थे), विराटपुर (राजा विराट का क़िला है), जगवन गाँव, कलना (राजा जनक के क़िले का अवशेष), विस्फी (लोक कवि विद्यापति की जन्म-स्थली) प्रमुख हैं।

बिहार की राजधानी पटना से मधुबनी की दूरी मात्र 208 किलोमीटर है। पटना से मधुबनी जाने के लिए बस और रेल की सुविधा है। 3501 वर्ग किलोमीटर इलाके में फैले मधुबनी के उत्तर में नेपाल, दक्षिण में दरभंगा, पूरब में सुपैल और सहरसा तथा पश्चिम में सीतामढ़ी के साथ-साथ दरभंगा का कुछ भाग है। पहले मधुबनी दरभंगा का एक अनुमंडल था। 1972 में मधुबनी ज़िला बना। इस ज़िले में पाँच अनुमंडल, तेईस प्रखंड और चार शहर हैं। यहाँ की भाषा मैथिली है, जो अब संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल है। बागमती, कमला और बलान यहाँ की प्रमुख नदियाँ हैं।

जहाँ विख्यात मधुबनी चित्रकला के माध्यम से विदेशी मुद्रा अर्जित की जा रही है, वहीं यहाँ का अशवा चावल स्वाद और सुगंध के लिए जाना जाता है। मधुबनी भले ही सांस्कृतिक क्षितिज पर महत्त्वपूर्ण है, लेकिन प्राकृतिक आपदा की मार से हमेशा उलझता रहता है। सूखा और बाढ़ पर नियंत्रण पा लिया जाए, तो लोगों को यहाँ खुशहाली ही खुशहाली मिलेगी। वास्तविकता यह है कि आज़ादी के बाद से ही मधुबनी उपेक्षित रहा है। यहाँ उद्योग-धंधे नहीं के बराबर हैं।

समाचार संपादक, आकाशवाणी, पटना-800001 (बिहार)

कहानी एक सफर की

तेलुगु मूल : श्री रमण

सिकन्दराबाद रेलवे स्टेशन.....समय लगभग रात के दस बजे। वह सुपरफास्ट एक्सप्रेस गाड़ी है। उसमें द्वितीय श्रेणी का शयनयान डिब्बा। आमने-सामने वाली दो सीटों पर दो दम्पति-जोड़ियाँ बैठी हैं। लगता है कि चारों की उम्र साठ के ऊपर है। फिर भी उनके शरीर तन्दुरुस्त और उत्साहपूरित हैं। एक जोड़ी शहर की लग रही है तो दूसरी जोड़ी गाँव की। वे लोग अपनी पोशाक से ही अपनी पहचान बना रहे हैं। पहली जोड़ी की वेशभूषा में शहर का ठाट-बाट ज़्यादा है तो दूसरी जोड़ी में स्त्री और पुरुष दोनो ही बहुत साधारण कपड़े पहने हुए हैं। शहर वाला पुरुष टी-शर्ट पहनकर अपनी उम्र को कम करने के प्रयत्न में लगा है तो इस जोड़ी का पुरुष धोती पहनकर किसी ग़ायब होती संस्कृति का उन्नायक मालूम होता है। गाड़ी ने जोर पकड़ा। सामने वाली सीट में बैठी शहर वाली जो महिला है वह चौंककर अपने बैग में से कई तरह की टैबलेट्स निकालकर पतिदेव को देने लगी। उन दोनों के हाथ मिनरलवॉटर की बोतलों से सुशोभित हैं। उनके बैग से विदेशी गंध आ रही है। बैग की पूँछ से कई दिन पहले हवाई जहाज़ में किये सफ़र का सुबूत-कोई प्लास्टिक कार्ड लटक रहा है। बैग पर विदेशी पहचान से भरे प्लास्टिक स्टिकर चिपके हुए हैं।

सामने वाली सीट में बैठी जोड़ी की महिला इनको बहुत चाव से देख रही है। उस महिला का पति कोई पुस्तक पढ़ रहा है। कुछ समय बाद दोनों महिलाओं में आपसी बात-चीत होने लगी। शहरवाली जोड़ी में दोनों के पास सेलफोन भी हैं। कभी-कभी एक बार उसकी तरफ देखकर फिर रख देते हैं। शहर की जोड़ी में से पत्नी बोलने लगी, 'हमारे देश में रेलगाड़ियाँ इतनी आवाज़ करती हैं....लेकिन अमेरिका में तो रेलगाड़ियों में आवाज ही नहीं आती। कितना सुखद सफ़र होता है वहाँ।' उस महिला के पति ने मुस्कुराते हुए यह बात स्वीकार कर ली। सामने की सीट पर बैठी महिला ने उत्सुकता से पूछा-'आपलोग क्या अमेरिका जाकर आये है?' पहली महिला ने कुछ गर्व के साथ उत्तर दिया-'हाँ, हमारे दोनों बेटे वहीं रहते हैं....दोनो सॉफ़्टवेयर इंजीनियर हैं। पिछले साल बेटी का विवाह हो गया। दामाद जी भी शिकागो में डॉक्टर हैं।' अमरीका की बात सुनते ही उस महिला का पति भी बातचीत में मदद करने लगा। तब से लेकर लगभग आधा घंटे तक वे दोनों मिलकर कई किश्तों में सामने वाली उस महिला को बताते रहे कि किस प्रकार उनके बेटों ने उन्हें अमरीका में घुमाकर कई प्रदेश दिखाए....किस प्रकार उन्हें अमरीका भारत से कई गुना ज़्यादा अच्छा लगा...किस प्रकार उस देश में चलती गाड़ियों में यहाँ की तरह मूँगफलियों के छिलके नहीं मिलते...किस प्रकार वहाँ के लोग एक कागज़ का टुकड़ा भी सड़क पर गिरने नहीं देते।

यह सब कुछ सुनने के बाद सामने वाली सीट में बैठे धोती पहने सज्जन ने पुस्तक बंद करके बगल में रखी और एक बार गहरी साँस ली। फिर अचानक उन्होंने भी बोलना शुरू किया-'हमारी बेटी भी अट्लांटा में रहती है। दामाद जी सॉफ़्टवेयर इंजीनियर हैं. ..बिलूगेट्स की कंपनी है न, उसमें। हाल ही में दामाद जी ने एक कार खरीदी। कहते थे-कंपनी वालों से बोनस में मिली। जब हम अमेरिका गये तब हमें उसी कार में बिठाकर सारा देश घुमाया। उस कार की खासियत क्या बतायें? उसे चलाने की जरूरत भी नहीं। उसमें बैठकर 'फ़लाँ जगह जाओ' कहकर एक कार्ड दिखाओ तो बस ...सारा काम वही देख लेती है। पर यह बात अंग्रेज़ी में बोलनी चाहिए। हमारी लैंग्वेज की सॉफ़्टवेयर अभी नहीं बनी.. वह धड़ल्ले से बोलता जा रहा है। अब पहली जोड़ी की बारी आयी- मुँह खोलकर सुनने की। उन्हें इस बात पर यक़ीन ही नहीं हो रहा था कि धोती पहने एक आदमी के मुँह से इतने अंग्रेजी शब्द सुनने को मिलेंगे। वे दोनों ही नहीं, उस सज्जन की पत्नी भी ये बातें सुनकर अपने पति की तरफ आँखें फाड़कर देखने लगी। बातों ही बातों में बहुत समय बीत गया। सोने का समय हो आया।

अगले दिन रेल गाड़ी मुक़ाम पर पहुँच गयी। अमेरिकन स्टिकरों से भरा बैग लेकर पहली जोड़ी ने विदा ली। दूसरी जोड़ी ने भी अपनी राह ली। रास्ते में सीढ़ियाँ उतरते हुए गाँव की महिला ने अपने पति से पूछा-'अजी..आप मुझसे बिना बताये अमेरिका कब जाके आये? शरम नहीं आती इतने झूठ झाड़ते? फिर हमारी तो संतान भी नहीं.....'' धोती पहने उन महाशय ने कहा-'इन जैसे अमेरिका दीवानों से ऐसी ही बात करनी चाहिए। इन जैसों की बातें सुन-सुनके थक चुका हूँ। देखा न उनका घमण्ड? अब रही संतान की बात....उनके बेटे वहाँ अमरीका में रहें और इधर हम जैसे लोगों की संतान ही न रहे-दोनों बातें एक ही हैं।''

महिला को पति की बात समझ में नहीं आयी।

अनुवाद : दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, आंध्र लोयोला कालेज,

कृष्णा जिला-आंध्रप्रदेश-विजयवाड़ा-520008

जातिगत संस्कारों की लू के बवंडर

सूरज पालीवाल

पिछले दिनों नोबल पुरस्कार विजेता लेक्लेजियो का साक्षात्कार पढ़ रहा था, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'मुझे लगता है कि जो हो रहा होता है, लेखक उसका एक तरह का मात्र दृष्टा होता है। लेखक मसीहा नहीं है, न वह दार्शनिक है। वह केवल अपने आसपास जो हो रहा है, उसका साक्षी है। इसलिये लेखन एक बेहतर तरीके से गवाही देना है, साक्षी होना है।' बहुत छोटे-से साक्षात्कार में उन्होंने उस बहस को पुनर्जीवित किया जो लेखन कर्म पर और उसकी प्रासंगिकता और भूमिका पर होती रही है। आज भी यह बहस पुरानी या अप्रासंगिक नहीं है। जो लोग लेखन कर्म और लेखक को मसीहाई अंदाज़ में प्रस्तुत करते आ रहे हैं यह उनके लिये सही जवाब है। दरअसल ऐसे लोग लेखक की सामाजिक भूमिका को या तो नजरअंदाज़ करते हैं या लेखक के जनआंदोलनों में भागीदारी को नकारने की कोशिश करते हैं। कबीर ने जब कहा था 'तू कहता कागज़ की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी' तो यह इसी बहस का हिस्सा था, जिसे पांडित्य और अध्यात्म के चमत्कारों में विस्मृत कर दिया गया। लेकिन यह बहस निरंतर जारी रहनी चाहिये और हर युवा पीढ़ी को इस पर अपनी तरह सोचना-विचारना चाहिये। इससे उसकी रचनात्मक प्रतिबद्धता स्पष्ट भी होगी और धारदार भी। अपने समाज और अपने आसपास की अनदेखी करके कोई लेखक कितना भी बड़ा होने का दंभ पाल ले पर वह बड़ा होता नहीं है। साहित्य जब जीवन की सच्चाई है तो जीवन की धड़कनों के बिना किसी साहित्य का क्या अर्थ है? मो. आरिफ़ की कहानी 'लू' पढ़ रहा था। मो. आरिफ़ ने बहुत ज़्यादा कहानियाँ नहीं लिखी हैं। इसी शताब्दी के पिछले कुछ वर्षो से उन्होंने लिखना आरंभ किया है। अपनी कहानियों के प्रति वे बहुत गंभीर हैं, जितने अपनी पीढ़ी के कहानीकारों के प्रति। उन्हें अपनी पीढ़ी के कहानीकारों की कहानियाँ याद हैं और उन कहानियों की अच्छाई-बुराई भी वे झट से बता देते हैं। इसे मैं एक रचनाकार के लिये अच्छा मानता हूँ कि वह अपनी पीढ़ी को जाने, जो लिख रहा है उससे बेहतर लिखने के लिये यह ज़रूरी है। इसलिये मो. आरिफ़ बहुत सधे क़दमों से कहानी संसार में चल रहे हैं। देखा जाये तो 'लू' कहानी में जितनी लू है उससे ज़्यादा जातिगत संस्कारों की गर्मी और लू और तापघात अधिक है। मौसम की लू से तो बचा जा सकता है लेकिन जाति की लू में तो पना भी काम नहीं करता। यह एक विषय है जो मो. आरिफ़ के मानस में घूम रहा होगा, कहानी लिखने से पहले। अब बहुत छोटे-से कथानक पर बड़ी कहानी की रचना कैसे की जाये, यह प्रश्न मो. आरिफ़ के मन में रहा होगा। वे यह भी चाहते हैं कि जो कहानी वे लिखें वह सच भी लगे और उसमें किस्सागोई भी हो। किसी भी कहानी की पहली शर्त तो उसकी विश्वसनीयता ही होती है और दूसरी किस्सागोई। कहानीकार लिखते समय दुहरी तलवार पर नंगे पैर चलता है जो गप्प और गल्प है उसे सच बनाये रखने की कोशिश ही कहानी है। यदि पाठक को पहले ही मालूम हो जाये कि यह सिर्फ़ गप्प है तो वह क्यों कहानी पढ़ेगा? वह पढ़ता इसलिये है कि वह अपने सच से लेखक के सच का मिलान करता है और अपने अनुभव जगत को इससे बड़ा बनाता है। मो. आरिफ़ पाठकों के इस मनोविज्ञान से परिचित हैं इसलिये वे कहानी के शुरू में ही विश्वसनीयता के सवाल को हल करते हुये कहते हैं 'यह कहानी मैंने रतनसिंह चौहान के मुँह से सुनी थी। चौहान मेरे क़रीबी तो नहीं थे पर जब मैं मुंबई में था तो कभी-कभार कांदीवली स्थित उनके दो खोली वाले फ्लैट पर जाना होता था। कारण था मेरा मित्र संदीप मिश्र जो चौहान का पड़ौसी था। दोनों पुलिस में थे ओर दोनों में ख़ूब छनती थी। उस दिन चौहान ने दारू पी रखी थी। उनकी पत्नी भी घर पर नहीं थी। वह पूरे मूड में थे। अपने उत्तर प्रदेश दौरे से बस लौटे ही थे। तभी उन्होंने यह कहानी संदीप को सुनाई थी। वहाँ मैं भी था। मुझे कहानी सच्ची और मज़ेदार लगी थी। इसलिये बड़ी आसानी से मस्तिष्क के एक कोने में ठहर गई। सच्ची इसलिये कह रहा हूँ कि सुनने में आता है कि पुलिस वाले आपस में झूठ नहीं बोलते हैं। और मजेदार ? आप खुद ही देख लीजिये।' कहानी रतनसिंह चौहान संदीप मिश्र को सुना रहे हैं, नेरेटर वहाँ स्वयं उपस्थित है। अपनी उपस्थिति को दर्ज़ कराना इसलिये ज़रूरी था कि कहीं पाठक को यह कहानी झूठी न लगे। इससे भी मो. आरिफ़ संतुष्ट नहीं हुये। वे जैसे स्पष्टीकरण देते हुये कहते हैं, उस दिन चौहान ने दारू पीं रखी थी, उसकी पत्नी भी घर पर नहीं थी , वे पूरे मूड में थे और सुनने में आता है कि पुलिस वाले आपस में झूठ नहीं बोलते। यह केवल कहानी का ढंग ही नहीं है बल्कि अपने पाठक को बाँधे रखने का कमाल भी है।

मूल कहानी तो यह है कि इंस्पेक्टर रतनसिंह चौहान इस्लामपुर गाँव में राजकुमार सिंह को पकड़ने जा रहे हैं, जिस पर बीस हज़ार का इनाम है। इस्लामपुर इलाहाबाद से 91 किमी दूर है। 85 किमी बेलागंज और 6 किमी वहाँ से इस्लामपुर। बेलागंज तक तो सड़क है, बसें हैं पर वहाँ से इस्लामपुर जाने के लिये बहुत कम साधन हैं। गर्मियों के दिन, धरती और आसमान जैसे आग उगल

और बरसा रहे हैं, ऐसी गर्मी और लू में मुंबई के इंस्पेक्टर रतनसिंह चौहान इस्लामपुर जा रहे हैं। मो. आरिफ़ ने इलाहाबाद के पास वाला इलाका ही इसके लिये चुना है, इसलिये नहीं कि वे इलाहाबाद के पास के रहने वाले हैं बल्कि इसलिये कि यह इलाका आजकल देश में आतंकवाद की सुर्खियों में है। आजमगढ़ को तो लोग आतंकगढ़ कहने लगे हैं और यहीं सरायमीर और संजरपुर हैं, जहाँ के आतंकवादियों ने पिछले दिनों दिल्ली में नरसंहार किया था। अबु सलेम को लोग भूले नहीं हैं वह भी इसी इलाके का रहने वाला है। इंस्पेक्टर चौहान इसी इलाके में राजकुमार सिंह जैसे खूंख़ार आतंकवादी को पकड़ने आये हैं। यह घटना है पर कहानी के लिये घटना का होना न होना मायने नहीं रखता। इसलिये यह घटना भी कहानी का ढाँचा तैयार करती है। पुलिस वाले एक शहर से दूसरे शहर और एक प्रांत से दूसरे प्रांत में अपराधियों की धरपकड़ के लिये जाते आते रहते हैं पर यह किसी कहानी का हिस्सा न होकर उनकी रोज़मर्रा की गतिविधि का हिस्सा होता है। मो. आरिफ़ इसे कहानी का हिस्सा बनाते हैं इसलिये यह घटना महत्त्वपूर्ण हो उठी है। इंस्पेक्टर चौहान को बेलागंज से इस्लामपुर जाना है, दोपहर का एक-डेढ़ बजा है, सूरज ऊपर से आग बरसा रहा है और नीचे धरती जल रही है। इस जानलेवा गर्मी में पूरा क़स्बा जैसे ठहर गया है, चारों ओर मुर्दनी छाई हुई है। बस, तांगा या कोई सवारी उन्हें नज़र नहीं आ रही थी। इस पर उन्हें जल्दी थी, लौटकर आना था अपराधियों के गाँव में रात को नहीं ठहरा जाता। अचानक उन्हें एक रिक्शेवाला दिखाई दिया। उन्होंने जैसे-तैसे उससे मोलभाव किया और दोपहर और गर्मी की चिंता किये बगैर चल दिये रिक्शे में बैठकर। 'इंस्पेक्टर चौहान को जीवन में ऐसी गर्मी से सामना नहीं पड़ा था। ऐसी लू, ऐसी तेज़ गर्म हवा, लगा वे नरक में पहुँच गये हैं। खेतों में बवंडर के गोले बन-बिगड़ रहे थे।' इस गर्मी में इंस्पेक्टर चौहान की हालत बिगड़ गई, 'उनका गला सूखने लगा था। उन्हें ज़ोरों की प्यास लग रही थी। सिर भारी हो रहा था। उन्होंने रिक्शे वाले से कहीं रोकने के लिये कहा, जहाँ पानी मिल सके। कुछ देर चलने के बाद एक आम के बाग के पास उसने रिक्शा रोक दिया। पास के घर से दौड़कर पानी ले आया। इंस्पेक्टर गटागट दो लोटा पानी पी गये उनका चेहरा लाल पड़ गया था। आँखों में जैसे काँटे चुभ रहे थे। सिर फट रहा था। पानी से विशेष फ़ायदा नहीं हुआ। लू ने अपना काम कर दिया था।'

लू ने अपना काम दो स्तरों पर किया। एक तो इंस्पेक्टर की हालत ख़राब कर दी और दूसरे जोगी पासवान का हाल ख़राब करने की स्थितियाँ पैदा कर दीं। कहानी का यह निर्णायक मोड़ है। यहीं पर जोगी पासवान को इंस्पेक्टर चौहान की सेवा करते हुये रिवाल्वर दिखाई दी जिससे उसने सहज ही अनुमान लगा लिया कि यह आदमी पुलिस का है और इस्लामपुर में राजकुमार सिंह को पकड़ने जा रहा है। अब तक इंस्पेक्टर चौहान उसके लिये मुंबई के बाबू थे जो इस्लामपुर में अपने किसी दोस्त से मिलने जा रहे थे लेकिन अब स्थिति साफ़ थी। अब वे पुलिस के आदमी थे। कहानी में जो स्थिति बताई गई है उसके अनुसार इस्लामपुर में पुलिस अक्सर आती रहती होगी। जोगी पासवान को सब कुछ मालूम है, वह ऐसी स्थितियों से रोज़ निबटता है, वह किसी पुलिस वाले से इसलिये डरता नहीं है। यही कारण है कि इंस्पेक्टर चौहान का रहस्य खुलने के बाद भी वह सहज बना रहता है। मो. आरिफ़ जोगी पासवान को सहज और संवेदनशील बनाये रहते हैं ताकि कहानी के उस कंट्रास्ट को दिखा सकें जो कहानी का आधार है । जोगी इंस्पेक्टर की सेवा करता है और उन्हें स्वस्थ करने के लिये पना पिलाने की बात करता है। ज़ाहिर है कि पना लू के लिये रामबाण है। वह उन्हें तापघात से बचाने के लिये अपने घर ले जाता है, पना पिलाने के लिये। उसका गाँव इस्लामपुर से दो किमी पहले है, यानी बेलागंज से चार किमी पर है। इंस्पेक्टर बीमार है और जोगी पासवान उसकी सेवा कर रहा है। कहानी सिर्फ़ इतना ही बताती है। अभी तक न इंस्पेक्टर के मन का कोई खोट दिखाई दिया और न जोगी की चालाकी। एक मुंबई की पुलिस का क्षत्रिय इंस्पेक्टर और दूसरा रिक्शाचालक दलित जोगी पासवान । यहाँ तक कहानी नेरेटर के हाथ में रहती है , वह जो बता रहा है वही दिखाई और सुनाई दे रहा है पर आगे की कहानी नेरेटर के हाथ से बहुत दूर चली जाती है। कहानीकार जो कहना चाहता है अर्थ उससे बहुत आगे जाकर खुलने लगते हैं। लू और पना अपने रंग दिखाते हैं। लू से बचने के लिये पना पीने इंस्पेक्टर चौहान जोगी पासवान के घर जाते हैं-यहाँ तक कोई जातिवाद नहीं है, जातियों के अंतर को लेकर कोई घृणा नहीं है। क्षत्रिय इंस्पेक्टर चौहान जानते हुये भी जोगी पासवान के घर पना पीने जाने को तैयार होता है क्योंकि यहाँ उसके जीवन-मरण का सवाल था। यदि पना नहीं मिलता तो उसका बच पाना मुश्किल था। इस मुश्किल समय में जोगी पासवान उसका साथ देता है। जोगी एकदम सहज और संवेदनशील है जबकि कहानीकार ने उसके रूपरंग का जो वर्णन किया है उसके अनुसार वह लंपट जैसा है। पर लंपट लोग किसी के दुख में इस प्रकार सहायक होंगे, कहना कठिन है। जाने-अनजाने लेखक ने दोनों पात्रों को आमने-सामने लाकर खड़ा कर दिया है। जोगी की चिंता इंस्पेक्टर चौहान को ग़र्मी और तापघात से बचाने की है, इसके लिये वह कुछ भी माँग सकता था पर इस प्रकार का कोई संकेत कहानी में नहीं है।

इंस्पेक्टर को लेकर जोगी पासवान अपने घर गया। पत्नी को पना बनाने के लिये कहा। घर पहुँचने और पना तैयार करने के लिये पत्नी को कहने तक जोगी की चिंता साफ़ दिखाई देती है लेकिन यहाँ कहानी अपने असली रंग में आती है। इंस्पेक्टर चौहान उसकी पत्नी धनिया को देखता है 'धनिया पानी लेकर आई। इंस्पेक्टर चौहान ने धनिया से पानी लिया, पिये और वहीं औसारे में रखी खटिया पर लेट गये। धनिया चली गई। धनिया फिर आई। पना लेकर। चौहान ने धनिया से पना लिया और पीने लगे।

धनिया खड़ी रही। पना अच्छा लग रहा था। धनिया चली गई। तबीयत फिर बिगड़ने लगी। धनिया वापस आई । गुड़ लेकर। गुड़ मीठा था। पानी ठंडा था। धनिया अच्छी थी। पना चटकदार था।' बहुत कम शब्दों में मो. आरिफ़ कहानी के परिवर्तन और इंस्पेक्टर चौहान की रसिकता को उजागर करते हैं। जो इंस्पेक्टर इनाम के लालच में राजकुमार सिंह को पकड़ने के लिये इस गर्मी और लू में आया था, वह धनिया को देखते ही सब कुछ भूल जाता है। 'अब इंस्पेक्टर चौहान को इस्लामपुर पहुँचने की जल्दी नहीं थी।' यह कहानी का एक वाक्य है, जो अलग पैरा में लिखा गया है। इसलिये इसकी विशिष्ट ध्वनि और अर्थ है। इसका अर्थ और आगे खुलता है। जोगी इस्लामपुर जाने की कहता है तो इंस्पेक्टर नाराज़ होता है। जो इंस्पेक्टर जाकर लौटने की जल्दी मचा रहा था वही अब नाराज़ होकर कहता है 'मेरी तबीयत का ख़याल नहीं। अब मैं और रिक्शेबाजी नहीं कर सकता। सुबह देखेंगे। ऐसे भी इस्लामपुर जाकर खतरा मोल लेना ठीक नहीं है। साठ की जगह अस्सी ले लेना। आज रात यहीं रुक जाने दो। और ये लो पैसे। कहीं से मुर्ग़ा और एक बोतल का इंतजाम करो। न हो तो बेलागंज से जाकर ले आओ।' जोगी इंतजाम करने चला गया। धनिया ने नहाने के लिये पानी भर दिया। 'अब मुर्गे का इंतजार था, बोतल का इंतज़ार था, थके-हारे जोगी का इंतजार था, रात का इंतज़ार था।' कुछ कहानियाँ बहुत धैर्य की माँग करती हैं, वे अपने अर्थ बहुत धीरे-से खोलती हैं। यह कहानी भी ऐसी ही माँग करती है। थके हारे जोगी का इंतजार और रात का इंतज़ार क्यों था इसे कहने की ज़रूरत नहीं है। बहुत छोटे वाक्यों में मो. आरिफ़ कहानी के निहितार्थको खोलते चलते हैं। बाद में वे लिखते हैं 'चौहान ने ज़्यादा मुर्ग़ा खाया, थोड़ा दारू पिया। जोगी ने थोड़ा मुर्गा खाया ज़्यादा दारू पिया। धनिया ने न मुर्ग़ा खाया न दारू पिया। वह भूखी थी, वह प्यासी थी। जोगी पी-पीकर अघा गया। फिर वहीं नीम के पेड़ के नीचे लुढ़क गया। रात आने लगी। लू चलने लगी। गर्मी बढ़ने लगी। चौहान ने धीरे-से धनिया से कहा, पना बनाओ।

धनिया ने पूछा आम का या निबूड़ा का? चौहान ने कहा, जो-जो फल हों सब का बनाओ। धनिया बोली फल तो सारे हैं पर अकेले सब कैसे बना पाऊँगी । मदद करो। मैं बनाऊँगी तुम पीना। फिर तुम बनाना मैं पिऊँगी। फिर दोनों बनायेंगे दोनों पियेंगे। साथ-साथ। एक साथ।' इन वाक्यों में इंस्पेक्टर चौहान और धनिया के संबंधों की नयी दुनिया पूरी तरह खुलती जा रही है। जो जोगी रिक्शे में बैठाकर भर गर्मी और लू में इंस्पेक्टर चौहान की जान बचाने के लिये उसे अपने घर लाया था वही चौहान जोगी को ज़्यादा दारू पिलाकर उसकी पत्नी के साथ रंगरेलियाँ मना रहा है। इसलिये लेखक को यह लिखना ज़रूरी लगा कि 'रात तीन बजे कहीं जाकर दोनों की आँख लगी।'

कहानी का एक मोड़ और बाक़ी है जो पूरी कहानी पर भारी पड़ता है। इंस्पेक्टर इस्लामपुर नहीं जाते, सुबह वे अपना निर्णय बताते हैं और लौटकर बेलागंज जाने की कहते हैं। यहाँ तक सब कुछ ठीकठाक है। जोगी को रात में घटित घटना के बारे में कुछ नहीं पता। इंस्पेक्टर चौहान रात की खुमारी में हैं। उनकी यात्रा सफल हो गई। धनिया ने उन्हें तृप्त कर दिया, बीस हज़ार का इनाम क्या मायने रखता है? लेकिन कहानी इसके लिये थोड़े ही कही जा रही थी। बेलागंज लौटते हुये जब इंस्पेक्टर चौहान धनिया की तारीफ़ करते हैं, उसकी सुंदरता की बड़ाई करते हैं तबउत्साह में जोगी पासवान कह उठता है 'ऊँच जात की है सिंहनी। भगा के लाया हूँ मालिक। वहीं इस्लामपुर से। राजकुमार सिंह की रिश्तेदार है। असली नाम सुशीला है, सुशीला सिंह।' सिंह रतनसिंह चौहान को यह बात नाग़वार गुज़री। पासवान होकर सिंहनी को भोगे, यह उन्हें स्वीकार नहीं था। यह स्थिति रात के बाद की है। रात जिस स्त्री को दलित समझकर इंस्पेक्टर चौहान भोग रहे थे, जिसके हाथ का पना पी रहे थे, सारे फलों का पना वहीं इंस्पेक्टर उसकी जाति जानकर भड़क उठते हैं। कहानीकार ने इस निर्णायक स्थिति का आकलन करते हुये लिखा है 'उसके इस वाक्य ने रतन सिंह चौहान को गड़बड़ा दिया। माथे में टन्न से कुछ हुआ।' क्या हुआ जो असामान्य था, जिसकी वजह से चौहान के माथे में कुछ टन्न हुआ ? मो. आरिफ़ की कहानी यहाँ आकर अपने अर्थ खोलती है कि जो इंस्पेक्टर क्षत्रिय होकर दलित सुंदर स्त्री को भोग रहा था वह नहीं चाहता कि कोई दलित जोगी पासवान उसकी सिंहनी को भोगे। यहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि वह सिंहनी अपराधी राजकुमार सिंह की रिश्तेदार है। वे राजकुमार सिंह को ही तो पकड़ने जा रहे थे। अपराधी के लिये जाति बीच में नहीं आती लेकिन स्त्री तो जाति का गौरव है। किसी सिंहनी को कोई दलित भोगे यह उन्हें स्वीकार नहीं था इसलिये वे राजकुमार सिंह को छोड़ जोगी पासवान को ही गिरफ़्तार कर मुंबई ले जाते हैं। उसको मारते-पीटते हैं। इंस्पेक्टर चौहान उसे पकड़े हुये चौक़ पर पहुँच गये थे। वे एक बार फिर गरजे 'माँचो, साला, मर्डर करके यहाँ छुपा है। गैंग में काम करता है, सुपारी लेता है बैंचो, बीस हज़ार का इनाम है साले के ऊपर, पुलिस से कैसे बचेगा साले, भाग रहा था माँचो, घुसा दूँगा साले पूरी रिवाल्वर अंदर। चल साले मुंबई की जेल की हवा खा, चल अपने असली घर, तब पता चलेगा।' जोगी पासवान जिस इंस्पेक्टर चौहान को लू से बचाता है, वही जातिवाद की लू की चपेट में आ जाता है। जातिवाद की लू मौसम की लू से भी ज़्यादा खतरनाक है। दलित और स्त्री विमर्श के दौर में इस कहानी का महत्व इसलिये भी है कि इसमें स्त्री की कोई जाति नहीं है। वह जोगी पासवान के प्रेम में अपने घर से भागी लेकिन इंस्पेक्टर चौहान के साथ भी उसे कोई दिक़्क़त नहीं थी। दिक़्क़त तो इंस्पेक्टर चौहान को थी। वह क्षत्रिय था इसलिये निर्भीक होकर दलित को मारता-पीटता है, उसकी स्त्री का शारीरिक शोषण करता है। ग़रीब दलित और ग़रीब स्त्री की गाँव में क्या स्थिति है, जोगी और धनिया इसके प्रमाण हैं।

71, सेंट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर-342011

मैं भोपाल हूँ!

अनिल धीमान

मैं भोपाल हूँ ! वही भोपाल, जिसकी ख्याति उस ताल से है, जो जन-जाग्रति, राजनीति और पिछली बार कम बारिश के चलते लगातार सूखता जा रहा है। फिर भी जनता पानी-पानी चिल्ला रही है और प्रशासन मौन है। वही भोपाल, जहाँ रियासती काल में बेग़में राज किया करती थीं। भोपाल, जो आज से लगभग 52 वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश की राजधानी बना। वही भोपाल, जहाँ 2 दिसंबर, 1984 की रात को हज़ारों लोग बिना किसी आहट के आयी मौत के आगोश में लाचार सो गये।

2 दिसंबर, 1984 की रात ठीक 24 वर्ष पूर्व पुराने भोपाल की कुछ सड़कें लाशों से भर गयी थीं। इसे महज़ एक दुर्घटना कहना 'श्मशान में तब्दील सड़कों का वो भयावह दृश्य, मारे गये आदमी, औरत और मासूमों' के साथ नाइन्साफ़ी होगा। इसे तो आज़ाद भारत के मानव-इतिहास का सबसे बड़ा क़त्लेआम कहना ग़लत न होगा। यही नहीं, उस क्षेत्र में तब जितनी भी मौतें हुयीं या आज भी लोग जो अनजानी और लाइलाज़ बीमारियों के चलते असमय मौत के मुँह में जा चुके हैं या जाने वाले हैं, उन सबका ज़िम्मेदार, वारेन ऐन्डरसन देश के क़ानून की पकड़ से दूर है। ख़ैर!

2 दिसंबर, 1984 की रात 'डाव केमिकल्स' यूनियन कार्बाईड, भोपाल, वारेन ऐन्डरसन की प्रयोगशाला साबित हुई। गैस रिसाव से उस वक़्त जो प्रभावित हुआ और जो किन्हीं कारणों से मरा नहीं बच गया था, उस व्यक्ति को न ज़िंदा कह सकते हैं, न मुर्दा; बस वह चलता-फिरता केवल एक हाड़ (मांस नहीं) का पुतला भर रह गया है।

इस मौत के तांडव के बाद लोगों ने निःस्वार्थ भाव से उन हताहत हुए परिवार या कहें वे जो ग़लती से इस ज़हरीली हवा के शिकार होने से बच गये थे, के साथ कंधे से कंधा मिला कर हज़ारों जानी-पहचानी लाशों को ढोकर मानवता का इतिहास रचा था। उस वक़्त अख़बार के मुख्य पृष्ठ पर केवल भोपाल ही छपा था और साथ में छपे उस (ब्लेक एन्ड व्हाइट) दफ़न बच्चे के चेहरे से मिट्टी हटाते हाथ का फ़ोटो, उस काली रात की कहानी को बयाँ करने के लिए काफ़ी था, साथ ही जहाँ लाशों को एक के ऊपर एक रख कर जलाने और एक साथ दफ़नाने का काम किया गया था। इस घटना को हिरोशिमा की पुनरावृत्ति कहना ग़लत नहीं होगा, बस फ़र्क़ इतना था हिरोशिमा-नागासाकी में परमाणु बम गिराये थे और भोपाल में 'डाव' केमिकल के एक वाल्व से हुए रिसाव से जहरीली हुई हवा से ख़ामोश मौत। किसी को कुछ पता ही नहीं चला, जो बैठा था कभी उठ नहीं सका, जो सड़क पर जा रहा था वो वही धराशायी हो गया और जो ओढ़कर सोया था चादर, वो चादर उसका कफ़न बन गया। मौत कब चुपके से आयी और मच गया चारों ओर हाहाकार।

इस त्रासदी में मारे गये 20 हज़ार बेगुनाह। अब बात भोपाल की है, तो तब से अब तक 24 बरसों में भोपाल की फ़िज़ा में जिस तरह के बदलाव आये, वे ध्यान देने योग्य हैं। उस वक़्त काफ़ी सारे लोगों ने एक साथ सारे बंधनों को तोड़ते, जुनूनी कार्य करते हुए एकता की मिसाल क़ायम की थी, जो अब कहीं दिखायी नहीं देती। जो चेहरे कभी एक साथ दिखायी देते थे, वे सब अपने-अपने समूह बनाकर पीड़ित लोगों के लिए संघर्षरत हैं। हर 2/3 दिसंबर को सब अपने-अपने दल के लाव-लश्कर के साथ घटना-स्थल पर आकर अपने होने का सबूत देते दिखायी पड़ते हैं। कोई मशाल लेकर, कोई प्ले-कार्ड से, कोई रैली निकालकर, कोई वारेन ऐन्डरसन के पुतले को जला कर, पीट कर अपनी भड़ास निकालते हैं। अच्छा लगता है। लगता है कि, ऐन्डरसन सही में मारा गया है।

बीते 24 बरसों में ये लड़ाई सामूहिक न होकर दलगत राजनीति और अख़बार की ख़बर मात्र बन कर रह गयी। पीड़ित परिवार आज भी त्रासदी को ढोता जा रहा है, या कहें उसकी बूढ़ी और कमज़ोर होती आँखें अपने काँपते हाथों से दूसरी पीढ़ी के काँधों पर ये बोझ डाल कर और उस 24 साल पुराने ज़हर को अपने ज़ेहन में दफ़न कर जाना चाहता है। और कब तक ढोएगा अपनी ही लाश, किसी न किसी रूप में मरना तो है ही, और मजबूर भी। इस पर भी कुछ राजनीतिक दलों के नेता भोपाल शहर के बाक़ी बचे 20 वार्डों को भी मुआवज़ा दिलाने का प्रलोभन देकर लाशों पर राजनीति करने से नहीं चूकते हैं।

इस बार त्रासदी से पीड़ित लोगों के लिए काम करने वाली 'भोपाल गैस पीड़ित संघर्ष सहयोग समिति' ने एक नये प्रयोग के साथ इन गैस प्रभावित लोगों की व्यथा को केनवास के माध्यम से जनता के बीच पहुँचाने का प्रयास किया है, जिसमें भोपाल शहर के कलाकारों ने कूची के माध्यम से भोपाल गैस त्रासदी को कैनवास

पर उतारा है। इसे 3 दिसंबर को 'यूनियन कार्बाइड' कंपनी के मुख्य द्वार पर आयोजित कार्यक्रम में तैयार किया गया। समिति का उद्देश्य चित्रों को आर्ट गैलेरी में ही नहीं आम जगहों, शैक्षणिक संस्थानों के साथ भोपाल ही नहीं अन्य शहरों में पूरे वर्ष प्रदर्शित करने का विचार है, जिससे आमजन को 'भोपाल गैस त्रासदी' के दर्द से रू-ब-रू कराया जा सके और आगे ऐसी त्रासदी को होने से रोका जा सके। लेकिन, इस प्रयास में गैस पीड़ितों के लिए काम कर रही और भी संस्थाओं को साथ आना चाहिए, जिससे 24 वर्षों से जारी हक़ों की लड़ाई के इस संघर्ष को एक नयी दिशा और नयी जान मिल सके। अन्यथा हम फिर आने वाले दिसंबर की 2 तारीख़ के ताने-बाने में गुम हो जाएँगे और न जाने कब तक ऐसा ही चलता रहेगा। अच्छे काम में देर होती है लेकिन इतनी भी नहीं कि अंधेर हो जाए—'वो सुबह कब आएगी'।

ई-8, जी-4 गुलमोहर, ए-6, मिनाल ऐन्कलेव, भोपाल-26

लघुकथा

नींव

कृष्ण शर्मा

गाँव के बाहर, टीले की आड़ में देसी शराब की एक भट्ठी चलती थी। इसके मालिकों ने एक भूरी तिरपाल डाल कर एक छप्पर-सा बनाया हुआ था। टूटी-फूटी दो या तीन बैंच वहां रखी रहती थी। शराब वे लोग पॉलीथीन की थैलियों में भर कर रखते थे इसके इलावा अल्मूनियम के पांच-सात गिलास, नमक-मिर्च, मूली-प्याज सहित भुने हुए चने तथा पानी का भी उनके पास प्रबंध होता था।

रोज़ाना शाम के समय गांव के बहुत से लोग दो-दो या तीन-तीन की टोलियों में छिपते-छुपाते वहां जाया करते थे। इस तरह से उनकी कमाई का एक बड़ा हिस्सा दारू की भेंट चढ़ जाता था।

पिछले कई वर्षों से रबेलदास लुहार भी इस भट्ठी पर रोज़ाना जाने वाला एक पक्का ग्राहक था। असल में, बहुत पहले उसका बाप वहां जाया करता था। शायद यह बाप का ही प्रभाव था कि रबेलदास भी वहीं का हो कर रह गया था।

किसी समय बाप-बेटा वहां एक-दूसरे से चोरी जाया करते थे, फिर आगे-पीछे जाने लगे थे और एक वक्त ऐसा भी आया था जब दोनों साथ-साथ जाने लगे। फिर एक रोज़ बाप की जब असमय ही मृत्यु हो गई थी तो रबेलदास को पूरी-पूरी छूट मिल गई थी।

एक रोज़ जब रबेलदास घर से निकला तो उसका पांच वर्षीय बेटा बिट्टू भी उसके पीछे-पीछे हो लिया। दोनों के मध्य काफी फासला था, लेकिन रेत पर बने बाप के जूतों के चिन्हों पर धीरे-धीरे कदम बढ़ाता बिट्टू भी आखिर भट्ठी तक पहुंच ही गया।

वहां बैठे अनेक अपरिचित व्यक्तियों की डरावनी सूरतें देख कर बिट्टू पहले तो बहुत घबराया, लेकिन बाप को एक ओर बैठे देख शीघ्र ही उसकी घबराहट जाती रही। एक कौतुक-सा उसकी आंखों में तैरने लगा था। बाप की पीठ उसकी ओर थी, लेकिन उसकी मैली-कुचैली चारखानेदार कमीज़ को बिट्टू पहचान चुका था। चुपचाप जा कर वह बाप से सटकर खड़ा हो गया तो आस पास बैठें लोग ठठा कर हंसने लगे।

रबेलदास ने अब तक 'झूमना' आरम्भ कर दिया था। सब को हंसते और अपने बेटे को साथ सटा देख उसके तन-बदन में आग लग गई। बिना कुछ सोचे-विचारे उसने दो-तीन थप्पड़ बेटे के गाल पर जमाए और चीखा-''शाहुकार का बेटा शाहुकार...प्रधानमंत्री का बेटा प्रधानमंत्री... और तू साले शराबी का बेटा है, आखिर शराबी ही तो निकलेगा...''

रबेलदास की बात सुन वहां मौजूद लोगों के ज़ोरदार ठहाके एक बार फिर वातावरण में गूंजने लगे। बिट्टू का रोना उन सबकी हंसी में दब कर रह गया था।

फिर काफी देर बाद पता नहीं बाप बेटे को या बेटा बाप को धीरे-धीरे लौटा कर घर ले आया।

आई.एच. सिद्दीक़ी की कविताएँ

कर्फ़्यू : तीन चित्र

(1)
–हेलो ?
–हाँ जी।
–उधर क्या हाल है?
–इधर सब ठीक है जी
–आपकी तरफ़?
–यहाँ भी सब ठीक है
–हेलो ?
–बोल रहा हूँ
–जब उधर भी ठीक है
इधर भी ठीक है
तो गड़बड़ किधर है?

(2)
–हेलो ?
–हाँ जी।
–मैं गोंडा से बोल रहा हूँ
–बोलिए
–हम लोग बहुत फ़िक्रमंद हैं
–क्यों?
–आपकी तरफ़ काफ़ी तनाव है
–हाँ है तो
–इसीलिए तो हम लोग भी फ़िकरमंद हैं
....
–हेलो
–हाँ जी
–इसका मतलब दोनो फ़िक्रमंद हैं
जहाँ तनाव है वहाँ के लोग भी
जहाँ नहीं है वहाँ के लोग भी

(3)
–कुछ सुना जी?
–क्या जी
–सुना है बी.जे.पी. और स. पा.
मिलकर दंगा करा रहे हैं।
–नहीं नहीं, मैंने सुना है
बी. जे. पी. और कांग्रेस मिल कर
गड़बड़ कर रही है
–नहीं यार, कोई कह रहा था
कि सारी गड़बड़ बी. जे. पी. और
बी. एस. पी. कर रही है।
....
–इक्सक्यूज़ मी
–क्या जी
–एक बात समझ में नहीं आयी
–वह क्या जी?
–जब मिलजुल कर गड़बड़ करा सकते हैं
–तो मिलजुल कर
अमन क्यों नहीं क़ायम करते?

क़यामत से पहले

जब कठफोड़वा
कौवाहँकने के सर पर
चढ़ कर कूदने लगे
और चलती गाड़ी में
ख़तरे की ज़ंजीर
अकारण खींची जानी लगे
तो समझ लो क़यामत क़रीब है।

और जब सरकारी अहलकार
तुम्हें हतप्रभ छोड़ कर
चाय के लिए सरक ले
तो समझ लो क़यामत सर पर है

यहाँ तक कि जब गाँव का पटवारी
सरपंच से सट कर
खुसर पुसर करने लगे
और दसनंबरी को
सरकारी आवास में शरण मिलने लगे
तो समझ लो क़यामत आ गयी।

मगर ठहरो
तुम्हें अभी मरना नहीं है।
अपनी मौत से पहले
बहुत कुछ करना है।
अभी तुम्हें
पटवारी की जान निकाल कर
कौवाहँकने में डालनी है
बेमतलब ज़ंजीर खींचने वाले
हाथ काटने हैं और
उन सारी व्यवस्थाओं का
गला घोंटना है
जो तुम्हें नपुंसक बनाती हैं।

याद रखना
यह सब तुम्हें
क़यामत से पहले करना है।
और क़यामत का भरोसा नहीं
कि वह कब आ जाए।

जवाब दो राष्ट्रपति

महामहिम
इस बच्चे को पुरस्कार देते हुए
तुम झुके हुए हो—
विनम्रता से...
उम्र के तक़ाज़े से...
अथवा दोनों से...
बच्चा

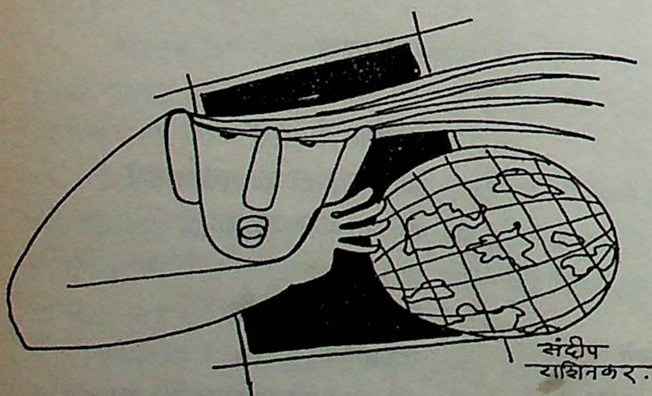
पुरस्कार थामते हुए
अकड़ा खड़ा है—
गर्व से...
चंचलता से...
अथवा दोनों से...

तुम नहीं जानते राष्ट्रपति
इसकी पीठ केवल पुरस्कार लेते वक़्त ही
सीधी होती है
बाक़ी समय यह भी झुकी होती है
बस्ते के भारी बोझ से

मैं जानता हूँ
अभी तुम्हारा भाषण होगा
और तुम कहोगे—
''शिक्षा में आमूल परिवर्तन ज़रूरी है।''
तुम्हारा यह जुमला
कल अख़बार की सुर्ख़ी बनेगा
और मीडिया का मसाला...
बात यहीं ख़तम हो जाएगी।

तुम्हें रोका किसने है महामहिम
शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने से
कौन करेगा परिवर्तन?
वक़्त से पहले बच्चों को बूढ़ा होने से
कौन रोकेगा?
जवाब दो राष्ट्रपति !

6, संत हुसैन नगर, गोरखपुर-273014



सफदर हाशमी सम्मान 2009 विभूतिनारायण राय को

रमणिका फाउन्डेशन द्वारा श्री विभूतिनारायण राय को सांप्रदायिक सद्भाव और जनवादी लेखन के लिये 'सफ़दर हाशमी' सम्मान-2009। वर्तमान साहित्य परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

लघुकथा

अप्रत्याशित

कृष्ण शर्मा

उनके संबंध में यह सर्वविदित था कि वे शालीनता, शिष्टाचार तथा कर्त्तव्यपरायणता जैसे गुणों की खान हैं। यही नहीं, अपने मित्रों तथा परिचितों को समय-असमय उदारतापूर्वक उधार के रूप में आर्थिक सहायता देने के लिए भी उनका बड़ा नाम था।

उन दिनों मेरी गृहस्थी की गाड़ी ठीक नहीं चल रही थी, अतः खासे पुराने परिचय के आधार पर एक सुबह मैं भी उनसे उधार मांगने की ग़रज़ से जा पहुंचा। बड़े सौहार्द से मुझे उन्होंने कमरे में बिठाया और कुछ पलों में पुनः हाज़िर होने की कह कर वे शायद नहाने चले गये थे।

कमरे की वस्तुओं को उचाट निगाहों से देखते हुए मैं मन ही मन अपने प्रयोजन की भूमिका तैयार करने का प्रयास कर रहा था। सहसा हवा के एक तेज़ झोंके से कोने में पड़े रैक से एक पुस्तक फर्श पर आ गिरी।

पुस्तक को उठाकर निकट के टेबुल पर रखते हुए मुझे ज्ञात हुआ कि यह कोई पुस्तक नहीं, बल्कि एक डायरी थी- शायद उन्हीं की। फर-फर चलती हवा में डायरी का एक पृष्ठ स्थायी तौर पर खुलकर रह गया। मेरी सरसरी निगाह उस पृष्ठ पर पड़ी तो अपनी धड़कन मुझे रूकती हुई महसूस हुई। उन्हीं की लिखावट में लिखा हुआ था - 'आज मित्रता तथा बंधुता जैसे शब्द सर्वथा अर्थहीन हो गये हैं, धन की आड़ तले दब गये हैं... आज न तो कृष्ण ज़िंदा हैं और न ही सुदामा... अधिकतर मित्र रावण और कंस हो गये हैं... अब तो 'मित्र' को एक बार रूपये उधार में दे दो और सदैव के लिए उससे अपना पिण्ड छुड़ा लो, क्योंकि मैं रूपये मांगने, नहीं जाऊंगा और वह लौटाने नहीं आएगा...'

डायरी को बंद करके मैंने पेपरवेट के नीचे दबाया और फिर धीरे से मेन गेट से बाहर निकल आया।

152/119, पक्की ढक्की, जम्मू - 180001

कविताएँ

नरेश कुमार टांक

नास्तिक

नहीं ईश्वर
मैं नहीं करता उपवास, व्रत
न ही ध्याता हूँ
दारुण दुखों के सबसे भयानक क्षण में तुम्हें

गुहारता-पुकारता
मन
शेष नहीं रहा अब

बड़े-बड़े बिल्डिंगनुमा मंदिरों की भीड़ में
अगर कोई एक झोपड़िया नहीं जाएगा
तो फ़र्क़ नहीं पड़ेगा
(चिंता मत करो
तुम्हारे चढ़ावे में कमी नहीं आएगी)

माँ कहती है
सुबह जल्दी उठ के-नहा धो के
पूजापाठ करोगे तो नौकरी मिल जाएगी
उसे पता नहीं—
मेरी उम्र सीमा कब की ख़त्म हो
रेहड़ी-ठेले की एक दिन की कमाई की जुगत लड़ा रही है

अब पता चला
(कॉलेज के दिनों में पता नहीं था)
बासी रोटी का नाश्ता कर
चाय सुड़कने वालों के कॉलर की इस्त्री
इतनी कड़क क्यों होती है ?
और क्यों होती है
नरम, मुलायम, कोमल
साहब की सूती शख़्सियत ?

अभिव्यक्ति का संकट

मेरे पास कहने के लिए शब्द नहीं हैं
किताबों और अख़बारों से जा कर ख़रीदूँगा
मुँह खोलते ही डर है कि कहीं
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के दुरुपयोग का
दोषी ठहरा
जीभ न काट दी जाए
बना दिया जाए
एक और गूँगा

या फिर—
मेरी जेबों में फँसे शब्दों को निकालने की हड़बड़ाहट को
विचारों की तुतलाहट नाम दे
भेज दिया जाए
राष्ट्रीय वाक-तंत्र में
स्पीच थेरेपी कराने
लंबे समय तक के लिए

'मौन भी अभिव्यंजना है' के दौर के चुक जाने के बाद
मौन सर्वथा सुलभ सुलोच्य है
कभी विरोधी, तो कभी समर्थन में
परिवर्तित होने के लिए बाध्य।

अब जबकि—
विचारों को लादने की संस्कृति
मुक्ति का सहज-सरल उपाय मान ली गयी है
राजनीतिज्ञ, मठाधीश
सशंकित हैं
कहीं विद्रोह के अंकुर इस मौन में ही तो
पल्लवित नहीं हो रहे
तूफ़ान आ जाने से पहले छा जाता है सन्नाटा जैसे।

इसलिए करते हैं

प्रहार पर प्रहार, प्रहार पर प्रहार
कहीं से टूटे-फूटे... खोल दे, उगल दे
वह मंत्रणा
जो उसने बाग़ी मित्रों के साथ बनायी है।

करती है कमेटी निश्चित
सरकारी निषेधाज्ञा के अनुपालन में
आतंकवादी बना
कारागार में डाला जाए
या फिर—
पागल-सिरफिरे का टैग लगा कर
मेरी हर बात, हर हरकत को ख़ारिज़ कर
'सभ्य समाज के लिए सुरक्षा' के अंतर्गत
पागलख़ाने में डाल दिया जाए।

4/2820, गली नं. 2-ए
बिहारी कालोनी, शाहदरा-दिल्ली-32

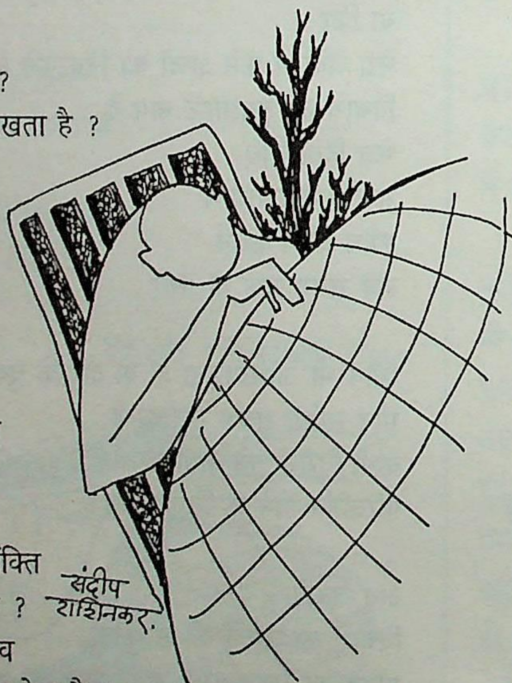
कविता

कविताएँ

सत्येंद्र पांडेय

क्यों?

क्यों छोटे फ़ाक से
बड़ी दुनिया दिखती है ?
बच्चे में क्यों भविष्य दिखता है ?
एक छोटी-सी चुभन
क्यों पूरे शरीर को
झकझोर देती है ?
आग की एक चिन्गारी
जंगलों को क्यों
ख़ाक कर देती है ?
सहानुभूति का एक पल
लंबे जीवन का आधार
कैसे बनता है ?
क्यों कविता की एक पंक्ति
आँखों को भिगो देती है ?
क्यों एक पल का ठहराव
माहौल को ग़मगीन बना देता है ?
कैसे एक छोटी-सी हँसी
जीवन का संचार कर देती है ?



कसक

तुम्हें जाने तो नहीं देना चाहता था
एक बार मिलने के बाद
पर बहाव समय का किससे थमा है आज तक
हर क़दम तुम्हारे साथ ही रखा था ज़मीं पर
बहुत दूर चलने के लिए
पर रास्ते भी बेवफ़ा निकले
समेट ली अपनी लंबाई
फिर दूर तुम्हारी ही आँखों से
ख़ूबसूरत नज़ारे देखे और खोने लगा
न जाने कहाँ !

तभी तुमने जगाया ख़्वाब से
यह कहते हुए कि हर पल जी लो
याद करने के लिए जीवन भर
तुम्हारी बातों का उफान
मेरे मन के किनारे को आकार देता रहा

कभी भीगता रहा
कभी रेतीली धूल बन कर उड़ता रहा
पर उड़ते हुए भी भीगने का अहसास बाक़ी रहा
बिखरते हुए भी मिलने की ख़्वाहिश बाक़ी रही
साँसें थमी रहीं सहारे तुम्हारी साँसों के।

टॉलीगंज, पुलिस लाइन, ब्लॉक-
फ़्लैट नं.-7, कोलकाता-70003

कविताएँ

वैद्यनाथ झा

सुनो अभिमन्यु

सुनो अभिमन्यु
चक्रव्यूह में फँस
तुम्हारी मौत
अन्याय के हाथों न्याय की मौत,
बूढ़ी महत्त्वाकांक्षाओं के लिए
महत्त्वपूर्ण संभावनाओं की मौत...।

अन्याय
एक ज़रूरी उपस्थिति/ हर युग में
एक कुरुक्षेत्र की तरह
और /सत्ता के हवस की तरह,
और/फिर/यह तो
इक्कीसवीं सदी है सुभद्रानंदन
फैला है दायरा कुरुक्षेत्र का
दूर-दूर तक
स्वच्छंद विचरते हैं
स्वार्थ का अंधापन लादे तमाम धृतराष्ट्र
विवशता की पट्टी बाँधे गांधारियाँ
अन्याय से आक्रांत ढेर सारी कुंतियाँ
शुरू होता है यहाँ/युद्ध/ सूर्यास्त के बाद ही
सूर्यास्त से पहले तो/अब
गले मिलते हैं अपने (चिर-प्रतिद्वंद्वी)
गहरे/आत्मीय मुस्कान के साथ
अन्याय पर न्याय का मुलम्मा चढ़ाए।

नहीं बदला/तो/यह कि
अधिकार मद में चूर महारथी
अब भी घेरते हैं /किशोरों को/धोखे से,
अब भी उत्सर्ग होते हैं/किशोर प्राण
दम तोड़ते हैं उनके अरमान
होता है स्वप्नों का बलिदान।

एक बात और अभिमन्यु
चक्रव्यूह में नहीं/अब/केवल सात द्वार
हज़ार-हज़ार द्वार
हर द्वार पर घात लगाये हज़ार
माता के गर्भ में ही मिलेगा
द्वार-भेदन का अपूर्ण ज्ञान...।
पर/ निराश न हो वत्स
विश्वास करो/यह अटल सत्य/कि
अन्याय-मेघ से आच्छादित/परिवृत्त भेदने
कर में गहे सुदर्शन चक्र
साक्षात् नारायण
आते थे/आते हैं/ आते रहेंगे...।

हँसना भूल गयी मालविका?

कल तुम्हें देखा मालविका
अरसे बाद/लगा
तुम्हारे होठों से ग़ायब है
तुम्हारी अलग-सी पहचान
भीतर/गहरे से/खनकती तुम्हारी
चिर-परिचित मुस्कान।

कल तुम्हें देखा, मालविका
अरसे बाद/लगा
तुम्हारी चाल में नहीं है
उन्मुक्त/स्वच्छंद
क़दमों की सहज लय-ताल
समय के भार से
बँध गये क़दम
जैसे खूँटे से बँधा कोई माल-जाल।
कल तुम्हें सुना, मालविका
अरसे बाद/लगा
तुम्हारे कंठ से निकले स्वर
वे नहीं रहे/ जो कभी
मधुमय कर देते थे
आसपास की हवाओं को
प्राण भर देते थे/ चर-अचर में
पुलकित कर देते थे
फूलों की कलियों/पंखुड़ियों/नव पल्लवों
को।

ऐसा कैसे हो सकता है, मालविका
उछलती, कूदती, तटबंधों को नकारती
शिलाखंडों को
मनचाहा आकार देने की
ज़िद ठाने नदी
भूल जाती है सहज प्रवाह
ओढ़ लेती है/विवश
सौम्यता/मंथरता का वितान।

ऐसा कैसे हो सकता है, मालविका
तार पर बैठे हों निःसंग
मौन, स्तब्ध, क्लांत
वे विहग
जिनके कलरव से कभी
होती थी/घोषणा/कि
उठो, अब हो गया विहान।

मैं जानता हूँ, मालविका
राज़
तुम्हारे न मुस्कराने का/और
तुम्हारे होठों को बाँधे
उस अदृश्य बंधन का,
कोकिल कंठ से निकले
स्वरों के/परिदृश्य से लुप्त होने का
राज़/सिर्फ़ इतना/कि
तुम एक लड़की हो।

सी.-2/सी., पाकेट-2, 180,
दूसरी मंज़िल, जनकपुरी
नई दिल्ली-110058

कलम के धनी मलखान सिंह सिसौदिया

वेद प्रकाश अमिताभ

मेरी पहचान के लिए
तुम्हें/ मेरा वंशवृक्ष देखना होगा
सुकरात से निराला तक
गोर्की, लूशुन, प्रेमचंद तक
पाब्लो नेरुदा से मुक्तिबोध का

ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि, स्वाधीनता-सेनानी और आज भी सर्जना के प्रति समर्पित डॉ. मलखान सिंह सिसौदिया की हैं। इन पंक्तियों से उनकी विचारधारा, सरोकार और काव्य-परंपरा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। 'बंगाल के प्रति तथा अन्य कविताएँ', 'अँधियारों से लड़ता हुआ', 'सूली और शांति', 'दीवारों के पार', 'कुँआ बोलता नहीं है', 'बात की चिड़िया', 'कुछ कहा अनकहा', 'प्रतिनिधि कविताएँ' उनके प्रकाशित काव्य-संग्रह हैं। 'बंगाल के प्रति तथा अन्य रचनाएँ' की भूमिका स्व. रामविलास शर्मा ने लिखी थी। 'हंस' (मई, 1944 ई.) में प्रकाशित उनकी चार कविताओं ने तब पाठकों को प्रभावित किया था और तब से प्रारंभ लगभग छह दशक लंबी काव्य-यात्रा में कवि की प्रतिबद्धता और जनधर्मिता कभी कमज़ोर नहीं पड़ी।

4 दिसंबर, 1921 ई. को कुठिला लाइकपुर, ज़िला-एटा (उ. प्र.) में जन्मे मलखान सिंह सिसौदिया ने सन् 1942 ई. के स्वाधीनता-संघर्ष में सक्रिय भागीदारी की थी। 'संघर्ष' उनके जीवन और सर्जना का केंद्रीय तत्त्व है। उनकी स्वीकारोक्ति है कि "स्वतंत्रता सेनानी के रूप में मैं सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई अधिक कारगर ढंग से नहीं लड़ सका" ('मलखान सिंह सिसौदिया : सृष्टि और दृष्टि', सं. डॉ. रामदरश मिश्र) किंतु, साहित्य के माध्यम से सामाजिक परितर्वन की लड़ाई वे आज तक लड़ रहे हैं। उनके विचार में राजनीतिक और साहित्यिक—दोनों रूपों में लड़ने से सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई प्रभावी और फलदायी हो सकती है। अपने पहले कविता-संग्रह में वे 'कविता' को जन-संघर्ष मे हथियार के तौर पर प्रयुक्त करने का संकेत देते हैं—

कभी-कभी चाकू देता है तलवारों का काम चला/ व्यर्थ नहीं होगी वैसे ही मेरी छोटी काव्य-कला

लेकिन, श्री सिसौदिया कविता को केवल 'अस्त्र' के तौर पर प्रयोग नहीं करते, उसकी एक मानवीय और संवेदनात्मक भूमिका भी है। वह पीड़ितों के लिए 'मरहम' बनती है—

तेरे घावों के लिए अगर/ मेरी कविता न बने मरहम/ क्यों पाषाणी को अपनाऊँ/ क्यों तोड़ न दूँ मैं आज कलम

यही नहीं, वे शोषितों-उत्पीड़ितों को संगठित करने में 'कविता' के कारगर योगदान से पूर्णतः आश्वस्त हैं—"वह सितमगर के ख़िलाफ़ चहचहा कर/ जंगल को नींद से जगा देती है/ परिंदों को मोर्चा लेने के लिए/ लामबंद कर देती है।" हालाँकि, हिन्दी काव्यालोचन में श्री सिसौदिया के काव्य को विशेष महत्त्व नहीं मिला, लेकिन अनेक समीक्षकों ने उन पर गंभीर चर्चा की है। यदि डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय का विचार है कि प्रगतिशील साहित्य का इतिहास डॉ. सिसौदिया की कविताओं के उल्लेख के बिना अधूरा रहेगा, तो डॉ. रामदरश मिश्र का मानना है कि प्रगतिशील दृष्टि से जुड़े रह कर आधी शती से अधिक की उनकी काव्य-यात्रा साधारण नहीं है। डॉ. देवेश ठाकुर ने उन्हें यथार्थचेता और संवेदनशील कवि मानते हुए विश्वास व्यक्त किया है कि उनकी रचनाधर्मिता भविष्य में अपना प्राप्य प्राप्त करेंगी। डॉ. रणजीत, डॉ. प्रेम दुबे सरीखे समीक्षकों ने उनकी कविता को अपराजित अदम्य पौरुष की तेजोमय अभिव्यक्ति के चलते सराहा है।

डॉ. सिसौदिया की संवेदनशीलता में जितना घनत्व है, उतना ही विस्तार भी है। वे देहात के 'भजुआ' से लेकर 'जनतांत्रिक व्यवस्था' तथा 'विश्वशांति' तक के लिए चिंतित और गंभीर दिखायी देते हैं। 'अग्निगर्भा चट्टानें' कविता में रंगभेद के चलते उत्पीड़ित अश्वेतों में खदबदाते आक्रोश और विद्रोह की सफलता के प्रति कवि की आश्वस्ति जताती है कि कवि के सोच और अनुभूति का पाट कितना चौड़ा है—

कोयले की इन अग्निगर्भा चट्टानों में/ छिपी हुई है भीषण विस्फोटकता/ उनमें भरी हुई है अंगार पिंडों-सी/ महाविनाशकारी दाहकता

प्रगतिशील जीवन-दृष्टि ने सौंदर्य-बोध को एक विशिष्ट आयाम दिया है। जब सर्वेश्वर कहते हैं कि भूख से लड़ता आदमी उन्हें सुंदर लगता है या केदारनाथ सिंह कहते हैं कि चट्टान को तोड़ो वह सुंदर हो जाएगी, तो वे निश्चय ही श्रम और संघर्ष से अद्भुत नये सौंदर्य-बोध की ओर संकेत कर रहे होते हैं। सिसौदिया जी ने पंत जी की धारणा 'मानव तुम सब से सुंदरतम' को एक तरह से स्वीकृति प्रदान करते हुए अपनी सौंदर्य-दृष्टि को कुछ इस तरह

प्रस्तुत किया है—

लगता है कूड़ा ढोने वाला सुंदर/ प्यारा है सड़क कूटने वाला/ लगता है अच्छा हर शिल्पी कारीगर/ है बहुत सुहाता धान कूटने वाला

ये पंक्तियाँ श्रम और संघर्ष के प्रति भरपूर सम्मान भाव दर्शाती हैं। अनेक कविताएँ उनके किसान कवि होने का प्रमाण देती हैं। उनकी कविताओं में खेतों, मेड़ों, रहटों, नहरों की उपस्थिति स्वाभाविक है। उन्होंने 'कवि किसान हूँ' कविता में किसानी का पूरा रूपक सजा दिया जाता है। संवेदना की भूमि, साधना का हल, कला की पैनी खुरपी, शब्दों के पौधे, विचार की फ़सल, भाषा की बाली, अंततः जन के लिए है, जन को समर्पित है—

जब अपनी धरती के गुण से/ रचना पूरित हो जाती है/ तब जन को कर अर्पण उसको/ अपना श्रम सार्थक करता हूँ

डॉ. सिसौदिया कलावादी कवियों से अलग नज़र आते हैं, लेकिन उनकी कविताओं में भाषा और कहन को लेकर असावधानी नहीं है, अपितु सजगता है। वे कविता को अपेक्षाकृत नये बिंबों-प्रतीकों से संपन्न करना चाहते हैं, ताकि वह 'विप्लव' में अपनी भूमिका निभा सके—

बदलें जड़ बिंब, प्रतीक/ कला का मन बदले/ बदले गत शिल्प-विधान, साध्य साधन बदले/ मैं चाह रहा देना विप्लव को आमंत्रण।

यह ध्यानाकर्षक है कि अपने समय की चुनौतियों के समानांतर चलती रही पैंसठ वर्षीय रचना-यात्रा में थकान और जरा के संकेत नहीं मिलते। श्रम-सौंदर्य से दीप्त उनकी परवर्ती कविताओं के सरोकार भी बड़े हैं और प्रासंगिक हैं। 'कुछ कहा, कुछ अनकहा' में संग्रहीत 'देश की तलाश', 'भजुआ-गाथा' आदि कविताएँ विशेषतः पठनीय हैं। 'देश की तलाश' में मौजूदा भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद की विकृतियों के बीच भौंचक खड़े आम आदमी के साथ कवि भी बेचैन और हतप्रभ है—

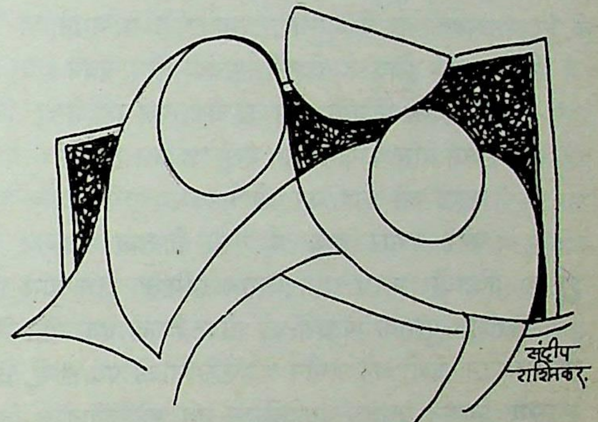
भूमंडलीकरण के ऐसे मायावी महाप्रसार में
वे तलाशते फिरते हैं बेचैन
श्रम संस्कृति और मानवीय व्यवहृति के
अपने देश को
जो उन्हें कहीं दिख नहीं रहा है।

'भजुआ-गाथा' बाहुबलियों-नेताओं-पुलिसवालों के कुत्सित गठजोड़ में आम आदमी की दुर्दशा की गाथा है। सब कुछ ख़त्म हो चुका है—खेत, घर, घरनी, सम्मान; फिर भी, भजुआ का प्रतिरोध-भाव अभी ख़त्म नहीं हुआ है। प्रतिरोध में विश्वास और परिवर्तन की आशा से भरा यह विज़न डॉ. सिसौदिया के काव्य में आद्यंत मिलता है—

आस नहीं छोड़ी थी उसने/ गाँव लौट कर/ घर, घरनी, धरती को/ बलवानों से मुक्त करा लेने की/ ठान लिया था उसने मन में/ हार नहीं मानेगा उनसे/ दम में दम तक

डॉ. सिसौदिया उन कवियों से भी अलग हैं, जो 'दुश्चरित्र व्यवस्था' के कोठे पर निःसंकोच जाते रहते हैं। वे स्पष्टतः जनविरोधी-अमानवीय व्यवस्था का विरोध करते हैं और सकारात्मक बदलाव के प्रति आश्वस्त हैं। वे काल को इसलिए भी चुनौती देते हैं कि क़लम के द्वारा मनुष्यता का नया संसार गढ़ने के संघर्ष को काल समाप्त कर देना चाहता है। लेकिन, वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि जब तक क़लम हाथ में है और वे शक्ति के आश्रय-स्रोत सामान्यजन से संबंधित और संबोधित हैं, उन्हें मनुष्यता के शत्रुओं से लोहा लेते रहने से कोई नहीं रोक सकता है—"मनुष्यता के शत्रुओं से/ ले रहा लोहा/ क़लम का अस्त्र लेकर।"

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़ (उ.प्र.)



दसवाँ 'आचार्य निरंजननाथ सम्मान' हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार दामोदर दत्त दीक्षित (मेरठ) को उनके उपन्यास 'धुआं और चीख' पर प्रदान किया गया। यह सम्मान राजस्थान के प्रख्यात साहित्यकार, राजनेता एवं राजस्थान साहित्य अकादमी के पूर्व अध्यक्ष निरंजननाथ आचार्य की स्मृति में उनके पुत्र कर्नल देशबन्धु आचार्य द्वारा साहित्यिक पत्रिका 'सम्बोधन' के माध्यम से दिया जाता है।

इस अवसर पर दामोदर दत्त दीक्षित को पन्द्रह हजार रुपये, प्रशस्ति-पत्र, स्मृति-चिन्ह, शाल और श्रीफल भेंट किया गया। दीक्षित ने आभार व्यक्त करे हुए उपन्यास के कुछ अंश पढ़े। समारोह समिति के अध्यक्ष कर्नल देशबन्धु आचार्य और 'सम्बोधन' पत्रिका के सम्पादक कमर मेवाड़ी ने भी विचार व्यक्त किये।

कमर मेवाड़ी
सम्पादक, 'सम्बोधन', कॉकरोली–313324, (राजस्थान)

ज्ञान-विज्ञान की किताबें

के.बी. सिंह

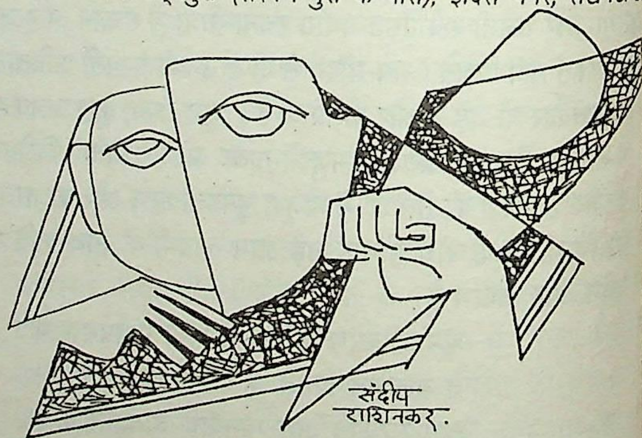
'कोई हमारे हाथ में ऐसी किताब दे,
उलझे हुए सवाल का सीधा जवाब दे।
सबकी है ये वसुंधरा, सबका है ये गगन,
सबके लिए है रोशनी, सबके लिए पवन।
दो दिलों में क्यों घृणा का बीज पल रहा है?
क्यों बांस के जंगल सा मेरा देश जल रहा है?
कांटों को छोड़ कर जो महकता गुलाब दे,
कोई हमारे हाथ में ऐसी किताब दे।'

यह पंक्तियाँ 'भारत ज्ञान-विज्ञान समिति' द्वारा हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'पत्थरों को तोड़ा है' के एक गीत से हैं। संभवतः इन शब्दों को जमीन पर उतारने के प्रयास में, शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान प्रचार, अंधविश्वास एवं सांप्रदायिकता विरोध, महिला सशक्तीकरण, वैकल्पिक शिक्षण, आदि क्षेत्रों में काम करते हुए समिति ने अपनी स्थापना के समय से ही जनता में पठन-पाठन संस्कृति विकसित करने के लिए बच्चों, नवसाक्षरों व युवाओं के लिए विभिन्न विषयों पर सस्ती और अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन किया है। हाल ही में प्रकाशित लगभग 175 पुस्तकों को मिलाकर समिति ने अब तक करीब 400 पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रकाशन के साथ ही गांव-गांव में जनवाचन आंदोलन के अंतर्गत इनको पढ़कर सुनाया जाता है, खरीदने को प्रोत्साहित किया जाता है तथा ग्रामीण पुस्तकालय बनाने के प्रयास किये जाते हैं। जनता के बीच में प्रभावशाली तरीके से पुस्तकें पढ़ने के लिए नाट्यकर्मियों व साहित्यकारों ने समुचित मार्गदर्शन दिया है। भारत ज्ञान विज्ञान समिति का जन्म केरल में संपूर्ण साक्षरता अभियान में 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद' के अनुभवों का पूरे देश में विस्तार करने की इच्छा से हुआ था तथा इसने साक्षरता अभियान में अग्रणी भूमिका निभाई।

पुस्तकें प्रकाशित करने का उद्देश्य बच्चों, नवसाक्षरों, महिलाओं और नौजवानों में देश-दुनिया के बारे में समुचित समझ पैदा करना, बदलती परिस्थितियों को आम आदमी के नजरिये से देखना, वैज्ञानिक समझ के प्रसार द्वारा अंधविश्वासों और गलत धारणाओं का खंडन करना, अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संघर्ष करना, पर्यावरण की रक्षा कर उसे और समृद्ध बनाना, भारतीय लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता व समता की रक्षा के लिए आगे आना तथा सूचना-विस्फोट के वर्तमान युग में तर्क शक्ति का विकास कर निरन्तर अद्यतन (अपटुडेट) रहना है। इसी कारण पुस्तकों की विषयवस्तु में बहुत विविधता रखी गई है। पुस्तकों में देश-दुनिया की नई पुरानी कहानियां, लोककथायें, इतिहास, विज्ञान, कवितायें, बच्चों और बड़ों के लिए नाटक, व्यंग्य, महिला मुद्दे, दुनिया भर की कहावतें आदि शामिल हैं। आम आदमी की नज़र से अर्थव्यवस्था व आर्थिक नीतियाँ समझने तथा जनांदोलन और व्यक्तिगत प्रगति के बीच उहापोह में फँसे युवाओं की समस्याएँ उठाने वाली पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारत ज्ञान विज्ञान समिति के राष्ट्रीय अध्यक्ष के.के. कृष्ण कुमार तथा महासचिव श्रीमती आशा मिश्रा के नेतृत्व में संगठन विशेष रूप से हिन्दी क्षेत्र में पुस्तक आंदोलन को विस्तार देने के लिए कटिबद्ध है।

बी-8 ब्रह्मपुरी (लक्ष्मण पुरी के पास), इंदिरा नगर, लखनऊ-1



सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं-
vartmansahitya@yahoo.com
vartmansahitya@gmail.com

संस्कृति और प्रकृति का अलबम 'सोजालोवो'

शंकर देव अवतरे

डॉ. ललित शुक्ल की कृति 'सोज़ालोवो' आकार में जितनी छोटी है प्रकार में उतनी ही बड़ी है। यह केवल रिपोर्ताज या यात्रावृत्त ही नहीं है, अपितु संघर्षमयी कहानियों और गद्य-गीतों की अविरल गंध से भी महक रही है। प्रत्येक विधाखण्ड अपनी गहरी छाप छोड़ता है। पाठक की अन्तरात्मा कह उठती है कि किसी भी रूप में यह पूर्ण साहित्यिक कृति है।

ललित जी की रचना के दो सशक्त किनारे हैं जिन्हें लगातार चूमती हुई इनकी भाव-स्रोतस्विनी आगे बढ़ती है। ये हैं प्रकृति और संस्कृति की जुड़वाँ बहनों के हरीतिमा-सन्नद्ध अपार पारीण मिलते विजन। कहीं लेखक स्वयम् ही कृतिमय हो जाता है तो कहीं भारतीय संस्कृति की उपार्जित अनुभूतियों में अपने आप को समो देता है। एक तरह से लेखक की यात्रा सर्वत्र ही दुहरी है। एक ओर तो वह सागरद्वीप, शांतिनिकेतन जैसी भौतिक यात्राओं में रमता चलता है तो दूसरी ओर जीवन से जुड़ी हुई प्रकृति और लोक-संस्कृति के अपूर्व प्रयोगों से पाठकों को सम्मोहन की मूर्च्छा देता चलता है। डगर के फूलों में ही उनका मन नहीं रमा, बल्कि आकाश के फूल (चन्द्रमा) को भी वह हर अभाव में जी रहा है। प्रकृति और संस्कृति का यह अद्भुत सम्मिश्रण शुक्ल जी का असली रचना-धर्म है।

प्रकृति और संस्कृति, दोनों ही व्यापक शब्द हैं। प्रकृति पुरुष की है तो चर-अचर विश्व की भी है। लेखक ने इसे इसी व्यापक अर्थ में लिया है। उसने छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं और जीव-जंतुओं की प्रकृति का विश्लेषण किया है। देवप्रकाश की प्रकृति को ढोने में उसने इन्तहा कर दी है तो नदी, नाले, पहाड़, समुद्र आदि भी उसके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटे। पराकाष्ठा तो वहाँ हो गई है जहाँ जड़-चेतन को इस प्रकार गूंथ दिया गया है कि सृजन अपने पुनः सृजन में दिखाई पड़ता है और 'मुरारेस्तु तृतीयाः पन्था' जैसी लोकोक्ति को चरितार्थ कर देता है।

संस्कृति भी देश-विदेश, जाति-प्रजाति जैसे भेद-अभेदों में अनन्त और अपार है। किन्तु लेखक की कारीगरी इसमें है कि वह किसी भी संस्कृति खंड को इस प्रकार उलटता-पलटता हैं कि अखंड संस्कृति विभिन्न तागों में बुनी हुई चादर की तरह कम्पायमान होती चलती है। मलिक मोहम्मद जायसी की समाधि और 'जायस नगर मोर अस्थानू' को मिलाकर देखा जाय तो सबकुछ स्पष्ट हो जायेगा। आखिर यह भी भारतीय संस्कृति के सच्छाय रूपों में अन्यतम है जहाँ लेखक का संयोग ही नहीं, मनोयोग भी है।

डॉ. ललित शुक्ल की गद्यशैली इस बात का प्रमाण है कि अभिधा की मार कहीं-कहीं लक्षण-व्यंजना से भी भारी पड़ती है। इसीलिए शुक्ल जी की शैली की वक्रता जहाँ कुन्तक की वक्रोक्ति की याद दिलाती है वहीं उसकी 'विचित्रैव अभिधा' के रूप में अभिधा के सामर्थ्य का अहसास कराती है। मेरी पूछो, तो मैं तो शुक्ल जी की सपाटबयानी का अधिक हिमायती हूँ। स्वर्णकार जैसे छोटी हथौड़ी की धीमी चोट से सोने के पुटास को चमकाने के साथ-साथ फैलाता है, वही हाल शुक्ल जी की गद्यशैली का है। इनकी सूक्ष्म दृष्टि जितनी पैनी है, उतनी ही गहराई के साथ-साथ फैलती जाती है। 'बीता हुआ पर्याय' में यह बेहद दर्दीली है। शांतिनिकेतन और सुंदरवन जैसे वर्ण्य विषयों से विदा लेते हुए यह इतनी भावुक हो जाती है कि नायक-नायिका के सस्ते संयोग-वियोग से बहुत ऊपर तुलसीदास के शब्दों में 'बिछुरत एक प्राण हर लेई' की दशा उपस्थित कर देती है। यात्रा के अंत में लेखक क्या कहता है, इसे उसी के शब्दों में देखिए :

'विदा शांतिनिकेतन अलविदा। गुरुदेव की विद्याभूमि को मेरा अभिवादन। हम चाहे जहाँ रहें, यह यहीं रहेगी।'

कोई सहृदय पाठक की बता सकेगा कि लेखक के इस उद्‌गार से उस पर क्या बीती है। क्या वह लेखक की मार्मिक अनुभूति से हिल नहीं गया है ?

डॉ. शुक्ल लिखते नहीं हैं, चित्रण करते हैं। रंगों से नहीं, शब्दों से। यदि चित्रकार एक रेखा से अपना भाव उतार देता है तो शुक्ल जी एक विशेषण को ऐसे ढंग से खड़ा कर देते हैं कि पाठक की त्वरित गति भंग हो जाती है और वह ठहर कर चर्वणा करने लगता है। लेखक सई नदी की दुर्दशा पर इतिहास को पीटता है तो पाठक को 'गांधारी' शब्द के अर्थ-बिंब का झटका मारता है। 'कई सरकारें आती-जाती रही पर 'गांधारी' बनी रहीं' इस वाक्य से उपेक्षा का भाव ही प्रकट नहीं होता, बल्कि सरकारों की आत्मारोपित अंधता भी ध्वनित होती है। मरणोन्मुख समझने वाले व्यक्ति और उससे अभेद सहानुभूति रखने वाले लेखक का इससे अधिक गहरा भाव-चित्र नहीं हो सकता जिसे शुक्ल जी ने अपने भीतर खींचा है। दोनों बिछुड़ रहे हैं—कदाचित् हमेशा के लिए। लेखक बस में बैठ गया है, इसलिए नहीं भी बैठा है, क्योंकि उसका दिल बैठ गया है। बस का इंजन घुरघुराता है और जीवन से निराश मित्र अपने कमरे में देखता हुआ भी कुछ नहीं देख पाता। देखिए लेखक की कूंची (कलम) का कमाल—

'मैं बस में नहीं हूँ। अपने में नहीं हूँ। देखता हूँ, वेदप्रकाश कुछ खोज रहा है, अपने दफ़्तर की चारदीवारी के भीतर। उसे कहीं कुछ दिखाई नहीं देता।' श्लेष चमत्कारी होते हैं पर यहाँ 'बस' के

श्लेष की असमर्थता के बोझ से लेखक तिड़ी-बिड़ी हो रहा है और पाठक उसकी सहानुभूति में किताब बंद करके हिलने लगता है।

चित्र के निर्माण में लेखक वस्तुवादी भी कम नहीं है। एक विदेशी महिला का विद्रूप चरित्र-चित्रण देखिए जिसके प्रति लेखक निहायत तटस्थ और बे-लगाव है...'युवती ने लंबे साइज की सिगरेट सुलगा ली। सागर की असीमता को धुँए के छल्ले भेंट करने लगी।'

यह है उपेक्षामय यौवन का बे-स्वाद आकर्षण!

अंत में शुक्ल जी की एक अनन्य साधारण विशेषता का संकेत करना चाहता हूँ। वह है 'सर्च लाइट' या फबते पैबंद। मैंने इसका पूर्वरूप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के गद्य-साहित्य में देखा था, किन्तु शुक्ल जी तो इसके बिना एक डग भी नहीं चलते। इसके बिना शुक्ल जी का एक पृष्ठ भी नहीं है। यह गद्य-साहित्य में प्रकारांतर से अर्थांतर-न्यास का काम करता है। इससे नये अर्थ फूटते हैं। निंदा-स्तुति बिना चकल्लस के उड़ जाती हैं। सब कुछ कहकर भी लेखक पकड़ में नहीं आता। पक्षपात भी तटस्थता का कवच पहन लेता है। सच पूछा जाय तो लेखक की लेखनी से निकलने वाला यह रामबाण है जो निशाने से कभी नहीं चूकता पर इसकी निशानदेई का सबूत किसी के पास नहीं होता। इसमें देश की बदनामी भी गले से नीचे उतर जाती है, क्योंकि 'जहाँ चोरी, झूठ, फरेब, जुर्म न हो वह कैसा भारत'। राजनीति में कोई अच्छी चीज सहज नहीं पनपती, क्योंकि–'सियासत के ऊसर में बहुत कम पौधे खुराक पाते हैं।' संतुलन ही सामरस्य का मूल मंत्र है, क्योंकि–'बराबर शक्तिवाला सम्मिलन शांति को जन्म देता है।' विदेशी रंगत में ही सही, भौतिक आकर्षण को संभालना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि यहाँ–'औरत मर्द का हिन्दुस्तानी फ़र्क़ गायब हो जाता है। सब कुछ खुला-खुला होने के बावजूद भीड़ उन्हें दूर से घूरती है।'

इस प्रकार की सर्च लाइट और फब्तियों के पैबंदों के आगे सारे तर्क धूल चाटने लगते हैं। दूसरी तरफ पाठक को इनके द्वारा एक प्रकार की आक्सीजन मिलती चलती है और वह आगे के लिए फ्रेश (ताज़ा) हो जाता है। समझ में नहीं आता कि डॉ. ललित शुक्ल के कृतित्व की दाद दूँ या उनकी कृति की! मैं तो दोनों को ही दण्डवत करता हूँ।

एच-54, ज्योतिनगर (पश्चिम), लोनी रोड, दिल्ली-110094

सोजालोवो, डॉ. ललित शुक्ल, लोकमित्र, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : 140/-

■

किस्सागो के विज़न में पाठक की मौजूदगी का अहसास कराती कहानियाँ

प्रेम शशांक

हिंदी कहानी के वर्तमान परिदृश्य में जब एक साथ कई पीढ़ियाँ सक्रिय हैं तब कहानी की मुख्य धारा अथवा कहानी-यात्रा किन कहानीकारों की कहानियों से होकर गुज़र रही है जैसे बेतरतीब और झूठे दावे न केवल आलोचना की विश्वसनीयता को प्रभावित करते हैं बल्कि विधागत सच्ची रचनाशीलता के बारे में भी भ्रमित करते हैं। मजे की बात यह है कि ऐसे दावों की झड़ी लगी है और कहानी के पाठक को मनमाने पर पूरा ज़ोर है लेकिन यह भी कोई नई बात नहीं है, कहानी का इतिहास ऐसी ज़ोर आजमाइश से भरा पड़ा है। जब नई कहानी का शोर मचा तब भी जेनुइन कहानीकार चुपचाप कहानियाँ लिख रहे थे और जब जनवादी कहानी की बात हुई तब भी इस धारा से भिन्न जेनुइन कहानीकारों की एक लंबी पाँत बराबर सक्रिय रही और आज जब कुछ नाम गिनाकर कुछ कहानीकारों को जमाने की कोशिश की जाती है तो ऐसे बहुत से कहानीकार ज़ेहन में आते हैं जो बिना शोर-शराबे के रचनारत हैं। हरी चरन प्रकाश ऐसे ही कहानीकार कहे जा सकते हैं। उनकी कहानियों में शिल्प की कोई बाजीगरी नहीं है और भाषा के स्तर पर भी कोई बहुत छूट लेते नज़र आते। वह एक सशक्त किस्सागो हैं। उन्हें कहानी कहनी है, कहनी भी आती है और सबसे बड़ी बात उनके विज़न में पाठक है। वह पाठक की मौजूदगी के बगैर कहानी सोच भी नहीं सकते। जादुई यथार्थवाद के युरोपिया का कोई दुःस्वप्न भी उनके पास नहीं है। उनकी कहानी-कला क्रिस्टोफर काडवेल की कहानी-सम्बन्धी इस सोच पर खरी उतरती है कि कहानी पाठक को उस दुनिया में पहुँचा देती है जिसका कि वह वर्णन करती है। वह दृश्य को देखता है पात्रों से मिलता है और उसके विलंबों, गलतियोंऔर बदहालियों का अनुभव करता है।

हरीचरन प्रकाश के तीसरे और समीक्ष्य कहानी संग्रह में फ़कत सात कहानियाँ हैं। 'गृहस्थी का रजिस्टर' संग्रह की शीर्षक और पहली कहानी है। आमतौर पर कहानियाँ आत्मकथात्मक शैली में कम ही लिखी जाती हैं और कहानी के संदर्भ में इस परइतना ध्यान भी नहीं दिया जाता है। लेकिन 'मैं' के माध्यम से नायक के नायकत्व को जो विश्वसनीयता इस कहानी में मिली है, उसी की रोशनी में मम्मी-पापा, पत्नी व रिश्तेदार (जिसकी सिफारिश से नायक को नौकरी मिलती है) इत्यादि चरित्र औपन्यासिक विज़न में नज़र आते हैं। कहने का तात्पर्य है कि चरित्रों के बीच जो गहराई और संलग्नता उपन्यासों में

होती है वही इस कहानी में चरित्रों के मध्य देखी जा सकती है। उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए लगता ही नहीं कि उनकी कोई कथा भाषा भी है, यद्यपि है। कारण कि उनकी भाषा उनके मुँह से कम और चरित्रों के मुँह से ज्यादा फूटती है और वह चरित्रों के अनुरूप इतनी रची-बसी होती है कि उसके बारे में अलग से सोचना भी ज्यादती सा लगता है। सोच के बीच का गैप भी वह बड़ी कुशलता से भरते हैं।

उनकी कथा भाषा के अर्जन के लिए कहानीकार के श्रम को समझा जा सकता है। इस कहानी की एक और विशेषता है कि भाषा के साथ चरित्रों में संलग्नता बेहद सधे ढंग से उभर कर आती है। यह पारिवारिक संलग्नता स्थानीयता की उपज भी कही जा सकती है, इसे वर्गीय विवशता के रूप में भी समझा जा सकता है लेकिन पारिवारिक सम्बन्धों की उष्मा ही इस कहानी के संदर्भ में जीवनी-शक्ति कही जा सकती है जहाँ बदलते समय के साथ बाजार का प्रभाव हावी नहीं है। उत्तर आधुनिक जीवन की जटिलताओं के बीच स्नेहिल संबंधों में सरलता कहानीकार का वैशिष्ट्य है। यह सरलता उतनी सरल नहीं है जितना दिखती है, यह व्यक्ति और समाज के बीच स्वाभाविक अन्तर्विरोधों से निःसृत है।

'चींटियों की आवाज़' समीक्ष्य संग्रह की ऐसी ही एक और सशक्त कहानी है। कहानी की शुरूआत में आजीवन और निर्जीव दाम्पत्य जीवन की मुगलमूर्तियों का भाषाई शब्द चित्र देखिए- 'वह स्त्री और पुरूष पास-पास बैठे हुए थे। एक दूसरे से हिलगे हुए नहीं, बल्कि यूं ही पास-पास। उनके चेहरों पर कोई उत्कंण या आवेग नहीं था। जैसे लौकी और कद्दू अगल-बगल रखे हों, वह ऐसे ही रखे हुए थे।' इससे चलताऊ ढंग से भाषाई खिलंदड़ेपन से विभूषित करते हुए किनारा नहीं किया जा सकता। खिलंदड़ापन तो बेशक है लेकिन अनुभवीय चाशनी में पगा हुआ है। कई बार छोटे-छोटे वाक्य अथवा संवाद खिलंदड़े संस्कार के बावजूद संजीदगी में देर तक डूबते उतराते रहते हैं और बहुत ही सहजता से जटिल से जटिल स्थितियों से उबारते हुए कथा को एक गति देते हैं, जैसे-

'फातिमा से कह दो कि आदमी या तो खुदा को राजी कर सकता है या दुनिया को।'

''बस बीच-बीच में वह मजहब की दवा पिया करता जिससे कोई बीमारी पैदा होती तो कोई ठीक हो जाती।''

दरअसल वह एक ऐसा सरकारी कारकुन था जो घूस नहीं लेता था लेकिन सहकर्मी बुरा न माने इसलिए वह अतिरिक्त रूप से अल्ला-अल्ला करने लगता था।

दरअसल उक्त तीनों उदाहरण कहानी के मुख्य चरित्र शुजात अली तल्हा से बावस्ता हैं जो सरकार के पिटीशन विभाग में अनुभाग अधिकारी हैं और दूसरा महत्वपूर्ण चरित्र खेती और मज़दूरी पर गुजर-बसर करने वाला फुरकान अहमद उर्फ जिग्गन है। जिग्गन अपने बेटे आफताब अहमद की नौकरी लगवाने के लिए दबाव में आधी ज़मीन बेच देता है और ज़मीन की बिक्री से प्राप्त रकम दलाल को सौंप देता है। कुछ कानूनी अड़चनों के चलते न नौकरी मिलती है और न ही रूपया वापस आता है लेकिन जिग्गन और उसका परिवार मुसीबत में फँस जाता है। जैसे-तैसे गुजर-बसर का सहारा भी छिन जाता है जिससे आजिज़ आकर वह आत्महत्या के बारे में सोचते हुए सरकार को चिट्ठियाँ लिखता है जो शुजात अली तल्हा को मिलती है। संवेदना से लबालब शुजात अली सरकारी औपचारिकतायें पूरी करते हैं लेकिन उन्हें संतोष नहीं मिलता क्योंकि सबकुछ उनके हाथ में तो है नहीं! वह जिग्गन की बेबसी और दुखारियों को शिद्दत से महसूस करते हुए मनोरोग का शिकार हो जाते हैं। क्या संवेदनशील होना गुनाह है? कहानी के मुख्य चरित्र शुजात अली इस गुनाह को ढोते हैं।

संग्रह की अंतिम कहानी 'आत्मवध' से पहले मुख्य अमर कौशिक की संवेदनशीलता के संदर्भ में 'चींटियों की आवाज़' के काफी नज़दीक है। दोनों ही कहानियों के मुख्य चरित्र संवेदनशील है। दोनों को ही मनोचिकित्सक से संपर्क करने की सलाह दी जाती है। वर्तमान समय-समाज के संदर्भ में संवेदनशील होना क्या इतना खतरनाक है? क्या इसलिए संवेदन रूप से समाज छीजता जा रहा है? संवेदना को बचाना निश्चय ही सजग रचनाशीलता के लिए जरूरी है लेकिन जोखिम भरा भी कम नहीं है। जीवन से मानवीय कलाओं की बढ़ती दूरी ने इस संकट को और गहराया है। नाटकीय शिल्प ने जहाँ संवादों के जरिए कहानी को धारदार बनाया है वहीं मुख्य चरित्र के वे व्यवहारिक पक्ष दृश्यों से अदृश्य हैं जिनके लिए वह आत्मवध का निर्णय लेता है अलबत्ता कुछ घरेलू दृश्य प्रभावशाली मगर कथा के विकास की दृष्टि से अनावश्यक कहे जा सकते हैं। पत्रिका के सांप्रदायिकता के विरूद्ध अंक के संदर्भ में डाइरेक्टर से उभरे अन्तर्विरोध और चपरासी कम घरेलू नौकर अमित के संदर्भ में पत्नी से वैचारिक मतभेद आत्मवध के लिए उकसाने में नाकाफी कहे जा सकते हैं। इसीलिए कहानी का अंत भ्रमित करने वाला है, संभव है मंचीय प्रयोग में यह कभी नज़र न आये लेकिन कहानी के स्तर पर यह झोल बना हुआ है। नाटकीय शिल्प में कहानी कहने का यह प्रयास कहानीकार की विभिन्नता के प्रति प्रतिबद्धता के लिए आश्वस्त करता है।

'मधुमेह और मधुमास' कहानी समय और समाज की गतिशीलता को व्यक्ति स्तर पर सोच और व्यवहार में आये परिवर्तनों के संदर्भ में रचनात्मक कौशल से पकड़ती है। इसमें कहानीकार की रचनात्मक सहजता और बौद्धिक चपलता के अद्भुत संयोगों को बनते-बिगड़ते देखा जा सकता है लेकिन इसी सहजता से व्यक्ति के कई बड़े प्रश्न औचक देखे जा सकते हैं जिनके संभावित उत्तर रोचक हैं। छोटे-छोटे संयोग और घूटें बनर्जी और नीलिमा किश्वर जैसे चरित्रों के लिए संजीवनी की तरह हैं। जिनसे जीवन बार-बार हरा हो जाता है। समय और सामाजिक परिवेश में कहानीकार की संलग्नता 'खोह का निवासी', 'इतिहास का आरंभ', 'चश्मे की वैतरणी' जैसी अन्य कहानियों में भी महसूस की जा सकती है। हरीचरन प्रकाश के लेखन के सम्बन्ध में निसंकोच कहा जा सकता

है कि वह बहुत सोच-विचार के बाद ही लिखने बैठते हैं। समीक्ष्य संग्रह की कहानियों के संदर्भ में यह खुद ही साफ हो जाता है कि वह कितने चूजी हैं और भाषा को मांजने की प्रक्रिया में वह इतने उद्यत नज़र आते हैं कि पाठक की तस्वीर साफ नज़र आने लगे।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि.
सेमीखेड़ा, बरेली (उ.प्र.) 243203

गृहस्थी का रजिस्टर, हरीचरन प्रकाश, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, मूल्य : 150/-

■

लरिकइंवा की प्रीत

संजय कुमार

मौजूदा समय में हिन्दी साहित्य में अधिकांश पाठक मध्यकालीन कविता के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। आशंका तो यहाँ तक की जाती है कि कुछ वर्षों बाद मध्यकालीन कविता को पढ़ाने वाले लोग नहीं रह जायेंगे। कुँवरपाल सिंह, मैनेजर पाण्डेय आदि की आलोचना ने मध्यकाल को पढ़ने सोचने एवं विचारने का एक नया आयाम दिया है। इस संदर्भ में सत्यदेव त्रिपाठी की पुस्तक 'मध्यकालीन कविता के सामाजिक सरोकार' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सत्यदेव त्रिपाठी ने मध्यकालीन उन कवियों को अध्ययन के केन्द्र में रखा है जिनके संस्कार को उन्होंने बचपन में अपने परिवार से प्राप्त किया था। वह भी 'लरिकइंअवा की प्रीत' से भी पहले। अतः विश्लेषण में तटस्थता तथा भावुकता का योग दिखता है।

आलोचक की इस बात को ध्यान में रखा है कि वह उन्हीं पहलुओं को सामने लायेगा जिससे समाज सबसे ज़्यादा जूझता है। बाजारवाद के प्रभावस्वरूप मध्यकालीन कविता को किस तरह से समझा जाय इस पर आलोचक प्रकाश डालते हुये उसे काल की कविता की संदर्भकालीनता को स्पष्ट करना अपना कर्तव्य समझता है। पुस्तक के प्रत्येक अध्याय तथा रचनाकारों की रचना के माध्यम से आज के लिए उपयोगिता को दर्शाया विषय को महज ऊपर से देखना न होकर गंभीर चिंतन मनन का परिणाम है। सूर के माध्यम से रचनाकार ने पूँजीवादी व्यवस्था के तंतुओं को खोलते हुए यह बताया है कि सूर का साहित्य किस तरह से इन परिस्थितियों में भी प्रासंगिक है। बाजारवादी व्यवस्था उस समय जितनी क्रूर थी हम आज उससे ज़्यादा क्रूर व्यवस्था में जीने के लिये विवश हैं। कबीर का हवाला देते हुये इन्होंने लिखा ''घरी-घरी का लेखा जोखा माँगने वालों वणिकबुद्धि जगत् की तत्कालीन सामंती प्रवृत्ति से कबीर, क्षुब्ध हैं। इस सामंती मनोवृत्ति को और भी स्पष्ट करते हैं।

मन दस नाज, टका दस गँठिया टेढ़ौ-टेढ़ौ जात/ राजा
भयौं गाँव दस पायौ, टका लाख दस बात।

पूँजीवादी व्यवस्था की क्रूरता से जन सामान्य को किस तरह बचाया जाने आज यह आलोचकों के लिये बहुत बड़ा प्रश्न है क्योंकि जिसको बचना है उसको यह भी नहीं मालूम कि उसका दुश्मन कौन है। रचनाकार ने प्रस्तुत पुस्तक में बड़ी शिद्दत से समाज के शत्रुओं को सामने लाया है वह भी उस समय की कविता के माध्यम से जिसको आज की पूँजीवादी व्यवस्था ने पूरी तरह से खारीज करने की ठान ली है। उस हालत में बिहारी के साथ होते हुये यह बताने की जद्दोजहद कि किस तरह से बिहारी के सामंती समाज से आज का समय बाहर नहीं निकल पाया है। यह दुखद है लेकिन सच्चाई है। ''सामंती युग भोग-विलास का युग और भोग विलास भी सामान्य जन वाला नहीं। राजाओं-सामंतों की अभिजात रुचियाँ और रुचियों का अभिजात्य असामान्य से जुड़ा होता है। असामान्य याने जो कॉमन न हो, याने कामन लोगों के पास न हो। यही आज की पूँजीवादी मनोवृत्ति में भी है। इसके उपभोग के साधन व उनके उपयोग के पीछे यही दृष्टि होती है।'' समाज की इस मनोवृत्ति को सामने लाते हुये आलोचक मध्यकालीन कविताई के मर्म को कमतर नहीं किया है। सत्यदेव त्रिपाठी ने इस पुस्तक में उन्हीं मुद्दों को अधिक स्थान दिया है जिसकी चर्चा साहित्य जगत में ज़्यादा है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों द्वारा की गयी भूलों पर प्रकाश डालते हुये इन्होंने लिखा ''यहाँ यह कह देना उचित होगा कि साहित्येतिहास में कबीर को ज्ञानाश्रयीधारा की भक्ति का प्रतिनिधि कवि बताया गया है। प्रेममार्गी भक्ति का प्रतिनिधि तो जायसी करते हैं, परंतु कबीर के साहित्य से तो बार-बार गुज़रते हुये यह मान्यता सिर्फ वर्गीकरण करने के लिये नाम दे दने से ज़्यादा महत्व की नहीं ठहरती। आचार्य शुक्ल ने तो निराकार की भक्ति को ही अभारतीय कह दियां, किंतु उनकी मान्यता अब पूर्णतः बदल चुकी है। इस ज्ञानमार्ग वाले वर्गीकरण को भी इतिहास में फिर से सोचना होगा, क्योंकि कबीर मूल का मार्ग भक्ति एवं प्रेम है। ज्ञान को वे वहीं तक चाहते हैं, जहाँ तक वे माया के अज्ञान को दूर कर सकें। भक्ति को अंध विश्वास से बचा सके-विवेक सम्मत बनार सके।'

यह किताब चूँकि लरिकइंअवा की प्रीत पर आधारित है। अतः अपने पूर्वजों से प्राप्त संस्कार-सरोकार को आधार बनाया गया है। इस संस्कार-सरोकार का सबसे मुख्य स्रोत बना-'रामचरितमानस'।

तुलसी की रचना इनके संस्कार की पयस्विनी है इस कारण में इन्होंने तुलसी को अधिक महत्व दिया। तुलसी द्वारा स्थापित उन्हीं मुद्दों को सबसे ज़्यादा महत्व मिला है। जिसके कारण

समाज तथा साहित्यालोचक तुलसी को कटघरे में खड़ा करते हैं। इन्होंने लिखा है "निस्संदेह तुलसीदास वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। और उनसे आज अपेक्षा की जाती है कि उन्होंने उसका खंडन क्यों नहीं किया—जैसे कि कबीर ने किया। परिस्थितियों दोनों की कमोबेश एक जैसी थीं, तो प्रतिक्रियायें एकदम उलटी क्यों ? हमारा भारतीय समाज वर्णाश्रम के व्यवस्था के पाये पर खड़ा रहा था-आज भी उसे गिराया नहीं जा सका है। तुलसीदास ने तो उसे गिराना चाहा भी नहीं। उस वक्त इस्लाम धर्म आँधी के प्रबल बेग की तरह भारत में तहलका मचा रहा है। तत्कालीन भारतीय व्यवस्था को ढहाने के लिये वर्णव्यवस्था के पाये पर ही वह सुनियोजित आघात भी कर रहा था क्योंकि इत्तफाकवश उसके पाये वर्ण-व्यवस्था के एकदम विपरीत वाले ही थे। ऐसे में जब आँधी से घर उजड़ने की संभावनाएँ सामने है, तुरंत नया घर बनाने के बदले अपने पुराने घर की मरम्मत करना तुलसी ने बेहतर समझा।" 500 साल पहले तुलसी ने मर्यादा को सिर्फ निदर्शन ही नहीं किया था, इसे तोड़ने के दुष्परिणाम भी दिखा सके थे। व्यवस्था यूँ है, जिसे लेकर नाक भौं सिकोड़ी गई है—

"महावृष्टि चली फूटि कियारी/जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी।"

यह निंदा नहीं, प्रकृतिगत सत्य है और समाज के लिये हानिकारक भी। प्रमाण रूप में लक्ष्मण रेखा व लक्ष्मण की बात के अनुशासन को तोड़ने वाली सीता का हस्र देख लीजिये। कैकेयी ने भी तो स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही किया। शूर्पणखा थी ही स्वछंद।" इस तरह की बात रचनाकार ने भावुकता वश-भले लिखा लेकिन यह खूब सोच समझकर दिया गया निर्णय नहीं है। समय यह कहता है कि महिलाओं की समाज में स्थिति बदल चुकी है। बदलती हुई स्थिति को ध्यान में रखते हुये समझदार जन को अपनी बनी-बनायी धारणा में परिवर्तन लाना चाहिये। रचनाकार भावुकता से परे होकर जब कुछ सोचता है वह विलक्षण हो जाता है। घनानंद के बारे में दिया गया यह निर्णय साहित्य अध्येताओं के लिये नये दृष्टिकोण को देने वाला है।

भाषा के पारखी सत्यदेव त्रिपाठी बड़ी सहजता से अवधी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। 'लरिकइंअवा', 'आपोआप' आदि शब्द हिन्दी भाषा को समृद्ध करेंगे। यह किताब मध्यवर्गीय महत्वपूर्ण कवियों की कविता को समझने के दृष्टिकोण को सामने लाने के साथ मध्यकालीन कवियों की कविता को पढ़ने के कारण को बताता है।

वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग, संत जेसेफ्स महाविद्यालय,
नॉर्थ प्वॉइंट दार्जिलिंग-734104

मध्यकालीन कविता के सामाजिक सरोकार, सत्यदेव त्रिपाठी, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32, मूल्य : 110/-

■

साहित्य के रचना-विधान और उद्देश्य पर बहस

मृत्युंजय उपाध्याय

भरत प्रसाद की वैचारिक पुस्तक 'देसी पहाड़ परदेसी लोग' में साहित्य, कला, संस्कृति, देसी, परदेसी, समकालीनता, जीवन-सत्य आदि पर इसमें विस्तार से विचार किया गया हे। यहाँ विचार लगातार पढ़कर, पचाकर उसे अपना बनाकर मौलिक रूप से रखा गया है। चिंतन का सार सर्वत्र दिखाई पड़ता है। आज के बाजारवाद, उपभोगवाद की प्रवृत्ति ने मनुष्य को कितना बड़ा मानवभक्षक बना दिया है, इस पर विचार किया गया है 'कैसे-कैसे चेहरे' में। धनवान, पूँजीपति आम आदमी को कैसे गुलाम बनाकर रखता है और उसे सब दिन असभ्य और जाहिल करार करने में ही उसका स्वार्थ सधता है। दिनकर ने लिखा है "ऊपर सिर पर कनकछत्र, भीतर काले के काले।" लगते हैं बड़े भावुक, परदुःखकातर, मानव-प्रेमी, संवेदनशील पर "इस आदमी ने अबोध बच्चियों के नाजुक बचपन से बर्बर ऐंद्रिंक खेल खेला है। उनकी साँस तोड़ डाली है।" (पृष्ठ-11) 'साथियों' चंद्रशेखर ऐसे नेता (छात्र) की कर्मठता का दस्तावेज है। 'प्राइवेटाइजेशन' के खिलाफ छात्र-आंदोलन की गतिविधि, प्रतिबद्धता और छात्रों की विजय का नेता है चंद्रशेखर। यही नेता महत्वाकांक्षा और राजनीति के दाँव पर काल का ग्रास बना। महत्वाकांक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारती है।

'कलम की कला' साहित्यकार के व्यापक उद्देश्य पर केन्द्रित है, जो विरोध, आलोचना और उपदेश से कभी पीछे नहीं हटता। शब्द को वह संवेदनशीलता की उपज मानता है और साहित्य के व्यापक उद्देश्यों पर स्पष्ट राय देता है-बिना किसी पक्षपात, पूर्वग्रह के अनथक सृजन, जनता को रचना का केंद्र बनाना, देश, समाज, मानवता के लिए पाठक में बेचैनी पैदा करना। उसका मानना है "व्यक्ति से लेकर समाज, राजनीति, संस्कृति का गहन और सच्चा मुआयना करने के लिए रचनाकार को सबसे पहले अपनेपन से न सिर्फ बाहर आना होगा, बल्कि खुद को बहुत काफी चीजों को महसूस करने लायक अत्यंत संवेदनशील कलाकार बनाना होगा"। (पृष्ठ 42)

'रचना की कसौटी' निबंध 32 पृष्ठों का है। यह एक निबंध ही पूरी कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। लेखक ने यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत व्यक्त किया है : "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल, मनुष्य को

दुर्गति, हीनता और परमुखपेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त नहीं कर सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'' (पृ. 47)

नारी-विमर्श की वर्तमान प्रगति, प्रवृत्ति और उपलब्धि पर नई दृष्टि डाली गई है–'नारी विमर्श की कसौटी पर औरत' में। जहाँ वर्जीनिया वुल्फ (A Room of one's own) नारी को काल्पनिक रूप से सर्वोच्च महत्व का अधिकारी बताता है, वहाँ व्यावहारिक रूप से उसे पूर्णतः महत्वहीन देखता है। कविता में वह पृष्ठ-दर-पृष्ठ अंकित है, पर इतिहास में अनुपस्थित। लगता है नारी कबीर के जमाने से आगे नही बढ़ पाई है, भले ही उपभोक्तावाद, बाजारवाद ने उसके जिस्म-प्रदर्शन को खूब भँजाया है। उसे एक सामान (commodity) से अधिक नहीं माना है। 'ऐंजिल्स' ने लिखा है कि नारी को दोयम (Second Sex) मानने के पीछे उसकी आर्थिक पराधीनता है। उसकी बनावट, मातृ-रूप भी। उसके मातृरूप के साथ उसका जो नारी-रूप (भोग्या) है, वही सारी विडंबना का कारण है। उसे स्वैरिणी बनाना है, तो पुरूषाधीन, क्रयविक्रय का सामान।

''औरत को निकलना है अपनी समस्त मानसिक और भौतिक जड़ताओं के कैद से, निकलना है–सुखद खूबसूरती की दुर्बल मानसिकता से, कोमलता के घातक आवरण से, आदर्शों की दिखावटी मान्यताओं से, मुहब्बत की जादुई घेरेबंदी से और अंततः खुद से भी। औरत का 'औरतपन' ही उसके जीवन की जंजीर है।'' (पृष्ठ 83)।

'अपनी-अपनी श्रद्धा' में लेखक ने जाति, धर्म और अर्थ के पारस्परिक संबंधों की पड़ताल की है। जाति और धर्म के ह्रास और उसके विकास की ओर लेखक स्पष्ट संकेत करता है।

'दिल्ली-शिमला-दिल्ली' जितना यात्रा वृत्तांत है, उतना ही आत्मवृत्त है। इन शहरों के जीवनमान, भौगोलिक परिवेश आदि के चित्रण के साथ लेखक अपने विचारों, प्रभावों को भी आँकता जाता हे। प्राकृतिक सौंदर्य सर्वत्र बाँधे रहता है। ''आकाश का मासूम नीलापन, चीड़ों की ऊँची-ऊँची शाश्वत हरियाली, पहाड़ों की रहस्यमयी धुँधली, बादलों की अनछुई सफेदी और सूरज का धुला हुआ प्रकाश, सब एक दूसरे से घुलमिलकर ऐसी प्राकृतिक छटा बिखेरते थे कि मन मारे खुशी के बच्चा होने लगता था।'' लेखक का बच्चा होना ही सब कुछ कह देता है - आत्मपरकता का यह नूतन दृष्टांत है।

दूसरा खंड है 'देसी पहाड़ परदेसी लोग' जिसमें शीर्षकनामा यह लेख भी है। लेखक ने पूर्वोत्तर स्थानों को देखा है, भोगा है। अतएंव, वहाँ उसका मन रमता है। वहाँ की भाषा, संस्कृति, प्रथा, लोककला, जीवनशैली पर लेखक का मन खूब रमा है। वहाँ के वासियों की खूबियाँ हैं - सफाई, सच्चाई, मिथ्याअहंकारहीनता, चालाक बनने का अभाव। यह उनके विकास के साधक और बाधक दोनों हैं - पहाड़ तो देसी है, पर विकास को प्रश्रय देने वाले परदेसी हैं। देसी-परदेसी के इसी द्वंद्व में जीता है पूर्वांचल। लेखक ने बहुत गहरे जाकर उन्हें निकट से जाना है। इसी प्रकार प्रकृति की पूर्वी राजधानी शिलांग का प्रकृति और जनजीवन चित्रण है। लेखक के कवि-हृदय के साथ वह खिलता चलता है:

''भीतर सोती हुई करिश्माई भावुकता, महसूस करने की व्याग्रता, स्नेह की गुप्त-ऊर्जा अचानक फूट पड़ती है।''कामाख्या शक्तिपीठ के निहितार्थ को भी लेखक ने वाणी दी है।

कृति के सभी लेख आलोचनात्मक, विचारात्मक होकर भी रम्य हैं, ललित हैं। कमनीय कल्पना का लीला-विलास वहाँ मुक्त हृदय से देखा जा सकता है। भव के साथ लेखक स्वयं डूबता-उतराता चलता है। जहाँ रमता है, रमा रहता है, पर व्यर्थ, बेतुका, अर्थहीन, अप्रासंगिक कुछ नहीं है, कहीं नहीं है। 'वे खुले खुले से दिन' उनके उत्तर प्रदेश की प्रकृति की ललित लीला और भुवनमोहिनी रूपराशि का मोहक वितान है, पर लेखक का संस्कार ऐसा है कि वह उसके साथ तन्मय होता चलता है। धरती, मिट्‌टी, नदी, पहाड़, वन-प्रांतर, पेड़-पौधे, पशुपक्षी सब उसे बहाए चलते हैं। यद्यपि गरीबी, सूखी गाय, फूस के टूटे-फूटे घर, 'टूट टाट घर टपकत खटिये टूट' (भारतेंदु हरिश्चंद्र का भी चित्रण है, पर प्रकृति की रमणीयता में खोने का मन भी है। इसे 'नास्टलजिया' कहें या ग्राम' प्रकृति-प्रेम, पता नहीं चलता।

प्रेमचंद की याद लेखक को सदा रहती है। इसलिए वह 'पूर्वोत्तर में प्रेमचंद' की प्रासंगिकता पर जरा रूककर सोचने लगता है। वही खेतिहर, वही श्रमश्लथ जन-जीवन, वही महाजनी सभ्यता, सहुआइन, दातादीन का चक्कर। पर चेतना का स्तर बदला है। सामाजिक माहौल बदला है। ''यों उनकी दृष्टि जमीन से फूटती थी और आकाशवत् हो जाती थी। चिंता चरित्र के बहाने होती थी, संपूर्ण मानव की चिंता बन जाती थी।'' (पृष्ठ 138) इस दृष्टि से प्रेमचंद और उनका व्यापक प्रभाव विद्यमान है। मूल्य-क्षरण के इस निराशाजनक माहौल में भी वे प्रेमचंद को चाहते हैं, होरी, हल्कू और हामिद को चाहते हैं- संघर्ष का प्रकाशमान दृष्टांत। आज एक ओर विज्ञान और टेक्नोलाजी की अभूतपूर्व प्रगति से आर्थिक विकास की संभावनाएँ बढ़ी हैं, और विकास में भागीदारी की आकांक्षा का व्यापक प्रसार हुआ है, दूसरी ओर न्याय और समता तथा अन्याय, शोषण और विषमता से मुक्ति की आकांक्षा का जबर्दस्त विस्फोट हुआ है। इसलिए विकास और समता का विकट प्रश्न सर्वत्र उभरा है, और लेखक ने सीधे या प्रकारांतर से उनका समाधान किया है। इसी बहाने समकालीन सच और साहित्यकार का दायित्व रेखांकित हुआ है। भाषा पर लेखक का सहज अधिकार है। वह साधुवाद का अधिकारी है।

वृंदावन, मनोरम नगर, एल.सी.रोड, धनबाद- 826001, झारखंड

देसी पहाड़ परदेसी लोग, भरत प्रसाद, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 मूल्य : 150/-

वर्तमान साहित्य-मलखान सिंह सिसोदिया कविता पुरस्कार एकांत श्रीवास्तव को

फ़ातिमा ज़हरा

पिछले दिनों अलीगढ़ में वरिष्ठ प्रगतिशील कवि मलखान सिंह सिसोदिया द्वारा वर्तमान साहित्य पत्रिका के माध्यम से स्थापित दूसरा कविता पुरस्कार चर्चित कवि एकांत श्रीवास्तव को एक भव्य समारोह में प्रदान किया गया। इस अवसर पर प्रख्यात कवि और 'आलोचना' पत्रिका के संपादक अरुण कमल ने 'समकालीन कविता का परिदृश्य' विषय पर बोलते हुए कहा कि इस समय हिन्दी कविता के मंच पर पाँच पीढ़ियाँ रचनात्मक रूप से सक्रिय हैं। कुंवरनारायण से लेकर एकांत श्रीवास्तव और एकदम नई पीढ़ी के निशांत की कविताओं में हमें कविता जगत के भाव, कथ्य और शिल्प के विविध रूप मिलते हैं। सभी सामर्थ्यवान और विचारशील कवि हैं लेकिन निराला पंत, प्रसाद, भवानीप्रसाद मिश्र और बच्चन की तरह आम जनमानस के होठों पर और दिमाग पर आज के कवियों की कविताएँ क्यों नहीं गूँजती हैं, इस पर विचार किया जाना चाहिये।

सुप्रसिद्ध वरिष्ठ आलोचक और रचनाकार डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि आज के लेखकों में समाज में जो घट रहा है, उसके प्रति वो बैचेनी और तड़प नहीं है जो किसी रचनाकार की कालजयी रचना का आधार बनती है। आज हमारे चारों ओर अधिक हलचल है। मुद्दे भी वैश्विक से स्थानिक स्तर तक फैले हैं। जीवन कठिन हो रहा है लेकिन वो आत्मसंघर्ष की स्थितियाँ नदारद हैं जिन्हें निर्मित करने की आवश्यकता है।

इससे पहले वर्तमान साहित्य की संपादक और पुरस्कार समिति की संयोजक नमिता सिंह ने कहा कि कविता लगातार आमजन से दूर हो रही है। तुलसी-कबीर के बाद आधुनिक परिदृश्य में महादेवी और निराला की कविता के बाद दुष्यंत कुमार ही आमजन तक पहुँच सके। कविता को बंध मुक्त करके जीवन से ही कविता की मुक्ति कर दी गयी। इसी परिदृश्य को देखकर इस पुरस्कार की स्थापना वयोवृद्ध प्रगतिशील कवि मलखान सिंह सिसोदिया और वर्तमान साहित्य के संयुक्त तत्वावधान में की गयी। इसका उद्देश्य नई पीढ़ी के प्रगतिशील और जनवादी मूल्यों पर आस्था रखने वाले कवियों की सार्थक कविता को रेखांकित करना है।

आयौजन समिति के सदस्य डॉ. गोपालकृष्ण शर्मा ने सिसोदिया जी की काव्य यात्रा पर विस्तार से प्रकाश डाला। इस अवसर पर सिसोदिया जी की सद्यः प्रकाशित काव्य कृति 'प्रतिनिधि कविताएँ' का लोकार्पण भी किया गया। डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने डॉ. मलखान सिंह सिसोदिया की कविताओं की चर्चा करते हुए उन्हें आज के दौर का महत्वपूर्ण कवि बताया जिनकी कविताओं में समाज की धड़कन सुनाई देती है। समारोह की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ आलोचक तथा वर्तमान साहित्य के संपादक कुँवरपाल सिंह ने बताया कि इस पुरस्कार के अंतर्गत दस हज़ार रु. की राशि, मानपत्र एवं स्मृतिचिन्ह भेंट किया जाता है। यह अपने समय के किसी युवा, प्रगतिशील कवि की रचनात्मकता को प्रकाश में लाने का प्रयास है। उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक काज़ी अब्दुल सत्तार ने भी संबोधित किया।

इस अवसर पर मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध कवि अरुण कमल ने तथा कविता पुरस्कार से सम्मानित एकांत श्रीवास्तव ने श्रोताओं की करतल ध्वनि के बीच अपनी अनेक कविताओं का पाठ किया। कुंवरपाल सिंह और काज़ी अब्दुल सत्तार ने अतिथियों को स्मृति चिन्ह भेंट किये। समारोह का सफल संचालन आयोजन समिति के सदस्य और वर्तमान साहित्य पत्रिका के सहसंपादक अजय बिसारिया ने किया एवं धन्यवाद ज्ञापन पत्रिका के सहसंपादक राजीवलोचन नाथ शुक्ल ने किया।

हिन्दी विभाग, अ.मु.वि., अलीगढ़

'मास्को डायरी' का विमोचन

विगत दिनों भोपाल में कवि, कथाकार, उपन्यासकार तथा अनुवादक श्री संतोष चौबे द्वारा अनुदित पुस्तकों 'लेखक और प्रतिबद्धता' (टेरी इगल्टन तथा फ्रेडरिक जेम्सन के निबंध) एवं 'मॉस्को डायरी' (वॉल्टर बेंजामिन तथा ओडिसस इलाइटिस के निबंध) का विमोचन दिनांक 5 जुलाई 2008 को भारत भवन में प्रख्यात आलोचक श्री विजय कुमार एवं अन्य अतिथियों की गरिमामयी उपस्थिति में संपन्न हुआ। इसी अवसर पर ''आज के समय में विचार'' विषय पर संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया। कार्यक्रम की शुरूआत मुख्य अतिथि व कार्यक्रम अध्यक्ष श्री मनोहर वर्मा ने दीप प्रज्जवलित कर की। अतिथियों के स्वागत उपरांत प्रथम वक्ता के रूप में श्री संतोष चौबे ने अनूदित पुस्तकों के कुछ अंशों का पाठ किया। अनूदित पुस्तकों के संबंध में श्री चौबे ने कहा कि वे किसी भी पुस्तक का अनुवाद तभी करते हैं जब लेखक के विचार पसंद आएं। इगल्टन और जेम्सन के लेखन की जो बात उन्हें पसंद आई, वह थी उनके लेखन में तकनीकी, कला, संस्कृति में अंतः संबंध

स्थापित करने की प्रवृत्ति,जो आज के समय की आवश्यकता भी है। मुख्य अतिथि श्री विजय कुमार ने ''आज के समय में विचार'' विषय पर विचार व्यक्त करते हुए कहा कि आज समाज बाजारवाद में पूरी तरह जकड़ गया है। आज लोगों को छवियों के माध्यम से विचार परोसे जा रहे हैं। अनूदित पुस्तकों के संबंध में उन्होंने कहा कि जब हिन्दी साहित्य प्रेमियों को अच्छे साहित्य की कमी खलती है, तब श्री चौबे की अनूदित पुस्तकें इस कमी को निश्चित तौर पर पूरा करेंगी। अध्यक्षीय उद्बोधन में श्री राजेश जोशी ने श्री चौबे द्वारा अनुदित पुस्तकों के पढ़ने के क्रम के बारे में बताया। उन्होंने कहाकि साहित्य प्रेमियों को अनूदित पुस्तकें इलाइटिस से शुरू करते हुए, इगल्टन, फ्रेडरिक और फिर बेंजामिन की ओर बढ़ना चाहिए। तभी पाठक लेखक के भावों और विचारों को सही रूप में समझ पायेंगे। श्री मनोहर वर्मा ने अपने वक्तव्य में विचारों के पीछे छिपे अर्थ को समझने पर जोर देते हुए कहा कि कई बार लेखक सत्ता के डर से उन्मुक्त रूप से नहीं लिख पाता। इसलिए आज पाठक को शब्द के पीछे छिपे अर्थ को समझने की ज़रूरत है।

कार्यक्रम में श्री सुरेश पंडित, श्री अरुणेश नीरन ने भी अपने विचार व्यक्त किए। कार्यक्रम का आयोजन वनमाली सृजनपीठ, सरोकार, पहले-पहल एवं रंग आधार के संयुक्त तत्त्वावधान में किया गया। कार्यक्रम में प्रदेश एवं शहर के बुद्धिजीवी, लेखक व रचनाकारों ने शिरकत की। मंच संचालन श्री विनय उपाध्याय ने किया। श्री राजेन्द्र शर्मा ने कार्यक्रम में आए सभी अतिथियों का आभार व्यक्त किया।

'विकल्प' की तीसरी सालगिरह

वी.जी. गोपालकृष्णन

हिन्दी में हर साल बड़ी तादाद में साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं किन्तु अहिन्दी भाषी राज्यों के हिन्दी साहित्य-प्रेमियों को अधुनातन प्रमुख रचनाओं से परिचित होने का मौका बहुत कम ही पाया जाता है। इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से हिन्दी साहित्य में रुचि रखनेवालों का एक मिला-जुला प्रयास हुआ, जिसका परिणाम है केरल राज्य के त्रश्शूर जिले में आयोजित पाठक मंच 'विकल्प'। पिछले तीन सालों से, नियमित एवं सक्रिय रूप से यह मंच कार्यरत है। विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, स्कूलों के अध्यापकों से लेकर शोध छात्र एवं अन्य छात्र भी विशेष रुचि के साथ 'विकल्प' में भाग लेते हैं। अब इसमें लगभग पचास सदस्य हैं।

'विकल्प' की तीसरी साल गिरह 30 अगस्त 2008 को, लीक से हटकर, एक दिवसीय संगोष्ठी के रूप में आयोजित की गयी। कालडी के श्रीशंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से मिलकर 'तारसप्तक का पुनर्पाठ' विषय पर आयोजन किया गया था। 65 साल बाद इक्कीसवीं सदी में, उत्तराधुनिकता के दौर 'तारसप्तक' की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना संगोष्ठी का ध्ये रहा। कवि एवं कोच्चिन विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्त प्रोफ़ेसर पी.वी. विजयन ने संगोष्ठी का उद्घाटन किया। उन्होंने 'तारसप्त का महत्व उद्घोषित करते हुये नये संदर्भ में नये अर्थ के साथ पढ़ने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। कवि, आलोचक एवं कोच्चि विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डॉ. ए.अरविन्दाक्षन ने 'तारसप्तक' पुनर्मूल्यांकन' विषय पर बीज भाषण किया। हिन्दी विभागाध्यक्ष के.के. वेलायुधन ने अध्यक्षता की। 'विकल्प' के संयोजक डॉ. जी.गोपालकृष्णन ने सभी का स्वागत किया और डॉ. के. मोहन पिल्लै ने धन्यवाद अदा किया।

'बदली काव्य-संवेदना और तारसप्तक' पर डॉ. के.ए जयकृष्णन ने आलेख प्रस्तुत किया। बाद में तारसप्तक के प्रत्ये कवि की कविताओं पर विचार करते हुए क्रमशः डॉ. के. प्रभाकरन, डॉ. के.राजेश्वरी, डॉ. माया पी. नायर, आर.एस. राधिक डॉ. वी.विजयकुमार, डॉ. शैलजा, डॉ. सी. शान्ती आदि ने उ कविताओं की तत्कालीन सार्थकता को परखते हुए वर्तमान सम में उनकी ऐतिहासिक महत्ता को उद्घाटित करने का प्रयास किया

हैदराबाद के आनंद ऋषि पुरस्कार एवं केन्द्रीय हिन्दी संस्था आगरा के गंगाशरण सिंह पुरस्कार से सम्मानित डॉ. अरविन्दाक्ष का प्रस्तुत समारोह में अभिनंदन किया गया। डॉ. के. अजिता डॉ. अरविन्दाक्षन का परिचय देते हुए उनकी उपलब्धियों पर प्रका डाला।

तेलुगु की प्राचीनता के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण क़द

दंडिभोट्ला नागेश्वर

आंध्र प्रदेश हिन्दी अकादमी, हैदराबाद में मनाये गये हिन्दी दिव के संदर्भ में 'तेलुगु ही प्राचीन है' (मूलः डॉ. जी.वी. पूर्णचन्द्र अनुवाद : डॉ. वेन्ना वल्लभराव) ग्रंथ का विमोचन-कार्यक्रम संप हुआ। असंख्य हिन्दी एवं तेलुगु प्रेमियों ने कार्यक्रम में भाग लिया

हाल ही में तमिल एवं संस्कृत भाषाओं ने क्लासिक भाषाओं के रूप में केंद्र सरकार की मान्यता प्राप्त कर ली है। उसी प्रकार, तेलुगु को भी क्लासिकल भाषा के रूप में केंद्र सरकार की मान्यता दिलाने की कोशिशें अनेक आंदोलनों तथा सभाओं के रूप में असंख्य तेलुगु प्रेमियों द्वारा लगातार हो रही हैं। इन्हीं कोशिशों को पुष्टि देते हुए तेलुगु की प्राचीनता को ले कर कई ऐतिहासिक आधारों सहित डॉ. जी.वी. पूर्णचन्द्र ने तेलुगु में अनेक निबंध लिखे। इन सारे निबंधों को 'तेलुगे प्राचीनम्' नाम से पुस्तक-रूप दिया गया। इस तेलुगु ग्रंथ का अनुवाद 'तेलुगु ही प्राचीन है' नाम से डॉ. वेन्ना वल्लभराव ने किया। पुस्तक का प्रकाशन आंध्र प्रदे

हिन्दी अकादमी, हैदराबाद ने किया है।

यह ग्रंथ घोषित करता है कि द्रविड भाषा का मतलब सिर्फ़ तमिल नहीं है तथा तमिल जितनी प्राचीन बतायी जा रही है, तेलुगु भी उतनी ही प्राचीन या उससे भी प्राचीन भाषा है। डॉ. पूर्णचन्द्र पेशे से आयुर्वेद के चिकित्सक हैं तथा रुचि से साहित्यप्रेमी एवं साहित्यकार हैं। तेलुगु भाषा एवं संस्कृति की जड़ें सिंधु सभ्यता तक विस्तारित हैं तथा अफ्रीका, ईरान, सुमेरिया आदि अत्यंत प्राचीन भाषाओं एवं सभ्यताओं से भी मूल तेलुगु के गहरे संबंध हैं। इस विषय के निरूपण के लिए डॉ. पूर्णचन्द्र ने उक्त भाषाओं के असंख्य शब्दों से तेलुगु शब्दों की तुलना करके दोनों की शाब्दिक समानता के साथ-साथ अर्थ की समानता पर भी प्रकाश डाला।

मूलग्रंथ की तह में पहुँचकर हिन्दी में उसका रूपांतरण करने में डॉ. वल्लभराव का प्रयास सफल रहा है। **आंध्र प्रदेश**

'डॉ. हरिवंशराय बच्चन विशेषांक' का लोकार्पण

शब्दसृष्टि (भारतीय साहित्य, कला व सांस्कृतिक प्रतिष्ठान) द्वारा प्रकाशित हिन्दी-मराठी द्विभाषिक, त्रैमासिक पत्रिका 'शब्दसृष्टि' के 'डॉ. हरिवंशराय बच्चन विशेषांक' का लोकार्पण विख्यात चिंतक न्या. चंद्रशेखर धर्माधिकारी के करकमलों द्वारा 'रामनारायण रुइया महाविद्यालय, माटुंगा (पूर्व), मुंबई में संपन्न हुआ। समारोह की अध्यक्षता महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी के कार्याध्यक्ष एवं 'नूतन सवेरा' के संपादक श्री नंदकिशोर नौटियाल ने की। इस अवसर पर समारोह के प्रमुख-अतिथि के रूप में पॉपुलर प्रकाशन के व्यवस्थापकीय संचालक एवं अंतरभारती अनुवाद सुविधा केंद्र के अध्यक्ष डॉ. रामदास भटकल और विशेष अतिथि के रूप में 'शब्दसृष्टि' के परामर्शदाता डॉ. रामजी तिवारी उपस्थित थे, जिनके सौहार्दपूर्ण मार्गदर्शन में 'डॉ. हरिवंशराय बच्चन विशेषांक' साकार हुआ।

इस अवसर पर 'शब्दसृष्टि' की परामर्शदाता तथा ख्यातिप्राप्त कथाकार व व्यंग्यकार डॉ. सूर्यबाला का उनकी समग्र साहित्य-सेवा के लिये तथा 'इक्कीस कहानियाँ' कहानी-संग्रह को वर्ष 2008 का 'रत्नादेवी गोयनका वाग्देवी पुरस्कार' प्राप्त होने पर उनका सत्कार मा. न्या. चंद्रशेखर धर्माधिकारी के हाथों किया गया। अवसर पर 'शब्दसृष्टि' परिवार की सदस्य व महाराष्ट्र में रहकर उड़िया भाषा की सेवा करने वाली लेखिका व अनुवादक सुश्री कमला सत्पथी एवं सुप्रसिद्ध मराठी ग़ज़लकार श्री ज़हीर शेख़ का क्रमशः 'माणिक सम्मान' व 'सुरेश भट पुरस्कार' प्राप्त करने पर श्री नंदकिशोर नौटियाल व डॉ. रामदास भटकल के हाथों सत्कार किया गया।

कला कौशल का एकल कथा पाठ

विनीताभ

बेगूसराय, जनवादी लेखक संघ में कला कौशल का 'एकल कथा पाठ' आयोजित किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. भगवान प्रसाद सिंहा ने और संचालन कुमार विनीताभ ने किया। मुख्य अतिथि साहित्य अकादमी से सम्मानित कवि कीर्ति नारायण मिश्र थे।

कला कौशल ने अपनी 'और आँखों में पानी' 'अमृत शहर कैसा है', 'दूध दूध ओ', 'बाबू जी और अन्य कहानियों का पाठ किया। हर कहानी पर विद्वानों ने अपने-अपने कोण से समीक्षा प्रस्तुत की। कीर्ति नारायण मिश्र, कुंवर कन्हैया और निरंजन कुमार ने विस्तार से सबल पक्षों पर प्रकाश डाला। 'अमृतशहर कैसा है? पर अनिल पतंग, दीनानाथ सुमित्र और दीपक सिंहा ने सांगोपांग समीक्षा की। 'दूध-दूध, ओ' और अन्य कहानियों के चर्चा क्रम में रमाकान्त चौधरी, शिव नन्दन सिंह अविनाश अशेष ने विचार किया। इसके अलावा अभिनंदन झा, दिलीप कुमार, संजीव फिरोज, मुचकुन्द कुमार, सुशांत कुमार आदि ने भी गंभीर हस्तक्षेप किया।

अध्यक्ष डॉ भगवान प्रसाद सिन्हा ने कहा कि कला कौशल की कहानियों की मूल भावना खंडित होती मानवीय पहचान को पुर्स्थापित करना है। उन्होंने लेखक को सुझाव दिया कि वे 'बाबू जी' शीर्षक कहानी का पुनर्लेखन करें।

अंत में स्थानीय व्यवस्थापक और स्थल स्वामी बि.रा. अराजपजित कर्मचारी महासंघ के जिला सचिव का. शशिकांत राय ने धन्यवाद ज्ञापन किया। **बारो रोड-गढ़हरा, बरौनी**

'बतरस' का कोई प्रयोजन नहीं, बत-रस ही प्रयोजन है

अर्चना उपाध्याय

'बतरस' शायद एकमात्र ऐसी साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था है, जो अपने बैनर पर भी लिखती है—'अनौपचारिक'। फिर भी वार्षिक आयोजन की शुरूआत सुरेन्द्र सारंग ने 'स्वागत' की रस्म निभाकर ही की। अनंत श्रीमाली ने 'परिचय' के दौरान् बताया कि एक परिवार है। इसके मासिक कार्यक्रम में जब जो पहुँच गया, सदस्य हो गया। बस, आइए और अपनी बात कहिए-गाकर, बजाकर, नाचकर, नाटक करके, बहस करके या फिर यह सब कुछ सुन करके। याने बस-बातों का रस।'' और इसी प्रकार इस यात्रा के तीन साल पूरे हो गये-हर महीने के पहले रविवार की शाम 4 बजे नियमित गोष्ठियाँ करते हुए। मुंबई जैसे व्यावसायिक शहर में यह एक मिसाल है।

इस ताज्जुब को साफ़ किया आयोजन के बाद सभी को

हार्दिक धन्यवाद देते हुए सत्यदेव त्रिपाठी ने–'बतरस' का कोई प्रयोजन नहीं, बत-रस ही प्रयोजन है। बातों-बातों में ही अपने आप 'बतरस' का चलना होता रहता है। जैसे एक दिन वार्षिकोत्सव मनाने की मंशा पर बात करते हुए संगीता सहजवानी ने 'जुहू जगृति हाल' बुक कर दिया। 'श्रुति-संवाद' के अरविन्द राही ने सहभोज के लिए पाँच हजार का चेक दे दिया। भाई अक्षय जैन हमेशा पूछते व समय-समय पर पर्याप्त सहायता करते रहते हैं। ऐसे और भी लोग हैं। यहाँ सभी कालाकारों ने बिना किसी शुल्क के सहर्ष अपने कार्यक्रम पेश किये हैं।'' इससे यह विश्वास कायम होता रहता है कि सही ढंग से नेक काम करने के लिए सहयोग का टोटा आज भी नहीं है...। 'बत्तरस' इसका प्रमाण है। इसका सबसे सुफलदायी रूप सामने आया, जब 'बतरस' के संस्थापकों में रहे विजय पंडित ने घोषित किया कि सागर आर्ट्स के श्री मोती सागर ने 'बतरस' की प्रकृति से मुतासिर होकर वार्षिक समारोह के आयोजन के लिए प्रति वर्ष 21,000 रुपये देने का दायित्व सहर्ष स्वीकारा है और इसी का सुपरिणाम यह भी रहा कि शहर की प्रसिद्ध रंगसंस्था 'यात्री' (के ओम कटारे) ने अपना तीसवाँ साल मनाने के दौरान् पूरे वर्ष 'बतरस' के साथ मिलकर काम करने का फैसला किया है। अशोक शर्मा की इस घोषणा के साथ करतल-ध्वनि के बीच 'यात्री' के पेशेवर नर्तक श्री वैभव जोशी के गणेश-वन्दना व अष्टनायिका की मनोरम प्रस्तुति से ही वार्षिकोत्सव की शुरूआत् हुई। आठ साल की काव्या पंडित ने गाकर भी गणेश-वन्दना प्रस्तुत की। हर वर्ष की तरह 'बतरस' की रसिक व बालरंगमंच की नियमित निर्देशिका कनु पण्डित ने खास 'बतरस' के लिए तैयार किया बालनाट्य 'नन्हा नकलची' प्रस्तुत किया। 5 से 8 वर्ष के कुल 12 बच्चों (ऋतु, समर्थ, अमन, माहिर, अर्णव, अर्जुन, निशांत, ईश, अनुष्का, खुशी, धृति) ने नकलची की नकल उतारकर उसे पस्त करने की कहानी में बालसुलभ समाँ बाँध दिया। अंतराष्ट्रीय ख्याति की गायिका कविता सेठ ने बिना किसी साज़ो सामां के खूबसूरत सूफ़ी गीत गाये। 'बतरस' के नियमित सदस्य मृत्युंजय पाण्डेय ने बाँसुरी के मधुर सुरों में लोकजीवन के गान की माधुरी भर दी।

साहित्यिक प्रस्तुति में स्वदेशी आंदोलन के हस्ताक्षर अक्षय जैन ने अपनी व्यंग्य रचना 'मनमोहन देसाई की अमर कहानी' में आज की शीर्ष राजनीति पर तीखी चोटें कीं। मशहूर व्यंग्यकार यज्ञ शर्मा ने 'सेठजी का स्वर्गवास' के माध्यम से सामाजिक विडंबनाओं की खूब पोलें खोलीं और श्रोताओं ने दोनो ही व्यंग्य-पाठों का भरपूर लुत्फ उठाया। मंच के चहेते कवि-संचालक देवमणि पाण्डेय ने फिल्मी स्कैंडलों पर आधारित नये ढंग की ग़ज़ल पढ़ी और हस्तीमल हस्ती की ताज़ा ग़ज़लों पर बस, लरज-लरज ही गये दर्शक... ''पहले अपना मुआयना करना, फिर जमाने पे तबसरा करना। एक सच्ची पुकार काफी है, हर घड़ी क्या खुदा खुदा करना।'' समापन हुआ-एक घंटे के नाटक 'अभिनय और सत्य' से। भारतेन्दु अकादमी से प्रशिक्षित व एन.एस.डी. रंगमंडल के अनुभवी मनोज मिश्र ने अपने एकल अभिनय के लिए इसे लिखा व निर्देशित किया है। एक घंटे में पूरी दुनिया मंच पर उतर जाती है और अभिनय के कायिक का अथक श्रम, वाचिक का असर व वेश रूप व अदा के वैविध्य का खासा सरंजाम काफी आह्लादक रहा, पर संपादन की कमी ने लेखक-कलाकार के रजनीश-दर्शन के व्यामोह ने बहुत भटकाया भी और कुछ उबाया भी। इससे बचकर प्रदर्शन हो तो प्रस्तुति काफी रोचक है। कार्यक्रम का सधा संचालन डॉ. संगीता सहजवाणी ने किया।...

स्वामी इलेक्ट्रॉनिक्स, भवानी शंकर रोड, दादर, मुंबई-40002

आलोचना के लिए 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान'

हिन्दी में साहित्यिक आलोचना की संस्कृति को प्रोत्साहित और विकसित करने के लिए 45 वर्ष की आयु-सीमा में आनेवाले किसी युवा आलोचक को उसकी उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृति अथवा निबन्ध-श्रृंखला के लिए पुरस्कृत करने के अभिप्राय से प्रतिवर्ष 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' प्रदान किया जाता है।

निर्धारित संहिता के अनुसर प्रत्येक तीन वर्ष पर इस सम्मान की पाँच सदस्यीय निर्णायक-समिति परिवर्तित की जाती है।

नियमावली : सम्मान किसी प्रकाशित आलोचनात्मक कृति, निबन्धों अथवा पुस्तक-समीक्षाओं पर ही दिया जायेगा। सम्मान के लिए पुस्तक अथवा निबन्धों का पिछले तीन वर्षों (मई 2005 से 31 दिसम्बर 2008 तक) की अवधि में प्रकाशित होना अनिवार्य है। 'देवी शंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' हेतु आलोचना की पुस्तक, पुस्तकें अथवा लंबे निबन्धों की दो-दो प्रतियाँ (शेष प्रतियों की व्यवस्था 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' समिति स्वयं करेगी) निर्णायक-समिति के संयोजक के पते पर 15 दिसम्बर, 2008 तक विचारार्थ भेज दें। केवल विशेष परिस्थितियों में इसे 30 दिसम्बर, 2008 तक माना जा सकता है।

डॉ. कमलेश अवस्थी, संयोजक

श्याम सिंधु, 2/346ए, आजादपुर, कानपुर-208002

मंदी और आम आदमी

आजकल रोज़ाना समाचार पत्रों में पढ़ने को मिल रहा है कि स्वयं को महाबली समझने वाले अमरीका में आर्थिक संघर्ष सबसे अधिक है। वहाँ की बड़ी-बड़ी बैंक, औद्योगिक घराने तथा दुनिया की सबसे बड़ी मोटर कंपनी जनरल मोटर्स जिसके बारे में बचपन से सुनते आए थे कि उसके मालिक से बड़ा आदमी दुनिया में कोई नहीं है, वह भी दिवालिया होने के कगार पर है। यह हाल दुनिया के सबसे बड़े पूँजीवादी देश का है। दुनिया के अन्य पूँजीवादी देशों का भी यही हाल है। यह पूँजीवादी व्यवस्था का संकट है, जिसके विषय में मार्क्स ने, अपनी पुस्तक 'पूँजी' में विस्तार से लिखा है। इस संकट की सूचना उन्होंने पहले ही दे दी थी। यह व्यवस्था अपने ही अंतर्विरोधों से ढह सकती है। पूँजीवाद विस्तारित वैश्वीकरण की प्रक्रिया में पूँजी के अलावा, श्रम का भी वैश्वीकरण होता है। इसीलिये 'दुनिया के मज़दूरो एक हो' का आह्वान मार्क्स ने किया था। श्रमिक वर्ग के अलावा किसान, मध्यवर्ग और छोटी पूंजी के व्यापारी, उद्योगपति भी सबसे ज़्यादा प्रभावित होने वालों की श्रेणी में आते हैं।

यह संकट सर्वग्रासी है। वस्तुतः, पूँजीवादी व्यवस्था, मुनाफ़ा और शोषण पर आधारित है। इस व्यवस्था ने इतना अधिक वर्ग-भेद पैदा कर दिया है कि एक आसमान पर है तो दूसरी ज़मीन पर। लिहाज़ा संघर्ष की स्थितियाँ और बढ़ेंगी। सदियों से पीड़ित लोग उठ खड़े हुए हैं, वे पहले की तरह विवश नहीं हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था ने उनमें जागृति पैदा की है, स्वाभिमान जगाया है।

बीसवीं सदी में नयी टैक्नोलॉजी ने पूँजीवाद के उत्पादन को तो खूब बढ़ाया, लेकिन श्रमिक-वर्ग की तनख्वाहें कम कर दीं या उन्हें बेरोज़गारी के गर्त में ढकेल दिया। इसके बावजूद यह संकट बढ़ा है जिसके कारण एक ओर उत्पादन घटा है तो दूसरी ओर श्रमिक वर्ग और अधिक बेरोज़गार हुआ है और उसकी क्रयशक्ति कम हुई है। इतना ही नहीं इसका असर मध्यवर्ग पर भी हुआ है जहाँ रोज छंटनी हो रही है तथा इस कारण आमतौर पर क्रयशक्ति का ह्रास हुआ है। अमेरिका में भी यह संकट बढ़ा है। लिहाज़ा बाज़ार सूने हो रहे हैं। अमेरिका में बैंक और बीमा उद्योग सरकारी नियंत्रण से मुक्त हैं। वे सब निजी क्षेत्र में हैं। लिहाज़ा उन्होंने खुले हाथों ऋण बाँटा, उपभोक्ता वर्ग ने भी खुले हाथों ख़र्च किया। परिणाम स्वरूप ऋण-वापिसी/अदायगी के अभाव में बैंक और बीमा उद्योग बैठ गये।

दूसरे, अमेरिका का मुख्य व्यापार हथियार उत्पादन है। इस बीच लाख कोशिशों के बावजूद युद्ध की स्थितियाँ नहीं बन पाने के कारण हथियारों की बिक्री पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है जिससे उसकी आर्थिक व्यवस्था और अधिक बिगड़ी है। इसे विडंबना ही कहा जाएगा, कि जिन हथियारों के बल पर अमेरिका एक बड़ी शक्ति बन गया था उन्हीं हथियारों के कारण आज वह संकट में है। कहावत है-हवा के घोड़े पर सवार जितना तेज़ उड़ता है, उतनी ही तेजी से वह गिरता है। दुनिया के वे देश जो अमेरिका के रास्ते पर चले उन सबकी यही स्थिति है और होगी। अमेरिका के बड़े-बड़े उद्योगों पर ख़तरा मँडरा रहा है। श्रमिक वर्ग के सामने रोज़ी-रोज़गार का संकट मुँह बाये खड़ा है। ये निजीकरण के ख़तरे हैं।

देश के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू नितांत निजीकरण के ख़तरों से परिचित थे। लिहाज़ा उन्होंने मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीव रखी। न पूरा पूँजीवाद, न पूरा समाजवाद। देश में भिलाई, सिंदरी, दुर्गापुर के कारखाने तथा बीएचईएल के कारखाने, विद्युत परियोजनाएँ सरकारी क्षेत्र में रखी गयीं। इसका परिणाम है कि आज हम अपेक्षाकृत रूप से सुरक्षित हैं। श्रीमती गांधी ने बैंकों तथा बीमा कंपनियों का राष्ट्रीयकरण करके दूरदर्शिता का परिचय दिया। रूस के विघटन ने हमारे देश के अर्थशास्त्रियों को अमेरिकी अर्थव्यवस्था की ओर आकर्षित किया। हमारी सरकारों ने सरकारी बीमा और बैंक जैसी आर्थिक संस्थाओं को निजी क्षेत्र में कार्य करने स्वतंत्रता दी लेकिन सरकारी क्षेत्र में बैंकों पर नियंत्रण रहा। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को बेचने की मुहिम चलायी किन्तु, वामपंथी सहयोगियों ने उनके प्रयासों पर अंकुश लगाया। बैंक, बीमा कर्मचारियों तथा मजदूरों ने आंदोलनों-हड़तालों द्वारा पूर्ण विनियोजन के प्रयासों को सफल नहीं होने दिया। भारत के जिन उद्योगों में विदेशी पूँजी का बड़ा निवेश किया गया वे ही उद्योग आज संकट ग्रस्त हैं। शेयर बाज़ार इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यह संकट क्यों आया है ? विदेशी निवेशकों ने अपना धन वापिस ले लिया। अगर यही धन बैंकों में लगा होता तो हमारी अर्थ-व्यवस्था इस गंभीर संकट का सामना कर रही होती। चीन अभी बचा हुआ है। वहाँ मंदी का प्रभाव अभी कम है। इस व्यापक मंदी का अभी अंत नहीं होगा। सबसे अधिक प्रभावित देशों में जापान और कोरिया भी होंगे। जापान के आर्थिक मामलों के प्रवक्ता ने हाल ही में बयान दिया है कि आने वाले समय में मंदी का उनके यहाँ व्यापक असर पड़ेगा, हज़ारों मज़दूर और

कामगार बेरोज़गार हो जाएंगे। प्रधान मंत्री मनमोहन सिंह का वश चलता तो वे इस देश को अमेरिका के रास्ते पर और तेज़ी से चलाते। लेकिन, हिन्दुस्तान में जो जन-आंदोलन हैं उनके कारण पूरे देश में निजीकरण का रथ कुछ धीमे चला। हिन्दुस्तान की संस्कृति में बचत करने की स्वाभाविक प्रकृति है। जनता की इसी छोटी बचत में हमें बचाए रखा है। लेकिन, हानि तो हुई ही है। पश्चिम की क्रेडिट कार्ड पद्धति का शौक महानगरों के नव-धनाढ्य वर्ग को ही रास आ रहा है। आमजन अभी इससे बचा हुआ है। क्रेडिट-कार्ड संस्कृति उपभोक्तावाद की चरम-सीमा है। यह आत्म-केन्द्रित समाज का निर्माण करता है। व्यक्तिवाद को बढ़ावा देता है। यह संस्कृति किसी सीमा तक न केवल आत्मघाती है, अपितु समाज को तोड़ती भी है। समाज में असमानता की खाई को चौड़ी करती है। परिणामतः निम्न मध्यवर्ग से दूरी बढ़ जाती है। इस देश में मंदी का असर सबसे अधिक साधारण-जन और किसानों पर है। उदाहरण के लिए इस मंदी के कारण आलू 2 रु. किलो बिक रहा है। ऐसी स्थिति में वह अन्य फसल उगायेगा। आज की स्थिति में फ़सलों की लागत बढ़ी है, उत्पादन का मूल्य कम हुआ है। प्रेमचंद 1929-30 की मंदी के संबंध में अपने उपन्यास 'कर्मभूमि' (1932) में संकेत देते हैं-''किसानों की फ़सलों का आधा दाम भी नहीं मिलता, वे बरबाद हो रहे हैं।'' आज की मंदी का संकट उस समय के संकट से अधिक गहरा और व्यापक है। भूमण्डलीकरण के लाभ तो बहुत देखे गये, लेकिन उसके पीछे जो भयानक चेहरा था उसकी कल्पना नहीं की गयी। आज उसी चेहरे की भयावहता सामने है। शेयर, चिट-फण्ड, कोऑपरेटिव बैंक जैसी संस्थाओं में मध्यवर्ग का पैसा लगा। इन संस्थाओं के डूब जाने से अनेक लोग कंगाल हो गए और लोगों को आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़ा। पूँजीवादी व्यवस्था के इस मायाजाल और मृगतृष्णा ने अनेक छोटे-बड़े किसानों, व्यापारियों को न केवल डुबोया अपितु, आत्मघात के लिए मजबूर कर दिया। पूँजीवादी सभ्यता के इस दौर में हमारे जीवन-मूल्य और मानवीय संबंधों का क्षरण हुआ है। हम सब इसका अनुभव कर सकते हैं। अजीब अंतर्विरोध हैं इसके। एक ओर नारी-स्वतंत्रता की बात हैं, दूसरी ओर विज्ञापनों में व्यापारिक हितों के लिए उसे वस्तु की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। आधुनिक स्त्रियों का कर्मकांड की ओर झुकाव बढ़ रहा है। थोड़े-से संकट में, वे तंत्र-मंत्र, यंत्र, व्रत-उपवास, संत-महात्मा, बाबाओं, मंदिर-मज़ारों की ओर रुख कर रही है। आर्थिक संकट असुरक्षा का भाव जगा रहा है। भ्रष्ट-व्यवस्था से अर्जित पूँजी की रक्षा का भार दान-पुण्य, कथा-कीर्तन जागरण और धर्म-यात्राओं पर है। विपन्न-वर्ग, मध्य और उच्च वर्ग के मार्ग का अनुकरण करके अपनी आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसी मार्ग पर चल रहा है।

धर्म का जो सामाजिक-राजनीतिक दुरुपयोग हो रहा है उसके परिणाम हम देख रहे हैं। भविष्य में इसके भयानक परिणामों से हम बच नहीं सकेंगे। धर्म व्यक्ति को मुक्ति का मार्ग दिखाता है। वैयक्तिक रुचि का विषय है यह। सामाजिक-राजनीतिक जीवन में धर्म का दुरुपयोग भयंकर जातिवाद, वर्गवाद, क्षेत्रवाद और संप्रदायवाद को जन्म दे रहा है। धर्म के नाम पर आतंकवाद धर्म का दुरुपयोग है। धर्म की अफ़ीम पिलाकर कमज़ोर, ग़रीब, बेरोज़गार लोगों को आतंकवाद की ओर धकेला जा रहा है। पिछले दिनों, महाराष्ट्र में जो कुछ हुआ वह देश के लिए ख़तरे की घंटी है। देश की एकता, अखंडता, संप्रभुता और समरसता के लिए घातक है। धर्म गुरुओं का कहना है-हमारे धर्म में आतंक का कोई स्थान नहीं है। फिर, धर्म के नाम पर आतंक कैसा ? क्यों ? इस आतंक को रोकने का कोई व्यावहारिक समाधान है? बताएँ।

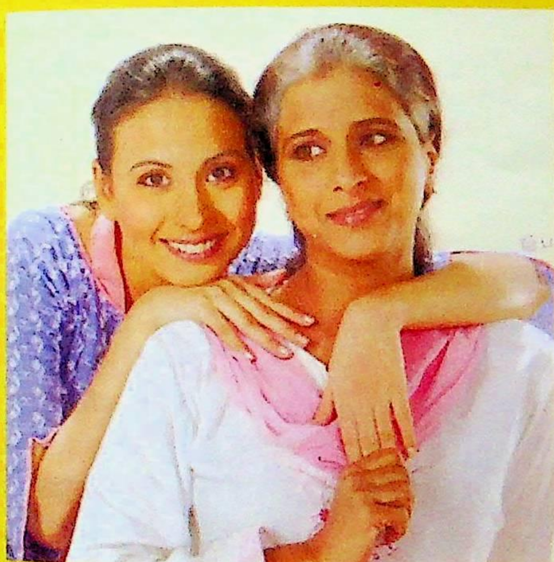
देश के पूँजीपतियों, बड़े व्यापारियों को, जिन्हें प्रायः अमेरिकी-पद्धति बहुत पसंद आती है, बंबई की त्रासदी में भी लाभ नज़र आ रहा है। वे इस अवसर पर भी अमेरिका और इस्राइल की मदद की ओर देख रहे हैं ताकि, पड़ोसी से युद्ध की स्थिति बने। अमेरिका अपने हथियार बेचे। ताकि, अमेरिका संकट से उबर सके। क्योंकि इस व्यवस्था का आधार ही घृणा और शोषण है। वह स्वयं शांति और मानवाधिकार का मसीहा है, लेकिन उसका आचरण ठीक इसके विपरीत है। स्वयं को सबसे बड़ा जनतंत्र कहने वाला अमरीका असहमति के किसी भी विचार को सहन नहीं करता।

पूँजीवादी देशों में ऐसा आर्थिक संकट न पहली बार हुआ है, न अचानक। दस साल पूर्व मेरे एक अमेरिकी मित्र ने कहा था कि अगर कोई देश गहरे आर्थिक संकट में फँसेगा तो वह अमेरिका ही होगा। वहाँ की उपभोक्तावादी संस्कृति का मूल मंत्र है ''ऋणी-जीवन-सुखी जीवन''। पिछले दिनों अमेरिका में मजदूरों-कर्मचारियों की बड़े पैमाने पर छंटनी हुई, नौकरियाँ ख़त्म हुई हैं। वहाँ बेरोज़गारी बढ़ी है। इस संकट का हल क्या है ? अमेरिका और उसके सहयोगियों का विचार है कि यह संकट तीसरी दुनिया के देशों जैसे-चीन, हिन्दुस्तान के माध्यम से हल हो। वे हमारे प्रोडक्ट खरीदें। हिन्दुस्तान ने अभी रु. 80,000 करोड़ के एटॉमिक रिएक्टर का सौदा किया है जिसका यहाँ की जनता विरोध कर रही है। अरब देशों से सस्ते तेल की खरीद हो रही है। बड़ी-बड़ी कंपनियों को आर्थिक सहायता देकर खड़ा करने का प्रयास किया जा रहा है। यदि ये उपाय कारगर नहीं होते हैं, तो अंतिम उपाय युद्ध है। हमें युद्धों से बचना चाहिए। अमेरिका अपने हथियारों की खपत के लिए भारत-पाक, ईरान-इराक, अरब-इस्राइल युद्ध चाहता है। ठीक वैसे ही, जैसे 1929-30 की मंदी के दौरान दूसरा विश्वयुद्ध हुआ। अमेरिका ने विश्व के अन्य देशों को हथियार बेचे, दवाओं, वस्त्रों की आपूर्ति हुई। फिर भी, मंदी का संकट एक लंबे समय तक चला। भय है कि कहीं यह मंदी तीसरे विश्वयुद्ध में न बदल जाय और हमारी धरती रणभूमि बन जाय ?

(कुँवरपाल सिंह)

अब अपनी सास को इम्प्रेस करें

अपने परिवार की सुरक्षा करें और पैसा भी बचाएं।



केवल सुरक्षा एलपीजी रबड़ होज़ से 3 गुना अधिक सुरक्षा मिलती है।

- 3 स्तर का विशेष निर्माण
- ब्रेडेड स्टील-तार की मजबूती
- आग से सुरक्षित, मौसम और घिसावट का असर नहीं
- दरारें नहीं पड़ती और चूहों से सुरक्षित
- 5 वर्ष की लम्बी अवधि तक चलें

ग्रीन लेबल स्टोव से अपने गैस खर्चों में बचत करें।

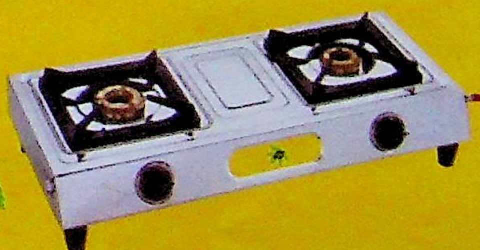
- 68% अथवा इससे अधिक की उच्च तापीय दक्षता
- 15% * तक गैस की बचत
- ग्रीन लेबल स्टैण्डर्डस के लिए प्रत्येक ग्रीन लेबल स्टोव बी आईएस द्वारा प्रमाणित
- अगली पीढ़ी का गैस स्टोव

सुरक्षा



एलपीजी रबड़ होज़





उच्च तापीय दक्षता युक्त एलपीजी स्टोव

सिफारिश कर्ता :



इण्डेन

सुरक्षित ▲ विश्वसनीय ▲ सुविधाजनक

* As per PCRA

अपने एलपीजी वितरक से एलपीजी स्टोव खरीदना अनिवार्य नहीं है।

अधिक जानकारी के लिए अपने नज़दीकी की इण्डेन वितरक से सम्पर्क करें।

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

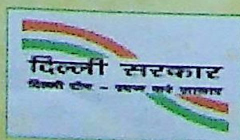
सृजन स्मरण



अरे अब ऐसी कविता लिखो
कि जिसमें छंद घूमकर आए
घुमड़ता जाए देह में दर्द
कहीं पर एक बार ठहराए

रघुवीर सहाय
(1929 - 1990)





सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा 28, एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिं

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

फरवरी, 2009 ■ अठारह रुपये



भरा हर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया
सखि वसंत आया



सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(जन्म : 21 फरवरी, 1899 मृत्यु : 15 अक्टूबर 1961)

सौरभ के रभस बसो, जीवन!
वारिद की बूँद खसो, जीवन!

केशर के शर स्वप्निल उपशम
बेधो ऊषा के प्रस्फुट क्रम;
सोओ मलयानिल के विभ्रम,
दल के कर कमल कसो, जीवन!

भौरों के मदगंजित गुंजन
गाओ वन-वन उपवन-उपवन
छाओ नभ सुमन-सुमन कण-कण
भरकर तट सुघट गसो, जीवन!

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

संस्थापक सम्पादक

विभूति नारायण राय

सम्पादक

कुंवर पाल सिंह ❑ नमिता सिंह

सह-सम्पादक

❑ **अजय बिसारिया** ❑ **राजीवलोचन नाथ शुक्ल**

प्रबन्ध सम्पादक : **राजीव श्रीवास्तव**

सलाहकार : **वेद शर्मा, बीकानेर**

विशेष सहयोग : **परवेज़ फ़ातिमा**

शब्दांकन : **बिसारत अली**

आवरण चित्र : **राजेश पटेल, अलीगढ़**

रेखांकन : **राधेलाल बिजधावने, भोपाल**

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 ❑ फरवरी, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय

28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001

टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114

Web. : www.khabarexpress.com

Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 18/-; ❑ वार्षिक : 200/-; ❑ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ❑ आजीवन : 2000/- ❑ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट '**वर्तमान साहित्य**' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से **वर्तमान साहित्य**, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

इस अंक में

□

'वर्तमान साहित्य' दिसंबर, 2008। इस पत्रिका को मैं तब से पढ़ रहा हूँ, जब इसकी क़ीमत मात्र 4 रुपये थी। पत्रिका का मैं स्थानीय प्रतिनिधि भी था। पत्रिका ने कई अच्छे विशेषांक निकाले, जो पाठकों के लिए दस्तावेज़ी अंक रहे। दुष्यंत कुमार का पुनर्स्मरण करना बेहद अच्छा लगा। 'सारिका' का वह अंक याद हो आया, जो दुष्यंत पर केंद्रित था। आलोक त्यागी के माध्यम से पिता दुष्यंत कुमार को जानना और रचनाकार दुष्यंत कुमार को जानने के 'गहरे पैठ' अनुभवों से पाठक गुज़रते हैं, जो अत्यंत सुखद है। संपादक को आ

भार व्यक्त करना, हमारा अनिवार्य नैतिक कर्त्तव्य है, जिसमें पाँच महत्त्वपूर्ण ग़ज़लों को प्रकाशित करना भी शामिल है।

ओड़िया कहानी 'संचार पथ' बहुत अच्छी लगी। युवती की मनोदशा का पारदर्शी चित्रण मुग्ध करता है।

अरुण अभिषेक, पूर्णियाँ-854301

□

'वर्तमान साहित्य' का दिसंबर, 2008 अंक। 2008 के समापन पर निकला यह अंक मेरे लिए एक सुखद अनुभूति है। दुष्यंत जी की हर रचना कालजयी है :

मैं बहुत कुछ सोचता हूँ, पर कहता नहीं।
बोलना भी है मना, सच बोलना तो दरकिनार
इस सिरे से उस सिरे तक सब शरीके जुर्म है
आदमी या तो ज़मानत पर रिहा है या फ़रार

'वर्तमान साहित्य' का वर्ष 2008 का सफ़र जनवरी में मुख्य पृष्ठ पर त्रिलोचन शास्त्री की कविता से शुरू हुआ था—

आँको विश्वास की नयी छवि/उन आँखों में
जिनमें अविश्वास और भय/अब तब छाया है।

और समापन दुष्यंत कुमार की रचना से—

हर परंपरा के मरने का विष/मुझे मिला...

इससे अच्छा और क्या हो सकता है। 'वर्तमान साहित्य' का हर अंक संग्रहणीय है।

नये वर्ष की शुभकामना के साथ।

गोविंद उपाध्याय, कानपुर

□

'वर्तमान साहित्य' के दिसंबर, 2008 वाले अंक में 'दुष्यंत कुमार पर विशेष' सामग्री देकर आपने सचमुच एक भारी ज़िम्मेदारी का निर्वाह किया है। दुष्यंत कुमार उन सर्जकों से थे, जो प्रकृष्ट बौद्धिकता और हितकारी लोकप्रियता के बीच एक संतुलन रचने का दायित्व निभाते रहे। अभिजात साहित्य रसिकों के बीच इस तरह का नया प्रस्थान अक्सर ज़रूरी माना और किया जाता रहा है। न केवल कबीर बल्कि नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र आदि सर्जक भी हमारे समय में यह करते रहे हैं। दुष्यंत ने भी अपने जीवन के ऐतिहासिक अनुभवों के दिनों में यह किया। अभिव्यक्ति से कहीं अधिक वे संप्रेषण को लेकर फ़िक्रमंद रहे। सुखद आश्चर्य है कि अब अभिव्यक्तिवादी भी उन्हें बाईपास करने के मूड में नहीं हैं या फिर स्थिति ही ऐसी हो।

पत्रिका के 29वें पृष्ठ पर आपने दुष्यंत कुमार पांडुलिपि संग्रहालय, भोपाल से निकालकर कवि राम मेश्राम द्वारा प्रेषित एक पत्र 'दुष्यंत कुमार का एक दुर्लभ पत्र' नाम से छापा है। इसे पढ़कर मैं ज़रूर चकित हुआ। चिंतित तो हुआ ही कि हिन्दी भाषा की सेवा में लगे लोग इन दिनों अति महत्वाकांक्षी और भैरव उत्साहक क्या-क्या कर रहे हैं। आपकी जानकारी में तो यह बात है कि दुष्यंत कुमार रचनावली का प्रकाशन मेरे संपादन में आज से तीन साल पहले हो चुका है। उसके दूसरे खंड के पृष्ठ 346-47 पर यह पत्र और ग़ज़लें ज्यों की त्यों प्रकाशित हैं। फिर यह दुर्लभ पत्र कब से हो गया। संपादक होने के नाते आपने अपने समय के लेखकों और साहित्य-सेवियों के प्रति जैसा भरोसा किया है, वह आपके चरित्र की उदारता ही है। मैंने तो पत्र इसलिए लिख दिया कि पाठकों को ग़लत सूचना जा रही थी। आशा है, इसे इसी रूप में आप दोनों लेंगे।

विजय बहादुर सिंह, कोलकाता

□

'वर्तमान साहित्य' के दिसंबर, 2008 के अंक के आवरण पर दुष्यंत कुमार का चित्र एवं उन पर विशेषांक देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। दुष्यंत कुमार के पुत्र आलोक त्यागी तथा हिन्दी के यशस्वी दिवंगत साहित्यकार श्री धर्मवीर भारती के संस्मरणों से दुष्यंत जी को नज़दीक से जानने का मौक़ा मिला। दुष्यंत जी की ग़ज़लें आदमी की पीड़ा से जुड़ी हुई हैं। दुष्यंत कुमार ने ग़ज़लों को नया नाम दिया। उनकी ग़ज़लें रूमानियत से हटकर आम आदमी के सरोकारों से जुड़ी हुई हैं।

डा0 दया दीक्षित की लघुकथा 'लाइव' अच्छी है। इसमें इलेक्ट्रॉनिक चैनलों की व्यावसायिकता संवेदनहीनता का प...

चलता है। प्रो0 कुँवरपाल सिंह के स्थायी स्तंभ 'समय संवाद' में 'आतंकवाद और धर्मरक्षा' लेख यथार्थपरक है।

अंक संग्रहणीय है। वर्तमान साहित्य अपनी गौरवशाली परंपरा को क़ायम रखे हुए है। स्त्री-विमर्श के नाम पर चल रहे दौर में 'वर्तमान साहित्य' से देश : समाज को बहुत उम्मीदें हैं।

'वर्तमान साहित्य' परिवार को हार्दिक बधाई।

विवेक पाण्डेय, गौरीगंज

□

अलीगढ़ से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'वर्तमान साहित्य' के सितंबर, 2008 में प्रकाशित संस्मरण 'बड़ा हुआ तो क्या हुआ' पढ़ा। लेखक कुमार पंकज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में हिन्दी-विभाग के प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हैं। इन विद्वान ने जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के पुरोधा डा0 नामवर सिंह का स्तुति-गान किया है, वह सरासर चापलूसी नज़र आती है। 'दुश्मन का दुश्मन दोस्त' कहावत को लेखक ने चरितार्थ कर दिखाया। यदि नामवर सिंह और शिवप्रसाद सिंह में वैचारिक मतभेद रहे भी, तब भी इस प्रकार निशाना नहीं साधा जा सकता।

विश्वविद्यालय आयोग ने शिवप्रसाद को इस लायक समझा कि वे हिन्दी के मानक पाठ्यक्रम तैयार कर सकें। यदि उन्होंने नामवर सिंह को सम्मान दिया तो वे उन्हें वैचारिक मतभेद के बावजूद बड़ा भाई ही मानते थे। वे आपसी मतभेद के कारण हिन्दी को कोई नुकसान नहीं पहुँचाना चाहते थे।

अमन त्यागी, बिजनौर

□

कहानी पर श्री सूरज पालीवाल का धारावाहिक स्तंभ बहुत अच्छा दे रहे हैं। किन्तु, उसमें एक तो कमी यह है कि कहानी का संदर्भ नहीं दिया जाता है, जहाँ दिया जाता है, वहाँ कठिनाई यह कि हर पाठक के पास तमाम पत्रिकाएँ नहीं आतीं। श्रेष्ठतम उपाय यही संभव है कि संदर्भित कहानी संदर्भ सहित पुनः मुद्रित हों।

विशद विवेचन हो तो यह काम भी होना चाहिए।

शिवरतन थानवी, फलौदी

□

आज मीडिया जगत पर जिस प्रकार कॉरपोरेट सेक्टर हावी हो गया है, उससे आम आदमी और उसकी समस्याएँ दरकिनार होती जा रही हैं। ऐसे माहौल में 'वर्तमान साहित्य' की अहमियत काफी बढ़ जाती है। भले ही पाठकों की संख्या कम हो मगर आपके पाठक काफी प्रबुद्ध और चिंतनशील हैं।

गिरीश मिश्र, नई दिल्ली

□

'वर्तमान साहित्य' दिसंबर, 2008 अंक। दुष्यंत जी हमेशा अपनी ग़ज़लों में जीवित रहेंगे। संपादकीय 'अपनी बात' में ठीक कहा है कि ग़ज़ल एक ऐसी विधा है, जो कम शब्दों के साथ ही साथ सांकेतिक भाषा में अपने मन की बात को सहज रूप में कह देने की कला रखती है। शेर, ग़ज़ल प्रेम की प्रतीक है, लेकिन मात्र प्रेम का ही होकर रह जाना ग़लत है। आलोक त्यागी का लेख बयान कर रहा है कि हमेशा चर्चित पुरुषों को ही लोग बदनाम करते हैं। बदनाम करने का सबसे अच्छा तरीक़ा चरित्र-हनन है। दुष्यंत जी, राजेन्द्र जी सभी इसके उदाहरण हैं। विजय बहादुर जी तथा अन्य आलेख अच्छे लगे। डा0 अब्दुल अलीम का 'प्रगतिशील साहित्य' लेख हमारी विरासत है। अक़ील कैस की 'मान-हत्या' कहानी अच्छी लगी। दामोदर दीक्षित की 'धर्मचोर' भी अच्छी है।

जया सिंह, उन्नाव

□

विविध सामाजिक विषयों पर प्रकाश डालने वाली इस पत्रिका के सितंबर अंक में हिन्दी-दिवस पर विशेष सामग्री प्रकाशित कर आपने 'सोने में सुहागा' का कार्य किया है।

यहाँ के पत्रों में भी बंगलुरू में मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद तथा अखिल कर्नाटक हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा 'तृतीय हिन्दी भाषा कुंभ' के आयोजन पर विशेष सामग्री का प्रकाशन हुआ था और हमें आश्चर्य के साथ गहरा क्षोभ भी हुआ था कि हिन्दी को विशेष लोकप्रिय बनाने वाले दक्षिण भाषा-भाषियों के मध्य इस आयोजन के समापन पर उद्बोधन हेतु शीर्ष आलोचक डा0 नामवर सिंह को जो सम्मान दिया, उसका प्रतिफल उन्होंने 'त्रिभाषा सूत्र' की बाध्यता से हिन्दी भाषी प्रदेशों को मुक्त करने की पैरवी से दिया। उनके समस्त तर्क हो सकता है उनके दीर्घकालीन अनुभवों के आधार पर हों लेकिन हिन्दी के प्रसार-प्रचार की दृष्टि से नितांत अहितकर नहीं, घातक भी हैं। 'त्रिभाषासूत्र' पर उनकी इस मीमांसा से यह भी सिद्ध हो गया है कि हिन्दी विभागों के मूर्धन्य विद्वान देश की भाषा-समस्या के प्रति कितने सावचेत हैं? स्वातंत्र्योत्तर भारत में देश की अखंडता व भावात्मक एकता पर आघात करने वाली अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। हिन्दी भाषियों पर 'भाषायी तानाशाही' का दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया का प्रारंभ कर किसका हितसाधन होगा? डा0 सिंह ने अपने कथन से हिन्दी के वर्चस्ववाद की गंध दक्षिण भाषा-भाषियों को महसूस करा दी हैं। उन्होंने तो स्थिर पानी में एक कंकर फेंक दिया है, यह आंदोलन में परिवर्तित होगा, यह तो भविष्य बतायेगा।

भाषा के प्रश्न पर यह भी सत्य है कि हिन्दी भाषी लोग कोई भी अन्य भारतीय भाषा पढ़ने में रुचि नहीं ले रहे हैं—अपने प्रदेश से बाहर जाने पर अंग्रेज़ी के माध्यम से अपने कार्य संपादित करके एक प्रकार से वे स्वयं अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ी का ही प्रसार कर रहे हैं।

डा0 सत्या शर्मा, उदयपुर

□

आतंकवाद और हिंसा के दौर में /जब वक़्त के
लहूलुहान कंधे लगभग/टूटने वाले हैं

इसके पहले कोई अघट घटे/और मैं
अलविदा भी न बोल सकूँ/ मेरी तरफ़ से
नये साल की मुबारकबाद/ स्वीकारो साथियो।

संतोष कुमार तिवारी, नैनीताल

□

'वर्तमान साहित्य' का दिसंबर, 2008 अंक। अंक पिछले अंकों को पीछे छोड़ आया है। वस्तुतः यह दुष्यंत कुमार जी पर विशेषांक है। दुर्लभ पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। वधाईयाँ। जब भाषा विभाग में थे, तब मिला हूँ।

कैलाश चन्द्र भाटिया, अलीगढ़

□

'वर्तमान साहित्य' दिसंबर का अंक दुष्यंत कुमार पर केंद्रित है। आलोक त्यागी को जो पढ़ना शुरू किया तो रात तक पढ़ता रहा डा0 धर्मवीर भारती के नाम दुष्यंत कुमार का ख़त, विजय बहादुर सिंह, राजेश और भारती जी तक मेटर पठनीय हैं। आप लोग प्रगतिशीलता के पेरोकार हैं ही, इन्सानियत की जो खुशबू आपके प्रयासों से आ रही है वह मेरे जैसे नास्तिक को रूहानी खुशबू से मुअत्तर कर रही है। इस अंक में राम मेश्राम के प्रयास का उल्लेख आपने भी किया। उनकी ग़ज़लें भी मुकम्मिल क़िस्म की। आपने शाया है। वो हर कोण से मौजूँ हैं। आश्चर्य होता है कि म0प्र0 के ठेठ पिछड़े इलाके से प्रथम श्रेणी शासकीय सेवा करते हुए ग़ज़ल विधा को चुनना, हिम्मत की दार्द देना पढ़ती है रचनाओं में अपने समय को खूबसूरत अंदाज में अभिव्यक्त किया गया है। ऐसी बोल्डनेस उर्दू में तरक्कीपसंदों के यहाँ ही धड़ल्ले से आई है। भोपाल के एक दूसरे कद्दावर शायर के तेवर देखे जाते हैं जिनका नाम ताजभोपाली है। वो अब दुनिया में नहीं हैं। भोपाल ने ही मेश्राम को ये विधा और जुवान बख़्शी है। इस अंक में भी रचनाओं मैं उन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ, आप दोनों की हिम्मत की भी दाद देता हूँ वरना उसी भोपाल के चंद कलावादी लोगों ने दुष्यंत को सूर्य का स्वागत और एक कंठविषपायी में रहते कभी अहमियत नहीं दी तथाकथित मुख्य धारा वालों के लिये वो अछूत ही रहे जबकि दुष्यंत की क़ोटेबिलिटी असंदिग्ध है, वक़्त से इसे स्वतः प्रमाणित कर दिया है।

मरहूम ग़ालिब फारसी में कही गई ग़ज़लों को हिन्दवी-रेख्ता उर्दू की ग़ज़लों से ज़्यादा श्रेष्ठ मानते थे मगर इतिहास यशपाल है कि वो हिन्दी ग़ज़लों से ही आज तक ज़िंदा है।

नईम, देवास (म0प्र0)

□

'वर्तमान साहित्य' के दिसंबर अंक में आपने दुष्यंत कुमार के संबंध में विशेष सामग्री द्वारा उनके रचनाकार व्यक्ति और जीवन का परिचय देकर बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अधिकांश पत्रिकाएँ साहित्यकारों पर सामग्री निकालने में यह भूल जाती है कि रचनाकार प्रथम एक व्यक्ति होता है, उसके बाद रचनाकार कि उसकी जीवन परिस्थिति होती हैं, सामाजिक संपर्क हैं जिनके प्रभाव में वह रचनाककर्म करता है। रचनाकर्म शून्य में समय और समाज से कटकर नहीं होता है। इसलिए रचनाकार साथ उनका परिचय देना भी आवश्यक होता है। रचनाकार संघर्षों के परिचय के बिना उनके जीवंतता का अभाव होता दुष्यंत कुमार के संबंध में दी गयी विशेष सामग्री आपके साहि विवेक का परिणाम है। इस सामग्री के लिए बधाई। साहित्यकारों पर सामग्री प्रकाशित करने में 'वर्तमान सा अग्रणी भूमिका निभा रहा है।

मलखान सिंह सिसौदिया, सिकन्द्राबाद (आंध्र प्र

□

दुष्यंत कुमार पर आधारित दिसंबर, 08 माह का यह अंक लगा 'अजय बिसारिया' ने संपादकीय के माध्यम से दुष्यंत ग़ज़ल संग्रह 'साये में धूप' व 'सूर्य के स्वागत' का वर्णन किय प्रगतिशील साहित्य पर 'डा0 अब्दुल अलीम' ने जो लेख किया है उसमें मेरा मानना है कि लेखक सोचकर लेखनी उठाता है। 'वक़्त बीत रहा है' कहानी के माध्यम से 'अनुपम ने यथार्थ में हो रहे क्रियाकलापों को चित्रित किया है स्त्रि हक दिलाने का उपाय आज भगवान् के पास भी नहीं है।

विभा श्री सिंह, का

□

'वर्तमान साहित्य' के दिसंबर अंक ने 'सारिका' के ऐतिह दुष्यंत विशेषांक की याद दिला दी। हमें याद रखना चाहि दुष्यंत मुक्त छंद के भी सिद्धहस्त और बड़े कवि हैं। मुक्तछं ख़ासियतें, विषयार्थ-व्याप्ति, प्रभावकता और प्रासंगिकता ग़ज़ कहीं बड़ी हैं। अक़ील क़ैस की कहानी 'मान हत्या' एक बड़ी अविस्मरणीय कहानी है। दामोदर दत्त दीक्षित की कहानी 'धर्म भी ज़ोरदार है। कविताएँ-ग़ज़लें पठनीय हैं।

केशव शरण, वा

□

जनवरी अंक का संपादकीय पढ़ा, उत्कृष्ट, सारगर्भित समस्या-सम हेतु बधाई। कविताओं, कहानियों एवं लेख की विशिष्टता 'वर्त साहित्य' की पहचान है, ऐसा अनुभव हुआ। भाई सुधीर वि जी के यहाँ से आपकी पत्रिका के बारे में परिचय मिला था

मेरी प्रगतिवादी कविताओं की एक विशाल फैलेक्स प्र गांधी भवन, जी0एफ0 कालेज, आदि में लगायी जा चुकी जिसका फ़ोल्डर आपको साथ में प्रेषित कर रहा हूँ। पुस्तक प्रकाशन होने जा रहा है। सुधीर विद्यार्थी, राजेन्द्र चयन, अरशद ने अपने विचार प्रेषित किये हैं।

अचल विश्वास, शाह

अपनी बात

जनसत्ता के 11 जनवरी, 2009 के रविवासरीय परिशिष्ट में ज्ञानोदय के संपादकीय को लेकर राजकिशोर जी की टिप्पणी छपी है। इससे पहले भी ज्ञानोदय ने जब नवलेखन का कविता पर केंद्रित अंक छापा था, ऐसा ही विवाद पैदा किया गया था। प्रतिष्ठित लेखिका नासिरा शर्मा के ज्ञानोदय में छपे इंटरव्यू को लेकर भी ऐसा ही कुछ हुआ था।

बार-बार उठने और उठाये जाने वाले विवाद ही नहीं, वितंडावाद भी साहित्य में सेंसेक्स को उठाने और गिराने का माध्यम बनते हैं। हमारे कुछ प्रबुद्ध संपादकों/ लेखकों का यह मानना है कि ऐसे विवादों से पत्रिका अथवा लेखन चर्चा में रहता है। जब पूरा सामाजिक-राजनैतिक परिदृश्य बाज़ारवाद के लपेटे में है तो साहित्य भी बाज़ारीकरण के वातावरण से कैसे अछूता रह सकता है। आज साहित्यकार और साहित्य अपने धनबल और बाहुबल के आधार पर प्रायोजित किये जाते हैं। स्पॉन्सरशिप का ज़माना है। आप स्पान्सर ले आइये और चढ़िये सीढ़ियाँ खटाखट। स्पान्सरशिप और चन्दा केवल राजनीति में ही नहीं, साहित्य का भी चरित्र बन रहा है। इसलिये अक्सर यह समझ पाना कठिन हो जाता है कि उठाया गया बहस का मुद्दा जेनुइन है या उसी के लिये प्रचार तंत्र का एक हिस्सा। रवीन्द्र कालिया जी इसे अपना व्यवसायिक कौशल मान सकते हैं कि ऐसे विवाद के मुद्दे बना कर वे पत्रिका को निरंतर चर्चा में रखने में सफल होते हैं। हमारे एक शीर्ष साहित्यकार मित्र ने एकबार हमसे कहा था कि आज दाऊद इब्राहीम, छोटा राजन और छोटा-बड़ा अलाँ-फलाँ ही केवल माफ़िया गिरोह नहीं हैं। साहित्य में भी आज कई माफ़िया गिरोह बने हुये हैं जो संगठित रूप से लेखन और लेखकों की दुनियाँ को संचालित कर रहे हैं। बाकायदा यह तय करके कि किस लेखक को उठाना है और किसे गिराना है... किसे नेस्तनाबूद करना है... किसे अँधेरे में धकेलना है और किसे आसमान में बिठाना है...। पुरस्कारों की राजनीति भी आज किसी से छिपी नहीं है। चुनाव कमीशन ने राजनीति में प्रचार के लिये आचार संहिता तय कर दी है। कुछ नियम-कानून बनाये हैं। साहित्य की राजनीति में कोई नैतिकता, कोई आचार संहिता नहीं है। एक समय था जब साहित्य में यह उठा-पटक, यह टकराहट वैचारिकता के आधार पर होती थी। लेखकों की प्रगतिशीलता, उनके सामाजिक सरोकार अथवा कलावादी-व्यक्तिवादी रुझान के आधार पर लेखन के प्रति आलोचकों का रुख निर्भर करता था। सत्ताधारी नेताओं तक संदेश पहुँचाये जाते थे। यशपाल जैसे लेखक को साहित्य अकादमी पुरस्कार तक से लंबे समय तक वंचित रखना उनकी वैचारिकता के आधार पर था, यह जग जाहिर है। यही सलूक मुक्तिबोध के साथ हुआ था। एन0डी0ए0 सरकार द्वारा गुजराती लेखक राजेन्द्र शाह को ज्ञानपीठ सम्मान प्रदान किया जाना एक और ऐसा ही प्रसंग है। लेकिन अब भूमंडलीकृत परिदृश्य में गैरप्रगतिशील-प्रगतिशील और धुर दायाँ और धुर बायाँ बाजू का सोच; साहित्य में सब एक होकर गोल-गोल घूम रहे हैं। उत्तरआधुनिकतावाद ने वैचारिकता की सीमाएँ तोड़कर सामूहिक सरोकार और संघर्षों के अर्थ बदल दिये हैं। अब साहित्य में सत्ताजनित शक्ति केंद्र हैं और उनके इर्द-गिर्द जमा हुए लोग ही संगठन माने जा रहे हैं। व्यक्तिवाद अपने चरम पर है और यही वैचारिकता का पर्याय बन रहा है। आज हमारे राजनीति के एजेंडा में लोक-कल्याण के व्यापक कार्यक्रम गायब हैं। विश्व व्यापार संगठन और उस जैसी अन्य अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा निर्देशित और संचालित व्यापारिक मुद्दे हमारी राजनीति के मुख्य कार्यक्रम हैं। ऐसी परिस्थितियों में इस भूमंडलीयं संस्कृति का असर हमारे साहित्यिक परिदृश्य पर नहीं पड़े, यह कैसे हो सकता है। साहित्य के इस व्यापार में सेठाश्रयी संस्थाओं और उनकी पत्रिकाओं का सहज साहित्यिक व्यापार समझ में आता है। इसीलिये ढोल बजाकर, तमाशा दिखा कर भीड़ इकट्ठा की जाती है। किसी ने एक बार बताया था कि कुंभ के अवसर पर अलग-अलग अखाड़ों के संचालक-महंत, नये लोगों की भर्ती करते हैं। ये फौज वक़्त-ज़रूरत काम आती है। आज साहित्य के अखाड़ों में भी भर्ती की परंपरा चल पड़ी थी।

मीडियाकर और जीनियस का निर्णय समय करता है, सेठाश्रयी पत्रिकाओं के संपादक/ आलोचक नहीं। वर्तमान में दिखाई देने वाली ऊँचाइयाँ और सिंहासनों को इतिहास उलट-पुलट देता है। इमरजेंसी से पहले सत्ताधारी कांग्रेस सरकार ने अपनी उपलब्धियों और सफलता का लेखा-जोखा इतिहास में सुरक्षित रखने के लिये, इनका दस्तावेजीकरण करके एक कैप्सूल में बंद कर उसे धरती में

गहरे गाड़ दिया था। इतिहास इन कैप्सूलों का मोहताज नहीं है। संस्थाओं, पत्रिकाओं में बैठे व्यक्ति बदल जाते हैं, प्रायोजक बदल जाते हैं तो पूरा परिदृश्य बदल जाता है। सुरक्षित रहता है वह साहित्य, वह लेखन, जो लोक स्मृति का हिस्सा बनता है, जो लोगों के सरोकारों के साथ भागीदारी करता है और सामाजिक संस्कृति के साथ रच-बस जाता है।

'वर्तमान साहित्य' से जुड़कर पिछले पाँच सालों में इस साहित्यिक परिदृश्य के विलक्षण अनुभव हमें भी हुये हैं। कठिन परिस्थितियों में इस पत्रिका का उत्तरदायित्व हमने संभाला। सचमुच सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़े, हमारे विद्वान मित्र विभूतिनारायण राय ने हम पर भरोसा किया। पत्रिका का संपादन और संचालन करना एक बात, आर्थिक संसाधन जुटाना और अपनी ऊर्जा और बची खुची आयु में से समय निकाल अर्थ के लिये दौड़ भाग और माथापच्ची करना दूसरी बात। हमने अपने पाठकों, लेखकों तथा मित्रों का बार-बार आभार माना है, जिनके बलबूते पर अब तक यह काम संभव हो पाया है।

ऐसी परिस्थितियों में काम करते हुये हमें धक्का लगा जब हमारे एक नियमित लेखक से कालिया जी ने यह कहा कि उन्हे वर्तमान साहित्य के लिये नहीं लिखना चाहिये, बल्कि वे वागर्थ के लिये लिखें (तब वे वागर्थ के संपादक थे।) अगले अंक में फिर उन्हीं लेखक का वर्तमान साहित्य में उस स्तंभ के अंतर्गत लेख छपा तो उन्होंने उन लेखकों के उस लेख को वापिस कर दिया जो उन लेखक महोदय ने वागर्थ में छपने के लिये भेजा था। अभी हाल फिलहाल में फिर ऐसा ही हुआ। हमारे एक अन्य स्तंभ लेखक से कालिया जी ने कहा कि 'वर्तमान साहित्य तो सेकिंड-रेट पत्रिका है। उसमें आप क्यों लिखते हैं। आप हमारी पत्रिका में लिखिये।'

हमने उन लेखक से स्पष्ट कहा कि कालिया जी बात तो सही कहते हैं। कहाँ वह बड़े व्यापारिक घराने से निकलने वाली सेठाश्रयी पत्रिका, कहाँ हमारी कौटेज इंडस्ट्री जैसी घरेलू संसाधनों से निकलने वाली दुबली पतली अस्सी पेज की मासिक पत्रिका! लेकिन समझ में नहीं आता कि उनको हमसे ऐसा क्या ख़तरा नज़र आता है। शायद यह वैश्विक आर्थिक व्यवस्था की प्रक्रिया है। छोटे-छोटे उद्योगों को समेट और निगलकर मोनोपॉली कैपिटलिज़्म ऐसे ही फलता-फूलता है। दूसरी लकीरों को मिटाने की बजाय लकीर खींचना अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का तरीका होना चाहिये। कालिया जी के ही एक अन्य मित्र-सहयोगी, वर्तमान साहित्य को पत्रिका ही नहीं मानते। जब वे सौ पत्रिकाओं का नाम लेते (जिनमें साल-दो साल में निकलने वाली अड़तालीस पेजी पत्रिका भी होती हैं) तब भी वर्तमान साहित्य उसमें नहीं होता। जब हम इस पत्रिका को निकालने का साहस किया तो हमारे इन मित्र हमें तीन लंबी सूचियाँ लिख भेजीं जिनमें दिल्ली के कवि, कथाकार और आलोचकों के नाम थे। उन्होंने यह सच कहा था कि ये 'स्टार' लेखकों की सूची है। इनके बिना कोई पत्रिका नहीं निकल सकती। उनके प्रति आभार प्रकट करते हुए हमने वह सूची सुरक्षित रख ली। अब हम ठहरे मीडियॉकर, सो स्टार लेखक हमें कैसे घास डालते, सो हमने मीडियॉकरों के भरोसे ही काम शुरू किया। उनकी नाराज़गी का सबब जायज़ है।

हमने एक गुस्ताख़ी और की। मैत्रेयी पुष्पा की "गुड़िया भीतर गुड़िया" की एक समीक्षा जनसत्ता में छपी थी। उसका जवाब भी राजकिशोर जी ने दिया था। उसी तर्ज पर एक अन्य उदीयमान तेज़ तर्रार लेखिका द्वारा भेजी 'गुड़िया भीतर गुड़िया' की समीक्षा हमने नहीं छापा। हमने स्वीकार किया कि हाँ, हममें यह साहस नहीं है। तो ये वर्तमान साहित्य को ब्लैक आउट करने के लिये समुचित कारण नहीं हैं!

विनम्रतापूर्वक यही कहना चाहूँगी कि मीडियॉकर और जीनियस की यह बहस और बड़बोलापन साहित्य के व्यापारीकरण की प्रक्रिया का ही हिस्सा है और कहीं पर आत्मविश्वास की कमी को दर्शाता है। बाढ़ आती है, किनारे टूटते हैं। एक वक्त तो लगता है कि सारी धरती जलमग्न है, लेकिन समय का प्रवाह मिट्टी, बालू और कूड़ा करकट अलग कर देता है।

नमिता

(नमिता सिंह)

राजेंद्र अनुरागी : एक गीतिमय शख़्सियत

राम मेश्राम

नर्मदा पुत्र, जनता के कवि राजेंद्र अनुरागी का पार्थिव शरीर 12 दिसंबर, 2008 की रात 78 वर्ष की आयु में पंच महाभूतों में बेशक विलीन हो गया है, किंतु उनका अक्षय यशः शरीर 'यावत चंद्र-दिवाकरौ' है और बना रहेगा। वे खुद 'जीवेम् शरदः शतम्' में गहरी आस्था रखते थे। मृत्यु के अकाट्य शाश्वत सत्य की अनुभूति वे अपनी कविता में बहुत पहिले कर चुके थे–

"कल तक नाम-रूप-काया थे/ आज अनाम हुए/ पगले अहम् आँसुओं धुलकर/ सहज प्रणाम हुए/ अनुरागी जन प्रेम नहाए/ आतम राम हुए।

राजेन्द्र अनुरागी का जन्म महाशिवरात्रि पर्व पर 16 फरवरी, 1931 को मध्यप्रदेश के होशंगाबाद नगर में हुआ था। उनके पिता मोतीलाल जैन होशंगाबाद के प्रमुख व्यापारी थे। भाई-बहिनों में राजेन्द्र अनुरागी दूसरे क्रम पर थे। बचपन से युवावस्था (1948) तक वे होशंगाबाद में ही नर्मदा-'तवा' नदियों के हरे-भरे अंचल और नर्मदा तट की प्राकृतिक सुषमा की गोद में पले बढ़े। 1942 के स्वतंत्रता आंदोलन में 'अंग्रेजी भारत छोड़ो' के महात्मा गाँधी के आव्हान की प्रेरणा से अनुरागी ने 10-12 बालक छात्रों की टोली के साथ शासकीय हाईस्कूल भवन पर तिरंगा झंडा फहरा दिया और कौमी तराना गाया। नतीजे में उन्हें 10 बेंत सज़ा मिली, और बाल आयु अपराध के कारण पूरा दिन थाने के हवालात में बंद रहना पड़ा।

सागर विश्वविद्यालय के अध्ययन काल के दौरान् वे सागर शहर के ठीक बीच के तीन बत्ती चौराहे पर बाजार के माहौल में अपनी 4 पेज की कविताओं की पुस्तकें 1-1 पैसे में बेचते और वहीं सागर के श्रोताओं के बीच उनके गीत गूँजा करते। सन् 1953 में भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु के सागर विश्वविद्यालय आगमन के अवसर पर उनके स्वागत क्रम में विश्वविद्यालय की ओर से राजेन्द्र अनुरागी का काव्यमय स्वस्ति वाचन होना था। वह साल सागर और लगभग समूचे बुंदेलखंड के लिए प्राकृतिक प्रकोप का, अकाल का साल था और जनता जीवन-यापन की ओर कठिनाईयों और अभावों के कारण त्राहि-त्राहि कर रही थी। अनुरागी का संवेदनशील हृदय इन हालातों से बहुत व्यथित था। उन्होंने नेहरू के स्वागत का स्वस्तिवाचन व्यंग्य कविता से किया, जो सीधा उन पर कटाक्ष था–"भले पधारे आज देश के भाग्य विधाता"

अति सम्मान्य अतिथि के ऐसे स्वागत से कुलपति डा0 आर0पी0 त्रिपाठी इतने नाराज हुए कि उन्होंने अनुरागी को सागर विश्वविद्यालय से तो निष्कासित किया ही, छात्रावास से भी तत्काल बेदखल कर दिया।

1975 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय आने के बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व0 इंदिरा गांधी ने भारत में आपातकाल लागू कर दिया। आपातकाल का विरोध करने वाले विरोधी दलों और विरोधी विचारधाराओं के अधिकांश नेताओं को गिरफ़्तार कर जेल में बंद कर दिया गया। अख़बारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रतिबंधित कर दी गई। मध्यप्रदेश शासन की शासकीय सेवा में रहते हुए अनुरागी ने अपनी रचनाओं से आपातकाल का प्रखर विरोध किया। वे एक प्रकार से अघोषित रूप से नज़रबंद से हो गए। ऐसा लगता था कि शासन कभी भी उनकी सेवाएँ समाप्त कर सकता है, और उन्हें गिरफ़्तार कर जेल भिजवाया जा सकता है। इस दौरान् अनुरागी ने उन साहित्यकारों और राजनेताओं और उनके परिवारों की भरपूर मदद की, जो आपातकाल के विरोध में जेलों में बंद थे और उनके परिवार दुर्दिन से गुजर रहे थे। उनकी आपातकाल संबंधी रचनाएँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्व शक्तिशाली सत्ता के विरुद्ध सामान्य जन के मुखर संघर्ष का प्रेरक दस्तावेज हैं।

1987 में जनसंपर्क विभाग की शासकीय सेवा से मुक्ति के बाद अनुरागी के मन में जीवन प्रपंच के प्रति गहन वितृष्णा जागी। यों विराग का बौद्ध दर्शन प्रारंभ से ही उन्हें आकर्षित करता रहा था। सागर विश्वविद्यालय में छात्र जीवन में अध्ययन काल के दौरान ओशो रजनीश उनके सहपाठी थे, जो अनुरागी की काव्य चेतना से स्वयं अनुप्राणित थे।

उन्होंने रजनीश की कुछ पुस्तकों का संपादन किया और उनकी भूमिका लिखी। ओशो आश्रम में अनेक प्रसिद्ध साहित्यकारों और कलाकारों से अनुरागी की मुलाकात हुई। विख्यात लेखिका अमृता प्रीतम ने अपनी संस्मरण पुस्तक "अनंत नाम जिज्ञासा"

में समूचा अध्याय अनुरागी की आत्मीय यादों पर लिखा है। दरअसल बोलने की शैली, रहन-सहन और चेहरे पर संतों जैसी दाढ़ी, श्वेत धवल केश राशि से वे ओशो रजनीश के दूसरे व्यक्तित्व रूप प्रतीत होते थे।

कालिदास के मेघदूत के कई संस्कृत पदों का भावानुवाद, या मध्यकालीन इतिहास नायक शिवाजी या राणाप्रताप के संघर्ष पर केंद्रित कविताएँ व्यक्ति चित्रण के काव्य की अनूठी व्यंजना है। उनका व्यंग्य-परिहास इतना प्रखर हुआ करता था कि संबंधित शख़्स उनकी व्यंग्य-चिकोटी की जलन कभी भूल नहीं पाता था। व्यंग्य सम्राट हरिशंकर परसाई तब सन् 1962 में व्यंग्य सम्राट नहीं हुए थे, उनकी रूस यात्रा से वापसी पर अनुरागी द्वारा ली गई वक्रोक्तिमय काव्य चुटकी, परसाई आजीवन नहीं भूल पाए। जनसंपर्क विभाग के सहकर्मी साथियों में भाऊ विश्वविद्यालय के व्यक्तित्व पर लिखा उनका व्यंग्य आलेख ''खाऊ गड़बड़कर'' ऐसा ही लाक्षणिक वक्रोक्ति शिल्प है जो शासन के विभागीय भ्रष्टाचार को बड़ी बेदिली से उजागर करता है।

नर्मदा नदी ने राजेन्द्र अनुरागी को आत्मा की गहराई तक अनुप्राणित किया था। वे उसकी लहरों में, रेत में खेलते हुए पले-बढ़े। इसलिए उनकी कई कविताओं में नर्मदा के अनेक सौंदर्यमयी रूपाकार पहलू और अद्‌भुत बिंब है, जो अंयत्र कहीं नहीं मिलते।

वे जितने श्रेष्ठ कवि थे, उतने ही दिलकश शायर भी। उनका शायराना तखल्लुस था 'गौहर नर्मदापुरी'। नर्मदापुर, होशंगाबाद का प्राचीन नाम था। मालवा के खिलजी सुल्तान होशंगाबाद द्वारा सन् 1320 में नर्मदापुर जीतने के बाद उसका नाम बदलकर, खुद के नाम पर नाम रखवा लिया गया। हा[ल] ही में मध्यप्रदेश शासन ने होशंगाबाद-राजस्व संभाग का पुनर्गठ[न] करके 'नर्मदापुरम' नाम से नवीन राजस्व संभाग कायम कि[या] है। उनकी लिखी ग़ज़लें, शायरी का मिसाली कलाम है। इ[न] ग़ज़लों में भी सर्वत्र आध्यात्मिक रंग ग़ालिब है। सन् 1948 [में] कलकत्ते के विख्यात पत्रकार स्व0 श्री रामानंद चट्टोपाध्याय के संपादन में प्रकाशित मासिक पत्र 'विशाल भारत' से राजे[न्द्र] अनुरागी की रचनाओं का प्रकाशन शुरू हुआ, तो यह सिलसि[ला] जीवन पर्यंत जारी रहा। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादंबि[नी], नवगीत, सरिता से लेकर आज भारतीय ज्ञानपीठ के आज [के] 'नया ज्ञानोदय' तक देशभर में उनकी रचनाओं के प्रकाशन [का] लगातार सिलसिला जारी रहा। अनुरागी का लेखन समंदर जै[सा] विस्तार लिए हुए है, जिसके सुव्यवस्थित संपादन और सम[ग्र] रचनावली के प्रकाशन की ज़रूरत है, ताकि छायावादोत्तर औ[र] रहस्य वादोत्तर हिन्दी साहित्य में गीति काव्य की विकास या[त्रा] की उपलब्धियाँ स्पष्ट आंकी जा सकें।

उनकी प्रकाशित कृतियों में 'ग्रहण का दान दो' (1953), 'स्वागत' (1953), 'सुनो बकरी', 'शांति के पाखी' (1969), 'सारा विश्व सुने', 'नये मनुष्य का सपना' (लेख-संग्रह), 'पाँ[व] भर धरती' (बाल उपन्यास), 'तिरंगा कफ़न', 'मुसाफिर जा[ग] जरा' (लेख संग्रह), 'बूढ़ी काकी' (प्रहसन) तथा कुछ गद्य लेखों के संकलन हैं। इनमें कोई भी संकलन बाज़ार में उपलब्ध नहीं है।

एफ-115-29, शिवाजी न[गर]
भोपाल-4620[..]

प्रो0 रामचंद्र तिवारी हिन्दी के उन विशिष्ट रचनाकारों में थे, जिन्होंने जीवनपर्यंत न हार मानी, न थके। अंतिम समय तक वे साहित्य-सर्जन में जुटे थे। वे आदर्श अध्यापक थे। गोरखपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। छात्रों के प्रिय गुरु थे। सेवानिवृत्ति के उपरांत भी उनकी व्यस्तता में कमी नहीं थी। सेवा से अवकाश लेने के बाद भी लेखन से अवकाश नहीं लिया था। वे व्यर्थ के विवादों में नहीं पड़े। निरंतर पठन-पाठन उनकी दिनचर्या का अंग था। सांप्रदायिकता एवं धार्मिक संकीर्णता से वे सर्वथा मुक्त थे।

ऐसे कर्मठ रचनाकार को 'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

अप्सराओं का देश

सैन्नी अशेष

(यह कहानी हमें श्री सैन्नी अशेष ने भेजी है। प्रथम पृष्ठ पर 'कहानी' और लेखक के नाम के स्थान पर 'सैन्नी अशेष' अंकित है। अंत में अशेष द्वारा हस्ताक्षरित ब्रेकिटेड है–'सैन्नी अशेष व स्नोवा बॉर्नो द्वारा लिखे शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास का अंश।'–संपादक)

स्कूल में पढ़ने वाली नवयुवा लड़कियाँ और युवा गृहिणियाँ बहुत उल्लास और सलीके से मेहमानों के हाथ धुलवा रही हैं। एक युवती खुले पात्र को मेहमान के आगे रखती, दूसरी मेहमान के हाथों पर लोटे से पानी डालती, तीसरी मेहमान को तौलिया देती।

यह उमा का घर है। उमा इस इलाके के बड़े स्कूल की अंतिम कक्षा की छात्रा है। वह लंबी-गठीली-सुंदर लड़की है। यों पश्चिम हिमालय की इस दुर्गम घाटी के अधिकांश लोग लंबी कद-काठी और तीखे नाक-नक्श वाले ही है। मोटे ऊनी पहनावों के कारण वे कुछ और लंबे-तगड़े नज़र आते हैं। महाभारत कथा बताती है कि अंतिम दिनों में कृष्ण की बहुत-सी साहसी नारियों ने यहीं आकर पड़ाव डाला था।

आज का प्रीतिभोज यहाँ के पुराने शिक्षक की विदाई और नये शिक्षक शिवम के स्वागत का संयुक्त आयोजन है। शिवम को उमा के यहाँ कमरा मिला है। कुछ ही दिनों में वह स्कूल और गाँव में सबके कुतूहल, आदर और स्वागत का पात्र बन गया है। शिवम दर्शनशास्त्र के अपने अगले शोध की तैयारी कर रहा है और विदेश की एक यूनीवर्सिटी में प्रोफ़ेसरी करने का इंतज़ार भी।

पकवान परोसे जाने लगे। पीतल के प्यालों में सुराही से शराब ढलने लगी। उमा ज्यों ही शिवम के सामने रखे प्याले में शराब भरने लगी, शिवम ने प्याला ढक लिया और चकित होकर उमा को घूरने लगा। बोला, ''तुम यह क्या कर रही हो? मैं शराब नहीं पीता।''

''आज आप इन्कार नहीं कर सकते गुरु जी...यह हमारा अपमान होगा।''

''यह ठीक कह रही है, गुरु जी,'' देवीशरण की बगल में बैठे उमा के पिता ने कहा-यहाँ का दस्तूर है।''

शिवम के साथ बैठे एक अध्यापक ने उसके कान में कहा, ''मैं आपका प्याला खाली करता रहूँगा।''

लेकिन शिवम का स्कूल की लड़कियों का अपने अध्यापकों को शराब परोसना ठीक नहीं लगा। उमा ने उसके प्याले को आधा भर दिया।

तभी उसकी नज़र रसोई के द्वार पर पड़ी। उमा की ओट में एक अपरिचित युवती खड़ी थी और छिपकर उसे देख रही थी। शायद यहाँ की सब लड़कियों में सबसे सुंदर। पर अचानक यह कहाँ से टपक पड़ी? लो, व्यंजन लेकर वह सीधी उसी की ओर आ रही है।

''अरे, आपका प्याला तो अभी तक भरा हुआ है। इसे उठाइए न।''

कई लोग विस्मय से उस युवती को देखने लगे, तो उमा के पिता ने कहा, ''हमारी बड़ी बेटी है...अप्सरा...यूनीवर्सिटी की पढ़ाई ख़त्म करके शहर से लौटी है।''

''इतना पढ़-लिखकर भी आप शराब परोसने में लगी हैं?'' शिवम धीमी आवाज़ में अप्सरा से बोला। दोनों की आँखें मिलीं। अप्सरा वहाँ से हट गयी। कुछ देर शिवम अनमना रहा, फिर उठा और बाहर निकल गया। वह सीधा अपने कमरे में पहुँचा। उसके पीछे क्षमा-याचिका की मुद्रा में उमा पहुँची।

''यह क्या तमाशा है उमा? यह कैसी जगह है? लड़कियों के हाथों शराब पिलवायी जा रही है... न जाने अब यहाँ क्या-क्या होगा?''

उसकी क्षुब्ध आवाज़ को सुनकर अप्सरा भी भीतर आ पहुँची।

''दरअसल आप एक अजनबी माहौल में हैं, मिस्टर शिवम,'' अप्सरा ने कहा, ''आप अभी यह नहीं समझ सकते कि यहाँ कोई लड़की अपने आदरणीय शिक्षक या मान्य मेहमान को शराब परोस कर स्वयं को धन्य मान सकती है। यहाँ घर-घर शराब निकलती है। हम हिमालय के आदिवासी हैं, जो अपने मेहमान का स्वागत अपने यहाँ के खानपान से ही करते हैं। यहाँ की स्त्रियाँ शराब नहीं पीतीं, लेकिन पुरुषों के लिए जतन से शराब बनाती हैं और चाव से परोसती हैं । हमने आप से उमंगपूर्वक आग्रह किया था, शर्त नहीं रखी थी। लेकिन यहाँ के दस्तूरों से परिचित न होने के कारण आपको ठेस पहुँची। कृपया क्षमा करें।''

शिवम उसे देखता रह गया।

"अब चलिए, गुस्सा छोड़िए, वरना लोग समझेंगे कि आपको चढ़ गयी है।"

अप्सरा की इस बात पर उमा के साथ-साथ शिवम भी हँस पड़ा।

'यह लड़की जितनी सुंदर है, उतनी ही चतुर भी है। शायद विदुषी ही निकले।'

रात्रिभोज के बाद नृत्य का दौर शुरू हुआ। स्त्री-पुरुष बेहिचक एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर थिरकने लगे।

× × ×

अगली ही सुबह अप्सरा ने उसे उलझाया, "मुझे कुछ ऐसे पियक्कड़ों के नाम बताइए, जिन्होंने मानव-जाति या सृष्टि को हानि पहुँचायी हो।"

आँगन के कोने में नयी-नयी धूप में अप्सरा के पिता तकली पर ऊन कात रहे थे। माँ सामने ही पशुशाला में दूध दुह रही थी। उमा उनको चाय देने के बाद स्कूल जाने की तैयारी में लग गयी थी।

"मैं जानता हूँ...डिक्टेटर्स डोंट ड्रिंक। स्टालिन, हिटलर और मुसोलिनी बहुत संयमी लोग थे, हालाँकि देश की सीमाओं पर अपने-अपने सैनिकों को सभी शराब पिलाते हैं। हमारे देश के देशभक्त और संगठनप्रिय अनुशासित नेता-नेत्रियाँ भी सुरापान नहीं, रक्तपान से तृप्त होते हैं, लेकिन अप्सरा जी, शराब तो आप और मैं भी नहीं पीते।"

"हाँ, मगर उससे डरना भी नहीं चाहिए। वहाँ तो क़तई नहीं, जहाँ बच्चा-बच्चा शराब बनाना जानता है, मगर पीता सिर्फ़ दिमाग़ग्रस्त पुरुष है। और पुरुष भी किसी को डराने या सताने के लिए नहीं पीता... अक्सर अपने भीतर की शराब को उभारने के लिए ही पीता है...स्त्री के साथ हार्दिक और नृत्यमय होने के लिए. .. हालाँकि मैं जानती हूँ कि यह नैसर्गिक नहीं, भौगोलिक और विवश उपाय है।"

शिवम उसे कुछ क्षण देखता रहा, फिर बोला, "काश मैं विवाह नामक संस्था का बंदी न होता या यहीं शादी करता और किसी साकी के मयखाने में नहाता रहता।"

"यहाँ ऐसी कोई शर्त नहीं, कहें तो मैं आपके लिए मयखाना खोल दूँ? या पहले आप अपनी आजीवन संगिनी से पूछकर आएँगे? मैं मैदानों और निचले पहाड़ों के डरपोक दस्तूरों से वाकिफ़ हूँ।"

शिवम अप्सरा की भाँति बेतकल्लुफ़ होने की कोशिश में बोला, "आपको किसी के विवाहित-अविवाहित होने की सूचना ज़रा भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगी?"

पहली बार निराले अंदाज़ में अप्सरा ने शिवम को घूरा, तो वह सकपका कर रह गया।

"क्या मैं गुरुगंभीर होकर आपसे मुख़ातिब होनें की गुस्ताख़ी कर सकती हूँ?"

'पता नहीं, यह लड़की शहरों और किताबों से कितनी भाषा उड़ा लायी है,वह उसकी टिप्पणी को साँस रोक कर सुनने लगा।'

"मेरे लिए आप एक व्यक्ति हैं। जहाँ तक वैवाहिक रिश्ते की बात है, यहाँ अभी तक बहुपति प्रथा मौजूद है। मुझे इस बात ने कभी परेशान नहीं किया कि हमारे चार पिताओं में से मैं वास्तव में किसकी संतान हूँ और उमा किसकी? रात के भोज-उत्सव में हमारे चारों पिता मौजूद थे। हालाँकि अब हमारे तीन पिता अलग-अलग शादियाँ करके अपनी गृहस्थियाँ बसा चुके हैं, लेकिन शुरू में हमारी माँ चारों भाइयों की एक पत्नी थी। हमें यहाँ पुरुषों को विवाहित और स्त्रियों को अक्सर अविवाहित देखने की आदत है। मेरी रुचि व्यक्ति के मौलिक स्वभाव में रहती है, उसकी वैवाहिक स्थिति में नहीं।"

शिवम ने नये विषय पर आना ठीक समझा, "बहुपति प्रथा के ख़त्म होते जाने के बावजूद शायद आज भी यहाँ कई लड़कियाँ अविवाहित रह जाती होंगी। सुना है यहाँ ख़ूबसूरत लड़कियों के अपहरण भी होते हैं।"

"हाँ, लेकिन ज़्यादा मौक़ों पर यह स्वातंत्र्य से जुड़ी एक रस्म ही है। अपहरण करने वाला युवक लड़की की पसंद का होता है। उनके संगी-साथी उन्हें अपहरण करने या उसका नाटक करने में मदद करते हैं। लेकिन, कभी-कभी लड़की की इच्छा के ख़िलाफ़ भी दुष्ट लोग उसे उठा ले जाते हैं। मगर वे लड़की को ज़बरदस्ती अपने घर नहीं रख सकते।"

"मगर बलात्कार...", शिवम ने कहना चाहा।

"बलात्कार शब्द ही नहीं है यहाँ की भाषा में। उठाकर तो आपको भी कोई ले जा सकता है। मैं और उमा काफ़ी हैं। चुनौती दो तो मैं अकेली..."

"मैं स्वयं चल रहा हूँ, चलो", शिवम ने उमा के इशारे पर नाश्ते की ओर बढ़ते हुए इतनी भद्रता से कहा कि अप्सरा चाह कर भी न हँस सकी।

एक दिन शाम को दोनों दूर निकल गये। रास्ते में शिवम के सहकर्मी अध्यापक मिल गये। एक अध्यापक ने चुटकी लेकर कहा, "शिवमजी, आपने पुरुषों का साथ ही छोड़ दिया है। सब ठीक तो है न?"

शिवम बोला, "देखो भाई, हम भारतीय पुरुषों के भाग्य में मर्दों का ही संग-साथ ज़्यादा लिखा रहता है। सौ में से पाँच-सात मौक़ों पर हमें स्त्रियों का सहज संग-साथ मिलता है, उसे चूकें तो 'जै माता की' करते रह जाएँगे। अच्छा, जै राधेश्याम।"

यह पहला मौक़ा था, जब अप्सरा शिवम की किसी टिप्पणी पर देर तक चहकती रही थी।

× × ×

स्कूल में वार्षिक परीक्षाओं के बाद सर्दी की लंबी छुट्टियाँ हो गयी हैं। इसी के साथ उमा की बारह वर्षीय स्कूली पढ़ाई पूरी हो गयी है। पर्वतों की चोटियों को सफ़ेद चादर से ढकने के बाद बर्फ़ नीचे उतरने लगी है। आज धूप खिली है। अप्सरा शिवम को लेकर नदी के साथ-साथ दूर निकल गयी है। शिवम को उमा से पता चला है कि घर के सब लोग अप्सरा को 'गुरुमाँ' कहते-मानते हैं। वह उसे 'गुरुमित्रा' कहने लगा है।

"शिवम, आनंद को परिभाषित करना पड़े, तो कैसे परिभाषित कर सकते है?" अप्सरा ने पूछा।

"ईश्वर, संत, महापंडित, वैज्ञानिक या बड़े से बड़े साहित्यकार से संवाद या सत्संग करने के बजाय मैं दूरदराज़ की एक ऐसी अल्हड़ बाला से गप्पें लड़ाना या उसके साथ बेमतलब रहना पसंद करूँगा, जिसमें पहाड़ी अनपढ़ों जैसा कामन सेंस, हास्यबोध और संवाद की सहज तत्परता हो। जो इधर-उधर देखे बिना खिलखिला सकती हो। इस वक़्त तुम मेरे साथ हो, मैं सब कुछ भूल गया हूँ। यह आनंद ही तो है।"

अप्सरा हँसी, "पढ़ाकू अध्यापक और लेखक सुंदर लिख-बोल लेते हैं। तुम्हारी परिभाषा के हिसाब से उमा का नाम सबसे ऊपर जाएगा, देख लेना।"

शिवम यह सुनकर बोला, "और तुम...ढेरों किताबें पढ़ने के बाद भी इतनी अछूती और नैसर्गिक हो....उमा तुम पर जाएगी, देखना।"

"अगर मैं कहूँ कि मेरे सवाल का जवाब शब्दों से हटकर दो, तो?"

दोनों पास के मख़मली भू-खंड पर जा बैठे।

काफ़ी देर के मौन के बाद अप्सरा बोली, "प्राकृतिक सहजता के निकट रहने के लिए आदमी की बनायी व्यस्तताओं से यथासंभव अलग रहना या उनसे अछूते बने रहना ज़रूरी है। गहरी रचनात्मक तृप्ति के लिए भी व्यस्तता नहीं, विश्राम चाहिए। है न?"

"हाँ, यह सौभाग्य ही है कि हिमालय के लोग लाख भौगोलिक संघर्षों के बावजूद मानसिक जटिलताओं और तनावों से दूर हैं। यहाँ जीने या रचने के लिए अलग से श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। काग़ज़ काले करने की भी नहीं। मैंने अक्सर राजधानियों में लोगों को इस बात पर रोते-धोते देखा है कि पहाड़ों के लोग अच्छे रचनाकार नहीं होते। असल में, वे अपने जैसे काग़ज़ी नगरग्रस्तों की बात कर रहे होते हैं। जीवन की चहुँमुखी रचनात्मकता का तो उन्हें जीवन-भर पता नहीं चलता। हिमालय में हुई महान रचनाओं से तो उन्हें सरोकार ही नहीं है....वे मूढ़ों की दुनिया और उसके बनाये संघर्षों में कहने-कमाने में लगे हैं।"

अप्सरा बोली, "मैं सोचती थी कि घर लौटने के बाद अपने उन शब्दों और स्मृतियों का क्या करूँगी, जो मुझे जीवंत अनुभवों, ज़िंदा किताबों और दुनिया भर के विद्रोही शिक्षकों से मिले हैं। मेरा सौभाग्य है कि तुम मुझे मिले।"

× × ×

शिवम को उमा की मदद से गाँव के छोर पर एकांत में मनपसंद मकान मिल गया है। हालाँकि वह तड़प उठी, "अब तो मैं आपसे स्कूल में भी नहीं मिलूँगी। आप हमारा घर भी छोड़ रहे हैं।"

शिवम ने मुश्किल से उसे मनाया, "मेरे लिखने-पढ़ने के लिए एकांत ज़रूरी है, पर तुम जब चाहे, वहाँ आ सकती हो...और अप्सरा के साथ तो मुझे रोज़ सैर करने भी जाना है। तुम लोगों की यह गुरुमाँ मेरी अस्तित्त्वमित्रा हो गयी है।"

एक दिन शिवम और अप्सरा घूमकर लौट रहे थे। रास्ते में अप्सरा के बचपन का सहपाठी मोहन मिल गया। वह बरसों के बाद शहर से लौट रहा था। देखने में फ़ैशनेबल और बातों से वाचाल लग रहा था। उसने अप्सरा का हाथ पकड़कर बहुत-सी बातें कीं, अपनी क़ामयाबी की डींगें हाँकीं और बाद में मिलने की बात कहकर अपने पास के गाँव के रास्ते पर चला गया। घर पहुँचे तो उमा को प्रतीक्षा करते पाया। वह उनके लिए चाय बनाने लगी। चाय पीकर शिवम अपने यहाँ पहुँचा, तो कुछ ही देर में उमा कुछ ताज़ा सब्ज़ियाँ और लस्सी लेकर आ पहुँची।

और एक दिन तो तूफ़ान आ गया। "दीदी को बचा लो, शिवम गुरु जी....मोहन और उसके साथी दीदी को उठा ले गये.. .घर में कोई नहीं है। गाँव के लोग दूर के गाँव के मेले में मेहमान बनकर गये हैं।"

रात हो रही थी। पहले तो शिवम इसे उमा की नौटंकी समझा, फिर उसकी हालत देखकर सहम गया। बोला, "अप्सरा के साथ ऐसा नहीं हो सकता।"

लेकिन उमा फूली हुई साँसों के साथ बोली, "शाम को दीदी मोहन के गाँव वाले रास्ते पर अपने हाथ से लगाये पौधों को पानी देकर लौटने लगी, तो उन लोगों ने घात लगाकर हमला किया। मेरी सहेली राधा ने सब देखा। दीदी ने बहुत मुक़ाबला किया, पर वे दस-बारह लोग थे।"

शिवम ने अपनी बेचैनी छिपाकर उसके हाथ पकड़े और उसे शांत करते हुआ बोला, "अप्सरा जल्दी ही लौट आएगी। तुम घर जाओ।"

"नहीं, मैं नहीं जाऊँगी," मुझे अकेला पाकर दूसरे लड़के मुझे भी उठा ले जाएँगे।"

शिवम ने पहली बार ग़ौर से उमा को देखा। फिर उसने सोचा कि कहीं मन-ही-मन अप्सरा ही मोहन को न चाहती हो। आख़िर वह उसे बचपन से जानती है। यह उसका स्वयंवर भी तो हो सकता है।

दोनों देर रात तक जागते रहे। सुबह उसकी आँख खुली तो

उमा जा चुकी थी।

शिवम उमा के घर पहुँचा और उसे लेकर मोहन के गाँव वाले रास्ते पर निकला। अभी वे कुछ क़दम ही चले थे कि सामने से अप्सरा को आते देखा। उन्हें देखकर वह हँसने लगी। उसके चेहरे पर कुछ खरोंचें लगी थीं, लेकिन लग रहा था कि वह नहा-धोकर ही मोहन के घर से चली है। उसने शिवम को बताया, ''मोहन को लग रहा था कि अगर उसने मुझे नहीं उठवाया, तो तुम मुझे ले जाओगे। जब वह अपने साथियों के साथ मुझे उठाने आया, तो मैं घबरा गयी। ख़ूब मुक़ाबला किया। दाँत भी काटे। जब नहीं बनी, तो मैं ख़ुद ही उसके साथ चल पड़ी। घर पहुँचते ही उसकी माँ को बताया कि मैं सबको हथकड़ियाँ पहना कर ही अन्न-जल ग्रहण करूँगी। शुद्ध हिन्दी और रोबदार अंग्रेज़ी भी दे मारी। यह चेतावनी सुनकर सबने हाथ जोड़े और सुबह बड़े आदर से विदा किया। उसके माँ-बाप शरीफ़ लोग हैं और उसकी हरकतों से परेशान रहते हैं।''

''तुम अब अकेले कहीं मत जाया करो,'' शिवम की इस बात पर अप्सरा ज़ोर से हँसी, ''ये घटनाएँ हमारी ज़िंदगी का हिस्सा हैं। दो साल पहले एक दूसरे गाँव के मेले में भी मुझे उठाने तीन लड़के आये थे। मैं उन पर भारी पड़ गयी थी। वे जल्दी ही भाग खड़े हुए थे।''

शिवम ने उसे बताया कि उमा कितनी परेशान थी।

घर पहुँचे तो वह बोली, ''उमा को मेरे अपहरण की वैसी चिंता नहीं है, जितनी इस बात की कि कहीं तुम्हारे सामने मेरी या उसकी कोई ग़लत छवि न बन जाए।'

शिवम कुछ देर चुप रहा। जब उमा आ गयी, तो बोला, ''जब मैं यहाँ नियुक्ति पर आ रहा था, तो शहर के कई लोगों ने मुझे सावधान किया था कि अगर मैंने यहाँ यह नहीं कहा कि मैं विवाहित हूँ, तो मुझे यहाँ विवाह करना पड़ जाएगा। तुम दोनों ने कभी मुझसे मेरे विवाह को लेकर कुछ नहीं पूछा। मुझे ही बता देना चाहिए कि मेरे जीवन में विवाह के लिए कोई जगह नहीं है।''

अप्सरा ने मुस्कराकर उमा की ओर देखा और बोली, ''शहरी समाजों में लोगों को ऐसे पाला जाता है कि वे जन्मजात शादीशुदा लगते हैं....विवाह की अलग से ज़रूरत ही क्या है?तुम अपने विवाहित होने की भी सूचना देते, तो वह ऐसी ही होती, जैसे हमें पता चले कि तुम शिवम नहीं, शिवम कुमार एम. ए., पी-एच.डी हो।''

शिवम चकराने के साथ ही शर्मा भी गया। उसकी शक्ल देखकर उमा ज़ोर से हँसी।

अप्सरा ने कहा, ''देखो, शिवम, तुम, मैं और उमा अच्छे साथी हैं...बेशर्त! हमारी दोस्ती में सभ्यताओं से आये छल और चरित्र-प्रदर्शन के ढकोसले नहीं हैं, दूसरों की प्रायवेसी का सम्मान और उसके लिए एहतियात जरूर हैं। यही इस हिमालयी जगह का सच है।''

शिवम अवाक् बैठा रहा। अचानक उसने देखा, अप्सरा उठी है और सुस्त क़दमों से आँगन के पार सेब के बाग़ के कोने में चली गयी है। उसने वहाँ खड़े देवदार के बूढ़े दरख़्त से मानो कुछ कहा है और उसके गले लगी है। फिर वह धरती पर लेट गयी। उमा के लिए यह नयी बात नहीं है। वह रसोई में चली गयी। शिवम अप्सरा की शवासन मुद्रा को एकटक देखता रहा। इस बीच उमा के माँ-बाप आ पहुँचे। किसी ने अप्सरा के मौन में बाधा नहीं डाली। एक घंटे के बाद वह लौटी, तो उसके चेहरे पर अनोखी शांति थी। वह चुपचाप अपने कमरे में चली गयी। शिवम के साथ सब भोजन के लिए बैठे। उसके बाद अप्सरा ने अपने पिता के लिए हुक्का भरा और नये सिरे से सबको अपनी अपहरण-कथा सुनायी।

''तुम रोज़ यह ध्यान करती हो?'' शिवम ने पूछा।

''ध्यान? शायद ऐसा ही कुछ.... मगर करती नहीं। जब ज़रूरत पड़ती है, मेरा तन-मन मुझे घंटे भर के लिए वहाँ ले जाता है। वहाँ दादा जी अक्सर बैठते थे। मैं उनसे उनकी लंबी यात्राओं के क़िस्से सुनती थी और उनकी गहरी बातों में डूबी रहती थी। पता नहीं कैसे वे दुनिया भर के रहस्यदर्शियों के बारे में जानते थे? वे मेरे पहले गुरु थे।''

उसके पिता ने हाथ बढ़ाकर उसके सिर पर रखा, तो वह पिता के ज़्यादा क़रीब होकर बैठ गयी। उसकी आँखों में मोती चमकने लगे।

''अच्छा अब उठो, दोघरी चलना है। गुरु जी को भी ले चलो,'' उसकी माँ ने कहा। दोघरी यानी चरागाह और दूर के खेतों में बना दूसरा कामचलाऊ घर।

दोघरी में कुछ देर रुक कर अप्सरा शिवम को पास के नदी तट पर ले गयी। दोनों एक बड़ी चट्टान पर जा बैठे। ''ध्यान या मौन में तुम्हें क्या मिलता है?''

''कुछ नहीं। मैं अपने तक लौटती हूँ। जो इकट्ठा हो जाता है, उसे खोने की कला है यह। कल से मोहन के प्रति मैं दुर्भावनापूर्ण हो गयीं थी। अब नहीं हूँ। सुबह तुम्हारी वह विवाह वाली बात विचलित कर गयी थी। अब तुम करते रहो वैसी बातें। मैं विचलित नहीं होऊँगी। तुम, मैं, उमा...हम तीनों भी मेरे लिए नये हो गये हैं। मैं घंटा भर वहाँ अपने विचारों को साँसों के साथ देखती रही बस। अब इस बातचीत के दौरान् भी देख रही हूँ। काश, यह साक्षीभाव निरंतर सहज ही क़ायम रख सकती मैं।''

''तुम जब अपने पिता के लिए हुक्का भर रही थीं तब मुझे लगा कि तुम ध्यान में या प्रार्थना में हो।''

''हाँ... तुम हँसोगे... उस वक़्त सहसा मुझे तुम्हारा ध्यान आया कि मुझे तुम्हारे लिए भी हुक्का भरना चाहिए।'

तभी नदी पार से एक स्त्री ने उन्हें देखकर हाथ हिलाया। जवाब में दोनों बहनों ने भी हाथ हिलाये। फिर शिवम ने भी। अप्सरा ने शिवम को बताया, ''इसका पति डिप्टी कमिश्नर है। [illegible]

दिन के लिए यहाँ मायके में आयी है। जंगल से लकड़ी लाती है, घास ढोती है...इस वक़्त खेत में लगे मज़दूरों के लिए खाना पकाकर ले जा रही है।''

''मज़दूर कहाँ के हैं?''

''यहीं के हैं। आदिवासी किन्नरों में जातियाँ तो नहीं होनी चाहिए, पर यहाँ जाने कब से पसरी पड़ी हैं। दो ही जातियाँ हैं : क्षत्रिय और शूद्र। ज़्यादातर मज़दूर शूद्र होते हैं। ये देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी बनाते हैं, मगर मंदिर में नहीं जा सकते। दोनों जातियों में अक्सर सामाजिक सहयोग दिखायी देता है, मगर छुआछूत के नियम कठोर हैं। दोनों जातियों में वैवाहिक संबंध होना तो असंभव ही लगता है, जबकि क़ानून यहाँ भी मैदानों वाले ही लागू हैं।''

शिवम ने कहा, ''मैदानों में जो जुल्म दलितों पर ढाये जाते हैं, उनका तो यहाँ मुझे नामोनिशान नहीं मिलता, लेकिन पंडे-पुरोहित अपने बीज यहाँ भी बो गये।''

अप्सरा बोली, ''हमारी जैसी तैयारी होती है, वैसे बीज हममें बो दिये जाते हैं।''

कुछ देर के बाद वे लोग तंबाकू के एक खेत में से गुजर रहे थे।

शिवम ने अप्सरा से पूछा, ''तंबाकू के बारे में तुम क्या सोचती हो?''

शरारत के मूड में आयी हुई उमा बोली, ''बिना तंबाकू पिये कोई क्या सोचेगा? मैं आजकल तुम दोनों की सारी किताबों और डाक में आने वाली पत्रिकाओं को चाट रही हूँ। सुरापान वाले लेखकों-संपादकों से आगे हैं धूम्रपान वाले मतवाले।''

अप्सरा ने कहा, ''वैसे इसकी बात में दम है। मैं सोचती हूँ कि एकांत धूम्रपान ने पुरुष के शैतान दिमाग़ को नयी उड़ानें दी हैं। यह होठों से नाभि तक के रहस्य-केंद्रों का मामला है। जिस दिन पुरुष को माँ और प्रेयसी एक साथ मिल जाएगी, उस दिन तंबाकू फीका पड़ जाएगा। होठों पर होंठ ही खेलेंगे, नकली चीज़ें नहीं। दुनिया में हर तरफ़ का धुआँ बहुत कम हो जाएगा। माँ की छाती और प्रेयसी के होठों से वंचित या प्रवंचित लोग ज़्यादा तंबाकू पीते हैं, चाहे वे कितने ही बड़े दार्शनिक या रचनाकार हों।''

उमा ने उन दोनों को अचानक पीछे से धक्का दिया, ''आज तुम दोनों भी तंबाकू ही चर लो।''

शिवम लड़खड़ाकर तंबाकू के पौधों में गिर पड़ा। उसने अप्सरा से 'तुम चलो, हम आते हैं' कहा और अप्सरा के जाते ही पीछे की ओर भागती उमा को दौड़ाने लगा।''

शाम को जब वे लौट रहे थे, तो सामने से मोहन की माँ को आते देखा। उसने अप्सरा को बताया कि उसके वहाँ से आने के बाद मोहन ने अपने बाप से बहुत झगड़ा किया और घर की कई क़ीमती चीज़ें तोड़कर घर से चला गया। अप्सरा तेज़ी से मोहन की माँ के साथ चली गयी।

''गयी बहू रानी,'' शिवम के मुँह से निकला, ''जिस पिंजरे से सुबह छूटी, शाम को उसी में लौट गयी। यह कैसी लड़की है?''

''जैसी भी है, हम दोनों की है और बहुत अनोखी है। देखना, मोहन को सीधा करके छोड़ेगी।''

उमा की इस बात पर शिवम ने उसे प्यार से देखा और उसके चेहरे से खेलते हुए बोला, ''और तुम्हें मैं सीधा करूँगा...उफ़! कितने ज़ोर से काटा है चुड़ैल ने।''

उमा उसकी बाँह पकड़ कर कटी हुई जगह पर गर्म साँसें फूँकने लगी।

× × ×

तेज़ी से नये दिन आ रहे थे। अप्सरा के नये रूप भी। शिवम ने एक दिन पूछा, ''तुम कहाँ से उतरी हो अप्सरा? तुम्हारी मिट्टी कहाँ की है?''

''यों तो मैं घोर हिमालयन हूँ शिवम....मैं पार्वती हूँ... पर्वतवासिनी, तपस्विनी। दुनिया में कहीं भी जनम लूँ, मैं मैडम ब्लाव्ट्स्की की भाँति गुमशुदा हो जाती हूँ और तारा के तिब्बत के आसपास मिलती हूँ। मुझे सीमोन द बोउवार के पंख और ईज़ा डोरा डंकन के पाँव लगे हैं। मेरे जिस्म में मीरा का मन और मेरे मन में राधा का जिस्म लगा हुआ है। लाओत्से मेरे स्त्रीत्व के सबसे गहरे हमराज़ हैं, जो कहते हैं कि घाटी की आत्मा कभी नहीं मरती... और लीहत्जू और च्वांग्त्से, जो गहनतम अनुभूतियों से शरारती बच्चों की तरह खेलते हैं... ये सब लोग मेरे अंग-संग रहते हैं। मैं शायद इन्हीं की अनंत पाँत में अपने लिए किसी देहधारी की तलाश में रहती हूँ।''

उसने सहसा आँखें बंद कर ली हैं। शिवम उसके साथ अनुपस्थित बना रहा।

अप्सरा ने आँखें खोलीं, तो शिवम ने उसके निकट आकर कहा, ''मैं तुम्हारे साथ एक ऐसा संगीत अनुभव करता हूँ, जिसमें मैं तुम्हारी आत्मा और देह को एक साथ सुन सकता हूँ। मुझे तुम्हारे होने से इतना प्रेम है कि मुझे तुमसे कुछ भी नहीं चाहिए।''

अप्सरा ने उसकी आँखों में आँखें भरकर कहा, ''मेरा आदिवासी मन और तन चाहता है कि तुम्हें अपने समकक्षीय बहुत सारे नर-नारी मिलें...तुम शिव के हिमप्रपातों में भी रहो, और कृष्ण की नदियों में भी। स्व का तंत्र तुम्हें पर के तंत्र का मंत्र दे।''

शिवम उसकी आँखों से बोला, ''ये क्षण यदि मुझमें रच-बस गये, तो मुझे कोई संगति नहीं चाहिए।''

''अच्छा? तो तुम च्वायसलेस अवेयरनेस को उपलब्ध हो जाओ...आ....छू...''

दोनों की खिलखिलाहट एक-दूसरे की श्वास-तरंगों से टकराने लगी।

× × ×

बर्फ़ के दिन बीत गये।

शिवम को लेकर उमा और अप्सरा कंढे पर पहुँची हैं। कंढा यानी पर्वतों के ऊपर की ग्रीष्मकालीन चरागाह और आपातकालीन रैनबसेरा। यहाँ आज इस पार और उस पार के देवी-देवता का वार्षिक मिलन होगा। मेला जुटेगा। यहाँ के मेले में हाट-बाज़ार नहीं लगते, नृत्यों और गीतों के लंबे दौर चलते हैं।

पर्वत के मैदानी भू-खंड पर बनी झील के किनारे इस तरफ़ की देवी उस तरफ़ के देव से दौड़कर गले मिल रही है। वे दोनों पालकियों के रूप में लोगों के कंधों पर सवार हैं। दो व्यक्तियों के कंधों पर टिके लचीले डंडों में गति आती है। संतुलन रखने की कोशिश में कहारों के पाँवों और देवी-देवता की गतियों में विद्युत-सी समा जाती है। इसी में देवनृत्य शुरू होता है। नर-नारी एक-दूसरे के हाथ पकड़कर दौड़ते हैं और देवी-देवता के चहुँ ओर वृत्त बनाकर थिरकने लगते हैं। नृत्यगीत घाटी को गुँजाने लगता है। शिवम को कुछ लड़कियों ने घेर लिया है और उसे खींचकर नृत्यवृत्त में ले गयी हैं। उस पार के कुछ युवक उमा और अप्सरा के हाथ खींच कर उत्सव में शामिल हो गये हैं। देवभोज के बाद शाम ढलते-ढलते लोग लौट गये हैं। देवी उस पार के देवता की मेहमान होने जा चुकी हैं। देव-वाद्यों की गूँज अभी तक घाटी को तरंगित कर रही है।

अप्सरा, उमा और शिवम आज यहीं रहेंगे। उमा पास की दोघरी से कुछ बर्तन और अनाज आदि उठा लायी है। पूर्णिमा का चाँद निकला है। दूर-दूर तक बर्फ़ के मुकुट वाले पर्वत-शिखरों को चाँदनी ने तिलिस्मी बना दिया है। मखमली घाटी जगमगा उठी है। उमा शिवम के गीतों पर थिरक रही है। अप्सरा दूर से उन्हें चातकी बनकर निहार रही है। और फिर अप्सरा के हाथों बनी नमकीन चाय। अप्सरा उन दोनों से ख़लील ज़िब्रान होकर कहती है, "एक-दूसरे के प्याले भरो, मगर एक-दूसरे के प्याले से मत पियो....इसके बाद मैं तुम्हें एक-एक प्याला और दूँगी...दूसरा फ़्लेवर ही असली होता है।"

फिर उसने शिवम को घूरा और निराले मूड में पूछा, "क्या तुम मेरे इस चंद्रकुटीर में पहले भी आये हो?"

"नहीं, गुरुदेव, यह मेरा प्रथम सौभाग्य है।"

"दैन हैव ए कप ऑफ़ टी," फिर उसने उमा से पूछा, "क्या तुम मेरी इस जन्नत में पहले भी तशरीफ़ लायी हो?"

"हाँ, गुरु माँ, मैं तो आप ही की छाया रही हूँ।"

"दैन हैव ए कप ऑफ़ टी।"

अब शिवम ने पूछा, "हम दोनों को एक-सा उत्तर क्यों, गुरुदेव?"

"व्हाट? यू आर स्टिल हेअर?"

"यस अप्सरा द एलियना!"

"देन हैव ए कप ऑफ़ टी।"

झेन कथा के इस रूपांतरण पर तीनों देर तक डूबते-ति[illegible] रहे। फिर उन्होंने झील में झिलमिलाते चाँद को घंटे भर मौ[illegible] के साथ देखा।

शिवम, झेन कथाओं में अनंत विज़्डम है। यहाँ स्त्री-पुरु[illegible] नहीं बचते। मीरा, सहजो, लल्ला, राबिया, मल्ली बाई और बावा[illegible] केवल स्त्रियों के नाम नहीं हैं, पूर्णता की अनंत यात्राओं [illegible] नाम हैं...हिन्दुओं और मुसलमानों के श्रेष्ठतम लोगों के मिल[illegible] से सूफ़ी फूल खिला। बौद्ध और ताओ के इश्क़ ने झेन के [illegible] को चमकाया और मैं सूफ़ी और झेन के स्वयंवर की औलाद हूँ। मेरी तड़प कितनी अकेली और अबूझ है, इसे मैं भी नहीं सम[illegible] सकती।"

शिवम उसकी आँखों में झिलमिलाते मोतियों के बीच हँस[illegible] चाँद को देखता रहा। उसके मुँह से बेसाख़्ता निकला, "ये मसाइ[illegible] तसव्वुफ़...उफ़! तुम्हारी धुन को समझने वाला अहसास न जा[illegible] किस सौरमंडल के किस ग्रह पर तुम्हारी राह तकता होगा[illegible] तुम्हारा गीत किसी भी साज़ पर नहीं गाया जा सकता.... य[illegible] कैसे रह सकोगी तुम?"

उमा उन दोनों के हाथ पकड़कर खींचने लगी, "उठो[illegible] .चलो...होने-अनहोने इश्क़ की सिर्फ़ बातें नहीं की जातीं। [illegible] क्या तुम लोगों ने किताबों में नहीं पढ़ा कि तुम जैसे लोगों [illegible] दुर्लभ क़िस्सों और कहानियों से समस्याग्रस्त समाज के [illegible] कुछ नहीं लगता? कुछ तो धरती पर टिको, चाँदमारो! कित[illegible] समस्याएँ पैदा कर रखी हैं दुनिया ने...कुछ उनका भी ख़या[illegible] करो। सुपात्रता के हिमालय से उतर कर दुष्टता के दोहरावों [illegible] चौराहों पर उतरो। अपने विकास के व्यक्ति को प्रपंचों के सम[illegible] क़ा अनुचर नहीं बनाओगे, तो प्रतिष्ठा से वंचित रह जाओगे।"

शिवम उमा को देर तक स्तब्ध देखता रहा। तो इसने [illegible] ताड़ ली विखंडित जीवन जीने वाली प्रतिभाओं की बदक़िस्म[illegible] जो प्रेम जैसे ईश्वरीय स्वभाव तक से बचती है और परि[illegible] रिश्तेदारियों पर आश्रित होकर ही कुछ रचती है।

× × ×

दिन पखेरू हो रहे थे।

"आज दीदी शहर से लौटेगी," उमा ने शिवम से क[illegible] "कल कुछ लोग शहर से आये हैं..."

शिवम बीच में बोला, "कमाल है, मुझे तो यह भी न[illegible] मालूम कि वह शहर गयी है।"

"उसे अचानक जाना पड़ा....मोहन के पास। मोहन [illegible] शादी कर ली है...हमारे बचपन की एक सहेली से।"

उमा से शिवम को मालूम हुआ कि जिस लड़की र[illegible]

से मोहन ने शादी की है, वह यहीं की है और मोहन के साथ शहर चली गयी थी। रजनी यहाँ के अछूत माने जाने वाले परिवार की है और उसे डर है कि मोहन के घर के लोग उसे घर में नहीं रखेंगे। उधर मोहन के माँ-बाप ने अप्सरा से कहा है कि अगर वह मोहन और रजनी को घर ले आए, तो वे समाज के विरोध के बावजूद उन्हें अपने साथ सम्मान से रखेंगे।

लौटने पर अप्सरा ने शिवम को बताया,"मोहन बहुत बदल गया है। मुझे तो बहुत मानने लगा है। शायद कल रजनी के साथ यहाँ आएगा। यहाँ उन दोनों के सामाजिक बहिष्कार की बातें हो गयी हैं, मगर मेरे ख़िलाफ़ कोई कुछ नहीं कह रहा है। हमारे यहाँ उनके आने पर बात ज़रूर बढ़ेगी। हम लोगों को समझाने की पूरी कोशिश करेंगे।"

शिवम बोला, "मुझे लगता है आज से इस घाटी के देवी-देवता तुम्हारे साथ नाचने से इन्कार कर देंगे....तुम दूसरी दुनिया की होकर भी इस दुनिया में इतनी दिलचस्पी ले रही हो। तुम्हारे साथ आने के लिए एक नया ईश्वर जन्म ले रहा है।"

अगले ही दिन शिवम यहाँ से लौट जाने की तैयारी कर रहा था। दो घटनाएँ साथ घटी थीं। उसकी नवविवाहित छोटी बहन ने लिखा था कि यदि वह ससुराल में रही, तो उसे आत्महत्या करनी पड़ेगी। वह मनुष्य रहकर जीना चाहती है, लेकिन पति-पत्नी और मायके-ससुराल नामक गिरोह ऐसा हरगिज़ नहीं चाहते। क़ानूनी रूप से उसे आज़ाद न होने देने के लिए संगठित और प्रतिष्ठित लोगों ने महँगे वकील ख़रीद लिये हैं। दूसरी ख़बर बुरी नहीं थी। विदेश की एक बड़ी युनीवर्सिटी में शिवम की नियुक्ति हुई थी।

× × ×

"मुझे पत्र लिखोगी न तुम?" उसने समाजकर्त्री का रूप धर रही अप्सरा से पूछा।

"तुम उमा को पत्र लिखना...मेरी बात वह तुम्हें लिखती रहेगी। शिवम अपनी बहन के सामाजिक जीवन और अपने नये काम के दायित्व को तन्मयता से सहेजो। मुझे भी मोहन और रजनी को देखना है। आओ.... हम हर उस लमहे को सलाम करें... हर उस घड़ी को शीश नवाएँ, जिसने हमें मिलने के बहाने और बिछड़ने के हौसले दिये...."

शिवम ने उसे गहरे सम्मान से देखा, फिर एक साहित्यकार की उक्ति को नयी शक्ल देकर कह उठा, "मेरी तरह के नासमझ बनाते हैं दर्शन, साहित्य और कविता। मगर सिर्फ़ खुद में जन्मा खुदा ही बना सकता है एक अप्सरा। और सिर्फ़ खुदा, जो कि एक अप्सरा को बनाता है, मेरे जैसे नासमझ भी बनाता है। मगर, तुम देखो तो सही...मेरे जैसे नासमझ ही उस खुदा को बना डालते हैं, जो कि एक अप्सरा को बनाता है।"

इस क्षणस्नात पहेली पर वह चुप मुस्कुराती रही, फिर उसके हाथों को थाम लिया। शिवम ने विदाई के इस पल को उसके दोनों हाथों समेत सहेजते हुए कहा, "यह दुनिया ज़िंदादिल लड़कियों के हाथों में सुंदर और गर्मजोश बनी रहेगी।"

"शिवम, मैं तुम्हें क्या दूँ?"

"वह सब मुझे मिल गया है, जो तुमसे मुझमें उद्घाटित होना था....तुम जानती हो, मैं तुम्हें अपने में लेकर जा रहा हूँ।"

× × ×

सात बरस बीत गये। विदेश की अपनी नौकरी छोड़ने के बाद शिवम अप्सरा के देश में लौट आया है। कहाँ तो वह अपनी इस आकस्मिक वापसी से यहाँ सबको विस्मित करना चाहता था और कहाँ खुद ही स्तब्ध रह गया। अप्सरा तो कब की जा चुकी । न रोग, न शोक, न शिकायत...एक दिन वह अपने उस हमराज़ बूढ़े देवदार के नीचे गयी और वहाँ जो गहरी विश्रांति में लेटी, तो फिर नहीं लौटी। माँ-बाप ने बताया कि उस दिन सुबह उसने उनके पाँव छुए थे। शायद अपने जन्म का माध्यम बनने के लिए आभार माना था। उमा के साथ उलट-बाँसियों से भरा संवाद करती रही और उसे घर की सँभाल करने के लिए कुछ समझाती रही। अपने लगाये पेड़-पौधों से मिलने गयी। मोहन और रजनी के बच्चे के लिए उनके गाँव में कुछ उपहार भेजे। दादा के पुराने संदूक में से लाओत्से की किताब निकाल कर देर तक पढ़ती रही। शाम होते-होते नदी की तरफ़ निकली और डूबते सूरज को देखती रही। घर लौटकर उसने सबके लिए चाय बनायी और फिर अपने देवदार के नीचे चली गयी। उमा सुबह से ही उसके चेहरे के नये रंग को देखकर सहमी हुई थी। अँधेरा होने पर भी जब अप्सरा अपने आसन से नहीं उठी, तो उमा ने ही उसे जाकर देखा और फिर कुछ ख़ामोश आँसुओं को साथी बनाकर रह गयी। अप्सरा ने उसे कुछ ही घंटे पहले बताया था कि जाने वालों को हमेशा अपना ही विकासमान हिस्सा मानकर खुला मार्ग देना चाहिए।

उमा ने शिवम के पत्रों के जवाब जिस तरह से दिये थे, उससे लगता था कि वह त्वरा से अपने जीवन के उत्कर्ष में लगी है। अप्सरा का अनोखा संकेत भर उसके पत्र के अंत में होता था, "दीदी हम सबके साथ हैं।" बस इतना ही। अप्सरा की विरासत और आगे की पढ़ाई के बल पर वह इस इलाक़े की विशेष शख़्सियत हो चुकी थी। इस घड़ी तो वह शिवम की हालत से सहमी हुई थी। शिवम चुपचाप नदी की ओर निकल गया था। हर उस जगह पर वह देर तक रुका, जहाँ वह अप्सरा के साथ उठता-बैठता रहा था। उमा पहले तो दूर से उसे देखती

रही, फिर एक दूरी बनाकर उसके पीछे-पीछे आने लगी। सहसा पीछे से एक हाथ उसके कंधे पर आया। वह मुड़ी और रजनी के गले लगकर फफक पड़ी।

तभी एक सहमी हुई लड़की फूली हुई साँसों के साथ आती दिखी। उमा सँभली और उसकी तरफ़ लपकी। उमा ने देखा, वह नदी पार के एक गाँव की लड़की अवर्णा थी। अवर्णा दूर के शहर में डॉक्टरी की पढ़ाई कर रही थी। उसके बाप-दादा गाँव के देवता की यात्रा के ढोली थे। उन्हें देवयात्रा के दौरान घंटों एक बड़े ढोल को पीठ पर बाँधकर चलना होता था, जिसे पीछे चलने वाला व्यक्ति बजाता था। यह धर्मकाज की थोपी हुई क्रूर बेगार थी। उमा ने अवर्णा के दोनों हाथ थामे और उसकी साँसें सहज होने तक उसे सहेजा।

"दीदी...गाँव वालों ने देवता के फ़ैसले पर हमें गाँव से निकाल दिया है....पिता कई सालों से ढोली वाली बेगार से छुट्टी चाहते थे। किसी ने नहीं सुनी, तो पिता ने देवयात्रा में जाना छोड़ दिया। इस पर हमारा बहिष्कार कर दिया गया। कोई हमसे बात तक नहीं करता। हम दूसरी जगह छिप कर रह रहे हैं। मैं कॉलेज छोड़कर यहाँ आयी हूँ..." वह रो पड़ी।

अर्धनारीश्वर के पाँवों पर थिरकती और नर-नारी के मिले हुए हाथों में नाचती-गाती घाटी में घिनौने हादसे! वे तीनों धरती पर बैठ गयीं। कुछ देर के बाद वे सब मोहन और रजनी के साथ घर के खुले बरामदे में बैठे थे। दो ही दिन पहले उमा को उसके गाँव के कुछ लड़कों ने इस घटना की ख़बर दी थी। उमा ने अवर्णा से कहा, "याद रखना, तुम लोग देवताओं की मूर्तियाँ तो बनाते रहे, मगर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा और उन्हें नचाने का हक़ दूसरों को देते रहे। आकाश में उछलने और हमारे फ़ैसले सुनाने वाले हमारे ही खिलौने अगर शोषण और विद्वेष के प्रतीक बनकर रह जाएँ, तो क्या करें? क्या लोगों को यह बताया जाए कि उन खिलौनों के नितंबों में से एक लचकीला दंड खींच लेने भर से वे उलटे होकर पाताल में गड़ने को आकुल हो जायेंगे? अपने बनाये बोझ को हम क्यों नहीं सलीक़े से ढोना चाहते? क्यों नहीं हम ज़िंदा मानव-प्रतिमाओं के साथ संगीतमय और प्रीतमय होने की शुरुआत करते? मूर्खताओं को आस्था का नाम देते रहने की चालाकियाँ कब तक?"

शिवम उमा के इस शक्ति-रूप से स्तब्ध और मुग्ध था। वह अवर्णा से बोली,"अभी तो तुम परिवार के लोगों को यहाँ ले आओ...जो भी व्यक्ति मानव और देव के वास्तविक रिश्ते को समझने को राज़ी है, वह हमारे पास आएगा...मुरदों से न तो लड़ने की ज़रूरत है, न डरने की। तुम्हारे अपने ही गाँव के कुछ सवर्ण नवयुवा यहाँ पहुँचने वाले हैं....यहाँ तक कि असम्मानित जगह को छोड़ देने को तत्पर भी। चुप हम वहीं रह जाते हैं, जहाँ मुफ़्त में मिली संपत्ति पर पलने वालों का राज होता है।"

उमा ने शिवम से कहा, "देखना, सिर्फ़ नाचेंगे ही नहीं हम, तांडव भी करेंगे....वरना हिमालय की बुलंदियाँ और सरस घाटियाँ नये मुनाफ़ाख़ोरों और पारंपरिक हरामख़ोरों से लद जाएँगी। हम रचनासंपन्न किन्नर ही रहेंगे, नपुंसक परंपराओं के हिजड़े नहीं बनेंगे।"

एक सन्नाटा पसर रहा था। उमा उन्हें कुछ देर के लिए एक ध्यान-प्रयोग में से गुज़ारने के लिए भूमिका बनाने लगी। उसी समय सामने से गाँव का प्रधान, एक राजनीतिक दल का कार्यकर्ता और कुछ सरकारी-कर्मी आते दिखे। उनमें दो अध्यापक थे। शहर की एक नवागता युवती भी थी। उन सबके चेहरों पर याचना से भरी मुस्कान थी।

"उमा, तुमसे हमें एक बड़ा सहयोग चाहिए," एक पुराने अध्यापक ने कहा, "अप्सरा के बाद तुम ही गाँव में सबसे ज़्यादा पढ़ी-लिखी और समझदार लड़की हो। तुम हमारी मदद करोगी, तो हम भी तुम्हारा साथ देंगे।"

अजनबी युवती बोली, "उमा जी, मैंने आपका बड़ा नाम सुना है। मैं एक पत्रिका के लिए रिपोर्टिंग करने यहाँ आयी हूँ और आपको अपनी सामाजिक संस्था से जोड़ना चाहती हूँ।"

सबने उन लोगों को बैठने के लिए स्थान दिये। उमा ने कहा, 'हम आधे घंटे के लिए एक ध्यान-प्रयोग कर रहे हैं। आप चाहें तो हमारे साथ बैठें या अलग बैठकर उसे देखें-समझें या बाद में आएँ। उसके बाद हम बात करेंगे।"

वे लोग उनके साथ बैठे रहे। ध्यान व जलपान के बाद प्रधान ने उमा को बताया, "कल यहाँ श्रीध्यानयोगी जी महाराज पहुँच रहे हैं। बहुत मुश्किल से हमने उन्हें यहाँ आने को राज़ी किया है। बड़े-बड़े लोग उनके साथ बैठने के लिए हज़ारों रुपये भेंट करते हैं।"

उमा ने पूछा, "क्या वे यहाँ भी यही करेंगे?"

"अरे! तुम नहीं जानतीं? वे पहुँचे हुए योगी और ध्यानी हैं। वे यहाँ के गाँवों के लोगों को योग और ध्यान सिखाएँगे। लेकिन, हमें भी उनके लिए कुछ करना होगा। यहाँ उनके आश्रम के लिए पहले तो ज़मीन चाहिए...हम इसी उम्मीद में आये हैं कि तुम हमारी धर्मसमिति की अध्यक्षा हो जाओ....बल्कि कल महाराज का स्वागत-भाषण भी तुम ही पढ़ो। तुमसे वे बहुत प्रभावित होंगे। शहर से कुछ गणमान्य लोग, राजनेता और पत्रकार भी आ रहे हैं।"

उमा ने उन सबसे कहा, "ठीक है, यदि मुझे अवसर मिला तो मैं उनके मंच से यह घोषणा करूँगी कि इस इलाक़े के जो लोग योग और ध्यान सीखेंगे, उनमें अनपढ़ों जितनी यह सामान्य समझ अनिवार्य है कि जाति, छुआछूत, भेदभाव और देवी-देवताओं से जुड़े अंधविश्वास मनुष्य के लिए घातक हैं। इन्हें छोड़े बिना योग और ध्यान पाखंड के अलावा और कुछ नहीं है। या फिर

आपके महाराज, आप लोग और गाँव के लोग यह वचन दें कि ध्यान और योग सीखते ही लोग इन मानसिक विकृतियों को छोड़ देंगे। आप जानते ही हैं कि पिछले सालों में कितने ही संतों और महाराजों के आगमन हुए और कितने ही आश्रम बने। उसके बाद भी पहाड़ों में चेतना नहीं, बोझ भरी शब्द-सूचनाएँ और अहंकार ही ज़्यादा बढ़े हैं। प्रेम के ढाई आखर समझने के लिए तो अपना कॉमनसेंस ही काफ़ी है, उसके लिए इतने तामझाम क्यों?''

उमा की इस बात से गाँव के गणमान्य चकरा गये।

नवागत युवती और एक अध्यापक को छोड़कर बाक़ी सब लोग कुछ क्षण में उमा से नाराज़ होकर जाने लगे। उमा ने उनसे कहा, ''कल मैं वहाँ आऊँगी। यहाँ जो कहा, वह ध्यानयोगी जी महाराज से और सब लोगों से कहूँगी...देखती हूँ, हिमालयी समाज होने का गर्व करने वाले कितने लोग हिजड़ा कहलाना पसंद करते हैं।''

फिर उसने अवर्णा से कहा, ''मानव अधिकार आयोग में मेरी दोस्त है...मणिमाला नेगी....कल पहुँचेगी। यह जान लो कि उसका या मेरा सहयोग तुम्हारे काम तभी आएगा, जब तुम खुद भी उठोगी। काग़ज़ों में जो मर्ज़ी बनी रहो, मैं तुम्हें अभी से अवर्णा की जगह सवर्णा पुकारूँगी। बॉर्न अगेन। निजी समझ और निर्णयों की ज़िम्मेदारी तुम्हारी। जब तक हम निपट अकेले रूप से सजग नहीं हैं, तब तक कोई सहारा या आंदोलन काम नहीं आता।''

उसने शहर से आयी युवती की तरफ़ देखा, तो वह युवती बोली, '' आपसे मिलकर लगा कि मुझे अपनी संस्था के बारे में नये सिरे से सोचना होगा। हम लोग सम्मान और कहीं से भी आने वाले पैसे के लिए काम कर रहे हैं....अपना सम्मान बढ़ाने के लिए हम लोगों को सम्मानित करते फिरते हैं...जबकि आपमें वास्तविक जुनून है।''

उमा उसकी बातें ध्यान से सुनने लगी। वह कहती गयी,'' आजकल हम हिमालय में शान-शहर बनाने जा रही एक कंपनी के ख़िलाफ़ भी लड़ रहे हैं, पर मुझे लग रहा है कि हम एक ही जगह रहने वाले लोग या तो किसी का समर्थन करते हैं या विरोध करते हैं और उसी विचार का प्रचार भी करते हैं। कुछ धूर्त लोग ऐसा करके किसी पक्ष से पैसा भी कमाना चाहते हैं। लोग सही बात समझ ही नहीं पाते। क्यों न हम लोग बिल्कुल मौलिक नज़र से चीज़ों को नज़दीक से खुद देखें और समझें। हम न तो अंधा विरोध करें, न अंधा समर्थन। इस तरह हम हर तरफ़ के समझदार लोगों को संतुलित योजनाएँ बनाने के लिए मना सकते हैं। फ़िलहाल मैं कुछ दिन आपके साथ रहूँगी. ..आपके काम की ख़बर दुनिया को दूँगी।''

उमा ने अब शिवम की तरफ़ देखा, जिसे जल्दी ही यहाँ से लौटना था। वह अपनी दूसरी किताब पूरी करने में लगा हुआ था, जिसके लिए विदेश के एक प्रकाशक से उसका अनुबंध हो चुका था। सहसा सबने देखा, उमा की नज़रें देवदार के नीचे जाकर ठहर गयीं। उसकी आँखें आनंद और आस्था से उमड़ते आँसुओं से जगमगा रही थीं। अभी-अभी उसके माता-पिता खेतों से लौटे थे और हाथ-पाँव धोकर सबके साथ बैठ गये थे। उमा उनकी तरफ़ देखकर मुस्कराई और आँखों के धुँधलके को हटाकर शिवम से बोली, ''आज आपको नयी तरह की गुरु-दक्षिणा दूँगी, शिवम गुरुदेव...लाइए...अपनी वह अनावर्णा किताब...''

शिवम ने उसके हाथों में अपनी वह किताब दी, जिसे उसने विदेशी प्रवास में लिखा था। उमा ने सामने आकर किताब का श्वेत वस्त्रावरण हटाया, फिर किताब को दोनों हाथों में ऊपर उठाया और उसके नाम का उद्घोष किया–

'' 'अप्सराओं का देश'।''

कुछ देर बाद दोनों अकेले बैठे थे।

''तुम्हें मेरे साथ चलना है, उमा...यहाँ तुम बहुत अकेली पड़ जाओगी..तुम्हारी चिंता सताती रहेगी मुझे...।''

वह देर तक चुप रह गयी थी। फिर उसे कहना पड़ा, ''मुझे यहीं रहना चाहिए।''

''मर जाओगी...अप्सरा की तरह ही..'', फिर सहसा शिवम को अपनी बात का हल्कापन महसूस हुआ, ''ओह! क्या कह गया मैं। अप्सरा-के जैसी अछूती विदाई सबको नसीब नहीं होती। वह तो हमारे साथ रहती है,'' कहकर उसने ऊपर उठते हुए चाँद को देखा और बाहर निकल गया।

तीसरे दिन शिवम लौटने की तैयारी में था।

''उमा...सच में तुम्हें यहीं रहना चाहिए। शहर से आयी वह रिपोर्टर अप्सरा की तरह उतरी है। पिछले कुछ दिनों में तुमने जो कुछ किया है, उसे इस इलाक़े की नवयुवा आँखों में तुम्हारे लिए बेहद प्रेम भर गया है। उसे बनाये रखना...लेकिन एक बात से में हैरान हूँ...''

उमा ने उसकी आँखों में झाँका।

''मैं कब से समान पैक करने में लगा हूँ और तुमने मेरी ज़रा भी मदद नहीं की...''

उमा की आँखों में सहसा उफान आ गया। वह रुँधे गले से बोली, ''आप ऐसा क्या कर रहे हैं, जिसके लिए आपकी मदद की जाए?''

शिवम उसकी आँखों का सामना करने लगा। उमा ने वहाँ से जाते हुए कहा, ''मैंने आपके जिस्म और चेतना की भीतरी परतें देख ली हैं....आप कहीं नहीं जा रहे हैं....''

शिवम जहाँ का तहाँ रह गया। उसने सामने लगी अप्सरा की तस्वीर को देखा। उसके मुँह से निकला, ''तुमने सुनी उसकी बात?''

अप्सरा की मुस्कान पर तो पहले से लिखा हुआ था–''तथास्तु! एवमस्तु! आमीन!''

विज़डम हाउस, पोस्ट बॉक्स-81, मनाली (जिला-कुल्लू), हिमाचल प्रदेश-175131

शैम्पेन

राजीव शर्मा

"प्रिया, कल की डील बहुत ही ख़ास है। हमें इसे हासिल करने की हर संभव कोशिश करनी है इसलिए मुनाफे में किसी भी भावमोल से हिचकना मत। हमें यह आर्डर उनकी शर्तों पर भी मंजूर होगा। मैं भी दोपहर तक मलेशिया वाली पार्टी के साथ डील साइन करके वहीं आ जाऊँगा।" प्रिया को घर छोड़ते हुए बॉस अपनी चिन्ता व्यक्त कर रहा था।

"आप निश्चिंत रहें, सर। मैं सब सम्भाल लूंगी।" प्रिया, बॉस की चिन्ता समझ रही थी।

"तुम्हारी नेगोसिएशन सकिल्ज पर संदेह नहीं बट दे आर फ़ॅस्सी। एनी वे, ड्राइवर गाड़ी लेकर सुबह ठीक दस बजे तुम्हें लेने आ जाएगा।" प्रिया के आत्मविश्वास के बावजूद बॉस की चिन्ता बरकरार थी।

यूँ तो प्रिया गत पाँच वर्षो से इस कम्पनी में कार्य कर रही थी और अब तक कम्पनी के लिए कई डील भी कर चुकी थी मगर यह निश्चित ही बहुत बड़ी डील थी बॉस का इसके लिए चिन्तित होना स्वाभाविक था। डील वार्ता विफल होने का डर उसे भी क्योंकि वह भली प्रकार से जानती थी कि इस कम्पनी से उसकी कम्पनी गत तीन वर्ष से आर्डर लेने का प्रयास कर रही है लेकिन हर बार किसी न किसी कारण आर्डर हाथ से निकल जाता रहा है। हालांकि अपनी तमाम तैयारी से वह पूणर्तः सन्तुष्ट थी और इसीलिए ही अपने हावभाव व आत्मविश्वास से बॉस को भी कुछ आश्वस्त कर पाई थी मगर विफलता का डर कभी-कभी अपना फन उठा ही लेता था। फ्लैट में पहुँचकर बहुत देर तक बाथटब में बैठकर उसने स्वयं को तनाव मुक्त किया और फिर सकून भरी नींद लेने की खातिर एक गिलास गर्म दूध पीकर सो गई।

सुबह तैयार होने तक ड्राइवर आ गया था और वह तुरन्त अपना ब्रीफकेस लेकर मीटिंग के लिए निकल पड़ी। आधे घण्टे में वह मेहमानों के साथ नाश्ते की टेबल पर थी। नाश्ते के साथ-साथ डील की बातें भी चलती रही। उसका आत्मविश्वास और प्रस्तुतिकरण इतना प्रभावशाली था कि नाश्ता समाप्त होने पर सामने वाली पार्टी ने केवल इतना ही पूछा,

"सो मिस प्रिया, वैन वूइ कैन साइन दिस डील?"

एक दम से भौंचक रह गई प्रिया को विश्वास ही नहीं हुआ कि यह आर्डर उसको कम्पनी की झोली में आ गया है। अ... उत्साह पर काबू पाते हुए एक बड़ी सी मुस्कान चेहरे पर सजा... वह बोली,

"ऑन ब्रेकफास्ट, वूइ हैव एग्रीड सो ऑन लँच वूइ... साइन।"

इस वाक्य से हंसी का एक ठहाका हवा में घुल गय... एक-दूसरे से हाथ मिलाते हुए लंच पर फिर मिलने के वायदे... साथ उन्होंने विदा ली। होटल से निकलने से पहले ही प्रिया... ऑफिस में फोन करके डील के पेपपर तैयार करने के लिए... दिया और फिर बॉस को फोन पर केवल इतना ही कहा,

"सर, हमें इनसे लंच पर मिलना है और डिटेल्स भी... होटल में डिस्कस कर लेंगे। अभी मैं कुछ जरूरी पेपर तैयार क... के लिए वापिस ऑफिस जा रही हूँ। वूइ शेल मीट इन दि... एट वन।"

डील को हासिल कर लेने के उत्साह से लबोरेज वह लग... भागती हुई कार तक पहुँची और ऑफिस की तरफ रवाना हो ग... ऑफिस पहुँचते ही डील के समस्त पेपर देखने और तैयार क... में व्यस्त हो गई। एक घण्टें की कड़ी मेहनत के बाद पूरी तरह... तैयार, डील के समस्त पेपर उसके ब्रीफकेस में थे। समय पर... पेपर तैयार हो जाने से उसने राहत की सांस ली। अपनी पूरी तैय... के साथ अब वह होटल की तरफ निकल पड़ी। हर तरह... निश्चिन्त और पूरी तरह से उत्साहित वह जब होटल में दाखि... हुई तो लॉबी में मौजूद चिन्तित बॉस की नज़रें उसी का इन्त... कर रही थी। इससे पहले कि वह कुछ पूछ पाता, प्रिया एकदम... चहक उठी,

"सर, वी हैव मेक इट।"

"आई जस्ट कान्ट बलीव! आर यू सिरीयस, प्रिया?" बॉ... ने अविश्वास भरी नज़रों से उसकी तरफ देखते हुए पूछा।

"सर, हेयर आर दि डील पेपरज टू साइन।" इतना कह... प्रिया ने ब्रीफकेस से दो फाइलें निकालकर बॉस के सामने रख दी...

"एनी बारगेन?" बॉस की उत्सुकता जाग उठी।

"नो सर, नॉट एनी बिग। बस मुझे उनके साथ... आमलेट अधिक खाना पड़ा।" खुशी की ढ़लान पर फिसलती...

ने आँख दबाते हुए चुटकी ली।

"लैट मी टैल यू प्रिया, यू हैव इन वन्डर। आई एम वैरी हैपी। मेरा सपना पूरा हो गया।" डील पेपर देखते हुए बॉस का गला मारे खुशी के रूँध गया।

सफलता की खुशी में बॉस ने प्रिया को गले लगाकर उसकी कामयाबी के लिए बधाई दी और फिर दोनों डायनिंग हॉल की तरफ चल पड़े। कुछ ही पलों में मेहमान भी आ गए। औपचारिक बातचीत से शुरू हुआ बातों का सिलसिला खाने के साथ भी चलता रहा। मेहमान प्रिया की स्पष्टवादिता और व्यापार कुशलता की खुलकर तारीफ कर रहे थे। मेहमानों के मुख से प्रिया की इतनी तारीफ सुनकर बॉस, प्रिया की दक्षता का कायल हो गया। लंच के बाद दोनों पार्टियों ने डील पेपर पर साइन किए। हाथ मिलाने की औपचारिकता निभाकर दोनों ने मेहमानों से विदा ली और फिर ऑफिस के लिए रवाना हो गए।

ऑफिस पहुँचकर बॉस ने सारे स्टाफ को बुलाया और फ्रिज से शैम्पेन की बोतल निकालते हुए कहा, "आज का दिन हमारी कम्पनी के इतिहास में बहुत ही विशेष हे। हमने आज वो आर्डर हासिल किया है जिसे हासिल करना किसी भी एक्सपोर्ट कम्पनी का लक्ष्य होता है और यह सब संभव किया हमारी कम्पनी की मैनेजर मिस प्रिया ने। लैट अस हैव ए टोस्ट इन दि ऑनर ऑफ मिस प्रिया।"

बॉस ने स्वयं गिलास तैयार करके सबके हाथों में दिए और फिर सबने बॉस का अनुकरण करते हुए गिलास को एक बार हवा में उठाकर प्रिया के सम्मान में शब्द उच्चारण करते हुए, होंठो से लगा लिया। बॉस ने इस अवसर पर सभी कर्मचारियों को तीन माह का वेतन उपहार स्वरूप देने की घोषणा करके इसे विशेष और यादगार बना दिया।

शाम को ऑफिस की छुट्टी के समय बॉस ने प्रिया को अपने केबिन में बुलाकर कहा,

"प्रिया, हमें अभी कहीं चलना है और हाँ, बाद में आज का डिनर मेरी तरफ से।"

काम के सिलसिले में प्रिया पहले भी कई बार बॉस के साथ शाम को जा चुकी थी और अनेकों बार दोनों डिनर भी साथ में कर चुके थे इसलिए उसे इसमें कोई नयापन नहीं लगा और बिना कोई सवाल किए उसने "जी सर" कहा और फिर वापिस अपनी सीट पर आ बैठी।

मुम्बई की इन सड़कों पर दौड़ रही इस कार में बॉस के साथ बैठकर वह बिजनेस के सिलसिले में कई बार जा चुकी थी और अक्सर पार्टी या डील या मीटिंग के मकसद के बारे में बॉस उसे रास्ते में ही संक्षिप्त सी जानकारी दिया करते थे मगर आज वह हैरान रह गई जब बॉस ने जाने के उद्देश्य के बारे में कुछ न कहकर यह कहा,

"याद है, पाँच वर्ष पूर्व जब तुम मेरे ऑफिस में आई थी तो अत्यन्त निगश थी मगर निरन्तर मिली सफलताओं ने तुम्हारे व्यक्तित्व को ही बदल दिया है।"

अब इस तरह की बात का क्या जवाब दिया जाए। कुछ न सूझ पाने पर उसने केवल "जी सर" ही कहा।

आज की सफलता ने उसकी सोच के गिर्द घेरा कस रखा था। यह स्वभाविक भी था क्योंकि जिस सफलता के लिए उसकी कम्पनी गत तीन वर्ष से प्रयास कर रही थी वो सफलता आज कुछ ही पलों में उसकी झोली में आ गिरी थी। रह-रहकर आज सुबह के उन पलों की याद उसे वर्तमान से खींच ले जाती। यूँ तो अपनी योग्यता और आत्मविश्वास का अहसास उसे पहले से ही था तभी तो वह अहमदाबाद में अपने घर-परिवार को छोड़कर इस शहर में इसीलिए ही भाग आई थी क्योंकि वह नहीं चाहती थी कि उसकी क्षमताएं वहाँ उस रूढ़िवादी वातावरण में दफन हों। उसकी चाह जीवन में कुछ कर दिखाने की थी। वह चाहती थी कि लड़कियों को बोझ समझकर केवल चारदीवारी तक सीमित रखने वाला यह समाज जाने ले कि लड़कियां क्या नहीं कर सकती? आज पहली बार वह स्वयं को अपने ध्येय में सफल होते महसूस कर रही थी।

"तुम जानती हो प्रिया, काम सीखने की तुम्हारी यही लगन, मेहनत और तुम्हारा आत्मविश्वास ही तुम्हारी सबसे बड़ी पूँजी है और यह बात मैं दावे से कह सकता हूँ कि जब तक यह पूँजी तुम्हारे पास है कोई भी सफलता तुमसे दूर नहीं हो सकती।"

ख्यालों के उस घेरे को भेदते, बॉस के यह शब्द जब उसके कानों में पड़े तो वह एकदम से झेंप गई। बॉस जाने कब से क्या-क्या कर रहे होंगे और वह थी कि अपने ही ख्यालों में गुम रही। तभी कार किसी बँगले के बाहर रूकी और ड्राइवर ने एक लम्बा हार्न बजाया। वाचमैन ने दरवाजा खोला तो कार बंगले के अन्दर बने पोर्च में खड़ी हो गयी। कार से उतरकर वह बॉस के पीछे-पीछे चल दी। एक से दूसरे कमरे में घूमते हुए बॉस ने उससे पूछा,

"कैसा लगा यह बंगला?"

"बहुत ही सुन्दर, खासकर ऊपर वाले कमरे की खिड़की से समुद्र का नजारा।" वह बंगले की लोकेशन और साज-सज्जा से अभिभूत थी।

ड्राइवर को बुलाकर बॉस ने कार की डिक्की में से एक आइस-बॉक्स मंगवाया और फिर ऊपर वाले कमरे में जाकर उसमें से शैम्पेन की एक बोतल निकालकर खोलते हुए कहा,

"लो प्रिया, अपने इस बंगले की खुशी में जश्न मनाओ।"

"अपना बंगला?" प्रिया आवाक् थी।,

"हाँ, विनायक एक्पोर्टस की वाइस प्रैजीडैन्ट, मिस प्रिया अब इसी बंगले में रहेगी।" इस उद्‌घोष पर बॉस का स्वर पँचम को छू रहा था।

अविश्वास भरी नज़रों से बॉस की ओर देखते हुए वह उससे चिपट गई। आँखों में आए खुशी के आँसूओं को पोंछते हुए उसने बॉस के हाथों से शैम्पेन का गिलास पकड़ लिया, "बस सर बस, इतनी खुशी मैं बर्दाशत नहीं कर पाऊँगी।"

"तुम्हारी जिन्दगी में खुशियों की यह तो अभी शुरूआत है और तुम अभी से ही बर्दाशत नहीं कर पानें की बात कर रही हो।"

शैम्पेन के गिलास को खाली करते हुए बॉस ने प्रिया के कंधों पर अपनी बॉह डाल दी। कुछ पल दोनों इस तरह समुद्र के विहंगम नज़ारें को निहारते हुए शैम्पेन के गिलास खाली करते रहे। चाँद की चमक भी समुद्र की लहरों पर वैसी ही चाँदी बिखेर रही थी जैसी प्रिया की जिन्दगी में उसकी किस्मत ने बिखेर दी थी।

कमरे में फैली लम्बी खामोशी में भी समय निर्बाध गति से बहता जा रहा था। घड़ी पर नज़र डालते हुए बॉस ने प्रिया से डिनर पर चलने को कहा। दोनों नीचे आकर कार में बैठ गए। प्रिया के अन्दर इस समय सफलता, बॉस की निकटता और शैम्पेन के नशे में द्वन्द छिड़ा हुआ था। उसे पता ही नहीं चला कि कब बॉस ने ड्राइवर के किस डिनर स्थल पर चलने का आदेश दिया और कब अपनी पत्नी को भी वहीं पहुँचने का न्यौता दे दिया। बॉस की इन बातों से अनभिज्ञ वह तिहरे नशे के सरूर में डूबी रही। ड्राइवर द्वारा दरवाजा खोले जाने पर सामान्य होने की चेष्टा करते हुए उसने पाया कि कार किसी होटल के पोर्च में खड़ी है। वह चुपचाप बाहर आ गई और स्वयं को संभालती हुई बॉस के पीछे-पीछे चलने लगी। डायनिंग में आकर उन्हें बैठे अभी कुछ पल ही हुए थे कि बॉस की पत्नी आ गई।

बॉस ने अपनी पत्नी का प्रिया से परिचय करवाते हुए प्रिया का परिचय करवाया,

"मृदुला, प्रिया ने यूँ तो हमारी कम्पनी के लिए समय-समय पर कई आर्डर हासिल किए हैं मगर आज इसने वो आर्डर हासिल किया है जिसके लिए मैं तीन वर्ष से कोशिश कर रहा था। अपनी इसी कामयाबी के चलते कल से यह हमारी कम्पनी की वाइस प्रैजीडैन्ट होगी और हमारा जूहू बीच वाला बँगला हमारी वाइस प्रैजीडैन्ट का आवास होगा। आज का यह डिनर भी इसी ऑनर में है।"

बॉस की पत्नी से प्रिया की यह प्रथम भेंट थी। हालांकि वह सरूर में थी मगर फिर भी स्वयं को सामान्य करने की चेष्टा करते हुए कहा,

"प्लीज सर, इतनी तारीफ करके आप मुझे शर्मिन्दा कर रहे हैं। यह सब तो आपके विश्वास और मार्ग दर्शन से ही संभव हो पाया है। मैडम, मैं सच कहूँ? 'सर' मुझे प्रत्येक डील के लिए सारे अधिकार दे देते हैं जिससे निर्णय लेना और आर्डर हासिल करना आसान हो जाता है। इस शहर में मुझ से भी अधिक काबिल कई लोग हैं मगर उन सबकों हमारे 'सर' जैसे बॉस न मिल पाने के कारण वह सफल नहीं हो पाए।"

मृदुला अब तक यह तो समझ ही चुकी थी कि सफलता... जश्न प्रिया मना चुकी है मगर उसके संयमित शब्द और व्य... से स्पष्ट था कि वह नशे में जरूर है मगर बहकी नहीं है।

"नहीं प्रिया, निश्चित ही तुम इसकी हक़दार हो। मैं सि... को उसके कालेज के दिनों से जानती हूँ। काम के मामले में... स्वयं से अधिक विश्वास कभी किसी पर नहीं होता और आज... यह तुम पर विश्वास करते हैं तो यकीनन तुम काबिल हो।"

मृदुला ने प्रिया के हाथ हो अपने दोनों हाथों को दबाते... अपनत्व और विश्वास का परिचय दिया। बातों और खाने... सिलसिला ऐसे ही चलता रहा। खाना समाप्त होते तक प्रिया... नशा भी दम तोड़ चुका था। वह मृदुला के साथ सखियों की... घुल-मिल गई थी। दोनों में हो रही कानाफूसी रह-रहकर वाताव... में हँसी की फुहारें बिखेर रही थी।

वापिसी पर प्रिया को उसके अर्पामेंट पर छोड़ते हुए बॉस... बताया, "घर शिफ्टिंग में तुम्हारी मदद के लिए कल ऑफिस... दोनों पियुन सुबह ही आ जाएंगे। सो, वूई शेल मीट डे आफ्... टूमारो इन दि ऑफिस।"

बॉस और मृदुला को "गुड नाइट" कहकर वह अपने... अपार्टमेंट में अन्तिम रात व्यतीत करने के लिए दाखिल हो... कुछ समय तक किसी काल-कोठरी में भी रहने पर उसकी दी... से आत्मियता का नाता जुड़ जाता है जबकि प्रिया का तो... अपार्टमेंट से पाँच वर्ष का नाता था। इसकी दीवारें उसकी सफ... की साक्षी थीं। इसी अपार्टमेंट में अपने बैडरूम की छत निहारते... वह इन सफलताओं की बुनियाद रखा करती थी। शायद इसी... अपने एकांकी जीवन के इन मूक सम्बन्धियों से बिछुड़ने पर... असहज हो रही थी।

दोनों पियुन की मदद से मात्र चार घण्टे में सारा सामान... होकर शिफ्ट भी हो गया था मगर इस नए बँगले में वह अभी... को अजनबी सा ही महसूस कर रही थी। सामान को कमरों में... करके उसने इस नई दुनियां को अपनत्व का रंग देने की को... की। ऊपर वाले कमरे से दिखाई देने वाला समुद्र उसे अपने... ही लगा जिसमें कभी तो भारी-पुथल होती तो कभी एक... खामोशी। इस कमरें को उसने अपना बैडरूम बना लिया।... होने तक सब सैट हो चुका था मगर दिन-भर की इस कसरत... उसे बुरी तरह से थका दिया था। अपने नए बाथरूम के ट... गुनगुने पानी में घुसकर बहुत देर तक थकान उतारी। नहाने... बाद वह स्फूर्त थी। नए रूतबे वश हासिल इस नए बँगले में... प्रत्येक हुक्म के लिए नौकरानी मौजूद थी लिहाजा अब उसे... कार्य की चिन्ता नहीं थी। वह नहाने के बाद कमरे की खिड़की... पास कुर्सी में धँसकर सामने फैले अथाह सागर से परिचय... करने लगी। आँखें तो यकीनन समुद्र की ओर थी मगर सोच...

तनाकर किसी अन्य दिशा में ही विचरने निकल चुकी थी। वह रह-रहकर बॉस की नजदीकियों, उन्मुक्त व्यवहार और कदम-कदम पर बिखेरी विशेष इनायतों के विषय में सोचने लगी। अपनी सोच में वह यह जानने के प्रयत्न कर रही थी कि जो वह सोच रही है वह भाव उस तरफ भी हैं या केवल उसके नारी-मन का ही ताना-बाना ही है। अपनी सोच तो आखिर अपनी ही होती है औ रह-रहकर अपने ही स्वार्थ हित चलती है। हर विचार के बाद उसे यही लगा कि आसक्ति के भाव हैं तो दोनों ही तरफ मगर अनसुलझा यक्ष प्रश्न केवल एक ही था और वो यह कि कल के डिनर पर बॉस का उसे अपनी पत्नी से मिलवाने का क्या उद्देश्य था?

इधर उसकी सोचें इस 'क्या' के धुँधलके में घिर रही थी उधर बाहर का धुँधलका धीरे-धीरे स्याह हो रहा था। चाँदनी की ठण्डी रात जोशीली लहरों पर बिखर रही थी।

"मैडल, खाने मं क्या लेंगी?"

नौकरानी की इस आवाज से वह एकदम चौंक गई। प्रिया अभी ऐसी तामीरदारी की अभ्यस्त नहीं थी मगर अपने नए रूतबे को ओढ़ते हुए कहा,

"सूप और खिचड़ी।"

"जी मैडम।" कहकर नौकरानी चली गई और प्रिया ने एक बार फिर से समुद्र पर बिखरी चाँदनी की तरफ नजरें घूमा ली। सोचों का सिलसिला जहाँ छूटा था वो सिरा कहीं खा चुका था। बहुत कोशिश के बावजूद जब वह उसे दोबारा पकड़ नहीं पाई तो खाने के लिए नीचे आ गई।

वंगले की सुख-सुविधाओं ने जल्दी ही अपार्टमैंट की यादों को धकेलना शुरू कर दिया था। अगली सुबह वह आराम से उठी और तैयार होकर जैसे ही नीचे आई, नाश्ता तैयार मिला। पोर्च में ड्राइवर कार सहित खड़ा था। प्रिया को देखते ही उसने कार का दरवाजा खोला और थोड़ी झिण्क के साथ वह कार में सवार होकर ऑफिस पहुँची। सारा स्टाफ फूल लेकर अपनी वाइस प्रैजीडैन्ट का स्वागत करने के लिए उमड़ पड़ा। सबकी बधाई स्वीकार करते हुए वह सीधे बॉस के केबिन में पहुँची। बॉस ने भी खड़े होकर उसका स्वागत किया और फिर अपने केबिन की बगल में नव-निर्मित केबिन में ले आए। खुशी प्रिया की आँखों में पानी बनकर तैर आई और वह "थैंक्स सर।" के अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकी।

खुशी के इन क्षणों में प्रिया की भावुकता को पहचानते हुए बॉस ने उसे सामान्य करने कर चेष्टा की, "अगर हमारी वाइस प्रैजीडेन्ट साहिबा हुक्म दें तो हमें उनके साथ एक कप कॉफी पीने का सौभाग्य हासिल हो सकता है।"

अपनत्व भरा यही वो अंदाज था जो प्रिया की उन सोचों के पंखों में उस ऊँची उड़ान की ताकत भर देता था जहाँ वह अपने और बॉस के सम्बन्धों के विषय में वो सब सोच लिया करती थी। हालांकि उसने कई बार अपने दिल की बात बॉस को कहने की कोशिश करनी चाही थी मगर चाहकर भी शब्द होठों की कैद से न छूट पाते थे। मन तो अब भी हुआ था कि कह दे दिल की बात मगर वक्त और माहौल को ध्यान में रखते हुए उसने स्वयं को सामान्य करते हुए पियुन को बुलाकर सारे स्टाफ के लिए चाय और मिठाई की व्यवस्था करने का आर्डर दिया। दोपहर तक जश्न का यही माहौल चलता रहा मगर दोपहर बाद नए पद की नई जिम्मेंवारियों के प्रति सजग प्रिया ने फाइलें देखते हुए नीतिगत फैसले लेने शुरू कर दिए और कुछ ही माह में इन फैसलों का असर कम्पनी के उत्पाद व लागत पर दिखाई देने लगा।

वास्तविकताओं और तर्कों पर आधारित प्रिया के इन फैसलों से पूरा ऑफिस अत्यन्त प्रभावित हुआ। कम्पनी को अब प्रिया ही चला रही थी। वह लागत विश्लेषण और स्टाफ सुविधाओं के प्रति बेहद सजग थी जिसके परिणाम स्वरूप कम्पनी के मुनाफे में अच्छी वृद्धि हुई।

जिम्मेंवारियों का बोझ तो बढ़ा ही था साथ ही कम्पनी की उससे अपेक्षाएं भी बढ़ गई थीं। इन्हीं अपेक्षाओं पर खरी उतरने के लिए अब वह शाम को देर तक दफ्तर में बैठकर काम निपटाती।

एक दिन ऐसे ही वह देर शाम तक ऑफिस में बैठी फाइलें निपटाने में लगी थी कि उसके फोन की घण्टी किसी अन्जान नम्बर से आई कॉल से घनघना उठी। इस वक्त किसी अन्जान नम्बर का उसके फोन की स्क्रीन पर उभरना अप्रत्याशित था। कुछ पल सोचने के बाद उसने फोन उठाया। उधर से बहुत ही प्रभावशाली मर्दाना आवाज आई,

"मैडम, सुमंगलम कास्टिंग से मैं अभिनव बोल रहा हूँ। अगर आपके पास कुछ समय हो तो मैं आपसे बिजनेस मीटिंग का समय चाहता हूँ।"

प्रिया ने प्लानर पर नज़र दौड़ाई और बोली,

"ठीक है मिस्टर अभिनव, आप कल सुबह साढ़े ग्यारह बजे आ जाएं।"

"नहीं मैडम, आपके ऑफिस में नहीं। आप चाहें तो मेरे ऑफिस आ जाएं या फिर किसी भी अन्य स्थान पर, जिसे आप मुनासिब समझे।" उधर से आई आवाज़ में अनुरोध सम्मलित था।

"कुछ खास वजह, मिस्टर अभिनव?" प्रिया ने उत्सुकता व्यक्त की।

"खास ही समझें, लेकिन इस समय बता नहीं पाऊँगा।" उधर से आवाज आई।

प्रिया ने कुछ पल सोचा और फिर निर्णायक स्वर में बोली, "ठीक है मिस्टर अभिनव, कल सुबह साढ़े ग्यारह बजे आपके ऑफिस में मिलते हैं। आप प्लीज, अपना पता लिखवा दें।"

पता नोट करने के बाद प्रिया ने घड़ी देखी तो आठ बज रहे थे। टेबल पर बिखरी फाइलें संभालकर वह घर की तरफ चल दी।

इन वर्षों में वह न जाने कितने ही फोन सुन चुकी थी मगर थोड़ी देर पहले हुई फोन वार्ता उसकी सोच को घेर चुकी थी। वह रात तक उस फोन के विषय में सोचती रही आखिर वह कौन सी वजह है जिस कारण यह मीटिंग हमारे दफ्तर में करने से उसने मना कर दिया। किसी निर्णय पर न पहुँच पाने पर वह सोने चल दीं।

अगली सुबह दिनचर्या हमेशा की ही तरह व्यवस्ताओं से घिरी थी कि अचानक उसे आज की मीटिंग याद आई। ग्यारह बज रहे थे। उसने तुरन्त ड्राइवर को बुलाकर पता बताया और चलने को तैयार रहने का आदेश दिया और स्वयं बॉस से कहने चल दी। जल्दी करने पर भी मीटिंग के लिए बीस मिनट लेट थी और अभिनव उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

"सॉरी मिस्टर अभिनव, देर हो गई।" प्रिया ने उसके ऑफिस में घुसते हुए कहा।

"प्लीज मैडम, मुझे शर्मिन्दा न करें। आपने मेरे यहाँ आने का समय निकाला, मेरे लिए तो यही बहुत है।"

उसके सम्मान में सामने खड़ा नौजवान अत्यन्त शालीनता से उसी प्रभावशाली आवाज़ में कह रहा था।

प्रिया ने सुव्यवस्थित ऑफिस में चारों ओर नज़र दौड़ाते हुए पूछा,

"क्या यूँ ही खड़े-खड़े ही बातचीत करनी होगी?"

अभिनव इस मज़ाक से खिसिया गया और प्रिया को बैठने का आग्रह करने हुए पियुन को बुलाकर पानी और चाय लाने का आदेश दिया।

"यस मिस्टर अभिनव, लैट्स टॉक बिजनेस।"

हल्के हुए वातावरण में पुनः संजीदगी भरते हुए प्रिया ने कहा।

"जी मैडम, बिना किसी औपचारिकता के मैं कहना चाहता हूँ कि आपकी कम्पनी अमेरिका और यूरोप में ब्रास और कॉपर की मूर्तियां निर्यात कर रही है मगर आप जिस रेट में माल ले रहे हैं, मेरी कम्पनी वही क्वालिटी उससे काफी कम रेट में देने में सक्षम है लेकिन आपके ऑफिस में मुझे एन्ट्री नहीं मिल पा रही है। इत्तफाक से इस समय आप आई हुई हैं। चाय पीकर आए एक बार स्वयं हमारी क्वालिटी और कैपेस्टी देख लें और अगर आप आश्वस्त हों तो फिर अपनी कम्पनी के प्रचेज सैल की तरफ अवश्य ध्यान दें। मुझे आपके ऑफिस में आने में कोई गुरेज नहीं है मगर यह सब वहाँ बैठकर कहना शायद उचित न रहता।"

प्रिया उसके विश्वास और स्पष्टवादिता से प्रभावित थी। चाय के बाद उन्होंने फैक्ट्री का दौरा किया। प्रिया क्वालिटी और केपैस्टी से बेहद प्रभावित हुई और बोली,

"मिस्टर अभिनव, आप रेट लिस्ट और कैटालॉग भिजवा दें। मैं स्वयं देखूँगी।"

"मैडम, यह दोनों चीजें आपके ड्राइवर को दे दी गई हैं।" अभिनव ने अपने आत्मविश्वास का परिचय दिया।

"थैंक्यू मिस्टर अभिनव, आई विल गैट बैक टू यू।" कहकर प्रिया ने उससे हाथ मिलाया और कार की तरफ बढ़ गई।

वापिस ऑफिस पहुँचकर प्रिया ने अपने प्रचेज मैनेजर को बुलाकर कॉपर और ब्रास प्रचेज के कोटेशन प्रस्तुत करने को कहा। उस फाईल में सुमंगलम कास्टिंग को सबसे कम कोटेशन के बावजूद नहीं बुलाए जाने का जब प्रचेज मैनेजर से कारण पूछा गया तो वह कुछ भी स्पष्ट नहीं बता पाया। प्रिया ने उसे कारण बताओ नोटिस जारी करके तुरन्त निलंबित कर दिया और ब्रास व कॉपर की खरीद सुमंगलम कास्टिंग से करने के आदेश पारित कर दिए।

व्यापार के सिलसिले में अब उसकी मुलाकात अक्सर अभिनव से होती रहती। वह अभिनव के व्यापार कौशल के साथ-साथ व्यक्तित्व से भी बेहद प्रभावित थी। वह अक्सर सोचती थी कि व्यापार की इतनी गहरी समझ रखने वाला यह व्यक्ति स्वयं निर्यात क्यों नहीं करता? यह तो निश्चित था कि अगर वह यह सब करता तो यकीनन उसका नाम गिनती के बड़े निर्यातकों में शुमार होता। अभिनव अक्सर प्रिया को कई नये सुझाव देता रहा था जो कम्पनी का लाभ और साख दोनों की वृद्धि में सहायक होते।

अभी तक प्रिया के ख्यालों के संसार पर केवल एक शख्स का ही एकाधिकार था मगर जाने कब और कैसे यह अभिनव उसके इस संसार में घुस आया। केवल घुसा ही होता तो शायद वह बेअसर रहती मगर वह तो उसके इस संसार पर निरन्तर कब्जा किए जा रहा था और पहले से अधिकार जमाए बैठे उस शख्स द्वारा कोई विरोध न किए जाने के कारण बबेस प्रिया हर बार आत्मसमर्पण करके अपने अपने इस संसार पर उसका वर्चस्व स्वीकार करती जा रही थी।

एक दिन अभिनव ने फोन करके कहा,

"प्रिया जी, अगर आज शाम आप फ्री हैं तो डिनर मेरे साथ लें। मुझे खुशी होगी।"

प्रिया इस निमन्त्रण पर चौंकी तो जरूर मगर मना नहीं कर सकी और केवल इतना ही कहा,

"अगर कोई विशेष अवसर है तो समय निकाल लेंगे।"

"अवसर तो कुछ विशेष ही है लेकिन बताऊँगा मिलने पर ही। मैं ठीक नौ बजे आपको लेने आ जाऊँगा।" कहकर अभिनव ने फोन रख दिया।

प्रिया को डिनर के निमन्त्रण तो कई आते थे मगर वह सब बिजनेस सम्बन्धित होते थे और वह उनकी भाषा से अच्छी तरह परिचित थी लेकिन यह उन सबसे अलग ही था। वह तय नहीं कर पा रही थी कि अभिनव के इस निमन्त्रण में अनुरोध था या आदेश। इस निमन्त्रण से उसे अपने अन्दर एक अजीब सी सनसनाहट का

अहसास हुआ। अपने ख्यालों में तो वह अपनी उम्र की दुनियां में खूब घूम लेती थी मगर अब जब उससे वास्तविक सामना हो रहा था तो वह इसे पहचान पाने में विफल थी। वह समझ नहीं पा रही थी कि यह सब क्या है? हाँ, कुछ महसूस अवश्य ही हो रहा था मगर इस अहसास से जान-पहचान का उसे अपने वयस्त जीवन में कभी कोई समय ही नहीं मिला था। यह अनुभूति अन्जान होते हुए भी उसे अच्छी लगी। नव अनुभूति से मन में नव संचार फूटा था जिसने उसके अन्दर एक विशेष उत्साह भर दिया था।

ऑफिस से घर आकर वह नहाकर तैयार होने लगी। आज पहली बार उसे ड्रैस चुनने में दिक्कत आ रही थी। हल्का सा मेकअप करके उसने सुनहरी कढ़ाई वाली गहरी नीले रंग की साड़ी पहनी। हल्की-हल्की गंध वाली प्रफ्यूम लगाई, मैंचिंग सैंडिल पहनी और पर्स लेकर घड़ी की तरफ देखने लगी। अभिनव उसके ख्यालों के संसार में कब्जा अवश्य ही कर रहा था मगर हकीकत में उनके संबंध पूरी तरह से बिजनेस आधारित ही थे। आज उसके जजबातों के तार जो राग छेड़ रहे थे उनकी महफिल उन दोनों ने आजतक तो कभी सजाई नहीं थी मगर आज की झनझनाहट से उसका पुलकित मन ऐसी ही किसी महफिल की उम्मीद लगा रहा था। उसने सोच लिया था कि अपनी बात अभिनव से वह कह भले ही न पाए मगर आज अपने भाव उसे प्रकट अवश्य ही कर देगी।

वह अब मुलाकात उस विशेष का इन्तजार कर रही थी। गनीमत रही कि इन्तजार अधिक लम्बा नहीं था। दरवाजे पर कार के हार्न से उसके अन्दर एक विशेष स्फूर्ति का संचार हो गया और वह तुरन्त दरवाजे की तरफ लपकी। अभिनव ने कार का दरवाजा खोला और वह निसंकोच बैइ गयी।

"मुझे विश्वास है कि आपको अधिक इन्तजार नहीं करना पड़ा होगा।" अभिनव ने प्रिया को निहारते हुए कहा।

"तुम्हारा फोन सुनने के बाद से लेकर तुम्हारे आने तक का इन्तजार अगर अधिक नहीं है तो जाने अधिक कितना होता होगा।" प्रिया मन ही मन बोली।

"अच्छा अब बताइए कि यह डिनर है किस खुशी में।" प्रिया ने स्वयं को सामान्य करने का प्रयास करते हुए पूछा।

"प्रिया जी, खुशी तो बहुत छझेटी सी है और इसीलिए मैंने आपको फोन पर नहीं बताई क्योंकि मुझे डर था कि इसे सुनकर आप शायद इस डिनर के लिए हाँ नहीं कहेंगी। दरअसल आज हमारे बिजनेस रिलेशनशिप की सालगिरह है।" अभिनव ने सकुचाते हुए बताया।

"बिजनेस रिलेशनशिप की वर्षगांठ, काश! व्यक्तिगत संबंधों की शुरूआत बन जाए।" प्रिया का कुलाँचे भर रहा बेकाबू मन स्वयं से ही बातें करके अपनी अलग ही डफली बजा रहा था।

"रियली? वक्त कितनी तेजी से बीतता है। अभी कल की ही बात लगती है जब मैं आपके ऑफिस में आई थी और आज एक साल बीत गया? एनी वे, मुबारक हो। भगवान करे! दोनों कम्पनियों के यह सम्बन्ध हमेशा बने रहें और इसी तरह से तरक्की करते रहें।" प्रिया ने अभिनव की तरफ देखते हुए कहा।

"प्रिया जी, अगर बुरा न मानें तो क्या मैं यह जान सकता हूँ कि बिजनेस के अतिरिक्त कोई अन्य बात करने में आपको कुछ परहेज तो नहीं?"

अभिनव के इस प्रश्न को प्रिया भी अच्छी तरह से समझ रही थी मगर अब वही भाव अभिनव प्रकट करने की कोशिश कर रहा है तो स्वयं व्यवसायी का चोला ओड़ते हुए बोली,

"आई एम सॉरी, अभिनव जी। यह सच है कि कम्पनी, बिजनेस, बॉयर, सप्लॉयर के अतिरिक्त मेरी और कोई दुनियां नहीं है और शायद इसीलिए ही आपको ऐसा महसूस हुआ है। वैसे हम जा कहाँ रहे हैं?"

"नाचीज की कुटिया में।" अभिनव ने थोड़ी झिझक से रोमांटिक लहजे में कहा।

"आपके घर?"

प्रिया अभी यही कह पाई थी कि एक बंगले के समक्ष अभिनव ने गाड़ी रोक दी और तुरन्त कार से उतर कर प्रिया की तरफ का दरवाजा खोलकर उसे बाहर आने का आग्रह किया। जब तक प्रिया उतर कर बाहर आई, वाचमैन ने गेट खोलकर कार का स्टियरिंग संभाल लिया और इन दोनों के पीछे-पीछे कार अन्दर करने लगा। अभिनव, प्रिया को बहुत ही करीने से सजे हुए ड्राइंगरूम में ले आया। प्रिया, अभिनव के शौक और पसन्द की दाद दिये बिना नहीं रह सकी। इतने में नौकर शीतल पेय लेकर आ गया।

"प्रिया जी, आपसे झूठ भी नहीं बोलूँगा और छिपाऊँगा भी नहीं। दरअसल मेरी इस कुटिया में आपके लिए दो सरप्राइज हैं।"

हालांकि अभी तक जो कुछ भी हो रहा था वह सब भी सरप्राइज ही था मगर विशेष तौर पर कहे गए इस वाक्य ने उसे चौंका दिया और वह इस सरप्राइज को जानने के लिए अधीर हो उठी।

"पहला तो यह कि आज का खाना मैंने स्वयं बनाया है और दूसरा यह कि इस डिनर में हमारे साथ एक शख्स और है।" अभिनव एक रहस्य खोल रहा था तो दूसरा परोस रहा था।

प्रिया ने अन्दाज लगाते हुए कहा, "आपकी पत्नी?"

"नहीं मैडम, मेरी अभी शादी नहीं हुई है। मैं जिनकी बात कर रहा हूँ उन्हें आप भी अच्छी तरह से जानती हैं।" अभिनव के इस वाक्य से प्रिया का मन अभी खिला ही था कि वह शख्स ड्राईंग रूम में आ गया।

"सर आप?" अपने बॉस को देखते ही प्रिया खड़ी हो गयी।

बॉस और अभिनव, दोनों को साथ देखकर वह हैरान रह गई। उसके ख्यालों में बसने वाले दोनों चेहरे साक्षात् उसके सामने

थे। उसके मन का चोर परीक्षा की इस कठिन बेला से दो-चार होने लिए तैयार नहीं था।

"हाँ प्रिया, मैं। क्यों, मुझे यहाँ देखकर हैरान हो गई हो न?" बॉस ने उसके चकित चेहरे को देखते हुए कहा।

विचित्र परिस्थितियों में घिर चुकी प्रिया वास्तव में ही हैरान थी। उसे अभिनव से इस तरह के सरप्राइज की कतई उम्मीद न थी। इसमें कोई संदेह नहीं था कि प्रिया के व्यक्तित्व और जीवन शैली को जिस व्यक्ति ने सर्वप्रथम सबसे अधिक प्रभावित किया था वह उसका बॉस ही था। अभिनव से मुलाकात होने से पहे तक इसी व्यक्ति का उसके ख्यालों पर एकाधिकार था। वह मन ही मन उसकी आसक्त थी मगर कह नहीं पाई थी और शायद उसके अपनत्व और संरक्षण के कारण कभी भी कह नहीं पाती। वह उसका प्रथम लेकिन एकतरफा प्यार था। इसी एकतरफा पहले प्यार के साथ उसके दिल में नई उमंगों का संचार करने वाला अभिनव खड़ा था जिसके व्यक्तित्व ने उसके अन्दर की नवयौवना को जागृत करके अल्हड़ता का अहसास दिया था। यह दोनों इस तरह एक साथ उसके समक्ष खड़े होंगे, इसकी तो उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। वह कुशल व्यापारी व प्रबन्धकर्त्ता थी और हर मुश्किल डील को भी आसानी से हासिल कर लेने में माहिर थी मगर जिन्दगी की डील में उभरी इस स्थिति के पार पाने की उसे कोई राह नहीं सूझ रही थी। परेशानी की लकीरें उसके मेकअप से बाहर झांकने लगी थी।

उसकी परेशानी को भांपते हुए बॉस ने अत्यन्त संयमित आवाज में कहा, "प्रिया, इस बात का अहसास तो तुम्हें भी होगा कि अपने सारे स्टाफ में तुम मुझे सबसे प्रिय हो।"

"जी सर।" प्रिया ने पूरी बात सुने बिना ही कहा।

"जिस मेहनत और लगन से तुमने कम्पनी के काम को समझा और निभाया है उसने मुझे तुम्हारी योग्यता का कायल कर दिया है। मुझसे जो संभव हो सका मैंने तुम्हारी इस काबिलियत के बदले में तुम्हें देने की कोशिश की है।"

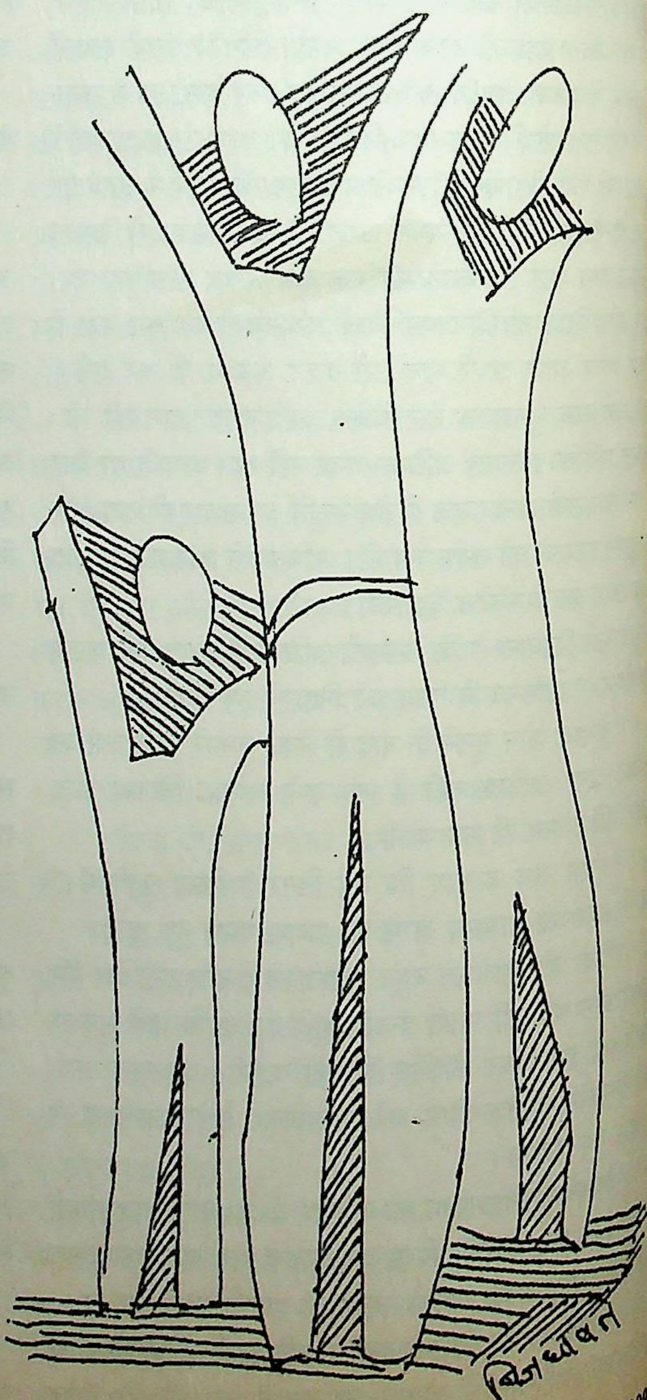
कुछ संभल चुकी प्रिया, बॉस के इन शब्दों को समझने का प्रयास कर रह थी।

"लेकिन इस सबके साथ मैंने यह भी महसूस किया है कि कैरियर के प्रति तुम्हारी संजीदगी ने तुम्हें कभी यह ख्याल भी नहीं आने दिया कि तुम्हारी उम्र की लड़कियां भावी पति को तलाशने के लिए या फिर कई बार केवल फन सेक डेटिंग भी करती हैं। मगर यह सब तुम्हारे मन में शायद कभी इसीलिए नहीं उमड़ पाया क्योंकि तुम्हारी काबलियत के चलते मैं कम्पनी का सारा भार तुम्हारे कंधों पर ही डालता जा रहा हूँ।" बॉस के संजीदा शब्दों की सच्चाई वातावरण को गहरा रही थी।

"नहीं सर, यह काम मुझे कभी भी बोझ नहीं लगा। मैं तो इस शहर में कुछ कर दिखाने के लिए ही आई थी और जब आपने यह अवसर मुझे दिया तो मैंने भी अपने लक्ष्य को हासिल करने की पूरी कोशिश की। रही बात डेटिंग की तो वह आपके संग मैं कई बार कर चुकी हूँ।"

वातावरण को हल्का करने के प्रयास में प्रिया के दिल की बात भी छिटक कर बाहर आ ही गई। हालांकि वह अपने ही शब्दों से झेंप महसूस कर रही थी मगर बॉस और अभिनव ने इसे केवल मजाक ही समझा था।

"प्रिया, मैं वाकई संजीदा हूँ। मुझे मेरे इस स्वार्थ का अहसास पिछले साल बेंगलूर के बिजनेस कनक्लेव में हुआ जहाँ मैं दुनिया भर से आए एक्सपोर्टरज के साथ तीन दिन था। उनमें बहुत सी तुम्हारी उम्र की युवतियां भी थी जो अपने फील्ड में निहायत की



कामयाब थी मगर अपनी उम्र के मुताबिक फलर्ट करके इन्जॉय भी करती थी और कुछ भावी जीवन की तलाश में भी थी। उस समय मुझे लगा कि मैंने तुम्हें नहीं बल्कि तुम्हारे जज़बातों पर बोध लादकर उन्हें दबाया है। मैंने वहीं सोच लिया था कि इस बोझ से उन जज़बातों को निकालूंगा भी मैं ही। वहीं मेरी मुलाकात अभिनव से हुई तो मुझे लगा कि यही वह है जो न केवल तुम्हें डेटिंग का अवसर दे सकता है बल्कि जीवन साथी भी बन सकता है। मगर तुम दोनों की मुलाकात करवाना मेरे लिए बहुत ही कठिन काम था। काम के प्रति दोनों ही जनूनी जो ठहरे। मगर तुम दोनों में से किसी एक से बात किए बिना तो कुछ संभव नहीं था इसलिए एक दिन मैंने अभिनव के साथ तुम्हारे विषय में बात की और सब कुछ बताते हुए तुमसे मिलने को राजी कर लिया।''

''लेकिन सर, अभिनव जी तो वो.............'' प्रिया की बात समाप्त होने से पूर्व ही बॉस ने पुनः कहना शुरू कर दिया,

''मैं जानता था कि तुमसे इस बारे में बात करना कठिन होगा और उससे भी कठिन होगा तुम दोनों की मुलाकात करवाना। इसलिए तुम्हारी मुलाकात करवानें का रास्ता बिजनेस के अतिरिक्त कोई और चुन पाना नामुमकिन था। मैंने यह रास्ता प्रचेज मैनेजर के माध्यम से बनाया और इस तरह तुम दोनों की मुलाकातों का सिलसिला शुरू हो पाया और आज देखो यह मुलाकातें क्या रंग दिखा रही हैं'' बॉस ने शरारत भरी नज़र प्रिया की ड्रेस और श्रृंगार पर डाली।

बॉस की शरारत नज़र से प्रिया शरमा गई मगर साथ ही उसकी बातों से आहत भी हुई। जो व्यक्ति उसके सपनों का आदर्श पुरुष था, जिसके लिए मन में आसक्ति भाव उमड़ते थे, जो उसके ख्याली संसार का प्रथम चेहरा था, उसी चेहरे ने उसके जीवन में किसी दूसरे चेहरे को एक साजिश की तरह दाखिल करवाया था। क्या वह उससे दूर होने के प्रयास में था या फिर...............? दिमाग के कोने से निकल कर यह 'क्यों' बड़ा होता जा रहा था। यकीनन अपनी पत्नी से मिलवाना भी बॉस की कोई साजिश ही थी। शायद दूरी बनाने की साजिश। हालांकि अभिनव से मुलाकात ने उसकी सुप्त तमन्नाओं को जागृत करके नई प्रकार की अनुभूतियों से अवगत करवाया था, युवा उमंगों को उड़ने के लिए आसमान दिखाया था मगर अब तो अभिनव के प्रति कशिश भी इसी साजिश का हिस्सा लग रही है। अभिनव से निकटता तो शुरू से ही उसे अच्छी लगी थी मगर बॉस के यह शब्द ने केवल बॉस को बल्कि अभिनव और उसके पनपते रिश्तों को भी बौना बना चुके थे। ज़हन में गहराती जा रही इसी कशमकश में जब दिल के जज़बातों ने हस्तेप करना शुरू किया तो उसे लगा कि उसके बॉस ने आजतक हमेशा उसका हित ही सोचा है और हो सकता है कि जो उसे साजिश प्रतीत रही है वह भी शायद उसके हितार्थ ही किया गया हो। यह उठा-पटक निरन्तर चलती रही और फिर दिमाग के तमाम तर्क, जज़बातों के हाथों धीरे-धीरे मात खाकर ढ़ेरी होते गए। अब केवल एक ही आवाज़ आ रही थी। उसने जब इस आवाज़ को सुनने का प्रयास किया तो पाया कि यह तो उसके ही दिल की आवाज़ है। शायद पहली बार दिल की आवाज़ सुनने के कारण वह अजनबी सी लगी थी। दिल अपनी बात कह देना चाहता था।

''प्रिया, आज यह डिनर भले ही तुम्हारा निर्णय जानने के लिए ही है और तुम्हारे निर्णय पर किसी भी तरह का कोई प्रैशर नही होगा लेकिन एक बात मैं अवश्य ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि तुम्हारे निर्णय का असर अभिनव द्वारा तैयार किये गये खाने पर नहीं आना चाहिये। लैट अॅस बी क्लीयर एण्ड फ्रैंक टू ईच अदर।''

गत छह वर्षों से इस व्यक्ति के साथ काम कर रही प्रिया यह आजतक नहीं समझ पाई थी कि आखिर यह शख्स गंभीर से गंभीर स्थिति को भी किस चतुराई से हल्का बना लेता है।

''सर, आपने आजतक मेरे लिए जो भी किया है मेरे भले के लिए ही किया है और यकीनन आपका यह प्रयास भी मेरे भले के लिए ही है मगर मिस्टर अभिनव के साथ अपने संबंधों को मैंने कभी भी बिजनेस से अलग करके नहीं देखा। इस निर्णय के लिए शायद कुछ समय चाहिये होगा।'' प्रिया ने कुशल व्यापारी की तरह कहा।

''प्रिया, समय जितना चाहो तुम ले सकती हो मगर किसलिए? याद है जब तुम पहली बार मेरे ऑफिस में आई थी तो तुम मात्र उन्नीस वर्ष की थी। यह दुनियांदारी तुमने मेरे सामने ही सीखी हैं और हम दोनों ने अनेकों बिजनेस डिनर साथ-साथ लिए हैं इसलिए मैं भली प्रकार से यह जान सकता हूँ कि उन डिनरज और आज में क्या अन्तर है। शेष मैं तुम पर छोड़ता हूँ।'' बॉस ने उसे निरूत्तर कर दिया था।

इससे पहले प्रिया कहने के लिए कुछ भी सोच पाती, अब तक मूकदर्शक बना अभिनव बोल उठा, ''प्रिया जी, मैं आपसे शादी करना चाहता हूँ। आप इस बारे में जब तक सोच-विचार करना चाहें, करें मगर इस समय खाने के विषय में भी सोच लें।''

प्रिया के होठों पर मुस्कुराहट छा गयी और वह बॉस से बोली,

''सर, खुशी के इस अवसर के लिए भी आपकी गाड़ी में शैम्पेन होगी?''

बॉस ने तुरन्त गाड़ी में से आईस बाक्स मंगवाया जिसमें शैम्पेन की एक बोतल बर्फ में लेटी हुई थी। प्रिया ने बोतल का कार्क खोला और तीन गिलासों में शैम्पेन को उड़ेला। तीनों ने एक-एक गिलास उठाकर एक साथ टोस्ट करते हुए कहा,

''जिन्दगी के नये अध्याय के नाम।''

515, द्वितीय तल, चार मंजिल फ्लैट,
टैगोर गार्डन एक्सटैंशन, नई दिल्ली - 110027

कविताएँ

कैलाश दहिया

उसका बदलना

उसकी बोली में
साफ़ झलक जाता है
उसका खरापन

किसी-किसी बात पर
झिझक भी जाता है वह
आँखों की चाल भी बता देती है
उसका हाल
एक बात और भी है उसके बारे में
कि, वो
छुपा नहीं पाता है अपने भीतर की बात
कोशिश भी करता है कभी तो
विदूषक जैसा हो जाता है चेहरा उसका

फिर वह भी जान गया
उस रहस्य को
सामंजस्य बैठा लिया उसने
भीतर और बाहर की बात में-

वह बदल गया बिल्कुल
और रंग गया नए रंग में

अब,
कभी-कभी
जब आ ही जाता है
उसका खरापन सामने
तो ठठा कर हँस देता है
तब पता ही नहीं चलता
हँसता है
या रोता है
वह।

माँ

जागने पर माँ के
जागता है घर
जागता है दीया, चूल्हा
और हल
जागता है झाँकरा
जागती हैं चिड़ियाँ
सूरज भी जागता है
माँ के जागने पर...

चाँद ही देख पाता है माँ का
सोना और जागना
सूरज तो देखता है बस
जागना ही जागना

माँ सोती है; सबको
जगाने...

हमारे समय की त्रासदी

यह हमारे समय की त्रासदी है
यह रामू की त्रासदी है
रूबी की भी...

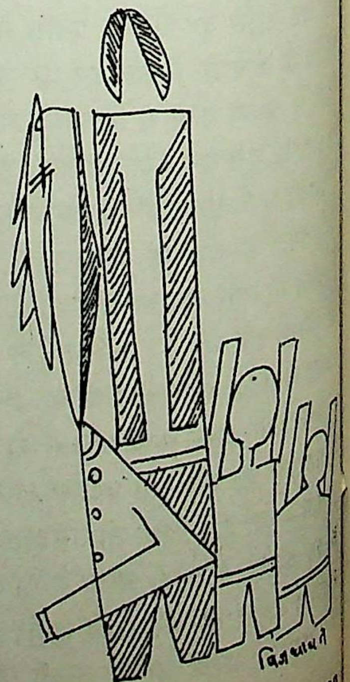
रूबी उस कुत्ते का नाम है, जो
पहली ही आहट पर घरवालों को सचेत कर देता है
माँस नुची हड्डियों को, समेटने का जिम्मा भी
उसी का है
उसी के बहाने,
रात की सैर कर पाते हैं घरवाले; या
रूबी घूम पाता है 'रात' में ही...
यह रूबी की त्रासदी है
मर गया वो
संसर्ग बग़ैर;
यह रामू की भी त्रासदी है
वह जाएगा बीवी के पास
छुट्टी मिलेगी—जब

रूबी, रामू जितना भाग्यशाली नहीं
उसे मरने पर ही छुट्टी मिलेगी...
यह हमारे समय की त्रासदी है

सँभाल लेना थोड़े आँसू

रो सकते हो तुम
चाहे जितना; पर
सँभाल लेना
थोड़े आँसू
उस पल के लिए
जब हँसोगे 'तुम'
कहकहा लगा कर
ऐसा न हो कि रह जाए
हँसी ही खाली,
बिल्कुल खाली....

119, सूचना भवन, लोधी रोड, नई दिल्ली-11000



पगलेट

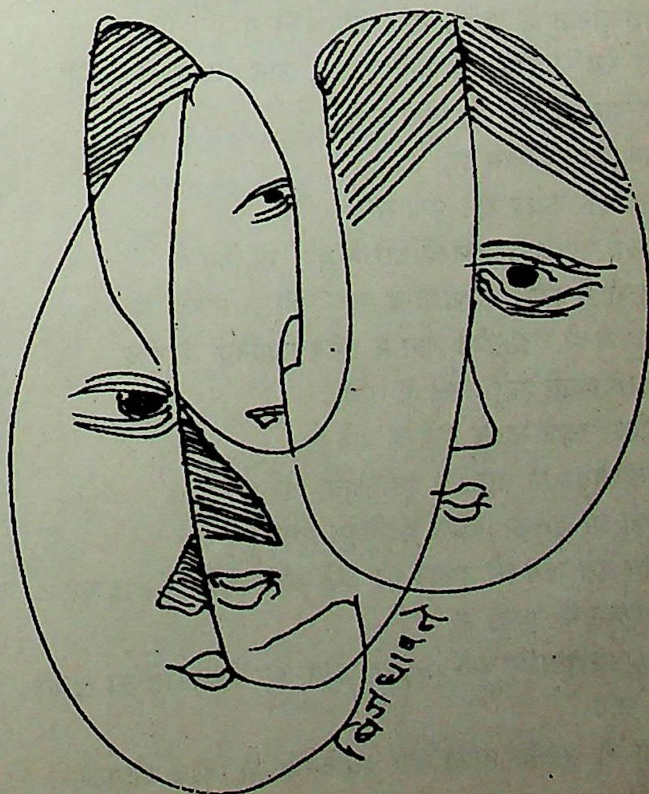
अमरेन्द्र शर्मा

(1)

और एक दिन अचानक
चौराहे को पार करते हुए अपने शहर की
चाय की दूकान के आस-पास देखा मैंने
वह आदमी वहाँ नहीं है,
जो होता था रोज़-ब-रोज़
फटे-पुराने अख़बारों, नेताओं और अभिनेत्रियों की तस्वीरों को
अपनी काँख में दबाये
और फ़रटिदार हिन्दी-अंग्रेज़ी में
देश-दुनिया, नेता और शहर के हलवाई तक के
तमाम ब्यौरों की कतरनों को
लगातार बोलता रहता था
जिसका कोई श्रोता वर्ग नहीं हुआ करता था
लेकिन थे सभी श्रोता ही
(मैं भी गाहे-ब-गाहे उसका श्रोता ही तो था)
गंदे और फटे हुए कपड़ों में
बढ़ी हुई दाढ़ी में फँसे घास-फूस और धूल के साथ
वह रीढ़विहीन होते समाज के सामने
अपनी सुदृढ़ रीढ़ के साथ
खड़ा था—एकमात्र भद्र नागरिक की तरह
जो किसी भी भद्र समाज के लिए नहीं था भद्र नागरिक
उस चौराहे की सुबह उसके बिना अधूरी
चाय दूकान की हर शाम तन्हा हुआ करता था
हमें ख़ुद को इल्ज़ाम देना चाहिए कि उसके जाने का दिन
क्यों मालूम नहीं हो सका हमें।

(2)

हमारे शहर का नटवर नाम का वह आदमी
रोज़ सुबह स्कूल जाते और शाम को आते
चौराहे पर खड़ा दिखता था मुझे
किसी का दिया फटा कोट पहने
और रद्दी सरकारी काग़ज़ों के ढेर से
तह कर बनायी हुई कोई फ़ाइल लिये
वह ब्रितानी हुकूमत को कभी गाली देता और कभी प्रशंसा
अपने देश के बारे में हमेशा धुँधुआती रहती थीं उसकी आँखें
चौराहे के हलवाई और देश के सम्मानित नेताओं में
नहीं था जिसके लिए कोई फ़र्क़।
अब, वह नहीं था हमारे शहर में
धीरे-धीरे शहर को यह मालूम पड़ने लगा था कि
वह आदमी छोड़ आया था अपनी बूढ़ी माँ को
जिसका वह बड़ा बेटा था और जिसके लिए
माँ ने माँगी थीं कई मन्नतें, गायी थीं कई लोरियाँ।
पत्नी थी, जिसके सपनों में अब केवल ठंडी राख थी
एक भाई, जो सरकारी अफ़सर था—फेर ली थीं निगाहें।
हमारे शहर में, वह
नहीं था किसी का बेटा, पति या भाई



बल्कि था, महज़ एक भद्र नागरिक
जिसकी काँख में हुआ करता था समाज का हिसाब-किताब
और हाथों में गाँजे का चिलम
आँखें लाल किये जिसे फूँका करता था।
धीरे-धीरे ऐसे लोग ख़त्म होने लगे हैं
शहर की नियॉन रोशनियाँ लील रही हैं उन्हें।
उसकी अनुपस्थिति मेरे शहर को
भयभीत करने लगी है
हमें खुद को इल्ज़ाम देना चाहिए कि उस दिन
हमार कंधा उसके लिए क्यों नहीं झुका
हमारे हाथ क्यों हो गये थे पत्थर?
जिस दिन अचानक वह रोया था फफक कर
उसकी माँ मर गयी थी, नाम ले-लेकर उसका
और उसके बूढ़े चाचा ने जिसकी एक टाँग
गोली लग जाने से काट दी गयी थी
चीन-युद्ध के दौरान्,
चिता में आग लगायी थी।
अब, वह अपनी पत्नी के सपनों में बची हुई ठंडी राख को
गर्म करना चाहता होगा।
और हमारी ज़बान को लकवा मारता जा रहा है।

(3)

धीरे-धीरे हमने जाना
देश-दुनिया के प्रत्येक शहर और क़स्बे से
वह भद्र नागरिक, जो कभी पगलेट, कभी बौराहा और कभी
परिवार को छोड़ कर भागा हुआ
भगोड़ा कहा जाता था,
अचानक ग़ायब होने लगा था
उसके ग़ायब हो जाने के बारे में कोई भी विमर्श
रेस्तराँ में कॉफ़ी के प्याले के साथ नहीं हो सकता था
और न ही रीढ़विहीन शाम में रंगीन रोशनियों के बीच
किसी ख़ाली होते प्याले के साथ
बल्कि उसके ग़ायब होने के बारे में
उस चौराहे के रास्तों से पूछा जाना चाहिए था
जिस पर उसके असंख्य पदचिह्न पसरे हुए थे
और उस चाय की दूकान की बेंचों और उसके इर्द-गिर्द पसरे
अख़बार के टुकड़ों से,
जिन पर परमाणु बमों, आत्महत्याओं और बलात्कारों की ख़बरों
के साथ
देश की आर्थिक प्रगति और प्रधानमंत्री की विदेश यात्राओं में
लाल सफलताओं की रिपोर्ट छपा करती थीं
या फिर, नेताओं और अभिनेत्रियों की फटी तस्वीरों से
या शहर के हलवाई से
जिसने अपने पेट को पूँजी का केंद्र बना रखा था
और जिसके चेहरे पर चाँदी का वर्क़ पसरा हुआ था।
वह पगलेट, बौराहा-भद्र नागरिक
इन सबको अपनी काँख में ही
दबाये रहता हमेशा।

(4)

संदेहशील इस समय में,
जबकि हर तीसरा आदमी षडयंत्रकारी समझा जाता हो
और हमारे पड़ोस में विस्फोटक पाये जाने की लगातार संभावना
हो
ऐसे समय में
पगलेट जैसे आदमी को बचाया जाना चाहिए
ढूँढना चाहिए उसे—जहाँ कहीं हो वह
वही हमारा चेहरा है
और हमारे सभ्य समाज की
हैसियत भी।

व्याख्याता, दूर शिक्षा केंद्र,
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001



चार कविताएँ

शहंशाह आलम

सुबह की कविता

किसी को क्या ख़बर
कि सुबह तक दरवाज़े पर साइकिल थी
लगी हुई, अभी नहीं है

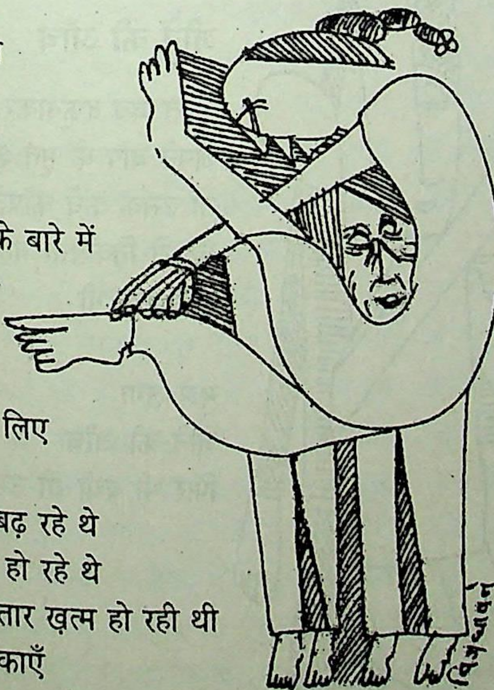
सुबह जहाँ पर उनके ख़्वाब थे
उनकी अंगड़ाइयाँ थीं
कई-कई वृक्ष थे
कई-कई दुआएँ थीं
अब कुछ भी नहीं है देखे जाने लायक़

सुबह ज़िद पर अड़ी थीं दादी
जाएँगी गाँव
बोना रह गया है बहुत कुछ
इस धरती में अनुभव से भरा

सुबह बिग बाज़ार की तरफ़
चंद लड़कियाँ बढ़ रही थीं
और रात के विचित्र सपने के बारे में
बतियाती भी जाती थीं
कोई महायान नहीं था
उनके पास
पृथ्वी का चक्कर लगाने के लिए

अंतरिक्ष में सूराख़ लगातार बढ़ रहे थे
रेशम के कीड़े लगातार कम हो रहे थे
पहाड़ पर की हरियाली लगातार ख़त्म हो रही थी
लगातार जन्म ले रही थीं शंकाएँ
लगातार बढ़ रही थीं अबूझ घटनाएँ

सुबह हमें पहुँचना था कला-दीर्घा में
बहुत कुछ अदृश्य देखने



बहुत कुछ रूपाकार करने

सुबह आना था उन्हें
अवसाद को फेंक
सुबह आ जाती थी 8186 नंबर की गाड़ी
मछली पकड़ने का जाल
पतंग थपका
और खाने-पीने का सामान
लेकर आने वाला था वो भी
मुझे कुछ फ़ोटू अद्‌भुत
कुछ बीज़ सौंपने थे विस्मित

सुबह ही सुबह किसी अनजाने को
आरा मशीन में
काटा जा रहा था पूरी कट्टरता से
सुबह ही सुबह कुछ स्कूली बच्चे
बेपरवाही से तंग कर रहे थे
उस पागल ख़ातून को

बलशाली आदेश देने वाले
उन्हें आदेश दे रहे थे
कि तुम ऐसा मत करो, वैसा करो
उन्हें कहा जा रहा था
कि तुम काम-धंधे का गीत गाना बंद करो
तुम अपनी आकांक्षाओं और कामनाओं को
भूल जाओ
उत्सव के दिनों में भी तुम रोना शुरू करो
हो सके तो दीवारों में टँग जाओ
जीवन को नष्ट करते हुए

सुबह उसके शौहर को लौट आना था
सुबह उस चिड़िया को लौट आना था
सुबह एक नये शब्द को जन्म लेना था

कइयों के लौट आने का समय था वह
कइयों के जनमने का समय था वह
पता नहीं वे क्यों नहीं लौटे
पता नहीं वे क्यों नहीं जन्मे

सारी ख़ुफ़िया तफ़्तीशें हमारे लिए थीं
सारी मृत उपस्थितियाँ हमारे लिए थीं
कि आज हमने खाया क्या
पहना क्या
मुक्ति का कौन-सा पाठ पढ़ा
आज हम हँसे कितनी बार
कितनी बार रोये
और कुत्ते की तरह भौंके हम कितनी बार

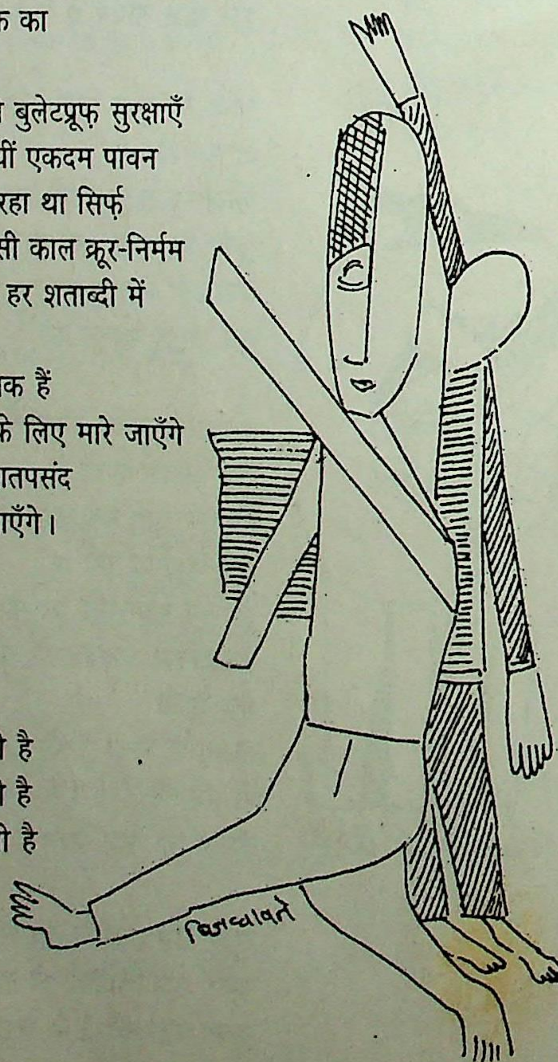
सुबह हम
भूखी चीटियों
भूखी चिड़ियों
भूखी बिल्लियों
भूखी मुर्ग़ियों
और शरीर में कम रहे रक्त का
गीत गा रहे थे
जबकि हमारे क़ातिलों को बुलेटप्रूफ़ सुरक्षाएँ
उपलब्ध करायी जा रही थीं एकदम पावन
हमें आश्वासन दिया जा रहा था सिर्फ़
अँधेरे से घोषणा आयी इसी काल क्रूर-निर्मम
सिर्फ़ हमारा ही वर्चस्व है हर शताब्दी में

हम लंबी जुबान के मालिक हैं
हम अपनी लंबी ज़ुबान के लिए मारे जाएँगे
सुबह होते-होते सारे दहशतपसंद
सड़कों पर घूमते नज़र आएँगे।

रहती दुनिया तक

लड़की नदी जितनी हँसती है
लड़की हवा जितनी दौड़ती है
लड़की पतंग जितनी उड़ती है

उसका हँसना
उसका दौड़ना
उसका उड़ना
रहती दुनिया तक
देखना चाहता हूँ मैं।



तुम नष्ट कर देना चाहते हो

क्यों तुम नष्ट कर देना चाहते हो
धरती के विस्तार को

क्यों तुम नष्ट कर देना चाहते हो
समुद्र की मछलियों को

क्यों तुम नष्ट कर देना चाहते हो
आदमी की उपस्थिति को

ये पेड़
ये परिंदे
ये पहाड़
ये झरने
कैसे तुम सब कुछ हँसते हुए
नष्ट कर देना चाहते हो।

जीने की आँच

दोस्त जब दफ़नाकर लौटा
अपने बाप के मृत शरीर को
तो उसके कंधे काँपते थे
मुँह से निकलता नहीं था
शब्द एक भी

मुझे लगा
जीने की आँच
फिर भी बची थी उसमें।

बदरुन मंज़िल, गुलज़ार पोखर
मुंगेर-811201 (बिहार)

मंदी की मार में छिपा है पूँजीवादी-व्यवस्था का संकट

जीवन सिंह

जब पिछली सदी के नवें दशक के अंतिम दिनों में सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था का विघटन हुआ था, तब पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकारों और उनके मीडिया व्यवस्थापकों ने 'समाजवाद का अंत', 'मार्क्सवाद का अंत' का ऐसा हो-हल्ला मचाया था कि लगे कि पूँजीवादी व्यवस्था ही अज्ञेय और अनंत है। यही व्यवस्था है, जो आज नहीं तो कल, सभी को सुखी बनाकर छोड़ेगी। ग़ैर-बराबरी का ख़ात्मा करने वाली समाजवादी व्यवस्था का खुद ख़ात्मा हो गया। कितनी प्रसन्न थी वह दुनिया, जो दूसरों को लूट-खसोट करके अपने घर में जश्न मनाती है। लेकिन, ऐसा क्या हुआ कि यह चार दिन की चाँदनी देखते-देखते अँधेरी रात में बदल गयी। भारतीय शेयर बाज़ार का सूचकांक इक्कीस हज़ार को छूकर आठ हज़ार पर आकर सिर के बल गिर पड़ा। अब इसे आर्थिक जगत की सुनामी कहा जा सकता है। दरअसल, यह उस पूँजीवादी व्यवस्था के तीसरे चरण--वित्तीय पूँजीवाद--का संकट है, जो श्रम की पूरी तरह अनदेखी करके केवल वित्तीय जाल के बल पर दुनिया के लोभ-लालच को निरंतर बढ़ाता है। जिसमें व्यक्ति से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण वस्तु को बना दिया जाता है। इसमें बाज़ार का चेहरा चमकने लगता है और असली आदमी का रंग फीका पड़ता जाता है। अब यह साफ़ शब्दों में कहा जा रहा है कि आर्थिक सुनामी ने जहाँ पूरे विश्व को हिला दिया है, वहीं अमरीका का पूरे विश्व पर आर्थिक वर्चस्व भी अब लगभग समाप्ति की ओर है। वित्तीय विशेषज्ञ यह मान रहे हैं कि पिछले साल से शुरू हुआ मंदी का दौर नये वर्ष में और ज़्यादा भयावह हो सकता है। ऐसा बयान 'अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष' के अध्यक्ष का आया है। अब यह कोई रहस्य की बात नहीं रह गयी है कि खुले बाज़ार के जिस विशुद्ध पूँजीवादी मॉडल पर आज अमरीकी वर्चस्व के तहत लगभग पूरी दुनिया चल रही है, वह मॉडल स्वयं अमरीका में ही अंतिम साँसें गिन रहा है। उसे जनता के धन से 'बेल आउट प्लान' के तहत जिलाने की कोशिशें न केवल अमरीका-यूरोप के देशों में, बल्कि उस व्यवस्था के पिछलग्गू भारत जैसे देशों में भी की जा रही हैं। कोई नहीं पूछ रहा है कि तुम्हारे खुले बाज़ार और उदारवादी वैश्वीकृत व्यवस्था का दम इतनी जल्दी कैसे टूट गया ? इसको इतनी जल्दी उस धन की ज़रूरत कैसे पड़ गयी, जो सामान्य जन और मध्यवर्ग का पेट काटकर की गयी छोटी-छोटी बचतों से संचित होता है। बाज़ार में समाज की ऐसी दख़लंदाज़ी क्यों ? बाज़ार तो खुला है, उदारवाद भी है, फिर उसकी इतनी पतली हालत क्यों कि साँस लेना भारी पड़ रहा है। हमारे प्रधानमंत्री भी वित्त-विशेषज्ञ हैं, महान अर्थशास्त्री के रूप में उनकी ख्याति है, फिर वे इन सवालों पर चुप क्यों हैं ? शेयर बाज़ार ने मध्यवर्ग की छोटी-छोटी बचतों को हड़प लिया है और वह डकार भी नहीं ले रहा है। यही है पूँजीवादी व्यवस्था का पशु-न्याय, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को हड़प जाती है। हालत 'चोर नारि जिमि प्रकट न रोयी' की तरह है। शेयर मार्केट की मार्फ़त मध्यवर्ग स्वयं बहुत जल्दी मोटा होने चला था, सो अब उसमें किसका दोष बताए? वही तो नव उदारवादी व्यवस्था और डॉ० मनमोहन सिंह के गीत गाते थकता नहीं था। ग़नीमत रही कि पिछले चार वर्षों में यू०पी०ए० सरकार के समर्थक वामपंथी दलों ने बाज़ारवादी व्यवस्था की नाक में नकेल डाले रखी। आज जो यह कहा जा रहा है कि इस महामंदी की मार से भारतीय व्यवस्था थोड़ी-बहुत बची हुई है, तो यह इसकी मिश्रित अर्थव्यवस्था की बदौलत है, जिसमें श्रम और पूँजी का संतुलन क़ायम रखा जाता है। जहाँ पूँजी को छुट्टे साँड की तरह पूरी फ़सल को उजाड़ देने की छूट नहीं दी जाती।

जो सरकारी लोग कह रहे थे कि अमीरी को बढ़ाकर ही ग़रीबी हटायी जा सकती है और आँकड़े देकर बतला रहे थे कि देश में तेज़ी से बढ़ती हुई अमीरी की बदौलत ग़रीबी इकत्तीस प्रतिशत से घटकर इक्कीस प्रतिशत रह गयी है। इस प्रचार में देश का मध्यवर्ग बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रहा था। दूसरी ओर, सरकार द्वारा नियुक्त अर्जुनसेन गुप्ता के आँकड़े बतला रहे थे कि देश की सत्तहत्तर प्रतिशत मेहनतकश जनता को बीस रुपया रोज़ की आमदनी भी नहीं हो पाती। कहना न होगा कि आज़ादी के बाद अपनायी गयी मिश्रित अर्थव्यवस्था से ग़ैर-बराबरी ख़त्म किये जाने का जो ग्राफ़ बराबरी की दिशा में जा रहा था, नव उदारवादी बाजार-व्यवस्था में उसी ग्राफ़ में तेज़ी से भारी गिरावट आने लगी थी। जो लोग मेहनतकशों की दुनिया को धोखे में रखकर अमीर बनने के सब्ज़बाग़ दिखला रहे थे और सभी को एक नव साम्राज्यवाद पोषक भूमंडलीकृत व्यवस्था का अंग बनाने में लगे थे, आज उन्हीं ने

सबको महामंदी के नरक में धकेल दिया है और वे स्वयं सरकारों के सामने बचाये जाने की याचना करने में लगे हैं। हर उद्योग कह रहा है कि उनको डूबने से बचाया जाये। आज बड़े-बड़े अर्थशास्त्री, न जाने किस मुँह से, फिर से यह कहने लगे हैं कि बाज़ार को बचाये जाने के लिए, बाज़ार से बाहर जनता की मेहनत और बचत की आदतों से संचित पूँजी की सख़्त ज़रूरत है। बाज़ार स्वयं सक्षम नहीं है कि ख़ुद को बचा सके। कुछ दिनों पहले तक बाज़ार के क़सीदे पढ़े जा रहे थे, फिर ऐसा क्या हो गया कि इतनी जल्दी टाँय-टाँय फिस्स हो गयी। ऐसा लग रहा है जैसे कौरवों की सभा में द्रोपदी का चीरहरण किया जा रहा है और सारे महारथी मौन हैं। यह समाजवादी व्यवस्था नहीं है कि तुरंत उसके ख़ात्मे का हल्ला मचा दिया गया। सुनने में आया है कि इन्हीं दिनों यूरोप के कई देशों में कार्ल मार्क्स की प्रसिद्ध कृति 'दास केपीटल' की बिक्री कई गुना बढ़ गयी है। पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र को समझने के लिए अभी तक शायद ही इससे अच्छा कोई शोध हो।

यह किसी भी अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा संकट होता है कि उससे अमीर और ज़्यादा अमीर बनता जाए तथा ग़रीब और ज़्यादा ग़रीब। हम देखते हैं कि आज़ादी मिलने के बाद चालीस सालों तक हमारे यहाँ अर्थव्यवस्था का जो मॉडल रहा, उसने ग़रीब वर्ग को ऊपर उठाया और अमीर वर्ग को नियंत्रण में रखा। लेकिन, पिछले 18-19 सालों में नव उदारवाद का जो भूमंडलीकृत मॉडल थोप दिया गया, उसमें देशी-विदेशी पूँजीपतियों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों, कॉरपोरेट सेक्टर तथा इनसे जुड़े मध्यवर्गीय तंत्र को इतने ज़्यादा लाभ हुए कि जोड़-तोड़ से संपदा एकत्र करने वाले बड़े पूँजीपति अपनी बीवियों के जन्मदिन पर करोड़ों के तोहफ़े देने लगे। इसी वर्ग ने लगातार यह प्रचार किया कि भारत एक महाशक्ति बन रहा है। ये ही लोग कह रहे थे कि वह दिन दूर नहीं, जब दुनिया को भारत का लोहा मानना पड़ेगा। जबकि हालात ये हैं कि मुंबई पर हुए हमलों में पाकिस्तानी आई0एस0आई0 की पूरी साजिश प्रमाणित होने जाने के बावजूद हमको बार-बार अमरीका से पूछना पड़ रहा है कि अब तुम्हीं बतलाओ कि हम क्या करें? हमने सारे विकल्प खोल रखे हैं, लेकिन यह हमको अमरीका ही बतलाएगा कि किस विकल्प को काम में लें और अमरीका है कि सबको बेटा ही बेटा दे रहा है। यह है हमारे महाशक्ति होने का भीतरी नज़ारा। जब हम देश के किसानों-मज़दूरों और निम्नवर्गीय मेहनतकशों की नज़र से इस अर्थव्यवस्था की जाँच-पड़ताल करते हैं, तो साफ़ दिखायी देता है कि जो सब्ज़बाग़ दिखलाये गये थे, वे मरुस्थल साबित हुए हैं। अब फिर से इंदिरा गांधी के ज़माने के बैंक राष्ट्रीयकरण के गीत धीरे से गाये जाने लगे हैं कि उस नियंत्रित बैंकिंग व्यवस्था की वजह से ही हमारे बैंक डूबने से बच गये। बाज़ार और नव उदारवादी आर्थिक सुधारों के भरोसे तथा मनमोहन सिंह, चिदंबरम तथा अहलूवालिया की नीतियों को मान लिया होता, तो अमरीकी बैंकों की तरह कब से डूब गये होते। यह हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था की ही ताक़त रही कि खुले बाज़ार के हाथ उसने नगरी को लुटने नहीं दिया। कृत्रिम तेजी से यदि आप किसी को दौड़ाएँगे, तो उसकी साँस फूलते देर नहीं लगेगी। फल हमेशा ऋतु आने पर ही लगते हैं। कृत्रिम फलों में स्वाद नहीं होता।

हमारे यहाँ एक भद्दी-सी कहावत चलती है कि 'राँड रँडापा तब काटै, जब रँडुआ काटन दैं'। इसकी वजह से अंतरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी ने उन देशों को चैन की रोटी नहीं खाने दी, जो अपनी मिश्रित अर्थव्यवस्था से यद्यपि कछुआ दौड़ से चल रहे थे, किंतु बिना रुके मज़बूती से चल रहे थे। अमरीका एवं यूरोप की विकसित वित्तीय पूँजी के लिए इससे अपना साम्राज्य कायम करने के अवसरों में अवरोध महसूस होता था। इसलिए, जैसे ही अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी को अवसर हाथ आया, विकासशील देशों के कमज़ोर एवं पिछलग्गू नेतृत्वकारी शक्तियों को बदल देने में कुछ भी देर नहीं लगी। सब कुछ जैसे रातों-रात बदलने का हौसला आ गया। सबसे पहले प्रचार-माध्यमों को काम में लेकर तथा भाड़े के अर्थशास्त्री चिंतकों की जमात खड़ी करके मध्यवर्ग का मनोविज्ञान बनाया गया कि उसका हित अब मिश्रित अर्थव्यवस्था में न होकर भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की ओर तेज़ी से बढ़ती आर्थिक सुधारों वाली अर्थव्यवस्था को अपनाने में है। ज़ोर-शोर से प्रचार किया गया कि देश को महान अर्थशास्त्री वित्तमंत्री के रूप में मिल गया है। ऐसा लगने लगा कि इससे पहले के वित्तमंत्री तो जैसे घास खोदने वाले ही थे। अब कौन पूछे कि वही सुधारवादी वित्तमंत्री आज देश का प्रधानमंत्री भी है और वित्त-सुधारकों की एक विशेषज्ञ टीम उसके साथ काम कर रही है, फिर देश के आर्थिक स्वास्थ्य का मापक संवेदी सूचकांक बचतखोरों की बचत को हड़पकर खर्राटे क्यों ले रहा है ? कौन है माई का लाल, जो महान अर्थशास्त्री से इसका हिसाब माँग सके। हमारा विश्वास तो नियतिवाद में है—नियति जहाँ भी ले जाए।

वह कितना अच्छा एवं सम्मानजनक समय था, जब हम निर्गुट देशों की नेतृत्वकारी भूमिका में थे। यह हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था का ही तक़ाज़ा था कि हमको एक बहुत बड़ी दुनिया में नेता की प्रतिष्ठा मिली हुई थी और दुनिया के ज़्यादातर देश भारत की तरफ़ हसरत भरी नज़रों से देखते थे। क्या हुआ कि आज हम पिछलग्गुओं की पाँत में आ गये हैं। यह अर्थव्यवस्था का और पिछलग्गू होने का ही 'जादू' है कि हमारे सारे विकल्प खुले होने के बावजूद काम में आने वाला कोई विकल्प नहीं है। लालबहादुर शास्त्री और इंदिरा गांधी के ज़माने में मिश्रित अर्थव्यवस्था थी, तो ऐसा नहीं था। जब आप बिना सोचे-समझे किसी के पिछलग्गू बन जाएँगे, तो फिर आगे चलने वाले की मर्ज़ी है कि वह जहाँ चाहे आपको ले जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय की मिश्रित अर्थव्यवस्था ने हमको एक हैसियत बख़्शी था। सवाल है

कि आज हमारी वैसी हैसियत है क्या ? यदि है, तो हम पहले की तरह निर्णय लेने में अमरीका, इज़राइल, रूस और चीन की तरह स्वाधीन क्यों नहीं है ? जब आप किसी की गोदी में बैठ जाते हैं, तो गोदी में बिठाने वाला, ज़रूरी नहीं है कि आपकी हर बात को मान ही ले। फिर, वह तो ऐसा दुलार करने वाला है, जिसने दोनों को ही अपनी गोदी में बिठा रखा है और एक-एक करके वह दोनों को ही लॉलीपॉप देने की कला जानता है।

कौन नहीं जनता कि नव उदारवादी व्यवस्था पूँजी के अनुकूल तथा श्रम की विरोधी रही है, इसलिए वह जन एवं जनतंत्र-विरोधी भी है। दरअसल, भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था पर अंतराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी का दबाब लगातार बना हुआ था और वह अपनी ताक़त से भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था के मार्ग में लगातार रोड़े अटका रही थी। उसने लगातार यह वातावरण बनाया कि देश की जनता की यहाँ का सार्वजनिक क्षेत्र भ्रष्टाचार एवं निकम्मेपन का तंत्र नज़र आए तथा उसके बरअक्स निजी क्षेत्र के कौशल को सामने लाया जाए। हुआ भी यही कि सार्वजनिक क्षेत्र के नियंत्रक वर्ग ने इसमें भ्रष्टाचार, निकम्मेपन एवं अफ़सरशाही को पनपाकर इसे बदनाम कराया कि जैसे सार्वजनिक क्षेत्र से बुरा कोई तंत्र नहीं है। जबकि यह सार्वजनिक क्षेत्र की मज़बूत एवं नियंत्रित आधारभूमि का ही जादू है कि आज की महामंदी के दौर में हमारी बैंकिंग व्यवस्था अपनी जगह पर मजबूती से खड़ी है। जीवन बीमा जैसा सार्वजनिक क्षेत्र का वित्तीय संस्थान भी कहीं कमज़ोर नहीं है। हुआ यह कि चूँकि सार्वजनिक क्षेत्र पर सरकारी नियंत्रण और प्रबंधन की ज़िम्मेदारी थी और राज्य-सत्ता में नेतृत्वकारी भूमिका ने इस क्षेत्र को मनमर्ज़ी से संचालित किया, जिससे यहाँ निकम्मापन, प्रमाद एवं भ्रष्टाचार ज़ोरों से पनपा। यह असफलता राज्य के नियामकों की थी, न कि सार्वजनिक क्षेत्र की, जबकि इसे सार्वजनिक क्षेत्र की असफलता बतलाकर इसका दुष्प्रचार इतनी चालाकी से किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र के सारे लाभ लेने वाला व्यक्ति भी मौक़ा आने पर उसकी बुराई गिनाने से नहीं चूकता था। जैसे सोवियत व्यवस्था में पैदा हुई तंत्र की गड़बड़ तथा उसके नियामकों में दूरदर्शिता की कमी, लेकिन प्रचार किया गया कि समाजवाद का अंत हो गया, विचारधारा ख़त्म हो गयी और अब मार्क्सवाद का कोई नामलेवा नहीं रहा। बहरहाल, इस महामंदी के दौर में हमको अपनी अर्थव्यवस्था के बारे में गंभीरता से पुनर्विचार करने की ज़रूरत है और पिछले अनुभवों से सीखकर दुनिया को एक नया रास्ता दिखलाने की आवश्यकता है। भारतीय समाज में यह ताक़त है, उसका इतिहास इसका प्रमाण है।

1/14, अरावली हिल्स, अलवर (राजस्थान)-301001

लघुकथा

पानी

अशोक भाटिया

शहर से लगते एक गांव में एक बूढ़ी स्त्री की तेरहवीं थी। भयंकर गर्मी और टपटप पसीने में गहरी छन रही थी। तंबू में लगे पंखे व्यर्थ ही शोर कर रहे थे।

कुर्सियों पर बैठे करीब तीस-चालीस लोग अपने टपकते पसीने को बार-बार पोछ रहे थे। कमीज के बटन खोलने, बाजू बार-बार चढ़ाने, कॉलर पीछे करने की व्यर्थ क्रियाएँ जारी थीं। एक छोटा-सा लड़का बिना चेन की, लेकिन मोटी बेल्ट वाली, सदियों से मैली पेंट डाटे हुए सबको पानी पिलाता जा रहा था। एक बार में थाली में तीन-चार गिलास लाता, लेकिन पानी न बचता, 'और ला' की आवाजें बची रही जातीं। अपने उड़ते ढीली पेंट को ऊपर खिसकते की तो फुर्सत ही उसे नहीं मिली। पानी लेकर आता, तो 'और ला' और भीतर जाता तो 'जल्दी ले के जा' के फ़रमान के बीच वह दौड़ता रहा।

एक व्यक्ति इस दृश्य को लगातार ध्यान से देख रहा था। आखिर उस लड़के से पूछ बैठा-बेटे! क्या तूने भी इतनी गर्मी में पानी पिया हैं?'

आसपास बैठें लोगों ने यह सुना , तो पूछने वाले की तरफ हैरानी से देखने लगे। तभी सवाल पूछने वाले ने देखा- उस लड़के की आंखों में पानी की चमक उभर आई थी।

मेंह हमारे लिए ख़ुदा बरसाता है

सुजीत कुमार सिंह

और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय है, हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जाएगी–
चिह्न भी न हिन्दू-सभ्यता का रह जाएगा।
कितना आश्चर्य है!
मुट्ठी-भर मुसलमान
पले आतंक से हैं
भारत के अंक पर। (निराला)

भारत में लोकतांत्रिक शक्तियाँ कमज़ोर हुई हैं। तथाकथित धर्मों के कट्टरपंथी अगुवा धर्म, जाति-पाँति, छुआछूत, असुरक्षा आदि की भावनाएँ भड़काकर जनता को तोड़ने में लगे हुए हैं। इस कार्य में हिन्दू संगठन काफ़ी आगे हैं। देश में अब हिन्दू आतंकवाद की चर्चा हो रही है। उड़ीसा, कर्नाटक की हिंसक घटनाएँ इसकी साक्षी हैं। जिस तरह से हत्या, लूटपाट, बलात्कार, आगज़नी का काम बजरंग दल, विहिप और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने किया है, वह किसी भी देश का सिर नीचा कर सकता है। भारत सरकार से हिंसा रोकने के लिए फ्रांस आदि देशों को निवेदन करना पड़ा। 1992 से देश में जितने भी सांप्रदायिक दंगे हुए, उनकी सारी ज़िम्मेदारियाँ हिन्दू संगठनों पर हैं। गुजरात में निर्दोष मुसलमानों का क़त्ल हुआ। साबरमती एक्सप्रेस की जाँच हुई, तो पता चला कि आग लगाने का ज़बरदस्त मंसूबा हिन्दुओं ने तैयार कर रखा था। हिन्दू फ़ासिस्ट ताक़तों को बर्तानवी हाई कमीशन की रिपोर्ट ने नंगा करके रख दिया।

पूर्वी उत्तर-प्रदेश के एक ख़तरनाक हिन्दूवादी सांसद ने अपने नाम का आतंक फैला रखा है। आज़मगढ़ में उसने दंगा कराया। एक मुसलमान मारा गया। कई दिनों तक कर्फ़्यू और बंद का दंश पूरे जनपद ने झेला। उसके डेढ़ सौ गाड़ियों के क़ाफ़िले की यदि जाँच करवायी गयी होती, तो उतने ही ए.के.47 मिलते। अब इन हिन्दूवादियों ने आज़मगढ़ को 'आतंकवाद की नर्सरी' कहना शुरू कर दिया है।

इन दंगों का संबंध हमारी हिन्दी भाषा और साहित्य से गहरा जुड़ा हुआ है। हिन्दी के शुभचिंतकों ने हिन्दी भाषा के अस्तित्त्व को लेकर उर्दू की ज़बरदस्त निंदा की है। गोरक्षा आंदोलन भी हिन्दी जाति (हिन्दू जाति?) का प्रमुख अंग रहा है। आज़मगढ़ में गोरक्षा आंदोलन को लेकर 1893 में भयंकर दंगा हुआ। हिन्दुओं ने बड़ा उत्पात मचाया। ब्रिटिश सरकार ने मुक़दमा दर्ज किया। इस दंगे की चर्चा तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में हुई। दंगे की जाँच बैरिस्टर-एट-लॉ पं0 बिशननारायण दर ने की। वे आज़मगढ़ आये। रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट से हिन्दुओं में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। जनवरी, 1912 की 'सरस्वती' में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है–"सन् 1893 में आजमगढ़ में हिन्दू-मुसलमानों में गो-हत्या पर बहुत रक्तपात हुआ था। इस झगड़े में अपराधियों के साथ कितने ही निरपराधी मनुष्य पकड़े गये। किसी भी वकील या बैरिस्टर को निर्दोष मनुष्यों के पक्ष में खड़े होने का साहस न होता था। ऐसे समय में आप आज़मगढ़ पहुँचे और वहाँ का सब हाल देख-सुनकर आपने एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित की। आपकी कृपा और परिश्रम से कितने ही निर्दोष मनुष्य दंडित होने से बच गये।" 19 नवंबर, 1916 को बिशननारायण का निधन हो गया। पत्र-पत्रिकाओं में शोक प्रकट किया गया। जनवरी, 1917 की 'मर्यादा' में 'स्वर्गीय पंडित बिशननारायण दर' शीर्षक से एक परिचयात्मक लेख श्यामसुंदरलाल गुप्त ने लिखा। इस लेख से पता चलता है कि ये काश्मीरी पंडित थे और इनका जन्म 1864 ई0 में लखनऊ में हुआ। आरंभ में उन्हें उर्दू और अंग्रेज़ी से अनन्य प्रेम था। उच्च शिक्षा के लिए विलायत गये–'काश्मीरी जाति उस समय समुद्र यात्रा की कट्टर विरोधिनी थी।' श्यामसुंदरलालजी ने यह भी बताया है कि इंग्लैन्ड में "प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर मैक्समूलर से आपकी जान-पहचान हो गयी। प्रो0 मैक्समूलर ने आपको होनहार समझकर आपका परिचय तत्कालीन प्रसिद्ध साहित्य सेवी माथ्यू ऑरनोल्ड, हक्सले, मिल, स्पेन्सर इत्यादि से करवा दिया। आपने हक्सले के व्याख्यान भी सुने और अत्यंत चाव से उनके लेख पढ़े। स्पेन्सर और मिल की फ़िलासफ़ी का आप पर बड़ा प्रभाव पड़ा और कुछ दिन तक आपकी चित्तवृत्ति अनीश्वरवाद की ओर रही, किंतु समय ने आपके विचारों में घोर परिवर्तन कर अंत में आपको सच्चा वेदांतवादी आस्तिक बना दिया।" 23 वर्ष की अवस्था में भारत लौटे। भारत आने पर "आपने विधिपूर्वक प्रायश्चित ग्रहण किया।

''बिशननारायण दर विद्याव्यसनी थे। लखनऊ के 'एडवोकेट' पत्र के ये प्रथम संपादक थे और ''आपकी दो छोटी पुस्तक 'समय के चिह्न' और 'आज़मगढ़ गऊहत्या विप्लव' अत्यंत प्रसिद्ध और सराहनीय हैं। ये उर्दू के आचार्य थे और उर्दू में उच्चकोटि के गद्य और पद्य की रचना किया करते थे। 1911 ई0 में कलकत्ते की कांग्रेस में ये सभापति निर्वाचित हुए।''

उर्दू भाषा का उस समय क्या क्रेज़ था, यह त्रिलोचन शास्त्री के एक साक्षात्कार (पक्षधर वार्ता, सं0 विनोद तिवारी, जनवरी-अप्रैल, 08) से पता चलता है। शास्त्री जी बताते हैं कि ''मैं मुड़िलाडीह प्राइमरी पाठशाला का विद्यार्थी था। वहीं उर्दू को मैंने पढ़ना शुरू किया।'' उर्दू पढ़ना क्यों शुरू किया? इसकी कथा वे बताते हैं कि ''मेरे घर के बगल में एक दादा जी ने मुझसे पूछा कि 'उर्दू पढ़त हौ कि हिन्दी?' तो मैंने उन्हें बता दिया कि मैंने हिन्दी में नाम लिखाया है। इस पर उन्होंने कहा कि 'अच्छा किये ह, पराये घर जाए के बा।' बालक त्रिलोचन बात समझ नहीं पाये। 'दादी से यह बात कही। दादी ने कहा,' लड़कियों के पढ़ने वाला विषय हिन्दी तुम पढ़ रहे हो।' दादी ने यह भी कहा कि उर्दू पढ़ना अच्छा है हिन्दी से। 'अवध प्रांत के एक गाँव में उर्दू पढ़ना अच्छा समझा जाता था। बिशननारायण दर का उर्दू का आचार्य होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, किंतु उर्दू का विद्वान होकर बाद में उसी का विरोध करना कुतूहल पैदा करता है।

19वीं शती के अंतिम दशक में उभरे गोरक्षा आंदोलन पर मुकम्मल प्रकाश वीरभारत तलवार ने अपनी पुस्तक 'रस्साकशी' में डाला है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों ने अपने समय के मुसलमानों के साथ जो कुछ किया, वही काम अब हिन्दू संगठन अत्यधिक घिनौने रूप में कर रहे हैं। गोरक्षा आंदोलन से संबंधित सभी ख़बरें हिन्दी पत्र-पत्रिकओं में प्रमुखता से छपती थीं। वीरभारत जी ने लिखा है—''1892-93 में गोरक्षा के मुद्दे पर बड़े पैमाने पर हिंसक दंगे हुए, जिनकी मिसाल पूरी 19वीं सदी में दूसरी नहीं मिलती। सनातनी संस्थाओं और आर्य समाज के संगठित प्रयत्नों से ये दंगे हिन्दी-उर्दू प्रदेश से बाहर भी फैल गये। सबसे भयानक दंगे भोजपुरी इलाक़े में यानी पश्चिमोत्तर प्रांत के पूर्वी हिस्सों और उससे सटे बिहार के ज़िलों में हुए, जहाँ शुरू से आर्य समाज का प्रभाव कम था और सनातनियों का ज़्यादा; जैसे आज़मगढ़, मऊ, बलिया, शाहाबाद, ग़ाज़ीपुर इत्यादि। आंदोलन इतना व्यापक हुआ कि पहली बार उसमें जाति और वर्ग की सीमाएँ टूट गयीं। हिन्दुओं के सभी वर्गों, सभी जातियों ने उसमें भाग लिया, हालाँकि नेतृत्व राजपूतों, भूमिहारों और ब्राह्मणों के हाथों में रहा।''

(2)

नवजागरणकालीन पत्र-पत्रिकाओं के अधिकांश लेख ईसाई-मुस्लिम विद्वेष से भरे पड़े हैं। अभ्युदय प्रेस, इलाहाबाद से नवंबर, 1910 से 'मर्यादा' का प्रकाशन शुरू हुआ। यह कट्टर हिन्दूवादी मासिक पत्र था, लेकिन इसके उद्देश्य (?) बड़े उच्च थे। पाँच साल पूरे होने पर जनवरी, 1915 में 'हमारा नया वर्ष' शीर्षक से संपादकीय में लिखा—''मर्यादा का एकमात्र उद्देश्य राजनैतिक लेखों का प्रकाशन करना तथा राजनैतिक सिद्धांतों का प्रचार करना है... मर्यादा का उद्देश्य जनता में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृभाव की स्थापना तथा अत्याचारों की, चाहे वे सामाजिक, चाहे धार्मिक और चाहे सरकारी हों; विरोध करना है। मनुष्यों को मनुष्योचित और मनुष्य-प्राप्त अधिकार प्राप्त कराना इसका लक्ष्य है और इसी लक्ष्य की ओर वह बढ़ती रहेगी।'' बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो दशक की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक लेखों में ईसाइयों, मुसलमानों, स्त्रियों, दलितों और उर्दू भाषा के प्रति ज़हर उगला गया है।

20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में इलाहाबाद में एक भी प्रथम श्रेणी का हिन्दू कॉलेज न था। इसलिए हिन्दू नवयुवकों को ईसाइयों के कॉलेज में जाना पड़ता था। एक ईसाई कॉलेज में हिन्दू त्योहार पर अवकाश न करने पर वहाँ के ईसाई प्रिंसिपल को निशाने पर लेते हुए 'मर्यादा' नवंबर, 1911 में 'हा हिन्दू जाति' नाम से एक संपादकीय टिप्पणी छपी। कॉलेज के छात्र दीपमालिका के अवसर पर बोर्डिंग हाउस को दीपमाला से सुशोभित करना चाहते थे। यह 'ईसाई प्रिंसिपल' को पसंद नहीं आया और लड़के 'मन मसोस' कर रह गये। कॉलेज में देवोत्थान एकादशी को छुट्टी नहीं हुई। लड़कों ने हस्ताक्षर अभियान चलाकर छुट्टी के लिए प्रार्थनापत्र दिया। सफलता नहीं मिली। संपादक ने लिखा—''ईसाई कॉलेज ईसाई धर्म के प्रचार करने के ही लिए स्थापित होते हैं। उनके (छात्रों) सरल हृदयों में यह बात न बैठी कि हिन्दू उत्सवों की अवहेलना कर, उस पर से हिन्दू बालकों की येन-केन-प्रकारेण श्रद्धा मिटाना भी ईसाई कॉलेज का एक कर्तव्य है। हमारे भोले-भाले नवयुवकों ने यह नहीं समझा था कि ईसाइयों के कॉलेज में पढ़कर उनकी नींव को पुष्ट करने के पाप के प्रायश्चित में उन्हें अपने धर्म को इस प्रकार तिलांजलि देना पड़ेगा।'' 'पतित पावन यमुना के तट पर' देवोत्थान एकादशी के दिन कॉलेज में कक्षाएँ चलीं। उस दिन 200 छात्र (छात्राएँ नहीं ?) कॉलेज नहीं गये... सौभाग्य से हमारे धर्मभीरु धर्मप्राण हिन्दू जाति की लाज रखने वाले प्रायः सभी बालक नहीं गये।'' इस पर प्रिंसीपल ने सभी छात्रों का नाम काट दिया और कहा, 'अगर फिर से पढ़ना चाहते हैं, तो नाम लिखाई देकर पढ़ सकते हैं।' संपादक प्रश्न करते हैं कि प्रिंसीपल ने ऐसा क्यों किया? और स्वयं उत्तर देते हैं—''क्योंकि वह जानता है कि कोई ऐसा कॉलेज नहीं है, जहाँ पर 200 लड़के एक साथ एक वर्ष के बीच में भरती हो सकें; क्योंकि वह जानता है कि दफ़्तर की बाबूगीरी ही जिनके जीवन का प्रधान उद्देश्य है, वे पढ़ना नहीं छोड़ सकते और झख मार उन्हें उसके पैरों पड़ना होगा, क्योंकि वह जानता है कि बी0 ए0, एम0 ए0 होने से ही जिन्हें रोटी मिल सकती है, उन्हें उसके कॉलेज में विवश हो जाना ही पड़ेगा; क्योंकि

वह जानता है कि उनके दुर्भाग्य से उनका कोई हिमायती नहीं है और सबसे ज़्यादा क्योंकि वह जानता है कि जिनकी यह दशा है, उनमें अभिमान, धर्म या किसी बात का स्थायी संकल्प नहीं रह सकता है। हा हिन्दू जाति!" आश्चर्य होता है, सैकड़ों वर्ष ईसाइयों ने इस देश पर शासन किया, मुस्लिमों ने किया, किंतु आज भी, देश में सबसे अधिक हिन्दू ही हैं। अगर ईसाई/मुसलमान धर्म परिवर्तन कराने पर ही तुल गये होते, तो इस देश का क्या स्वरूप होता? नवजागरणकालीन लेखकों/संपादकों ने 'हा हिन्दू जाति' चिल्लाकर जो विलाप किया है, 'हमारा कोई हिमायती नहीं' कहकर रोया-धोया है, लगता है उसी को सुनकर हिन्दू संगठन देश में सांप्रदायिक दंगा भड़काने में लगे हुए हैं।

हमारे यहाँ होली-दीवाली पर अगर बिजली नहीं आती है, तो हिन्दू चिल्लाने लगते हैं और कहते हैं—"अगर मुसलमानों का त्योहार होता, तो बिजली नहीं कटती।" यही सोच 'मर्यादा' संपादक में भी था। कॉलेज में अवकाश न होने पर लिखा—"यही बर्ताव अगर आज हमारे मुसलमान बालकों के साथ किया जाता, यदि उन्हें ईद या बक़रीद या कोई भी मुसलमानी छुट्टी न दी जाती, तो आज दिन देश में एक हलचल मच जाती, देश ही में क्यों विलायत में मुस्लिम लीग के नेता ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिला देते, क्योंकि यह कोई साधारण बात न थी। यह प्राणों से भी प्यारे धर्म पर आघात था। किंतु हम निर्जीव हैं, हममें शक्ति नहीं है, हमारे नेता नहीं हैं, हमारा कोई कॉलेज नहीं है और हमारी हिन्दू महासभा मालूम नहीं किस पाताल पुरी में पड़ी है। हमारे 200 नवयुवक एक ईसाई प्रिंसीपल के कहने से अपने धर्म पर कुठाराघात न करने के कारण मारे-मारे फिरा किये, उन्हें कोई आश्वासन देने वाला न था, न उनकी सहायता ही कोई करने वाला था। धिक् हिन्दू जाति। तेरा सर्वनाश हो गया। तेरे नवयुवक धर्म में प्रीति रखने के लिए एक कॉलेज न बना सके?" इस टिप्पणी में संपादक ने ईसाई कॉलेज की जमकर निंदा की है। आज भारत के सारे ईसाई शैक्षणिक संस्थानों की स्थिति यह है कि हर मज़हब का विद्यार्थी उसमें प्रवेश पाना चाहता है। कारण—शिक्षा का बेहतरीन संचालन, ईमानदारी, अनुशासन, भ्रष्टाचार से मुक्ति, उच्च गुणवत्ता और मेहनती शिक्षक।

ईसाइयों में सेवा-भाव बहुत होता है। गंदगी से नाक-भौं सिकोड़ने वाले नहीं, गू-मूत तक साफ़ करते हैं। ग़रीब, अनाथ, असहाय, भूखे उनकी इस सेवा से उनकी तरफ़ खिंचे चले जाते हैं। 'मर्यादा' मार्च, 1914 में एक संपादकीय टिप्पणी हमीरपुर ज़िले के दो अनाथों को लेकर है। संयुक्त प्रांतीय व्यवस्थापक कौंसिल में "माननीय रामशंकर सहाय ने पूछा कि क्या यह सत्य है कि हमीरपुर ज़िले के दो अनाथों को ज़िला मजिस्ट्रेट ने ईसाइयों को दे दिया है? यदि यह सत्य है, तो क्या ईसाइयों को देने के पहले इसका प्रयत्न किया गया कि वे हिन्दू अनाथालयों में भेज दिये जाएँ? और यदि ऐसा नहीं किया गया, तो क्या गवर्नमेंट उन्हें अब हिन्दू अनाथालयों में भेजने का प्रबंध करेगी?" इस प्रश्न का उत्तर गवर्नमेंट की ओर से मि0 बर्न ने दिया—"सितंबर, 1913 में दो अनाथों को मजिस्ट्रेट ने कुलपहाड़ तहसील के ईसाइयों को दे दिया था। ज़िले में कोई हिन्दू अनाथालय न था। इसलिए, वे हिन्दुओं को न दिये जा सके।... भविष्य में मजिस्ट्रेट अनाथों को जातीय अनाथालयों में भेजा करेंगे।" हिन्दू अनाथालय न थे, इस तरफ़ हिन्दुओं का ध्यान गया और भारतीय नरेशों ने तमाम हिन्दू अनाथालय खोले। बनारस में भी राजा भिनगा ने अनाथालय खुलवाया। भिनगा नरेश के शरीरपात पर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"आप बड़े उदाराशय और दानी थे। क्षत्रियों की शिक्षा के लिए लाखों रुपये आपने ख़र्च किये। बनारस में उनके लिए एक हाईस्कूल खोला।....क्षत्रियों के सैकड़ों लड़के आपकी बदौलत शिक्षा पा रहे हैं।...आप हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के बड़े पक्षपाती थे। कई एक उपयोगी पुस्तकें आपकी सहायता से प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी प्रचार के लिए आपने हजारों रुपये दे डाले।"

मि0 बर्न का उत्तर संपादक, 'मर्यादा' को संतोषजनक नहीं लगा। उन्होंने हिन्दुओं को ललकारा कि ईसाइयों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ो—"हमीरपुर के ज़िला मजिस्ट्रेट के इस अनुचित कार्य को गवर्नमेंट उदासीनता से नहीं देख सकती; उसे उचित है कि वह उन अनाथ बालकों को ईसाइयों के पंजे से छुड़ाकर हिन्दुओं को समर्पित कर दे। बिना इसके हिन्दुओं को कदापि संतोष नहीं होगा। आशा है कि हिन्दू भी अपने बालकों को वापस लेने के लिए डटकर आंदोलन करेंगे।"

(3)

'अभ्युदय' ऐसे क़ानून की निंदा करता है, जिसमें ईसाईयत की बू आती है।"

ब्रिटिश गवर्नमेंट ने हिन्दू विधवाओं की आर्थिक तंगी को दूर करने के लिए एक क़ानून बनाया। 'अभ्युदय' ने इसकी जमकर भर्त्सना की। 'अभ्युदय' की 45वीं संख्या में छपा है—"हिन्दू विधवा, यदि वह पुनर्विवाह कर ले, तो अपने पति की जायदाद से हाथ धो बैठती है, किंतु यदि वह मुसलमान या ईसाई होकर फिर विवाह करे, तो पति की जायदाद पर उसका अधिकार बना रहता है और वह उसकी स्वामिनी बन सकती है।" इस पर 'अभ्युदय' ने हिन्दी समाज से निवेदन किया—"हिन्दू भाइयों को इस ओर ध्यान देना चाहिए, नहीं तो इस क़ानून के सहारे मुसलमान और ईसाइयों को हिन्दुओं की संख्या कम करने का अधिक अवसर मिलेगा, साथ ही साथ जायदाद का लालच उनके लोभ को बढ़ाने में भी सहायक होगा।" हिन्दू विधवा को हिन्दू समाज अपनी सनातनी सोच में ही रहने देना चाहता था। विधवा को ये लोग कहाँ

अधिकार देने के पक्ष में नहीं थे। जो व्यवस्था बना दी गयी थी, उसी के पालन में उनका दृढ़ विश्वास था।

'मर्यादा' मई, 1914 में सहारनपुर की एक विधवा की कहानी कुछ यों छपी है—''सहारनपुर में एक तरुणी निःसंतान विधवा रहती थी। उसका नाम था, पार्वती। उसके पास 300 रुपये मासिक आय की जायदाद थी। परलोक के सुख के लिए वह उससे एक मंदिर और कुआँ बनवाना चाहती थी। एक मुसलमान ख़ाँ साहब ने झगड़ा उठाया, मुक़दमा चला और पार्वती की जीत हुई। ख़ाँ साहब ने जजी में अपील की। इसी बीच में पार्वती ने मुसलमान धर्म स्वीकार कर एक मुसलमान के साथ निकाह पढ़ा लिया और मुक़दमे से दस्तबरदारी दाख़िल कर दी। इस पर पार्वती की सास ने दरख़ास्त दी कि 'मेरी पतोहू ने दूसरा धर्म स्वीकार कर लिया, अब उसका हक़ जायदाद पर नहीं रहा और ऐसी अवस्था में उसे दस्तबरदारी दाख़िल करने का अधिकार नहीं।' जजी से सास की जीत हुई। अपील होकर मुक़दमा हाईकोर्ट में आया। मुक़दमे का फ़ैसला हुआ कि ''दूसरा धर्म स्वीकार करने से पार्वती का जायदाद पाने का हक़ रद्द नहीं हो सकता।'' यह टिप्पणी 'क़ानून मुसलमान या ईसाई होने को कहता है' शीर्षक से छपी थी। अंत में संपादक ने चिर-परिचित शैली में लिखा—''क्या यह क़ानून साफ़-साफ़ पुनर्विवाह करने वाली विधवाओं को मुसलमान या ईसाई होने के लिए उत्तेजित नहीं करता? हिन्दुओ, सोचो, समझो और इस क़ानून में उलटफेर कराओ।''

कोई भी इन्सान अपनी मरजाद, अपने धर्म में ही रहना चाहता है। वह धर्म-परिवर्तन क्यों करता है—इस पर भी बहस होनी चाहिए। हिन्दू धर्म के जो सड़े-गले मत हैं, विचार हैं—वह कितना वीभत्स है—यह बात हीरा डोम ने 'अछूत की शिकायत' में व्यक्त की है। वह भी धर्म-परिवर्तन करना नहीं चाहता, लेकिन हिन्दुओं ने मजबूर कर रखा है—'पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजां/ बेधरम होके रंगरेज बनि जाइबि/ हाय राम धरम न छोड़त बनत बाजे/बेधरम होके कइसे मुंहवां देखाइबि।'

स्त्री-अधिकार के लिए जितने क़ानून ब्रिटिश हुकूमत ने बनाये, उन सबका सनातनधर्मियों, नवब्राह्मणवादी विचारकों, कट्टर हिन्दुओं द्वारा ज़बरदस्त विरोध किया गया। इतिहासकार चारु गुप्ता (विस्तार के लिए 'तद्भव-18' देखें) ने बाल विवाह से संबंधित बंगाल की 10 वर्षीय फूलमणि के बारे में बताया है कि 35 वर्षीय पति हरिमोहन मैती के साथ संभोग के दौरान् उसकी मौत हो गयी।

(4)

जस्टिस पिग्गट की अध्यक्षता में मई, 1913 में संयुक्त प्रदेश की सरकार ने प्रारंभिक शिक्षा पर विचार करने के लिए सरकारी और ग़ैर-सरकारी बारह व्यक्तियों की एक समिति बनायी। जब इसने अपनी रिपोर्ट पेश की, तो हिन्दी पत्रों में इसकी तीखी आलोचना हुई। इसी रिपोर्ट पर आधारित बालमुकुंद वाजपेयी ने 'युक्त प्रदेश में प्रारंभिक शिक्षा' नाम से 'मर्यादा' के फ़रवरी और मार्च, 1915 के अंकों में सत्रह पृष्ठ का लेख लिखा। जस्टिस पिग्गट की रिपोर्ट ने प्रारंभिक शिक्षा विषयक अपना निर्णय नौ भागों में विभक्त किया था : 1. प्रारंभिक पाठशालाओं का गठन तथा स्थापन 2. प्रारंभिक शिक्षकों का वेतन और विधान 3. प्रारंभिक शालाओं का पाठ्यक्रम 4. विशेष जातियों या वर्गों की शिक्षा 5. पाठशाला-भवन तथा स्वास्थ्य-विधान 6. सहायताप्राप्त तथा स्वतंत्र पाठशालाएँ 7. प्रारंभिक बालिका पाठशालाएँ 8. निरीक्षण और नियंत्रण 9. आर्थिक तथा सर्वव्यापी।

उपर्युक्त निर्णयों को उद्धृत करने के बाद बालमुकुंद वाजपेयी ने लिखा—''इन नौ में तीसरे और चौथे मंतव्य पर इस लेख में विचार करना है।''यानी पाठ्यक्रम तथा जातियों या वर्गों की शिक्षा पर। पाठ्यक्रम में क्या पढ़ाना है, किस भाषा द्वारा पढ़ाना है—यही सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न था। पाठ्यक्रम को तीन उपभागों में विभक्त कर विचार किया गया था—'क. शिक्षणीय विषय और प्रणाली, ख. पाठ्य-पुस्तकों की भाषा और लिपि, ग.नैतिक और धार्मिक उपदेश।' पाठ्यपुस्तकों की भाषा और लिपि के संबंध में लिखा है—''ईश्वर की कृपा से हमारे विपक्षियों ने अभी तक लिपि के संबंध में कोई आपत्ति नहीं उपस्थित की है। भाषा का ही झगड़ा चल रहा है और यह क्रमशः उग्र रूप धारण करता जा रहा है और जब तक सरकार पक्ष विशेष के अनुचित हठ को प्रश्रय देती रहेगी, तब तक यह विवाद निपटने वाला नहीं है। झगड़ा मिटे कैसे, हिन्दी भाषा पढ़ने के लिए अपने लड़के प्रारंभिक पाठशालाओं में भेजते हैं, वहाँ ईश्वर के बदले उन्हें खुदा पढ़ाया जाता है। यदि हिन्दू इस पर आपत्ति करते हैं, तो किसी प्रकार से भी वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते। परंतु, आर्य बालकों को 'खुदा' पढ़ाने के लिए आकाश-पाताल एक करना दुराग्रह नहीं तो क्या है? 'इंडियन प्रेस', 'पहली किताब', 'पहला हिस्सा' मेरा एक पुत्र इन दिनों पढ़ता है और इसके छठे पन्ने में पाँचवें पाठ 'मेह' के अंत में लिखा हुआ है—'मेह हमारे लिए खुदा बरसाता है।' क्या एक भी हिन्दू ऐसा मिलेगा, जो स्वीकार करने को तैयार हो कि मेरी भाषा यही है? परंतु युक्त प्रदेश के प्रधान शासक के विचार से शिक्षित हिन्दुओं की यही भाषा है और इसी भाषा की शिक्षा हिन्दू बालकों को दी जानी आवश्यक है।'' वाजपेयी जी की दृष्टि में मुसलमान विपक्षी थे, हिन्दुओं के कट्टर दुश्मन। यहाँ हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करना बेमानी है।

औपनिवेशिक शासन जनता को 'सामान्य तथा सरल भाषा द्वारा प्रारंभिक शिक्षा दिये जाने के सिद्धांत' का प्रबल समर्थक था। भारत सरकार ने युक्त प्रदेश सरकार को 13 जून, 1876 के पत्र में लिखा था—''इस प्रांत के शिक्षित वर्ग की भाषा एक ही है, चाहे

वह नागरी लिपि में लिखी जाए, चाहे फ़ारसी लिपि में।" सरकार प्रारंभिक पाठशालाओं की उर्दू और हिन्दी रीडरें नित्य बोलचाल की भाषा में लिखे जाने के पक्ष में थी, न कि साहित्यिक भाषा में। साथ ही, बालकों को ऐसी शिक्षा देने के पक्ष में थी, "जो उन्हें सांसारिक कर्त्तव्य पालन करने के लिए विशिष्ट तथा सुसज्जित कर सके, जिससे उनकी मेधा शक्ति पर स्थायी प्रभाव पड़े।"

मुस्लिम संस्कृति एवं उर्दू भाषा का भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव था। रामचंद्र शुक्ल के जीवनीकार चंद्रशेखर शुक्ल बताते हैं कि शुक्ल जी के पिता चंद्रबली शुक्ल उर्दू भाषी भद्र वर्ग की मुस्लिम सामाजिक संस्कृति में पूरी तरह रँगे हुए थे। ईश्वर श्रेष्ठ या ख़ुदा के चक्कर में इन हिन्दीवादी साहित्यकारों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता में बाधा डाली। हिन्दू कायस्थ और काश्मीरी धड़ल्ले से उर्दू में बातचीत करते थे। यह बात सनातनधर्मियों को अरुचिकर लगती। बालमुकुंद वाजपेयी ने लिखा है—"जिन थोड़े से कायस्थ और काश्मीरी हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा उर्दू मानी जा सकती है, वे भी इतने नहीं बह गये हैं कि भगवान व ईश्वर के स्थान में वे ख़ुदा बोलने लग गये हों और जिस दिन ईश्वर का स्थान ख़ुदा ग्रहण कर लेगा, उस दिन हिन्दू समाज में उनका भी मान न रहेगा।" हक़ीक़त तो यह थी कि 'हिन्दुस्तानी' ही संयुक्त प्रांत के शिक्षित समुदाय की सर्वमान्य भाषा थी।

'भारत मित्र' की भाषा उर्दू-फ़ारसी मिश्रित थी, जिसे पं० श्रीधर पाठक पसंद करते थे। किंतु, महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक पत्र से ज्ञात होता है कि बाद में वे उर्दू मिश्रित हिन्दी के विरोधी हो गये। 29 अप्रैल, 1906 को लिखे गये उस पत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"'सरस्वती' में कुछ लेख जान-बूझकर उर्दू मिश्रित भाषा में लिखे जाते हैं। कारण यही है कि गवर्नमेंट इन प्रांतों की भाषा एक करना चाहती है। इसी से उर्दू और हिन्दी रीडरों की भाषा एक रखी गयी है। 'सरस्वती' का प्रचार मदरसों में बहुत है। अतएव कोई-कोई लेख मदरसों के लड़कों और मुदर्रिसों ही के लाभ के लिए लिखे जाते हैं। ठेठ हिन्दी या संस्कृत मिश्रित हिन्दी का आदर करने वाले बहुत कम हैं। यदि सरस्वती के खर्च का भार उनपर ही छोड़ दिया जाय तो उसका निकलना ही बंद हो जाय।" 'सरस्वती' को सँवारने, बनाने और आगे बढ़ाने में मुसलमानों की अहम भूमिका थी। फिर भी, भीमसेन शर्मा जैसे भी लोग थे, जो उर्दू को संस्कृत बना डालने के पक्ष में थे। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बताया है कि भीमसेन शर्मा पहले स्वामी दयानंद जी के दाहिने हाथ थे—"भाषा के संबंध में इनका विलक्षण मत था। 'संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति' नाम का एक लेख लिखकर इन्होंने अरबी-फ़ारसी शब्दों को भी संस्कृत बना डालने की राय बड़े ज़ोर-शोर से दी थी—जैसे दुश्मन को दुःश्मन, सिफ़ारिश को क्षिप्राशिष, चश्मा को चक्ष्मा, शिकायत को शिक्षायत्न, इत्यादि।" किसी समाज की भाषा एवं संस्कृति को ख़त्म करने की यह साजिश निंदनीय थी।

सरकार विशेष जातियों या वर्गों की शिक्षा के लिए 'विशेष स्कूल' खोलने के पक्ष में थी। चौथे मंतव्य में कहा गया कि—"उपस्थित दशा में साधारण बोर्ड स्कूलों द्वारा समाज के कुछ दलों का काम भली भाँति नहीं चल सकता।" इन दलों के लाभ के लिए इन उपायों पर विचार किया गयाः 1. आधे समय वाले या रात्रि स्कूल 2. विशेष जातियों या व्यापारों के लिए स्कूल 3. मुसलमानों के लिए विशेष स्कूल। प्रथम उपाय पर हिन्दुओं को कोई विरोध नहीं था, लेकिन दूसरे तथा तीसरे उपाय पर वे भड़क उठे।

सन् 1882-83 के शिक्षा कमीशन ने मुसलमानों की शिक्षा के लिए विशेष रूप से अनुरोध किया था, किंतु कमीशन के अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया गया। प्रारंभिक स्कूलों में हिन्दुओं की तुलना में उनकी दशा बदतर थी। उनकी दशा सुधारने के लिए ब्रिटिश सरकार कटिबद्ध थी। सरकार का यह प्रयास बालमुकुंद बाजपेयी को हजम नहीं हुआ—"क्या युक्त प्रदेश की सरकार का यही अभीष्ट है कि मुसलमानों की संख्या भले ही हिन्दुओं की चतुर्थांश या उससे भी कम हो, परंतु प्रारंभिक स्कूलों से उतने ही मुसलमान बालक लाभ उठावें, जितने कि हिन्दू बालक उठाते हैं? सार्वजनिक प्रारंभिक शालाओं में केवल मुसलमान बालक ही दिखायी पड़ें, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हैं। ईश्वर करे मुसलमान बालकों में विद्याभिरुचि इतना बढ़े कि एक भी मुसलमान बालक 'डिबिया दियासलाई' की आवाज़ लगाता हुआ राह घाट न दिखायी पड़े, परंतु सरकार उनके लिए अधिक सुविधा करे, इसका उसे कोई अधिकार नहीं।" अल्पसंख्यकों को अधिकार देने की बात जब-जब की गयी है, तब-तब हिन्दूवादियों ने उसका प्रबल विरोध किया है। आज भी केंद्र की सच्चर समिति की सिफ़ारिशों को हिन्दूवादी पचा नहीं पा रहे हैं। उनका कहना है कि यदि हम सत्ता में आये, तो उसे ख़त्म कर देंगे।

पिग्गट कमेटी ने मुस्लिमों के लिए विधान बनाया—"सर्वव्यापी व्यवस्था में मुसलमान समाज के लिए अनेक रक्षणोपायों (मि. हनंतकेद्ध का समावेश किया गया है। शिक्षक और निरीक्षक वर्गों में मुसलमानों के उचित सन्निवेश के लिए सुविधाएँ की जाएँगी। बोर्डों से कहा जाता है कि जिन स्कूलों में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, उनमें मुसलमान विद्यार्थी सुगमतापूर्वक प्रवेश कर सकें और उनके साथ उचित व्यवहार किया जाय।" यह एक लोकतांत्रिक व्यवस्था थी, जिसमें हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ अध्ययन करते, किंतु कट्टरपंथी हिन्दुओं को यह अनुचित लगा। सरकार ने यह भी उपाय बताया कि "जिस किसी गाँव या नगर में यथेष्ट मुसलमान नागरिक अंततः 20 लड़कों की उपस्थिति का ज़िम्मा लें, वहीं बोर्ड को विशेष इस्लामिया स्कूल खोल देना चाहिए और उसमें मुसलमान शिक्षक नियत किये जाएँ।" इस पर बालमुकुंद बाजपेयी सरकार से प्रश्न करते हैं—"सार्वजनिक धन से समाज विशेष के

बालकों की शिक्षा के लिए ये विशेष उपाय करने का सरकार को क्या अधिकार है? किस देश की रीति अथवा किस नीति के आधार पर यह व्यवस्था की गयी है? क्या यह सार्वजनिक द्रव्य का दुरुपयोग नहीं?''

बालमुकुंद वाजपेयी चौथे मंतव्य 'विशेष जातियों की शिक्षा' पर वे चुप हैं। लेकिन 'सरस्वती' चुप नहीं रहा। जुलाई, 1913 की 'सरस्वती' में 'शिक्षक' के नाम से एक लेख छपा है—'संयुक्त—प्रांत में प्रारंभिक शिक्षा की उन्नति।' यह 'शिक्षक' शायद महावीरप्रसाद द्विवेदी ही हों, क्योंकि 'महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली' के संपादक भारत यायावर ने बताया है कि वे छद्म नाम से भी लेख लिखा करते थे। जाति विशेष में शिक्षा-प्रचार के संबंध में 'शिक्षक' महोदय ने अपना मत यों प्रकट किया है—''शूद्रों की पढ़ाई का बंदोबस्त अवश्य होना चाहिए। जिनके हाथ का लोग पानी पीते हैं, उनको हर एक स्कूल में उसी प्रकार भरती करना चाहिए, जिस तरह अन्य जाति के बालक भरती किये जाते हैं। अछूत जातियों के लिए स्कूल में टाट अलग कर देना चाहिए। ऐसा कई स्कूलों में किया जाता है और इस पर कहीं भी लोगों ने किसी प्रकार का आंदोलन नहीं मचाया। जहाँ कहीं चमार, भर इत्यादि लोगों की बस्ती हों, वहाँ उनके लिए अलग स्कूल खोल दिया जाय! इसके लिए बजट में कुछ रुपया अलग कर दिया जाना चाहिए और जिस ज़िले के डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्ड ऐसे स्कूल खोलें, उसको इसमें से उचित धन-सहायता दी जाय।'' शिक्षक जी का यह क्रांतिकारी सुझाव था। धन्य हिन्दी जाति!!

बालमुकुंद वाजपेयी पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा देने के पक्षधर थे। वे 'पाठशाला धर्म-शिक्षा-समिति' के संगठन की बात करते हैं। एक लेख के अंत में अपने नेताओं और भाइयों से कहा—''...हिन्दू नेताओं का निःसंकोच होकर अपने जातीय हित के लिए प्रयत्नशील होना उचित है। यही हमारा बारंबार निवेदन है। राजनीतिक क्षेत्र में सहनशीलता से काम चलने के दिन स्वप्न हो गये। अब तो सदैव घूँसे के बदले लाठी मारने के लिए प्रस्तुत रहने की ही नीति श्रेयस्कर है।....हिन्दू भाइयो, अब मन ही मन बुदबुदाने से काम न चलेगा। यदि तुम्हारे नेता जिनके हाथों में तुमने अपना सर्वस्व छोड़ दिया है, कर्त्तव्यपरायण नहीं हैं, तो तुम्हें उचित है कि तुम स्वयं अपने भावों को, अपने हित की बातों को सरकार के कानों तक पहुँचाओ।....प्यारे भाइयो, उठो, जागो, चेतो अपना भला-बुरा समझो। तुम्हारी दशा बड़ी ही शोचनीय हो रही है, अब सोने का समय नहीं। तन,मन,धन से उद्योग करो, ईश्वर सहायक होगा।''

(5)

'मर्यादा' अक्तूबर, 1915। ब्रजमोहन वर्मा का लेख—'मुसलमानों की आश्चर्यजनक उन्नति'। वर्मा जी गत 50 वर्षों में मुसलमानों ने जो उन्नति की है, उसका वर्णन करते-करते सांप्रदायिकता पर उतर आते हैं। इन्होंने मुसलमानों की एकता का असली कारण धार्मिक कट्टरपन बताया है। इनका यह भी मानना है कि अंग्रेजी राज्य ने उन्नति करने का जो अवसर दिया है, उसका सबसे अधिक लाभ मुसलमान और ईसाइयों ने उठाया है। इस लेख में आगरा में हुए दंगे का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है कि कैसे हिन्दुओं पर अत्याचार हुए, कमसिन बालकों की जानें गयीं। सैकड़ों हिन्दुओं के घर लूट लिये गये। ब्रजमोहन जी ने सारा दोष देहाती मुसलमानों व कुंजड़ों-कसाइयों पर लगाया है। वर्मा जी को दुख है कि कमज़ोर व निर्बल हिन्दुओं की रक्षा के लिए कोई हिन्दू वकील आगे नहीं आया। पंडित बिशननारायण दर को आगरा पहुँचना चाहिए था, वे भी नहीं पहुँचे। ब्रजमोहनलाल वर्मा का उद्देश्य है कि ''हिन्दू उपद्रव करें व नेता उनको सहायता पहुँचावें...। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता का विरोध करते हैं—''यदि हिन्दू-मुसलमान एकता का प्रश्न तय भी हो जाय, तो भी मुसलमान जैसी संगठित जाति के साथ हमारी तितर-बितर जाति का कल्याण नहीं। कमजोर जाति की मौत है।''

'मर्यादा' नवंबर, 1915 में लक्ष्मीशंकर अवस्थी ने अपने एक लेख में लिखा—''हिन्दू समाज की वर्तमान शोचनीय अवस्था को देखकर कट्टर से कट्टर रूढ़िप्रेमी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसके संगठन और रीतियों में सुधार की आवश्यकता है। परंतु, सुधार कहाँ तक और किस प्रकार किया जाय, यही सारे प्रश्न का मर्मस्थल है और यहीं से विवाद आरंभ होता है। जिस समाज का दिन पर दिन शारीरिक और संख्या संबंधी ह्रास होता चला जाता है, जिसके सहस्रों मनुष्य प्रतिवर्ष ईसाई और मुसलमान बनते जाते हैं, जिस समाज में 17703 (1911 ई0 की मानव जनगणना के अनुसार) ऐसी विधवाएँ मौजूद हैं, जिनकी अवस्था 5 वर्ष से भी कम है, वह समाज किसी तरह स्वस्थ और बलिष्ठ नहीं कहा जा सकता।'' हिसाब लगाया कि ''जिस तेजी के साथ इस समय हिन्दुओं की संख्या घट रही है, उससे यदि यही दशा रही, तो 564 वर्ष में एक भी हिन्दू न रहेगा।'' आगे निवेदन करते हैं कि जो अछूत ''अज्ञान से या पेट की ज्वाला से स्वधर्म त्यागकर ईसाई या मुसलमान हो गये हैं, वे प्रायश्चित करने के अनंतर फिर हिन्दू समाज में ग्रहण कर लिये जाएँ।''

उर्दू के प्रति 'मर्यादा' संपादक की दृष्टि बड़ी ज्वलनशील थी। नवंबर, 1915 की संपादकीय टिप्पणी में दिसंबर मास के अंतिम दिनों में लाहौर में होने वाले 'सम्मेलन' के अधिवेशन का उल्लेख है। सभापति मदनमोहन मालवीय नियत किये गये थे। किंतु यह सम्मेलन लाहौर में हो न सका। यह प्रयाग में बाबू श्यामसुंदरदास के सभापतित्व में हुआ। संपादक की टिप्पणी देखें—''इस वर्ष सम्मेलन लाहौर में हो रहा है। आर्य भाइयों का गढ़ होते हुए भी यह उर्दू का केंद्र है। गत वर्ष हिन्दी ने उर्दू के क़िले लखनौ पर चढ़ाई

की थी, अब की वह लाहौर पर चढ़ रही है। सेनानियों और सिपाहियों को जय-जय करते हुए झंडे के साथ होना चाहिए। हिन्दी की विजय पर ही हमारी सब प्रकार की जीत अवलंबित है।''

ब्रिटिश गवर्नमेंट पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों के लिए जो भी विकास-कार्य करती, वह हिन्दूवासियों को चिंता में डाल देता और वे हो-हल्ला मचाने लगते। 28 अप्रैल, 1922 के 'आज' में 'पिछड़ी हुई जाति के लिए कालेजों में स्थान' शीर्षक से एक समाचार छपा है—''बंबई 24 अप्रैल।व्यावसायिक कालेजों में भर्ती होने के लिए अधिक संख्या में विद्यार्थियों के आने के कारण बंबई सरकार ने एक आज्ञा निकाली है, जिसमें भविष्य में प्रत्येक ऐसी संस्थाओं में 10 फ़ीसदी जगहें हिन्दुओं की पिछड़ी हुई जाति के प्रार्थियों के लिए और 10 फ़ीसदी मुसलमानों के लिए रक्खी जाएँगी।''

उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों के हिन्दी विभाग में पढ़ने वाले 90 प्रतिशत हिन्दू विद्यार्थी अल्पसंख्यकों से नफ़रत करने वाले होते हैं। असग़र वजाहत के अनुसार, ''हिन्दू सांप्रदायिक शक्तियों ने मुसलमानों के प्रति घृणा और हिंसा फैलाने को एक उद्योग में बदल दिया है। जीवन के सभी क्षेत्रों में परोक्ष या प्रत्यक्ष तरीक़े से यह ज़हर समाज की शिराओं में लगातार भरा जा रहा है।'' (हंस, अगस्त, 2003)।

हिन्दी विभाग, हिन्दी भवन, बी० एच० यू०, वाराणसी, 221005

कविता

कविताएँ

मन्नू राय

चाहत

चाहत...
नील गगन में उड़ जाऊँ...
छोड़ कर वह आशियाना
जो ज़िम्मेदार है
सहोदर से झगड़ने का।
छोड़कर वह धरा
जो ज़िम्मेदार है
महाभारत की
जहाँ सहस्रों ऋषियों ने
पायी मुक्ति।

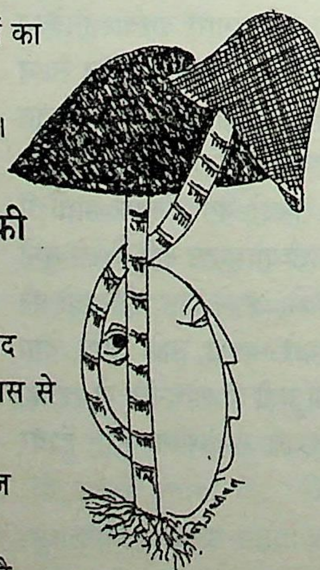
अफ़सोस....
परविहीन, आशियाना
छोड़ नहीं सकता
उड़ने में असमर्थ
माँ-पिता का स्नेह
पत्नी का प्यार
बहन की राखी का
प्रेम की वह डोर
सदा के लिए
जिसमें क़ैद।

इन्सानियत ज़िंदा है

रात उसने मन को सहलाया
कभी प्रार्थना से,
कभी भरोसे से
मन मेरे निराश न हो
इन्सानियत का सूर्य
अभी डूबा नहीं है
क्योंकि अच्छे लोगों का
पैदा होना
अभी रुका नहीं है।

किरण उम्मीद की

मेघ को देखकर
बँधी थी एक उम्मीद
धरा तृप्त होगी प्यास से
खेत में चलेंगे हल
सहेज कर रखें बीज
एक उम्मीद का
जिससे तय होता है
मेरा भविष्य
दो जून की रोटी का बंदोबस्त



मेघदूत की दया हुई
महीनों पानी बरसता रहा
फ़सल सारी डूब गयी
बच्चों के स्कूल में अवकाश
बाज़ार जाने को रहा नहीं
दो छटाँक अन्न को पकाने को
सूखी लकड़ी नहीं,
उपवास का क्रम जारी
भीगने से बच्चा बीमार
भैंस पड़वा को जन्मी
रूठ कर पत्नी चली गयी मायके
पुश्तैनी कच्ची मिट्टी
के खपरैले मकान
का गिरना, इसी क्रम में था,
जीवित था मैं, एक उम्मीद
की किरण लिये।

शोधछात्रा (साहित्य विद्यापीठ)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी
विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

यह घर और दुनिया के सैकड़ों घर

एकांत श्रीवास्तव

कहते हैं कि ज़िंदगी का सफ़र बहुत छोटा होता है, लेकिन इस छोटे-से सफ़र की कहानियाँ कितनी बड़ी-बड़ी होती हैं। दादी कहती थीं कि मूल नक्षत्र का बच्चा अपने माता-पिता को बहुत कष्ट देकर पैदा होता है और अपने जीवन में भी अधिक कष्टों और दुख-तक़लीफ़ों का सामना करता है। मैं भी मूल नक्षत्र में पैदा हुआ था। दिन शनिवार। समय आधी रात से ऊपर। मध्यप्रदेश का छत्तीसगढ़ अंचल (तब छत्तीसगढ़ एक अलग राज्य नहीं बना था। एक छोटा-सा कस्बा छुरा—घने जंगल—पहाड़ और छोटी-छोटी नदियों से घिरा। स्थान छुरा का राजमहल, जिसके एक छोटे-से हिस्से को मेरे पिता ने किराये पर ले रखा था। वे सरकारी नौकरी में थे। राजतंत्र कभी का ख़त्म हो चुका था, मगर उसके अवशेष बाक़ी थे। राजवंश के अपदस्थ लोग बाक़ी थे, जो अभी भी सामान्य जनता में राजा-रानी और राजकुमार कहे जाते थे। छुरा का वह महल भुतहा और मनहूस माना जाता था, क्योंकि राजवंश के एकाधिक राजा-रानियों ने वहाँ आत्म-हत्याएँ की थीं। ऐसा जनविश्वास था कि सूर्यास्त के बाद उनकी आत्माएँ महल में भटकती थीं। ऐसे भुतहा और मनहूस महल में मेरा जन्म और वह भी मूल नक्षत्र में। माँ मरते-मरते बचीं और पिता ने पंडित की हिदायत के अनुसार सत्ताइस दिनों तक मेरा चेहरा नहीं देखा। फिर देखा, तो काँसे के थाल में भरे सरसों के तेल में सर्वप्रथम मेरा प्रतिबिंब देखा, ताकि अपशकुन कट जाए। तब कहीं जाकर मैं उनकी गोद में आया। उस समय परिवार में माँ-पिता जी के अतिरिक्त अम्मा (दादी) थीं और मेरी बड़ी बहन, जो उम्र में मुझसे बस ढाई साल बड़ी थीं। ज्योतिषी ने मेरे बारे में कहा कि मूल नक्षत्र का बालक है। जीवन भर पिता को कष्ट देगा। स्वयं शनि की प्रबलता के कारण कष्ट भोगेगा। मगर वृहस्पति भी प्रबल है, अत: चिंता न करें।

मैं कमज़ोर था। बड़े जतन से माँ ने मुझे पाला—रुई के फाहों में। माँ को दूध अधिक दिनों तक नहीं आया, तब रुई के फाहे दूध में भिगोकर मेरे मुँह में रखा जाता।

यह पूर्व कथा मेरी दादी मुझे बताया करतीं, जब मैं कुछ बड़ा हुआ। तब से छुरा और उस महल के प्रति मेरी जिज्ञासा बढ़ती चली गयी। छब्बीस बरस बाद, जब मुझे अपने प्रिय मित्र नंदू की बारात का निमंत्रण छुरा जाने के लिए मिला, तब इन्कार का प्रश्न ही न था। एक पंथ, दो काज। मैं महल में गया, मगर तब वहाँ ऐसा कोई नहीं था, जो मुझे उन दिनों के बारे में बताता; जो माँ, पिताजी या दादी को पहचानता या महल के उस हिस्से के बारे में बताता, जहाँ हम रहते थे, जहाँ मेरा जन्म हुआ था। छब्बीस साल बहुत होते हैं। तब छुरा भी ऐसा नहीं रहा होगा और महल भी। मैंने महल की दीवार को छुआ, तो मन भीग गया। कोई कितना भी मनहूस कहे, अंततः यही वो जगह थी, जहाँ मैं इस दुनिया में आया था। पिता होते, तो घर लौटकर उन्हें यह सब बताता। पर, पिता तो हम सब को छोड़कर जा चुके थे और अब अंतरिक्ष में नक्षत्र बनकर झिलमिला रहे थे। जिस समय मैं महल में गया, उस समय रात थी—संयोग से। मगर, आकाश में तारे थे। क्या उस समय वे अंतरिक्ष से मुझे देख रहे होंगे?

0 0 0

छुरा के बाद पिता का स्थानांतरण सारंगढ़ हुआ और उसके बाद लैलूंगा—दादी बताती हैं। लैलूंगा में मेरे छोटे भाई अरुण का जन्म हुआ, जो मुझसे डेढ़ बरस छोटा है। मगर, मुझे अपने जन्म स्थान छुरा सहित इन दोनों जगहों की कोई स्मृति नहीं। मैंने जगहों, चीज़ों और चेहरों को जहाँ पहचानना शुरू किया यानी होश सँभालना, वह जगह नारायणपुर (बस्तर) थी—हरे जंगल, पहाड़, घाटियाँ, दूरस्थ आदिवासी इलाका—आंध्र की सीमा के क़रीब। शाल, शीशम, सागौन, आम, जामुन और महुआ के जंगल। ख़ूब बड़ा-सा सरकारी मकान। पीछे आँगन में तीन पेड़ थे—आम, अमरूद और काजू के। हम तीनों भाई-बहनों ने उन्हें बाँट लिया था। दीदी को आम का पेड़ पसंद था, जो कभी फलता नहीं था। हम उसे चिढ़ाते थे। जब नारायणपुर छूट रहा था, तब उसमें एक फल दिखा, तो वह ख़ुशी से लगभग चीख़ उठी। काजू का पेड़ मेरा था। अमरूद छोटे भाई अरुण का। अमरूद का पेड़ इतना ऊँचा व बड़ा था कि बाद में वैसा ऊँचा पेड़ आज तक कभी कहीं नहीं दिखा। वह बड़े-बड़े लाल अमरूदों से भरा रहता। हम अमरूदों को बिही कहते थे। पिता जब कार्यालय चले जाते और दादी भीतर कहीं सिलाई-बुनाई में व्यस्त होतीं, तब माँ चुपचाप साड़ी को लगभग लंगोट की तरह कसकर अमरूद के पेड़ पर बहुत ऊँचे तक चढ़ा करतीं और अमरूद तोड़-तोड़कर नीचे गिरातीं। हम तीनों भाई-बहन आँगन में

दौड़-दौड़कर अमरूद बीनते और एक जगह उन्हें इकटठा करते। हमारे मकान के दोनों तरफ दूसरे सरकारी मकान थे। लोग आसानी से माँ को पेड़ पर चढ़ा देख लेते। पिता के लौटने पर वे उन्हें बताते कि आपकी श्रीमती जी आज अमरूद के पेड़ पर चढ़ी थीं और माँ और पिता की बहस लगभग लड़ाई की तरह शुरू हो जाती। दादी साधी और शांत थीं। चुपचाप इस कमरे से उस कमरे में चली जातीं। हम बच्चे मूक श्रोतागण। अंत में माँ अपनी हार मानतीं और दोबारा कभी अमरूद पर न चढ़ने का वचन पिता को देतीं। झगड़ा ख़त्म होता और सब लोग खाना खाने बैठ जाते मगर, दोबारा अमरूद के पकने पर सूनी दोपहरों में वे पुनः पेड़ पर चढ़ जातीं। कुछ भय से और छुपकर खेले जाने वाले इस खेल में हम सबको मज़ा भी आता। पिता हमेशा नाराज़ तो होते, मगर अमरूद की धनिया-मिर्च वाली चटनी बड़े चाव से खाते।

काजू से लिपटी और आँगन की दीवार पर चढ़ी हुई चमेली भी थी। गर्मी के दिनों में हम बाहर सोते, तो पूरी रात चमेली की ख़ुशबू से महकती रहती। सुबह आँख खुलती, तो पूरा बिस्तर चमेली के नन्हे सफ़ेद झड़े हुए फूलों से भरा होता। प्रकृति मेरे जीवन में, मेरी चेतना में और बाद में मेरी कविता में इसी तरह दबे पाँव चली आयी।

घर के बाहर कुछ दूरी पर स्वीपर कॉलोनी थी। उसके सामने एक बहुत बड़ा और भयानक कुएँ जैसा गड्ढा था—छोटी तलैया जैसा बड़ा और चौड़ा—पूरा हाथी भी उसमें समा जाता। बरसात में वह पूरा भर जाता और रात भर मेंढकों की आवाज आती। स्कूल जाने के रास्ते पर घर के पास ही एक बड़ा और भुतहा बरगद था। हम बच्चे और वहाँ के आदिवासी ऐसा मानते थे कि उसमें किसी प्रेत का निवास है। बहुत ज़रूरी होने पर हम उसके पास से गुज़रते—भगवान का नाम लेते हुए। पास ही काजू का बगीचा था। हमारी दोपहरें वहीं लुका-छिपी का खेल खेलते हुए बीततीं। घर के एकदम सामने एक ऊँचा पीपल का पेड़ था। साँझ ढलते ही उस पर बगुले उतरते। उनके झड़ते पंखों से नीचे भूमि भर जाती और कलरव से आकाश। हम तीनों भाई-बहन उनकी तरफ़ देखकर हाथ हिलाते और बोलते—'बगुला, बगुला दूध दे।' फिर, अपने नाख़ूनों के सफ़ेद दाग़ को देखकर कहते कि बगुले ने हमें दूध दिया है। पूरा वातावरण दिन का हो या रात का—रहस्य रोमांच से भरा हुआ जान पड़ता। मोर तो आँगन में यूँ ही चले आते और घूम-फिर लौट जाते थे।

बाहर के संसार की अधिक स्मृति नहीं। वहाँ के मुड़िया-माड़िया आदिवासियों को उनकी वेशभूषा और आभूषणों को हम बच्चे बड़े कौतुक से देखते। वे आम और जामुन के टोकरे भरकर बेचने आते और माँ पूरा टोकरा ख़रीद लेतीं। कभी-कभी हम वहाँ के हाट में जाते, तो वहाँ चार, जामुन और मनिहारी की अनेक चीज़ों को जिज्ञासा से देखते।

पिता के कार्यालय की धुँधली-सी स्मृति है। उनके कार्यालय के बगल में एक शोरूम था, जहाँ वे हमें कौड़ियों से बने आभूषण और मिट्टी से बनी मूर्तियाँ दिखाने ले जाते। कार्यालय के सामने सड़क पार करने पर मुल्कराज की एक बड़ी किराने की दूकान थी। पिता जी सामान लेने जाते, तो हम उनके साथ जाते। कार्यालय और काजू के बगीचे के बीच एक बड़ा (शायद खेल का) मैदान था, जिसमें गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस आदि समारोह होते थे। उस मैदान में सीमेंट से भारत का नक्शा बना हुआ था। मैं ध्यान से देखता और नारायणपुर को उसमें चीन्हने की कोशिश करता। संपूर्ण भारत से वह मेरा प्रथम साक्षात्कार था। फिर, जब स्कूल जाना हुआ, तो पहली या दूसरी कक्षा में प्रथम पाठ में ही एक कविता थी—भारत माता। उस पृष्ठ पर कविता के साथ भारत का नक़्शा प्रकाशित था, जिसमें खुले बालों वाली एक सुंदर महिला लहराते आँचल वाली साड़ी पहने, मुकुट लगाये, हाथ में तिरंगा लिये खड़ी थी। वे भारत माता थीं। पहली बार मैंने कविता को देखा। कविता आज भी याद है :

लोट रहा सागर चरणों पर
सिर पर मुकुट हिमालय
जन्मभूमि हम सबको प्यारी
भारत माता की जय

मैं सोचता था कि भारत माता नाम की यह महिला कहीं रहती होंगी और बड़ा होने पर किसी दिन मैं उनसे ज़रूर मिलूँगा।

कभी-कभी दादी के साथ वहाँ के सरकारी अस्पताल में जाना होता, तो वहाँ का शांत माहौल बहुत आकर्षित करता। मुझे ताज्जुब होता। डॉक्टर-नर्स चुपचाप काम कर रहे हैं। मरीज़ चुपचाप आना-जाना कर रहे हैं। बहुत कम बातचीत। बहुत कम शोर। बस बीच-बीच में गौरैया की आवाज़। आवाज़ मनुष्य की पहचान है, मगर फ़िज़ूलखर्ची के लिए वह नहीं है। आवाज़ का अनुशासित प्रयोग हम अस्पताल में सीख सकते हैं। बहुत ज़्यादा भाषा शायद अपना अर्थ और सौंदर्य खो देती है। कभी-कभी चुप्पी सारी बहस और बातचीत पर भारी पड़ जाती है।

स्वीपरों की बस्ती घर के पास ही थी। अतः सुअर घर के आसपास ही घूमते रहते थे। पिता की शिकायत थी कि हम दोनों भाई टॉयलेट गंदा कर देते हैं। अतः सुबह चाय-पानी के बाद माँ हमें घर के बाहर थोड़ी दूर मैदान में चरौटे के पौधों के बीच बिठा कर आ जातीं। हम दोनों को वे एक-एक लाठी पकड़ाकर लौट जातीं। बड़े-बड़े सुअर हमारे उठने की प्रतीक्षा करते। वक़्त लगने पर वे हमारी तरफ़ बढ़ने का प्रयत्न करते, तो हम लाठी ज़मीन पर पटक-पटक कर 'हट-हट' कहते और उन्हें भगाते। फ़ारिग होते ही हम गिरते-पड़ते घर की दौड़ते। जान बची और लाखों पाये। सुबह-सुबह दिशा-मैदान का यह कार्यक्रम भी कम रोमांचक न था। हम ऐसे लौटते, जैसे जंग जीतकर आये हों।

एक बार हम तीनों भाई-बहन खिड़की पर चढ़कर बाहर गधों को देख रहे थे, जो 'ढेंचूँ-ढेंचूँ' की आवाज़ निकालते हुए घास चर रहे थे। पिता लंबे दौरे के बाद घर लौटे, तो उनकी आवाज़ सुनकर सबसे पहले बहन खिड़की के नीचे रखे पलंग पर कूदी। फिर छोटा भाई अरुण। मैं चौकोर जाली वाली खिड़की में दोनों हाथों की उँगलियाँ फँसाये खड़ा था। मैं बस एक हाथ ही निकाल पाया था। मुझे देर होते देख बहन ने मेरे दोनों पाँव खिड़की से नीचे खींच दिये और भाग गयी। मैं एक ऊँगली के सहारे लटक गया और ज़ोर से चीख़ा। पलंग तक मेरे पाँव नहीं पहुँच रहे थे। जब तक माँ-पिता और दादी सब दौड़कर आये तब तक उँगली कट चुकी थी। ख़ून से बिस्तर रँग गया। बस खाल के सहारे लटकी रही उँगली डॉक्टर की दवा और पट्टी से जुड़ तो गयी, मगर मुड़ी रहने के कारण वह टेढ़ी हो गयी। डॉक्टर ने कहा कि मामूली आपरेशन करना होगा, पर दादी तैयार नहीं हुईं। सरसों के तेल व सेंधा नमक की मालिश से उँगली को सीधा करने का जिम्मा दादी ने लिया। माह भर के प्रयत्न से उँगली सीधी तो हुई, पर पूरी तरह नहीं। आज भी यह उँगली उस दिन की स्मृति को ताज़ा कर देती है। एक निशान जन्म से हमारी देह पर बना होता है और दूसरा इस दुनिया में जीते और रहते हुए बनता है। केवल हस्ताक्षर, आवाज़ और चेहरे से ही व्यक्ति अलग नहीं होते, ये निशान भी हमें एक अलग पहचान देते हैं।

छोटे भाई अरुण की कलाई पर एक लहसुन जैसा काला दाग़ जन्म से है। पूछने पर माँ बहुत उदास होकर बताती हैं कि उनके युवा भाई की आकस्मिक मृत्यु हो जाने पर अरथी के उठने से पहले अंतिम विदा देते समय राख से उनकी कलाई पर माँ ने ऐसा ही निशान बना दिया था। वह आँख पोंछते हुए कहतीं—ये तुम्हारे श्याम मामा हैं बेटा। लौटकर मेरे पास आये हैं।

स्कूल की अधिक स्मृति नहीं। बस इतना याद है कि हम दोनों भाई खिड़की से बस्तों सहित कूदकर स्कूल से भाग आते और इधर-उधर जंगल तथा आम के बगीचों में घूमा करते। एक बार लकड़ी के सूने टाल से एक बहुत लंबा बाँस चुराकर हम बड़े श्रम से घर ले गये। उसका पहला सिरा मैंने पकड़ा और अंतिम छोटे भाई ने। माँ को पिछले आँगन के दरवाज़े से आवाज़ लगायी। माँ ने दरवाज़ा खोला, तो उनकी भृकुटि तन गयी। एक तो स्कूल से भागना, ऊपर से बाँस की चोरी। हमने कहा कि माँ, हम यह बाँस तुम्हारे कपड़े सुखाने के लिए लेकर आये हैं। अब यहाँ-वहाँ झाड़ियों पर कपड़े नहीं सुखाने पड़ेंगे। तुम कब से कह रही थीं, पर पिताजी को आँगन में तार बाँधने का वक़्त ही नहीं मिल रहा था। माँ का सारा क्रोध काफ़ूर। निहाल होकर उसने हमें गले से लगा लिया। बाद में, पिताजी की सहायता से वह बाँस आँगन में टाँग दिया गया और उस पर कपड़े सुखाये जाने लगें। बड़ा हुआ और अज्ञेय का कविता-संग्रह किसी पुस्तकालय में मेरे हाथ लगा—'ऐसा कोई घर आपने देखा है', तो नारायणपुर के उस घर की याद आ गयी।

एक बार हम भाई-हन स्कूल से लौटे ही थे कि हल्ला मचा कि रेस्ट हाउस में हेलीकाप्टर से राजा-रानी आये हैं। हम दौड़े-दौड़े रेस्ट हाउस पहुँचे, तो उन्हें देखकर बड़े निराश हुए। भारत स्वतंत्र हो चुका था और उनकी सत्ता छिन चुकी थी। वे रेस्ट हाउस के बरामदे में कुर्सियों पर बैठे हुए थे। नीचे झुंड की झुंड अपढ़ आदिवासी जनता बैठी-बैठी उन्हें निहार रही थी। न राजा-रानी कुछ बोल रहे थे, न नीचे बैठी जनता ही कुछ पूछ रही थी। से सादी वेशभूषा में थे। हम बहुत निराश हुए कि उनके पास कोई मोर-मुकुट न था, न सिंहासन, न अस्त्र-शस्त्र और न चमकदार राजसी वस्त्र। ये कैसे राजा रानी हैं! क्या दादी हमें झूठी कहानियाँ सुनाती हैं?

नारायणपुर में उन दिनों कोई टाकीज़ न था। बस कभी-कभी कठपुतली का खेल ज़रूर मैदान में रेस्ट-हाउस के सामने दिखाया जाता। हम भाई-बहन माँ, पिता जी और दादी के साथ जाते। पेट्रोमेक्स की रोशनी में कार्यक्रम शुरू होता। चादर और साड़ियों से बनाया हुआ छोटा-सा रंगमंच। मंच पर कठपुतलियों को हिलते-डुलते, चलते, नाचते और बात करते हुए हम बड़े कौतुक से देखते। बड़ा हुआ, तो कठपुतलियों पर बड़ी दया आयी कि उनकी अपनी कोई इच्छा नहीं, कोई स्वप्न नहीं। उनकी डोर दूसरों के हाथों में है। डोर खींचने से वे हँसतीं और डोर खींचने से रोने लगतीं। बड़ा हुआ, तो दुनिया की अनेक परतें उधड़कर सामने आयीं। मार्क्स को पढ़ा और जाना कि इस समाज में बहुत सारे लोग कठपुतलियों जैसा जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। उनकी डोर दिखायी नहीं देती, पर वह है। वे अदृश्य हाथ दिखायी नहीं देते, जो उन्हें नचाते हैं, पर वे हैं।

इसी बीच सबसे छोटे भाई का जन्म हुआ। घर में औरतों की भीड़-भाड़। गाना-बजाना। चाय-नाश्ता और दावत—सब कुछ हमारे लिए नया था। औरतें सोहर गातीं, तो हम किवाड़ से सटकर उन्हें सुनते। सबसे छोटे भाई को हम विस्मय से देखते और छूते थे। यह कौन? कहाँ से आया? बार-बार पूछने पर माँ झुँझला कर बतातीं—यह गुड्डू है, तुम्हारा छोटा भाई। बाज़ार से ख़रीदा है और मुस्कुराकर चौके की तरफ़ चली जातीं। हम तीनों भाई-बहन सोचते रहते और दादी अपना बड़प्पन निभाती हुई हमें बतातीं कि बहुत छोटे-छोटे बच्चों का एक बाज़ार कहीं होगा। माँ वहाँ से छाँटकर, मोलभाव करके इस गुड्डू को लायी होंगी।

0 0 0

फिर पिता का स्थानांतरण नारायणपुर से लगभग पाँच छह सौ किलोमीटर दूर हो गया—दुर्ग (मध्यप्रदेश) में। अब वह मायालोक छूट रहा था। सामान की पैकिंग की जाने लगी। बहुत सारा समान बाँट दिया गया। हमने माँ से पूछा कि हम लोग कहाँ जा रहे हैं और क्यों। माँ ने बताया। फिर मैंने अंतिम प्रश्न पूछा जिसका

उत्तर हृदय-विदारक था कि "क्या हम यहाँ फिर लौटकर आएँगे?" माँ ने कहा—"नहीं, कभी नहीं।" ओह! मेरी आँखों के सामने अंधेरा छा गया। तो ऐसा होता है जगहों और लोगों का छूटना। अब हम इस घर को, इस जगह को कभी नहीं देखेंगे। हमारे आम, काजू और अमरूद के पेड़ वहीं छूट रहे थे। हमारा लाया गया आँगन का बाँस छूट रहा था। काजू का बगीचा, मोर बगुले—सब कुछ। लौटते हुए हम उस घर की दीवार को, खिड़की-दरवाज़ों को छू-छूकर वापस लौटे और दूर तक पलट-पलट कर उसे देखते रहे। घर तो कुछ बोल नहीं सकता था। क्या उसका भी कोई मन होगा? मुँह होता, तो क्या हमें वह पुकारता—कि "मत जाओ, लौट आओ।" मुँह नहीं तो क्या, मन तो उसका ज़रूर होगा।

"मन ही मन वह हमें ज़रूर पुकार रहा होगा न माँ?"

"हाँ", माँ ने कहा। मोड़ पर ओझल होने से पहले हमने उसे आख़िरी बार उसे जी भरकर देखा। लौटते हुए हम बस में खिड़की के क़रीब बैठे। मोड़दार रास्तों और घाटियों से बस गुजरती रही—घने जंगलों के बीच। तेज़ हवा खिड़की से भीतर आ रही थी। क्या इस हवा में उस घर की ख़ामोश पुकार होगी? अंततः ऊब और थकान भरी लंबी बस-यात्रा ख़त्म हुई। हम शहर पहुँच गये। मुक्तिबोध को बहुत बाद में बाद में पढ़ा—'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं...'

(आधार प्रकाशन से शीघ्र प्रकाश्य लेखक की पुस्तक 'मेरे दिन मेरे वर्ष' का प्रथम अध्याय।)

द्वारा-श्रीमती मंजुला श्रीवास्तव
एल.आई. सी. ऑफ इंडिया, सी.बी.ओ.-21 चतुर्थ तल,
हिन्दुस्तान बिल्डिंग एनेक्सी, 4, चित्तरंजन एवेन्यू
कोलकाता-700072 (पं. बंगाल)
फोन0- 033-25326495 (आवास)
मो0 09433135365

लघुकथा

जनाबे मोहतरम की मेहरबानी

राकेश 'चक्र'

माल रोड पर चहल-पहल थी। ओक और देवदारों पर बैठे पक्षी भी नए-नए स्वरों में गीत गाकर तन-मन में स्फूर्ति भर रहे थे। शाम ढल रही थी, सूर्य का सुनहरा प्रकाश वृक्षों से छनकर कोतवाली परिसर में चित्ताकर्षक चित्र बना रहा था। ड्यूटी पर तैनात कमज़ोर संतरी दो लोगों से बातें करने में मशगूल था।

यकायक माल रोड पर कोतवाल की गाड़ी रुकी। संतरी सतर्क हो गया तथा कोतवाल अपने हमराहियों के साथ एक संभ्रांत से दिख रहे व्यक्ति को लिए अपने कक्ष की ओर आये।

उस व्यक्ति के मुख से 'जनाबे मोहतरम' शब्द निकला ही था कि कोतवाल ने भरभराता हुआ एक चाँटा गाल पर जड़ दिया। सुर्ख निशान उभर आए। और कहा, "साले! मेहरबानी माँगता है।" वह व्यक्ति बेइज़्ज़त होकर खामोश हो गया। गाल पर उभरे निशानों को बार-बार सहलाता रहा।

पास में खड़े हमराही इस अप्रत्याशित घटना को देखकर अकबका गए। हमराहियों में एक महिला आरक्षी परवीन भी साथ थी। उसने कोतवाल की ओर इशारा करते हुए कहा "साहब ! आप बुरा न मानें, तो एक बात कहूँ।"

'हाँ! हाँ! कहिए !'

'सर ! आप 'जनाबे मोहतरम' का अर्थ गलत समझे, इसका अर्थ होता है मान्यवर, महोदय आदि....। ये कोई चोर-डकैत थोड़े ही हैं, इन्हें तो आप कुछ मालूमात करने के लिए लाए हैं....।'

"ओह ! परवीन ये तो अनर्थ हो गया।"

"सर ! इसी कारण से शरीफ इंसान भी पुलिस से घृणा करता है।"

कोतवाल सच सुनकर इतना शर्मिंदा हुआ कि जनाबे मोहतरम से आँखें भी न मिला सका।

90-बी, शिवपुरी, मुरादाबाद-244001 (उ0प्र0)

यगाना चंगेज़ी की ग़ज़लें

(बीसवीं सदी में ग़ज़ल को नया मिज़ाज और ठेठ भारतीय लहज़ा देने वाले शायर चंगेज़ी का व्यक्तित्त्व ख़ासा विवादास्पद रहा है। अपनी कही हुई हर बात को सच समझने वाला यह बाँका शायर ज़िंदगी भर परंपरावादी साहित्यकारों, शायरों और धर्म के ठेकेदारों से लड़ता रहा। विचारों की इस लड़ाई में अकेलेपन का दुख उठाने और बेइज़्ज़त किये जाने के बावजूद यगाना चंगेज़ी ने किसी से समझौता नहीं किया। खुद से और अपने ख़ुदा से भी नहीं। ख़ुदाओं से तो उसका जनम-जनम का वैर था।

यगाना उर्दू के पहले ऐसे शायर हैं, जिन्होंने उर्दू ग़ज़ल को फ़ारसी परंपरा से निकाल कर भारतीय परंपरा में ला खड़ा किया और इसे मर्दाना लहज़ा दिया, जो बाद में नयी उर्दू ग़ज़ल का मिज़ाज बन गया। पाठकों के लिए उनकी कुछ ग़ज़लें प्रस्तुत हैं।)

(1)

किसके दम की रोशनी दुनिया-ए-आबो-गिल में है
कौन सा सह्‌रानशीं हसरत-सरा-ए-दिल में है।
सैकड़ों मंजनूँ सिफ़त, आवार-ए-सह्‌रा हुए
रू-ए-लैला जिस तरह महफ़िल में था, महफ़िल में है।
बाज़ आ, साहिल पे ग़ोते खाने वाले, बाज़ आ
डूब मरने का मज़ा दरिया-ए-बेसाहिल में है।
गर्मरफ़्तारी पे गुमराहों को क्या-क्या नाज़ है
कौन समझे, ये दिल-ए-आगाह किस मंज़िल में है।
शामे-गुरबत भी है रोशन वाह ही याद-ए-वतन
याद क्या है, इक अँधेरे का उजाला दिल में है।

(2)

रस्मे-दुनिया न सही, फ़र्ज़ अदा करते हैं
हाथ उठें या न उठें, दिल से दुआ करते हैं।
हज़रत-ए-दिल हैं अजब ज़ालिमओ-मज़लूमनुमा
घर जला कर कफ़-ए-अफ़सोस मला करते हैं।
पाँव टूटे हैं मगर आँख है मंज़िल की तरफ़
कान अब तक हवस-ए-बाँगे-दरा करते हैं।
बे अजल मंज़िल-ए-फ़ानूस पे मरने वाले
जान क्या देते हैं, इक रस्म अदा करते हैं।
मौत माँगी थी ख़ुदाई तो नहीं माँगी थी
ले दुआ कर चुके, अब तर्क-ए-दुआ करते हैं।
किस के दम की रोशनी दुनिया-ए-आबो-गिल में है
कौन सा सह्‌रानशीं हसरत-सराय-दिल में।

(3)

ख़ुदा का नशा चढ़ा, आप में रहा न गया
ख़ुदा बने थे यगाना, मगर बना न गया।
पुकारता रहा किस-किस को डूबने वाला
ख़ुदा थे कितने, मगर कोई आड़े आ न गया।
बुतों को देख के सबने ख़ुदा को पहचाना
ख़ुदा के घर तो कोई बंद-ए-ख़ुदा न गया।
कृष्ण का हूँ पुजारी, अली का बंदा हूँ
यगाना शान-ए-ख़ुदा देख के रहा न गया।

(4)

जान कर और हो गया अन्जान
हो तो ऐसा हो जानने वाला।
दिन को दिन समझे, और न रात को रात
वक़्त की क़द्र जानने वाला।
मैं समझ लूँगा दोस्त से, तू कौन
मुझको रह-रह के तानने वाला।
तूने जाना मुझे तो क्या जाना
तुझसे अच्छा न जानने वाला।
चित भी अपनी है, पट भी अपनी है
मैं कहाँ हार मानने वाला।

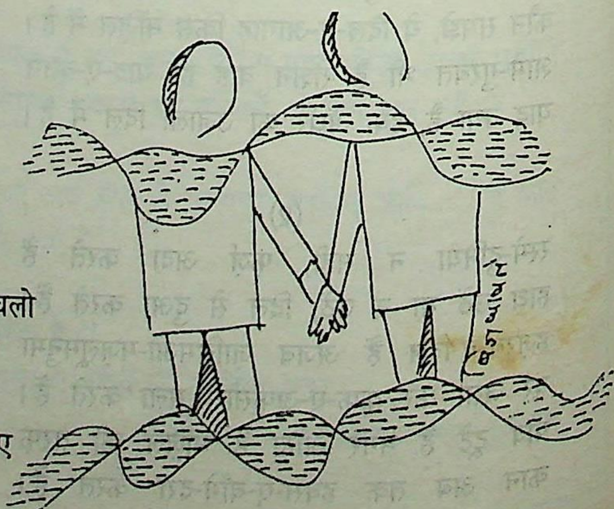
*प्रस्तुति एवं लिप्यंतरण : **महताब हैदर नक़वी***
उर्दू विभाग, अ0मु0वि0, अलीगढ़

वो जो रामसजीवन था, अब जो रामसजीवन है

यश मालवीय

वो जो रामसजीवन था
ख़ुशियों वाला आँगन था
फूलों-सा उसका मन था
सबका जिया-जुड़ावन था
जेठ दुपहरी सावन था
सचमुच ही मनभावन था
उस पर इक दिन कहर हुआ
शाम हुआ, दोपहर हुआ
ख़ून का प्यासा देखो तो
उसका अपना शहर हुआ
पास फटा इक हथगोला
धरती आसमान डोला
चिथड़ों में तब्दील हुआ
उगता-सा सूरज भोला
उसका बेटा ढेर हुआ
क्रूर समय का फेर हुआ
लाश हो गयी घरवाली
अब क्या होली, दीवाली
राम रहीम जूझ बैठे
ख़ंज़र से अकड़े-ऐंठे
ख़्वाब हो गये नूर मियाँ
हुए ज़िगर से दूर मियाँ
सुख-दुख सबमें साथी थे
अब हैं चकनाचूर मियाँ
रामसजीवन बदल गया
करने लगे फ़ितूर मियाँ
भरी जवानी टूट गया
प्याले जैसा फूट गया
किससे बात करे दिल की
अपने से ही रूठ गया
अब वो बहुत अकेला है
पड़ा सड़क पर ढेला है
वर्तमान की छाती पर
बस यादों का मेला है
अब जो रामसजीवन है
खाली-खाली बर्तन है
टूटा-फूटा दरपन है
मातम वाला आँगन है
पानी के बाहर जैसे
मछली वाली तड़पन है
रामसजीवन पहले का
मिले कभी जो कहीं तुम्हें
उसको घर पहुँचा देना
मेरी खोज-ख़बर देना
तुमको जो लिखता आया
कहना तुमको ढूँढ रहा
कभी यहाँ तो कभी वहाँ
सारे जहाँ से अच्छा था
कहाँ गया वो हिन्दोस्ताँ
रामसजीवन लौटो तो
एक बार फिर कविता में
अपनी खोयी दुनिया में
कवि को नींद न आती है
बस तबियत घबराती है
रामसजीवन, नूर मियाँ
इस रस्ते उस रस्ते से
आ जाओ चौरस्ते पर
लौटो चाय-नमस्ते पर
चौराहे पर देश खड़ा
गली-गली अजगर लहरे
ज़ख़्म दे रहा है गहरे
उसका फन मिलकर कुचलो
फिर से सूरज-सा उछलो
काली रात दहल जाए
अपनी सुबह निकल आए
बंदूकें सब सो जाएँ
हाथ न आएँ, खो जाएँ
मन से मन का तार जुड़े
तबला और सितार जुड़े
चेहरों से आतंक धुले
कोई ख़ुशबू नहीं घुले
रामसजीवन पहले सा
फूलों जैसा खिले-खुले
फिर से आएँ नूर मियाँ
कितना अच्छा लगता था
बजते थे संतूर मियाँ
देखो ज़्यादा देर न हो
और अधिक अंधेर न हो
रामसजीवन पहल करो
परछाँई से नहीं डरो
बंद पड़ी खिड़की खोलो
और हवाओं के हो लो
बातचीत फिर शुरू करो
मरने से इतने पहले
क्यों आख़िर इस तरह मरो ?

ए-111 मेंहदौरी कॉलोनी,
इलाहाबाद-211004 (उ०प्र०)



यह कोई लीला नहीं है

शैलेय

स्टेज पर जाने की बारी अब जगेसर की थी, लेकिन दर्शकों की माँग पर नचनिया को ही भेजा गया। जगेसर कुढ़ कर रहा गया। उसे खुद पर क्रोध और दया आने लगी। हताशा की एक लंबी साँस लेने के बाद वह पास ही जल रही अँगीठी के समीप चला आया। हथेलियाँ गरमकर अपनी खाँसी से दर्द मारती छाती सेंकने लगा।

"जी हजूर।"

"रेडी हो जा। सीन खत्म होने वाला है।"

"हम तो एकदम रेडी है साब।"

वह फुर्ती से उठा और पास ही दीवार से टँगे आइने के सामने खड़े होकर खुद का मुआयना करने लगा। सर से पैर तक ग़ौर से देखा। पौने छह फुट लंबी दुबली-पतली काया पर रंग-बिरंगे पैबंद सजी झालदार ड्रेस। मुँह पर चार-पाँच रंगों का पेन्ट। सिर पर लट्टू वाली नुकीली टोपी। सब कुछ एकदम हास्यास्पद। लेकिन, आज उसके दुखी हृदय को यह सब एक जोकर की वेशभूषा की जगह चिथड़ा-चिथड़ा ज़िंदगी-सा लगने लगा। वह सहम गया। फिर जैसे किसी ने ताल में पत्थर दे मारा हो। सोचने लगा—अजीब क़िस्सा है उसके साथ भी, चंद मिनटों बाद उसे हमेशा की तरह स्टेज पर हाज़िर हो जाना है और एक काम करना है—दर्शक-दीर्घा को हँसाना। बस हँसा-हँसा कर लोटपोट कर देना। वहाँ पर उसे अपनी अंदरूनी उलझी पहेलियों के बारे में कोई विचार नहीं करना है। चाहे वह अस्पताल में भर्ती गुर्दे के बीमार भाई का इलाज हो या चाहे दमा की मरीज़ बहन का इलाज हो। या फिर ख़ुद के लिए एक जोड़ी कुर्ते-पाजामे का मामला हो। या फिर चाहे वह माँ को माँ बने रहने देने का मामला हो। अगर कभी इत्तिफ़ाक से अभी स्टेज पर ही अपने किसी दुखड़े की मार से रोना आ भी जाए, तो उसे उस वक़्त भी यह ख़्याल रखना होता है कि उसके रोने का अंदाज़ कुछ ऐसा हो कि देखने वालों को हँसी के दौरे पड़ जाएँ। और ख़ुदा करे कि एका, दो या पाँच रुपये का नोट ईनाम में मिल जाए, तो वह अपने दुखड़े का कुछ उपचार करा ले।

मुँह में रखा काला नमक का टुकड़ा पिघलकर समाप्त हो गया था। उसने अँगीठी की हल्की आँच में हल्के से गरम की अदरक की फाँक को मुँह में रख लिया। दरअसल, दिन भर वह मजदूरी करता है और रात भर रामलीला स्टेज पर नाच-गान। खाने-पीने में उसका कोई अनुशासन नहीं। निमोनिया पकड़ गया है। स्वेटर वगैरह हैं नहीं।

सीन ख़त्म होते ही एक गहरी हँसी के साथ वह स्टेज के सामने आ गया। उसने तय किया था कि वह इस बार एक ऐसा गाना गायेगा कि दर्शक-दीर्घा के साथ-साथ उसे खुद को भी ठहाकेदार हँसी आ जाए। लेकिन, उसकी क़िस्मत को कुछ और ही मंज़ूर था। वह गाना शुरू करने ही वाला था कि पर्दे के एक किनारे से डायरेक्टर ने इशारा कर उसे भीतर बुला लिया। वह ज्यों ही पर्दे के भीतर हुआ, नचनिया छनन-छन पायल झनकारती स्टेज के आगे आकर ठुमके लगाने लगी। जगेसर हताश हो आया। उसकी इस हताशा को डायरेक्टर भाँप गया। उसने जगेसर को पास बुलाया। कंधे पर प्यार से हाथ रखकर बोला—"नचनिया की ज़बरदस्त माँग है। भई कई चिट आ चुकी हैं धड़ाधड़ मेरे पास। लेकिन, हम तुम्हारा कोई नुक़सान नहीं होने देंगे। दोनों को बराबर टाइम मिलेगा। चलो, एक कप चाय पी लो।"

चुपचाप सह लेने के सिवा कोई दूसरा चारा जगेसर के पास नहीं था।

"जैसी आपकी मर्ज़ी", वह उदास मन से बोला।

नचनिया का डांस ख़त्म हुआ, तो रामलीला पुनः चालू हो गयी। अब बारी जगेसर की ही थी, लेकिन सीन ख़त्म होने में अभी काफ़ी समय बाक़ी था।

बारह बजे का सायरन बोला। जगेसर को अस्पताल में भर्ती भाई की दवाई का टाइम याद आ गया। हालाँकि अस्पताल यहाँ से पास ही है, लेकिन ऐसी ड्रेस में तो नहीं ज़ाया जा सकता। वह मन मसोस कर रह गया। तभी उसे एक तरक़ीब सूझी। उसने चाय की दूकान पर नौकर का काम कर रहे अपने चचेरे भाई को बुलाया। डायरेक्टर के आगे हाथ जोड़कर कुछ कहा और केतली में से एक डिब्बे में चाय भरकर अस्पताल भिजवा दी।

सीन ख़त्म हुआ तो जगेसर स्टेज के सामने पहुँच गया। उसकी लच्छेदार भाषा से सनी हास्यापद बातें, ऊटपटाँग एक्टिंग और बेतरतीब ड्रेसिंग स्टाइल पर दर्शक-दीर्घा हँसते-हँसते लोट-पोट हुई जा रही थी। मगर जगेसर के दिल-दिमाग़ में तो बस बीमारी,

हँसी, नोट और इलाज़-यही सब चीज़ें चीत्कार कर रही थीं। वह हर आने वाले ईनाम के रुपये का बेसब्री से इंतज़ार करता। ईनाम ख़ूब मिले, इसके लिए वह जाने कितने-कितने देवताओं को एक साथ याद करता। इसलिए, ज्यों ही कोई ईनाम आता, भगवान के साथ-साथ ईनामदाता के प्रति भी मन ही मन झुक जाता।

तभी व्हिसिल बजी। जगेसर के लिए टाइम ख़त्म हो चुका था। अंदर सीन तैयार हो चुका था। जगेसर को इन्हीं सीनों के अंतराल का समय मिल पाता है। अब नचनिया के आ जाने से वह भी आधा हो गया है। उसकी उदासी टूटे नहीं टूट रही थी।

व्हिसिल दोबारा बजी। जगेसर को जैसे करंट लगा हो। उसने रोने और कड़कने और घिघ्घी बँध जाने के मिश्रित भावों को ऐसे प्रकट किया कि दर्शक लोट-पोट हुए बिना नहीं रह सके। जगेसर इसी क्रम में पर्दे के भीतर हो लिया।

इस सीन के ख़त्म होने के साथ ही आज की रामलीला भी संपन्न हुई। जगेसर के पल्ले कुल जमा 36 रुपये पड़े। नचनिया के आने के बाद से उसे ज़बरदस्त नुक़सान हुआ है। वह बच्चों की तरह फफक पड़ने को हो आया। बच्चों की तरह डायरेक्टर से इस बात की शिकायत करने को हो आया। लेकिन, वह जानता था कि यह सब बचपना होगा। उसने डायरेक्टर, मैनेजर और सभी पात्रों को सलाम किया। कपड़े बदले। मुँह धोया। बीड़ी सुलगायी और सीधे अस्पताल की ओर चल पड़ा।

''कितने रुपये भये रे?'' माँ की आवाज़ में आज कुछ ज़्यादा उतावली थी।

''अब क्या बताऊँ? एक नचनिया आ बैठी है। सारा ईनाम तो वही हड़प जाती है। मेरे पल्ले कुल छत्तीस रुपये पड़े।'' उसके लहजे में उदासी झलक रही थी।

''हे राम, अब क्या होगा?'' बहन के मुँह से तपाक से निकला।

''क्यों क्या हुआ अम्मा?'' वह उद्विग्न हो उठा।

''कुछ नहीं, पुराने दिन याद आ रहे हैं,'' माँ के चेहरे पर उदासी और गर्व के भाव एक साथ उभरे।

''बकवास बंद कर। नेक कमाई में भगवान भी साथ देते है,'' जगेसर माँ की बात पर झल्लाना चाह रहा था। परंतु सब कुछ समझकर जैसे उसका मन हार मान चुका था। फिर भी उसने किसी तरह खुद को संयत रखा।

''डॉक्टर सा'ब आये थे। कहे हैं कि कल कू दो अक्सरे होंगें। जे नहीं कराये, तो अस्पताल खाली करने को कह गये हैं। आपरेशन की नौबत भी आ सकती है, बताये हैं,'' बहन ने सारी समस्या जगेसर के आगे बखान कर दी।

माँ ने आँचल से अपनी भीगी आँखें पोंछीं। जगेसर पर तो जैसे पहाड़ ही टूट पड़ा हो। पूरा बदन उसे एकाएक टूटता-सा महसूस होने लगा। उसने उदासी भरी एक लंबी साँस खींची। फिर किसी तरह बोला—''क्या करूँ अम्मा, लोग भी तो ऐसे हैं कि इतनी मेहनत करने पर भी मुश्किल से ही कभी-कभी किसी-किसी को ईनाम देने का ख़्याल आता है। सो भी पता नहीं ख़ुश हो के देते हैं या तरस खाके। डायरेक्टर कहता है कि लोग कहते हैं कि तुम्हारा जोकर बहुत बढ़िया एक्टिंग करता है, लेकिन ज़्यादातर रोने का ही रोल करता है,'' कहकर कुछ देर को जगेसर चुप हुआ। फिर न चाहते हुए भी सहसा उसके मुँह से फूट ही पड़ा—''एक वो नचनिया है। न दिखने की, न एक्टिंग की। लेकिन, सूरत सामने पड़ते ही चारों तरफ़ से सीटियों और करारे-करारे नोटों की बरसात-सी लग जाती है। बूढ़े-बूढ़े तक ईनाम को उठ खड़े होते हैं,'' जगेसर ने फिर एक गहरी आह भरी।

लेकिन माँ के भीतर अब तक घुमड़ रहा बादल जैसे फट पड़ा—''तेरे बाप ने क्या कम कमाई लूटी मुझे नचा-नचा कर?''

''कितनी बार कह दिया कि मेरा बाप मत कहाकर उसे,'' जगेसर में जैसे विस्फोट हुआ।

''फटता क्यों है? पाल-पोस कर बड़ा तो उसी ने किया है,'' आशिक़ की बेवफ़ाई के बावजूद वह पति के प्रति प्रेम जता ही बैठी।

''बड़ा तो उसी ने किया है... ''बड़ा आया पालने वाला। कमअक्ल, सीधी बात बोल कि तेरी कमाई खाता था वह'', जगेसर का गुस्सा कम नहीं हो रहा था।

''अरे आदमी वो था तो बड़ा रौबीला। वो साली, करमजली बीच में न आयी होती, तो क्या बुरा हो रहा था हमारा,'' उसका प्यार अभी भी छलका जा रहा था।

''अच्छा बंद कर यह बकवास। सौ बार कह दिया कि वह जो कुछ था, तेरा था। हम नहीं हैं उसके बच्चे। हमारे बाप के साथ तो तूने दगा किया है।''

''मैंने क्या दगा किया। छह महीने-साल भर में एक बार घर आता था। सो भी चार दिन के लिए। कमाई के नाम पर उधारी और कर जाता था।''

माँ के चेहरे पर वितृष्णा के भाव देख जगेसर चिढ़ आया, ''तो जुआ थोड़े ही न खेलता होगा। सब हमीं पर लगाता होगा।''

''इतना ही भला है, तो चला क्यों नहीं जाता उसके पास।''

''वो तो एक रोज़ मुझे जाना ही है। अबकी रामलीला में उसने घर आने की बात कही है। तभी चला जाऊँगा। और सुन ले, बहन को भी साथ लेकर जाऊँगा। फिर तू रहना जैसे भी रहती है'', जगेसर में जैसे नया स्वाभिमान जाग गया था।

''तो तू महतारी को छोड़ देगा। महतारी से ख़िलाफ़त करेगा।''

''सच्ची बोलूँ तो मुझे शरम आती है तुझे महतारी बोलते। कोई अच्छे करम नहीं किये हैं तूने,'' जगेसर फिर तमक उठा।

''नासपीटे, इसी कोख से जना है तुझे। आज कुत्तों की तरह

ज़बान लड़ा रहा है। बोल तेरी कमाई से कितना पूरा पड़ जाता है? तब तो बड़ी धौंस-पट्टी से लिवा लाया था हम लोगन को।''

इसके बाद तो उन दोनों के बीच काफ़ी तीखी कहा-सुनी चल पड़ी। बहन ने जगेसर को बड़ी मुश्किल से शांत कराया। लेकिन मां तो जैसे चंडी हो गयी थी। अंततः जगेसर उठकर सीधे अपनी कुटिया की ओर चल दिया। जाते-जाते वह बहन से कह गया कि सुबह मजूरी पर जाने से पहले वह भाई के लिए खिचड़ी बनाकर ले आएगा।

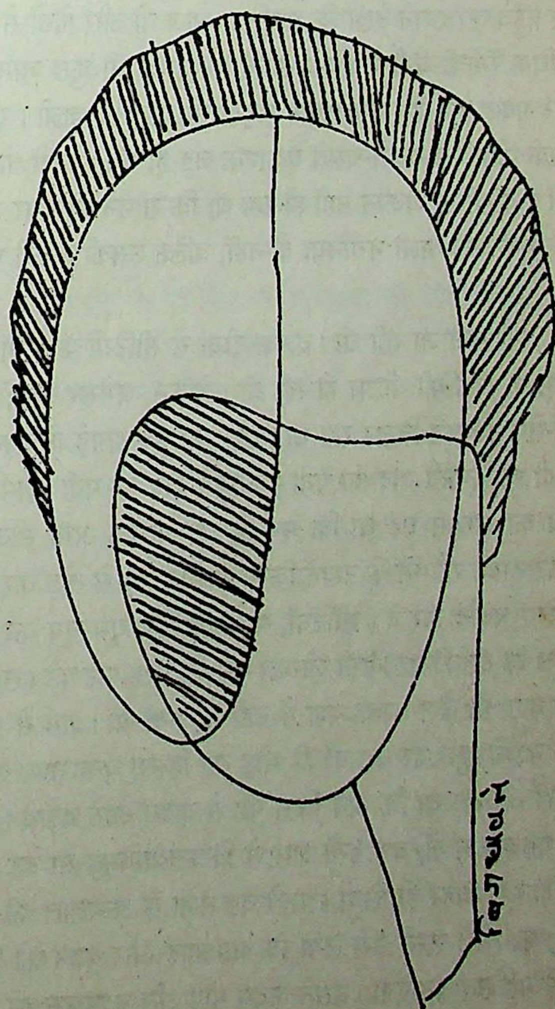
गुदड़ी-से बिस्तर पर काफ़ी देर तक जगेसर उलट-पुलट होता रहा। आंखें आखिर लगतीं भी कैसे? कल सुबह उसे भाई के एक्सरे के वास्ते डेढ़ सौ रुपये का इंतज़ाम करके ले जाना है। दवाइयों का खर्चा अलग। तिस पर उसे माँ की जली-भुनी बातें याद आ रही थीं।

वैसे मां को लेकर वह कोई बहुत खुश नहीं है। ख़ासकर तब से, जब से उसे ज़िंदगी की थोड़ी-थोड़ी समझ आने लगी थी और उसे पता चला कि उसकी माँ अपने पति को छोड़कर आशिक़ के घर भाग आयी है। और आशिक़ भी कौन, नाच-गान की नौटंकी वाला। बचपन से वह अपनी माँ को रामलीला स्टेज के अलावा भी जहाँ-तहाँ नाचते देखता आया है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया, माँ के आशिक़ के प्रति उसकी घृणा बढ़ती गयी। अकेले में माँ पर वह कई बार अपना गुस्सा निकालता रहा था। और फिर एक रोज माँ की अक्ल भी ठिकाने लग गयी जब उसका यह नौटंकी वाला आशिक़ पति एक और नवेली औरत को ब्याह लाया। फिर तो घर में आये दिन दोनों लुगाइयों के बीच घमासान होता रहता। पति नयी लुगाई की ही बात को तरजीह देता। तब माँ ने एक दिन गुस्से में आकर नौटंकियों और रामलीला में नाचने से मना कर दिया। इस बात को लेकर घर में अक्सर इतना कोहराम मच जाता कि माँ की जमकर पिटाई हो जाती। तब माँ के मन में नवेली दुल्हन के अलावा इस आशिक़ पति के ख़िलाफ़ भी विद्वेष पनपने लगा। और एक रोज जब यही आशिक़ पति जगेसर की बहन को स्टेज पर उतारने की बात करने लगा, तो माँ ने जैसे समूचा आसमान सिर पर उठा लिया था। जगेसर को अपनी बात रखने का मौक़ा मिला और अगली ही सुबह जब गाँव में नौटंकी चल रही थी, जगेसर माँ, भाई और बहन को लेकर बुआ के घर आ गया। तीनों ने मिलकर मज़ूरी करना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे रुपये इकट्ठा कर एक रोज़ उन्होंने पास में ही अपनी भी एक छोटी-सी झोंपड़ी कर ली। हालाँकि इसके लिए उन्हें उधारी भी करनी पड़ी।

इधर, बढ़ते खर्च जगेसर को तंग करने लगे। तब उसकी हँसोड़ प्रवृत्ति काम आयी। दरअसल, वह बचपन से बहुत हँसोड़ स्वभाव का था। वह किसी भी इन्सान की नकल हू-ब-हू उतार लेता था। दोस्तों के बीच चुटकले बना-बनाकर सुनाने और महफ़िल जुटाये रखने में माहिर था। इसी क्रम में दोस्तों की सलाह और हौसलाअफ़ज़ाई से वह एक रोज़ रामलीला-स्टेज तक पहुँच गया। तब से यह सिलसिला लगातार चलता चला आ रहा है। जगेसर को यह सब अच्छा भी लगता है। हँसना भी हो जाता है। तारीफ़ें भी मिलती हैं और कुछ-न-कुछ कमाई भी हो जाती है। वह तो बारोंमास इस धंधे को अपनाये रखना चाहता है। उसने तय किया है कि वह शहर में जाकर भी कार्यक्रम पेश करेगा। पहले किसी ऐसी फ़ैक्ट्री में नौकरी करेगा जहाँ दिन के अलावा रात में भी दो-चार घंटे का काम मिल जाता हो। आख़िर उसे जितना जल्द हो सके, बहन के हाथ पीले जो करने हैं।

उसने एक लंबी और ठंडी साँस भरी। नींद आ जाने के लिए फिर करवट बदली। लेकिन, माँ की जली-कटी बातें उसे सोने नहीं दे रही थीं। वह तो माँ को उस रूप में याद भी नहीं करना चाहता, जिस रूप में उसका अतीत बीता है। फिर भी, माँ आखिर माँ है। फिर साथ में बहन भी है। लेकिन, माँ की यह बात उसे ज़रूर अच्छी लगी है कि मूर्खता और मजबूरी आदमी से क्या क्या नहीं करा लेती। तभी तो, माँ खुद भी कई बार इस नचनिया ज़िंदगी के ख़िलाफ़ घर में झगड़ा कर बैठती थी। और शायद इसी विद्रोह में वह बच्चों को लेकर अलग रहने को खुशी-खुशी राजी भी हो गयी।

रात का तीसरा पहर आ चुका था। अब जाकर कहीं जगेसर की आँख लग पायी।



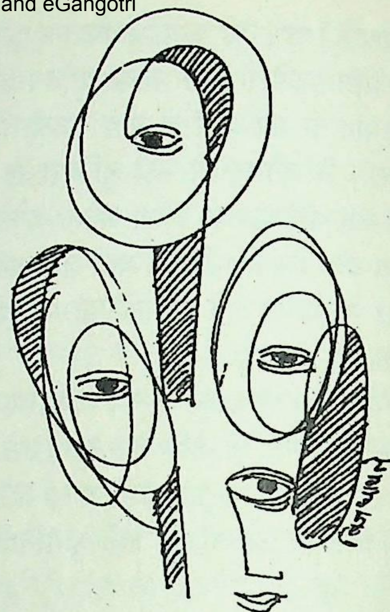
सुबह वह मुँह अँधेरे उठ गया। उसने झाड़ू लगायी। रात के जूठे बर्तन धोये। खिचड़ी बनायी। फिर अस्पताल में भर्ती भाई और माँ-बहन को खिचड़ी देने पहुँच गया। माँ उससे अभी भी नाराज़ चल रही थी।

उसकी ओर से मुँह पलटाये रही। वह भी कुछ नहीं बोला। खिचड़ी परोस देने के बाद वह उठकर सीधा काम पर चला गया।

शाम को जब वह दिहाड़ी से लौटा, तो माँ को अस्पताल में न पाकर क्षुब्ध हो उठा। वह दोबारा झोंपड़ी तक गया, लेकिन माँ वहाँ भी नहीं थी। वह फिर दौड़कर अस्पताल आया। शाम भी गहराती जा रही थी। लेकिन माँ के दिहाड़ी से अब तक वापस न लौटने से उसका मन अचकचा गया। तीनों भाई-बहनों के मन में बीती रात हुए झगड़े को लेकर तरह-तरह की आशंकाएँ जन्म लेने लगीं। तभी उसे याद आया कि माँ पहले भी कई बार रूठी है और ऐसे में अक्सर वह पास-पड़ोस बैठने चली जाती है। सो उसने सोचा आज भी चली गयी होगी। उसने बहन को चाय के लिए दस रुपये थमाये। अपनी जोकर-ड्रेस वाला झोला उठाया और सीधे रामलीला मैदान की ओर चल पड़ा।

दूर से ही नचनिया के भड़कीले गाने और ठुमकों की ज़ोरदार आवाज़ आ रही थी। वह कुछ कुढ़ गया। आख़िर कैसे वह इस नचनिया से टक्कर ले। तरह-तरह की तरक़ीबें सोचने लगा। मैदान पर पहुँच कर उसने देखा कि नचनिया आज तो और दिनों से कहीं अधिक रँगीली-चँगीली होकर आयी है। ठुमके भी कुछ ज़्यादा ही ज़ोर पकड़े हुए हैं। उसने एक भद्दी-सी गाली दे डाली। सहसा उसके पाँव जैसे चलते-चलते एकाएक जड़ हो गये। काटो तो ख़ून नहीं। आँखों पर यकीन नहीं हो रहा था कि सामने स्टेज़ पर उछल रहे ठुमके कल वाली नचनिया के नहीं, बल्कि उसकी अपनी माँ के हैं।

माँ नाचे जा रही थी। दर्शक-दीर्घा से सीटियों फब्तियों और ईनाम के नोटों की बौछार हो रही थी। लेकिन, जगेसर का तो जैसे रोम-रोम टूट कर बिखर रहा था। उसे रात हुए झगड़े के वक़्त माँ की दी हुई चुनौती याद आ गयी। मजबूरी याद आ गयी। शर्म और क्रोध का आलम यह था कि मन हो रहा था कि अभी स्टेज पर जाकर ठुमक रही माँ के टखने किसी भारी हथौड़े से तोड़ कर सदा के लिए बर्बाद कर दे। सीटियाँ, फब्तियाँ और चूम-चूम कर नोट उछाल रहे दर्शक़ों पर किसी ज़ोरदार बम की तरह फट पड़े। लेकिन, ऐसा कुछ भी जैसे उसके वश में नहीं रह गया था। शर्म से आँखें नीचे गड़ाये कुछ देर वह यों ही भीड़ का हिस्सा बना रहा। समझ में नहीं आ रहा था कि अब किस मुँह से क़दम आगे बढ़ाये। लोग उसे पहचान न लें, बस इसी शर्म से किंकर्तव्यविमूढ़-सा वह तेज़ी से मैदान से बाहर हो लिया। पहले वह तेज़ी से अस्पताल की ओर दौड़ा, पर बीच रास्ते उसे लगा कि वह भाई और बहन को किस मुँह से यह सब बताएगा। उसने क़दम मोड़े और बदहवास की तरह



दौड़ते हुए अपनी झोंपड़ी के लिए बाईपास रोड पकड़ ली।

लेकिन क़िस्मत की होनी। बदहवासी में सड़क क्रॉस करते वक़्त उसे दायें बायें देखने का ध्यान नहीं रहा और अगले ही क्षण एक भारी-भरकम ट्रक की चपेट में आकर तरबूजे की तरह फूट कर बिखर गया। जगेसर की इहलीला समाप्त हो गयी।

रातभर जगेसर की लाश बीच सड़क पर पड़ी रही। जब सुबह हुई, तब जगेसर की मौत की ख़बर आग की तरह पूरे क़स्बे भर में फैल गयी। जहाँ भी देखो, उसकी एक्टिंग की तारीफ़ों का समां बँधा हुआ था, लेकिन उसकी लाश उठाकर घर तक पहुँचाने को चार लोग एकत्र नहीं हो पा रहे थे। हर कोई इसे पुलिस-केस कहकर किनारे कर जाता।

तभी जगेसर की माँ दहाड़ें मारती हुई वहाँ आ पहुँची। थोड़ी देर में अस्पताल से उसकी बहन भी आ पहुँची। जगेसर की क्षत-विक्षत लाश को सँभालकर उठाते हुए इन दोनों की पुकार पर नगरपालिका कर्मचारियों को कुछ तरस आ गया। उन्होंनें उसकी लाश उठाकर सड़क से कच्चे में लाकर रख दी और पुलिस को ख़बर देने चले गये।

पुलिस भी एक ग़रीब आदमी की लाश के पोस्टमार्टम में भला क्या रुचि लेती? उन्होंने जगेसर की माँ को उसकी अरथी के इंतज़ाम के लिए कहा। मगर दहाड़ों के सिवा जगेसर की माँ के पास कुछ नहीं था। कोई ऐसा वहाँ सगा नहीं था, जिससे कि अधिकारपूर्वक विनती ही कर लेती।

सहसा भीड़ को चीरते हुए एक आदमी जगेसर की लाश के समीप आ गया। वह उससे चिपट-चिपट कर दहाड़ें मारता हुआ चूर-चूर होने लगा। यह आदमी जगेसर का सगा बाप था। बेटी को विवाह के लिए अपने साथ ले जाने को घर आ रहा था। उसे यह घटना क़स्बे में घुसते ही पता चल गयी थी।

दानपुर, रुद्रपुर, ऊधमसिंह नगर, उत्तराखंड-263153

वक़्त बदल रहा है...

अजय श्रीवास्तव

शाम के झुटपुटे में अमराई के पास झाड़ियों में सरसराहट सुन कर नशे के बावजूद करतार सिंह के पूरे बदन में सिहरन-सी दौड़ गयी। फिर भी, नशे की झोंक में उनके मुँह से निकल ही गया–"कौन है बे ?"

आवाज़ के साथ ही झाड़ियों में से कोई निकल कर भागा-ख़रगोश की तरह उछल कर मरगिल्ला-सा लड़का। न जाने कौन ! लेकिन उसी झोंक में उन्होंने फिर भी पहचान लिया कि किरपलवा है। किरपलवा, यानी रघ्घू चौधरी का लड़का, यानी उनके ख़ास प्रतिद्वंद्वी रघुनाथ चौधरी का सपूत। होगा कोई बीसेक साल का। 'लेकिन यहाँ क्या कर रहा था...?' उन्होंने सोचा।

फागुन कब का बीत गया। अब तो चैत का महीना भी ख़त्म होने को है। बैसाख शुरू होने वाला है। खेतों में गेहूँ के दाने पक चले हैं और कटाई के दिन हैं। गेहूँ के बोझों को रखने के लिए खलिहानों की साफ़-सफ़ाई की जाने लगी है। कहीं-कहीं बोझों के ढेर लगने लगे हैं और कहीं-कहीं तो मड़ाई भी शुरू हो गयी है। हवा में भी भूसे की अजीब-सी गंध मिली रहती है। अब शाम थोड़ा देर से ढलती है, अँधेरा भी थोड़ा देर से घिरता है। इसके बावजूद शाम के वक़्त खेतों की ओर लोग कम ही नज़र आते हैं। हाँ, दलित बस्ती की औरतें ज़रूर दिन भर खेतों में घास खोदती दीख जाती है। वे भी शाम से पहले अपने-अपने घरों को लौट आती हैं या लौट आने की कोशिश करती हैं।

हवा में अब वह जाड़ों वाली नमी नहीं रही, लेकिन फगुनाहट अभी बची है। मस्ती से बहती इस हवा ने करतार सिंह को एक बार फिर सिहरा दिया है, 'कहीं किरपलवा भी तो नहीं.... ।'

अचानक कोटरों में धँसी उनकी आँखें सड़क वाले खंभे के बल्ब की तरह दिप्-से चमक उठीं। फिर खुद-ब-खुद बुझ भी गयीं। उन्हें लगा कि एक सुनहरा मौक़ा उनके हाथ से निकला जा रहा है, जब वे रघ्घू चौधरी को गाँव में नीचा दिखा सकते हैं। मार की कितनी ही चोटें उन्हें याद हो आयीं, जो उनके ख़याल से रघ्घू चौधरी के इशारे पर ही उन्हें पड़ी थीं। नशे के बावजूद उन्हें अपनी चोटें दर्द करती-सी लगीं और अनजाने ही उनका दायाँ हाथ बाएँ कँधे को सहलाने लगा।

सारा गाँव जानता है, किरपलवा के बाप रघुनाथ चौधरी से करतार सिंह की पुरानी अदावत है। रघुनाथ चौधरी उनके बाप के चचेरे भाई, यानी करतार सिंह के चाचा हैं। करतार सिंह के माँ-बाप उनके छुटपन में ही चल बसे थे। उन्हें और उनके छोटे भाई को दादी ने पाला था। अपने बाबा को करतार सिंह ने कभी नहीं देखा था। दादी बताती थीं कि पूरे गाँव में उनका हल सबसे ऊँचा था और जब करतार सिंह के बाप मरे थे, तब भी उनके पास बहुत ज़मीन थी। लेकिन, सब रघुनाथ ने हथिया ली, कुछ नहीं बचा।

यों गाँव में करतार सिंह के और भी चचा-ताऊ हैं, लेकिन करतार सिंह को कोई घास नहीं डालता। है भी क्या उनके पास, जो कोई पूछे उन्हें ! ले-देकर टूटा-फूटा दो कमरों का एक मकान है। किसी ज़माने में पक्का रहा होगा। पक्के से मतलब गारे से चिनी गयी लाल ईंटों वाली दीवार और पटिया की छत से है, जो ज़माने से झड़ते-झड़ते दम तोड़ गयी हैं। जगह-जगह से ईंटें खिसक आयी हैं। कमरों के कच्चे फर्श पर अर्सा हुआ भूसा, गोबर और मिट्टी की लिपाई नहीं हुई। कमरों के पीछे आँगन में दादी के ज़माने की मिट्टी की आधी दीवार बची हुई है, जिस पर फूस का छप्पर डाल कर दादी ने रसोई बनायी थी। मिट्टी का चूल्हा जाने कब का बह-खप गया, लेकिन वहाँ कमरे की दीवार अब भी काली नज़र आती है।

अब तो करतार सिंह ने घर जाना भी छोड़ दिया है। यहीं सड़क पर छोटे भाई भीखम सिंह की चाय की दूकान में रात गुज़ारते हैं। आज भी करतार सिंह पूरे गाँव में आवारागर्दी करते घूमते हैं। भीखम सिंह तो पिटते-पिटते कुछ काम-धंधा करने लगा, लेकिन करतार सिंह बाज़ नहीं आये। धीरे-धीरे उन्होंने शराब पीना भी शुरू कर दिया। और आज हालत यह है कि वे बिना शराब के रह नहीं सकते। इसीलिए, कोई लड़की वाला उनके दरवाज़े पर फटकता तक नहीं और दोनों भाई अभी तक अनब्याहे हैं। अब उन्हें खुद भी याद नहीं कि कब और कैसे उन्होंने शराब पीनी शुरू की थी, लेकिन एक पौआ शराब के लिए उन्हें रोज़ कई-कई जतन करने पड़ते हैं। इसीलिए, उन्होंने नशे के बावजूद पहचान लिया था कि झाड़ी से निकल कर भागने वाला और कोई नहीं, किरपलवा ही था!

नशे की झोंक में करतार सिंह कब भीखम सिंह की दूकान में आ गये, उन्हें ख़याल ही नहीं रहा। कब उन्हें नींद आ गयी, यह भी उन्हें मालूम नहीं। बहुत रात गये उनकी नींद खुली। भीखम सिंह कब का दूकान बढ़ा कर जा चुका था। उन्हें बीड़ी की तेज़ तलब

महसूस हुई। कुर्ते की जेब से उन्होंने बीड़ी और माचिस निकाली। अँधेरे में ही टटोल कर बंडल से बीड़ी निकाली। उन्होंने बीड़ी सुलगाने के लिए जैसे ही दियासलाई जलायी, उनकी निगाह किसी अर्धनग्न सिने तारिका के फ़ोटो वाले कैलेंडर पर पड़ी। करतार सिंह ने एक गहरी साँस ली और उँगली जलने के अहसास से तीली छोड़ दी।

दूकान में बिजली नहीं है। घुप्प अँधेरे में करतार सिंह के बार-बार बीड़ी का कश खींचने से हलकी रोशनी होती है। फिर धीरे-धीरे बीड़ी का लाल सिरा मद्धिम पड़ जाता है। करतार सिंह एक और तीली जला कर तारिका की तस्वीर बड़े ग़ौर से देखते हैं। यों झरने के पास, गीले कम कपड़े में लिपटी, पत्थर पर बैठी तारिका की धूल-मिट्टी से चीकट इस तस्वीर को करतार सिंह ने सैकड़ों बार देखा होगा, लेकिन इस तस्वीर ने आज उन्हें पहली बार आकर्षित किया। वे तस्वीर को एक बार फिर देखना चाहते हैं, पर उनकी दियासलाई में तीलियाँ कम रह गयी हैं। उनका नशा कम हो चला और वे पेशाब करने के लिए सड़क पर निकल आये।

पेशाब करते-करते अचानक उनकी आँखें एक बार फिर चमक उठीं और उन्हें लगा कि उन्होंने बाज़ी मार ली। अनायास कितने ही बीते दिन उन्हें याद हो आय।

'अब शायद कई दिनों तक पैसे की तंगी नहीं रहेगी। लेकिन अगर बिरादरी पर कोई बात...', नहीं, अब वे ज़्यादा नहीं सोचेंगे। बहुत सोचने से माथा खराब होता है उनका। इसलिए दूकान में दोबारा आने के बाद वे सोने की कोशिश करने लगे।

अगले दिन सुबह जब वे भीखम सिंह की दूकान पर चाय के साथ अखबार पढ़ने बैठे, तो उन्होंने बलात्कार की ख़बरें दो-दो बार पढ़ीं। पर, अख़बार की इस आम ख़बर में उन्हें कोई ख़ास बात नज़र आयी। फिर भी, दूकान पर ख़बर सुनने वाले दूसरे गाँव वालों को करतार सिंह ने अख़बार के अलावा भी एक ख़बर सुनायी।

आनन-फानन में यह बात पूरे गाँव में फैल गयी कि कल शाम किरपलवा ने भैरव मोची की बिटिया परबतिया के साथ... दलित बस्ती में बुजुर्गों के दिल धक्-से रह गये। नौजवानों का ख़ून खौल उठा और वे लाठियाँ तलाश करने लगे। भैरव का तो जैसे दम ही निकल गया, परबतिया भी ठगी-सी रह गयी, 'कल शाम तो मैं घर पर ही थी....'

ख़बर सुन कर रघुनाथ चौधरी मूँछों में मुस्कुराये, 'हाँ... लड़का ज़वान हो रहा है,' लेकिन फिर चौंक भी गये, 'कल शाम तो किरपलवा शहर गया था, फिर कब उसने...'

वे समझ गये कि यह किसकी शरारत है। उनका मन करतार सिंह को जूते लगाने का करने लगा। फिर भी, पूरे गाँव में चर्चा आम रहा।

बहुत देर तक अंधे कुएँ के पास झाड़ियों में छिपे करतार सिंह ने कई बीड़ियाँ एक साथ फूँक डालीं। परबतिया का ख़याल उनके दिलो-दिमाग़ से उतरता ही नहीं—एकदम कैलेंडर के फ़ोटो जैसी। भैरव की लड़की परबतिया पर बहुत दिनों से निगाह है करतार सिंह की। देखने में सुंदर नहीं है। लेकिन, बदन का गठन ऐसा है कि करतार सिंह जैसे सैकड़ों मरते हैं उस पर। पर, रह-रह कर पिटाई की आशंका भी उन्हें घेरती है। पहले वाली स्थिति होती, तो दलितों में से किसी की भी हिम्मत नहीं पड़ती कि करतार सिंह की राह रोकता। अब तो उनके भी पर निकल आये हैं। कहीं अकेले में घेर लिया तो ! लेकिन करतार सिंह उनसे निपटना जानते हैं।

आगा-पीछा सोच कर आख़िर करतार सिंह झाड़ियों से बाहर निकले। वे गाँव की ओर आने की बजाय खेत-खेत ही चार किलोमीटर दूर पुलिस चौकी पहुँचे। दरोगा पुराना यार है करतार सिंह का। करतार सिंह की सारी योजना सुन कर उसने खीसें निपोर दीं, "क्यों मेरी वर्दी उतरवाता है ! रघुनाथ चौधरी पर हाथ डालना खेल है क्या ?"

लेकिन, करतार सिंह की पुरानी सेवाएँ भी उसे याद थीं। लिहाज़ा उसने दो कांस्टेबलों को लीडर के साथ दलित बस्ती में जायज़ा लेने भेजा।

करतार सिंह को अपनी बस्ती में देख कर दलित बस्ती के नौजवान आपे से बाहर हो गये। वह तो दो कांस्टेबलों की मौजूदगी और बड़े-बूढ़ों की नसीहतों ने रोक दिया, वरना करतार सिंह अपनी सारी चालाकी भूल गये होते। फिर भी, बुजुर्गों के पूछने पर उन्होंने कहा—"ये चौधरी सा'ब लोग (पुलिस वाले) तहक़ीकात करने आये हैं, डरने की कोई बात नहीं है.... जो ग़लती करेगा, सज़ा भी पाएगा, फिर चाहे वह किरपलवा हो या उसका बाप रघुनाथ चौधरी....।"

करतार सिंह की बात सुन कर नौजवान एक बार फिर भड़क उठे। वे करतार सिंह को भी अच्छी तरह जानते हैं और पुलिस की कारगुज़ारियों को भी। रोष में भरे नौजवानों में से किसी ने पूछा—"किस बात की तहक़ीकात ! हमारी बहन-बेटियों की इज़्ज़त से खेलो और हमें ही गुनहगार बताओ... भाग जाओ, कहीं ऐसा न हो कि ख़ून-ख़राबा हो जाए...."

नौजवानों का आक्रोश देख कर करतार सिंह और दोनों कांस्टेबलों के कलेजे काँप उठे। उन्हें लगा कि अब ये लौंडे न जाने क्या गुल खिलाएँ! लिहाज़ा उन्होंने वहाँ से खिसकना ही ठीक समझा।

बस्ती के बड़े-बुजुर्ग भी टोले की बरबादी के प्रति आशंकित हो उठे। उनकी आँखों में कितने ही पुराने दृश्य साकार हो उठे। वे उन दृश्यों की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। हर घर की तस्वीर आँखों में तैर गयी—गूदड़ियों के बिछावन, झोल खाती चारपाइयाँ, टूटे-फूटे छप्पर, काँसे, पीतल और मिट्टी के बर्तन, कुछ ढोर-डंगर... कहीं ऊँची जात वाले और पुलिस मिल कर एक बार फिर कहर न ढाएँ !

लेकिन, बुजुर्गों से युवा सहमत नहीं हुए। करतार सिंह के

हाथ से निकल जाने पर वे कसमसाते हैं। अगर ये बुजुर्ग बीच में न आते, तो आज करतार सिंह को वे सबक़ ज़रूर सिखा देते। अब उन्हें पुलिस का कोई भय नहीं सताता। सताए भी क्यों ? वे कुछ नहीं करते, तब भी पुलिस उन्हीं पर हाथ धरती है। और अगर सचमुच कुछ कर दिया, तो पूछो मत ! आसमान ही सिर पर उठा लिया जाता है। इसलिए, अब उन्हें अपने ख़िलाफ़ किसी भी तरह की कार्रवाई का कोई डर नहीं है। वैसे भी खोने को उनके पास है क्या, जो वे डरें।

लेकिन, जबसे बात फैली है, परबतिया रो-रोकर आँखें सुजा रही है। माँ नहीं है उसकी और भैरव की समझ में नहीं आ रहा कि वह कैसे उसे समझाए। वह जानता है अपनी बिटिया को। अगर उसके साथ ऐसा कुछ होता, तो अब तक जान दे देती। लेकिन, गाँव-जवार के लोगों को कौन समझाए।

आख़िरी जूते को फ्रेम पर चढ़ा कर भैरव उठा, तो शाम गहरा चली थी। घर के सामने वाले जिस नीम के नीचे वह जूते गाँठा करता है, उस पर चिड़ियाँ जाने कब से चहचहा रही हैं। रोज़ तो इनके चहचहाने की आवाज़ सुनते ही वह धंधा समेट लेता है, लेकिन आज लगता है, काफ़ी देर हो गयी।

जल्दी-जल्दी सब सामान समेट कर वह घर के अंदर घुसा। आँगन में क़दम रखते ही गाय और बछड़े ने एक साथ बा... बा. .. की गुहार लगायी। उसने देखा कि आज किसी ने उनके सानी-पानी की फ़िक्र नहीं की थी। कोठरियों में दीया-बत्ती नहीं की गयी थी और चूल्हा भी आज ठंडा था। इसका मतलब है कि आज रोटी-पानी उसी को करना होगा।

परबतिया जाने कब रोते-रोते सो गयी थी, देख आया है वह। उसको जगाना भैरव को ठीक नहीं लगा, इसलिए वह खुद ही रस्सी-बाल्टी लेकर कुएँ की ओर चल दिया, हालाँकि थकान से पूरी देह टूट रही थी भैरव की।

परबतिया को समझाने के लिए शब्दों के अभाव में भैरव रोने-रोने को हो जाता है, लेकिन हर बार रेत का सूखा सागर उसकी आँखों में तैर जाता है। जाने कब मर गया आँख का पानी! परबतिया की स्थिति उसके लिए असह्य हो चली है। दिन भर की सारी घटनाएँ उसकी नज़रों में कौंध जाती हैं। आज काम में भी उसका मन नहीं लगा था। बस्ती के अन्य बुजुर्गों की तरह वह भी आशंकित है। लिहाज़ा कुएँ की जगत पर खड़े-खड़े उसका मन कुएँ में छलाँग लगाने को करता है। अचानक कुत्तों के लड़ने की आवाज़ से चौंक कर भैरव ने जल्दी-जल्दी हाथ चलाये और पानी भर कर घर की ओर चला।

"केस बहुत गंभीर है...", करतार सिंह और कांस्टेबलों की रिपोर्ट सुन कर दरोग़ा बड़बड़ाया, "पूरे मामले की तहक़ीकात खुद मुझे करनी होगी... परबतिया का बयान दर्ज करना होगा, बयान चौकी में ही दर्ज़ किया जाएगा... परबतिया को चौकी में आना होगा, अकेले..." और दरोग़ा साहब का प्लान तय हो गया, "नहीं आएगी, तो....!" और उन्होंने सामने बिछे अख़बार की उस छोटी-सी ख़बर को लाल बॉल प्वॉइंट से घेर दिया, जिसमें दूरदराज़ की किसी दलित बस्ती को जला दिये जाने की सूचना थी।

"परबतिया कहाँ है ?" अगले रोज़ नीम तले बैठे भैरव से दरोग़ा ने कड़कदार आवाज़ में सवाल दागा।

भैरव का दिल बैठने लगा। लेकिन, तब तक पूरी बस्ती नीम तले इकट्ठा हो गयी। लीडर की कारस्तानी से लोग पहले ही गुस्साये हुए हैं, ऊपर से दरोग़ा का आना उन्हें आशंकित कर गया है। और जब दरोगा ने कहा, "परबतिया को आज शाम चौकी में आकर बयान दर्ज़ कराना होगा", तो टोले वालों को कोई शक-शुबहा नहीं रह गया।

"क्यों साहब, बयान क्या यहीं दर्ज़ नहीं किया जा सकता?" भीड़ में से किसी की आवाज़ सुन कर दरोग़ा साहब चौंके, "ओह ! तो क़ानून बघारना आ गया है मादर..."

लेकिन, नौजवानों के तमतमाये चेहरों को देख कर घाघ दरोग़ा समझ गया कि लौंडे बस्ती की इज़्ज़त के लिए मर मिटेंगे। उसने फ़ौरन पैंतरा बदला, "अरे केस गंभीर है, बयान तो दर्ज़ करना ही होगा।"

"तो यहीं क्यों नहीं कर लेते! लेकिन उससे पहले करतार सिंह वगैरह के ख़िलाफ़ हमारी रपट तो दर्ज़ कर लो और उसकी नकल दे दो दरोग़ा साहब!" भीड़ में से एक सींकिया-से नौजवान ने तर्क किया।

उसके तर्क से दरोग़ा साहब गुस्से पर क़ाबू न कर सके और बिफर पड़े—"अबे यह कौन साला पुलिस के मामले में टाँग अड़ा रहा है ! तुम्हें क्या मालूम कि जब तक बयान दर्ज़ नहीं होता, कोई मामला नहीं बनता। और जब मामला नहीं बनता, तो रपट नहीं लिखी जाती।"

"तो दरोग़ा साहब ! हमे तो कोई रपट नहीं लिखानी। न बयान दर्ज़ कराना है, न मामला बनाना है। फिर, बिना महिला पुलिस के परबतिया को हम चौकी भी नहीं भेज सकते और शाम के वक़्त तो कतई नहीं," भीड़ में से फिर वही नौजवान बोला। वह पढ़ा-लिखा लग रहा था, "जहाँ तक करतार सिंह का मामला है, आप बीच में न पड़ें... हम खुद निपट लेंगे।"

"अरे ये ऐसे नहीं मानेगा। पकड़ कर बंद कर दो और पाँच जूते मारो, सारी दरोग़ाई भूल जाएगा..." भीड़ में से उभरी एक और आवाज़ ने दरोग़ा को अहसास करा दिया कि ये लोग अब ज़ाहिल नहीं रहे। फिर एक साथ इतने लोग! उसका साहस वैसे ही जवाब दे गया। अकेला भैरव होता, तो अब तक डाँट-डपट कर मतलब निकाल चुका होता। पर अकेला चना कैसे भाड़ फोड़ता, लिहाज़ा बहस को आगे न बढ़ाना ही बेहतर समझ कर करतार सिंह को कोसता हुआ वह वापस चल दिया। फिर भी जाते-जाते धमकी दे

गया—''अबके कोई फ़साद किया, तो सबको गिरफ़्तार कर लूँगा।''

पीछे से कोई फिक्क से हँस दिया। दरोग़ा के जबड़े भिंच गये, लेकिन खून का घूँट पी कर रह गया।

धीरे-धीरे भीड़ छँट गयी। बुजुर्ग कुछ देर तक भैरव के पास बैठे रहे, फिर वे भी चले गए। भैरव भी घर के अंदर आया। अंदर आते ही दिल धक्-से रह गया। कोठरियों के दरवाज़े खुले हुए थे। परबतिया का कहीं अता-पता न था। रस्सी-बाल्टी भी अपनी जगह नहीं थी। वह गहरे तक आशंकित हो उठा, 'कहीं ऐसा तो नहीं कि परबतिया ने कुएँ में छलांग लगा ली हो,'

आशंकित-सा भैरव फ़ौरन घर से बाहर निकल आया। बाहर निकलते ही परबतिया पानी भर कर आती दिखायी पड़ी। उसकी जान में जान आयी और वह दोबारा नीम की छाँव की ओर मुड़ गया। उसके चेहरे पर आश्वस्ति का भाव था और आँखों में चमक-वक़्त बदल रहा है...

ए0के0 गोपालन भवन, 27-29, भाई वीरसिंह मार्ग
गोल मार्केट, नई दिल्ली-110001

लघुकथा

थानेदार का न्याय

राकेश 'चक्र'

विद्युत उप गृह में विद्युत का अक़ाल था। पूरे परिसर में अंधकार और सन्नाटा पसरा हुआ था। मोमबत्ती भी जलते-जलते प्राण त्याग चुकी थी। रात्रि के 12 बजे थे। ड्यूटी पर तैनात मिस्टर गुप्ता टॉर्च के सहारे परिसर की रखवाली कर रहे थे। एक पक्के कक्ष के अतिरिक्त सारा परिसर खुला हुआ था। खुले परिसर में ही दो पुराने ट्राँसफार्मर कब से सुधरने की प्रतीक्षा कर रहे थे तथा अन्य सामान अपनी बेकदरी से त्रस्त था।

जून की सड़ी गर्मी में बुरा हाल था, ऊपर से मच्छर खून चूसने में कंजूसी नहीं कर रहे थे। गुप्ता अपनी कुर्सी को अंदर-बाहर करते रहे। बाहर साँप-कीड़ों का खतरा तो अंदर सड़ी गर्मी। प्रातः चार बजे बिजली आई तब कहीं जाकर मिस्टर गुप्ता की जान में जान आई। ये भी ऊपर वाले का बहुत-बहुत धन्यवाद था कि आज बिजली से परेशान लोग इकट्ठे होकर गाली-गलौच और तोड़फोड़ करने नहीं आये। वैसे मिस्टर गुप्ता इन सब बातों के आदी हो गए थे।

उन्होंने कुछ ही समय में आवश्यक कार्य निपटाया तथा जगन व थकन से उनकी कब आँख लग गई, कि उन्हें पता ही नहीं चला। सुबह आठ बजे ड्यूटी वाले ने उन्हें जगाया। चार्ज सौंपकर मिस्टर गुप्ता अपने दोपहिया वाहन से घर की ओर रवाना हो गए।

आधा घंटा ही बीता होगा कि उन्हें सूचना मिली कि उनका ही सहायक अभियंता उनके विरुद्ध ट्राँसफार्मर चोरी की एफ0आई0आर0 दर्ज़ करा रहा है। उन्हें समझते देर न लगी कि ऐसा झूठा आरोप क्यों मढ़ा जा रहा है? दो दिन पहले ही तो उन्होंने सहायक अभियंता के लड़के की मोटरसाईकिल की मरम्मत करवाने से इन्कार कर दिया था, कहाँ से आते डेढ़-दो हज़ार रुपये।

वे तुरंत आनन-फानन में थाने गये। थाने के स्टेशन ऑफ़िसर को सब माजरा समझाया, मौका मुआयना करवाया। विद्युत उप गृह में दोनों ट्राँसफार्मर सहित सभी सामान यथावत था।

सहायक अभियंता के काटो तो ख़ून नहीं।

पुलिस स्टेशन के प्रभारी ने सहायक अभियंता को बुरी तरह हड़काते हुए कहा, ''तुम्हें शर्म नहीं आई अपने ही कर्मचारी को झूठा फँसाने में! अब तुम्हारे ही खिलाफ़ मुकद्दमा दर्ज़ करता हूँ झूठी सूचना देने में... बने हैं सहायक अभियंता.... तुम्हारे जैसे ही लोगों के कारण तो भ्रष्टाचार फल-फूल रहा है... तुम्हारे लड़के की मोटरसाईकिल की मरम्मत करवाने में मिस्टर गुप्ता ने रुपये खर्च नहीं किए तो प्रपंच में फँसाओ... निकम्मे... नकारा... झूठे... हैवान...।''

मिस्टर गुप्ता थानेदार के इंसाफ से गद्गद् होकर अपने घर की ओर लौट रहे थे।

90-बी, शिवपुरी, मुरादाबाद-244001 (उ0प्र0)

ज़िंदगी के रंग

बादशाह हुसैन रिज़वी

असग़र चचा की शादी की ख़बर किसी बड़े धमाके से कम न थी। हर घर में उसी शादी के चर्चे थे,

-क़ब्र में पैर लटकाये हुए है बुड्ढा और निकाह पढ़ा के एक ग़रीब को रंडापा झेलने के लिए लाकर घर में बिठा लिया।

-बीवी को मरे अभी साल भी पूरा नहीं हुआ। उसकी बरसी तक भी इंतज़ार नहीं किया।

-अभी तो उस बेचारी के कफ़न भी मैले नहीं हुए होंगे। मर्द की ज़ात...

और न जाने क्या-क्या... जितने मुँह उतनी बातें।

हालाँकि यह अपनी तरह की पहली घटना नहीं थी। इससे पहले भी कई और ढलती उम्र के विधुरों की अनमेल शादियाँ हो चुकी हैं। तब भी ऐसी बहसों का बाज़ार गर्म रहा होगा। धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया। सब भूल-भुला गये। लेकिन, इस ताज़ा घटना के साथ वे सारे प्रसंग अपने दुष्परिणामों के साथ जाग उठे थे और लोग चटख़ारे लेकर बयान कर रहे थे।

असग़र चचा मेरे पिता के छोटे भाई हैं। चचा और चची एक दूसरे को बहुत चाहते थे। हमारे ख़ानदान में उनकी जोड़ी की मिसाल दी जाती थी।

चचा अब सेल्स टैक्स विभाग में ओ0एस0 हैं। शहर में चार कमरों का मकान है। दो बेटे और दो बेटियाँ हैं। सभी की शादी हो चुकी है। बच्चों की पढ़ाई, बेटियों की शादी... कुछ दिनों तक थोड़ी आर्थिक तंगी ज़रूर थी, लेकिन अब, जब उनके दोनों बेटे अच्छी सर्विस पा चुके है, किसी तरह की कोई ज़िम्मेदारी नहीं है।

उनका परिवार सुखी परिवारों में गिना जाता था। चची के नसीब में शायद ज़्यादा दिनों तक आराम नहीं लिखा था। उन्हें ऐसा रोग लगा कि बिस्तर पर गिरीं, फिर उठ न सकीं। शहर के सभी बड़े डॉक्टरों को दिखाया, पर कोई फ़ायदा नहीं हुआ। रोज़-ब-रोज़ उनकी हालत बिगड़ती चली गयी। मजबूर होकर चचा उन्हें पी0जी0आई0 लखनऊ ले गये। तमाम तरह के टेस्ट करा डाले। पैसा पानी की तरह बहाया। पर, किसी की समझ में उनकी बीमारी नहीं आयी। दिन-ब-दिन उनकी हालत ख़राब होती चली गयी और डेढ़ साल की लंबी बीमारी झेल कर गुज़र गयीं। चचा की दुनिया उजड़ गयी। चची की मौत के सदमे से वे बुरी तरह टूट गये।

मौत की ख़बर पा कर सारे रिश्तेदार आये। घर में भीड़ जमा हो गयी। सभी चची की नेकदिली और सरल स्वभाव की तारीफ़ें कर रहे थे और चचा की इस उम्र में तन्हाई और बेचारगी पर अफ़सोस जता रहे थे। तीन दिन तक यह मातमी माहौल और नाते-रिश्तेदारों की गहमा-गहमी बनी रही।

फ़ातिहा के दूसरे दिन से भीड़ काई की तरह छँटना शुरू हो गयी। चार-पाँच दिन में पूरा घर खाली हो गया। छोटा बेटा 10 दिन बाद चालीसवें में आने का वायदा करके बच्चों के साथ ड्यूटी पर चला गया। बड़ा बेटा अलबत्ता माँ का चालीसवाँ करके गया। फूफी दो महीना रह कर अपने घर चली गयी। बेटियाँ कब तक रह सकती थीं? उन्हें जाना ही था, चली गयीं। अब इतने बड़े मकान में रह गये सिर्फ़ दो लोग। असग़र चचा और उनका पुराना ख़िदमतगार गुलाम रसूल जो उनसे उम्र में एक-दो साल बड़ा ही होगा।

सायँ-सायँ करते लंबे-चौड़े मकान में चचा खुद को तन्हा पाते। कहीं दिल नहीं लग रहा था। यही छत और दीवारें जो सकून देती थीं, जहन्नुम बन चुकी थीं। हर घड़ी मन उचाट-उचाट सा रहता। आफ़िस में दो महीने की छुट्टी की दरख़्वास्त भिजवा दी थी। दफ़्तर के साथी, एस0टी0ओ0 यहाँ तक कि उनके विभाग के डिप्टी कमिश्नर भी घर आकर दिलासा दे चुके थे, लेकिन चचा अपने ग़म से उबर नहीं पा रहे थे। ज़्यादातर कमरे में पड़े रहते। बूढ़ा नौकर, साथी, हमदर्द या दोस्त जो चाहे कहो, उसकी ज़िद पर थोड़ा-बहुत खा लेते और फिर अपने कमरे में चले जाते।

इस दौरान् एक पापा ही थे, जो अपना ज़्यादातर वक़्त छोटे भाई के साथ गुज़ारते। चचा हफ़्तों घर से बाहर नहीं निकले। बहुत मन किया, तो सुबह या शाम हमारे घर चले आते। पापा और अम्मा के पास कुछ देर बैठते। ज़्यादातर ख़ामोश, गुम-सुम रहते। कभी नाश्ता या खाने का वक़्त है, तो बहुत ज़िद करने पर थोड़ा-सा कुछ खा लिया और चले गये।

असग़र चचा का बाहरी कमरा ड्राइंगरूम कहलाता था, जहाँ पहले यार-दोस्तों की महफ़िल जमी रहती थी, नाश्ते-चाय-पान का दौर चलता, देश-दुनिया की बातें होती थी। अब चचा ने उस कमरे में बैठना छोड़ दिया था। वह कमरा ज़्यादातर बंद पड़ा रहता।

इसीलिए, इधर आने वालों का सिलसिला क़रीब-क़रीब नहीं के बराबर था। कम ही लोगों का आना होता था, जो उनके बहुत ही नज़दीकी थे। अलबत्ता इधर ब्याहू चचा का आना-जाना कुछ ज़्यादा था।

लोगों का कहना था कि यह शादी ब्याहू चचा ने करायी है। वैसे ब्याहू चचा की रोज़ाना की बैठकी देख कर मेरा भी माथा ठनका था। लेकिन मेरा शक़ इतनी जल्दी सच में तब्दील हो जाएगा, मैंने सोचा भी नहीं था।

आप सोचते होंगे यह ब्याहू चचा कौन हैं? अभी तक तो 'ब्याह-कटवा' का नाम सुना गया था, अच्छी-ख़ासी लगी हुई शादियाँ कटवाना जिनके बायें हाथ का खेल था। वर पक्ष या वधू पक्ष के कान में जाने कौन-सा मंत्र फूँका कि घर तक आयी हुई बारात लौट गयी। पल भर में सगाई ख़तम। पर, ये 'ब्याहू चचा' तो कुछ अजीब क़िस्म के जीव थे। अपनी तरह के अकेले और निराले। शादियाँ तय करना उनका प्रिय मशग़ला था। दुबला-पतला शरीर 60-65 साल की उम्र में भी सर के बाल काले थे और सभी दाँत सलामत थे। वे थे तो दुबले-पतले, लेकिन काठी के मज़बूत थे। नाश्ता करने के बाद घर से निकलने की तैयारी शुरू कर देते। अलीगढ़कट पाजामा, मौसम के अनुकूल सूती या ऊनी शेरवानी। गले तक सारे बटन बंद। सर पर टोपी, शेरवानी की ऊपरी जेब में दो फाउन्टेन पेन लगे होते, जिनमें से एक में नीली रोशनाई होती दूसरी में लाल। बॉलपेन के चलन के बावजूद अब भी वे फाउन्टेन पेन का ही इस्तेमाल करते थे। शेरवानी की बग़ल की दोनों जेबों में से एक में उनका बटुआ होता और दूसरी में हमेशा दो-चार इनलैन्ड, पोस्टकार्ड और उनकी छोटी से नोटबुक पड़ी रहती, जिसमें गाँव-जवार, दूसरे शहरों के कुँवारे लड़के और लड़कियों का बायोडाटा पूरे पते के साथ दर्ज़ रहता।

कुँवारी लड़कियों की शादी के लिए चिंतित पिताओं की निगाह में वे मसीहा का दर्जा रखते थे। लोग उनके पास खिचे चले आते। वैसे वे ख़ुद ही छड़ी हिलाते हुए उनके घर पहुँच जाते। कोई अपनी बेटी की शादी के सिलसिले में हुई भाग-दौड़ का दुखड़ा सुनाता, तो बनावटी गुस्सा दिखाते हुए कहते—"अजीब घामड़ हो। अभी तक मुझसे क्यों नहीं कहा?" उनका हाथ झट से शेरवानी की बग़ल की जेब में जाता, इनलैन्ड, पोस्टकार्ड, जो हाथ में आता निकाल लेते और ऊपरी जेब से क़लम निकाल कर फटाफट एक ख़त घसीट देते। नोटबुक में देख कर पता लिखते। लाल क़लम से जल्द, लौटती डाक से जवाब भेजने को ताक़ीद करते और सामने बैठे आदमी के हाथ में थमाते हुए कहते—"इसे अभी जाकर डाकखाने के डिब्बे में डाल आओ। अंदर हफ़्ता अगर जबाब न मिले, तो बताना। फिर फ़ोन पर बात करते हैं। लड़का सर्विस में है। घर अच्छा है। शरीफ़ लोग हैं। उम्मीद है, आपके बजट से कम में ही यह शादी निपट जाएगी...।" चचा के इसी स्टाइल पर लोग फ़िदा थे और उनका गुन गाते थे।

अब तक वे कितनी शादियाँ करा चुके थे, शुमार करना मुश्किल था। उन्हें इस बात का गर्व था कि अभी तक उन्होंने जितनी शादियाँ करायी थीं, सब क़ामयाब रहीं। कहीं किसी तरह का कोई लफ़ड़ा या टंटा नहीं हुआ। चचा थोड़ा घुन्ने टाइप ज़रूर थे। अगर किसी की कोई बात लग जाती, उस वक़्त तो वे चुप लगा जाते, पर मौक़ा मिलते ही ऐसा सबक देते कि वह तिलमिला कर रह जाता। चचा ने जहाँ बहुत सारे नेक काम करके लोगों में इज़्ज़त और सवाब कमाया था, वहीं सबक सिखाने के लिए उन्होंने स्वयं अपने कुछ खास मित्रों को बतायी थी, वर्ना इस तरह का काम वे इतनी सफ़ाई और बारीक़ी से करते कि किसी को भनक तक न मिलती। एक साहब को... अपने हसब-नसब और सैय्यदज़ादा होने का बड़ा नाज़ था। कई जगहों पर अपने बेटे की शादी इसीलिए ठुकरा चुके थे कि उनके मतानुसार उसकी हड्डी (नस्ल) ख़राब थी। चचा ने उनके लड़के की शादी एक नवदौलतियाँ धुनिया की लड़की से करा दी। लड़की के बाप ने दहेज़ में इतने सारे सामान और पैसों से उनका मुँह ऐसा बंद कर दिया कि उसके हसब-नसब-हड्डी की जाँच-पड़ताल की उन्होंने ज़रूरत ही नहीं महसूस की। चचा जब कभी अपनी मेजोरिटी में, थोड़ा मूड में होते, तो तंज़िया अंदाज़ में बोलते—"बहुत नाज़ था बच्चू को सैय्यदज़ादा होने का" और ठठ्ठा मार कर हँस पड़ते। जो लोग उनका इशारा समझते, उनके ठहाकों में शामिल हो जाते।

ब्याहू चचा जहाँ इतनी सारी शादियाँ करा चुके थे, वहीं पिछले कई वर्षों से वे एक रिश्ते को लेकर बहुत फ़िक्रमंद थे। अनवरी बेगम, जो उन्हीं के मुहल्ले की बुज़ुर्ग बेवा थीं, उनकी लड़की की उम्र 35 साल से ऊपर हो चुकी थी। इतनी ग़रीब थीं कि लड़की के लिए दो जोड़े कपड़े, चंद बर्तन और 10-12 बारातियों को खाना-खिलाना मुश्किल था। ख़ुद्दार इतनी थीं कि किसी के आगे हाथ नहीं फैला सकती थीं। वैसे उनके अपने रिश्तेदारों में कई काफ़ी ख़ुशहाल लोग थे, लेकिन ग़रीब का कौन होता है? मुहल्ले की लड़कियों को कुरान और उर्दू पढ़ा कर , कपड़े सी कर गुज़ारा कर रही थीं। ऐसे घर की बेटी को कौन पूछता? ब्याहू चचा भी लाचार थे। उन्होंने बहुत कोशिश कीं, लेकिन क़ामयाबी नहीं मिल सकी, जिसका उन्हें बहुत मलाल था।

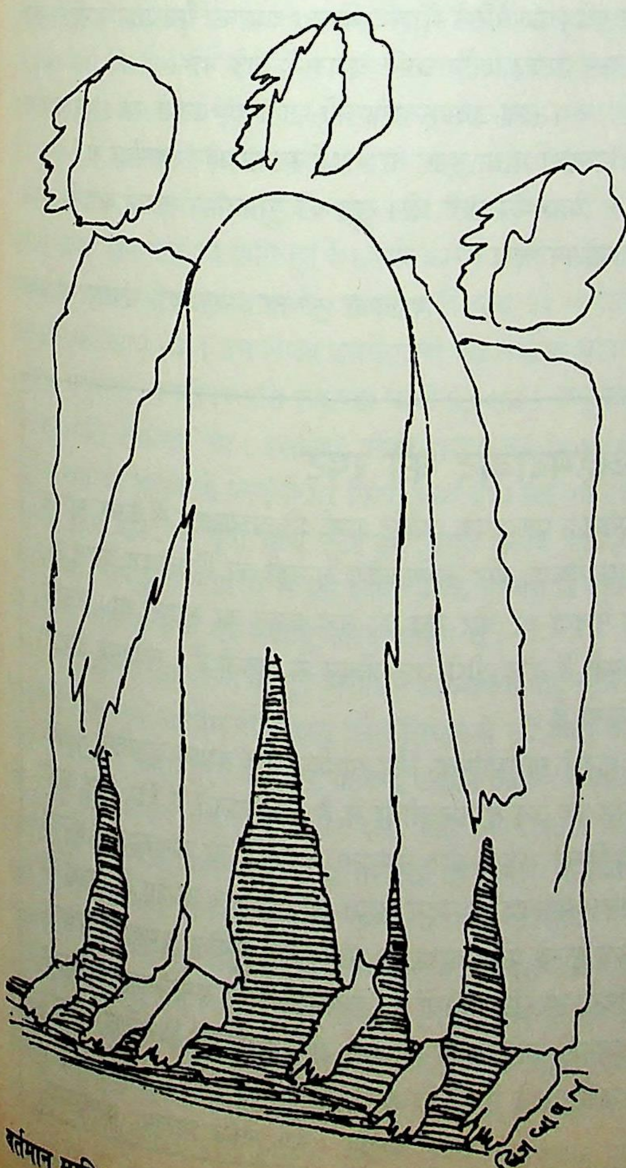
असग़र चचा की बीवी के इंतक़ाल की ख़बर सुन कर जहाँ ब्याहू चचा को बेहद अफ़सोस था कि उम्र के इस पड़ाव पर वे अकेले और बेसहारा हो गये, वहीं अंदर कहीं उम्मीद की किरण फूटी कि अगर 'वर्क' किया जाए, तो असग़र को शीशे में उतारा जा सकता है। इसी ख़्याल के तहत ब्याहू चचा अपने तीर-तरकश से लैस होकर इस काम पर लग गये। वक़्त तो बहुत लगा, लेकिन चचा तब तक लगे रहे, जब तक उन्हें सफलता न मिल गयी।

यह सभी जानते थे कि असग़र चचा को शादी पर आमादा

करने में ब्याहू चचा का हाथ है। सब उन्हीं पर इल्ज़ाम धर रहे थे। ब्याहू चचा प्रेरक तो थे, ही इसमें कोई शक नहीं, पर असग़र चचा की रज़ामंदी के बिना यह मुमकिन नहीं हो सकता था। उनकी मर्ज़ी रही होगी, तभी तो यह निकाह अमल में आया। असग़र चचा की मजबूरियों को कोई नहीं समझ रहा था और वे लोगों में चर्चा का विषय बने हुए थे।

चायखानों में बैठने की मेरी आदत नहीं है। सारा दिन स्कूल में बच्चों के साथ मग़ज़मारी, शाम में थोड़ा-बहुत घर की मार्केटिंग। इतना थक जाता हूँ कि अपने बच्चों के लिए मुश्किल से घंटा-डेढ़ घंटा निकाल पाता हूँ। रात का खाना खाने के बाद दो-एक टी0वी सीरियल, न्यूज देखी और सो गये। सुबह से फिर वही चक्कर। बँधी-बँधाई ज़िंदगी है अपनी। फुर्सत ही कहाँ मिलती है कहीं आने-जाने की !

उस दिन बाज़ार से घर लौटते हुए चौराहे के पास चायखाने में बैठे मेरे बचपन के साथी और फुफेरे भाई अहमद ने पुकारा, तो चला गया। उस वक़्त वहाँ असग़र चचा की शादी पर जुमलेबाज़ी चल रही थी। इतनी अश्लील कि वहाँ बैठना मुश्किल हो गया।



जल्दी से चाय ख़त्म करके मैं उठ गया। साथ ही अहमद भी पैसे अदा करके बाहर आ गया।

साथ-साथ चलते हुए अहमद की चुप्पी टूटी, ''यार असग़र मामू को इस उम्र में क्या सूझी? भरा-पूरा ख़ानदान है। वे सब क्या सोचेंगे? क्या वे परिवार को बिखरनें से बचा पाएँगे? और तो और तराशी हुई दाढ़ी, सर के बालों और दाढ़ी में ख़िज़ाब, एकदम से हुलिया बदल गया है उनका। शर्म महसूस होती है उन्हें देख कर यार! तुम चुपचाप सुने जा रहे हो। सुन भी रहे हो या कहीं और हो? बोलते क्यों नहीं?'' अहमद ने मुझे टोका।

न चाहते हुए भी मुझे बोलना पड़ा, ''कहाँ है वह भरा-पूरा ख़ानदान? अब तो सिर्फ़ वे हैं और उनका बूढ़ा मुलाज़िम। कोई हाल पूछने वाला नहीं'', चचा का पक्ष लेते हुए मैंने पूछा, ''तुम्हें हैरत क्यों हो रही है? अख़बार नहीं पढ़ते, 70-80 साल की उम्र में भी लोग धूम-धाम से शादियाँ रचा रहे हैं। चचा तो अभी 60 के भी नहीं हुए। अभी तो उनकी दो-तीन साल सर्विस बाक़ी है।''

''मेरे भाई यह हिन्दुस्तान है। अमेरिका या यूरोप नहीं।''

''हिन्दुस्तान का आदमी, आदमी नहीं होता?''

''उन सभी की क्या बात करते हो, वहाँ परिवार की कोई परिकल्पना नहीं होती। यहाँ की सामाजिक संरचना वहाँ से बिल्कुल मुख़्तलिफ़ है। हमारा समाज रिश्तों के बहुत नाज़ुक, बारीक़ धागों से बँधा हुआ है। इसकी बड़ी परवाह करनी पड़ती है। भाई माफ़ करना, मामू ने उन सारे रेशमी धागों को उलझा दिया है। देख नहीं रहे हो सभी क्या उल्टा-सीधा बक रहे हैं?''

काफ़ी देर हम दोनों ख़ामोश चलते रहे, फिर मैं बोल उठा, ''मैं भी पहले तुम्हारी ही तरह सोच रहा था, बल्कि मेरा मन उनके प्रति नफ़रत से लबरेज़ था, लेकिन जब मैंने क़रीब से उनकी कैफ़ियत देखी, तो मुझे लगा कि उनका क़दम ग़लत नहीं है। ऐसा न करते, तो शायद बिस्तर पकड़ लेते।'

उसी रात चचा के दोनों बेटों का मेरे मोबाइल पर फ़ोन आया। बड़े भाई का सात बजे और छोटे का साढ़े आठ बजे। दोनों गुस्से में औल-फ़ैल बक रहे थे, ''उस औरत को हम कभी माँ का दर्जा नहीं दे सकते। अब अब्बू हमारा मुँह देखने को तरस जाएँगे। हम लोगों से ज़िक्र भी नहीं किया। अब्बू ऐसा क़दम उठाएँगे, हमने सोचा भी नहीं था। तुम लोगों ने भी हमें नहीं बताया। हमें तो दूसरों से ख़बर मिली। अब हम कभी घर का रुख़ नहीं करेंगे।''

मैं सिर्फ़ हूँ-हाँ करता रहा। बोलता भी क्या?

रात में खाने की मेज पर पापा-अम्मा, छोटे भाई, दोनों बहुएँ—सभी मौजूद थे। मैं खुद को कभी समझ नहीं पाया। अजीब नेचर है अपना। कभी अपनी राय पर क़ायम रहने के बजाय दूसरों की बातों से प्रभावित होकर उसी रौ में बहने लगता हूँ। अभी चंद घंटे पहले चचा के पक्ष में अहमद से बहस कर रहा था, फिर शाहिद भाई और अख़्तर (असग़र चचा के दोनों बेटे) की बातों में आकर

उसी धारा में बह गया। डोंगे से सब्ज़ी निकालते हुए मैं अनायास बोल पड़ा "चचा ने बहुत ग़लत किया। चचा के दोनों बेटों का फ़ोन आया था। बहुत नाराज़ हैं। बोल रहे थे, अब कभी घर का रुख़ नहीं करेंगे। चचा को मुँह नहीं दिखाएँगे... चचा ने ग़लत तो किया ही।"

लोग मज़ाक उड़ाते हैं," छोटे भाई ने भी टुकड़ा लगाया।

अम्मा मेरा मुँह देख रही थीं। पापा बिल्कुल ख़ामोश थे। उनके चेहरे पर कर्ब और गुस्से के असरात नुमायाँ थे। प्लेट की ओर बढ़ा हुआ हाथ रोक कर बोले, "अब तुम लोग तय करोगे कि उन्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं? उस पर मुसीबत का पहाड़ पड़ा। कुछ कहने के पहले सोचना चाहिए। बेटों की क्या बात करते हो, दोनों हद दर्जे के नालायक हैं। वे मुँह दिखाने के क़ाबिल नहीं। कौन सा मुँह लेकर आएँगे। दोनों में से कोई एक अपना परिवार यहां नहीं छोड़ सकता था? खुदग़र्ज और बेरहम है दोनों। अपनी-अपनी दुनियाओं में मस्त... बाप पर क्या गुज़री? कैसे गुज़र-बसर हो रहा है? किस हाल में है? किसी ने सोचा... तुम लोग भी उसी रौ में बह गये... ज़बानी हमदर्दी जताने वालों और मज़ाक उड़ाने वालों में मैं कोई फ़र्क़ नहीं समझता।"

पापा गुस्से से काँप रहे थे। शायद खुद पर क़ाबू पाने के लिए वे ख़ामोश हो गये। सब ख़ामोश थे और सब खाना छोड़ कर पापा का मुँह देख रहे थे। दो घूँट पानी पीकर उन्होंने थोड़ा नरम लहज़े में बोलना शुरू किया, "मेरा छोटा भाई है। बड़ी मुश्किल से तैयार हुआ। सच पूछो, तो मैंने उसे राज़ी किया। आख़िर ज़िंदगी तो गुज़ारनी ही थी। कमर में दर्द हो या हाथ-पैर में ऐंठन या सर दर्द से फट रहा हो, किससे कहे। कहाँ है वह भरा-पूरा घर? सब तो छोड़ कर चले गये... बेटे बिला-वजह ताव खा रहे हैं। पक्के बेग़ैरत हैं... उसे एक सहारे की ज़रूरत थी... ग़रीब बेवा की बेटी है। दहेज़ के अभाव में अधेड़ उम्र हो चुकी थी। माँ की साँस उखड़ जाने के बाद उस बेसहारा का क्या होता?... दोनों को सहारे की ज़रूरत थी. .. खुदा भला करे अकरम ब्याहू चचा का... बड़े सवाब का काम किया है। खुदा अज्र (सिला) देगा इसका। उसने बहुत नेक काम किया है। तुम लोग ख़ामख़्वाह उस पर तैश खा रहे हो।

"किसी और से कहने-सुनने की ज़रूरत क्या थी? मग़रिब की नमाज़ के बाद मस्जिद में निकाह पढ़ा गया। सारे नमाज़ी, मैं, और मक़सूद भाई (फूफा) सब मौजूद थे। बाद में हम दोनों असग़र के साथ गये और दुल्हन को रुख़सत कराके ले आये।

"बुज़ुर्गों का मज़ाक उड़ाना अच्छी बात नहीं है। ख़बरदार, आइंदा ऐसी बातें मत करना। ऐसी बेहूदा बातों से मुझे बहुत तक़लीफ़ पहुँचती है", पापा का लहज़ा, जो अभी थोड़ा नरम हुआ था, फिर तल्ख़ हो गया।

पता नहीं, पूरा खाना उन्होंने खाया भी था या नहीं। मेज़ से उठ गये। वाशबेसिन में हाथ धोया। दवा का बैग और पानी से भरा गिलास उठाया और अपने कमरे में चले गये।

हम सब अवाक् पापा को जाते हुए देखते रहे। पूरे माहौल पर सन्नाटा छाया हुआ था। सब स्तब्ध और ख़ामोश थे।

बात मैंने छेड़ी थी। खुद को गुनाहगार समझ कर मैं अपने को कोसने लगा।

बख़्तियार मुहल्ला (भरपुरवा), गोरखपुर-273001

'वर्तमान साहित्य' क्लब, अहमदाबाद की रपट

'वर्तमान साहित्य' के नये अंक–'दुष्यंत कुमार पर विशेष' पर युवा समीक्षक प्राध्यापक ज्योति शर्मा की अध्यक्षता में बैठक संपन्न हुई। इस अवसर पर ज्योति शर्मा ने पत्रिका के बहाने दुष्यंत कुमार पर रोचक और उल्लेखनीय सामग्री का विश्लेषण करते हुए कहा कि दुष्यंत कुमार हिन्दी ग़ज़ल का वह नाम है, जिसमें संघर्ष का माद्दा था और सच को सच कहने का साहस था। उनकी ग़ज़लें इश्क़ मिज़ाजी और इश्क़ हक़ीक़ी के दायरे का अतिक्रमण करती हैं और सीधे जन-जीवन से जुड़ती हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने अपने लेख में दुष्यंत की तड़प को बख़ूबी अभिव्यक्त किया है।

क्लब के संयोजक डा0 मनोज सक्सेना ने कहा कि दुष्यंत की ग़ज़लें सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रभाव इसलिए रखती हैं, क्योंकि उनका जुड़ाव कहीं न कहीं जनमानस से है, हाशिये पर रह रहे उन तमाम लोगों से है, जो जानते हैं कि 'मत कहो आकाश में कुहरा घना है।' 'साये में धूप' न सिर्फ़ दुष्यंत की अपितु हिन्दी ग़ज़ल और समग्रता में जाएँ, तो समकालीन हिन्दी साहित्य की एक प्रतिनिधि कृति है। 'आतंकवाद बनाम धर्मरक्षा' शीर्षक संपादकीय छद्म चेहरों को बेनकाब करता है, साथ ही उन तमाम बिंदुओं पर हमें सोचने को विवश करता है, जिनसे जनतांत्रिक मूल्यों को बचाया जा सके। डा0 सुनील कुमार ने पत्रिका के विविध आयामी कलेवर पर अपनी टिप्पणी देते हुए प्रगतिशील साहित्य संबंधी भ्रांतियों का हवाला दिया। रामविलास अग्रवाल ने संतोष चौबे और राम मेश्राम की कविताओं का हवाला देते हुए आज की कविता की कोशिश और तड़प को विवेचित किया। डा0 धीरजभाई वणकर, डा0 सुधा श्रीवास्तव, भूपेन्द्र सिंह, शब्बीर हाशमी आदि ने भी विचार रखे।

प्रस्तुति : डा0 मनोज पाण्डेय, अहमदाबाद

बिहार की बाढ़-त्रासदी : प्रलयंकारी

महेन्द्र नारायण पंकज

बिहार में कोसी नदी का पूर्वी एफ्लक्स बाँध 18 अगस्त 2008 ई0 को नेपाल के कुसहा में टूट गया जबकि उस दिन कोसी में इस तटबंध की क्षमता (साढ़े नौ लाख क्यूसेक) से बहुत, कम केवल पौने दो लाख क्यूसेक पानी बह रहा था। राज्य की जनता और देश के अन्य भागों के लोग स्तब्ध रह गए।

तटबंध टूटने का कारण

कोसी नदी नेपाल की सबसे बड़ी नदी है। यह चीन से तिब्बत होकर निकलती है तथा भारत में गंगा में गिरने के पूर्व कुल 69,300 वर्ग किलोमीटर ज़मीन से जल निकासी करती है। इस ज़मीन का 42.4 : चीन में 44.3 : नेपाल में और 13.3 : भारत में पड़ता है। अतीत में इसमें आयी बाढ़ ने भारत और नेपाल के अधो बहाव वाले क्षेत्रो में भारी विनाश और तबाही मचायी है। जिसमें अपार धन-जन की हानि हुई है। इसी कारण कोसी नदी को बिहार का शोक भी कहा जाता है। सबसे बड़ी बाढ़ 24 अगस्त 1954ई0 की आयी थी। उस समय इसमें पानी का सर्वोच्च बहाव 24,000 क्यूसेक (घनमीटर प्रति सेकेण्ड) यानी 8,54615 क्यूसेक (घनफुट प्रति सेकेण्ड) था। इसलिए कोसी बराज को 954000 क्यूसेक सर्वोच्च बहाव के लिए तैयार किया गया था। इस वर्ष 18 अगस्त 2008 को जब पूर्वी बाँध टूटा उस समय बहाव 42000 क्यूसेक था। उपर्युक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि तटबंध के टूटने का कारण अधिक वर्षा की बजाए अन्य कारण थे।

एन0आई0टी0 पटना के पूर्व संसाधन प्राध्यापक डॉ0 संतोष कुमार ने एक जन आयोग के सदस्य की हैसियत से टूटे स्थल का दौरा व निरीक्षण किया था। निरीक्षण के बाद उन्होंने कहा- "तटबंध के टूटने का कारण इंजीनियरों, ठेकेदारों और नौकरशाहों की मुजरिमाना उपेक्षा के कारण स्थलों व तटबंधों के क्रमशः कमजोर होते जाना है। जब जन-आयोग के अन्य सदस्यों के साथ मैंने तटबंध के टूटे स्थल को देखा तो पाया कि वह कोसी बराज से 11.9 किलोमीटर दूरी पर 1735 मीटर लंबा है। टूटे स्थल के ऊपरी बहाव वाले भाग में एक प्रायद्वीप का निर्माण स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा था। ऐसा लगता है कि रख-रखाव के अभाव में कमज़ोर स्तर पर धाराओं का एकत्रीकरण होने से उस पर अतिरिक्त दबाव पड़ गया और वह टूट गया। ज्ञात हो कि तटबंध के टूटने का पूर्वानुमान संभव था।

तटबंध के टूटे स्थल से लगभग एक लाख क्यूसेक पानी ने भारी दबाव बनाते हुए महेन्द्र राज मार्ग को तोड़ डाला और दक्षिण की ओर मुड़ते हुए 1892-1926 के कोसी नदी परित्यक्त मार्ग को पकड़ लिया। इस प्रकार कोसी ने टूटने के पहले के अपने सी आकार वाले रास्ते को वर्जित कर दिया और सीधे गंगा में मिल गई। दिलचस्प बात यह है कि कुसैला की स्थिति में जहाँ कोसी गंगा में गिरती है, कोई खास फर्क नहीं पड़ा।

टूटे स्थल कुसैला के बीच कोसी ने यह नई सीधी राह पकड़कर अपने दोनों किनारों के विशाल इलाकों को बाढ़ग्रस्त कर दिया और 20-30 लाख लोगों को प्रभावित किया। धन-संपत्ति की भारी हानि हुई तथा अभूतपूर्व रूप से मानव और पशुओं की प्राण हानि हुई। कोसी तटबंध 1971, 1977, 1989, 1987, 1998 मे टूटा था। उस समय भी अपार धन-जन की की क्षति हुई थी।

कोसी की स्थिति

कोसी की स्थिति के बारे में सबसे ताज़ा विश्वसनीय जानकारी दूसरे बिहार राज्य सिंचाई आयोग की रिपोर्ट 1994 के पाँचवें खण्ड 'बिहार की बाढ़ और जल निकासी की समस्याएँ और इनके निदान के उपाय' के खंड-2 के द्वारा ही मिल सकती है। इसके अनुसार कोसी एवरेस्ट से निकलने वाली अरूण कोसी, कंचनजंगा से निकलने वाली तमुर कोसी और पूर्वी काठमांडू पहाड़ों से निकलने वाली सुनकोसी के अलावा इन्हीं क्षेत्रों से निकलने वाली भोटिया कोसी तमकोसी, बुद्धकोसी और वरुणकोसी के सम्मिलन से बनी है। यह सम्मिलन नेपाल में त्रिवेणी के ऊपर हुआ है। इसी कारण नेपाल में कोसी का लोकप्रिय नाम सुप्तकोसी है। इसमें सकल जलग्रहण क्षेत्र का 85 प्रतिशत (62620 वर्ग कि0मी0) के तिब्बत और नेपाल में है और शेष 11,410 वर्ग किलो मीटर जलग्रहण क्षेत्र भारत में है। इसमें मधुबनी, दरभंगा, सहरसा, सुपौल, मधेपुरा, अररिया, पूर्णिया, कटिहार, भागलपुर और खगड़िया जिले के भूभाग आते हैं। जल निकासी मुख्यतः वीरपुर सुपाल, निर्मली, सहरसा, मधेपुरा, पूर्णियाँ, मुरलीगंज और कुसैला में कई धाराओं में

बंटकर होती है जिनमें सोलह धाराएँ मुख्य हैं।

उसके पीछे बराज से ठीक पहले कोपरिया तक और पश्चिम घोघरडीहा तक नहरें निकली हैं। इस तरह कोसी की जल निकासी के लगभग 20 बड़े चैनल हैं।

18 अगस्त 08 को कोसी एफ्लक्स तटबंध के टूटने के बाद इन्हीं पूर्वी धारों से होकर गुज़रने के लिये मजबूर हो गई। कोसी हिम-नद आधारित है 'खासकर सुरसरी मिचैला बेल्ही' नदी आधारित आती है। इसलिए नवम्बर के बाद भी इसमें बाढ़ आती है। अतः निर्माण और मरम्मत के लिए कम समय देती है।

18 अगस्त 2008 को तटबंध के भीतर बढ़ते पानी के स्तर और दवाब की वजह से कोसी बैराज के बावन फाटक खोले गए। इसके बाद भी तटबंध टूट गया। इससे बिहार के सहरसा, सुपौल, मधेपुरा, अररिया, पूर्णिमा, कटिहार, खगड़िया, बेगूसराय, दरभंगा मधुबनी जिले की लगभग पच्चीस लाख से अधिक आबादी बाढ़ की चपेट में आ गई जिससे 8 लाख हेक्टेयर जमीन में लगी फ़सल बर्बाद हो गई। वहीं नेपाल के साठ हज़ार लोग बेघर हो गए और पांच सौ कारखाने बंद हो गए। अकेली कोसी नदी, प्रान्त के दस हजार वर्ग किलोमीटर में तबाही मचाने की क्षमता रखती है। कोसी नदी की मनमानी के कारण बिहार की 7.680 वर्ग किलोमीटर और नेपाल की 708 वर्ग किलोमीटर ज़मीन बर्बाद हो चुकी है।

नेपाल के सुनसरी जिले के सात प्रखंड क्षेत्र ज़्यादा प्रभावित हुए। कुल 1702 परिवारों को विस्थापित होना पड़ा। वैसे कुल बाढ़ प्रभावितों की संख्या एक लाख मानी गई है। बिहार सरकार द्वारा प्रधानमंत्री को भेजी गई चिट्ठी के अनुसार 242 ग्रामपंचायतों के 671 गाँव प्रभावित हुए हैं।

1951 में पूर्वी बिहार के लोगों को कोसी नदी की बाढ़ का सामना करना पड़ा था और उसके परिणामस्वरूप बाढ़ पर नियंत्रण के लिए व्यापक योजना का खाका खींचा गया था। इन योजनाओं के मद्देनजर 1954 में नेपाल से एक संधि की गई और 1959ई0 में कोसी बराज की स्थापना की गई। लेकिन उसके बाद बिहार और केन्द्र में आनेवाली एक के बाद एक सरकारों ने कोसी परियोजना के अन्य पहलुओं को गंभीरता से नहीं लिया।

ठेकेदारों, इंजीनियरों, अफ़सरों की लापरवाही के कारण जब पूर्वी बाँध 18 अगस्त 2008 को टूटा तो कोसी ने अपनी 250 वर्ष पुरानी राह पकड़ ली। कोसी नदी के इस मार्ग पर कई गाँव, शहर बस चुके थे इसीलिए अररिया जिले के नरपतगंज और फारविसगंज प्रखण्ड के उत्तरी इलाके मुहान के गाँव तबाह हो गये। कोसी नदी किशनगंज होते हुए पुराने रास्ते पर बहने लगी। बाँध के नजदीक के गाँव के अस्तित्व मिट गए। सैकड़ों लोगों को ऊँचे स्थानों पर शरण लेनी पड़ी। जिन गाँवों से पानी होकर गुज़रा वहाँ बालू पट गई।

नदी के दूसरे हिस्से ने सुरसर नदी होते हुए दक्षिणी इलाके को तबाह किया। तटबंध के सबसे नज़दीक छतरपुर के कई गाँव अपने अस्तित्व को खोज रहे हैं। घर, खेत सब नदी के मुख्यधार बन चुके हैं। शाखाओं के पाट भी चौड़े हुए, उन्होंने भी कई गाँव निगले।

इस बाढ़ में अनेक जिले लगभग पूरी तरह तबाह और बर्बाद हुए। बाढ़ के समय प्रलय का नज़ारा था और लोग त्राहि माम कर रहे थे। जिन्हें जब भी मौका लगा गाँव छोड़कर भागने लगे।

अररिया जिले के भरगामा प्रखण्ड में सिमरबनी पंचायत सबसे ज़्यादा तबाह हुआ। भरगामा प्रखंड ज़्यादा नुकसान से बच गया। इसकी कुछ पंचायतों में ही बाढ़ का प्रभाव रहा।

भरगामा प्रखण्ड मुख्यालय तथा इसके अधिकांश पंचायत सुरक्षित रहे। फलस्वरूप 22 अगस्त 2008 से सुपौल जिले के छातापुर, त्रिवेणीगंज प्रखण्ड और मधेपुरा जिले के कुमारखंड प्रखण्ड से बाढ़ पीड़ितों ने भरगामा में शरण लेना शुरू किया कई स्थानों पर बिहार सरकार की ओर से मैगा कैम्प लगाये गए और राहत का कार्य चलाया गया। राहत कार्यों में स्थानीय लोगों, स्वयंसेवी संस्थाओं व धार्मिक संस्थानों ने भी कार्य किया। कई रेलवे स्टेशनों में भी बाढ़ पीड़ित शरण लिए हुए थे, जहाँ रेल मंत्रालय की ओर से राहत कार्य चलाया गया। ये सभी राहत कार्य ऊँट के मुँह में जीरा जैसा ही था।

बाढ़ प्रभावित जिलों में सबसे अधिक मधेपुरा जिला प्रभावित हुआ। यहाँ तक कि मधेपुरा जिला मुख्यालय पानी में डूब गया और लोगों को मधेपुरा शहर छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इस दरम्यान मधेपुरा जिले के मुरलीगंज शाखा नहर पर एवं पूर्णियाँ जिले के जानकी नगर शाखा नहर पर पंद्रह किलोमीटर दूरी तक पचास हज़ार से अधिक बाढ़ पीड़ित परिवारों ने आश्रय ले रखा था।

सारे सरकारी राहत कार्य विलम्ब से प्रारंभ हुए। केन्द्र सरकार ने इसे राष्ट्रीय आपदा घोषित किया और सेना भी भेजी। नावें विलंब से आयीं। तब तक बहुत से लोग नदी की धारा में बह गए। नाव से बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों से लोगों को निकालकर सुरक्षित शिविरों व स्थानों में रखा जाने लगा। स्थानों, कैम्पों, शिविरों में भी लोगों को काफी कष्ट था क्योंकि वहाँ लोग समूह में रह रहे थे। टेन्टों में या झुग्गी झोपड़ियों या खुले आसमान के नीचे भी। कहीं लोग बीमार थे तो किसी कैम्प में महिलाएँ बच्चे जन रही थी तो कहीं बच्चे बीमार थे। हाहाकार! दुख-दैन्य, पीड़ा-दर्द व भय का माहौल बना हुआ था।

15 अक्टूबर 08 के बाद से अधिकांश कैम्प लगभग बन्द कर दिए गए। लोग अपने-अपने उस गाँव में लौटने के लिए मजबूर हो गए जहाँ उनके घर बर्बाद हो गए। उनके अनाज, पानी, कपड़े-लत्ते सभी बह गए। अब वे ठंड की रात कैसे गुजारेंगे? फसलें बर्बाद हो गई और आगे गेहूँ की फसल की भी उम्मीद नहीं है।

ग्राम व पोस्ट - भतनी, वाया-कुमारखण्ड
जिला-मधेपुरा (बिहार)

कोसी अंचल में बाढ़ (वर्ष 2008)

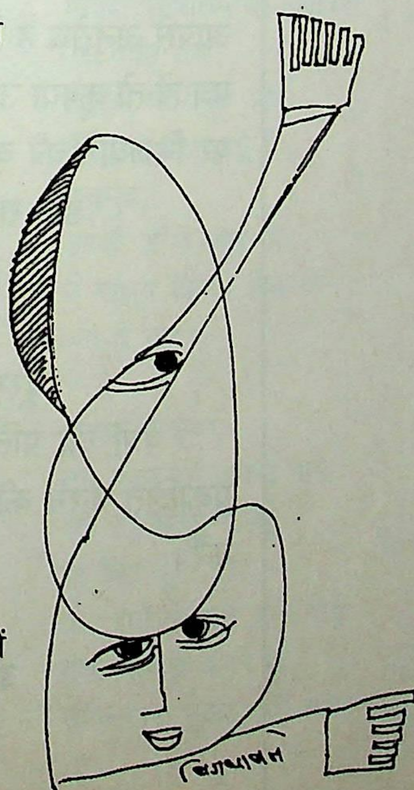
मुसाफिर बैठा

(1)
लोग भूल चले थे अब तक
कि धन-धान्य की कोख रही कोसी...
कभी शोक भी कहलाया करती थी
अब उसके दुलार-पुचकार से फिर से
हरियर होने लगे थे अंचल के रहवासी
कि इसके जल का तांडव नाच
तबाही फिर से रच गया था
तबाही का अथाह मंज़र
किसी और की नादान कारस्तानियों की सज़ा
बिन कियों पर आरोपित करते हुए

गोया प्रकृति का बल भी भरता है पानी
बरज़ोर आदमी के आगे और
बरपता है उसका ज़हर कमज़ोरों पर ही

(2)
जो कोसी की बाढ़ लील रही थी
बेहिसाब बेकुसूर जान
उसी का मैला-कुचैला पानी
कर रहा था प्राण-रक्षा
अपनी गमछी से छान
बाढ़ का पानी पी रहे मजबूर प्यासे भी

(3)
इस जल-प्रलय की मार
जान-माल की हानि ही नहीं
बदहवास दौड़-भाग चीख-पुकार ही नहीं
एक दूजे का बंधु-बांधवों से
बिछुड़ने-बिखरने में ही नहीं
इस जल-कहर के रचयिता
कोसी मैया की ही गुहार लगाने
उसकी पूजा-अभ्यर्थना करने में भी
अभिव्यक्त होती है



त्राता से ही त्राण की गुहार
आसरा-असहायता की इंतिहा रचती है
और इस विभीषिका की
दारुण दुख-कथा कहती है

(4)
स्थिति की नज़ाकत समझ
प्रदेश हुकूमत ने स्पेशल मंत्री नियुक्त कर भेजा
ताकि प्रभावित क्षेत्र की जनता को भरसक
जल्द से जल्द राहत प्रदान की जा सके

तय हुआ कि राहत कैंप का उद्घाटन
पहले राहत मंत्री जी करेंगे विधिवत
फिर इसमें रहने को आ पाएँगे
राहत-शरणार्थी

तोंदू राहत मंत्री जी जोकि कैबिनेट खाद्यमंत्री थे
मुकर्रर समय से छत्तीस घंटा लेट पहुँचे
और अपने चमचों-बेलचों की मुखर तालियों
और बाढ़-पीड़ितों की मौन गालियों के बीच
उद्घाटन-फ़ीता काट सगर्व
देर तक बेशर्म मुस्कान भरते रहे

(5)
अभी के सबसे बड़बोले बड़नाम
भारतीय योग गुरु के यश को
भुनाकर एक अवसरवादी स्वयंसेवी संस्था ने
बाढ़ राहत में अपनी भूमिका को
गुरुत्व प्रदान करने की सोची

अपनी मदद की पहली खेप को
राहतपाइयों तक पहुँचाने के लिए
गुरु की शोहरत की सीढ़ी बनायी
राहत के ट्रक को झंडी दिखाने हेतु

गुरु बुलाये गये
वे सारी तैयारियों के दो दिन बाद आये

राहत-रवानगी की खातिर
पंडित के पतरे में यही शुभ मुहूर्त का
योग निकला था
शुक्र था या कि भाग्य राहतार्थियों का
कि यह दिन जल्दी ही आ गया था

इस तरह राहतपाइयों तक
राहत-सामग्री पहुँची कुछ देर से
और संस्था को मीडिया कवरेज़ मिले ढेर से

योग करने पर पता चला कि
संस्था ने राहत-मद में जितना ख़र्च किया
उस से कहीं बेशी ख़र्च हुआ
योग गुरु के बुलाये जाने पर

(6)
बाढ़ के हाहाकार ने जहाँ लाखों के
कलेजों को जराया वहीं कइयों के लेखे यह
मौज-मस्ती और पिकनिक का सामान बन गया
एक ओर जबकि अपनी ज़िंदगी का पल-पल
घर-खेत-खलिहान को ही अर्पण कर आये लोग
जल-प्रलय की मार से आहत हो घर-बार छोड़
कहीं भी बेतहाशा जान बचाने को
भाग रहे थे
वहीं कतिपय लोग बाढ़ क्षेत्र में पहुँच
नौका विहार का आंनद लेने का
एक सुनहरा मौक़ा आया समझ
बाढ़ के पानी में नाव की अठखेल सवारी कर
अपने तन-मन में रोमांच भर रहे थे

गोया
ये खिलंदड़े लोग जाने-अनजाने
मिथिलांचल की इस कहावत को
अपनी क्रीड़ाजन्य उतावली में जीवित कर रहे थे—
'चिड़ई के जान जाए लइरका के खिलौना'

(7)
राहत-शिविर में कोई गहरे आहत हुआ
तो कोई मन भर ख़ुशियों से तर-ब-तर भी
मसलन
एक बाल-बच्चेदार चाची-भतीजे के जोड़े के
उद्दाम प्रेम का गवाह भी बना
कोई राहत-शिविर

दोनों ने अपने पहले के जुदा-जुदा विवाह स्वाद को
अब एक अलग ज़ायके में बाँधा
तो वहीं इस नये गठबंधन के फलस्वरूप
एक जोड़ा जनों को अजोड़ा असहाय छोड़
कशाघात से भी ज़्यादा स्थायी आघात दे
जीवन-स्वाद बिगाड़ गया
यह अस्थायी निविड़।

प्रकाशन विभाग
बिहार विधान परिषद्, पटना

कविताएँ

संतोष कुमार तिवारी

इस साल

अपनी समस्त मूढ़ताओं को
स्वीकारते हुए
आओ कोशिश करें
ताकि कारगर साबित हो सकें
प्रार्थनाएँ
मुरझायी आँखों
और
काँपती टाँगों के हक़ में
भर दें ताज़गी और जांगर भरपूर
यत्नपूर्वक
बदल डालें खुद को
पुराने कैलेंडर जैसे
आओ कसम खाएँ
कोई बच्चा बिन दवा के
नहीं मरेगा अब।

ओ बाँसुरियों....

नये साल पर
कहूँगा
बाँसुरियों से
अरे ओ घायल बाँसुरियो!
पीड़ा को पछाड़ते हुए
छेड़ो कोई तान सुरीली

कहूँगा
चिड़ियों को पास बुलाकर
ओ चिड़ियो...ऽऽ...ऽऽऽ
खूब चहचहाओ
ये पॉश इलाका है
मिलकर तोड़ो यह
आदिम सन्नाटा
गुनगुनाऊँगा
इक गीत
आवारा तितलियों के नाम
और छतों पर
गुमसुम टहलती
लड़कियों को सौंपूँगा
मौसम का पहला गुलाब।

लाल आँखों वाले राम

मार-काट और चिल्लाहट से
ऊब कर
मंदिर गया
और राम को लौटा दिया
बिना हीला-हवाला किये
मर्यादा पुरुषोत्तम का विशेषण
उस वक्त राम
खंडित पड़े धनुष और
तीरों को बटोर रहे थे
सचमुच,
उनकी आँखें लाल थीं
न मालूम कितने दिन के
जगे थे राम।

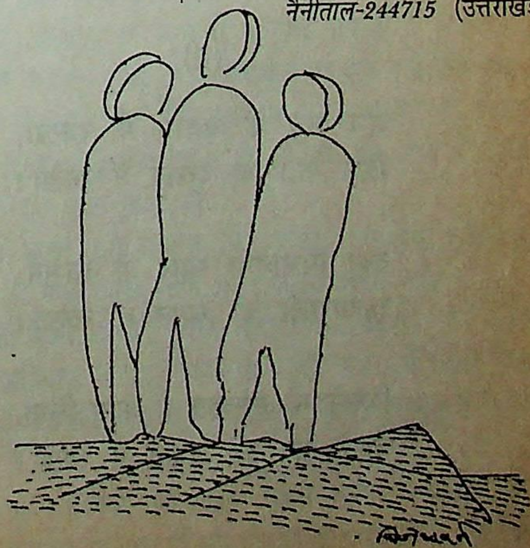
अच्छा हो कृष्ण
तुम बदल लो अपना नाम
रख लो कल्लू-मटल्लू
या फिर कुछ और
कसाईयों के हाथ लगी गायें
तुम्हें गोपाल कहने से
साफ़-साफ़ मुकर गयीं आज।

मोहल्ला

तुम्हें रोता हुआ देखकर
मैंने तय किया
जैसे भी हो, लौटाऊँगा
तुम्हारे सपने
गिर गये थे जो
पिछली शाम
भीड़-भाड़ वाले मोहल्ले में
सँभाल लाया हूँ
बिल्कुल वैसा
जैसे चमके थे
पहली दफ़ा
तुम्हारी आँखों में।

चाहता था
कई-कई ज़मीन-आसमान
जेब में डालकर घूमूँ
दिन-रात
तुम्हारी गलियों में
और तुम्हारे होते हुए
चाँद से सवाल करूँ—
'क्या तुम्हारा उगना
ज़रूरी था इस मोहल्ले में?'

प्रवक्ता हिन्दी,
राजकीय इंटर कॉलेज, ठिकुली, (रामनगर),
नैनीताल-244715 (उत्तराखंड)



ग़ज़लें

देवी नागरानी

(1)

कैसे दवा करूँ मैं सच्ची हूँ,
झूठ की बस्तियों में रहती हूँ।

मेरी तारीफ़ वो भी करते हैं,
जिनकी नज़रों में रोज़ गिरती हूँ।

दुश्मनों का मलाल क्या कीजे,
दोस्तों के लिए तो अच्छी हूँ।

दिल्लगी इससे बढ़के क्या होगी,
दिलजलों की गली में रहती हूँ।

भर गया मेरा दिल ही अपनों से,
सुख से ग़ैरों के बीच रहती हूँ।

गागरों में जो भर चुके सागर,
प्यास उनके लबों की बनती हूँ।

ज़ीस्त 'देवी' है खेल शतरँजी,
बनके मोहरा मैं चाल चलती हूँ।

(2)

झूठ सच के बयान में रक्खा,
बिक गया जो दुकान में रक्खा।

क्या निभाएगा प्यार वो जिसने,
ख़ुदपरस्ती को ध्यान में रक्खा।

जिसने भी मस्लहत से काम लिया,
उनके ख़ुद को अमान में रक्खा।

ज़िंदगी तो है बेवफा 'देवी',
इसने मुझको गुमान में रक्खा।

(3)

बाक़ी न तेरी याद की परछाइयाँ रहीं,
बस मेरी ज़िंदगी में ये तन्हाइयाँ रहीं।

डोली तो मेरे ख़्वाब की उठ्ठी नहीं मगर,
यादों में गूँजती हुई शहनाइयाँ रहीं।

बचपन तो छोड़ आये थे, लेकिन हमारे साथ,
ता-उम्र खेलती हुई अमराइयाँ रहीं।

चाहत, ख़ुलूस, प्यार के रिश्ते बदल गये,
जज़्बात में न आज वो गहराइयाँ रहीं।

अच्छे थे जो भी लोग वो बाक़ी नहीं रहे,
'देवी' जहाँ में अब कहाँ अच्छाइयाँ रहीं।

(4)

उनके हसीं फ़रेब में आये नहीं कभी,
बेकार के ये नाज़ उठाये नहीं कभी।

दौलत को तेरे दर्द की रक्खा सहेज कर,
पलकों से हमने अश्क गिराये नहीं कभी।

आयी जो तेरी याद तो छेड़ी कोई ग़ज़ल,
रो-रो के गीत हमने तो गाये नहीं कभी।

इतने फ़रेब खाये हैं 'देवी' बहार में,
आती रही बहार, वो आये नहीं कभी।

9-डी, कॉर्नर व्यू सोसायटी
15/33, रोड, बांद्रा (पश्चिम), मुंबई-400050

दूर अंतरीष

तरुण कांति मिश्र

कनॉट प्लेस की अनजानी भीड़ में किसी ने अचानक पीछे से आवाज़ दी—"अविनाश!"

उस समय अविनाश फुटपाथ पर एक पुरानी किताब की दुकान के पास खड़े होकर किताबों की ख़रीद-फरोख़्त को देख रहा था। कई देशों के प्रतिष्ठित प्रकाशकों की विभिन्न विषयों पर छपी तमाम पुस्तकें थीं वहाँ। पर, हर किताब का एक ही दाम, बस दस रुपया।

आवाज़ सुनकर अविनाश ने पीछे मुड़कर देखा। एक भी परिचित चेहरा उसे नहीं दिखा।

"अविनाश," एक अनजानी-सी लड़की उसके पास आकर खड़ी हो गय। नीले रंग की जींस पैंट के साथ, पीले रंग की शर्ट पहने।

उसके चेहरे की तरफ देखने के बाद अविनाश को उसे पहचानने में ज़्यादा देर नहीं लगी, "अमिता!"

"वाह! पहचान गये। सोच रही थी पहचानोगे या नहीं?

अमिता ने पैंट की जेब से रूमाल निकालकर माथे पर से पसीना पोंछा। हलके इत्र की खुशबू हवा में फैल गयी।

कनॉटप्लेस की इस भीड़ में अमिता को पहचानना ज़रा मुश्किल ही था। दस साल की दूरी वैसे तो महाकाल के मेघनाद की दीवार-सी नहीं थी, पर समय की तुली में जो एक अजीब ख़्याल हुआ रहता है, वह कभी-कभी चौंका देने वाला होता है।

"तुम अभी दिल्ली में हो न?"

अविनाश का प्रश्न सुनकर अमिता का वह खुलकर हँसना कुछ पल के लिए उस फुटपाथ के नीरस क्लांत परिवेश को थोड़ा हिला-सा गया।

"तुम तो ऐसे कह रहे हो मानो मेरे बारे में हर छोटी-बड़ी ख़बर के बारे में तुम्हें सब पता है।"

अविनाश कुछ बोला नहीं। फुटपाथ पर उड़ते जा रहे एक पुराने अख़बार की तरफ कुछ पल निहारने के बाद उसने दूसरी तरफ़ नज़र फेर ली।

"पर मैं तुम्हारे बारे में जानती हूँ। रिसर्च का काम आधे में छोड़कर तीन साल के लिए तुमने एन.जी.ओ. में काम किया। अब फिर ओड़िसा वापस लौट गये हो। संबलपुर के पास एक कॉलेज में पढ़ा रहे हो। क्यों मैं ठीक कह रही हूँ न?"

संबलपुर नहीं, बलांगीर। बस, इसी एक तथ्यगत चूक को अगर छोड़ दिया जाए, तो यह बात सच है कि अविनाश के बारे में अमिता अभी भी बहुत कुछ नहीं जानती है। अगर जानती होती, तो ऐसे खुलकर हँसते हुए उससे बातें न करती होती।

किताब बेचने वाला दूकानदार इस बीच भाँप चुका था कि अविनाश उसका जाना-पहचाना ग्राहक है, इसलिए वह पास आकर बोला कि जो किताब अविनाश को नहीं मिल रही है, उसे कल शाम तक ढूँढ़कर ला देगा। जो सात किताबें अभी उसने चुनी हैं, उन्हें वह सिर्फ़ साठ रुपए में ले जा सकता है।

अविनाश ने वैसा ही किया। उसी बीच किताबों को हाथ में लेकर बस उलट-पुलट कर देखते हुए अमिता बोली, "किताब पढ़ना तो मैं अब छोड़ चुकी हूँ। समय ही कहाँ है?"

अविनाश ने अमिता की तरफ़ कुछ गहराई से देखा। उसके कपड़े, मेकअप और प्रवृत्ति को देखने पर जाना जा सकता था कि वह झूंठ नहीं कह रही है।

"दिल्ली क्यों आये हो तुम? शायद कोई कान्फ्रेंस है, हैं न?"

अविनाश थोड़ा कठोर होने की कोशिश करते हुए बोला, "कान्फ्रेंस न हो, तो क्या मास्टरों का दिल्ली आना मना है?"

"ओ हो, मेरा वह मतलब नहीं था," थोड़ा-सा अचकचाते हुए अमिता ने कहा।

यूँ अविनाश अमिता के प्रति क्रूर नहीं होना चाहता था। वर्तमान स्थिति में किसी के प्रति क्रूर होने का उसका नैतिक अधिकार ही नहीं है। इसीलिए, वह थोड़ा-सा मुस्कुराने की कोशिश करते हुए बोला, "बोलो अमिता, पंकज की क्या ख़बर है? क्या वह तुम्हारे साथ नहीं आया है?"

"नहीं, आफ़िस के काम से वे मुंबई गए हैं।"

"तुम्हें देखकर पहले तो मैं बिलकुल पहचान नहीं पाया था। तुम इतनी बदल गयी हो," फिर खुद बात को सुधारकर वह बोला, "नहीं तुम बिल्कुल भी नहीं बदली हो अमिता, तुम अभी भी वैसी ही हो, जैसे दस साल पहले थीं।"

थोड़ी शरमा गयी अमिता, फिर बोली, "हम क्या रास्ते पर खड़े होकर ही बातें करते रहेंगे, कहीं जाकर बैठेंगे नहीं?"

"कहाँ बैठेंगे, बोलो!" चारों तरफ़ एक उकताहट भरी नज़र डालते हुए अविनाश बोला, "रेस्त्रां या कॉफ़ी हाउस में इतनी भीड़ है कि वहाँ जाकर बैठने के बारे में सोचते ही मुझे घबराहट-सी हो रही है।"

अमिता अविनाश की तरफ़ देखने लगी। अविनाश की मरियल-सी आवाज़ को मन ही मन जाँचने के बाद बोली, "तुम्हारी

तबियत तो ठीक है न अविनाश?''

''हाँ ठीक है!''

अमिता ने कलाई पर बँधी घड़ी की तरफ़ देखा। शाम के साढ़े पाँच बजे हैं। अभी सूर्यास्त होने में कुछ समय बाक़ी है।

''हमारे घर चलोगे अविनाश? यहीं पास ही है हमारा घर। वरियाम ख़ान मार्ग में।''

''चल सकता, तो अच्छा होता। पर, अभी मेरे पास समय नहीं है। मुझे एक रिपोर्ट लाने मोतीबाग जाना है।''

''कैसी रिपोर्ट?''

एक रहस्यमयी हँसी हँसकर अविनाश बोला, ''मान लो कि मेरे जीवन-मरण के प्रश्न पर एक रिपोर्ट।''

''जानती हूँ, जानती हूँ,'' अद्‌भुत कौतुक भरी हँसी हँसते हुए अमिता बोली, ''तुम्हें अपने रिसर्च पेपर के लिए कुछ ज़रूरी रिपोर्ट चाहिए होगी। वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट या फिर आई.डी.एस. बुलेटिन। पर, अभी भूल जाओ रिपोर्ट को। अभी मेरे साथ चलो।''

एक अबोध लड़की-सी वह अविनाश का हाथ पकड़कर खींचने लगी।

अविनाश को कुछ अजीब-सा लग रहा था, फिर भी उसने अमिता की अधिकार भरी ज़िद के सामने अपने को समर्पित कर दिया।

अमिता को एक बार उसकी निजी परिधि के अंदर देखने का एक गहरा आग्रह उसके मन के किसी कोने में छुपा हुआ था।

अमिता मर्सिडीज लेकर उसके पास पहुँची। ड्राइविंग सीट पर खुद बैठकर दूसरी तरफ़ का दरवाज़ा खोलते हुए बोली, ''आजकल गाड़ी में बैठकर सीट बेल्ट बाँधना अनिवार्य है, नहीं तो जुर्माना भरना पड़ता है।''

सीट बेल्ट बाँधने की आदत न होने के चलते अविनाश को बेल्ट बाँधने में परेशानी होने लगी। अमिता अविनाश की परेशानी भाँपकर उसकी तरफ़ झुककर उसकी मदद करने लगी। उसी दौरान् अमिता की श्वास एक अनजाना स्पर्श बनकर अविनाश की कनपटी को छूकर निकल गयी।

दस साल पहले, नहीं तेरह वर्ष पहले, जब अविनाश के साथ उसकी पहली मुलाक़ात हुई थी। तब अमिता ऐसी नहीं थी। शायद सीधी-सादी ओड़िया लड़कियों से वह थोड़ी-सी अलग थी, थोड़ी ज्यादा आत्म-सचेतन और बुद्धिमती। कालेज यूनियन से लेकर रेडक्रॉस तक उसका खूब दखल था। पढ़ाई में भी वह अव्वल थी। अविनाश के साथ उसका संपर्क विरोधाभास का था। डिबेटिंग क्लब या यूनियन के मामले में वह अविनाश की घोर विरोधी थी, पर रेडक्रॉस के काम में वह उसकी अनुगत सहयात्री थी। कभी-कभी बहुत हुकुमपरस्ती की तरह उसकी भूमिका रहती थी।

वरियाम ख़ान स्ट्रीट की एक साफ़-सुथरी अभिजात कॉलोनी में अमिता का मकान था। घर के सामने छोटा-सा एक लॉन। कुछ फूलों के पौधे। दिल्ली जैसे शहर में यह शौक काफ़ी महँगा ज़रूर था। दरवाज़े पर पहुँचने के बाद अमिता के कॉलिंग बेल दबाते ही एक आया ने दरवाज़ा खोला।

ड्राइंगरूम बहुत सुंदर था। बाज़ार से लाये हुए दो-तीन पैकेटों को काँच की टेबिल पर रखते हुए अमिता ने पूछा, ''अब बताओ अविनाश, क्या लोगे, चाय या शर्बत? या फिर कोल्ड कॉफ़ी?''

''मुझे तो बस एक गिलास पानी दे दो, फ़्रिज का नहीं, नॉर्मल पानी,'' कुछ क्लांत थका हुआ-सा अविनाश सोफ़े पर बैठ गया। लंबी साँस लेते हुए वह अपने को कुछ सहज बनाने लगा।

''अविनाश, क्या सचमुच तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है?''

इस बीच आया दो गिलास पानी लेकर आ गयी थी। दो घूँट पानी पीने के बाद अविनाश कुछ हल्का महसूस करने लगा। फिर हँसकर बोला, ''मुझे देखकर तुम्हें क्या लग रहा है? क्या तुम्हारी नज़र में मैं स्वस्थ नहीं दिख रहा हूँ?''

''अविनाश, हमेशा से तुम मिस्टीरियस रहे हो। पर अब तो लगता है, जैसे तुम्हारी रहस्यमयता कुछ ज़्यादा बढ़ गयी है।''

''शायद बढ़ गयी हो। उम्र भी तो बढ़ रही है।''

''पर तुम्हें उम्र बढ़ने का ख़्याल ही नहीं है। अगर ध्यान होता, तो क्या अब तक कुँआरे फिरते रहते?''

और भी कई लोगों ने अविनाश को इस बात का ध्यान दिलाया है। तुम कब शादी करोगे अविनाश? कमर के झुक जाने के बाद या नज़र धुँधली हो जाने के बाद? कब?

ऐसे सवाल करने वालों की भीड़ में सिर्फ़ एक व्यक्ति ऐसा था, जो मन ही मन इस बात पर संतुष्ट दिखता था कि अविनाश कुँआरा है। वह थे डॉक्टर नारेशान। यूँ उन्होंने अपने मुँह से तो कुछ कहा नहीं था, पर उसकी ई.सी.जी. और कार्डियोलोजी की अन्य रिपोर्ट पढ़ते-पढ़ते जब उन्होंने उससे कहा था कि वह श्रीमती पटनायक से कुछ बातें करना चाहते हैं, और उसने जवाब दिया था कि श्रीमती पटनायक का अस्तित्त्व तो है ही नहीं, तो डॉक्टर के चेहरे पर आश्वस्ति का भाव घिर आया था। यूँ उनका आश्वस्त होना लाज़िमी भी था।

''ठहरो, मैं तुम्हारे लिए एक अच्छा-सा ड्रिंक बनाकर लाती हूँ'' कुर्सी से उठते हुए अमिता बोली।

''ड्रिंक्स?''

''जानती हूँ बाबा, जानती हूँ। तुम ड्रिंक नहीं करते हो। मैं जिस ड्रिंक्स के बारे में कह रही हूँ, वह सॉफ़्ट नान अल्कोहलिक है। तुम ज़रूर पसंद करोगे,'' अमिता बिना उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये अंदर चली गयी।

डॉक्टर ने उससे कहा था, ''आपके लिए दो बातें बहुत ज़रूरी हैं, एक तो ड्रिंक छोड़ देना, दूसरे बिलकुल भी स्मोक नहीं करना।''

अविनाश डॉक्टर की इन हिदायतों को सुनकर हँसा था। सिगरेट की महक उसके लिए असह्य थी और जब बिना किसी अवलंबन के सपना देख पा रहा है और कभी -कभी अँधेरे बंद कमरे के अंदर अगर दिल उन्मत्त हो जाता है, तो फिर शराब की ज़रूरत कहाँ रह जाती है?

यूँ इस 'दिल' के बारे में अविनाश के लिए पुनर्विचार

करने के कुछ कारण है। काफ़ी दिनों तक वह यह नहीं जानता था कि दिल नामक कोई चीज़ उसके पास है। उसका दिल शायद सीने की गुफा में संत्रस्त भगोड़े की तरह कहीं छुपा हुआ था। इसलिए, जब एक धुँधली शाम को छलछलाती आँखों से अमिता ने कहा था, "अविनाश तुम हृदयहीन हो, पाषाण हो, " तब उसने कुछ नहीं कहा था, क्योंकि तब वह सचमुच यह विश्वास कर गया था कि वह हृदयहीन है, और इस कारण से पाषाण भी।

पर, एक दिन उसके एक परिचित डॉक्टर ने कई परीक्षण करने के बाद गंभीर होकर कहा था, "आपके हार्ट में कुछ सीरियस प्रॉब्लम है, आप किसी हार्ट स्पेशलिस्ट को दिखाइए," "तो अविनाश ने पूछा था, "मेरा हार्ट?"

कैसा एक अविश्वास उसकी आवाज़ में झलक गया था! डॉक्टर उसकी पीठ थपथपाकर बोले, "घबराइए नहीं, सब ठीक हो जाएगा।"

सिर है, तो सिरदर्द है; वैसे ही दिल है तो दिल की बीमारी भी ज़रूर रहेगी, ऐसा सोचकर अविनाश ने बात को गंभीरता से नहीं लिया, पर जिस दिन क्लास में पढ़ाते-पढ़ाते ही ब्लैकबोर्ड के पास वह बेहोश हो गया, उस दिन समझ पाया कि दिल को लेकर जो भी कारोबार है, उसमें रिस्क भी बहुत है।

अमिता इस बार जब अंदर के कमरे से फिर ड्रॉइंगरूम में आयी तो उसकी वेशभूषा बिलकुल बदली हुई थी। सलवार कमीज में उसका यह रूप ज़्यादा जाना-पहचाना सा लग रहा था। उसने हाथों में जो ट्रे ले रखा था, उसमें कई चीज़ें थीं—एक गिलास शर्बत, कटलेट, सैंडविच और मिठाई।

अविनाश की तरफ़ शर्बत का गिलास बढ़ाते हुए अमिता बोली, "लो, सात्विक पुरुष के लिए इससे बढ़िया और कोई पेय नहीं हो सकता।"

अविनाश गिलास हाथ में लेते हुए बोला, "तुम अगर मुझे गिलास में ज़हर भरकर भी ला दोगी, तो भी मैं बिना ऐतराज़ के पी लूँगा।"

छोटी-सी एक लड़की की तरह आँखों को नचाते हुए अमिता बोली, "वाह! भला मेरे ऊपर तुम्हें इतना भरोसा कब से होने लगा?"

"बहुत दिनों से अमिता, बहुत दिनों से। बस तुम्हें ही ख़बर नहीं थी," इतना कहते-कहते अविनाश की नज़र शो केस में रखे हुए पंकज के रंगीन फ़ोटो पर पड़ी।

दस साल पहले पंकज से उसकी आख़िरी मुलाक़ात हुई थी। एक ही कॉलेज में पढ़ने के बावजूद दोनों के बीच ख़ास परिचय नहीं था। विषय अलग थे और फिर रुचि भी भिन्न थी। पंकज बहुत शरमीला सा चुप रहने वाला पढ़ाकू स्वभाव का लड़का था, इसलिए जब उसे अचानक एक अच्छी नौकरी मिल गयी, तो किसी को भी अचरज नहीं हुआ।

पर, उस दिन अविनाश अचरज से भर गया। जिस दिन पंकज खुद आकर अपनी शादी का निमंत्रण-पत्र उसे दे गया। कैसे एक कुँआरी कन्या-सा शरमीला भाव लिए सिर झुकाकर वह बोला था, "बारह तारीख़ शाम सात बजे भोज है, आप ज़रूर आइएगा।"

इससे कुछ दिन पहले ही अमिता उससे बोली थी, "अविनाश, तुम हृदयहीन हो, पाषाण हो!"

तब शाम का समय था, आकाश में चाँद था या नहीं, उसे याद नहीं है।

शो केस के उस रंगीन फ़ोटो को देखते हुए अविनाश बोला, "पंकज का चेहरा काफ़ी बदल गया है, बिल्कुल पहचान में नहीं आ रहा है।"

बात सच थी। अब पंकज की तन-बदन की परिभाषा अलग थी। उस शरमीले नौजवान की जगह अब खड़ा है एक स्वाभिमानी, परितुष्ट, संभ्रांत पुरुष।

घर और अमिता को देखने पर समझना कठिन नहीं था कि जीवन को यहाँ एक पूर्ण रूप मिला है।

अमिता बोली, "तुम ऐसे असमय में आये कि उनसे मुलाक़ात नहीं हो पायी। तुम अभी और कितने दिन दिल्ली में हो? वे शनिवार को वापस लौटेंगे।"

"मैं कल ही लौट जाऊँगा या फिर अगले दिन। रिज़र्वेशन मिलने के ऊपर सब कुछ निर्भर है।"

"मैं तुम्हारा रिज़र्वेशन करवा दूँगी। एक सीनियर रेलवे ऑफ़ीसर की पत्नी मेरी अच्छी सहेली है। पर एक शर्त है, इतवार से पहले तुम नहीं जाओगे।"

अविनाश बोला, "देखो अमिता, एक आर्डिनरी सेकंड क्लास टिकट के लिए एक सीनियर आफ़ीसर को कहकर क्यों शर्मिंदा करोगी! मुझे ही कोशिश करने दो।"

"इसका अर्थ यह हुआ कि तुमने उनसे मिले बिना ही जाने का मन बना लिया है।"

"वाह! बहुत अच्छा है शर्बत। सिर्फ़ जलजीरा नहीं, इसमें शायद और कुछ भी डाला गया है। ठहरो, मैं अंदाज़ लगाता हूँ। थोड़ा-सा नीबू, थोड़ी-सी अदरक और पुदीना पत्ता, है न?"

अविनाश का अनुमान सटीक था, पर अमिता ने कोई जवाब नहीं दिया। कुछ अनमनी-सी हो गयी थी वह।

उसी समय आया अंदर आकर बोली, "मेम साहब बहादुर आया है।"

अमिता बोली, "थोड़ा इंतज़ार करो अविनाश, मैं अभी पाँच मिनट में आती हूँ।"

अविनाश कुछ बोला नहीं। अभी मोतीबाग़ लौटने की जल्दी नहीं है, तो फिर पाँच मिनट क्या वह पाँच घंटे भी यहाँ बैठा रह सकता है। बरदोलाह जाने के लिए आख़िरी बस साढ़े बारह बजे मिलेगी। ओड़िसा निवास पहुँचने में कोई दिक़्क़त नहीं होगी।

दिल्ली आने की अविनाश की रत्ती भर भी इच्छा नहीं थी। पर चालीस हज़ार का बैंक ड्राफ़्ट लेकर कॉलेज के कुछ छात्र-छात्राएँ उसके पास आकर बोले, "सर, आपको दिल्ली जाना होगा, संभव होगा तो कल ही, जतिन के मामा दिल्ली में हैं, वे भी आपके साथ जाएँगे।"

मुख्यमंत्री के रिलीफ़ फ़ंड से कुछ चतुर और दूसरों पर

निर्भर रहने वाले व्यक्ति ही परिपालित होते हैं, ऐसे एक प्रचलित ख़्याल को ग़लत प्रमाणित करते हुए ड्राफ़्ट अविनाश के पास पहुँचा था। पर, इसके पीछे कुछ छात्र-छात्राओं और शुभेच्छुओं का प्रयास ज़रूर निहित था। इतना रुपया कॉलेज को दिया जाता, तो कुछ अच्छी किताबें लाइब्रेरी में आ जातीं या फ़िजिक्स लेबोरेटरी के लिए कुछ यंत्र आ जाते या फिर मेस की जर्जर छत की मरम्मत हो जाती, पर ऐसा कुछ भी कहकर वह अपनी भावना के सुकुमारपन को लांछित करना नहीं चाहता था।

पेटेंट उकट्रस आर्टेरिओसिस।

बहुत लंबा-चौड़ा नाम है इस बीमारी का, पर इन्सान की उम्र को बहुत छोटा कर देती है यह। इतना छोटा कि अविनाश अभी एक क़र्ज़ की ज़िंदगी जी रहा है, जिस पर उसका हक़ नहीं है।

पर किसे कहेगा वह जीवन?

अमिता ड्रॉइंगरूम में क़दम रखते हुए बोली, "अकेले बैठे-बैठे बोर तो नहीं हुए?"

मुस्करा कर अविनाश बोला, "नहीं, वरन् काफ़ी कुछ सोचने के लिए वक़्त मिला।"

"कौन सी बातें?"

"एक कप अच्छी चाय पिलाओ अमिता। ओडिसा निवास की चाय तो तुम जानती ही हो कितनी घटिया है।"

"तुम्हें कहा किसने था कि ओडिसा निवास में ठहरो। सीधे यहीं आ जाते, टुकुना से मेरा पता ले लेते।"

"ठीक है, आगे से जब भी आऊँगा सीधे यहीं आ जाऊँगा। फिर, तब तक रुकूँगा जब तक तुम चाहोगी।"

अमिता ने तिरछी नज़रों से अविनाश की तरफ़ देखा। वह भाँप नहीं पायी कि अविनाश सच बोल रहा है या मज़ाक कर रहा है।

यूँ मासूम-सा परिहास खुद अपने साथ। अविनाश ख़ूब अच्छी तरह से जानता है कि वह फिर कभी दिल्ली नहीं आएगा, आने की सामर्थ्य उसमें नहीं होगी।

डॉक्टर ने उसे लगभग छह महीने का समय दिया है, सीधे नहीं, पर इशारे से। यूँ डॉक्टर नारेशान आश्वस्त हैं कि वह शादीशुदा नहीं है। अगर शादीशुदा होता, तो शायद कुछ ही दिनों में सब कुछ ख़त्म हो जाता।

पेटेंट उकट्रस आर्टेरिओसिस। यह बीमारी सीने में छिपी रहती है, जन्म से ही। शायद कुछ एक केस में ऑपरेशन संभव हो, पर अविनाश के लिए यह संभावना भी नहीं है।

अगर अचानक मैं इस दुनिया से चला जाऊँ तो क्षति क्या है? अगर कल सुबह ही चला जाऊँ, तो किसकी क्षति होगी? किसका कौन-सा दुःख अनभूला रह जाएगा?

माँ है नहीं, पिता का पहले ही निधन हो गया है। बस कुछ छात्र, एकाध सहकर्मी, दो चार परिचित लोग। कहीं कोई कमी नहीं होगी, किसी की ज़िंदगी में सुख का दिया सब दिन के लिए नहीं बुझ जाएगा।

अमिता बातें करती जा रही थी, एक बालिका की तरह, चंचल आग्रह के साथ। शायद पंकज के बारे में या छोटे भाई टुकुना की पत्नी के बारे में। दिल्ली के विपुल प्रलोभन या फिर उसकी व्यर्थता के बारे में। उसके घर के सामने के बगीचे के बारे में या फिर अपनी कहानी, जिसे उसने इससे पहले किसी से न कहा हो।

शायद बहुत देर से अमिता बात करती रही। कब तक, यह अविनाश नहीं बता सकता, क्योंकि उसकी चेतना में, नस में एक विक्षिप्त धारा बह रही थी। किनारा लाँघकर बहती लहर। अचानक खोखला सा होता जा रहा था उसका सीना और फिर सब कुछ शांत स्वाभाविक।

अमिता की गोद में एक अलबम थी। उस अलबम में थे बहुत सारे फोटो। ज़्यादातर फ़ोटो में अमिता का चेहरा तो पहचान में आ रहा था, पर एक का ठीक से पहचान में नहीं आ रहा था। फिर, उसे कुछ-कुछ याद आ रहा था, पर फिर उस पुरुष का परिचय याद नहीं आ रहा था। बस इतना पता चल रहा था वे दोनों पास-पास हैं, एक साथ दो व्यक्ति।

एक लंबी श्वास सीने से बाहर आने के लिए रास्ता ढूँढ रही थी। पर, बहुत गहरा था छाती का अंदरूनी रास्ता। इसलिए अविनाश को एक तक़लीफ़ का अहसास-सा हो रहा था।

वह अमिता के चेहरे की तरफ़ देखने लगा। सुंदर दो आँखें, घने, काली रात सरीख़े बाल, अभिमान से भरा होंठ और रजनीगंधा-सा कोमल महकता तन।

अमिता एक फ़ोटो के ऊपर उँगली रखकर जाने कुछ कह रही थी। उसकी आवाज़ काँच पर टपकती बरसात की बूँदों-सी मीठी, पर अबूझ-सी लग रही थी।

अविनाश ने अपना कमज़ोर हाथ बढ़ाकर उसकी उसी उँगली को पकड़कर धीमे स्वर में पूछा, "अमिता सच बताओ, क्या तुम अपनी ज़िंदगी से ख़ुश हो?"

अमिता की आँखों में विस्मय तिर गया। दूर पहाड़ के उस पार की चकित बिजली-सी वह अविनाश की तरफ़ देखने लगी। खिड़की के ऊपर अनवरत झरती बरसात की बूँदें मानो सहसा रुक गयी।

"तुम अगर सचमुच सुखी हो अमिता, तो सच बताओ, क्यों ज़हर खाकर तुम आत्महत्या करने जा रही थीं?... क्यों? वह भी एक नहीं, दो-दो बार... सच कहो अमिता... सच..., इतना कहते-कहते अविनाश थकने-सा लगा, मानो कई दिनों से वह सोया न हो, अब वह सोना चाहता हो। अगर मुमकिन हुआ, तो उसके पास बैठी इस लड़की की गोद में... अगर मुमकिन हुआ तो...

अनुवाद : सुजाता शिवेन
23-सी, शिवालिक अपार्टमेंट,
प्लॉट नं० 32, सेक्टर-6, द्वारका, नई दिल्ली-110075

सत्यम के सत्य पर हैरानी क्यों?

अमलेन्दु उपाध्याय

मुझे बहन मायावती बहुत अच्छी लगती हैं। आप मेरी पसंद पर गुस्सा हो सकते हैं, मुझे खब्ती कह सकते हैं और जो चाहें सो पदवी से नवाज़ सकते हैं। लेकिन बात सौ फीसदी सही है कि बहन जी मुझे अच्छी लगती हैं। ऐसा वेवज़ह नहीं है। उसका कारण है–बहन जी की ईमानदारी। आज के इस युग में बहन मायावती ने ईमानदारी की मिसाल क़ायम की है।

आप कह सकते हैं कि जब बहन जी के विधायक उनके जन्म दिन पर चँदा माँगने के लिए एक इंजीनियर को पीट पीट कर मार डालते हैं ऐसे में बहन जी को ईमानदार कैसे ठहराया जा सकता है? लेकिन बहन जी ईमानदार हैं इसका सुबूत यह है कि बहन जी ने जो भी संपत्ति पिछले डेढ़ दशक में रिश्वत से, जबरिया वसूली करके या ट्राँसफर पोस्टिंग करके अथवा अपनी पार्टी के टिकटों को बेचकर अर्जित की है उस पर ईमानदारी के साथ सरकार का टैक्स अदा किया है। वरना क्या आप किसी ऐसे राजनीतिज्ञ को जानते हैं कि वो बताए कि उसने 15 वर्षों में 100 करोड़ रुपए कमाए हैं और उस पर सरकार का टैक्स भी अदा किया है? शायद नहीं। बल्कि जब उच्चतम न्यायालय में हमारे राजनीतिज्ञों के आय से अधिक संपत्ति के मामले पहुँचते हैं तो वे गुहार लगाते हैं कि उनकी आईटीआर सार्वजनिक न की जाए। ठीक उसी तरह मुझे 'सत्यम' के रामलिंगम् राजू सत्य की प्रतिमूर्ति नज़र आते हैं जिन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी चोरी को न केवल स्वीकार किया बल्कि यह भी बताया कि वे यह सब पिछले लगभग एक दशक से कर रहे हैं।

ऐसा नहीं है कि राजू ने कोई नया अपराध किया है। यह कारनामे तो भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण शुरु करने के बाद देश में पैदा हुए कारपोरेट घराने लगातार कर रहे हैं। क्या ज़रूरी है कि जो सत्यम ने किया वह रिलायंस, आईसीआईसीआई, विप्रो, सहारा, और स्टॉक एक्सचेंज में अधिसूचित अन्य कारपोरेट घराने नहीं कर रहे होंगे। अगर 'सत्यम' की करतूत के बाद हम इंफोसिस प्रमुख नारायणमूर्ति के बयान से पल भर को सहमत हो भी जाएँ कि देश में सभी ख़राब कंपनियाँ नहीं हैं तो राजू के रहस्योद्घाटन से पहले तो 'सत्यम' के विषय में भी किसने ऐसा सोचा था? 'सत्यम' का फर्जीवाड़ा इसलिए खुला क्योंकि राजू ने इसे स्वयं खोला, वरना जिस फर्जीवाड़े को राजू पिछले एक दशक से कर रहा था उसे न तो सेबी ने पकड़ा और न आरबीआई या आर्थिक अपराध अनुसंधान विभाग ने! राजू ने जो किया वह इस सट्टेबाजी वाली अमरीकी प्रेरणायुक्त मनमोहनी व्यवस्था में होना तयशुदा बात है जिसे मनमोहन और अटल जी अमरीका से आयात करके लाए हैं।

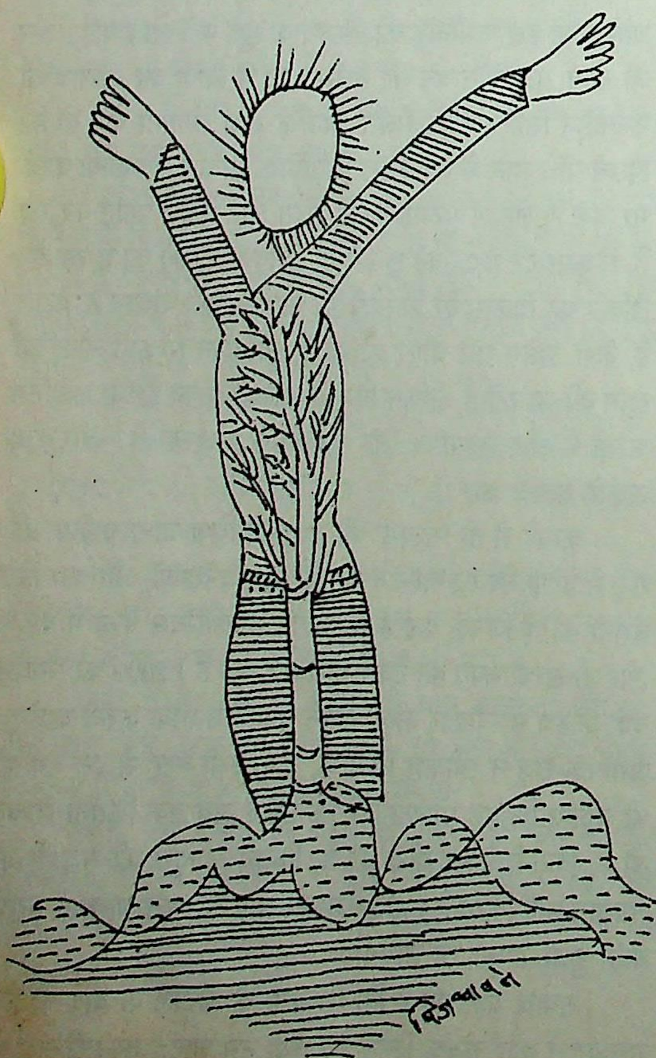
क्या राजू को इस अपराध की सजा मिलेगी? संभवतः नहीं क्योंकि सजा तो झूठ बोलने के लिए मिलती है न कि सच? राजू ने तो जो खुलेआम स्वीकार किया है कि उसने यह फर्जीवाड़ा किया है? फिर उसे क्या सजा मिलेगी? जो सरकार आज राजू को सजा देने की बात कर रही है पहले तो उस सरकार को ही सजा मिलनी चाहिए जो इस फर्जीवाड़े को आज तक खुद नहीं खोल पाई। और जो काम राजू ने सत्यम की बैलेंस शीट में किया वह अपराध तो मनमोहन सिंह देश की बैलेंस शीट के साथ लगातार कर रहे हैं। पिछले पाँच साल में एक लाख से अधिक किसान आत्महत्या करके मर चुके हैं, लेकिन मनमोहन की बैलेंस शीट में देश प्रगति कर रहा है, विकास दर दहाई को छू रही है, सेंसेक्स 20000 को छू रहा है। लेकिन यह विकास दर किसकी है? आम आदमी परेशान है, बेहाल है, देशी उद्योग धंधे चौपट हो रहे हैं, साजिशन सरकारी नौकरियाँ ख़त्म की जा रही हैं, लेकिन फिर भी अटल जी का इंडिया शाइनिंग करता है और मनमोहन सिंह का भारत 'अतुल्य' है? और दोष अकेले सत्यम का?

कायदे से तो 'सत्यम' को साधुवाद दिया जाना चाहिए और राजू से प्रेरणा लेकर हमारे उन ब्यूरोक्रेट्स, राजनेताओं, और कारपोरेट घरानों को, (जिनके कई हज़ार करोड़ रुपए स्विस बैंकों में पड़े हैं और जो खरबों रुपए की टैक्स चोरी कर चुके हैं) 2009 को 'सत्यम वर्ष' के रूप में स्वीकार करके अपने गुनाहों से तौबा करनी चाहिए। जैसा कि राजू ने स्वीकार किया है, ठीक उसी तरह से इस वर्ग को भी चाहिए कि वह घोषणा करे कि उसने अब तक कितनी रिश्वत ली है, कितनी टैक्स चोरी की है, कितने मजदूरों की मजदूरी का भुगतान नहीं किया है। यदि ऐसा हो जाए तो इस मुल्क में ग़रीबी बीता हुआ सपना रह जाएगी।

सवाल यहाँ यह है कि 'सत्यम' के घोटाले के बाद भी क्या सरकार ने कोई सबक लिया है? क्या उन चार्टर्ड एकाउंटेन्ट्स को

प्रतिबंधित किया गया जो अब तक 'सत्यम' के फर्जीवाड़े को अंजाम दे रहे थे? 'सत्यम' के खेल में अकेले राजू ही शामिल नहीं है। क्या सरकार यह हिम्मत जुटाएगी कि सत्यम का आडिट करने वाली 'प्राइस वाटर हाउस कूपर्स' (पीडब्ल्यूसी) ने जिन-जिन भारतीय कंपनियों के ऑडिट किए हैं, उनके ऑडिट की जाँच कराए? क्योंकि जो फर्जीवाड़ा पीडब्ल्यूसी ने सत्यम के लिए किया क्या ऐसा कारनामा उसने औरों के लिए नहीं किया होगा!

'सत्यम' मामले में हमारी सरकार ने तत्काल राहत कार्रवाई की। कमाल की बात यह है कि देश में एक लाख से अधिक किसान कर्ज़ के बोझ के कारण आत्महत्या कर चुके हैं। सरकार को इन किसानों के कर्ज़माफी का निर्णय लेने में साढ़े चार साल का समय लग गया लेकिन सत्यम को पैकेज देने की घोषणा करने में सरकार को चार दिन का भी समय नहीं लगा। एक तरफ तो मुनाफे में चल रही सरकारी क्षेत्र के नवरत्न सार्वजनिक उद्यमों (पी एस यू) को सरकार निजी हाथों को बेचने पर आमादा है दूसरी तरफ 'सत्यम' को गोद लेने के लिए तैयार! आखिर क्यों? क्या 'सत्यम' सरकारी कंपनी है या 'सामाजिक सरोकार वाली कंपनी है? फिर 'सत्यम' पर यह मेहरबानी क्यों?



सत्यम पर सरकार की मेहरबानी के दो कारण हैं। पहला पीडब्ल्यूसी सरकार की चहेती कंपनी है। यह वही कंपनी है जिसको दिल्ली में पानी को लेकर सरकार ने काम करने का जिम्मा सौंपा था और इसकी रिपोर्ट को लेकर खासा बवाल हुआ था। चूँकि इसकी पानी पर रिपोर्ट अमरीकी कंपनियों का हित साधने के लिए थी। अगर यह रिपोर्ट लागू हो जाती तो दिल्ली में पानी के लिए त्राहि-त्राहि मच जाती। बाद में खुलासा हुआ था कि इस संस्था को यह काम दिलाने के लिए विश्व बैंक ने भारत की नौकरशाही को यह आदेश दिया था और बाध्य किया था कि पानी का निजीकरण किया जाए। अब सूचना के अधिकार से रोज खुल रहे सरकारी भ्रष्टाचार के कारनामों से निजात पाने के लिए भी सरकार ने इस कानून की समीक्षा का काम इस कंपनी को सौंपा है। रिपोर्ट क्या आएगी आप स्वयं अंदाजा लगा सकते हैं।

सरकार की मेहरबानी का दूसरा कारण यह है कि 53000 लोगों की नौकरी दाँव पर लग गई है। हर रोज़ सरकारी नौकरियों को ख़त्म करने पर आमादा सरकार सत्यम के लोगों की नौकरी बचाने पर क्यों जुट गई, इसका कारण समझा जा सकता है। जिन लोगो की नौकरी पर ख़तरा बन आया है वे 100 रुपए रोज की मजदूरी करने वाले दिहाड़ी के मजदूर नहीं है। वे पचास हजार से लेकर दो लाख रुपए प्रतिमाह का वेतन पाने वाले उच्चमध्यमवर्गीय लोग हैं और इन 53000 में से 33000 तो थाने के दरोगा से लेकर आईएएस अफसरों और मंत्रियों तक के बेटे होंगे। बाकी 20000 में एक भी किसान या मजदूर का बेटा नहीं होगा। इसलिए सरकार की चिंता लाजिमी है। इस देश में 5 करोड़ 30 लाख लोग ऐसे हैं जिनकी रोजी रोटी पर हर रोज ख़तरा है लेकिन सरकार को इनकी तो चिंता नहीं होती है?

जिस सरकार के कार्यकाल में 70 से ज़्यादा बम विस्फोट हुए हों वो पाकिस्तान पर तब हमलावर होती है जब हमला होटल ताज पर होता है और मरने वाले बड़े पूँजीपति होते हैं। लेकिन जब तक इन विस्फोटों में रिक्शे वाला, ठेले वाला और राह चलता आम आदमी मरता रहता है, सरकार के लिए यह रोज का रुटीन होता है। इसलिए सत्यम पर सरकार की बेचैनी समझी जा सकती है।

'राजू' ने बैकुंठ एकादशी के दिन अपना अपराध स्वीकार किया। दक्षिण भारत में मान्यता है कि बैकुंठ एकादशी के दिन अपने गुनाहों को कुबूल कर लेने पर भगवान विष्णु गुनाहों को माफ़ कर देते हैं। अतः इस वर्ष हमारे राजनेताओं, पूँजीपतियों और भ्रष्ट अफ़सरों को चाहिए कि वे राजू से प्रेरणा लेकर अपने गुनाहों को कुबूल करें।

(लेखक राजनीतिक समीक्षक हैं और एक पाक्षिक पत्रिका से संबद्ध हैं)
द्वारा एस सी टी लिमिटेड, सी-15,
मेरठ रोड इंडस्ट्रियल एरिया, गाजियाबाद

उनका होना सभ्यता को बचाने का अंतिम प्रयास था

प्रेम शशांक

'बोली बात' श्री प्रकाश शुक्ल का दूसरा कविता-संग्रह है। इस संग्रह को पढ़ते हुए लगता है कि समय के साथ जो बीत जाने वाला है, उससे जुड़े व्यक्ति, चीज़ें, संबंध, स्मृतियाँ, चिह्न, अवशेष, सब कुछ; चाहे वे निजी जीवन से जुड़े हों या फिर इतिहास, परंपरा और संस्कृति से जुड़े हों, जिनके प्रति एक समय विशेष के संदर्भ में कवि का जुड़ाव रहा है या कोई संबंध रहा है, उसके मोह से जुड़े रहने या अलग हो जाने की टीस उनके कविता-कर्म के केंद्र में है। गतिशीलता जीवन का अनिवार्य पहलू है, तो समय के प्रवाह के साथ निश्चय ही बहुत कुछ छूट जाता है। इस छूट जाने के प्रति कवि का मोह और व्याकुलता संवेदनात्मक ढंग से उनकी कविताओं में उभर कर आती है। 'कील' में बचपन की एक स्मृति के माध्यम से माँ की नाक की कील में उन्हें कई संदर्भ याद आ जाते हैं और अंततः कील में स्त्री-जाति की अस्मिता समाहित हो जाती है और इस कील के साथ स्त्री एक नयी पहचान पाती है—''यह वह कील है/ जिसका होना/एक स्त्री का होना है/ दुनिया के सारे संबंध इसी कील के नाना रूप हैं/ इसके बग़ैर एक स्त्री का होना!/ भिनसारे में निपटने जैसा है।'' इस कविता में देख सकते हैं कि इस कील ने गहने से अलग पहचान पायी है, जो भारतीय समाज के लोक-रंग में डूबी हुई है। 'नये घर' कविता में उनका मोह, कुछ छूटने का दर्द एकदम खुला स्पेस पाता है :

जिस मकान में हम वर्षों से रह रहे थे/ जब उसके छूटने की बारी आयी/ तब विदा होती बेटी की तरह/ हमारे भीतर कुछ टूट रहा था

कुछ यही दर्द 'गोदान' में भी लक्ष्य किया जा सकता है-''नहीं दीखती अब गोदने वाली औरतें/ नहीं रह गयी उनकी ढेंवरी, तेल व सुइयाँ/ नहीं बच रहे बरगद/ गोदने को गाढ़ा करने हेतु।'' 'सगड़ी' के प्रति उनका लगाव उनकी कविता में खोजा जाना बेहतर रहेगा—''यदि कहीं गाँव अब बचा है/ तो इसी सगड़ी में/ यह बाहर से रिक्शा है/ भीतर से ट्राली/ बाहर से सभ्यता है/ भीतर से संस्कृति।''

दरअसल, कवि के भीतर हर उस रूपक को लेकर मोह है, उसकी लुप्तता को लेकर बेचैनी है, जो परंपरा, सभ्यता और संस्कृति के संदर्भ में हमारी जातीय या देशज पहचान से जुड़ा है। विकास क्रम में उनकी पहचान और अस्मिता का संकट निश्चित ही है। इसी तरह, कई कविताएँ नज़र आती हैं, जैसे—'बूढ़ी माँ का हालचाल', 'ग़ाज़ीपुर', 'बहरूपिये'। 'बहुरूपिये' कविता इस दृष्टि से कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसके अंश से ही बेहतर समझा जा सकता है :

अब नहीं दीखते बहरूपिये/ जैसे नहीं दीखते भूत/ हमारे बचपन के वे चले गये दादी के क़िस्से की तरह/ घर में आँगन की तरह/ गाँव में परती ज़मीन और/ हम में अपनों की तरह/

कविता की इन सात पंक्तियों में बहरूपिये की जातीय स्मृति के साथ कवि नये ढंग के बनते मकानों में ग़ायब होते जाते आँगन को याद करता है, तो गाँव की परती ज़मीन और मानवीय संबंधों में फैले परतीपन के प्रति भी चिंता करता है। 'रामरती' कविता में कवि गौने गयी स्त्री के बहाने कुछ न कुछ के संदर्भ में काफ़ी कुछ छूट जाने का ज़िक्र करता है, जैसे-रामरती जब गौने गयी/ तो सावन के झूले लेती गयी/ खोटी की गिट्टी/ और पोखर की मिट्टी भी।''

'परती जमीन', 'खाली जगहें', 'महतरिमा माई', 'तीज की औरतें', 'मनिहार', 'पका आम', 'पोतना', 'खिचड़ी नाच', 'अक्कड़-बक्कड़', 'गाजर', 'इमरती' ये कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जिन्हें उपर्युक्त टिप्पणी के संदर्भ में देखा जा सकता है। लेकिन, इसके साथ यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि संग्रह में कई ऐसी कविताएँ नज़र आती हैं, जो संवेदना के स्तर पर प्रभावित नहीं कर पाती, बल्कि गढ़े जाने का अहसास कराती हैं। ऐसी कविताओं में 'जम्हाई', 'आम-खास', 'झाड़ू और आदमी', 'दरिद्दर', 'धड़क', 'लासा', 'अपना गाँव','एक तमतमाती दोपहर', 'एक सुबह की उदासी', 'मैगी में मोर', 'भुतइया टाँड़', 'पल्लेदार' इत्यादि हैं।

संग्रह की कई अन्य कविताओं के संदर्भ में कहा जा सकता है कि कवि जहाँ अधिकांश रूप से विकास की प्रक्रिया में विस्थापित अथवा छूटते जाने के प्रति संवेदनात्मक रूप में मुखर है, तो कई जगह यह मुखरता इसका अहसास भी कराती है कि विकास को वह सहजता से नहीं ले पा रहा है या संबंधों के मामले में कुछ ज़्यादा ही संवेदनशील है। इसलिए, कई कविताओं में नकारात्मक स्वर निकलने लगता है, जैसे—'मित्रता' (यह मित्रताओं के टूटने का समय है), 'समय' (यह स्वीकृतियों के अस्वीकार का समय है), 'नेवला' (यह शुभ मुहूर्त के आगमन का नहीं/ उसके विदा होने का समय था)।

संग्रह की पहली कविता 'हड़परौली' में सूखे की स्थिति में परंपरागत ढंग से रात्रि में नंगे होकर हल चलाने की कथा स्त्रियों के संबंध में सुनी जाती है। वर्षा कराने के कई प्रयासों का ज़िक्र

इस कविता में है, लेकिन स्त्रियों द्वारा हल चलाने के प्रतिरोध के संकेत जिस ढंग से कविता के अंत में मिलते हैं, उससे कवि का न केवल वैज्ञानिक सोच सामने आता है, बल्कि समय की गतिशीलता के संदर्भ में स्त्रियों में प्रतिरोध की शक्ति का नज़र आना कविता को वैशिष्ट्य देता है। जहाँ इस कविता में कवि ने पारंपरिक जड़ता को चुनौती दी है, वहीं दूसरी कविता 'खजुराहो' में ऐतिहासिक संदर्भ में उसका काव्य-विवेक सक्रिय देखा जा सकता है। 'मिर्चहिया बाबा' और 'बोली बात' कविताएँ इस सोच को विस्तार देती हैं। 'कील' और 'अलविदा ग़ाज़ीपुर' संवेदना और संरचना की दृष्टि से 'हड़परोली' और 'खजुराहो' की भाँति स्मृतियों में टिके रहने वाली कविताएँ हैं।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि०, सेमीखेड़ा, बरेली (उ.प्र.) 243203

बोली बात, श्रीप्रकाश शुक्ल, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, 2007, मूल्य : 150 रुपये

■

अछूते संसार की सैर कराती कहानियाँ

अनवर सुहैल

राजेन्द्र सिंह गहलौत का पहला कथा संग्रह 'काले पन्नों पर लिखी इबारत' पढ़ते हुए एकबारगी ये लगा कि छोटे कथानक वाली गंभीर कहानियों का दौर फिर से आने वाला है। गहलौत अपनी कहानियों के पात्र और परिवेश का चयन अपने बीच से करते हैं। छोटी-छोटी स्थितियों और घटनाओं से कथा-बीज चुनकर एक ऐसी क्यारी तैयार करते हैं कि पाठक व्यस्त और मस्त हो जाता है।

गहलौत का कथाकार नए दौर के प्रयोगात्मक चकाचौंध से कतई घबराया हुआ नहीं है। हिन्दी कथा साहित्य के समकालीन परिदृश्य में गहलौत की कहानियाँ पाठकों के समक्ष बिना किसी चकाचौंध के आती हैं। उनकी कहानियाँ किसी वाद से प्रभावित नहीं हैं और न ही प्रायोजित हैं। यही गहलौत की कहानियों की ताकत है। आम जन-जीवन के कई चित्र इन कहानियों में नज़र आते हैं। संग्रह की एक और विशेषता ये है कि ये सब छोटी कहानियाँ हैं। मोपासाँ और चेखव की कहानियों की तरह लघु और संशलिष्ट कथानक।

संग्रह में सम्मिलित तमाम कहानियाँ प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित एवम् पाठकों की प्रशंसा प्राप्त हैं। मध्यप्रदेश के पिछड़े अंचल बुढ़ार में आस-पास के कोयला-उद्योग के कारण जो एक बाजार है, वहाँ बस-स्टेंड के पास गहलौत का कथावाचक बैठा-बैठा पात्रों को गढ़ता है और कहानियाँ बनती जाती हैं। मौजूदा दौर में सुख-सुविधाएँ, अच्छे-अच्छों का ईमान डांवाडोल करती हैं और इंसान ढीठ-बेशर्म बन जाता है। राजेंद्र सिंह गहलौत की कई कहानियाँ इसी बात की गवाह हैं।

'मजूर बेटा' पूँजीवादी समय में फँसे एक मजदूर की व्यथा-कथा है जिसे अपना ख़ून-पसीना और अस्तित्व सब-कुछ अपने मालिक की खुशी के लिए न्यौछावर करना होता है। समय ऐसा आततायी है जिसमे संवेदनाएँ लगभग मरती जा रही हैं, जिसमें आततायी मालिक, ग़रीब मज़दूर की खाल का जूता पहन अकड़कर चलता है।

परसाई की एक रचना में एक सूत्र वाक्य याद आ रहा है कि मासूम बच्चियों को लोग घूर-घूर कर जवान बना देते हैं। एक प्यारी सी मासूम बच्ची के कोमल मन को किस तरह समाज घायल करके उसे भयभीत कर देता है इसे 'मासूम' कहानी के माध्यम से गहलौत ने बड़ी ख़ूबसूरती से चित्रित किया है। मासूम बच्ची जब कहती है—'अंकल, यहाँ के लोग अच्छे नहीं हैं।' तो पाठक का मन करूणा और क्रोध से भर उठता है। वाकई यही हमारा सभ्य समाज है जहाँ 'निठारी-काँड' जैसे दरिंदे कानून को धता बताते रहते हैं। गहलौत की कहानियों में व्यंग्य-जनित करूणा प्रमुखता से उभरती है। संग्रह की उल्लेखनीय कहानी 'सौदा' है जिसमें एक पिता अपनी विवाह योग्य बेटी के लिए रिश्ता लेकर जब घूमता है तब कई लड़की कई डिटेल्स इस तरह से बताता है जैसे कोई कोठे का दलाल हो।

लड़की के पिता से लड़की के बारे में पूछताछ का संवाद दृष्टव्य है-

'उम्र कितनी है?'

'जी, सत्ताईस साल।'

'फोटो में तो फेस-कट ठीक लगता है, आँखें सुंदर हैं, पर लड़की का रंग कैसा है?'

'जी, बच्ची गौर-वर्ण है।'

'कुछ नाच-गाना भी आता है?'

अपनी बच्ची की नृत्य-गायन में योग्यता, सिलाई-बुनाई, पाक-कला में प्रवीणता, सुघड़ता, शालीनता का धाराप्रवाह वर्णन करते हुए उसे बदनाम गली में टकराए व्यक्तियों के वार्तालाप का स्मरण हो आया और न जाने क्यों उसका कंठ अवरूद्ध हो गया।

छोटे विस्तार में महाख्यान लिए है कहानी 'सौदा'।

'काले पन्नों पर लिखी इबारत' और 'तलाश एक अदद कहानी की' एक प्रयोगात्मक कहानी है, जिसमें लेखक की कहानी विधा पर स्वतंत्र राय है। कहानी किस तरह आपसे अनायास टकराती है और कथाकार उन सूत्रों के सहारे कहानी को एक आकार देता है। वास्तव में कथाकार कोई आसमान से टपका बंदा नहीं बल्कि इसी परिवेश की उपज होता है। फिर भला वह कैसे अपने आस-पास की घटनाओं को नज़र-अंदाज़ कर सकता है।

रेल-यात्रा के दौरान अपनी असमर्थता को नपुंसकता का जामा पहनाते हुए कहानी 'गैरत' मंटो की कहानियों की याद दिलाती है। गहलौत के विवरण इतिवृत्तात्मक होते हैं। उनकी निगाह से छोटे-छोटे डिटेल्स भी चूकते नहीं जिससे कहानी में विश्वसनीयता आती है और पाठक कथा के साथ चलने लगता है। यही एक कथाकार की सफलता है।

'केंचुआ' और 'दुम, दफ़्तर और बुलडॉग!' कहानियाँ फैंटेसी रचती हैं। दोनों कहानियों का शिल्प उन्हें यादगार कहानी बनाता है। इन कहानियों का व्यंग्य परसाई की याद दिलाता है।

सिख-विरोधी दंगों के बाद सिख मानसिकता पर बुनी कहानी 'काके दी गड्डी' है। सन् चौरासी के दंगों के बाद पंजाब के बाहर रहने वाले अधिकांश सिखों ने अपने केश कतरवा लिए थे। ऐसे ही एक सिख ड्राईवर परविन्दर से जब एक हिन्दू बालक को लिफ़्ट देने के बाद अपने अंदर पनपे हिन्दुओं के प्रति घृणा और बदले की भावना से जंग करता है। वह जान जाता है कि हिन्दू बालक डरा-सहमा है और उसे ठंड लग रही है, तब परविन्दर अपने खलासी बन्ते से कहता है-'ए बन्तया! काके नू कंबल उड़ा दे, लगदा है इन्नू ठण्ड लग रही होणी है।' वैसे यह कहानी यहीं पर आकर ख़त्म हो जानी चाहिए थी लेकिन गहलौत ने उसके बाद एक नाटकीय स्थिति पैदा की जिसमें सिख ड्राईवर परविन्दर की हिन्दू बालक की जान बचाने के लिए अपनी जान की बाजी लगाने का दृश्य पाठक को हज़म नहीं हो पाता है। यदि इस कहानी का कुछ और ट्रीटमेंट होता तो यह एक महत्वपूर्ण कहानी बन सकती थी।

कुछ कहानियाँ अतिरिक्त शिल्प यदि पा जातीं तो अतिनाटकीयता यथार्थ पर हावी न होती। 'गलती' एक ऐसी ही कहानी है जिसमें आत्मविश्वास की कमी से उत्पन्न हीनता से ग्रस्त युवक का बेहतरीन चित्रण है लेकिन इस कहानी का अंत युवक द्वारा की गई आत्महत्या से होता है, जिससे कहानी ड्रामा में तब्दील हो जाती है। दॉस्तायेव्स्की के पात्र भी इसी तरह हीनता बोध से ग्रस्त होते हैं, लेकिन उनमें जिजीविषा भी रहती है।

चूँकि यह राजेंद्र सिंह गहलौत का पहला कथा संग्रह है इसलिए इसका स्वागत होना चाहिए और आशा की जानी चाहिए कि गहलौत हिन्दी कथा-साहित्य की रूढ़िबद्ध परिधि के बाहर जाकर पाठकों को एक अछूते संसार की सैर कराएँगे।

IV-3, बिजुरी, शहडोल-484440 (म.प्र.)

काले पन्नों पर लिखी इबारत, राजेंद्र सिंह गहलौत, 2008, रेमाधव पब्लिकेशन, सी-22, आर डी सी, राजनगर, गाज़ियाबाद-201002 (उ0प्र0), मूल्य : 65/- रुपये

■

सार्थक और संप्रेषणीय नाट्य-कर्म

डॉ0 वेदप्रकाश अभिताभ

कथाकार के रूप में सुपरिचित महावीर रवांल्टा ने नाटक विधा को भी सफलतापूर्वक आजमाया है। 'सफेद घोड़े का सवार' के बाद उनका लघुनाटक 'खुले आकाश का सपना' उनके लेखन की सोद्देश्यता को प्रमाणित करता है। इस नाटक के साथ एक एकांकी नाटक 'अधूरा आदमी' भी संकलित है। इस एकांकी का समापन वाक्य है—"...अपने लिए न सही, अपनी अगली पीढ़ी के लिए काँटों भरा यह रास्ता हम साफ़ कर देंगे।" हम अर्थात युवा पीढ़ी का यही संकल्प रवांल्टा के नाट्य-कर्म में केंद्रस्थ है। 'खुले आकाश का सपना' में जात-पाँत पर आधारित ऊँच-नीच का प्रश्न हृदयेश और नलिनी के एक होने के सपने में बाधक है। नलिनी को लगता है कि सपना अपने वश में नहीं होता, लेकिन हृदयेश का कर्म में विश्वास सघन है, अतः वह आश्वत है—"उनका सपना हम पूरा करेंगे, खुले आकाश का सपना।" लेकिन, नलिनी की दुर्घटना में मौत इस सपने को साकार नहीं होने देती। हृदयेश ने इसके लिए 'जात-पाँत की बीमारी से त्रस्त समाज' को ज़िम्मेदार माना है, तो यह उचित ही है। हृदयेश के पिता ओंकार के रूप में पुरानी पीढ़ी भी रूढ़ियों से त्रस्त हैं—"हमें अपनी कथनी और करनी के बीच का भेद मिटाना होगा। जात-पाँत को भूल एक दूसरे को गले लगाना होगा।" इस तरह दुखांत होते हुए भी नाटक का विजन सकारात्मक है।

'अधूरा आदमी' व्यवस्था के भ्रष्ट और कुरूप चेहरे को अनावृत करने वाला एकांकी है। एक मेधावी और ईमानदार युवा के लिए इस व्यवस्था में सिर्फ़ भूख, बेकारी और पागलपन ही बचा है। नरेश की नियति हमारे तमाम युवाओं के आत्मसंघर्ष, पराजय और टूटन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है। इस नाटक की स्पष्ट ध्वनि है कि व्यवस्था विरोध में 'एकला चलो' की कोई सार्थकता नहीं है। सभी पीड़ितों-वंचितों के एकजुट होने की ज़रूरत है। तब 'आदमी' को अधूरेपन का अहसास नहीं होगा। मुक्तिबोध ने ठीक

कहा था कि मुक्ति अगर है, तो सबके साथ है। एकजुट होने पर ही सोर्स, सिफ़ारिश और रिश्वत का तिलस्म टूटेगा।

श्री रवांल्टा के ये नाटक मंचित हुए हैं। निश्चय ही ये दर्शकों के मन और मस्तिष्क तक पहुँचे होंगे, क्योंकि उनकी भाषा सहज और दृश्य-संयोजना सरल है। पाठकों-दर्शकों की आँखों में सपने जगाने का काम करने में कृति पूरी तरह सफल है।

डी-131, रमेश विहार
अलीगढ़

खुले आकाश का सपना, महावीर रवांल्टा, सुकीर्ति प्रकाशन, डी0सी0 निवास के सामने, कैथल (हरियाणा)-136027

■

सामान्यजन की सार्वकालिक अनुभूतियों की कहानियाँ

प्रताप दीक्षित

साहित्य की एक विशिष्टता होती है कि शब्दों की शक्ति को सीमाएँ बाँध नहीं पाती हैं। भारतीय भाषाओं के संदर्भ में तमाम भाषाओं के साहित्य में समान प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। बांग्ला भाषा का साहित्य भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।

श्याम सुंदर चौधरी द्वारा बांग्ला भाषा की 18 अनूदित कहानियाँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि संवेदनाओं, आकांक्षाओं और देशकाल की परिस्थितियों ने कथाकारों को सदा झकझोरा है। किसी रचना का भाषांतर बहुत ही दुरूह और चुनौतीपूर्ण कार्य है। यथावत रख देना एक यांत्रिक कार्य जैसा होता है। ऐसे अनुवाद न तो पाठक को उद्वेलित कर पाते हैं, न ही संवेदित।

अनुवाद के लिए भाषा के संस्कार, दोनों के मिथ, परंपराओं, विकास-क्रम, मुहावरों, प्रतीकों और बिंबों को अनुवादक के लिए आत्मसात करना ज़रूरी है। इस दृष्टि से इस अनुवाद-संग्रह को प्रभावी भावानुवाद कहा जा सकता है। इन रचनाओं के लिए अनुवादक ने एक सर्जनात्मक भाषा आविष्कृत की है। पढ़ते हुए यह अनुभव ही नहीं होता कि हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भाषा की रचना पढ़ रहे हैं।

अनुवादक ने विश्वप्रसिद्ध रवींद्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र से होकर युवतम दुर्गादास चटर्जी तक कथाकारों-रचनाकारों की रचनाओं को संकलन हेतु चुना है। यह जीवन के विभिन्न पक्षों के आस्वाद, रूप, रंग की कहानियाँ हैं। संग्रह की पहली अनूदित कहानी रवींद्रनाथ टैगोर की 'संपादक'' शीर्षक से है। महेश- शरतचंद्र चटर्जी का कथ्य पिछली शताब्दी का होने पर भी उसकी पीड़ा शाश्वत और सार्वकालिक है। लोकप्रिय लेखक विमल मित्र की 'बीस मिनट की कहानी' मानवीय संवेदना और एक मृगतृष्णा की कथा है।

'लौकिक अलौकिक के बीच'–राणा चट्टोपाध्याय, 'चुल्लू भर पानी'–वरेन गंगोपाध्याय और तरुण दासगुप्ता की 'मृत्यु संवाद'–तीनों कहानियाँ मृत्युबोध की कहानियाँ है। 'लौकिक अलौकिक के बीच' में जीवन–मृत्यु के प्रश्नों पर दार्शनिक चिंतन है। 'चुल्लू भर पानी' भी बाहरी उपादानों की व्यर्थता को उजागर करती है। 'मृत्युसंवाद' मात्र, ओ0 हेनरी की कहानियों की तरह कौतूहलपूर्ण चौंकाने वाले अंत की साधारण-सी कहानी है। यद्यपि, ताराशंकर बंद्योपाध्याय की 'पद्मा' का अंत भी कौतूहलपूर्ण-अप्रत्याशित होता है, परंतु कहानी मानवीय जिजीविषा, आस्था को दृढ़ करती है।

'निर्मला भाभी' अमिया सेन की अंधविश्वासों के विरुद्ध बहु-विक्रय वाली पत्रिकाओं में प्रकाशन योग्य दूसरे-तीसरे दर्जे की कहानी है। 'विश्वास'–झरा बसु, एक चिकित्सक की सेवा-भावना की पारंपरिक कहानी है। कहानी के तथ्य अप्रामाणिक हैं। 'बोनसाई'–बुद्धदेव गुहा की स्वार्थ और रिश्तों की निस्सारता दिखाने वाली रचना है। 'वोक्काटा'–सुनील दास गहरे छिपे प्रेम, प्रतिशोध, अंतर्द्वंद्व की मनोवैज्ञानिक कहानी है। नीलाकर की 'आंधी' में बाह्य प्रतीक आँधी के द्वारा स्त्री-चरित्र के मन में गहरे छिपे, अदम्य आकर्षण, न भूले हुए प्रेम, अकेलेपन जैसे भावावेगों की कहानी है। 'नशा'–दुर्गादास चट्टोपाध्याय मनुष्य को सतह से केंद्र में लाने का प्रयास है। अनिल भट्टाचार्य की 'तरसती आँखों की सुबह' और 'तुच्छ'–विभूति भूषण बंद्योपाध्याय की अभावों के बीच छोटी-छोटी खुशियों की कहानी है। 'उन सबका ऋण'–गोविन्द भट्टाचार्य रिश्तों के बीच उगी संवेदनहीनता की रचना है। 'एक सूखती नदी का महाकाव्य'–जीवन सरकार और 'एक समर्पण ऐसा भी'–शचीन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय–दोनों प्रेम कहानियाँ हैं।

बांग्ला भाषा के साहित्य का हिन्दी में बड़ा पाठक वर्ग है। रवींद्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र चटर्जी, विमल मित्र आदि हिन्दी में मूल भाषा के कथाकारों के समान ही लोकप्रिय हैं। पृथक् रूप से इनकी पुस्तकें, विशेष रूप से उपन्यास, हिन्दी में उपलब्ध हैं, यद्यपि उनमें से अधिकांश अनुवाद स्तरीय नहीं हैं, पर श्याम सुंदर चौधरी ने विभिन्न रचनाकारों को एक साथ प्रस्तुत करके स्तुत्य प्रयास किया है। पाठकों को समकालीन सामाजिक सरोकारों से संबंधित विषयों पर लिखी गयी रचनाकारों की अपेक्षा रहती है, परंतु चयनित कहानियों से यह उम्मीद पूरी नहीं होती। गत कुछ वर्षों में कहानी के स्वरूप में परिवर्तन आये हैं। दलित, बाज़ारवाद, ग्लोबलाईजेशन के बीच उपेक्षित आम आदमी से संबंधित कहानियाँ प्रत्येक भाषा में लिखी जा रही हैं। संग्रह में इनका अभाव बांग्ला साहित्य का एकांगी परिचय देता है। बांग्ला के कई चर्चित कथाकारों का अभाव खटकता है। फिर भी, अनुवादक ने अपनी सर्जनात्मक उत्कृष्टता से उपलब्ध कहानियों का जो रूप प्रस्तुत किया है, उससे ये मनुष्य की जीबेष्णा बनाये रखने का उपक्रम करती हैं।

8/182, आर्य नगर, कानपुर

विगत 11-12 अक्टूबर 2008 को श्री रामानन्द पुस्तकालय जोकहरा-आजमढ़ एवं केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा के संयुक्तत्वाधान में अखिल भारतीय कथा समारोह का आयोजन किया गया। उक्त कथा संवाद का उद्घाटन 11 अक्टूबर को ख्यात समालोचक डॉ0 नामवर सिंह तथा संचालन उ0प्र0 इप्टा महासचिव राकेश ने किया। प्रारम्भ में कथाकार विभूति नारायण राय ने समागम में आये देश के तमाम साहित्याकारों एवं सभागार में उपस्थित श्रोताओं का आयोजन समिति की ओर से स्वागत किया। प्रथम दिन उद्घाटन सत्र में डॉ0 नामवर सिंह ने कहा कि कथा भूमि जिस पर कथाकार अपनी कलम चलाता है उसे जानकारी होनी चाहिए साथ ही रचनाकार और पाठक के बीच संवाद की आज जरूरत है

आगन्तुक साहित्यकारों का स्वागत करते हुए कथाकार विभूति नारायण राय ने कहा कि आजमगढ़ का चेहना जिस ढंग से उछाला जा रहा है उसके विरूद्ध प्रतिरोध की ताकत को खड़ा करने का संकल्प लिया जाना चाहिए आज भी संगोष्ठी में कथा साहित्य के सकारात्मक बिन्दुओं को उभाड़ा जाना चाहिए। संचालक राकेश ने साझी संस्कृति पर आसन्न खतरे की ओर संकेत करते हुए साहित्यकारों की रचनात्मक भूमिका पर बल दिया।

हिन्दी कथा भूमि और आज का समय विषय के सत्र की अध्यक्षता श्री शिवकुमार मिश्र, असगर वजाहत, रवीन्द्र कालिया, चित्रा मुद्गल ने की। इस सत्र का संचालन वर्धा से आये राकेश मिश्र ने किया। विषय प्रवर्तन करते हुए अजय वर्मा ने कहा किया। विषय पर अपनी बात रखते हुए साधना अग्रवाल ने कहा कि यथार्थ बहुत जटिल व संश्लिष्ट होता है और जब हम उसे पकड़ने की कोशिश करते हैं तो वह फिसल जाता है। मनोज कुमार पाण्डेय, अवधेश मिश्र और कहानीकार अखिलेश ने वैश्विक बाजारबाद की अवधारणा के चलते कथाभूमि में आये बदलाव और उससे उपजी कहानियों और उपन्यासों पर बल दिया।

असगर वजाहत ने अपने वक्तव्य में समय की जटिलताओं को रेखांकित करते हुए कहते हुए कहा कि कोई कथाकार शिल्प, भाषा, बिम्ब, प्रतीक के लिए कहा लिए कहानियाँ बल्कि कथ्य की बुनियाद पर कहानी लिखते हुए उसके भीतर शिल्प, भाषा, बिम्ब, प्रतीक स्वतः उभड़ कर सामने आ जाते हैं। उनका मानना था कि भाषा की चतुराई और विद्धता दिखाने के लिए उपन्यास नहीं लिखे जाते हैं। उन्होंने आगे कहा कि हमें विमर्श का गुलाम होने से बचना चाहिए।

संगोष्ठी में बोलते हुए चित्रा मुद्गल ने डॉ0 नामवर सिंह के उद्घाटन वक्तव्य पर प्रश्न खड़ा करते हुए कहा कि पुराने रिकार्ड पर ठिठकी हुए नामवर सिंह की आलोचना की सुई निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' कहानी और विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास 'नौकर की कमीज' से आगे क्यों नहीं बढ़ पा रही है। जादुई यथार्थ की परिधि में भाषा के साथ कबड्डी खेलना कथा साहित्य नहीं है।

कथाकार रवीन्द्र ने विमर्श को आगे बढ़ाते हुए कहा कि मैं यह देख रहा हूँ कि समाज आगे-आगे दौड़ रहा है और साहित्य पीछे-पीछे हाँफ रहा है। युवा लेखकों को अगाह करते हुए उन्होंने कहा कि आलोचकों की चिंता किये बगैर उनकी जी भर कर लिखना चाहिए।

ख्यात समाचोलक शिवकुमार मिश्र ने कहा कि कोई कथाकार भाषा और शिल्प के लिए नहीं लिखता बल्कि वह अपने अनुभवों को रचना के रूप में रख देता है। हर रचनाकार का अपना-अपना ढांचा होता है जो एक दूसरे से अलग होता है।

'कथा साहित्य और आलोचना का हस्तक्षेप' विषय को केन्द्र में रखते हुए गंगा प्रसाद विमल शिवकुमार और ममता कालिया की अध्यक्षता में चले इस सत्र का संचालन मृत्युजय तथा विषय प्रवर्तन वीरेन्द्र यादव ने किया।

भारत भारद्वाज, रोहिणी अग्रवाल, राजीव कुमार, शंभु, प्रणय कृष्ण तथा अरविन्द त्रिपाठी ने आलोचक और रचनाकार के बीच जो रिश्ता होना चाहिए उसे स्थापित करने पर बल दिया।

ममता कालिया ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि कुछ अच्छी कहानियों की चर्चा होनी चाहिए न कि दृष्टान्त देकर कहानी का विश्लेषण।

गंगा प्रसाद विमल ने गोष्ठी में हस्तक्षेप करते हुए कहा कि रचना और आलोचना दोनों अलग-अलग है। आलोचना को भी सृजन के रूप में देखा जाना चाहिए।

तीसरे और अन्तिम सत्र का विषय था **''हाशिये के लोग और कथा साहित्य''** इस सत्र का अध्यक्षता डॉ0 नामवरसिंह,

रविन्द्र वर्मा एवं से0रा0 यात्री ने की तथा विषय प्रदर्शन अजय नावरिया एवं संचालक जयप्रकाश धूमकेतु ने किया।

गोष्ठी में रामज्ञा राय ने हाशिये के लोग और कथा साहित्य के मूल स्वर को उभाड़ने की कोशिश करते हुए कहा कि हमारे समय में दो तरह के संघर्ष चल रहे हैं। समाज में प्रश्न यह उठता है कि हाशिये के समाज के लेखक कैसे ले रहा है।

से0रा0 यात्री ने अपनी बात रखते हुए आज के समय की विरोधी स्थितियों को रखते हुए कहा कि आज का समय गलाकाटू प्रतिस्पर्धा का समय है। अकूत वैभव वालों की केन्द्रीयता स्थापित है और शेष हाशिये के लोग हैं। ऐसे जटिल प्रश्नों से आज भ्का कथाकार कैसे जूझ रहा है इस पर विचार किया जाना चाहिए।

रवीन्द्र वर्मा ने अपना विचार रखते हुए कहा कि ? दलित लेखन आन्दोलन से यह बात उभड़ कर आयी है कि दलित लेखन के साहित्य को मुख्य धारा के साहित्य के वरक्स देखा जाना चाहिए।

कथाकार विभूति नारायण राय ने इस सत्र में चल रही बहस पर सवाल उठाते हुए कहा कि सत्र का विषय 'हाशिये के लोग और कथा साहित्य' पर जिस तरह की बहस की अपेक्षा थी वह उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच पायी। अंत में उन्होंने इस दो दिवसीय कथा दिवसीय कथा संवाद में बाहर से आये सभी साहित्यकारों वे श्रोताओं के प्रति आभार प्रकट किया।

प्रस्तुति : जय प्रकाश धूमकेतु

'हाशिए के समाज के इतिहास' पर हिन्दी बातचीत

एशियाई इतिहासकारों की अंतर्राष्ट्रीय परिषद का बीसवां सम्मेलन जवाहर लाल विश्वविद्यालय में आयोजित हुआ। इसका आयोजन विश्वविद्यालय के जाकिर हुसैन सेंटर फॉर एजुकेशनल स्टडीज के द्वारा किया गया। सम्मेलन के मुख्य संयोजन प्रो0 दीपक कुमार थे।

इस सम्मेलन में एशिया के इतिहास लेखन के विविध आयामों पर विमर्श हुआ, जिनमें से कुछ हैं- एशिया का इतिहास लेखन, राष्ट्रनिर्माण, साहित्य और कला, हाशिये के समुदाय, जेंडर विमर्श, संस्कृति, लोक संस्कृति, लोकप्रिय संस्कृति, धर्म का उभार और आधुनिकता की चुनौतियाँ, संक्रमण काल का राजनीतिक अर्थशास्त्र, विस्थापन और मजदूर आंदोलन, शिक्षा, विज्ञान, पर्यावरण, कृषि, किसान आंदोलन, जनस्वाध्य आदि जिनका संयोजन समाज विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र एवं साहित्य के विशेषज्ञों में रणवीर चक्रवर्ती, जोसेफ बारा, आदित्य मुखर्जी, विजय रामास्वामी, विस्मय पति, नंदनी चटर्जी, देवेन्द्र चौबे, वी0 रेखा राजन, कौशिक रे, पॉल हेराल्ड, आतुषी होता, एण्ड्रयू सिदरोवा, आर0 महालक्ष्मी, उदय प्रकाश अरोड़ा, जे0 अरुणिमा आदि ने किया।

सम्मेलन के उद्घाटन सत्र इतिहासकार **रोमिला थापर** ने अतीत की ऐतिहासिक परंपराओं पर विचार रखते हुए इतिहास की मुख्य धारा में सामाजिक इतिहास के महत्व को रेखांकित किया। **प्रो0 सब्यसाची भट्टाचार्य ने कहा कि इतिहास में एशिया की धारणा अनूठी है।** उद्घाटन सत्र में अतिथियों का स्वागत प्रो0 **दीपक कुमार** ने किया और **कपिला वात्स्यायन** एवं ज0ने0वि0 के कुलपति प्रो0 बी0बी0 भट्टाचार्य ने भी सत्र को संबोधित किया।

इस सम्मेलन में देश-विदेश के लगभग साढ़े चार सौ इतिहासकारों और इतिहास के महत्व से जुड़े लेखकों ने भाग लिया।

सम्मेलन में दो दिन प्लेनरी व्याख्यान भी हुए। पहले दिन पेरेडेनिया विश्वविद्यालय, श्रीलंका के प्रो0 पेरेडेनिया विश्वविद्यालय, श्रीलंका के प्रो0 एमरीटस **लिजले गुणवर्दन** ने विज्ञान, तकनीक और इतिहास विषय पर दिया। ज0ने0वि0 के चांसलर प्रो0 **यशपाल** ने इस सत्र के अध्यक्षता की। दूसरा व्याख्यान डॉ0 **रामचन्द्र गुहा** ने 'जीवनियाँ और इतिहास' विषय पर दिया। प्रो0 **हरी वासुदेवन** ने इस सत्र की अध्यक्षता की। समापन समारोह में प्रो0 हरबंस मुखिया और प्रो0 माईकल एडास ने व्याख्यान दिए। प्रो0 **विपिन चंद्रा** इस समारोह के अध्यक्ष थे। सम्मेलन में भारत के अलग-अलग इलाकों के लोकसंस्कृति से जुड़े सांस्कृतिक कार्यक्रम भी हुए।

यह आयोजन भारतीय सांस्कृतिक संबंध से जुड़े भारतीय समाज विज्ञान शोध परिषद तथा पर्यावरण एवं वन मंत्रालय एवं वन मंत्रालय, के आर्थिक सहयोग से किया गया। सम्मेलन के सह-आयोजक मौलाना अबुल कलाम आजाद ऐशियाई अध्ययन संस्थान कोलकाता, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के एशियाई परियोजना विभाग, नई दिल्ली, अंतराष्ट्रीय विस्थापन और डायसपोरा अध्ययन परियोजना, जे0एन0यू0 और इतिहास विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय हैं। परिषद का अगला सम्मेलन 2010 में सिंगापुर में होगा।

प्रस्तुति : गणपत तेली, खुसी पटनायक, विनय कुमार

भारतीय भाषा केंद्र ने मनाया स्थापना दिवस

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र ने अपना स्थापना दिवस मनाया। प्रारंभ में तीन सत्रों में आयोजित कार्यक्रम की रूपरेखा केंद्र के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर चमनलाल ने रखी।

प्रो0 चमनलाल ने स्वागत भाषण में कहा कि भारतीय भाषा केंद्र की स्थापना 28 अक्तूबर, 1974 को हुई थी। भारतीय भाषा केंद्र के प्रथम विभागाध्यक्ष होने का गौरव प्रो0 नामवर सिंह को प्राप्त है तथा प्रथम अध्यापक के रूप में (स्व0) प्रो0 सावित्री चंद्र शोभा व प्रो0 एस0आर0 किदवई को यह गौरव प्राप्त है।

इस मौके पर प्रो0 एस0आर0 किदवई ने कहा–"गर्व का अहसास हो रहा है। जे0एन0यू0 आने पर लगता है कि दुनिया बदली नहीं है, जबकि बाहर लगता है, बहुत कुछ बदल गया है।

केंद्र की शुरूआत के समय इन दोनों ज़बानों (हिन्दी-उर्दू) को दो कम्यूनिटीज़ (समुदाय) से जोड़ा जाता था। भारतीय भाषा केन्द्र की संरचना ने हिन्दुस्तान की सियासत के इस मिथक को तोड़ने की अकादमिक ज़िम्मेदारी निभायी। यह देश का अकेला ऐसा सेंटर है, जहाँ एम0ए0 हिन्दी के लिए उर्दू और एम0ए0 उर्दू के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य है, जोकि भाषायी दूरी को दूर करने की उम्दा कोशिश है।''

प्रो0 नामवर सिंह ने कहा कि जब यह सेंटर बनाया गया, तो वह दूज का चाँद था, आज यह कम-से-कम आधा चाँद तो हो गया, उम्मीद है यह जल्द ही पूरा होगा। विश्वविद्यालय के रेक्टर एवं रूसी भाषाविद् प्रो0 आर0 कुमार ने कहा कि जब जे0एन0यू0 की स्थापना हुई थी, तब देश में उच्च शिक्षा-व्यवस्था के आधुनिकीकरण और चली आ रही व्यवस्था में सुधार की ज़रूरत महसूस की जा रही थी। इसी को ध्यान में रखकर यहाँ के स्कूल व केंद्र बनाये गये। दूसरे सत्र में 'हिन्दी-उर्दू भाषा एवं संस्कृति की साझी परंपराएँ' विषय पर छात्रों ने अपने-अपने विचार रखे। इस सत्र में अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार रखे। 'लिंग्विस्टिक डायवर्सिटी को बचाने की ज़रूरत है' (प्रो0 कैसर शमीम), 'खड़ी बोली हिन्दी के कॉमन ट्रेडिशन की शुरूआत होती है।' (प्रो0 मैनेजर पांडेय), 'रोजग़ार और सरोकार किसी भी भाषा को ज़िंदा रखने के लिए महत्त्वपूर्ण होता है' (डा0 उर्मिलेश), 'भाषा को एक धर्म, जात से जोड़ने की क़वायद चिंता का विषय है इससे किस क़दर अपनी संस्कृति को बचाया जाए' (अली जावेद), सांझी संस्कृति के व्यवहारिक पक्ष को देखना महत्त्वपूर्ण है, न केवल प्रयोगशाला के तौर पर ही स्वीकार करने का' (प्रो0 गंगाप्रसाद विमल), 'हिन्दी-उर्दू में भाषा पर काम नहीं हो रहा है, होता है तो सिर्फ़ साहित्य पर।' (प्रो0 वरयाम सिंह), आदि। इस सत्र का संचालन डा0 ख़्वाजा मोहम्मद इकरामुद्दीन ने किया।

स्थापना दिवस पर केंद्रित कार्यक्रम का तीसरा सत्र काव्य-गोष्ठी और मुशायरा था। इस सत्र की अध्यक्षता प्रो0 केदारनाथ सिंह ने की। इस सत्र में प्रो0 असलम परवेज़, प्रो0 गंगाप्रसाद विमल, डा0 अली जावेद, डा0 चंद्रा सदायत, डा0 गोविंद प्रसाद, कफ़ील अहमद नसीम, प्रो0 दुर्गा प्रसाद गुप्त, डा0 जितेन्द्र श्रीवास्तव, डा0 रूपा सिंह, मिर्ज़ा अब्दुल बकी बेग, ज़फ़रुल्ला अंसारी, डा0 पूनम कुमारी, मस्कूर आलम, हादी सरमदी, अभय कुमार आदि ने अपनी रचनाएँ सुनायी। वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने भी अपनी कविताएँ सुनायी। सत्र का संचालन डा0 देवेन्द्र कुमार चौबे ने किया।

अंत में प्रो0 चमन लाल ने नये-पुराने विद्यार्थियों के परिचय का दायित्व सँभाला और डा0 ख़्वाजा इकरामुद्दीन तथा डा0 देवेन्द्र कुमार चौबे ने सेंटर के कर्मचारियों एवं उपस्थित लोगों को धन्यवाद दिया। इसके साथ ही कुछ नये सुझावों का स्वागत तथा आगे के कार्यक्रमों के लिए नये-पुराने छात्रों की एक अस्थायी समिति का गठन किया गया, जिसके संयोजक डा0 ख़्वाजा मोहम्मद इकरामुद्दीन और डा0 देवेन्द्र कुमार चौबे बनाये गये।

प्रस्तुति : गणपत तेली
भारतीय भाषा परिषद केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067

मुक्ति संग्राम और बुंदेली क़लम के बेख़ौफ़ दस्तावेज़

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में रीडर एवं युवा आलोचक संतोष भदौरिया की स्वतंत्रता-संग्राम के दौर की पत्रकारिता पर केंद्रित एक और पुस्तक 'बुंदेलखंड का स्वाधीनता-आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएँ' शीर्षक से स्वराज पुस्तकमाला के अंतर्गत स्वराज संस्थान, संस्कृति विभाग, मध्य प्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित की गयी है, जिसका विमोचन मध्य प्रदेश के राज्यपाल डा0 बलराम जाखड़ द्वारा भोपाल के रवीन्द्र भवन में आयोजित साहित्यिक कार्यक्रम में किया गया। इसमें भोपाल के साहित्यकार, प्रबुद्धजनों के अलावा संस्कृति विभाग के अधिकारी भी मौजूद थे।

वस्तुतः भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन में समाचार-पत्रों ने बुंदेली जनता के संघर्ष को सहज अभिव्यक्ति दी और स्वातंत्र्य चेतना के प्रचार और सार्वदेशिक विकास में अहम भूमिका निभायी। डा0 भदौरिया की इस पुस्तक में उपनिवेशवादी अंग्रेज़ी राज के दौरान् समाचार-पत्रों की भूमिका के प्रमाणिक आंकलन का प्रयास किया गया है। आज़ादी के छह दशक बाद बुंदेली क़लम के शौर्य और अपराजित भाव को यह पुस्तक मधुकर, उत्साह, दैनिक प्रकाश, चिंगारी, क्रांतिकारी, कामरेड, छात्र सहोदर, बुंदेलखंड केसरी, देहाती दुनिया, हिन्द राजस्थान, कर्मवीर आदि अख़बारों के आधार पर तथ्यपरक एवं शोधपरक ढंग से व्याख्यायित करती है।

प्रस्तुति : अशोक चौहान, ग्वालियर

संगमन-14 : यथार्थ की पहचान एवं परख की जद्दोज़हद

दुनिया के सबसे अलग और अपनी तरह के अनूठे साहित्यिक आयोजन शृंखला संगमन का 14वां वार्षिक आयोजन 10 से 12 अक्तूबर, 2008 को संगीत, साहित्य एवं शौर्य की धरती ग्वालियर में संपन्न हुआ। देश के विभिन्न भागों से आये कोई 4 दर्जन कथाकारों, आलोचकों, साहित्य-संपादकों एवं बुद्धिजीवियों तथा बड़ी संख्या में साहित्यप्रेमियों की उपस्थिति में राज्य स्वास्थ्य प्रबंधन एवं संचार संस्थान, ग्वालियर के सभागार में रचनाकारों ने बहुत तेज़ी से बदलते यथार्थ को उसकी बहुआयामिता के साथ पकड़ने एवं समझने का प्रयास किया।

संगमन-14 में गोपाली गफ़ूरन (शैलेश मटियानी), मिड

नाइट चिल्ड्रन (सलमान रश्दी), राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल), सपना जो सच हुआ (वर्गीज़ कुरियन), विपात्र (मुक्तिबोध) जैसी पुस्तकों के माध्यम से स्वतंत्र भारत के बदले हुए यथार्थ को समझने की कोशिश की गयी तथा वैश्वीकरण के दबाव के चलते पूरे समाज पर पड़ने वाले प्रभावों को भी पहचानने का प्रयास किया गया। दलितों की आत्मकथाओं के साहित्य की धारा में शामिल होने को समाज के विकास की अवस्था तथा उसका जनतांत्रिकीकरण बताया गया।

इसी कड़ी में युवा कथाकारों की दो लंबी कहानियों—पाँच का सिक्का (अरुण कुमार असफल) एवं ददूदा यानी मदर इण्डिया का सुनील दत्त (उमाशंकर चौधरी) का पाठ भी हुआ। आयोजन के दौरान् हिन्दी कथाकारों के छायाचित्रों की प्रदर्शनी (कमल किशोर कमल), तथा कथा-पोस्टर प्रदर्शनी (पंकज दीक्षित) भी विशेष आकर्षण का केंद्र रही।

कार्यक्रम में श्री गिरिराज किशोर, कमला प्रसाद, गोविन्द मिश्र, मंजूर एहतेशाम, शिवमूर्ति, प्रभु जोशी, पंकज बिष्ट, लीलाधर मंडलोई, प्रियंवद, पुन्नी सिंह, प्रेमपाल शर्मा, हरिनारायण, अमरीक सिंह दीप, के0बी0 एल0 पांडेय, जितेन्द्र रघुवंशी, जया जादवानी, प्रकाश कांत, देवेन्द्र, राजेन्द्र लहरिया, महेश कटारे, पवन करण, मधु कांकरिया, ओमा शर्मा, मदन मोहन, मनीषा कुलश्रेष्ठ, हरिओम राजौरिया, मुकेश वर्मा, सत्यनारायण पटेल, भालचंद्र जोशी, तरुण भटनागर, विवेक गुप्ता, गीत चतुर्वेदी, पद्मा शर्मा, सीमा शर्मा, प्रमोद भार्गव, प्रेम सिंह चौहान, भगवान सिंह आदि की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

प्रस्तुति : कमलेश भट्ट कमल, ग़ाज़ियाबाद

संजीव ठाकुर को अखिल भारतीय मैथिलीशरण गुप्त सम्मान

रायपुर। कवि कथाकार संजीव कुमार ठाकुर की प्रयोगधर्मी कृति "अगली कई साँझ नहीं आया वह" को अखिल भारतीय वैश्य गहोई समाज छत्तीसगढ़ द्वारा स्थापित प्रथम अखिल भारतीय मैथिलीशरण स्मृति सम्मान 2008 से छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ0 रमन सिंह द्वारा 5001 नगद, प्रशस्ति पत्र, शॉल व श्रीफल देकर सम्मानित किया गया।

अखिल भारतीय मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार से सम्मानित करते हुए छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ0 रमन सिंह ने कहा कि छत्तीसगढ़ के युवा, लोकप्रिय कवि, कथाकार संजीव ठाकुर को इस पुरस्कार से सम्मानित करना छत्तीसगढ़ के लिए गौरव की बात है। नवयुवा पीढ़ी के रचनाकारों में संजीव ठाकुर से प्रदेश को काफ़ी उम्मीदें हैं। इस अवसर पर अखिल भारतीय गहोई समाज के एवं अध्यक्ष, छत्तीसगढ़ गहोई वैश्य समाज के अध्यक्ष रामरतन चौदहा, रायपुर के महापौर सुनील सोनी, विकास प्राधिकरण के अध्यक्ष श्याम बैस, वित्त आयोग के पूर्व अध्यक्ष वीरेंद पाण्डे, साहित्यकार दानेश्वर शर्मा, कवि सुरजीत नवदीप, राकेश ओझा, कवयित्री नीलम मेघ एवं गहोई समाज के पदाधिकारी व सदस्य उपस्थित थे।

आमोद सक्सेना

महासचिव, छ0रा0सा0 सा0 संस्थान, रायपुर

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

कुछ वसंत की बात करें

वसंत हमारे जीवन में उल्लास और भाई चारे का संदेश देने वाला पर्व है। वसंत का धर्म-जाति, संप्रदाय से कोई वास्ता नहीं। यह अपने पूरे आचरण में एक मात्र धर्म-निरपेक्ष पर्व है। भारतीय संस्कृति का कोई नमूना देखना हो तो आप वसंत को देखिए। कालिदास से लेकर निराला तक कोई ऐसा कवि नहीं जिसने वसंत को विषय न बनाया हो। एक समय था, जब यह राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाया जाता था। राजा और रंक, सभी का त्योहार था यह। वसंत के उपरांत होली की मस्ती शुरू हो जाती है। मस्ती के इस मौसम में वसंती-बयार बहती है।

भारत के क्रांतिकारी जीवन में, वसंत का विशेष महत्त्व रहा है। आज़ादी के दिनों में वंदे मातरम् गाया जाता था लेकिन, 'सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है' के साथ, गाया जाने वाला 'माँ रंग दे बसंती चोला' उससे पहले क्रांतिकारी लोक संगीत का हिस्सा भी गाया जाता था। दासता के पतझड़ के मौसम में, आज़ादी के वसंत का गीत। वसंत का अर्थ था, मनुष्य का प्रकृति से सीधा संबंध। 'जियो और जीने दो' का सिद्धांत। जीवों पर दया का संदेश। पेड़-पौधों की सुरक्षा का आह्वान। जीवन की नीरसता को रंगों में बदलने का उत्सव। तब मनुष्य के प्रकृति से रिश्ते इतने कमजोर नहीं थे। वृक्षों से, पशु-पक्षियों से, नदी-सरोकारों से प्रेम था। बहुत से पेड़ों को मनुष्य ने सांस्कृतिक रूप दिया, जिनमें-पीपल, बरगद, कदम्ब, आम प्रमुख हैं। कोयल वसंत का आगमन की सूचना देती है। खंजन भी वसंत के इन्तज़ार करते हैं और वसंत से मिलकर दूर चले जाते हैं।

सूर और तुलसी ने राम और कृष्ण के नेत्रों की तुलना खंजन नैन से की है। तुलसी ने सीता को ''खंजन नैनी'' कहा है। रीतिकाल के कवि भी खंजन-नैनों पर रीझे हुए थे। सूर की उक्ति है, 'खंजन-नैन रूप-रस साँचे, अतिसय चारु-चपल अनियारे,'। हमारे राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में 'निरख सखी ये खंजन आए' जैसी पंक्ति लिखी है।

छायावाद के बाद 'खंजन' को शायद ही महत्त्व दिया गया। 'पपीहा' भी सिर्फ़ फिल्मी गीतों में ही मिलने लगा। खंजन तो वहाँ ग़ायब है। आज की कविता से 'खंजन' और 'पपीहे' का संबंध नहीं रह गया है। एक और सुंदर पक्षी था, हारिल। मध्ययुगीन कवियों का प्रिय पक्षी। सूर ने लिखा-हमारे हरि हारिल की लकड़ी। हारिल, पपीहा, खंजन आज भी हमारे लोक-गीतों और लोक साहित्य में मौजूद हैं। हारिल के बारे में एक दिलचस्प किंवदन्ति है। उसकी प्रतिज्ञा थी कि जमीन पर पैर नहीं रखूँगा। हारिल जब जमीन पर आता है तो हमेशा उसके पैर ऊपर रहते हैं। पानी भी उड़ते हुए पीता है। संभव है, यह एक 'मिथ' हो। एक ज़माना था, जब गाँवों में हारिल बहुतायत से हुआ करते थे। शिकारियों ने हारिल को विलुप्त होने के कगार पर पहुँचा दिया है। तमाम सुंदर चीज़ों को मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था नष्ट कर रही है। हर कीमत पर मुनाफ़ा चाहिए। अनियोजित शहरीकरण ने लोगों को प्रकृति से दूर कर दिया है। ये उखड़े हुए लोग हैं, जो न शहरी बन सके न ग्रामीण रह सके।

मेरे एक मित्र हैं। काफ़ी समय से दिल्ली में स्थायी रूप से बस गये हैं। एक बार मुझसे मिलने आये। रात में घर पर टिके। प्रातः काल पक्षियों का कलरव सुना, तोते, कौवे, जैसे चिड़ियों की आवाज़ सुनी तो खुश होकर बोले, आप भाग्यशाली हैं, जो सवेरे पक्षियों की आवाज़ें सुनते हैं। मैंने तो कौवे की आवाज़ भीं नहीं सुनी एक लंबे समय से। मैं उनका दर्द समझ गया। मैंने कहा—आप अभी बाज़ार की उस व्यवस्था का अंग पूरी तरह नहीं बन सके हैं, जहाँ इन चीजों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ लक्ष्य केवल मुनाफ़ा होता है। बात पर्यावरण पर चली। बोले, तुम्हारे यहाँ का पार्क बहुत अच्छा है। नगर पालिका बहुत अच्छी है। मैंने कहा—नगर पालिका हर जगह अच्छी है लेकिन घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं। मैं यहाँ 15 वर्ष पूर्व आया था। पार्क की सिर्फ़ जगह थी। न चार दीवारी थी, न पेड़-पौधे। सीधा-सपाट मैदान था जो कॉलोनी का मलबाघर था। सारे घरों का कचरा यहीं जमा होता था। कुछ लोगों ने इसकी दुरावस्था को देखकर, यहाँ मंदिर बना देने का प्रस्ताव रखा। व्यवसायिक बुद्धि से प्रेरित लोगों ने यहाँ दुकानें बनवा देने का विचार रखा। मैं जब यहाँ आया था, उससे लगभग 5 वर्ष पूर्व ही लोगों ने यहाँ रहना शुरू किया था जिनमें खाते-पीते मध्यवर्ग के लोग थे। यहाँ आकर मैंने लोगों से बात की। मुझे बताया गया कि यह पार्क की जगह है। हमारी कोई सुनता नहीं। कई बार कोशिश कर चुके हैं। कुछ लोगों के साथ मैंने, ए0डी0ए0 के दफ़्तर

में, अधिकारियों से बात की। वहाँ के एक जे0ई0 मेरे पुराने छात्र थे। उन्होंने पूछा-सर, कैसे कष्ट किया? मैंने सारी बात बतायी। वह बोले, वहाँ तो बाउँड्री बन चुकी है। मैंने मौक़ा मुआयने के लिए कहा। उन्हें, वस्तु स्थिति से अवगत कराया। वे फिर बोले-सर, ठेकेदार का तो पेमेंट भी हो गया है। इसके बाद मैंने प्रैस का सहारा लिया। ए0डी0ए0 के दफ़्तर में हलचल हुई। माफ़ी का दौर चला। नये सिरे से पैमाइश हुई। बाउँड्री बनी। पेड़-पौधे लगाये गए। लिहाज़ा, पशुओं की रोकथाम और पार्क की सुरक्षा के लिए लोहे की ऊँची ग्रिल और गेट लगवाये गए। लगभग छह महीने में वह जगह ठीक हो पाई। फिर पेड़ पौधे लगाये गये। घने वृक्ष, घास का मैदान और विभिन्न फूलों के पौधों से सुंदर पार्क अस्तित्व में आ गया। कॉलोनी में एक आवासीय समिति बनी। तभी से, पार्क की व्यवस्थित रूप से देखभाल होती रही। सामूहिक प्रयासों की शक्ति से कॉलोनी के निवासियों को व्यवस्था के प्रति आश्वस्ति के साथ, पर्यावरण के प्रति जागरुकता का भाव जाग्रत हुआ। परिणामस्वरूप, पार्क में लगे पेड़-पौधों की रक्षा के लिए प्रयास किये गये।

दुख इस बात का है कि यह स्थिति धीरे-धीरे बदलने लगी। केले के पेड़ से लोग गुरुवार को, वृहस्पतिदेव को प्रसन्न के लिए केले के पत्ते तोड़कर ले जाने गले। कनेर के पीले फूल भी वृहस्पतिदेव के लिए ज़रूरी समझे गए। गुलाब की कलमें लगायी गयीं थीं। उनमें फूल आये तो घरों में पूजा के लिये गुलाब और अन्य फूल तोड़े जाने लगे।

वक़्त से साथ कॉलोनी के निवासियों की आर्थिक स्थिति बदली तो उनके सरोकार बदले। होली-दीवाली पर मिलने आने वाले, दुःख-सुख बाँटने वाले लोग, दूसरी दुनिया के हो गए। अब लोगों को ज़रूरत हुई देवी जागरण कराने, शादी के स्वागत समारोह के लिये मुफ़्त के स्थान की। पार्क से अधिक सुविधाजनक जगह कौन होगी ? दावत के बाद पेड़-पौधों की जड़ें घी-तेल भरे गंदे पानी से लबालब हो जाती। पूरे पार्क में गंदगी के ढेर लग जाते।

हजारों रुपये खर्च करके समारोह कराने वाले लोग सौ-दो सौ रुपये सफाई के लिये खर्च नहीं कर सकते थे। टेंट लगाने के लिये बड़े पेड़ों से असुविधा होने पर उन्हें काटने के प्रयास हुए। विरो[illegible] करने के बावजूद नीम और कदंब के पेड़ काट डाले गए। बेलपत्र के पेड़ को नोच डाला गया और अंत में उखाड़ भी दिया गया। पेड़-पौधों की रक्षा के प्रयास किये जाने पर शुभैषी मित्रों ने कहा-प्रोफ़ेसर साहब, किस चक्कर में पड़ गये हैं। दूसरे पार्कों में कुत्ते, गाय, भैंस घूमती हैं, आप इन्सानों को फूल नहीं तोड़ने देते? यह विचार थे उन नव-धनिकों के, जिनके लिए व्यवसाय और पैसा ही सब कुछ है। प्रकृति से उनका लेना-देना कुछ नहीं।

वसंत का आनंद लेना है तो, लोगों को सरकारी तौर पर नहीं बल्कि उनमें चेतना के स्तर पर प्रकृति के प्रति संवेदना जाग्रत करनी होगी। राजनेता, सरकारी अधिकारियों और व्यापारियों के लिए वसंत का आगमन अगर मुनाफ़े का सौदा है तभी उनके लिए वह सुखद है, ग्राह्य है। प्रेम और उल्लास का पर्व है, वसंत। सहृदयों का उत्सव है वसंत। सौदागरों के पाषाण-हृदय इसके आगमन का आनंद नहीं उठा सकते।

भूमंडलीय-संस्कृति समूचे मानव-समुदाय को वस्तु में बदल रही है। सांस्कृतिक पर्वों का व्यवसायीकरण कर रहा है। युवापीढ़ी 'वसंतोत्सव' से अधिक 'वैलेण्टाइन डे' से परिचित है। एक दार्शनिक का कथन है। "जो व्यक्ति या समूह प्रकृति से प्रेम नहीं कर सकता वह मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकता।"

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह को 'भारत-भारती' सम्मान मिलने पर 'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से हार्दिक बधाई। उन्हें यह सम्मान प्रदान कर स्वयं उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान गौरवान्वित हुआ है।

(कुँवरपाल सिंह)

टिहरी बांध एवं जल विद्युत परियोजना

एक ऐसा सपना जो आज पूरा हो चुका है...

...एशिया के सबसे ऊँचे टिहरी बांध का निर्माण पूर्ण !

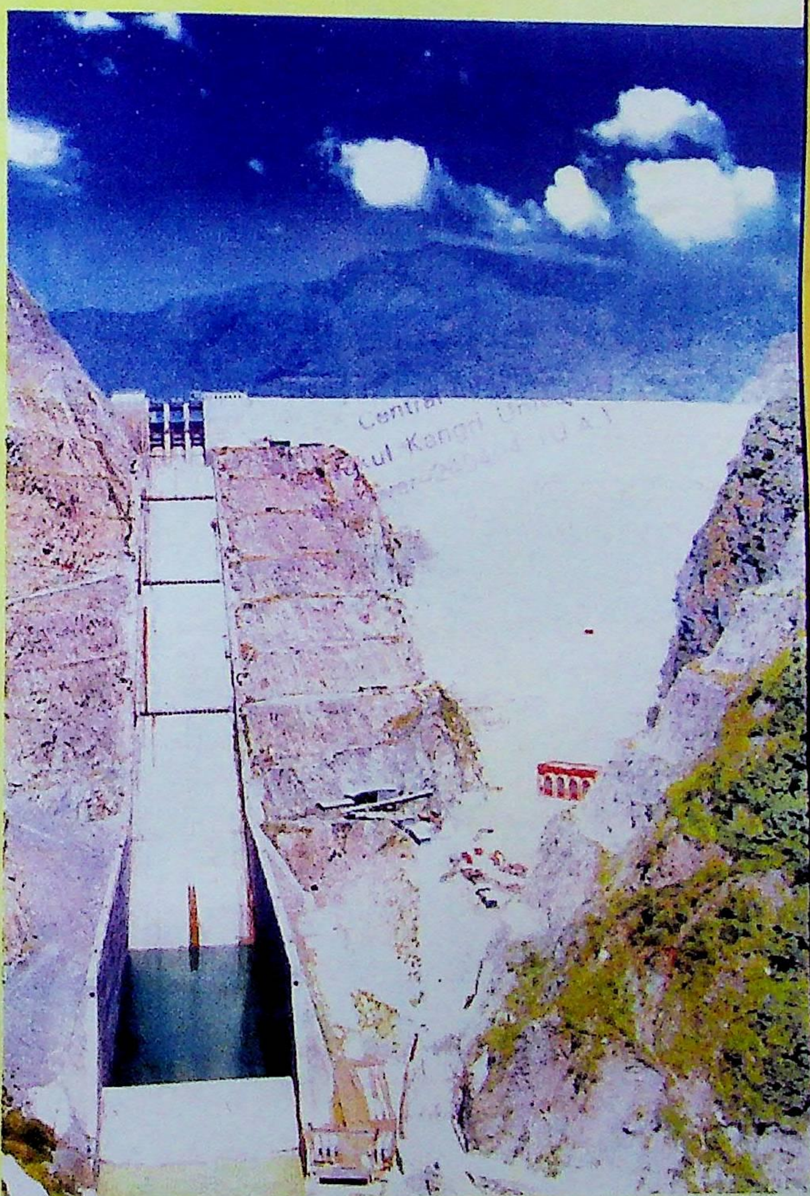
टिहरी पावर स्टेशन ने 1000 मेगावाट विद्युत उत्पादन की क्षमता प्राप्त कर ली है.

कल तक एक स्वप्न के रूप में देखा जाने वाला टिहरी बांध टिहरी गढ़वाल (उत्तराखंड) में भागीरथी नदी पर पूरा बन गया है. यह एशिया में सबसे ऊंचा (260.5 मीटर) तथा पूरे विश्व में चौथा सबसे ऊंचा मिट्टी–पत्थर का बांध है. **10वीं पंचवर्षीय योजना में कारपोरेशन ने टिहरी जल विद्युत परियोजना के प्रथम चरण के अन्तर्गत वर्ष 2006-07 में 1000 मेगावट विद्युत उत्पादन क्षमता प्राप्त कर ली है.**

टिहरी परियोजना का उत्तराखंड राज्य के सर्वागीण विकास तथा उत्तरी भारत के सभी राज्यों में विद्युत प्रणाली में सुधार के लिए महत्वपूर्ण योगदान।

परियोजना की विशेषताएं

- टिहरी प्रथम चरण की कमीशनिंग के साथ ही 1000 मेगावाट विद्युत का उत्पाद शुरू हो गया है.
- कमांड एरिया में 8.74 लाख हैक्टेयर भूमि को सिंचाई लाभ जिसमें अतिरिक्त 2.7 लाख हैक्टेयर भूमि क्षेत्र भी शामिल है.
- दिल्ली एवं उत्तर प्रदेश के 70 लाख निवासियों के लिए पेयजल.
- सुखद पर्यावरण हेतु लगभग 48,697 हैक्टेयर भूमि पर 5 करोड़ 40 लाख वृक्षों द्वारा वनीकरण.
- विस्थापितों के लिए सुनियोजित एवं उदार पुनर्वास नीति.
- मत्स्य पालन, लघु उद्योग एवं रोजगार के अवसर.
- आधुनिक सुख–सुविधाओं से युक्त नया टिहरी शहर
- 42 वर्ग किलोमीटर जलाशय का निर्माण–पर्यटकों के लिए विशेष आकर्षण.





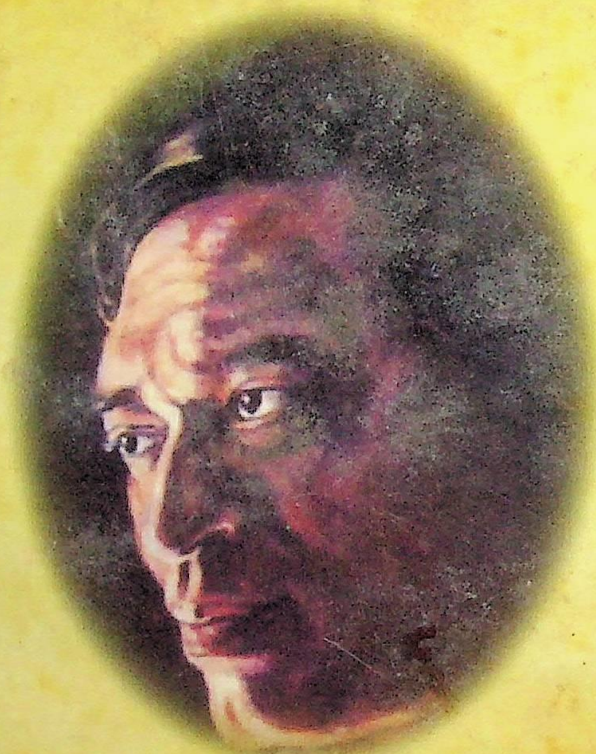
टिहरी हाइड्रो डेवलपमेंट कॉरपोरेशन लिमिटेड

(भारत सरकार एवं उत्तर प्रदेश सरकार का संयुक्त उपक्रम)
गंगा भवन, प्रगतिपुरम्, बाईपास रोड, ऋषिकेश-249201 (उत्तराखंड)
फोनः (0135) 2435842, 2431517-23 फैक्सः (0135) 2439311 वेबसाइटः www.thdc.gov.in

स्वहित और राष्ट्रहित में ऊर्जा बचाएं

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण



न देखो विधि पर मुझको घृणा से
मनुज हूँ सृष्टि का शृंगार हूँ मैं
सुनूँ क्या सिंधु मैं गर्जन तुम्हारा?
स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(1908 - 1974)





सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा 28, एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिंह

मार्च, 2009 ■ अठारह रुपये

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

''नारी विमर्श पर केन्द्रित अंक''



वर्ष 26 ❑ मार्च, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 18/-; ❑ वार्षिक : 200/-; ❑ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ❑ आजीवन : 2000/- ❑ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट **'वर्तमान साहित्य'** के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

इस अंक में

□

नये वर्ष पर बहुत सी पत्रिकाएँ आयीं, जनवरी, 2009 की शुभकामनाओं के साथ लेकिन वर्तमान साहित्य का मुख पृष्ठ लाजवाब है, आँखों को ठंडक पहुचाता है और मन मस्तिष्क को राहत। बचपन की मासूमियत और भोलापन, काश! हम अपनी इस पतनशील संस्कृति के समय को उस मासूमियत में लौटा पाते। सचमुच आवरण पृष्ठ ने भीतर तक झकझोर कर रख दिया। इतनी खूबसूरत ज़िंदगी लेकर आये थे, कितनी काँट-छाँट, तहस-नहस, लहूलुहान करके कहाँ पहुँचा दिया इसे हमने। जिसने भी यह तस्वीर दी, उसकी बहुत शुक्रगुज़ार हूँ मैं।

सुधा अरोड़ा, मुंबई

□

'वर्तमान साहित्य' का जनवरी, 09 मिल गया था। इस अंक में 'धर्मचोर' कहानी धर्म के नाम पर होने वाले कदाचार और अनर्थ को तीखेपन के साथ आवृत्त करती है। वशिष्ठ अनूप की ग़ज़लें 'हिन्दुस्तानी' पर व्यक्त विचार सैद्धांतिक तौर पर तो ठीक लगते हैं लेकिन हल्की व्यावहारिकता आपके दौर में संदिग्ध है। प्रवासी कहानी मनुष्यता के क्षरण पर बहुत कठोर टिप्पणी है। शेष सामग्री पठनीय और विचारणीय है।

डा0 वेदप्रकाश अमिताभ, अलीगढ़

□

'वर्तमान साहित्य' जनवरी, 2009। संपादकीय मौजूदा समय में साहित्य के प्रति अपेक्षाओं की उन दृष्टियों पर गौर करती है, जहाँ से हम उस मुद्दे को आज के संदर्भ में, सोचने को विवश होते हैं। जैसे सांप्रदायिकता से हटकर किसी पत्रिका में रचना की माँग करना, जबकि यह समस्या कई पहलुओं के साथ, चिपकी हुई है। कहानी 'धर्मचोर' अच्छी लगी। छद्म चरित्र का आतंक को महसूसा जा सकता है। कहानी 'एक लड़की और बीस पाउंड' भी अच्छी लगी। कथानक अंत तक प्रभावित करता है।

कहानी की बात को लेकर सूरज पालीवाल गहरे विमर्श करते आ रहे हैं। वे पाठकों को नई दृष्टि से लबरेज करते हैं, फलस्वरूप रचना पढ़ने की ललक जगती है।

पुष्पिता अवस्थी की कविताएँ अच्छी लगीं।

अरुण अभिषेक, पूर्णियाँ

□

इस बार का संपादकीय भाई कुँवरपाल सिंह ने बहुत प्रभावी लिखा है। पाँचवीं-छठवीं में रहा होऊँगा कि पाकिस्तान बन गया। कुछ भाई-बहिन वहाँ चले गये। गाँवों पर उन दंगों का कोई असर नहीं था सो रिटायर्ड मुदर्रिस पिता भारत में ही रह गये। गोया तब से आजतक हम इस देश में प्रताड़ित होते रहे। सोच व्यवहार से बायें बाजू का हो गया सो मुल्लाओं के लिये क़ाफ़िरों से गया गुजरा और बहुमत के लिये नाम ही पर्याप्त था। सो दोनों दीन से गये पांडे, कलुआ बिके न भांडे। एक बार तो आत्मकथात्मक गीत लिखकर अपनी चुनौती को पूरे दर्द से इज़हार करते हुए आडवाणियों और प्रज्ञाओं से साफ़-साफ़ कह दिया कि बार-बार मेरी नेकनीयती और प्रतिबद्धता पर प्रश्न चिन्ह न लगाये जायें। मुझे नक़वी और सिकन्दर वख़्त न बनाया जाय। असग़र वजाहत और अब्दुल बिस्मिल्लाह होने पर लानत भेजी। अपनी योग्यता के आधार पर म0प्र0 शासकीय सेवा में रहा। प्राचार्य स्नातक महाविद्यालय से 1995 में रिटायर हुआ। गीत विधा चुनी लेकिन रूमानी लिजलिजापन कभी नहीं रहा।

खुला ख़त पोस्टकार्ड लिख रहा हूँ। मुआफी चाहूँगा मौजूदा मंदी और मंहगाई के मारे एक मुदर्रिस के लिये बचाव का एक यही रास्ता रह जाता है।

नईम, देवास

□

आज विश्व में सबसे महत्त्वपूर्ण विषय आतंकवाद से निपटना है। पर कैसे? इस पर विचार चल रहे हैं। इस आतंकवाद का जन्मदाता आज खुद उसी से परेशान है। यह समस्या भारत ही नहीं वरन् सभी देश की समस्या है जिस पर आपकी दृष्टि ठीक ही गयी है।

दामोदर धर्मानंद कौसांबी जैसे प्रतिभा संपन्न व्यक्ति का पाठकों से परिचय करा कर आपने एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। जन्मशती में वैक्कम मौ0 बशीर की कृतियों व विचारों से अवगत करा दक्षिण भाषी रचनाकारों या रचनाकार से तारतम्य स्थापित कर एक शुभ कार्य किया। मौ0 बशीर की टाइगर कहानी भी अच्छी लगी। प्रवासी कहानी 'एक लड़की और बीस पाउंड' अच्छी लगी। दोनों लघु कथाएँ अच्छी हैं। काव्य जगत में आई0एच0 सिद्दीकी की 'कर्फ़्यू' का तीसरा चित्र बहुत बढ़िया और प्रश्नवाचक है। 'मैं भोपाल हूँ' भोपाल गैस कांड के राजनीतिकरण को स्पष्ट करता है। मधुबनी का जो सांस्कृतिक महत्व है वह अपने आपमें अविस्मरणीय है, अद्भुत कलाओं का उद्गम स्थान है।

समय संवाद में कुँवरपाल जी ने पूँजीवादी व्यवस्था के

दुष्परिणामों को समझाते हुए अमेरिका की पूँजीवादी रणनीति जिसमें आज वह खुद फँस गया है, उसे स्पष्ट करते हुए संकेत दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने किस प्रकार जीवन मूल्यों और मानवीय संबंधों को प्रभावित किया है।

संध्या मिश्रा, कानपुर

□

'वर्तमान साहित्य' का जनवरी का अंक मिला। उसमें कविता पुरस्कार का विवरण देखा। वेद प्रकाश अमिताभ का लेख काफ़ी अच्छा है। विवरण से आयोजन की पूरी जानकारी हुयी।

वर्तमान साहित्य अन्य पत्रिकाओं में अपनी अलग पहचान बनाए हुए है। उसमें साहित्य के साथ देश और समाज की भी चिंता होती है जो आज के समय में अत्यंत आवश्यक है।

मलखानसिंह सिसोदिया, सिकन्द्राबाद (आं0प्र0)

□

वर्तमान साहित्य का जनवरी अंक पढ़ा। संपादकीय उत्कृष्ट एवं विचारणीय है। शुरू से ही जब मुस्लिम लीग की स्थापना हुयी, देश का विभाजन हुआ तब से ही नफ़रत की बीज पड़ चुके थे। आज जब वही बीज पेड़ बन गया है तो भारत के साथ-साथ अमेरिका का भी सिरदर्द बन गया है।

बाल ठाकरे की रणनीति पर चलने वाले राज ठाकरे भले ही बाहर वालों (यू0पी0, बिहार) को भगाने में सफल हुये, फूट डालो, राज करो की नीति अपनाकर महाराष्ट्र के चहेते नेता बन गये लेकिन मुंबई को कमजोर बना दिये। जब आपसी फूट होगी तो बाहर वाले फ़ायदा उठाएँगे ही। और हुआ भी वही। जब कमांडो ने आकर ताज होटल, नरीमन हाउस एवं ऑबेरॉय को मुक्त कराया तब उन्हें कहना चाहिए था न–कि आप कमांडो में जो बिहार, यू0पी0, झारखंड के हैं, काम मत कीजिए। मैं स्वयं मुक्त कराऊँगा ? तब तो वे कहीं नहीं दिखे?

'दन-दन चकवा, मामू घर के पकवा' बेहद मार्मिक, ग़रीबी का जीता जागता उदाहरण है। कहानी अच्छी लगी लेकिन समाज को सकारात्मक दिशा मिलनी चाहिए थी। शाहनवाज आलम का लेख, बापू की उर्दू दोस्ती, अच्छा लगा। वशिष्ठ अनूप की ग़ज़लें दिल को छू गयी। कपिलेश भोज की कविताएँ भी अच्छी हैं। महेन्द्र दवेसर 'दीपक' की प्रवासी कहानी 'एक लड़की और बीस पाउंड' भी काफ़ी अच्छी लगी। 'मैं भोपाल हूँ' में लेखक ने भोपाल की त्रासदी का वर्णन ऐसे किया मानो सब दिख रहा है। यशपाल की सिगरेट भी अच्छी लगी।

बलजिंदर नसराली की 'क्रांति क्यों नहीं आती'-अच्छी कहानी है। 'वर्तमान साहित्य' साहित्यिक पत्रिका होने के साथ-साथ एक आंदोलन एवं विचारणीय पत्रिका है। बेहतर संपादकीय के लिए नमिता जी को धन्यवाद।

माधुरी मिश्रा, जमशेदपुर

□

जनवरी, 2009 का अंक सचमुच नए साल के नए एहसास की तरह लगा। संपादकीय और समय-संवाद हमेशा की तरह प्रभावी रहे। दामोदर धर्मानंद कोसांबी तथा वैक्कम मोहम्मद बशीर की जन्मशती पर प्रकाशित सामग्री अच्छी लगी, किंतु वै0 मो0 बशीर पर कुछ और पढ़ने की प्यास बाकी रह गयी। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास अभी कम ही हुआ है। राष्ट्र की समग्र साहित्यिक पहचान तथा सांस्कृतिक एकसूत्रता की तलाश हेतु यह आवश्यक भी है और उपयोगी भी। सन्मार्ग की कहानी-'दन-दन चकवा-मामू के घर पकवा' प्रभावित करती है। 'सांस्कृतिक क्षितिज पर एक शहर' मेरा प्रिय स्तंभ है। महत्त्वपूर्ण शहरों का परिचय यदि पुस्तकाकार छपवाया जाए तो उपयोगी रहेगा। कविताएँ और लघु कथाएँ भी उपयोगी हैं।

डा0 फ़ैयाज अहमद, शाहजहाँपुर

□

आपको आतंकवाद को केवल धार्मिक कट्टरता के नज़रिये से नहीं देखना चाहिए। इसमें राजनीतिक स्वार्थ है जो पाकिस्तान साधना चाहता है। बाबरी मस्जिद विध्वंस से इसका क्या लेना देना है ? अगर ऐसा होता तो विश्व के दूसरे देश इसके चपेट में कतई नहीं होते। ठीक है पाकिस्तान, पर हमला इसका विकल्प नहीं है क्योंकि पाकिस्तान तालिवानों एवं कट्टरपंथियों पर नकेल नहीं कसना चाहता। ग़रीबी एवं बेरोजगारी भी इसका एकमात्र कारण नहीं है क्योंकि संपन्न घराने एवं धनी लोग या देश के नव युवक भी इसमें फंस रहे हैं। आज अंध आस्था, विश्वास के जाल में फंसकर लोग आतंकी या उन्मादी होते हैं।

विभूति नारायण सिंह, फुलबरिया

□

'वर्तमान साहित्य' जनवरी, 2009 पढ़ा। 'अपनी बात' और 'मंदी और आम आदमी' के बीच में अलग-अलग मुद्दे /साहित्यिक विधाएँ ऐसे लगे जैसे सम-सामयिक समय की नदी के दो छोर और बीच में साहित्य। केंद्रीय हिन्दी संस्थान का सहयोग एवं 'दिल्ली सरकार' के विज्ञापन कई पत्रिकाओं के साथ 'वर्तमान साहित्य' में भी दिखे। दोनों संस्थाओं को धन्यवाद एवं बधाई। एक संपूर्ण पत्रिका पढ़कर पैसा वसूल ! 'प्रवासी कहानी' का प्लॉट अच्छा लगा। बलजिंदर नसराली की कहानी 'क्रांति क्यों नहीं आती' एक प्रभावशाली कहानी है। क्या यह कहानी पंजाबी भाषा में लिखी गयी है, अगर ऐसा है तो अनुवादक का नाम भी देना चाहिए था। अगर यह कहानी हिन्दी में है, तो 'पास-पड़ोस' शीर्षक का क्या औचित्य?

कई रपटों ने पत्रिका को विशिष्ट समसामयिक बनाया। 'मधुबनी' पर आलेख, पुस्तक चर्चा और बापू की उर्दू कहानी से कुछ नोट्स लिये।

जितेन्द्र जितांशु, कोलकाता

□

'वर्तमान साहित्य' जनवरी, 2009 को देखा, पढ़ा और सोचा। इसकी कविताएँ, लेख 'लरिकइंवा की प्रीति', 'साहित्य के रचना विधान और उद्देश्य पर बहस' (मृत्युंजय उपाध्याय) अच्छे लगे। सबसे अच्छा हमें पाठक मंच के अंतर्गत पाठकों के विचार स्वस्थ, सुंदर और प्रेरक लगे। कहानी 'एक लड़की और बीस पाउंड', 'क्रांति क्यों नहीं आती' ने भी मन को झकझोर कर रख दिया व उद्वेलित किया। लघु कथाएँ भी अच्छी रहीं। आज जबकि साहित्य, कला और संस्कृति पर चारों ओर से हमले हो रहे हैं, लोग इनकी उपेक्षा कर रहे हैं, भोग विलास में डूबे हैं, देह जल रहा है, भ्रष्टाचार का नंगा नाच चारा ओर हो रहा है और हम मूक दर्शक बने हैं। ऐसी बिकट परिस्थिति में आपका 'वर्तमान साहित्य' वीरतापूर्वक सामना कर रहा है, नया मार्ग, नया जोश और नई प्रेरणा हमें दे रही है।

महेश प्रसाद, हुगली

□

आज के समय में जबकि हिन्दी पाठकों के समक्ष विभिन्न पत्रिकाएँ आ रही हैं उनमें 'वर्तमान साहित्य' ने अपना स्थान बना लिया है और हिन्दी पत्रकारिता में स्वस्थ एवं क्रांतिकारी सामग्री के लिए वर्तमान साहित्य वेजोड़ है और साथ ही इसका प्रकाशन भी समय पर हो रहा है।

इस पत्रिका से साहित्य जगत में हमारे अलीगढ़ को सम्मान मिला है। वर्तमान साहित्य ने सत्ता के साथ मिलकर कभी भी जनवाद को नहीं भुलाया है।

हरनारायण सिंह (एड0), अलीगढ़

□

'वर्तमान साहित्य' दिसंबर, 08 दुष्यंत कुमार पर विशेष पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुयी। ज्ञान भी बढ़ा। 'अपनी बात' में श्री अजय बिसारिया ने दुष्यंतकुमार की ग़ज़लों की सही और साफ़ हुए शब्दों में व्याख्या की है, जो वर्तमान ग़ज़लकारों के लिये प्रेरणा दायक है।

श्री आलोक त्यागी का 'वो अपने फ़न में झलकता था किस क़दर लोगों से दुष्यंत कुमार के निजी और सार्वजनिक जीवन के बारे में जानकारी मिली। आत्मीयता से भरा अच्छा लेख है। श्री विजय बहादुर सिंह ने अपने लेख 'आज़ादी उनकी तबियत थी' दुष्यंत कुमार के स्वाभिमानी व्यक्तित्व और उनके कलाकार दोनों का सुंदर समन्वय किया है। विरासत में डा0 अब्दुल अलीम के प्रगतिशील साहित्य का विश्लेषण प्रशंसनीय लेख है। कंवल भारती जी का लेख 'मायानंद, बलिदान एक परिचय' में मायानंद जी की ऐतिहासिक रचना से परिचय कराकर, सराहनीय कार्य किया है। प्रो0 कुँवरपाल सिंह ने समय संवाद में अपने लेख 'आतंकवाद बनाम धर्मरक्षा' में वक़्त की नब्ज़ पर हाथ रख कर सराहनीय कार्य किया है। सांप्रदायिकता भारत के लिए कैंसर की तरह ख़तरनाक है। इससे सावधान रहना ज़रूरी है। उन्होंने बिल्कुल सही कहा है 'कोई धर्म आतंकवादी नहीं होता है। जब उसका इस्तेमाल स्वार्थ और व्यापार के लिए होता है तो धर्म-अधर्म हो जाता है।' लेख प्रेरणादायक और दिल की गहराई तक असर करने वाला बहुत अच्छा है। यह अंक संग्रह करने योग्य है। इतने अच्छे अंक के लिए संपादक मण्डल को बधाई देता हूँ।

ओंकार सिंह, मुरादाबाद

□

'वर्तमान साहित्य' का दिसंबर अंक पूरे मनोयोग से पढ़ा। दुष्यंत ने बड़ी कम उम्र पायी लेकिन उनकी ग़ज़लों ने उन्हें अमर बना दिया। हिन्दी ग़ज़ल में वे मील के पत्थर हैं। जनता की बात सीधे जनता तक पहुँचायी। उनकी ग़ज़लों के एक-एक शेर अमर हैं। इस अंक में शामिल सारे आलेख आत्मीय संस्पर्श से लबरेज हैं। बड़ी बात यह है कि आपने पाठकों को सुखद आह्लाद से भर दिया है। इसके अलावा भी वरिष्ठ साहित्यकारों पर आपने स्मरणीय एवं संग्रहणीय अंक उपलब्ध कराये। दिवंगतों के प्रति यह विनम्र श्रद्धांजलि है वरना कई स्वनामधन्य संपादक तो उछालने-गिराने के खेल में व्यस्त हैं। पूर्वजों को याद करने से उन्हें क्या लाभ। शेष सामग्रियाँ भी ध्यान खींचती हैं।

ललन चतुर्वेदी, राँची-835303

□

रेलवे स्टेशन पर मुझे 'वर्तमान साहित्य' का नया अंक दिखा। दुष्यंत कुमार पर विशेष। एक संग्रहणीय व दुष्यंत जी पर धमाकेदार अंक निकाला है आपने।

खेमकरण 'सोमन', ऊधमसिंह नगर, उत्तराखंड

वरिष्ठ साहित्यकार सुदीप बनर्जी के निधन पर
'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से
हार्दिक श्रद्धांजलि।

यह पत्र 'वर्तमान साहित्य' के जनवरी अंक में पेज नं0 39 पर 'वर्षगाँठ पर सोनचिरैया' नाम से छपी कविता के संदर्भ में है। ये कविता तौसीफ सत्यमित्रम् के नाम से छपी है... जो असल में मेरे बाबूजी (कुमार शैलेन्द्र) की कविता है। तौसीफ बाबूजी का शिष्य रहा है। ये बात आपको इससे साफ़-साफ़ समझ में आजायेगी कि उसने बाबूजी के संपर्क में रहने की वजह से अपने नाम के आगे मेरे नाम का टाइटल (सत्यमित्रम्) लगा लिया। खैर, आपको बताते हुए काफी तकलीफ हो रही है कि उसने बाबूजी की कविता चोरी करके अपने नाम से प्रकाशित करवाई और इसके लिए आपकी सम्माननीय पत्रिका का इस्तेमाल किया।

आपको बताना चाहूँगा... बाबूजी (कुमार शैलेन्द्र) जाने माने गीतकार हैं और पिछले 25 सालों से साहित्य की सेवा में रत हैं। हाल ही में उनका पहला गीत संग्रह 'धूप लिफाफे में' (अनुभव प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद) प्रकाशित हुआ जिसका विमोचन 25 जून, 2008 दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में जाने माने समालोचक मैनेजर पाण्डे जी ने किया। वर्तमान साहित्य में प्रकाशित कविता 'वर्षगाँठ पर सोनचिरैया' भी इस संग्रह के पेज नंबर 51 पर प्रकाशित है। हम लोग गाजीपुर के रहने वाले हैं और उस इलाके में होने वाले कवि सम्मेलनों में बाबूजी ने कितनी ही बार इस कविता का पाठ किया है... लिहाजा ये कविता वहाँ के लोगों के जेहन में रची बसी है। बहुत से लोगों ने जब आपकी पत्रिका में ये कविता छपी देखी तो बाबूजी को इस बारे में जानकारी दी।

आपसे गुज़ारिश है... अगर आप अपने अगले अंक में इस घटना को उजागर करें तो सही मायने में बाबूजी के साथ इंसाफ हो पायेगा और चोरी करके अपने नाम से कविता प्रकाशित करने वाले तौसीफ सत्यमित्रम् जैसे घटिया लोगों की असलियत सामने आ पाएगी। उम्मीद है साहित्य जगत् में इस तरह की हरकतों के खिलाफ़ लड़ाई में आप हमारा साथ देंगे।

विवेक सत्यमित्रम, वरिष्ठ पत्रकार
इंडिया न्यूज, नई दिल्ली

(छपास का मोह हमारे अति महत्वाकांक्षी नौजवानों को मेहनत करने के बजाय नकल कर साहित्य की चोरी करने की ओर ले जाता है। यह अत्यंत शर्मनाक स्थिति है।—संपादक)

रामकिशोर दाहिया को सम्राट सारस्वत सम्मान

विगत दिनों सम्राट साहित्य परिषद, कटनी (म0प्र0) द्वारा द्विवेदी युग के मूर्धन्य कवि स्व0 राममनोहर बृजपुरिया 'सम्राट' की स्मृति में प्रति वर्ष दिने जाने वाला महाकौशल प्रांत का 'सम्राट सारस्वत सम्मान' वर्ष 2008 सुपरिचित कवि एवं नवगीतकार श्री रामकिशोर दाहिया को प्रदान किया गया। यह सम्मान परिषद द्वारा आयोजित एक वृहद आयोजन में वरिष्ठ समालोचक डा0 राममूर्ति त्रिपाठी एवं मुक्तिबोध सृजनपीठ (सागर विश्वविद्यालय) के निदेशक डा0 श्यामसुंदर दुबे ने सम्मिलित रूप से श्री दाहिया को प्रदान किया। इस अवसर पर श्री रामकिशोर दाहिया की नवगीत कृति 'अल्पना अंगार पर' का लोकार्पण भी इन दोनों साहित्य मनीषियों के कर कमलों द्वारा किया गया। कालिदास-साहित्य के अधिकारी विद्वान एवं प्रसिद्ध चिंतक डा0 लक्ष्मीशंकर मिश्र ने समारोह की अध्यक्षता की तथा संचालन तिलक महाविद्यालय कटनी के प्रो0 अशोक श्रीवास्तव ने किया। अन्य उपस्थित साहित्यकारों में सर्वश्री ख्यातिलब्ध नवगीतकार राम सेंगर, शिवशरण दुबे, श्रीमती अरुणा दुबे, बसंत गुप्ता, ओम रायजादा, रमाकांत निगम, रामनरेश विद्यार्थी एवं राजेन्द्र सिंह ठाकुर प्रमुख थे।

नम्रता, अयोध्या बस्ती, खिरहनी, कटनी

अपनी बात

मंगलौर में घटी हाल की घटनाओं ने एक बार फिर संस्कृति के सवाल और स्त्री मुद्दों के राजनीतिकरण का मसला उठा दिया है। हम जब यह कहते हैं कि कोई भी धर्म स्त्री समूह के लिये सहानुभूति नहीं रखता तथा धर्म के नाम पर स्त्री समूहों का शोषण और अपमान होता रहा है तो लोग नाराज़ होते हैं। दरअसल संस्थागत धर्म के साथ सत्ता और राजनीति का हमेशा से गठबंधन रहा है। लोकजीवन में गहरी पैठी धार्मिक आस्था और विश्वास आधारभूत तत्व के रूप में सक्रिय रहते हैं इसलिये इतिहास के हर कालखंड में धार्मिक आस्थाओं का इस्तेमाल सत्ताधारी शासकवर्ग करता रहा है, खासतौर से जब राजनीतिक संकट की स्थिति हो। धार्मिक आस्थाएँ तर्क और विवेक से परे होती हैं इसलिये साधारण जनमानस धार्मिक मुद्दों पर भावनात्मक रूप से उद्वेलित किया जा सकता है और उसे विवेकहीन भीड़ का हिस्सा बनाकर सत्ता के समीकरणों का निर्वाह किया जाता रहा है। 1992 में अयोध्या और फिर 2002 में सत्ता की राजनीति के लिये गुजरात में चरम संवेदनहीन भीड़ का उन्माद हम देख चुके हैं। धार्मिक आधार पर ही देश का विभाजन हुआ जबकि दोनों ही देशों की आम जनता एक ही सांस्कृतिक डोर से बँधी हुई थी और लाखों लोगों का कत्लेआम इतिहास के काले पन्नों में दर्ज़ हो गया। अपने-अपने धर्म के हवाले से लोग यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि केवल उनका ही धर्म है जो स्त्री को सम्मान देता है। धार्मिक ग्रंथों से प्रसंग प्रस्तुत किये जाते हैं, सूक्तियाँ और आयतें दुहराई जाती हैं कि स्त्री तो देवी है, जननी है, उसका स्थान सर्वोपरि है। यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता...। वो आयतें दुहराई जाती हैं कि केवल यही धर्म है जहाँ विवाह संबंध में स्त्री की स्वीकृति अनिवार्य है और कि स्त्री को भी विपरीत परिस्थितियों में अलग हो जाने और तलाक का अधिकार यह धर्म देता है... वग़ैरह-वग़ैरह। हमारा नम्र निवेदन है कि अनेक विपरीत प्रसंग भी धार्मिक ग्रंथों से ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सती प्रथा को महिमा मंडित करने के प्रसंग हैं, छोटी उम्र में विवाह को उत्तम ठहराये जाने के प्रसंग हैं, विधवाओं का समाज में, परिवार में रहना, सामाजिक व्याभिचार का कारण साबित करने के प्रसंग हैं। इसी तरह शरीयत की व्याख्यानुसार दिये गये फतवे किस कदर औरतों की ज़िंदगी बेहाल कर सकते हैं, ये अभी हाल के वर्षों में गुड़िया-आरिफ प्रसंग, ससुर द्वारा बलात्कार की पीड़िता रानी तथा तलाक संबंधी अनेक प्रसंगों में हम देख चुके हैं। इसीलिये देखना यह है कि लिखा कुछ भी हो, व्यवहार में क्या हो रहा है ? मंगलौर में भारतीय संस्कृति के नाम पर पब में बैठी लड़कियों की राम सेना द्वारा सरेआम पिटाई करके उसे जायज़ ठहराना इसी राजनीतिक मुहिम का हिस्सा है। ऐसे बर्बर कांडों के लिये जब राम के नाम का प्रयोग किया जाता है तो राजनैतिक मंतव्य और अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

अब इस पब संस्कृति पर भी नज़र डाल ली जाय। स्वयंभू राम सैनिकों ने कहा कि हमारी संस्कृति में स्त्री माता के स्थान पर होती है और उनका मर्दों के साथ शराब पीना उन्हें बरदाश्त नहीं है। दिलचस्प है कि माता स्वरूप स्त्री को गाली गलौज करना, मारपीट करना और कपड़े फाड़ना भी शायद इसी संस्कृति का हिस्सा है? फिर शराब पीना क्या केवल स्त्री के लिये प्रतिबंधित है, पुरुषों के लिये पूरी छूट है ? घटना के एक सप्ताह बाद ही हिन्दुस्तान टाइम्स के सर्वे ने तस्वीर साफ कर दी कि आज शहरी मध्य और उच्च वर्ग में 65 फीसदी स्त्रियाँ शराब पीती हैं। इसमें बड़ी संख्या में औरतों ने स्वीकार किया है घर के बजाय बाहर होटल, बार या पब में पीना उन्हें ज़्यादा पसंद है। इस सर्वे को संदर्भित करने का मेरा इरादा शराब पीने का समर्थन करना कतई नहीं है। यूँ गाँव-देहात में, अनेक कामगार समूहों में शादी, ब्याह जैसे अवसरों पर स्त्री-पुरुष साथ शराब पीते हैं। आदिवासी इलाकों में उत्सव के मौकों पर भी यह सामान्य रिवाज़ है। यह मुद्दा हमारे समाज में कभी टैबू नहीं रहा। आज के समय का जो सामाजिक यथार्थ है हम उसे अनदेखी करके सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। मेरा यह स्पष्ट मानना है कि शराब बंदी सख्ती से लागू होनी चाहिये। आज गाँव-देहात में आप चले जाइये। शाम के बाद वहाँ अपने होशो-हवास में कितने पुरुष मिलेंगे, यह कहा नहीं जा सकता है। वयस्क पुरुषों के अलावा छोटी उम्र के किशोर और नौजवान

भी इसकी लत मे आ रहे हैं। इसका परिणाम भुगतना पड़ता है घर की औरतों को। आर्थिक तंगी के अलावा आये दिन की मारपीट और हिंसा के प्रकरण सामने आते हैं। हमारी संस्था द्वारा चलाये जा रहे परिवार परामर्श केन्द्र में घरेलू हिंसा के जो प्रकरण दर्ज होते हैं उनमें आधे से भी ज़्यादा झगड़ों में असल कारण शराब ही होती है !

हम जानते हैं शराबबन्दी का मुद्दा असंभव है। यहीं व्यवस्था का दुहरा चरित्र उजागर होता है। बड़े पैमाने पर शराब का उत्पादन, उसके लाइसैंस वितरण में अफसरशाही और राजनेताओं द्वारा लाखों के वारे-न्यारे किसी से छिपे नहीं हैं। सरकारी कोष का एक समुचित हिस्सा इसी शराब की बदौलत आता है। समझ में नहीं आता रामसेना ने पब बंद करने की माँग क्यों नहीं की। इसलिये कि पुरुषों के लिये कोई भी बंदिश ये सामंती समाज नहीं चाहता है।

आज से लगभग अठारह साल पहले आंध्र प्रदेश में नैल्लोर जिले के एक गाँव में साक्षरता अभियान जोरों पर था और स्त्री साक्षरता पर विशेष रूप से कार्यक्रम केंद्रित थे। प्रवेशिका पुस्तिका में एक महिला नवसाक्षर ने शराब के दुष्परिणामों के बारे में एक पाठ पढ़ा! ग़रीबी और घरेलू हिंसा को झेलती हमारे देश के लगभग सभी गाँवों में आम तौर पर स्त्रियों की यही व्यथा रही है। ये स्त्रियाँ भी अपने शराबी पुरुषों और शराब से त्रस्त थीं। इस साक्षरता ने उन्हें संगठित किया और हिम्मत दी। गाँव की स्त्रियों ने सामूहिक रूप से अभियान चलाया और गाँव की सभी शराब भट्टियों को ध्वंस कर शराब की दुकानों पर धरना दिया। उनके इस संगठित, सफल आंदोलन की धमक पड़ोस के गाँवों में पहुँची तो वहाँ की पीड़ित स्त्रियों ने भी उनका अनुसरण किया। देखते ही देखते पूरे नैल्लोर जिले में अधपढ़ी-अनपढ़ी औरतों का यह आंदोलन इतना तीव्र हुआ कि यह शराब बंदी आंदोलन पूरे राज्य में दावानल का रूप धारण कर फैल गया। इसकी आंच इतनी प्रबल थी कि अंततोगत्वा पूरे राज्य में शराब बंदी कानून को लागू करने के लिये राज्य सरकार विवश हुई। यह थी स्त्री जागरुकता की संगठित शक्ति। लेकिन आज की व्यवस्था के विरोधाभासों की क्या कहिये, एक ओर शराब के दुष्परिणामों पर व्याख्यान और पाठ। दूसरी ओर सरकार द्वारा तरह-तरह के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तरीकों से शराब की बिक्री को प्रोत्साहन। एक बार यात्रा करने के दौरान कहीं रास्ते में सड़क पर (एक ढाबे के पास) एक ब्रांड की शराब के बारे में विज्ञापन का बैनर लगा था—''खुशखबरी... शराब के दामों में भारी कमी''।

तो, सबसे पहले मंगलोर में स्त्री को 'माता' समान देखने वाले संस्कृति के स्वयंभू ठेकेदारों से कहना है कि माताओं की सरेआम पिटाई और अपमान करने के बजाय वे 'पब' बंद करायें। होटलों और बार में शराब परोसना बंद करायें। संस्कृति का ठीक़रा सिर्फ़ औरतों के सिर पर नहीं फोड़ा जा सकता। ये संस्कृति के तथाकथित रक्षक स्त्रियों के जनतांत्रिक अधिकारों के विरोधी हैं। ये सामंती संस्कृति है जो प्रेम करने वाले नौजवानों की हत्या करने का सार्वजनिक निर्णय सुनाती है, लड़के-लड़कियों के साथ-साथ घूमने फिरने पर पाबंदी लगाती है। दूसरी ओर यही सांप्रदायिक घृणा और विद्वेष फैलाती है जब ये फरमान जारी करती है कि कोई हिन्दू लड़की किसी मुस्लिम लड़के से बात करेगी तो प्रताड़ित की जायेगी। इसी मंगलौर में तीन दिन बाद एक विधायक की लड़की को बस से उतार कर उसके साथ सिर्फ़ इसलिये मारपीट की गई कि वह अपने एक मुस्लिम मित्र के साथ बस में सफर कर रही थी। पाकिस्तान में तालिबान लड़कियों के स्कूल बंद करा रहे हैं, उनके लिये सिर से पैर तक का पर्दा अनिवार्य कर रहे हैं और अपने देश के ये नये तालिबान घृणा और हिंसा फैलाकर स्त्री समूहों को प्रताड़ित और अपमानित कर रहे हैं।

कुछ लोगों का भोला विश्वास है कि राजनीति बहुत बुरी चीज़ है। इसलिये भले लोगों का उससे कुछ भी लेना देना नहीं होता है। वास्तविकता यह है कि हमारा सोच, हमारा सामाजिक जीवन, रहन-सहन, सभी तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति से प्रभावित अथवा संचालित होता है। 1994 के चुनावों से पहले धार्मिक आस्था के नाम पर समस्त ज्ञान, विवेक और तर्क भुलाकर जनता में जो उन्माद पैदा किया गया, वह सिर्फ सत्ता का खेल था, आज यह बात गूंगे और बहरों को भी समझ आ चुकी है। 2002 का गुजरात में गोधराकांड और सामूहिक हत्याकांड ने भी वहाँ की सरकार के लिये सत्ता का मजबूत रास्ता तैयार कर दिया था।

अब फिर लोकसभा चुनाव निकट हैं। संस्कृति की रक्षा के नाम पर अभी नं जाने कितनी हिंसा भविष्य के गर्भगृह में है। स्त्रियों की सामाजिक भूमिका, उनकी विकास प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी और अपनी अस्मिता हेतु आत्मसंघर्ष तथा सामाजिक स्तर पर बहुस्तरीय संघर्ष... ये भारतीय संस्कृति के ठेकेदारों के लिये मुद्दे नहीं हैं। वे फिर उसी सामंती व्यवस्था के पोषक हैं जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों के इशारे पर नाचती थीं। उनका अपना कोई वजूद नहीं था। जहाँ कन्या के पैदा होते ही वह खौलते दूध के कड़ाह में डाल दी जाती थी, इस ऐलान के साथ ''अगले साल लड़का हो...'' या नमक चटा कर, गले का टेंटुआ दबाकर मार दी जाती थी और सब सहज स्वीकार्य था। आज पब संस्कृति के बहाने स्त्रियों पर हमला करने वालों ने कभी उस आर्थिक उदारीकरण का विरोध नहीं किया जिसने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिये अपने राष्ट्र के दरवाजे खोल ही नहीं दिये, उनके लिये चौरस मैदान बना दिया। जब अर्थ का, श्रम का

और व्यापार का भूमंडलीकरण होता है, तब संस्कृति बंद दरवाजों में नहीं रहती। उसका भी वैश्वीकरण होना अनिवार्य है। विदेशी पूँजी का प्रवाह अपने साथ अपने विचार, जीवन पद्धति और सांस्कृतिक मूल्य भी लेकर आयेगा। इसलिये इस नयी वैश्विक संस्कृति का ठीकरा औरतों पर फोड़ने के बजाय, उस स्वदेशी आंदोलन का साथ दीजिये जो आर्थिक आत्मनिर्भरता की बात कहती है, जो स्थानीय उत्पादों को प्रोत्साहन और संवर्धन की बात कहती है, जो जनसाधारण के हितों की रक्षा की नीतियों की बात कहती है। भ्रष्टाचार आज हमारी राष्ट्रीय पहचान है। सत्यम जैसे सैकड़ों घोटाले सरकार की नाक के नीचे हो रहे हैं। इसीलिये एक ओर लाखों लोग बेरोजगार हो रहे हैं तो दूसरी ओर करोड़ों में खेल और खिलाड़ी बिक रहे हैं। 'पब' संस्कृति सरकारी संरक्षण में फल-फूल रही है।

पुरुषवादी मानसिकता के पोषक ये संस्कृति के पहरूए सिर्फ़ औरतों का आना जाना, उठना बैठना, पोशाक की लंबाई आदि ही देखते हैं और फ़तवे जारी करते हैं। सामाजिक विकास और संस्कृति के मूल प्रश्नों से इनको कोई मतलब नहीं है। अज्ञान और चेतना शून्यता ही निरंकुश समाज का निर्माण करती है।

0 0 0

पिछले वर्षों की तरह इस वर्ष भी मार्च का यह अंक 'स्त्री विमर्श' पर केंद्रित है। इतिहास और परंपरा का वस्तुपरक अध्ययन हमें वर्तमान को समझने की दृष्टि देता है। आज वर्तमान परिदृश्य का दायरा बेहद विस्तारित हुआ है। स्त्री अधिकारों की लड़ाई अभी लंबी है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों ने स्त्री अस्मिता के संघर्ष को कुछ अधिक जटिल और द्वन्दात्मक बना दिया है। सत्ता और व्यवस्था के संकट और खींचतान में जातिगत विद्वेष और सांप्रदायिकता के नये उभार ने दो कदम आगे बढ़ी हुई स्त्री को एक कदम पीछे धकेल दिया है। विशेषरूप से 2002 में गुजरात के दंगों के दौरान जो भीषण हत्याकांड हुये उनमें मध्यवर्ग की और स्त्रियों की भूमिका ने एक बार फिर से स्त्री विमर्श की अवधारणा पर नये सिरे से चिंतन के लिये आग्रह किया है। आज स्त्री अस्मिता के प्रश्नों पर विचार करने के लिये सिर्फ पितृसत्ता और पुरुष मानसिकता का विरोध ही काफी नहीं है। दरअसल सिर्फ स्त्री बनाम पुरुष की लड़ाई हमारी व्यक्तिगत लड़ाई तक सीमित होकर रह जाती है। व्यापक सामाजिक प्रश्नों से स्त्री मुद्दों को जोड़कर ही हम स्त्री समूह में एक वास्तविक सामाजिक चेतना का प्रसार कर सकते हैं। मेरा स्पष्ट मानना है कि स्त्री विमर्श को सिर्फ प्रतिद्वंदी पति या पुरुष तक सीमित न करके स्त्री अधिकारों के संघर्ष को अपने घर-परिवार से निकाल कर उसे बड़े स्त्री समूह के साथ जोड़कर देखना होगा। स्त्री अधिकारों के औचित्य को दूसरे समूहों की स्त्रियों के लिये भी लागू करना होगा।

0 0 0

इस अंक के लिये हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक और चिंतक प्रो० मैथिली प्रसाद भारद्वाज ने 'वर्तमान साहित्य' के लिये विशेषरूप से लेख भेजा है। वरिष्ठ लेखक और आलोचक प्रो0 नित्यानंद तिवारी का संक्षिप्त लेख जायसी के पद्मावत में नागमती, पद्मिनी और सुआ के संदर्भ में मध्यकालीन समाज में नारी विषयक दृष्टि पर प्रकाश डालता है जो इस महाकाव्य को सही संदर्भ में समझने के लिये आधारभूमि निर्मित करता है। सुपरिचित लेखिका सुधा अरोड़ा का विचारोत्तेजक लेख औरत को डायन ठहराने की मानसिकता के पीछे सामंती प्रवृत्ति की ओर इंगित करता है। डा0 विजय शर्मा का महान लेखिका पर्ल बक पर लेख, अलका पाण्डेय, अर्चना सिन्हा और लीना के लेख उनके अनुभव एवं विचारों से पाठकों को लाभान्वित करेंगे ऐसी आशा है।

नमिता सिंह

नमिता सिंह

हिन्दी की चर्चित कथाकार लवलीन के असामयिक निधन पर
'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से
हार्दिक श्रद्धांजलि।

तुम अपनी याद से कह दो

दया दीक्षित

26 दिसंबर, 08 का दिन। रोज़ की तरह आज भी कॉलेज की गतिविधियाँ सक्रिय थीं। मैं भी शोध कक्ष में अध्ययन तथा अध्यापन मार्गदर्शन में लगी हुई थी। अचानक ख़बर आयी "वे नहीं रहीं!"

यह सुनते ही अंदेशा हुआ, कहीं सुमन जी तो नहीं। कई दिनों से हॉस्पीटल में भर्ती थीं। कैंसर से लड़ रही थीं। सशंकित-सी मैंने पूछा–"कौन नहीं रहीं!"

"सुमन राजे आज अभी साढ़े बारह बजे," दुखद शब्द-ध्वनि सुनायी दी।

मैं भारी मन से विभाग की ओर चल पड़ी। विभाग में वार्तालाप चल रहा था, कोई घाट पर जाने की बात कह रहा था, कोई हॉस्पीटल जा रहा था, कोई उनके घर जाने की बात कह रहा था। सब कुछ सुनते हुए भी जैसे मुझे कुछ सुनायी नहीं पड़ा, बार बार एक ही विचार आ रहा था 'सुमन राजे नहीं रहीं, सुमन राजे नहीं रहीं...।'

मैंने ए0एन0डी0 कॉलेज से वर्ष 1986 में पी-एच.डी. फ़ार्म भरा था। फ़ार्म में कॉलेज की प्राचार्या के हस्ताक्षर होने थे। पता चला कि अचानक तबीयत ख़राब हो जाने के कारण वे चली गयीं हैं। मेरे रिसर्च गाइड यू.जी.सी. प्रोफेसर स्व. बालमुकुंद गुप्त जी ने निर्णय सुना दिया–"तुम लोग उनके घर पहुँचो, मैं वहीं पर आ रहा हूँ।" मैं अपने पति के साथ प्राचार्या जी के घर गयी। हम लोगों ने सर का नाम बताते हुए द्वार खोलने वाले सज्जन को अपना परिचय दिया। वे हमें बैठाकर अंदर चले गये। कुछ ही देर बाद प्राचार्या हमारे सामने थीं। संयोग ही था कि अंदर से वे आ रहीं थीं और ऐन उसी समय बाहरी द्वार से सर कक्ष में प्रविष्ट हो रहे थे। सर को देखते ही बेहद विनम्र शिष्टता से उन्होंने कहा–"आपने क्यों तक़लीफ़ की! आप मुझे फ़ोन कर देते, मैं चली आती। क्या अब मैं कोई नयी सुमन हो गयी आपके लिए?" प्राचार्या सुमन राजे की आवाज़ में एक विशुद्ध शिष्या का मान मुखर हो उठा!

"अरे नहीं भाई, दया ने बताया कि तुम बीमार हो! मैंने सोचा, क्यों न मैं ही देख आऊँ!" फिर मेरी तरफ़ संकेत करते हुए सर ने कहा–"यह मेरे अभिन्न मित्र की नहीं, मेरी बेटी है। इसका फ़ार्म देखकर चिड़िया बैठा दो।"

वे फ़ार्म में मेरा विषय देख रही थीं और मैं उनका प्रशांत और गरिमामय व्यक्तित्त्व! दूरदर्शी और गंभीर चितवन से उन्होंने मुझे देखते हुए कहा–"तो तुम दिनकर और पंत में अध्यात्म ढूँढ़ोगी!"

मैं संभ्रमित सी हकलायी जी. जी. जी.! जी हाँ!"

वे कुछ सोच रहीं थीं। पुनः बोलीं, "अध्यात्म किसे कहते हैं?"

उनका यह प्रश्न मेरे लिए कल्पनातीत था, लेकिन मेरे जवाब देने से पहले ही उन्होंने इस पर विस्तार से बात की। हम काफ़ी देर तक उनके पास बैठे रहे। यह थी मेरी सुमन जी से पहली भेंट। अविस्मरणीय। सर को अपनी इस शिष्या पर गर्व था। यह अकारण नहीं था। लखनऊ यूनीवर्सिटी की गोल्ड मैडलिस्ट, प्रखर प्रतिभा-संपन्न सुमन राजे ने प्रेम विवाह के पश्चात् कानपुर के आचार्य नरेंद्रदेव महिला महाविद्यालय में अध्यापन कार्य ही नहीं किया, बल्कि लंबे समय तक वे वहाँ की प्रिंसीपल रहीं। कानपुर विश्वविद्यालय से उन्होंने डी.लिट्. की डिग्री प्राप्त की थी। वे ऐसी रचनाकार थीं, जिनका गद्य और काव्य दोनों पर अधिकार था। हिन्दी साहित्य के गंभीर विषयों पर उनका आलोचनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। साहित्येतिहास पर उल्लेखनीय काम है उनका। सपना और लाशघर, उगे हुए हाथों के जंगल, यात्रादंश, एरका, इक्कीसवीं सदी का गीत जैसे काव्य-संकलनों में उनका भावप्रवण कविमन पूरी तरह मुखर हुआ है। वे अज्ञेय जी के चौथे सप्तक की कवयित्री हैं।

समर्पित किंतु मौन साहित्य-साधिका रहीं हैं सुमन जी। आज जिस तरह साहित्य में स्त्री-विमर्श पर गंभीर चर्चाएँ हो रही हैं, उस तरह से जब यह चर्चा साहित्य के केंद्र में नहीं थी, उस समय सुमन जी अपने स्तर पर स्त्री-विमर्श को लेकर सक्रिय थीं। उन्होंने स्त्री-विमर्श के पक्षों पर कई गोष्ठियाँ तथा राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किये थे। 'प्रतिशीर्षक' नाम की पत्रिका निकालना और हिंदी प्रेमियों तक निःशुल्क पहुँचाना उनका एक और अविस्मरणीय काम था। सन् 2002 में उनकी कृति 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' सारे देश में विशेष रूप से चर्चित रही। यह किसी भी भाषा की ऐसी पहली कृति है, जिसमें हिन्दी के साहित्येतिहास में महिला-लेखन की भागीदारी को प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर रेखांकित किया गया है। ख़ास बात यह कि ये तथ्य महिला

लोक-गीतों से साक्ष्य और इतिहास तलाशते हुए पूरी तरह जनोन्मुख हैं। शास्त्रीयताजन्य दुरूहता इनमें दूर-दूर तक नहीं है। ये तथ्य विश्वारा, अपाला जैसी वैदिक ऋषिकाओं तथा संस्कृत-प्राकृत कवयित्रियों एवं मीरा, महदंबा ज़ैसी खुदमुख़्तार रूहानी पंथ पर चलने वालियों से तथा महादेवी, सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी चेतना-संपन्न क्रांतिधर्मा कवयित्रियों से लेकर चंद्रावली और भगवती जैसी लोकनायिकाओं से संपोषित हैं। इन संपूर्ण ऐतिहासिक मनीषाओं में स्त्री-शोषण, उत्पीड़न और इस उत्पीड़न से निकलने की ऐसी छटपटाहट और तड़प है, एक ऐसा दर्द है, जो आज भी महिला-लेखन में स्पष्ट देखा जा सकता है। औरत की इस अनदेखी के दर्द का अंतरंग रिश्ता वैदिक युग से चलता हुआ अर्वाचीन युग यानी आज उत्तर- आधुनिक युग तक बदस्तूर क़ायम है।

इस कृति पर हमारे कॉलेज के तत्कालीन हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ0 अजय प्रकाश ने विस्तार से चर्चा की थी। बाद में सुमन जी ने 'यह कृति क्यों?' पर बेहद भावपूर्ण व्यक्तव्य दिया। यह उनकी संवेदनशील भावुकता की पराकाष्ठा थी कि वे भरे गले से बोल रही थीं और बहते आँसुओं से भीगी उनकी आवाज़ ने हममें से बहुतों की आँखों को जलसिक्त कर दिया था। उनसे जुड़ी कई यादें हैं। सुमन जी! आपने साहित्य के लिए, महिलाओं के लिए इतना किया है, जो कम लोग कर पाते हैं। अंतर की गहराइयों में बरबस यह गीत उभर रहा है :

जहाँ इतना किया है आपने, ये भी करम कर दो।
तुम अपनी याद से कह दो न हरगिज बार-बार आये।
हमारा क्या है, हम तड़पें, मगर तुमको करार आये॥

128/387 वाई - 1 ब्लॉक
किदवई नगर कानपुर - 208011(उ.प्र.)

वर्तमान साहित्य क्लब : कानपुर, संगोष्ठी रपट

'वर्तमान साहित्य' अंक नवंबर, 2008 पर एक संगोष्ठी का आयोजन डी0ए0वी0 कॉलेज के शोध कक्ष में डा0 दया दीक्षित की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। संगोष्ठी में पत्रिका के प्रत्येक बिन्दु पर चर्चा की गयी है। चर्चा की शुरूआत संपादकीय से हुई जिस पर जया सिंह का कहना था कि विखराव और बँटवारे से न तो हमारा घर चलाया जा सकता है और न देश का। संध्या मिश्रा का कहना था कि एकता और अखंडता के सूत्र में बंधा हमारा देश व परिवार हर मायने में श्रेष्ठ होता है। आरती त्रिपाठी ने कहा कि जिस अपनत्व व भाईचारे के लिए हमारा देश जाना जाता है वह आज टुकड़ों में देखने को मिलता है। विभाश्री का वक्तव्य था कि पारिवारिक विघटन ने स्नेह और आत्मीयता को कम किया है। इसी बिन्दु पर बीना सिंह का मानना था कि परिवर्तन तो निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है अतः अपने अतीत की स्मृतियों को पीछे छोड़ देना चाहिए, क्योंकि गुजरे वक्त की यादें दुख और क्लेश देती हैं। गोष्ठी संयोजक डा0 दया दीक्षित ने कहा कि समय की रफ़्तार और जनसंख्या के विस्फोट ने जहाँ एक तरफ घरों से लेकर मुहल्ला, पड़ोस, राज्य और देश को बाँटा है, वही दिलों में अलगाव का जहर भी भर रहा है। 'एग्रीमेन्ट' कहानी में सभी सदस्य इस बात से सहमत थे कि स्त्री की भावनाओं का हनन हुआ है। 'बलदेव काका और मैं' कहानी में जया सिंह ने कहा कि शिक्षा से ही नहीं अनुभव से भी ज्ञान प्राप्त होता है। विभाश्री का कहना था कि यह कहानी 21वीं सदी की वैज्ञानिकता को दृष्टव्य करती है। बलदेव काका अपने विचारों व तर्कों से इस वैज्ञानिकता को फेल कर देते हैं। बीना सिंह का मानना था कि हमें अपनी संस्कृति व संस्कारों को कभी नहीं भूलना चाहिए। संध्या मिश्रा ने कहा कि व्यक्ति को विकास चक्र के दौर में भी अपनी संस्कृति को नहीं भूलना चाहिए। आरती त्रिपाठी का कथन था कि संस्कृति और संस्कारों के बिना व्यक्ति पशु के समान होता है। 'पश्चाताप' कहानी के लिये संध्या मिश्रा ने कहा कि यह ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिससे होकर सभी को गुज़रना पड़ता है। जयासिंह ने कहा कि अभिभावकों के बच्चों को पहले अपनी जायदाद में हिस्सा नहीं देना चाहिए। इसीबिन्दु पर आरती त्रिपाठी का कथन था कि जीवन के अंतिम पड़ाव में पति पत्नी का साथ होना बहुत आवश्यक है। इस उम्र में ईश्वर किसीको अलग न करे। विभाश्री को यह कहानी पढ़कर चित्रामुद्गल के उपन्यास 'गिलिगुडु की याद आई। बीना सिंह को युवा पीढ़ी द्वारा अपने माता पिता पर किया गया प्रहार असहनीय व दर्दनाक लगता है। 'समय संवाद' में आरती त्रिपाठी ने कहा कि देश की व्यवस्था ने नौजवानों को विचारहीन तथा व्यक्तिवादी बना दिया है। विभाश्री ने कहा राजनीति और हिंसा के कारण आज की युवा पीढ़ी पथ भ्रमित हो रही है। जया सिंह का कहना था कि अनिश्चितता के बाद भी अपने लक्ष्य के लिये निश्चित होना ज़रूरी है। संध्या मिश्रा का वक्तव्य था कि मुस्लिम समाज के साथ हो रहे भेदभाव तथा उन्हें आतंकवादी घोषित कर अपनी राजनीतिक रोटी पका रहे नेताओं पर प्रश्नचिह्न है। इसीबिन्दु पर बीनासिंह ने कहा कि हमारी समाज व्यवस्था को राजनीति ने ही जातिवाद के टुकड़ों में बांट दिया है। दया दीक्षित ने कहा कि सत्ता प्राप्ति के लिये किसी भी हद से गुजर जाने वाला आज का नेतृत्व जनता के प्रति अपना कर्तव्य भूलकर वोट बैंक को बनाये बचाये रखने की होड़ में लगा हुआ है। आज युवा पीढ़ी दिग्भ्रमित है तो केवल इसीलिए उसे गांधी / लोहिया / अंबेडकर जैसा नेतृत्व नहीं मिल पा रहा है। प्रस्तुति : **बीना सिंह, कानपुर**

मातृत्व और नारी

मैथिलीप्रसाद भारद्वाज

समस्या :

नारी का समाज के लिए सबसे बड़ा योगदान, उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता—उसका मातृत्व—ही उसके शोषण का सबसे प्रमुख अथवा संभवतः एकमात्र कारण है। माँ बनना स्त्री का सहज शरीर-धर्म है। इसी प्रकार, संतान के प्रति नारी का अचिंत्य-अचिंतित प्रवृत्तिजन्य प्रेम संतान-पालन के लिए एक अनिवार्य जैवी आवश्यकता है। पशु-समाज में नारी-वर्गीय घटकों का मातृत्व और मातृ-प्रेम सहज-स्वाभाविक रूप में जीवन-संग्रह तथा जीवन-संचालन में सहयोगी हैं, पर मानव की संश्लिष्ट और विकसित अर्थव्यवस्था में यह नारी के लिए तो अभिशाप ही बन गया है।1

संश्लिष्ट अर्थव्यवस्था में मानव-शिशु पशु-शिशु के समान शीघ्र स्वावलंबी नहीं हो जाता। उसे अर्थ-व्यवस्था की संकुलता के अनुकूल अपनी शिक्षा-दीक्षा, प्रशिक्षण और विशेषज्ञता-प्राप्ति में 15-20 से 30-35 वर्षों का समय लगता है। इतने लंबे समय तक परिवार के अर्थ-कोष का सहयोग उसके लिए अनिवार्य होता है, और उसकी पर-निर्भरता तब तक बनी रहती है। पशु-वर्ग के समान केवल पेट भर भोजन या किसी तरह शरीर-रक्षा तक संकुल और संश्लिष्ट अर्थ-व्यवस्था में जीने वाले मानव की आवश्यकताएँ सीमित नहीं रहतीं। अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ श्रेष्ठ से श्रेष्ठ मकान, फ़र्नीचर, साज-सज्जा और सुखोपयोग के साधन, हर वर्ग की मशीनें, पुस्तकें, शिक्षण-प्रशिक्षण सामग्री, दवाइयाँ, यातायात तथा संचार के विविध साधन—सब अनिवार्य वस्तुओं के रूप में आ जाते हैं। बाल्यावस्था में माँ अपने नवजात शिशु को पशु के समान अपने दूध या स्वयं उपार्जित भोजन पर पाल सकती है। उस शिशु के स्वावलंबी होने में भी कम ही समय लगता है। विभिन्न पशु-प्राणियों के बच्चे कुछ दिनों से लेकर चार-पाँच वर्षों तक माँ की देखभाल में कुछ खोजने-खाने और फिर आत्मनिर्भर होने में समर्थ हो जाते हैं। वन्य मानव-शिशु भी सुनिश्चित चार-पाँच वर्षों में ही माँ पर निर्भर नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में न तो नारी को अधिक कमाना पड़ता है, न किसी पुरुष कमाई पर निर्भर रहना पड़ता है। सारा पशु-समाज इसका उदाहरण है।

संश्लिष्ट अर्थ-व्यवस्था और नारी-अवमूल्यन

स्त्री गर्भवती होती है, उसका रजस्वला काल आता है। प्रजनन के बाद कुछ काल के लिए वह संश्लिष्ट अर्थ-व्यवस्था की उपार्जन-पद्धति में उपार्जन के लिए अक्षम अथवा बहुत कम क्षमता वाली रह जाती है। पशु-अवस्था में उसके संतान पालन पर इन अक्षमताओं का कोई प्रभाव नहीं होता। उसे किसी अन्य की आय पर निर्भर नहीं रहना पड़ता।

इसके विपरीत, पुरुष चाहे वन्यावस्था का हो या सभ्यावस्था का, वह स्त्री की तरह की उपर्युक्त किन्हीं भी शारीरिक तथा भावात्मक अक्षमताओं या असमर्थताओं का भागी नहीं बनता। इसीलिए, क्रमशः विकसित होती हुई अर्थ-व्यवस्था में जहाँ धीरे-धीरे स्त्री की यही अक्षमताएँ उसे अर्थ-उपार्जन और अर्थ-संचय के साधनों के प्रयोग और अधिकार में पुरुष की अपेक्षा काफ़ी पीछे धकेल देती है,2 वहीं उसका मातृत्व की अपनी संतान के लिए उस संपूर्ण आर्थिक सुरक्षा की कामना अवश्य करता है, जिसके सहारे वह सभ्य जीवन जीने की उपयुक्त दक्षता, कुशलता, शिक्षा और अन्य साधन प्राप्त कर सके। पुरुष की अतिरिक्त शारीरिक क्षमता, उसमें स्त्री की तरह की उपर्युक्त अक्षमताओं की अनुपस्थित और उसमें नारी की सी सशक्त मातृत्व की प्रवृत्ति का अभाव, पुरुष को संपत्ति के साधनों और उसके दोहन की पद्धतियों का स्वामी बना देते हैं। जो समाज आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से जितना अधिक संपन्न और संश्लिष्ट होगा, वहाँ नारी उसी सीमा तक अर्थोपार्जन में पुरुष की अपेक्षा पिछड़ी होगी। पर, उसी अवस्था में उसकी अपनी आवश्यकताएँ भी अधिक होंगी और उसकी संतान की भी। अतः उसका पुरुष की संपत्ति का संरक्षण चाहना स्वाभाविक तथा अनिवार्य हो जाता है,अपने लिए भी और अपनी संतान के लिए भी।

परंतु, पुरुष के इस संरक्षण के लिए अब उसे मूल्य चुकाना पड़ता है। वन्य अवस्था में नर-मादा का मिलन सहज जैवी अनिवार्यताओं द्वारा संचालित एवं संप्रेरित दोनों का समान मिलन होता है। उस अवस्था में न पुरुष स्त्री पर अधिकार प्राप्त करता है, न उसका हरण, वरण या अपहरण ही करता है। इसी प्रकार, नारी भी उस अवस्था में न हरी या वरी जाती है, न गृहीत या अधिकृत होती है। पुरुष न तो उसे अपवित्र बनाता है, न नारी पर किसी प्रकार की दया या कृपा करता है। उसे न तो नर द्वारा खरीदा जाता है, न दासी ही बनाया जाता है। अनिच्छुक नारी-वर्गीय घटक के बलात्कार का भी वन्य-व्यवस्था में कोई प्रश्न ही नहीं।3

परंतु, मानव की विकसित अर्थ-व्यवस्था में नर-नारी-यौन (सेक्स) के सहज संबंध भी विकृत रूप धारण कर लेते हैं । अब यह दो विपरीत-लिंगी प्राणियों का सहज प्रवृत्ति-जन्य मिलन न होकर लेन-देन बन जाता है।4 पुरुष अधिकार चाहता है और वह उसका मूल्य चुका सकता है। संस्था चाहे विवाह की हो या वेश्यावृत्ति या रखैल की, हर स्थिति में यह स्पष्ट लेन-देन बन जाता है।5 पुरुष यौन के लिए नारी की अपेक्षा करता है, जबकि नारी यौन की अपेक्षा आर्थिक सुरक्षा के लिए पुरुष का स्थायी या अस्थायी सहयोग और संरक्षण चाहती है। ऐसी अवस्था में स्त्री के लिए सहज-स्वाभाविक यौनाकर्षण, यौन-संपर्क और संबद्ध सुख तथा आनंद गौण हो जाता है। वेश्या और रखैल के रूप में स्त्री अपने सौंदर्य, अपनी कुशलता और 'सेक्स-अपील' द्वारा पुरुष को आकृष्ट करती है,6 और बदले में पुरुष धन, बहुमूल्य उपहार तथा जीवन-यापन के अन्य स्थायी अथवा अस्थायी साधन उसे प्रदान करता है। इससे अब दोनों की स्थितियाँ बदल जाती हैं। अब यौन के स्तर पर स्त्री देने वाली और पुरुष ग्रहण करने वाला तथा अर्थ के स्तर पर पुरुष देने वाला और स्त्री ग्रहण करने वाली बन जाती है। इसीलिए, अब पुरुष ग्राहक है और नारी विक्रेता।7 सौंदर्य-प्रसाधन, फ़ैशन और वस्त्राभूषण ललित भावना और कलात्मक रुचि के सूचक हैं, लेकिन पुरुष के संदर्भ में नारी के लिए अब ये यौवन की दूकान सजाने के साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अधिक सजा माल अधिक मूल्य और सहज विक्रय का प्रेरक हो सकता है। सुंदर-सुसज्जित नारी यौनाकर्षण के कारण अब अधिक धनी तथा संपन्न पुरुष को आकृष्ट कर सकती है। विवाह से पूर्व अपने सौंदर्य-आकर्षण द्वारा तथा बाद में सेवा और समर्पण द्वारा वह पुरुष के साथ संबंधों में स्थायित्व का प्रयास करती है।8 दूसरी ओर पुरुष एक सुंदर-सुसज्जित नारी से दूसरी के पास जाने को उद्यत रहता है, क्योंकि अर्थ के स्तर पर वह यह कर सकता है।9

इसमें संदेह नहीं कि सामंती व्यवस्था में विवाह की परंपरित संस्था के अंतर्गत किसी सीमा तक पत्नी के परित्याग से पुरुष को रोकने के लिए कुछ अंतर्निहित नैतिक मर्यादाओं और सामाजिक नियमों को विकसित कर लिया गया था, पर इसमें भी संदेह नहीं कि संपूर्ण सामंती विश्व में जहाँ विवाह को पवित्र संस्था माना जाता रहा है,10 पत्नी के लिए तो पति का परित्याग आर्थिक, नैतिक और सामाजिक हर दृष्टि से प्रायः असंभव रहा है, जबकि पुरुष पत्नी का परित्याग किये बिना भी वेश्या, रखैल आदि परंपराओं द्वारा अपने ग्राहक भाव की नित्य-नवीन संतुष्टि के लिए मुक्त रहा है।11 यह भी सच्चाई है कि उस व्यवस्था में पति की वफ़ादारी उतनी अनिवार्य नहीं है, जितनी पत्नी की वफ़ादारी।12 उसकी वफ़ादारी में हल्की आशंका भी व्यभिचार के अंतर्गत स्वीकार करके स्त्री के लिए कठोरतम नैतिक, सामाजिक और आर्थिक दंडों की योजना की जाती है।13 यौन की दृष्टि से पर-पुरुष का हल्का-सा भी संसर्ग स्त्री को दूषित बना देता है। समाज के नैतिक नियम और क़ानून भी स्त्री को ही दोषी मानते हैं।14 स्त्री या लड़की, इसीलिए कहीं भी अकेली जा या रह नहीं सकती। अकेली कहीं काम नहीं कर सकती। अपरिचितों में उठ-बोल नहीं सकती।15 अर्थात्, हर दृष्टि से वह तुरंत पतनशीला मान ली जाती है। इसका प्रकट कारण उसके भविष्य को सुरक्षित बनाना अर्थात् भावी या वर्तमान पति के प्रति यौन की दृष्टि से उसे वफ़ादार, अछूती और पवित्र बनाये रखना ही है।16 पर यह अकेला तत्त्व ही नारी के संपूर्ण शोषण, पतन, हीनता और मूल्य-हीनता का कारण बन जाता है। इस दृष्टि से नारी के साथ संबद्ध किये जाने वाले त्याग, तपस्या, सेवा, स्नेह, प्रेम, पातिव्रत्य, सहनशीलता, विनम्रता, कोमलता आदि के गुण वस्तुतः गुण न होकर उसकी विशेष बाध्यताओं में विकसित विकल्पहीन मजबूरियाँ कहला सकते हैं। इनका एकमात्र कारण अर्थव्यवस्था की संश्लिष्टता में ही निहित है। यहाँ केवल यह ध्यान देने की बात है कि पर-पुरुष संबंधों में नारी का सहयोगी कोई अन्य पुरुष ही होता है, पर वह इन सब परिणामों और बंधनों से सीधे छूट जाता है।17

मातृत्व और नारी-हीनता

सामंती व्यवस्था में यौन के स्तर पर नारी विक्रेता है, अर्थात् देने वाली है, जबकि पुरुष ग्राहक अर्थात् लेने वाला। नारी के नित्य नये ग्राहक को पाने और बनाये रखने की क्षमता आयु और अन्य कारणों से सीमित होती है, इसलिए वह अपने संपूर्ण समर्पण द्वारा तथा सेवा और गृहस्थी का पूरा बोझा उठाने के द्वारा पुरुष को बाँधे रखने का प्रयास करती है। यहाँ एक और तत्त्व—उसका मातृत्व—जुड़ जाता है, जो उसके व्यवहार को और अधिक पेचीदा और उसकी स्थिति को शोषण के लिए अधिक उपयुक्त बना देता है।18

अभी मनोविज्ञान को यह सिद्ध करना है कि माता के समान पिता में भी प्रवृत्ति रूप में संतान के लिए समान पितृ-भावना विद्यमान होती है। वास्तव में, पिता होने की बात एक विश्वास भर की बात है। माँ की निश्चयात्मकता एक जैवी सत्य है, और माँ की मातृत्व-प्रवृत्ति सारे प्राणि-जगत में सहज एवं सामान्य है, लेकिन पुरुष को केवल यह विश्वास होता है कि अमुक उसी का पुत्र या उसी की पुत्री है। बाद में पुरुष साथ रहने के सामान्य पशु-नियम के आधार पर संतान के प्रति कुछ भावात्मक निकटता भी अनुभव करने लग जाता है। पुरुष के इस विश्वास का आधार विवाह की संस्था और पत्नी की वफ़ादारी आदि तत्त्व ही हैं। इसके साथ सामाजिक परंपरा द्वारा भी उसकी पितृ-भावना का निर्माण होता है। पुरुष के अहं की तुष्टि और उसके अहं के प्रसार में भी विश्वसनीय संतान का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वह यह दावा कर सकता है कि यह उसकी अपनी संतान है, उसके पुरुषत्व का प्रमाण है। इस प्रकार, अहं-तुष्टि, सामाजिक परंपरा तथा संतान द्वारा अपने

निजी व्यक्तित्त्व के प्रसार आदि की भावना से अभिभूत वह अपनी पत्नी की तथा अपनी 'कथित' संतान पर अपनी अर्जित धन-संपत्ति खर्च19 करने और अन्य कई प्रकार के बलिदान तक के लिए उद्यत हो जाता है।

यह तथ्य विचारणीय है कि स्त्री की संतान किसी भी या किन्हीं भी पुरुष या पुरुषों के संसर्ग में पैदा हो, उसी की संतान होती है, परंतु पुरुष केवल उसी को अपनी संतान मानेगा, जिसमें उसे अपनी संतान होने का विश्वास हो। अविश्वास होने पर वह संतान और स्त्री-दोनों पुरुष के आर्थिक संरक्षण से वंचित हो जाएँगे।20 इसीलिए, नारी अपने संबंधों में एक विशेष नैतिकता को, आचरण की शुद्धता को अथवा पातिव्रत्य को पत्नी के रूप में स्वीकार करती है। पत्नी के रूप में प्रत्यक्षतः यह नारी का महान गुण स्वीकार किया जाता है, इसका बहुत गुणगान किया जाता है, पर नारी को पूरी तरह गुलाम बना देने में इस अकेले तत्त्व की भूमिका अतुलनीय रही है। वह अपनी वफ़ादारी सिद्ध करने के लिए अधीनता तथा निम्नता के सबसे निचले स्तरों तक जाने को मजबूर होती है।21 संतान का हित पिता के कुल, नाम, सत्ता, संपत्ति–सबका संरक्षण प्राप्त करने और लालन-पालन, स्वास्थ्य तथा शिक्षा-दीक्षा के लिए उन सब साधनों को प्राप्त करने में हैं, जिनसे संतान स्वावलंबी हो सके। यह हित और आगे बढ़कर वहाँ तक पहुँचता है, जहाँ स्वावलंबी होने पर भी पिता की संपत्ति से संबद्ध सुख-सुविधा, कुल के नाम और मान-सम्मान– सबको संतान प्राप्त कर सके। इस सबके लिए ही नारी अरुचिकर, अभद्र, क्रूर और यौन की दृष्टि से बेवफ़ा पति के साथ और शत्रुवत् व्यवहार करने वाले पति के सगे-संबंधियों के साथ भी जीवन भर बँधी रहना स्वीकार कर लेती है।22

भारत जैसे परंपरावादी समाज में तो यह स्थिति सामाजिक परंपरा और नैतिकता की उन सीमाओं तक पहुँची है, जहाँ स्त्री के विवाह का निर्णय कुल-परिवार द्वारा ही होता है।23 वर-पक्ष दान-दहेज के रूप में वर्षों कन्या-पक्ष को लूटता है। ससुराल में सास-ननद और अन्य संबंधियों द्वारा उसके साथ अमानुषिक व्यवहार होता है। पति कुछ स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण हो, तब तो वह यह सब सहर्ष सहन कर लेती है, पर यदि ऐसा न भी हो, तो भी नारी के लिए सहन करने के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसके दोनों कारण स्पष्ट हैं। यौन के स्तर पर विवाहित नारी को दूसरा ग्राहक मिलना और उसकी संतान को दूसरा संरक्षक मिलना संभव नहीं। यहाँ तलाक़ सहज नहीं है और वर्तमान यौन-नैतिकता के आधार पर एक बार विवाहिता नारी का कोई मूल्य नहीं। वैधव्य भी इन्हीं कारणों से नारी के लिए बहुत बड़ा अभिशाप है। विशेष यौन-नैतिकता के कारण ही, यहाँ भारत में पति या किसी अन्य संरक्षक के बिना नारी का कहीं अकेले जाना, काम करना या रहना भी संभव नहीं है। इन्हीं कारणों से भारतीय नारी की आर्थिक स्वतंत्रता पश्चिम की महिलाओं की अपेक्षा काफ़ी कम है और पत्नी के रूप में उसका शोषण और पतन उतना ही अधिक गंभीर और गहरा है।

पर, नारी सर्वत्र नारी हैं। पश्चिम में रोज़गार की सुलभता अधिक है। यौन-नैतिकता के पूर्वी देशों की तरह के कठोर और प्रत्यक्षतः तो पवित्र कहे जाने वाले, पर वास्तव में अनैतिक नियमों का भी वहाँ काफ़ी अभाव है। तलाक़ और पुनर्विवाह सहज तथा स्वीकार्य हैं। अर्थ-व्यवस्था का उनका ढाँचा भी काफ़ी सबल और सचल हो चुका है, पर फिर भी, नारी वहाँ भी नारी ही है, और पश्चिम का आर्थिक ढाँचा और भी अधिक संश्लिष्ट हो चुका है। अर्थोत्पत्ति में पश्चिम की नारी भी पुरुष से पीछे रहने के लिए बाध्य है और मातृत्व तथा उससे संबद्ध अक्षमताओं और सीमाओं का भागी तो उसे भी उतना ही बनना पड़ता है। बल्कि देखा जाए तो पूर्व के कुछ वर्ग आज भी नारी की तथाकथित क्लासिकी गरिमा के प्रति आस्थावान हैं, उसे घर की इज़्ज़त मानते हैं और व्यवहारतः उस पर अनेक नियंत्रण और बहुविध शोषण होने पर भी परिवार में उसकी स्थिति सुदृढ़ है। दूसरी ओर, पश्चिम में ये संबंध और भी अधिक व्यावहारिक और अर्थाधारित हो चुके हैं। वहाँ नारी का यथार्थ मूल्य तथा मूल्यांकन उसके सेक्स के कारण ही होता है, और बाद में वह घर सँभालने, संतान पैदा करने तथा उसे पालने तथा पुरुष के अहं को संतुष्ट करते रहने पर ही निर्भर है। इसी के आधार पर, वह परिवार का स्थायित्व बनाये रख सकती है और परिणामतः स्वयं अपने लिए और अपनी संतान के लिए पुरुष का आर्थिक संरक्षण प्राप्त किये रह सकती है।

पश्चिम के नारी-मुक्ति आंदोलन संबंधी अपनी एक टिप्पणी में सुप्रसिद्ध पत्रकार और लेखक मैक्स लर्नर का अमरीकी नारी के संबंध में यह कथन दृष्टव्य है :

"बलात्कारी तथा शराबी अथवा अत्याचारी पुरुषों द्वारा पत्नियों से मारपीट आदि की घटनाओं के वास्तविक होने के बावजूद भी यह विचित्र तथ्य है कि महिलाओं का मुक्ति-आंदोलन बहुत विस्तृत और गंभीर नहीं हो पाया है। यह अभी भी मुख्यतः बड़े नगरों में बुद्धिजीवी तथा नौकरीपेशा मध्यवर्गीय समूहों तक ही सीमित है। यह अभी अमरीका के केंद्रीय भागों के छोटे नगरीय क्षेत्रों तक नहीं पहुँचा है, जहाँ नारी-जीवन की विषमताएँ और विडंबनाएँ अधिक गहरी और गंभीर हैं। इनमें से अधिसंख्यक महिलाएँ चिंतित हैं कि समानता का यह आंदोलन कहीं पहले ही कमज़ोर हो चुकी परिवार की संस्था को नष्ट ही न कर डाले। वे उस सुरक्षा और उस सामाजिक मर्यादा को खोने के भय से आशंकित हैं, जो विवाह की संस्था उन्हें प्रदान करती है। यही कारण है कि उन महिलाओं तक पहुँचने और उन्हें इस नयी रोशनी और दृष्टि से संबद्ध करना पहली आवश्यकता है। पुरुष तो स्वयं बाद में अनुगमन करेंगे।"

मुक्ति-आंदोलन की अत्याग्रही महिला-नेत्रियों को संबोधित

करते हुए श्री मेक्स लर्नर का कहना है कि :

"वे 50 प्रतिशत पुरुषों के साधन, बुद्धि और क्षमताओं को अपने इस संघर्ष और लक्ष्य के विरुद्ध न करें, क्योंकि यह संघर्ष केवल नारियों की मुक्ति का ही नहीं है। यह संपूर्ण मानव-जाति का संघर्ष है, क्योंकि इस विषमता ने नारी ही नहीं, पुरुष के जीवन को भी सामान्य रूप में विद्रूपित किया है।"

नारी का यह शोषण पुरुष-वर्ग का षडयंत्र भी नहीं कहला सकता। यह सुविज्ञात है कि महिलाओं के शोषण में परिवार की अन्य महिलाओं की ज़िम्मेदारी पुरुषों की अपेक्षा अधिक ही है। ससुर, देवर, जेठ या पति की अपेक्षा पत्नी के शोषण के लिए सास, ननद, सौत आदि अधिक उत्तरदायी होती हैं, पर परिवार की इन नारियों को भी इस दोष का भागी नहीं कहा जा सकता। स्वयं पुरुष की आय पर माँ, बहन आदि के रूप में निर्भर तथा अपने निजी संदर्भों में स्वयं उत्पीड़ित इन नारियों से भी अपनी इस नयी प्रतिद्वंद्विनी के प्रति कुछ अन्य अपेक्षा हो भी नहीं सकती। इसलिए, किसी पर भी दोषारोपण केवल तथ्यों का सरलीकरण मात्र होगा। वस्तुतः, व्यवस्था के भँवरजाल में तथा दूषित चक्र में हर व्यक्ति एक विशेष प्रकार के व्यवहार के लिए बाध्य होता है। स्वयं बहनोई या दामाद के रूप में अपने ससुराल वालों के प्रति व्यक्ति का व्यवहार और अपेक्षाएँ भिन्न होती हैं। जबकि साले या ससुर के रूप में वही व्यक्ति अपने बहनोई या दामाद तथा उसके परिजनों के प्रति नितांत भिन्न व्यवहार करता है और एकदम भिन्न प्रकार की अपेक्षाओं से संपन्न होता है। सरल शब्दों में यही कहा जा सकता है कि नारी की दासता और संतान के संदर्भ में नारी की अक्षमता, अल्प क्षमता तथा शोषण का कारण वह आर्थिक सामाजिक ढाँचा है, जिसका मानव जाति ने क्रमिक रूप में विकास किया है।24 इसे यदि सिद्धांत-रचना की शब्दावली में कहना हो, तो यही रेखांकित करना होगा कि पशु-वर्ग से आज की विकसित आर्थिक-सामाजिक स्थिति का पूरा मूल्य केवल मानवी या नारी को ही अपने तन-मन और पूर्ण अस्तित्त्व के अवमूल्यन द्वारा चुकाना पड़ा है।

यहाँ यह रेखांकित करना उपादेय होगा कि नारी की यह अवस्था हर उस संश्लिष्ट समाज-व्यवस्था में निहित है, जहाँ संपत्ति-अर्जन, संपत्ति-उपयोग और संपत्ति-उत्तराधिकार के वैयक्तिक अधिकार अक्षुण्ण हैं और उन पर सामाजिक नियंत्रण की कमी है। इस प्रकार की व्यवस्था चाहे सामंती हो या पूँजीवादी, इसमें अपनी अक्षमताओं के कारण उपार्जन में नारी सदा हीन ही रहेगी। मातृत्व-भावना के कारण और सामाजिक नियंत्रण से विहीन अर्थोपार्जन की स्थिति में वह संतान के लिए और स्वयं अपने लिए भी सुदृढ़ अर्थ का आधार अवश्य चाहेगी, परंतु इसके लिए पुरुष पर निर्भरता के कारण अवश्य शोषित और पीड़ित होगी और हीन स्वीकार की जाएगी।25 यह तथ्य जितना भारत के संदर्भ में सही है, उतना ही यूरोप-अमरीका के पूँजीवादी और संपन्न देशों के संबंध में भी सार्थक है। अंतर केवल दोनों स्थितियों में निश्चित रूप में एक ही है। उपयुक्त वैयक्तिक अधिकारों की पुनर्व्याख्या द्वारा समाजवादी देशों में इस समस्या का समाधान संभव हो सका था, पर यह अलग महत्त्वपूर्ण विषय है।

समाधान

निदान : यदि समस्या का निदान वैज्ञानिक विधि से तथा तत्त्वों-उपतत्त्वों के लघुतम विवरणों तक हो जाए, तो समाधान एवं उपचार खोजना कठिन नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन में विवरण अपनी सीमाओं तक भले ही न आ पाये हों, पर जो मुख्य तत्त्व उभरते हैं, उन्हें अवश्य इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है :

1. नारी का मातृत्व उसकी अर्थ-उत्पादन क्षमता में बाधक है।

2. मातृत्व की प्रवृत्तिजन्य भावना नारी को संतान के हित के लिए किसी भी सीमा तक आत्म-बलिदान के लिए प्रेरित ही नहीं, मजबूर करती है।

3. अर्थ-व्यवस्था के ढाँचे के अधिक से अधिक संकुल तथा संश्लिष्ट होते जाने पर संतान के स्वावलंबी होने की अवधि लंबी हो जाती है और भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, उत्पादन-सक्षम होने और स्वावलंबी होने तक संतान को अर्थ के संरक्षण तथा प्रश्रय की अनिवार्यता रहती है।

4. संतान के लिए यह संरक्षण प्राप्त करने के लिए माता को अपनी स्वतंत्रता, निजता, अधिकार, व्यक्तित्त्व, आत्मसम्मान और अहं—सबकी कुरबानी देनी पड़ती है।

5. इस सबसे नारी का सहज जीवन तो विनष्ट हो ही जाता है, सामान्यतः सारे समाज का जीवन भी विकृत और विद्रूप हो रहा है।

उपचार

यह प्रकट है कि संतानोत्पत्ति संकुल सामाजिक जीवन में नारी की सबसे बड़ी अक्षमता सिद्ध होती है। परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि प्रजनन तथा संतान का पालन स्त्री का समाज के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान, उसका बहुमूल्य उत्पादन, सजीव मानव के रूप में अमूल्य संसाधन और संपदा का दान है। नारी के मानवीय-संसाधन जैसे सर्वोत्कृष्ट और केंद्रीय संसाधन के योगदान को यदि उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो समाज का उसके प्रति ऋण रेखांकित किया जा सकता है।

समाधान देना हमेशा सरलीकरण करना होता है, फिर भी सूत्र रूप में यह कहा जा सकता है कि कृषि, इंजीनियरिंग, उद्योग आदि से संबद्ध किसी भी अन्य संसाधन-उत्पादक की तरह श्रेष्ठतम संसाधन—मानव संसाधन की उत्पादक नारी को सामाजिक व्यवस्था में ही उसका उचित लाभ, प्रतिदान और संरक्षण समाज की ओर से ही प्राप्त होना चाहिए। यह एक क़दम ही नारी

जाति की मुक्ति के लिए आधारभूत सिद्धांत सिद्ध हो सकता है। इस बात को इस प्रकार विस्तार से विवेचित किया जा सकता है :

1. यौनाकर्षण के आधार पर नर-नारी एक-दूसरे के साथ रहें। वैवाहिक सुरक्षा, सुविधा, विश्वास आदि के आधार पर भी सहवास स्वीकार किया जा सकता है। पर, नारी के पुरुष पर आश्रित रहने की आर्थिक, सामाजिक और मतवादी बाध्यता समाप्त होनी चाहिए।

2. इसके लिए सर्वप्रथम नारी को जीवन के हर क्षेत्र में, वह चाहे प्रेम, चिंतन या उत्पादन किसी भी प्रकार का हो, समान बल्कि बेहतर अवसर प्राप्त होने चाहिए। गर्भाधान और मातृत्व संबंधी किन्हीं भी शारीरिक भावात्मक अक्षमताओं का यदि नारी की अर्थ-उपार्जन की क्षमता पर किंचित् भी दुष्प्रभाव पड़ता है, तो नारी के प्रजनन और मानव-संसाधन के श्रेष्ठतम योगदान की दृष्टि से वह केवल क्षम्य ही नहीं, क्षतिपूर्णीय स्वीकार किया जाना चाहिए।

3. नारी को अन्य संसाधन-उत्पादकों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण उत्पादक मानकर उसकी संतान के लिए समाज की ओर से ही हर बच्चे की आयु, माँग और आवश्यकता के अनुसार लाभांश या भत्ता दिया जाना चाहिए। यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि यह नारी के लिए अनुदान, अनुग्रह-राशि या कृपादान नहीं है, बल्कि यह उसका अधिकार है। जनसंख्या नियोजन के उपाय अवश्य पूरे समाज के हित में हैं, पर गर्भाधान के बाद से ही माता और प्रसव के बाद माँ और शिशु दोनों के समुचित, सम्मानपूर्ण निर्वाह के लिए उपयुक्त तथा समान सुविधाओं का प्रावधान होना चाहिए।

4. कम से कम उच्चतम स्कूली शिक्षा अनिवार्य भी होनी चाहिए और निःशुल्क भी। उच्चतर शिक्षा में प्रवेश का आधार योग्यता और क्षमता होना चाहिए, न कि बाप की जायदाद। नारी-मुक्ति का यह एक महत्त्वपूर्ण साधन हो सकता है। बच्चे की स्थापना के लिए पिता की संपत्ति पर निर्भरता और नारी की हीनता का क्रम इससे समाप्त हो सकता है।

5. इसी प्रकार, रोग या चोट आदि की अवस्था में माता और संतान के लिए उपचार की सारी सुविधाएँ या तो निःशुल्क होनी चाहिए या बीमा आदि साधनों से पूर्व-निश्चित होनी चाहिए।

भविष्य की आशंका व्यक्ति को कमज़ोर और समझौतावादी बनाने का मुख्य कारण है। आसन्न रोग तथा दुर्घटना आदि सदा व्यक्ति के मानस को आक्रांत किये रहते हैं। जब उचित उपचार केवल धन की सुलभता पर ही निर्भर हो, तो यह बृहत्तर रूप में प्रत्येक की और विशेष रूप में एक माता की दासता का मुख्य कारण बन जाता है। इसी प्रकार, वृद्धावस्था, शारीरिक अक्षमता या विकलांग बनाने वाली दुर्घटना आदि का भय सबको आक्रांत करता है, पर माँ के लिए यह भय स्वयं अपने और संतान के संदर्भ में कई गुना अधिक होने से उसे पराधीन बनाने का बड़ा कारण है। सामाजिक दायित्व के रूप में माता और संतान को स्वास्थ्य-बीमा आदि के कवच की सुरक्षा देकर इस अनिवार्य पराधीनता और भय और आशंका से बचाया जा सकता है।

6. बच्चे के नाम के साथ पिता का नाम लगाने की अनिवार्यता को समाप्त किया जाना चाहिए। पिता की निश्चयात्मकता की अपेक्षा माँ की निश्चयात्मकता असंदिग्ध और निर्विवाद होती है। भारत में सकारण माता से संबद्ध नाम ग्रहण करने वाले महान पुरुषों की सुदीर्घ परंपरा विद्यमान रही है। जैसे—गांगेय (भीष्म), कौंतेय (कर्ण तथा अर्जुन), जाबाला-सुत, जाबाल (सत्यकाम) आदि।26 संतान के नाम के साथ माँ का नाम अनिवार्य करने और पिता के नाम की अनिवार्यता हटाने मात्र से यौन-नैतिकता के तथाकथित दोष सहज में दूर हो सकते हैं और माँ और उसकी संतान की मुक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण कारक बन सकते हैं।

7. परिवार की संपत्ति में माता और पिता दोनों का समान अधिकार होना चाहिए और उत्तराधिकार में पुत्र तथा पुत्री दोनों को समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यहाँ तक कि क़र्ज़े की अवस्था में भी बेटा-बेटी बराबर के भागी होने चाहिए। सतह पर तो ऐसा लगता है कि इससे बहनों और भाइयों के झगड़े होंगे और संपत्ति का बिखराव होगा, पर यह विशुद्ध जड़ सामंती और पुरुष-श्रेष्ठतावादी दृष्टिकोण है।27 क्या भाई-भाई में संपत्ति का बँटवारा नहीं होता? क्या इससे संपत्ति में बिखराव नहीं आता? क्या भाइयों में संपत्ति बँटने पर वह उनकी उन संतानों को प्राप्त नहीं होती, जो किन्हीं अन्य घरों से आयी उनकी पत्नियों से पैदा होती हैं? इस प्रकार क्या वे संतानें अपने ताया-चाचा से कुछ दूर नहीं हो गयी होतीं? इसमें भी कन्याओं को विवाह में दक्षिणा मात्र देकर संपत्ति के उत्तराधिकार में नर-संतान के विषय में ही आग्रह मात्र पुरुषों का भाई-भतीजावाद या स्वार्थ ही है। यदि बेटा उत्तराधिकारी है, तो वह संपत्ति घर में ही है, पर यदि बेटी उत्तराधिकारी हो, तो वह संपत्ति उसके पति अथवा दूसरे परिवार में चली जाती है। बेटा और उसकी बाहर से आयी पत्नी अपने ही घर के हैं, जबकि बेटी और उसका पति उस घर के वृत्त से बाहर हो जाते हैं। अतः बाहर से आयी नारी की संतान तो अपनी है, और सही उत्तराधिकारी है, जबकि उसी घर की बेटी की संतान दूसरे घर की या परायी हो जाती है। इस सामंती सोच ने मानव-जाति का बहुत अहित किया है। इस सोच में विकार नारी को पूर्ण व्यक्ति न मान कर केवल लेन-देन की वस्तु मानने के कारण ही पैदा हुआ है। भाई या बेटा अपनी पत्नी को वर कर (अथवा जीत कर) लाता है, अतः वह भाई और उस परिवार की संपत्ति है।28 इसीलिए, उसकी संतान भी परिवार की संपत्ति बन जाती है।29 पर, बहन या बेटी को अन्य परिवार का पुरुष पत्नी के रूप में वर कर (अथवा जीत कर) ले जाता है, इसीलिए वह कन्या भी उसी परिवार की संपत्ति बन जाती है और परिणामतः उसकी संतान भी उसी परिवार की संपत्ति है।30

यह विशिष्ट सामंती चिंतनधारा है। इससे नारी जाति की

घोर अवमानना, अनादर और अपमान हुआ है। बृहत्तर रूप में इससे कन्या के पिता, भाई और पुत्र के रूप में पुरुष-वर्ग का भी बहुत अवमूल्यन होता रहा है। समान-उत्तराधिकार द्वारा इस विकृत व्यवस्था का अंत होना चाहिए। क़ानून से तो यह बहुत पहले हो चुका है, पर व्यवहार में लाने के लिए समाज और शासन दोनों ने उचित निश्चय और चेष्टा नहीं दिखायी है। हम दहेज-प्रथा के विरुद्ध, विवाह के खर्चे कम करने के लिए, और विवाह के बाद कन्याओं को यंत्रणा देने, मारने, जलाने आदि के विरुद्ध बहुत नारे लगाते हैं, पर यह केवल पत्तों को पानी देने के बराबर है। संपत्ति का पुत्र-पुत्री में समान उत्तराधिकार इसकी जड़ है, जिसे सींचने पर शेष कार्य स्वतः हो जाएँगे।

संपत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करने वाली कन्या पिता या भाई से दहेज और जीवन-पर्यंत दान आदि की अपेक्षा नहीं कर सकती। वर और वर-पक्ष के लोग भी विवाह से पहले ही इस पूर्व-ज्ञान के साथ चलकर मुख्य रूप में कन्या की योग्यता और गुण और व्यवहारतः वर-वधू की परस्पर पसंद को ही अधिक महत्त्व दे पाएँगे। धीरे-धीरे यह अकेला क़दम विवाह के निर्णय को कुल, क़बीले और ख़ानदान के निर्णय और स्वीकृति-सीमा से बाहर निकालकर विशुद्ध नर-नारी के स्वतंत्र-चयन के स्तर पर ले आएगा, जो नारी-मुक्ति की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

समाधान की समस्या तथा उसका समाधान

समाज के विभिन्न वर्गों में सजगता बढ़ रही है। नारी-विमर्श आज का महत्त्वपूर्ण बहुचर्चित विषय है। बालिका-शिक्षा, बालिका-स्वास्थ्य के विषय में विशेष ध्यान दिया जाना आरंभ हुआ है। दहेज कहीं तो नव-धनाढ्यों में बढ़ रहा है, पर बृहत्तर स्तर पर युवा-वर्ग में इसमें कमी भी आ रही है। स्वतंत्र-चयन के आधार पर होने वाले विवाह-संबंध तथा कामकाजी महिलाओं की संख्या में लगातार वृद्धि भी समस्या के समाधान की ओर बढ़ रहे स्वागतयोग्य क़दम हैं। कामकाजी महिलाओं को दी जाने वाली मातृत्व काल की छुट्टियों में वृद्धि एक अन्य सही क़दम है। इसी प्रकार, बच्चे के नाम के साथ कुछ स्थितियों में माता और पिता—दोनों के नामों का जोड़ा जाना भी आधा सही क़दम माना जा सकता है।

पर, इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। स्कूल-शिक्षा में पूरी अस्त-व्यस्तता फैली हुई है। निःशुल्क, बिना छत के, बिना टाट-पट्टी के तथा पाँच-पाँच कक्षाओं के लिए केवल एक अध्यापक वाले विद्यालयों से लेकर 5 से 10 हज़ार प्रति छात्र फ़ीस वाले, राजाओं-महाराजाओं को भी धूमिल करने वाले और शिक्षा को चमकदार व्यवसाय बनाने वाले संस्थान भी इस देश में चल रहे हैं। इस भारी भेदभाव वाले परिवेश में साधनहीन या अल्पसाधन वाला वर्ग सदा कुचला जाएगा। पर, इसका भी सबसे बुरा प्रभाव शिशु की माता पर ही होता है, जिसकी अपनी संतान को अच्छी से अच्छी एवं उसके भविष्य को उज्ज्वल से उज्ज्वल बना सकने वाली शिक्षा की कामना उसे परिवार के अर्थकोश की गुलामी और अपने व्यक्तित्त्व के अवमूल्यन के लिए बाध्य करती है। अमरीकी निःशुल्क, अनिवार्य और समान स्कूली तथा 'कमाओ और पढ़ो' की शिक्षा का आदर्श भारत की इस समस्या का सुंदर समाधान सिद्ध हो सकता है।

इसी प्रकार, स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी भारी अफ़रातफ़री है। सरकारी हस्पतालों की दुरवस्था और निजी क्षेत्र की लूटपाट और अति मँहगी चिकित्सा भी शिक्षा के क्षेत्र के समान ही पूरे समाज को विकार-ग्रसित कर रही है। इसका भी सर्वाधिक दुष्प्रभाव माता के अपने जीवन और नारी रूप में उसके व्यक्तित्त्व पर पड़ता है। इसका समाधान दो स्तरों पर संभव है। अमरीकी शिक्षा के समान माता और उसके अवयस्क शिशु के लिए निःशुल्क स्वास्थ्य-सेवाओं का प्रावधान होना चाहिए। दूसरे विकल्प के रूप में माताओं-शिशुओं के लिए स्वास्थ्य-सेवा बीमा की व्यवस्था हो, जिसका वहन समाज या राज्य द्वारा किया जाए। यह कैसे हो, इसका विस्तृत प्रारूप विभिन्न व्यावहारिक प्रक्रियाओं के अनुरूप बनाया जा सकता है।

प्रश्न केवल यही है कि भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में माँ और संतान के लिए विशेष अनुदेय, स्वास्थ्य-सेवाओं और निःशुल्क बाल-शिक्षा आदि का भारी ख़र्चा क्या संभव हो सकेगा? क्या भारत जैसा देश इस भारी व्यय को सहन और वहन कर पाएगा?

प्रश्न भारत का नहीं है। कोई भी देश—धनी हो या निर्धन—यह सब कर सकता है, केवल उसका चिंतन सही और नीयत साफ़ होनी चाहिए। भारत रेलें चलाता है। यहाँ स्कूल-कालिज, विश्वविद्यालय चलाये जा रहे हैं। विश्वसनीय- अविश्वसनीय विकास-कार्यों पर अरबों रुपये ख़र्च किये जाते हैं। उद्योग-निर्माण पर और अरबों रुपया लगाया गया है, जिसमें उत्पादन कम और अनुत्पादक प्रशासक-वर्ग का भरण-पोषण अधिक होता है। भारत अनुत्पादक प्रशासन पर कुल राष्ट्रीय आय का एक तिहाई और सेना पर लगभग 50 प्रतिशत व्यय करता है। यह सब इसलिए किया जाता है, क्योंकि यह ज़रूरी समझा जाता है। धन की कमी की अवस्था में क़र्ज़ लिये जाते हैं, नये कर लगाये जाते हैं, अनावश्यक ख़र्चों में कटौती का प्रयास किया जाता है, परंतु शिशु के लालन-पालन का दायित्व समाज का न मानकर माता-पिता का माना जाता है और, वास्तविक स्थितियों में यह माँ की ही शारीरिक और भावात्मक मजबूरी होती है, जिसमें आर्थिक सहयोग के लिए संतान के पिता के समक्ष अपने संपूर्ण व्यक्तित्त्व और अस्तित्त्व को ही गिरवी रखना पड़ता है। पूरे नारी-वर्ग के लिए तो मातृत्व का यह दायित्व पराधीनता, अवमानना और शोषण का आधार बनता ही है, शेष आधी जनसंख्या भी कन्या के पिता तथा भाई आदि के रूप में पुत्रियों तथा बहनों के हित-चिंतन के कारण जीवन-पर्यंत शोषित

और दलित और अपमानित होते रहने के लिए बाध्य होती है। श्रेष्ठ संसाधन मानव-शिशु विकास-वृद्धि के लिए समुचित सामाजिक दायित्व के प्रावधान के अभाव में केवल माता का ही नहीं, उससे संबद्ध पूरे समाज का जीवन ही विकार-ग्रस्त हो रहा है। इस एक प्रावधान के अभाव में समाज का बहुत बड़ा वर्ग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विकृत, अस्थिर, अपूर्ण तथा अव्यवस्थित जीवन जीने के लिए बाध्य है।

सारांश

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि नारी समाज के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण संसाधन मानव-संसाधन की जननी है, सर्वश्रेष्ठ एवं महनीय उत्पादक है। गर्भाधान, प्रसव आदि जैसे समस्त दायित्व वही वहन करती है। इसके बाद, अच्छी-बुरी हर हालत में, वैयक्तिक कष्ट, पीड़ा, अवमानना और शोषण के मूल्य पर भी वह संतान का पालन-पोषण करने के लिए प्रवृत्ति रूप में बाध्य है। दूसरे, मानव की वर्तमान संश्लिष्ट अर्थ-व्यवस्था ही नारी के लिए शारीरिक तथा भावात्मक स्तर पर उसके समुचित उपार्जन की बाधा सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में इसे इस तरह कहा जा सकता है कि मानव-समाज के अब तक हुए सारे आर्थिक विकास की भारी क़ीमत केवल नारी को ही चुकानी पड़ी और चुकानी पड़ रही है, इसलिए एक महनीय उत्पादक के रूप में यह समाज का कर्त्तव्य है कि वह इसका समुचित प्रतिदान भी दे और अक्षमताओं और बाधाओं के लिए क्षतिपूर्ति भी।

माता तथा शिशु-संबंधी दायित्वों का भार सामाजिक व्यवस्थाओं और प्रावधानों द्वारा संभव होने में पुरुष-वर्ग की अपनी मुक्ति भी निहित है। स्वयं पुरुष भी अपने रोग, शारीरिक अक्षमता अथवा मृत्यु की आशंका तथा भय के कारण पत्नी और संतान के भविष्य के संबंध में चिंतित और भयाक्रांत होने की शंका से मुक्त हो जाता है। बहन या बेटी की शिक्षा-संबंधी या विवाह में दहेज आदि संबंधी चिंताओं से भी वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार, वर्तमान अप्राकृतिक, अस्वाभाविक और भारी यंत्रणा से पूर्ण दबावों और तनावों से मुक्त होकर पुरुष भी सहज स्वाभाविक जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हो सकता है। अपनी पत्नी, संतान और बहन के साथ भी उसका संबंध अर्थाधारित विकृत स्थितियों पर आधारित न होकर स्वाभाविक स्नेह, प्रेम और सद्भावना पर आधारित हो सकेगा। नारी-मुक्ति के ये प्रावधान पुरुष के लिए भी पिता, पति और भाई आदि के रूप में परंपरित हीन तथा विकृत संबंधों से मुक्ति का कारण बन कर सारे समाज को अधिक स्वस्थ अंतर्सम्बद्धता प्रदान कर सकते हैं। बृहत्तर सामाजिक संरचना में और यौन-नैतिकता में भी अनेक कुरीतियों, रूढ़ियों और कुप्रथाओं से मुक्ति की अपेक्षा भी इन प्रावधानों की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हो सकती हैं ।[31]

संदर्भ-संकेत

1. F. ENGELS, THE ORIGIN OF THE FAMILY, PRIVATE PROPERTY AND THE STATE, P-77
2. HOWARD BECKER & HARRY ELMER BARNESE, SOCIAL THOUGHT FROM LORE TO SCIENCE, 1960. VOL. II, P. 714-723
3. LUDWIG GUMPLOWICZ, OUTLINE OF SOCIOLOGY, P. 110, 112, 130
4. DENIS DE ROUGEMONT, PASSION & SOCIETY, 1956, P. 278
5. P. THOMAS, INDIAN WOMAN THROUGH THE AGES, 1964, P.71
6. FLOYE DELL, LOVE IN MACHINE AGE, 1930, Pp.31-32
7. P. THOMAS, INDIAN WOMAN THROUGH THE AGES, P. 201
8. HAVELOCK ELLIS, PSYCHOLOGY OF SEX, 1966, Pp. 275-276
9. S.K. BEY, ANCIENT INDIAN EROTICS AND EROTIC LITERATURE, 1959, P.10
10. HAVELOCK ELLIS, OP. CIT., P. 275
11. FLOYE DELL, OP. CIT., P.23
12. SHERWIN BAILEY, COMMON SENCE ABOUT SEXUAL ETHICS, 1962, P. 93
13. P. THOMAS, OP. CIT. P. 50
14. JAGDISH CHANDRA JAIN, HISTORY OF PRAKRIT LITERATURE, 1961, Pp. 460-461
15. HOWARD BECKERR HARRY ELMER BARNESE, OP.CIT. VOL.I, Pp.20,021,189
16. S.K. DEY, OP. CIT., P.10
17. ANDRE MAUROISE, SEVEN FACES OF LOVE, 1910, P.154
18. S.K. DEY, OP.CIT. Pp.11-13
19. HOWARD BECKER & HARRY EIMER BARNESE, OP. CIT. VOL. II, P. 755
20. FLOYE DELL, OP.CIT. P.19
21. P. THOMAS, OP.CIT., P. 201
22. IBID, P. 48
23. FLOYD DELL, OP.CIT., P.18
24. HOWARD BECKER & HARRY ELMER BARNESE, OP.CIT., VOL. I, P. 188
25. P. THOMAS, OP. CIT., P. 50
26. P. THOMAS, OP. CIT., PP. 10,47,48
27. MANUSMRITI (SANSKRIT) 2009 VIKRAMI, PP. 452-479
28. FLOYD DELL, OP. CIT., PP. 17
29. HOWARD BECKER & HARRY ELMER BARNESE, OP. CIT. VOL. I, P.188
30. MANUSMRITI, OP.CIT., Pp. 452-479
31. विस्तृत स्थिति-कथन विश्लेषण और समाधान-प्रस्तावना के लिए दृष्टव्य : मैथिली प्रसाद भारद्वाज, मध्यकालीन रोमांस, जयपुर-दिल्ली, 1970, प्राक्कथन-पृष्ठ I-XIII) तथा अध्याय प्रथम-पृ० 1-33.

754, सेक्टर-12, पंचकूला-134112

'पद्मावत' का 'सुआ-संवाद खंड' : स्त्री-विषयक दृष्टि

नित्यानंद तिवारी

मैं साहित्य का अध्यापक हूँ। अपने विद्यार्थियों के बीच पुराने साहित्य से लेकर अधुनातन साहित्य पर चर्चा करनी पड़ती है। मैंने अक्सर महसूस किया है कि पुराने साहित्य को बोझ और नये साहित्य को गतिशील मानकर चर्चा करने में एक ख़ास क़िस्म का उत्साह और आसानी होती है और यदि पक्षधरता उलट दी जाए, तो भी उत्साह की क़िस्म और आसानी के स्तर में कोई अंतर नहीं पड़ता। मैंने अपने विद्यार्थियों के बीच कक्षाओं में महसूस किया है कि अपनी सामयिक स्थिति को परिभाषित किये बिना और उस ज़मीन पर मज़बूती से खड़े हुए बिना सदियों का ज्ञान बोझ और पागलपन के अलावा और कुछ नहीं है। सचमुच इस तरह से 'वारिस होना' ख़तरनाक है।

अतीत की सारी उपलब्धियों का वर्तमान के साथ क्या रिश्ता है, इस सवाल के उठते ही हम विशेष रूप से ऐतिहासिक अनुशासन से परिभाषित बोध और अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं, तब वारिस होना न गौरव की चीज़ रहता है, न ख़तरनाक; वह दायित्व का बोध हो जाता है, जो हमारे अनुभव के भीतर से फ़ालतू उत्साह और आसानी के भाग को समाप्त कर देता है। अनुभव के भीतर एक नयी अंतर्वस्तु पैदा हो जाती है, जो निरंतर प्रश्नों और व्याकुलताओं का सामना करने में सार्थक होती है। प्रगति हमेशा ही मानवीय व्यापार को सार्थक बनाने वाली महत्त्वपूर्ण संकल्पना रही है। मानव-प्रगति की कहानी से क़ौन इन्क़ार कर सकता है ? लेकिन, इस कहानी का सार-तत्त्व सनातन है या ऐतिहासिक ? क्या मानव-विवेक और अविवेक की कोई देशकालातीत सत्ता है, जिनके बीच अनिवार्य संघर्ष होता है और प्रगति उसी में प्रतिफलित होती है? अथवा मानव-विवेक और अविवेक इतिहास के भीतर सामाजिक-आर्थिक शक्तियों के संघर्ष में प्रतिफलित होते हैं, जिनमें सनातन या तत्त्व-बोधात्मकता के मुक़ाबले ऐतिहासिक अंतर्वस्तु होती है ? इन सवालों के जवाब हमें सैद्धांतिक स्तर पर खोजने चाहिए या व्यावहारिक? सैद्धांतिक से मेरा मतलब किसी धारणा या विचार-पद्धति की पूर्व स्वीकृति से है और व्यावहारिक से किसी कालखंड के जीवन और समाज में पैदा होने वाली ठोस परिस्थितियों और समस्याओं के विशेष प्रसंगों से। इस संदर्भ में 'पद्मावत' के नागमती-सुआ-संवाद खंड का एक विश्लेषण रोचक हो सकता है।

राजा रत्नसेन ने एक तोता सिंहलगढ़ से लौटे ब्राह्मण से खरीदा। वह तोता पंडित था और प्रेम की ऐसी कहानी सुनाता था कि सब लोग सिर धुनने लगते थे। उसकी कहानी से राजा को प्रीति का अनुभव होने लगा, जिससे वह राजा का अत्यंत प्रिय हो गया।

इसी कारण नागमती को यह तोता शत्रु के समान जान पड़ता था। एक दिन, जब राजा शिकार के लिए गये, तब अवसर देखकर नागमती शृंगार करके तोते के सामने गयी और उससे पूछा कि क्या मुझसे सुंदर दुनिया में कोई है ? क्या पद्मावती मेरे रूप की तुलना में कुछ है?

तोता उसका मुँह देखकर हँस देता है और फिर बहुत कुछ कहता है, जिसका तात्पर्य यह है कि नागमती तो पद्मावती के पैरों की धूल भी नहीं है।

नागमती जल-भुन गयी है और उसने सोचा कि अगर यह तोता भवन में रहेगा, तो राजा से पद्मावती के सौंदर्य के बारे में ज़रूर क़हेगा और राजा राज-पाट छोड़कर सन्यासी होकर उसकी खोज में निकल पड़ेगा। इसलिए उसने धाय को बुलाकर तोते को मार डालने का आदेश दिया।

धाय चतुर थी, उसने सोचा कि तोते को मारने से मालिक का कोप होगा। रानी तो बच जाएगी, मुसीबत मेरी होगी। इसलिए उसने तोते को मारा नहीं, छिपा दिया। राजा आये, उन्होंने तोते के बारे में पूछा, रानी ने ऐंठकर जवाब दिया कि उसे बिल्ली खा गयी, बड़ा कुचाली तोता था।

राजा को वियोग का अनुभव हुआ। उसने रानी पर क्रोध किया और तोते के साथ सती हो जाने का आदेश दिया। यह सुनकर रानी का रंग पीला पड़ गया। वह सहमी-डरी धाय के पास गयी, धाय ने भी डाँटा, लेकिन तोता दे दिया।

रानी राजा के पास आयी। उसने कहा कि मैंने दिल्लगी की थी, लेकिन क्या इतने से अपराध पर भी तुम मृत्युदंड दे सकते हो? हे कंत मैंने तुम्हारा 'मरम' चीन्ह लिया...।

इसमें राजा, रानी, तोता और धाय चार पात्र हैं। क्या

मध्ययुग के सामाजिक तथ्य हैं या महज रूपक या प्रतीक हैं–आत्मा-परमात्मा, गुरु के ? इन्हें हम रूपक या प्रतीक से भिन्न सामाजिक तथ्य मानें, तो किस तरह से? मध्ययुगीन समाज का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि अध्यात्म और काम की अतिजीवी शक्तियों से उस समय का समाज आक्रांत था। एक ओर काम-कला सिखाने के लिए बाक़ायदा केंद्र थे, तो दूसरी ओर सन्यासी होने का फ़ैशन-सा चल पड़ा था। आध्यात्मिक जीवन में गुरु और काम-जीवन में दूती अनिवार्य एजेंसी की तरह उभरे थे। अगर ऐतिहासिक क्रम में हम देखें, तो गुरु और दूती का महत्त्व मध्ययुग में ही सर्वाधिक है। आगे-पीछे उतना नहीं है।

यानी अध्यात्म और काम के अतिरेक से आक्रांत समाज के ये पात्र हैं। इन दोनों क्षेत्रों में नारी की स्थिति नगण्य और तुच्छ है। अध्यात्म में तो वह सबसे बड़ी बाधा है ही और काम के क्षेत्र में वह केवल उपभोग की वस्तु है। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता और अस्मिता नहीं है। कवि ने उस आध्यात्मिकता और कामुकता से भरे समाज में नागमती की 'प्लेसिंग' इस तरह से की है कि नारी की सामाजिक हैसियत अत्यंत त्रासद रूप में उभरी है।

इस खंड में मुख्य कार्य है–नागमती द्वारा तोते को मारने का आदेश देना और राजा द्वारा उसके इस कृत्य पर क्रोध करके मृत्युदंड देना। नागमती पट्टरानी है और पुराने इतिहास-ग्रंथों के साक्ष्य पर हम जानते हैं कि उसे विशेष प्रशासनिक और राजकीय अधिकार प्राप्त होते हैं। वह सभी महत्त्वपूर्ण राजकीय निर्णयों में शामिल होती है, उसकी राय का महत्त्व होता है। लेकिन, उसकी विशेष राजकीय स्थिति के बावजूद, नारी होने के कारण उसकी सामाजिक हैसियत नगण्य है। आदमी तो आदमी, एक मामूली पक्षी के मारने का आदेश देने पर उसका पति पुरुष होने के कारण तुरंत मृत्युदंड दे सकता है। यह एक रानी-नारी की स्थिति है। फिर सामान्य नारियों की भयावह कल्पना आसानी से की जा सकती है।

तोता राजा को जिस प्रेम और सौंदर्य की कहानी सुनाता है, उसके दो ही पक्ष तो हो सकते हैं कि राजा आध्यात्मिक प्रेम में लीन हो जाए या शारीरिक आकर्षण की गिरफ़्त में आ जाए। दोनों ही हालात में नागमती की ही ज़िंदगी को चौपट होना है! इस प्रकार, मध्ययुगीन नारी की ज़िंदगी में अध्यात्म और काम दोनों ही 'डर' की मानसिक संरचना करते हैं। इसी डर से वह तोते को मारने का आदेश होती है। तो, कविता में उसके भीतर जिस विशेष वैयक्तिक डर की अभिव्यक्ति मिलती है, क्या हम उसे विशुद्ध वैयक्तिक डर कह सकते हैं? क्या यह 'डर' तत्कालीन समाज का विशेष सामाजिक तथ्य नहीं है? जिसे गोल्डमान कहता है कि साहित्यिक रचना में जो विशेष मानसिक संरचनाएँ होती हैं, वे उस समाज में पहले ही मौजूद होती हैं जिस समाज के भीतर उस साहित्य की रचना होती है। इस तरह, यदि हम नागमती की व्याख्या समाजशास्त्रीय ढंग से करते हैं, तो जो नागमती को माया का प्रतीक माना जाता है, उसकी एकांगिता टूटती है और वह एक सजीव के रूप में उभरती है।

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मध्ययुगीन समाज में नारी को स्वतंत्र राय रखने और अपने को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त करने का अधिकार नहीं था। 'रामचरित मानस' में राम के वनगमन के अवसर पर कौशल्या सिर्फ़ इतना ही कहती है–'रोकि न सकउ न कह सक जाहू। दूहें भाँति दुख दारुन दाहू।' यहाँ जैसे कौशल्या में घुटन है, वैसे ही नागमती के मन में भी है। अंत में कवि उसके बारे में लिखता है–

जुआ हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहें आनी।
मान मते हों गरब जो कीन्हा। कंत तुम्हार मरम मैं चीन्हा॥

और मैं तो जानती थी कि तुम मुझमें ही मिले हुए हो, लेकिन जब ताक कर देखती हूँ तो तुम सबके पास हो...

यह जो दार्शनिकीकरण है, उसके पीछे 'मरम मैं चीन्हा' का व्यंग्य धधकता रहता है। यानी तुम महान हो, तुम नीच हो।

लेकिन, अब दूसरी बात, कि पट्टरानी और अपार सुंदरी होते हुए भी रानी के संपर्क में राजा को प्रेम का अनुभव क्यों नहीं हुआ? तोता जब पदमावती की सुदंरता और उसकी कहानी कहता है, तब पहली बार राजा को प्रेम का आभास मिलता है। अतः राजा नागमती को सिर्फ़ इसलिए दंड नहीं देता कि उसने एक तोते को मरवा डाला है, बल्कि इसलिए कि रानी ने उसका अनुभव उससे छीन लिया है। आदमी को उसके अनुभव से अलग कर देना, उसे मार डालना ही तो है। मैं सिर्फ़ यह नहीं कहता कि स्त्री की सुंदरता आदमी के अनुभव को स्नायविक उत्तेजना में बदल देती है। यहाँ नागमती एक विशेष सामाजिक अभिकरण बन जाती है। कविता में चरित्र की उसकी सत्ता विशेष अभिकरण में परिवर्तित हो जाती है। वे सभी शक्तियाँ, जो अधिकार और घमंड के दवाब में आदमी को घोंट देती हैं, नागमती उनका प्रतिनिधित्व करने लगती है।

पहले छंद में जायसी ने जिस तरह नागमती का चित्रण किया है, उसमें नागमती अधिकार और घमंड का घटाटोप प्रसंग जान पड़ती है। अपने जीवन के व्यंग्य और दारुण त्रासदी से अपरिचित नागमती खुद ही कहती है कि भले ही मेरा पति और किसी को प्यार करता हो, किंतु क्या मेरे समान दुनिया में कोई सुंदर है? चाहे रूप का घमंड हो या अधिकार का, जब विशेष समाज का कोई विशेष वर्ग अपने घमंड के आगे संबंध का अर्थ भूल जाता है, तब उस समाज का या उस व्यक्ति का

पतन अनिवार्य है। यहाँ नागमती उस पतनोन्मुख सामंती समाज के अधिकार और घमंड की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लगती है। उस पतनोन्मुख सामाजिक घमंड को तोड़ती है भक्ति की आध्यात्मिक विचारधारा। तोता उसी शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है और रत्नसेन उसका माध्यम है। यहाँ तोता और रत्नसेन, दोनों उस वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उस युग के प्रगतिशील वर्ग में उभर रही थी। जिसे 'आर्टीज़न क्लास' कहा गया है, भक्ति की विचारधारा सामाजिक स्तर पर इसी वर्ग से उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार, ये दोनों प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यही कारण है कि तोते में भयंकर साहस है। उसकी हैसियत क्या है ? वह तो एक मामूली पक्षी है, आदमी भी नहीं, लेकिन कवि ने उसे अपनी रचना में जो स्थान दिया है, वह प्रगतिशील सामाजिक श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने के कारण सार्थकता और निर्भयता से भरा हुआ है। वह सच कहने की ख़ातिर प्राण का संकट भी मोल ले सकता है, लेता भी है।

इस पूरे खंड में नागमती का 'डर', 'संकट', रूप और अधिकार का घमंड तथा तोते का साहस और संकट—दोनों ही मानसिकताएँ तत्कालीन समाज की तथ्यगत सच्चाइयाँ हैं, जो समाज में मौजूद हैं। यह केवल कवि की प्रतिभा का कमाल नहीं है। कवि समाज की सामूहिक उपलब्धि का उपयोग करते हुए ही प्रतिभाशाली बन सका है।

कवि की प्रतिभा का कमाल इस बात में है कि वह दोनों सामाजिक सच्चाइयों को परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध तनावपूर्ण विधान में संगठित कर देता है। वह इन सच्चाइयों की कल्पना नहीं करता, वे तो समाज में मौजूद हैं, उसकी कल्पना और कला इनके तनावपूर्ण संगठन में है। हम समाज में प्रचलित नारी की और अध्यात्म की स्थितियों के धनात्मक और ऋणात्मक पहलुओं का साक्षात्कार इस तनावपूर्ण संगठन की कला में करते हैं। इसे ही रेमंड विलियम्स की शब्दावली में भाव की संरचना कहेंगे, जो जटिल और समग्र है।

इस समाजशास्त्रीय विश्लेषण के जरिए ही हम कला की भी विशेष धारणा से परिचित होते हैं। इस खंड को पढ़ने पर तुरंत पहचाना जा सकता है कि उपमा, उत्प्रेक्षा या मधुर शब्दावली का जमघट इसमें कहीं नहीं है। परंपरागत अर्थ में इस पूरे खंड में साहित्यिकता नहीं के बराबर है। इसके मुक़ाबले नख-शिख खंड को रखकर पढ़ने पर यह अंतर बहुत स्पष्टता से पहचाना जा सकता है। इस खंड की साहित्यिकता उसके नाटकीय-व्यंग्यात्मक विधान में है। शब्दों में जो कहा गया है, उससे बहुत अधिक चरित्रों, घटनाओं और सामाजिक स्थितियों के नाटकीय-विधान में अभिव्यक्ति किया गया है।

इस प्रकार, दो शक्तियाँ परस्पर संघर्ष में एक नयी कला-दक्षता की उद्भावना करती हैं, जिसे संघर्ष का कला-विवेक कहा जाता है।

सी-1, न्यू मुल्तान नगर, नई दिल्ली



सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–

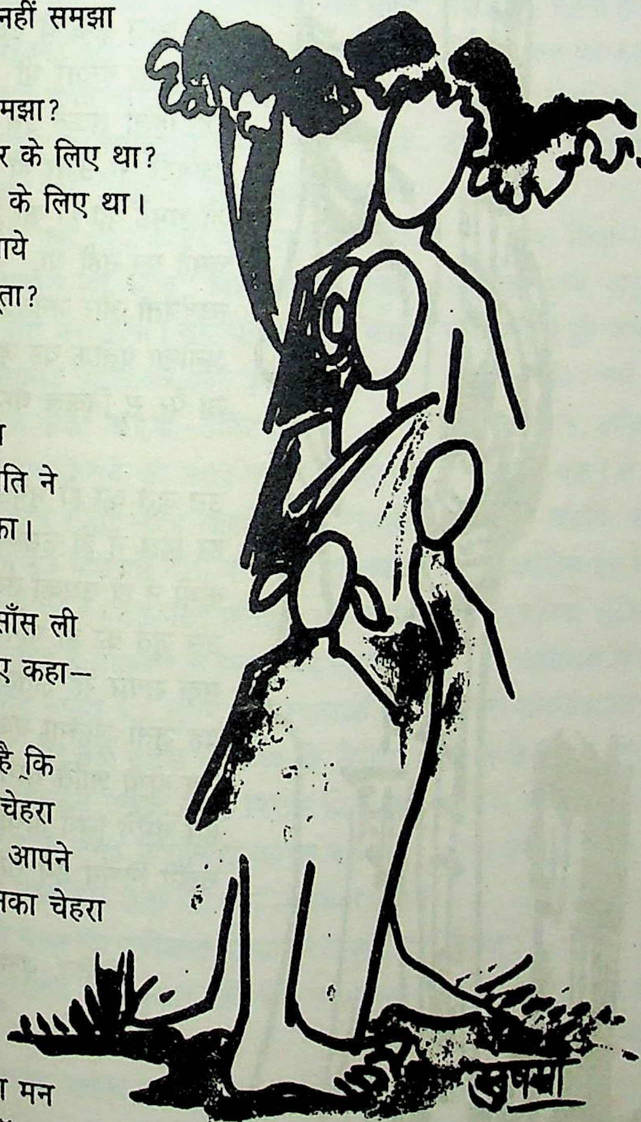
vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

वह जूता

खगेन्द्र ठाकुर

देखा था आपने उस दिन
वह जो जूते जैसा दिखा
वह क्या सचमुच जूता था?
दुनिया भर को वह जूता ही दिखा
दुनिया भर ने उसे जूता नहीं समझा
लेकिन प्रश्न यह है कि
जॉर्ज बुश ने उसे क्या समझा?
क्या वह जॉर्ज बुश के पैर के लिए था?
नहीं, वह तो उसके चेहरे के लिए था।
जो चेहरे को निशाना बनाये
वह कैसे हो सकता है जूता?

आपने देखा उस दिन
कितना अभ्यास किया था
महान अमेरिका के राष्ट्रपति ने
जूते का निशाना झेलने का।
साम्राज्यवाद के चहेतों ने
दुनिया भर में राहत की साँस ली
और लंबी साँस फेंकते हुए कहा–
धन्यवाद हे प्रभु!
यह तुम्हारा ही चमत्कार है कि
साफ़ बच गया जॉर्ज का चेहरा
लेकिन जॉर्ज बुश से पूछा आपने
जूते से बच गया क्या उसका चेहरा
कुछ देखिए ज़रा जॉर्ज से
वह न बोले सच-सच तो
उसका चेहरा देखिए
चेहरे पर अंकित है उसका मन
उसका चेहरा जैसे है लैपटॉप
चेहरे पर जूतां नहीं,
लिखा है भीतर मार करने वाला मिसाइल
जैसे वह चेहरा न होकर हो गया
वर्ल्ड ट्रेड सेंटर का सूचना-पट्ट,



जॉर्ज बुश की आँखों में देखिए
डूबता हुआ अमरीकी जहाज़
वह विश्व-विजेता गर्व से मदमाता
काँपता हुआ क्यों था?
वह हाँफता हुआ क्यों था?
वह हल्का-सा जूता ही तो था
लेकिन जॉर्ज की आँखें कहती हैं–
नहीं, वह जूता नहीं था
उसने पैर से विद्रोह कर दिया था
जूते के आकार में
कुछ और ही था वह
प्रकार कुछ भिन्न था
जूते के आकार से

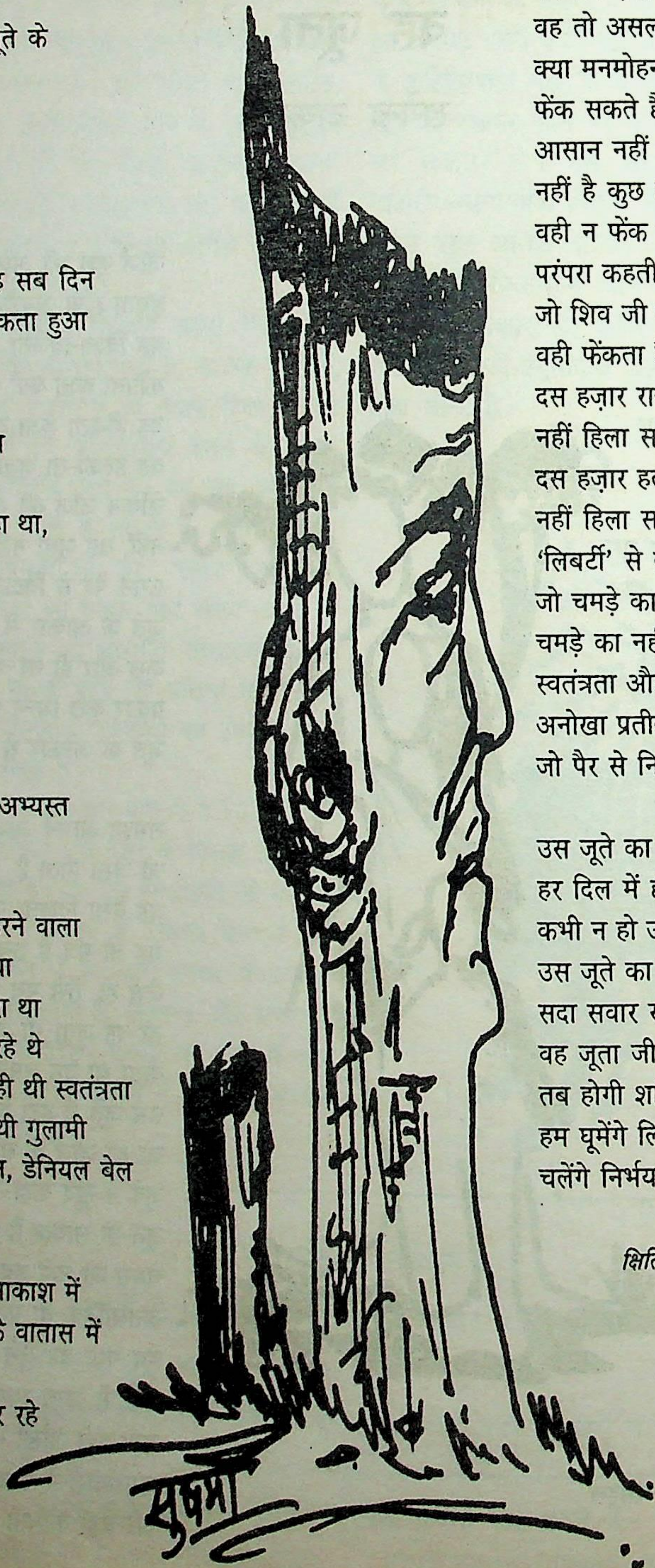
समझा आपने आज के युग का तक़ाज़ा
जो जैसा होता है
वह वैसा दिखता नहीं है
यह तो मंत्र है उन्हीं का
जैसे हो, तैसे मत दिखो,
तो वह जूता भी जूते जैसा नहीं दिखा
कैसा था वह समझो तुम
उस जूते ने हटा दिया मुखौटा
जो था जॉर्ज के चेहरे पर
जूते ने खुद कहा–
जूते के लायक है वह चेहरा
चेहरा जो नहीं डूबा
अतलांतिक या प्रशांत में
डूब गया वह जूते के डर से
छोटे से अरब सागर की
बड़ी-बड़ी आँखों में
समझदारों ने कहा–
अरे बड़ा क़ीमती है वह जूता

ज़ाहिर है बाज़ार के दबाव में
और स्वतंत्रता के तक़ाज़े में
वे लगाने लगे मोल जूते का
बहुतेरे चहेते निकल आये जूते के
आहत जनता का जूता
जो फेंका गया हत्यारे पर
अनमोल हो गया वह

जूते को चाहे जो ख़रीदे-बेचे
लेकिन इतिहास में रहेगा वह सब दिन
स्वतंत्रता की पॉलिश से चमकता हुआ
कहाँ बना था वह जूता
आज तक नहीं बना
किसी कारखाने में ऐसा जूता
जो आदमी का पैर नहीं
तानाशाह का चेहरा खोज रहा था,
क्या वह चमड़े से बना था?
वह तो ढला था
स्वतंत्र-चेता मन में
इसीलिए लगता था वह
उन्मुक्त मन के आकार का

ऐसे जूते की मार खाने का अभ्यस्त
भौतिक चोट से बचकर भी
क्या बच सका चोट से?
दुनिया भर को आतंकित करने वाला
खुद इतना आतंकित क्यों था
सद्दाम तो ज़रा भी नहीं डरा था
जब जल्लाद उसे फाँसी दे रहे थे
सद्दाम की आँखों में तैर रही थी स्वतंत्रता
बुश की आँखों में डूब रही थी गुलामी
देख लें, फुकुयामा, हटिंगटन, डेनियल बेल
इतिहास का नया अध्याय
लिखा जाता है जूते से
मनुष्यता और जनतंत्र के आकाश में
फैल रहा है वह स्वतंत्रता के वातास में

मैं चाहता हूँ, वह जूता अमर रहे
वह जूता अविनश्वर हो
सदा निवास करे वह जूता
मेरे दिल में,
मेरे हाथों में हो वह शक्ति



फेंक सके जो वह जूता
हत्या, गुलामी और लूट पर
पत्रकार ज़ैदी ने जो फेंका जूता
वह तो असल में संप्रभु इराक़ ने फेंका था
क्या मनमोहन सिंह और आडवाणी
फेंक सकते हैं वह जूता!
आसान नहीं है जूता फेंकना इन पर
नहीं है कुछ लेना-देना बुश जैसों से
वही न फेंक सकता है उस पर जूता,
परंपरा कहती है
जो शिव जी का धनुष तोड़ता है
वही फेंकता है जूता बुश पर
दस हज़ार राजे भी
नहीं हिला सके थे उसे
दस हज़ार हत्यारे भी
नहीं हिला सकते इसे
'लिबर्टी' से ऊपर हो गया वह जूता
जो चमड़े का हो कर भी
चमड़े का नहीं था,
स्वतंत्रता और जनतंत्र का
अनोखा प्रतीक वह जूता
जो पैर से निकल चेहरा ढूँढ रहा था,

उस जूते का हो भूमंडलीकरण
हर दिल में हो उसका निजीकरण
कभी न हो उसका उदारीकरण
उस जूते का हो मानवीकरण
सदा सवार रहे इतिहास पर वह जूता,
वह जूता जीतेगा एक दिन
तब होगी शांति चारों ओर
हम घूमेंगे लिये हाथों में हाथ
चलेंगे निर्भय हम साथ-साथ

क्षितिज, जनशक्ति कॉलोनी, पथ सं0-24
राजीव नगर, पटना-800024

अपना ख़्याल रखना

सुषमा मुनीन्द्र

मैं संजना। पूर्ण स्वस्थ। उम्र सत्ताइस साल सैरोगेट मदर बनने को तैयार। ज़रूरतमंद इस मोबाइल नंबर या ई-मेल आई-डी पर संपर्क करें...

अख़बार का विज्ञापन वाला पन्ना बाँच रहा सुगम पूरी तरह चौंक गया। वह विज्ञापन वाला पन्ना रुचि से देखता है। किस शॉप में पुराने के बदले नया प्रोडक्ट मिल रहा है, कहाँ सेल लगी है, मर्दाना कमज़ोरी के लिए कहाँ संपर्क करें, प्रॉपर्टी कहाँ बिकाऊ है, कहाँ गंजेपन का इलाज होता है, चमत्कारी सिद्ध अँगूठी कहाँ उपलब्ध है... सैरोगेट बनने को तैयार... जैसा खुल्लम-खुल्ला विज्ञापन वह पहली बार देख रहा था। यद्यपि यह उसके मतलब की सूचना थी, पर उसे विश्वास नहीं हुआ। विश्वास नहीं हुआ, जबकि विज्ञापन संपूर्ण चुनौती भरा लगा। यह भी लगा कि कोई बेवकूफ़ बना रहा है... ज़रूरतमंद संपर्क करें और ज़रूरतमंद संपर्क करेंगे, तो उधर से एक शब्द फेंका जाएगा—डैमिट।'

उसने पढ़ा है कि भारत किराये की कोख का बड़ा बाज़ार बनता जा रहा है। यहाँ पच्चीस हज़ार से दो लाख तक में किराये की कोख उपलब्ध हो जाती है। पश्चिमी देशों के दंपति इन्डियन सैरोगेट में ख़ासी दिलचस्पी ले रहे हैं। दस-पंद्रह प्रतिशत स्त्री-पुरुष बाँझपन से पीड़ित हैं और भारत में बाँझपन के इलाज का सालाना कारोबार पच्चीस हज़ार करोड़ रुपया है... सुगम इन सूचनाओं को परीकथा की तरह पढ़ता था और नहीं समझ पाता था कि सैरोगेट के लिए कहाँ संपर्क करे? उसे कैसे तलाशे? वह निराश होता था कि महानगरों की सुविधाएँ छोटी जगह में रहने के कारण वह नहीं पा सकता... अब विज्ञापन पढ़ते हुए लगा कि एक संभावना उस तक पहुँचना चाहती है। जी चाहा कि पारिजात के सामने अख़बार फैला दे—पारिजात, एक सैरोगेट हमें पुकार रही है। आजमाया जाए।

लेकिन वह पारिजात का जवाब जानता है—"आजमाने से कुछ हासिल नहीं होता।"

जवाब सुनकर सुगम असहाय हो जाता है। एकदम पिटा हुआ।

"यह कहकर तुम हौसला तोड़ देती हो। अपना भी, मेरा भी।"

"हौसले बचे हैं, जो..."

सचमुच हौसले ख़त्म करने के लिये पंद्रह बरस बहुत होते हैं।

सुगम ने अखबार को तहा कर मेज़ पर रख दिया। सैरोगेसी पर विचार करना है तो पारिजात से कुछ इस तरह बात करनी होगी कि वह बात का रुख़ बदल कर अभिप्राय न बिगाड़ पाए। वस्तुतः पारिजात चीज़ों को वास्तविकता में न देखकर अवास्तविकता में देखने लगी है, जिससे उसे वास्तविक चीज़ें भी अवास्तविक जान पड़ती हैं।

एक शिशु—यह सपना पूरे घर की हवा, प्रकाश, नमी, अंतरिक्ष, दृश्य, अदृश्य पर काबिज़ होता गया है। घर, घर नहीं, सूनी खाली सी जगह की तरह जान पड़ता है। दांपत्य अब तक परिवार का रूप नहीं ले पाया। संबंधों में सावधानी, बल्कि औपचारिकता, बल्कि कृत्रिमता, बल्कि इस क़दर जड़ता आती गयी है कि कुछ कहने से पहले सुगम बातों में एक तराश और सावधानी भरता है, जबकि पारिजात कुछ कहना नहीं चाहती। फैलोपियन ट्यूब ब्लॉकेज-इन चिकित्सकीय शब्दों से जूझने के लिए पारिजात को आणविक शक्ति नहीं, एक शिशु चाहिए।

पारिजात की अढ़तीस साल की ज़िंदगी में लाल तिकोन ने अपना समाजशास्त्र ग़ज़ब का बदला। दो या तीन बच्चे, होते हैं घर में अच्छे। फिर तीसरे का बायकाट। हम दो हमारे दो। दूसरे पर पाबंदी हम दो हमारा एक। पारिजात कहती—"अगला स्लोगन होगा-हम दो हमारे कुछ नहीं।"

उसे आभास न था कि यह स्लोगन उसके हिस्से का सच बनेगा।

हर परिवार के रहन-सहन, संस्कृति, राजनीति में फ़र्क़ होता है, पर कुछ बातें एक सी होती हैं। सुगम के संतान क्यों नहीं हो रही है, इस पर कुटुंब एनर्जी लगाने लगा।

—हम सभी के बच्चे हैं, इन्हें देख कर अफ़सोस होता है।

—अभी तो शादी को छह साल ही हुए हैं। लोगों के अठारह बीस साल बाद बच्चे होते पाये गये हैं। गाँव के मास्टर साहब के रिटायरमेन्ट को चार साल बचे थे, तब बेटा हुआ।

—बच्चे भगवान की देन हैं। मालिक की जब मर्ज़ी होती है,

दे देता है।

—मालिक की मर्ज़ी के भरोसे न बैठो। डॉक्टर को दिखाओ।

सुगम और पारिजात डॉक्टर से मिले।

तेज़ स्वभाव की महिला चिकित्सक ने तेज़ स्वर में कहा—"छह साल? कोई देर नहीं हुई है। फ़ास्ट लाइफ़, फ़ास्ट स्पीड, प्रोलांग वर्किंग आवर्स, लेट मैरिजेज़ आदि कारणों से नपुंसकता का प्रतिशत बढ़ा है, पर अच्छी बात यह है कि चिकित्सा विज्ञान ने अपार प्रगति की है। समझिए अब गर्भ धारण और गर्भपात भगवान के नहीं, विज्ञान के हाथ में है...

—आप माँ बनेंगी। कुछ टेस्ट कराने होंगे...."

आश्वासन पर पारिजात स्वप्नशील होने लगी थी, पर टेस्ट-रिपोर्ट ने सदमा दिया।

रिपोर्ट का अवलोकन कर चिकित्सक बोली, "कुछ चिकित्सकों का मानना है कि स्पष्ट बात कर पेशेन्ट को मानसिक संघात नहीं देना चाहिए, जबकि मेरा मानना है कि मरीज़ को वास्तविकता और सच्चाई बतानी चाहिए कि वह वास्तविकता को स्वीकार कर डॉक्टर को सहयोग दे। मरीज़ के एफ़र्ट्स अच्छे हों, तो डॉक्टर का काम आसान हो जाता है... तो, पारिजात जी, आपके पति एकदम नॉर्मल हैं। आपकी फ़ैलोपियन ट्यूब बंद है। छोटी सी सर्जरी होगी, फिर आप माँ बनेंगी।"

अपने दोष पर परास्त होते हुए पारिजात की आँखें डबडबा आयीं।

चिकित्सक ने तेज़ी दिखायी, "रोने जैसा क्या है? आप ऐसे समय में रह रही हैं, जब मेडिकल साइंस का पूरा लाभ आपको मिलेगा। उन स्त्रियों का ख़्याल कीजिए, जो बिना इलाज़ के भगवान भरोसे बैठ कर बाँझ होने का सामाजिक कलंक और मानसिक सदमा सहन करती थीं। कम पुरुष में हो, पर बाँझ स्त्री ही कही जाती थी। हौसला रखिए।"

पारिजात हौसला रखती, यदि शल्य-चिकित्सा में व्यय हुई भारी रकम और मानसिक-शारीरिक यंत्रणा एक अच्छा परिणाम देती। विफलता ने उसे असंतुलित कर दिया और उसने चीज़ों को उनकी वास्तविकता में देखना छोड़ दिया। उसकी प्रज्ञा, चेतना, ऊर्जा, एकाग्रता इस तथ्य पर स्थिर होती गयी कि वह माँ कैसे बने? वह जब भी लाल बत्ती चौराहे पर रुकती, कार की खिड़की पर भिक्षा के लिए जुट गये बच्चों को देख सुगम से कहती, "ये भिखारिनें किस तेज़ी से बच्चे जन रही हैं। जो पैदा हो चुके हैं, उन्हें रोटी-कपड़ा नहीं है, इन्हें क्या देंगी?"

फिर न ज़ाने कब कहने लगी, "इनमें से किसी तंदरुस्त बच्चे को अगवा कर लूँ और नहला-धुला कर अच्छे कपड़े पहना कर सजाऊँ।"

सुगम उसे स्वप्नशील होते देखता रहता। इसके चेहरे, आँखों, मुद्रा में सिर्फ़ ममता है। एक शिशु इसे रोमांच और उन्माद से भर सकता है, तो अब और कितनी प्रतीक्षा ? सोचना होगा।

पारिजात जब तुम तंदरुस्त बच्चे को अगवा करने की बात कर रही थीं, मुझे ख़्याल आया कि हमें बच्चा गोद ले लेना चाहिए।"

सुगम का मानना था कि उसने पारिजात के पक्ष की बात की है, पर यह पारिजात भिन्न थी, जो शिशु भिक्षुक को अगवा करने जैसी उदारता से गुजरी थी, "सुगम-मैंने उम्मीद नहीं छोड़ी है। मुझे अपने बच्चे की उत्कट चाह है। शायद तुम समझ नहीं रहे हो। दोष मेरे भीतर है, इसलिए यह चाह बढ़ती जा रही है। यह इतनी बलवती है कि मैं दत्तक के साथ न्याय नहीं कर पाऊँगी।"

"एक यही वजह है?"

"वजहें और भी हैं। यह भी कि बच्चा कहाँ से लिया जाए?"

"मेरी छोटी बहन ओमी की तीन बेटियाँ हैं। वह संकेत दे चुकी है कि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। हम उसकी छोटी बेटी को गोद ले लें, तो बच्ची की ज़िंदगी बन जाएगी।"

संपूर्ति के इस तरीक़े पर पारिजात निराश हुई, "ओमी परोपकारी रहेगी और हम दबे रहेंगे। बच्ची इस अहसास से मुक्त नहीं रहेगी कि उसके जैविक माता-पिता हम नहीं ओमी है। मैं जब भी ओमी से मिलूँगी तो लगेगा कि असली माँ ओमी है। ओमी दख़ल देती रहेगी कि मैं बच्ची को किस तरह रखूँ।"

"अनाथ बच्चे पर विचार करो।"

"तुम अपनी प्रगतिशील मानसिकता रखो अपने पास। मैं परेशान हूँ और ठीक ठीक नहीं जानती कि मुझे क्या करना है। अनाथ बच्चे के कुल-गोत्र का पता नहीं होता।"

बात सुगम को अनैतिक लगी, "कुल-गोत्र की क्या बात? संस्कार हम देंगे। बच्चे तो बच्चे होते हैं। पवित्र।"

"मैं पागल हो जाऊँगी।"

कुछ सुगम का शील-स्वभाव, कुछ पारिजात की भावनाओं का ख़्याल। वह चुप हो जाता।

पारिजात अपना दुख लिये पड़ी थी। उन्हीं दिनों इंदौर में रह रही उसकी बहन ने इंदौर की एक महिला चिकित्सक की जानकारी दी। डॉ० नेली मित्तल ने इनफ़र्टीलिटी के सैकड़ों केस हैन्डिल किये हैं। एक लेडी माँ नहीं बन पा रही थी। मित्तल ने कृत्रिम तरीके से गर्भ-धारण कराया। भगवान की लीला, एक साथ तीन फ़ीटस तैयार हो रहे थे। तीन माह बाद एक फ़ीटस डेड हो गया। वह शेष दो को क्षति पहुँचा सकता था। मित्तल ने उस डेड फ़ीटस को इस सावधानी से ख़त्म किया कि शेष दोनों डिवेलपिंग फ़ीटस सुरक्षित रहें। वह लेडी जुड़वा बेटों की माँ बनीं।

"पारिजात, तुम डॉ० मित्तल से परामर्श क्यों नहीं लेतीं? इंदौर आओ और देखो इस यंग लेडी डॉक्टर की कैसी ख्याति है। समझ लो कि यहाँ उपचार चमत्कार की तरह होता है,"—सूचना ने पारिजात को ऊर्जस्वित कर दिया। लगा कि सपने कभी नहीं

मरते। यकीन कभी ख़त्म नहीं होता।

सुगम और पारिजात उस अलौकिक उपचार केंद्र में जा पहुँचे, जहाँ उपचार चमत्कार की तरह किया जाता था और डॉ0 नेली मित्तल को लगभग अकल्पित जुड़वों को दुनिया में लाने की ख्याति प्राप्त थी। पुराने डाक्यूमेन्ट्स को तिरस्कार की सी मुद्रा में देख रही डॉ0 मित्तल ने कहा—किस डॉक्टर ने सर्जरी की है? ब्लॉकेज गया नहीं है। पारिजात जी, यह सर्जरी खिलवाड़ नहीं है। मुझ पर विश्वास करें और अपना माइंड मेकअप करें... आप माँ बनेंगी—इस ख़्याल को दिमाग़ से न हटने दे... विल पावर पर बहुत कुछ निर्भर करता है... कुछ जाँचें करानी होंगी...''

पारिजात के लिए यह एक और सदमा था। किस चिकित्सक पर विश्वास करे और किस सीमा तक करे?

परीक्षण और यंत्रणा। औषधि और औजार। बेहद मँहगे इंजेक्शन। चिकित्सक द्वारा तय की गयी तिथियों पर इंदौर आते-जाते लगभग डेढ़ वर्ष पारिजात चिकित्सक की देख-रेख में रही। आर्टीफ़ीशियल इनसेमिनेशन। पहला प्रयोग असफल, पर दूसरा सफल। छह हफ़्ते के भ्रूण ने पारिजात को असाधारण अनुभति दी।

डा0 मित्तल ने हौसला दिया—''पारिजात जी, आपको ध्यान रखना है कि गर्भस्थ शिशु को अनुकूल स्थिति मिले और वह अपना गर्भकाल पूरा करे। सुगम जी, आप इन्हें भरपूर आराम देंगे और खुश रखेंगे।''

चेहरे की लौट आयी चमक के साथ पारिजात का समय विस्तर पर अच्छा बीत जाता, यदि दस हफ़्ते का भ्रूण विसर्जित न हो जाता। वे निर्मम क्षण थे। पैसा, समय, एकाग्रता लगा कर भी ध्येय हासिल न हुआ। नाउम्मीदी क्लेश देती है और उम्मीद के बाद की नाउम्मीदी हौसले तोड़ देती है।

''मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ सुगम?''

ध्वंस ने सुगम को भी अवाक किया था, ''तुम्हें आराम की ज़रूरत है।''

''यह मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है।''

''कुछ प्रश्नों के उत्तर नहीं होते।''

''डॉक्टर मित्तल से पूछो कि मुझे क्यों ठगा? जब कुछ नहीं होना, तो चिकित्सक भ्रम क्यों देते हैं?''

फ़ोन पर सांत्वना देती डॉ0 मित्तल का जवाब व्यवसायिक था—''सुगम जी मिसकैरेज को सामान्य रूप में लें। प्रयोग एक-दो बार असफल हो सकता है—यह मैंने नहीं बताया था कि आप लोगों का मनोबल कमज़ोर होगा। कई बार ऐसा होता है कि अनुमान कुछ, प्रयास कुछ, परिणाम कुछ। अब एक-दो साल तक पारिजात जी को आराम की सलाह दूँगी, ताकि उनका शरीर अगले प्रयोग के लिए तैयार हो जाए। ये प्रयोग बहुत जल्दी-जल्दी नहीं किये जाते। अगली बार सफलता निश्चित है। देखिए, हमें निराशा से नहीं, आशा से प्रेरित होना चाहिए।''

वक़्त था पारिजात को सहयोग और साहस देने का, पर नातेदार उलाहना दे रहे थे। कोई न कोई फ़ोन पर होता—''सुगम, तुम्हें हमसे सलाह लेनी नहीं है। फूँक दिया इतना पैसा...देख तो नतीजा, पारिजात चक्कर खाती हुई बिस्तर पर पड़ी है। पहले स्वस्थ तो थी।''

''धन गया...धरम भी। चिकित्सक पैसा लूटते हैं। बस कौन जाने इलाज़ सही करते हैं या नहीं।''

''बहुत कुछ भगवान की मर्ज़ी पर छोड़ना पड़ता है। जो होना था हो गया।''

''पहले कहा था, फिर कहते हैं कि हम सभी भाई-बहनों के बच्चे हैं, किसी को गोद ले लो। गोद न लो, तब भी जिसे अपना मानोगे, वही सहारा बनेगा। बुढ़ापे की लाठी।''

''भैया, मेरी बच्ची को लेकर क्या सोचा? तुम्हें संतान-सुख मिलेगा, बच्ची की ज़िंदगी बन जाएगी।''

और कितना इंतज़ार करोगे? उम्र बीत जाएगी। यही वक़्त है बच्चा गोद लेने का, ताकि रिटायरमेन्ट के पहले उसे सैटिल कर दो।''

सुगम ओमी का संदेश पारिजात को देना चाहता था, पर पारिजात के आँखों के डार्क सर्कल और निस्तेज मुख कुछ कहने न देते। फ़िलहाल एडॉप्शन जैसा कुछ कहना पारिजात का दिल तोड़ने वाली बात होगी। वह देख रहा था कि लोगों की बातें सायास-अनायास पारिजात तक पहुँचती हैं और वह चुप्पी बढ़ा लेती है।

पारिजात ने एक दिन चुप्पी तोड़ी—''सुगम, मेरे असमंजस ख़त्म नहीं होते। तुम पिता बनने की क्षमता रखते हो और तुम्हें पिता बनने का हक़ है, पर... दरअसल, डॉ. मित्तल का मेरे पास कॉल आया है। कह रही थी कि दो बरस होने को हैं, मेरा शरीर प्रयोग के लिए तैयार हो चुका होगा। एक कोशिश की जानी चाहिए।''

सुगम पारिजात को देखता भर रहा। तो, डॉ. मित्तल के कॉल ने इसकी चुप्पी तोड़ी है? इस बीच पता नहीं क्या चलता रहा इसके मन में। बोला—''सच कहूँ तो मुझे ये प्रयोग क्रूर ही नहीं कुरूप लगते हैं। तुम कितने परीक्षण, कितनी यंत्रणाओं से गुज़रीं और परिणाम था मिसकैरेज। अब तुम्हारी जो शारीरिक और मानसिक स्थिति है, उसे देखते हुए मैं और प्रयोग नहीं करना चाहता।''

''पता नहीं कैसा श्राप है जो... डॉक्टर बोलीं कि यदि इस बार भी सफलता नहीं मिलती है, तो हम सैरोगेसी पर विचार करें। किसी रिश्तेदार स्त्री को तैयार कर सकते हैं या कमर्शियल सैरोगेट की मदद ले सकते हैं। इस विधि में पैसा लगेगा, तो हमारे पास पर्याप्त पैसा है। जब कोई होगा ही नहीं, तो पैसे का क्या करेंगे?''

सुगम क्या जवाब दे? सुगम के लिए वह समय कठिन होता

है जब पारिजात चुप्पी तोड़ती है। वह तर्क को तर्क से काटना चाहता है, पर तर्क की काट नहीं मिलती। वह जानता है कि तर्क पारिजात को फिर गहरी चुप्पी में ले जाएँगे। बोला, "हाँ, सैरोगेसी की संकल्पना की जाने लगी है, पर कौन तैयार होगी?"

पारिजात स्वप्नशील होने लगी, "तो तुम विचार करना चाहते हो? कुछ मामले में सचमुच तुम पुरुष महिलाओं से अधिक समझौतावादी होते हो। हमें सोचना होगा।"

कुल मिलाकर तीन स्त्रियाँ दिखायी दीं, जो सैरोगेसी के लिए उपयुक्त हो सकती थीं। पारिजात की दो छोटी बहनें और सुगम की बहन ओमी। उलझन थी कि कैसे कहा जाए कि तुम हमारे लिए दर्द उठाओ। स्वार्थ झलकता था। और जब कहा गया, तब साबित हो गया कि विचारों में हम कितना ही उदारीकरण भर लें भीतर की संकीर्णता, अंतर्द्वंद, अंतर्विरोध ख़त्म नहीं होते। पारिजात की एक बहन अपने उच्च्य रक्तचाप को लेकर साफ़ बच निकली कि दो बच्चों में वह बहुत परेशान हो चुकी है। दूसरी बहन ने अपने पति की आड़ ली—"ये कहते हैं कि दो छोटे बच्चे हैं, उनकी केयर नहीं हो सकेगी। इस प्रक्रिया में काफ़ी समय लग सकता है। पारिवारिक नियमितता प्रभावित होगी। दीदी, तुम तो जानती हो इनके तुग़लकी फ़रमान के आगे मेरी नहीं चलती।"

ओमी सबसे तेज़ निकली "भैया, बच्चा मुझसे ही चाहिए, तो मेरी बच्ची क्या बुरी है। आज से तुम्हारी हुई।"

चिकित्सा-विज्ञान भले ही सबकी गोद भरने को तत्पर है, पर सैरोगेसी की संकल्पना क़स्बेनुमा जगहों में संदेह जगाती है। सुगम की बहुत बदनामी हो गयी कि उसकी नीयत पता नहीं क्या है। विशेष द्वेष यह सामने आया कि पारिजात की मुटल्ली बहनें त्याग को तैयार नहीं, तो ओमी क्यों हो? पारिजात के पक्ष वालों ने कहा बेटे की चाह में हुई इस अवांछित को ओमी पारिजात पर थोप कर उसका साम्राज्य हड़पना चाहती है।

पारिजात मोहभंग की दशा में।

सुगम ने स्वीकार किया कि अपने हिस्से की लड़ाई खुद लड़नी पड़ती है।

और, यह भी एक दिन आया, जब विकल्प ने दस्तक दी—मैं संजना। पूर्ण स्वस्थ। उम्र सत्ताइस साल। सैरोगेट बनने को तैयार...

विज्ञापन लगातार तीन दिन छपा और सुगम को आंदोलित कर गया। क्या महानगरों की संकल्पना क़स्बेनुमा जगहों में स्वीकार होने लगी है? संजना कौन है? आसपास के क्षेत्र की है? विज्ञापन फ़र्ज़ी तो नहीं? संपर्क करना चाहिए? सुगम को लगा कि वह व्यक्त नहीं करता, पर उसे बच्चे की उत्कट चाह है। वह पिता बनने की क्षमता रखता है, इसलिए चाह बढ़ जाती है। बच्चा उसके रूप, रंग, आचरण, व्यवहार से मेल खाए और उसके नाम, रक्त, साम्राज्य का वाहक बने। क्या पारिजात से बात करनी चाहिए? पर, मामला फ़र्ज़ी हुआ तो पारिजात की आँखें बरस जाएँगी—'सुगम तुम भी मुझे झाँसा देने लगे? जानते हो न, ऐसे मज़ाक मुझे अपनी ही नज़रों में हीन बनाते हैं?' तो पारिजात को बताने से पहले संजना के अस्तित्त्व का सत्यापन कर लेना चाहिए।

सत्यापन।

"हैलो ऽऽऽ"

"संजना जी?"

"हाँ"

"विज्ञापन पढ़ा"

"मदद चाहिए?"

"हाँ"

"मिलना चाहते हैं?"

"हाँ"

"पता नोट करें... "

"कब आऊँ?"

"जब चाहें, आने से पहले इसी नंबर पर कॉल करें।"

सुगम ने महसूस किया कि आवाज़ पेशेवर की तरह सधी हुई है।

अगले सप्ताह वह मिशन पर था। सौ किलोमीटर की सड़क-यात्रा उसने अकेले तय की। शास्त्री चौक पर उसने कार रोकी। संजना ने कहा था कि घर ढूँढने में परेशानी होगी। कॉल करने पर वह शास्त्री चौक आ जाएगी। सुगम ने मोबाइल से कॉल कर अपनी कार का रंग और नंबर बताया। दस मिनट के अंतर पर संजना आ गयी। अप्रैल की गर्मी या लोगों की नज़रों से बचने के लिए छाता ताने हुए थी।

अच्छी ऊँचाई, चेहरा कुछ ख़ास नहीं, पर चेहरे पर नमक। कुछ घबरायी-सी लड़की पेशेवर क़तई नहीं लग रही थी। वह ड्राइविंग सीट की खिड़की पर आ लगी, "आप सुगम जी...?

"हाँ"

"मैं संजना, चलिए"

सुगम ने सोचा था कि वह फ्रंट सीट पर बैठेगी, पर उसने पीछे की सीट में रुचि ली। कार का अनुकूल तापमान उसे भला लगा और वह धसक कर बैठ गयी।

"घर चलेंगे या कहीं और?" लड़की ने पूछा, तो सुगम को लगा कि यह छोटे-छोटे वाक्य ही बोलती है।

"जहाँ बिना व्यवधान के चर्चा हो सके।"

"तब घर चलिए। मैं हूँ और मेरी अंधी माँ, कुल दो प्राणी।"

घर में माँ-लड़की विश्वसनीय लगती है।

"आपकी माँ एक अजनबी को घर में पाकर अड़चन तो महसूस न करेंगी?"

"नहीं, उन्हें मालूम है... बस यहीं, पीपल के पेड़ के पास। आगे गली तंग है। पैदल चलना होगा।"

पीपल के पास कार रोकते हुये सुगम को ख़्याल आया कि बिना जाँच-पड़ताल के अकेला चला आया है। लड़की षडयंत्र तो न रचेगी? जो भी हो, ऐसे मामले में जोख़िम उठाना ही होगा।

तंग तिलस्मी गली और रहनुमा बनी संजना ने जिस घर का ताला खोला, कहना होगा कि वह बहुत छोटा घर था।

"माँ अंधी हैं तो ताला लगा कर जाना पड़ता है, आइए..." संजना ने बताना ज़रूरी समझा।

सुगम जहाँ दाख़िल हुआ वह घर नहीं, बल्कि सीमित जगह में पसरी गृहस्थी थी, जहाँ क़ायदे का एक सामान न था। संजना ने सुगम को चरमराते दीवान पर बैठने का संकेत किया और खुद फ़र्श पर बिछी चटाई पर बैठ गयी। दोनों अपनी-अपनी हद में ख़ामोश। सुगम ने वे क्षण उथल-पुथल में बिताये। संजना ने कुछ देर प्रतीक्षा की और समझ गयी श्रीगणेश का दारोमदार उसी पर है। बोली, "सोचा था कई कॉल आएँगी, पर आपकी ही आयी। लोगों ने शायद विज्ञापन नहीं पढ़ा।"

बदले में सुगम ने पूछा "आपका नाम संजना ही है न?"

"नहीं, पर आप मुझे इसी नाम से जानेंगे।"

"फ़ेक नेम"

"सावधानी"

"सोचती हैं कि कुछ ग़लत काम करेंगी?"

"निःसंतान को संतान देना ग़लत काम नहीं है। आप बैठें, मैं पानी लाती हूँ।"

संजना फूल के वजनी गिलास में पानी और ताँबे की रकाबी में पारले जी बिस्कुट ले आयी। सुगम ने बिस्कुट कुतरा, "आपकी एजुकेशन?"

"पढ़ाई में मन नहीं लगता था, मुश्किल से बी0कॉम0 किया। पिता जी आढ़त से सब्ज़ी लाकर फुटकर बेचते थे। माँ सिलाई कर कुछ पैसा बना लेती थीं। तीन लोगों का गुज़ारा हो जाता था। पिता जी रहे नहीं, माँ ने रो-रोकर आँखें फोड़ लीं। मैंने माँ की सिलाई मशीन सँभाल ली, पर छोटी-सी आमदनी में दिक़्क़त है। माँ की आँखों के इलाज़ के लिए रकम चाहिए।"

"पैसे के लिए सैरोगेट बनना चाहती हैं।"

"तभी न।"

"सैरोगेट बने की कल्पना कैसे हुई?"

"गुजरात वाली मौसी ने बताया। वे एन.आर.आई. दंपति के लिए सैरोगेट बन चुकी हैं। खाने-पीने, डिलीवरी, अस्पताल के खर्च के अलावा मौसी को डेढ़ लाख फ़ीस मिली थी। जानते हैं, मौसी ने उस पैसे से अपने कच्चे मकान को पक्का बनवा लिया। कहती हैं कि उन्होंने नहीं सोचा था कि उनके पास पक्का मकान होगा। मौसी फिर सैरोगेसी के लिए तैयार हैं। कहती हैं कि डेढ़-दो लाख और मिल जाएँ, तो मकान की ऊपरी मंज़िल बनवा कर किराये पर दे देंगी। मौसा खुश हैं कि किराये से नियमित आमदनी होने लगेगी।"

सुगम भ्रमित-सा बैठा रह गया, तो सैरोगेसी को स्त्रियाँ कारोबार की तरह देखने लगी हैं।

स्थापनाएँ इसी तरह सामाजिक रूप धारण कर लेती हैं।

"आपने मौसी से प्रेरणा ली?"

"मौसी कहती हैं कि अच्छे पैसे मिल जाते हैं और परोपकार हो जाता है।"

"यह आपका पहला केस होगा?"

"दूसरा।"

"वे भारतीय थे या विदेशी?"

"नैतिकता कहती है कि मैं बात को गुप्त रखूँ। यह ज़रूर रहा कि मैं बेवकूफ़ बन गयी। पच्चीस हज़ार मैं काम कर दिया।"

"वे जो भी थे, आपके संपर्क में कैसे आये?"

"मौसी के माध्यम से। मैं घबरा गयी थी। माँ ने तो हंगामा ही खड़ा कर दिया था। मौसी ने समझाया। आप सैरोगेसी पर विचार कर रहे हैं?"

सुगम को लगा कि लड़की स्वभावतः हाज़िरजवाब है और सौदा करने का अभ्यास भी। बोला—"तभी यहाँ हूँ।"

"आप मुझे बाध्य नहीं करेंगे कि मैं कौन-सी प्रक्रिया अपनाऊँ। स्पष्ट कहूँ, तो मैं प्राकृतिक तरीक़े से गर्भधारण करना चाहती हूँ। तब मैं बड़े शहर के बड़े अस्पताल के फेरे लगाते हुए बहुत परेशान हुई थी। गर्भाधान केंद्र जाना, गर्भाशय और अंडों की जाँच, आर्टीफ़ीशियल इनसेमिनेशन, बताओ कॉमर्शियल सैरोगेट हो या रिश्तेदार। पैसे के लिए काम कर रही हो या परोपकार, पेपर्स पर साइन कि बच्चे पर हक़ नहीं रखोगी। तमाम जटिलताएँ। यह मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना होती है। मैं डॉक्टरी तरीक़े से बचना चाहती हूँ। वहाँ सिर्फ़ यंत्र होते हैं। सैरोगेट भी यंत्र जैसा महत्त्व रखती है।"

संजना सुगम की ओर बिल्कुल नहीं देख रही थी। देखती, तो पाती कि सुगम का चेहरा ज़र्द हो रहा है। पैनिक अटैक जैसी स्थिति... शब्द मानों खो गये हैं। जवाब न पाकर जब संजना ने उसकी ओर देखा, तब उसे शब्द वापस मिले—"मैं समझा नहीं।"

"मैंने बौद्धिक क़िस्म की बात नहीं की, जो समझ में न आए। सोचते हैं कि आपकी पत्नी के हक़ पर डाका डालूँगी? मेरा इरादा नहीं। इरादा है कि आपको अपना बच्चा मिल जाए, मुझे अपना भुगतान। आप अस्पताल में होने वाले एक बड़े खर्च से बचेंगे। हमारे बीच लीगल पेपर्स नहीं रहेंगे, पर मैं नैतिक रूप से विश्वास दिलाती हूँ कि बच्चे पर दावा नहीं करूँगी।"

सुगम को बातें अस्वाभाविक नहीं पर असाधारण ज़रूर लग रही थीं। फिर भी इच्छा थी कि यह इसी तरह बोलती रहे और वह कायल हो जाए।

"यह तरीक़ा शोभा देगा?"

"शोभा तो वह भी न देगा, जब ढेर-सा रुपया जमा कर आप स्पर्म और अपनी पत्नी का एग देंगे। चिकित्सक से झूठ बोलेंगे कि मैं आपकी रिश्तेदार हूँ और पूरी मानसिक तैयारी के साथ कृत्रिम विधि से गर्भधारण करने को तैयार हूँ। तो, मुझे लगा कि इस बार मैं प्राकृतिक तरीक़े पर भरोसा करूँ। यह गुनाह नहीं। मैं न आपके पारिवारिक मूल्यों का अनादर करूँगी, न आपकी पत्नी का। यह भावनात्मक जुड़ाव, महानता, त्याग नहीं, एक सौदा है। फिर आप मुझे भूल जाएँगे और मैं आपको।"

"पश्चाताप नहीं होगा?"

"पश्चाताप ग़लती पर होता है। यह ग़लती नहीं है। ग़रीब घरों की लड़कियाँ मजबूरी में तन का सौदा करती हैं, अच्छे घरों की लड़कियाँ रोमांच या ऊँचे जीवन स्तर के लिए हाई प्रोफ़ाइल कॉल गर्ल बन जाती हैं। मैं तो नेक काम करूँगी।"

"बच्चे से मोह हो जाए तो?"

वह बेहद संतुलित नज़र रखती थी, "असंभव बात न होगी। पर मेरा निश्चय और संकल्प ही मेरी ताक़त है। कहें तो लिख कर दे दूँ स्टांप पेपर पर। सीधी सी बात है कि मैं अविवाहित हूँ, तो बच्चे पर दावे जैसी बात नहीं सोचूँगी। पहली बार ही मेरी काफ़ी बदनामी हो गयी थी। फिर भी, मैं कुटुंब की पहली विद्रोहिणी बनी, क्योंकि मुझे पैसों की ज़रूरत थी। तब से रिश्तेदार देखने नहीं आते कि हम माँ-बेटी ज़िंदा हैं या मर-खप गयीं। अच्छा यह है कि मैं ऐसे समय में जी रही हूँ, जब दुस्साहस को साहस की संज्ञा दी जाने लगी है। जायज़ हो न हो, प्रगतिशीलता के इस दौर में सब कुछ स्वीकार हो जाता है। कहना चाहिए ज़िंदगी की उठा-पटक इतनी बढ़ गयी है कि लोग ख़बर नहीं रखते कि कहाँ क्या हो रहा है।"

अब संजना में वह झिझक नहीं थी, जो कार की खिड़की से झाँकते हुए सुगम ने महसूस की थी।

"मुझे अपनी पत्नी से बात करनी होगी।"

"यह आपकी होशियारी है कि आप उन्हें कितनी अच्छी तरह समझा पाते हैं।"

"यदि पारिजात सहमत होती हैं, तो आप उनसे मिलना चाहेंगी?"

"वे चाहेंगी? न मिलना बेहतर। बिन देखे चेहरे कल्पना होते हैं, पर देखे हुए चेहरे सता सकते हैं।"

"हम योजना पर विचार करें, तो आपकी फ़ीस क्या होगी?"

"मेरे एकाउंट में डेढ़ लाख रुपये डालने होंगे। पच्चीस हज़ार पहले, बाक़ी जब बच्चा आपके सुपुर्द हो। मैं गर्भधारण न कर सकी या मिस कैरेज हो, वह दोष मेरा होगा। ऐसे समय के लिए मैं अपना त्याग पत्र तैयार रखूँगी। जो पैसा खर्च हो चुका होगा, उसके अलावा एडवांस आपको लौटा दूँगी।"

अब लड़की व्यावसायिक लग रही थी।

साधारण चेहरे वाली साधारण-सी लड़की ने इस एकमुश्त समय में कितने भाव बदले।

"आपके तर्क और विचार अद्‌भुत हैं।"

"मैं झूठी या बनावटी बातें नहीं करती, क्योंकि मेरे पास खोने को कुछ नहीं है। जबकि स्पष्ट बात करने से कुछ हासिल होता है।"

"मुझे लगता है कि मैं सही जगह पर आया हूँ।"

"मुझे लगता है कि मैं आपके काम आ सकती हूँ।"

वापसी पर सुगम तरंग में था। अगूढ़ रहस्य खुल रहा है, यही कि पिता बनने का जुनून उसकी प्रज्ञा, चेतना में न जाने कब से था, जिसे प्रकटीकरण का मौक़ा न मिला था। पर, अब कुछ नायाब घटने को है। वह पिता बन सकता है। चिकित्सकीय प्रयोग की भाँति प्राकृतिक तरीक़ा जटिल नहीं है, पर ऐसी प्रक्रिया है, जिससे व्यक्ति के चरित्र की शुद्धता-अशुद्धता तय होती है। पारिजात भड़क सकती है कि व्यभिचार का यह कौन-सा तरीक़ा है? या इश्क विश्क तो नहीं है? या सब तय करने के बाद मुझे सूचना दे रहे हो? सामाजिक-नैतिक-क़ानूनी तौर पर जो अपराध है, उसकी आज़ादी दूँ? और क्या पता कि मुद्दत बाद स्वप्नशील हो उठे—'सुगम चाहे जिस तरह, पर मैं माँ बनना चाहती हूँ। मेरा स्वभाव और संस्कार कहते हैं कि मैं माँ बनूँ। सामाजिक धारणाएं तेज़ी से बदल रही हैं, मत सोचो यह अपराध होगा।

यही हुआ।

तथ्य बताते हुये सुगम ने उदासीन रहने की कोशिश की, पर वह अपनी बड़ी हुई उत्सुकता को न रोक सका। पारिजात ने तथ्य से अधिक उसकी उत्सुकता को लक्ष्य किया। सुगम के चेहरे की उत्सुकता इसके भीतर की सच्चाई है। यह यत्न से दबाता रहा है, पर पिता बनने की चाह इसे है। दोष मेरे भीतर है और वंचित यह भी है। तो यह एक मौक़ा है, जब यह पिता बन सकता है। पारिजात को याद आयी अपनी अक्षमता, वंचना, दीनता, उपहास, यातना। यही है मौक़ा लोगों को दिखाने का कि वह माँ बन सकती है। उसका स्वर्ग, उसकी कायनात, विजय, मोक्ष यही होगा। यह भी लगा कि सुगम को रोक कर एकाधिकार ही नहीं, स्वार्थ का भी प्रदर्शन करेगी। वह इस तरह कहने लगी मानो कोई अनोखी बात कहने न जा रही हो—"सुगम, ईश्वर का न्याय मेरी समझ में नहीं आता। हमारे पास पैसा है, तो बच्चा नहीं, संजना के पास बच्चे को जन्म देने की क्षमता है, पैसा नहीं। तो यह एक मौक़ा है। हम सैरोगेट कहाँ ढूँढें? और सफलता मिले न मिले।"

सुगम पारिजात को देखता रह गया। विकल्प की संभावना ने इसे उदार बना दिया है या दोष बोध ने? पर...

"मत सोचो। मैं माँ बनना चाहती हूँ। इस तरह, तो यही सही। नियोग प्रथा के बारे में सुना है न? राजा-महाराजा- देवताओं ने इस प्रथा का सहारा लिया। हम तो साधारण जीव हैं। थोड़ा-सा अंतर है। पुरुष सक्षम न हो, तो स्त्री नियोग का सहारा लेती थी।

हाँ मैं सक्षम नहीं हूँ और ......ग्लानि में जीती हूँ सुगम, आजमाया गए।"

पारिजात अद्‌भुत रूप में थी। इसने तो आजमाना छोड़ दिया है। ख़ुद को शायद नये सिरे से तैयार कर रही है।

'संजना पर भरोसा करना चाहिए?'

'हाँ मुझे लगता है वह फ़ेयर लड़की है। हमारे कुछ संदेह हैं, तो उसके भी होंगे। हम उस पर भरोसा नहीं कर पा रहे हैं, तो वह भी नहीं कर पा रही होगी। हमारी तरह उसे भी ऐसी स्थिति से गुज़रना पड़ सकता है, जिसका अनुमान उसे नहीं होगा। फिर भी वह साहस रखती है, तो हमें भी रखना होगा। महत्त्व की बात इतनी है कि मुझे बच्चा चाहिए।"

"पर हमारे संबंधों में बदलाव नहीं आना चाहिए। तुम्हारी भावनाओं का ख़्याल रखना मेरे लिए बहुत मूल्यवान है।"

"मुझे बच्चा चाहिए सुगम, मैं संजना से मिलना चाहती हूँ।"

"संजना का मानना है कि तुम उससे न मिलो। देखे हुए चेहरे बरबस याद आते हैं। स्नेह से, दया से, द्वेष से, क्रोध से, प्रतिद्वंता से।"

"हाँ यह है।"

सुगम ने संजना का नंबर मिलाया तो संजना ने कुछ हताशा, कुछ उलाहना के स्वर में कहा, "मुझे लगा आप प्लान नहीं कर सके।"

"मैंने पारिजात को सोचने का पूरा समय दिया। वह खुश है। आपने अपनी माँ से अनुमति ली?"

"हाँ, उन्हें मेरी गतिविधियों की जानकारी रहती है।"

"मिलता हूँ।"

सुगम इस बार भी लोकेशन याद न रख सका। छाता ताने हुए संजना चौराहे पर आयी। इस बार भी उसकी अंधी माँ किसी खोह में ग़ायब। इस बार भी संजना पानी और पारले जी बिस्कुट लायी। सुगम ने शुरूआती तारतम्य बनाते हुए पच्चीस हज़ार उसके सामने रखे, "लीजिए।"

"हमारे खाते में जमा करें। इतनी बड़ी रकम मैं घर में नहीं रखती। ज़रूरत होगी तो निकाल लूँगी।"

लड़की पर भरोसा होता है। वरना यहाँ कोई प्रत्यक्षदर्शी नहीं है कि मैंने पैसे दिये, इसने हड़प लिये।

"कुछ सोचा आपने?"

"सोचना आपको है। आप इतनी दूर बार-बार आ न सकेंगे। अच्छा होगा कि अपने शहर में मेरे और माँ के लिए किराये पर छोटा-सा घर ले लें। गर्भ ठहरते ही मैं अपने घर लौट आऊँगी। आप कुशलक्षेम लेते रहेंगे। जानकारी दे दूँ कि मैं एकदम स्वस्थ हूँ, कभी कोई गंभीर बीमारी नहीं हुई।"

"मैं उपकार नहीं भूलूँगा।"

"उपकार, त्याग, महानता जैसी संज्ञा न दें। उद्‌देश्य कह सकते हैं।"

एकांत जगह में किया गया इंतज़ाम संजना को अच्छा लगा। बोली, "अच्छी जगह है।"

"रसोई में खाना बनाने का सामान रखवा दिया है। आगे जो ज़रूरत हो, बताएँ।"

"ज़रूर।"

पश्चात तीन माह। गर्भ की पुष्टि। इस नायाब घटना पर सुगम ने भगवान को सुमिरा–शिशु अपना गर्भकाल सुरक्षित पूरा कर मेरे हिस्से की कायनात को अपनी किलकारियों से भरे। किसी अधिकार के वशीभूत वह संजना को परामर्श देने लगा–"अब आपको सावधानी रखनी है, अपनी सेहत का ध्यान रखना है, डाइट चार्ट... समय पर मेडीकल कन्सल्ट...

"मैं आपकी तरह कोविद नहीं, पर जानती हूँ कि क्या सावधानी रखनी है। मैं अपने एकांत में भी आपके बच्चे का ख़्याल रखूँगी, यह मेरी नैतिक ज़िम्मेदारी है और मैं जानती हूँ कि मैं ईमानदार हूँ। आप धीरज और एकाग्रता बनाये रखें।"

संजना हार्ड टास्क मास्टर बॉस की तरह कठोर नज़र आयी। सुगम सकुचा गया। उसे अपने व्यवहार में ख़ुदगर्जी जान पड़ी। लगा कि आगे कुछ कहकर संजना को मानसिक आघात देगा। आग्रह-सा किया–"नहीं... हाँ... सोचता हूँ, आपके एकाउन्ट में कुछ पैसे डाल दूँ।"

"पच्चीस आप जमा कर चुके हैं। यहाँ का पूरा खर्च आपने वहन किया है। पच्चीस और जमा कर दें। शेष भुगतान काम होने पर। माँ घर लौटना चाहती है। हमारे जाने का प्रबंध कर दें। कुशलक्षेम जानने के लिए जब आना चाहें, आ सकते हैं।"

संजना की तटस्थता देख सुगम सकुचा गया। इसे नहीं लगना चाहिए कि इसका इस्तेमाल किया गया है। अब सब कुछ इसके हाथ में है। यह विचार कुछ ख़ास जमा नहीं फिर भी सुगम को लगा कि संजना उसके बच्चे को अगवा करके लिये जा रही है।

इस अवधि में सुगम और पारिजात के संबंध कुछ बदलाव से गुज़रे। पारिजात पूछना चाहती थी कि सुगम तुम्हारा अनुभव कैसा रहा? डॉक्टरी परीक्षण से गुज़रते हुए यांत्रिक भाव प्रधान होता है... यहाँ आकर्षण जैसा भाव रहा? यदि सुगम कह देगा हाँ, तो वह ध्यान और धीरज ध्वंस करने जैसी बात होगी और यदि कहेगा कि यह काम मनोरंजन के लिए नहीं, एक उद्‌देश्य के लिए किया गया है और तुम्हें विश्वास में लेकर किया गया है, तो तुम अमर्यादित सवाल क्यों करती हो तो वह भी ध्यान और धीरज ध्वंस करने जैसी बात होगी। तो उसने इस प्रकार कहा–"सुगम हम इन दिनों जिस अनुभव से गुज़रे हैं, उसे सहन करना सरल नहीं है। बच्चे के तुम जैविक पिता बनो इसलिये मैंने तुम्हें संजना के पास जाने दिया, वरना न जाने देती।"

जवाब यह मिला–''संजना मेरे लिए एक माध्यम की तरह है और कुछ नहीं । उसके प्रति कोई मधुर भाव नहीं है। मैं तुम्हारा स्थान किसी को नहीं दे सकता। तुम अनुमति न देतीं, तो मैं यह काम न करता। अब तो मैं तुम्हें आदर्श के तौर पर देखने लगा हूँ।''

''आदर्श की बात नहीं है मुझे बच्चे की ललक है। वह अभी जन्मा नहीं है, पर मैं उस पर अपना दावा मानने लगी हूँ। यदि किन्हीं कारणों से संजना देने से मना कर दे, तब हम क़ानूनी तौर पर कुछ कर सकते हैं?''

''नहीं। मौखिक राज़ीनामे का कोई वजूद नहीं होता। सब कुछ संजना की नैतिकता पर निर्भर है। वैसे उसे पैसे की ज़रूरत है, बच्चे की नहीं। मैट्रोज़ की अवधारणा में अनवेड मदर ने जगह बना ली हो, पर छोटी जगहों में अब भी अनब्याही माँ को कलंक माना जाता है। तभी न अवैध बच्चों को लोग इधर- उधर फेंक देते हैं। अभी किसी दिन अख़बार में पढ़ा कि किसी गाँव में किसी ने नवजात बच्ची को थैले में रख कर थैला नीम के पेड़ पर लटका दिया था। लोगों ने बच्ची के रोने की आवाज़ सुनी और थैला उतारा।''

''चीज़ों को जनरलाइज़ करना ठीक नहीं है। मैं डरती हूँ कि संजना धोखा न दे दे। यदि हम इसे नियोग प्रथा कहें, तो यह विचित्र क़िस्म की है। नियोग से प्राप्त संतान को स्त्री अपने गर्भ में धारण कर इन्श्योर हो जाती थी कि संतान पर उसका हक़ होगा। यहाँ हमारी संतान एक तरह से संजना के कब्ज़े में है।''

''सब ठीक होगा।''

पारिजात के भय ने सुगम के संशय बढ़ा दिये। बात प्रचारित कर दी गयी कि चिकित्सकीय पद्धति से गर्भाधान हुआ है और संजना सैरोगेट है। सुगम नहीं चाहता था कि सच्चाई जान कर कोई बच्चे की शुद्धता पर संदेह कर बच्चे को कलंकित करे। कुटुंब ने सैरोगेसी का नाम सुना था, पर उनके बीच यह पहला प्रमाणित बच्चा होगा, जिसे देखने के लिए अधीरता बढ़ रही थी। मौक़ा पाते ही सुगम संजना से मिलने चल देता। उसे लोकेशन कंठस्थ हो गयी थी। तंग गली राजपथ लगती और धसान लेता घर राजप्रासाद। संजना का प्रदर्शन अब पानी और पारले जी से तनिक संपन्न हो नीबू के शर्बत और चाय पर आ गया। सुगम उससे बहुत से सवाल करना चाहता था। चाहता था कि वह चपल होकर बोलती रहे और वह सुनता रहे, जबकि संजना संक्षिप्त बात कर डॉक्टरी रिपोर्ट उसके सामने रख देती। मैं नियमित रूप से मातृ-शिशु कल्याण-केंद्र जाती हूँ। बच्चे की ग्रोथ अच्छी है।''

सुगम को लगता कि कम बात कर संजना उसकी उपस्थिति को महत्त्व नहीं दे रही है, व्यावसायिक हो रही है। यांत्रिक या लापरवाह। बच्चे को हड़पने का इरादा तो नहीं? पूछ न पाता पूछने पर विश्वास खंडित होगा, जबकि विश्वास ही प्रमुख आधार है।

वह बारिशों का महीना था। संजना ने सेल पर मैसेज किया–प्रसव के लिए चिकित्सालय जा रही है।

सुगम उत्तेजना में चीखने लगा, ''पारिजात, हम सकारात्मक सोच क्यों नहीं रखते? संजना भली लड़की है। मुझे जाना होगा।''

इस क्षण के लिए पारिजात ने कितने जप-तप किये थे। कुछ किसी कौतूहल से आवेशित हो बोली, ''मैं भी चलती हूँ।''

''ज़रूरत हुई, तो तुम्हें बुला लूँगा।''

पारिजात भावुक थी, ''सब ठीक-ठाक रहा, तो हम संजना की माँ की आँखों का इलाज़ करा देंगे।''

''वह बाद में।''

सुगम के पहुँचने से पूर्व प्रसव हो चुका था।

''बेटा हुआ है... मैं संजना की गुजरात वाली मौसी। संजना ने बताया होगा। बच्चा साढ़े नौ पौन्ड का है। अस्पताल में हल्ला मच गया कि कितना हेल्दी बेबी है... इसलिए मैंने डिठौना लगा दिया।''



मध्यम क़द की वह चपल स्त्री सुगम को संजना के पास लेकर चली। सुगम ने देखा संजना के पास सोया हुआ फूले गालों वाला शिशु... प्रकृति की ख़ूबसूरत कृति... कितने सुविचारित तरीक़े से बच्चा मिला। वह थोड़ा झुक कर बच्चे में अपनी निशानियाँ ढूँढने लगा।

संजना ने मानो भाँप लिया—"आपकी तरह है।"

सुगम ने संजना को आभार देती नज़र से देखा। उसका साधारण चेहरा मातृत्व की तरलता में अप्रतिम लग रहा था। भावुकता में उसे लगा कि संजना से पिछले जन्म का नाता है, वरना वह इससे न मिलता।

"कैसी हैं आप?"

"आपका काम सफल हुआ, इसकी ख़ुशी है। क्या बच्चे को ले जाने आये हैं? यहाँ से ले जाएँगे, तो चिकित्सक आपत्ति कर सकते हैं। छुट्टी होते ही मैं घर जाऊँगी। घर से आप इसे ले जाएँ। बाक़ी बचा भुगतान खाते में जमा कर दें।"

इस आख़िरी हिसाब पर संजना का दिल भर आया।

दसवाँ दिन।

संजना का मैसेज है—बच्चे को ले जाएँ।

बच्चा पारिजात की अब तक खाली रही गोद में सौ किलोमीटर की यात्रा करेगा।

सुगम ने पीपल के पास कार रोकी—"पारिजात, तुम संजना से मिल क्यों नहीं लेतीं?"

"बिना देखे चेहरे याद नहीं आते। मैं कार में हूँ, तुम बच्चे को ले आओ।"

सामने के कमरे में माँ मिली। पहले सुगम जब भी आया, माँ इस क़दर ख़ामोश रहती थीं कि उनकी उपस्थिति दर्ज़ न होती थी। सुगम ने अब जाना कि माँ का स्वर अप्रत्याशित रूप से तेज़ है-"कौन?"

"सुगम।"

"आओ," माँ को उस घर में रहने रेंगने का अच्छा अभ्यास था। वे भीतर के कमरे में गयीं और बच्चा ले आयीं।

"सँभालो अपना बच्चा। संजना के खाते में पैसे आ गये हैं। हिसाब पूरा।"

सुगम चकित-सा खड़ा रह गया। सोचा था कि संजना उसे बच्चा सौंपेगी। वह कृतार्थ होगा। पर संजना बाहर न दिखायी दे रही थी। पूछना चाहता था कि संजना नहीं है क्या ? पूछा—"मौसी नहीं दिख रहीं।"

"वह चली गयी।"

"संजना से बात हो सकती है?"

"वह सो रही है। बच्चे के कारण रात भर नहीं सो पायी।"

"उन्हें धन्यवाद देना चाहता हूँ।"

"पागल हुई है लड़की। कहती है, उसे तुमसे प्रेम हो गया है। क्या सिखाया उसे जो... जाओ, तुम्हारा काम हो गया।"

सिहर गया सुगम। संजना को लेकर बहुत ख़्याल आये, बस यही ख़्याल न आया था। उसने संजना को यंत्र की तरह इस्तेमाल किया, बच्चा न देने जैसा संदेह किया, सैरोगेसी को कारोबार की तरह देखने का लोभी समझा, सतर्क बल्कि आतंकित रहा कि उसके आचरण से आनंद न झलक जाए और यह कहे कि अपनी सीमा में रहो। याद रखने लायक संवाद न हुए, रोमांच का ख्याल न आया। जद्दोज़हद यही रही कि बच्चा हो जाए और जीने की वाजिब वजह मिले और संजना ने भावनाएँ बढ़ा लीं। सुगम ने अनायास बच्चे को देखा। इसमें संजना जैसा कुछ है? हो, तो उसके माध्यम से संजना को समीप पाता रहेगा। अच्छा हुआ पारिजात, तुमने इस लड़की का चेहरा नहीं देखा, वरना भूल न पातीं। मैं नहीं जानता था, पर ठीक अभी पता चला कि इसे भूलना संभव नहीं।

माँ ने चेतावनी दी, "जाओ और अब संजना से वास्ता न रहे।"

"संजना से कहें कि वह अपना ख्याल रखे।"

माँ चुप।

उधर संजना की कोरें बह रही थी। बच्चे के लिए या सुगम के लिए, पता नहीं।

द्वारा-श्री. एम. के. मिश्र, (एडवोकेट)
लक्ष्मी मार्केट, रीवा रोड, सतना (म. प्र.)-485001

बधाई

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ने कथाकार दामोदर दत्त दीक्षित को भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित उनके उपन्यास 'धुआँ और चीखें' के लिए बीस हज़ार रुपये की सम्मान-राशि का 'प्रेमचंद सम्मान' प्रदान करने की घोषणा की है। इससे पूर्व श्री दीक्षित को उनके इसी उपन्यास के लिए राजस्थान का प्रतिष्ठित 'आचार्य निरंजननाथ सम्मान-2008' प्रदान किया जा चुका है।

'वर्तमान साहित्य' परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

मुट्ठी भर रेत

अनीता पंडा

कई दिनों से सोच रही थी कि ओल्ड एज होम जाऊँगी, पर बारिश है कि रुकने का नाम ही नहीं ले रही। शिलांग की बरसात का कोई ठिकाना नहीं, न जाने कब शुरू हो जाए? कई रविवार इसी तरह बीत गये। इस रविवार ज़रूर जाऊँगी, ऐसा सोचकर सुबह से घर का काम जल्दी-जल्दी निबटाकर, झोले में मिठाइयों का पैकेट डाल, पर्स और छाता पकड़े घर से चल पड़ी।

टैक्सी से उतर कर एक बड़ा- सा गेट पार कर जैसे ही अंदर पहुँची, सामने कुछ वृद्ध-वृद्धाएँ अलग-अलग समूह में बैठे बातचीत कर रहे थे। साथ ही, मोनिका की ज़ोर-ज़ोर से हँसने की आवाज़ आ रही थी। ओल्ड एज होम में अक्सर आने के कारण मेरी कई लोगों से अच्छी मित्रता हो गयी थी। कांग (बहन) मोनिका उनमें से एक थी। मुझे देखते ही बोल पड़ी, ''कुम नो कांग?'' (कैसी हो बहन–खासी बोली में)

'अच्छी हूँ', मैंने कहा।

आप आज हम लोग के लिए क्या ले कर आया है, मिठाई?''

मेरे हाँ कहते ही उसकी आँखों में एक चमक-सी आ गयी। फुसफुसाते हुए उसने पूछा, ''क्या मेरे लिए क्वाई (सुपारी) लायी हो? अगर लायी हो, तो चुपचाप मुझे दे दो। किसी को मत बताना।'' कहकर वह हँस पड़ी।

मैंने क्वाई और पान निकालकर जैसे ही कांग मोनिका को दिये, उसने उन्हें झट से अपने कपड़े में छिपा लिया और बोली, ''आइए, सबको मिठाई बाँटते हैं। सब बहुत खुश होंगे। रोज़-रोज़ एक जैसा खाना खाकर मन ऊब गया है।''

मिठाई बाँटते हुए मैंने कहा, ''अच्छा, तो आप मदद करने के लिए घूस भी लेती हैं।''

मुस्कराते हुए मोनिका ने उत्तर दिया, ''तुम तो हमारी बेस्ट फ्रेंड हो। हम तो तुमसे घूस नहीं, गिफ़्ट लेते हैं।'' अपनेपन के अहसास से मेरी आँखें नम हो आयीं।

बाहर मिठाई बाँटकर हम अंदर की ओर चल पड़े। अंदर एक हॉल से किसी के कराहने की आवाज़ सुनायी दी।

''अरे! यह किसकी आवाज है?'' मैंने पूछा, तो कांग मोनिका ने बताया कि वह सूज़ी है। उसे रोशनी पसंद नहीं है। न तो वह किसी से बात करती है, न ही वह कुछ खाती है।

''इन सबका क्या कारण है'', मैंने पूछा।

''मुझे मालूम नहीं'', कांग मोनिका ने कहा।

अच्छा कांग, आप ये पैकेट सबको दे दीजिए और मैं सूज़ी के लिए लेकर जाती हूँ,'' यह कहकर मैं हाल में जा पहुँची।

''गुडमार्निंग सूज़ी'', मेरे नमस्ते का जवाब उसने 'उह्' कहकर मानो दिया और धीरे से अपनी आँखें खोलीं।

उसी समय आया खाना लेकर आयी और सूज़ी को आवाज़ दी, ''सूज़ी, खाना खा लो।'' आया की आवाज़ सुनकर भी सूज़ी अपने हाथ-पैर सिकोड़े एक गठरी की तरह पड़ी रही। मुझे वहाँ देखकर आया बोली, ''क्या करेगा दीदी, खाना भी ठीक से नहीं खाता, तो मिठाई कहाँ खाएगा? किसी तरह एक -दो चम्मच भात खाता, बाकी फेंक देता। दिल में जीने की चाहत नहीं। भगवान भी कैसे-कैसे लोगों को लंबा उमर देता है।

''नहीं कांग ऐसा नहीं कहते। क्या पता, ईश्वर की क्या मर्ज़ी हो? ''मेरे ऐसा कहते ही उसने कहा, ''तो ले जाओ अपने घर और इसकी सेवा करो... अरे, जब इसके घरवाले ने इसे नहीं रखा, तो कौन रखेगा?''

कांग ने कितनी सहजता से अपनी बात कह डाली। सोचा कि क्या मैं इस बेसहारा, लाचार सूज़ी को अपने घर ले जा सकती थी? वैसे भी ओल्ड एज होम आने के लिए मुश्किल से समय निकल पाता है। फिर भी कोशिश करूँगी कि वह इससे बेहतर हो जाए।

''मेम साहब, क्या सोच रही हैं? आप इसको खाना खिलाएगा?'' आया ने पूछा।

''हाँ आप दीजिए। मैं कोशिश करती हूँ,'' प्लेट लेते हुए मैंने पूछा, ''क्या आप सूज़ी के बारे में जानती हैं?''

''हाँ जानती हूँ। कभी-कभी इसका मरद यहाँ आता था। इससे बिना मिले चला जाता था। वो हमको सूज़ी के बारे में बताया। आपको किस-किस के बारे में बताएँ? यहाँ तो सब ऐसा लोग ही है। सबने कुछ न कुछ सिन (पाप) किया है, इसलिए ऐसी हालत है। मैं अभी आती हूँ,'' कहकर वह जाने लगी।

मैंने क्वाई बढ़ाते हुए पूछा, ''कांग, आप क्वाई लेंगी?''

क्वाई लेते हुए उसने कहा, ''अच्छा, आप सूज़ी को खाना खिलाओ, मैं अभी आती हूँ।''

''सूज़ी! सूज़ी!'' मेरी आवाज़ सुनकर उसने धीरे-से आँखें

खोलीं, पर तुरंत ही अपने हाथ से अपनी आँखों को ढँक लिया। 'खाना खा लो', यह सुनकर अपना मुँह घुमा लिया, परंतु मेरे बार-बार कहने पर उसने थोड़ा-सा मुँह खोला। मैंने आधा चम्मच भात किसी तरह उसके मुँह में डाला। इस तरह कुछ चम्मच भात खाने के बाद उसने अपना मुँह इतना कसकर बंद कर लिया कि मेरे लाख प्रयत्न करने के बावजूद न खुला। मैंने धीरे-धीरे उसके शरीर को सहलाना शुरू किया। सूजी के मुँह से केवल 'आह' निकली, जो उसका दर्द बयाँ कर रही थी। मेरा सहलाना उसे अच्छा लग रहा था।

"हाँ मेमसाहब, हम आ गया। आप सूजी के बारे में क्या जानना चाहता है?" आया ने पूछा।

"सूजी का घर कहाँ है?"

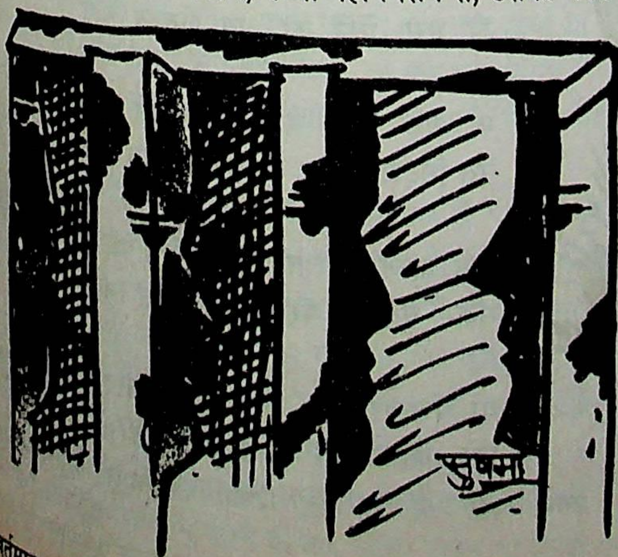
"चेरापूँजी। बहुत अच्छे घर की है।"

"अच्छे घर की है, तो यहाँ क्यों रह रही है? सूजी शुरू से ही ऐसी थी? इसकी ऐसी हालत कैसे हो गयी?" मेरे एक के बाद एक सवाल पूछने पर आया ने कहा, "मेमसाहब, आपने तो इतना सारा सवाल एक साथ पूछ लिया है। हम जितना जानते हैं, धीरे-धीरे सब बता देंगे।"

"आज से आठ साल पहले जब सूजी यहाँ आयी थी, तब बहुत सुंदर थी। हाँ, कान से कमती (कम) सुनती थी। घर वालों ने उसका बहुत इलाज करवाया, पर ठीक नहीं हुआ। मेमसाहब, सूजी लाइट से बहुत डरता था। हर समय अँधेरे में रहना चाहती थी। उसका मरद कब तक ऐसे रखता।"

"काँग, सूजी लाइट से क्यों डरती है?" मैंने पूछा।

"हाँ मेम साहब, शादी के बहुत साल बाद भी सूजी को बच्चा नहीं मिला, इसलिए घर में सब चिंता करता था। इसका मरद तो पहले इसको बहुत प्यार करता था, क्योंकि सूजी का माँ उसको बहुत बड़ा मकान और ज़मीन दिया था। मेम साहब, खासी दस्तूर (रिवाज़) है कि लड़की को अपना माई (माँ)का प्रापर्टी में हिस्सा मिलता है... जानता मेम साहब, बच्चा नहीं मिलने से, उसका मरद



रोज़-रोज़ धमकी देता कि वह सूजी को छोड़ देगा। खासी मरद तो, ऐसा है मेम साहब, कभी भी छोड़कर चला जाता। सूजी चुपचाप सबकुछ सहती रही। अपनी माई से कुछ नहीं कहा। सोचती होगी कि उसे दुःख होगा।"

आया की बात सुनकर सोचने लगी—यही तो विडंबना है स्त्री की, सबको खुश रखने के लिए उसका सारा जीवन होम हो जाता है और एक दिन अपने दर्द का अहसास भी ख़त्म हो जाता है। पृथ्वी जैसा धैर्य है उसमें। मातृसत्तात्मक खासी समाज में भी वही पीड़ा, वही दुःख है।

"अच्छा कांग, क्या सूजी को कोई बच्चा नहीं हुआ?" मैंने पूछा।

"हाँ मेमसाहब, शादी के छह साल बाद। सब लोग बहुत खुश थे, ख़ासतौर पर सूजी, क्योंकि उसके मरद ने उससे माफ़ी माँगी। वह अपने किये गये बुरे बर्ताव पर शर्मिंदा था। उसने सूजी को कभी न छोड़ने का वादा भी किया। औरत जात, मेमसाहब, पिघल गया। उसने अपने बच्चे के बाप को माफ़ कर दिया... सूजी की बेटी एक साल की हो गयी। उसका पहला जन्मदिन बड़े धूमधाम से मनाया गया। सूजी का माई अपनी पोती के लिए झूला लाया। जिसमें रंग-बिरंगे बल्ब लगे थे। सूजी और उसकी बेटी को बहुत सारे उपहार मिले थे," आया ने बताया, पार्टी ख़त्म होने पर सब सोने चले गये। सूजी ने भी बच्चे की मालिश की और उसे झूले में सुला दिया और खुद भी सो गयी। पार्टी में उसके मरद ने ख़ूब शराब पी थी। रात में जब बच्चा रोया, तो सूजी को पता ही नहीं चला। एक तो वह गहरी नींद में थी, दूसरे उसे कम सुनायी देता था। उसका मरद नशे में धुत था। किसी ने बच्ची के रोने की आवाज़ नहीं सुनी। रोते-रोते बच्ची का गला सूख गया और उसकी घिग्घी बँध गयी। अगली सुबह जब सूजी उठी और पर्दा खोली, तो सूरज की रोशनी सबसे पहले उसकी बच्ची पर पड़ी। वह एकदम शांत होकर लेटी थी। सूजी ने अपनी बेटी के गाल चूमे, तो एक ठंडा-सा अहसास हुआ। वह घबराकर चिल्लाने लगी। सारे घर वाले इकट्ठे हो गये। डॉक्टर आया और उसने बताया कि बच्चा मर चुका है... बस मेम साहब, उस दिन से सूजी पगला जैसा हो गया। उसका मरद पीटर बताता है कि उस दिन के बाद वह घर के अंदर अँधेरे में रहता। कुछ बोलने से जवाब नहीं देता। सूजी का माई उसका बहुत इलाज कराया, पर सूजी ठीक नहीं हुआ। उधर सूजी का माई सूजी के मरद को बोलकर रखा था कि अगर वह सूजी को छोड़कर जाएगा, तो वह पीटर को ज़मीन नहीं देगा। पीटर कुछ दिन सूजी के साथ रहा। उसको पीटता भी था, पर सूजी रोता-चिल्लाता नहीं था।"

मुझे लग रहा था कि कहीं सूजी धरती की प्रतिमूर्ति तो नहीं बन गयी थी, जो ईश्वर और मनुष्य के जुल्मों को चुपचाप सहती जा रही थी।

"कांग, सूजी को हॉस्पिटल में इलाज नहीं कराया क्या? वह तो ठीक हो सकती थी?" मैंने पूछा तो आया ने बताया, "हाँ, ठीक हो सकता था, पर उसके लिए कौन बार-बार शिलांग आएगा? ऐसा पीटर ने बोला। एक दिन पीटर सूजी की माई से बोला कि वह सूजी को लेकर डॉक्टर के पास जा रहा है। यह कहकर पीटर सूजी को लेकर शिलांग आया और सूजी को इधर छोड़कर चला गया। तब से सूजी यहाँ रहता। सूजी इतना बुड्ढी नहीं है, पर तक़दीर देखो मेम साहब, कितना बुड्ढी दिखता है।"

आया के स्वर में सहानुभूति और दुःख झलक रहा था।

"कांग, पीटर क्या करता है आजकल ?"उत्तर में आया ने कहा "क्या करेगा? कुछ साल तो ज़मीन के लालच में सूजी के घर में रहा और सूजी को देखने इधर आता। सूजी के इलाज के बहाने माई से पइसा (पैसा) लेता। पर, अब वह दूसरा शादी कर लिया। हमको बताया कि उसका बीबी के पास सूजी से जास्ती पइसा है। सूजी तो किसी से भी नहीं मिलता। जब कोई उससे मिलने आता तो वह दूसरी तरफ़ मुँह कर लेता।"

सोच रही हूँ कि क्या कहूँ? न जाने क्यों मुझे अपने अस्तित्व पर सूजी का दुख हावी होता दिखायी देता है। हर सुबह नयी उम्मीद और आशा की किरणें लेकर सूर्य उदय होता है, पर यहाँ तो हमेशा दोपहर की तृप्त किरणों की पसरी धूप से भी सूजी का अँधेरा दूर नहीं होता। मैं जानती हूँ कि धरती का अधिक तपना वर्षा के लिए होता है, अतः वर्षा ज़रूर होगी। कब होगी वर्षा? यह ज़िंदगी तो मुट्ठी में भरे रेत की तरह धीरे-धीरे सरकती जा रही है। कहाँ रुकता है जीवन किसी के लिए। ओल्ड एज होम से बाहर आते हुए हर क़दम के साथ एक के बाद एक विचारों की लहरें आती हैं, टकराती हैं और लौट जाती हैं।

द्वारा श्री. बी. के. पंडा, डायरेक्टर, मूडा, रायतांग बिल्डिंग, शिलांग-793001 (मेघालय)

कविता

ग़ज़लें

विमला सिंह

(1)

घर उजड़ता गया देखते हम रहे
आँसुओं की झड़ी रोकते हम रहे।

मन की हर टीस को बेलते हम रहे
रोटी जलती रही सेंकते हम रहे।

चुप्पी की नब्ज़ को टोहते हम रहे
ख़त अरमान से भेजते हम रहे।

हर तरफ़ से उमड़ती हुई भीड़ में
कैसे चेहरा दिखे सोचते हम रहे।

रोटी का कौर अब इतना महँगा हुआ
तुम न खाओ अधिक टोकते हम रहे।

बस इस बार मंज़िल नहीं फिसलेगी
सब इसी आस पर झेलते हम रहे।



(2)

रात भर बुड्ढा खों-खों करता रहा
उसकी, परिवार को अब ज़रूरत नहीं।

उनको मालूम है बेटी बड़ी नेक है
बेटियों की उन्हें अब ज़रूरत नहीं।

उस लता को कल तक लपेटे रहे
जी भरा, पेड़ों को अब ज़रूरत नहीं।

माँ बड़े चाव से लीपती थी जिसे
उस मिट्टी के घर की अब ज़रूरत नहीं।

नयी कुरुई में लायी रेवड़ा देती थी माँ
मकर संक्रांति पर अब ज़रूरत नहीं।

वो लिखते हैं उनको अहंकार है
ऐसे साहित्यकारों की अब ज़रूरत नहीं।

रिसर्च साइंटिस्ट-बी-रीडर, हिन्दी विभाग, बी0एच0यू0, वाराणसी-5

उड़ान भरते

शिवानी उप्पल

प्लेटफ़ॉर्म पर क़दम रखते ही नलिनी ने चारों तरफ़ नज़र दौड़ायी। एक ऐसे स्थान की तलाश, जहाँ शांति हो, सुकून हो। सारा परिवेश शोरगुल से भरा था। प्लेटफ़ार्म के दूसरे छोर तक नज़र दौड़ने पर चबूतरे से घिरा गुलमोहर का पेड़ दिखा। उसे लगा, चबूतरे पर बैठकर वह शांति से कुछ समय गुज़ार सकती थी। ट्रेन आने में तीन घंटे की देरी थी, अतः वह व्हील पर सूटकेस को खींचती हुई वहीं गुलमोहर के नीचे बने चबूतरे पर बैठने के लिए आगे बढ़ गयी। वह जानती थी कि ट्रेन तीन घंटे लेट है, फिर भी वह स्टेशन आ गयी थी। उसे अपने ही घर में घुटन होने लगी थी। परायेपन की बू आने लगी थी उन दीवारों के बीच, जहाँ जीवन के चालीस साल बिताये थे; परिवार की ज़िम्मेदारियों को निभाने के लिए अपने सुख-दुख भुला दिये थे। उसी घर में एक छोटी-सी आत्मीयता भी उसे दूर-दूर तक भी महसूस नहीं हुई थी। उसे अपने ही बनाये घर में रुकना पल भर के लिए भी सहनीय नहीं लगा। वह घर उसे एक ऐसी सराय लगा, जहाँ परिवार के हर चेहरे पर स्वार्थपरता का गहरा काला चश्मा चस्पां था। यहाँ तक कि उसके समर्पण और तपस्या का माँ के समक्ष भी कोई मूल्य न था। लड़की परिवार के सारे दायित्वों का निर्वाह कर सकती है। अपने कमज़ोर समझे जाने वाले कंधों पर परिवार का सारा बोझ ढोने की क्षमता रखती है। बस एक अधिकार से वंचित होती है बेटी–'मुखाग्नि'। बेटी से वंश नहीं चलता। वंश बेटे से चलता है और वही मुखाग्नि देता है। बस माँ के इस ताने ने मानो उसका दिल तोड़ दिया था। उसे लगा कि ऐसा उसने क्या नहीं किया, जो एक बेटा करता है। क्या कभी उसने अपनी ज़िम्मेदारियों को स्वीकारने से इन्कार किया?

उसे याद है, अचानक पापा के स्वर्गवास से परिवार पर वज्रपात हुआ था। आर्थिक स्थिति चरमरा गयी थी। तब, अपने दो भाइयों, छोटी बहन और माँ–सभी का संबल बनी थी वह। पापा के स्थान पर अपने आपको खड़ा कर सभी के लिए जूझते हुए उम्र का चालीसवाँ वर्ष बिना वसंत आये पार कर चुकी थी। सबके आँसू पोंछने में अपने आँसू नज़रअंदाज करती रही थी।

पापा के बैंक में ही उसकी अनुकंपा नियुक्ति हो गयी थी। दिन भर ऑफ़िस का काम करने के बाद ओवर टाइम भी किया। विभागीय परीक्षाएँ देती रही। घर की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने की उसने हर मुमकिन कोशिश की थी। पापा का का जब देहांत हुआ था, तब वह महज़ 22 वर्ष की ही थी, पर उसने बैंक में, समाज में, घर में कहीं भी अपने आपको कमज़ोर और नाजुक नहीं साबित होने दिया। प्रत्येक समस्या का एक ज़िम्मेदार व्यक्ति की तरह समाधान किया। किसी मोड़ पर अपने को कम नहीं समझा। परिवार के प्रत्येक घटनाक्रम में खुद को भागीदार बनाया। सभी को दुलारा, पुचकारा, सराहा।

उसे याद आ रहा था पापा उसे 'बेटा' कहते थे। उसके हायर सेकेंडरी में मैरिट में आने पर पापा आनंद विभोर हो उसे गोद में उठा झूम उठे थे। पापा से कितना कहा था कि वह बड़ी हो गयी है; उन्हें तकलीफ़ हो जाएगी, पर पापा ने उसकी बात हँसी मे उड़ा दी थी। कहा था–"बेटी, बच्चे माँ-बाप के लिए कभी बड़े नहीं होते। बच्चों को माँ-पिता अपनी छत्र-छाया में सदा रखना चाहते हैं और आज तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" घर में सभी को बुलाकर बड़े नाज़ के साथ बताने लगे थे–"देखो, मेरा बेटा मैरिट में आया है। सबसे अधिक अंक हैं इसके अपने साथियों में। मुझे विश्वास है, मेरा बेटा आगे भी इसी तरह उन्नति करेगा, सदा अव्वल आएगा। किसी ऊँचे ओहदे पर पहुँचाकर ही दम लूँगा मैं।"

फिर छोटे भाइयों, बहन से कहा था–"प्रेरणा लो अपनी बड़ी बहन से। तुम सभी इसी तरह अच्छे अंक में उत्तीर्ण होते रहो, मुझे बेहद प्रसन्नता होगी। माता-पिता बच्चों की उन्नति ही तो चाहते हैं।"

काश, आज पापा होते और देखते कि उनके इस बेटे ने परिवार के लिए क्या कुछ नहीं किया है। पापा के सारे दायित्वों का बोझ अपने कंधे पर लेकर किस प्रकार धीरे-धीरे क्रमशः सभी दायित्वों का निर्वाह किया है।

छोटी बहन को डोली में बैठाया। पापा ने अपने जीवित रहते सुशील से उसकी सगाई कर दी थी, जिससे उसने स्वयं को अलग कर लिया था। सुशील ने उसके दायित्वों को अपना मानने का वायदा भी किया था, किंतु उसे स्वीकार न था कि सुशील उसके दायित्वों का निर्वहन कर उसके स्वाभिमान को आहत करे।

अब दोनों छोटे भाई नौकरी में हैं, विवाहित हैं। दोनों का वेतन भी बेहतर है। माँ को कोई शिकायत भाइयों से कभी नहीं रही, जबकि उन्होंने अपने वेतन का एक पैसा भी कभी माँ की हथेली

पर नहीं रखा। वह तो माँ को अपना पूरा वेतन देती रही थी। पर, उसकी बढ़ती उम्र के प्रति अपने कर्तव्य को माँ ने कभी नहीं समझा। विवाहित सहेलियाँ, जो बच्चों की माताएँ होने का गौरव प्राप्त कर चुकी थीं, को माँ ने नहीं देखा। माँ का मौन इंगित करता कि उन्हें अपनी कमाऊ बेटी के विवाह की कोई चिंता नहीं रही।

अपने कमरे के एकांत में लेटे-लेटे नलिनी कभी सोचती कि आख़िर कब तक वह इसी तरह अकेले अपने आपको ज़िम्मेदारियों के घेरे में क़ैद रखेगी? क्या यूँ ही उसकी उम्र बीत जाएगी? माँ को तो एक औरत होने के बावजूद उसकी दैहिक और मनोदैहिक कामनाओं और नारीसुलभ अरमानों की जैसे कोई परवाह ही नहीं रही।

पहले और बात थी। पापा के देहांत के पश्चात घर के दायित्व के प्रति उसकी ज़िम्मेदारी बड़े होने के नाते थी, किंतु अब तो दोनों भाई सक्षम हैं, तो अब क्यों माँ को उसके प्रति अपने कर्तव्य का अहसास नहीं होता? क्या माँ को अपनी बेटी के बालों की बढ़ती सफ़ेदी नज़र नहीं आती? वह सोचती कि माँ को अपनी बेटी की आँखों में झिलमिलाते इंद्रधनुषी सपने दिखायी क्यों नहीं देते। कभी-कभी महसूस होता है कि माँ को उसके धूमिल होते सपने कभी नज़र नहीं आएँगे। पर, माँ ने शायद इस बारे में कुछ भी न सोचने का निश्चय कर रखा था।

उसके अपने लिए स्कूटर लिये जाने पर माँ पर जैसे गाज गिरी थी। माँ से वैसे व्यवहार की उसे कतई उम्मीद न थी। ऑफ़िस से कुछ एरियर मिला था। उसने पहली बार अपने लिए यह वाहन बड़े उत्साह के साथ ख़रीदा था। वह रोज़-रोज़ बस के धक्के खाते-खाते थक गयी थी। उस दिन वह घर में उत्साहित मन से प्रविष्ट हुई थी। अपने इस पहले निर्णय, पहली ख़रीद की प्रसन्नता में सभी को सम्मिलित करने के इरादे से उसने हुलसकर आवाज़ लगायी थी—''माँ-ओ-माँ...!'' उनके बाहर आते ही उसने माँ को हर्षमिश्रित स्वर में स्कूटर के बारे में बताकर उन्हें स्कूटर पर घुमाने की इच्छा व्यक्त की थी।

मगर माँ के चेहरे का तो रंग उड़ा हुआ था। वे यकायक क्रोधित हो गयी। आवेश में आ कहने लगीं—''तुम्हें स्कूटर की क्या ज़रूरत थी। तुम्हें अगर वाहन की आवश्यकता अपने लिए महसूस हुई, तो तुम दोनों भाइयों के लिए गाड़ी की ज़रूरत को कैसे नज़रअंदाज कर गयीं? क्या वे बस के धक्के नहीं खाते? क्या तुम्हारा उनके लिए सोचने का कोई फ़र्ज़ नहीं बनता?

उसके मन में आया कि माँ की इस बात का जवाब दे। मन हुआ कि वह चीख़कर पूछे कि क्या सारे जीवन वह सबकी ज़रूरतें सोचने और उन्हें पूरी करने के लिए ही पैदा हुई है। पर, माँ के अगले वाक्य को सुनकर वह पथरा-सी गयी थी। ओह माँ! तुमने यह क्या कह दिया कि भाई ही तो आख़िर वंश आगे बढ़ाएँगे, कि एक दिन उनके पुत्र ही मुखाग्नि देंगे। ओह माँ! कैसे कह गयी तुम यह सब!

उसकी सारे जीवन की मेहनत, त्याग, धैर्य को माँ के उस एक वाक्य ने धराशायी कर दिया। उसके जीवन की सारी साधना को व्यर्थ कर दिया माँ के शब्दों ने कि 'वह बेटा नहीं बेटी है।' वह रात भर सो न सकी। माँ के शब्द उसके कानों में गर्म पिघला सीसा उड़ेलते रहे। वह सोचती रह गयी आख़िर वह माँ के अपने काल की घिसी-पिटी मान्यताओं को क्योंकर और कब तक ढोएगी? माँ का समय क्यों बेटी से सारे अधिकार छीन लेना चाहता है। परिवार के दायित्व का बोझ जब बेटी अपने कंधों पर उठा सकती है, तब मुखाग्नि का क्यों नहीं। रात भर की उधेड़बुन के बाद वह इस नतीजे पर पहुँची थी कि माँ तो सिर्फ़ समाज की सड़ी-गली पुरुष-वर्चस्ववादी मानसिकता की नुमाइंदगी भर कर रही थीं। उसे माँ की समझ पर कोई विशेष अफ़सोस नहीं हुआ। आख़िर वे तो अपनी परंपरा को जी रही थीं। उनका सोच उनकी बैसाखी बन चुका था अतः उन्हें कुछ भी कहना-सुनना उसे व्यर्थ लगा। पर, इन सब बातों ने उसके सोच की दिशा ज़रूर बदल दी। अपने अंधे कर्तव्य-निर्वाह में उसने स्वयं को भुला-सा दिया था। एक झटके में उसने अपने लिए अपना दायित्व निश्चित कर लिया था कि अब वह अपना स्वयं का जीवन जीने की पहल करेगी। यह विचार कौंधते ही उसके दिल पर छाया माँ की कहा-सुनी का असर धुल गया। उसे अपने अंदर एक नये आत्मविश्वास का संचार महसूस हुआ। बदले हुए मन और मानसिकता के साथ जीते हुए अभी सप्ताह भर भी न बीता था कि जैसे भगवान ने उसके दिल की आवाज़ सुन ली। हेड आफ़िस से उसके प्रमोशन के साथ ही ट्रांसफ़र ऑर्डर में उल्लेख था कि उसे सप्ताह भर के अंदर ही दिल्ली मुख्यालय में ज्वॉइनिंग देनी है।

उसके ट्रांसफ़र की ख़बर से ही घर में सन्नाटा छा गया। भाइयों को लगा कि अगर बहन घर से गयी तो शायद हाथ से भी जाएगी। दोनों ने माँ को खूब ऊँच-नीच समझायी। उसने महसूस किया कि घर में खुसुर-पुसुर का दौर चल रहा है। जैसे-तैसे माँ ने हिम्मत जुटाकर अपनी राय उसके बिना माँगे ही सुनायी, ''बिटिया हेड आफ़िस को इन्कार कर दो... कहाँ जाओगी, कैसे रहोगी अकेले राजधानी में? वहाँ तो क्वॉर्टर भी तेरी तनख़्वाह के बराबर की रकम पर मिलते हैं?''

माँ ने उसे डराने की कोशिश की थी, मगर उसने भी बिना एक पल गँवाये साफ़-साफ़ बता दिया, ''माँ मेरी चिंता छोड़ो। यहाँ घर में भी अकेले रहने की आदत डाल चुकी हूँ मैं।''

''और घर का क्या करोगी?'' माँ धीमे से बोली थीं''

''बैंक ने प्रमोशन के साथ ही लीज़ रेंट पर फ़्लैट एलॉट किया है...।''

उसका जवाब सुनते ही जैसे माँ की रही-सही उम्मीद भी टूट गयी। सहसा वे तुनक पड़ीं—''तो ये कहो न बिट्टू कि अब तुमने

ही उड़ने का मन बना लिया है! ख़ूब जानती हूँ... अब चिड़िया के पर फड़फड़ा रहे हैं।''

माँ के व्यंग्य भरे लांछन आत्मा को कसैला कर देने की हद तक कड़वे थे। कोई और वक़्त होता, तो शायद वह तिलमिला कर भड़क उठी होती। मगर, उसने भी मन ही मन ठान लिया था कि अब माँ की बातों का बुरा क्या मानना। वह तो सचमुच अब ऊँची उड़ान पर निकलना चाहती है। ऐसा सोचते ही उसका दिल हल्का हो गया था। उसने ठीक एक चिड़िया की तरह उड़ने से पहले पंखों को फड़फड़ाया और माँ के सामने से हटकर अपने कमरे में चली गयी।

....आज उसके जाने का दिन था। भाइयों को जैसे इससे कोई सरोकार न रहा हो, वे अपने-अपने आफ़िस चले गये। माँ के मन के मुरझाने की एक कसक तो उसके अपने मन में थी। उसे लग रहा था कि पता नहीं कैसे वह माँ से विदा लेगी! सुबह से ही वह गहरे पशोपेश और तनाव में थी। रह-रह कर आँखें भीग रही थीं। मगर, दोपहर होते-होते ही उसे एक और धक्का लगा। उसकी अपनी ट्रेन दो बजे थी। दोपहर का खाना खाकर माँ दोनों भाभियों के साथ आचार्य मुनि का प्रवचन सुनने चल दीं। जाते-जाते उसे इतना भर बोलीं—''बिट्टू फ़ुरसत मिले तो फ़ोन करियो।''

वह माँ का इतना सूखा, इतना अनार्द्र रूप पहली बार देख रही थी। माँ के घर से निकलते ही उसने अपना सूटकेस उठाया, थ्री व्हीलर रोका और स्टेशन के लिए चल पड़ी।

....फ़ाइनल एनाउन्समेंट के बाद ट्रेन प्लेटफ़ार्म से आ लगी। आरक्षित बर्थ पर अपना सामान रख कर उसने एक दीर्घ निःश्वास के पश्चात् स्वयं को हल्का पाया। उस क्षण उसे लगा कि वह सचमुच एक चिड़िया है, जो एक उड़ान के लिए निकल पड़ी है और पापा यहीं कहीं उसके आसपास खड़े उसे आशीष दे रहे हैं। सहसा उसे कवि राजेश रेड्डी की बहुत पहले पढ़ी ग़ज़ल का शेर याद आया...

जाने कितनी उड़ान बाक़ी है
इस परिंदे में जान बाक़ी है।

ए-201, 'ए' ब्लॉक, सेकेंड फ़्लोर, सेवाय काम्प्लेक्स
ई-8, गुलमोहर कॉलोनी, भोपाल- 462039 (म०प्र०)

लघुकथा

जिसकी लाठी...

शैलजा 'श्यामा'

बहते झरने में छोटा मेमना पानी पी रहा था। इतने में वहाँ एक भेड़िया आया। कोमल, माँसपेशियों से भरा-पूरा हट्टा-कट्टा मेमना देखकर भेड़िये के मुँह में पानी भर आया। पर उस पर हमला करने का कारण ढूँढना ज़रूरी था। हाँ, सूझा... भेड़िये ने पैर पटककर ज़ोर से कहा, ''क्यों रे, तू पानी गंदा क्यों कर रहा है? देखता नहीं, मैं यहाँ पानी पी रहा हूँ?''

छोटे मेमने ने इधर-उधर देखा और कहा, 'चाचा जी, पानी आप की वजह से गंदा हो रहा है, तकरार तो मुझे करनी चाहिए।'

''बक-बक बंद कर। तूने नहीं, तो तेरे दादा-परदादा ने पानी गंदा किया होगा। सजा, तुझे मिलनी चाहिए अब देख...''

भेड़िये ने पैर आगे रखे कि इतने में चारों तरफ़ से हल्लागुल्ला हुआ... ''ठहरो अन्याय का निषेध... अब हम अन्याय नहीं सहेंगे...।''

भेड़िया एकदम ठहर गया। भेड़िये की आक्रामकता वैसी ही थी। उसने डाँट पिलाने का प्रयास किया, ''क्या है?''

मेमने के पिता ने कहा, ''अब पुरखों की बात मत निकालो। रात गयी, बात गयी। वर्तमान की सोचो।''

''इसने पानी गंदा किया है।''

''झूठ मत बोल चाचा। तू खड़ा है ऊपर... पानी नीचे बहता आया है...।

''झगड़ने का इरादा है क्या ?''

''नहीं, अन्याय का प्रतिकार करने का।''

''यह अन्याय नहीं, पूर्व प्रथा है...।''

''प्रथा का नाम मत ले। वह तो तोड़ने के लिए होती है। भूतकाल की मिसाल अब कालबाह्य हुई। अब हम संगठित हैं, निर्भय हैं, तुम जैसों को हम ख़ूब समझते हैं... चले जाओ यहाँ से. .. वरना....''

भेड़िये ने इधर-उधर देखा फिर धैर्य से बोला, ''मैं तुम सब से बलवान हूँ... चाहूँ तो.....''

एक वृद्ध ने आगे बढ़कर कहा, ''अकेले की शक्ति की अपेक्षा समूह की शक्ति अधिक होती है... जिसकी लाठी, उसकी भैंस... हमारे पास लाठी है, एकता है और अन्याय के विरुद्ध लड़ने का मनोबल भी... चुपचाप चले जाओ, वरना मेमनों से मुँह की खानी पड़ेगी...।''

भेड़िया मुड़ा। उसने मन ही मन कहा, ''जान बची, लाखों पाये। वर्ण-वर्चस्व का हौव्वा-भकाऊ हमेशा नहीं चलता।''

1, अयोध्यानगरी, आगाशिव नगर, कराड- 415110 (महाराष्ट्र)

पर्ल बक : निजी त्रासदी का उदात्तीकरण

विजय शर्मा

नोबेल पुरस्कार विजेता पर्ल बक से हिन्दी के बहुत से पाठक परिचित हैं। उनका 'गुड अर्थ' एक समय के चीन के जीवन का आईना है। यह चीन के एक ग़रीब किसान वाँग लंग के जीवन के उतार -चढ़ाव की महागाथा है। साथ ही, यह मनुष्य की जिजीविषा, उसकी नैतिकता, उसके मन में चलने वाले द्वंद्वों, उसके आंतरिक और बाह्य संघर्षों, उसके अच्छे-बुरे कर्मों, उसके पतन और उत्थान का महाकाव्य भी है। इस तरह यह मात्र चीन के एक किसान की कहानी न रह कर सार्वभौमिक कहानी बन जाती है।

इस उपन्यास में एक बच्ची का चरित्र आया है, जिसका पूरे उपन्यास में कोई नाम नहीं है। वाँग उसे बेवकूफ़ बच्ची कहता है। यह बच्ची मानसिक रूप से अविकसित है और नायक के लिए दुख और करुणा का बायस है। यह सदा हँसती रहती है। जब भी पिता-पुत्री की आँखें मिलती हैं, वह हँसती है। शुरू-शुरू में वह निहाल होता है। पर, जैसे-जैसे समय बीतता है, उसका धैर्य चुकने लगता है। वह बच्ची के मुँह से अपने लिए कुछ शब्द सुनने की आशा करता है, जैसे कि इस उम्र में उसके अन्य बच्चे उसे 'डा' 'डा' पुकारते थे, पर उसकी यह आशा दुराशा मात्र सिद्ध होती है। समय बीतता जाता है, जो मुस्कुराहट खुशी लाती थी, वह चिढ़ पैदा करने लगती है। वह भुनभुनाने लगता है, "बेवकूफ़, मेरी बिचारी बेवकूफ़ बेटी।" वह मन ही मन रोता है। बच्ची इतनी अक्षम है कि उसे खाना खिलाना पड़ता है, सूरज दिखाना पड़ता है और सर्दी, वर्षा, पानी से बचाने के लिए चिंता करनी पड़ती है। वह इतनी नासमझ है कि जब सब लोग रो रहे होते हैं, तब भी वह हँसती रहती है। घंटों कपड़े के एक टुकड़े की तह लगाती, खोलती रहती है। कोई आए, कोई जाए, कोई कुछ करे, कहे, उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। वह केवल अपने माँ-बाप को पहचानती है, पर उनसे भी कोई संवाद क़ायम नहीं कर सकती। बाद के वर्षों में जैसी कि उम्मीद थी, वाँग लेग की बहू का कथन—"ऐसे लोगों को जीना नहीं चाहिए"—वाँग की बेबसी और गुस्से को बढ़ाता है, पर वह लाचार है। कुछ आलोचक इस चरित्र का अर्थ बेबस मानवता से लेते हैं। वे इसे मनुष्यता की शाश्वत असहायता का प्रतीक मानते हैं।

इसी तरह उन्होंने एक और कहानी लिखी—'द चाइल्ड हू नेवर गो'। इसमें भी वे एक अविकसित मानस के बच्चे की बात लिखती हैं और ऐसे बच्चों की माँ पर क्या गुज़रती है—इसका वर्णन करती हैं। 'माई सेवरल वर्ल्ड्स' भी इसी कथानक पर उनका काम है और उनका 'द गिफ़्ट्स दे ब्रिंग' भी ऐसी ही एक रचना है। 'टाइम इज़ नून' में भी ऐसे ही अविकसित मानस के बच्चे के संकेत हैं।

पर्ल बक का समय ऐसा समय था, जब विकलांगता चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, समाज में अभिशाप मानी जाती थी। और न केवल वह व्यक्ति समाज के द्वारा दुत्कारा जाता था, वरन् पूरा परिवार अछूत मान लिया जाता था। ऐसे लोग परिवार पर एक धब्बा होते थे और परिवार के लिए समाज में शर्मनाक स्थिति पैदा करते थे। आज समय बदल गया है। ऐसे बच्चों के इलाज और देखभाल के लिए पर्याप्त साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हैं और उनके लिए शब्दावली भी बदल चुकी है। आज हम उन्हें विकलांग नहीं कहते। उनके लिए 'मेंटली चैलेंज्ड' शब्द का प्रयोग करते हैं। उस काल में लोग ऐसे परिवार से कोई संबंध नहीं रखना चाहते थे, जिसका कोई सदस्य किसी भी प्रकार की अपंगता का शिकार होता था। इसलिए, जो लोग समर्थ होते थे, वे दिल पर पत्थर रख कर ऐसी संतान को समाज की नज़रों से बचा कर रखते थे। कहीं उसका उल्लेख नहीं करते थे। उसके अस्तित्त्व को पूरी तरह से नकार दिया जाता था। जीवित संतान को भी लोग सामाजिक बदनामी के भय से मृत घोषित कर देते थे। छिप-छिप कर भले ही ज़ार-ज़ार रोएँ, पर उसे खुले तौर पर अपना स्वीकार करने की हिम्मत नहीं कर पाते थे।

ऐसे अभिभावकों की असहायता, दारुण दुख को समझा जा सकता है। पिता के लिए भी ऐसी संतान कष्टकर होती है, परंतु माँ का, स्त्री का कष्ट कई गुना ज़्यादा होता है। 'टाइम इज़ नून' की नायिका मानसिक रूप से अविकसित बच्चे को जन्म देकर इतनी टूट गयी है कि वह अपने पति से सहवास के लिए स्वयं को तैयार ही नहीं कर पाती। माँ बच्चे को डॉक्टरी परीक्षण के लिए ले जाती हैं। डॉक्टर जाँच के बाद स्थिति बताने के पहले चुप रहता है, तो यह चुप्पी कितनी जानलेवा होती है, यह प्रतीक्षा कितनी नाजुक घड़ी होती है, इसके लिए बक बहुत सटीक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। वे लिखती हैं कि "जन्म देने के समय की प्रतीक्षा का दर्द इस इंतज़ार के दर्द के समक्ष कुछ नहीं है। सारा जीवन, सारी दुनिया रुक गयी। इस क्षण दुनिया में इस कमरे, इस बूढ़े आदमी, इस बच्चे और उसके सिवा कुछ नहीं बचा।" पर, डॉक्टर लंबे समय तक कुछ नहीं कहता। चुप रहता है। वह धीरे-धीरे बच्चे को

उसके कपड़े पहना देता है। शायद डॉक्टर भी इस कड़ुवे सच को कहने का साहस जुटा रहा है। उसका चेहरा झुर्रियों से विकृत हो गया है। अंत में, वह बच्चे की वास्तविक स्थिति माँ को बताता है। सुनकर माँ को लगता है कि उसके अस्तित्त्व पर बिजली गिर गयी है, वह फट गया है। उस समय मेडिकल सांइस आज की तरह विकसित नहीं थी। अधिकतर ऐसे केस लाइलाज माने जाते थे, उस समय थे भी लाइलाज।

पर्ल बक के लेखन में मानसिक रूप से अविकसित बच्चों और उनके अभिभावकों का चित्र बार-बार आया है। बहुत कम पाठक जानते हैं कि इन पंक्तियों में बक स्वयं को चित्रित कर रही हैं। बहुत समय तक दुनिया को नहीं मालूम था कि पर्ल बक ने 1921 में 29 बरस की उम्र में एक बच्ची को जन्म दिया, जो जन्म के समय स्वस्थ थी, परंतु कुछ दिन बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि वह बच्ची सामान्य नहीं है। पहले वे इस बात को स्वीकार नहीं कर पायीं, पर बाद में वे इस बात को छिपाने लगीं कि उनकी कोई ऐसी बेटी है। उन्होंने इस राज़ को बीस साल तक छुपाये रखा। जो लोग जानते थे, वे उन लोगों से मिन्नतें करतीं कि वे इस बावत चुप रहें। उनके पति जॉन लोसिंग बक विकलांग बच्चे पर खर्च करने के पक्ष में नहीं थे और दोनों के बीच तनाव बढ़ने लगा, जिसकी परिणति 18 साल के वैवाहिक जीवन के बाद उनके तलाक में हुई। पर्ल बक के प्रकाशक रिचर्ड वाल्स उनकी लगन और संघर्ष को देख रहे थे। उनका भी हाल ही में तलाक हुआ था। 1935 में लोसिंग से तलाक के बाद उन्होंने वाल्स से विवाह किया और अमेरिका में बस गयीं। लोसिंग ने बाद में एक चीनी महिला से शादी की और उनके दो स्वस्थ बच्चे हुए। 1975 में लोसिंग की मृत्यु हुई।

उन दिनों चीन में ऐसे बच्चों की देखभाल के लिए कोई संस्थान न था। पर्ल अपनी बच्ची कैरोलाइन ग्रेस बक या कैरोल (उनकी माँ का नाम भी कैरोलाइन था) को अमेरिका में रखना चाहती थीं, क्योंकि उन्हें पता चला था कि न्यू जर्सी के **'वाइनलैंड ट्रेनिंग स्कूल'** में ऐसे बच्चों की अच्छी तरह देखभाल की जाती है। परंतु, उसका खर्च बहुत ज़्यादा था। पर्ल ने निश्चय किया कि वे स्वयं उपार्जन करेंगी और बच्ची को इस संस्थान में रखेंगी। और इस तरह उन्होंने स्वयं को लिखने के लिए सपर्पित कर दिया। लिख वे पहले भी रहीं थी, पर अब लिखने का एक ख़ास मक़सद था। उन्होंने अपने निजी दुख को लेखन के सहारे झेला—यह कहा जाए, तो अतिशयोक्ति न होगी। उन्होंने लिखा और ख़ूब लिखा। चालीस किताबें लिखीं। निजी त्रासदी के दौरान् भी वे घंटों-घंटों लिखती थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी निजी त्रासदी को अन्य कई उदात्त कार्यों में परिवर्तित कर दिया और मानवता के लिए एक नायाब उदाहरण छोड़ गयीं। इस तरह, अपने लेखन और विकलांग बच्चों के लिए कल्याणकारी कार्यों के कारण वे सदा के लिए अमर हो गयीं।

वे लिखकर चुप न बैठी रहीं। उन्होंने अपनी बेटी की अवस्था की सही जानकारी के लिए ख़ूब प्रयास किया। बहुत विशेषज्ञों से संपर्क किया, सलाह की। बाद में उन्हें ज्ञात हुआ कि यह वंशानुगत है, इसका कारण उनके या उनके पति अथवा दोनों के जींस हैं। जब तक उन्हें यह बात पता चली, बहुत देर हो चुकी थी। कैरोल ठीक होने की उम्र पार कर चुकी थी। अगर कम उम्र में बीमारी का पता चल जाए और इलाज किया जाए, तो स्थिति क़ाबू में रहने की संभावना बनती है। उनकी बेटी तो न ठीक हो सकी, लेकिन उनके इस अथक प्रयास से आगे चल कर न जाने कितने बच्चों का कल्याण हुआ और हो रहा है; न जाने कितने माता-पिताओं को राहत मिल रही है। उन्होंने इस दिशा में ऐतिहासिक योगदान दिया है।

पर्ल कैरोल के अस्तित्त्व को नकारती नहीं थीं, पर उसके विषय में किसी को कुछ बताती भी नहीं थी। एक बार जब उनके एक पड़ोसी ने कैरोल की स्थिति पर एक लेख लिखा, तो उन्होंने उसे छपने से रोकने का हर संभव प्रयास किया। वे कैरोल की निजता को बचाये रखना चाहती थीं, साथ ही, माँ के रूप में अपने दर्द को भी। वे एक परफ़ेक्शनिस्ट थीं, भला अपनी बेटी के अधूरेपन को सार्वजनिक रूप से कैसे स्वीकार कर पातीं। इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने एक तीन महीने की बच्ची को गोद लिया। 1925 में जिस बच्ची को उन्होंने गोद लिया था, बाद में वह जेनिस वाल्स कहलायी और उनकी वारिस भी बनी और उसने उनके बाद कैरोल की देखभाल की। वे स्वयं ट्यूमर से ग्रसित थीं और पुनः माँ बनने में असमर्थ थीं। बाद में, उन्होंने कई और बच्चों को गोद लिया, ख़ासकर एशियन-अमेरिकन अनाथ बच्चों को। 1949 में उन्होंने 'वेलकम हाउस' की स्थापना की, जहाँ इन बच्चों का पालन-पोषण होता है। मानवता के लिए किया गया उनका यह सबसे बड़ा कार्य है। दुनिया की बेहतरी के लिए उनका यह अनोखा योगदान है।

पहले उन्होंने स्वयं बच्ची की देखरेख और उसे कुछ कार्यों में प्रशिक्षित करने की कोशिश की, परंतु यह निराशाजनक था। जब उन्हें इस कार्य में स्वयं सफलता न मिली, तब उन्होंने इससे संबंधित प्रशिक्षित और पेशेवर लोगों की सहायता लेने की बात सोची। जब अपनी बेटी को लेकर वे विशेषज्ञों के पास भटक रहीं थीं, तब एक डॉक्टर ने उन्हें सुझाया, ''एक जगह देखो जहाँ यह खुश रह सके। इसे वहाँ रखो और तुम अपना जीवन जियो।' अनुभव किया जा सकता है कि यह सुनकर उनका हृदय कैसे टुकड़े-टुकड़े हो गया होगा। उन्हें वैसा ही अनुभव हुआ, जैसाकि नाख़ून को माँस से अलग करने पर होता है। लेकिन, जब उन्होंने ठंडे मन से सोच-विचार किया, तो उन्हें डॉक्टर की बात में सार नज़र आया और उन्होंने इस पर अमल करने का निश्चय किया। परंतु, यह बहुत खर्चीली योजना थी। उन्होंने कई देशों में इसकी जानकारी ली। सबसे ज़्यादा अच्छा, सुरक्षित और उचित उन्हें अमेरिका का 'वाइनलैंड प्रशिक्षण केंद्र' लगा। बच्ची की देख-रेख

का खर्च पर्ल बक की औक़ात से कहीं ज़्यादा था। वे लिखती हैं कि उन्होंने पता किया है कि वे अपने बच्चे के रहने के लिए जैसा स्थान चाहती हैं, वह महँगा है और उनके पास पैसे नहीं हैं। इस खर्च को किसी और को नहीं, उन्हें ही देना है। उन्हें स्वयं ही उपाय करना है कि वे अपने बच्चे के साथ क्या करना चाहती हैं। यदि पिता अपनी मेहनत की कमाई ऐसे बच्चे पर व्यर्थ नहीं करना चाहता है, तो क्या माँ भी ऐसे बच्चे को छोड़ दे? वे ऐसा न कर सकीं।

बक सहायता के लिए बहुत से लोगों के पास गयीं और उन्हें सहायता मिली भी। इसी सिलसिले में श्रीमती फ़िनले से मिलीं, जो 'न्यूयॉर्क टाइम्स' के एक एग्ज़ीक्यूटिव की पत्नी थीं। श्रीमती फिनले पर्ल की बात सुनकर, यह देखकर कि एक युवा माँ अपने अविकसित बच्चे की सहायता के लिए कितना संघर्ष कर रही है, बहुत प्रभावित हुईं उन्होंने न केवल 2,000 डॉलर क़र्ज़ की व्यवस्था की, वरन् एक और करार भी करवाया। करार था कि यदि बक ईसाई समुदाय के लिए बच्चों की एक कहानी लिखें, तो उन्हें 500 डॉलर दिये जाएँगे। अंधा क्या चाहे, दो आँखें। पर्ल बक इन लोगों की कितनी कृतज्ञ हुई होंगी, सोचा जा सकता है। इस आर्थिक मजबूती ने उन्हें जीने और लिखने का सहारा दिया। अब वे न केवल अपनी बच्ची को उचित स्थान पर रख सकती थीं, वरन् चैन से बैठकर लिख भी सकती थीं और उन्होंने यही किया। बच्ची दूर थी, वे उसे कई बरस देख न सकीं। इससे उनके मन में अपराध-बोध था, जिसे उन्होंने लिखा भी है। परंतु कहते हैं न, आँख-ओट पहाड़-ओट। बच्ची दिन-रात उनकी आँखों के समक्ष न थी, सो उसका दर्द भी उनके सामने प्रत्यक्ष न था। अतः वे अपना मन लिखने में समर्पित कर सकीं और उन्होंने ख़ूब लिखा। इतना अच्छा लिखा कि उन्हें पुलिज़र और नोबेल पुरस्कार मिला।

वे पढ़ाने के साथ-साथ लिखने का कार्य पहले से ही कर रही थीं और जिस किताब पर करार हुआ था, उसे उन्होंने लिखा भी। परंतु 'द यंग रिवोल्यूशनरी' के पहले उन्होंने वह लिखा, जो उनके दिमाग़ में काफ़ी समय से उमड़-घुमड़ रहा था और इस तरह 'गुड अर्थ' रची गयी, जिसके आते ही उनकी ख्याति फैल गयी। 'ईस्ट विंड, वेस्ट विंड' इसके पहले आ चुकी थी। 'गुड अर्थ' ने उन्हें ख्याति, पुरस्कार और पाठक दिये। पाठक आज भी इसे चाव से पढ़ता और सराहता है। आज भी अमेरिका में इसे उच्च साहित्य का दर्जा प्राप्त है। इस बीच, उन्होंने अपनी बच्ची की अस्वस्थता के कारण का पता लगाने का अथक प्रयास किया और उन्होंने पता लगाया भी। साठ के दशक में जा कर उन्हें पता चला कि कैरोल को एक असामान्य बीमारी है, जिसे मेडिकल भाषा में पी0के0यू0 (फ़ेनिलकेटोनूरिया) कहते हैं। पी0के0यू0 के फलस्वरूप एक विशिष्ट प्रकार की मानसिक अस्वस्थता होती है। इसके अन्य लक्षण हैं—ब्लोंड (सुनहरे) बाल, नीली आँखें तथा चर्म पर एक्ज़ीमा और मूत्र तथा शरीर से एक तीख़ी गंध आना। कैरोल में यह सब वर्तमान था। इन लक्षणों की जानकारी का श्रेय भी एक ज़िद्दी माँ को ही जाता है। श्रीमती बोर्जनी एज़लैंड के दो बच्चे इस बीमारी से ग्रसित थे, परंतु डॉक्टर यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि यह अन्य मानसिक बीमारियों से अलग प्रकार की अक्षमता है। मगर इस माँ ने हिम्मत नहीं हारी, वह बार-बार कहती थी कि उसके बच्चों के अंतःवस्त्रों से एक भिन्न प्रकार की गंध आती है। यहाँ तक कि एक डॉक्टर ने परेशान हो कर कह डाला कि हो न हो उन्हें ही कोई बीमारी है, उन्हें बच्चों का नहीं अपनी नाक का इलाज कराना चाहिए। कोई उनकी बात मानने को तैयार न था, पर वे लगी रहीं और अंततः एक डॉक्टर को उनकी बात में कुछ दम लगा। उसने विभिन्न परीक्षण किये और बात सही निकली। यह एक भिन्न प्रकार की मानसिक अक्षमता का लक्षण है। आज इस बीमारी का पता मूत्र-परीक्षण द्वारा ही किया जाता है।

यह बीमारी किसी भी परिवार के बच्चे को हो सकती है। यह अमीर-ग़रीब का फ़र्क़ नहीं करती है। पी0के0यू0 ग्रसित बालक किसी भी बात या काम पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता है। वह कुछ शब्द बोलता है, जिसे केवल उसके नज़दीकी लोग ही समझ पाते हैं, आज ऐसे बच्चों को अपना काम करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है, लेकिन उन्हें अकेला नहीं छोड़ा जा सकता। उन्हें निरंतर स्वस्थ लोगों के संरक्षण और निरीक्षण में रखना पड़ता है। बक ने इस तरह के बच्चों के अभिभावकों के संग मिलकर ख़ूब काम किया और साहित्य से भी ज़्यादा इस कार्य के द्वारा मानवता की सेवा की। उन्होंने वाइनलैंड में दोमंज़िली इमारत बनवायी और संस्थान के बोर्ड की सम्मानित सदस्य बनीं। इसके लिए उन्हें ढेरों पुरस्कार और सम्मान मिले। अस्सी साल की उम्र में फेफड़े के कैंसर से 1973 में बक की मृत्यु के बाद जेनिस वाल्स कैरोल की अभिभावक बनीं। वे पर्ल फाउंडेशन तथा पर्ल द्वारा स्थापित अन्य संस्थानों को भी सँभालने लगीं। आज पर्ल बक नहीं हैं, लेकिन उनके बनाये संस्थान ऐसे बच्चों की देखभाल के लिए काम कर रहे हैं। उन्होंने इसके लिए तमाम शोध-कार्य की व्यवस्था की। आज भी शोध-कार्य जारी है। कैरोल ने एक लंबी उम्र पायी। अपनी माँ की तरह ही वह भी फेफड़े के कैंसर से ग्रसित थी। उसके कई ऑपरेशन हुए, कीमोथेरेपी दी गयी, परंतु वह 30 सितंबर, 1992 को जो सोयी, तो फिर उठी ही नहीं। वह सत्तर वर्ष की उम्र में गुज़री। तब तक वह अपने कई काम—जैसे कपड़े पहनना, बाल काढ़ना, खाना खाने के लिए काँटे-छुरी का प्रयोग करना आदि ख़ुद करने लगी थी।

एक प्रश्न मन में उठता है, यदि पर्ल की बेटी ऐसी न होती, तो क्या वे लिखतीं? उत्तर भी स्वतः आ जाता है। हाँ, वे अवश्य लिखतीं, पर तब वह न लिखतीं, जो उन्होंने लिखा है। वह लिखना कुछ और होता।

151, न्यू बाराद्वारी, जमशेदपुर-831001

रशीद जहाँ : साहसी और बाग़ी स्त्री-चरित्रों की सर्जक

प्रेम शशांक

'दिल्ली की सैर' रशीद जहाँ की चर्चित कहानी है। आज भी लोग प्रश्न करते हैं, इस छोटी सी कहानी में ऐसा क्या था कि रूढ़िवादी कठमुल्लाओं तथा धर्म की आड़ में स्त्री-देह के निरंकुश शोषण की छूट प्राप्त पितृ-सत्ता के उत्साही पक्षधरों द्वारा छेड़ी गई 'अंगारे' (संपादित कहानी-संग्रह) विरोधी मुहिम का प्रमुख निशाना रशीद जहाँ ही बनीं। उन्हें 'अंगारे वाली' कहा गया और उनका चेहरा बिगाड़ देने, जान से मार देने तथा अपहृत कर लेने की धमकियाँ दी गयीं।

समझ नहीं आता कि इसमें इतना हैरान होने की ज़रूरत है। जहालत और पिछड़ेपन की ताक़त से जन्मी कोई भी सत्ता; चाहे वह राजनीतिक हो अथवा सामाजिक, विचार से बहुत सतर्क रहती है। उसके लिए विचार समृद्ध खड़ी-खेती में अम्ल वर्षा के समान है जिसके संपर्क में आते ही सब-कुछ ज़रा देर में तहस-नहस हो जाएगा। यह डर ग़ैर वाजिब भी नहीं है। रशीद जहाँ उसी जगह चोट करती हैं, जहाँ विचलन स्वाभाविक है। भारतीय समाज का ढाँचा पुरुष-प्रधान और द्वंद्वात्मक रहा है। मुस्लिम समाज में यह कट्टरता कहीं ज़्यादा रही है। इसलिए, बुर्क़े में दबी-ढकी स्त्री रोज़मर्रा इस्तेमाल की जाने वाली चीज़ से ज़्यादा नहीं है। रशीद जहाँ इस कहानी में इस सोच को डाइनामाइट से उड़ाती नज़र आती हैं। कारण, इस कहानी की नायिका खुद को न केवल सामान (जिन्स) समझने से इन्कार करती है, बल्कि इस सोच के ख़िलाफ़ साहसपूर्ण ढंग से प्रतिकार भी करती है। स्त्री-पुरुष अथवा पति-पत्नी का संबंध किताबी ढंग से जितनी मर्यादा अथवा गरिमा की हिमायत करता हो, लेकिन व्यवहारिक रूप में यह खाई हमेशा ही कभी समझ में न आने वाली पहेली रही है। रशीद जहाँ इस कहानी के माध्यम से इस पहेली को एक ज़बरदस्त चुनौती देती हैं।

रशीद जहाँ की इस कहानी की नायिका अपने अस्तित्त्व को लेकर जिस शिद्दत से सचेत नज़र आती है, वह उसके अनुभव और संघर्ष से उपजता है। बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन, रशीद जहाँ अनुभवीय व्यापकता से इसे सहज संभव बनाती हैं, इसलिए प्रतिपक्ष का चौंकना लाज़मी है और वह इस सोच को कुचल डालना चाहता है। रशीद जहाँ को लेकर विरोध और दुस्साहसपूर्ण आशंकित कार्यवाहियों की घोषणाएँ स्वाभाविक हैं। उर्दू की प्रख्यात कथाकार इस्मत चुग़ताई उन्हें यों याद करती हैं,... "और ज़िंदगी के उस दौर में मुझे एक तूफ़ानी हस्ती से मिलने का मौक़ा मिला, जिसके वजूद ने मुझे हिला कर रख दिया। सन् 1938 में रशीदा आपा, अंगारों वाली रशीदा आपा बन चुकी थीं। अब उनकी सुलगती हुई बातें पल्ले भी पड़ने लगी थीं। मिट्टी से बनी रशीदा आपा ने संगेमरमर के सारे बुत मुनहदिम (ध्वस्त) कर दिये थे, ज़िंदगी की नंगी सच्चाई सामने आकर खड़ी हो गयी।"

इस्मत चुग़ताई रशीद जहाँ की जिस नंगी सच्चाई की तरफ़ इशारा कर रही हैं, दरअसल वह उनकी कहानियों में व्यक्त ज़िंदगियों के ताप से निकलती है। 'इफ़्तारी' रशीद जहाँ की एक और बेहतरीन कहानी है, जो उन्हें तरक़्क़ीपसंद कहानीकारों में शुमार कराती है। लगता है, जैसे वे कहानी कहने के साथ एक और अहद करके बैठी हैं कि उन्हें मुस्लिम समाज में व्याप्त गंदगी से रूबरू कराना ही है। एक अच्छा रचनाकार किस तरह एक अच्छा जमादार हो सकता है, यह उनके कहानी-लेखन से बखूबी समझा जा सकता है। इस कहानी के संदर्भ में बेगम साहिबा और नसीबन के संबंध को देखा जा सकता है, जहाँ मानवीयता मालिक और नौकर के बीच के संबंधों में सूख कर रह गयी हो। फिर, इन दोनों के बीच फ़कीर खड़ा है, जिसके माध्यम से कहानी रफ़्ता-रफ़्ता आगे बढ़ती है।

रशीद जहाँ की टिप्पणी आग में घी का काम करने से क़तई कमतर नहीं है–"नमाज़ रोज़े का एक सूद खाने वाला ख़ान बड़ा पाबंद होता है और अपने को सच्चा मुसलमान समझता है। हालाँकि उसके मज़हब ने सूद लेने को बिल्कुल मना किया है। लेकिन, वह सूद को नफ़ा कह कर हजम कर जाता है और अपने खुदा के हुज़ूर में अपनी इबादत एक रिश्वत की शक्ल में पेश करता रहता है।" धर्म के व्यावहारिक पक्ष को लेकर इतना साफ़-शफ़्फ़ाक नज़रिया निःसंदेह ख़ासा जोखिम भरा रहा होगा। लेकिन, रशीद जहाँ बड़े साहसपूर्ण ढंग से धार्मिक कार्य-कलापों की व्यावहारिक स्तर पर समीक्षा करती चलती हैं:

"अम्मा तुम रोज़ा नहीं रखतीं?"

नसीमा ने मुस्कराकर कर बेटे की तरफ़ देखा और कहा, "नहीं।"

"अब्बा ने दरोगा जी से क्यों कहा था कि उनका भी रोज़ा

है, क्या अब्बा ने झूठ बोला था?''

नसीमा ने कुछ देर सोच कर जवाब दिया, ''तुम खुद उनसे पूछ लेना।''

''तो अम्मा तुम रोज़ा क्यों नहीं रखतीं?''

''तुम जो नहीं रखते'', ''नसीमा ने असलम को छेड़ा।

''मैं तो छोटा हूँ। दादी अम्मा कहती हैं कि जो बड़ा हो जाए और रोज़ा न रखे वह दोज़ख़ में जाता है। अम्मा दोज़ख़ क्या होती है?''

''दोज़ख़! दोज़ख़, वह तुम्हारे सामने तो है।''

''कहाँ?'' असलम ने चारों तरफ़ गर्दन घुमा कर देखा।

''वह नीचे, जहाँ अंधा फ़कीर खड़ा है। जहाँ वे जुलाहे रहते हैं, जहाँ वह रंगरेज़ रहता है और लोहार भी...''

दादी अम्मा तो कहती हैं, दोज़ख़ में आग होती है।''

''हाँ आग होती है। लेकिन, ऐसी थोड़ी होती है, जैसे हमारे चूल्हे में । दोज़ख़ की आग, बेटा, भूख की आग होती है।

''और जन्नत?''

''जन्नत यह है, जहाँ हम और तुम और चचाजान और ख़ालाजान रहते हैं। बड़ा-सा घर हो। साफ़-सुथरा। खाने को मज़े-मज़े की चीज़ें मक्खन-टोस्ट, फल, अण्डा, सालन, दूध-सब कुछ होता है।''

''तो अम्मा सब लोग जन्नत में क्यों नहीं रहते?''

''इसलिए मेरी जान, जो लोग जन्नत में रहते हैं, वे उन लोगों को घुसने नहीं देते। अपना काम तो करवा लेते हैं और इनको फिर दोज़ख़ में धक्का दे देते हैं।''

उपर्युक्त संवादों से ज़ाहिर है कि रशीद जहाँ के रोशन दिमाग़ में दोज़ख़ और जन्नत को लेकर नज़रिया कितना साफ़ है। माँ और बेटे के मध्य संवादों के माध्यम से बात कितने ख़ूबसूरत ढंग से कहानी में संप्रेषित की गयी है।

रशीद जहाँ सामाजिक व्यवस्थाओं को ही चुनौती नहीं देतीं, बल्कि स्त्री-जाति की अधोगति को लेकर काफ़ी चिंतित और सचेत नज़र आती हैं। यह उनकी कहानियों का मुख्य स्वर है। सास-बहू के रिश्ते के माध्यम से भी नहीं। इस दृष्टि से 'सास-बहू' और 'छिद्दा की माँ' कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। 'वह' और 'मेरा एक सफ़र' कहानियाँ सामान्य व्यवहार के बीच संवेदना को छूती हैं। ये सभी कहानियाँ स्त्री को खुद को पहचानने और आदर से देखने की हिमायत करती हैं, ताकि वह समाज के सामने सिर उठा कर जी सके। इस प्रक्रिया में आत्म-आलोचन की कड़ी कसौटी की परवाह भी नहीं की गयी है। लेखिका जानती है कि आत्म-आलोचन की आग से गुज़रे बिना शुद्धता संदिग्ध है। इसलिए, उनकी कहानियों के स्त्री-चरित्र इस कसौटी से घबराते नहीं हैं। 'बेज़बान' और 'वह जल गयी' कहानियाँ समाज के बदलते नज़रिये से प्रभावित दोनों पक्षों को सामने रखती हैं। जहाँ 'बेज़बान' में बदलते ज़माने के साथ न चल पाने के कारण सिद्दीक़ा बेगम की शादी नहीं हो पाती (क्योंकि उसके माँ-बाप विवाह पूर्व बेटी को चयनित दूल्हे को दिखाने के सख़्त ख़िलाफ़ हैं तो), वहीं 'वह जल गयी' कहानी में बदलते ज़माने के साथ चाल मिलाने के चक्कर में बिमला पहले चरित्र से गिरती है, फिर जान से जाती है। इन कहानियों को दो अतियों की शिकार ज़ेहनियत की कहानियाँ भी कहा जा सकता है। लेकिन, इन कहानियों के संदर्भ में भी कहानीकार की तारीफ़ करनी होगी कि कहानी-कला की धार ज़रा भी कुन्द नहीं हुई है। दो भिन्न समाजों में स्त्री की स्थिति एक ही समय में किस तरह जुदा होते हुए भी संत्रस्त और शोषित है, ये कहानियाँ सामने रखती हैं।

'वह जल गयी', 'क़ानून और इंसाफ़' और 'सौदा' कहानियाँ बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के समाज में स्त्री-पुरुष संबंध और स्त्री-देह के पारंपरिक इस्तेमाल, चाहे संबंधों की आड़ हो अथवा न हो, के बेबाक चित्रण के कारण एक रेंज में रखी जा सकती है। इन कहानियों से सहज ही समझा जा सकता है कि स्त्री-देह के बग़ैर न तो कोई समाज आधुनिक हो सकता है और न ही प्रगतिशील। 'औरत व मर्द' कहानी में तो संवाद के ज़रिये स्त्री की नौकरी को आर्थिक आज़ादी से जोड़ते हुए स्त्री-मुक्ति व सशक्तीकरण की जैसे रशीद जहाँ शुरूआत करती हैं। रशीद जहाँ ने ये कहानियाँ भले उर्दू भाषा में लिखी हैं और अनुवाद के ज़रिये हिन्दी-समाज में पहुँची हैं, लेकिन इन कहानियों से भारतीय परिप्रेक्ष्य में कहानी के स्तर को बख़ूबी समझा जा सकता है। रशीद जहाँ ने इन कहानियों की मार्फ़त समाज के हर तबक़े की औरत पर बराबर नज़र रखी है और एक बेहतर भविष्य की संभावना की जो लौ '80 वर्ष पहले के समाज में जगाई, न केवल यह काम जोख़िम भरा रहा होगा, बल्कि अभूतपूर्व था। 'रशीद जहाँ की कहानियाँ' इसी शीर्षक से श्री शकील सिद्दीक़ी ने संपादित की हैं। ये पुस्तक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि0, सेमीखेड़ा, बरेली (उ0प्र0)243203



औरतें ही क्यों डायन और पागल ठहरायी जाती हैं?

सुधा अरोड़ा

भारत के गाँवों-कस्बों में आज भी प्रताड़ना का यह सिलसिला जारी है। किसी भी औरत को चुड़ैल या डायन घोषित कर उसके साथ मनमाना सुलूक किया जाता है। इसमें कई बार गाँव की दूसरी औरतें भी शामिल हो जाती हैं । ऐसी औरतें, जिन्हें उस औरत से कोई ज़ाती नाराज़गी या पुराना बैर हो। कुछ औरतें तमाशा या हिंसा देखने के लिहाज़ से जमा हो जाती हैं। फ़िल्मों में जैसी हिंसा, तोड़-फोड़, मारपीट दिखायी देती है, रोज़मर्रा की वास्तविकता में उसे सामने घटते हुए देखना भी एक विचित्र उन्माद को पोसता है।

ऋषभदेव शर्मा की एक ताज़ा रिपोर्ट—'' 5 अक्तूबर, 2008। ग्राम–खरा, ज़िला–सिरोही, राजस्थान । इस गाँव खरा में 'घरासिया' नाम की जनजाति रहती है। गाँव में दो मौतें हुईं तो कारणों की तलाश शुरु हुई। ज़रूर इसके पीछे किसी डायन का हाथ होगा। 32 साल की गुजरिया को इन मौतों का ज़िम्मेदार ठहराकर गाँव वालों ने उस पर डायन होने की तोहमत मढ़ दी। उसके बाद गाँव में पंचायत बैठी। पंचायत पर कब्ज़ा पुरुषों का जो अपने को भाग्यविधाता से कम नहीं समझते। पुरुष-वर्चस्व प्रधान पंचायत की चार्ज़शीट मीसा और पोटा से ज़्यादा ख़तरनाक हुआ करती है। आरोपी के ख़िलाफ़ कोई सबूत पेश नहीं किये जाते। बस, आरोप लगा दिया जाता है और चुनौती दी जाती है कि हिम्मत है तो खुद को पाक-साफ़ साबित करके दिखाओ। पुरुषों की शर्त पर भारतीय स्त्रियाँ युगों से परीक्षा देती आयी हैं। पंचायत ने गुजरिया की परीक्षा लेने की ठानी । उबलते तेल के कड़ाह के नीचे एक सिक्का डालकर गुजरिया को नंगे हाथों से यह सिक्का निकालने को कहा गया। अगर वह भली औरत होगी, तो उसके हाथ जलेंगे नहीं। हाथ जल गये, तो साबित हो जाएगा कि वह डायन है ।

''गुजरिया गुजरिया थी, कोई सीता माता नहीं कि उसे अग्नि न जलाती। वैसे किंवदंती है कि अग्निपरीक्षा छाया सीता ने दी थी, असली सीता तो अग्निदेव के घर सुरक्षित थी। लीला में ऐसा ही होता है, पर गुजरिया पर जो बीती, वह लीला नहीं, क्रूर सच्चाई थी।

''उसके हाथ खौलते तेल में जल गये, तो उसे डायन घोषित कर दिया गया। अब उसे मार-पीट कर सलाख़ों से दाग़ कर बेहोशी की हालत में उसे उसके घर के दरवाज़े पर फेंक दिया गया। घर के सदस्य इतने आतंकित थे कि उसे घर के भीतर न ले सके। उसे अस्पताल पहुँचाया गया।''

यह घटना नयी नहीं है। अक्सर ऐसी घटनाएँ होती हैं और कसूरवार एक व्यक्ति नहीं, एक पूरा समूह होता है, इसलिए क़ानून भी कोई सख़्त कार्रवाई नहीं करता। यह अपराधी-समूह बेख़ौफ घूमता रहता है।

29 मार्च , 2002। देवली के पास मानपुरा गाँव, टोंक ज़िला, राजस्थान, दिन के सवा बारह बजे। अचानक गाँव के बारह-तेरह लोगों की एक टोली, जिसमें महिलाएँ भी शामिल थीं, लोहे की छड़ें और कुल्हाड़ी लेकर एक घर में घुस आयी और वहाँ रहने वाली मीणा जाति की कमला देवी को चुड़ैल और डाकिन कहते हुए उस पर टूट पड़ीं। रामसिंह ने लोहे की छड़ से उसके सिर पर तीन वार किये। उसकी ख़ूब पिटाई की गयी, उसके गुप्तांग पर मिर्च छिड़क दी गई और उसे डेढ़ घंटे तक गाँव के एक दूसरे घर की ओर नग्न अवस्था में घसीटते हुए ले जाया गया।

डाकिन उर्फ़ डायन को मारने-पीटने के इस 'पुण्य कार्य' में कई लोग शामिल हो गये। उसे मारते हुए लोग चिल्ला रहे थे, ''तूने परेशान कर रखा है। हम तुझे जान से ख़त्म कर देंगे। बोल, तू बच्चों को खाना छोड़ेगी या नहीं? अपने जादू से बाज़ आएगी या नहीं?''

पिट-पिट कर बदहाल हुई औरत के पास कहने को क्या हो सकता है ? गाँव के ही एक अन्य मीणा के घर में उसे बंद रखा गया, यह कहते हुए कि उस घर की एक लड़की मीरा पर भी चुड़ैल आ विराजी है और यह कमला का ही जादू है, वही इसे भगा सकती है ।

शाम के समय अधमरी अवस्था में उसे वापस उसके घर लाकर डाल दिया गया, इस धमकी के साथ कि ख़बरदार, परिवार में से किसी ने भी अगर पुलिस में रिपोर्ट करने की कोशिश की, तो पूरे परिवार को ख़त्म कर देंगे।

जयपुर से कविता श्रीवास्तव ने दो दिन बाद ही इस घटना की सूचना दी थी। बीसेक दिन बाद जब उससे बात हुई तो उसने बताया—''याद है, कमला के बारे में बताया था मैंने। अभी वह

नहा-धोकर सोयी है। लगता है जैसे महीनों से नहीं सोयी।''

इस तरह की ख़बरें सुनकर यह सवाल हमें परेशान करता है कि क्या पूरे गाँव के लोगों का ज़मीर मर गया है कि वे एक बेकसूर औरत को भीड़ द्वारा पिटते हुए देखते रहते हैं और कोई आवाज़ नहीं उठाता? अकेले राजस्थान में पिछले दो सालों में पाँच महिलाओं को डाकिन बताकर उन्हें तरह तरह से प्रताड़ित किया गया है।

गाँव की कुछ बुजुर्ग औरतें या पुरुष, जो इसके ख़िलाफ़ बोलना चाहते भी हैं, लोगों की वहशी भीड़ और जुनून के डर से किनारे खड़े हो जाते हैं। कई बार एक औरत सामूहिक रूप से मार खाते-खाते इस क़दर बदहवास हो जाती है कि वह हार कर चीख़ने लगती है-''हाँ, हाँ, मैं डायन हूँ, मैं तुम सब का नाश कर दूँगी।''

इस तरह की घटनाओं में कई बार 'डायन' औरत को मार-मार कर उसकी हत्या भी कर दी गयी है, पर हर बार हत्यारे छूट जाते हैं, क्योंकि हत्यारा कोई एक नहीं, पूरा समूह होता है और गाँव की व्यवस्था उसे सहमति देती है।

महाराष्ट्र की एक आदिवासी सामाजिक कार्यकर्ता सखुबाई इसके पोछे के कारणों की जाँच में कुछ तथ्यों को सामने रखती है। मुंबई की एक सामाजिक संस्था 'स्पैरो' ने सखुबाई से एक मौखिक इतिहास कार्यशाला के दौरान लिए एक साक्षात्कार में इन तथ्यों का ख़ुलासा किया। सखुबाई गावित डहाणु तालुका के मेगपाड़ा बाँदघर गाँव की एक आदिवासी महिला है। पिछले दस वर्षों से वह 'काश्तकारी संघटना' के साथ काम कर रही है। यह संघटना छोटे किसानों और भूमिहीन मज़दूरों के हित के लिए कार्य करती है। सखुबाई हमेशा औरतों के हक़ में आवाज़ उठाती है। ऐसे मर्द, जो रात को नशे में धुत होकर अपनी औरत को मारते-पीटते हैं, जो एक बीवी के होते हुए दूसरी औरत को घर ले आते हैं और पहली बीवी से उसकी सेवा-टहल करने को कहते हैं; सखुबाई ऐसे पुरुषों के ख़िलाफ़ औरतों को एक जुट करती है।

''मुझे भी किसी दिन मौक़ा मिलते ही ये लोग 'चेटकीण' (चुड़ैल) बता देंगे। मुझे दबाने के लिए दूसरों को भी भड़काएँगे! सखुबाई कहती है, ''ऐसी औरतें जो मज़बूत हैं, जो अपने हक़ के लिए लड़ती हैं, उन्हें 'चेटकीण' बुलाने का मौका ढूँढते हैं ये लोग!''

सामाजिक कार्यकर्ताओं को 'डायन' कहलाये जाने का अनुभव है। सखुबाई की सहयोगी शिराज बाई ने बाल विवाह के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी थी, तो गाँव के कुछ लोगों ने कह दिया,

''शिराजबाई भूताली आहे!'' कुछ ने कहा, ''हमारी औरतों को शिराज बाई उल्टी पट्टी पढ़ाती है, हम उसको तो कुछ नहीं बोल सकते, पर अपनी औरतों की पिटाई कर उनका दिमाग़ ठिकाने पर ला सकते हैं।''

औरत को डायन ठहराने के पीछे के कारणों की खोज करें, तो कुछ रोंगटे खड़े कर देने वाले तथ्य हाथ लगते हैं। महाराष्ट्र के कैनाड गाँव में एक ज़मींदार ने एक ऐसी औरत को डायन कहकर प्रचारित कर दिया, जिसके आदमी की उन्हीं दिनों मौत हुई थी और उसे उसकी ज़मीन उसकी विधवा के नाम करनी थी। ज़मींदार ने कहा कि यह डायन अपने पति को खा गयी, इसे गाँव से बेदख़ल करो। ऐसी विधवा औरतें, जिनके बच्चे छोटे-छोटे हैं, जिन्हें ज़मीन अपने नाम करवानी है, उन्हें उनकी ही ज़मीन से बेदख़ल करने के लिए उनके बारे में अफ़वाह फैला दी जाती है कि वे जादू-टोना करती हैं। उनके ही पति की मौत की घटना को उन्हें डायन ठहराने के साक्ष्य के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। संयोग से, अगर उस दौरान गाँव के किसी भी बच्चे की किसी भी हारी-बीमारी से मौत हो जाए, तो उसकी ज़िम्मेदारी सीधे उस औरत पर डाल दी जाती है, जिसे डायन घोषित कर कुछ लोगों का स्वार्थ सधता है। और, गाँव के अधिकांश लोग झट इस तरह की घटना को डायन के कारण आयी आपदा मानकर अपनी तार्किक बुद्धि को ताक़ पर रख उस औरत की जान के पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं।

मानपुरा गाँव में कमला देवी के साथ हुई इस घटना की जब छानबीन की गयी और कुछ महिला कार्यकर्ताओं ने, जिनमें जयपुर की कार्यकर्ता कविता श्रीवास्तव भी शामिल थीं, इस मामले में हस्तक्षेप किया, तो पता चला कि यह भी 'बाड़े (ज़मीन) का मामला' था। गाँव की किसी भी औरत को उसकी ज़मीन से बेदख़ल करने का सबसे आसान तरीक़ा उस ज़मीन पर कब्ज़ा पाने वाले लोगों को यही लगता है कि काँटे को किसी न किसी बहाने से जड़ से ही उखाड़ डालो। कोर्ट-कचहरी और मुक़दमे के चक्कर में बरसों निकल जाते हैं और हासिल कुछ नहीं होता। वकीलों को घूस देनी



पड़ती है, फिर भी ज़मीन हाथ में आने की गारंटी नहीं होती। इसलिए, सुनियोजित साजिश को अंधविश्वास का जामा पहना कर गाँववालों को अपने पक्ष में कर लेना, उनके लिए आसान होता है, क्योंकि गाँव के लोगों में इस अंधविश्वास की जड़ें गहरे तक धँसी हुई है और अंधविश्वास को कोई पुलिस या व्यवस्था बदल नहीं सकती।

सुप्रसिद्ध बांग्ला कथाकार महाश्वेता देवी की एक चर्चित कहानी है–'बांयेन' (जिस पर हाल ही में चित्रा पालेकर ने एक खूबसूरत मराठी फिल्म 'माती माय' बनायी है), जिसमें गाँव में प्रचलित इस अंधविश्वास के दो प्रकार हैं–एक डायन होती है और एक बांयेन। बांयेन को मारा नहीं जाता, क्योंकि बांयेन के मरने से गाँव के बच्चे ज़िंदा नहीं बचते, ऐसी मान्यता है। अगर किसी को डायन धर ले, तो उसे जलाकर मार देते हैं, पर बांयेन के धरने पर उसे ज़िंदा रखना पड़ता है। एक गाँव की सीमा के बाहर एक औरत पगलाई-सी घूमती है। अपने 'बांयेन' करार दिये जाने की स्थिति से पूरी तरह जागरूक वह खुद ही चलते-चलते लोगों के रास्ते से परे हट जाती है। बांयेन जब कहीं जाती है, तो टिन बजाकर लोगों को सचेत करती जाती है। बांयेन को जाते देखकर बच्चे-बूढ़े सभी रास्ता छोड़कर हट जाते हैं। बांयेन की नज़र पड़ जाए, तो खड़ा पेड़ मिनटों में सूख जाता है। गाँवों में आज भी इस तरह के अंधविश्वास बख़ूबी पल रहे हैं।

0 0 0

यह तो हुई गाँव की बात। अब शहरी जीवन पर आएँ। क्या आपने कभी किसी मानसिक अस्पताल की औरतों से बात की हैं ? वे औरतें, जो वहाँ बतौर मरीज़ अपनी ज़िंदगी बिता रही हैं, उनमें से कई आपको ऐसी मिलेंगी, जिन्हें बड़े सुनियोजित तरीके से पागल बना दिया जाता है ।

हिन्दी फ़िल्म जगत् के एक बड़े अभिनेता की पत्नी एक महिला संगठन में सहायता के लिए आया करती थीं । उनके बारे में सुन रखा था कि वे एक बिगड़ा हुआ केस हैं और मानसिक रूप से पूरी तरह विक्षिप्त हैं, पर जब उनसे कई बैठकों में लंबी बातचीत की गयी, तो वे बहुत धीरे-धीरे अपनी चुप्पी से बाहर आयीं और यह बता पाने के लायक हुई कि कैसे उन्हें धीरे-धीरे विक्षिप्तता के कगार पर पहुँचाया गया। अक्सर सत्ता और शक्तिसंपन्न ऐसे संभ्रांत पुरुष, जिनके विवाहेतर संबंध होते हैं, अपने अनैतिक संबंधों को जायज़ ठहराने के लिए और अपनी ब्याहता पत्नी से छुटकारा पाने के लिए उस पर मानसिक रूप से अस्वस्थ होने का आरोप लगा देते हैं। यह आरोप एकाएक नहीं आता। आमतौर पर पुरुष अपने विवाहेतर संबंधों में अपनी पत्नी की दख़लंदाजी नहीं चाहता। सबसे अहम बात यह कि वह ऐसे संबंध रखने को न सिर्फ़ अनैतिक नहीं मानता, बल्कि इसे अपना अधिकार समझता है। उसकी यह समझ पुरुष-वर्चस्ववादी समाज की ही देन है। साम, दाम, दंड, भेद–हर तरीक़े से वह पहले प्यार से, फिर डरा धमकाकर लगातार इसी कोशिश में रहता है कि पत्नी अपने 'पत्नी' होने के ओहदे को अपनी पूँजी समझते हुए, उस ओहदे पर प्रसन्नता से आसीन रहे और पति के संबंधों को लेकर चेहरे पर शिकन न लाए। अगर पत्नी अपने ओहदे भर से संतुष्ट नहीं रहती और बार-बार पत्नी होने का हक़ जताती है, तो पति उसे उसकी सही 'जगह' दिखा देता है। लगातार तनाव में रहते हुए उसके व्यवहार में जो हताशा, अस्थिरता और निराशा आ जाती है, उसका सहारा लेकर पति उसे मानसिक रूप से असंतुलित घोषित कर देता है और अपने दूसरे संबंध के लिए अपने मित्रों और परिचितों से सहानुभूति और सामाजिक स्वीकृति चाहता है। मध्यवर्गीय महिलाओं से लेकर ऊँची सोसायटी की महिलाओं तक को अक्सर मानसिक चिकित्सक के क्लीनिक से होते हुए मानसिक अस्पतालों की दहलीज़ पर देखा गया है।

0 0 0

अगली बार आपका सामना किसी मध्यवर्ग या संभ्रांत परिवार की ऐसी शादीशुदा महिला से हो, जो मानसिक रूप से विक्षिप्त घोषित कर दी गयी है, तो उसे एक सामान्य पागलपन का केस समझकर ख़ारिज़ न कर दें, यह निश्चित मानिए कि वह अपने भीतर एक सुनियोजित साजिश का इतिहास संजोये है।

वसुन्धरा, 602, गेटवे प्लाजा,
हीरानन्दानी गार्डन पॉवल, मुंबई-400076



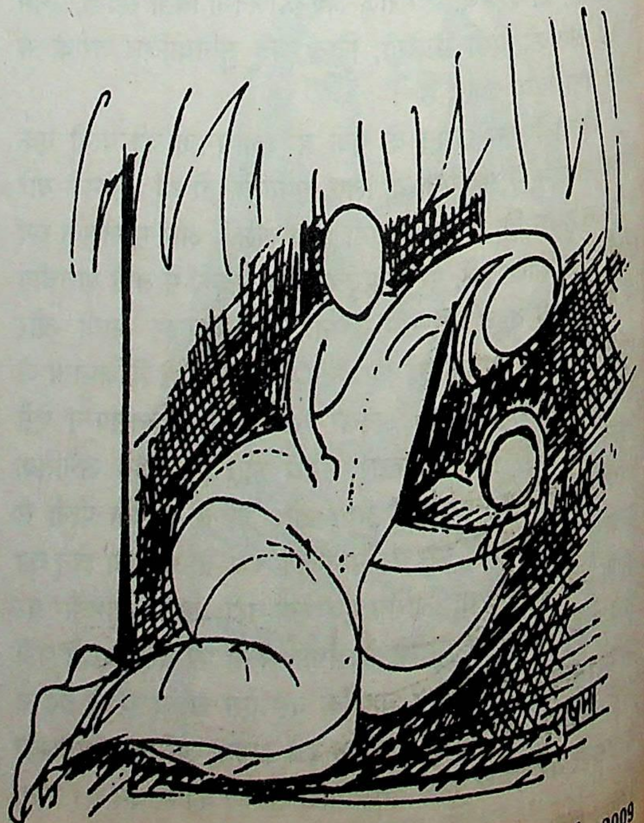
जब बच्चे बड़े हो गये !

अंजलि सिन्हा

रिद्धिमा 20 साल की उम्र में शादी के बाद अपने नये घर आयी थी। अरेंज्ड मैरिज थी। नये घर के नये सदस्यों से वह पहली बार मिली थी और अपने पति से भी। सगाई पर जब मिले थे, तब बात नहीं हुई थी। अब तो सालों बीत गये हैं इस घर को समझने और ज़िम्मेदारियों को निभाने में। लेकिन, नूतन ने तो लव मैरिज की थी और वह भी अंतर्जातीय। इसीलिए, ससुराल या मायके से कोई रिश्ता नहीं रहा था, बहुत दिनों तक। पति-पत्नी दोनों अलग शहर में जहाँ दोनों की नौकरी है, वहीं रहते हैं। दोनों तरफ़ के परिवारों के सदस्य भी बाद में आने-जाने लगे, लेकिन कभी-कभार।

रिद्धिमा और नूतन दोनों की स्थितियाँ काफ़ी भिन्न लगती हैं ऊपर से देखने में। रिद्धिमा ससुराल में सास, ससुर, देवर, ननद सबके साथ थी और नूतन सारे बंधनों से मुक्त, लेकिन वास्तविक हालात अब काफ़ी कुछ एक जैसे होने लगे हैं। दोनों चालीस पार कर चुकी हैं। दोनों के बच्चे बड़े हो गये हैं और आजकल के बच्चों की तरह स्वतंत्र तथा आत्मविश्वास से भरपूर हैं। वे माँ-बाप से हालचाल पूछना चाहते हैं और बताना भी, लेकिन अब वे निर्भर नहीं हैं, उनकी अपनी दुनिया है, अपना ही सर्किल है मित्रों का। इन दोनों माताओं ने बच्चे पैदा करने के बाद अपना सब कुछ यानी सारी ऊर्जा बच्चों में झोंक दी थी। ऐसा नहीं है कि बच्चों की भलाई के लिए ऐसा ही करना ज़रूरी था। बच्चों को कितनी केयर की ज़रूरत है और माताएँ कितना उन्हें अपने केंद्र में बना लेती है, इसमें मतांतर हो सकता है। यह भी ध्यान देने लायक मुद्दा है कि बच्चों के पिता के रुटीन में बच्चों के लिए कितना समय और ज़िम्मेदारी तय है।

एक तो गृहणी थी ही, उसने तो घर-परिवार और बच्चों के बारे में ही सोचा, लेकिन दूसरी तो ऑफ़िस जाती थी। वह होती तो थी दफ़्तर में, लेकिन मन बसता था घर में। दफ़्तर का काम जल्दी-जल्दी निपटाया, कुछ अतिरिक्त काम भी दफ़्तर में उसके सिर आ जाता, उसे भी कर दिया करती और फिर घर भागती। उसके बाद एकदम व्यस्त। कभी अपनी स्वतंत्र मित्र मंडली नहीं बनायी, जीवन में किसी शौक या उद्देश्य के बारे में कभी विचार नहीं किया, व्यक्तित्त्व का कोई और आयाम विकसित हो सकता है, इसकी ज़रूरत कभी महसूस नहीं की। ऑफ़िस के काम में भी सहभागिता ठीक से बन नहीं पाती थी, क्योंकि घर प्राथमिकता पर था, बच्चे भी अभी ग्रोइंग स्टेज में थे। वैसे तो सब ठीक था, लेकिन कुल मिलाकर इस पूरे दौर में उसकी निर्भरता कुछ ऐसे बन गयी थी कि अब लगता है जैसे सारा आत्मविश्वास ख़त्म हो गया है, खुद पर भरोसा नहीं होता कि सार्वजनिक दायरे के किसी कार्यक्रम में शामिल भी हो जाए, मानसिक तौर पर घर में सिमट कर रह गयी। अब जब घर से थोड़ा समय निकलने लगा है, बच्चे बड़े हो गये हैं, तो कुछ करने का भटक ही नहीं खुलता है, न ही रुचि बन पाती है। शादी के दो-ढाई दशक बाद तक वह पति-बच्चों में ऐसे डूबी कि अपने व्यक्तित्त्व, ज्ञान-फलक तथा रुचियों का क्या हुआ, इसका कोई ख़्याल भी नहीं था। और अब जब सुध आयी, जब वह अपने आप को ढूँढना चाहती है, तो लगता है समय बीत गया, कुछ हाथ नहीं लगने का अहसास सालता है। ऐसा भी नहीं है कि कुछ भी शुरू करने के लिए या नयी जीवन दिशा तय करने के लिए उम्र कोई बड़ा कारक या अवरोधक हो। इन्सान कभी भी कुछ भी कर



और सोच सकता है, किंतु यहाँ महिलाओं के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी चुनौती से, नये सिरे से खुद को पहचानने से तथा समय गँवा देने के अहसास से वह बच सकती थी, यदि वह अपने जीवन की योजना थोड़ा-सा खुद को भी केंद्र में रख कर बनाती।

एक समय बाद बच्चों की अपनी दुनिया होती है और होनी भी चाहिए। लेकिन, माँ को आदत बनी रहती है तथा उसे अच्छा भी लगता है कि बच्चे 'बच्चे' बने रहें और वह उनका ख़्याल रखती रहे, जोकि बच्चों की ज़रूरत नहीं होती। पति की घर के बाहर की पहले से ही दुनिया होती है, वह अपने ऑफ़िस के साथ बाहर की दुनिया को भी मेन्टेन करता है और कई बार अपने रिटायरमेंट के बाद भी वह इस दुनिया में अपनी सार्थकता तलाशता है।

हमारा एक रिश्तेदार बैंक में मैनेजर है। उसके जितने खातेधारक बिजनेस वाले हैं, उन सबसे वह उस व्यवसाय के बारे में जानकारी लेता रहता है। उसकी अपनी मानसिक तैयारी अपने रिटायरमेंट के बाद कुछ व्यवसाय करने की है। वह कहता है कि आजकल तो 60 साल में रिटायर होने के बाद भी 15-20 साल तो आराम से ही जी लेता है इन्सान, फिर इतने साल बैठकर क्या करना, कमाने के लिए न सही, लेकिन अपने इन्वॉल्वमेंट के लिए तो कुछ अभी से सोचना चाहिए।

अक्सर औरत के लिए यह चालीस पार का समय होता है, जब वह अपने अस्तित्त्व को सार्थक साबित नहीं कर पाती है। अपनी इस मानसिक या अंदरूनी बेचैनी को कई बार यह मान कर शांत करने का प्रयास करती है कि शायद मेनोपॉज़ की उम्र नज़दीक आ रही है और हारमोनल बदलाव के कारण मन अशांत है। अपने अकेलेपन की अनुभूति उसे असुरक्षा-भाव में भी डालती है। वह कभी-कभी यह विचार करती है कि जो कुछ पीछे छूट गया—कैरियर, नौकरी या नौकरी की तरक़्क़ी, अपनी मित्र-मंडली, कुछ और करने की कई सारी योजनाएँ—वे सब नये सिरे से हासिल हो सकती हैं क्या? लेकिन उसका अपना सहारा, जिसकी वह आदी हो चुकी होती है, उसका इससे कोई सरोकार नहीं है। उसे सहयोग-समर्थन साथ-साथ चलने का वायदा सब कुछ जैसे अभी तक रही है, उसी में मिलने की गारंटी है।

मूल मुद्दा यही है कि तक़रीबन दो पड़ाव बीत जाने के बाद औरत अपने आप को व्यस्त और सार्थक हालत में कैसे रखे। पहले की चालीस पार (या पचास) औरत के जीवन का अब की इस उम्र की औरत के जीवन से बड़ा फ़र्क़ है कि पूरा पारिवारिक ढाँचा बदल गया है। पहले के संयुक्त परिवारों में बहुओं से झगड़ा या प्रेम करते, नाती-पोतों की ज़िम्मेदारी उठाते, अचार-पापड़ बनाते, रिश्तेदारों की ख़ातिरदारी करते तथा समय-समय पर शादी-ब्याह, त्योहारों के उत्सव तथा तैयारी में उसका समय बीत जाता था। अड़ोसी-पड़ोसी के पास भी हालचाल जानने के लिए समय होता था। आज बच्चों की जहाँ नौकरी है, उनकी गृहस्थी वहीं बस जाती है तथा अन्य गतिविधियाँ अपना दायरा बढ़ा नहीं पायी होती हैं।

यह भी है कि औरत को अपने स्त्रीत्व, प्रजनन तथा आकर्षण पर शुरू से ही गर्व करना सिखाया गया होता है। उसे अपने स्त्रीत्व के कमज़ोर पड़ने का भय भी सताने लगता है। अपनी उम्र छिपाने या कमनीयता बनाये रखने का प्रयास इसी का नतीजा होता है। आज इन अनुभवों और स्थितियों से सबक निकालने का तथा समाधान तैयार करने का वक़्त आ गया है। संभव है कि ऐसी समस्याएँ सभी महिलाओं के सामने नहीं आएँगी या यह भी संभव है कि कुछ तुलसीदास के दोहे को चरितार्थ करेंगी कि 'सबसे भले वे मूढ़ जिन्हें न व्यापे जगत गति।' यानी उन्हें अपने खालीपन या निरर्थकता का अहसास ही नहीं हो। ऐसों की बात हम छोड़ दें और यहाँ उनकी बात करें, जो अंतिम घड़ी तक सार्थक समय बिताना चाहती हैं, समाज में अपनी क्षमता, दक्षता-कौशल का योगदान भी करना चाहती हैं। ऐसे में यह देखना चाहिए कि हर व्यक्ति सबसे पहले एक पूरा व्यक्ति बने। परिवार और वह स्वयं अपने स्वतंत्र व्यक्तित्त्व को स्वीकार करे। बच्चे भी ख़ूब प्यार से पलें, लेकिन अंदर और बाहर के काम के साथ-साथ पलें। अंदर का काम भी साझा हो, ताकि माँ को भी अपने बाहर की दुनिया आबाद करने का अवसर और समय मिल सके। यदि बेकार होना भी हो, तो वह शारीरिक अशक्तता या बुढ़ापे से हो, जो अनिवार्यतः सभी के जीवन में आता ही है। और इसीलिए उसकी तो मानसिक तैयारी भी रहनी चाहिए। लेकिन, शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य ठीक होने पर बेकारी का, खालीपन का या अनुपयोगी होने का अहसास क्यों?

निश्चित ही इसका कारण हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के अलग-अलग स्थान से, उनके भिन्न-भिन्न समाजीकरण की प्रक्रिया से है। पूरा सामाजिक ताना-बाना आज भी मुख्यतः ऐसा बना हुआ है, जिसमें आम औरत की दुनिया सीमित दायरे में सिमट जाती है। उसके खालीपन का ही एक प्रतिबिंब हम देख सकते हैं कि हमारे समाज में ढोंगी बाबाओं के पास आत्मा की सुख-शांति के चक्कर में मध्यम अवस्था की महिलाएँ बड़ी संख्या में आती हैं। शहर में बाबा के पहुँचते ही वे दर्शन के लिए उमड़ पड़ती हैं। उन्हें अपनी आंतरिक निराशा और बेचैनी का इलाज़ चाहिए होता है, जो इन बाबाओं को अच्छी तरह पता होता है। वे इसी मनःस्थिति का लाभ उठाते हैं। वे तरह-तरह से काउंसिलिंग करते हैं तथा भगवान की आड़ में अपनी ही आराधना में इन महिलाओं को जीत लेते हैं। बेसहारे को सहारा दिलाने का अहसास कराने में कहीं न कहीं वे सब सफल साबित हो जाते हैं, तभी तो उनका धंधा फलता-फूलता है।

एच-4, पूसा अपार्टमेन्ट्स, रोहिणी सेक्टर 15, दिल्ली-110089

(अंजलि सिन्हा 'स्त्री अधिकार संगठन' से संबद्ध हैं और सत्यवती कॉलेज (सांध्य) में काउन्सलर के पद पर कार्यरत हैं)

पितृसत्ता और प्रेम विवाह

अलका पाण्डेय

प्रेम यानि फ़ॉल इन लव। हम प्रेम करते नहीं, प्रेम में पड़ जाते हैं। प्रेम हो जाता है, न चाहते हुए भी हम कहीं फंस जाते हैं। आम भारतीय समाज में कुछ इस तरह की बातें सिखाई-सुनाई देती हैं।

प्रेम एक पवित्र भावना, लेकिन कब तक ? जब तक प्रेम भाई-बहनों के बीच हो, माता-पिता से हो, सगे-संबंधियों से हो। अपने से प्रेम पवित्र है लेकिन उसके बाद का प्रेम पवित्र की श्रेणी में नहीं गिना जाता। वह प्रेम जो इन दायरों से बाहर होता है वह प्रेम निषिद्ध कोटि की श्रेणी में आता है। और हो भी क्यों न,क्योंकि इस निषिद्ध श्रेणी के प्रेम में प्रेम करने वालों के दायरे ज्यादा विस्तृत हो सकते हैं। वह प्रेम मात्र भावनात्मक पवित्र प्रेम तक ही सीमित नहीं रहता, वह उससे आगे भी जा सकता है।

सच्चा प्रेम सामाजिक मान्यता चाहता है, विवाह चाहता है, स्थायित्व चाहता है। अब इस बात पर अभी बहस न ही करें कि कितने प्रतिशत लोग सचमुच प्रेम करते हैं और कितने प्रतिशत प्रेम करने वाले सचमुच वफ़ादारी के साथ इस प्रेम को स्थायित्व व सामाजिक मान्यता देना चाहते हैं। यह एक अलग बहस का विषय हो सकता है। पर जो प्रेम करते हैं और सचमुच इन रिश्तों को सामाजिक मान्यता देते हुए स्थायित्व चाहते हैं उनका हश्र क्या होता है? पहले तो अगर अन्तर्जातीय/अंतर्धार्मिक विवाह है तो कोई पक्ष राज़ी नही। दर-दर भटको। (समझदार माता-पिता की संख्या पहले की तुलना में बढ़ी है, इससे इंकार बिल्कुल नहीं किया जा सकता) अपनी मर्जी से बिना बताये शादी कर लो तो भागने का इल्ज़ाम लगवाओ और न करो तो दूसरा रास्ता क्या है? लेकिन जो माता-पिता राजी हो जाते हैं (कुछ ही समझदार लोग होते हैं। और कुछ ही माँ-बाप सचमुच बच्चों की खुशी को अपनी खुशी समझते हैं) अगर अपनी जाति है तो राज़ी हो जाने में ही फ़ायदा है क्योंकि आज नही तो कल एक होना ही है। अच्छा है राजी हो जाओ।

न राज़ी होने में सब कुछ छोड़ना पड़ेगा। इसीलिए कहा गया है कि समझदार व्यक्ति जब देखता है कि सब कुछ जा रहा है तो आधे को छोड़ देता है और आधा समेट लेता है। राजी हो जाओ, कुछ तो मिलेगा। यह भी हो सकता है कि लड़की अपने से ज़्यादा उच्च परिवार की हो और कीमत से ज़्यादा मिल जाये। लड़की वालों को इज्ज़त के नामपर ब्लैकमेल करके ज्यादा से ज्यादा वसूला जा सकता है। या इसका उल्टा भी हो सकता है कि 'प्रेम' की वजह से लड़का हाफ़ रेट पर ही मिल जाये। यानी दोनों तरफ़ के लोग फ़ायदे में रह सकते हैं। एक ही जाति में प्रेम विवाह में जाति तो समस्या नहीं होती पर लड़के वाले हर मामले में शादी को तयशुदा विवाह जैसा बनाना चाहते हैं, ख़ासतौर से दहेज के मामले में।

प्रेम विवह में ज्यादातर लड़की वाले नाक-भौं सिकोड़ते हैं। इज्ज़त का सवाल है। प्रेम करना या होना ही नाक कटाने के लिए काफ़ी है। हज़ारों प्रेम विवाह एक ही जाति या रिश्तेदारों के बीच होने के बावजूद नहीं हो पाते और रिश्तेदारों के बीच होने वाले प्रेम विवाहों को लोग जान ही नहीं पाते कि विवाह प्रेम की परिणिति था। सब कुछ चुपचाप हो जाता है। जो जान भी पाते हैं कि वह विवाह प्रेम की परिणति था, लोग कानाफूसी भले करें, मुँह से कुछ नहीं कहते।

लड़की की तुलना में प्रेम विवाह की स्वीकृति लड़के वालों कीतरफ़ से ज्यादा तथा पहले मिलती है। कारण 'लड़का' है। उसे छोड़कर आप जायेंगे कहाँ? लड़की को तो वैसे भी छोड़ना ही है फिर आजकल अकेले लड़कों की संख्या बढ़ती जा रही है। इसलिए भी मजबूरी है। एक और कारण भी महत्वपूर्ण भूमिका इस में निभाता है। जो उच्च जाति का हुआ वह जल्दी राज़ी नहीं होता और अगर लड़की उच्च जाति की हुई तो 'एक तो करेला ऊपर से नीम चढ़ा' की कहावत चरितार्थ होती है। (लड़की यूँ भी ऊपर ही दी जाती है उप जातीय विभाजनों में भी)

लेकिन सवाल यह है कि क्या प्रेम विवाह होना या प्रेम विवाह में किसी एक पक्ष या दोनों पक्षों का राज़ी हो जाना ही किसी नयी शुरुआत/व्यवस्था को जन्म देता है?

शायद नहीं, या यह कहें कि बिल्कुल भी नहीं, क्योंकि प्रायः लड़के वाले राज़ी हो जाते हैं। लड़का कमाता है तो ठीक। यदि नहीं कमाता है तो माँ-बाप की कमाई से घर की व्यवस्था होती है इसलिए सारे नियम, कानून, सिद्धान्त उन्हीं के लागू होते हैं। एक अन्तर्धार्मिक विवाह करने वाले लड़के ने कहा कि लड़की तो यूँ भी मायके का धीरे-धीरे सब कुछ भूल जाती है, चाहे अपनी जाति की हो या दूसरी की। जिस घर में रहती है उसी के रंग में रंग जाती है।

लड़का जिस जाति-धर्म का है उसी के रीति-रिवाज के हिसाब से शादी होगी। नहीं होगी तो आगे चलकर उसी के

रीति-रिवाज नियम माने जायेंगे। लड़की का नाम बदल सकता है। जाति/सरनेम तो बदलती ही है। अपवादों को छोड़कर दोनों पक्ष राज़ी हुए तो प्रायः रीति-रिवाज लड़के वालों के ही मनवाये जाते हैं (बहुत कम ऐसा होता है कि दो समझदार लोग आपस में मिल जायें) जो भारी पड़ता है वह दूसरे को दबाने की पूरी कोशिश करता है। और आश्चर्य नहीं यदि लड़की वाला भी भारी पड़ जाये।

अब सवाल है कि यदि सब कुछ दूसरे की मर्जी से करना है तो क्यों राज़ी हुआ जाये? जब अपनी जाति/धर्म में ही विवाह होता है तो सब कुछ लगभग समान होता है पर दूसरी जाति या धर्म में ज़्यादा अंतर की सम्भावनाएँ होती हैं। जो सदियों से होता आ रहा है उसका तो व्यक्ति अभ्यस्त होता है। वह सब आसानी से कर लेता है पर जिसका वह अभ्यस्त नहीं है, जो उसके मानसिक/सामाजिक दायरे में नहीं आता उसे क्यों करे? क्या इसलिए कि उसका लड़का या लड़की किसी से प्रेम करते हैं? और सच्चाई यह है कि प्रेम विवाह में लड़की/लड़के का उद्देश्य समाज सुधार नहीं होता है। वे सिर्फ़ एक दूसरे को पाना चाहते हैं इसलिए वे चाहते हैं कि माँ-बाप वह सब कुछ कर दें जो दूसरा पक्ष चाहता है पर दूसरे पक्ष को पहला पक्ष अपने अहं को संतुष्ट करने का माध्यम भी बना सकता है। एक प्रेम विवाह में 'उच्च' जाति (सामाजिक क्रमबद्धता के अनुसार) की लड़की वालों से सिर्फ़ पैर छूने के रिवाज पर ही सबसे ज़्यादा समय व ज़ोर दिया गया।

प्रेम व प्रेम विवाह के बाद क्या होता है? (मैं प्रेम के बाद इसलिए कह रही हूँ क्योंकि ज्यादातर की स्थिति यही है) प्रेम ख़त्म,पितृसत्ता शुरू। कई उदाहरण/केस मीडिया द्वारा सामने आये जिसमें कोर्ट में विवाह करने के बाद जब सामाजिक रूप सेविवाह के लिए लड़की वाले राज़ी हो गये/मजबूर हो गये तो दहेज माँगा गया, सताया गया। प्रेम विवाह में भी प्रेम के आदर्श जोड़े हमें कभी कभार ही देखने को मिलते हैं या शायद उतने ही आदर्श जोड़े प्रेम विवाह में मिलते हैं जितने हमें तयशुदा विवाहों में मिल जायेंगे। यानी कि ऐसे प्रेम विवाह के जोड़े कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं करते कि लोग रश्क करें, उदाहरण दें। प्रायः शादी के बाद पति (प्रेमी) स्वयं चाहता है कि पत्नी एक आदर्श बहू बने। (गोया अपने द्वारा किये गये प्रेम विवाह के अपराधबोध को पत्नी द्वारा चुकवाना चाह रहे हों) वह किसी मायने में किसी अन्य बहू से कम न हो।

वह पूरी तरह से उनके परिवार के लोगों की आज्ञा का पालन करे, उसी में रच-बस जाये चाहे पूरी तरह से, चाहे कितना भिन्न परिवेश ही क्यों न हो। रच-बस जाना बुरा नहीं है लेकिन एक तरफ़ा लड़की से ही इसकी उम्मीद करना कि वह अपना अस्तित्व ख़त्म कर दे, ग़लत है।

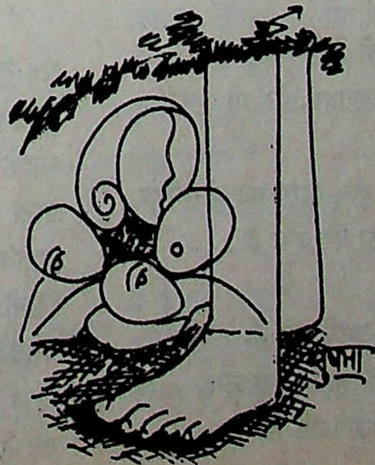
लड़के पूरी तरह से पितृसत्तात्मक मूल्यों से बंधे होते हैं। खाना-पहनना, ओढ़ना से लेकर रीति-रिवाज, सामाजिक बंधनों का पालन ठीक उसी तरह करना पड़ता है जैसे कि तयशुदा विवाह में। यदि लड़की को संयुक्त परिवार में रहना पड़ा तो कई बार प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम विवाह का बदला लेने का माध्यम भी बन जाता है। बेटे से चली नहीं, बहू से निबट लो।

जो लड़के पत्नी से उम्मीद करते हैं कि वह एक आदर्श पत्नी, बहू, भाभी बनने की कोशिश करे, ठीक उसी परम्परागत ढाँचे में अपने आप को फिट करे। वे भूल जाते हैं कि खुद अपने विवाह का स्वतंत्र निर्णय लेने वाली, अपने माँ-बाप से विद्रोह करने वाली लड़की अन्य मामलों में भी समाज की बनी-बनाई लीक पर नहीं चल सकती। जिस लड़की ने अपने जन्मदाता से संबंध तोड़ लिए, जिनसे इतना प्रेम व इतना गहरा रिश्ता था, उनके बिना जीने का निर्णय ले लिया, तो सास-ससुर से तो शायद कोई रिश्ता बन ही नहीं पाये। यदि लड़के वालों ने बहुत ज्यादा विरोध किया तो आगे किसी तरह का रिश्ता या दिलों में किसी जगह की गुंजाइश और भी कम हो जाती है।

असल में जेण्डर समानता के लिए पितृसत्ता का ख़त्म होना जरूरी है। प्रेम विवाह के लिए ज़रूरी है कि विवाह को उसी परम्परागत ढांचे में फिट करने की कोशिश न की जाये। यह किसी गोल ढाँचे में चौकोर चीज़ को फिट करने का प्रयास मात्र होगा। प्रेम विवाह के लिए ज़रूरी है कि रीति-रिवाज और परम्पराओं को बदला जाये। उनके प्रति दुराग्रही न हुआ जाये। सिर्फ़ लड़का ही नहीं, लड़की भी अपने पैरों पर खड़ी हो। प्रेम हर किसी के बस की बात नहीं होती। अपने से ऊँची जाति, अपने से ज्यादा दौलत या सुन्दरता के कारण, दूसरे के पद या स्तर, लालचवश या भावावेश में किया गया प्रेम कभी टिक नहीं सकता। प्रेम अगर सच्चा है तो सारी बाधाएँ पार कर लेगा। प्रेम विवाह करने वालों को एक बेहतर विकल्प देना होगा ताकि समाज व लोग उस पर विचार करें तथा उदाहरण को गम्भीरता से लें। जब तक किसी व्यवस्था का बेहतर विकल्प नहीं होता, वह व्यवस्था अपनी जड़ें और गहरी करती चली जाती हैं।

(डा0 अलका पाण्डेय 'महिला अधिकार' से संबंधित स्वयंसेवी संस्था 'साझी दुनिया' लखनऊ से जुड़ी हुई हैं जिसकी निदेशक प्रो0 रूपरेखा वर्मा हैं।)

सी-1357/1, इन्दिरा नगर, लखनऊ



पद्मा मिश्रा की कविताएँ

रोशनी के नाम

जब कालिमा भरे अंधकार में
डगमगाये थे मेरे पाँव,
तब तुमने ही थामा था मेरा हाथ,
रोशनी की एक किरण बन कर।

हमने नहीं जाना,
कैसी है यह रंग-बिरंगी दुनिया...
कहाँ उगता है सूरज?
कैसे प्यारा चाँद खिलता है....
बही यह कैसी पुरवाई?
नदी के तीर पर बैठा,
बजाता है जो शहनाई,
वो मेरा मीत कैसा है?

कभी हमने नहीं जाना
गुलों की शाख़ पर खिलती कली का,
रंग कैसा है?
क्या वहाँ भी अँधेरा है?
इन निराशा के अँधेरों में,
तुमने ही सहारा दिया था,
मेरे दोस्त,
बताया था हमें
अभिशापित नहीं हैं हम
इस अँधेरे के अलावा और भी कई रंग,
हैं तुम्हारे लिए....
प्यार का लाल रंग, त्याग का केसरिया,
और खुशियों का रंग हरा है...

वो रोशनी, जो तुमने हमें दी
उजाले की तरह छा गये हो तुम,
नहीं हो तुम आज कहीं भी
मेरे आस-पास,
पर अमर हो गये हो तुम।

तुम्हारी आँखों से देखी हमने
यह रंग-बिरंगी दुनिया....
ये सूरज...ये धरती...ये फूल...
लगता है, जैसे तुम यहीं कहीं हो,
मेरे आस-पास,
रोशनी बनकर दोस्ती की।

यह तुम्हारा स्नेह ही तो था

यह तुम्हारा स्नेह ही तो था
जो संघर्षों के जंगल में
किसी वासंती बयार की तरह
सहलाता रहा मेरे शूल चुभे पाँवों को,
फूलों की सेज न सही
हरियाली तो थी मेरे सामने
खुले आकाश की तरह....
कुछ सपने थे इंद्रधनुषी,
कल्पना के पंखों पर तैरते हुए
अज्ञात मंज़िल की तलाश में।

यह तुम्हारा स्नेह ही तो था,
जिसने थके पाँवों को एक दिशा दी...।
भटके हुए रेगिस्तान में...
पानी की एक बूँद की तरह
चातक-सा मन तरसता रहा,
किसी स्वाति बूँद की तलाश में,
पलकों पर छाये बादल...घने होते गये।

यह तुम्हारा स्नेह ही तो था,
जिसने प्यासे होठों को
अंतर के आँसुओं से सींचा था।
ओ माँ! ओ पिता!
तुम हो, तो मैं हूँ,
मेरे सपने हैं, मेरे गीत भी,
मैंने पार किये खाई, जंगल, पहाड़,
सँवारा अपने सुरभित आकाश को।

यह तुम्हारा स्नेह ही तो था
जो चलता रहा प्रतिपल-प्रतिक्षण
मेरी साँसों के साथ-साथ
यह तुम्हारा स्नेह ही तो था....

एल. आई. जी. 114 (रो हाउस)
आदित्यपुर-2,जमशेदपुर



ज़ख़्मों के दस्तावेज़

हरकीरत कलसी 'हक़ीर'

दस बरसों के फ़ासले में
ज़िंदगी बस अंगुलियाँ काटती रही
समूची दानवता
मेरे आँगन की मिट्टी में
गीत लिखती रही
और मैं
रेत में सरकते रिश्तों को
घूँट-घूँट पीती रही

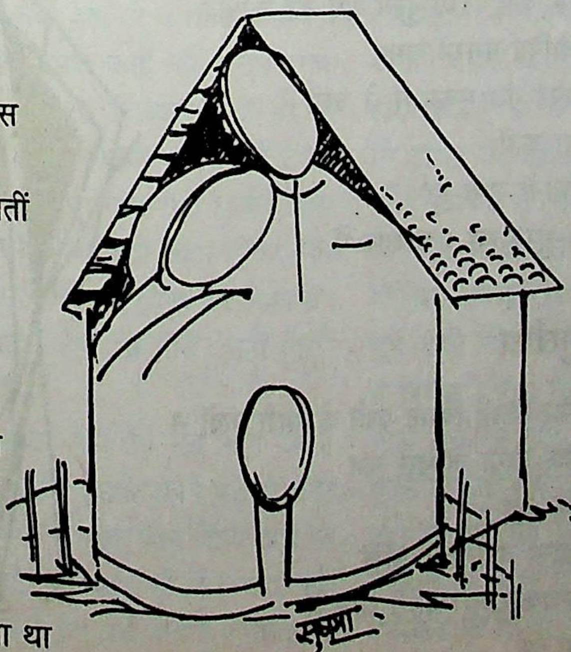
हम दोनों के बीच की हवा का
यूँ अचानक ख़ामोश हो जाना
और फिर दरारों में बदल जाना
मेरे लिए
कोई अनहोनी बात न थी
न मैं टूटी थी...
बस एक और अध्याय
जुड़ गया था नज़्म में
धुएँ का एक गुबार-सा उठा
और ज़हरीली परछायाँ-सी छोड़ गया
पन्नों पर

कई बार हमारी बेबुनियादी बहस
मेरे सोच में पिसती रहती
देह में काँच की किरचें-सी चुभतीं
न जाने कितने ज़ख़्मों के पुल
मैं चुपचाप लाँघ जाती
एक अशुभ क्षण
स्मृतियों को
दहकती सलाख़ों-सा साल जाता

जब बरसों पहले
उम्र के गीतों में पैरहन लगे थे
मेरा सब्र क़श्तियों में डूबने लगा था

मैं ऊँचे चबूतरे पर खड़ी
देर रात आसमाँ के
टूटते तारों में
क़िस्मत की लकीरें ढूँढा करती
और फिर थके क़दमों से लौट
सड़े-गले मूल्यों और मान्यताओं की
दीवारों में टूटते
घुँघरुओं को देखती रहती।

हमारे बीच की हवा
तब भी ख़ामोश थी
शायद तब मेरे लिए यह
अनहोनी बात थी
मेरे आँगन के दरख़्तों के पत्ते
सूखकर झड़ने लगे थे
हवा साँसों में कराहती
लफ़्ज़ तालों में दम तोड़ देते
मैं रात गये चाँद को ख़त लिखती
सितारों से मुहब्बत की नेमतें माँगती



बादलों को सिसकती मिट्टी का वेरवा*
देती
अक्षर बोलते, मगर क़लम ख़ामोश रहती
दो बूँद लहू आँखों के रास्ते से चुपचाप
बह उठता, पर
मौत पास आकर रूठ जाती
हमारे बीच की हवा
तब भी ख़ामोश थी

और फिर एक दिन
तेज़ साँसों ने कसकर मेरा हाथ पकड़ा
और उतार ले गयी थी सीढ़ियाँ
मैं लाँघ आयी थी दीवारें
कटघरे में खड़े होकर
बंद मुट्ठी खोल दी थी
बरसों के इतिहास में उस दिन तुम
पहली बार
मेरे लिए सुर्ख़ गुलाब लेकर आये थे
झूठ, फ़रेब और मक्कारी से सना
वह गुलाब, जिसमें तुम
अपने चेहरे का सारा ख़ौफ़
छिपा देना चाहते थे

कितना बेग़ैरत हो गया था उस दिन
मेरे लहू में क़हक़हे का
एक उबाल-सा उठा
और ज़मीर ने
बग़ावत की कै कर दी

मैं अपनी होंद के
बचे हुए टुकड़े समेट कर
जिस्म से रस्सियाँ खोलने लगी।

गुवाहाटी

चार कविताएँ

रोज़लीन

एक ही सतह पर

एक रंग,
एक खुशबू
एक राग से सराबोर....
....मृत्यु और प्रेम!
जब बिना किसी अंतर के
एक ही सतह पर,
एक ही नज़र आने लगे
तो समझ लीजिएगा....
तब प्रेम का फैलाव!
पृथ्वी सहित
समूचे आकाश को ढँकने लगता है,
और भरने लगता है अपने स्पर्श से
...सारी रिक्तता....सारी रिक्तता....

एक प्रेमपत्र

जाने कब
बूँद-बूँद टपकने लगे
झुके दरख़्तों से शब्द,
कब आसमान से उतर आये कोई परी,
चाँद से झपटा एक प्रेमपत्र
थमा दे मेरे हाथ में
सितार पर कोई गीत
बजना शुरू हो जाए उसी क्षण
एक नशा कितनी गुफाओं से लिये
कब ला खड़ा करे
सबसे ऊँचे पर्वत की नोक पर
और–
स्तब्ध खड़ी रह जाए
हवा भी साँस रोके

फिर भी पूछते हो....
कि काग़ज़-क़लम कभी छूटता क्यों नहीं?
अरे,
सृजन के पलों में
धड़कनों का एक-एक स्वर
अपनी हथेलियों पर थिरकता महसूस कर सकूँ
ऐसे में चूकना नहीं चाहती हूँ।

फिसलता सिंदूर

गुलमुहर के कुछ ऊपर
फिर ऊपर से कुछ ऊपर
जो यह सागर जैसा गहरा नीला आकाश है
बस उसी बीच से....
फिसलता हुआ सिंदूर
हल्के से आ टपका,
विस्तार पाती पलकों पर
और फिर जैसे–
सब गुलाबी-गुलाबी ही होता चला गया
कि कोई दिव्य दृश्य धुएँ की माफ़िक़
चौगिर्द पसरने लगा
कोई गंध मूर्च्छा में ले चली
दूर कहीं,
चेतना सुप्त हुई
–सुन्न पड़े एक क्षण में।

मुखौटा

फिर किसी विराट पक्षी के भारी पंखों ने
ढँक लिया अखिल नभ
कि अब–
खोना चाहती हैं आँखें
अंधकार भरी गहरी झील में
या कि,
हल्की ठंड में धड़कती
किसी गुफा के अंक की ओट ले–
–सुस्ता लेना चाहती है देह

किंतु!
रोशनियों के असंख्य बिंब
मंडराने लगे इर्द-गिर्द
कि–
कहीं कोई मुखौटा तिड़क न जाए
प्रकाश के अभाव में।

13 बी, एच. ए. पी. मधुबन,
करनाल-132001 (हरियाणा)



रामवती

विनीता रघुवंशी

दुनिया ही अजीब हो गयी है या रामवती ही नामसझ है, जो दुनिया को जान नहीं पा रही। ज़माना बदल रहा है और रामवती आज भी वहीं की वहीं टिकी है। लोग बदल रहे हैं। नाते-रिश्तों का अर्थ बदल रहा है। चीज़ें बदल रही हैं। जिसे देखो, वही अपनी बदली धज में मिलता है। चालें बदल गयीं। चलन बदल गया। पर, अब भी जहाँ की तहाँ खड़ी है रामवती। स्थिर। जड़। विस्मित। मंदगति। मंदमति। क्या सचमुच रामवती मंदमति है? उसे दुनिया के बदलने की ख़बर नहीं है? पर क्या करे रामवती? बदल भी जाएगी, तो कौन स्वर्ग मिल जाएगा। हुँह! जिस क़दर और जैसे लोग अपने चाल-चलन नये कर रहे हैं, वैसी तो रामवती कभी भी नहीं हो सकती।

रामवती अपने से प्रश्न करती है और खुद ही उत्तर दे लेती। क्या रामवती पुराने का राग आलाप कर जी सकेगी? दिल से आवाज़ आती—"फरेब जीकर मरने से अच्छा है, भरम में रहकर मरना।' हाँ! बस दुनिया में कहीं कुछ सर छुपाने को है, तो भरम का ख़्याल । भरम भरे सपने। भरम में जीते लोगों को देखना। कितना मजा भरा है दुनिया में।

रामवती मंद-मंद मुस्कराने लगी। थोड़ी देर बाद मन में ख़्याल आया कि यों अकेले मुस्कुराते देख लोग उसे पगली समझेंगे। झट से सँभल गयी रामवती। क्या रामवती स्थिर हो गयी? मन में सवाल उठा। यदि स्थिर हो गयी वह, तो धारा के बीच पड़ी चट्टान होकर रह जाएगी। और समय काई की तरह उसके आस-पास चिपक जाएगा। इसी डर से, बिलकुल इसी डर से रामवती भी अपनी जगह से सरकी थी। पर वक्त की चाल ने उसके हाथ-पैर ढीले कर दिये। मुँह-फाड़ महँगाई। दाल-रोटी खाकर जीना सरल नहीं है। लगता है, किसी दिन रामवती बेदम होकर गिर पड़ेगी। धड़ाम। पर गिरे क्यों? सँभल-सँभल के इतना टेम निकाला। कैसा-कैसा बखत झेल गयी रामवती। फिर भी गिरी? नहीं गिरी! रामवती के भीतर से आवाज़ आयी।

कुछ भी कहो यह समय अच्छा नहीं है। सब भाग रहे हैं अपना आपा खोकर। सबकी क्या सोचें? उसके अपने बेटे ही कहाँ सुध ले पाते हैं माँ की। बस टेलीफ़ोन से हाल जान लिया और हो गया फरज। निभ गया नाता? बेटे भी भाग रहे हैं। क्या कहे रामवती, कभी-कभार आकर मिल जाते हैं। यहाँ होते हैं रामवती के पास, तो फिकर होती है अपने काम-धंधे की। कभी रामवती उन्हें उलाहना देती है कि तुम्हें माँ से ज़्यादा पैसा (धन) प्यारा है, तो उदास होकर बड़ा लड़का कहता है—"क्या करें माँ? शहर में रहकर जीना है, तो धंधे की फिकर तो करनी ही पड़ेगी। अजीब मारा-मारी है? चार दिन काम से गायब हो, तो पता चला कोई अगला अपनी जगह पर आ गया। अब बता माँ?" रामवती क्या कहे? जवाब नहीं फूटता। सब समझती है रामवती। कभी-कभी तो लोगों को देखकर लगता है कि गिद्धों की तरह उनके पंख उग आये हैं और मुँह की जगह चोंचें निकल आयी हैं और वे सब के सब नरगिद्ध में बदल गये हैं। सबके भीतर एक कौआ बैठा है। लालची कौआ। और. .. और... और... की कर्कशता में चिल्लाता हुआ। नरगिद्ध और कौए। सब इकट्ठे हो गये हैं। यह बात तो सौ टका सच है कि यह समय नरगिद्धों और कव्वों का समय है। सब एक-दूसरे को खाने का सुख चाहते हैं। बिलकुल पूरा का पूरा।

सुख की सच्ची याद आयी। रामवती सोचते-सोचते अपने ब्याह की बेला को याद करने लगी। रामवती का जब ब्याह हुआ, तो वह भी खुश हुई थी। चलो अब सुख मिलेगा। सच्ची का सुख। पर खूब जानती है रामवती कितनी सुखी हुई। पीहर में ग्यारह भाई-बहनों में आठवें नंबर की थी। जब बड़े भाई-बहनों से कुछ बच पाता, तो रामवती को मिलता। जो काम सब छोड़ देते, रामवती को ही निबटाने पड़ते। बुहारी देते, पानी भरते, रोटी बनाते बड़ी हो गयी रामवती। इन सबके बीच सोचती, ससुराल तो कुछ अच्छा ही रहेगा। बखत पाकर बड़ी हुई रामवती। रामवती का दूल्हा बना हरिप्रसाद। विदा की बेला में माँ ने कहा—"बेटी! पीहर की लाज तेरे हाथ। जो कहे, सब मानना चुपचाप। जैसे रखे, वैसे रहना।" माँ ने रामवती से वही कहा था, जो उसकी नानी ने माँ से कहा होगा या माँ ने उसकी बड़ी बहनों की विदा की घड़ी में उससे कहा होगा। वही का वही दुहराया था माँ ने। माँ भी नहीं भूली और वह भी कहाँ भूल सकी माँ की सीख को। रामवती ने माँ के कहे को पूरी तरह से निबाहा। 'तेरा सुख-स्वर्ग अब पति के चरणों में ही है'—माँ की सीख सच की तरह मन में धर ली। पर, पीहर और ससुराल की सुबह में कोई फ़र्क नहीं दिखा रामवती को। माँ मुँह अँधेरे जगाकर घड़ा सर पर रख देती थी, पानी भरकर ले आने के लिए। यहाँ ससुराल में सास ने मुँह अँधेर हाथ में बुहारी थमा दी। कहा, "चौरस्ते के हैंडपंप से नई-नवेली पानी लाएगी, तो दुनिया हँसेगी। लोग बात करेंगे।" और मन ही मन रामवती क्या सोचेगी, इसकी

परवाह नहीं थी सास को। लोगों की परवाह। ज़माने की परवाह। शरम की परवाह। सबकी परवाह। पर रामवती की? नहीं... रामवती कुछ नहीं? रामवती औरत है, हरिप्रसाद की जोरू है। इन्सान नहीं है।

इसलिए, रामवती बुहारने लगी। ब्याह के दूसरे दिन से बुहार दी अपनी जवानी। अपने सुख-दुख का अहसास। अपनी टीसें। अपनी कराहें। अपनी इच्छाएँ। अपनी उमंगें। नहीं बुहारती, तो जी कैसे पाती रामवती?

ब्याह हुआ, तब रामवती की उमर अट्ठारह बरस होगी और गोद में बेटा-बैठाया चौदह बरस का। अट्ठारह की माँ, चौदह का बेटा। हरिप्रसाद की पहली पत्नी का बेटा, उसका बेटा हो गया। जिम्मेवारी आयी। नयी कहाँ थीं साँसें? सब चौकस। माँ-बेटे के बीच कैसे निबाह होता है? दुःख तो नहीं देती रामवती। भूखा तो नहीं रखती बेटे को? काम तो नहीं कराती बेटे से ? असहज सहजता को झेलती रामवती। सबकी आँखों में घूरने का भाव होता। रामवती सबकी निगाह पढ़ती और चुपचाप सहती। अनसोची व्यथा-विपदा के पहाड़ टूटे, उस पर उसने उफ़ नहीं की। उन्हें राई समझ झेलती रही। दम साध डटी रही रामवती। किसी से अपना संताप नहीं कहा। कहती भी किससे? एक अकेली माँ थी, जिससे दिल खोलकर सब कह सकती थी, पर उसकी घर-गृहस्थी के झंझट-झमेले कम थे क्या, जो रामवती अपना रोना लेकर पहुँचती?

अकेली रामवती और मन में उमड़ते-घुमड़ते विचार। कहाँ से कहाँ पहुँच गयी रामवती। बीती ज़िंदगी की यादें ताज़ा हो गयी। सामने परोसी थाली पर निगाह डाली। रोटी का आख़िरी कौर बचा था। उचटती निगाह से घड़ी देखीं। दिन का ढाई बजा है। जूठे हाथ धोये । मुँह में पानी भरकर कुल्ला किया। मन में विचार आया कि क्या वह सचमुच सुख पा सकी? उसे मिल सका सुख। उँह! जैसे सुख का विचार ही उसके लिए सबसे गलत सवाल है। केवल उसके लिए ही नहीं, दुनिया के लिए भी। भरम है भरम, सुख तो। ज़िंदगी से जूझते-जूझते उसे अब सुख का ख्याल बेहूदा लगने लगा है।

सच्चा सुख तो बस चार घर की रसोई सँभाल कर मिले महीने के पैसों में ही है या फिर काम निबटाकर बेखबर नींद में है या फिर ये कुल्ला भर पानी गटकने में ही छुपा है। रामवती को इससे ज़्यादा भला क्या चाहिए? भरम के पीछे भागना तो कब का छोड़ चुकी। फिर भी काम के पीछे आते-जाते उसने बहुत से लोगों को देखा है। बहुतों के दुख-दर्द, सुख की ठिठोली-सब उसके आस-पास गूँज बनकर मँडराती रहती है। मन माने की बात। मानो, तो सुख भी दुख से बड़ा हो जाता है। अब वो अग्रवाल साहब। जिनके घर रसोई बनाने जाती है रामवती। सब चीज़ों का आराम है। अभी साल भर पहले ही ब्याह के लाये हैं छोटी बहू को। दो-ढाई महीने से पाँव भारी हैं। घर में मालूम हुआ तो खुशी की लहर फैल गयी। पल के पल खुशी काफूर हो गयी। घर में बात उठी। पहलौठी जचगी में तो लड़का ही होना चाहिए। बड़ी बहू के दो बेटे हैं, तो छोटी को भी पहला लड़का ही हो। नहीं तो खानदान पर बट्टा लग जाएगा। नाम रखेंगे लोग। छोटी बहू को आते-जाते यही सुनना पड़ रहा था। रामवती ने जब यह बात सुनी तो सुनकर दंग रह गयी। सोचने लगी रामवती, लड़का-लड़की क्या हो, यह कोई मनुष्य के हाथ में है? हो भी सकता है। मशीनों का जमाना है। पर कैसे-कैसे भरम पाल के जीते हैं लोग। लानत है इनके मनुष्य होने पर। उसके लानत देने से होगा क्या। छोटी बहू को जब-जब देखती रामवती, उसे वह सहमी-सहमी लगती। उसकी आँखों में भय और होंठों पर थर्राहट के चिह्न साफ़ झलकते। रामवती का दिल छोटी बहू की तक़लीफ़ से पसीजता। पर वह कर ही क्या सकती थी? लाचारी से बहू को निहारती, पल्लू से आँसू पोंछती और दिल में कल्पना करती कि छोटी बहू अपनी मुसीबत का ख़ुद ही रास्ता ढूँढ लेगी। पर, ऐसा नहीं हुआ। छोटी बहू दो-तीन दिन तक अनमनी अपने कमरे में बंद रही। चहकना बंद हो गया। उसकी ददिया सास को अपनी पतोहू की उड़ती रंगत देख फिकर हुई। तब इशारे से रामवती को अपने पास बुलाया और पूछा। आजकल छोटी बहू नहीं दिखती? अपने कमरे में ही बंद रहती है? तबीयत तो ठीक है। रामवती ने इधर-उधर निगाह दौड़ा कर माहौल को भाँपा, फिर दादी को धीमे स्वर में बताया कि छोटी बहू माँ बनने वाली है। जाँच कराने गयी थी। लड़की होगी। अब एक दिन भर्ती होगी सफाई के लिए।

रामवती की बात सुनकर दादी ऊपर से नीचे तक काँप गयी। और धीरे-से बोली, "जा उससे जाकर कह दे। जो जीव आया है। उसे न सता। उसे जनम दे।" रामवती ने हाँ में मुंडी हिलायी और जल्दी से अपने काम में आकर लग गयी। फिर, मौक़ा पाकर नब्बे बरस की दादी की बात छोटी को जाकर सुना आयी। बहू के चेहरे पर कुछ पलों के लिए निश्च्छल पुलक का भाव पसर गया। कुम्हलायी और उदास सूरत खिल उठी। फिर, यकायक उदासी का गहरापन उभर आया। चेहरे की रंगत उड़ने लगी। एक चीख़ छोटी बहू के भीतर घुटने लगी। रामवती छोटी बहू की नाजुक हालत जान रही थी। जानती थी कि छोटी बहू फ़ैसले की घड़ी में उलझी है। मुश्किल और मुसीबत दोनों एक साथ झेल रही है छोटी बहू। रामवती चाहकर भी मदद नहीं कर सकती। निरुपाय छोटी बहू। निरुपाय रामवती। पर, दादी की बात रामवती के दिल में गहरे उतर गयी जीव को सताना नहीं चाहिए। जीव तो दोनों हैं। एक, जो कोख में पल रहा है और एक, जो पाल रहा है। वाह री मशीन। आदमी को आज़ादी से पैदा भी नहीं होने देती। रामवती मन ही मन मशीनों को कोसती।

फिर, एक दिन छोटी बहू भर्ती हुई। भ्रूण वध... रामवती सन्न रह गयी। काम से जी उचट गया। जैसे-तैसे आठ-दस दिन बीते। अग्रवाल साहब के घर काम करने पहुँची रामवती, तो घर में शोरगुल हो रहा था। पूजा-पाठ की तैयारी मची थी। हवन-शांति चल रही थी। रामवती को समझते देर नहीं लगी। ये सब कन्या-भ्रूण का प्रायश्चित है। सब परम शांत। बड़ी विपदा टल

गयी। वाह री धन की माया। सब अपराध क्षमा। रामवती का मन अशांत बना रहा। रामवती कैसे अपने को अलग रखे। आख़िर वो भी तो इन्सान है। छोटी बहू पर मन ही मन ख़ूब गुस्सा आया। मन वितृष्णा से भर आया। छोटी बहू भी खिलौना है खिलौना। पुतली, बेजान पुतली। अपनी जान की परवाह। पढ़ी-लिखी है तो क्या। उहँ! वाह री पढ़ाई। कैसे सजधज के मुस्कुराती आ बैठी। पूजा-पाठ, हवन-शांति में, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। रामवती के मन पर बोझ बढ़ गया। चिंता और बेचैनी ने व्याकुल बना दिया रामवती को। तगा ज़्यादा सोचती है रामवती। दिल भारी करने से क्या फ़ायदा। दुख-दर्द दूसरों के और बोझ उसके सर...सोचते-सोचते फिस्स से हँस दी रामवती। मन ही मन। दादी खरी औरत है। न पूजा में आयी और न अन्न-जल ही लिया। जी अच्छा नहीं—बहाना बनाया। और सबसे अलग अन्याय के ख़िलाफ़ खड़ी हो गयी। न्याय-अन्याय। जान कोई मामूली बात भी नहीं कि जी अच्छा बना रहे।

रामवती का जी भी कहाँ अच्छा हुआ उस दिन से। हँसी—खरी हँसी कहीं नहीं। सोचते-सोचते रामवती जाने कहाँ निकल गयी। लौटी, तो घर के सूने कोनों पर नज़र पड़ गयी। दिल में हूक-सी उठी। सिहर कर रह गयी रामवती। आँखें नम हो गयी। दुनिया-जहान के खोखलेपन से जी हलकान करती रामवती को अपने भरे-पूरे दिन याद आने लगे। पूरा घर सामान से भरपूर था। किसी चीज़ की कमी नहीं। हरिप्रसाद की नशे की लत ने घर को मिट्टी में मिला दिया। रामवती की चोरी से घर की चीज़ें नशे की भेंट चढ़ गयीं और तन कैंसर ने जकड़ लिया। हरिप्रसाद की तिल-तिल आती मौत और पल-पल जाती ज़िंदगी की जद्दोज़हद ने रामवती को निढाल कर दिया। गृहस्थी के सामान को बिकते देख रामवती इतनी नहीं टूटी, जितनी हरिप्रसाद के छूटते साथ की कल्पना उसे अकेलेपन और लाचारी से भर जाती। शुरू-शुरू में सामान बेचने पर रामवती और हरिप्रसाद में खूब ठनती। पूरा मोहल्ला जुटता बीच-बचाव में। पुलिस और क़ानून की डपट देते दोनों एक-दूसरे को। फिर नशा उतरा और पानी की तरह हिल-मिल जाते। सब तमाशा देखते। मुँह दबाकर हँसते। पर क्या करती रामवती? लोगों ने उसे समझाया, वो तो नशे में रहता है, तू तो होश में है, क्यों झगड़ती है? धीरे-धीरे रामवती को लोगों की बात गले उतरी। उसने सामान बिकने पर झगड़ना बंद कर दिया। मन मसोसकर सहने लगी। दिल दरद से भर जाता। बेटे उसको ढ़ाँढस बँधाते। बड़के और छुटके कहते—"हमें बड़ा होने दे। जब हम कमाएँगे, तो ख़ूब सामान बसा देंगे।" सामान की चिंता उतनी नहीं थी, जितनी बसी गृहस्थी को देख जी सुकून से भरा रहता। अपने आप से बसायी ज़िंदगी का सुख। कैसे समझाती सबको कि सामान के साथ उनके आने की यादें भी जुड़ी हैं। कैसे और किस बखत कौन-सी चीज़ ख़रीदी थी। कैसे पैसे जोड़े थे। सब तो जुड़ा था। वो भी ख़ूब जानती है कि घर का सामान तो बेजान होता है, पर उनसे भी जान तो जुड़ी ही रहती है। पर, सामान से छूटकर अब हरिप्रसाद की बीमारी में जान अटक गयी थी। वो तड़प। वो छटपटाहट। वो असह्य दर्द। कुछ भी नहीं देखा जाता था रामवती से। बस हरिप्रसाद में जीने की आस बोती रहती रामवती। हरिप्रसाद भी बाद के दिनों में उसके प्रति कितने ममतालु हो गये थे। पछतावा होता, मैंने तुझे बहुत दुख दिये। बहुत मारा-पीटा। बहुत शक किया। भगवान ने इसी का दंड दिया है मुझे इस बीमारी के रूप में। और, रामवती चुप कर देती। ऐसी बात दिल में नहीं लानी चाहिए। तुमने सब किया। अच्छा किया। अच्छी लेन पर चलने की कोशिश करी। दुनिया से सावधान किया। तुम्हारा ही सहारा था, जिसके बलबूते जूझना, व्यथा झेलना सरल हो गया। कितनी ढाँढस बँधाती। कितनी अच्छी बुरी बातें करते समय कटता। दोनों एक दूसरे को धीरज बँधाते और सोचते कि भगवान जी सब भला करेंगे। पर, सोचने से कहाँ हुआ भला। कहाँ रहा मौत को धीरज। आस-उम्मीद सब सिफर हो गयी।

हरिप्रसाद की बीमारी के अंतिम दिनों में मुहल्ले -पड़ोस और नाते-रिश्तेदारों ने कैसी झूठी हमदर्दी दिखायी। सब दिल पर चोट करती। पर मुँह को ज़रा नहीं खोला रामवती ने। लालच के दोने भर -भरकर उसके सामने परोसे जाते। सहानुभूति उमड़ी पड़ रही थी। गुलाबजामुन, खीर, तरह-तरह की मिठाई बनकर, पर रामवती इनके पीछे छुपा अर्थ भाँप रही थी। रामवती के मुँह में ज़रा लार नहीं आती, बल्कि जी कचोटता लोगों की हरकतों से। पर क्या कर सकती थी रामवती? बस बहाना बनाकर स्थिति को टाल कह देती बड़के के बाबूजी का जी अच्छा नहीं। उनकी तक़लीफ़ देख मिठाई के निवाले हमसे निगले नहीं जाएँगे। और वो मुआ। कश्यप तो जान ही छिड़क रहा था। उसके लिए कितनी सुंदर साड़ी लेके खड़ा हो गया, जब वो उसके घर का काम निबटाकर निकल रही थी। 'उसके हाथ में देते हुए बोला—रख रामवती, रख... ये तेरे लिए.. . है।" रामवती ने हाथ में साड़ी थामी, तो जेब से पाजेब निकालकर उसके हाथ पर धर दी। इस बहाने उसने उसके हाथ भी थाम लिये। बीवी मायके गयी। रुपयों की गड्डी रामवती के हाथ में। कित्ती मिन्नत और आरज़ू से कहा था कश्यप ने कि तुम्हारे आदमी के इलाज़ में काम आएँगे। एक बार मन ललचा गया था रामवती का। रेशमी सुंदर साड़ी में सजी देखने लगी रामवती अपने को। रूप का लोभ छलने लगा। सारे दुख-दर्द को पल भर के लिए लात मारने की इच्छा हुई। लगा, सात जनम के नाते की बात झूठी है। जो माँ ने कहा था, वह भी झूठ था। झूठ ही जीती रही है अभी तक रामवती। नानी, माँ, रामवती—सब की सब औरतें झूठ को दोहराते हुए ही जीती हैं। उनके जीने-मरने का कोई अरथ नहीं। उनकी नेकी, उनका लेन में रहना कोई मायने नहीं रखता। मायने तो मरद के हैं। सोये सपनों में रंग उभरने लगे। लगा उसकी जवानी अभी भी किसी को लुभा सकती है। पर, झट से जैसे नींद टूट गयी थी रामवती की। मोह की नींद। रंगीन सपनों से भरी नींद। उसने बड़ी

चतुराई से कहा कश्यप साब को—"साब, हँसी-दिल्लगी और बात है। अपने घर में आदमी से पूछ लूँ, फिर ले जाऊँगी ये सब सामान। शाम को काम करने आऊँगी तब।" फिर हिम्मत नहीं हुई रामवती की शाम को कश्यप के घर जाने की। बड़के से कहला दिया—"पापा की तबीयत ज़्यादा ख़राब है, मम्मी काम पर नहीं आएगी।" हुँह, फिसल जाती रामवती, तो क्या होता? कौन-सा कोठा। कौन-सी बदनाम गली। क्या गत होती रामवती की। सोच-सोचकर परेशान होती रही मन ही मन। आपबीती किसको सुनाती। जो सुनता, वही उसको ग़लत समझता। इसीलिए चुप्पी साध गयी। रामवती इन सबका अर्थ ख़ूब जानती थी। कोई की नीयत मकान पर लगी थी, तो कोई उसकी जवानी पर जान दे रहा था। लोगों की चिकनी-चुपड़ी में छुपी क़र्ज़ देने की उदारता का राज़ भी समझ रही थी। रामवती क़र्ज़ की बिंदी अपने सर पर नहीं चढ़ाना चाहती थी। हज़ार जन्म लेके भी नहीं उतार सकेगी क़र्ज़ का भार। रामवती के मन में एक ही बात ठोस होकर जम गयी थी कि अभी तो उसके हाथ साबुत हैं। मेहनत के आगे दुनिया झुकती हे। वह भी मेहनत से पीछे नहीं हटेगी। आख़िर रामवती ने वही किया। मेहनत उसके आगे पानी भरने लगी। कठिन समय।

समय कब रामवती के साथ रहा? रामवती अपने बीते दिन याद करे, तो उनकी कठिनाई उसे छोटी लगती। जिनके घरों में वह काम करने जाती है—सब सुख, सब आराम। फिर भी कलह-अशांति। अब वो दयाल साहब के घर की ही बात लो। अँग्रेजी स्कूल और हिन्दी स्कूल की एडमीशन की लड़ाई कितने दिन खिंची। तलाक तक की नौबत आ पहुँची थी। दयाल की बीवी कुछ सुनने-समझने को तैयार ही नहीं थी। अन्न-पानी सब छोड़कर बंद हो गयी कमरे में। कैसी लड़ाई? हुँह ! अब बच्चा पैदा होते ही गिटपिट अँग्रेजी में ही करने लगे, तो कलेजे को ठंडक पड़े। नहीं तो जी जले। उँह, बच्चा न हुआ सजावट की चीज़ हो गया—जैसे टी.वी., फ्रिज, आलमारी। दयाल साहब की बीवी की सहेलियों में उनकी नाक नीची हो जाएगी, अगर बच्चा हिन्दी स्कूल और हिन्दी में बात करेगा तो। बहुत दिनों तक रामवती दयाल साहब के घर के सन्नाटों के भीतर से गूँजती आवाज़ को सुनती-समझती रही। फिर, धीरे धीरे बात का असल अर्थ समझ में आया और उसके मुँह से अनजाने ही निकल पड़ा—"जै हो गांधी बाबा, जो तुमने बहुत बरस पहले ही मुलुक आजाद करा दिया, नहीं तो ये अकल की अंधी औरतें उस बखत पैदा हो जातीं, तो सपना बनकर फुर्र उड़ जाती आजादी। बहुत दूर।"

और कितने क़िस्से याद करे रामवती। रोज़ कुछ न कुछ नया। किसी का बेटा मोबाइल या मोटर साइकिल के लिए मरने की धमकी देता है, तो किसी घर की लड़की कॉलेज में फ़ैशन शो में अर्धनग्न होने के लिए मचल रही है। माँ-बाप खुशी से फूले-फूले फिर रहे हैं और रामवती इन सबको देखकर एक साधु बाबा की कथा मन ही मन दोहराती है। हाँ! कहानी क्या थी। कहानी यही न कि एक गाँव में बहुत सारा अँधेरा भरा था। लोग अँधेरे को कम करने के लिए परेशान थे। अँधेरा था कि कम ही नहीं होता था। फिर एक दिन गाँव के सब बुजुर्ग-नौजवान इकट्ठे हुए और उन्होंने तय किया कि गाँव के हर घर से एक-एक आदमी रोज़ एक टोकरी अँधेरा गाँव के बाहर के गड्ढे में डालेगा। सब नियम से यही करने लगे, पर अँधेरा जैसा था वैसा ही रहा आया। तब चिंता और बढ़ गयी। चिंता ज्यों-ज्यों बढ़ती, अँधेरा भी बढ़ता जाता। तब एक घर में एक युवती दूसरे गाँव से ब्याह के आयी। उसने देखा कि गाँव के लोग चिंता में दुबले, अशक्त और कमज़ोर निगाह वाले हैं। उसने इसका कारण पूछा। कारण मालूम होने पर उसने थोड़ी-सी मिट्टी से दिया बनाया, उसमें कपास की बत्ती और तेल डाला और पत्थर रगड़कर आग जलायी। जब उजाला हुआ। लोग अचंभित हुए। गाँव के लोग उस दिन के बाद बहू को जादूगरनी मानने लगे। उसका कहा उस दिन के बाद गाँव में टाला नहीं गया। रामवती भी उस बहू की तरह अँधेरों को उजाले में बदलना सीख गयी।

समय अब भी विडंबना से भरा था। रामवती साधु बाबा की कहानी में अपनी कल्पना का पुट मिलाकर समय की कहानी को यों सुनाया करती—"उस दिन के बाद गाँव के मरदों ने बहू से उजाला करने की सारी अकल जान ली। उसके बाद औरतों के लिए अँधेरों के मजबूत किले बनवाये गये। उनमें रूप और देह की भूलभुलैया रची गयीं। जब वे रूप और देह के खेल से ऊब जातीं, तो आज़ादी और स्वतंत्रता के लिए चीख़-पुकार मचातीं। तब मर्द रोशनी के कुछ टुकड़े उनके सामने जब-तब डाल देते। औरतें टुकड़े पाकर अपने आपको उजाले से भरा पातीं और चुप हो जातीं। मर्द उनके सामने केवल रूप और देह की सुंदरता की प्रशंसा करते। इस तरह औरतों की बुद्धि कुंद कर दी गयी। औरतों की आँखें बस सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात की चमक पहचानती थीं। दूसरी रोशनी से उनकी आँखें चौंधिया जातीं और वे अपनी आँखों पर पट्टी बाँधने की कोशिश करतीं। वे समय की पहचान से बेख़बर थीं। भूत, भविष्य और वर्तमान उनके लिए बेमानी कर दिये गये। पुरुष रामराज्य की बातें दोहराते और स्त्रियों के सामने सीता के आदर्श का बखान करते। वे विचलित होतीं। गांधारी के प्रति उनके मन में क्रोध भरा था, जिसने आँखों पर पट्टी बाँधकर भूल की और समय से अनजान रही। औरतें अब फिर समय की तलाश में निकलना चाहती हैं। समय उनकी मुट्ठियों में है।"

यही बताने के लिए रामवती समवेत् स्वर में चीख़ना चाहती है। युगों से दबी चीख़ अब मुक्त होना चाह रही है। रामवती अकेली नहीं है। रामवती में सब स्त्रियाँ समा गयी हैं—अर्ध मूर्छित, अर्ध निन्द्रित, अर्ध स्वतंत्र, अर्ध भ्रमित स्त्रियों को लेकर जीना कठिन है रामवती के लिए। औरतों को एक दिन अपने समय की रचना तो करना ही है। जब वे समय के हर लमहे को खुली आँख देखने लगेंगी। रामवती की कहानी भी उसी दिन ख़त्म होगी। इति रामवती।।

प्रताप कॉलोनी (बाफना चाल के पीछे) हरदा (म.प्र.) - 461331

उत्तरायण

सुदर्शन प्रियदर्शिनी

निमा नहीं जानती कि धीरे-धीरे वह कैसे टूटी है या टूटती ही जा रही है। स्थितियों से लड़ना या उनसे समझौता कर लेना तेरे-मेरे सभी के हिस्से में कमोबेश आता ही है, फिर वह क्यों हारती चली जा रही है। क्या लोग उसकी तरह टूटकर अपने आपको रोगी बना लेते हैं? यह तो हारना हुआ। स्थिति के समक्ष स्वयं को कुत्ते की बोटी बना कर डाल देने जैसा..।

वह नहीं चाहती कि इस तरह अपने आपको निहत्थी और कमज़ोर महसूस करे, किंतु उसकी दुर्बल काया झोटे से पकड़कर उसे बार-बार झुका देती है।

वह समझ गयी है कि प्यार एक फ़लसफ़ा है, जो ज़िंदगी का क्रूर झोंका लगते ही धराशायी हो जाता है। धूप और छाँव की तरह पैर कर खड़े होने वाले प्यार को हम शाश्वत मान बैठते हैं। किंतु, जब भ्रम टूटता है, तो टूटता ही चला जाता है... तब उसकी किरचें सँभाले नहीं सँभलतीं।

उसने अपने-आप में स्वीकार लिया है कि वह अब रेगिस्तान में झीलों के सपने नहीं देखेगी। किंतु, यह स्वीकार तब आया है, जब उस के शरीर की एक-एक झिल्ली छलनी हुई जा रही है...

वह कुर्सी पर बैठी-बैठी दीवार पर लगे केलेन्डर को देख रही है। इस केलेन्डर का एक-एक पन्ना एक-एक महीने को ही ढो पाता है और हर महीने के बाद वह पन्ना निकाल दिया जाता है। बीता हुआ कल... औरत भी शायद केलेन्डर की एक पुरानी तारीख़ ही है... पुरानी हो गयी तो फाड़कर फेंक दी। उसके अपने सपने उसकी मुट्ठी में बंद हुए रह जाते हैं।

निमा सोचती है कि ज़िंदगी को इतने पैने और बेरहम ढंग से नहीं आँकना चाहिए। उठे, अपने कैप्सूल ले ले, ताकि थोड़ा ठीक महसूस करे और घर के कुछ काम-काज निपट सकें...।

जब से उसका शरीर अनेक शल्य-क्रियाओं से गुज़रा है, उसका शरीर अपना नहीं रहा। किन्हीं अनाथ शिरायों का पुष्प हो गया है। रोज़-रोज़ दवाइयाँ, हिदायतें और दूसरों की आँखों में उगी वितृष्णा उसे झेलनी पड़ती है। धीरे-धीरे अलगाव बढ़ते जा रहे हैं...

अपने देश में होती, तो शायद नौकर-चाकरों के सहारे यातना कम हो जाती। घर संभला रहता। किसी की आँखों का तिरस्कार नहीं झेलना पड़ता। नौकर को हिदायतें देती और काम हो जाता.. आज उसे याद आता है कि वहाँ कैसे सुबह-सुबह सारे काम मुस्तैदी से हो जाते थे। तुलसी आती और सुबह-सुबह किचन सँभाल लेती। फटाफट बच्चों का नाश्ता तैयार होता। निमा बोलती जाती और काम होता जाता। बिशना साड़ी प्रेस कर देता और हेमेन्द्र भी भाग-भागकर तैयार होने में उसकी और बच्चों को स्कूल बस तक पहुँचाने में मदद करते। साथ ही, दोपहर के खाने की लिस्ट और शाम की चाय के साथ क्या बनेगा–तय होता चलता। तुलसी बार-बार दुहरा कर उन चीज़ों को पक्का करती रहती। उसी बीच बच्चे और हेमेन्द्र निकल जाते। थोड़ी देर में वह भी अपना सैंडविच पैक करके भाग लेती। सब कुछ तुलसी के हवाले करके...

जब से तुलसी आयी थी, उसका काम बहुत आसान हो गया था। तुलसी जिस तरह बच्चों को सँभालती, घर को सँवारकर रखती, उससे पहले के आठ-आठ नौकर भी नहीं कर पाये थे। उन अलग-अलग समय के नौकरों को याद करके वह आज भी उबल पड़ती है, किंतु उन की नाकामियों को अपनी विवशताओं के कारण झेलना पड़ता था...

आज सोचती है कि जैसे-तैसे घर चलता रहता था, नौकरी चलती रहती थी, तो ज़िंदगी आगे ठिलती रहती थी। आपसी तनाव की कहीं जगह ही नहीं थी।

शाम को घर पहुँचती तो बच्चे किलक कर लिपट जाते। तुलसी फटाफट देखते ही चाय का पानी चढ़ा देती। बहादुर तराशे हुए गुलाब सजाकर मेज पर लगा देता। सलाम करके फिर पेड़-पौधों को तराशने में लग जाता। कभी-कभी लगता था, मुट्ठी में बंद सारे सपने खुलकर पूरे हो रहे थे...

यहाँ ऊँची दुकान फीका पकवान। यहाँ विदेश में लोग संपन्नता और वैभव बटोरने आते हैं, लेकिन हिस्से में आती है तिक्तता, अकेलापन और एक बेनाम रिक्तता, जो धीरे-धीरे दीमक की तरह सब कुछ चाट जाती है... रिश्ते-नाते-प्यार-संबंध–सब का सब।

बहुत दिनों तक वह अपनी शारीरिक शिथिलता को छिपाती रही थी। यहाँ तो डॉक्टर को दिखाने जाना... फिर उनके बिलों का डंक झेलना बीमारी से ज़्यादा दु खदायी था। इसलिए, वह अंदर ही अंदर झेलती रही है। अंदर कहीं एक डर भी बैठ गया था कि कहीं

कोई बड़ी बीमारी निकल आयी तो... इसीलिए वह अपने आप रोज़ कभी मल्टी-विटामिन के कैप्सूल, तो कभी टायनोल फाँकती रहती। इसी तरह वह हर दिन अपनी दिनचर्या पूरी कर लेती। एक डॉक्टर मित्र ने बताया था कि उसका स्नायु-मंडल बहुत कमज़ोर हो गया है, और उसे फ़्लॉरिन के कैप्सूल भी खाने चाहिए और अब उसने उनको भी अपनी दिनचर्या में शामिल कर लिया है।

आज बैठे-बैठे उसको चक्कर आ रहा है। वह उठने की कोशिश में लड़खड़ा कर अपनी खाट तक पहुँच जाती है। क्या हो गया है उसे...। यह नयी आफ़त कहाँ से आ टपकी। शायद इसलिए कि कल उसने सारे कैप्सूल और टायनोल इकट्ठे ही फाँक लिये थे। यही नहीं, रात दूध पीना भी भूल गयी थी। उन कैप्सूल की गर्मी चढ़ गयी है शायद... और चक्कर आ रहा है। वह रसोई में जाकर ठंडा और फीका दूध गटक आती है। लगा कि हलक में तरावट आ गयी है। बाथरूम के शीशे में देखा, तो थोड़ी आश्वस्त हुई। तभी उसे भीतर ही भीतर कुछ घुमड़ता महसूस हुआ और उसके साथ ही ढेर सारा वमन... वह हल्की हो गयी। स्वयं को स्वस्थ मानने और महसूस करने का दिलासा देने लगी। वापिस कुर्सी पर आकर बैठ गयी।

सामने शीशे से हटे हुए परदे के कारण बाहर की सुनसान सड़क दीखती है। कभी एकाध कार इस दोपहरी के सन्नाटे को झटक जाती है, तो लगता है कि कहीं स्पंदन अभी बाक़ी है।

सामने पेड़ की हरियाली में छिपी-दुबकी गिलहरियाँ आपस में अठखेलियाँ करतीं टहनियों के साथ लटक-लटक कर ऊपर-नीचे उछल रही हैं। हवा भी ठहरी-ठहरी दोपहर की गोद में ऊँघ रही है। बाहर सब कुछ वैसा ही चलता रहता है, चाहे अंदर-हर क्षण कुछ दरकता रहे। प्रकृति नियम से अपनी चिरंतनता में जीती रहती है।

उसे अपने अंदर बहुत कमज़ोरी महसूस हो रही है। शायद वमन से ऐसा हुआ है। उठकर पैतृक-परंपरा से चले आते घर में बनाये चूर्ण को चाटती है। मन हरा-हरा लगने लगता है। वह अपने आपको समझाती है कि वह पहले से ठीक है। उठकर घर का काम सँभाल लेगी, तो और अच्छा महसूस करने लगेगी, अन्यथा आते ही हेमेन्द्र की आँखों में तिरस्कार और उपेक्षा को झेलना पड़ेगा... कहने को कुछ भी नहीं कहेंगे, लेकिन कुछ बुदबुदाते हुए रसोई घर में घुसेंगे और देखेंगे कि क्या हुआ है और क्या नहीं... अगर रोटी आधी बनी पड़ी होंगी, तो खुश हो जाएँगे और आत्मीयता ओढ़े कहेंगे—तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं थी, तो फिर क्यों किया यह सब। मैं आता, तो कुछ न कुछ कर लेता... वह चुपचाप उनकी बात सुनती रहेगी और कोई जवाब नहीं देगी... दोनों इन बातों के पीछे छिपे हुए संकेतों को समझते एक दूसरे से आँखें चुराते रहेंगे। वह धीरे से उठेगी और बाथरूम में जाकर आँसू-पोंछ आएगी और शीशे से बतियाएगी... अपने से ही सौ-सौ प्रश्न करेगी... क्यों वह इतनी भावुक है.... क्यों इतनी संजीदा... वह क्यों हर समय व्यक्ति के दोहरेपन को ढूँढती रहती है। एक मौजूदा व्यक्ति और उसी के उस पार का दूसरा व्यक्ति।

कई बार वह सोचती है कि काश! वह स्वयं इस दोहरेपन को ओढ़ पाती। जब हेमेन्द्र घर आये, तो तिरिया-चरित्तर ओढ़े और पड़ी रहे....। ब्रह्म भी इस ओढ़े हुए स्त्री-चरित्तर को नहीं समझ सकते, फिर उसके मामले में तो कोई झूठ भी नहीं है। एक बार स्वयं हेमेन्द्र ने भी कहा था... तुम लेटी रहो, तो हमें भी मालूम रहे कि तुम बीमार हो। वह मन ही मन इस मरोड़ को दबा गयी थी और नहीं कह सकी थी कि जब कोई इस बात को समझेगा, तो उसे बीमारी में उठने की ज़रूरत ही क्यों पड़ेगी। एक बार उसे भरपूर आराम मिल जाए, तो शायद रोज़-रोज़ बिस्तर पर पड़े रहने की नौबत ही न आए...

चूर्ण से उसका मन स्वस्थ हो गया है। मुँह में पुदीने का सा ज़ायका घुल गया है। वह महसूस कर रही है कि अब वह उठ सकती है। उसने धीरे-धीरे हल्की कराहटों—जो कभी उसके पेट से, तो कभी पीठ से उठती हैं—के साथ रसोई का सारा काम सँभाल लिया है। सिंक में पड़े बर्तनों की धुलाई, रसोईघर के फ़र्श पर जमी चीकट, यहाँ-वहाँ शैल्फ़्स पर बिखरे बर्तन, दियासलाई, चायपत्ती का डब्बा, नमक-मिर्च के खुले कटोरदान—सभी को उनका स्थान दे दिया है। सब अपनी जगह पहुँचकर जैसे मुस्करा रहे हैं। रसोई खिल-खिल पड़ रही है।

गैस पर चावल, दाल, सब्ज़ी भी चढ़ गयी हैं और अपनी-अपनी आवाज़ों में चौकड़ियाँ भर रही हैं। आज बच्चे भी खुश हो जाएँगे....।

कहीं एक काल्पनिक सुख की सिहरन उस के स्नायु-मंडल में दौड़ गयी है। जब बच्चे गले में बाँहें डालते और हेमेन्द्र खाने की तारीफ़ करते हैं, तो वह इस खुशी को झेल नहीं पाती। पर, उनके औपचारिक कृतज्ञ चेहरे कहीं उसकी आँखों में बरबस आँसू ला देते हैं।

जब कभी वह सबेरे उठ कर सब के लिए ठीक नाश्ता नहीं बना पाती या खाने का प्रबंध नहीं कर पाती और एक औपचारिक डबल रोटी-अंडे की भुर्जी परोसती है, तो हेमेन्द्र से पहले बड़ा बेटा बोल पड़ता—माँ, यह क्या... वही रोज़-रोज़ अंडा-डबल रोटी!... माँ, वह शिव है न मेरा दोस्त... मैंने उसके घर एक दिन देखा—सब लोग मेज़ पर खाना खा रहे थे। क्या मेज़ सजी थी माँ! दो-तीन सब्ज़ियाँ, दाल, चटनी, पापड़, अचार और फलों से भरी मेज़ के बीचों-बीच रखी टोकरी देखकर मज़ा आ गया, माँ....।

ये बातें, उसे अंदर तक चीरकर रख देतीं... और कहीं गहरी कचोट और ग्लानि से वह भरभर उठती। क्यों नहीं, वह कर पाती यह सब अपने बच्चों के लिए, अपने हेमेन्द्र के लिए....। उसे हर दिन नाकामियों के तराजू पर ही क्यों तोला जा रहा है। उसे लगता कि हर कोई आते-जाते उसकी खिल्ली उड़ा रहा है। उसकी इस विद्रूप स्थिति पर हँस रहा है।

उसके अंदर की उठा-पटक बढ़ती जाती। बैचेनी गले की फाँस बनकर उसका गला घोंटने लगती... वह चाहती ऐसे में हेमेन्द्र उसकी ढाल बनें... बच्चे तो नादान हैं। पर, वो नादान नहीं है। तो जानता है कि आज तलक उसने घर पर कैसे अपनी जान लुटायी है। नौकरी करके भी बच्चों की, हेमेन्द्र की जी-जान से सेवा की है। जब कभी वह हेमेन्द्र से ज़रा-सा भी पहले घर पहुँचती, तो शाम की चाय के साथ शौक से समोसे-कचौड़ियाँ, चिप्स-चटनियाँ और न जाने क्या-क्या बना डालती। चटकारें ले-ले कर और उसकी अँगुलियाँ चूम-चूमकर खाता हेमेन्द्र... आज कैसे सब कुछ भूल गया वह। आज उसकी आँखों में एक नकार है, एक व्यंग्य है। जैसे यह सब वह जानबूझ कर कर रही है या स्थिति को तूल दे रही है।

वह अपने आप में हर दिन छोटी होती जा रही है। उसकी सल्तनत ढह रही है। उसका जी चाहता कि बेटे से कहे कि वह बाप से कहे, दूसरी माँ ले आए तुम्हारे लिए... नयी-नकोर... जो नये व्यंजनों से आवभगत भी करे और सारी चाकरियों के साथ तुम्हारे बाप के दफ़्तर जाते वक़्त रूमाल तक हाथ में थमाये...

कैसी दुविधा के कगार पर खड़ी है वह... नारी घर-गृहस्थी के साथ आज बाहर का मोर्चा भी सँभाले। कैसी विडंबना है... एक ही व्यक्ति से इतनी सारी अपेक्षाएँ...

वह चुपचाप मेज पर बैठी चम्मचों की आवाज़ को सुनती रहती और हेमेन्द्र चुपचाप खाना खाकर टी0वी0 पर जा बैठता... उसके अंदर पहाड़ भुरभुरा जाते। न जाने कितना कुछ टूट जाता उन क्षणों में।

वह इंतज़ार करती रहती कि हेमेन्द्र पूछेंगे-आज कैसी रही तुम्हारी तबीयत... या अब कैसी हो? वह फिर उसी तरह धीरे-धीरे मेज़ पर से बरतन उठाती, जूठी प्लेटें सिंक में डालती, सलाद की प्लेट का रस उठाते-उठाते मेज़ पर बिखर जाता, तो भागी -भागी तौलिया लेकर उसे सोखती और हाँफ़-हाँफ़ जाती। टी0वी0 की आवाज़ तले सब कुछ दब जाता...

बड़ी-बड़ी इमारतें ढह जाती हैं, उनके नीचे दबी हुई लाशों की कराह किसे सुनायी देती है...

रात भर करवटें बदलती रहे, पीड़ा से कराहती रहे, सुबह किसी की दिनचर्या में अंतर नहीं आ सकता... उसे एक कप चाय मयस्सर नहीं हो सकता, जिसे पीकर वह उठने लायक हो सके और बच्चों को ढंग से स्कूल भेज सके। कभी-कभी उसे लगता है कि दोनों बच्चे और पति उसके लिए युद्ध के अलग-अलग मोर्चे हैं, जिन्हें जैसे-तैसे अपने लंगड़ाते शरीर से भी झेलना है... पार करना है या जीतना है। अन्यथा, इन सब में वह पुराने केलेण्डर की एक बीती हुई तारीख़ हो जाएगी।

एक बार उसने किसी कवयित्री की एक कविता पढ़ी थी, जिसमें उसने अपने बच्चों और पति को युद्ध के मोर्चे जैसा ही कुछ कहा था जिसे हर मोर्चे को पार कर एक उपलब्धि का अहसास होता था। उस समय वह कविता और वह कवयित्री उसे कितनी बुरी लगी थी और कितनी वितृष्णा हुई थी उस कवयित्री से... लेकिन कितना सच था.... कितना नंगा सच!

हेमेन्द्र और उसके बीच नर-नारी के संबंधों को लेकर बख़ूबी बहस होती थी...। आये दिन समाचार पत्रों में आने वाली घातक आत्महत्याएँ, पति और सास-ससुर द्वारा दी हुई यातनाएँ उसे उदास कर देती थीं। हेमेन्द्र भी ऐसे परिवार वालों को जी भर कर कोसते थे और एक आश्वस्त भाव से कहते—"चलो, तुम क़िस्मत वाली हो जो देवता जैसा पति मिला है और साधु-संतों सरीखे सास-ससुर, जबकि...

जबकि कहकर वह चुप हो जाते थे, जबकि अंदर ही अंदर वह लहू-लुहान हो जाती थी... वह उसके पीछे छिपे अर्थों को बख़ूबी जानती थी। उसके प्रेम-विवाह के कारण माता-पिता की तरफ़ से उसे भरपूर नकारात्मक भाव झेलना पड़ा था। यों उनकी कोर्टशिप इतनी लंबी खिंची थी कि सब की इच्छा शामिल हो सके और हुई भी। यहाँ तक कि सालों साल सगे संबंधियों को इस रहस्य की हवा तक नहीं लगी थी। उसने माँ-बाप की इज़्ज़त पर ज़रा भी आँच नहीं आने दी थी। फिर भी, कहीं गहरे में कोई वितृष्णा थी, कोई किरच थी जो दोनों परिवारों के बीच ऐंचक-सी तनी रहती थी।

कभी-कभी लगता कि यह नया रिश्ता उन सारे पुराने—अपने उम्र भर के—नातों को एक ही निवाले में निगल गया है। बहुत प्रयत्नों के बावजूद कभी सामंजस्य नहीं बिठा पायी थी वह। कई बार शब्दों की पैनी तीरंदाजी का शिकार होकर अपने घर से रुआँसी होकर लौटी थी वह...

आज तक छलनी कर देने वाली भाषा की सलीबों पर चढ़ती आयी है और अब तो यह सिलसिला दुधारा हो गया है। एक ओर हेमेन्द्र और बच्चे, दूसरी ओर उसका गिरता स्वास्थ्य और फिर अपनों से न टूटने वाला तनाव....।

वह जानती है कि यह सारे तनाव ही उसकी इस दशा के उत्तरदायी हैं और यही उसके अंत के भी उत्तरदायी होंगे। फिर भी, वह दोष स्वयं को ही देती आयी है। आँखों में आँखें डालकर उसने स्थितियों को नहीं झेला है, हथियार डालकर, हार-हारकर मरना सीखा है।

वह सुबह उठती है, तो लगता है कि हर दिन उसे एक महाभारत अपने कमज़ोर कंधों पर ढोना है और भीष्म बनकर शर-शैया की चुभन को चुपचाप झेलना है। उनकी इच्छानुसार सूर्य तो आया ही छः महीने बाद उत्तरायण में, लेकिन इन स्थितियों का सूर्य उत्तरायण में शायद कभी नहीं आएगा.... उसे इस शर-शैया से कभी मुक्ति नहीं मिलेगी।

सामने की खिड़की का परदा हवा से लहराकर निमा के मुँह पर फहर गया है। प्रकृति अपने बौर से उसे बहलाना चाहती है। खुमानी और आड़ू के पेड़ों की कोपलों की खुशबू उसके नथुनों में

महकने लगी है। अंदर के फैले रेगिस्तान में भी कहीं प्रकृति स्मित बनकर होठों पर खिलने लगी है।

आज तक उसकी बीमारी का कोई नामकरण नहीं हुआ... क्योंकि आज तक कोई ढंग का चैकअप हुआ ही नहीं...। मोटे-मोटे बिलों के डर से... कभी बुखार, कभी थकावट, कभी सिर में दर्द, हाथ-पाँवों का सो जाना, उठने की शक्ति न रहना—ये सब बीमारियाँ नामकरण की मोहताज़ नहीं है। इसे एक तरह से तिल-तिल कर मिटना कह सकते हैं। इन बेनाम लक्षणों की ओर क्यों कोई ध्यान दे...

रिश्ते-नाते शरीर से होते हैं, सुविधाओं के होते हैं... मन के रिश्ते होते ही कहाँ है, जो शरीर के अशक्त होने पर भी जुड़े रहें. .. घर वालों की सदाशयता तो उस के उपयोग के साथ ही चल सकती है न !

अभी हाल में ही एक कहानी पढ़ी थी। पति-पत्नी से बेहद प्यार करता था। आस-पास वाले भी उनके प्यार से मन ही मन जलते थे। लेकिन, एक दिन पत्नी को पक्षाघात हो गया। पति धीरे-धीरे बदलने लगा। विरक्त रहने लगा। एक दिन पत्नी की वाणी भी मूक हो जाती है। उसकी लड़की, एक दिन देखती है कि पिता माँ की छाती को कूट-कूट कर कह रहे हैं—कमज़ात.... कब मरेगी... मेरी ज़िंदगी ज़ोखिम बना दी है तूने....

दूसरे ही दिन पत्नी मर जाती है। कहानी पढ़कर मन में समुद्र से भी वृहत बड़वानल धधक उठा था। वह दो दिन तक रात-रात भर अपने आप में घुटती और आँसू पीती रही थी। यही नहीं उसे अपने बच्चे वाल्मीकि के बच्चे दिखने लगे थे, जिन्होंने कह दिया था कि हम तुम्हारे पाप के भागीदार क्यों बनें। तुमने हमें पैदा किया है, तुम्हारा फ़र्ज़ है हमें पालना...

आते-जाते परिचितों में जब भी वह अपने अस्वस्थ रहने की बात करती, तो कई लोग संजीदा होकर सलाह देते-फलाँ डॉक्टर को दिखाइए... फीस से न डरिए... जान है तो जहान है, भाभी जी.. . आप का तो जैसे रंग ही बेरंग हो गया है....

उसे याद है कि हेमेन्द्र के सिर में मामूली दर्द से भी वह घबरा जाती थी और छुट्टी लेकर बैठ जाती थी। हेमेन्द्र पर तन-मन न्योछावर कर देती... कभी-कभार कोई बच्चा बीमार होता, तो उसके पाँव देहरी लाँघने से जैसे इन्कार कर देते।

वह कब से बीमार है। बीच-बीच में ऐसी भी स्थिति आयी है कि खाट से हिल तक नहीं सकी। हेमेन्द्र के आफ़िस जाने में कोई व्यतिक्रम नहीं आया। यही नहीं, दफ़्तर जाते समय भी वही ढंग, वही अपेक्षाएँ सारी कायनात की। वह मन की सलीब पर टँग-टँग कर देखती है, लेकिन सभी ने अपनी अपनी संगीनों से दागने का ही काम किया है। आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि वह स्वयं अपनी वैसाखी बनने योग्य नहीं रही।

आप सिर-दर्द थोड़ा कम है। परसों किसी मित्र के बहुत आग्रह करने पर हेमेन्द्र एक स्पेशलिस्ट के पास ले गये थे...। उसने कितने ही टेस्ट किये। ब्लड0ई0के0जी0, अल्ट्रा साउंड, थाइराइड, और न जाने क्या-क्या!

आज डॉक्टर के पास फिर से जाना है, क्योंकि टेस्ट की रिपोर्ट्स आने वाली हैं। निमा खुश है कि अब रोज़-रोज़ उसे किसी की आँखों का नकार या उपेक्षा नहीं झेलनी पड़ेगी। बीमारी का नाम होगा और उसी के अनुरूप उसका इलाज...

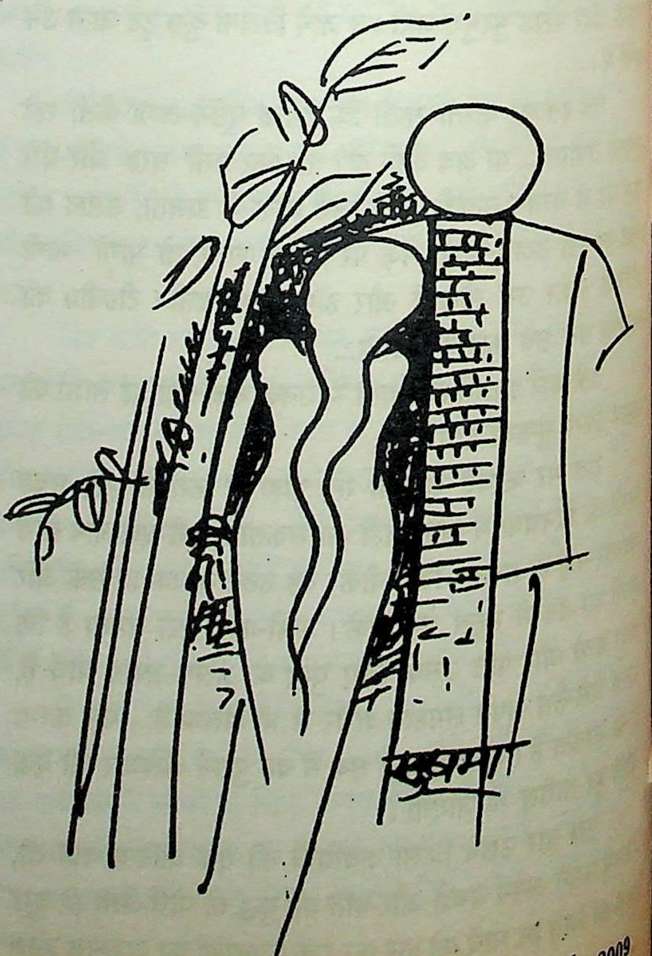
वह मन ही मन प्रार्थना करती है कि हे ईश्वर, नारी को जन्म देते हुए उसे लोहे जैसी शक्ति और सुंदरता का वरदान भी दिया कर। नहीं तो वह समिधा बनकर इस महाकुंड में धुआँ-धुआँ होती रहेगी।

आज उसकी बीमारी का नामकरण हो गया है। अब से रोज़ गाहे-बगाहे मल्टी विटामिन, केलशियम, फ़्लॉरिन, फ़ास्फ़ोरस आदि नहीं लेने हैं।

डॉक्टर ने हेमेन्द्र के कान में फुसफुसाकर कहा है—आपने बहुत देर कर दी। कैंसर पेट में अपनी जड़ें पूरी तरह फैला चुका है। अंतिम स्टेज है। केवल इन्हें खुश रखें, तनाव कम से कम...।

निमा ने सुन लिया है। उसकी गहरी साँस में कहीं एक सुकून घुल गया है। उसका सूर्य भी उत्तरायण में आ गया है।

246, Stratford Dr. # 246
Broadview Hts, OH 44147, U.S.A.



धरती की बेटी

पद्मा पाटील

अपनी ताई को देहली लाँघकर आते हुए देखकर गोधन फिर से रोने लगा।

"यह सब कैसे हुआ ताई?"

ताई भी रोने लगी। उसके साथ आयी स्त्रियाँ भी रोने लगीं। रोने का पहला आवेग थम गया। पल्लू से आँखे पोंछ लीं ताई ने। घर का वातावरण मातम का था। सवेरे ही गोधन की माँ मरी। सवेरे का समय, ताई कपड़ों का गठ्ठर बाँध ही रही थी कि उसने ज़ोर-ज़ोर से रोने की आवाज़ सुनी। आवाज़ तो जानी-पहचानी थी ही.........ऊपर से उसमें जो दुःख समाया था, वह भी जाना-पहचाना था.... आवाज़ उसके भतीजे गोधन की पत्नी रुक्मिणी की थी। गठ्ठर वहीं छोड़कर वह वापस अंदर आयी।

"सुनो, शायद मंगली का दाना-पानी सच्चे अर्थ में ख़त्म हुआ-सा लगता है....बहू, बच्चे, गोधन रो रहे हैं....चलो...."

"अरे, कैसे हुआ?....."

"चलो तो सही......."

पति रामधन के साथ जानकी दो घरों बाद वाले मंगली के घर पहुँची। उसे देखकर 'ताई, ताई' कर गोधन, रुक्मिणी रोने लगे। भयभीत से चेहरे लेकर गोधन के बच्चे बरामदे में खड़े थे।

ताई ने गोधन तथा रुक्मिणी के आँसू पोंछ डाले। "क्या करें बहू? तुमने क्या कम सेवा की अपनी सास की लेकिन......"

"ताई...... तुमने लो देख ही लिया कि हमने किसी तरह की कसर नहीं छोड़ी। रुकमी ने तो पिछले पंद्रह-बीस दिनों से घाट पर जाना ही छोड़ दिया था......."

"हाँ, बड़ी माँजी, लगता कि कहीं मैं जाऊँ और माँजी को किसी चीज़ की ज़रूरत पडे तो..... बच्चे..... तो बच्चे...."

"सच्ची बात है रुकमी। तू अपना जी छोटा ना कर....."

"ताई, हमसे कौन-सी ग़लती हुई जो माई ऐसी मौत मरी?"

गोधन हट्टा-कट्टा पैंतीस-छत्तीस की उमर का पुरुष...... लेकिन सिसकी लेकर वह रोने लगा..... ताई की आँसुओं की धार फिर शुरू हुई.....।

"मत रो धुनी......"

ताई ने पल भर रुक कर गोधन को शांत होने दिया। फिर वह उठकर आँगन में गयी। रामधन अपने साथ सात-आठ आदमियों को लेकर आया था। उन्हें वहाँ छोड़कर वह गोधन के पास आया। रुक्मिणी और गोधन की सिसकियों ने उसका मन बींध लिया। उसका गला भर आया......दोनों की पीठ पर सांत्वना का हाथ फेरता वह अपने को सँभालने का प्रयास कर रहा था।

"रामधन, तू बड़ा है....... ऐसा कैसा रे तू? अपने आप पर क़ाबू रख........ आगे की नहीं सोचता क्या?"

बिरादरी के बुज़ुर्ग केशू के टोकने पर भी रामधन रोना रोक नहीं पाया, "मैं ही तो मंगली को छोटी भाभी के रूप में लाया था काका...... बस्स..... इतनी-सी थी...... पंद्रह-सोलह की। जब से आयी थी, तब से हमारे घर का हिस्सा बनी थी......लक्ष्मण भाई तो चला गया, लेकिन मंगली........मेरी बच्ची......."

रामधन के रोने से रुक्मिणी, गोधन, जानकी और अन्य स्त्रियाँ भी रोने लगीं। आँगन में खड़े लोगों की आँखें भी भर आयीं. ......

फिर आगे की सारी तैयारी में लोग जुट गये। ठठरी-तिकटी बन गयी। मृतक-संस्कार का सारा सामान आ गया। गोधन, रामधन, जानकी, रुक्मिणी...... बच्चे...... रोना रोक नहीं पा रहे थे। केशू काका ने बिरादरी के अधेड़ पुरुषों को सूचना दे देकर तैयारी की, फिर रुक्मिणी से पूछा, "क्यों री बहू, मंगली को नहलाया है न? जाओ रे बुधा और तुम शंकर.... जाओ। अंदर से उठा ला...."

दोनों के साथ और दो अंदर गये। घर के बीच वाले आँगन में मंगली की देह रखी थी। चारों में से दो वापस आकर केशू काका से कानाफूसी करने लगे।

रामधन और गोधन उठ खड़े हुए। गोधन रोते-रोते बोला, "माई तो ऐसी ही मरी है......ऐसी ही मरी है। सिर्फ़ आज ही नहीं मरी है मेरी मैया, काका, वह तो दस-पंद्रह दिनो से ऐसी ही मरती चली आयी थी। ताया.... क्या करूँ मैं..... मेरी माई....." चीख़ मारकर गोधन ने खंभे पर सिर दे मारा। रामधन ने गोधन को सँभाला।

न केवल केशू काका बल्कि बाहर वाले आँगन के सारे लोग देखते ही रहे। अब तो सारी बिरादरी आँगन में थी ही। रास्ते पर भी भीड़ जमी हुई थी।

अंदर के आँगन से मंगली का शव लाकर ठठरी पर रखा गया। घर के संस्कार कर ठठरी उठायी गयी। राम नाम सत्य के गजर के साथ सभी श्मशान घाट गये। केवल मुठ्ठी भर रही देह जलने में देर नहीं लगी। फट्फट् जलती लकड़ियों की आवाज़ को दबाती आवाज़ थी गोधन की! रोये जा रहा था..... रोये जा रहा था।

श्मशान घाट से वापस आया जमघट अपने-अपने घरों तक बिखर गया। गोधन के गोबर से लीपे पोते आँगन के छोटे गड्ढों में पानी भर गया था। बच्चे दुबककर कोने में बैठे थे रुकमी मुख पर आँचल ले के सिसक रही थी। उसके पास ही जानकी बैठी थी। वह बहती नाक को सूँ-सूँ कर ओढ़ती, आँखें पोंछती, सटकर बैठी दो-चार बिरादरी वाली स्त्रियों से हल्के स्वर में बतिया रही थी। गोधन पानी के गड्ढों को लाँघकर ड्योढ़ी पर आया और जानकी ताई के पास बैठ गया। घुटनों के बीच मस्तक झुकाकर चुपचाप बैठा रहा। बिरादरी की स्त्रियाँ चली जाने लगीं तो जानकी ने कहा, "मुरली की माँ, सुन तो, इन दोनों को घर ले जा अपने, एकाध कौर डाल उनके मुँह में। बेचारे न जाने कब से भूखे हैं.... जाओ री पत्तू और तू भी चंगी। जा!"

सभी ओर सन्नाटा था। अब रुक्मिणी भी शांत बैठी थी। सामने आँगन में पानी के गड्ढ़ों में घर की मुर्गियाँ कुछ ढूँढ रही थीं। नल वाले पत्थर पर गीले कपड़े पड़े थे। बरामदे के कोने में मैले कपड़ों का ढेर था.... रस्सी पर कुछ लटक रहे थे।

जानकी के गोधन का मस्तक छूते ही उसकी रुलाई छूट पड़ी। वह सिसकियाँ देकर रोने लगा। उसके कंधे हिलने लगे। दबी आवाज़ में रुक्मिणी भी रोने लगी। जानकी भर्राए गले से बोली, 'हाँ री धुनी,....."

'मत बोल ताई, मत बोल........मत पूछ मुझे कि मेरी माँ ऐसी मौत क्यों मरी!'

"शांत हो जा बेटे......हर एक को तो जाना पड़ता है न.. .. मेरी मंगली को......"

कुछ क्षण अस्वस्थता में बीते। ताई ने रुक्मिणी की तरफ़ देखा। दबे स्वर में रुक्मिणी रुक रुककर सिसकियाँ देती हुई कहती गयी.... 'जब आप पीहर गयी थीं, उसी दिन से माँजी ने खटिया पकड़ी थी। एक-दो दिन वे चाय लेती रहीं। खाया कुछ नहीं। हमारे पूछने पर कहा, "जी अच्छा नहीं.... मुझसे कुछ खाया नहीं जाता। जरा औंधे मुँह लेटूँ तो अच्छा लगता है..... हड्डियाँ तो मानो रगड़ी जा रही हैं.... और बस्स, तब से वे मुँह नीचे कर......"

अपनी आवाज़ को स्थिर कर गोधन बोला......"तब से माई घुटने पेट से सटाकर, दोनों हाथ तकिए पर और मुँह औंधा करे-करे ही लेटी रही.... न दाहिनी तरफ़ न बायीं तरफ़ मुड़ी.... .. पानी की बूँद तक मुँह में नहीं गयी.... जाती भी कैसे ...... मुँह जो औंधा था...."

जानकी ने गोधन के गालों पर लुढ़कते आँसू पोंछे, कहा, "देख बेटा, हम सब को एक दिन तो जाना ही है, किसी के कंधों पर...... तेरे ताया उसे लाये थे, तेरे ताया ही ले गये न..... चुप कर. ..."

"लेकिन ताई, मेरी माई आसमान की तरफ़ मुँह करके नहीं मरी.... ताया के कंधों पर लेटकर गयी। लेकिन वैसे ही न, मुँह नीचा करके.... तूने देखा नहीं? उसका प्रेत कैसा था? उसकी देह की घुटनों में मुड़कर तह बन गयी थी। तेरी बहू ने उसे कैसे नहलाया, कैसे साड़ी पहना दी—वह ही जानती है। कितनी बार ऊपर की ओर मुँह किये रखने के प्रयास किये। नहीं हुआ.....जैसी मरी थी, वैसी ही श्मशान को जाना पड़ा।

गोधन आँसू रोक नहीं पा रहा था, "मेरी माई ने औरों की तरह आसमान की ओर देखकर प्राण नहीं छोड़े, न वह धूप चेहरे पर लिए श्मशान गयी.... स्वर्ग का रास्ता नहीं देखा....."

मृदु स्वर में जानकी बोली, "ऐसा क्यों सोचता धुनी बेटे? प्रेत को हम लिटा देते हैं। हम आसमान की तरफ उसका मुँह करते हैं, अपनी सुविधा के लिए। आसमान की तरफ़ मुँह करके कोई स्वर्ग में थोड़े ही जाता है?"

"लेकिन ताई, बिरादरीवालों ने क्या सोचा होगा? श्मशान में वही हुआ.... चिता पर तिकटी वैसे ही रखी...... मुँह औंधा था माई का..... मैंने ही आग दी.... ।"

"तो और कौन देगा, ज़रा बोल तो......" जानकी ने शांत आवाज़ में कहा, "देख बेटे, सबेरे तेरे ताया ने बताया कि मंगली को वे ही लक्ष्मण देवर जी के लिए बहू के रूप में लाये थे, मुझे याद है..... सोलह-सत्रह की कच्ची उमर की मंगली.... बस इतनी-सी थी। मेंहदी उतरी नहीं थी कि मेरे और तेरी दादी के साथ मैले कपड़ों के गठ्ठर उठाकर घाट पर आयी थी। गाँव वालों के कपड़े धोते-धोते हमारी उमर गयी..... तेरी दादी गुज़री। बीमारी में तेरे बाप ने दम तोड़ा। ज़िंदगी के साथ मंगली भी लड़ती रही। मुँह नीचा करके घाट के पत्थर पर मैले कपड़े धोते- धोते तुम्हें बड़ा किया। घुटनों तक पानी में रोज़ाना खड़े होकर कपड़े धोना आसान नहीं था। उसने मुँह नीचा करके घुटनो में झुककर ज़िंदगी मानो मेंढकी की तरह बितायी। उँगलियों में छेद हुए थे उसके! जब रुकमी आयी तब उसने घाट पर जाना छोड़ दिया था..... क्या मैं जानती नहीं?

रुक्मिणी ने कहा, "लेकिन बड़ी माँजी, पंद्रह दिनों तक उनके गले से बूँद तक नीचे नहीं उतरी.... बस्स, तकिये पर मत्था टेके, घुटनों के बल पर औंधी पड़ी रही....."

"हाँ, जानती हूँ। तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि वह धरती की बेटी थी। मुँह नीचा कर वह धरती माँ की गोद में समा गयी है? आसमान की ओर मुख करके क्या कोई स्वर्ग जाता है? ये सारी अपनी कल्पनाएँ हैं। देख बेटा, यहाँ आकर मंगली ने नयी ज़िंदगी शुरू की.... पानी की धाराओं में कपड़े धोये..... मस्तक और नज़र

नीचे थी.... मानो मेंढकी! वैसी ही वह धरती माँ में समा गयी। आख़िर हम सब उसी धरती की संतान हैं..... हमारा भला-बुरा मिट्टी से जुड़ा है। तुम दोनों दुख मत करो। सोचो कि मंगली असली अर्थ में धरती की बेटी थी। धरती की गोद में सो गयी। हम किसी को प्रणाम करना चाहें, तो क्या ऐसे नहीं झुकते? घुटनों के बल पर झुककर दोनों हाथ-पैर और मस्तक झुकाकर प्रणाम नहीं करते? मंगली के प्राण ऐसे निकले तो ऐसे सही! दुख मत करना. ...... जो हुआ, उसका अच्छा अर्थ निकालो।''

अब गोधन की आँखे आँसुओं से तर नहीं थीं और रुक्मिणी भी आँखे मूँदे बैठी थी।

ताई की आवाज़ कड़ी थी, मगर आँखो की कोरें भीगीं थी। उसका सारा प्यार अपनी छोटी देवरानी के प्रति उमड़ आया था!

3, अश्वनी नगर, सागरमाल, कोल्हापुर-416008 (महाराष्ट्र)

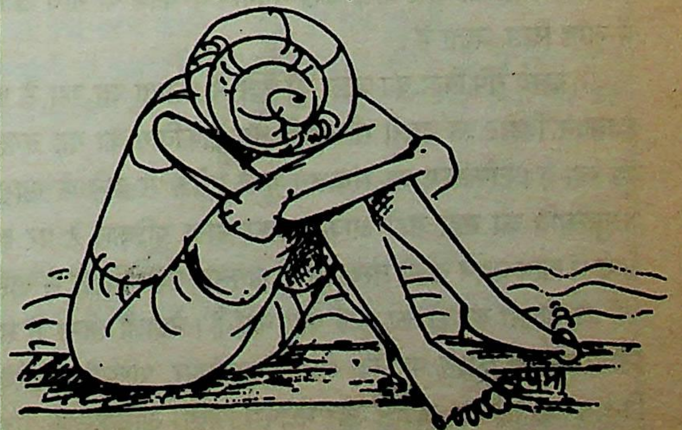
कविता

पहाड़ पर प्रश्न-चिह्न

हरीश कुमार शर्मा

बहुत ख़ूबसूरत देखा पहाड़!
पहाड़! जो कि बहुत उत्तम था, सुंदर था।
मनोहारी था उसका रूप-रंग–
कि एकटक देखते रहो
तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हुए,
भिन्न आकार-प्रकारों में–
उसकी रम्य छाया-छवियों की।
पहाड़ का सौंदर्य सचमुच भव्य था,
नयनाभिराम था–
दृष्टि को सहज ही अपनी ओर खींचने वाला।
किसी को भी मुग्ध कर देने वाला,
किसी को भी लुब्ध कर देने वाला,
...लेकिन, उसी पहाड़ में दिखते थे
फँसे-फँसे कुछ झोंपड़े–
कुछ लटके हुए से,
कुछ अटके हुए से।
उनमें निवास करते थे मनुष्य,
निश्चित ही अपने परिवारों के साथ भी।
झोंपड़े ? जो कि–
पहाड़ के समूचे जीवन-दर्शन को
प्रतिबिंबित करते थे
और उपरिवर्णित सभी शब्दों के साथ,
प्रश्नवाचक विराम-चिह्न से लगते थे।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दोन्यी पोलो शासकीय महाविद्यालय कामकी, पत्रालय-आलो (अलांग), अरुणाचल प्रदेश-791001



नकारात्मक सोच का नतीजा है ट्रैफिकिंग

लीना

बेटियाँ यानी जननी प्रकृति की, सृष्टि को चलाने वाली, बढ़ाने वाली। सदियों से हमारे समाज में देवियों की तरह पूजी भी जाती रही हैं। पर दूसरी ओर समाज में उन्हें दोयम दर्जे का इन्सान भी समझा जाता रहा है। आज जबकि सामाजिक-आर्थिक परिवेश यकीनन बदला है, बावजूद इसके अब भी समाज में उनके प्रति नकारात्मक रवैया बरकरार है।

जन्म लेने से पूर्व माँ की कोख़ से लेकर बड़े होने तक उनके प्रति भेदभाव का रवैया बना रहता है और इसका परिणाम है तथाकथित आधुनिक सभ्य समाज में आधुनिक तकनीक के जरिये जन्म से पहले कन्या भ्रूण हत्या और जन्म के बाद उपेक्षा की शिकार बेटियां ! उनका माँ बाप के लिए बोझ समान होना ! बेटियों को बोझ समझने वालों का फ़ायदा उठाते हैं मानव व्यापार के दलाल यानी ट्रैफेकर और बेच दी जाती हैं लड़कियाँ और ढकेल दी जाती हैं शोषण या देह व्यापार के रास्ते पर।

ऐसा नहीं है कि बालिकाओं या बच्चों की खुलेआम खरीद बिक्री होती है, जैसा कि इस शब्द से ज़ाहिर होता है। बल्कि ट्रैफिकिंग का मतलब ऐसे माध्यम से है जिसके द्वारा बच्चों को धोखे से या जबरन, एक जगह से दूसरी जगह काम, शादी, नौकरी आदि का लालच देकर गुमराह कर ले जाया जाता है और अन्ततोगत्वा इसका परिणाम होता है जबरन मजदूरी, गुलामी या दैहिक शोषण। आज ट्रैफिकिंग एक नेटवर्क का रूप लेकर व्यवसाय की तरह फैलता जा रहा है। आमतौर पर बच्चों विशेषकर लड़कियों की ट्रैफिकिंग जहाँ यौन शोषण, जिसमे वेश्यावृत्ति, ब्लूफिल्में बनाना, नृत्य थियेटरों आदि में काम करवाना भी शामिल है, के लिए करते हैं। वहीं बच्चों को बाल श्रम, भीख मँगवाने के काम या नाच आदि में लगा दिया जाता है।

गर्ल्स ट्रैफिकिंग का जाल पूरे देश में फैलता जा रहा है पर खासकर बिहार का उत्तरी सीमावर्ती क्षेत्र ट्रैफिकिंग का गढ़ बनता जा रहा है। ट्रैफिकिंग का संचालन गुप्त तरीके से होने के कारण वस्तुस्थिति का सही सही आकलन कर पाना मुश्किल है पर इन क्षेत्रों में काम करने वाली संस्थाओं के अनुसार उत्तर बिहार से बाहर गई हर तीसरी लड़की का कोई पता नहीं है। नेपाली सीमा से सटे बिहार के इस कोशी महानंदा क्षेत्र में (कटिहार, पूर्णियाँ, अररिया, किशनगंज, सहरसा, सुपौल और मधेपुरा जिला) अधिकांशतः उत्तर प्रदेश, हरियाणा आदि प्रदेशों से दलाल आते हैं और अशिक्षित-ग़रीब घरों की लड़कियों को शादी (झूठी), नौकरी, फिल्मों आदि में काम दिलाने का लालच देकर फँसा ले जाते हैं। समाज में जागरुकता का अभाव और धनी व संपन्न बनने की ललक लड़कियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बिकने में मददगार बन जाता है। बाहरी दलाल दूल्हे और उसके अभिभावक के रूप में आते हैं। विभिन्न तरह के आर्थिक-सामाजिक प्रलोभन देकर मसलन खुद को अमीर या प्रतिष्ठित बताना, लड़की को सर आँखों पर बिठाकर रखेंगें, धूप नहीं लगने देंगे ! कहकर लड़की के माँ-बाप को बहका देते हैं। बेटी की किसी तरह शादी कर देने का सोच रखने वाले, ग़रीब, अशिक्षित या नासमझ माँ बाप ऐसे में ही बेटी की शादी अनजान व दूर दराज के दूल्हे के साथ कर देते हैं। बाद में लड़की का कुछ पता नहीं चल पाता। उधर अनजान जगह में लड़कियाँ या तो कहीं और बेच दी जाती हैं या देह व्यापार में धकेल दी जाती हैं।

इसलिए आज ट्रैफिकिंग को समझने की ज़रूरत है ताकि किसी को इसका शिकार होने से बचाया जा सके। लोगों को यह समझने की ज़रूरत है कि बिना जाँच पड़ताल के अनजान जगह में अपनी बेटियों का ब्याह न करे, तो लड़कियों को स्वयं यह समझने की ज़रूरत है कि किसी बहकावे में आकर अनजान लोगों के साथ अनजान जगह पर जाने से बचें। इसी के मद्देनजर कई सरकारी गैर सरकारी संगठन / संस्थाएँ एन.जी.ओ. इन क्षेत्रों में ट्रैफिकिंग और उससे संबंधित मामलों पर काम कर रही हैं। बिहार सरकार भी इससे निपटने के लिए एंटी ट्रैफिकिंग एक्शन प्लान बना चुकी है। ये एन.जी.ओ. शिक्षा और सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से ट्रैफिकिंग पर जागरुकता बढ़ाने का काम कर रहे हैं। उन्होंने जगह जगह अपने अनौपचारिक शिक्षण संस्थान/पुनर्वास केंद्र खोल रखे हैं तो सम्मेलन, मार्च, मीटिंग के माध्यम से भी जागरुकता बढ़ाने में लगे हैं। बिहार के ख़ासकर नेपाल के सीमावर्ती क्षेत्रों में, जहाँ अंतरराष्ट्रीय ट्रैफिकिंग होता है वहाँ समाज, एन.जी.ओ. के अलावा पुलिस प्रशासन का भी भरपूर सहयोग इन्हें मिलता है। जागरूकता बढ़ने का ही असर है कि हरियाणा, उ. प्र. के कथित दूल्हे इन इलाकों से अब धीरे- धीरे ग़ायब होने लगे हैं। इन क्षेत्रो में गैरकानूनी शादी के समय या बाद में ढूंढ कर लायी गई लड़कियों, दलालों के चंगुल या वेश्याघरों से छुड़ायी गयी महिलाओं

का बचाव कर पुनर्वास का काम भी किया जा रहा है। कई एन.जी.ओ. उन्हें अपने ही शिक्षण केंद्रों, पुनर्वास केंद्रो आदि पर काम करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इससे उन्हें आर्थिक के साथ साथ सामाजिक पुनर्वास में भी मदद मिलती है।

जब तक बेटियों के प्रति हमारे समाज में नकारात्मक सोच का नज़रिया नहीं बदलेगा तब तक यूँ ही लड़कियाँ बिकती रहेंगी, शोषित होती रहेंगी और ठगी जाती रहेंगी।

303, दिगम्बर प्लेस, डॉक्टर्स कालोनी, लोहियानगर
कंकडबाग, पटना 800020,बिहार

लघुकथा

भीतर का सच

अशोक भाटिया

बच्ची सो चुकी थी। वह खाना खाकर खाली था। उसने काम के हिस्से के तौर पर ब्रश किया, टी0वी0 ऑन किया और बेड पर पसर गया। वह रेसलिंग, फैशन, डांस वगैरा चैनल घुमाने लगा। उधर रमा सुबह के लिए दही जमाने, सब्जी बनाने, कपड़े तहाने के बीच ताबड़तोड़ घूम रही थी। आखिर पति ने बाहरी दरवाजे बंद किए।

-आज तो कई दिन हो गये।' विशाल ने चादर खोलते हुए कहा।

-इस वक्त तक तो मैं चूर हो जाती हूँ।' रमा ने कमर सीधी करते हुए कहा। वह सोना चाहती थी। पर ये नाराज हो गए, तो जो करते हैं थोड़ा- बहुत काम, वह भी नहीं करेंगे।

-अब तो रितू ढाई साल की हो गई है।' विशाल ने चादर रमा के ऊपर खिसकाते हुए कहा।

-अभी बहुत छोटी है, थोड़ी और बड़ी हो जाए।

-...

-मैं तो कहती हूँ, एक बच्चा ही काफी है। हम दोनों नौकरीपेशा हैं। बच्चे पालने आजकल बड़े मुश्किल हैं।

-जो आएगा वह पल भी जाएगा। हमें क्या कमी है?

सुनकर रमा पल-भर को सोच में डूब गई। फिर मुस्कान और गंभीरता को जोड़कर बोली- अच्छा एक बात बताओ। अगर हमारा पहला बच्चा लड़का होता, तो भी दूसरे के बारे सोचते?

-तो क्या तू कहना चाहती है कि मैं लड़के की चाह में ही दूसरा बच्चा कह रहा हूँ!' विशाल ने अपने पर लगे प्रश्न-चिन्ह को तुरंत हटाना चाहा।

-आदमी लाख लबादा ओढ़कर आ जाए, औरत उसका मन ताड़ ही जाती है।

यह सुनकर विशाल हिल गया। उसने सहज होने की कोशिश कर कहा- तो चलो, इसमें बुराई क्या है? लड़की भी है और लड़का भी हो जाए तो जिंदगी में दोनों तरह का एक्सपीरिएंस हो जागगा।

-लेकिन यह तो किसी के बस का नहीं कि क्या होगा? कार्नर वाले देसराज ने इसी चक्कर में पांच लड़कियाँ पैदा कर लीं। अब पछता रहे हैं।

विशाल के मर्म पर चोट पड़ी थी। क्यों नही भला किसी के बस का! वह तिलमिलाकर बोला–कई औरतें तो लड़कियों का ठप्पा लेकर आती हैं।'

-ऐसी बात नहीं।' रमा ने थोड़ा परे खिसकते हुए कहा, 'स्त्री तो पुरुष का सूक्ष्म रूप होती है।'

-आदमी तो सप्लाई कर सकता है। ग्रहण तो स्त्री को करना है। वह क्या ग्रहण करती है- इसी पर सब कुछ है।'

सहसा दोनों के बीच एक सन्नाटा पसर गया। रमा को लगा कि तनातनी हो सकती है। थोड़ी देर रुककर बोली- स्त्री तो सिर्फ सांचा है।' वह विशाल की तरफ मुड़ी- 'सांइस तो आपने भी पढ़ी है। औरत के पास सिर्फ एक्स क्रॉमोसोम हैं। आदमी के पास एक्स और वाई दोनों होते हैं।' वह थोड़ा गंभीर हो गई थी।

विशाल ने रमा की बात नहीं सुनी। वह अभी पिछला तर्क ही पचा नहीं पाया था। बोला- हो सकता है, वाई क्रॉमोसोम ही पचा नहीं पाया था। हो सकता है, वाई क्रॉमोसोम तूने लिए ही न हों।'

-ऐसे तो मैं भी कह सकती हूँ कि हो सकता है, आपसे सिर्फ आए ही एक्स क्रॉमोसोम हों।' रमा रौ में कह गई।

यह सुनकर विशाल पूरी तरह जल-भुन गया था। वह अन्यमनस्क-सा होकर दूसरी तरफ देखने लगा। रमा ने उसके हाथ पर हाथ रखकर कहा-यह सब संजोग होता है। इसमें कोई कुछ नहीं कर सकता, न आप, न मैं।'

विशाल का मन अभी विशाल नहीं हो पा रहा था, हालांकि उसे बात जँच जरूर गई थी।

1882, सैक्टर 13, करनाल-132001

कोंकणी लघुकथाएँ

मूल तथा अनुवाद—जयश्री राय

चाँद, समंदर और हवा

मेरी ने फिर बाहर आकर देखा—सूरज डूब चुका है। धूसर, नील समंदर के ऊपर पूर्णिमा का गोल-मटोल चाँद माथे तक उठ आया है। चारों तरफ़ अमलतासी उजास है। नारियल के सँवलाये पेड़ किनारों से रुपहले पड़ने लगे हैं। किनारे पर टूटती लहरों से उलझ कर आती हवाएँ मत्स्यगंधा हुई जा रही थीं... नहीं, जॉन का कहीं पता नहीं। कितनी देर हो गयी, न जाने कहाँ रह गया.... दूर साहिल पर लौटती नावों की छायाएँ डोल रही हैं। नाविक मछलियाँ पकड़ कर शाम ढले घर लौट रहे हैं; कुछ रात भर के लिए समंदर में जा भी रहे हैं। हलद् चाँदनी में रुपहली मछलियाँ झलमला रही हैं। समंदर के उदास शोर में नाविकों की धीमी आवाज़ें भी शामिल हैं। मेरी घर के सामने पड़ी टूटी नाव और जाल के ढेर को देखती है—कभी वे भी ख़ुश थे... अपनी नाव थी, मछलियाँ पकड़ते थे, उनका गुज़ारा हो जाता था। सुख से ज़्यादा शांति थी।

धीरे-धीरे सैलानी बढ़े, भीड़ बढ़ी, बड़े, आलीशान होटल बने, कॉलोनियाँ बनीं। भू माफ़ियाओं ने ग़रीबों की सारी ज़मीन हड़प ली। राजनीतिज्ञों ने उनका साथ दिया। बड़े व्यापारियों ने समंदर में बड़े-बड़े जहाज, ट्रॉलर उतारे। ज़मीन, दरिया, मछली... सब पर व्यापारियों का कब्ज़ा हो गया। धीरे-धीरे उनके सुख, छोटी-छोटी खुशियाँ, मन की शांति—सब खो गयी! अब तो भूखों मरने की नौबत आ गयी थी। जॉन सुबह शहर गया था। वहाँ उस जैसे कई छोटे-छोटे मछेरों को किसी बहुत बड़ी विदेशी कंपनी ने बातचीत के लिए बुलाया था। शायद कुछ रोज़गार मिल जाए... मेरी उम्मीद से भर कर उठ खड़ी हुई थी। जॉन आ गया था।

"क्या हुआ, कुछ बात बनी?" वह अपनी उत्सुकता छिपा नहीं पा रही थी।

"वे हमारी ज़मीन और घर खरीदना चाहते हैं मेरी, कोई बहुत बड़ा होटल-रिसॉर्ट बनाना चाहते हैं। हमें बहुत पैसा मिलेगा!"

"फिर , तुमने क्या कहा?" मेरी का दिल जैसे उसके गले तक उठ आया था। उसने अनजाने ही घर के सामने बने क्रास को पकड़ लिया था।

"मैंने उन्हें न कर दिया...!" जॉन पस्त-सा टूटी नाव पर बैठ गया।

"तुमने न कर दिया...?" दरवाज़े पर भूख से रोते हुए नन्हे एंथनी की तरफ़ देखते हुए उसने थरथराती हुई आवाज़ में पूछा। अपने बच्चों की तकलीफ़ अब उससे देखी न जाती थी।

"हाँ, मना कर दिया मेरी। हमारा सब कुछ तो चला गया है। अब इस चाँद, हवा और समंदर का सौदा नहीं कर सकूँगा... शीशे के मकानों में कभी समंदर की मछलियाँ जी सकती हैं भला? हम भी जी नहीं पाएँगे मेरी! हमारी नसों में दरिया की खुशबू है। हमें जीने के लिए नारियल की सरसराहट, काजू की माताल गंध, नमकीन हवा की खुनक और दरिया की रवानी चाहिए, "दार्शनिक लहज़े में बोलते हुए न जाने कब अपने ही अनजाने वह झुक कर फटा हुआ जाल बुनने लगा। पास पड़ी टूटी नाव चाँदनी में चमक रही थी। दूर वासंती चाँद में रजत किरणों का ज्वार बने उत्तात समंदर की फ़ेनिल लहरों में आज जैसे एक नये निमंत्रण का मादक संगीत घुला हुआ था।

प्रायश्चित

जंगल में जगह-जगह लगी भट्टियों में बनती शराब की गंध से ग्रीष्म ऋतु की संध्या मदिर हो उठी है। वर्ष के अन्य महीनों में साधारणतया मत्स्यगंधा बनी रहने वाली समंदर की नमकीन हवा काजू की मादक सुगंध से माताल हुई फिर रही है। नारियल के पेड़ से उतर कर एंथनी ने साँझ की ताज़ी हवा में लंबी साँस खींची थी। कच्चे नारियल उतारने के लिए वह यहाँ आया था। गर्मी में नारियल-पानी ठंडक पहुँचाता है। उसने सर उठा कर पेड़ पर ऊँचाई पर बँधी हँडियों को देखा था। कल सुबह आकर तारी उतार ले जाएगा। अँधेरा छाने से पहले उसे भट्टी पहुँचना है। वहाँ काम बहुत है। मारिया अकेली पैरों से कुचल कर काजू के फलों का रस निकाल रही होगी। उसने जल्दी-जल्दी चलते हुए अपने दाहिनी ओर देखा था—नीले समंदर के किनारे जैसे आग लग गयी है—लाल, पीले, सिंदूरी फलों से काजू के जंगल दहक उठे हैं। ढलती साँझ की रक्तिम आभा में सागर पिघले सोने की तरह दिगंत तक लहरा रहा है। इसी बीच क्षितिज पर वासंती चाँद का छोटा-सा

टुकड़ा उग आया है। उसी के हल्के उजास में साहिल पर नावों की लंबी, स्याह कतारें दिखने लगी हैं। रुपहली मछलियों के छोटे-बड़े टीलों के पास मछेरों की गहमागहमी है।

एक अनाम ख़ुशी से भरा वह गुनगुनाता हुआ अपने गाँव पहुँच गया। सामने के गिरजे में सांध्य-प्रार्थना के लिए घंटियाँ बजनी शुरू हो गयी थीं। घरों के आगे तुलसी-चौरों पर दीये जल उठे थे। साविये सामने से आता दिखा, तो उसने रोकना चाहा। मगर वह जल्दी में था। पादरी को बुलाने जा रहा था। पेदरो की हालत गंभीर थी। वह कभी भी मर सकता था। दोपहर से उसे ख़ून की उल्टियाँ हो रही थीं। सुन कर एंथनी उदास हो गया। पेदरो उसका बचपन का साथी था। दोनों साथ-साथ मछलियाँ पकड़ते थे, समंदर में नहाते थे तथा रातों को काजू के जंगलों की रखवाली किया करते थे। वह पेदरो के छोटे बेटे का गॉड फ़ादर भी था। दुबई से बहुत पैसा कमा कर लौटने के बाद उसे कई सालों से शराब पीने की बुरी लत लग गयी थी। इधर कई महीनों से वह बीमार चल रहा था।

सोचते हुए वह न जाने कब पेदरो के घर के सामने आ खड़ा हुआ। वहाँ सभी रो रहे थे। पेदरो का जीर्ण-शीर्ण शरीर बिस्तर से मिला पड़ा हुआ था। उसके मुँह-नाक से ख़ून बह-बह कर अब काला पड़ने लगा था। अत्यधिक शराब से उसका कलेजा नष्ट होकर आज फट गया था। बिना किसी से मिले एंथनी चुपचाप अपनी भट्टी में लौट आया। उसकी विचित्र दशा देख कर उसकी पत्नी मारिया चौंक उठी। जैसे वह स्वप्न में चल रहा हो, उसे किसी बात का होश न हो! मारिया के किसी प्रश्न का उत्तर न देकर उसने अचानक एक लाठी उठा कर शराब की मटकियों को तोड़ना शुरू कर दिया। सड़ते फलों की दुर्गंध चारों ओर फैल गयी। ज़मीन पर शराब की नदी-सी बहने लगी। इतना बड़ा नुक़सान होता देख मारिया चीख़-चीख़ कर रो पड़ी। आखिर इस पर उन्होंने कितनी मेहनत की थी। सारे मटकों को तोड़ कर एंथनी ने लाठी फेंक दी।

"पेदरो ने अपनी आखिरी बोतल कल शाम यहीं से ख़रीदी थी... इस शराब से महँगी उसकी जान थी मारिया! अब और पाप नहीं कमाएँगे...," वह मुड़ कर पेदरो के घर की तरफ़ चल पड़ा–वहाँ बहुत काम पड़ा है। अब उसका चेहरा शांत था।

खंडित आस्था

मधु ने उसके सामने गर्म कांजी की थाली रखी थी, "मुँह में कुछ दे रूपा, उस नन्हीं-सी जान के बारे में तो कुछ सोच..."

रूपा ने अपना चेहरा फेर लिया, "मुझसे खाया नहीं जाएगा दीदी!"

उसकी रो-रोकर लाल हुई आँखें फिर आँसुओं से भर आयीं थीं। सुबह से उसका हाल बुरा था। मनु का अभी भी कुछ पता नहीं चल पाया था। कल रात नारियल पूर्णिमा के उत्सव के बार मछेरों ने कितने उत्साह से दरिया में नाव उतारी थी! बरसात में समंदर में नाव उतारने पर महीने भर की पाबंदी के बार नारियल पूर्णिमा का शुभ दिन आया था। देर शाम तक पूजा-पाठ, खाना-पीना और नाच-गाना चलता रहा था। समंदर में उतरी नावों को फूलों से सजाया गया था, मछेरों की आरती उतारी गयी थी तथा उनके माथे पर तिलक लगाया गया था। समंदर की भयंकर लहरों से प्राणों की बाज़ी लगा कर अपनी आजीविका कमाना उनके लिए किसी युद्ध जैसा ही साहस का काम था।

जाते हुए मनु ने उसे एकांत में पाकर बाहों में भर लिया था–'कल मैं ढेर सारी मछलियाँ पकड़ कर लौटूँगा, फिर तुम्हारे पाजेब ला दूँगा, मेरी प्रतीक्षा करना रूप!"

माथे पर आधे चाँद की बिंदी, नाक में मोतियों की बड़ी-सी नथ और नौवारी लाल साड़ी में आज उसका रूप आकाश के चाँद को भी मात दे रहा था। गर्भवती होकर उसका लावण्य और भी निखर आया था। मनु जाते हुए मुड़कर उसे बार-बार देखता रहा था।

सुबह एक-एक कर प्रायः सभी नावें मछलियाँ पकड़ कर लौट आयी थीं, मगर मनु की छोटी-सी नाव नहीं लौटी। रूपा सब से पूछ-पूछ कर हार गयी, मगर उसके विषय में किसी को कुछ पता नहीं था। किसी अनिष्ट की आशंका से उसका दिल बैठा जा रहा था। दोपहर होते-होते प्रायः सभी को यकीन हो चला कि मनु ज़रूर किसी दुर्घटना का शिकार हो गया होगा। मगर, रूपा यह मानने को क़तई तैयार नहीं थी। उसे यकीन था, मनु ज़रूर लौट कर आएगा। बचपन से उसने सुना था, समंदर बड़ा गर्वीला है, बड़ा स्वाभिमानी है, वह कभी किसी का कुछ नहीं लेता, वापस लौटा देता है। फिर यह महान समंदर उस जैसी ग़रीब की एकमात्र पूँजी कैसे छीन सकता है... आँसू बहाते हुए उसने बार-बार लहरों के आगे हाथ जोड़े थे–"भगवान! मेरा धन लौटा दो..."

शाम ढले उसे मधु खींच कर ले गयी थी। साहिल पर टूटती लहरों के बीच मनु की निष्प्राण देह पड़ी थी। दूर उसकी टूटी नाव भी पानी में डूब-उतर रही थी। चारों तरफ़ लगी भीड़ सकते की हालत में चुप खड़ी थी। क्षितिज पर आसमान लाल था, जैसे ख़ून से रँगा हो। आखिर समंदर ने उसे उसका मनु लौटा ही दिया था, मगर, यह क्या...! रूपा रोते-रोते जैसे टूटती लहरों पर खुद भी टूट-टूट कर बिखरने लगी–इतना बड़ा धोखा किया, सागर देवता तुमने! यह ठंडा, प्राणहीन देह तो मेरा मनु नहीं। मैंने जिस जीवन से भरपूर योद्धा को जीवन-समर में तुम्हारी शक्तिशाली लहरों को सौंपा था, मुझे मेरा वही मनु लौटा दो, लौटा दो... उसके हृदय-विदारक रुदन से जैसे विशाल समुद्र भी दहल उठा। आज यह महान, गर्वीला समंदर उसकी नज़र में बहुत छोटा, बहुत क्षुद्र हो गया था। उसकी आस्था टूट गयी थी।

Teen-maad, Maira
Sioum Bardez, GOA-403517

सौ वर्ष पूर्व अंतरराष्ट्रीय फलक पर औरत की दुनिया

नीलम कुलश्रेष्ठ

स्त्री चेतना जागृत करने का आधुनिक इतिहास का आरंभ लगभग दयानंद सरस्वती से मान सकते हैं लेकिन स्त्री में चेतना जागी हो ऐसा हम सौ वर्ष पूर्व का समय मान सकते हैं।

वडोदरा के महाराजा सयाजीराव तृतीय ने अपनी पत्नी महारानी चिमणाबाई को प्रोत्साहित किया कि वे अपना घूँघट हटा दें। इस तरह से वे भारत की प्रथम महारानी का दर्ज़ा हासिल कर सकीं जिसने पर्दाप्रथा समाप्त की। जब आँखों से पर्दा हटा तो उन आँखों ने देश विदेश की यात्राओं में ये दुनियाँ अपनी नज़र से देखी। जब दुनियाँ देखी तो मन विचलित होने लगा। अमेरिका, लंदन व अन्य देशों की स्त्रियाँ कहाँ खड़ी हैं और अपने देश की स्त्री ? उसे तो घूँघट के अंदर से अपने आस-पास की दुनियाँ देखने तक की अनुमति नहीं है। विदेशों में स्त्रियों व पुरुषों के सहयोग से उन्नति हो रही है। भारत में स्त्री की कोई भागीदारी नहीं है। उन्होंने अपने अनुभवों व विचारों के नोट्स लिखने व जेहन में रखने आरंभ किये लेकिन वे कोई सिद्धहस्त लेखिका नहीं थीं इसलिए उन्होंने लंदन के भारतीय मूल के एक लेखक श्री एस0एम0 मित्र की सहायता से एक पुस्तक लिखी 'द पोज़ीशन ऑफ़ वीमन इन इंडियन लाइफ़' जिसे समर्पित भी भारतीय नारी को किया है।

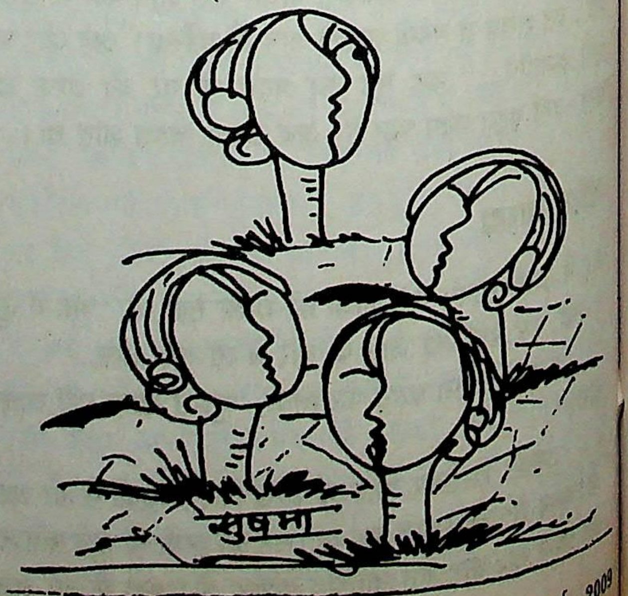
इस पुस्तक को महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय की विशाल 'हंसाबेन लायब्रेरी' से अपनी मित्र डा0 नलिनी पुरोहित द्वारा प्राप्त कर, उसे हाथों में ले भावुक हो रही हूँ। मुझे लगता है कि नारीवाद एक रिले रेस है जो एक पीढ़ी अगली पीढ़ी को सौंपती चलती है।

हँसाबेन मेहता लायब्रेरी की बात से हँसाबेन का उल्लेख न हो, ये हो नहीं सकता। ये गायकवाड़ राज्य के दीवान की बेटी थीं जिनका जन्म सन् 1897 में हुआ था। आश्चर्यजनक बात यह है कि ये विश्वविद्यालय के प्रथम छात्र संघ की अध्यक्ष बनीं। सन् 1923 सेनफ्राँससिस्को की एक विशाल सभा में उन्होंने ब्रिटिश राज्य के अन्यायों पर प्रकाश डाला था। यदि उन्होंने कोई पुस्तक लिख डाली होती तो तस्लीमा नसरीन जैसी प्रसिद्ध हो गई होतीं। महारानी द्वारा लिखित पुस्तक का प्रकाशन लंदन में हुआ। बाद में सन् 1981 व 1984 में दिल्ली के नीरज प्रकाशन ने इसके अन्य संस्करण प्रकाशित क्रिये।

भारत के प्रथम महिला संगठन की स्थापना पूना में ज्योतिबाफूले, सावित्रीबाई फूले ने की थी और महारानी चिमणाबाई उस समारोह में सम्मिलित होने पूना गयीं थीं। वहाँ से प्रेरित होकर उन्होंने भारत के द्वितीय महिला संगठन अखिल हिन्द महिला परिषद की स्थापना की। ज्योति संघ महात्मा गाँधी द्वारा स्थापित देश का तीसरा महिला संगठन था क्योंकि उन्होंने सोचा था कि स्वतंत्रता संग्राम में जिन स्त्रियों ने हिस्सा लिया वे आज़ादी के बाद घर लौटकर निष्क्रिय हो जायेंगी। वे कर्मठ बनी रहें इसलिए इसकी स्थापना की गई।

पुस्तक का प्रथम अध्याय इसी बात से आरंभ होता है कि जब भी कभी बीसवीं सदी की बात होगी तो ये बात याद की जायेगी कि सदी के आरंभ से हर वर्ग की स्त्री में अपने अस्तित्व के प्रति एक ऊर्जा उत्पन्न हो रही थी, चाहे वह अमीर हो या गरीब, शिक्षित हो या अशिक्षित। उत्तर में दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक स्त्री अपने अस्तित्व के महत्व को समझ उसे प्रमाणित करने के लिये उतावली हो चुकी थी। औरत ही औरत की दुश्मन है के समानांतर औरत ही औरत की दोस्त बनने की संगठित होने की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी थी। ब्रिटेन में सन् 1980 में विवाहित महिलाओं के जायदाद में अधिकार का बिल पास हो चुका था जिसमें सन् 1922 में संशोधन किया गया।

लंदन में सन् 1894 में शिक्षित स्त्री को वोट देने का



अधिकार भी मिल गया था। सन् 1907 तक आते-आते वे मेयर तो बन सकती थीं लेकिन न न्यायाधीश और ना ज्यूरी की सदस्य। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से तो जैसे इंग्लैंड से होती हुई शिक्षा की लहर भारत तक आ चुकी थी। यूनाइटेड प्रोविन्सेज की लेजिस्लेटिव कौंसिल ने सन् 1910 में बताया था कि भारत में स्त्री शिक्षकों की कमी है। भारतीय स्त्री को प्रेरणा देनी चाहिये कि शिक्षक बनें। उस समय कल्पना करना भी कठिन लगता था कि भारतीय स्त्री माँ, बहिन, बेटी के अलावा समाज का कोई पद ज़िम्मेदारी से संभाल सकती हैं।

बड़ौदा राज्य ने लड़के व लड़कियों की प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और निशुल्क कर दिया था। सन् 1908 की बड़ौदा प्रशासन की रिपोर्ट में साफ़ उल्लेख है कि इस निर्णय से निम्न वर्ग को सर्वाधिक फ़ायदा हुआ था। ऊँची कक्षाओं में लड़कियों को कढ़ाई, चित्रकला, खाना बनाना, सिलाई भी सिखाई जाने लगी थी, लड़कियों के लिए हॉस्टल व प्रशिक्षण विद्यालय बनाये गये। महाराजा सयाजीराव का मानना था कि देश में विकास तभी संभव है जबकि स्त्री शिक्षित होगी क्योंकि वही भविष्य की पीढ़ी की देख रेख करती है। सामाजिक व्यवहार उससे ही चलता है।

क्वीन मेरी के विचारों से भी भारतीय नारी शिक्षा की तरफ आकर्षित हुयी। यह जानना बहुत दिलचस्प लगता है कि कलकत्ते में स्त्री शिक्षा का आरंभ वहाँ के प्रशासन के कारण नहीं था बल्कि दो ब्रिटिश महिलाओं लेड़ी एमरेस्ट व मिस कुक के कारण जो कि भाषा, धर्म और देश के हिसाब से अलग थीं, के कारण ही भारत में स्त्रियाँ सर्वप्रथम बंगाल में ग्रेजुएट हो सकीं। ये सन् 1819 की बात है जब भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थापना भी नहीं हुई थी।

बीसवीं सदी के आरंभ में अमेरिका व यूरोप में स्त्रियों के लिए मुख्यत: दो ही व्यवसाय थे, एक गवर्नेस का, दूसरा क्लर्क का। भारत में तब अलग अलग राज्यों में स्त्रियों की शिक्षा व उनके लिए उचित व्यवसाय के सर्वे के लिए एक केन्द्रीय सोसायटी बनायी गयी जो लंदन की केन्द्रीय संगठन की सलाह पर काम करने लगी। स्त्रियों को यहाँ से प्रशिक्षण शुल्क के लिए भी लोन भी मिलते थे। एक दूसरी सोसायटी ने केन्द्रीय डिपो बनायी जिसमें स्त्रियाँ नर्सरी, डेरी, अचार, केक व मिठाई व्यवसाय के लिए रजिस्ट्री करवा सकें। उस समय की भारतीय स्त्री के लिए एक नूतन द्वार खुल चुका था कि वह शिक्षित हो, संगठित हो व किसी विशिष्ट काम में दक्ष हो। प्रदेशों की गाँवों की प्राथमिक शालाओं में सुबह से दस बजे तक कृषि का प्रशिक्षण दिया जाता था जिससे बच्चों के माँ-बाप को सहायता मिल सके। समस्त भारत में लड़कियों को कृषि के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा था। उन दिनों दूध डेरी चलाने में स्त्रियों की रुचि होने लगी थी।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 'वीमन एग्रीकल्चर एण्ड हॉर्टीकल्चर', नेशनल यूनियन ऑफ़ वीमन वर्कर्स', 'इंटरनेशनल कॉंग्रेस ऑफ़ वीमन' गठित हो चुकी थी। महत्त्वपूर्ण सूचनाओं के प्रकाशन का काम, सलाह देने का काम, स्त्रियों के लिए समुचित वेतन की माँग, ये इनके मुख्य मुद्दे थे। सहकारिता आंदोलन का आरंभ भारत में हो चुका था। भारत की स्त्री से भी ज़ोर देकर कहा जा रहा था कि कृषि को अपना व्यवसाय बनायें।

देश की सोलह करोड़ स्त्रियों को रोज़गार मिले, कृषि हो या व्यवसाय, स्त्रियाँ वहाँ प्रमुख पद पर काम करें, यह बात सपना ही थी। इसीलिए स्त्री को उच्च शिक्षा देने के प्रयास होने लगे। आज हम शहर में लियाकत से फ़ाइल हाथों में लेकर चलती या ए0सी0 ऑफ़िस में बैठी किसी प्रबंधक या एन्ट्रेप्रिन्योर को देखते हैं तो याद रखना चाहिये ये सपना सौ वर्ष पूर्व कुछ लोगों ने देखा था। पुरुष का प्रभुत्व आज भी हर स्थान पर है किन्तु ये भ्राँति टूट गयी है कि एक स्त्री कुशल प्रमुख नहीं बन सकती। महारानी जी के शब्दों में कहूँ तो इस बात के साथ यह बात भी सच है आदमी मकान बना सकता है लेकिन उसे घर स्त्री ही बनाती है। गलत तरीके से पुरुष की बराबरी का दम्भ भरने वाली हमारी आधुनिकायें ये नसीहत लें।

कच्छ (गुजरात) या कटक (उड़ीसा) या कहीं भी हस्तकला के अमेरिकन व यूरोपियन दीवाने थे, वे ऊँचे दामों में इन्हें खरीदते थे इसलिए निर्यातकर्ता हस्तकला विशेषज्ञ कारीगर महिलाओं को प्रोत्साहित करने लगे थे। बुक बाइंडिंग, क्रोशिया वर्क, पॉटरीज व्यवसाय में महिलायें उभर कर आ रही थीं। इंग्लैंड की लेडी बेकर ने पॉटरी व्यवसाय में महिलाओं को लाने के लिए एक सहकारी योजना बनायी थी। इस योजना का आरंभ में पिचहत्तर प्रतिशत लाभ इस उद्योग के उत्थान के लिए लगा दिया गया जिससे ये योजना प्रगति करती गयी। लंदन में बुनकरों के प्रशिक्षण से नेत्रहीन गूँगी, बहरी लड़कियों को जोड़ा गया। महारानी का ये अध्ययन एक मॉडल वर्क की तरह था। उनका सुझाव था, रजाई, कालीन बनाना हो या कोई भी कला हो, इसकी डिजाइनिंग का काम शिक्षित महिला को देना चाहिये नहीं तो ये कला भारत में निम्नस्तर पर पहुँच जायेगी।

ये काम भारत में सालवेशन आर्मी ने किया था। सन् 1911 के दस जून को टाइम्स ऑफ़ इंडिया में प्रकाशित हुआ कि किस तरह से आर्मी के प्रयास से बुनकर स्कूल, हैंडलूम, फैक्टरीज़, चार सिल्क फ़ार्म्स, अस्पताल की स्थापना की गई जिससे महिलाओं को लाभ मिल सके। ये आर्मी बेसहारा या सजायाफ़्ता औरतों के लिए काम कर रही थी। सन् 1882 में उसने कलकत्ता, बंबई व मद्रास में 'रेसक्यू होम' बनाये।

महारानी चिमणाबाई ने इस पुस्तक के माध्यम से भारतीय स्त्री को स्वप्न दिये कि वह रसायन विज्ञान पढ़कर मैडम क्यूरी बन सकती है, अच्छी डॉक्टर, लेखिका व पत्रकार बन सकती हैं। यह उन्हीं जैसे लोगों की सोच का नतीजा है कि आज भारत की स्त्री इंजीनियर, प्रबंधक भी है व इनसे जुड़े अन्य पदों पर काम कर रही

हैं। उन्होंने ये भी स्पष्ट किया था कि महिलायें पुरुषों के विरुद्ध संगठित नहीं हो रहीं बल्कि इंग्लैंड की संस्थाओं का ध्येय है 'पृथ्वी पर शांति हो व स्त्री पुरुष का रिश्ता मधुर बने।'

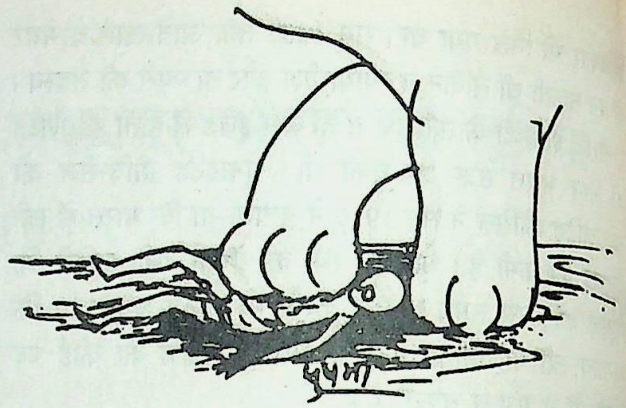
लेडी डफ़रिन की महिला चिकित्सा स्कीम को कौन भूल सकता है? इसी स्कीम के कारण भारतीय स्त्री ने चिकित्सा क्षेत्र में काम करने का साहस किया। काउंटेस ऑफ़ लेडी डफ़रिन फंड की स्थापना सन् 1885 में की गई थी।

महारानी चिमणाबाई ने फैक्टरियों में चेरिटेबल संस्थाओं में रोज़गार के स्थानों को इंगित किया है कि लड़कियाँ वहाँ वेल्फेयर सेक्रेटरी बनें। वे मानती थीं पर्दे में रहने वाली भारतीय स्त्री अपने अधिकारों व कानूनों से अनभिज्ञ हैं। स्त्रियों को कानून पढ़कर उन्हें रास्ता दिखाना चाहिये। यदि वे जीवित होती तो अफ़सोस करती कि सौ वर्ष बाद भी वह अपने लिए बने कानून से महिलाएँ अनभिज्ञ हैं।

अमेरिका, न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रलिया, बेल्जियम, स्वीडन, नार्वे, फ्रॉस, हॉलैंड और फ़िनलैंड में स्त्री वकालत करने को स्वतंत्र थी लेकिन जर्मनी व इंग्लैंड में उसे ये स्वतंत्रता नहीं थी। लंदन में सन् 1892 में प्रथम महिला इंसपेक्टर बनी थी। वे स्कूल, अस्पताल, मानसिक रोग चिकित्सालय, औद्योगिक स्कूल की मेट्रन बन रही थी। उन दिनों अमेरिका में ऐसी महिला जेल की स्थापना हो चुकी थी जहाँ सिर्फ़ दो पुरुष वॉर्डन को छोड़कर सभी महिलायें थीं। जहाँ तक सहकारिता का प्रश्न है स्त्रियाँ कृषि, प्रोविज़न व वस्त्र उद्योग में सहकारिता कर रही थीं। सौ वर्ष के आँकड़ों के हिसाब से देश में 420,000 महाजन व बैंक थे जिनमें 17.5 प्रतिशत महिलायें थीं। सन् 1901, 1902 में लेडी कर्ज़न ने विक्टोरिया मेमोरियल फंड की स्थापना करके बच्चों व स्त्रियों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए काम किया। ये मिड वाइफ़ का प्रशिक्षण भी देता था।

महारानी ने विदेशों के चेरिटेबिल फंड का उल्लेख कर धनी महिलाओं को प्रेरित किया कि वे सेवा करें। यदि वे आज जीवित होतीं तो प्रसन्न हो जातीं क्योंकि समाज सेवा से आज धनी ही नहीं, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग की स्त्री भी जुड़ रही है। आज भारत की स्त्री झोपड़पट्टियों में अतिवृष्टि, अनावृष्टि में काम करती हैं, सन् 1909 में "नेशनल एसोसियेशन फ़ॉर वीमन लॉजिंग होम" स्थापित किया गया था जहाँ भारतीय महिला कम फ़ीस पर समाज की बुराइयों से लड़ना सीख सकती थी। द वीमन'स होली डे फंड तो गरीब महिलाओं को इंग्लैंड से बाहर पर्यटन के साधन जुटाता था। तब नौकरीपेशा महिलाओं के नवजात बच्चों के लिए क्रेश प्रचलन में आ चुके थे। लंदन में महिला बैंक खुल चुका था जहाँ पर कर्मचारी भी महिलायें थीं। जर्मनी में भी 'म्युचुअल बैंक फ़ॉर सेल्फ़ सपोर्टिंग वीमन' महिलाओं को व्यापार के लिए लोन देता था।

इस पुस्तक से उस समय की विशिष्ट महिलाओं के विषय में जानना जैसे एक उपलब्धि है। अमेरिका में श्रीमती एच0 बीचर



स्टोव ने मनुष्य के गुलामों के रूप में होने वाले व्यापार को बंद करवाया।

इंग्लैंड में मिस एलिज़ाबेथ फ्राई और श्रीमती मर्डिथ ने जेलों के सुधार के लिए उल्लेखनीय कार्य किये। मिस जुइसा ट्विनिन ने प्रशासन के कानूनों में सुधार किया। मिस फ्लोरेंस नाइटिंगे ने अस्पताल के रखरखाव व नर्सों की स्थिति के लिए अभूतपूर्व सुधार किये। मिस मेरी कारपेंटर ने औद्योगिक व विशिष्ट स्कूलों के उत्थान के लिए काम किया। मिस एगेल्स वेस्टन, ब्रिटिश नेवी में सेलर थीं। उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी "माई लाइफ़ इन द ब्लू जैकेट।" मिसिज़ ई0बी0 ब्राउनिंग की कविता 'द क्राइ ऑफ़ चिल्ड्रेन' पढ़कर बाल मजदूरों की दुर्दशा को सुधारने के लिए एक आंदोलन आरंभ हो गया, सोचिये सिर्फ़ कविता से। जापान के 'कोजिको (प्राचीन समय के रिकॉर्ड के अनुसार) जापान में स्त्रियाँ भी शासन करती थीं व न्यायिक कोर्ट में उनका दबदबा था। ग्यारहवीं शती में जापान का प्रथम उपन्यास 'जेजी मोनोगावरी' लिखने वाली एक महिला मुरास्की तो शिकिबु थीं। एक जापानी महिला सी शोनेगॉन ने सामाजिक जीवन पर एक अभूतपूर्व पुस्तक 'मकुरानों जोशी' लिखीं थीं। पुस्तक के 'एन्टी स्वेटिंग' अध्याय में तो सिर्फ़ बाल मजदूरों का वर्णन है।

बड़ौदा में स्वयं महारानी ने एक लाख रुपया दान करके एक ट्रस्ट बनाया था जिससे मेधावी लड़कियों को छात्रवृत्ति मिल सके। गायकवाड़ राज्य की महिलायें व्यवसाय कर सकें इसके लिए उन्होंने बड़ौदा, नवसारी, अमरेली, पाटण में उद्योग केन्द्र खोले। बड़ौदा में आज भी महारानी चिमणाबाई उद्योगालय काम कर रहा है।

वह देश की सचेतन महिला थीं इसलिए नेशनल कौंसिल ऑफ़ वूमन की वर्षो तक अध्यक्ष रहीं। अखिल हिन्द महिला परिषद की तो प्रथम अध्यक्ष रहीं। उन्होंने पूना में देह त्यागी लेकिन उनका अंतिम संस्कार बड़ौदा में किया गया।

महारानी चिमणाबाई अंत में पुस्तक लिखने का ध्येय स्पष्ट करती है, 'जो स्त्री समाज को लाभ पहुँचाने वाले किसी संगठन में या अकेले ही कुछ काम करती है, उसका उस स्त्री से पवित्र व उच्च स्थान है जो स्वयं अपने लिए व अपने परिवार के लिए जीती हैं।'

150/बी, रेलवे कॉलोनी, प्रतापनगर, बड़ोदरा-4

संघर्षशील औरतों की दास्तान

नमिता सिंह

'फैसले' रमा पाण्डेय द्वारा लिखे गये नाटकों का संकलन है। ये सभी नाटक मुस्लिम समाज की स्त्रियों के जीवन पर आधारित हैं। आज हिन्दी में रंगमंचीय नाटकों की स्थिति यह है कि महानगरों में अनेक संस्थाएँ हैं जो रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करती हैं। बहुधा इन नाटकों में दर्शकों की उपस्थिति बेहद सीमित होती है। कारण कि ये नाटक साधारणजन तक प्रेषित होने वाली श्रेणी के न होकर केवल बौद्धिक समाज के लिये होते हैं। दूसरी ओर नुक्कड़ नाटकों के रूप में खेले जाने वाले नाटकों में आमजन की भीड़ होती है और निहित संदेश भी संप्रेषित होते हैं। रमा स्वयं नाटक लिखती हैं, मंचित करती हैं, फिल्म और सीरियल बनाती हैं और इसके अलावा अभिनय भी करती हैं। इसीलिये मंचीय अनुभव से लिखे गये थे खेलने योग्य मुकम्मल नाटक हैं। इन नाटकों की विशेषता यह है कि इनकी केन्द्रीय थीम बेहद साधारण मुस्लिम समाज की औरतों से लेकर मध्यवर्ग और अभिजातवर्ग की औरतों से संबंधित हैं। ये वो औरतें हैं जिन्होंने समाज और धर्म की लादी हुई बेड़ियाँ तोड़ने का साहस किया और जीवन जीने के लिये स्वयं राह बनाई। ये संघर्षशील औरतों के जीवन पर आधारित नाटक हैं जिन पर सीरियल बने हैं, जिन्हें फिल्माया गया है और रंगमंच पर उतारा गया है। हर नाटक के पीछे एक औरत की अपने परिवार तथा समाज के बीच जद्दोज़हद की सच्ची दास्तान छिपी है। इसीलिये इनके कथानक प्रभावी हैं और किरदार जीवंत हैं। वे हमारे आपके बीच के जाने पहचाने चेहरे हैं। उनका उठना, बैठना, उनकी जीवन शैली, कार्यकलाप भी हमारी नज़रों से गुज़रे हैं, लेकिन लेखिका की संवेदनशीलता और रचनात्मकता ने उनके साथ अंतरंग संबंध स्थापित कर उनकी दास्तान को पर्दे पर उतारा है और एक पूरी नयी पीढ़ी के समाज को नयी दिशा और संघर्ष करने के लिये प्रेरणा दी है।

रंगरेज परिवार की 'सुल्ताना' अपने अधेड़ जीजा से विवाह करने के लिये इन्कार कर देती है। वह पंचायत के फैसले का विरोध करती है और अपने पैरों पर खड़ी होकर जीवन गुज़ारने का फैसला करती है। हैदराबाद की "शाइस्ता" माँ-बाप को मिली मोटी रकम के बदले एक अमीर बूढ़े से ऐन वक़्त पर निकाह से इन्कार कर पुलिस को इत्तिला करने में सफल हो जाती है। इसमें मोबाइल जैसी आधुनिक टेक्नॉलोजी उसकी मदद करती है। एक और कहानी है 'हाजरा' की जो छोटी उम्र में ब्याह दी गयी और एक बच्चे की माँ भी बन गयी। जल्दी ही शौहर का इंतकाल हो गया। उसने ससुराल के सभी दबावों को झेलते हुए अपने विधुर जेठ से निकाह करने से इन्कार कर दिया। अपने हुनर के बल पर वह एक कामयाब बुटीक की मालकिन बन गयी। "पाल-पाल होंगी तुमको काल' में कहानी है हिम्मतवाली निम्न मध्यवर्गीय औरत मुजफ़्फ़रपुर बेगम की जो तमाम विरोधों के बावजूद अपनी ज़हीन पांच लड़कियों की खातिर नौकरी करती है ताकि उसकी बेटियां डाक्टर, इंजीनियर और कम्प्यूटर एक्सपर्ट बन सकें, पायलट बन सकें। सिर्फ लड़कियाँ और वह भी पांच... लेकिन मुजफ्फरपुर बेगम और उसकी लड़कियों के हौसले बुलंद हैं और अंत में दादी भी अपने विचार बदलने को मजबूर है। "रेड" की आई0ए0एस0 ऑफिसर नुसरत, रिश्वत खोरी करने वाले अपने आई0ए0एस0 पति के ऊपर रेड पुलिस द्वारा रेड पड़वा देती है। इसी तरह 'परवीन' जो खूबसूरत है, शोख़ है, वह खुद अश्फाक से कहती है "मुझसे निकाह करेंगे आप।" दोनों नवाब खानदान के हैं और साथ पढ़ते हैं। अश्फाक पति बनने के बाद परंपरागत मर्द जैसा व्यवहार करने लगता है और दूसरी औरतों से चक्कर चलाता है तो परवीन उम्र के उस मोड़ पर भी अलग होने का फैसला लेती है। वह ट्रैवलिंग का कोर्स करती है और अपनी ट्रैवल एजेंसी शुरू कर स्वतंत्र जीवन यापन करती है। यही दास्तान 'सियासत' में नुसरत जहाँ की है और 'कट फ्लावर' में फरहत बेगम की है। इन नाटकों की स्त्रियाँ अपनी ज़िंदगी के फैसले स्वयं लेने की लड़ाई लड़ती हैं और सफल होती हैं।

इन नाटकों को पढ़कर रशीद जहाँ की याद आती है। लगभग 70-80 साल पहले मुस्लिम समाज की औरतों की त्रासदी और गुलाम ज़िंदगी पर उन्होंने कलम चलाई थी। उनके नाटकों और कहानियों में बड़े घरानों की औरतें थीं जो अपने अस्मिता के लिये जद्दोजहद करती हैं। कुछ सफल होती हैं और अधिकतर नहीं भी होतीं। तब कट्टरपंथी मुस्लिम समाज ने "अंगारे" की उस लेखिका के नाक-कान काट लेने का फ़तवा दिया था। आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में अक्सर ऐसे फ़तवे अभी भी दिये जा रहे हैं। फिर भी स्थिति बहुत बदली है। आज प्रतिरोध के स्वर भी संगठित और तीव्र हुए हैं। "फैसले" की नायिकाएँ जीती जागती हमारे बीच की स्त्रियाँ हैं जो समाज से लड़ती हैं और मिसाल के रूप में आगे आती हैं। रमा पाण्डेय के ये नाटक रशीदजहाँ से आगे की कड़ी हैं जो सार्थक रूप से औरतों की आज़ादी के सवाल उठाती है।

अलीगढ़

फैसले, रमा पाण्डेय, मंजुली प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 400 रुपये

तहज़ीब के आईने में शब्दों की शरारत

विष्णु स्वरूप श्रीवास्तव

श्री संतोष खरे के सद्य प्रकाशित ग्रंथ में 47 व्यंग्य निबंध एवं 19 लघुकथाएँ—कुल मिलाकर 66 रचनाएँ हैं। इन दो छक्कों की मदद से खरे जी ने शब्दों का विशाल स्कोर खड़ा किया है। सारे शब्द शराफ़त का परिधान ओढ़कर शरारत कर रहे हैं। अतः पाठक को सावधान होकर पढ़ना पड़ता है।

'भूमिका नहीं' से ही खुचिल और चुगली यानी शब्दों की शरारत शुरू हो जाती है। वर्तमान व्यंग्य लेखक ने सर्वश्री के0 पी0 सक्सेना, सूर्यबाला, विनोद शंकर शुक्ल, ठाकुरदादा, ज्ञान चतुर्वेदी, सुबोध कुमार, विनोद साव, सुधीर, अश्वनी कुमार आदि की भूमिका खोल दी और कहते है कि मैंने भूमिका नहीं दी। यहाँ तक वरिष्ठ व्यंग्यकारों जैसे—श्रीलाल शुक्ल, बरसानेलाल चतुर्वेदी, विनोद भट्‌ट, लतीफ़ घोंघी को अपने पक्ष में कर लिया। ग़नीमत यह है कि वह भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, शिवपूजन सहाय से लेकर हरिशंकर परसाई तक के साहित्य में व्यंग्य का राजनैतिक इस्तेमाल और ग़रीबों के साथ कारुणिक व्यथा नहीं लिख पाए, इसलिए यह लेख भूमिका है।

इस संग्रह के व्यंग्यों, निबंधों, कहानियों को आप तहज़ीब का आईना या शुद्ध हिन्दी में सभ्यता और संस्कृति का दर्पण कह सकते हैं। यथा—क्या हमारी सभ्यता और संस्कृति स्वीकृति देती है कि कुत्ता प्रेम के इतने दीवाने हो जाओ कि वह कुत्ता आपका मुँह चाटने लगे? या अचानक वेश-भूषा बदलकर ठगविद्या का इंद्रजाल फैलाने वाले साधु बन जाओ? क्या लक्ष्मी और उल्लू की संस्कृति यह कहती है कि ग़लत ढंग से धन कमाओ? तस्कर, चोर, डकैत, रिश्वतखोर बनो? क्या भारतीय सभ्यता और संस्कृति में यह है कि अश्लील पत्रिकाएँ, अश्लील सी0डी0, हॉट साहित्य का निर्माण करें?

इस संकलन के सभी व्यंग्य तथ्य के हैं, गल्प के नहीं। वास्तविकता के हैं, कल्पना के नहीं। घटित हो रहे यथार्थ के हैं, बनावटी नहीं। व्यंग्य के निशाने पर साधारण आदमी नहीं, विशिष्ट आदमी है। कहीं-कहीं पशु-पक्षियों के माध्यम से भी संवेदना और करुणा जागृत की गयी है।

संतोष खरे के लेखन में सादृश्य-विधान के विविध रूपों की भरमार है। वे प्रतीकों, बिंबों, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग रचना को गंभीर बनाने के लिए नहीं करते, बल्कि सहज रूप में जो लेखन के रास्ते में मिल गये, उन्हें ले लेते हैं। संवाद की ऐसी शक्ति गद्य में अमरकांत के लेखन में मिलती है। एक संवाद देखिए :

प्रश्न - आप कौन-सी पत्रिका पढ़ते हैं?

उत्तर- (आम आदमी) फ़िल्मी और सत्य कथा।

प्रश्न- आप पुस्तकें कौन-सी पढ़ते हैं?

उत्तर - रोमांटिक उपन्यास और गर्म कहानियाँ।

इस साक्षात्कार के बाद मैं उलझन में पड़ गया। ऐसे आम आदमी के बारे में क्या लिखूँ, जो पढ़ता ही नहीं।

श्री रामशरण जोशी ने अपनी पुस्तक (व्यंग्य हूँ उनकी सभा का) में लिखा है—''व्यंग्य को प्रतिष्ठा हरिशंकर परसाई ने ही दिलायी। शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल और रवींद्रनाथ त्यागी जैसे व्यंग्यकारों ने इसे परवान चढ़ाया। लेकिन, इनके बेजोड़ प्रयत्नों के साथ-साथ व्यंग्य में रूढ़ियाँ (क्लिशे) विकसित होती गयीं। लिहाज़ा, आज के व्यंग्य में पाठकों को एकरसता मिलती है।''

मेरे ख़्याल से जोशी जी को यह शिकायत संतोष खरे के 'शरारत शब्दों की के लेखों में नहीं मिलेगी। पाठक भिन्न स्वाद का अनुभव करेंगे। कुछ लेखों में, जैसे—नाक, शरारत शब्दों की, बाज़ आये उनके तकिया कलाम से, लोग क्या कहेंगे—में ललित निबंध का स्वाद मिलता है।

इस पुस्तक में सात फ़िल्मी व्यंग्य दिये गये हैं, जो स्तुत्य हैं। इन लेखों में फ़िल्मों की जमकर आलोचना की गयी है, जो रुचिपूर्ण और पढ़ने लायक है। फ़िल्म निर्माताओं और निर्देशकों को दिशा मिलती है। पाठकों तथा जनता को फ़िल्मों की समझ मिलती है। फ़िल्मों द्वारा किये गये शोषण और चारित्रिक पतन का पर्दाफ़ाश होता है। यह व्यंग्य बहुत उपयोगी है। दर्शक खुशी प्राप्त करने के लिए अपनी मनपसंद फ़िल्म देखना चाहता है, लेकिन सिनेमा हॉल में कुछ उल्टा ही होता है। इस बात को व्यंग्यात्मक लहज़े में लिखते है—''मार्मिक और करुण दृश्य को देखकर दर्शक हँसने लगते हैं। हास्यपूर्ण दृश्य देखकर उन्हें रोना आता है। रोमांटिक दृश्य देखकर जम्हाइयाँ लेने लगते हैं।

सिने जगत में प्रारंभ से ही मारधाड़, चोरी-डकैती आदि की स्टंट फ़िल्मों का विकास हुआ। इसका असर यह हुआ कि समाज में अपहरण, बैंक डकैती, फ़िल्मी स्टाइल की मार-पीट बढ़ गयी। सिनेमा समाज के लिए कोई रचनात्मक आधार तैयार नहीं कर सका। फिर, हिट फ़िल्मों के लिए कथानकों पर दृष्टिपात हुआ। ये कथानक पचास साल से एक जैसे हैं, अतः दर्शकों में उदासीनता और नीरसता आना स्वाभाविक है। फिर जासूसी फ़िल्में बनीं। सिचुएशन के अनुसार गाने और नृत्य भी फिट किये गये। लेकिन, भोंड़े प्रदर्शनों ने सिनेमा को बदनाम कर दिया। फिर तरह-तरह की सेक्सी फ़िल्में बनीं जिनके कारण युवक-युवतियाँ बरबाद हुए। कुछ

फ़िल्मों को छोड़कर सेक्सी और नंगी नारी-देह वाली फ़िल्मों का विकास ज़्यादा हुआ है।

संतोष खरे की भाषा में व्यंग्य के साथ-साथ माधुर्य भी है तथा अपनत्व की लोकप्रिय लेखनी है। अतः पाठक को लगातार पढ़ने की रुचि बनी रहती है। आकर्षक शैली में लिखे गये ये लेख अच्छे लगते हैं।

समस्त लेखन का अवलोकन करें, तो मानवीय करुणा के भाव का अनुभव होता हे। इस लेखन में गंभीरता से सोचने का आग्रह है। आदमी के अनेक मनोविकारों का संश्लेषण होता है। लेखन में जटिलता नाममात्र को भी नहीं है। सारे व्यंग्य, कहानी व लेख आज की अमानवीयकरण की त्रासदी को प्रकट करते हैं। वर्तमान के उद्‌घाटन के साथ-साथ कुछ सोचने समझने की बात करते हैं। दृश्य और उनके पीछे यथार्थ की दलील पेश करते हैं।

विडंबना व्यंग्य का बुनियादी तत्त्व होता है और भाषाई विट/विदग्धता द्वारा कलात्मक स्पर्श दिया जाता है। स्थितियों के विरूपण में कल्पना का भी योगदान होता है। स्थिति या एग्जिस्टेन्स (जो है) को जस का तस लिख देना पाठक पर प्रभाव या असर को कम कर देता है।

संतोष खरे के व्यंग्य भावनाहीन नहीं है। वे कटुता से कोसों दूर हैं। वे ज़िंदगी की जद्दोज़हद को देखते है और जद्दोज़हद, संघर्ष, अविश्वास की स्थिति को रचनात्मक बनाते हैं।

गली नं0 - 3, उमरी, पन्ना नाका, सतना (म0प्र0)

शरारत शब्दों की, श्री संतोष खरे, मूल्य : 250/-, मेधा बुक्स, दिल्ली

■

दास्तान-ए-हमजाद बनाम कालगाथा

राजेन्द्र सिंह गहलौत

हर व्यक्ति का अपना एक 'हमजाद' होता है, जो सशरीर न होते हुए भी सदा उसके साथ होता है। दुखों में सबसे पहले वही दिलासा देता है, खुशियों में सबसे पहले वही उसके साथ मुस्काता है तथा हर उपलब्धियों पर सबसे पहले वही उसकी पीठ थपथपाता है। व्यक्ति अपनी ज़िंदगी में जो न पा सका, जो न कर सका, जो न बन सका—उस सबकी पूर्ति उस हमजाद में, कल्पना में ही सही, करके वह आत्मसंतुष्ट तो हो लेता है। दरअसल यह हमजाद 'खुद' न होते हुए भी खुद द्वारा गढ़ा गया खुद का प्रतिरूप होता है। लेकिन, एक रचनाकार अपने इस हमजाद से बहुत सारे खेल खेलता है, खिलाता है। अपनी रचनाओं के सृजन के वक़्त विभिन्न पात्रों की ज़िंदगी जी कर उनके अहसास से रूबरू होने हेतु वह अपने इस हमजाद को हर पात्र के रूप में रख-रख कर उसे बहुरूपिया ही बना देता है, तो दूसरी ओर, जब रचनाकार अपनी आपबीती को जगबीती बनाते हुए अपने साथ घटित यथार्थ में बहुत कुछ जोड़ता, घटाता हुआ यथार्थ और कल्पना के समावेश से एक सार्थक कथ्य की रोचक प्रस्तुति का मायाजाल बुनता है, तो अक्सर उसकी रचनाओं का नायक उसका यही हमजाद बनकर रचना के कथानक को विस्तार देता है। प्रस्तुत आत्मकथात्मक उपन्यास में जो कुछ भी 'मेरा' दिखलायी पड़ता है, वह उपन्यासकार का 'मेरा' न होकर उसके इसी हमजाद 'डॉ0 विवेक मुखर्जी' का 'मेरा' है। उपन्यास में वर्णित आत्मकथा उपन्यासकार की न होकर, उसके इसी हमजाद 'डॉ0 विवेक मुखर्जी' की आत्मकथा है, जो उसका प्रतिरूप होते हुए भी वह खुद (उपन्यासकार) नहीं है।

उपन्यास के प्रारंभ मे ही जब उपन्यासकार सन् 1942-43 के मध्य पड़े उस भीषण अकाल के चित्र उपन्यास में चित्रित करता है, जिसमें लगभग 5 लाख बंगालवासी काल के गाल में समा गये थे, तो पाठकों को 18वीं सदी के उत्तरार्ध (1769-1770) में बंगाल में पड़े विश्व-प्रसिद्ध भीषण अकाल की याद आ जाती है, जिसका ज़िक्र कार्ल मार्क्स ने अपनी कृति 'पूंजी' में तथा राजा राममोहन राय ने अपनी कृति 'दि इंग्लिश वर्क ऑफ़ राजा रामामेहन रॉय' में करते हुए उक्त अकाल हेतु पूरी तरह से अंग्रेजी शासन की दमनकारी नीतियों को दोषी ठहराया था। प्रस्तुत उपन्यास के उपन्यासकार ने भी उस कालावधि के लगभग 150 वर्ष पश्चात सन् 1942-43 में पड़े इस दूसरे भीषण अकाल हेतु अंग्रेजी शासन को ही दोषी ठहराया है। उपन्यासकार ने इतने लंबे समय के अंतराल के बावजूद विदेशी साम्राज्य के शोषण की एक समान प्रवृत्तियों की तरफ़ जहाँ ध्यान दिला है, वहीं उसके उपन्यास में हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के विभाजन के दौरानू बंगाल के विभाजन में बंगालियों के दर्द को भी अत्यंत संवेदनशीलता के साथ सहेजा गया है। साथ ही, यह प्रश्न भी विचारणीय हो उठता है कि देश के विभाजन की व्यथा-गाथा जितनी भी हिन्दी साहित्य में लिखी गयी है तथा जितनी भी देश के विभाजन पर हिन्दी भाषा में लिखी गयी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ है, लगभग सभी सिर्फ़ पंजाब एवं सिंध के भाग पर ही केंद्रित हैं। क्या बंगाल ने देश-विभाजन का दंश नहीं झेला? उसका भी तो एक अंग कटकर पूर्वी पाकिस्तान बन गया था (बाद में बंगला देश)। फिर हिन्दी भाषी लेखन में वह इस संदर्भ में इतना

उपेक्षित क्यों है? यद्यपि बंगालवासियों के विस्थापन की व्यथा-गाथा 'एपार बांग्ला ओ पार बांग्ला' (शंकर) तथा अभी हाल में ही प्रकाशित महुआ माजी के उपन्यास 'मैं बोरिशाइल्ला' में दर्ज है, फिर भी उस काल में देश के विभाजन के साथ ही बंगाल के भी विभाजन की व्यथा-कथा की हिन्दी भाषा में लिखी किसी महत्त्वपूर्ण कृति की अभी भी हिन्दीभाषी इतिहासप्रेमी, जिज्ञासु पाठक वर्ग राह तक रहा है। जबकि बांग्ला भाषा में माणिक वंद्योपाध्याय, ताराशंकर, विभूतिभूषण, वनफूल, सरोज कुमार राय चौधरी, प्रबोधकुमार सान्याल आदि ने बंगाल में पड़े दुर्भिक्ष की विभीषिका और देश के विभाजन की त्रासदियों के चित्र अपनी कृतियों के फलक पर चित्रित किये हैं, लेकिन वे कृतियाँ बांग्ला भाषा में होने की वजह से सिर्फ़ बांग्ला भाषी पाठकों तक ही सीमित रह गयी।

विचित्र संयोग (?) है कि उपन्यास के नायक की जीवन-गाथा उपन्यासकार की जीवन-गाथा से काफ़ी हद तक मिलती-जुलती नज़र आती है। दरअसल, उपन्यासकार उपन्यास के जिन भागों में कथानायक की उपलब्धियों को बखानता हुआ आत्ममुग्ध नज़र आता है, वहाँ उपन्यास की काल-गाथा एवं उपन्यास के कथानायक की जीवन-गाथा के मध्य कई बार संतुलन डगमगाता हुआ दीखता है। उस वक़्त पाठकों को यह भ्रम होने लगता है कि उपन्यास के नायक डॉ0 विवेक मुखर्जी के चोले में कहीं उपन्यासकार की आत्मा तो नहीं समा गयी। इसका आभास सर्वाधिक उस समय होता है, जब उपन्यास के कई पृष्ठों में ब्राह्मणवाद की हिमायत एवं गायत्री परिवार की मुखालफ़त के मतभेद को इस हद तक बखाना जाता है कि गायत्री परिवार के एक प्रमुख प्रचारक पर चरित्रहीनता का आरोप लगाते हुए उसके यौन-रोग से ग्रसित होने की कथा भी उपन्यासकार कह जाता है। इस संदर्भ में उन्हें रवीन्द्रनाथ टाकुर की चर्चित कृति 'गोरा' पढ़ने की सलाह तो दी ही जा सकती है। फिर भी, कुल मिलाकर उपन्यास रोचक एवं पठनीय है तथा अपने कथानक में 70 वर्षों के कालखंड का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता हुआ, कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को चिंतन के लिए प्रस्तुत करता है।

सिंह प्रिंटिंग प्रेस बुढ़ार, जिला-शहडोल (म0प्र0)-48499

मेरा आकाश, डॉ0 प्रणव कुमार बनर्जी, श्यामला प्रकाशन, मूल्य : 150 रुपये

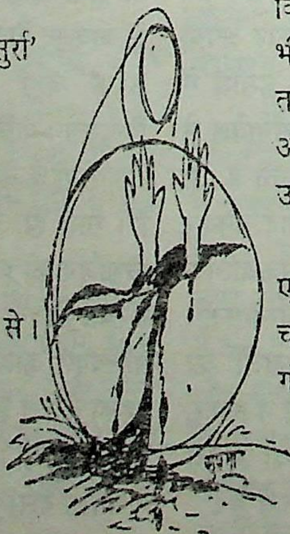
कविता

आख़िर पीपल क्यों रोता है?

आशा पाण्डेय

गाँव के कोने पर पीपल का गछनार पेड़,
मेरे बाबा के बाबा के बाबा ने
जब इस जगह पर/मिट्टी खोदकर गढ़ी थी एक दीवार
किलकारे थे कुछ बच्चे
तब से पीपल रखने लगा था हिसाब
खड़ी होती दीवारों के आँगन का।
बच्चे खेलते उसकी सरसराती हवा के नीची 'सुर्रा'
और रात में बदते उसके जुते खेत में 'झाबर'
तब पीपल झूमता पुलक कर
और डोलतीं उसकी पत्तियाँ दुगनी रफ़्तार में।

मिट्टी खुदती रही/गड्ढा बढ़ता गया
फिर बन गया बड़ा तालाब/खड़ी होती दीवारों से।
पीपल के एक ओर,
खड़ा हो गया पूरा-पूरा गाँव।
लगाये गये आम, महुआ, नीम के पेड़
बीतती रहीं पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ।



जब बच्चे तोड़ते हैं आम/बीनते हैं महुआ
तैरते हैं तालाब में-/और निकल जाते हैं बाग़ में
पीपल को अनदेखा कर।

बताती हैं पीपल के नीचे घास छीलने वालियाँ
कि पीपल रोता है।
भीगी रहती हैं उसकी जड़ें
तने से कट-कटकर रिसता है कुछ
और निकलती है एक भाँय-भाँय करती आवाज़
उसके नीचे।

एक ओर हरा-भरा गाँव/बजती हैं जानवरों के गले की घंटियाँ
चरवाहों की हँसी के साथ/दूसरी ओर रिसता है पीपल।
गाँव में है चर्चा/आख़िर पीपल क्यों रोता है?

5, योगिराज शिल्प, अमरा...

वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार समारोह

अलीगढ़ : 'वर्तमान साहित्य'-कमलेश्वर कथा पुरस्कार-2008 का आयोजन कमलेश्वर की पुण्यतिथि 27 जनवरी को संपन्न हुआ। इस अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए सुप्रसिद्ध कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने कहा कि "कहानीकार की उम्र उसके रचनाकार की सक्रियता पर आधारित होती है। साहित्यिक आंदोलनों के ख़त्म होने से कुछ बिखराव तो आया लेकिन कहानीकार की रचनात्मकता अधिक मुखर हुयी और उसकी व्यापकता भी बढ़ी। आज पूरे देश में हिन्दी कहानी का जाल फैला है और कहानीकारों का अनुभव संसार भी व्यापक हुआ है।" प्रतियोगिता में निर्णायक मंडल द्वारा श्री कैलास चन्द्र की कहानी 'अँधेरे में सुगंध' को चयनित किया गया था। इस अवसर पर उन्हें सम्मानित करते हुए श्री अब्दुल बिस्मिल्लाह ने यह विचार व्यक्त किये। श्री कैलास चन्द्र को कमलेश्वर परिवार द्वारा प्रदत्त 11 हज़ार रुपये की राशि भेंट की गयी। इसके अतिरिक्त वर्तमान साहित्य की ओर से उन्हें एक मान पत्र, स्मृति चिह्न तथा शॉल, उर्दू के सुप्रसिद्ध कथाकार काज़ी अब्दुल सत्तार तथा वर्तमान साहित्य के संपादक कुँवरपाल सिंह द्वारा भेंट किया गया।

कार्यक्रम का संचालन करते हुए प्रतियोगिता की संयोजिका तथा वर्तमान साहित्य की संपादक नमिता सिंह ने प्रतियोगिता के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यह अत्यंत सुखद अनुभव है कि इस प्रतियोगिता में महत्त्वपूर्ण तथा महानगरों के कथाकारों के अतिरिक्त छोटी-छोटी जगहों में रहने वाले कहानीकार भी हिस्सा ले रहे हैं और वे महत्त्वपूर्ण लिख रहे हैं। छोटी जगहों के कहानीकारों के पास बेहद नये अनुभव हैं और अछूते विषय हैं जो पाठक समुदाय के ज्ञान और अनुभव में विस्तार करते हैं। इस अवसर पर यश प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'विरासत के अलमबरदार-कमलेश्वर' का विमोचन अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुँवरपाल सिंह और डा0 पी0वी0 जगनमोहन द्वारा किया गया। इस पुस्तक का संपादन प्रदीप मांडव और अजय बिसारिया के द्वारा किया गया है। इस अवसर पर बोलते हुए प्रदीप मांडव ने कमलेश्वर जी के साथ बिताये समय का भाव भीना स्मरण किया और कहा कि कमलेश्वर जी का प्रयास रहता था कि वे देश के कोने-कोने तक पहुँचें और वहाँ के लोकजीवन और संस्कृति को नज़दीक से देखें और रेखांकित करें। किसी लेखक का अनुभव संसार इसी से व्यापक होता है। इस अवसर पर अजय बिसारिया ने पुस्तक के निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला और कहा कि कमलेश्वर की रचनात्मकता के विभिन्न आयामों को इस पुस्तक में समेटने की कोशिश की गयी है।

अध्यक्ष मंडल के सदस्य के रूप में बोलते हुए चर्चित लेखक और आयुक्त अलीगढ़ मंडल, पी0वी0 जगनमोहन ने कहा कि यह अलीगढ़ की विशेषता है कि यहाँ एक साथ इतनी बड़ी संख्या में हिन्दी और उर्दू के महत्वपूर्ण लेखक और पाठक उपस्थित हैं। समकालीन तमिल साहित्य की रचनात्मकता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि तमिल में भी आज स्त्री विमर्श और दलित विमर्श जैसे मुद्दे साहित्य का महत्वपूर्ण हिस्सा बन रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के सुब्रमण्यभारती से लेकर अनुराधा रमण तक प्रगतिशील साहित्य की एक निरंतर धारा विद्यमान है।

पुरस्कृत लेखक कैलास चन्द्र ने कहा कि उनकी कहानी 'अँधेरे में सुगंध' आधी हकीकत और आधा फसाना है। कहानी की नायिका साँवली वास्तविक चरित्र है जिसका अमानवीय रूप से शोषण पुलिस तंत्र, प्रशासन और व्यवस्था ने किया। कोई रास्ता न देख उसने जंगलों की शरण ली और बंदूक उठाकर वह नक्सलाइट आंदोलन में शामिल हो गयी। इस बीज कथ्य में रंग भरने का काम मेरे उस स्थान में नौकरी के दौरान रहने के अनुभव और कल्पना ने किया। आज नक्सलाइट आंदोलन अनेक राज्यों में विकट समस्या है। लेकिन, इसके मानवीय पक्षों पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। कैलास चन्द्र ने कहा कि आज पूँजीवाद अपने घृणिततम रूप में उपस्थित है। इसलिये लेखक का दायित्व भी बहुत बढ़ जाता है।

अध्यक्षीय संबोधन के रूप में कुँवरपाल सिंह ने कहा कि कमलेश्वर का महत्व केवल उनके रचनाकार के रूप में नहीं है। वे एक प्रखर सामाजिक चिंतक भी थे और समाज, संस्कृति तथा व्यवस्था के प्रश्नों पर निरंतर सोचते थे और लोगों को संगठित करने का प्रयास करते थे। आज के समय में किसी रचनाकार को अपनी अस्मिता बचाये रखने के लिए यह बहुत आवश्यक है। बिना जनआंदोलन से जुड़े कोई महत्वपूर्ण रचनाकार नहीं हो सकता। काज़ी अब्दुल सत्तार ने इस अवसर पर कमलेश्वर के साथ अपने संबंधों का ज़िक्र करते हुए उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

'वर्तमान साहित्य' के सह संपादक राजीवलोचन नाथ शुक्ल ने इस अवसर पर श्रीमती गायत्री कमलेश्वर की अनुपस्थिति

का जिक्र किया और कहा कि अस्वस्थता के कारण वे आज इस कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो पायी हैं। उन्होंने इस प्रतियोगिता के निर्णायक मंडल के सदस्यों, प्रो0 अब्दुल बिस्मिल्लाह, प्रो0 जबरीमल्ल पारख और डा0 सूरजपालीवाल सहित सभी का आभार व्यक्त किया।

प्रस्तुति : राजीवलोचन नाथ शुक्ल, अ0मु0वि0, अलीगढ़

आतंकवाद और लोकतंत्र की चुनौतियाँ

लखनऊ के अम्बेडकर सभागार में डा0 राही मासूम रज़ा साहित्य ऐकेडमी के अन्तर्गत एक संगोष्ठी आयोजित हुई जिसमें आस-पास के ज़िलों से भी लोगों ने बड़ी उत्सुकता से शिरकत की। लेखक, विचारक और बुद्धिजीवियों ने 'आतंकवाद और लोकतंत्र की चुनौतियाँ' विषय पर खुलकर अपने-अपने विचार व्यक्त किये। संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन करते हुए समाजवादी विचारक एवं वरिष्ठ पत्रकार मधुकर त्रिवेदी ने आतंकवाद की भयावहता पर चिन्ता जतायी और राजनेताओं पर तीखा प्रहार करते हुए कहा कि वे हाथी के एक हिस्सेको पकड़ कर बैठ गये हैं। उन्होंने कहा कि धर्म का आतंकवाद से जुड़ना परिभाषित नहीं किया जा सकता। चर्चित आलोचक एवं चिंतक राजेन्द्र वर्मा ने आतंकवाद पर चर्चा करते हुए कहा कि आतंकवादी का कोई धर्म नहीं होता है परंतु आतंकवाद के लिए कहीं न कहीं हम भी दोषी हैं। उर्दू के मशहूर शायर और डा0 राही मासूम रज़ा साहित्य ऐकेडमी के उपाध्यक्ष डा0 अली बाक़र ज़ैदी ने चर्चा को आगे बढ़ाते हुए 6 दिसम्बर की बाबरी मस्जिद विध्वंस को राजसत्ता की शक्ति का प्रदर्शन ठहराया और कहा कि हम गंगा-जमुनी तहज़ीब में भरोसा करते हैं। हम एक ही बाग़ के अनेक रंगीन फूल बनकर नहीं रहेंगे तो यहधरती मुहब्बत करने वालों से महरूम हो जायेगी। फ़ैज़ का एक शेर है- 'ये दाग़-दाग़ उजाले ये शबगुज़ीदा सहर, वो इन्तज़ार था जिसका वो ये सहर तो नहीं।' लखनऊ विश्वविद्यालय के पाश्चात्य इतिहास विभागाध्यक्ष प्रो0 प्रमोद कुमार ने कहा कि राज्य ताक़तवर हो गया है और व्यक्ति नाम की इकाई कमज़ोर पड़ गयी है। हिन्दी-उर्दू के चर्चित प्रगतिशील लेखक शकील सिद्दीक़ी ने मीडिया की निन्दा करते हुए कहा कि मीडिया का रोल पूरी तरह से नकारात्मक है। वह पूरे लोकतांत्रिक व्यवस्था को निकम्मा साबित करने में लगी है।

प्रख्यात नाटककार एवं संस्कृतिकर्मी राजेश कुमार ने मीडिया की ओर इशारा करते हुए कहा कि यह मीडिया का भ्रामक प्रचार है कि लोकतंत्र समाप्त हो गया है। यदि लोकतंत्र समाप्त हो गया तो रहेगा क्या? उन्नाव से पधारे वरिष्ठ कवि- कुमार दिनेश प्रियमन ने कहा कि अपेक्षित सरोकारों की अनदेखी करने का ही नतीजा है आतंकवाद। हमने आज तक सामाजिक स्तर पर वैचारिक मुद्दों को नहीं उठाया। प्रसिद्ध संस्कृतिकर्मी एवं आलोचक कौशल किशोर ने कहा कि आतंकवादी तब पैदा होता है, जब उसे अपना आक्रोश व्यक्त करने से टोका जाता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हमें अमेरिका के साथ-साथ संघी विचारधारा से भी लड़ना है। चर्चित कवि भगवान स्वरूप कटियार ने कहा कि जब वोट व्यक्ति से बड़ा हो जायेगा तब देश को बचाना दुष्कर होगा। श्री ओंकार सिंह ने श्रम शक्ति के आधार पर बेरोज़गारी को समाप्त करने पर बल देते हुए कहा कि लोकतंत्र की ख़ामियों को हम भाषा, जाति और सम्प्रदायों की एकता के माध्यम से दूर कर सकते हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र के प्रोफ़ेसर डा0 रमेश दीक्षित ने कहा कि जब कमज़ोर वर्ग की बात नहीं सुनी जाती है तब वह विद्रोह करने पर मजबूर हो जाता है। राजसत्ताएँ ग़रीब को नकारती हैं जिसका परिणाम यह है कि विश्व स्तर पर आतंकवादी गतिविधियाँ एकजुट हो हरी हैं। रिक्शा मज़दूरों के नेता आशीष अवस्थी ने अल्पसंख्यकों के दर्द को बेबाकी से बयान करते हुए कहा कि जब तक एक ख़ास समुदाय को आतंकवाद के लिए दोषी ठहराया जायेगा तब तक हम इंसान-इंसान के बीच बढ़ती खाईं को पाटने में समर्थ नहीं हो पायेंगे।

संगोष्ठी के अंत में वरिष्ठ कथाकार, आलोचक एवं डा0 राही मासूम रज़ा साहित्य एकेडमी के अध्यक्ष डा0 गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि आतंकवाद का मूल स्रोत अमेरिका है। भारत सरकार लोकतंत्र को पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत चला रही है। उन्होंने लोकतंत्र को समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित करने पर बल दिया।

कार्यक्रम के अंत में चर्चित कवियित्री सुशीला पुरी ने सभी वक्ताओं और श्रोताओं को धन्यवाद देते हुए कहा कि यदि इसी तरह हम जागरूक चेतना का एहसास करते रहें तो समस्याओं का कोई न कोई हल अवश्य निकलेगा।

संगोष्ठी का कुशल एवं सफल संचालन चर्चित लेखिका डा0 ऊषा राय ने किया। अंत में मुम्बई में आतंकवादी हमलों में शहीद हुए लोगों के शोक में दो मिनट का मौन रखकर सभा समाप्त हुई । संगोष्ठी में जिन अन्य लोगों ने सक्रिय भागीदारी की उनमें प्रमुख थे सर्वश्री लक्ष्मीकांत, राम किशोर, पूनम ति... मधु श्रीवास्तव, प्रज्ञा पाण्डेय, प्रभात कुमार, शबनम रिज़वी आदि।

प्रस्तुति : प्रज्ञा पाण्डेय, 89 लेखराज नगीना, सी-ब्लॉक, इन्दिरा नगर, लखनऊ

आतंकवाद के विरुद्ध

आतंकवाद से जलते हुए संसार के माहौल में और मुंबई आतंकवादी हमले ने जहाँ भारत और पाकिस्तान को युद्ध के करीब लाकर खड़ा कर दिया वहाँ एक बार फिर कमज़ोर पड़ रही शांति-वार्ता को जिसे Folklore Research Academy, Amritsar जो पिछले 15 सालों से हर साल 14 अगस्त को वाघा बार्डर पर मोमबत्तियाँ जला कर दोस्ती को रोशनी दिखाती चली आ रही है, ने जोरदार आवाज़ लगा कर भारत और पाकिस्तान को शांति का संदेश देने के लिए एक समारोह "The Challenges of Terrorism & The Role of Religion" का आयोजन श्री रमेश यादव की अध्यक्षता में अमृतसर में 11.01.09 को आयोजित किया गया। इस समारोह में जहाँ भारत की सभी राजनीतिक पार्टियों ने नेता और सभी धर्मों के गुरुओं ने हिस्सा लिया और उसके साथ-साथ पाकिस्तान से खासतौर से आए मेहमान आस्मां जहाँगीर Chairperson, Pakistan Human Rights Commission और श्री इम्तियाज़ आलम Secy. General SAFMA ने हिस्सा लिया। इस समारोह में जनाब ए0आर0 शहीन एम0 पी0 (बारामूला) बतौर मुख्य अतिथि शामिल हुए।

इस अवसर पर जहाँ जसमीत नैयर, प्रिंसीपल, S.R. Govt. College for Women, Amritsar ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सबसे पहले बाबा कौशल किशोर सरन जी ने कहा कि आतंकवाद को ख़त्म करने के लिए सब धर्मों को आगे आना चाहिए। स्वामी अग्निवेश जी ने कहा कि आतंकवाद का असली जन्मदाता अमेरिका है जिसने सबसे पहले अफ़गानिस्तान में आतंकवाद को प्रोत्साहन दिया लेकिन उसको भी इसका खामियाज़ा भरना पड़ा। आज भी वह किसी-न-किसी तरह आतंकवाद को प्रोत्साहन देता है और भारत और पाकिस्तान के संबंध अच्छे न हो इसके लिए प्रयत्नशील रहता है।

इस अवसर पर ख़्वाजा पीर निज़ामी (निजामुद्दीन दरगाह) जी ने इस्लाम के विषय में जानकारी दी और कहा अपने नाम के साथ मोहम्मद लगाने से कोई मोहम्मद नहीं बन जाता। मोहम्मद बनने के लिए मोहम्मद के क़ायदे क़ानूनों को मानना पड़ता है जिसमें यह कहा गया है कि इन्सान को प्यार करने वालों को ही खुदा नसीब होता है और जन्नत प्राप्त होती है। आतंकवाद का रास्ता इस्लाम का रास्ता नहीं हो सकता जो आदमी इन्सानियत का दुश्मन है वह मुसलमान नहीं हो सकता। हमें यह बात समझनी होगी और भारत-पाक के रिश्तों में दोस्ती के रंग भरने होंगे।

लामा दामंदा विवेचना ने कहा-दुनिया में आतंकवाद को ख़त्म करने के लिए धर्म के रास्ते पर चलना पड़ेगा और सभी प्राणियों को Meditation के द्वारा अपने अंदर से नफ़रत और दुश्मनी को मिटाना होगा। धर्म की सत्ता ही दुनिया को प्यार और इन्सानियत की राह पर चला सकती है जिससे अपने आप आतंकवाद कमज़ोर पड़ जाएगा।

समारोह में बीबी अस्मां जहाँगीर और श्री इम्तियाज़ आलम ने अपने विचार रखे। अस्मां जहाँगीर जी ने अपने भाषण में कहा मुबई आतंकवादी हमले का जितना दुःख भारतवासियों को है उससे ज़्यादा दुःखी पाकिस्तान के आम लोग हैं। जो पिछले 50 वर्षों से भारत और पाकिस्तान के दोस्ताना रिश्तों को देखना चाहते हैं और इस उम्मीद पर बैठे हैं कभी तो यह बार्डर खुलेगा।

श्री इम्तियाज़ आलम ने कहा कि मुंबई हमले के बाद हमें पाकिस्तान में कहा गया कि भारत मत जाओ। लोग आप से नाराज़ हैं लेकिन मैं आप सब को धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे पहले से ज़्यादा प्यार और सम्मान दिया है। मुंबई हमला आतंकवाद का शर्मनाक चेहरा है और इन्सानियत का दुश्मन है और पाकिस्तान को इस समय भारत का पूरा सहयोग करना चाहिए क्योंकि पाकिस्तान भी आतंकवाद से जल रहा है।

इस अवसर पर श्री कुलदीप नैयर ने कहा भारत और पाकिस्तान को मिलकर एक कमेटी का गठन करना चाहिए जिसमें दोनों देशों के नुमाइंन्दे हों जो अध्ययन करके आतंकवादियों की पहचान करें ताकि उनसे भली-भाँति निपटा जा सके।

अंत में मुख्य अतिथि जनाब ए0आर0 शहीन, एम0पी0 ने कहा आतंकवाद को दबाने के लिए सबसे अहम भूमिका धर्मों की होनी चाहिए। सब धर्मों को एक विचार पर इकट्ठा होकर शांति-वार्ता आगे बढ़ानी चाहिए जिससे आतंकवाद का दमन हो सके।

प्रस्तुति : डा0 एच0एस0 बेदी

हिन्दू डिग्री कॉलेज के लाइब्रेरी हाल में मुरादाबाद के जन कवि श्री ओंकार सिंह के गजल संग्रह 'संसार हमारा है' का लोकार्पण समारोह श्री श्योराज सिंह, श्री ओमराज, श्रीमती मीना नकवी, श्री बलवीर शरण के अध्यक्ष मंडल की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। सर्वप्रथम मुख्य अतिथियों का स्वागत तथा ओंकार सिंह के गुरु श्री ताहिर साहब का सम्मान फूल मालाएँ पहनाकर किया गया। अमरोहा के मशहूर शायर शौक अमरोहवी ने एकं क्रांतिकारी नज़्म सुनाकर किया कार्यक्रम की शुरूआत की।

इसके बाद दिल्ली विश्वविद्यालय के पत्रकारिता के प्रवक्ता एवं लेखक, कवि श्योराज सिंह ने ग़ज़ल संग्रह का लोकार्पण किया। कृष्ण कुमार नाज़ ने कवि श्री ओंकार सिंह का जीवन परिचय दिया।

मशहूर शायरा श्रीमती मीना नकवी ने अपने दृष्टि कोण

से पुस्तक की विवेचना की और कहा कि संग्रह की प्रत्येक ग़ज़ल आम आदमी की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। श्री ओमराज (प्रवक्ता, काशीपुर) ने कहा कि संग्रह की ग़ज़लों की भाषा जो उर्दू-हिन्दी मिश्रित है, वह अनुकरणीय है और मेहनतकश जनता के दर्द को आवाज़ देती है।

मुख्य अतिथि श्री श्योराज सिंह बेचैन ने संग्रह पर अपनी समालोचना में कहा कि चूंकि वह स्वयं गरीब किसान परिवार से हैं अतः ग़ज़लों में आम आदमी की पीड़ा व समस्याओं को जो व्यक्त किया है उस अभिव्यक्ति की ईमानदारी को शिद्दत के साथ महसूस करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में भी उनकी ग़ज़लें इसी प्रकार का फ़र्ज निभाती रहेंगी। श्री अनवर कैफी, श्री अनुराग गौतम और श्री रवीन्द्र प्रसाद गंगोई ने भी अपने विवेचना पूर्ण विचार उपरोक्त ग़ज़लों के बारे में व्यक्त किये। श्री ताहिर हुसैन ने शुभकामनायें दीं।

अध्यक्षीय संबोधन में श्री बलवीर शरण रस्तोगी ने कहा कि हजारों साल के इतिहास में वुद्ध के बाद मार्क्स व अन्य समाज सुधारकों ने आम आदमी की चिंता की। इस परंपरा में ही ओंकार सिंह जी का यह प्रयास है जो प्रशंसनीय है। उन्होंने कहा कि जनवादी लेखक संघ भारत में छुआछूत, अंधविश्वास, धर्म, नस्ल व जातियों से परे मानव मूल्यों पर आधारित समाज की कामना करता है जिसके निर्माण में सबका सहयोग अपेक्षित है।

प्रस्तुति : मुर्शरफ अली, मुरादाबाद

डा0 नरेन्द्र तिवारी को 'साहित्यश्री सम्मान'

अलीगढ़। डा0 राकेशगुप्त द्वारा अपनी धर्मपत्नी स्व0 श्रीमती तारावती गुप्त की स्मृति में दिया जाने वाला 'साहित्यश्री सम्मान' इस वर्ष प्रख्यात व्यंग्यकार और प्रतिष्ठित कवि डा0 नरेन्द्र तिवारी को प्रदान किया गया। डा0 कुन्दनलाल उप्रेती की अध्यक्षता में संपन्न आठवें सम्मान समारोह में डा0 राकेशगुप्त ने उन्हें यह सम्मान समर्पित किया। डा0 राकेशगुप्त ने सम्मानपत्र और सम्मान की राशि भेंट की। डा0 गोपालबाबू शर्मा ने शाल उढ़ाकर सम्मानित किया, ग्रंथायन के अभयकुमार गुप्त ने उन्हें स्मृतिचिह्न अर्पित किया।

इस अवसर पर बोलते हुए डा0 वेदप्रकाश अमिताभ ने कहा कि डा0 तिवारी मूलतः कवि हैं और वर्तमान अमानवीयकरण और मूल्यहीनता को उन्होंने 'मनुष्यता' के लिए घातक पाया है। लेकिन उनकी सकारात्मक दृष्टि उन्हें निराश नहीं होने देती है। डा0 पशुपतिनाथ उपाध्याय ने अभिनंदन-पत्र का पाठ करते हुए डा0 नरेन्द्र तिवारी की रचना-यात्रा पर प्रकाश डाला और कहा कि कविता और व्यंग्य दोनों विधाओं में सामाजिक समस्याओं पर तिवारी जी की पैनी दृष्टि रही है। इस अवसर पर व्यंग्यकार सुरेन्द्र सुकुमार तथा सुरेश कुमार ने अपने विचार व्यक्त किये। गोपालबाबू शर्मा ने कहा कि यद्यपि डा0 तिवारी की कृतियाँ संख्या में कम हैं लेकिन उनका साहित्यिक अवदान कम नहीं है। कविता-पाठ की शैली उनकी कविताओं को और विशिष्ट बनाती हैं।

डा0 नरेन्द्र तिवारी ने धन्यवाद ज्ञापन करते हुए कहा कि मैं लिखता नहीं हूँ, आंतरिक प्रेरणा से कुछ सार्थक लिख जाता है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डा0 कुंदनलाल उप्रेती ने कहा कि साहित्यश्री सम्मान निष्कपट भाव से दिया जा रहा है। डा0 नरेन्द्र तिवारी इसके लिए सर्वथा योग्य हैं।

इस आयोजन में डा0 अमीचंद वार्ष्णेय, डा0 भगत सिंह, डा0 शंभूदयाल रावत, डम्बर सिंह, अनुभवगुप्त आदि ने भी अपनी उपस्थिति से समारोह को सफल बनाया। अंत में 'ग्रंथायन' के अभयकुमार गुप्त ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

प्रस्तुति : अभयकुमार गुप्त

राजेश कुमार को 'मोहन राकेश सम्मान'

साहित्य कला परिषद, दिल्ली द्वारा 16-19 दिसंबर, 2008 में आयोजित 'मोहन राकेश अर्पण एवं नाट्य समारोह' में जनवादी नाटककार राजेश कुमार को मौलिक, पूर्णकालिक नाट्य-लेखन प्रतियोगिता में 'कह रैदास खलास चमारा' के सर्वश्रेष्ठ चयन के लिए 2008 का 'मोहन राकेश सम्मान' दिया गया। इस नाट्य-लेखन प्रतियोगिता की मूल्यांकन समिति के सदस्य सुप्रसिद्ध डा0 जयदेव तनेजा, चर्चित नाटककार रामेश्वर प्रेम और स्थापित निर्देशन सतीश आनंद थे। नाटक का पुरस्कार प्रसिद्ध नाटककार डा0 प्रताप सहगल की अध्यक्षता में प्रसिद्ध कुचिपुड़ि नृत्य गुरु पद्मश्री गुरु जय रामा राव के द्वारा श्री राम सेंटर ऑडिटोरियम में राजधानी के रंगकर्मियों व साहित्यकारों की उपस्थिति में प्रदान किया गया। पुरस्कार स्वरूप शॉल ओढ़ाकर दस हजार का चेक व प्रतीक चिह्न दिया गया। चार दिनों के इस समारोह में पुरस्कृत नाटक 'कह रैदास खलास चमारा' का मंचन भी किया गया जिसे शाहजहाँपुर की प्रतिबद्ध रंग-संस्था 'अभिव्यक्ति' ने अभिनीत किया। निर्देशन स्वयं राजेश कुमार का था।

नाट्य समारोह में इस नाटक ने अपनी प्रभावशाली प्रस्तुति से जो असर छोड़ा है, वह राजधानी के दर्शकों को काफ़ी दिनों तक स्मरण रहेगा।

प्रस्तुति : लीना, बिहार

भगत सिंह से एक मुलाकात....

भगतसिंह को देखते ही मैं उनकी ओर लपका और बोला—एक साक्षात्कार! भगतसिंह, कुछ आज के समय के बारे में क़हिये न! हमारे नौजवान हर वर्ष मार्च में आपकी जयंती मनाते हैं...

मेरी हड़बड़ाहट देखकर भगतसिंह मुस्कुराये और कहने लगे—मेरे समय के बाद देश की बहुत उन्नति हुई है। हमारे वैज्ञानिक और टैक्नीशियन बड़ा काम कर रहे हैं। विश्वविद्यालय और कॉलेजों की संख्या अब सैकड़ों में हुई और निरंतर उनकी संख्या बढ़ रही है। लड़कियाँ स्कूल और कॉलेज जा रही हैं और बड़ी संख्या में आत्म निर्भर भी बन रही है। लेकिन, इस सारी प्रगति और उन्नति के इस उजाले के पीछे जो अँधेरा है, उसे देखने की ज़रूरत है। बड़े-बड़े मॉल, होटल बने हैं, लेकिन उसके लिए ग़रीबों की झोपड़ियाँ मिटाई जा रही हैं। एक ओर ऐसे लोगों की एक बड़ी संख्या है जो हवाई जहाज से नीचे नहीं चलते, दूसरी ओर अभी भी लोग बैलगाड़ियों में चल रहे हैं। छोटे-छोटे उद्योग-धंधे बंद हो रहे हैं। छोटी पूँजी, बड़ी पूँजी से हार गयी है। ये अजीब से अंतर्विरोध हैं। ये मेरे सपनों का तो क्या, गाँधी के सपनों का भी भारत नहीं है।

मैंने पूछा-भगतसिंह जी, आपके और गांधी के बीच मतभेद हुए, ऐसा लोग कहते हैं। वास्तविकता क्या है?

उन्होंने गंभीर होकर जवाब दिया—मैंने गांधी के खिलाफ़ कभी लिखा है? मैं उन्हें पूरी तरह देशभक्त, साम्राज्यवाद विरोधी और देश के आमजन की चिंता करने वाले व्यक्ति के रूप में देखता हूँ। उनमें ग़ज़ब का कॉमनसेन्स था। जनता की नब्ज़ पर उनका हाथ था। हमारे समय में ही वे व्यक्ति नहीं एक संस्था बन गए थे। उनके अनेक सकारात्मक बिन्दु थे तो कुछ नकारात्मक बिन्दु भी थे।

मैंने पूछा—शहीदे आज़म। आपको बंधन मुक्त कराने के लिए पूरे देश ने अपील की, परंतु गांधी ने कोई विचार नहीं किया।

वे बोले—यह अर्ध-सत्य है। अर्ध सत्य के परिणाम बहुत बुरे होते हैं। अर्ध-सत्य से किसी घटना या व्यक्ति का मूल्यांकन नहीं हो सकता।

मैंने कहा, मूल प्रश्न पर आएं। क्यों गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में उन्होंने आपकी प्राण रक्षा के लिए कुछ नहीं कहा?

भगत सिंह बोले "असल बात ये है कि वॉयसराय से उन्होंने कई बार मेरे बारे में बात की। मृत्युदण्ड को आजीवन कारावास में बदलने की बात कही। किन्तु, वायसरॉय ने कहा कि भगतसिंह के बारे में कोई बात नहीं होगी। गांधी जी की अपनी वैचारिक सीमा थी। वे क्रांतिकारियों के तरीकों से सहमत नहीं थे। लक्ष्य के प्रति वे क्रांतिकारियों के साथ थे। गांधी का सही मूल्यांकन करके उचित बात कहनी चाहिए। वे राष्ट्रीय बुर्जुआवाद के उदारचेता व्यक्तित्व थे।

मैंने कहा—बात तो समझ में आती है लेकिन आपको लोग आतंकवादी क्यों कहते हैं।

विचार मग्न हो वे बोले, "आतंकवाद किसी समस्या का हल नहीं। मैं अंतिम नतीजे पर पहुँचा कि जब तक जनता का संगठन नहीं होगा, तब तक कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता। जनता के संगठन का अर्थ है, वर्ग-संगठन। मजदूरों-किसानों का, नौजवानों का संगठन। इनको संगठित करके इनकी चेतना का विकास किया जायं। यह जनता का दर्शन है। जनतांत्रिक पद्धति का दर्शन ही साधारण जनता की मुक्ति का साधन है।

मैंने-फिर आशंका प्रकट की—"यह धर्म-प्राण देश है। धर्म-और जातियों में बंटा है।"

मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा-मेरी पुस्तक, 'मैं नास्तिक क्यों हूँ', पढ़ी है? मैं समझता हूँ धर्म की व्यक्तिगत भूमिका हो सकती है, राजनीतिक-सामाजिक नहीं। धर्म का जो अनुचित प्रयोग राजनीति और सामाजिक जीवन में हुआ है उससे धार्मिक-विद्वेष, सांप्रदायिकता में बदल गया है। अविश्वास, संदेह और भय किसी भी सभ्य-समाज के लिए विष है। रही बात भारत की तो जहाँ ग़रीबी, अन्याय, अत्याचार और शोषण का लंबा इतिहास है, वहाँ संगठन ही आमजन की मुक्ति का मार्ग हो सकता है। देश की जनता का भरोसा रखो। शासक या पूँजीपतियों या उनके दलालों का कोई भरोसा नहीं। वे देश को बेच देंगे। आज क्या देश में सही अर्थों में जनतंत्र है ? यह जनता का जनतंत्र नहीं, बुर्जुआ समाज का जनतंत्र है, जिसका आधार सामंती संस्कृति हैं। इस संस्कृति में दलित और नारी सबसे अधिक पीड़ित होते है। इस स्थिति को बदलने के लिए केवल सामूहिक संगठन और संघर्ष करके ही लक्ष्य

पाया जा सकता है। हमारे समय के मुकाबले, आज दलित और स्त्रियाँ बहुत बेहतर स्थिति में है। सामंतवाद की जड़ें खोदनी होगीं, तभी हम जातिवाद और संप्रदाय की लड़ाई जीत सकते हैं।

मैंने फिर पूछा—आज की परिस्थितियों में भारत का विकास किस दिशा में हो रहा है? ग्लोबलाइजेशन का प्रभाव हमारी आर्थिक स्थितियों पर पड़ रहा है ?

-बहुत गंभीर होकर वह बोले—आज पूँजीवादी व्यवस्था गहरे संकट में फंसी है। उसे उद्धार का कोई रास्ता नज़र नहीं आ रहा। अमेरिका और उसके सहयोगी देशों की तमाम वित्तीय संस्थाएँ, दिवालिया हो गयी हैं या दिवालिया होने के कगार पर हैं। फोर्ड जैसी दुनिया की सबसे बड़ी कंपनी भी दिवालिया होने के कगार पर है। भारत की स्थिति इतनी गंभीर नहीं है, क्योंकि यहाँ के वामपंथियों और ट्रेड यूनियनों ने एल0आई0सी0 और बैंकों का निजीकरण अपने आंदोलनों और संघर्ष के द्वारा रोका। हर साल करोड़ों का मुनाफा देने वाले 'नव-रत्न' संस्थानों को बिकने नहीं दिया। यह वर्तमान व्यवस्था तो हर चीज़ बेचने को तैयार है। इन संस्थाओं में बड़े पैमाने पर विदेशी निवेश भी हमारी ट्रेड यूनियनों ने नहीं होने दिया। जिन संस्थानों में विश्व बैंक और अन्य विदेशी संस्थानों की पूँजी लगी थी, उनमें छँटनी हो रही है। पूँजीपति मनमानी करके मजदूरों को निकाल रहे हैं, जिन्होंने सौ साल संघर्ष करके अपने जनतांत्रिक अधिकार प्राप्त किये थे। हर पूँजीवादी और शोषण आधारित व्यवस्था जब संकट में होती है तो सारे जनतांत्रिक मूल्य भूल जाती है। देश में इसी तरह की हवा चल रही है.... ।'' इतना कह कर भगतसिंह थोड़ा रुके और फिर कुछ सोचते हुये बोले-देश की आम जनता पर भरोसा करो, वही इन सब संकटों से मुक्ति दिलाएगी।

'अंतिम सवाल-साथी भगत सिंह, धर्म की राजनीति का आज के भारत में क्या भविष्य है?

उन्होंने उत्तर दिया-बहुत सीमित उद्देश्य है इसका। सत्ता और धन प्राप्त करना इनका मुख्य उद्देश्य है। हिन्दुस्तान के शासकों को अपने अनुभवों से सीखना चाहिए। पाकिस्तान धर्म के आधार पर बना। उसका क्या हश्र हुआ ? आज़ादी के 25 साल बाद दो हिस्सों में बंट गया। बिल्लोच और पठान सत्ता के खिलाफ़ स्वायत्तता के लिए लड़ रहे हैं। शिया सुन्नियों में दंगा जारी है। अपने देश में देखिए-शिव सेना ने पहले प्रांतीयता का नारा लगाया। मुसलमानों-ईसाइयों के खिलाफ़ मोर्चा खोला। फिर, उत्तर-भारतीयों को 'मराठी-अस्मिता' नाम पर उखाड़ने का प्रयास किया। यह व्यवस्था का संकट है। वे इसका हल धर्म और प्रान्तीयता में ढूँढते हैं। इसी को अंध राष्ट्रीयता कहते हैं। हमारे संतों, भक्तों और सूफियों का संदेश है-प्रेम। प्रेम जोड़ता है। घृणा तोड़ती है। अतः घृणा का व्यापार मत करो। ये नाम तो भक्तों-संतों का लेते हैं किन्तु काम उनके विपरीत करते हैं।

भगतसिंह यह कहकर मौन हो गए।

मैंने फिर डरते-डरते पूछा-''मार्च का महीना महिलाओं और आपके नाम है। होली की मस्ती भी इसी महीने में होती है। लिहाज़ा भारत के लिए यह महीना बड़ा शुभ है। हर साल लोग आपकी जयंती मनाते हैं। फिर...

मुझे बीच में ही वे रोककर बोले-जयंती मनाने और मूर्तियाँ लगाने से समाज नहीं बदलता। सही विचारधारा के बिना न कोई संगठन चलता है, न लक्ष्य मिलता है।

मैंने अधीर होकर पूछा- फिर हम क्या करें ?

वे बोले-जो लोग, नौजवान मुझे पसंद करते हैं, वे मेरी विचारधारा को आत्मसात् करें, स्वयं को उसके अनुरूप ढालें। इसी से देश और साधारण-जन का कल्याण होगा। कितने शर्म की बात है, देश के 30 करोड़ लोग आधे पेट सोते हैं। कैसी विडंबना है-दुनिया के 20 अमीर लोगों में तीन हिन्दुस्तानी हैं और दूसरी ओर योरोप के कई देशों की कुल आबादी से अधिक लोग देश में ग़रीबी की रेखा से नीचे हैं। हाशिये के इन्हीं लोगों के लिए बिना संघर्ष किये मुक्ति की कामना व्यर्थ है। इसके लिए मध्यवर्ग के लोग अपनी खोल से बाहर निकलें और देश की वास्तविकता को पहचानें। आज फिर एक सामाजिक आंदोलन की ज़रूरत है। हमने और हमारे साथियों ने कुछ किया वह आने वाले हिन्दुस्तान के लिये था। आज जो हम करेंगे वह हमारी आने वाली संतानों के लिये विरासत होगी। यह हमें ही तय करना होगा कि हम कौन सी विरासत छोड़कर जायेंगे।

मैंने कहा-इस देश में यह कैसे संभव है ?

वे नाराज़गी के स्वर में बोले-ये निराशा और नकारात्मक विचार कहीं का नहीं छोड़ते। इनसे बचें। आत्म संघर्ष करें। हमारे समय में भी ऐसा था। किन्तु, हमने मेहनत और लगन से वातावरण को बदला। कोई काम मुश्किल नहीं है। दृढ़ संकल्प और निष्ठा हो बस। देश को एक और मुक्ति आंदोलन की आवश्यकता है।

इतना कहकर उन्होंने इंकलाब-जिंदाबाद का नारा लगाया। मैं भी उनके साथ जोर से चिल्लाया और मेरी आँख खुल गयी। नमिता ने पूछा क्या हुआ ? क्यों चिल्ला रहे थे। क्या कोई सपना देखा?

मैंने बताया-भगत सिंह से मुलाक़ात हो गयी है आज़।

(कुँवरपाल सिंह)

WITH THE BEST COMPLEMENTS FROM



Triveni Engineering & Industries Limited
Sugar Unit - Sabitgarh





Pioneers in the field of : Sugar, packaged Sugar & Cogeneration

SUGAR COMPLEX : SABITGARH , TEHSIL – KHURJA, DISTT- BULANDSHAHAR

Leading manufacturer of

Triveni Shagun, White Crystal Sugar, Steam Turbines, Gears , Pollution Control & Renewable Energy Equipments

Other Sugar Units &

1. Khatuali-251201
   Distt- Muzafarnagar(U.P
2. Deoband-247554
   Sharanpur(U.P)
3. Ramkola-274305
   Distt- Kushinagar
4. Chandanpur-244255
   Distt. J.P. Nagar
5. Raninangal-244401
   Distt. Moradabad(U.P
6. Milaknarayanpur-
   Distt- Rampur (U.P)

Engg. Units

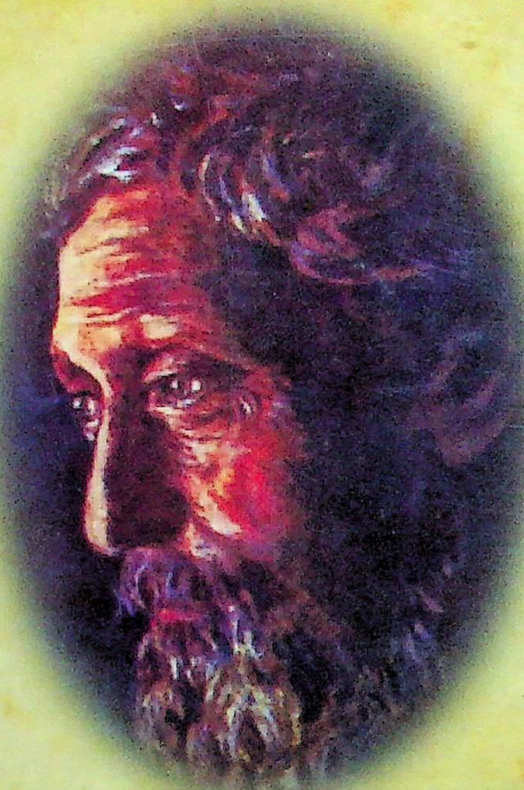
Bangalore-560058

Mysore-570016

Wishing very Happy New Year.

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण



वह हँसी बहुत कुछ कहती थी
फिर भी अपने में रहती थी
सबकी सुनती थी, सहती थी
देती थी सबको दाँव, बंधु

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(1899 - 1961)



प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित
28, एम.आई.जी., अवन्तिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल

अप्रैल, 2009 ■ अठारह रुपये

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

अंबेडकर जयंती के अवसर पर दलित चिंतन पर केंद्रित

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

संस्थापक सम्पादक
विभूति नारायण राय

सम्पादक
कुंवर पाल सिंह ❑ नमिता सिंह

सह-सम्पादक
❑ अजय बिसारिया ❑ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

प्रबन्ध सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव

सलाहकार : वेद शर्मा, बीकानेर

विशेष सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा

शब्दांकन : बिसारत अली

मुखपृष्ठ : विनोद सिंह

रेखांकन : विनोद सिंह व जयंत

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 ❑ अप्रैल, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 18/-; ❑ वार्षिक : 200/-; ❑ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ❑ आजीवन : 2000/- ❑ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से वर्तमान साहित्य, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादन एवं संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक।

इस अंक में

□

'वर्तमान साहित्य' नियमित मिलता है। इसकी नियमितता भी महत्त्वपूर्ण है जो कि ऐसी पत्रिकाओं के मामले में दुर्लभ है। मार्च के स्त्री विमर्श अंक में रशीदजहाँ पर प्रेम शशांक का लेख अच्छा है। सुधा अरोड़ा ने भी ज़रूरी सवाल उठाये हैं।

नवीन जोशी (संपा0) दैनिक हिन्दुस्तान, लखनऊ

□

'वर्तमान साहित्य' मार्च-2009 नारी विमर्श केन्द्रित अंक पठनीय और विचार-वैदुष्य से भरपूर है। कभी-कभी पत्रिकाएँ उलटे तरफ से पढ़ना अच्छा लगता है। शायद इसलिए भी कि हल्के-फुल्के निबटे, तब केन्द्रीयभूत हों। वर्तमान साहित्य पर यह बात लागू नहीं। उल्टा-सीधा एक समान। दोनों ओर से वैचारिक झंकृति टोकती और रोकती है। प्रो0 सिंह की भगत सिंह से मुलाकात विचार-गंभीर रचना है, शिवशंभू शर्मा के चिट्ठे की याद ताजा करती। गांधी और भगत सिंह की तथाकथित धुर विरोधी विचारधाराओं का अंतः संबंध और अंतरावलंबन रेखांकित करने में रचना सफल है।

'भीतर का सच' लघुकथा की वैज्ञानिक सोच का स्त्रीत्ववादी सच में रूपांतरण सराहनीय है। पद्मावत के 'सुवा-संवाद-खण्ड' की समाजशास्त्रीय व्याख्या सर्वथा नई सोच की दृष्टि देती है।

पहाड़-मैदान, उत्तर-दक्षिण, शहर-गाँव सब ओर शराब का बोलवाला केन्द्रित संपादकीय गहरी चिंता जगाता है। और हाँ, सैरोगेट मदर वाली कहानी बेहद दमदार और पठनीय है। अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता और संवेदनात्मक गहनता कहानी की शक्ति है। आप और आपकी टीम को बधाई।

डा0 प्रभाकर शर्मा, अलीगढ़

□

सादर निवेदन के साथ वर्तमान साहित्य के लिए लिखा गया यह मेरा पहला पत्र है। कारण पत्रिकाओं की खूबियाँ और खामिया निकालना कभी मेरा गलत नहीं रहा। किसी पत्रिका की गरिमा और मापदंड उसमें प्रकाशित रचनायें तय करती हैं। आज के दौर में अच्छे-अच्छे लेखक जो सागर में तैरने का शौक रखते हैं, उन्हें नालों में डुबकी लगाने से भी परहेज नहीं रहा है। प्रगतिशील वही लेखक दलित हों तो उन्हें 'नया ज्ञानोदय' अच्छा लगता है। लेखक यदि जनवादी हो तो रचना 'पेटीकॉट वादी' निकल आती है। ऐसे में पत्र लिखकर किसी कवि-कथाकार के कद को कम कर आंकना मेरी इच्छा के विरुद्ध काम होगा क्योंकि हर लेखक-कवि का उद्देश्य अपनी जगह तय है। परंतु इस बार वर्तमान साहित्य का अंक (मार्च-09) जो ''नारी विमर्श पर केन्द्रित है'' लगा एक बहुत अच्छा अंक बन पाया है। लंबी कविता-जूता (खगेन्द्र ठाकुर), सचमुच जार्ज बुश को ऐसे ही जूते की ज़रूरत थी। वहीं कहानियों में 'अपना ख्याल रखना' (सुषमा मुनीन्द्र) 'उड़ान भरते' (शिवानी उप्पल) तो लेखों में 'औरत ही क्यों डायन और पागल ठहराई जाती है। (सुधा अरोड़ा) तथा पितृ सत्ता और प्रेम विवाह (अलका पांडेय) अंक की उपलब्धि है। पत्रिका का मुख्य पृष्ठ वर्तमान साहित्य की सोच को दर्शाता है।

श्यामविहारी मेहतो, बोकारो

(कम्प्यूटर की तकनीकी खराबी के कारण इस अंक में पाठक मंच के लिए भेजे गये कई पत्र नहीं छप सके हैं। इसके लिए अत्यंत खेद है।-संपादक)

□

'वर्तमान साहित्य' फरवरी-2009 का अंक प्राप्त हुआ। अपनी बात के अंतर्गत आपने असाहित्यिक विवादका साहित्यिक समाधान देकर गंभीरता का परिचय दिया है। आपने ठीक कहा है कि उत्तर-आधुनिकता ने वैचारिकता की सीमाएँ तोड़कर सामूहिकता और संघर्षों के अर्थ बदल दिए हैं। मुझको ऐसा लगता है कि यह विवाद भी उत्तर आधुनिकता सोच का उत्पाद है। सेठाश्रयिता ने कुछ लोगों के चश्मों पर रंग पोत दिया है। उनको मानवीय सामाजिक सरोकारों से संबंधित धरातल पर वनस्पतियों के रंगों को पहचानने की समझ नहीं रह गई है।

साहित्य के प्रति जिम्मेदारी समझने वाले बौद्धिक को अपने ऊपर फेंके जाने वाले विशेषणों से कभी डर नहीं लगता। 'वर्तमान साहित्य' अपने जन्म से ही सामाजिक सोच का पक्षधर रहा है। इसमें समाज के निचले स्तर पर जीवन जी रहे लोगों के साथ-साथ दलितों, पिछड़ों, स्त्रियों और उपेक्षित तबकों को यथार्थ को स्थान मिलता रहा है। इस पत्रिका की समाजार्थिक विचारधारा जग जाहिर है। 'समय संवाद' में 'भूमंडलीय संस्कृति समूचे मानव-समुदाय को वस्तु में बदल रही है', सटीक कहा गया है।

हरपाल सिंह 'अरुष', मुजफ्फरनगर

□

'वर्तमान साहित्य' फरवरी-2009 में 'सैन्नी अशेष' की कहानी 'अप्सराओं का देश' पढ़ने को मिली। कहानी में एक समय तक साथ रहने के बाद मुख्य पात्र का कहीं दूर जाना और लौटकर आने पर नायिका की मृत्यु की सूचना पाना कोई नई बात नहीं है, परंतु

...ई कहानी में जिस सहजता के साथ सामाजिक सरोकारों को आवाज़ दी गई है, वह कहानी को दुबारा, तिबारा पढ़ने को विवश करती है। पत्रिका के पिछले अंकों की तरह इस अंक में भी पाठक के लिए बहुत कुछ है। सैन्नी अशेष के साथ वर्तमान साहित्य परिवार को भी उद्देश्यपूर्ण सकारात्मक साहित्य के सतत् प्रकाशन के लिए बहुत-बहुत बधाई।

डा0 प्रतीक मिश्र, कानपुर

□

'वर्तमान साहित्य' के फरवरी-2009 अंक में राकेश चक्र को दोनों लघु कथायें अच्छी लगीं। राजीव शर्मा की कहानी 'शैम्पेन' और ...जेय की कहानी 'यह कोई लीला नहीं है' ने प्रभावित किया। अंक की उपलब्धि के रूप में आवरण द्वितीय पर 'निराला' जी का गीत रहा। एक बार फिर एक स्तरीय अंक देने के लिए निश्चित रूप से आप बधाई के पात्र हैं।

योगेन्द्र वर्मा 'व्योम', मुरादाबाद

□

बसंती छटा को बिखेरता पत्रिका का कवर पेज सुंदर लगा। आपका सम्पादकीय सटीक है। पत्रिका ऊँचे घराने की हो या ग़ैर व्यवसायिक, मुख्य बात है उसकी पहुँच कहाँ तक है। पत्रिका में प्रकाशित लेखों के लेखकों की वैयक्तिक स्वतंत्रता है कि वे अपने लेखों को किस पत्रिका में छपवाना चाहते हैं।

सभी कहानियाँ बहुत ही अच्छी हैं। दार्शनिक, सामाजिक, नैतिक तथा प्राकृतिक रूप से 'अप्सराओं का देश' कहानी श्रेष्ठ है। 'शैम्पेन' कहानी में नौकरी पेशा महिलाओं के पक्ष में तथा स्त्री पुरुष के बीच तारतम्यता को जिस सकारात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है उससे महिलाओं को समाज की आलोचनात्मक दृष्टि के दुष्प्रभाव से बचाया जा सकता है। 'ज़िंदगी के रंग' कहानी भी अच्छी है। अमरेन्द्र शर्मा की 'पगलेट' कविता तथा तीनों लघु कथायें बहुत ही मार्मिक हैं।

कुँवरपाल जी ने बसंत के विषय में जो कहा, वह सत्य है। बसंत ऋतु का जो महत्व होना चाहिए वह भी बाजार कैश कर रही है। उत्सवों के नाम पर उपभोक्ताओं को इमोशनली ब्लैकमेल किया जाता है।

संध्या मिश्रा, कानपुर

□

नववर्ष का अंक मधुर मुस्कान (आवरण पृष्ठ) लिए सामने आया। 'अपनी बात' में जनतांत्रिक देश में जनतंत्र के भटकने पर स्वाभाविक चिंता जताई गयी है। नफ़रत और हिंसा के भस्मासुर की मारने के लिए नफ़रत और हिंसा कारगर उपाय नहीं हो सकते। एक दूसरे पर दोष मढ़ने से भी काम नहीं चलने वाला। आवश्यकता है खुले मन से इच्छाशक्ति के साथ मिलजुलकर कार्य योजना बनाने की। रमेश कुंतल मेघ का शोधपरक लेख महत्त्वपूर्ण है। पुष्पिता अवस्थी की कविताओं में आदमी और औरत के एक-एक कदम का मनोवैज्ञानिक चित्रांकन है। कविताएँ संवेदना की कसौटी पर खरी उतरती हैं। 'यशपाल की सिगरेट' लिखते-लिखते अंत में लेखक और यशपाल ही नहीं हँसते बल्कि पाठक भी हँस रहा होता है। दनदन चकवा मामू घर के पकवा... कहानी पढ़कर किसी का भी मन गोल-गोल घूमने लग सकता है। कहानी, भाषा, संवेदना और संवाद में अद्वितीय जान पड़ती है। वशिष्ठ अनूप की ग़ज़लों के नज़ारे अच्छे लगे। 'बापू की उर्दू दोस्ती' में बापू के इस कथन पर—"मैं अपने श्रोताओं को एक वर्ष का समय देता हूँ कि वे हिन्दुस्तानी सीख लें, मैं अब कांग्रेस के मंच से कभी इंग्लिश में नहीं बोलूँगा", आज के बड़बोले नेताओं को अवश्य ध्यान देना चाहिए। समय-संवाद में लेखक की वैचारिकता उभरकर सामने आई है। आम आदमी मंदी से जूझ रहा है। ऐसे में महात्मा गांधी की याद आती है। उनका सोचना था कि हर घर में लघु-उद्योग लगें। हर हाथ को काम मिले। किन्तु विश्व के कुछ देशों से हाथ मिलाकर चलते-चलते हमने उपभोक्तावादी संस्कृतियों को अपना लिया। परिणाम सामने है। इस संदर्भ में प्रो0 कुँवरपाल सिंह का भय बेमतलब नहीं है।

अरविन्द अवस्थी, मीरजापुर (उ0प्र0)

□

'इण्डिया न्यूज' के वरिष्ठ पत्रकार विवेक सत्यमित्रम् का सनसनीखेज पत्र 'वर्तमान साहित्य' (मार्च-09) में पढ़ा। तौसिफ़ पर लगाये गये आरोप को पढ़कर मैंने उनसे जानना चाहा क्योंकि 'वर्षगाँठ पर सोनचिरैया' की चर्चा फोन पर उन्होंने मुझसे एक बार की थी। 15 मार्च को मैंने एस0एम0एस0 किया कि विवेक के छपे पत्र का यथार्थ क्या है और सत्यमित्रम् का सत्य क्या है? उसी रोज़ उन्होंने मुझे निम्नलिखित एस0एम0एस0 भेजा : "सबसे पहली बात तो ये कि कुमार शैलेन्द्र मेरे गुरु नहीं हैं, और मेरी पहचान हिन्दी अदब में कहानीकार के रूप में है, गीतकार के रूप में नहीं। एक चाल के तहत रचना प्रिंट करवा के तेजी से पहचान बनाने वाले को धक्का देने की नाकाम कोशिश है। तखल्लुस किसी के बाप की बपौती नहीं होती। नये सत्यमित्रम् का साहित्य में कोई अवदान नहीं है, पुराने तौसिफ़ सत्यमित्रम् की पहचान को धूमिल करने के लिए ये चाल रची जा रही है। आपकी दुआ का तलबगार-तौसिफ़ सत्यमित्रम्।" तौसिफ़ के इस कथन में विरोधाभास है। अगर सोनचिरैया कविता उनकी नहीं होती तो वे मुझसे इसकी चर्चा नहीं करते। *(तौसीफ़ सत्यमित्रम् ने "नये वर्ष के उपलक्ष्य में लिखा गया एक नया गीत" के रूप में रचना भेजी थी। कुमार शैलेन्द्र की कविता पुस्तक उससे कहीं पहले छप चुकी थी)*

सुजीत कुमार सिंह

शोधछात्र, हिन्दी विभाग,

बी0एच0यू0 वाराणसी-221005, मोबा0-09454351608

अपनी बात

उस दिन में अपनी अलमारी में कुछ खोज रही थी कि किताबों के बीच खोंस कर रखा गया एक कार्ड सामने आ कर गिरा। लगभग डेढ़ फुट चौड़ा और एक फुट लंबा कार्ड जिसे मैंने स्मृति चिह्न की तरह संभाल रखा है। कार्ड के अंदर लिखे शब्द चमक रहे थे, "अपनी टीचर को, जिसने मुझे रास्ता दिखाया... रीता।" एक शिक्षक होने के नाते मेरे लिये इससे अधिक सार्थक कोई और संबोधन हो ही नहीं सकता था। यह मेरा लाइफ टाइम अचीवमेंट अवार्ड जैसा था और यह कार्ड जैसे ट्रॉफी... मैंने कार्ड को उसके लिफाफे में डालकर और अधिक सुरक्षित तरीके से सहेज कर रख दिया। रीता के साथ-साथ मैं भी उस घटना की गवाह रही हूँ। कुछ अप्रिय और कठोर सवालों से मुठभेड़ करनी पड़ी थी हमें। उस मुठभेड़ में रीता ही तो थी रणभूमि में। मैं तो उसकी खींचतान और जद्दोज़हद देखते-देखते कब किनारे से खिसक कर बीच लहरों में उतर आई थी, पता ही नहीं चला। अंदाजा तब हुआ जब हम दोनों एक दूसरे का हाथ थामे तैरने-उतराने लगे थे।

प्राचार्या के पद पर काम करने की तीन साल की अवधि ने जैसे मुझे संस्थागत ज़िंदगी के अनेक रहस्यों के सूत्र थमा दिये। ब्राह्मणवादी-मनुवादी संस्कार हमारी रक्त-मज्जा का कैसा अटूट हिस्सा बन चुके हैं कि हमारी सोच और हमारे बोल टस से मस होने को तैयार नहीं। हमारे समाज की इस वर्णवादी चादर का ताना बना कितना मजबूत है! सोशल इंजीनियरिंग का फार्मूला सत्ता साधन का एक रास्ता मात्र है, समाज व्यवस्था बदलने का साधन नहीं है, यह समझ में आता है। इस वर्णवादी मानसिकता से मुक्ति का एजेंडा इसमें दूर-दूर तक दिखाई नहीं दे रहा। बल्कि छलावा और उजागर होने लगा है। डा० भीमराव अंबेडकर ने पूरे हिन्दू समाज को झकझोर कर उसके आधारभूत दर्शन को चुनौती दी और हजारों साल पुरानी हिन्दू धर्म व्यवस्था को उलट-पुलट दिया और इतिहास पुरुष बन गये। हिन्दूवादी वर्णव्यवस्था का इतिहास, पश्चिम की रंगभेद व्यवस्था से भी कहीं अधिक पुराना है। धर्म सम्मत होने के कारण इसकी जड़ें समाज के अलावा मनोजगत् के चेतना संसार में अधिक गहरी धंसी हुई हैं। डॉ० अंबेडकर ने "शिक्षा और संघर्ष" का जो मंत्र दिया, उसने पूरे दलित समाज को संगठित कर एक सूत्र में बाँध दिया था। यह संगठित शक्ति की अपराजेयता परिवर्तनकारी सिद्ध हुई जिसने भारतीय समाज व्यवस्था का चेहरा बदल दिया। राज्य व्यवस्था के शाश्वत चले आ रहे समीकरण बदल दिये।

रीता की बात तो रह गयी। हमारे महाविद्यालय की प्राचार्या की सेवा निवृत्ति के बाद वरिष्ठता के नाते कार्यभार मेरे ऊपर आया। "चलो, एक अनुभव ही सही, प्रशासन तथा ऑफिस की कार्यप्रणाली को भी घुसकर देखा जाय... सोच कर प्राचार्या का कार्यभार मैंने ग्रहण कर लिया। प्रशासन तंत्र में भी वर्णवादी मानसिकता कितनी बारीकी से काम करती है, दिखाई दिया। प्रथम सिंहद्वार पर मुठभेड़ हुई प्रवेश नीति से। शासनादेश के अंतर्गत लगभग पचास प्रतिशत स्थान आरक्षित श्रेणियों में विभाजित हो जाते हैं जिसमें अनुसूचित जाति-जनजाति तथा पिछड़ा वर्ग शामिल है। नियमानुसार बिना विभाजन किये कुल स्थानों की पचास प्रतिशत की सामान्य सूची मेरिट के आधार पर तैयार की जाती है जिसमें किसी भी श्रेणी का, आरक्षित अथवा अनारक्षित, विद्यार्थी होता है। इसके पश्चात् निर्धारित प्रतिशत के अनुसार अनुसूचित जाति-जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग की सूचियाँ बनती हैं। प्रवेश नीति के अंतर्गत इस कार्य को संपन्न करने में जो शिक्षक वर्ग पिछले वर्षों से काम कर रहा था, वे अपने ही तरीके से काम करना चाहते थे। यानि प्रथम चरण में मेरिट के आधार पर सामान्य सूची न बनाकर पहले ही सभी आवेदन पत्रों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर देने की परंपरा चल रही थी। मैंने इस विभेद को जब चिन्हित किया तो खासा विरोध हुआ... "फिर हम लोगों की सीट तो पचास प्रतिशत से भी कम रह जायेंगी...." यह सामान्य लहजा था। बहुत समय लगा यह समझाने में कि जो विद्यार्थी योग्य है, अपनी मेरिट से प्रवेश सूची में स्थान पाता है, उसे क्यों जबरदस्ती आरक्षित श्रेणी में धकेला जाता है। आरक्षण तो पिछली कतार में खड़े लोगों को अवसर प्रदान करने का साधन मात्र है....।

नयी कक्षा में प्रवेश के लिये जिन विद्यार्थियों का नाम प्रवेश सूची में होता है, उन्हें तीन-चार दिन का समय दिया जाता है कि वे प्रवेश प्रक्रिया संपन्न करा लें। उसके बाद जो स्थान रिक्त होते हैं, उनके लिये नयी सूची जारी की जाती है। पता चला कि सामान्य, अनुसूचित जाति-जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग, तीनों श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिये अलग-अलग तारीखें नियत की जाती थीं। मेरा मानना था कि ये तारीखें श्रेणीवार न होकर कक्षावार होनी चाहिये। क्यों आप पहले दिन से ही विद्यार्थियों के बीच विभाजन की रेखा खींच रहे हैं। आरक्षित श्रेणी के विद्यार्थियों के प्रवेश के समय उनके साथ होने वाला व्यवहार भी सामान्य न होकर, आँख-भौं चढ़ाकर ही होता। मामूली सी समस्याओं का समाधान जटिल बना दिया जाता और वह सब प्राचार्या के ऊपर थोप दिया जाता कि "जाओ

…इसका समाधान करेंगी...।'' यह अमैत्रीपूर्ण रवैया उसी मानसिकता की उपज होता जो हमारे सामाजिक व्यवहार में इतनी गहराई से रचा बसा होता है कि ऊपर से दिखाई नहीं देता लेकिन उसका दंश सिर्फ महसूस किया जा सकता है।

तो, फिर रीता की बात रह गयी। रीता ने बी0एस-सी0 प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया था। मैं प्राचार्या होने के बावजूद अपनी एक क्लास लेती थी। वह अपने क्लास की गिनी चुनी चार पांच श्रेष्ठ विद्यार्थियों में थी। अच्छी कद-काठी, स्मार्ट। बोलने में बहुत प्रवीण! क्लास में पूछे गये प्रश्नों का जवाब देने वाली। उसी वर्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की दसवीं पांच वर्षीय योजना के अंतर्गत महाविद्यालयों को अनुदान के लिये आवेदन भेजा जाना था। उसमें अन्य अनेक मदों के अलावा एक मद था, समाज के कमजोर वर्ग के छात्र-छात्राओं की कोचिंग के लिये विशेष अनुदान। इससे पहले हमारे महाविद्यालय ने उस मद के लिये कभी आवेदन नहीं किया था। विज्ञान संकाय में होने के नाते मेरी स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी कि अगर कमजोर वर्ग के लिये यह सुविधा है तो उसे ज़रूर प्राप्त करना चाहिये। गाँव-देहात से आने वाली कमजोर और आरक्षित वर्ग की छात्राएँ आरक्षण के बल पर प्रवेश तो पा जाती हैं लेकिन उनकी जड़ें बहुत कमजोर होती हैं। बी0एस-सी0 तक आते-आते वह पिछड़ने लगती है। ऐसे में या तो वह धीरे-धीरे लगातार कक्षा में अनुपस्थित रहने लगती हैं या फिर फेल होकर घर बैठ जाती हैं।

बहरहाल, यू0जी0सी0 में जब बैठक हुई तो मैंने इस मद की धनराशि के लिये सिफ़ारिश की और वह हमें मिल भी गयी। अब समस्या हुई, छात्राओं के आवेदन की। विज्ञान की छात्राओं से कहा गया कि आरक्षित श्रेणी की जिन छात्राओं को कोचिंग की ज़रूरत है वे आवेदन करें। उनके लिये अतिरिक्त कक्षाएँ लगाई जायेंगी। हम सब जानते हैं कि आज प्राइवेट कोचिंग का व्यापार जाल फैला हुआ है जहाँ ग़रीब विद्यार्थी का तो प्रवेश असंभव है। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब हफ़्ता दस दिन बीत जाने के बाद भी किसी छात्रा ने कोचिंग कक्षा के लिये अपना नाम नहीं लिखाया। यूं हर महीने हजार-पांच सौ रुपया ट्यूशन पर खर्च करना मंजूर था लेकिन फ्री कोचिंग से लाभ नहीं उठाना चाहता था कोई। अब संकट मेरे सामने था। किसी और मद में खर्च करने से यह अनुदान का दुरुपयोग होता। मैंने कोचिंग इंचार्ज से कहा कि सभी के प्रवेश फार्म मंगवाओ और जो कमजोर वर्ग की छात्राएँ हैं, उनके नाम कोचिंग के लिये लिख लो। आरक्षित श्रेणी के अलावा, सामान्य वर्ग की छात्राएँ भी अगर कोचिंग के लिये आना चाहें तो उनको शामिल किया जायेगा। आखिर फ्री कोचिंग की सुविधा अगर मिल सकती है तो उसे हम छात्राओं को उपलब्ध करायेंगे।

रीता हॉस्टल में रहती थी। प्रवेश फार्म से पता चला कि वह आरक्षित श्रेणी की थी। उसने इंटरमीडियेट प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया था। वह बहुत अच्छी एथलीट भी थीं। अपनी कक्षा की मॉनीटर थी और हॉस्टल में बैच-लीडर थी। बहुत उहापोह के बाद, सुना कि उसने भी कोचिंग कक्षा में प्रवेश ले लिया था।

इसके बाद तो जैसे एकाएक बहुत कुछ बदल गया। एक दिन हॉस्टल वार्डन की मेरे पास शिकायत आई जिसमें कहा गया कि रीता और उसकी एक सहपाठी का झगड़ा हो गया है और रीता ने उसे थप्पड़ मार दिया है। उन्होंने रीता पर अनुशासनात्मक कार्यवाही का नोटिस जारी कर दिया था।

मैं ताज्जुब से भर गयी। बहरहाल दोनों लड़कियों की पेशी हुई। मैंने दोनों से अलग-अलग बात की। उसकी सहपाठी बहुत गुस्से में थी। झगड़ा हुआ था बाथरूम के इस्तेमाल पर। सहपाठी का कहना था कि रीता बाथरूम से निकलने में देर लगा रही थी। उसने दरवाजा भड़भड़ाया था। रीता जब बाहर निकली तो उसने इसी बात पर उसे थप्पड़ मार दिया।

रीता का बयान कुछ और था। मेरे सामने वह बहुत शांत थी। सिर झुकाये खड़ी थी। पहले तो वह चुप रही। फिर उसने कहा कि उसे बाथरूम में घुसे पांच मिनट भी नहीं हुए थे कि उसकी सहपाठी आई और दरवाज़ा भड़भड़ाना शुरू कर दिया! वह जल्दी ही बाहर निकली और उसने कहा कि पांच मिनट तो लगेंगे नहाने में.... वह कोई दूसरा बाथरूम इस्तेमाल कर सकती थी.... इतना कहते-कहते फिर वह चुप हो गयी।

मैंने सख़्ती से कहा कि इतनी सी बात पर कहा-सुनी हो सकती थी। उसने इस मामूली बात पर अपनी सहपाठी को थप्पड़ क्यों मारा। वह चुप रही... फिर कुछ सोचकर बोली,

-मै'म उसने गाली दी मुझे...

-क्या कहा उसने तुमसे,

उसने एक नज़र मेरी ओर आँख उठाकर देखा, मेरा चेहरा पढ़ने के लिये। उसकी आँखें डबडबा आईं। धीरे से बोली,

-''मै'म उसने कहा कि बहुत मानीटरी की शान झाड़ती हो। सब मालूम हो गया है मुझे... तुम कौन हो... और फिर उसने गाली दी....

मैं सन्न थी! कक्षा की सर्वोत्तम छात्राओं में शामिल रीता... उसकी योग्यता, निपुणता धरी रह गयी। कोचिंग क्लास में नाम क्या लिखाया कि कयामत आ गई जैसे। एकदम दो पाले बन गये। मैंने उसे वापिस भेजकर, फिर उसकी सहपाठी को बुलाया। उससे पूछा! वह तो ढिठाई पर उतर आई थी,

-''मै'म मैंने कुछ नहीं कहा उससे...

-क्या वह झूठ बोलती है,

-जी, मै'म वह झूठ बोलती है.... मैंने दरवाज़ा भड़भड़ाया, जल्दी बाहर निकलने के लिये कहा तो गुस्से में उसने मुझे थप्पड़ मार दिया...

मैंने वार्डन को बुलाकर उनसे पूछा कि वहां और कोई लड़कियां भी थीं। वार्डन ने दो लड़कियाँ मेरे पास भेजीं। वे लड़कियाँ कुछ भी बोलने को तैयार नहीं। बहुत मुश्किल से उन्होंने कबूला

कि हाँ, उस दूसरी लड़की ने रीता को गाली दी थी और तब उसने थप्पड़ मारा था। दो दिन बाद उस लड़की के माँ-बाप मेरे पास आ धमके। दोनों डॉक्टर। एक प्राइवेट नर्सिंगहोम के मालिक। दोनों बहुत तैश में। उन्होंने धमकी दी कि अगर रीता के खिलाफ़ कार्यवाही नहीं हुई तो वे लोग पुलिस में रिपोर्ट करेंगे...। मैंने उन्हें रीता का शिकायती पत्र और दो अन्य लड़कियों का बयान दिखाया। मैंने यह भी कहा कि मैं खुद उनकी बेटी के खिलाफ़ एस0सी0एस0टी0 एक्ट के अंतर्गत रिपोर्ट कराऊँगी, अगर उनकी लड़की ने रीता से माफी नहीं मांगी तो...

खैर, इस धमकी के बाद वे डॉक्टर दंपत्ति चले गये और उनकी बेटी ने भी रीता से माफी मांगी। रीता से मैंने कहा कि उसे मेरे पास आना चाहिये था, बजाय उसे थप्पड़ मारने के....

इसके बाद रीता का तो ऐसा रूपांतरण हुआ कि बस। वह अब क्लास में नहीं आती। सेशनल टेस्ट नहीं दिये। पता चला कि वह बीमार है... एक दिन शाम को फिर वार्डन का फोन आया कि रीता की तबियत बहुत खराब है, उसे दौरे पड़ रहे हैं...

मैं समझ रही थी कि यह सीधा सीधा अवसाद का केस बन रहा है। रीता अवसाद की मनःस्थिति में थी। उसका पूरा व्यक्तित्व जैसे थरथरा रहा था। हमारी वर्णवादी समाज व्यवस्था ऐसे ही धीरे-धीरे विषाक्त करती है पूरा वातावरण और बड़ी-बड़ी संभावनाएँ यूं ही नष्ट हो जाती हैं। बहरहाल मैं हॉस्टल गयी। मैंने रीता को बुलवाया। वह चल पाने की स्थिति में नहीं थी। दो लड़कियाँ उसे पकड़ कर लाईं। वह ज़ारो-कतार रो रही थी। चेहरा पसीने-आँसुओं से भीगा। बाल बिखरे और कपड़े अस्त-व्यस्त, शक्ल ही बदल गयी थी उसकी।

मैं उसे देखती रही। वह डगमगाती-लड़खड़ाती खड़ी थी। उसकी दोनों रूम-मेट उसे पकड़े हुये थीं। मैंने उन्हें वापिस भेज दिया। वार्डन से भी वहाँ से जाने को कहा। बहुत सख़्त आवाज़ में मैंने उससे बैठने को कहा। वह बैठ गयी। मेरी आवाज़ में कतई कोई हमदर्दी नहीं थी। सच पूछो तो मुझे बहुत गुस्सा आ रहा था। हिस्टीरिया के रोगी के लिये सहानुभूति ज़हर का काम करती है और मुझे उसका उपचार करना था,

-...तुम क्यों रो रही हो.... क्या हुआ है तुम्हें। तुम क्यों बीमार हो! सज़ा उस लड़की को मिली और बीमार तुम हो गयी हो? सिर्फ इसलिये कि उसने तुम्हारी जाति का नाम ले लिया। ठीक है ले लिया उसने। तुम सच्चाई से कब तक भागोगी। तुमको उसकी यह बात याद रही। ये याद नहीं रहा कि तुम फर्स्ट डिवीज़नर हो, वह सेकेंड डिवीज़न में पास होकर आई है। तुम जब तक दुनिया से भागोगी, लोग तुम्हें ऐसे ही दौड़ायेंगे-भगायेंगे। जिस दिन तुम कहोगी कि हाँ, ये मेरी जात है और मैं तुम सबसे श्रेष्ठ हूँ.... तुमसे योग्य हूँ... लोग चुप होंगे और तुम्हें रास्ता देंगे। यह एक ऐसी सच्चाई है जो पूरी व्यवस्था से जुड़ी है। हम तुम और वे... कुछ नहीं कर सकते... हम सिर्फ लड़ सकते हैं.... तुम बजाय लड़ने के रोती धोती रहीं, अपने को खत्म करो.... कहते-कहते मुझे फिर गुस्सा चढ़ने लगा था।

रीता भौंचक! चुप! मेरा मुंह ताक रही थी। चुप थी। उसका रोना कब का बंद हो चुका था। मुझे लगा कि कहीं प्रिंसिपल के रूप में उसे मैं डरा तो नहीं रही हूँ.... मुझे गुस्सा था कि वह बेहद प्रतिभावान, संभावनाशील... यूँ बिखर रही है।

मैंने वार्डन को बुलवाया। कहा हम लोग चाय पीयेंगे। वह मुँह धोकर आई। हम तीनों ने चाय पी। वार्डन के कमरे में वह झिझक रही थी। हम बाहर बरामदे में बैठ गये। मैंने उससे कहा कि कोई उसे नहीं सहारा देगा। वह खुद चलकर अपने कमरे तक जायेगी।

मैंने रीता की अध्यापिकाओं को भी संकेत दे दिये थे। उस वर्ष बी0एस-सी0 प्रथम वर्ष की सर्वोत्तम ऑल राउंडर छात्रा का पुरस्कार उसे मिला। दिसंबर में होने वाली फ्रैशर्स पार्टी में रीता कुमारी मिस फ्रैशर चुनी गयी। वह बहुत खुश थी।

तीन साल बाद बी0एस-सी0 अंतिम वर्ष की परीक्षा देने के बाद वह मुझसे मिलने आई थी। मैंने पूछा कि आगे उसका क्या इरादा है। उसने कुछ सोचते हुए कहा,

-मैं'म मैं सिविल सर्विसेज़ के एग्ज़ाम दूँगी। आई0ए0एस0 नहीं तो पी0सी0एस0 तो बन ही जाऊँगी।

-श्योर! तुम आई0ए0एस0 ही बनोगी... अपना लक्ष्य बड़ा रखो और थोड़ी मेहनत करो,

-जी मैं'म

-''एक साल कड़ी मेहनत चाहिये, बस!'' अचानक मेरे मुँह से फिसल पड़ा, नितांत परिहास के स्वर में,

-कोचिंग ज्वाइन कर लो कोई.... फिर मेरे दिमाग में कौंधा कहीं पहले की तरह कोई प्रतिक्रिया न हो उस पर। सारा किस्सा ही कोचिंग से शुरू हुआ था।

वह मेरा मंतव्य समझगई और मेरी ओर देखकर मुस्कुराई

-जी, मैं'म! जरूर! लेकिन रिजर्वेशन वाली नहीं... मैंने उसे गले से लगा लिया।

दो साल बाद मेरे पास उसका यह कार्ड आया। उसका पता इस पर नहीं था। वर्ना पूछती, कहाँ है वह ! क्या कर रही है। जनसमूह में भीड़ का हिस्सा तो नहीं बनी वह... मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसा नहीं हुआ होगा। कम से कम यह कार्ड और उस पर लिखी इबारत...

0 0 0

पिछले कई सालों से रीता की कहानी लिखना चाहती थी, नहीं लिख सकी। आज ''अपनी बात'' लिखने बैठी तो लगा इससे ज़्यादा मौजूं कोई और बात नहीं होगी।

नमिता

(नमिता ...)

दलित-चेतना

माता प्रसाद

आज नारी-विमर्श और दलित-चेतना हिन्दी साहित्य में चर्चा के विषय बन गये हैं। साहित्यिक गोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं, साक्षात्कारों, प्रतिवेदनों, सर्वेक्षणों, पुस्तकों, समीक्षाओं में इनकी स्थिति की चर्चा पढ़ने को मिलती रहती है। स्त्री, शूद्र दोनों का साथ प्राचीन काल में भी 'स्त्री शूद्रोनाधीयताम' के साथ था। इनकी शिक्षा पर प्रतिबंध लगा दिया था। आज के युग में भी ये दोनों साथ ही चर्चित हैं। इन दोनों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है।

दलित कौन हैं ? दलितों की जड़ें वैदिक साहित्य की वर्ण-व्यवस्था में मिलती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण आर्यों का कार्य विभाजन था। वर्ण-व्यवस्था बनने के बाद कुछ ऐसे लोग भी तत्कालीन समाज में मिले, जो आर्य जाति के यज्ञों के विरोधी थे और पशुओं को जला कर उनके माँस-भक्षण को पसंद नहीं करते थे। इनको पंचम वर्ण, अवर्ण, अनार्य, दस्यु, दास, चांडाल कहा गया। विद्वानों का विचार है कि यह भारत की मूल निवासी जातियाँ थी, जिन्हें नाग, द्रविण, दैत्य, दानव, अतिशूद्र भी कहा जाता था। 'मनु-स्मृति' तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों में इन्हें गाँव से दूर बसाया जाए, ऐसा कहा गया। इनका कार्य अन्य वर्णों की सेवा करना निर्धारित था। इनका पढ़ना, धन एकत्र करना, स्वच्छ कपड़े पहनना रोक दिया गया। इनके लिए उतरन-वस्त्र पहनने और जूठा भोजन खाने को कहा गया। इनको मार डालने में इतना ही पाप लगने को कहा गया, जितना कौवे, बिल्ली, गधा, शृंगाल, कुत्ते, सूअर आदि जीवधारियों को मारने पर होता था। ब्राह्मण ग्रंथों के इन्हीं आदेशों को उस समय के राजाओं को मानना पड़ता था। इसका प्रमाण रामायण काल में वैश्य शंबूक द्वारा तपस्या करके वर्ण-धर्म के उल्लंघन करने पर उस समय के राजा राम को उसकी हत्या करनी पड़ी और महाभारत काल में एकलव्य भील को राजपुत्रों के साथ द्रोणाचार्य के शिक्षा न देने पर भी उसका हस्त-कौशल देख कर कि कहीं राजकुमारों से कुशल न हो जाए, झूठी गुरुदक्षिणा के नाम पर उसका दाहिना अँगूठा कटवा लिया गया।

मुस्लिम काल में इन्हें अछूत, अंग्रेजी में 'डिप्रेस्ड क्लास' कहा गया। महात्मा गांधी ने इन्हें 'हरिजन' कहा। भारतीय संविधान ने इन्हें अनुसूचित जाति, जनजाति और डॉ0 अंबेडकर ने इन्हें 'दलित' कहा।

'दलित' शब्द का अर्थ विभिन्न शब्दकोषों के आधार पर दबाया गया, गिराया गया, दो खंड किया गया, रौंदा गया, कुचला गया, विदारना, विनष्ट करना आदि मिलता है। 'दलित' शब्द एक इतिहास है। यह दलित समाज का दर्पण है। डॉ0 पुरुषोत्तम सत्य प्रेमी के शब्दों में समता के लिए अस्मितादर्शी, प्रगतिशील समाज के मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षशील लोग ही 'दलित' हैं। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में 'दलित' शब्द भाषावाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद को नकारता है और पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का काम करता है। मेरे विचार से दलित शब्द में सभी पीड़ितों, शोषितों, अपमानितों, नंगों, भूखों, बँधुआ मजदूरों, ईंट के भट्ठे पर काम करने वाली महिलाएँ, कूड़े में बोतल, प्लास्टिक बीनने वाले बच्चे भी आते हैं, किंतु 'दलित' शब्द आज अनुसूचित जातियों, जनजातियों, घूमंतू जातियों, तिरस्कृत और भूतपूर्व अपराधशील जातियों और अस्वच्छ कार्य करने वालों के लिए ही रूढ़ हो गया है।

तेरहवीं सदी के बाद भारत में मुस्लिम सत्ता क़ायम हो गयी। वे एकेश्वरवादी थे। इसका प्रभाव दलितों पर पड़ा। अतिशूद्र का मंदिर में जाकर पूजा करना प्रतिबंधित था। उस काल में तथाकथित निम्न वर्ग के संतों ने जाति-पाँति, ऊँच-नीच के विरुद्ध आवाज़ उठा कर सारे मनुष्यों को बराबर बताया। इनमें संत रविदास, संत कबीर, संत तुकाराम, गुरुनानक व नामदेव आदि की प्रमुख भूमिका थी। इन सभी ने वर्ण-व्यवस्था का खंडन किया। भक्त तो दूसरों के मंदिरों में चढ़ावे पर गुज़र करते थे किंतु संत कुछ कर के खाते थे। ये श्रमण-परंपरा के संत थे। इनके अनुयायी लाखों की संख्या में हो गये। इन संतों ने अपमानितों के मन में आत्मविश्वास जगाने का काम किया। कर्मकांड, मूर्ति-पूजा, पाखंड से अपने अनुयायियों को दूर रखा।

बाद में, जब भारत में अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो गयी, तो अंग्रेजों ने भारत में रहने वाले सभी लोगों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिये। सेना तथा अन्य नौकरियों में सबको भरती होने का अवसर दिया। महात्मा फुले और उनकी पत्नी सावित्री बाई ने स्त्रियों और दलितों के शिक्षा प्राप्त करने को प्रोत्साहन किया। आगे चलकर साहू जी महाराज ने दलित छात्रों को हॉस्टल में रहने की

सुविधा दी। कुछ दलित और ग़रीब छात्रों को उन्होंने छात्रवृत्तियाँ देकर प्रोत्साहित किया। इसके पश्चात् विदेशों से उच्च शिक्षा प्राप्त कर दलित समाज में पैदा हुए बाबा साहब डा0 अंबेडकर भारत आये। उन्होंने 'शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो' का नारा दिया। महाराष्ट्र के महाद के चोवदार तालाब में दलितों के पानी पीने के संघर्ष में भाग लिया। उसमें पानी पीने पर डा0 अंबेडकर को लाठियाँ खानी पड़ीं, वहीं उन्होंने मनु-स्मृति दहन किया और नासिक के कालाराम मंदिर में प्रवेश के लिए उन्हें जूझना पड़ा। इसका दलितों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे अपने ऊपर होने वाले भेद-भाव के विरोध में संघर्ष के लिए तैयार होने लगे। डॉक्टर अंबेडकर ने दलितों की राजनैतिक भागीदारी की लड़ाई भी लड़ी। 1930 में उन्होने लंदन गोलमेज़ सम्मेलन में अन्य राजनैतिक एवं विशिष्ट लोगों के साथ भाग लिया। डॉक्टर अंबेडकर ने दलितों की दुर्दशा दूर करने के लिए भारत के बनने वाले संविधान में दलितों को दोहरा वोट देने की माँग रखी। कांग्रेस ने इसका विरोध किया। अंत में इसका निर्णय ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर रैम्जे मैकनॉल्ड पर छोड़ दिया। अंग्रेज सरकार ने बाबा साहब की माँग मान ली, किंतु इसके विरोध में महात्मा गांधी ने अनशन शुरू कर दिया। 24 सितंबर, 1932 को गांधी-अंबेडकर के बीच 'पूना पैक्ट' हुआ, जिसमें डॉ0 अंबेडकर ने दलितों के दोहरे मतदान की माँग को वापस ले लिया और गांधी जी ने केंद्रीय और प्रांतीय धारा सभाओं, स्थानीय संस्थाओं और सरकारी सेवाओं में आरक्षण के सिद्धांत को मान लिया। डॉ0 अंबेडकर जहाँ राजनीतिक युद्ध लड़ रहे थे, वहीं उन्होंने सामाजिक समानता के प्रतिपादन के लिए कई समाचार-पत्र निकाले और अनेक पुस्तकें लिखीं। इनमें जाति-पाँति और अन्य विषमताओं का विरोध था। यह दलितों में चेतना का सबसे बड़ा कारण बना।

जब भारत का संविधान बनाने की बात आयी तो कांग्रेस ने अपना विरोध त्याग कर, डॉ0 अंबेडकर की योग्यता को देख कर, उनसे भारत का संविधान बनाने का अनुरोध किया। उनको कांग्रेस ने अपनी ओर से संविधान सभा में भेजकर संविधान प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनवाया, साथ ही भारत का क़ानून मंत्री भी। डॉक्टर अंबेडकर ने समता, स्वतंत्रता, न्याय धर्मनिरपेक्षता, बंधुता पर आधारित संविधान बनाया। सरकार से हिन्दू कोड बिल पर कुछ मतभेद के चलते उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और 5 लाख लोगों के साथ 14 अक्तूबर, 1956 ई0 को बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

बाबा साहब द्वारा भारत का संविधान बनाना दलितों में स्वाभिमान भरने का कारण बना। इससे उनमें स्वाभिमान जागा।

बावा साहब के देहावसान के बाद दलितों ने देखा कि हिन्दू धर्म की भेद भाव भरी नीति के विरुद्ध बौद्ध धर्म में समानता की भावना है। ज्यों-ज्यों दलितों में चेतना आ रही है, दलित आत्म-सम्मान के लिए बौद्ध धर्म को अपना रहे हैं। दलित ही नहीं, पिछड़ी जातियाँ भी इधर अग्रसर हैं। देश में बौद्ध मठों के निर्माण हो रहे हैं। बुद्ध जयंती, डॉ0 अंबेडकर के जन्मदिवस और परिनिर्वाण दिवस पर देश के सभी भागों में समारोह आयोजित होते हैं, उनमें हज़ारों दलित बौद्ध धर्म अपना रहे हैं। बौद्ध धर्म अपनाने के बाद उनमें हीनता की भावना समाप्त हो रही है।

देश की स्वतंत्रता के पश्चात् बहुत बड़ी संख्या में दलितों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। उनमें बहुत से लोग नौकरियों में गये। उनमें स्वाभिमान की भावना की तड़पन थी। बाबा साहब के देहावसान के बाद उनके अनुयायी 'दलित पैंथर' के संघर्ष का प्रभाव भी लोगों पर पड़ा। इसलिए, कुछ नौकरीपेशा और कुछ समाज-सेवा करने वाले दलित बुद्धिजीवियों ने लेखन द्वारा अपने भावों को व्यक्त करना आरंभ किया। संत रविदास, संत कबीर की वाणियों से भी उन्हें प्रेरणा मिली। प्रतिदिन के भेदभाव, अपमान, उत्पीड़न की छटपटाहट के साथ शंबूक और एकलव्य के साथ अन्याय की कसक भी उनके मन में थी। डॉक्टर अंबेडकर का अन्याय से लड़ने का संघर्ष उनके सामने था। इन्हीं सब प्रेरणाओं से दलित-साहित्य लेखन का आरंभ हुआ। दलित-साहित्य में जाति-पाँति का विरोध, भाग्य, भगवान, पुनर्जन्म, अवतारवाद, अंधविश्वास, कर्मकांड का विरोध किया जाता है। तथाकथित धार्मिक ग्रंथों की बातों को विज्ञान और तर्क की कसौटी पर तौला जाता है। परंपरागत बातों को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया जाता है। दलित-साहित्य सामाजिक विषमता के विरुद्ध एक आंदोलन है। इसका उद्देश्य समानता, स्वतंत्रता, लोकतंत्र, न्याय और बंधुता है। परंपरा का आँख मूँद कर पालन न करने के कारण ही कुछ स्थापित साहित्यकार, दलित-साहित्य को अलगाववादी साहित्य कहते हैं, जो सही नहीं है। वास्तव में, दलित-साहित्य लिंग-भेद, रंग-भेद धर्म-भेद और जाति-भेद का विरोधी तथा राष्ट्रीय एकता का समर्थक है।

हिन्दी में दलित-साहित्य का आरंभ 1914 ई0 में स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' की ग़ज़लों से शुरू हुआ। सन् 1960 ई0 से दलित-साहित्य की रचना तेज़ हुई। 2000 ई0 तक आते-आते दलित-साहित्य अपनी पहचान रखने लगा। साहित्य की सभी विधाओं—काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, आत्मकथा, जीवन-चरित, शोध-ग्रंथ, वैचारिक निबंध, पत्रकारिता के क्षेत्र में अब अनेक रचनाएँ आ चुकी हैं, स्थानाभाव से उनका विवरण देना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए कुछ दलित पत्रिकाओं के नाम दिये जा रहे हैं—'अश्वस्त', मासिक उज्जैन; 'तीसरा पक्ष' त्रैमासिक, जबलपुर; 'अपेक्षा', त्रैमासिक (समीक्षा) नई दिल्ली; 'गरि... 'दलित टूडे', गाज़ियाबाद; 'बयान' मासिक, नई दिल्ली; 'पूर्वदे... भारती', लखनऊ; 'अंबेडकर इन इंडिया' कुशीनगर; 'निर्णायक भीम' मासिक, उज्जैन; 'हम दलित', मासिक, दिल्ली; 'नागसेन', चन्द्र... जालंधर; 'दलित साहित्य वार्षिकी', नई दिल्ली;

महाराष्ट्र उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त दो दर्जन, ग़ैर-दलित पत्रिकाओं ने दलित-साहित्य पर अपने विशेषांक निकाल कर दलित-चेतना को जगाने में प्रशंसनीय योगदान किया है। इस प्रकार, दलित-साहित्य की कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और पत्र-पत्रिकाओं ने दलित-समाज के शूद्रजीवी वर्ग में चेतना जागृत करने में बड़ा सहयोग दिया है।

राजनैतिक आरक्षण से जागृति

भारतीय संविधान में सभी को एक समान मतदान के अधिकार को दलित-समाज एक हथियार के रूप मे प्रयोग करता है। इसके कारण उसके दरवाज़े पर लोग वोट माँगने जाते हैं, इसमें वह अपना सम्मान समझता है। प्रायः सभी दलित अपने मतदान का प्रयोग करते हैं। लोकसभा और विधानसभाओं में दलितों के लिए आरक्षण होने से उनके समाज के कुछ लोग सांसद, विधायक और कुछ मंत्री, उपमंत्री भी बन जाते हैं। इससे दलितों का मनोबल बढ़ा है। उत्तर प्रदेश में दलित मुख्यमंत्री होने से वह अपने में गर्व महसूस करते हैं। पंचायत राज और स्थानीय निकायों में आरक्षण से उन्हें गाँव, ब्लाक, जिला पंचायत के सदस्य और अध्यक्ष तथा नगर क्षेत्र, नगर निगम में पार्षद और चेयरमैन और मेयर बनने के अवसर मिल जाने से साधारण दलित भी गौरवान्वित हैं। इससे दलितों की हीनता दूर हो रही हैं, वे अपने को सम्मानित समझते हैं। दलित-चेतना में इन्का अधिक सहयोग है।

आर्थिक आरक्षण से जागृति

सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जातियों, जनजातियों को आरक्षण की सुविधा होने से केंद्र और राज्यों की सरकारी सेवाओं में पर्याप्त संख्या में दलितों को स्थान मिला है। अब प्रथम श्रेणी से लेकर चतुर्थ श्रेणी तक की नौकरियों में सर्वत्र दलित अधिकारी-कर्मचारी मिल जाते हैं। यद्यपि, प्रथम और द्वितीय श्रेणी में अब भी इनका आरक्षण पूरा नहीं है, फिर भी इनकी संख्या पर्याप्त है। यह बुद्धिजीवी वर्ग है। इनकी आर्थिक दशा में सुधार हुआ है। दलित-समाज की चेतना में ये बुद्धिजीवी बड़े सहायक हैं। कुछ अर्द्ध सरकारी सेवाओं में भी इनको नियुक्ति मिली है। कुछ ग़ैर-सरकारी संस्थानों में दलित छात्रों को प्रवेश में आरक्षण की सुविधा मिलने से इस समाज को सेवाओं में अधिक अवसर मिल रहा है, इससे इनमें चेतना आने से ये अनपढ़ व ग़रीब दलित-समाज के मार्गदर्शक भी हैं।

कुछ संगठनों द्वारा चेतना जगाने का प्रयास

कुछ जातीय संगठन भी इस समाज में सामाजिक-राजनीतिक चेतना भरने का काम कर रहे हैं, लेकिन 'वामसेफ' ने इस समाज में सामाजिक समानता की भावना का अपूर्व प्रयास किया है। यह पिछड़ी जाति, अनुसूचित जाति, अल्पसंख्यक और धर्म परिवर्तित अधिकारियों-कर्मचारियों का अराजनैतिक संगठन है, जो आर्थिक सहयोग करके दलित, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को अपनी तर्कपूर्ण बातों से समझा कर आगे बढ़ाने का प्रयास कर रहा है। यह उन्हें एक मंच पर इकट्ठा कर सामाजिक परिवर्तन की बात करता है। स्व0 कांशीराम और सुश्री मायावती को 'वामसेफ' के कारण ही आगे बढ़ने का अवसर मिला है।

इसमें संदेह नहीं कि डॉक्टर अंबेडकर दलितों में चेतना को प्रवाहित करने वाले रहे हैं किंतु कांग्रेस की भूमिका भी इसमें महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतीय संविधान में दलितों को दी गयी सुविधाओं के कार्यान्वयन का अवसर इसी दल को मिला। इसी के समय में बने क़ानूनों ज़मींदारी विनाश, सीलिंग की भूमिका निकालना, ग्राम समाज की भूमि का वितरण, दलितों को आवास स्थल आवंटन, इंदिरा आवास योजना, पेयजल योजनाएँ, दलित बस्तियों में विद्युतीकरण, अस्पृश्यता-निवारण, दलित उत्पीड़न रोकने के लिए एस.सी. एस.टी. एक्ट 1989 ई0, न्यूनतम मज़दूरी क़ानून, ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना आदि से दलितों को बड़ा लाभ मिला है, इसलिए, दलित-चेतना बढ़ाने में कांग्रेस का योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता।

ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों की स्थिति अच्छी नहीं है। इनमें अब भी शिक्षा का अभाव है। इन्हें मजदूरी कम दी जाती है। इनके साथ छुआ-छूत और उत्पीड़न अब भी होता है। इनके दर्द की दास्तान मीडिया के माध्यम से सार्वजनिक हो जाती है। इससे इनमें अन्याय के विरुद्ध लड़ने की भावना पैदा हो रही हैं। इसलिए, प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया भी दलित-चेतना जगाने में सहायक हो रहे हैं।

पूर्व राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश

रचनाकारों के लिए

1. **रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।**
2. **रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।**

वर्ग और वर्ण : संदर्भ–दलित-विमर्श

शिवकुमार मिश्र

वर्ग और वर्ण का सवाल दलित-विमर्श से जुड़ा एक गंभीर और ज़रूरी सवाल है। इसे विडंबना ही कहेंगे कि विमर्श के क्रम में विचलित होकर यह सवाल मार्क्स बनाम आंबेडकर-विवाद में बदलते हुए और भी उलझ गया है। भारत की सामाजिक संरचना, जैसाकि वह है, वह बुनियादी तौर पर बदले–इस बात को लेकर मार्क्सवादियों और दलित रचनाकार-बुद्धिजीवियों में कहीं कोई मतभेद नहीं है। किंतु, सामाजिक वास्तविकता जैसी है, उसके संदर्भ में विमर्श के क्रम में कुछ ऐसे बिंदु उभर आये हैं कि समाज के बुनियादी रूपांतरण पर उनकी सहमति पृष्ठभूमि में चली जाती है और दलित बुद्धिजीवी-रचनाकार तथा मार्क्सवादी एक दूसरे के प्रतिपक्षी लगने लगते हैं। ऐसी स्थिति में ज़रूरी हो जाता है कि वर्ग और वर्ण की गुत्थी को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाए और विमर्श को विपरीत होने से बचाया जाए।

वर्ग और वर्ण के सवाल पर–जिसके अपने आर्थिक-राजनीतिक तथा सामाजिक संदर्भ हैं–अब तक काफ़ी कुछ लिखा और कहा जा चुका है, मार्क्सवाद के नज़रिये से भी, और उस नज़रिये से भी, जिसे आंबेडकरवाद कहते हैं। दलित बुद्धिजीवियों में ऐसे बुद्धिजीवी भी हैं, जो इस सवाल को मार्क्सवाद बनाम आंबेउकरवाद के नज़रिये से नहीं देखते। इसके विपरीत, मार्क्सवाद और आंबेडकरवाद के साहचर्य में उसे देखने-समझने की सिफ़ारिश करते हैं। वे मार्क्स और आंबेडकर में प्रतिद्वंद्विता नहीं एकता के हामी हैं। संप्रति, इस मुद्दे पर अब तक जो विमर्श हो चुका है, उसे न दुहराकर, हम उसे एक दूसरे कोण से, यथार्थ-अनुभवों के संदर्भ में देखने का यत्न करेंगे। संभव है, विचारों की इस उधेड़बुन के बरअक्स हम कुछ ऐसे सूत्र पा सकें, जो इस गुत्थी को समझने -सुलझाने में हमारे मददगार हों।

इसके पहले कि हम वैचारिक उधेड़बुन को विशद करें, हमें यह बात अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि मार्क्स का दर्शन एक विश्व-दर्शन है। मार्क्स ने जब दुनिया के समाजों या समाज के इतिहास को वर्ग-विभक्त समाजों या वर्ग-विभक्त समाज का इतिहास कहा था, उनके सामने निश्चय ही वैश्विक समाज थे, जिनमें उन्होंने वर्गों की बुनियादी स्थिति देखी और समझी थी–वर्गहीन समाज की बात की थी। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, भारत शायद, दुनिया का अकेला देश है, जहाँ समाज, विकास की एक मंज़िल के बाद वर्ग के अलावा वर्ण में भी बँटा। भारतीय समाज की इस वर्ण-व्यवस्था ने निश्चय ही स्थिति को और भी जटिल बना दिया। वर्ण-व्यवस्था भी शनैः शनैः अधिक कठोर होती गयी। आरंभिक चार वर्णों के अलावा पंचम वर्ण भी सामने आया, अस्पृश्य और अंत्यज सामने आये। कर्म और श्रम के आधार पर हुआ विभाजन जन्म के आधार पर स्थिर हो गया। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस अमानवीय सोच और उससे उपजी स्थिति का ही परिणाम है कि करोड़ों-करोड़ देशवासियों को अभिशक्त जीवन जीने की नियति मिली। समय आगे बढ़ता गया है, परंतु वर्ग-वर्ण का मुद्दा पहेली ही बना हुआ है, स्थिति में बुनियादी तौर पर कोई बदलाव नहीं हुआ है।

अब आएँ, अपनी विचारगत उधेड़बुन पर, प्रश्न को यथार्थ अनुभवों के बीच से देखें। संत कबीर का एक पद है :

"कुम्हरा एक कमाई माटी, बहुविध जुगति बनाई।
एकनि में मुक्ताहल मोती, एकनि व्याधि लगाई।
एकनि दीन्हा पाट-पटंबर, एकनि सेज निवारा।
एकनि दीन्हें गद्दे-गद्दी, एकनि सेज पयारा।
निरधन-सरधन दोनों भाई, प्रभु की कला न मेटी जाई।
कह कबीर निरधन है सोई, जाके हिरदे नाम न होई।।

यह पद कबीर का एक अनूठा पद है। इस पद में वे वर्ण के बजाय आर्थिक वर्ग-विषमता को उभारते हैं। यही नहीं, इस आर्थिक वैषम्य को वे प्रभु की लीला कहते हैं, जिसे मेटा नहीं जा सकता। अमीर और ग़रीब उनके इस पद में भाई-भाई हैं। और तो और, उनका कहना यह भी है कि ग़रीब अपनी भौतिक विपन्नता को लेकर परेशान न हों, ग़रीबी-अमीरी का संबंध तो राम-नाम रूपी धन से है। वास्तव में ग़रीब तो वह है, जो इस राम-नाम के धन से वंचित है। कहने की ज़रूरत नहीं कि कबीर का यह निष्कर्ष पहली नज़र में बेहद परेशान करने वाला, उनके समाज-दर्शन का एक अंतर्विरोध लगता है। इस नाते कि जो कबीर मनुष्य-मात्र को एक ही मिट्टी से रचा-सिरजा मानते हैं, वर्ण, धर्म, संप्रदाय, सारे भेदों को समाज-कृत कहते हैं, वे कबीर इस पद में अमीरी-ग़रीबी के भेद को, अमीर-ग़रीब की स्थिति को प्रभु की लीला बताते हैं।

भावना के प्रवाह में न बहकर, आइए, इस पद में कबीर का जो तीव सामने आया है, उसके स्रोत को तलाशें।

मेरे विचार से गहराई पर जाकर सोचने से कबीर का उक्त पद वर्ग और वर्ण से जुड़ी एक ऐसी वास्तविकता को भी उभारता है जिसके बरअक्स वर्ग और वर्ण की गुत्थी को सुलझा सकने की राह भी मिलती है। सवाल है कि वह कौन-सी बात है, जो आदमी को सबसे अधिक दंश देती या चुभती है। यथार्थ अनुभव बताते हैं कि आदमी को सर्वाधिक दंश तभी होता है, जब उसमें और दूसरे में उन कारणों के तहत फ़र्क़ किया जाता है, जिनमें उसका कोई भी वश नहीं है। भूख और बीमारी वे बातें है जो फ़र्क़ नहीं करतीं—सबको समान यातना देती हैं—अमीर-ग़रीब सबके लिए इनका अनुभव एक जैसा है। यही बात अमीरी-ग़रीबी के लिए भी कही जा सकती है। मेहनत और उद्योग के बल पर कोई भी संपन्न हो सकता है और आलस और निकम्मापन किसी को भी दरिद्र बना सकता है। जन्म से हीन होते हुए भी कबीर आर्थिक दृष्टि से तुलसीदास से बेहतर थे, क्योंकि वे कामगार थे। तुलसी की तरह वे दरवाज़े-दरवाज़े भीख माँगने नहीं गये। अमीर-ग़रीब कोई भी हो सकता है—यही वह बात है, जो कबीर को आर्थिक-विषमता के संदर्भ में परेशान या विचलित नहीं करती। कबीर अपने समय में ही देख रहे थे कि वर्ण-व्यवस्था में ऊँची हैसियत वाले, भले ही वे निकम्मे, कंगाल, अपाहिज़, परजीवी हों, समाज में अपनी ऊँची हैसियत के नाते स्वीकार्य और मान्य हैं। ब्राह्मण भिखारी होकर भी 'भू-सुर' है, आदर और श्रद्धा से भीख पाता है और समाज में जो निम्न वर्ण के, नीची हैसियत के लोग हैं, आत्मनिर्भर, कर्मठ, और संपन्न होते हुए भी इस नाते हेय माने जाते हैं कि उनकी हैसियत नीची है। उनकी मेहनत, उद्यम आदि की कोई क़द्र नहीं है। आर्थिक वैषम्य भले ही भेद न करता हो, समाज की वर्ण-व्यवस्था उन्हें बाँटती और अलग-अलग करती है। वस्तुतः यही कारण है कि कबीर आर्थिक विषमता पर नहीं, सामाजिक वर्णगत वैषम्य पर वज्र प्रहार करते हैं। कबीर का अनुभव हमारे समय का भी अनुभव है। इसे विडंबना ही कहेंगे कि आत्मनिर्भर, उद्यमी, सुशिक्षित और संपन्न होने पर भी समाज में नीची हैसियत के समझे जाने वालों में तमाम अपनी जाति छिपाने, अपने वर्ण को सामने न लाने को विवश होते हैं। मराठी दलित लेखक बाबूराव बागुल की ही एक ख्यात कहानी है—'जब मैंने अपनी जाति छिपाई'।

मार्क्स का वर्ग-चिंतन वैश्विक संदर्भ का चिंतन है, परंतु भारत वर्गों के साथ वर्णों में बँटा देश भी है। ज़रूरी है कि भारत की इस वर्णगत वास्तविकता को ध्यान में रखा जाए, उसे हाशिये की चीज़ न माना जाए। हमारे यहाँ अभी वे शक्तियाँ हैं, जो वर्ण-व्यवस्था को सतातनता देना चाहती हैं। उनसे मिला-जुला, एक-जुट संघर्ष ज़रूरी है। वर्णहीन समाज में वर्ण-भेद नहीं रहेगा, परंतु वर्गहीन समाज के लिए चल रहे संघर्ष में वर्ण-विषमता की वास्तविकता के ख़िलाफ़ संघर्ष भी शामिल रहे, भारतीय समाज के संदर्भ में यह ज़रूरी है। मार्क्स और आंबेडकर दोनों के एकात्म में ही इस संघर्ष को आकांक्षित परिणति तक पहुँचाया जा सकता है।

कबीर का कहा उनके अपने अनुभवों से उपजा सत्य है। कबीर के आध्यात्मिक मंतव्य की बात अलग, उनका राम-धन उनके संतत्त्व की देन है। हम उनके इस आशय को समझें, जिसके तहत वे आर्थिक-वैषम्य पर प्रहार नहीं करते।

17-ए, मानसरोवर पार्क, वल्लभ विद्यानगर-388120 (गुजरात)

बाँदा की शबरी संस्था द्वारा तृतीय प्रेमचंद स्मृति कथा सम्मान हेतु कहानी व कहानी-संग्रह, जो पिछले तीन वर्षों में प्रकाशित हों, तीन प्रतियों में कथाकारों, प्रकाशकों व उनके शुभचिंतकों से आमंत्रित किये जाते हैं। उन्हीं कहानी व कहानी-संग्रहों पर विचार किया जाएगा, जो प्रेमचंद के लेखन की परंपरा के होंगे। प्रविष्टियाँ प्राप्त करने की अंतिम तिथि 31 मई है।

यह पुरस्कार हिन्दी कहानी के लिए है। इस सम्मान में पुरस्कार राशि रु0 11000/- है। इस वर्ष यह पुरस्कार-समारोह प्रेमचंद की पुण्यतिथि पर बाँदा में आयोजित होगा।

मयंक खरे

ए-56, इंदिरा नगर, टेलीफोन ऑफ़िस के सामने बाँदा (उ0प्र0) 210001

नव पूँजीवाद और दलित-उत्थान की अवधारणा

(चंद्रभान प्रसाद का कल्पना-लोक)

गिरीश मिश्र

आज जब भूमंडलीय पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट से गुज़र रहा है, तब भी हमारे यहाँ कई लोग हैं, जिनका उसमें असीम विश्वास है। वे मानते हैं कि न उसका कोई विकल्प है और न ही उसके धराशायी होने का कोई ख़तरा। ऐसे ही लोगों में एक हैं—श्री चंद्रभान प्रसाद। वे एक तेज़-तर्रार पत्रकार हैं, जो हिन्दी और अंग्रेजी—दोनों में लिखते हैं। उनसे कई राजनीतिक नेता अच्छे ख़ासे प्रभावित हैं, इनमें कांग्रेस के दिग्विजय सिंह और लोजपा के रामविलास पासवान प्रमुख हैं। उन्हें ही नहीं, बल्कि संघ-परिवार के नेताओं और अमेरिकियों तक को भी विश्वास है कि चंद्रभान जी का दलितों पर अच्छा ख़ासा असर है। कई साहित्यकार और संपादक उन्हें दलित-चेतना का सशक्त प्रतिनिधि मानते हैं। अभी हाल में, वे प्रवासी दलितों-अपसंख्यकों की एक बैठक को संबोधित करने अमेरिका गये थे।

उनके व्यक्तित्त्व और विचारों पर केंद्रित एक लंबा विवरण 'न्यूयार्क टाइम्स' के 30 अगस्त के अंक में छपा है, जिसमें लिखा है भारत में इस पत्र के लिए कार्यरत सोमिनी सेनगुप्त ने। इसका शीर्षक है—'क्रुसेडर सीज़ वेल्थ ऐज़ क्योर फ़ॉर इंडिया कास्ट बायस' (जेहादी संपदा को भारत में जातीय पक्षपात की दवा मानता है)। यही लेख अख़बार के भूमंडलीय संस्करण 'इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून' के सितंबर एक के अंक में भी छपा है। 'ट्रिब्यून' अब हैदराबाद से मुद्रित होकर हर सुबह भारत में बँटता है। 'ट्रिब्यून' ने विवरण को तो ज्यों का त्यों रखा है, मगर शीर्षक नया दिया है—'इवन अनटच्चैबुल्स गेट ऐ टेस्ट ऑफ़ द न्यू इंडिया : इकॉनमिक ग्रोथ शैटर्स कास्ट ऑर्डर' (अछूतों को भी नये भारत का स्वाद मिल रहा है : आर्थिक संवृद्धि जाति-व्यवस्था को तहस-नहस कर रही है)।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार चंद्रभान जी मानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के वर्तमान भूमंडलीय स्वरूप के साथ आत्मसात् कर दलित अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति को बेहतर बना सकते हैं और युगों पुराने अपने उत्पीड़न, शोषण और उपेक्षा की स्थिति पर पार पा अपनी सामाजिक हैसियत ऊँचा करने के साथ ही शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से ऊपर उठकर ग़ैर-दलितों की कतार में शामिल हो सकते हैं।

सेनगुप्त के अनुसार चंद्रभान जी जब भी अपने पूर्वजों के गाँव गड्डोपुर (आज़मगढ़) जाते हैं, तब अपनी बिरादरी वालों को सलाह देते हैं कि वे अपनी ज़मीन-जायदाद, माल-मवेशी आदि बेच गाँव को अलविदा कह शहरों में जा बसें। गहनों या ज़मीन में निवेश करने के बदले बच्चों की पढ़ाई पर खर्च करें। उनका मानना है कि 'शहर' और 'भारत का नव पूँजीवाद' दलितों को उनके उद्धार की ओर ले जाएँगे।

चंद्रभान जी, जो अपने जीवन के चौथे दशक में हैं, कहते हैं कि वे कभी माओवादी थे और हमेशा पिस्तौल लेकर चलते थे और भूपतियों को मारने के लिए अपने शागिर्दों को उकसाते थे। उनका यह विचार 1991 में तब बदला, जब वे तत्कालीन वित्तमंत्री डा0 मनमोहन सिंह द्वारा चलाये गये उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण पर आधारित आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप उदित नव पूँजीवाद के कायल हो गये। उनके अनुसार, नव पूँजीवाद ने उनके अपनों, यानी दलितों को 'भूख एवं तिरस्कार से मुक्ति' का मार्ग दिखलाया है।

वे सरकार द्वारा चलाये जा रहे परंपरागत कल्याणकारी कार्यक्रमों को संरक्षणात्मक कह दरकिनार कर देते हैं। वे आरक्षण की नीति को सही, मगर नाकाफ़ी मानते हैं, क्योंकि उसका फ़ायदा थोड़े से लोगों को, वह भी, धीमी गति से मिलेगा। वे समाजवादियों और वामपंथियों से चिढ़ते हैं, क्योंकि "उनके मन में उन लोगों के लिए घृणा है, जो सुखी हैं।" इस प्रकार, सेनगुप्त को वे दक्षिणपंथियों के साथ खड़े दिखते हैं। उनके अनुसार, देश में 20 करोड़ दलित हैं, जो मुख्यतया अशिक्षित, कुपोषित और ग़रीब हैं। शहर हो या गाँव, दूसरे लोग उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। पिछले छह दशकों के दौरान् विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों और आरक्षण के परिणामस्वरूप दलितों की दशा में क्या बदलाव आया है, इसको जानने के लिए चंद्रभान जी क़रीब 20 हज़ार दलित परिवारों का सर्वेक्षण करा रहे हैं। विशेष रूप से 1991 में शुरू हुए आर्थिक उदारीकरण के परिणामस्वरूप उनके दैनिक जीवन में हुए परिवर्तनों को मापना चाहते हैं। इस सर्वेक्षण का वित्तपोषण पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय कर रहा है।

जो भी प्रारंभिक नतीजे सामने आये हैं, उनके अनुसार

अपने परंपरागत धंधे छोड़ नये धंधों को अपना रहे हैं, जिससे सामाजिक स्थिति बेहतर दिख रही है। 1990 में जहाँ सिर्फ़ प्रतिशत दलित दूल्हे ही शादी करने मोटरगाड़ियों से गये वहीं लगभग सारे कारों में जाते हैं। पहले उच्च जाति वाले, दलित को घोड़े पर भी नहीं जाने देते थे। इस बदलाव के पीछे मुख्य अर्थ-व्यवस्था का उत्कर्ष है।

अब थोड़ी गंभीरता से उनके दावों को देखें। आज जिस वे भारत के 'नव पूँजीवाद' को दलितों का मुक्तिदाता मान हैं, वैसे ही आज से क़रीब एक सदी पहले दलितों, विशेषकर जाति के लोगों ने माना था कि अपने को येन-केन-प्रकारेण जातियों का होना साबित करने से ही उनकी सामाजिक और फिर आर्थिक दशा सुधरेगी। उत्तर-प्रदेश में ऐसी कें लिखी और छापी गयीं, जिनमें पासी लोगों को पूर्वकाल में बतलाया गया। बिहार में पासी लोगों ने अपने को 'उर्ध्वगामी ण' कहा, क्योंकि वे ताड़ के पेड़ पर चढ़ते और ताड़ी लाकर ते थे। सर्वविदित है कि इस अभियान से उनकी स्थिति में कोई नहीं हुआ।

आज अगर दलित अपनी नाममात्र की ग्रामीण संपत्ति बेच में जाते हैं, तो उनमें से चंद लोगों को छोड़ शेष मलिन यों में रहने और मज़दूरी कर जीविका चलाने को मजबूर होंगे, कि उन्हें अपने पास चल-अचल संपत्ति के अभाव में, री-गैर-सरकारी, किसी भी स्रोत से वित्तीय साधन प्राप्त नहीं और न ही अपेक्षित आधुनिक शिक्षण-प्रशिक्षण एवं कौशल के में उन्हें या उनके बच्चों को उच्च वेतन वाले रोज़गार के मिल सकेंगे। मलिन बस्तियों में व्याप्त सांस्कृतिक वातावरण न पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, जिसकी एक झलक जगदंबा द दीक्षित के 'मुर्दाघर' में दिखती है।

उधर गाँवों से सब कुछ बेचकर शहर आने पर वही प्रक्रिया यी जाएगी, जो अठारहवीं सदी के इंग्लैन्ड में दिखी थी। ोज़र मूवमेंट' के आधार पर किसानों को बेदखल करने से ज़मीन की चकबंदी से बड़े फ़ार्म बनाये गये। उधर भूमिहीन नों की भीड़ शहरों में पहुँची, जिससे नव स्थापित उद्योगों को श्रम मिला। वहाँ जो काम ज़ोर-ज़बरदस्ती से हुआ, वही यहाँ न जी जैसे लोग छोटे और सीमांत खेतिहरों को बहला-फुसला 'नव पूँजीवाद' के संभावित फ़ायदों का सब्ज़बाग दिखलाकर चाहते हैं। इस प्रकार, वे 'आदिम संचय' की प्रक्रिया को कराना चाहते हैं। सब जानते हैं कि 'कान्ट्रैक्ट फ़ार्मिंग' और के लिए ज़मीन प्राप्त करने की मुहिम में उद्योगपतियों को जी मददगार साबित होंगे। अगर, वे सचमुच दलितों का चाहते हैं, तो उन्हें गाँवों में रहकर दलितों की सहकारी खेती नके द्वारा सहकारी उद्योग की स्थापना का प्रयास करना । दलितों के लिए शैक्षिक संस्थानों की स्थापना में भी जुटना चाहिए। चूँकि, ये कार्य रचनात्मक हैं और इनमें क्रांतिकारी लफ़्फ़ाजी के लिए कोई ख़ास जगह नहीं है, इसलिए उनका इनके प्रति आकर्षण नहीं है।

लगता है, चंद्रमान प्रसाद पर वह मिथक हावी है, जिसे 'अमेरिकी सपना' कहते हैं। इसके अंतर्गत कोई भी व्यक्ति परिश्रम, साहस और दृढ़ निश्चय के बल पर पूँजीवादी व्यवस्था में निरंतर समृद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ता जाएगा। वह अपने और अपने परिवार के लिए धन, सम्मान और बेहतर जीवन प्राप्त कर पाएगा। सदियों से इसी सपने के अंतर्गत पारिवारिक पृष्ठभूमि और समाज के शीर्षस्थ लोगों के संरक्षण का अभाव आड़े नहीं आते।

जब से नव उदारवादी भूमंडलीकरण का दौर आरंभ हुआ है, तब से चंद्रभान प्रसाद जैसे अमेरिकी सपने के सौदागर काफ़ी सक्रिय हैं और दलितों को उसकी शरण में जाने को प्रेरित कर रहे हैं। उन्हें आरक्षण और सरकार द्वारा संचालित कल्याणकारी कार्यक्रमों पर निर्भरता छोड़ शहरों में जा नव उदारवादी भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में शामिल हो जाना चाहिए।

अनेक अमेरिकी साहित्यकारों ने इस सपने को छलावा बतलाया है। थियोडोर ड्राइजर ने 1925 में प्रकाशित उपन्यास 'एन अमेरिकन ट्रैजेडी' में दिखलाया है कि किस प्रकार नायक इस मिथक को सच मान अपनी मेहनत और लगन के बल पर आगे बढ़ने की कोशिश करता है। वह अपने संघर्ष के दौरान् जो देखता, सुनता, अनुभव करता है, उससे उसका भ्रम टूट जाता है और वह अनैतिक और आपराधिक कृत्यों की दुनिया में चला जाता है।

अर्थशास्त्री जोसेफ़ स्टिग्लिट्ज अमेरिकी सपने को एक मृग-मरीचिका मानते हैं, क्योंकि बिरले ही कोई व्यक्ति मात्र अपनी प्रतिभा, श्रम और कार्यक्षमता के सहारे उच्च सामाजिक-आर्थिक सोपानों पर पहुँच सकता है। आर्थर मिलर ने अपने नाटक 'डेथ ऑफ़ ए सेल्समैन' में इसी तथ्य को रेखांकित किया है।

आज अपने यहाँ शहरों में अच्छी उच्च शिक्षा की बात छोड़ें, प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना भी ग़रीब बच्चों के लिए आसान नहीं है। यह अकारण नहीं है कि हम नयी दिल्ली में सैकड़ों बच्चों को सुबह स्कूल जाने के बदले कूड़ा बटोरते और दिन में शनि या किसी अन्य देवता के नाम पर भीख माँगते देखते हैं। पेट की भूख शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता को पीछे धकेल देती है। कई बच्चों को कुछ वर्षों बाद ही माँ-बाप स्कूल से हटाने को मज़बूर हो जाते हैं। इस माहौल में कारनेगी या रॉक फेल्लर वनने की कौन कहे, यदि वे छोटे-मोटे कारीगर बन जाएँ, तो बड़ी उपलब्धि होगी।

अमेरिका हो या भारत, चंद लोग भले ही अपनी योग्यता के बल पर ऊपर उठ सकते हैं, मगर यह अपवाद पारिवारिक पृष्ठभूमि, भाई-भतीजावाद, जाति और धर्म की अहम भूमिका आदि को दरकिनार नहीं करता। साहित्यकार सॉल बेल्लो के पुत्र एडम बेल्लो की पुस्तक 'इन डिफ़ेंस ऑफ़ निपोटिज्म' में अमेरिकी समाज के

अंतर्गत ऊपर बढ़ने के लिए पारिवारिक पृष्ठभूमि और बड़े लोगों के साथ जुड़ाव को सफलता का एक बड़ा कारक मानते हुए उचित ठहराया गया है।

आज हमारे देश में राजनीतिक विचारधारा नहीं, बल्कि जाति, क्षेत्र, धर्म और पारिवारिक संबंध हर प्रकार के समर्थन जुटाने तथा संरक्षण एवं प्रतिफल बाँटने के आधार बन गये हैं। यह बात शहरों में अधिक स्पष्ट दिखती है।

कहना न होगा कि 1991 से नव पूँजीवाद अपने साथ जो समृद्धि लेकर आया है, उसका फ़ायदा मुख्य रूप से मुट्ठी भर लोगों को मिला है। अन्य लोगों को जो लाभ पहुँचा है, उसे अर्थशास्त्र में 'ट्रिकल डाउन प्रभाव' परिणाम कहते हैं। अर्थशास्त्री गालब्रेथ के शब्दों में कहें, तो जब घोड़ा अधिक दाना खा लेता है, तब उसकी लीद में कुछ अनपचे दाने भी आ जाते हैं, जिनको गौरैया चुनती और खाती है। भले ही वह प्रसन्न हो जाए, मगर इसके साथ हीनता और पराश्रिता की भावना भी आती है। इसी प्रकार, ड्राइवरों, सफ़ाई कर्मचारियों, चौकीदारों, प्लंबरों, बिजलीकर्मियों आदि के रूप में काम मिलना 'ट्रिकल डाउन' का ही परिणाम होता है।

सेनगुप्त के अनुसार, नव पूँजीवाद के साथ नये दलि[त] राजनेताओं का उदय हुआ है, जो अपनी रोटियाँ सेंकने में लगे हैं। भारत की नयी ज्ञान-आधारित अर्थ-व्यवस्था के कारण जो मो[टे] वेतनों और सुविधाओं वाली नौकरियाँ आयी हैं, उनका फ़ायदा उ[च्च] जाति वालों को मिला है, जो अपने बच्चों को नये कौशलों से यु[क्त] कराने में सक्षम हैं। कुछ समय पहले, पत्रकारिता के क्षेत्र में सर्वे[क्षण] ने यह तथ्य उजागर किया है कि दलितों और पिछड़ी जाति वा[लों] का वहाँ अनुपात अत्यंत कम है। आज भी नौकरियों के लिए हो[ने] वाले साक्षात्कार में उम्मीदवार की जाति की भूमिका पर ध्यान दि[या] जाता है।

कहना न होगा कि संपत्ति-संबंधों को बदले बिना वंचितों [को] समाज में उचित स्थान और अधिकार नहीं मिल सकता और [न] चंद्रभान प्रसाद अपने कल्पना लोक को यथार्थ के धरातल प[र ला] सकते।

एम- 112, साकेत, नयी दिल्ली-11[0017]

मलखान सिंह सिसोदिया कविता पुरस्कार-2009

हेतु प्रविष्टियाँ आमंत्रित हैं।

नियमावली :

1. पुरस्कार की राशि रु0 10 हजार होगी।
2. वर्ष 2009 के पुरस्कार हेतु 31 मई 2009 तक प्राप्त प्रविष्टियाँ ही मान्य होंगी।
3. 31 मई, 2009 को 50 वर्ष की आयु तक के रचनाकार ही इस पुरस्कार के लिए मान्य होंगे।
4. पुरस्कार हेतु काव्य कृति/ कविता संग्रह का प्रकाशन 31 मई, 2004 के उपरांत हुआ हो।
5. काव्य कृति/कविता संग्रह की चार प्रतियाँ कवि के संक्षिप्त परिचय के साथ 'वर्तमान साहित्य' के संपादकीय पते पर भे[जी] जायें।
6. कविता की मूल भावना जनोन्मुखी एवं धर्म निरपेक्ष हो।
7. पुरस्कार हेतु समिति चुनी गयी काव्य कृतियाँ/ कविता संग्रह तीन सदस्यीय निर्णायक मंडल को भेजी / भेजें जायेंगी।
8. निर्णायक मंडल के अभिमत के आधार पर पुरस्कार की घोषणा यथासंभव सितंबर, 2009 तक कर दी जायेगी।
9. निर्णायक मंडल का अभिमत अंतिम एवं मान्य होगा।

संपादक

वर्तमान साहित्य

28-एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़

Fax : 0571-2742038

E-mail : vartmansahitya@gmail.com, vartmansahitya@yahoo.com

"दलित साहित्यकारों को विद्रोह का झंडा फहराना चाहिए"

(दलित साहित्य सम्मेलन, मुंबई 1987)

गं.बा. सरदार

दलित मुक्ति आंदोलन के सांस्कृतिक विभाग का दलित साहित्य में महात्त्वपूर्ण स्थान है; दलित मुक्ति आंदोलन की शक्ति मूलतः उसके सांस्कृतिक विभाग में ही है। डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने दलित आंदोलन को प्रारंभ किया, उनकी तत्वप्रणाली का आधार लेकर ही साहित्य में पद, पोवाडा, कथा, लेख आदि का निर्माण होता रहा है। इस साहित्य का काम निश्चित ही महत्त्वपूर्ण मानना होगा। पिछले दशक में दलित साहित्य के इतिहास में एक नये युग की शुरूवात हुई है। युवा दलित लेखकों ने इस काल में एक अलग ही निर्णयात्मक मुद्रा धारण की है। उन्होंने क्रांतिकारी विद्रोह के मार्ग से जाने का निर्णय लिया है। एक दलित कवि के अनुसार-

"दो रास्ते जिंदगी के, जिंदगी दो रास्तों की,
एक रास्ता भुखमरी और लाचारी का,
गठजोड़ का और अपने आपको बेचने का,
दूसरा रास्ता विद्रोह का, और सीधी पद्धति से सत्ता में जाने का,
विश्व बदलने का और अपने आपको भी बदलने का"

वैसे तो नई पीढ़ी के दलित साहित्यकारों के लेखन में न्यूनता, असहायता का अंश दिखायी देता है। उनके हर शब्द से जीवंतता का अहसास होता है। उनके अदम्य आत्मविश्वास में एक विलक्षण जिद दिखायी देती है। स्वप्नों को आकार देने का सामर्थ्य इस साहित्य में दिखाई देता है। यह वातावरण आशावादी है। इन लेखकों में साहित्यिक दृष्टि है। इस साहित्य को अगर योग्य दिशा मिली तो पूरे मराठी साहित्य पर इसका परिणाम दिखाई देगा।

पिछले दशक में निर्मित हुई दलित साहित्यकारों की यह पीढ़ी स्वतंत्र्योत्तर काल में पढ़-लिखकर तैयार हुई है। सामाजिक स्थिति के बारे उनकी प्रतिक्रिया तीव्र है। इस बारे में साहित्यकारों द्वारा उन्हें समझने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्वतंत्र भारत में अच्छे दिन आएँगे, ऐसी आशा आम आदमी की थी, वह आशा पिछले तीस सालों में प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दी। भारतीयों ने संविधान और संसदीय लोकतंत्र को स्वीकार किया। परंतु इस जीवन पद्धति के बहाने समाज में लोकतंत्र तुरंत जड़ नहीं पकड़ सका। सत्ता ही समाजपरिवर्तन का साधन है, इसे सभी दल और विचारक भूल गए। तीस साल बाद भी गरीब जनता की दरिद्रता कायम रही। आज भी दलितों की दुर्दशा सबसे अधिक है। भारतीय संविधान सभा में अस्पृश्यता पालन यह नियमानुसार अपराध है। परंतु यहाँ धार्मिक संस्कार, सामाजिक रूढ़ियाँ जातीय अहंकार और वर्गीय संबंध, कानून के बंधनों से भी अधिक बलशाली है। संविधान सभा के भाषण में डॉ. आंबेडकर ने संकेत दिया था कि, जब तक सामाजिक और आर्थिक विषमता नष्ट नहीं होगी, तब तक यहाँ का चित्र नहीं बदलेगा। आज तो हम राजनीतिक लोकतंत्र स्थापित कर रहे हैं। वह संकट में आने का खतरा है।

दलित युवक विषम वातावरण के कारण ही बेचैन थे। बढ़ते अत्याचार और अन्यायों का प्रतिकार कैसे करना, यह प्रश्न उनके सामने मुख्य रूप से था। चुनावों की राजनीति की निष्क्रियता वे समझ गये थे। मौजूदा सामाजिक चौखट पूरी तरह से बदले बिना ये सारे प्रश्न नहीं छूटेंगे इस पर उनका विश्वास था। पीढ़ी दर पीढ़ी अंधकार में जीनेवाले दलित युवकों को अब प्रकाश किरणों की प्रतीक्षा थी। अपमानित जीवन जीना नहीं है, ऐसा निश्चय करके वे मनुष्यत्व का गीत गा रहे हैं-

"शब्दों की पूजा करता नहीं,
मैं मानवों की आरती गाता हूँ
जिनके गाँव में सूरज पहुँचा नहीं
उनके हाथों में प्रकाश देता हूँ।"

संपूर्ण क्रांति की आशा लगाते हुए एक दलित साहित्यिक कहता है-

"अब तुम ही प्रकाश पुंज बनो
और क्रांति का जयजयकार करो
अणुविस्फोट से बड़ा विस्फोट अब करेंगे,
दलितों की सत्ता विश्व पर स्थापित करेंगे"

इसी समय मराठी साहित्य में अनेक प्रतिभासंपन्न लेखकों के स्तरीय लेखन का विस्तार हुआ। परंतु यह साहित्य उच्चवर्णीय सफेदपोश मनोवृत्ति की श्रृंखला से मुक्त नहीं हुआ था। देश की स्थितियाँ तेजीसे बदल रही थी। हजारों सालों से बांधकर रखे हुए श्वास अब बंधनमुक्त हो रहे थे। उनकी व्यथा-वेदनाओं की और आशा-आकांक्षाओं को स्थान देने की वृत्ति इस साहित्य में नहीं थी। दलितों के अनुभवों को पकड़ने की ताकत इनकी कलम में नहीं

थी। एक और व्यक्तिवाद और दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ, इन दो प्रवृत्तियों में बंधे हुए मराठी साहित्य के प्रांगण में हमारे दुःख, दर्द और ध्येयवाद को स्थान नहीं है, ऐसा दलित साहित्यकारों को लग रहा था। इस कारण उन्होंने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इसका स्वागत हमें करना चाहिए।

दलित लेखकों की साहित्य विषयक समझ दलित साहित्य की अन्तःप्रक्रिया से सुसंगत है। साहित्य परिवर्तन को एक साधन के रूप में वे देखते हैं। साहित्य से उन्हें आनंद की अपेक्षा नहीं है। दरिद्रता और भूख, अन्याय और अत्याचार का दुःख सतत भोगनेवाले दलित समाज के संवेदनशील युवकों को केवल कलावादी सृजन स्वीकार्य नहीं है।

"मुझे आनंद नहीं देती कोई भी कला
सृष्टि की अलग-अलग लीला
मैं कैसे रहूं, शांत, संतुलित
छेदने लगते है सारे शास्त्र, पुराण, वेदांत
गला दबानेवाले अलग-अलग धर्मपंथ"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि दलित साहित्यकार कलावाद का क्यों विरोध करता है।

मनुष्य का मनुष्यत्व छीन लेने वाले प्रस्थापितों से संघर्ष, यह दलित साहित्य की प्रेरणा है। मनुष्य के प्राकृतिक हक को रौंदनेवाली सांस्कृतिक परंपरा के संदर्भ में विद्रोह उनका प्रेरक तत्व है। डॉ. अंबेडकर इन लेखकों के स्फूर्तिस्थान है।

अंग्रेजीयत और ब्राम्हणी वृत्ति के विरूध्द डॉ. आंबेडकर झगड़ते रहे। आज परिस्थिति भिन्न है। व्यक्तिगत संपत्ति और शोषण, स्पर्धा और मुनाफे पर आधारित अर्थव्यवस्था और चातुर्वर्ण्य, जातिभेद, तथा कर्मसिद्धांत को जन्त सिद्ध अधिकार कहनेवाली धर्मसंस्था, इनके विरूध्द दलित झगडते रहे। सामाजिक संबंधों को जब धर्म का वैचारिक अधिष्ठान मिलता है, तब एक ओर वरिष्ठों की न्याय बुद्धि नष्ट हो जाती है, तो दूसरी और कनिष्ठों की विचारशक्ति मारी जाती है। इस कारण अर्थिक और सांस्कृतिक दोनें स्तरों पर संघर्ष करना और नये मूल्यों से लोगों को परिचित कराना, इसे दलित साहित्यकारों ने महत्त्व दिया।

जिस साहित्य के मूल में संघर्ष और क्रांतिकारक परिवर्तन की प्रेरणा रहती है, उसे अलग ही सामर्थ्य मिलता है। ध्येयवादी लेखक जब अपने साहित्य में अपना जीवन तत्व अर्पित करता है तब उसके शब्द शस्त्र से भी धारदार और परिणामकारक होते हैं। प्रत्यक्ष सामूहिक कृति के द्वारा ही समाज में नई-नई प्रवृत्तियों का जन्म होता रहता है। ऐसी प्रवृत्तियों की खोजकर उसे शब्दबध्द करना, उसके पीछे की प्रेरणाओं से लोगों को अवगत कराना, अलक्षित लोगों की प्रेरणा को उनके प्रत्यय को प्रत्यक्ष लाना यह साहित्य का काम होता है। आंदोलन का उत्साह लोगों को प्रत्यक्ष कृति में सहभागी होने की ओर प्रवृत्त करता है। ऐसा देखा गया है कि आंदोलन समाप्त होते ही लोगों का उत्साह भी समाप्त हो जाता है। इस कारण ही सामूहिक आंदोलन में जन्म लेने वाली नयी प्रेरणाओं को लेखक शब्द रूप में स्थायित्व देता रहता है। विशेषतः दलित लेखकों के साहित्य में स्थित स्थायी रूप की प्रवृत्ति लोगों के अंतःकरण को छूती है। उस पर उनकी मुद्रा अंकित हो जाती है। इस दृष्टि से प्रतिभावंत साहित्यकार का अपने माध्यम पर पूरा विश्वास होना चाहिए। साहित्योपासना एक व्रत के रूप में उसे स्वीकारना चाहिए।

एक और बात दलित लेखकों को ध्यान में लेनी चाहिए कि यथार्थ में मूलभूत परिवर्तन कैसे होता है? उसमें से ध्येय सिद्धि कैसे होती है? इन प्रश्नों की उन्हे खोज करनी चाहिए। स्वतंत्रता, समता और बंधुभाव इस तत्वत्रयी का आग्रह लेकर अलग-अलग देश के तत्व चिंतकों ने आधुनिक युग में नवसमाज निर्माण का ध्येयवाद स्वीकार किया था। ऐसे आदर्श समाज का स्फूर्तिदायक चित्र जब आँखों के सामने खड़ा होता है, तब सुसंस्कृत मनुष्य की चित्रवृत्ति आनंदित होती है। साथ ही साथ यथार्थ की कुरूपता और निर्गुण, क्षुद्रता की वृत्ति की ओर ध्यान जाने के बाद उसको चिढ़ होती है। दुर्दम्य भावनाओं के बिना क्रांतिकारी विद्रोही साहित्य निर्माण नहीं होगा यह सच है। परंतु क्रांति एक शस्त्र है। अन्याय के खिलाफ कितना भी रोष अन्याय कारक परिस्थितियाँ नहीं बदलती। इसके लिए शास्त्रशुद्ध ज्ञान की और वस्तुनिष्ठ विचारों की संगत, भावनाओं के साथ होनी चाहिए। आस-पास के वातावरण का सतत चिंतन और विश्लेषण करके उसके विकास के नियम दलित लेखकों को अवगत होना चाहिए। साहित्य को नया आकार देने के लिए आवश्यक सामग्री सही पद्धति से ही लेनी पड़ती है। यथार्थ के अंतर्भूत नियमों और उससे उपलब्ध होने वाली साधन सामग्री की, सहायता से उस पर अधिकार प्राप्त कर लेना यही विज्ञान के प्रति निष्ठा रखने वालों की पद्धति है। इस दृष्टि से अपना सामाजिक जीवन और उसके अलग अलग प्रवाह, साथ ही साथ एक दूसरे के संबंधों के प्रति अपनी समझ अत्यधिक निर्दोष प्रगल्प और परिपूर्ण होनी चाहिए। इसके लिए साहित्यकारों को सतत प्रयत्न करना चाहिए।

साहित्यकारों को ज्ञान साधना करनी चाहिए। ऐसा करने से उनकी कला और प्रतिभा का महत्व थोड़ा भी कम नहीं होगा। ललित साहित्य में प्रतिभा का स्थान महत्वपूर्ण होता है। प्रतिभा नहीं रहेगी तो लेखन की कलात्मकता ही समाप्त होगी। मात्र क्रांतिकारक धारणाओं के दलित लेखकों की केवल स्फूर्ति और भावनाओं की तीव्रता पर अवलंबित रहकर बात नहीं बनने वाली है। मेरे द्वारा लिखा साहित्य अधिक स्तरीय हो, उसमें पुनरावृत्ति न होते हुए वह निरंतर विकसित रहे, यह अपेक्षा है। इसलिए दलित लेखकों को अनेक विषयों का अध्ययन सतत करना चाहिए। सामाजिक प्रश्नों का मूल्यांकन करने वाले ग्रंथ उसे सहजता से

...ने को मिलना चाहिए। इस दृष्टि से दलित समाज के लेखकों को दलित वाङ्मय के साथ-साथ विचारप्रधान साहित्य के निर्माण की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। वैचारिक लेखन करने वाले लेखकों को अपनी निरंतरता शास्त्रशुद्ध तथा अद्यावत रखने की आवश्यकता है। इस संदर्भ में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर का उज्ज्वल आदर्श सभी के सामने है। राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, कानून, ऐसे अनेक विषयों का उनका अध्ययन था। मराठी भाषा और साहित्य का भी उन्होंने अभ्यास किया था। संत साहित्य और आगरकर, तिलक जैसे आधुनिक और श्रेष्ठ साहित्यकारों के ग्रंथ उन्होंने रुचि से पढ़े थे। उनकी ज्ञाननिष्ठा के कारण ही उनके विरोधियों में भी उनके प्रति अधिक आदर था। इस संदर्भ में आपके सामने एक विचार रखने की इच्छा है। अपने पुराने इतिहास, साहित्य और धर्मग्रंथों ने शूद्र, अतिशूद्रों पर इतना अन्याय किया है कि, वह साहित्य आज के युग में किस कारण पढ़ना चाहिए, ऐसा प्रश्न अनेक बार उपस्थित किया जाता है। उच्चवर्णियों का वर्चस्व दलितों पर रहने के लिए पुराने धर्मग्रंथों ने अनेक निर्बंध लगाए थे। ऐसे ग्रंथों को नकारना और उसका निषेध करना ही योग्य होगा। डॉ. अंवेडकर ने महाड के परिषद में मनुस्मृति जलायी। जिस ग्रंथ ने हमें दरिद्रता और दैन्यता में रखने का काम किया, उसका उन्हें निषेध करना था। उन्होंने मनुस्मृति के साथ सभी हिंदू धर्मग्रंथों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। उनकी ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय 'हू वेअर दी शुद्राज' ग्रंथ की प्रस्तावना में मिलता है।

While it is true that a non-Brahmin SC holder free from the inhibitons of the Brahmin scholar, he is likely to go the other extreme and treat the whole literature as a collection of fables and fictions, fit to be thrown on the dung heap, not worthy of serious study. This is not the spirit of a historion.

यह दृष्टिकोण डॉ. अंबेडकर की ज्ञाननिष्ठा का निदर्शक है। यह ज्ञान उन्हें इस पुरानी समाज व्यवस्था पर प्रहार करने के लिए उपयोगी पड़ा। किसी भी ग्रंथ का हम जब अभ्यास करते हैं, तब उसमें चित्रित विचार प्रणाली उसी स्वरूप में हम स्वीकारें, ऐसा जरूरी नहीं होता। उल्टा उसके द्वारा निर्माण की हुई पुरानी रूढ़ियाँ, जीवनप्रणाली के अवशेष नष्ट करने के लिए ऐसे अभ्यास की आवश्यकता होती हे। इतिहास की ओर नकारात्मकता से न देखते हुए उसका परीक्षण करके ही हम उससे निकली हुई प्रतिगामी प्रवृत्तियों को, संस्थाओं को, सिद्धांतों को तोड़ सकते है और नया इतिहास निर्माण कर सकते हैं।

विज्ञान के प्रांत में नव-नवीन शोध होते रहते हैं। उसी पद्धति से पुराने सिद्धांत पीछे पड़ने लगते हैं। परंतु सत्यान्वेषण की पद्धति में ही मानव की प्रगति का रहस्य समाया हुआ है। संशोधन के क्षेत्र में तो इसका महत्व अधिक है। परंतु इसके योग से समग्र जीवन की ओर देखने का एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्राप्त होता है और इस दृष्टि को स्वीकारने के बिना सामाजिक यथार्थ का आकलन नहीं होता है। समाज परिवर्तन की प्रेरणा से लेखन करने वाले साहित्यकारों को विज्ञान, निष्ठा और मूल्यभाव का परस्पर संबंध जान लेना चाहिए। इससे विज्ञान दृष्टि आती है और प्रकाश मिलता है, परंतु किस मूल्य और उद्देश्य की परिपूर्ति के लिए विज्ञान की शक्ति का उपयोग करना है, इसका निर्णय मनुष्य को ही करना है। लेनिन, चर्चिल, नेहरू और अंबेडकर, ये सभी विद्वान विज्ञाननिष्ठ थे परंतु उनकी मूल्यप्रणाली एक नहीं थी। विज्ञानशक्ति और विज्ञानदृष्टि, इसमें जो अंतर है उसे ध्यान में लेना चाहिए, साथ ही साथ विज्ञान निष्ठा को किस मूल्य से जोड़ देना चाहिए इस पर भी हमें विचार करना चाहिए।

लेखक का अनुभव अर्थपूर्ण और आशयपूर्ण होगा तो उसकी अभिव्यक्ति ही उसे आनंद देती है। प्रत्येक साहित्य-कृति एक अर्थ से नवीन रहती है। वह एक स्वतंत्र शोध होता है। इस कारण कोई भी साहित्य कृति जैसे-जैसे आकार लेने लगती है, वैसे-वैसे उसके निर्माता को अपने मन के आशय की अधिक स्पष्ट पहचान होती है। प्रत्येक लेखक को अपनी आविष्कार पद्धति दिखानी चाहिए। किसी-किसी प्रतिभासंपन्न लेखक को अत्यधिक लोकप्रियता मिलती है, तब उसके रचना तंत्र का अनुकरण करने की इच्छा अन्य लोगों को हो जाती है। इस पद्धति से किसी चौखट में अपने लेखन विषय को ठूँसकर भरने का प्रयत्न करेंगे तो लेखन के कृत्रिम व निःसत्व बनने का खतरा रहता है। पंडित नेहरू ने अपनी The Discovery of India ग्रंथ में इमर्सन का एक परिच्छेद उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है 'Insist on your self, never immitate' इस वचन सूत्र का दलित लेखकों को अक्सर स्मरण रखना चाहिए। इसके बिना उसके साहित्य का चित्रण सुस्पष्ट तथा जीवंत और प्रत्ययकारी नहीं होगा।

दलित लेखक सामाजिकता को स्वीकारते हैं। साहित्य की स्वायत्तता का तत्व उनकी इस भूमिका के लिए पोषक है। इस तत्त्व को बाधा नहीं आनी चाहिए इसलिए साहित्यकारों को जागरुक रहना चाहिए। सामाजिक जीवन में राजनीति, अर्थ, शिक्षा, साहित्य ये एक दूसरे से संबंधित विषय हैं। उनका एक दूसरे पर कहीं न कहीं खास प्रभाव रहता है। फिर भी प्रत्येक क्षेत्र के विकास के कुछ खास नियम होते हैं। साथ-ही-साथ साहित्य के क्षेत्र के अंतर्जगत का व्यापार कुछ नियमों के अनुसार होता रहता है। साहित्यकार को ये नियम आत्मसात करने चाहिए। इसका अर्थ, उन्हें परंपरागत नियमों से और संकेतों से अपने आप को बांधकर लेना चाहिए ऐसा नहीं है। कला में ही अभिनव रूप देने वाले नियम अंतर्भूत होते हैं। उनकी खोज कर दलित लेखकों को अपना साहित्य निर्माण

करना चाहिए।

साहित्य का क्षेत्र स्वतंत्र और स्वयंशासित होना चाहिए। राजनीति, अर्थसत्ता, धर्म इस जैसे दूसरे किसी भी क्षेत्र का उस पर आक्रमण होना ठीक नहीं है। साहित्य की लोकाभिमुखता और सामाजिक जिम्मेदारी पर कोई सोचता नहीं है। लेखक को ही यह काम करना चाहिए। साहित्य व्यक्तिनिष्ठ है या समाजसापेक्ष, यह प्रश्न निरर्थक है। साहित्यिक कृति लेखक के व्यक्तित्व का रंग रूप लेकर प्रगट होती रहती है। परंतु लेखक के व्यक्तित्व की बुनावट विशिष्ट सामाजिक वातावरण में होती है। इस कारण किसी भी साहित्य रूप समाजनिरपेक्ष नहीं हो सकता। व्यक्ति और समाज का नाता अटूट है। सामाजिक संबंध जब नष्ट होते हैं, तब साहित्य निर्मिति पर प्रश्नचिन्ह लगाये जाते है, और वह अत्यंत संकुचित और एकांगी बनता है। साहित्यकार एक मूलभूत क्रांतिकारी जीवननिष्ठा को लेकर चलता है। राजनीतिक दलों के दावपेंच और उससे निर्माण होने वाले वातावरण से उसे कुछ लेना देना नहीं होता। साहित्यकार को क्रांति की लड़ाई में प्रचारात्मक साहित्य पत्रिकाओं की जरूरत होती है। परंतु उसका और कलात्मक साहित्य का स्तर एक नहीं होता। दलित लेखक व्यक्ति के नाते किसी दल की भूमिका से अथवा कार्यक्रम से सहमत हो भी सकता है परंतु साहित्य सृजन के क्षण उसकी दृष्टि राजनीतिक व्यवहार की मर्यादा पार कर सामाजिक प्रवृत्ति पर केंद्रित रहेगी।

दलितों का विद्रोही और साहित्यिक आंदोलन जब अधिक प्रभावपूर्ण और आक्रमक होगा, सामान्यजनों को कार्यप्रवण व प्रतिकारक्षम बनाने की सामर्थ्य जब उसमें आऐगी, तब समाज के प्रस्थापित ठेकेदारों की नींद उड़ जाएगी। प्रथम वे इस आंदोलन को शाबासी देते रहेंगे। बुजुर्ग के नाते आशीर्वाद देकर आंदोलन की आक्रामता कैसे कम होगी, इस पर काम करते रहेंगे। दलित साहित्यकारों को प्रस्थापितों के विरोध का सामना करना पड़ेगा। यह विरोध दो प्रकार का होगा। सत्ता, संपति और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर दलित लेखकों पर दबाव लाया जाएगा। यह प्रकार शहरों में खुले आम तथा अधिक मात्रा में नहीं होगा। दूसरा प्रकार पैसा, प्रतिष्ठा अधिकार और यश, कीर्ति, इसका प्रलोभन दिखाकर साहित्यकार को निष्क्रिय करना। भारत जैसे गरीब देश में ऐसे प्रलोभन से दूर रहना मुश्किल है। यहाँ क्रांतिकारक प्रभाव क्षीण बनते जा रहे हैं। इस कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वाला लेखक अकेलेपन को महसूस करता है। प्रस्थापितों के साथ जूझते हुए वह मानसिक आधार की आवश्यकता महसूस करता है। मूलतः यह संघर्ष विषम है। एक ओर सत्ता, धन, दौलत, जैसे लौकिक साधन हैं तो दूसरी ओर मात्र ध्येयनिष्ठा और नैतिक शक्ति। अपनी भूमिका काल के प्रवाह के साथ है और मानवता के उज्ज्वल भविष्य के साथ संबंधित है, इस कारण आज नहीं तो कल, यश मिलेगा, यह विश्वास क्रांतिकारी लेखकों की कर्तव्यनिष्ठा के लिये प्रोत्साहक और पोषक है। कुछ भी हो हम सब है तो मानव। अपनी उच्च नैतिक भूमिका से हमारा चित्त विचलित नहीं होना चाहिए। इसलिए हमे बार-बार अपना आत्मपरीक्षण करना चाहिए।

दलित साहित्य और मुक्ति के आंदोलन में अपने साथी कौन और विरोधी कौन, इसका विवेक रखने की आज आवश्यकता है। किसी विषय पर संपूर्ण मतैक्य होगा तो ही सामूहिक काम किया जा सकता है।, ऐसा मानकर नहीं चलेगा। संपूर्ण सामाजिक परिवर्तन के सिवा हमारा कौई भी प्रश्न पूर्णता पानेवाला नहीं है। समग्र क्रांति का कार्य काफी बड़ा है और उनकी मंजिल दूर है। स्थितिशील प्रवृत्ति के संघटन में मतभेद होने का कोई कारण नहीं है। क्रांतिकारक आंदोलन में मात्र विचारमंथन, विचारसंघर्ष का महत्त्व होता है। इस दृष्टि से मतभेद एक अर्थ से जीवंतता का लक्षण है। परंतु इसे अधिक न खींचते हुए अलग-अलग प्रगतिशील प्रवाहों को एक संघ कैसे किया जा सकता है इसे देखना पड़ेगा। ये प्रवाह आखिर तक टिकना चाहिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इस पर गंभीतर से विचार करना आवश्यक है।

सामाजिक क्रांति के झंडे तले मेहनतकश लोगों के साथ अनेक लोग आएँगे, यह स्पष्ट है परंतु पिछले तीस सालों में समाज के सभी विभागों से एक नया मध्यवर्ग निर्मित हुआ है। इस वर्ग को आधुनिक शिक्षा का लाभ मिला है। इसमें से ही बागी नेता आगे आते हैं और समय का फायदा लेने वाले नेता भी निर्मित होते हैं। इस कारण निष्ठा रखने वाले कार्यकर्ताओं को अपने समान विचारों का सर्वत्र शोध लेना चाहिए! इस संदर्भ में महाड सत्याग्रह के समय ब्राम्हणों पर नेताओं की शर्ते अमान्य करते हुए डॉ. अंबेडकर ने जो कहा था काफी महत्वपूर्ण है कि हमारी नजर ब्राह्मणत्व पर है लेकिन ब्राह्मण लोग हमारे दुश्मन नहीं है। ब्राह्मणत्वग्रस्त लोग हमारे दुश्मन है, ऐसा हम खुले आम कहते हैं। इन भावनाओं से प्रेरित होने के कारण ब्राह्मणग्रस्त ब्राम्हणेत्तर हमें दूर का लगता है और ब्राह्मण्य रहित ब्राह्मण हमें निकट का अर्थात् अपना लगता है। हमारे मन का गठन इस पद्धति से होने के कारण हमारे सत्याग्रह में प्रत्येक व्यक्ति का स्वागत है, भले ही वह व्यक्ति किसी भी जाति का क्यों न हो।''

दलित साहित्य ने प्रारंभ में ही लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। उपन्यास, नाटक, कहानी, साहित्य, समीक्षा ऐसे अलग-अलग साहित्य प्रकारों में वह उँचाई पर पहुँच रहा है। इस साहित्य ने कुछ अपेक्षाएँ निर्मित की हैं। उसे पूर्ण करने की ज़िम्मेदारी दलित लेखकों पर है। प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ इन दिनों विविध रूपों में आगे आ रही उनको पहचानने की ज़रूरत है और तदनुसार व्यवहार और नीति की ज़रूरत है।

अनुवादक : डॉ. संजय नवले

गोंदिल प्लॉट, उपळाई रोड, बार्शी-413411, जि. सोलापुर

नये प्यादे, पुरानी गुलामी

दलित एवं हिन्दुत्व के अंतर्संबंध पर एक नज़र

सुभाष गाताडे

हिन्दू समाज में ऐसे तमाम निम्न तबके हैं जिनकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक ज़रूरतें मुस्लिम समाज के बहुमत की तरह ही हैं और उच्चवर्णीय हिन्दुओं के बरअक्स-जिन्होंने सदियों से उन्हें सामान्य मानवीय अधिकारों से भी वंचित रखा है-वे अपने साझा हितों के लिए उनके साथ एकजुट हो सकते हैं।

डा0 बाबासाहब अंबेडकर, रायटिंग्ज एण्ड स्पीचेज़, viii. 359

अस्पृश्यता एक तरह से हिन्दुओं का रोग है... वह दिमागी ऐंठन/मरोड़ है। मैं नहीं समझता कि किस तरह मेरे दोस्त इस ऐंठन को दूर करना चाहते हैं-हज़ारों सालों से जिसका असर हिन्दुओं पर दिखता है- जब तक उन्हें किसी अस्पताल नहीं भेजा जाता।

डा0 बाबासाहब अंबेडकर (उपरोक्त)

प्रस्तावना

भारतीय समाज को खास ढंग से संगठित करने का लक्ष्य रख कर चल रही हिन्दुत्व की व्यापक परियोजना के साथ दलित एवं उनके आंदोलन के अंतर्संबंध की खोज इस आलेख का केंद्रबिंदु है। दलित (और आदिवासी समूहों) का हिन्दुत्व के प्रति बढ़ता सम्मोहन महज इस वजह से महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह सांप्रदायिकता के खतरे को बड़ा कर देता है बल्कि वह उसके संभावित प्रतिरोध को भी कमजोर कर देता है।

गुजरात 2002 का जनसंहार, जिसकी अगुआई संघ परिवार से संबद्ध संगठनों ने की, जिसमें आधिकारिक तौर पर एक हज़ार से अधिक लोग मारे गए, उसने हमें दलित आंदोलन के इस भटकाव/विपथगमन से अवगत कराया है। दलित आंदोलन की निरंतर लड़ाकू सक्रियता से वाकिफ लोगों, समूहों के लिए दलित आंदोलन का यह भटकाव समझ से परे जान पड़ता है। हिन्दुत्त्व के ज़रिए प्रतिबिंबित ब्राह्मणवादी फासीवाद की परियोजना के प्रति दलित आंदोलन की घृणा से परिचित लोगों के लिए निश्चित ही यह चीज विचलित करने वाली रही है। आख़िर ऐसा क्यों हो सका है कि फुले, जयोति थास, पेरियार, शाहू महाराज, अय्यनकली, अम्बेडकर आदि सामाजिक विद्रोहियों के अपने अनुयायियों का एक हिस्सा फिलवक्त हिन्दुत्व की ताकतों का मुरीद बनता दिखता है।

मालूम हो कि हिन्दुत्व के प्रति आकर्षण के माध्यम से उजागर होता दलित चेतना के उलटने/विपर्यय और आंदोलन के सांप्रदायिकीकरण का सिलसिला दलितों की व्यापक दावेदारी की पृष्ठभूमि में सामने आया है जिसने 90 के दशक में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। यह एक ऐसी प्रक्रिया रही है जिसने जनतंत्र को गहराने और व्यापक बनाने में भूमिका अदा की है। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जहाँ-जहाँ रैडिकल या जनतांत्रिक ताकतें मजबूत हैं, या जहाँ राजनीतिक पटल पर दलित ताकतें प्रभावी सियासी भूमिका में हैं, वहाँ हम पाते हैं कि दलित आबादी का व्यापक हिस्सा ऐसी ताकतों के साथ खड़ा है और गरिमामय जीवनयापन एवं राजनीतिक सत्ता हासिल करने के संघर्षों में मुब्तिला है।

सामाजिक तौर पर सबसे उत्पीड़ित जातियों में नफ़रत एवं अलगांव की राजनीति की बढ़ती स्वीकार्यता की चर्चा करते हुए अगर हम ऊँची जातियों और पिछड़ी जातियों में चल रही समानांतर प्रक्रियाओं के बारे में मौन रहे जहाँ होशियारी के साथ उन्होंने अपने अपराधों को ढंका, इसकी उपेक्षा की, तो यह निश्चित ही तर्कसंगत नहीं होगा। इस बात पर जोर देना होगा कि हिन्दोस्ताँ की सियासत एवम समाज में हिन्दुत्व की बढ़त संभव नहीं होती अगर वर्ण से लेकर अवर्ण श्रेणी में शामिल विभिन्न जातिसमूहों को उसके विश्वदृष्टिकोण में कोई साझा सूत्र नहीं मिलता। निश्चित ही इन विभिन्न तबकों में इस सिलसिले में उद्घाटित होते गतिविज्ञान की हमें पैनी निगाह से पड़ताल करनी होगी।

हिन्दुत्व के उभार की परिघटना का एक कम चर्चित पहलू उस ब्राह्मणवादी/मनुवादी प्रतिक्रिया से संबधित भी है, जो फुले-अम्बेडकर द्वारा शुरू किए गए सामाजिक विद्रोह के बरअक्स सामने आयी थी। स्त्रियों/शूद्रों/अतिशूद्रों के सशक्तिकरण की फुले-अम्बेडकर द्वारा संचालित परियोजना भारतीय समाज में सदियों से कुंडली मार कर बैठे मनुवादी तबकों को कतई मंजूर नहीं थी। हमारे अपने समय में भी हम 'मण्डल' बनाम 'कमण्डल' के रूप में उसके विस्तार को देख चुके हैं, जब पिछड़ी जातियों को आरक्षण देने की मण्डल आयोग की सिफारिशों को विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने मंजूरी दी थी और संघ-भाजपा की अगुआई में शुरू किए

गए अयोध्या आंदोलन ने इसकी धार थोथरी करने की कोशिश की थी।

प्रस्तुत आलेख में हम संघ परिवार के कार्यविधान में आए बदलावों पर भी नज़र डालेंगे, अपने एकांतिक क़िस्म के एजेंडा की उसके द्वारा की गयी 'रिपैकेजिंग' पर भी गौर करेंगे। यह जानी हुई बात है कि आधी सदी से अधिक समय तक अंबेडकर और उनकी पहल पर शुरू हुए सामाजिक-सांस्कृतिक- राजनीतिक हस्तक्षेप का विरोध करता आया संघ परिवार आज इस स्थिति में दिखता है कि वह दलित श्रमिकों एवम बुद्धिजीवियों के एक हिस्से को भी अपने आगोश में ले सका है। दलितों को हिन्दू राष्ट्र निर्माण की अपनी योजना में जोड़ने के लिए संघ परिवार द्वारा गढ़ी गयी 'सामाजिक समरसता' की धारणा की भी हम पड़ताल करने की कोशिश करेंगे।

नामदेव ढसाल : महज एक कवि-कार्यकर्ता का नाम नहीं!

कई बार एक अदद तस्वीर हजारों शब्दों के समकक्ष दिखती है और निश्चित ही वह कोई साधारण फोटोग्राफ नहीं है। पहले चित्र में संघ परिवार के सुप्रीमो के0 एस0 सुदर्शन, 70 के दशक के रैडिकल दलित कवि नामदेव ढसाल से गले लगते और उन्हें नमस्कार करते दिखते हैं। दूसरे फ्रेम में ढसाल इसी सिलसिले को दोहराते दिखते हैं। यह अवसर है एक किताब के लोकार्पण का जिसमें संघ परिवार के तमाम अग्रणी नेता भी दिखते हैं। अपनी तकरीर में नामदेव ढसाल जाति प्रश्न को सुलझाने में वामपंथ की नाकामयाबी को उजागर करते हैं और साथ ही साथ संघ परिवार द्वारा दलितों के बीच किए जा रहे काम की तारीफ करते दिखते हैं और खुलेआम ऐलान करते हैं कि उन्हें प्रस्तुत रचना से काफी उम्मीदें हैं। मौका है अगस्त 2006 को दिल्ली के हिन्दी भवन में 'समरसता के सूत्र' नामक किताब के प्रकाशन का।

निश्चित ही वे सभी जो पश्चिमी भारत के दलित आंदोलन के आजादी के बाद के इतिहास से अपरिचित हैं उनके लिए ढसाल नामक इस शख्सियत की इस संघ स्तुति से आश्चर्य नहीं होगा, लेकिन उनके रैडिकल अतीत से परिचित लोगों के लिए ढसाल का यह कदम उनके पतन के नए मुक़ाम के तौर पर दिख सकता है। दलित आंदोलन को करीब से जाननेवाले बता सकते हैं कि दलित पैंथर्स के स्थापना के दिनों में-जबकि उसने महाराष्ट्र के परिवर्तनकामी आंदोलन को भी नयी ऊर्जा प्रदान की थी-ऐसे किसी फोटोग्राफ़ की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह वही दौर था जब संघ के तत्कालीन सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर उर्फ गोलवलकर गुरूजी को मनुस्मृति के महिमामंडन के लिए उग्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था।

मालूम हो कि इन दिनों नामदेव ढसाल बाल ठाकरे की अगुवाईवाली शिवसेना के साथ जुड़े हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि ढसाल जैसे कद के एक व्यक्ति द्वारा रैडिकल एजेंडा का परित्याग तथा हिन्दुत्व ब्रिगेड की परियोजना के प्रचारक के तौर पर उनका रूपांतरण कोई अपवाद नहीं कहा जा सकता। दरअसल यह अम्बेडकर के बाद के दलित आंदोलन के एक हिस्से की गहरी रूग्णता का ही प्रतीक है।

अगर हम अम्बेडकर की विरासत को आगे बढ़ाने का दावा करने वाली तथा इन दिनों सूबा उत्तर प्रदेश में अपने बलबूते सत्तासीन 'बहुजन समाज पार्टी' को देखें तो क्या यह बात भूली जा सकती है कि उत्तर प्रदेश में राजसत्ता हासिल करने के लिए नब्बे के दशक में तथा इक्कीसवीं सदी की शुरूआत में इसने तीन बार भाजपा से गठजोड़ किया था। गुजरात 2002 के जनसंहार में हिन्दुत्व ब्रिगेड के सिपहसालारों की तरह सामने आए दलित आबादी को देखें या पूर्वी उत्तर प्रदेश में दलितों को अल्पसंख्यकों के खिलाफ खड़ा करने में 'हिन्दू हृदय सम्राट' योगी आदित्यनाथ को मिली कामयाबी को देखें या महाराष्ट्र विधानसभा के लिए वर्ष 2004 में संपन्न चुनावों के पहले शिवसेना के नेता उद्धव ठाकरे द्वारा दलित एवमं शिवसेना के गठजोड़ के लिए दिए गए नारे ('भीमशक्ति एवमं शिवशक्ति का अर्थ राष्ट्रभक्ति') के प्रति दलित बुद्धिजीवियों के एक हिस्से की सकारात्मक प्रतिक्रिया को देखें तो यह बात साफ तौर पर समझ में आती है कि हिन्दुत्व के विचार ने किस तरह दलितों के एक हिस्से में घुसपैठ की है। इन छिटपुट उदाहरणों से यह बात आसानी से समझ आती है कि जहाँ तक दलित आंदोलन की अपनी यात्रा का प्रश्न है तो गंगा जमुना से काफी पानी बह गया है।'

अब वे दिन बीत गए जब अंबेडकर ने खुलेआम ऐलान किया था कि 'वह भले ही हिन्दू होकर पैदा हुए हों, लेकिन वह हिन्दू के तौर पर नहीं मरेंगे' (1937) और उसी समझदारी के तहत अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म को स्वीकार किया; आज अपने आप को उनके अनुयायी कहलानेवालों के एक हिस्से को इस बात से कतई गुरेज नहीं कि वे सावरकर और गोलवलकर जैसों के विचारों पर आधारित हिन्दू धर्म की एक खास व्याख्या के साथ नाता जोड़ रहे हैं।

अगर हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अपनी यात्रा की विवेचना करें तो यही बात समझ में आती है कि अपने एजेंडा को मजबूती दिलाने के लिए उसने भी अपने मूलभूत उद्देश्यों से समझौता किए बिना काफी दूरी तय की है। अम्बेडकर के जीवनकाल में जाति-वर्ण वर्चस्व को चुनौती देने वाले उनके सामाजिक-राजनीतिक हस्तक्षेप की लगातार मुखालिफत करनेवाले, संविधाननिर्माण की उनकी योजना की खिल्ली उड़ानेवाले और उसके स्थान पर मनुस्मृति को ही लागू करने की माँग करने वाले, हिन्दू कोड बिल के माध्यम से हिन्दू महिलाओं को तलाक एवम विरासत के मामले में सीमित अधिकार प्रदान करने के अम्बेडकर के प्रयासों का संगठित होकर

विरोध करने वाले, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा अपने प्रातःस्मरणीयों में अंबेडकर को शामिल करना निश्चित ही बड़ी रणकौशलात्मक छलांग (tactical shift) का परिचायक है।

यह सवाल निश्चित ही उठ सकता है कि चीजें इस मुक़ाम तक कैसे पहुंची कि वर्ण-जाति अनुक्रम में सबसे निचली पायदान पर स्थित उत्पीड़ित तबके को न केसरिया गिरोह में शामिल होने से गुरेज है और न ही उसके लिए अल्पसंख्यकों पर हमला करने से कोई परेशानी। उच्चनीच अनुक्रम पर टिकी ब्राह्मणी/ मनुवादी व्यवस्था के सदियों से शिकार तबके किस तरह खुद उत्पीड़क की भूमिका में आ सके ?

इस परिघटना के तानेबाने की गहराईसे पड़ताल के बावजूद (देखें : हिन्दुत्व एण्ड दलित्स, संपा. आनन्द तेलतुम्बडे, कोलकाता, साम्य, 2005) आज भी कई प्रश्न अनुत्तरित रह गए हैं। अगर दलित चेतना का 'हिन्दुत्वकरण' एक चिंताजनक प्रसंग है तो हम किस तरह वंचित तबकों के हिन्दुत्वकरण की प्रक्रिया को देख सकते हैं, जो निरंतर जारी परिघटना है? हम साधुओं-महात्माओं की उस लंबी-चौड़ी फौज को किस तरह देख सकते हैं जिनमें से कइयों ने दलितों के बीच अपना आधार कायम किया है? क्या इन दोनों के बीच कोई अंतर्संबंध स्थापित किया जा सकता है ? 'एक जन, एक राष्ट्र, एक संस्कृति' के अपने नारे के इर्दगिर्द भारतीय समाज की पुनर्रचना करने के अपने एजेंडे में दलितों को समाहित करने की हिन्दुत्व की, विशेषकर संघ परिवार की-रणनीतियों की हम कैसी विवेचना करते हैं ? क्या संघ परिवार द्वारा अपनायी गयी रणनीतियों में हम कोई निरन्तरता देख सकते हैं या कोई विच्छेद/ब्रेक भी नज़र आता है ? क्या महिला, आदिवासी जैसे समाज के अन्य उत्पीड़ित तबकों के सांप्रदायिकीकरण के समान किस्म के अनुभवों से हम सीख सकते हैं?

हिन्दुत्व के प्रति दलितों का सम्मोहन : शुरूआती कदम

वर्ष 2002 में भारतीय गणतंत्र को कई सदमों से गुजरना पड़ा। वह एक ऐसा साल था जब हम मुल्क के पश्चिम सूबे गुजरात में निरपराधों के-जिनका बहुलांश अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय से संबंधित था–सुनियोजित कत्लेआम से रूबरू हुए, जब ट्रेन के एक डिब्बे में सवार यात्रियों का एक दल दुर्घटना का शिकार होकर आग में कालकवलित हुआ और हिन्दुत्व के अतिवादी समूहों ने इसी हादसे को बहाना बनाकर समूचे सूबे में अल्पसंख्यकों पर कहर बरपा किया। इस समूचे घटनाक्रम ने एक तरफ जहां हिन्दुत्व के दक्षिणपंथ की प्रचंड बर्बरता को बेपर्द किया वहीं उसने उदार मध्यमवर्ग के एक हिस्से में व्याप्त इस मिथक को भी ध्वस्त किया कि सत्ता के इदारों तक पहुँचने से दक्षिणपंथी हिन्दुत्व और अधिक सामान्य हो सकता है।

बेहद विचलित करनेवाले इन विभिन्न पहलुओं के अलावा, राज्य के अलग अलग हिस्सों से जो समाचार मिल रहे थे, उसने इस जनसंहार के एक अन्य गम्भीर पहलू को रेखांकित किया और उसका ताल्लुक था जनसंहार में दलितों-आदिवासियों के एक हिस्से की साझेदारी से। गुजरात 2002 के उस रक्तरंजित दौर पर जिसने भी कलम चलायी है उसने इस तथ्य को बखूबी नोट किया है कि किस तरह इन दमित जातियों का एक हिस्सा आततायियों के साथ जुड़ गया था।

दलितों-आदिवासियों के हिन्दुत्वकरण की इस परिघटना को स्वीकारते हुए हमें इस तथ्य को भी स्वीकारना होगा कि इन समुदायों में ऐसे तमाम लोग भी थे जिन्होंने अपने आप को खतरे में डालते हुए मुसलमानों की हिमायत एवं रक्षा की। ऐसे लोगों ने ही निराशा के उस वातावरण में उम्मीद की टिमटिमाती लौ जलाए रखने की कोशिश की थी। अहमदाबाद का रामरहीम नगर-जहाँ ग़रीब दलितों एवम मुसलमानों की मिलीजुली आबादी थी-उन झंझावाती दिनों में भी एक तरह से अमन का द्वीप बना रहा।

यहाँ इस बात को भी नोट करना होगा कि मुसलमानों के बाद, एक समुदाय के तौर पर दलितों को ही जानमाल का सबसे अधिक नुकसान उठाना पड़ा। इतना ही नहीं, जब दंगा रोकने के नाम पर पुलिस ने दिखावटी कार्रवाइयाँ शुरू कीं तब संघ-भाजपा-विहिप के कर्णधारों ने-जिनमें से अधिकतर ऊँची जाति से संबंधित हैं, अपने खासमखासों को बचाया तथा दंगा भड़काने में साथ जुड़े दलितों-आदिवासियों के नाम लिखवा दिए।

हालाँकि सांप्रदायिक दावानल में दलितों-आदिवासियों की सहभागिता संघ परिवार के लिए खुशी का सबब थी, सांप्रदायिकता विरोधी आंदोलन के कार्यकर्ताओं के लिए यह ख़बर अकल्पनीय और मायूस कर देने वाली थी। दलित-बहुजन बुद्धिजीवियों की प्रतिक्रिया भी कोई खास बेहतर नहीं थी। कुछ लोगों ने तो इस तथ्य को स्वीकारने से ही इन्कार कर दिया और कहा कि यह सब वर्णसमाज के प्रभुत्ववाले मीडिया का प्रचार है। तथ्यों की सत्यता पर यकीन करनेवाले अधिकांश लोगों ने एकमात्र यही स्पष्टीकरण दिया गया कि दलित-आदिवासी दरअसल प्यादे की तरह इस्तेमाल कर लिए गए। यहभी कहा गया कि उन्हें थोड़ा-थोड़ा लालच देकर हिंसाचार के लिए उकसाया गया।

भले ही यह मकसद नहीं रहा हो, लेकिन इन कमजोर स्पष्टीकरणों ने इन उत्पीड़ित जातियों को परोक्ष रूप से अपमानित ही किया, क्योंकि उससे यह राय सम्प्रेषित हुई कि दलित-आदिवासी प्यादे की तरह होते हैं, जिनमें अपना निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती और उन्हें कोई भी बहका सकता है। एक गहरे दार्शनिक स्तर पर इसने 'कारकशक्ति/एजेंसी' का सवाल खड़ा किया। क्या दलितों को महज पीड़ित ही समझा जा सकता है जो आज भी वर्चस्वशाली जातियों की दया पर टिके हैं या हिन्दुत्व की मंझधार में दलितों-आदिवासियों का खींचा जाना एक तरह से उनमें से

कइयों के स्वतंत्र निर्णय के तौर पर देखा जा सकता है ?

मनुस्मृति के प्रति हिन्दुत्व का सम्मोहन

वह साठ के दशक के उत्तरार्द्ध की बात है। सूबा महाराष्ट्र उन दिनों एक अलग तरह के आंदोलन का प्रत्यक्षदर्शी बना था। कारण था 'नवा काल' नामक मराठी अख़बार में (दिनांक 1 जनवरी, 1969) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर का छपा विवादास्पद साक्षात्कार। प्रस्तुत साक्षात्कार में जिस 'बौद्धिक' अंदाज में गोलवलकर ने मनुस्मृति को सही ठहराया था और शुद्धता-प्रदूषण पर टिकी वर्ण-जाति व्यवस्था को ईश्वरप्रदत्त घोषित किया था वह बात लोगों को बेहद नागवार गुजरी थी।

अपने इस साक्षात्कार में गोलवलकर ने साफ साफ कहा था कि 'स्मृति ईश्वर निर्मित है और उसमें बताई गई चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी ईश्वर निर्मित है। किंबहुना वह ईश्वर निर्मित होने के कारण ही उसमें तोड़-मरोड़ हो जाती है, तब भी हम चिंता नहीं करते। क्योंकि मनुष्य आज तोड़ मरोड़ करता भी है, तब भी जो ईश्वरनिर्मित योजना है, वह पुनः-प्रस्थापित होकर ही रहेगी।' (पेज 163, श्री गुरूजी समग्र : खंड 9)।

अंदाज़ा लगााया जा सकता है कि जिस सूबे में औपनिवेशिक काल में ज्योतिबा फुले तथा सावित्रीवाई फुले की अगुआई में 'शेटजी' (सेठ-साहूकार) और 'भटजी' (पुरोहित तबका) के खिलाफ प्रचंड सांस्कृतिक विद्रोह खड़ा हुआ, जिस सूबे में 20 वीं सदी में डा0 अंबेडकर जैसे उत्पीड़ितों के महान सपूत की अगुआई में उस विद्रोह को आगे बढ़ाया गया, वहाँ पर गोलवलकर के विचारों ने लोगो में किस क़िस्म के गुस्से को पैदा किया होगा।

बहरहाल जनाब गोलवलकर का मनुस्मृति प्रेम कोई नया मसला नहीं था। 1940 में सर संघ चालक पद पर विराजमान होने के वाद दिये गये हर वक्तव्य में उन्होंने हिन्दुओं की 'महान परंपराओं' की लगातार दुहाई दी थी। स्वतंत्र भारत के लिए संविधान निर्माण की प्रक्रिया जिन दिनों जोरों पर थी, उन दिनों उन्होंने नये संविधान निर्माण के बजाय हिंदुओं के इस प्राचीन ग्रंथ 'मनुस्मृति' से ही काम चलाने की बात की थी, ('आर्गेनायजर', 30 नवंबर, 1949, पृष्ठ 3)। विनायक दामोदर सावरकर जैसे हिन्दू दक्षिणपंथ के एक अन्य प्रवक्ता -जिन्हें हिन्दुत्व के विचार का प्रणेता समझा जाता है-भी अपनी रचना में मनुस्मृति की हिमायत करते दिखते हैं। ('सावरकर समग्र', खण्ड 4, दिल्ली, प्रभात, 2000, पेज 415)

यह वही दौर था जब डा0 अंबेडकर तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू की विशेष पहल पर हिन्दू कोड बिल के जरिये हिन्दू महिलाओं को संपत्ति और उत्तराधिकार में सीमित अधिकार देने की कोशिशें चल रही थीं। इसका भी गोलवलकर और उनके अनुयायियों ने जम कर विरोध किया था।

गौरतलब है कि संघ के उद्गम और विस्तार संबंधी विभिन्न अध्ययनों में उसके निर्माण में अंतर्निहित अल्प संख्यक विरोधी पहलू पर अधिक गौर किया गया है और उसके दलित या शूद्र विरोधी पहलू की एक तरह से उपेक्षा की गयी है। इसके चलते एक ऐसी परिस्थिति पैदा हुई है जहाँ हिन्दुत्व की राजनीति की नींव पर ठीक से हमला नहीं हो सका है। हालाँकि, हाल के दिनों में इस आकलन में तब्दीली आयी है और यह एहसास भी बना है कि **सांप्रदायिकता विरोधी संघर्ष के अविभाज्य हिस्से के तौर पर जातिविरोधी संघर्ष को भी संचालित करना चाहिए और पितृसत्ता विरोधी नारी मुक्ति संघर्ष को भी इसके साथ जोड़ना चाहिए।**

हालाँकि इस बीच गंगा जमुना से काफ़ी सारा पानी गुजर चुका है, यह नहीं कहा जा सकता कि मनुस्मृति को लेकर अपने रुख में हिन्दुत्व ब्रिगेड की तरफ से कोई पुनर्विचार हो रहा है। फर्क महज इतना ही आया है कि भारतीय संविधान की उनकी आलोचना-जिसने डा0 अंबेडकर के शब्दों में कहा जाए तो 'मनु के दिनों को ख़त्म किया है'-अधिक संश्लिष्ट हुई है। यह जुदा बात है कि ऐसा कोई दिन नहीं गुज़रता जब संघ परिवार से संबद्ध नेता 'औपनिवेशिक छाप के लिए' या 'स्थानीय परंपराओं और संस्कृति की उपेक्षा करने के लिए' संविधान की आलोचना करते नहीं दिखते। यह अकारण नहीं था कि केन्द्र में अपने शासनकाल में भाजपा ने संविधान की समीक्षा के लिए आयोग भी बनाया था।

हालाँकि कई बार ऐसे मौके भी आते हैं जब यह आलोचना बहुत दबी नही रह पाती और बातें खुल कर सामने आती हैं। विश्व हिन्दू परिषद के नेता गिरिराज किशोर, जो संघ के प्रचारक रह चुके हैं, उनका अक्तूबर, 2002 का वक्तव्य बहुत विवादास्पद हुआ था, जिसमें उन्होंने एक मरी हुई गाय की चमड़ी उतारने के 'अपराध' में झज्जर में भीड़ द्वारा की गयी पाँच दलितों की हत्या को यह कह कर औचित्य प्रदान किया था कि 'हमारे पुराणों में गाय का जीवन मनुष्य से अधिक मूल्यवान समझा जाता है।'

मध्यप्रदेश की मुख्यमंत्री के तौर पर अपने कार्यकाल में, उन दिनों भारतीय जनता पार्टी से जुड़ी उमा भारती ने गोहत्या के खिलाफ अध्यादेश जारी करते हुए मनुस्मृति की भी हिमायत की थी, (जनवरी 2005)। वक्तव्य में कहा गया था कि 'मनुस्मृति में गाय के हत्यारे को नरभक्षी कहा गया है और उसके लिए सख्त सज़ा का प्रावधान है।' चर्चित राजनीतिविद शम्सुल इस्लाम ने इस सिलसिले में लिखा था कि 'आज़ाद भारत के कानूनी इतिहास में यह पहला मौका था जब एक कानून को इस आधार पर उचित ठहराया गया था कि वह मनुस्मृति के अनुकूल है।' ('द रिटर्न आफ मनु, द मिल्ली गैजेट, 16-29 फरवरी 2005)

योगिन्दर सिकंद, अपने एक आलेख में हिंदुत्व के नेताओं के ऐसे ही साक्षात्कार के अपने अनुभवों को साझा करते हुये लिखते हैं। (www.countercurrents.org/commsikand-

230204.htm) हिंदुत्व के अग्रणी नेता साफ यह कहते मिलते हैं कि उनके सपनों का हिन्दू राष्ट्र क्लासिकीय हिन्दू राज्य का अनुकरण करेगा तथा ब्राह्मणवाद की खतरनाक रचना 'मनुस्मृति' पर आधारित होगा, जिसने 'निम्न' जातियों और 'ऊँची' जाति की महिलाओं को भी ऐसी क्रूर गुलामी में ढकेला जिसकी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। प्रश्न उठता है कि मनुस्मृति के अपने आकर्षण के बावजूद, संघ एवम उसके आनुषांगिक संगठनों के लिए यह किस तरह संभव हो सका है कि वह तमाम दलितों एवम आदिवासियों को अपने साथ जोड़ सके।

इसे समझने के लिए जहाँ हमें दलित आंदोलन के अपने गतिविज्ञान की पड़ताल करनी होगी-जो अंबेडकर के बाद के काल में फूट-दर-फूट का शिकार हुआ है, वहीं हमें संस्कृतिकरण की उन प्रक्रियाओं को तलाशना होगा जिसने संभवतः इन उत्पीड़ित समुदायों को ऊँची जातियों का अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया है। लेकिन यह समूची चर्चा अधूरी रह जाएगी अगर हम हिन्दुत्व की परियोजना के कर्णधारों द्वारा अपने कार्यविधान में लाए गए बदलावों पर निगाह नहीं डालेंगे!

एक आंदोलन का विकास

यह कहा जा सकता है कि 1990 के दशक की शुरुआत एक ऐसे धमाके के साथ हुई जहाँ सांप्रदायिक और फासीवादी शक्तियों की काट के तौर पर एक हद तक दलित तथा पिछड़ी जातियों के उभार ने काम किया, वहीं इस दशक के समाप्त होते-होते दलितों और पिछड़ी जातियों का एक हिस्सा 'कमंडल' राजनीति में समाहित होता दिखा। यह सारा कुछ इस कटु तथ्य के बावजूद हुआ कि भाजपा के संरक्षक संघ परिवार ने कभी-भी उस चातुर्वर्ण व्यवस्था की निंदा नहीं की जो मुख्य रूप से दलितों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार है और न तो इसने कभी इस बात के लिए खेद व्यक्त किया या ऐसा कोई अवसर हाथ से जाने दिया जब उसने कथित 'ब्रिटिश समर्थक' विचारों के लिए डा0 अंबेडकर की भर्त्सना न की हो या किसी न किसी बहाने आरक्षण की नीति का विरोध न किया हो।

इस परिघटना को समझने के लिए अंबेडकर के बाद के दलित आंदोलन पर विचार करना होगा और दलित राजनीति में आए परिवर्तनों का समग्र रूप से जायजा लेना होगा। डा0 बाबा साहेब अंबेडकर के निधन के बाद दलित राजनीति उतार-चढ़ाव के जिस दौर से गुजरी, उसे मोटे तौर पर तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है-रिपब्लिकन पार्टी का उदय और अस्त, दलित पैंथर्स की शुरुआत और राजनीतिक सत्ता के लिए दलितों के अंदर तीव्र होती आकांक्षा तथा आरक्षण की नीति के फलस्वरूप शिक्षा और नौकरियों के अवसर मात्र से ही संतुष्ट होने से उनका इनकार।

यह बताने की ज़रूरत नहीं की जात-पाँत से ग्रस्त आज की राजनीति में दलित दावेदारी की परिघटना में अपार संभावनाएँ हैं। इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मणवादी मूल्यों और परंपराओं के प्रभुत्व में पल रही राजनीति और भारतीय समाज के वास्तविक जनतांत्रीकरण की दिशा में यह आगे का एक कदम है। बहुजन समाज पार्टी का प्रभावकारी हस्तक्षेप राष्ट्रीय राजनीति की इस तीसरी अवस्था को रेखांकित करता है। ध्यान देने की बात है कि अंबेडकर के बाद दलित आंदोलन के प्रारंभिक दो चरणों में महाराष्ट्र में दलित राजनीति ने एक तरह से देश के पैमाने पर दलित सियासत की दिशा को निर्देशित किया लेकिन तीसरे चरण में इसकी भूमिका तेजी से हाशिए पर आ गयी है। बहुजन समाज पार्टी द्वारा हासिल सफलता ने निश्चय ही देश के विभिन्न हिस्सों में इस तरह के प्रयोगों को शुरू करने के लिये प्रोत्साहन दिया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इस चरण में विभिन्न दलित जातियों में भी एक और प्रत्यक्ष प्रवृत्ति देखने को मिली। विभिन्न दलित समूह अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए अपनी अलग-अलग जातियों और उपजातियों के झंडे तले खुद को संगठित कर रहे हैं। इसके फलस्वरूप वर्ण व्यवस्था के अलावा उनके निशाने पर तथाकथित संपन्न दलित जातियाँ या अपने बीच की मलाईदार परत (क्रीमी लेयर) भी हैं क्योंकि उन्हें ये महसूस होता है कि इन लोगों ने आरक्षित पदों के एक बड़े हिस्से पर एकाधिकार जमा लिया है। इस उभरती प्रवृत्ति की झलक महाराष्ट्र में महार/ नव बौद्धों बनाम मातंग और चर्मकार और आंध्र प्रदेश में माला बनाम मादिगा की बहस में देखी जा सकती है। यहाँ तक कि आँध्र प्रदेश में अनुसूचित श्रेणी से आने वाली दो जातियों माला और मादिगा के बीच विवाद ने मादिगा लोगों के एक जुझारू आंदोलन को जन्म दिया।

यह भी उल्लेखनीय है कि जहां तक केसरिया पलटन के साथ गठजोड़ का सवाल है दलित आंदोलन के भीतर और खास तौर से उनके बुद्धिजीवियों के बीच तीन तरह की राय देखने को मिलती है। इनमें से एक धारा का कहना है कि कार्यनीति के आधार पर इस तरह का गठजोड़ होना चाहिए और उसका मानना है कि इस तरह की अस्थायी एकता लंबे समय के लिए लाभदायक सिद्ध होगी। इसकी दलील के पीछे वह सहज अंतर्विरोध है जो खास तौर से ग्रामीण क्षेत्रों में प्रगति की ओर उन्मुख पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच दिखायी देता है। उनका मानना है कि पिछड़ी जातियों से आए इन नए कुलकों ने दलितों को अपने दमन का ज्यादा निशाना बनाया है और भाजपा जैसी उच्च जाति की पार्टी के साथ गठजोड़ करके वे खुद को उनके हमले से बचा सकते हैं। उनका स्पष्ट तौर पर कहना है कि सांप्रदायिक फासीवाद से ज़्यादा ख़तरनाक है 'सामाजिक फासीवाद' (जिसका प्रतिनिधित्व नया कुलक नेतृत्व करता है)। अपनी बात को साबित करने के लिए वे देश के विभिन्न हिस्सों में कुलकों के हाथ कितने दलित मारे गए, आँकड़े भी पेश करते हैं।

दूसरी धारा के लोग केसरिया पलटन के साथ थोड़े समय भी किसी तरह के गठजोड़ का विरोध करते हुए यह दलील देते हैं कि दलितों को अपने स्वाभाविक मित्रों की तलाश करनी चाहिए और इस धारा के समर्थकों के अनुसार ये स्वाभाविक सहयोगी विभिन्न क़िस्म के वामपंथी ही हो सकते हैं। उनके अनुसार बुनियादी तौर पर फासीवादियों के सामने ब्राह्मणवादी व्यवस्था को फिर से स्थापित करने की योजना है और ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जिससे उनकी इस मध्यकालीन योजना को वैधता प्रदान की जा सके।

तीसरी धारा के लोग 'सांप्रदायिक फासीवाद' के विरोधियों या 'सामाजिक फासीवाद' के विरोधियों दोनों से समान दूरी बनाए रखने की दलील देते हैं। इस धारा के लोगों का मानना है कि हम राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका तभी निभा सकते हैं जब खुद अपने बलबूते पर एक शक्तिशाली दलित आंदोलन का निर्माण करें।

दलितत्व की यात्रा

'बाबासाहेबाच्या मागे कुणी काय केलं/ कुणी झाले
एमएलए, कुणी झाले एमएलसी, आम्ही राहिलो उपाशी'

(70 के दशक का चर्चित मराठी गीत : बाबासाहब के जाने के बाद हमने क्या किया / कोई बना एम0एल0ए0, कोई बना एम0एल0सी0, हम करते रहे फाकाकशी')

इक्कीसवीं सदी की शुरूआत में दलितों की समग्र परिस्थिति में अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। एक तरफ, उनका बहुमत गरीब, भूमिहीन है और विभिन्न किस्म के अभावों और अन्यायों का शिकार है। देश के अधिकतर हिस्सों में आज भी जातिगत विभेद जारी हैं। अस्पृश्यता को आधी सदी पहले भले ही आधिकारिक तौर पर समाप्त किया गया हो लेकिन उसका अस्तित्त्व आज भी बना हुआ है। समाज के इस तबके के खिलाफ़ अपराध आम हैं। पुलिस, प्रशासन से लेकर न्यायपालिका तक हम वर्ण मानसिकता की पकड़ देख सकते हैं।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों को संविधान के प्रावधानों के हिसाब से संरक्षण प्रदान करने के लिए कई सारे सुरक्षात्मक तथा विकासात्मक कदम बढ़ाए गए हैं। 'सुरक्षात्मक' कदमों के अंतर्गत, अस्पृश्यता को कानूनी तौर से समाप्त घोषित किया गया है और उसके व्यवहार पर किसी भी रूप में पाबंदी लगा दी गयी है। आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक दायरों में इन तबकों की सुगमता और सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिए आरक्षण और प्रतिनिधित्व की नीतियाँ भी बनायी गयीं।

अंबेडकर के आंदोलन का सबसे स्पष्ट प्रभाव यही रहा है कि सभी दलित जातियों में शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ी है। इन पढ़े लिखे दलितों में से कइयों ने सरकारी नौकरी, सार्वजनिक उद्यम और अध्यापक का पेशा अपनाया है। इस समूह का अच्छा खासा हिस्सा अब पहली पीढ़ी का मध्यमवर्ग नहीं है। हालाँकि, आज भी लोगों के दिलो दिमाग पर सदियों पुरानी जाति व्यवस्था की जकड़न के पड़े रहने के कारण दलितों के नये पेशों में प्रवेश का रास्ता आजभी कठिन बना हुआ है।

वर्गीय जड़ों और सामाजिक-सांस्कृतिक रुख में अलगाव ने एक ऐसी परिस्थिति पैदा की है कि एक ही किस्म के सामाजिक मूल से निकले होने के बावजूद, दलित जनता और दलित मध्यम वर्ग के अनुभवों, शिकायतों एवम आकाँक्षाओं में काफी फर्क है। दलित आंदोलन का आंतरिक गतिविज्ञान जिस तरह विकसित हुआ है, जहाँ रैडिकल बदलावमूलक नारों के स्थान पर किसी भी तरह 'सत्ता हासिल करने' की बात ने जोर पकड़ा है, उसने भी एक ऐसा वातावरण तैयार किया है जिसने इस विभाजन को और मज़बूती दी है। धार्मिकता का विस्फोट जो समाज के विभिन्न तबकों में दृष्टिगोचर है, उसने भी दलितों को प्रभावित किया है।

दलित मध्यम वर्ग की चर्चा करते हुए संदीप पेण्डसे लिखते हैं, 'अब वह अपने पैरों पर खड़ा हो सका है और उसने अपनी अलग क़िस्म की रुचियाँ भी विकसित की हैं। वह अब अलग किस्म की पहचान की माँग नहीं कर रहा है, अब वह मुख्यधारा में शामिल होना चाहता है और स्वीकारा जाना चाहता है, यहाँ तक कि हिन्दू धारा से भी उसे गुरेज नहीं है। अब वह जनतांत्रिक, रैडिकल सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की भी बात नहीं कर रहा है। अब वह एकीकरण चाहता है।' (संदीप पेण्डसे, 'द दलित्स एण्ड हिन्दुत्व : गेनर्स एण्ड लूजर्स' हिन्दुत्व एण्ड दलित्स, संपा0 आनंद तेलतुम्बड़े, 2005, साम्या) दरअसल हिन्दू प्रणाली को पूरी तरह ख़ारिज करने के बजाय, दलित मध्यम वर्ग ने इस उम्मीद में यह रास्ता चुना दिखता है कि उसे आस्था और सामाजिक ओहदे के क्षेत्र में लाभ होगा। समाजविज्ञानी नलिनी पंडित ने अपने एक अन्य आलेख में लिखा है : 'मध्यमवर्गीय दलितों में यह तमन्ना दिखती है कि वे उच्चजातीय मध्यम वर्ग के साथ मेलमिलाप बढ़ा सकें जो तबका कमसे कम महाराष्ट्र में ज़बरदस्त ढंग से सांप्रदायिक है। स्वाभाविक तरह से दलित भी चिंतन एवम व्यवहार में उनका अनुकरण करते हैं।'

सामान्य स्तर पर देखें तो जाति का गतिविज्ञान अन्य तरीकों से भी उद्घाटित हुआ है। जैसा कि सभी जानते हैं जाति प्रथा, बुनियादी तौर पर सामाजिक श्रेणीबद्धता की एक प्रणाली है जो शुद्धता एवम प्रदूषण के दोहरे सिद्धांत पर टिकी है, जिसे धर्म से वैधता एवं पवित्रता प्राप्त है। सामाजिक गतिशीलता की समूची प्रक्रिया को देखें तो निम्न जातियों के समक्ष महज दो विकल्प ही उपलब्ध हैं। वे या तो धर्म की समग्र रचना को ही ख़ारिज कर सकते हैं या उसका परित्याग कर सकते हैं, जो इस व्यवस्था को पवित्र घोषित करता है या एक वैकल्पिक पहचान पाने की कोशिश कर सकता है। दूसरा रास्ता यह है कि वे दबंग जातियों के जीवन और रस्म-रिवाज का अनुकरण करते हुए सामाजिक अनुक्रम में आगे

...ने की कोशिश कर सकते हैं।

कुल मिलाकर देखें तो दलित आंदोलन का गैरक्रांतिकारीकरण (डीरेडिकलायजेशन), दलित अवाम और स्थायी हो चुके दलित मध्यम वर्ग के बीच की बढ़ती दूरी और धार्मिकता के विस्फोट, आदि कारकों के चलते दलितत्व के गतिविज्ञान को एकरेखीय ढंग से प्रस्तुत करना संभव नहीं हो पा रहा है। इसके बरअक्स हम यह कह सकते हैं कि दलितत्व की यात्रा एक ऐसे क्षेत्र से गुजरती हुई दिखाई दी है जहाँ अंतर्विरोधी पहलू साथ साथ मौजूद हैं। उसकी एक धारा हिन्दू धर्म के प्रति और हिन्दुत्त्व की राजनीतिक परियोजना की तरफ नये आकर्षण को प्रगट करती दिखी है, वहीं उसकी दूसरी धारा ने जनतांत्रिक या रैडिकल शक्तियों के साथ अपने आप को जोड़ा है और वह सम्मान एवं जीवनयापन तथा राजनीतिक सत्ता के संघर्ष में मुब्तिला है। दलितों और उनके नेताओं की भारतीय राजनीति में (बकौल प्रोफ़ेसर गोपाल गुरू) 'अतिथि कलाकार' की भूमिका का दौर बहुत पहले ख़त्म हो चुका है; और आज वे भारतीय समाज का सबसे गतिमान हिस्सा है जो अपने फैसले खुद लेता दिखाई दे रहा है।

दलित आंदोलन के अपने आंतरिक तर्क के अलावा, जिसने यथास्थितिवादी विचारों के लिए वहाँ नया आधार पैदा किया है, दलितों को अपने घृणाआधारित परियोजना में शामिल करने के लिए संघ परिवार की समग्र रणनीति में भी काफी बदलाव आए हैं। उसने अपनी बुनियादी अंतर्वस्तु अक्षुण्ण बनाए रखते हुए अपने फोकस को संशोधित किया है। वे दिन बीत गए जब हेडगेवार एवम गोलवलकर के दौर की तरह, संघ परिवार के अंदर अंबेडकर निंदा एवम भर्त्सना के पात्र थे; जब हिन्दू धर्म संबंधी उनके विचारों को लेकर संघ के स्वयंसेवक आगबबूला होते थे। आज न केवल संघ के दायरे में अम्बेडकर का पुनर्मूल्यांकन किया गया है और प्रातःस्मरणीयों की सूची में उन्हें शामिल किया गया है, बल्कि संघ के कर्णधार अब यह भी कहने लगे हैं कि हिन्दू समाज दलित नेतृत्व में संगठित होगा। (द स्टेटसमैन, 24 जुलाई 2006)

अस्पृश्यता का विकास : 'ज्ञान के मोती'

"ब्राह्मण विद्वानों का जो भी रुख हो, मैंने जो कार्यभार हाथ में लिया है, उसे मुझे पूरा करना ही होगा। इन वर्गों का उद्गम एक ऐसा विषय है जिसकी पड़ताल की जानी अभी बाकी है 'हिन्दुओं ने इस जांच/अन्वेषण के काम को हाथ में नहीं लिया यह बात पूरी तरह समझ में आ सकती है। बूढ़ा सनातनी हिन्दू नहीं सोचता कि अस्पृश्यता को जारी रखने में कुछ गलत है। उसके लिए यह बिल्कुल सामान्य एवं स्वाभाविक चीज़ है। इसकी वजह से न वह प्रायश्चित की बात करता है और न ही किसी स्पष्टीकरण की। नया आधुनिक हिन्दू गलती समझता है लेकिन वह इस बात की सार्वजनिक चर्चा करना नहीं चाहता कि कहीं विदेशी को पता न चले कि हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता जैसी कुख्यात एवम दमनकारी सामाजिक संहिता आज भी कायम है। (डा0 अंबेडकर, अछूत : वे कौन थे और वे कैसे अछूत बने ?)

संघ के स्थापनादिवस विजयादशमी के अवसर सरसंघचालक द्वारा प्रस्तुत वक्तव्य को शेष भारत में वसे स्वयं सेवकों के बीच ही नहीं बल्कि बाहर बसे स्वयं सेवकों की निगाह में भी विशेष महत्त्व होता है। संघ की बढ़ती स्वीकार्यता या हिन्दुत्त्व की राजनीतिक परियोजना को हिन्दुओं के बीच मिलती अधिक वैधता के चलते सरसंघचालक द्वारा प्रस्तुत वक्तव्य में कही या अनकही बातों पर भी गौर किया जाता है। लेकिन वर्ष 2003 के अपने दशहरा के व्याख्यान में वर्तमान सुप्रीमो सुदर्शन ने जो बात कही थी वह एक तरह से अभूतपूर्व थी। इस लंबी तकरीर में अस्पृश्यता के उद्गम का एक नया 'सिद्धांत' पेश किया गया। जनाब सुदर्शन ने कहा था :

'लेकिन विडंबना यही है कि उस महान संत के वंशज- आज का वाल्मीकी समुदाय-वह आज की तारीख में अस्पृश्यता की स्थिति में ढकेल दिया गया है। ऐसा क्यों हुआ? दरसअल वाल्मीकी समाज के लोग पहले योद्धाओं की जाति से जुड़े थे। कुछ इतिहासकार कहते हैं कि इस्लामिक आक्रमणकारियों ने इन हिन्दू योद्धाओं के सामने दो विकल्प रखते थे : इस्लाम कबूल करो या सफाई कर्मचारी बन कर उनके पाखाने साफ करो। हालाँकि तमाम ऊँची जाति के लोगों ने इस्लाम कबूल किया, इन योद्धाओं ने धर्म के प्रति अपनी समझौताविहीन निष्ठा को प्रमाणित करते हुए निम्न क़िस्म का काम करना कबूल किया लेकिन धर्म का परित्याग नहीं किया।'

कोई भी निष्पक्ष विश्लेषक तत्काल इस बात को समझ सकता है कि इस 'सिद्धांत' के जरिए एक तीर से दो निशाने साधे गए हैं। भूल जाइये मनुस्मृति को, भूल जाइये युगों पुरानी वर्णव्यवस्था को जिसने शूद्रों-अतिशूद्रों एवम महिलाओं को इन्सान से कमतर समझा। अब यह नया 'सिद्धांत' साफ़-साफ़ बताता है कि अस्पृश्यता की जड़ें मुस्लिम काल में ढूँढी जा सकती हैं। अपने वक्तव्य की प्रामाणिकता के लिए सुदर्शन ने हिन्दुओं के व्यवहार के लिए अपनी तरफ से 'माफी' भी माँग ली जिन्होंने 'अस्पृश्यों को सबसे बड़ा सम्मान देने के बजाय उन्हें निचली पायदान पर ढकेल दिया।'

संघ की गतिविधियों पर निगाह रखनेवाले आप को बता सकते हैं कि यह कोई पहला मौका नहीं था कि संघ के कर्णधारों ने दलितत्व के उद्गम की ऐसी परिभाषा पेश की। संघ परिवार के अन्य वरिष्ठ नेता अशोक सिंघल, जो विश्व हिन्दू परिषद के अंतरराष्ट्रीय अध्यक्ष भी हैं, उन्होंने 'आर्गनायजर' (20 अगस्त, 1995) में बताया था कि मुस्लिम शासक चाहते थे कि दलित उनके धर्म का स्वीकार करें, लेकिन दलितों द्वारा इस बात से निरंतर इन्कार किए जाने पर उन्होंने उनकी जमीनें छीनीं और इस तरह दलित समुदाय अस्तित्त्व में आया।

इतिहास या समाज का कोई भी विद्यार्थी इस बात को आसानी से समझ सकता है कि अगर अस्पृश्यता के उद्गम के बारे में इस विश्लेषण को लोकप्रिय बनाया गया और उसे व्यापक वैधता/स्वीकार्यता मिली, तो इसके अलग नतीजे सामने आ सकते हैं। अब जहाँ तक बहुसंख्यकवादी हिन्दुत्व के दक्षिणपंथ का सवाल है वह एक ही साथ कई सारे उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वह वर्णाश्रम के पैरोकारों या उसके संरक्षकों को अस्पृश्यता की संरचना गढ़ने में सहभागिता से पूरी तरह मुक्त कर देता है और इस तरह अपने एजेंडा में जातिविरोधी संघर्ष को शामिल करने या उसकी उपस्थिति को स्वीकारने को भी औचित्य प्रदान कर देता है। यह 'सिद्धांत'—जो अस्पृश्यता के उद्गम के लिए बाहरी कारकों को ज़िम्मेदार ठहराता है-की सारवस्तु यही है कि वर्तमान जाति-आधारित संरचना के सुधार या उसके उन्मूलन की कोई ज़रूरत नहीं है। वह हिंदुत्ववादी शक्तियों को एकजुट रखने के लिए एक नया बहाना प्रदान करता है जो इस्लाम या मुसलमानों के साथ हिन्दुओं के किसी भी किस्म के सहयोग से इन्कार करते हैं।

जय हिन्दुत्व या जय भीम : अतिवादी दलित का आगमन

रमेशभाई परमार, वालजीभाई पटेल और आनंदी परमार या टिकाजीभाई आदि नामों के बीच क्या समानता ढूँढी जा सकती है ? जैसे कि उनके नामों से स्पष्ट है, वे सभी गुजराती हैं, लेकिन अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी अंबेडकरवादी दलित आंदोलन का हिस्सा हैं जिन्होंने हिन्दुत्व ब्रिगेड की 'जनसंहार की राजनीति' का हिस्सा बनने से इन्कार किया, जबकि बहुत कुछ दाँव पर लगा था।

यह बात तो स्वतःस्पष्ट है कि ऐसे लोग, जो लोग स्वतंत्र ढंग से सोचते हों और जो वास्तविक दलित मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हों, उनके लिए संघ परिवार के विश्व में कोई स्थान नहीं है। संघ को ऐसे ही लोग चाहिए जो उसके चिंतन में ढलने के लिए तैयार हों। मालूम हो कि वर्ष 2002 के गुजरात जनसंहार के बाद जब धार्मिक अल्पसंख्यकों को आतंकित रखने एवम डराने की कोशिशें जारी थीं उन दिनों गुजरात के उन अंबेडकरवादियों, स्वतंत्र दलित और आदिवासी समूहों को भी दबाने की कोशिशें चली थीं जिन्होंने मार्च-अप्रैल 2002 के उन झंझावाती दिनों में हिन्दुत्व ब्रिगेड का साथ देने से इन्कार किया था।

रमेशभाई परमार, वालजीभाई पटेल और आनंदी परमार जैसे लोगों के स्थान पर संघ परिवार उन लोगों को वरीयता देता है जो भले ही उत्पीड़ित समुदायों में जनमे हों लेकिन जो खुद हिन्दुत्व के पैरोकार बनने के लिए तैयार हों। रमेश पतंगे, किशोर मकवाना और मदन दिलावर जैसे लोग संघ परिवार का नया दलित 'चेहरा' कहे जाते हैं। ऐसे लोग न केवल अंबेडकर की 'हिन्दू समाज सुधारक' की एक ऐसी छवि पेश करने के लिए तैयार रहते हैं जो मुसलमानों की मुखालिफत करते रहे हों। उन्हें यह कहने में भी कोई गुरेज नहीं होता कि अंबेडकर और गोलवलकर में कई समानताएँ हैं या संघ के संस्थापक-सदस्य हेडगेवार के विस्तार के तौर पर अंबेडकर को देखा जा सकता है। इन दिनों रमेश पतंगे संघ परिवार द्वारा स्थापित सामाजिक समरसता मंच के अगुआ हैं और उसके मराठी मुखपत्र 'विवेक' के संपादक भी हैं। किशोर मकवाना संघ परिवार द्वारा गुजराती में प्रकाशित पत्रिका 'साधना' के संपादक हैं और मदन दिलावर हाल तक राजस्थान में सत्तासीन रही वसुंधरा राजे मंत्रीमंडल के सदस्य थे और अपने गृहजिले कोटा में ईसाई विरोधी मुहिम को शह देने वालों में से एक रहे हैं।

निश्चितही 'हिन्दुत्वकृत' दलित का निर्माण या अंबेडकर को समाहित करने की कोशिशें संघ परिवार के लिए आसान नहीं रही हैं। एक लंबा संक्रमणकाल रहा है जिस दौरान दलित मुद्दे को संबोधित करने के लिए संघ परिवार ने एक साथ कई क़िस्म की कोशिशें की हैं। एक ऐसे राजनीतिक-सांस्कृतिक समूह के लिए जिसने अपने निर्माण के समय से ही बेहद रूढिवादी और गैरसुधारवादी क़िस्म के हिन्दू धर्म की हिमायत की है, जिसमें दलितों-शूद्रों-स्त्रियों के लिए दोयम दर्जे का स्थान निर्धारित रहा है, उसके पास अंबेडकर की चुनौती से निपटने के लिए कोई कारगर फार्मूला नहीं रहा है। इसमें सबसे अहम बात यही है कि संघ को चातुर्वर्ण्यआधारित एकांतिक/ अलग-थलग किस्म के हिन्दुत्व से अधिक समावेशी किस्म के हिन्दुत्व की ओर ले जाने में गोलवलकर के बाद सरसंघचालक बने बालासाहब देवरस की केन्द्रीय भूमिका रही है। अपने आलेख 'हिन्दू एकता और सामाजिक समानता' (हिन्दू यूनिटी एण्ड सोशल इक्वालिटी) में उन्होंने इस मसले पर अपने चिंतन को सूत्रबद्ध किया है (1974)। भले ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना नागपुर में हुई हो (1925) और उसका मुख्यालय वहीं स्थित हो या अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म का स्वीकार करने के लिए डा0 अंबेडकर ने नागपुर को ही चुना हो (1956), लेकिन यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि दीक्षाभूमि अर्थात वह स्थान जहाँ डा0 अंबेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकारा वहाँ पहुँचने के लिए संघ परिवार को लगभग बीस साल लगे हैं। देवरस सबसे पहले संघ के नेता थे जो दीक्षाभूमि पहुँचे हैं।

गौरतलब है कि दलित अवाम में अपनी अधिक स्वीकार्यता बनाने के लिए संघ ने 'रिडल्स इन हिन्दूइजम' जैसी डा0 अंबेडकर की मौलिक रचना-जिसमें हिन्दू धर्म पर कई सारे प्रश्न खड़े किए गए थे-खुल्लमखुल्ला समर्थन दिया जिसे लेकर समूचे महाराष्ट्र में वर्णवादी मानसिकता के लोग आंदोलित थे, जिनकी अगुआई शिवसेना जैसी ताकतें कर रही थीं। दरअसल महाराष्ट्र सरकार द्वारा अंबेडकर की समग्र रचनाओं के प्रकाशन में इस रचना को शामिल करने को लेकर विवाद खड़ा हुआ था। शिवसेना का कहना था कि उपरोक्त रचना को समग्र रचनाओं के संकलन से अलग रखा जाए

क्योंकि उसमें 'राम और कृष्ण के प्रति विवादित टिप्पणियाँ' की गयी हैं।

हिन्दुत्व की शक्तियों ने दलितों और मुसलमानों के बीच नए अंतर्विरोध पैदा करने के लिए स्थानीय रणनीतियों का भी जम कर इस्तेमाल किया। इसमें उनके निशाने पर लोगों की साझी परंपराएँ थीं जहाँ दोनों समुदायों के लोग-खासकर समाज के निम्न तबके से संबंधित लोग-पहले आसानी से आपस में घुलमिल लेते थे। इस रणनीति का हिस्सा रहा है दलितों के बीच 'ऐसे नायकों को तलाशना ताकि आक्रांता मुसलमानों के खिलाफ़ उनका इस्तेमाल किया जा सके और फिर उसे हिन्दुओं में सांप्रदायिक स्मृतियों को मजबूती दिलाने के लिए इस्तेमाल किया जा सके। (बद्री नारायण, मेमरीज, साफ्रनायजिंग स्टेच्यूस एण्ड कन्स्ट्रक्टिंग कम्युनल पॉलिटिक्स,' इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 11 नवंबर, 2006)

सामाजिक समरसता मंच : दलितों को समाहित करने की एक नयी चाल

सामाजिक समरसता मंच के गठन के लगभग पचीस साल से अधिक समय के कालखंड को स्थूल रूपों में दो चरणों में बाँटा जा सकता है। पहले चरण में जोर इस बात पर नहीं था कि दलित मंच से जुड़े बल्कि ग़ैरदलितों विशेषकर सवर्णो को समझाने पर था कि उन्हें अंबेडकर के बारे में अपने रुख को बदलना चाहिए। इसके पीछे यही विचार काम कर रहा था कि अंबेडकर को एक हिन्दू समाज सुधारक के तौर पर पेश किया जाए और वर्णव्यवस्था के पैरोकारों को कहा जाए कि जिस तरह अन्य समाज सुधारकों की तरह उन्हें भी हिन्दुत्व की विराट परंपरा का हिस्सा बनाया जाए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक दलित विरोधी संगठन है, इस धारणा को इसके जरिए दूर करना था। इस शुरूआती चरण में संघ परिवार ने दलित जन को नहीं बल्कि दलित बुद्धिजीवियों को अपनी ओर आकर्षित करने की या उन्हें अपने साथ जोड़ने की कोशिश की। यह अकारण नहीं था कि डा गंगाधर पानतावणे जैसे चर्चित दलित बुद्धिजीवी-जो 'अस्मितादर्श' नामक पत्रिका के संपादक थे-जब मंच द्वारा आयोजित एक सम्मेलन को संबोधित करने पहुँचे (1988) तो उसके चलते दलित आंदोलन में ज़बरदस्त हडकंप मच गया। सामाजिक समरसता मंच और संघ परिवार से संबद्ध कई आनुषंगिक संगठनों ने डा0 अंबेडकर का जन्मदिन (14 अप्रैल) और परिनिर्वाण दिवस (6 दिसंबर) स्थानीय स्तर पर मनाना भी शुरू किया।

मंच के विकास के बारे में संघ परिवार के ही एक कार्यकर्ता द्वारा पेश विवरण ध्यान देने योग्य है। साप्ताहिक विवेक के अपने आलेख में रमेश पतंगे ने लिखा : 'यह सत्तर का दशक था जब समरसता जैसी धारणा को वैचारिक दायरे में पहली दफा पेश किया गया। और इस बात का श्रेय निश्चित ही दत्तोपंत ठेंगडी को जाता है। वर्ष 1983 में उन्होंने इस बात पर गौर किया कि डा0 अंबेडकर का जन्मदिन और डा. हेडगेवार का जन्मदिन एकही दिन पड़ रहा है। इसे देख कर वह एक नया मंच शुरू करने के लिए प्रेरित हुए। पुणे में सामाजिक समरसता मंच की स्थापना के पीछे उद्देश्य यह भी था कि इसके जरिए नये विचारों को आगे ले जाया जा सकेगा। इस अवसर पर श्री ठेंगडी ने एक भाषण दिया जिसे बाद में एक पुस्तिका के रूप में 'समरसता के बिना समता असंभव' शीर्षक से प्रकाशित किया गया।

दूसरे (और वर्तमान) चरण में जब संघ के कर्णधारों को लगा कि संघ की नयी सैनिटाइज्ड/साफसुथरी छवि पेश करने के लिए पर्याप्त जमीन बना ली गयी है, तब उसने दलित जनता को अपनी गतिविधियों के साथ जोड़ने के लिए काम शुरू किया। अपने सन्देश को लोगों तक पहुँचाने के लिए मंच ने पुस्तिकाओं (जैसे ठेंगडी रचित 'समरसता') का प्रकाशन शुरू किया, बैठकों/कार्यशालाओं का आयोजन शुरू किया, सम्मेलनों का आयोजन किया और समूचे महाराष्ट्र में फुले-अंबेडकर-हेडगेवार जैसे 'समाजसुधारकों' का संदेश पहुँचाने के लिए 'संदेश यात्राओं' का आयोजन किया। इतना ही नहीं हर साल अक्तूबर माह में जब लाखों की तादाद में दलित समुदाय के लोग नागपुर की दीक्षाभूमि में एकत्र होते हैं, वहाँ पर बुद्ध के जीवन पर केंद्रित प्रदर्शनी का भी आयोजन मंच की ओर से किया गया। मालूम हो कि अक्तूबर 1956 में ही डा0 अंबेडकर की अगुआई में लाखों लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था, जिसे हर साल मनाया जाता है। लेकिन एक तरह से देखें तो मंच का सबसे साहसी कदम था 'रिडल्स इन हिन्दूइजम' के प्रकाशन को उसके द्वारा दिया गया समर्थन।

'समरसता' प्रयोग पर अपनी राय जाहिर करते हुए चर्चित राजनीतिक वैज्ञानिक सुहास पलशीकर लिखते हैं कि अंबेडकर की हिमायत करके संघ अपनी छवि दुरुस्त करना चाहता था, हालाँकि वह इस बात के प्रति स्पष्ट था कि डा0 अंबेडकर की रैडिकल बदलाव की विरासत से उसका कोई लेना-देना नहीं रहेगा। पलशीकर का विश्लेषण इस बात को उजागर करता है कि संघ ने इस काम को किस तरह अंजाम दिया। (सुहास पलशीकर, 'महाराष्ट्र : दलित पॉलिटिक्स इन हिन्दुत्व ट्रेप', हिन्दुत्व एण्ड दलित्स, संपा0 आनंद तेलतुम्बडे) शुरूआत में संघ ने इस बात पर जोर दिया कि अंबेडकर एक राष्ट्रीय प्रतीक हैं (महज दलितों के नेता नहीं हैं)। दूसरे सामाजिक समरसता मंच ने अंबेडकर की ऐसी छवि पेश की जो हिन्दू हितों और हिन्दू एकता के अनुकूल थी। यह कहने के बाद कि अंबेडकर हिन्दू धर्म के कल्याण में दिलचस्पी रखते थे, समरसता मंच ने फिर अंबेडकर को हिन्दू धर्म के एक सुधारक के तौर पर प्रस्तुत किया। एक बार अंबेडकर को हिन्दू सुधारकों के घेरे में शामिल करने के बाद, समरसता मंच ने एक हिन्दूवादी चिंतक के तौर पर अंबेडकर की छवि को यह कहकर नयी मजबूती प्रदान की

कि वे मुस्लिम विरोधी थे। मालूम हो कि अंबेडकर द्वारा किए गए बौद्ध धर्म के स्वीकार को भी इस सिलसिले में एक तर्क के तौर पर इस्तेमाल किया गया।

यह स्पष्ट है कि अंबेडकर की रैडिकल विरासत के इस विकृतीकरण को रोकना दलित आंदोलन के लिए लगभग असंभव हो गया। दलित आंदोलन में जारी फूट-दर-फूंट का सिलसिला और दलित बुद्धिजीवियों में व्याप्त भ्रम ने एक ऐसी स्थिति पैदा की कि अपने एजेंडा के विस्तार में संघ को सीमित सफलता मिली।

अंबेडकर की वास्तविक विरासत का प्रश्न

साफ़ है कि दलितों के एक हिस्से के 'हिन्दुत्वकरण' और उत्पीड़ितों के एक महान नेता को इस एजेण्डे में समाहित करने का सिलसिला यहीं खतम नहीं होता। यह हमारे वक्त की सबसे बड़ी त्रासदियों में से एक है कि समाज का ऐसा हिस्सा जो सदियों से मनुवादी/ब्राह्मणवादी व्यवस्था का शिकार रहा है वही आज हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की परियोजना का सबसे बड़े संरक्षक के तौर पर रूपांतरित होता दिख रहा है। यह बेहद विचलित करने वाली हक़ीकत है कि दलितों (और आदिवासी समूहों का) अच्छा खासा हिस्सा जिसे किसी भी इन्कलाबी रूपांतरण की रीढ़ होना चाहिए, वही आज खेमा बदल कर ऐसे समूह के साथ जुड़ता दिख रहा है जो नफ़रत और अलगाव पर टिके अपने एजेंडा को आगे बढ़ाने में मुब्तिला हैं।

यह तथ्य भी कम विचलित करने वाला नहीं है कि वह महान शख्स जिसने ता उम्र हिन्दू धर्म में रचे बसे अन्यायों एवम अत्याचारों के खिलाफ आवाज़ बुलंद की और जीवन के अंतिम दौर में बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, और अपने अनुयायियों को लगातार इस बात के प्रति आगाह किया कि उनकी गुलामी बढ़ाने वाले हिन्दू देवताओं के किसी भी क़िस्म के उपयोग के प्रति वे सचेत रहें, उसे ही आज हिन्दू समाज सुधारक और मुस्लिमद्वेषी घोषित किया जा रहा है।

यह तथ्य बेहद विचलित करनेवाला है कि संघ परिवार, जिसने निरंतर शूद्रों-अतिशूद्रों के सशक्तिकरण की, उनके दावेदारी की मुखालिफत की और जो एक अलगाववादी क़िस्म के एजेंडा के प्रति प्रतिबद्ध है, वह आज अपने आप को उदार क़िस्म की लगनेवाली जुबाँ में नये रंगरोगन के साथ पेश करने की स्थिति में है। हिन्दुत्व के खतरे के प्रति किसी महत्वपूर्ण सैद्धांतिक- राजनीतिक चुनौती की अनुपस्थिति को देखते हुए किसी बाहरी व्यक्ति के लिए यह प्रतीत हो सकता है कि निम्न तबकों के 'हिन्दुत्वकरण' की प्रक्रिया अब रुकने वाली नहीं हैं। लेकिन यह सच्चाई नहीं है।

यह सही है कि दलित आंदोलन के अपने गतिविज्ञान, तथा रैडिकल बदलावकारी एवं अन्य जनतांत्रिक आंदोलनों की लंबे समय से चल रही कमजोरी और मज़बूती से आगे बढ़ रहे संघ परिवार के चलते-जिसने दलितों को समाहित करने हेतु बहुआयामी एक्शन प्लान तैयार किया है-उन सभी के लिए मामला जटिल हो चला है जो दलित मानस में आ रहे इस बदलाव से चिंतित हैं। वक्त के साथ दलित आंदोलन के रैडिकल धड़े की कतारों में तथा आमूलचूल बदलाव के लिए प्रतिबद्ध इन्कलाबी ताकतों में भी यह एहसास बढ़ रहा है कि उन्हें अपनी गलतियों को कबूल करना चाहिए और इस हमले से बचाव के लिए लंबे दौर की एकजुटता कायम करनी चाहिए।

ऐसे सभी संगठनों/आंदोलनों में जो किसी न किसी तरह ब्राह्मणवाद, पितृसत्ता और पूँजीवाद के खिलाफ़ हैं और एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो इन श्रेणियों पर आधारित विभेदों और वंचनाओं को दूर कर दे, एक नये क़िस्म का साझापन विकसित होता दिख रहा है। अब वक्त आ गया है कि हम उत्पीड़ित अवाम के महान सपूत डा0 अंबेडकर की रैडिकल विरासत की नये सिरे से पड़ताल करें, वही अंबेडकर जिन्होंने महाड सत्याग्रह के दूसरे चरण में (25 दिसंबर, 1927) मनुस्मृति दहन करते हुए यह घोषणा की थी कि दलितों-शोषितों के इस क़दम की अहमियत अठारहवीं सदी के अंत में संपन्न फ्राँसीसी क्रांति के समकक्ष है, वही अंबेडकर जिन्होंने मज़दूरों का आह्वान किया था कि वे ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद जैसे मजदूर वर्ग के दो दुश्मनों से लड़ें, वही अंबेडकर जिन्होंने हिन्दू महिलाओं को सीमित अधिकारों से संपन्न करने वाले बिल को लागू न कर पाने को लेकर नेहरू मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिया था। अंबेडकर एक भविष्यवक्ता थे जिन्होंने इस बात की भविष्यवाणी की थी कि 'हिन्दू राज अगर हक़ीकत बनता है तो निःस्सन्देह वह इस देश के लिए सबसे बड़ी तबाही का कारण होगा। हिन्दू चाहे जो भी कहें, हिन्दू धर्म स्वतंत्रता, समता और भाईचारे के लिए खतरा है। इसी वजह से वह जनतंत्र से असंगत बैठता है। हिन्दू राज को किसीभी कीमत पर रोका जाना चाहिए।' (पाकिस्तान या भारत का विभाजन, पेज 358)

एच-4, पूसा अपार्टमेंट, रोहिणी, सैक्टर 15, दिल्ली-89

ए0अरविंदाक्षन की तीन कविताएँ

रात स्थगित होती जा रही है

सुबह
सात बजने के बाद भी
रात टल नहीं गयी थी
घना अँधेरा छाया हुआ था
लोग सब जग चुके थे।

मुन्नी को साढ़े-सात बजे स्कूल जाना था
वह तैयार हो चुकी थी
'पापा, इतना अँधेरा क्यों है ?'
वह मुझसे पूछ रही थी
मैं चुप था।

पिता होने के नाते मेरा दायित्व बनता है
पता करें कि रात टलती क्यों नहीं है
मेरे छोटे से दिमाग़ में यह सूझा
रात का इस तरह स्थगित होना
'ग्लोबल वार्मिंग' की वजह से है
पर मुझमें इतना साहस न था
मुन्नी को यह रहस्य बता दूँ
मैं चुप रहा।

सात बजकर बीस मिनट पर
मुन्नी बस-स्टॉप की तरफ़ भागी
मुझे लगा कि वह अँधेरे में खो गयी
मुन्नी की बस नहीं आयी
वह वापस आयी और मुँह बिचकाकर बैठ गयी।

इस बीच
मेरी बीवी ने कइयों से बात की
अपनी सहेलियों की प्रतिक्रिया से वह परेशान थी
कॉलोनी की महिलाएँ खुश थीं
रात के इस स्थगन से।

मैं बाहर निकला
रात के विरुद्ध मैं चलता जा रहा था
मुझे यह अच्छा लग रहा था।

रात जैसी की तैसी थी
साढ़े आठ का समय था
सड़क सूनी-सूनी थी
इक्की-दुक्की सवारियाँ दिखायी दे रही थीं
मैं चलता रहा
रात को चुनौती देता हुआ
यह मुझे अच्छा लग रहा था।

साढ़े नौ बजे मैं तैयार होकर आया
मुझे देख बीवी बिगड़ी
कोई कहीं नहीं जा रहा है
अँधेरा घना होता जा रहा है
लोग उत्सव मना रहे हैं अपने बिस्तरों पर
तुम्हें क्या सूझा है ?

मैं निकला
रात को चुनौती देता हुआ
पर मैं बेहद चिंतित था
रात के इस असहज स्वभाव से
मुन्नी सरीखी बच्चियों के स्कूल न जा सकने से
मैं चिंतित था
दूधवाले की परेशानी से
मैं चिंतित था
सब्ज़ियाँ बेचती औरतों की असुविधाओं से
मैं चिंतित था।

इतने पर भी
मैं खुश था
मेरी बीवी रात को रात नहीं मान रही है

मुन्नी स्कूल जाने को तड़प रही है
मैं खुद रात के असहज स्वभाव के विरुद्ध
काम में तल्लीन हूँ।

नदी की पुरानी कहानी

बाढ़ आयी भयंकर
हमारी नदी उसके अतल में खो गयी।

सरकार के आदेश पर
फ़ौजी आये
लोगों को बचाया
मवेशियों को बहने दिया
नदी की बात
वे भूल गये थे।

कई दिनों के बाद
बाढ़ का पानी उतरता गया
हमारी नदी कहीं खो गयी थी
किस गहन गह्वर में
किस मंडी-बाज़ार में
किस दरबार में
कोई नहीं जानता था।

कई दिनों के बाद
नदी कहानी बन गयी
नदी की जगह पर
नयी-नयी इमारतें बन गयीं
नदी कहानी बन गयी।

कई दिनों के बाद
कई कहानियाँ गढ़ी गयीं
नदी के अभाव में
बहुत दिलचस्प कहानियाँ गढ़ी गयीं।

पनियल साँप

तालाब के पानी के साथ
मेरा प्रेम-संबंध सुदृढ़ था—
पर, एक पनियल साँप ने उस अनुराग को
अपनी जल-रेखाओं के माध्यम से
हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया।

मैंने तब कुएँ से पानी लेना शुरू कर दिया
बाल्टी भर पानी से नहाना सीख लिया
जलविहीनता का अंतरिक्ष मेरे भीतर कसमसा रहा था।

कहते हैं
पनियल साँप मामूली जल-जीव है
उससे डरने की ज़रूरत नहीं।
कहते हैं
विदेशों के पनियल साँप जहरीले होते हैं
वे तालाबों में नहीं समंदर में जीते हैं
पनियल साँपों के वृहद् इतिहास के अध्ययन से
मुझे पता चला
पनियल साँप ज़हरीले होते हैं
पानी के साथ के हमारे संबंध को तोड़ते हैं
उनका अनुराग पर भरोसा नहीं
वे ज़हर फैलाने में मशगूल रहते हैं।

अब कुछ सवाल शेष रह गये हैं
तालाब की स्मृति जब इतनी ताज़ी है
तो क्या हमारे स्नानागार पूरी तरह से सुरक्षित हैं?
परीक्षित की कहानी मुझे याद हो आती है
तालाब का जल-विस्तार
अगर बाल्टी भर पानी में तब्दील हो सकता है
तो क्या
पनियल साँपों का स्नानागार में प्रकट होना मुश्किल है?

डीन, मानविकी संकाय
कोचीन यूनीवर्सिटी ऑफ़ साइन्स एन्ड टैक्नोलॉजी, कोचीन



ग़ज़लें

नईम

जीना है गोल-मोल तो मरना सपाट है।
अपने से ही अये जीस्त मेरा दिल उचाट है।।

बस एक आदमी ही नहीं है तो क्या करें,
हिंदू हैं, मुसलमान हैं लोग सिक्ख जाट हैं।

लौटा हूँ अदालत से मैं अपना-सा मुँह लिये,
मुंसिफ़, वकील, मुजरिमों की साठ-गाँठ है।

दुनिया की तवारीख़ महज़ ताजोतख़्त की,
होरी[1] की चटाई न सलेमी की खाट है।

रेशम के बेशक़ीमती पहने हुए लिबास,
अपना तो ये खादी का लगे उनको टाट है।

उनकी उन्हें दिल्ली हो मुबारक़ गुरेज़ क्या,
लेकिन मेरा फ़िरदौस ये झाँसी वो राठ है।[2]

खुद को ही नज़र आयें न अपने ही ये सिर पैर,
पूरा वजूद आज मेरा बाराबाट है।

कातना किसके लिए, बेसूद फिर धुनना है क्या!
उठ गये चरखे ठिये करघे पे फिर बुनना है क्या!!

ये न था मेरा नज़रिया पर नज़ारों ने कि हाय,
आँख पर हमले किये तो कान से सुनना है क्या।

अपने होने का अगर अहसास ही जाता रहे,
पीरो-पैग़ंबर के जैसे आख़िरत बुनना है क्या ?

ख़ाक में क्यों फ़र्क़ करते ख़ाक की नस्लें नहीं,
क्या करांची और ढाका, आगरा, खुलना है क्या।

पड़ रहीं बेभाव अब सत्ता की हम पर जूतियाँ,
व्यर्थ है सब जोड़-बाक़ी दोस्तो, गिनना है क्या ?

1. प्रेमचंद के 'गोदान' से,
2. भगवानदास मोरवाल के 'कालापहाड़' से

7/6, राधागंज, देवास

ग़ज़लें

सैयद मुहम्मद असलम

(1)

सामने आते हैं जो पहले सवाली बनकर,
बाद में मिलते हैं वे 'साहिबे-आली' बनकर।

शौक से बैठ के खाती रही सारी दुनिया,
देश बस अपना रहा, खाने की थाली बनकर।

मौत के ख़ौफ़ से सहमे हुए सन्नाटे में,
ज़िंदगी आयी भी तो भद्दी-सी गाली बनकर।

सीखने बैठ गये जड़ को कतरने का हुनर,
बाग़ में यूँ तो सभी आये थे माली बनकर।

माहे-रमज़ान के आख़ीर में ईद आती है,
एक दिन माह में आता है दीवाली बनकर।

(2)

जग में रोते ही रहे भूख के मारे बच्चे,
वे जो सब लोगों की आँखों के हैं तारे बच्चे।

हर जगह आँखों में दम तोड़ते सपने लेकर,
बैठे मिल जाते हैं सड़कों के किनारे बच्चे।

छोटी-सी उम्र में घर भर का सहारा बनकर,
रात-दिन खटते रहे देश के प्यारे बच्चे।

दुख का माहौल हो या कोई मुसीबत की घड़ी,
हम बड़ों जैसे, दुखों से नहीं हारे बच्चे।

सारा संसार ही बच्चों का कहा मानेगा,
एक ही बात जो उठकर कहें सारे बच्चे।

76, अँधियारी बाग़ (दक्षिणी) गोरखपुर-273001 (उ0प्र0)



प्रतिरोध के नये क्षेत्र : साहित्य, दलित और मुस्लिम दलित

शकील सिद्दीक़ी

हिन्दी में दलित-साहित्य का इतिहास साहित्य की जनतांत्रिक परंपरा तथा भाषा के सामाजिक आधार के विस्तार के साथ जुड़ा हुआ है। इसे सामंती व्यवस्था के अवसान, जो निश्चित ही पुरोहितवाद के लिए भी एक झटका साबित हुआ तथा समाज में जनतांत्रिक सोच के उदय, भले ही रूढ़िग्रस्त ही क्यों न हो, के साथ ही प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था के एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में भी देखा जा सकता है। यहाँ हम यह स्वीकार करते चलें कि अन्यायपरक वर्ण-व्यवस्था पर आघात-दर-आघात करने वाला कविता का भक्ति-आंदोलन, ज्योतिबा फुले द्वारा आरंभ किया गया सामाजिक पुनर्निर्माण का ऐतिहासिक अभियान, वर्ण-व्यवस्था के जुल्म से निजात पाने की इच्छा तथा प्रतिरोधस्वरूप बड़ी संख्या में संभव हुआ धर्मांतरण-जैसी दूरगामी प्रभावों वाली घटनाएँ सामंती व्यवस्था के काल में ही घटित हुईं। भारतीय समाज, उसमें भी ज़्यादा अकल्पनीय दमन से त्रस्त दलित वर्ग को महामुक्ति के चिरस्मरणीय दूत के रूप में बाबा साहब भीमराव अंबेडकर का मिलना (मुक्ति-पथ पर जिनके क़दमों के निशान बहुत गहरे हैं) एक सामंत का ही अवदान है। मानववादी उदारता से उपजी सहानुभूति की यह प्रवृत्ति ही साहित्य में भी दलित-दमन के त्रासद यथार्थ के प्रभावशाली चित्रांकन का आधार बनी। कहना होगा कि इस प्रवृत्ति को प्रौढ़ता आधुनिकतावादी सोच के प्रभाव में ही प्राप्त हो पायी। हिन्दी साहित्य के इतिहास का यह रोचक संयोग है कि सामंतवादी वैचारिकता से संघर्ष करते हुए प्रेमचंद, निराला तथा कुछ दूसरे लोगों में यह प्रवृत्ति विकसित हुई। यही वह काल है, बल्कि थोड़ा पहले, जब प्रसिद्ध शायर इक़बाल के सोच में भी इस प्रवृत्ति ने जगह बनायी। उनकी बहुत मशहूर पंक्ति है:

'जो करेगा इम्तियाज़े रंग-ओ-ख़ूँ मिट जाएगा'

यानी जो रंग व रक्त के आधार पर पक्षपात करेगा मिट जाएगा। वे आह्वान करते हैं :

आ ग़ैरियत के पर्दे इक बार फिर उठा दें,
बिछड़ों को फिर मिला दें, नक़्शे दुई मिटा दें।

नज़्म 'नानक' में वे दलित यथार्थ की इस तह तक जाते हैं :

आह! शूद्र के लिए हिन्दुस्तान ग़मख़ाना है
दर्दे इन्सानी से इस बस्ती का दिल बेगाना है
बिरहमन सरशार है अब तक मय-ए-पिंदार में
शम्मे गौतम जल रही है महफ़िले अग़ियार में।

उनका इशारा बौद्ध धर्म के प्रति दलितों में बढ़ते आकर्षण तथा ब्राह्मणों द्वारा उनके तिरस्कार की ओर है।

उन्होंने ब्राह्मणों को पुकार कर कहा कि तुम्हारे बुतक़दे के बुत पुराने हो गये हैं, उन्हें बदल डालो तथा लोकतंत्र का ज़माना आ रहा है, दलितों का दमन बंद करो।

इससे सहानुभूति को दलित लेखन का प्रमुख निकष मान लेने का तात्पर्य नहीं लेना चाहिए। सच्चे दलित लेखन में स्वानुभूति व सहानुभूति में किसकी भूमिका प्रमुख है—यह विवाद अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह जारी है। दोनों के पक्षधर अपनी-अपनी जगह डटे हुए हैं। कुछ मानते हैं कि सहानुभूति से दलित जीवन का वास्तविक यथार्थ उभारा जा सकता है, तो दूसरे पक्ष का बल है कि स्वानुभूति के बिना ऐसा संभव नहीं है :

''दलित समाज और सवर्ण समाज के अनुभव अलग ही नहीं, अपितु विपरीत होते हैं। दोनों के अनुभव और जीवन के स्तर का अंतर उनके जीवनबोध और सौंदर्यबोध में भी अंतर ला देता है। यही वह अन्तर है, जो दलित-साहित्य के संदर्भ में 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' के प्रश्न को अनिवार्य बनाता है। यद्यपि प्रेमचंद और निराला सरीखे साहित्यकारों के संदर्भ में दावा किया जाता है कि साहित्य-सर्जन के लिए जीवनानुभव ग़ैर ज़रूरी हैं।'' (राजेश कुमार, दलित साहित्य -2006)

राजेश कुमार ने इसी लेख में डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनमें जीवन-बोध को प्रमुखता दी गयी है :

''बोध हो भी, तो ज़रूरी नहीं कि निजी अनुभव से बना हो। यह बोध या चेतना ज़्यादा ज़रूरी चीज़ है। निराला ने 'विधवा' पर कविता लिखी। वे ख़ुद तो विधवा नहीं थे। प्रेमचंद ने होरी जैसा किसान गढ़ा। यह सब बोध से पैदा हुआ।''

वीरेन्द्र यादव ने तो यह घोषणा तक कर डाली कि जिन

साहित्य में प्रेमचंद एवं निराला सरीखे दलितों-पीड़ितों के प्रवक्ता एवं पक्षधर रहे हों, वहाँ दलित-साहित्य की पक्षधरता के नाम पर किसी साहित्येतर प्रेरणा की कोई आवश्यकता नहीं।" (उत्तर प्रदेश, दलित विशेषांक)

मुद्राराक्षस सामाजिक न्याय के लिए दोनों तरह की अनुभूतियों की भूमिका को ख़ारिज करते हैं और शिवकुमार मिश्र निराला के 'चतुरी चमार' को सहानुभूति व स्वानुभूति दोनों प्रेरणाओं का उदाहरण मान लेने का आग्रह करते हैं। ऐसा आग्रह करते हुए वे यह अनुमान नहीं लगा पाते कि इससे बहुत सारे लोग विचलित हो सकते हैं। दरअसल, भक्तिकाल के लंबे अंतराल के बाद बीसवीं सदी में दलित-यातना के प्रति प्रकट रूप में पहला ध्यान औपनिवेशिक मुक्ति के संघर्ष की तीव्रता के दौर में गया। यानी कि दलित मुक्ति की चिंता दूसरे या तीसरे नंबर पर थी और मुल्क की आज़ादी की चिंता पहले नंबर पर। यह ध्यान भी प्रमुख रूप से उन लेखकों का गया, जो तत्कालीन सामाजिक हालात से अपनी संवेदनशीलता या आगे बढ़ी हुई चेतना के कारण गहरे तक असंतुष्ट थे, जिनके पास आधुनिक सोच से प्रभावित निश्चित सामाजिक दृष्टिकोण था। अतः ऐसे लेखकों की कविताओं या कहानियों में चित्रित दलित यथार्थ न तो स्वानुभूति से प्रेरित है और न सहानुभूति से, इसमें मुख्य भूमिका सामाजिक दृष्टिकोण की है। उदार मानवतावादी चेतना का भी कुछ दख़ल हो सकता है। दलित जीवन अर्थात् अपने अनुभवों को ही रचना में डालते हुए दलित रचनाकार के लिए भी इस दृष्टिकोण का पर्याप्त महत्त्व है। इसके अभाव में रक्त धधका देने वाले दमन व यातना का बहुत सच्चा अनुभव भी बड़ा रचनात्मक अनुभव नहीं बन सकता। वह सामाजिक चेतना, जो संवेदनशील व्यक्ति को अन्याय के विरुद्ध सक्रिय करती है, यदि दलित रचनाकार के पास नहीं है, तो वह अन्याय व दमन का प्रथम अनुभव रखने के बावजूद उसी तरह सक्रिय नहीं हो पाएगा न वह उसी दृढ़ता से वैसा स्टैन्ड ले पाएगा जैसा प्रेमचंद ने 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआं', 'दूध का दाम' या 'गोदान' में, जगदीशचन्द्र ने 'धरती धन न अपना' या 'नरक कुंड में बास' में; गोपाल उपाध्याय ने 'एक टुकड़ा इतिहास' में; मुद्राराक्षस ने 'दण्डविधान' में; मदन दीक्षित ने 'मोरी की ईंट' में या शिवमूर्ति ने अपनी लगभग सभी कृतियों में लिया। हम ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'शव यात्रा', 'सलाम'; सूरजपाल चौहान की 'बदबू'; रमणिका गुप्ता की 'दाग दिया सच'; महेश कुमार केसरी की 'क़ैद' कहानियों का उदाहरण ले सकते हैं। ये कहानियाँ कौन-सा स्टैन्ड लेती नज़र आती हैं?

यह तो हो सकता है कि अखिलेश की कहानी 'ग्रहण की बदबू' की अपेक्षा सूरजपाल चौहान की कहानी की बदबू ज़्यादा तेज़ और सघन हो और दूर तक पीछा करती हो तथा अखिलेश जिस बदबू में अपनी प्रतिभा के विकास के साक्ष्य देख रहें हों या अपनी पक्षधरता की व्याकुलता, वहीं सूरजपाल चौहान की यह गंध एक समुदाय की यातना के रूप में सताती हो; परंतु प्रश्न यही है कि वह इस गंध या इस गंध से पैदा हुई व्यथा से क्या काम लेना चाहते हैं? दलित यथार्थ के चित्रांकन से साहित्य के अनुभव लोक को नये क्षेत्र की संपन्नता मिलती है। निश्चय ही यह स्थिति किसी भी भाषा के लिए उल्लेखनीय उपलब्धि हो सकती है। फिर दिल और दिमाग़ छील देने वाली क्रूर यातना के भयानक दृश्य तथा तिरस्कार व अवमानना की वेदनापरक घटनाओं से अश्वेत लेखन विश्व साहित्य का शिलालेख बन पाया तो इसीलिए कि उसमें मनुष्यों को ज़िंदा जलाये जाने से उपजी चीत्कार और हाहाकार की आघातकारी ध्वनियाँ अब भी उसी आवेग से सुनी जा सकती हैं। जलते माँस की उबकाई भरी गंध अब भी आपको बेचैन करती है, परंतु इन्सानों के साथ जानवरों से बदतर सुलूक का वृत्तांत एवं अपने को सभ्य व सुसंस्कृत होने का दर्प पाले लोगों की पैशाची हरकतों के अचूक साक्ष्य क्या साहित्य की अभिवृद्धि तक सीमित रह जाने चाहिए?

हर क्षण शब्दों में ढल जाने को व्याकुल सदियों की संचित व्यथा का शेष क्या साहित्य की अभिवृद्धि और उसके अनुभव लोक के विस्तार तक ही सीमित रह जाना चाहिए? कुछ लोगों के लिए डॉक्ट्रेट की डिग्री, कुछ के लिए पुरस्कार, कुछ के लिए शोहरत, कुछ के लिए सामाजिक दृष्टिकोण की व्यापकता का कवच, कुछ के लिए अपने भोगे हुए को बयान कर देने के गौरव या संतोष की अनुभूति, कुछ के लिए जातिवादी आग्रहों के बावजूद उदार मानवतावादी दृष्टिकोण का दंभ, तो कुछ के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता के दायित्वों की पूर्ति का साधन बनने मात्र तक सीमित रह जाना चाहिए या उसे हालात को बदलने की चेतना के प्रसार की कर्मभूमि बनने की चिंता से संलग्न होना चाहिए?

अवश्य ही साहित्य सामाजिक बदलाव को संभव नहीं बनाता लेकिन वह बदलाव की चेतना के अंकुर रोपने की क्षमता अवश्य रखता है। बदलाव में कविता, कहानी या उपन्यास की अपेक्षा वैचारिक लेखन की भूमिका अधिक कारगर होती है। सामाजिक आंदोलन इस भूमिका को निर्णायक मोड़ तक ले जाने की सामर्थ्य रखते हैं। यह उत्साहपूर्ण स्थिति है कि दलित मुक्ति के पक्ष में हिन्दी में वैचारिक लेखन भी ख़ूब हुआ है। अब भी हो रहा है। डॉ० भीमराव अंबेडकर यदि दलित मुक्ति के अग्रदूत बन पाये, तो इस कारण ही कि साहसिक धारदार वैचारिक लेखन तथा क़ानूनी लड़ाई तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने विराट सामाजिक आंदोलन भी खड़ा किया। आज़ादी से पहले हिन्दी और उर्दू में दलित यथार्थ की जो रचनाएँ आयीं,

उनके पीछे यह आंदोलन प्रेरक शक्ति के रूप में उपस्थित रहा है। इतना अवश्य है कि दलित रचनाकारों की आत्मकथाएँ, कहानियाँ, कविताएँ भी वैचारिक लेखन की भूमिका अदा करती हैं। आंदोलन संवेदना की अपेक्षा चेतना के विकास को अधिक संभव बनाते हैं। दलित-साहित्य के विकास में चेतना की जो भूमिका रही है, वैसी संवेदना की नहीं हो पायी। आगे भी चेतना ही प्रमुख भूमिका निभाएगी। कह सकते हैं कि संवेदना के बिना तो लेखन हो ही नहीं सकता। जो संवेदनशील नहीं है, वह किसी की तक़लीफ़ को क्या समझेगा? ज़रूरी तौर पर संवेदना किसी भी रचना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व होती है। संवेदना दर्द को महसूस करने की सामर्थ्य तो देती है, परंतु दर्द के निवारण की तमीज़ चेतना ही से मिलती है। संवेदना भावुकता के अतिरेक में वर्चस्ववाद को तो चुनौती दे सकती है, लेकिन इस वर्चस्व के ध्वंस की कल्पना बिना चेतना के संभव नहीं है। यहाँ दलित व ग़ैर-दलित के बीच इतना ही अंतर हो सकता है कि ग्रहण का अंधकार जिस सघनता व व्यापकता में एक दलित के मन-मस्तिष्क में आकार लेता है, ग़ैर-दलित के नहीं। फिर भी, रचना का शेष रह जाना इस अंधकार के स्वरूप या उसकी अनुभूति के आकार से ही नहीं बल्कि रचना-कौशल से ही, संभव होता है। 'गोदान' और 'मैला आँचल' कालजयी बन पाये, तो इन दोनों विशिष्टताओं के बेहतर एकीकरण के कारण।

सामाजिक सरोकार से बँधी रचना, कला के प्रतिमानों पर खरी उतरे यह ज़रूरी नहीं है। उसका सौंदर्य उसकी प्रतिबद्धता है। उसकी ऐतिहासिकता समाज में व्याप्त बदसूरती के प्रति व्यक्त विक्षोभ है। तनिक सोचिए, समाज में बदसूरती फैली हुई है और साहित्य सौंदर्य के नये प्रतिमान गढ़ रहा है।

हम यहाँ शरणकुमार लिंबाले का संदर्भ ले सकते हैं-

"दलित लेखक सामाजिक ज़िम्मेदारी से लिखता है। उसके लेखन में कार्यकर्ता का आवेश और निष्ठा अभिव्यक्त होती है। समाज बदले, समाज अपने प्रश्न समझे, यह तिलमिलाहट उसके लेखन में तीव्रता से व्यक्त होती है। दलित लेखक आंदोलन करते हुए लिखने वाला कार्यकर्त्ता-कलाकार है। वह अपने साहित्य को आंदोलन मानता है। उसकी प्रतिबद्धता दलित और शोषित वर्ग से है।"(दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ0 41)

प्रगतिशील आंदोलन के प्रभाव में लिखी गयी बहुत-सी रचनाएँ भी उद्देश्यगत प्रतिबद्धता तथा विचार की उपस्थिति के कारण कुछ आलोचकों के द्वारा ख़ारिज की जाती रही हैं। ख़ारिज होकर भी वे मरी नहीं हैं। बड़ी बात यह कि एक ख़ास दौर में, जिसे हम जन-संघर्षों का दौर भी कह सकते हैं, इन रचनाओं ने, जिनमें उर्दू की अनेक प्रगतिशील कविताओं को प्रमुखता प्राप्त है, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। कितनी लड़ाइयों को उन्होंने शक्ति और ऊर्जा दी, कितने निराश लोगों में नयी स्फूर्ति भरी तथा जुल्म के ख़िलाफ़ खड़े होने का हौसला दिया। विचारणीय है कि इन्सानी शोषण के प्रतिमान टूट रहे हों और साहित्य कला-प्रतिमानों के नये शिखर छू रहा हो, मनुष्य ज़िंदा जलाये जा रहे हों और रचना के शेष रह जाने पर ज़ोर दिया जा रहा हो, घरों के रुदन तथा बलात्कार को जातीय श्रेष्ठता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति माना जा रहा हो। इन्सानों के बड़े समूह पर बड़े घर की देहरी पार करने पर प्रतिबंध हो। जाति विशेष के पुरुषों के लिए घोड़ों पर चढ़ना अपराध हो और इन भयावह दृश्यों से मुक्त किताबें शेल्फ़ में सजी हों एवं बिल्ली-कुत्ते एयर कंडीशंड कमरों में रहने की हैसियत में हों, तो उस समाज का चित्र कैसा बनाता है? जो जितना बड़ा यथास्थितिवादी है, वह उतना ही बड़ा कलावादी है; रूपवादी और संरचनावादी भी हो सकता है, ग़रीब भारत के सर थोपे गये शाइनिंग इंडिया के नारे के साथ देश की जनता ने कैसा सुलूक किया था, आप सब अच्छी तरह जानते हैं।

यहाँ तात्पर्य कला और पुस्तकों के महत्त्व को कम करना नहीं है। प्रतिबद्ध रचनाकार के लिए कला हमेशा एक कठिन चुनौती की तरह रही है, रचना को प्रभावशाली बनाने की उसकी चिंता को समझा जा सकता है। लेकिन, कला के सामाजिक संदर्भ भी होते हैं, वह समाज-सापेक्ष होती है, समाज निरपेक्ष नहीं। वैसे ही, जैसे लेखक और रचना का समाज से द्वंद्वात्मक संबंध होता है। लेकिन, वह कला के रचना के केंद्रीय तत्त्व होने की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता। कला ज़रूरत है, निर्भरता नहीं।

ठीक इसी प्रकार, सामाजिक परिवर्तन तथा जुल्म व नाइन्साफ़ी के ख़िलाफ़ चलने वाला प्रत्येक आंदोलन पुस्तकों से ही शक्ति व दृष्टि प्राप्त करता है। कारणवश, ऐसे व्यक्तियों के लिए पुस्तकें हमेशा बहुत प्रिय रही हैं। कार्ल मार्क्स से लेकर लेनिन तक, लेनिन से लेकर अंबेडकर और भगत सिंह तक का पुस्तक-प्रेम उनके जीवन का बहुविदित यथार्थ है। कैसी होती हैं वे किताबें, जो दिलों में आग जलाती हैं और दिमाग़ों को रोशन करती हैं? इन्हें क्या आप ड्राइंगरूम में सजाते हैं? ऐसी किताबें घर में कहीं भी हो सकती हैं, यहाँ तक कि आपके काम करने की जगहों पर भी। यह कोई चमत्कार नहीं है कि जब हिंदी की साहित्यिक पुस्तकों का बिकना कठिन हो रहा हो, तब दलित-साहित्य की माँग लगातार बढ़ रही है। इसलिए जब मुद्राराक्षस, प्रेमकुमार मणि या कुछ दूसरे विद्वान ज़ोर दे रहे हों कि 'दलितों के लिए दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है', तो इसे तर्कविहीन सिद्धांतशास्त्र का भोथरापन मानने के बजाय इसके बारे में गंभीरता से सोचे जाने की ज़रूरत है। ठीक उसी तरह जैसे दलित-लेखन के लिए अंबेडकरवाद की अनिवार्यता के बारे में। ग़ैर-दलित

रचनाकारों द्वारा दलित यथार्थ उभारने में चाहे जितनी ईमानदारी बरती गयी हो, इस यथार्थ के प्रति उनमें चाहे जितना गहरा विक्षोभ और आक्रोश क्यों न हो, दलित-साहित्य की आवश्यक पहचान-मुक्ति की समग्र चेतना तथा जातिवादी चेतना के बीच के अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। प्रेमचंद की दो-तीन कहानियाँ अवश्य इस आंदोलन के लिए ऊर्जा-संचयन का काम करती रही हैं। प्रेमचंद ने अपने वैचारिक लेखन में भी जातिभेद तथा वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया है। सच्ची राष्ट्रीयता के लिए सामाजिक समानता के सिद्धांत को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा, दो अतिवादी दृष्टिकोणों के बीच पिसने से प्रेमचंद को बचाना चाहिए।

विचारणीय है कि दलित-जीवन को आधार बनाकर ग़ैर-दलित रचनाकारों द्वारा कविता, कहानी या उपन्यास लिखना, भले वे अंबेडकरवाद से प्रभावित न हों और उनमें से कुछ मार्क्सवाद के प्रभाव में लिखी गयी हों या उदार मानववाद के आवेग में, उनके प्रति निषेध या निंदा का रवैया हर हाल में हानिकारक है तथा दलित-मुक्ति के लक्ष्य के लिए भी आघातकारी है। निंदा तो उन प्रगतिशील क्रांतिकारियों, कलावादी, मानवतावादी, मनुष्य-मात्र से संलग्नता का दावा करने वाले रचनाकारों की कीजिए, जो हमारे समाज के सबसे भयावह यथार्थ की ओर से आँखें मूँदे रहे हैं। संभव है, इनमें ऐसे लोग भी हों, जो जाति-समस्या को आरोपित यथार्थ मानते हुए वर्गीय-एकता और इस आधार पर बनी चेतना को ही जातिवादी समस्या का हल मान रहे हों, लेकिन जातिवादी चेतना तथा उससे पैदा हुए विभेद के रहते वर्गीय-एकता न तो टिकाऊ हो सकती है और न वर्गीय चेतना का सही दिशा में विकास हो सकता है। प्रेमचंद वर्णविहीन सामाजिक-एकता के पक्षधर थे, दुखद यही है कि उनकी परंपरा का अपेक्षित विकास संभव नहीं हुआ, वरना स्थिति कुछ बदली हुई अवश्य नज़र आती। यह जानना विस्मयकारी हो सकता है कि उर्दू में रशीद जहाँ, सज्जाद ज़हीर, हयातुल्ला अंसारी, इस्मत चुग़ताई व कृश्नचंदर वग़ैरह ने प्रेमचंद के तत्काल बाद उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया, परंतु हिंदी में इसका पुनरुत्थान कई दशकों बाद मराठी, दलित-साहित्य के प्रभाव से संभव हो पाया।

हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में रचे गये दलित-साहित्य की यह विडंबना ध्यान खींचती है कि उसमें मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई दलितों के जीवन-संघर्ष की अनुगूँज बहुत कम सुनायी पड़ती है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' जैसे कितने उपन्यास हैं हिन्दी में? उर्दू में तो वह भी नहीं है। भगवान दास मोरवाल के उपन्यास 'काला पहाड़' का नाम भी लिया जा सकता है। प्रश्न यह है कि क्या अस्पृश्यता को ही दलित होने की एकमात्र पहचान मान लिया जाना चाहिए? क्या मुस्लिम मेहतर और मोची मुस्लिम समाज में अछूत होने की प्रताड़ना बर्दाश्त नहीं करता? यदि हाँ, तो दमन की ग़ैर हिन्दू आकृतियाँ भी सामने आनी चाहिए। बहुत संभव है कि जिस प्रकार पिछली सदी के सत्तर-अस्सी के दशक में दलित लेखकों के व्यापक उभार ने हिंदू और बौद्ध दलितों की जीवन-स्थितियों को हिंदी साहित्य की प्रमुख चिंताओं में स्थापित किया, एक अंतराल के बाद ठीक वैसा ही दूसरे दलित वर्गों के साथ भी हो और मुस्लिम व ईसाई समाजों में उपस्थित जातिगत विसंगतियाँ-विकृतियाँ संभव आवेग से उद्घाटित हो सकें। मुस्लिम दलित तथा पिछड़े वर्ग के अधिकारों के लिए सक्रिय अनेक कार्यकर्त्ताओं और संगठनों ने इस्लाम व मुस्लिम समाज के बारे में जातिगत असमानता व भेद-भाव रहित होने के बहु प्रचारित यथार्थ का वास्तविक चेहरा सामने लाने का फ़ैसला किया है। इस प्रचार या बनी-बनायी धारणा ने दलित व पिछड़े मुसलमानों को भारी क्षति पहुँचायी है। इससे पूरे मुस्लिम समाज का चेहरा बिगड़ा है। भूख से तड़पते, वंचित, उपेक्षित, कई प्रकार की ताड़नाओं से त्रस्त मुस्लिम दलित के हिस्से की रोटी उस तक पहुँचने में बाधाएँ खड़ी हुई हैं, किसी हद तक यह स्थिति मुस्लिम पिछड़े वर्ग पर भी लागू होती है।

'मसावत की जंग' में अली अनवर लिखते हैं :

"चलिए, थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि मुस्लिम दलित अपने समाज में ठीक हिन्दू दलितों की तरह छुआछूत का शिकार नहीं होता, पर जिस लोकतंत्र में संख्या बल महत्त्वपूर्ण है, वहाँ यह सवाल कैसे दबा रहेगा कि मुस्लिम दलित समाज का दायरा कितना बड़ा है। कुल मुस्लिम आबादी बारह से चौदह प्रतिशत के बीच है। बाक़ी आबादी का वह तबक़ा तो मुस्लिम दलितों के साथ भी वही सुलूक करता है, जो हिन्दू दलित के साथ करता आ रहा है। मुस्लिम धोबी, मेहतर, चमार, नट, पासी आदि जातियों को तो अपने पेशे के लिए हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों में जाना पड़ता है, इस तरह तो वे भी छुआछूत का शिकार होते हैं।"

इसी पुस्तक में अली अनवर एक जगह लिखते हैं :

"हिन्दू समाज में वर्ण व्यवस्था की उसूलन मान्यता थी, इसीलिए वहाँ जात-पाँत या छुआछूत है, तो यह बात समझ में आती है। मगर जहाँ इस्लाम और उसकी किताब 'कुरआन' में जात-पाँत की मान्यता नहीं, वहाँ तो इसका होना और भी ख़तरनाक है। मुस्लिम समाज की इस बीमारी के लिए कौन जवाबदेह है? इसको कैसे समाप्त किया जाए? इस पर खुल कर विचार-विमर्श करने के बजाय बीमारी को छिपाने की प्रवृत्ति आज भी मुस्लिम समाज पर हावी है।"

बीमारी को छिपाने की प्रवृत्ति तथा परंपरा से चली आ रही अवधारणाओं के कारण मुस्लिम समाज की जातिवादी पहचान

नहीं बन पायी। 1857 के विद्रोह में अग्रणी भूमिका के कारण भीषण दमन; उसके तक़रीबन 70-75 वर्ष बाद से लगातार होने वाले सांप्रदायिक दंगों; देश-विभाजन, उसके बाद उपजी व्यापक घृणा तथा 'इस्लाम ख़तरे में है' के अनवरत प्रलाप ने दलित व पिछड़े मुसलमानों को अपने अधिकारों के लिए संगठित व आंदोलित होने से बार-बार रोका। उन्हें यह समझने का अवसर ही नहीं मिला कि उनके दुखों के कुछ ठोस कारणों में ये मौलवी साहिबान भी शामिल हैं। अभाव और वंचना के विरुद्ध संघर्षशील सामाजिक चेतना की अपेक्षा उनमें अपने हालात को अल्लाह की मर्ज़ी मानने तथा धार्मिक कर्मकांड के प्रति उन्मुखता अधिक बढ़ी। जहाँ हर समय मुसलमानों के सर पर तलवार लटक रही हो, वहाँ धोबी, नाई, मोची, नट-नचनिया या सफ़ाईकर्मी अपने लिए अलग से कैसे बात करें। इनमें पिछड़े वर्ग में आने वाली बुनकर (अंसारी) जाति को किसी हद तक अवश्य अपवाद माना जा सकता है।

इस मनोविज्ञान को भी समझना चाहिए कि वर्ण-व्यवस्थाजनित अमानुषिकता से बचने के उद्देश्य से जिन लोगों ने कभी हिंदू धर्म का परित्याग किया था, वे ही धर्म-परिवर्तन के बाद यह कैसे कहें कि यहाँ भी उनके साथ कमोबेश पहले जैसा ही सुलूक हो रहा है, यहाँ उन्हें मस्जिद में जाने तथा साफ़-सुथरे कपड़ों में दूसरी जातियों के साथ उठने-बैठने की सुविधा तो है ही, रोटी-बेटी का संबंध न सही। विडंबना यह भी रही कि न तो समानता के दर्शन पर आधारित राजनीतिक दलों ने, न तो इस्लाम को समानता व भाईचारगी का धर्म बताने वाले मौलानाओं ने, न समाजिक कार्यकर्ताओं और न जाति-विहीन समाज का नारा लगाने वाले दलित नेताओं ने उनकी समस्याओं की ओर ध्यान दिया। दलित नेताओं ने मुस्लिम व ईसाई दलितों के साथ एका बनाने के प्रयास भी नहीं किये। नतीजा यह हुआ कि हिंदू दलित जातियों को मिलने वाली आरक्षण की सुविधा से मुस्लिम दलितों को वंचित कर दिये जाने से उनके सामाजिक हालात अधिक ख़राब होते गये। शिक्षा और रोज़गार सहित दूसरे सभी क्षेत्रों में उनका पिछड़ते जाना एकदम स्वाभाविक था। ऐसे में सच्चर कमेटी के इन निष्कर्षों पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मुस्लिम आबादी का बड़ा भाग हिंदू दलितों से भी ज़्यादा दरिद्र है। हिंदुओं के समान ही भारतीय मुसलमानों में भी पिछड़ों-दलितों की संख्या अधिक है। साहित्य के संदर्भ में प्रतिरोध के नये क्षेत्रों पर विमर्श करते हुए चिंतन की कुछ दिशाएँ इस ओर भी जानी चाहिए। यह साहित्य की धर्म-निरपेक्ष परंपरा की इज्ज़त का भी सवाल है। जिस प्रकार गुजरात के नर-संहार के उपरांत धार्मिक आधार पर राहत-पैकेज़ निश्चित किया गया, क्या साहित्य में पीड़ाओं और प्रतिरोध की अभिव्यक्तियाँ भी इसी आधार पर होंगी। कहा जा सकता है कि विभिन्न आंदोलनों के ज़रिये जिस प्रकार हिंदू दलितों ने समकालीन बौद्धिकता तथा संवेदना को प्रभावित किया, वैसा मुस्लिम दलित या पिछड़े वर्ग के माने जाने वाले लोग नहीं कर पाये। किसी हद तक यथार्थ का यह वास्तविक आख्यान है यानी कि हालात का खंडित सच। प्रश्न यह है कि यदि भगवानदास मोरवाल 'काला पहाड़' जैसा उपन्यास लिख सकते हैं, तो फिर दूसरे लोग क्यों नहीं? लेकिन इससे भी बड़ा सवाल यह है कि वह उर्दू भाषा, जो उत्तर व पूर्वी भारत के मुसलमानों के अनुभव-लोक, उनके सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का सबसे प्रिय माध्यम रही है, उसमें ही मुस्लिम दलितों-पिछड़ों को लेकर इतनी गहरी ख़ामोशी क्यों छायी रही? हिन्दी में कम से कम 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' तथा 'काला पहाड़' जैसे उपन्यास तो हैं।

इसे विडंबना मानिए या रोचक प्रसंग कि उर्दू कविता और कहानी दोनों में हिंदू दलितों के कारुणिक सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्तियाँ मिल जाएँगी, परंतु मुस्लिम दलितों को लेकर शून्य जैसी स्थिति है।

प्रेमचंद, हयातुल्ला अंसारी, कृश्नचंदर, इस्मत चुग़ताई, जीलानी बानों, राजेन्द्र सिंह बेदी, रशीद जहाँ, ग़ज़नफ़र जैसे और भी कई रचनाकार हैं, जिनकी रचनाओं में दलित-जीवन का अवसाद ध्वनित हुआ। यहाँ तक कि पाकिस्तान में लिखे गए अब्दुल्ला हुसैन के अति चर्चित उपन्यास 'उदास नस्लें' में भी यह ध्वनि साफ़ सुनायी पड़ती है। इस्मत चुग़ताई और किसी हद तक हयातुल्ला अंसारी अवश्य अपवाद हैं, जिन्होंने मुस्लिम समाज में मौजूद जातिवादी भेदभाव को रचना की अंतर्वस्तु के रूप में स्वीकार किया। दास्तानों में, कुर्रतुल ऐन हैदर के कथा-साहित्य में भी इन जातियों के पात्र तो हैं, लेकिन अपनी त्रासदियों से कटे हुए। समाज की रौनक़ बढ़ाते हुए, उर्दू शायरी में शेख़-ओ-ब्रहमन के बीच व्याप्त दूरी और इस दूरी को ख़त्म करने की ज़रूरत का तो बहुत ज़िक्र आया है, परंतु शेख़ और ब्रहमन जिन धार्मिक संप्रदायों से ताल्लुक़ रखते हैं, उनमें जाति या पेशे के आधार पर कैसा भयानक बँटवारा है और ताड़ना व दमन के कितने अवसर हैं, इस बारे में शायरी में दूर तक निःस्वरता छायी हुई है। यहाँ तक कि ख़ास पेशे के कारण मानी जाने वाली जातियों से आये शायर भी इस बारे में मौन साधे हुए हैं। नज़ीर अकबराबादी का कुछ ध्यान इस तरफ़ गया था, लेकिन एक तो सामंती आभिजात्य से गहरे तक ग्रस्त शायरों, तज़किरानिगारों ने उन्हें शायर मानने से इन्कार किया फिर ग़ज़ल के वर्चस्व के कारण उनकी समाजोन्मुखी नज़्म निगारी की परंपरा भी आगे नहीं बढ़ पायी। प्रगतिशील आंदोलन के दौर में इस परंपरा के लिए ख़ासी संभावनाएँ निर्मित हुईं, उनका विकास भी हुआ परंतु वहाँ वर्गवादी चेतना के हल्लाबोल का ज़्यादा ज़ोर था। निश्चय ही, इस कारण प्रगतिशील आंदोलन पर टीका-टिप्पणी

तो अवश्य की जा सकती है, उसे कटघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता। सामाजिक समानता के दृष्टिकोण की अलख आख़िर इस आंदोलन ने ही रोशन की और उसे साहित्य ही क्यों समूचे कला-कर्म का ज़रूरी मूल्य बनाया। जातिवादी भेदभाव व दमन के प्रति व्यापकता में लोगों का ध्यान खींचने का श्रेय अंबेडकर के आंदोलन के बाद प्रगतिशील आंदोलन को ही जाता है। यह अवश्य है कि प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रचनाकारों ने भी भारतीय समाज में जाति की समस्या को आम तौर पर अंबेडकर की आँखों से ही देखा। स्वयं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के फ़ार्मूले को यहाँ लागू करने की ज़रूरत नहीं समझी गयी। ऐसे में सामाजिक संरचना की समग्र पड़ताल एकांगी होकर रह गयी। पंडित नेहरू कहते रह गये कि हिंदुओं और मुसलमान दोनों समाजों में ख़ास उच्च-वर्ग का एक समूह प्रभुत्व जमाये हुए है। ये नेहरू ही के शब्द हैं :

"हालाँकि इस तरह का प्रभुत्व सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में व्याप्त है, परंतु आर्थिक क्षेत्र में तो यह अनिवार्य रूप से मौजूद है। एक समूह, जो आर्थिक रूप से बुरी अवस्था में है, बड़े इत्मीनान से सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक स्तर पर ह्रासोन्मुख है और दूसरों के द्वारा बड़ी आसानी से शोषित हो रहा है।' (पंडित नेहरू द्वारा बिहार के प्रसिद्ध नेता अब्दुल क़य्यूम अंसारी को लिखे गये 1939 के पत्र का एक अंश)

शैक्षणिक रूप से पीछे रह जाने, बल्कि निरक्षरता के विकराल वर्चस्व की वजह से दूसरी दलित जातियों के समान मुस्लिम दलितों में सामाजिक चेतना का विकास संभव नहीं हो सका। अपनी अवमानना, वंचना तथा अधिकारों के प्रति जिस प्रतिरोधी चेतना की उन्हें ज़रूरत थी, वह चिरस्वप्न बनी रही। उनके बीच से ऐसे लोग नहीं उभर सके, जो अपने वाजिब हुकूक़ के लिए राजनीतिक दलों, धार्मिक नेताओ तथा सरकार पर दबाव बना सकने वाला आंदोलन चला सकते थे। जो बहुत थोड़े से लेखक, कथाकार, शायर पैदा भी हुए, तो वे मध्यकाल के शायरों के समान बहती धारा में विलीन हो गये। क्योंकि हिंदी का सामाजिक आधार नित नया विस्तार पाता गया है और उसमें न्याय के संघर्षों की अनुगूँज लगातार अधिक फैलती गयी है कारणवश, यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह प्रतिरोध के इस नये क्षेत्र तक अपना विस्तार पाये।

एम.आई.जी. 317, फेज-2, टिकैतराय एल.डी.ए. कालोनी, मोहान रोड, लखनऊ-17

ग़ज़ल

नग़मा जावेद

निगाहों के उनकी सलाम आये
बहारों के गोया पयाम आये।

कश्ती तो डुबोई थी नाखुदा ने
इल्ज़ाम सारे लहरों के नाम आये।

आबलों से पुर थे पाँव हमारे
काँटे राह के बड़े काम आये।

रिंदों की बढ़ रही हैं बेताबियाँ
महफिल में कब तलक जाम आये।

इन्सानियत की लौ काँप रही है
फिर कोई ईसा, मुहम्मद व राम आये।

सैयाद ने पंख नोंच के कहा परिंदे से
उड़, सातों आसमान तेरे नाम आये।

आग दिल में भड़क रही थी बहुत
बुझाने को आँसू बहुत काम आये।

मुद्दत हुई है ताल्लुक़ टूटे हुए
फिर क्यों तुम्हारा होठों पे नाम आये।

सैयाद कब से है बैठा इंतज़ार में
मासूम कोई परिंदा ज़ेरे दाम आये।

भुलाकर भी उन्हें ही पुकारा नग़मा
मुहब्बत में कई ऐसे भी मुकाम आये।

रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
एस0एन0डी0टी0 महिला विश्वविद्यालय, मुंबई-20

आदिवासी विमर्श

सोनवणे राजेंद्र 'अक्षत'

'आदिवासी' शब्द अंग्रेज़ी के 'एबोरिजिनीज़' शब्द का पर्याय है।[1] 'आदिवासी' का शाब्दिक अर्थ है—आदि युग में रहने वाली जातियाँ। प्रख्यात विद्वान मैनेजर पांडे अपने एक साक्षात्कार में आदिवासियों को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'आदिवासियों के जीवन, उनकी सामाजिक संरचना, उनकी संस्कृति आदि को ध्यान में रखें, तो सुविधा के लिए यह कहा जा सकता है कि इस देश में बड़ी संख्या में, और अगर आप भारत के नक़्शे को देखें, तो बहुत बड़े भू-भाग में जो लोग मुख्यधारा, तथाकथित मुख्यधारा से अलग रहते हैं, जो अपनी ज़िंदगी मध्यकालीन और आधुनिक सामाजिक प्रक्रियाओं से नहीं चलाते, बल्कि पुरानी प्रक्रिया से चलाते हैं, उन्हीं लोगों को आदिवासी कहा जाता है।''[2]

प्रस्तुत साक्षात्कार में आगे चलकर पाण्डे जी स्वीकार करते हैं कि इनमें आसाम से लेकर केरल तक के आदिवासी आते हैं। आदिवासियों की नाना जातियाँ, उपजातियाँ दिखायी देती हैं। सबकी सांस्कृति, संस्कृतिक- परंपराएँ और भाषाएँ, खान-पान आदि में अत्यधिक भिन्नता है। सभी आदिवासी न एक मूल के हैं, न एक तरह की उनकी सामाजिक संरचना है, न एक तरह के उनके रीति-रिवाज़ हैं। भौगोलिक परिस्थिति और प्राकृतिक स्थितियों के अनुसार उनमें सभी बातों में भिन्नताएँ दिखायी देती हैं जिसके कारण उन्हें एक समूह मानने में कठिनाइयाँ आती हैं। कुल मिलाकर आदिवासी को भारत का मूल निवासी कहा जा सकता है।

पहले आदिवासियों को 'दलितों' में समाविष्ट किया जाता था। इतना ही नहीं, उनके साहित्य को 'दलित साहित्य' ही कहा जाता था। वैसे देखा जाय तो आदिवासी और दलित दोनों सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों समाज से कटे हुए थे। मगर आज़ादी के बाद दलित मुख्यधारा में मिल गये और आदिवासी मुख्यधारा से कटे रहे और आज भी अलग-थलग रह रहे हैं, जिसके कारण आदिवासी साहित्य एक अलग चिंतन और विमर्श का विषय बन जाता है। 'अरावली उद्घोष' पत्रिका के संपादक बी.पी. शर्मा 'पथिक' अपने एक लेख 'आदिवासी विमर्श' की भूमिका में स्पष्ट कहते हैं कि ''बीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक हिन्दी पट्टी में केवल दलित विमर्श और दलित साहितय का बोलबाला रहा था। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो, तब न कहीं आदिवासी विमर्श और आदिवासी साहित्य का ज़िक्र होता था और न कभी इनकी आवश्यकता ही महसूस की जाती थी। चाहे ग़ैर आदिवासी साहित्यकार हो या दलित साहित्यकार, अधिकांश ने यही भ्रम पाल रखा था कि दलित संज्ञा में आदिवासी का भी समावेश है। समर्थन में अनुकूल तथ्य और तर्क जुटा लिये गये थे। इस भ्रम को तोड़ने का कभी किसी ने कोई सार्थक प्रयास नहीं किया।'[3] तो फिर यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'आदिवासी साहित्य' आदिवासी साहित्य के रूप में कब प्रतिष्ठापित हुआ। वैसे देखा जाय तो आदिवासी साहित्य की शुरुआत महर्षि वाल्मीकि से मानी जानी चाहिए मगर आदि कवि वाल्मीकि के 'रामायण' को दलित साहित्य और आदिवासी साहित्य माना नहीं जाता। भारतीय सामाजिक संदर्भ में लगभग आठ दशकों पूर्व दलित शब्द का प्रयोग प्रारंभ हुआ और मराठी भाषा के साथ हिन्दी साहित्य की एक विधा के रूप में अस्तित्त्व में आया। दलित साहित्य से ही आदिवासी साहित्य की शुरुआत हुई।

वैसे देखा जाय तो आदिवासी साहित्य के उद्भव के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। इतना ही नहीं, आदिवासी की निश्चित व्याख्या करना भी कठिन है क्योंकि आदिवासी साहित्यके बदले में वाङ्मय शब्द लेना पड़ेगा। आदिवासियों में अपने जन्म के साथ लोक कथाएँ, लोकगीत, कई प्रकार की लोकोक्तियाँ, कहावतें मौजूद थे। थाने पालघर (महाराष्ट्र) में हुए पाँचवें आदिवासी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष तथा प्रसिद्ध मराठी आदिवासी साहित्यिक वाहरू सोनवणे ने इस संबंध में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि 'लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टिं से असंगत है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन इनके बीच जो दीवारें समाज में खड़ी की जाती हैं, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना ज़रूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई कथाएँ, लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएँ विद्यमान हैं जिसे शब्द-बद्ध नहीं किया गया है। हज़ारों वर्षों से चली आ रही परंपराएँ कभी भी थमी नहीं, वे परंपराएँ आज भी मौखिक रूप में आदिवासी जनजीवन का अभिन्न अंग रही हैं। फिर इसे 'साहित्य' कैसे नहीं कहेंगे? जो कलाकृति (रचना)

लिखित हो अथवा अलिखित हो उसे साहित्य कहना चाहिए।''[4] यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'लोककला' आदिवासी जीवन का प्राण है। उसे छोड़कर आदिवासी साहित्य की कल्पना करना बेमानी है। वाहरू सोनवणेजी के मतानुसार आदिवासी साहित्य के लिखित और अलिखित साहित्य के रूप में विभाजन करना अत्यावश्यक है।

आदिवासियों ने कई आंदोलन किये। उदाहरणार्थ 1- 1859 से 1981 ज़मीर आंदोलन, 2-1882 से 1890 मिशन विद्रोह, 3-1891 से 1895 राजनैतिक आंदोलन। इन आंदोलनों में ज़मीर आंदोलन को महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इस आंदोलन के अंतर्गत सवर्ण ज़मींदारों के शोषण एवं अत्याचारों के विरुद्ध आदिवासी समुदाय ने अपने आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ी। जब 3 मार्च 1900 को इनाम के लालच से वीरसिंह महली ने बिरसा मुंडा को गिरफ़्तार करवाया तब अंग्रेज़ी पुलिस द्वारा बिरसा पर किये गये अत्याचारों को लेकर श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदिवासियों पर सरकार के द्वारा किये जा रहे अत्याचार, शोषण को लोगों के सामने लाये। कलकत्ता के बैरिस्टर जैकब ने मुकदमें की पैरवी करना स्वीकार किया। कलकत्ता के समाचार पत्र 'स्टेटसमैन' और 'पायनियर' ने मुंडों पर हो रहे अन्याय को प्रथम बार समाचार पत्रों में छापा और कर्ज़न को सचेत किया। आदिवासी मुद्रित साहित्य की शुरुआत सही मायने में यहीं से होती है, क्योंकि आदिवासियों के दुख-दर्द, उन पर हो रहे अन्याय, अत्याचार आदि को इन समाचार-पत्रों ने वाणी दी।

हिन्दी में 'आदिवासी विमर्श' को गति देने का काम झारखण्ड के आदिवासी बहुल क्षेत्र हजारीबाग़ से 1987 में प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' और उसकी संपादिका रमणिकाजी और उदयपुर राजस्थान से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'अरावली उद्घोष' के संपादक बी.पी. वर्मा 'पथिक' जी ने किया। लेकिन इसके पूर्व महाराष्ट्र में आदिवासी साहित्य आंदोलन की शुरुआत हो चुकी थी। सन् 1979 को प्रा. विनायक तुमराम की पहल से आदिवासियों का पहला साहित्य सम्मेलन चंद्रपुर जिले के 'भद्रावती' गाँव में आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन के उद्घाटक थे प्रसिद्ध दलित साहित्यिक प्रा. यशवंत मनोहर और अध्यक्ष थे श्री कृष्णमूर्ती मिरमिरा। इसके बाद तीन-चार बार आदिवासी साहित्य सम्मेलनों का आयोजन किया गया जिसमें प्रा. राव साहब कसबे, लक्ष्मण माने और लक्ष्मण गायकवाड़ तथा बाबूराम बागुल का बड़ा योगदान था।

''अरावली उद्घोष'' अंक 41 (जुलाई-सितम्बर 1998) में 'कुछ सवाल' शीर्षक संपादकीय ने रमणिकाजी का ध्यान आदिवासी विमर्श की ओर प्रथम बार खींचा। 'युद्धरत आम आदमी' की संपादिका रमणिका जी जो दलित विशेषांक निकालने में लगी थीं, उन्होंने अपनी पत्रिका को आदिवासी विमर्श पर केन्द्रित किया। रमणिकाजी के कारण ही आदिवासी विमर्श का जन्म हुआ और 'युद्धरत आम आदमी' के विशेषांक 'आदिवासी स्वर एवं नयी शताब्दी' भाग-1 और भाग-2 के द्वारा आदिवासी विमर्श स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया।

'आदिवासी विमर्श' नामक लेख में राजाराम भादू लिखते हैं कि 'हिन्दी क्षेत्र में दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को उभारने और विकसित करने में 'हंस' और राजेन्द्र यादव के साथ लघु पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' और उसकी जुझारू संपादक रमणिका गुप्ता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। तद्नंतर रमणिका जी ने 'युद्धरत आम आदमी' के तेलुगू, गुजराती और पंजाबी दलित साहित्य पर केंद्रित अंकों के ज़रिये दलित विमर्श के कैनवास को और व्यापक किया अन्यथा इससे पहले दलित विमर्श के संदर्भ मराठी और हिन्दी तक ही सीमित थे। इस विशेषांक में रमणिका जी ने संपादकीय में ही कहा, ''आदिवासी क्या सोचते हैं, क्या लिखते हैं, स्वयं अपने जीवन और वर्चस्वशाली तबक़ों के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण है यह सामने आये।''[5]

इस तरह आदिवासियों के मौन दुख, पीड़ा, वेदना, अत्याचार, संस्कृति, पहली बार व्यक्त हुई। राजा रामभादू आगे लिखते हैं कि–'वैसे तो भारतीय आदिवासी समुदायों के जीवन पर लेखन और विचारों की शुरुआत औपनिवेशिक दौर में ही आरम्भ हो गयी थी। 'आरिएन्टलिज़्म' के ज़माने में भारतीय आदिवासी जीवन और संस्कृति को देखने का एक ख़ास नज़रिया था जिसमें कौतूहल और हीनता भाव सम्मिलित था। देश की स्वतंत्रता के बाद एक तरफ़ तो आदिवासी समुदाय नृतत्वास्त्रियों की औपचारिक विषय वस्तु बने, दूसरे स्तर पर वे भाषाई अध्येताओं का कर्मक्षेत्र थे। इन समुदायों को लोक समाजों (फ़ोक सोसाइटी) में रखकर सतही क़िस्म के अनेकानेक सांस्कृतिक अध्ययन किये गये। दूसरी ओर डी. डी. कोशांबी, डी. पी. चट्टोपाध्याय, भगवतशरण उपाध्याय और राहुल सांकृत्यायान जैसे इतिहासकारों और अध्येताओं ने इन समुदायों की विशिष्टता और विसंगतियों को प्रगतिशील दृष्टि से समझने का प्रयास किया।''[6] इन विद्वानों के अतिरिक्त ग्रियर्सन, ख्रिस्तोफ़र, हेमफोर्ड पादरी आदि ने आदिवासी साहित्य का संकलन करके उसपर ग्रंथ लिखे मगर वह सब अंग्रेज़ी में थे।

वेरियर एल्विन ने आदिवासी समुदायों का उनकी जीवन-शैली का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण और चिंतन प्रस्तुत किया था। ऐसा माना जाता है कि अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के आयुक्त डॉ0 ब्रह्मदेव शर्मा ने सन् 1987-89 में 21वीं रपट सरकार को सौंपी। इस रपट में आदिवासियों के प्रति राज्य सत्ता के बर्ताव और उससे होने वाली हानि-लाभ की चर्चा की गयी थी। इसी समय वेरियर एल्विन से प्रेरित कहानीकार शानी 'शालवानों के द्वीप' नामक रचना लिखकर 'अबूझमाड़' का सच दुनिया के सामने लाये तो रामशरण जोशी ने कालाहंडी, बस्तर और कनाडिया के आदिवासियों

पर पुस्तकें और लेख लिखकर आदिवासियों की वेदना को वाणी दी। आदिवासी साहित्य और शोध को लेकर प्रसिद्ध आदिवासी संशोधक डॉ. गोविन्द गारे के संशोधन और साहित्य ने नयी दिशा दी। डॉ. गोविन्द गारे जी ने 'महाराष्ट्र के महादेव कोली', 'वारली', आदिवासी वीरों का इतिहास, आदिवासी-प्रश्न, महाराष्ट्र के दलित शोध और बोध तथा 'अनुभूति' नामक कविता संग्रह लिखकर आदिवासी साहित्य और दलित साहित्य आंदोलन को एक नयी दिशा दी।' (देखें-'हाकारा'; का आदिवासी अस्मिता व साहित्य कला विशेषांक-2006)

यहाँ से आदिवासी साहित्य लिखना जो शुरू हुआ वह आज तक जारी है और आगे भी जारी रहेगा। जब तक इस देश में आदिवासियों का अस्तित्व रहेगा तब तक।

'युद्धरत आम आदमी' के आदिवासी विशेषांक से दो महत्वपूर्ण बातें हुईं। एक तो इसके माध्यम से आदिवासियों की समस्याओं का पता विश्व को लगा और सरकार उसके समाधान के लिए प्रेरित हुई। दूसरी बात यह कि इस विशेषांक द्वारा आदिवासी लेखक ग़ैर आदिवासी लेखकों से परिचित हो गये। राजाराम भादू लिखते हैं कि 'निश्चय ही इन अंकों से सही मायने में आदिवासी विमर्श का सूत्रपात हुआ है।'[7] महाराष्ट्र में सन् 1980 से प्रकाशित महाराष्ट्र मानव विज्ञान परिषद् की पत्रिका 'हाकारा' का योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता।

'युद्धरत आम आदमी' के विशेषांक के एक खंड में भुजंग मेश्राम का आलेख 'आदिवासी साहित्य क्यों?' लेख के साथ आदिवासी साहित्य और संस्कृति पर विशेषणात्मक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। इसमें आदिवासी लेखिका रोज़ केरकट्टा, पासवी, पुतुल; निर्मला, दयामनी बरला और बिटिया मूर्म के लेख भी हैं जिसमें आदिवासी विकास, विस्थापन, धर्मान्तरण, सांस्कृतिक संक्रमण की चर्चा की गयी है। दूसरे भाग में नजूबाई गावीत, डोमन साहू समीर, रेमिस कुंडलना, निशा भंडारे, लीलाधर मंडलोई, दमयन्ती बसेरा, विनायक तुकाराम, सोमा रूबलोक, चेतन माँझी, सुधीर कुमार हेम्ब्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

राजाराम भादू लिखते हैं-''आदिवासी साहित्य के उद्भव और परिप्रेक्ष्य निर्माण में मराठी के दलित साहित्य से तो संबंध को जोड़कर देखा गया है, जो सही भी है लेकिन आदिवासी अस्मिता और उनकी संघर्षधर्मी चेतना के विकास और प्रतिरोध, संगठनों के निर्माण में नक्सलवादी आंदोलन के प्रेरणा-प्रयासों को वहाँ लगभग नज़र अंदाज़ कर दिया गया है जबकि तेलंगाना-तेभागा आंदोलन से ही आदिवासी स्त्री-पुरुषों की गोलाबंदी आरंभ हो गयी थी। यह प्रक्रिया नक्सलवादी, श्रीकांकुलम, दंडकारण्य और भोजपुर में आगे परवान चढ़ी तथा भयंकर दमन व उत्पीड़न के बावजूद आज भी आदिवासी अंचलों में फैलती जा रही है।''[8] महाश्वेता देवी के उपन्यास और मेरी टाइलर की पुस्तक 'भारतीय जेलों में पाँचसाल' तथा मनमोहन पाठक का उपन्यास 'गगन छटा गहरानी' जैसी कृतियों मेंनक्सली आंदोलनों की झलक स्पष्ट दिखायी देती है।

'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के साथ-साथ 'अरावली उद्घोष' पत्रिका ने भी अंक 52 व 54 क्रमशः 'आदिवासी चेतना' और 'स्मरणीय आदिवासी विभूतियाँ' नामक विशेषांक निकालकर आदिवासी विमर्श को स्वर दिया। इतना ही नहीं, इस पत्रिका ने 'आदिवासी कहानी विशेषांक' भी प्रकाशित कर आदिवासी कहानीकारों को प्रकाश में लाकर आदिवासी विमर्श को आगे बढ़ाया है। इन दो पत्रिकाओं के अतिरिक्त 'अकार' (संपादक गिरिराज किशोर) ने मार्च 2002 में चौथे अंक को आदिवासी कविता को समर्पित किया। आरोह 'के संपादक उत्तमकुमार पीयूष ने भी संथाली कविता पर एक विशेषांक प्रकाशित किया था। अब तक आदिवासी विमर्श पर पूर्वांचल खामोश था मगर पी.बी. शर्मा पथिक जी के अनुसार आदिवासी विमर्श से अब पूर्वांचल की हिस्सेदारी भी जुड़ गयी है क्योंकि युद्धरत आदमी पत्रिका की संपादक रमणिका गुप्ता ने 2005 में अपनी पत्रिका का 'पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर' विशेषांक निकाला है।

मराठी की अगर बात करें तो वाहरू सोनवणे का 'गोधड़' काव्य संग्रह अधिकृत रूप से आदिवासी संवेदना की आवाज़ बना। वाहरू जी ने मराठी काव्य में सबसे पहले भिल्लारी भाषा का प्रयोग किया था। आदिवासी साहित्य का सबसे शीर्षस्थ कवि 'विनायक तुमराम' जी ने 'गोंडवन पेटले आहे' लिखकर अभिजनों की तथाकथित व्यवस्था को खुली चुनौती दी थीं

हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अभी तक आदिवासी साहित्य के इतिहास पर सोचा नहीं गया है। इस बात पर भी अब पहल करने की आवश्यकता है। अंत में विजयदेव नारायण साही की पंक्तियों में मैं कहना चाहूँगा- 'तुम हमारा ज़िक्र इतिहास में नहीं पाओगे/.... छुटी हुई जगह दिखे जहाँ-जहाँ/ या दबी हुई चीख़ का अहसास हो/ समझना हम वहीं मौजूद हैं।

संदर्भ

1. भारतीय समाज संस्थाएँ और संस्कृति- रामनाथ शर्मा, राजेन्द्र कुमार शर्मा, प्रकाशक-ऐटलांटिक पब्लिकेशन एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली-110 2000
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में आदिवासी-शोध प्रबंध- राजाराम भादू
3. अरावली उद्घोष- संपादक- बी.पी. वर्मा 'पथिक' अंक 76
4. वही, अंक-77
5. अकार - संपादक- गिरिराज किशोर- अंक मार्च-2002
6. आश्वस्त- संपादक- डॉ0 तारापरमार- अंक दिसंबर-2007
7. वही, अंक नवंबर-2006
8. राष्ट्रीय स्तरीय पत्रिका ''लोकयज्ञ''-सं0 प्रा. सोनवणे राजेन्द्र 'अक्षत' अंक जनवरी-2007

हिन्दी विभाग प्रमुख, स्वा सावरकर महाविद्यालय, बीड़, ज़ि0 बीड़

लोक संस्कृति में दलित अभिव्यक्ति

कँवल भारती

1927 में किन्हीं जी.पी. श्रीवास्तव ने एक नाटक लिखा था—'अछूतोद्धार'। यह अछूत भाषा को लेकर लिखा गया था। इसमें एक घरेलू नौकरानी है बेला। उसकी मालकिन उसे एक दिन नौकरी से निकाल देती है। उसका मालिक दब्बू यानी मालकिन का पति, जो सचमुच दब्बू है, अपनी पत्नी शिक्षावती से नौकरानी को निकाले जाने का कारण पूछता है—क्या इसने कोई भारी वर्तन तोड़ दिया? उत्तर मिलता है—नहीं। क्या इसने सोने-चाँदी के गहने चुरा लिये? उत्तर मिलता है—नहीं। तब क्या इसने किसी की हत्या की है? उत्तर मिलता है—नहीं, यदि ऐसा होता तो हमें दंड देने की क्या आवश्यकता थी? वह पूछता है, तो फिर क्यों इसे निकाल रही हो? उत्तर मिलता है—यह अछूत भाषा बोलती है। भाषा की हत्या जीव हत्या के अपराध से भी बढ़कर है। यह 'निगोड़ी' बोलती है, 'बतंगड़' बोलती है, अक्षर को 'अच्छर' बोलती है। बेला कहती है—सरकार क्या करें हम अपनी बोली को? जो जन्म से बोलते आए, वह अब नहीं बदल सकती है। दब्बू अपनी पत्नी से पूछता है—अछूत भाषा से आपका क्या आशय है? वह बताती है—जिन शब्दों की उत्पत्ति म्लेच्छ भाषा से हुई है, वह अछूत है। अछूत शब्दों के प्रयोग से हमारी भाषा कलंकित हो जाती है।

यह नाटक 'चाँद' के अछूत अंक में छपा है, जो मई 1927 में प्रकाशित हुआ था। इस नाटक को पढ़कर लगा कि भाषा भी अछूत होती है। यह नाटक एक बढ़े रहस्य से परदा उठाता है, जहाँ लोक-भाषा के प्रति एक बड़ा षडयंत्र स्पष्ट होने लगता है। षडयंत्र है—एक संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट हिन्दी को स्थापित करके लोक-भाषा को हीन बना देना। लोकभाषा को हीन बनाने का अर्थ है, लोक-साहित्य को हीन बनाना। लोक-भाषाओं में अधिकांश साहित्य दलित जातियों का है, उसे खड़ी बोली हिन्दी ने हाशिये पर डाल दिया। जो षडयंत्र औपनिवेशिक अंग्रेज़ी ने भारतीय भाषाओं के साथ किया, वही सामंती हिन्दी ने लोक-भाषाओं और लोक-साहित्य के साथ किया; जिसने मौलिक दलित-साहित्य को मुख्यधारा का साहित्य न बनने देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। ब्रजभाषा, कौरवी, भोज़पुरी, अवधी आदि लोक-भाषाओं में जो दलित-साहित्य लिखा जा रहा था, उसे हिन्दी ने अशिक्षितों का ग्राम्य साहित्य मानकर ख़ारिज़ कर दिया। इसी आधार पर रामचंद्र शुक्ल ने कबीर आदि दलित संतों के काव्य को लोक-व्यवस्था के विरुद्ध कहा था, जबकि वह लोक-भाषा में लिखे गये तुलसी, सूर और जायसी के काव्य को लोकव्यवस्था के अनुकूल मानते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दी के ब्राह्मणवादी आलोचकों को लोकभाषा में विरोध की अभिव्यक्ति से आपत्ति थी, जो वेद-शास्त्र, वर्ण-व्यवस्था और जाति-भेद के ख़िलाफ़ थी, जबकि सूर, तुलसी और जायसी के काव्य में इस लोक-व्यवस्था का भरपूर समर्थन था।

हिन्दी से हमें शिकायत नहीं है, क्योंकि भाषा के स्तर पर एक राष्ट्र के निर्माण में उसका योगदान है। हमें शिकायत लोक-भाषाओं की उपेक्षा से है, उन्हें साहित्य की भाषा न बनने देने के षडयंत्र से है। क्या ही अच्छा होता, यदि मराठी, बांग्ला, गुजराती, कन्नड, मलयालम, तेलुगु और पंजाबी भाषाओं के साहित्य की तरह कौरवी, ब्रजभाषा, हरियाणवी, भोजपुरी, अवधी, मैथिली भाषाओं का साहित्य भी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता। यदि ऐसा होता, तो दलित-साहित्य अपनी भाषिक विविधता के साथ मुख्य धारा का साहित्य होता। किंतु, हिन्दी की ब्राह्मणवादी और सामंती तानाशाही ने लोक-भाषाओं में लिखे जा रहे दलित- साहित्य को मुख्य धारा में आने से रोक दिया। इसका एक ही मुख्य कारण था—लोक-संस्कृति में दलित अभिव्यक्ति, जो समतामूलक लोक-संस्कृति का निर्माण कर रही थी। वह सामान्य और विशेष धर्म अर्थात् वर्ण-व्यवस्था अर्थात् लोक-व्यवस्था को ध्वस्त कर रही थी। इसलिए, हिन्दी के आलोचकों ने लोक-भाषाओं में राधा, कृष्ण और गोपियों को लेकर लिखे गये साहित्य को तो साहित्य की मुख्य धारा में शामिल कर लिया, पर उसके प्रतिरोध में लिखे गये सामाजिक परिवर्तन के नैतिक साहित्य को नकार दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कबीर के बाद का लगभग चार शताब्दियों के बीच का दलित-साहित्य हमें नहीं मिलता। ऐसा नहीं है कि इस काल में दलित अभिव्यक्ति मौन रही थी। वह मुखर रही है और उतनी ही मुखर रही है, जितने कि कबीर और रैदास मुखर रहे हैं। उसे हमें खोजना होगा। उसके बहुत सारे संकेत हमें रीतिकालीन साहित्य के भीतर ही मिल जाते हैं। उदाहरण के तौर पर देव का यह छंद देखिए :

कथा में न, कंथा में न, तीरथ के पंथा में न,
पोथी में न, पाथ में न साथ की बसीति में।
जटा में न, मुंडन में न, तिलक त्रिपुंडन में न,
नदी-कूप कुंड में न, अन्हात दान-रीति में।

पीठ-मठ-मंडल न, कुंडल कमंडल न,
माला दंड में न देव देहरे की भीति में
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति में।।

इस पद में निर्गुण दलित अभिव्यक्ति पूरी तरह मौजूद है। इसी तरह, पद्माकर की इस पंक्ति—"त्यौं पद्माकर वेद-पुराण पढ्यो, पढ़के बहु बाद बढ़ायो। याही दुरास में दास भयो, मैं कहूँ विश्राम को धाम न पायो"—में पूरा दलित स्वर है। इसमें आप दलित धर्म और दलित-संस्कृति की अवधारणा भी देख सकते हैं। रीतिकालीन कवि ठाकुर की इस पंक्ति में तो पूरी दलित-संस्कृति ही उपस्थित है :

छोड़ि पतिव्रत प्रीति भरी निबही नहीं श्रोण सुनी हम मोहू।
माया मिली नहिं राम मिले, दुविधा में गयो सजनी सुन दोऊ।।

इस पद में कवि ठाकुर ने जारकर्म के विरुद्ध दलित-स्वर को अभिव्यक्ति दी है। वीरगाथाकालीन काव्य में भी बहुत सी अभिव्यक्तियाँ हमें मिलती हैं, जो उस समय की दलित-धारा के अस्तित्त्व की सूचना देती हैं। इस छोटे से आलेख में, मैं उसके विस्तार में नहीं जा सकता। यदि समय मिला, तो इस पर मैं अलग से काम करूँगा। पर, मैं दलित विद्यार्थियों से अपील करता हूँ कि वे इन विषयों पर काम करें।

हिन्दी में लोक-साहित्य के संकलन का जितना काम हुआ है, उतना उसके ऐतिहासिक विश्लेषण का नहीं हुआ। हालाँकि हरियाणवी सांगों और मेरठ तथा आगरा मंडल के लोक-गीतों और संगीत-नाटकों के सांस्कृतिक अध्ययन पर कुछ काम ज़रूर हुआ है, पर वह अध्ययन भी जन्म, विवाह, नामकरण, तीज-त्योहार आदि संस्कारों के विवेचन तक ही सीमित है। लोक-साहित्य का कोई समाजशास्त्रीय अध्ययन अभी तक मेरे देखने में नहीं आया है। राहुल जी ने अपने एक निबंध में लिखा है—"राजस्थानी सामंतशाही ने जनतंत्र के प्रसार और जनाधिकार के विस्तार को रोकने में चाहे जितने पाप किये हों, किंतु लोक-कला और लोक-साहित्य की जितनी रक्षा वहाँ हुई है, उतनी भारत में अन्यत्र नहीं।" लेकिन, यह बात सिर्फ़ राजस्थानी सामंतशाही पर ही नहीं, वरन् भारत की संपूर्ण सामंतशाही पर लागू होती है। राहुल जी भी इस तथ्य के मूल में नहीं जा सके कि सामंतशाही और ब्राह्मणशाही भी लोक-साहित्य के प्रति उदार क्यों रही? यही वह प्रश्न है, जिसका उत्तर हमें लोक-साहित्य का ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय अध्ययन करने से मिलेगा।

लोक-साहित्य दो तरह का है—लिखित और मौखिक। इसे हम मौखिक और लिखित संस्कृति का लोक-साहित्य भी कह सकते हैं। मौखिक साहित्य की संस्कृति पूरी तरह सामंती है। उसमें स्त्री-गीतों में पुत्र के जन्म पर हर्ष है और पुत्री के जन्म पर शोक है; पतिव्रता स्त्री की महिमा है; विवाह के गीत हैं, तीज-त्योहारों के गीत हैं; और राजा-रानियों की प्रशस्तियाँ हैं। राजस्थानी लोकगीतों में सूर्य का उदय भी राजा कश्यप का उदय है, यथा—"उगियो उगियो के करो सुहल्यो ए, उगियो राजा कासिव जी को पूत।" देवी के गीतों और माता के छंदों में भक्ति के स्वर हैं। इसी तरह, लोक-कहानियाँ हैं, जो राजा-रानी के क़िस्सों और भूत-प्रेत, चुड़ैल, राक्षस और अंधविश्वासों से भरी पड़ी हैं। हम कैसे मान सकते हैं कि साहित्य की ऐसी संस्कृति सामंतशाही के लिए घातक थी। वह सामंती मूल्यों की पोषक ही थी। इसलिए, जो साहित्य सामंती संस्कृति का ही राग अलाप रहा हो, सामंतशाही को उसकी रक्षा करनी ही थी। एक भोजपुरी लोक-गीत की ये पंक्तियाँ देखिए, जिनमें ऊँच-नीच की पूरी संस्कृति मौजूद है—"कइसे के उठि हम कोसिला रानी, हमरा बड़ सोच बाटे हो। आरे नीच ही जाति के हेलनिया, हमें निरबंसी कहे हो।" यहाँ मल उठाने वाली हेला जाति को नीच जाति हेलनिया कहा गया है। सामंतशाही को ऐसे लोक-साहित्य से खतरा हो ही नहीं सकता था!

कुमाऊँनी लोक-साहित्य में गढ़वाल की एक प्रसिद्ध लोक-कथा है—'मालूशाही'। यह एक राजकुमार के प्रेम की कहानी है। जिन्होंने भी इस लोक-कथा को पढ़ा या सुना है, वे इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इसमें शुरू से अंत तक सामंती ठाठ-बाठ और जीवन-मूल्य मौजूद हैं। इसी तरह, मालवा की रूपमती और राजस्थान की निहालदे की लोक-कथाएँ भी सामंती प्रेम की लोक-कथाएँ हैं, जिन्हें सुरक्षित रखने में सामंतशाही को कोई ख़तरा नहीं था। एक कौरवी लोककथा है, जिसमें नरबलि का ज़िक्र है। कहानी इस प्रकार है—"एक राज्जा की बेट्टी का ब्या ता। कुमार का आंवा पक्के नी ता। आंवा भेंट लेवे ता, जब पक्के ता। राज्जा का हुक्म ता। गाँव के घर-घर से एक-एक आदमी भेंट चढ़े ता। एक बुढ़िया के एकई बेट्टा ता। उसकी बारी आयी। वो घर लीपती जाए, रोती जाए—"मेरे बेट्टे का बार आया।" ऐसा लोक-साहित्य राजतंत्रों का क्या कुछ अहित कर सकता था? लेकिन, लोक-गीतों में एक बड़ा विद्रोह भी है। वह स्त्रियों का विद्रोह है विधाता के प्रति कि उसने स्त्री को जन्म क्यों दिया? स्त्रियों ने अपने गीतों में अपने विस्थापन की पीड़ा की बहुत मार्मिक अभिव्यक्ति की है। गढ़वाली, कौरवी और राजस्थानी लोक-गीतों में यह अभिव्यक्ति हृदय को द्रवित कर देने वाली है। स्त्रियों की यह अभिव्यक्ति इस सत्य को रेखांकित करती है कि लोक-संस्कृति सामंतवादी है। लोक-साहित्य में हमें इस संस्कृति का कठोर यथार्थ मिलता है, पर उसके विरुद्ध नयी संस्कृति के निर्माण की चेतना वहाँ उपस्थित नहीं है।

जहाँ तक लिखित लोक-साहित्य की बात है, वह भारत में छापाखाना आने के बाद प्रकाश में आया, जो ब्रिटिश काल की देन है। लिखित लोक-साहित्य अधिकांशतः पद्य में है, जिसमें पवाड़ा है, आल्हा है, रागनियाँ हैं, दोहा, चौबोला, दौड़, ख़्याल, भजन आदि हैं। लिखित लोक-साहित्य के आने से सांग और नौटंकियाँ भी अस्तित्त्व में आयीं। लिखित लोक-साहित्य लोक-रंजन के नाम पर प्रचारात्मक भी था। यह साहित्य पौराणिक, प्रेम-संबंधी, सामाजिक

और ऐतिहासिक स्तर का था। इस साहित्य ने समाज को बदलने में कोई भूमिका नहीं निभायी, अपितु हिन्दू संस्कृति को उसकी मूल संरचना में बनाये रखने का ही काम किया। 'रामायण' और 'महाभारत' की कहानियों पर पौराणिक सांग लिखे गये, और सामाजिक क्षेत्र में हरिश्चंद- तारामती, सत्यवान-सावित्री, भक्त प्रह्लाद, गोपीचंद, भरथरी, रूप-बसंत, ध्रुव भगत, निहालदे, ढोला, पूरनमल आदि सांग खेले जाते थे। कहना न होगा कि इन सांगों ने सामंती संस्कृति का ही प्रचार किया। कुछ उदाहरण देखिए :

कौरवी लोककथा 'निहालदे' में सती-प्रथा का महिमामंडन है—"राजा भले बखत में आए, सिर के केस जलन नहिं पाए। सती हो रही कंवर निहालदे।" सती स्त्री के क्या लक्षण होने चाहिए, यह पं. माँगेराम ने 'ध्रुव भगत' सांग में इस तरह वर्णित किये हैं :

पति बाहर तै आवैं सति नै शीश झुकाया चहिए जी।
अपणे पति की शक्ल देख फेर तले नै लखाणा चहिए जी।।

कलियुग की निंदा करते हुए लखमीचंद एक रागनी में कलियुग के ये लक्षण बताते हैं—

गऊ लोप हो दुनिया म्ह न कोए धर्म कमावैगा।
वेद-शास्त्र उपनिषदों का न कोए पढ़णियाँ पावैगा।
संध्या तर्पण भजन छोड़ दे वस्तु जांगी बारा।
वेदव्यास जी कलि काल का हाल लिखण लाग्ये सारा।।



अजीत सिंह राजबाला के सांग में राजपूत वह है, जो गऊ, ब्राह्मण और अतिथि-सेवा के गुणों से संपन्न है। यथा—

राजपूत का छोरा हूँ अपनी आन के ऊपर मरता हूँ।
गऊ, ब्राह्मण, अतिथि-सेवा मेहमान के ऊपर मरता हूँ।।

देवताओं के आगे मनुष्य की कोई औक़ात नहीं—सांगों में ऐसा प्रचार भी भरपूर था। पं. माँगेराम के सांग 'खांडाराव परी' में राजा विक्रमादित्य इंद्र से कहता है—

देवता हों समदासी कोए इनके जात नहीं सै।
देवताओं के आगे मनुष्य की कोए औकात नहीं सै।।

इसी समय, बहुत से लोक-कवि आर्य समाज से प्रभावित होकर आर्यसमाज के प्रचारक बन गये थे, जो 'आर्य भजनोपदेशक' कहे जाते थे। इनमें अनेक दलित लोक-कवि भी शामिल थे, जो कविता करने के साथ-साथ गाते भी थे। स्वामी अछूतानंद भी शुरू में आर्य समाज के ही प्रचारक थे, जो आगे आदि हिन्दू आंदोलन के प्रवर्त्तक बने। आर्य भजनोपदेशकों में स्वामी शंकरानंद, स्वामी अयोध्यानाथ दंडी, जो ग्राम भेंकुरी, तहसील सिकंदराराऊ, ज़िला अलीगढ़, उत्तर प्रदेश के निवासी थे, स्वामी केवलानंद, महाशय रूपचंद, जो ग्राम भायपुर की मिलक, मौजा मुंड़िया, ज़िला मुरादावाद के थे—ये कवि और प्रचारक आर्य समाज के साथ-साथ राजनीतिक स्तर पर गांधीवादी भी थे। अभी हिन्दी क्षेत्र में डा. आंबेडकर की क्रांतिकारी दलित-चेतना ने विकास नहीं किया था, अलबत्ता दस्तक दे दी थी। इसी धारा के लोक-कवियों में बिहारीलाल हरित, बदलू राम रसिक और माता प्रसाद जी के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी धारा में प्रेम प्रकाश वर्मा भी थे, जिन्होंने अछूतोद्धार को केंद्र में रखकर 'श्री गांधीचरित मानस' महाकाव्य लिखा था।

इन लोक-कवियों ने आर्य समाज की नीतियों का ख़ूब प्रचार किया और अछूत जातियों में साफ़-सफ़ाई से रहने; धर्म-कर्म करने; मांस-मछली, बीड़ी-तमाखू और शराब के नशे के ख़िलाफ़ अभियान चलाया। इन्होंने पढ़ने-लिखने पर भी ज़ोर दिया और छुआछूत का विरोध किया। किंतु, वर्ण-व्यवस्था के ख़िलाफ़ कोई प्रचार नहीं किया, वेदों का समर्थन किया और दयानंद को दलितों का उद्धारक बताया। शंकरानंद के एक भजन की ये पंक्तियाँ देखिए :

थी छूत की प्रथा बड़ी भारी दलितों को सताया जाता था
देखी यह दशा दयानंद ने फिर दलितों का उद्धार किया।

उन्होंने आर्य-समाज की इस नीति का प्रचार किया कि अछूतपन के शिकार दलित कहीं ईसाई और मुसलमान न बन जाएँ—

लो अछूतों को छाती लगा हिन्दुओ
वरना ये लाल ग़ैरों के घर जाएँगे।

दयानंद और वेद इन कवियों पर हावी थे, लेकिन वे शिक्षा के प्रचारक भी थे। महाशय रूपचंद ने लिखा—

विद्या सीखो प्रेम से देश के नर-नारी।
विद्या पढ़े महात्मा गांधी, जैसे उठी जेठ में आँधी।

आर्यसमाज के पंडित यह प्रचार करते थे कि ईसाइयत और इस्लाम ने हिन्दुओं का दमन किया है। महाशय रूपचंद ने भी इसी प्रचार का समर्थन किया—

ये ब्रह्म क्षत्री सूद्र वैश इस्लाम ने लिये दबाई।
चोटी काटी तोर जनेऊ दीन का कलमा दिया पढ़ाई।।

गांधी जी में उनकी अत्यधिक भक्ति थी—

गांधी जी का प्रचार देखकर फटे हमारी छाती।
हर देश-देश में देखो वीरो छुआछूत मिटा दी।।

वे गांधी को ईश्वर का अवतार बताते थे—

उस सत्यनारायण ने टेर सुनी धर अवतार गांधी नाम बतावे।
इसी कलयुग में प्रचारक बनकर वेदों का प्रचार सुनावे।।

लेकिन इसके बावजूद, ये लोक-कवि सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी थे। माता प्रसाद मितई भूत-प्रेत और देवियों में अंधविश्वास के ख़िलाफ़ थे, यथा—

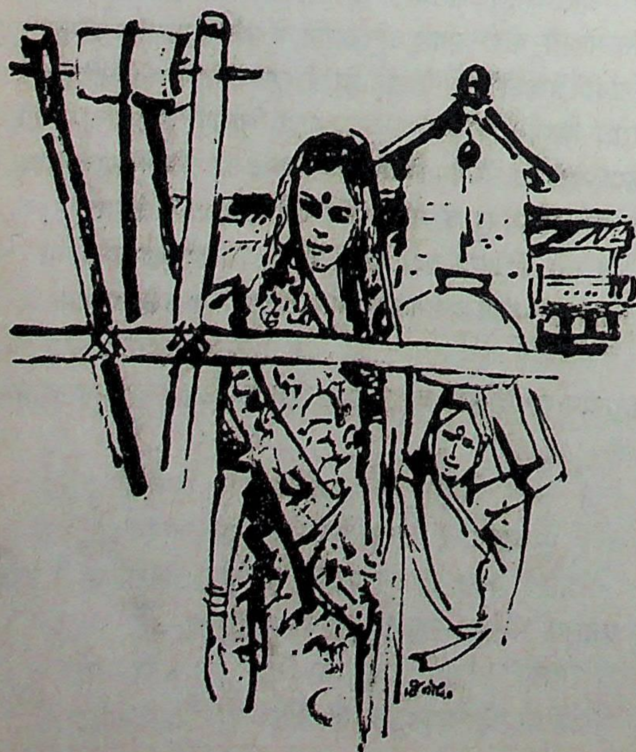
छोड़ा अंधविससवा मोरि माई।
भूत-प्रेत, देवी, सब देवा पूजत उमरि गँवाई।
मितई एक विद्या के पाये सब दुख जइ है नसाई।।

उनकी दृष्टि में सत्यनारायण की कथा, बछिया-दान, लिंग-पूजा, जानवर की बलि, गंगा-स्नान आदि पंडों के रोज़गार हैं—

अलग-अलग रोजिगार खोलि, सब चोखा माल गिनावें।
मितई स्वारथ की सब बातें नहिं मोरे मन भावें।।

केवलानंद ने मनु की वर्ण-व्यवस्था पर मारक प्रहार किया है, जो तार्किक सवाल उठाता है—

मनु जी तुमने बरन बना दिये चार
जा दिन तुमने बरन बनाये, न्यारेऊ रंग बनाये क्यों ना?
गोरे बामण, लाल क्षतरी, बनिया पीले बनाये क्यों ना?
शूद्र बनाते काले बरन के पीछे को पैर लगाये क्यों ना?



रंग-भेद के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का यह ज़बरदस्त खंडन था। ऐसा ही एक तार्किक खंडन महाशय रूपचंद ने छुआछूत का किया—

क्या नल के अंदर चाम रहे कुएँ में चाम देख लो भाई।
फिर सूद्र लोगों से क्यों छुआछूत करो कहो बुद्धि कहाँ गमाई।

कुछ इसी तरह का तर्क छह सौ साल पहले संत रैदास ने पंडितों से किया था—

बता रे पंडित ज्ञानी कौन चाम से न्यारा।
चाम का ब्रह्मा चाम का विष्णु चाम का सकल पसारा।

कहना न होगा कि लोक-साहित्य की संस्कृति में ईश्वरवाद, निर्गुणवाद, सगुणवाद, अवतारवाद, भाग्यवाद, पितृसत्तावाद और संक्षेप में कहें, तो सामंतवाद के सभी अवशेष हैं। इस काल के दलित लोक-कवि भी इसी संस्कृति को मान्यता देते हैं और इसी संस्कृति में रहकर छुआछूत का विरोध करते हैं।

किंतु, लोक में प्रतिरोध की धारा का श्रेय, दूसरे शब्दों में लोक-संस्कृति में परिवर्तन की धारा चलाने का श्रेय उन दलित कवियों को जाता है, जिन्होंने आर्य समाज और गांधीवाद के समानांतर मौलिक समाजवादी चिंतन को खड़ा किया। आधुनिक लोक-साहित्य में यह चिंतनधारा दलित-वर्ग के मौलिक समाजवादी दार्शनिक कबीर और रैदास की परंपरा से जुड़ती है और डा. आंबेडकर तक आती है। इस धारा के लोक-कवियों में ग्राम लोहगढ़, अलीगढ़ के अमर सिंह राही; शाहदरा, दिल्ली के नत्थू सिंह पथिक; लखनऊ के प्रकाश लखनवी; हरैया, बस्ती के रामभरोसे त्रिशरण; हापुड़ के मास्टर मिथन सिंह; सीलमपुर, दिल्ली के बलवंत सिंह प्रेमी; जड़ौदवी, जो बुद्ध संघ प्रेमी के नाम से प्रसिद्ध हुए; मथुरा के नेत्रपाल सिंह स्वरेंद्र; ग़ाज़ियाबाद के सतपाल; मैनपुरी के मौजीलाल; रूधैली, बस्ती के रामदयाल दिवाकर; फ़िरोज़ाबाद के अनेग सिंह दास, जिन्होंने भीमचरित मानस लिखा; मथुरा के रामफल निमेश; लोहामंडी, आगरा के रामदयाल; कल्यान नगला, मथुरा के धम्मरतन; इंदौर के लालचंद राही; संडीला, लखनऊ के गोकरन लाल करुणाकर; विश्वास नगर, दिल्ली के मोतीराम संत; उझानी, बदायूँ के धम्मपाल, जिन्होंने वारहमासी में दलित-चेतना के गीत लिखे—विशेष उल्लेखनीय नाम हैं। इन लोक-कवियों ने संपूर्ण सांस्कृतिक विरासत पर सवाल खड़े किये, ब्राह्मणवाद और हिन्दू देवताओं और ऋषि-मुनियों के चरित्रों को कटघरे में खड़ा किया, 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं का वैज्ञानिक मूल्यांकन किया, शंबूक और एकलव्य पर नाटक लिखे, जिन्होंने सामंतवादी व्यवस्था का पर्दाफ़ाश किया और स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व की समाजवादी संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सी-260/6 न्यू आवास विकास कॉलोनी
गंगापुर रोड, रामपुर (उ0प्र0)-244901

दलित-साहित्य का सामाजिक सौंदर्य

हरपाल सिंह 'अरुष'

डॉ0 अंबेदकर ने भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद की इस महाव्याधि को पहचान कर ही गत शताब्दी के तीसरे दशक में जाति-प्रथा समाप्त करने के लिए एक महान आंदोलन खड़ा किया। आरंभ में, उन्होंने किसानों, शिल्पकारों, बुनकरों और इनसे भी आगे बढ़कर उन सभी सामाजिक समुदायों के लिए काम करना अपने आंदोलन का मुख्य उद्देश्य रखा, जो सवर्ण से इतर नाम से जानी जाती थीं। उस समय, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि इतने बड़े फलक पर काम कर सकना उनके लिए संभव नहीं हो सका। हिंदू महासभा और आर्य समाज ने राजनीतिक कम, धर्म आधारित सामाजिक राजनीतिक पक्षधरता से अधिक काम लिया। आर्य समाज के पुरोधा स्वामी श्रद्धानंद ने वर्ण-व्यवस्था की जड़ों को गहराई तक रोपते हुए उनको आजीवन सींचने का दायित्व अपने ऊपर ओढ़ लिया। किसानों की अधिकतर जातियों को क्षत्रिय तथा शिल्पकारों को ब्राह्मण कहकर उनमें उत्कृष्टता-बोध का संचार किया। बुनकर, चर्मकार, कृषि-मज़दूर से लेकर मेहतर तक शूद्र के रूप में परिभाषित कर दिये गये। उत्कृष्टता-बोध का झूठा अहं आ जाने पर किसान और शिल्पकारों ने (उनके नेताओं और प्रभावशाली लोगों ने भी) डा0 अंबेदकर का विरोध खुलकर किया, इतना खुलकर, जितना ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य भी नहीं कर सके। उधर हिन्दू महासभा ने कुछ उन जातियों को अछूत स्वीकार करने से किनारा कर लिया, जो तब तक अछूत मानी जाती थीं, किंतु जिनको आर्य समाज ने क्षत्रिय और ब्राह्मण घोषित कर दिया था। हिंदू महासभा ने भी चतुर्वर्ण व्यवस्था को हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का अटल आधार स्वीकार करते हुए अछूत कहे जाने वाले समुदायों व जातियों को शूद्र हिंदू मानकर अपनी सामाजिक-धार्मिक राजनीति को चमकाने का प्रयास किया। इतना कुछ हो जाने के बावजूद डा0 अंबेदकर ने सामाजिक-शैक्षिक रूप से पिछड़े समाज के लिए कार्य करना बंद नहीं किया। उन्होंने अपना आंदोलन किसी सामाजिक वर्ग के विरुद्ध नहीं खड़ा किया, अपितु जाति-प्रथा समाप्त करना उनके उद्देश्य में सदा रहा। बहुत बाद में, उन्होंने यह महसूस किया और कहा—''इस आंदोलन का सफल होना नितांत असंभव दिखायी देता है।'' डा0 अंबेदकर के लेखन का गहराई से अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि वे यह महसूस करने लगे थे कि भारतीय समाज में से जाति-प्रथा का उच्छेद संभव नहीं है, अतः उन्होंने विभिन्न जातियों के बीच समता स्वीकार किये जाने का सामाजिक दर्शन सबके सामने रखकर एक क्रांतिकारी और महान कार्य किया।

किसी भी समाज के बुद्धिजीवी वर्ग को उस समाज के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी निष्ठापूर्वक निभानी चाहिए। परंतु, भारत के वहुलतावादी समाज में बुद्धिजीवी वर्ग अधिकतर ब्राह्मण जाति से आता रहा है, वही समाज के प्रति प्रधान भूमिका के केंद्र में बना रहा है। परंतु, उसने अपने बुद्धिजीवी होने का लाभ अपने तथा अपनी जाति के लिए ही अधिक उठाया है। दूसरे सामाजिक समूहों, विशेषकर शूद्र कहे जाने वाले समूहों के प्रति उसने कभी बुद्धिजीवी जैसा व्यवहार नहीं किया, अपितु इसके उलट उन समूहों के शोषण के अमानवीय तरीक़े भी खोज निकाले। ऐसा नहीं कि यह शोषित, प्रताड़ित, उपेक्षित वर्ग निष्क्रिय और शांत होकर बैठा रहा हो। हज़ारों साल से लगातार दलित-पिछड़ा वर्ग भी उनके (सवर्णों के) वर्चस्व के ख़िलाफ़ संघर्ष करता रहा है। यह मानना ही पड़ेगा कि डा0 अंबेदकर ने दलितों और पिछड़ों की अस्मिता को जागृत किया तथा भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए भारतीय परिवेश में से ही नये उपकरण तलाशकर अध्येताओं को उपलब्ध कराये, जिनके आधार पर साहित्य के विभिन्न रूपों, पक्षों, संरचनाओं और संदर्भों का अध्ययन सामाजिक आधारों पर संभव हो सका।

चूँकि साहित्य में सामाजिक गतिविधियों की केंद्रीय अंतर्वस्तु का समावेश और अध्ययन होता है, अतः वह सामाजिक संक्रियाओं में अंतर्निहित संरचनाओं और उन संरचनाओं के बीच क्रियाशील अंतर्विरोधों को अभिव्यक्त करता है।

साहित्यकार जब सामाजिक गतिकी पर ध्यान केंद्रित करता है, तब वह गतिशील चीज़ों के साथ-साथ गतिहीन चीजों पर भी विचार करता है। समाज में क्रियाशील और निष्क्रिय तत्त्वों पर, उनके कारणों, प्रेरकों, प्रक्रियाओं और परिणामों को लेकर वह समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहता है—इतना जान

लेना हर आलोचक के लिए अनिवार्य है। वह सामाजिक स्थितियों और प्रक्रियाओं के प्रति समाज को सजग और सतर्क करना चाहता है। वह उन सूक्ष्मताओं को अनुभव-ग्राह्य बनाता है, जिनको आत्मसात करके समाज भ्रम और आत्म-प्रवंचना की चपेट में आने से बचा रह सके। लुकाच ने कहा है—"वह अपनी आत्म-चेतना और जागरूकता को सामाजिक विकास से जोड़ देता है, तो निश्चित ही, इसका परिणाम रचनाकर्म का अवमूल्यन नहीं, बल्कि ऐसा न्यायोचित और गौरवपूर्ण मूल्यांकन है, जैसा इससे पहले कभी नहीं हुआ।" यदि हमको भारतीय समाज में डा0 अंबेदकर के स्वप्न को साकार होते देखने की इच्छा है, तो साहित्य में डा0 अंबेदकर के सामाजिक दर्शन को उतारना होगा। यह कलात्मक काम साहित्यकार अपनी लेखनी के वैयक्तिक सामर्थ्य के अनुसार अपनी भाषा और साहित्यिक-सामाजिक कला-मानदंडों का उपयोग करते हुए करेगा। भारतीय समाज में, जहाँ आर्थिक क्षेत्र में विचारधारात्मक अंतर्विरोध हैं, क्षेत्रीय आदतों और संस्कृतियों को लेकर अंतर्विरोध हैं, राजनीति और व्यवस्था को लेकर भी अंतर्विरोध हैं, वहीं मानवीय आधार को लेकर भारतीय समाज की वर्णवादी, जातिवादी, व्यवसायवादी संरचना को लेकर जो अंतर्विरोध हैं, वे जगजाहिर हैं। डा0 अंबेदकर ने इन सभी अंतर्विरोधों की पारस्परिकता और प्रभावशीलता का अध्ययन करके बताया है कि जातिवादी अंतर्विरोध का आधार भारतीय समाज में हज़ारों वर्षों से चली आ रही, धार्मिक घोषित कर दी गयी, समाज-व्यवस्था है। ब्रेख्त ने कहा है—"कला का काम ऐसे अंतर्विरोधों को समने लाना और व्यक्त करना है, इस प्रक्रिया में कला से व्यक्ति को वास्तविक जीवन में विद्यमान अंतर्विरोधों को समाप्त करने की प्रेरणा मिलती है।"

दलित-साहित्य में मुख्यतः विचार करने लायक जो बात है, वह यह है कि यहाँ साहित्य के प्रचलित तौर-तरीक़े अपनाकर ही नये संदर्भों और प्रसंगों को प्रकाश में लाने का प्रयास नहीं किया जाता, अपितु ऐसे प्रसंग और संदर्भ, जो समाज में पहले से ही विद्यमान रहे हैं, किंतु जिनको उल्लेख्य नहीं समझा गया था; उन पर भी विचार किया जाता है। यहाँ पर नयी रूप-रचना की बात नहीं है, बल्कि उस 'अंतर्वस्तु' की रचना की बात है, जो एक निश्चित स्तर तक 'रूप' से अपृथक है। 'रूपात्मक' संप्रेषण किसी न किसी प्रकार से 'आशय' संप्रेषण के माध्यम के रूप में ही ग्रहण किया और समझा जाता है। यदि सीधे तौर पर कहें, तो यहाँ पर 'यथार्थ-सत्य' और 'अनुभव-सत्य' पर बल दिया जाता है, जो 'रूप' में ही सूक्ष्म होकर 'अंतर्वस्तु' को व्यक्त करता है। इस प्रकार, यहाँ पर विस्तृत समाज-दृष्टि, विराट सामाजिक चिंतन तथा विशदता वाले सामाजिक संबंधों पर साहित्यिक प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक अंतराल को भरने की कलात्मक कोशिश की जाती है। इस साहित्य में समय-अंतराल और समय-सापेक्षता को काफ़ी महत्व दिया जाता है, अतः ऐतिहासिक तुल्यता, क्रमागतता और मिथक-बोध की नवीनता को मूल्यांकन के ऐसे नये आधार उपलब्ध होते हैं, जो समाज-स्मृति, इतिहास-स्मृति और यथार्थ-बोध से मिलकर विमर्श, विश्लेषण और निष्कर्ष को ग्राह्यता की कसौटी पर कस कर देखते हैं। यहाँ पर सबाल्टर्न इतिहास के इस पक्ष पर भी ध्यान रहता है कि समाज के कमज़ोर, उपेक्षित और प्रताड़ित समुदायों को जिस प्रकार इतिहास से बेदखल करने की साजिशें रची गयी हैं, उसी प्रकार साहित्य से बेदखल करना और किये जाते रहना, उनके साथ अन्याय नहीं है क्या? इस प्रकार, दलित-साहित्य अपना ध्यान उन सामाजिक समूहों को केंद्र में रखकर सामाजिक अध्ययन करने का मार्ग प्रशस्त करता है, जिनको उपेक्षित समझकर परिधि के बाहर रखा गया। उपेक्षित समुदायों को अवहेलना के सापेक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की ओर प्रेरित करने वाला है दलित-साहित्य। सामाजिक कुरूपता, मानवीय व्यवहार की विद्रूपता और अनुभवों की तिक्तता, अनुभूतियों की कटुता तथा स्मृति में बसी ऐतिहासिक असुंदरता, यथार्थ के वीभत्स इत्यादि को व्यंजित करने वाली साहित्यिक भंगिमाएँ ही दलित-साहित्य का सौंदर्य हैं।

घृणा और आक्रामकता दलित-साहित्य में कहीं भी स्थान नहीं पा सकते। यह तो स्वयं में घृणा के विरुद्ध सद्भाव को खड़ा करता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार 'घृणा को घृणा से नहीं धोया जा सकता'—यह याद रखता है। परंपरावादी आलोचक तर्क-विवेक को खींचतान कर घृणा में परिभाषित करने लगते हैं। ऐसा करने से उनके मन में बैठी घृणा ही अपना रूप बदलकर सामने आती है। दलित-साहित्य तो मूल रूप से घृणा, ईर्ष्या और द्वेष के विरुद्ध लिखा गया साहित्य है। यहाँ पर प्रेम भाई-चारे और समानता की बात है। यहाँ पर सामाजिक समूहों के मध्य आक्रामकता की नहीं, द्वंद्व की स्थिति होती है। गली-सड़ी और अतार्किक सामाजिक मान्यताओं, रूढ़ियों और अनुपयोगी परंपराओं के प्रति आक्रोश इसीलिए व्याप्त होता है कि उनके चलते रहने से समाज समता के मूल्यों से दूर ही बना रहेगा। अतः, इस साहित्य में न घृणा है, न नफ़रत है, न उल्लास है, न आनंद है; इसमें केवल आशा है, सपना है, भविष्य के प्रति सकारात्मकता है, वह भी मानवीय मूल्यों के आधार पर। इस साहित्य में प्रतिक्रिया, बदले की भावना, नीचा दिखाने की इच्छा जैसी बातों को कोई स्थान नहीं है। यह साहित्य क्रूरता और हिंसा के सापेक्ष खड़ा हुआ है, अतः सामाजिक परिवर्तन के तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। यह पराजित, हताश और कुंठित समाज के हीनता-बोध की भड़ास निकालने वाला साहित्य नहीं है। जैसा, प्रकारांतर से, रामचंद्र शुक्ल तथा उनके अनुयायी भक्ति साहित्य के विषय में कहते हैं कि पराजित कौम का

निराश होकर भगवान की शरण में जाना, निराशा की व्यक्त न करके ईश्वर भक्ति में अपने को डुबोकर क्लीव और कायर होने की कुंठा से पार पा जाना है। किंतु दलित-साहित्य में रैदास और कबीर की तरह'आँखिन देखी' कहना है। यहाँ पर इतना और स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जैसा बलदेव वंशी कहते हैं, "कबीर, रैदास, नानक, मलूक-यह सारी धारा लिखित को प्रमाण नहीं मानती, क्योंकि लिखित से इनको वंचित कर दिया गया था। वेद-पुराण पढ़ने से शूद्रों और नारी को वंचित कर दिया गया था।....ये वेद-पुराण को प्रमाण नहीं मानते। वे प्रमाण क्यों मानेंगे...;" यहाँ पर 'प्रमाण' मानने का अर्थ तदनुसार जीवन जीने से है, उनके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की वर्णवादी व्यवस्था को स्वीकार करने से है। आज का दलित-पिछड़ा वर्ग भी उन संतों की तरह अपना प्रमाण 'आँखिन देखी' अर्थात प्रत्यक्ष अनुभव को मानता है। यथार्थ का सामाजिक आधार है-अपने कटु अनुभवों में परिवर्तन की आशा रखना, उन परिस्थितियों को बदलने की आशा रखना तथा आशा को फलीभूत करने के उपायों और प्रेरणाओं को तलाशना, प्रयास के आधारों की खोज करना; जिनके कारण ऐसा यथार्थ जन्म ले गया है। सीधी बात यह है कि जब यथार्थ अमानवीय स्थितियों को जन्म देने लगता है, तब उस यथार्थ के सापेक्ष प्रयत्न आरंभ हो जाते हैं। स्थितियों में परिवर्तन करने के लिए प्रयास करने की योजना बनने लगती है। इसके लिए साहित्य प्रेरक की भूमिका निभाता है। इस प्रकार, साहित्य में प्रतीपित स्थितियों का चित्रण आक्रोश को बढ़ावा देने के लिए नहीं, अपितु सामाजिक विघटन को, जो समाज में पहले से ही विद्यमान होता है, समाप्त करने के लिए किया जाता है। विपर्यय में सापेक्षता-आधारित प्रभावों पर विमर्शात्मक कला-दृष्टि डालकर साहित्य सर्जा जाता है।

सामाजिक संरचना सदा से जड़ नहीं रहती आयी है। इसमें सदा से परिवर्तन होता रहा है। परिवर्तित घटनाएँ इस प्रकार सामने आती हैं कि पुरानी विचारधारा अपर्याप्त सिद्ध होने लगती है। ऐसे में, साहित्यकार के विवेक से विकास की शक्ति में वृद्धि करने के लिए विचारधारात्मक संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वैसे, माना तो यह जाता है कि विचारधारा कला-रचना का बाह्य तत्त्व है, लेकिन रचनाकार के तर्क-विवेक के आधार पर विचारधारा रचना के केंद्र में पहुँच जाती है, जिससे लोगों को अपनी भौतिक स्थितियों को समझने में, सामाजिक चेतना के तर्कपूर्ण उद्भव और विकास में, आशा और सपनों को आकार देने में मार्गदर्शन और प्रेरणा मिलती है। विचारधारा की प्रक्रिया में सामाजिक स्वरूपों की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समझ विद्यमान होती है। वास्तव में, दार्शनिक चिंतन दो अवधारणाओं को लेकर विकसित हुआ होता है। प्रथम–साक्ष्यमूलक, द्वितीय– कल्पनामूलक। कल्पनामूलक चिंतन वर्चस्वशाली लोगों के हित साधने का औज़ार बनकर विद्यमान रहा है। जन-सामान्य के लिए साक्ष्यमूलक चिंतन अपेक्षाकृत अधिक मंगलकारी रहा है, इसमें यथार्थ-बोध और साक्ष्य-प्रत्यक्ष के आधार पर जीवन, जगत और सपनों की व्याख्या की जाती है। दलित-साहित्य, चूँकि सामाजिक समता के सपने को साकार करने के लिए प्रत्यक्ष-यथार्थ को आधार बनाकर चलता है, अतः यह विचारधारात्मक यथार्थ को साहित्य की अधिरचना का अंग स्वीकार करके चलता है। ऐसा मानने में सामाजिक हित सर्वोपरि रहता है, क्योंकि इसके अंतर्गत मनुष्य का मूल्यांकन उसको सामाजिक संबंधों और यथार्थ परिस्थितियों के बीच रखकर किया जाता है। साहित्य का मूल्यांकन इसी प्रकार किये जाने पर दलित साहित्यकार ज़ोर देते हैं। सामाजिक परिवर्तन में साहित्यकार की भूमिका के महत्त्व को स्वीकार करते हुए दलित साहित्यकार इसके माध्यम से जन-मानस को झकझोर कर प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध परिवर्तनकामी शक्तियों को बल प्रदान करते हैं। इसके लिए दलित-साहित्यकारों को मानवीय मूल्यों, नैतिकता, वैधानिकता, राजनीति, संस्कृति, इतिहास और मिथकायनों को अंतर्भूत करके साहित्य रचना करनी होती है। डा0 नामवर सिंह की यह बात कि विचार जिस प्रकार प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभिव्यक्त भी होता है, यहाँ पर सटीक लगती है। दुखदायी यथार्थ और कटु सामाजिक अनुभव तथा डा0 अंबेदकर के सामाजिक दर्शन से प्राप्त विचार जिस प्रकार ग्रहण किये जाते हैं, उसी प्रकार व्यक्त किये जाते हैं। यह निर्विवाद है कि दलित साहित्यकार एक जटिल सामाजिक, वैचारिक और मानवीय संघर्ष से गुज़रकर आता है, अतः उस संघर्ष की ताज़गी, सजीवता, सक्रियता और बिंबात्मकता के साथ अभिव्यक्ति करता है। असल बात यह है कि विचारधारा को अस्वीकार करने वाले लोग एक प्रकार से प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादियों की तरफ़ मुँह करके खड़े होते हैं। किंतु, इस साहित्य में देश, काल, ज्ञान व तर्क-विवेक के आधार पर सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक विमर्श को यथार्थ के सत्य और आशा के स्वप्न के रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। यह साहित्य केवल दलित-समुदाय या पिछड़े समूहों के द्वारा विकसित मूल्यों और सपनों को ही कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं देता अपितु उच्चवर्णीय सोच वाले लोगों को मानवीयता के मूल्यों की ओर बढ़ने की प्रेरणा तर्क-विवेक के आधार पर देता है। यदि हम सरल शब्दों में कहें, तो कहना पड़ेगा कि दलित साहित्य अंबेदकरवादी सामाजिक विचारधारा की पृष्ठभूमि में अनुभूत सत्य की उपज है।

घोषित संस्कृतियाँ सदा से अंतर्विरोधों से ग्रस्त रही हैं। हमेशा से सांस्कृतिक परंपरावाद के बरअक्स एक विरोधी परंपरा सक्रिय रही है। भारत का समाज भी इन दो भागों में विभाजित रहा है। जिसमें से एक इस विभाजन को वैध ठहराने के धार्मिक

आधार तैयार करता रहा है और दूसरा भाग इस विभाजन को मानवीय आधार पर नकारता रहा है। अतः अंबेदकरवादी समाजशास्त्र के आधार पर अब जो साहित्य लिखा जा रहा है, वह सामाजिक संरचनाओं का अध्ययन वैज्ञानिक तरीकों से करता है; जो सामाजिक स्थापनाओं में क्रियाशील सांबंधिक अंतर्विरोधों को अभिव्यक्त करता है। इसमें एक सामाजिक साहित्यिक सत्य का निर्वाह किया जाता है, जिसमें विमर्श-विश्लेषण की पद्धति द्वारा प्रदत्त मानवीय मूल्यों के आधार पर सामाजिक मूल्य, समतावादी विचार के आधार पर साहित्यिक मूल्य, भौतिकवादी आधार पर सांस्कृतिक मूल्यों की खोज करने का काम किया जाता है। यहाँ मूल्य जड़ स्थापनाएँ न रहकर गतिशील और सक्रिय रहते हैं। परंपरा के निर्माण की प्रक्रिया के समझ में आ जाने पर विभिन्न परंपराओं के टकराने के कारणों पर विचार करना सरल हो जाता है। इस प्रकार, एक ही सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर विद्यमान परंपराओं की सापेक्षताओं को समझकर सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को कम करने की ओर क़दम बढ़ाये जा सकते हैं। इसी प्रकार, सांस्कृतिक टकराहटों के कारणों और परिणामों के विषय में साहित्य के माध्यम से सार्थक बहस आरंभ की जा सकती है। इसी दायित्व को दलित-साहित्य वहन कर रहा है। क्योंकि यहाँ पर सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप की पहचान करना, विसंगतियों पर उँगली रखना, मिथकीय कथाओं और प्रतीकों का पुनर्मूल्यांकन करना, नये प्रतीक तलाशना, पुराने पड़ गये प्रतीकों की विरचना और विश्लेषण तथा मानव-मूल्यों को वहन करने वाले प्रतीकों को प्रकाश में लाना होता है। पारंपरिक साहित्य में परिधि पर धकेल दिये गये प्रतीकों को केंद्र की ओर लाना; वे कलात्मक कार्य सायास करना, जिनसे प्रेरणा लेकर सुधारवादी घोषणाओं के सापेक्ष परिवर्तनवादी प्रक्रियाओं को अपनाया जा सके; सामाजिक भेदपरक दबंगई और आतंक से निर्भीक रहकर अपने अस्तित्त्व- बोध को सँभाले रखना; सामाजिक दीनता-बोध को उतार फेंकने का हौसला रखना; आत्मविश्वास पैदा करना—इन सब बातों के लिए वैयक्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक, और सामाजिक मनोविज्ञान को आधार बनाकर कलात्मक पद्धति अपनायी जाती है। इसके लिए साहित्यकार, वह भी दलित साहित्यकार गतिहीन वस्तुओं और स्थितियों का चित्रण, उनकी जड़ता को तोड़ने की प्रक्रियाओं-संभावनाओं के साथ उनके पूर्ववर्ती रुझानों के साथ-साथ पश्चातवर्ती संभावित गति एवं दिशा का संकेत भी करता है। यह सामाजिक प्रक्रिया की गतिशीलता के विषय में सजग व सचेत भी करता है। इतनी जागरूकता के बिना सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं हो सकता और यह जागरूकता बिना प्रतिबद्धता को अपनाये साहित्य में अनुस्यूत नहीं हो सकती। भारतीय सामाजिक यथास्थिति को तोड़ने वाले साहित्य का उपर्युक्त आधारों पर ही न्यायोचित एवं गौरवपूर्ण मूल्यांकन हो सकता है।

इस लंबे-चौड़े फलक के लिए साहित्यकारों को कई स्तरों पर अध्ययन-मनन करके, अपने अनुभवों से समन्वय स्थापित करके विमर्श-विश्लेषण करना होता है। इसके लिए धर्म-दर्शन का विश्लेषण और मिथकों की विरचना और पुनर्रचना करनी होती है। भारतीय समाज में व्याप्त घृणा, विद्वेष और अपमान को झेलने वाले समुदायों के लिए ही नहीं, वरन् उन समुदायों के लिए भी, जो ये अमानवीय व्यवहार दूसरों के साथ इस तरह करते हैं, जैसे उनको ऐसा करने का धर्म, समाज और सत्ता की ओर से अधिकार प्राप्त हो गया है; न झेलने और न करने की प्रेरणा यहाँ पर विद्यमान है। इसके लिए, परंपराबोध के साथ आधुनिकता की टकराहट को समझना अनिवार्य होता है। यह रूढ़िवाद और नवोन्मेष का संघर्ष है। यहाँ पर शिक्षा, पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के प्रयत्नों और संघर्षों की प्रेरणा है। ग़रीबी, प्रताड़ना और असम्मान को असहनीय मानते हुए सम्मुख आने के रास्ते खोजे जाते हैं। यहाँ भय, आतंक और यातना का जीवन जी रहे लोगों में जागृति लाने के प्रयास हैं। यह साहित्य शोषण, उत्पीड़न और उपेक्षा के विरुद्ध मनोविज्ञान तैयार करता है। यह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हेयता-बोध को उतार फेंकने की शिक्षा देता है, साथ ही, उन मानव-समूहों के लिए, जो इन्हीं आधारों पर अपने आप को उत्कृष्ट घोषित करते हैं, मानवता और भाईचारे वाले दर्शन की याद दिलाता है।

अब सोचना यह है कि दलित-पिछड़ा समाज कब तक ऐसी स्थितियों को झेलता रहेगा, जिनमें धार्मिक अधिकार प्राप्त मानव-समूह की प्रताड़ना को इसी अधिकार से वंचित कर दिया गया समूह या समुदाय झेलता चला आ रहा है। कुछ उदाहरण देखिए—घृणा, निषेध, दरिद्रता, अन्याय, विभेद, हनन—ग़ज़ब तो यह है कि इन आत्म-धन्य उत्कृष्ट समूहों के सिद्धांत, उपदेश और व्यवहार में कोसों की दूरियाँ हैं। इसी दूरी को दलित-साहित्य में खोलकर रखा जाता है।

चूँकि, दलित-समाज अपने तिरस्कार भरे जीवन से मुक्त होना चाहता है, अतः चली आ रही रूढ़ियों और परंपराओं को अस्वीकार करता है। व्यवस्था और संस्कृति दोनों के प्रति उसका सोच अब बदलने लगा है। अतः, यथास्थिति के प्रति आक्रोश और परिवर्तन में अवरोध बनने वाले कारणों के प्रति संघर्ष का रवैया अपनाना चाहता है, दलित-वर्ग। इस वर्ग में बुद्धिजीवियों के द्वारा रचित साहित्य व्यवस्था के विरुद्ध, अन्याय के विरुद्ध वाले विचार को लेकर रचा जा रहा है। कलुषित परंपराओं, अंधविश्वासों, पाखंडों को समूल उखाड़ फेंकने के लिए तथा सामाजिक समता को, मानवतावदी मूल्यों को, दलित-पिछड़ों के मौन को मुखरता देना इसके लक्ष्यों में है। व्यवस्था-जन्य

परिस्थितियों, अतार्किक स्थापनाओं को उधेड़ने को तत्पर विचारधारा यहाँ है। इसके लिए, अपेक्षित संदर्भों को सामने लाना; अवहेलना के सापेक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज कराना; चिंतन, तथ्य और सत्य को अंगीकार करना—इस साहित्य के सामाजिक प्रतिपाद्य हैं। विचारशील, नैतिक और प्रभावशाली साहित्य के माध्यम से सामाजिक चेतना, सामाजिक दृष्टि और सामाजिक चिंतन के लिए राह खोलना इसके उद्देश्य में आते हैं। यह उद्देश्य साहित्य है, जो व्यवसाय, समूह या जाति के आधार पर किसी भी प्रकार के मानवीय विभेद को स्वीकार नहीं करता। यह साहित्य अब तक अग्रणी रहे सभी प्रकार के साहित्य के मुकाबले उपयोगी एवं सामाजिक साहित्य है। इसमें जीवन मूल्य, मानवीय मूल्य और नये साहित्यिक मूल्य समाहित हैं, अतः इसमें अंगीकार करने का सौंदर्य विद्यमान है। यह सम्मान, सौंदर्य और प्रेम के मूल्यों की स्थापना करने के लिए कटिबद्ध है। इसमें यथार्थ का चित्रांकन, जिज्ञासा का उद्भव और निष्कर्ष का प्रतिपादन मंथन, विचार, और विवेक के आधार पर किया जाता है।

दलित-साहित्य में सामाजिक मूल्यों को मानवीय मूल्यों के आधार पर स्वीकार किया जाता है। यह सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्रचना का साहित्य है।

विमलकुंज, आदर्श कालोनी
मुज़फ़्फ़रनगर-251001

ग़ज़लें

योगेन्द्र वर्मा 'व्योम'

बचीं बस हिचकियाँ हैं

आज फिर अख़बार की ये सुर्ख़ियाँ हैं।
गाँव सहमे-से डरी-सी बस्तियाँ हैं।।

कह रहा है ज्वार-भाटा सिंधु से यह।
अब सफ़र में और कितनी किश्तियाँ हैं।।

रात-भर रोयी सुबक कर चाँदनी यूँ।
अश्क़ हाथों में सहेजे पत्तियाँ हैं।।

मृत्यु भी तो जन्म का इक रूप ही है।
सोच अपनी और अपनी दृष्टियाँ हैं।।

चिट्ठियाँ तो हो गयी हैं गुमशुदा अब।
याद करने की बचीं बस हिचकियाँ हैं।।

आज कुहरे का लगा दफ़्तर सुबह से।
धूप की ख़ारिज हुई सब अर्ज़ियाँ हैं।।

फूल-बम विस्फोट में जबसे जले कुछ।
'व्योम' दहशत में तभी से तितलियाँ हैं।।

तहज़ीब भी क़ायम रहे।

अब कहीं न झोंपड़ी में तीरग़ी क़ायम रहे।
हो यही कोशिश सभी की रोशनी क़ायम रहे।।

हर तरफ़ छाया हुआ है ख़ौफ़ का कुहरा घना।
है ज़रूरी अब अमन की धूप भी क़ायम रहे।।

साथ हैं परछाइयों सी ज़िंदगी में उलझनें।
पर हमेशा हौसलों की तिश्नगी क़ायम रहे।।

हो बुज़ुर्गों की दुआओं का असर कुछ इस तरह।
हम तरक़्क़ी भी करें, तहज़ीब भी क़ायम रहे।।

गीत लिख या फिर ग़ज़ल लेकिन हमेशा ध्यान रख।
'व्योम' तेरी शायरी में ताज़गी क़ायम रहे।।

बी-37, गली नं0 2, प्रेमनगर
लाइनपार, मुरादाबाद (उ0प्र0)



वर्णवादी समाज-व्यवस्था और दलित-विमर्श

गोपाल कृष्ण शर्मा

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान ने जो समानाधिकार की घोषणा की उससे दलित-वर्ग में निश्चिय ही जीवन के प्रति आशा की किरण जागी। दलितों में समता और मानवता के पायदान पर खड़े होने का विश्वास जागा। पिछले पचास-पचपन वर्ष में दलित जन ने निरंतर श्रम और संघर्ष करके समाज में सर्वथा एक पृथक् वर्ग के रूप में अपनी अस्मिता और अस्तित्त्व को क़ायम किया है। उसने शिक्षा अर्जित की है, शक्ति अर्जित की है, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी की है और संगठित होकर भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया है। मताधिकार का प्रयोग स्वाधीन भारत में दलितों द्वारा पहले अधिकार का प्रयोग है, जिसने उसमें यह चेतना जागृत की है कि वह अपने मताधिकार से सत्ता-परिवर्तन भी कर सकता है। अपनी शक्ति और सत्ता का यह अहसास दलित-वर्ग को पहली बार ही हुआ है। ज़ाहिर है कि जब कोई व्यक्ति अथवा समूह अथवा समाज शक्तिसंपन्न बन जाता है, तो उसके पक्षधर-समर्थक भी बन जाते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में सरकार की ओर से भी दलित-वर्ग के उत्थान हेतु अनेक उपाय और प्रयास किये गये हैं। शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा तथा आरक्षण और सामाजिक बराबरी तथा न्याय दिलाने हेतु अनेक योजनाएँ, विकास के कार्यक्रम और आयोजन विगत कई दशकों में सरकारी सहायता और अनुदानों के आधार पर हुए हैं, जिनसे दलितों को सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में अवश्य ही राहत मिली है। ग़ैर-सरकारी क्षेत्रों में भी अनेक समाज-सेवी संस्थानों ने उनके सामाजिक उत्थान हेतु अपना सहयोग प्रदान किया है। परिणामस्वरूप दलितों का जीवन स्तर भी समुन्नत हुआ है, उन्हें सामाजिक मान्यता भी मिली है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में दलित-वर्ग ने अपनी क्रियात्मक एवं सकारात्मक उपस्थिति भी दर्ज करायी है। कुछेक राज्यों में तो उसकी सरकारें भी बनीं और बिगड़ी हैं।

दलित-वर्ग की चेतना का विकास आज जिस रूप में हुआ है, यदि उसके इतिहास को देखा जाए, तो जितनी उसकी कुर्बानी, शहादत और त्याग तथा शोषण के दंश भोगने की व्यथा कथा है, उससे कहीं कम अथवा नगण्य वर्तमान की उपलब्धि है। यह वर्ग है, जिसने अतीत की वर्णवादी समाज-व्यवस्था में अनाम और गुमनाम ज़िंदगी को जिया है; जाति-भेद, ऊँच-नीच और अस्पृश्यता का शिकार रहा है; जानवर जैसी अमानवीय यातनाओं को सहा, भोगा और झेला है। दलित आज भी अपने अतीत को याद करके कराह उठता है, उसे सब कुछ याद है:

परासर से जन्मा इसलिए व्यास कहलाया
अभी छटपटाती मत्स्यगंधा याद है!
मैं जन्मा किंतु, न तो विकास न नाश किया गया
अभी भीख माँगती माँ याद है!
दबा दिया मिट्टी में तृप्त नज़रों से
मुख पर चिपकी धूल याद है!
रक्त और रेत में रौंदा हुआ इतिहास
नष्ट कर दिया गया मेरा वह अतीत याद है!

(कनुभाई व्यास, कराहती माँ याद है, उत्तरार्द्ध, जनवरी 2003, पृ० 38)

सदियों से उसे नियति, वर्ण, धर्म, जाति, पंथ के जाल में उलझाए रखा गया। उसे कभी मनुष्यता का दर्जा भी नसीब नहीं हुआ। उसे शूद्र, दलित, सेवक, अछूत कहकर घृणित से घृणित अमानवीय कार्य कराये जाते रहे। जितना भीषण अत्याचार दक्षिण अफ़्रीका में गोरों ने अश्वेतों पर किया, वैसा ही अमानुषिक अत्याचार दलितों को अपने देश में वर्णवादियों द्वारा भोगना और झेलना पड़ा है। एक ऐतिहासिक सच यह भी है कि सन् 1911 से पूर्व दलितों को हिन्दू कहने से भी परहेज किया जाता रहा है।

दलितों का ज़मीनी यथार्थ यह है कि "आदिकाल से आज तक दलितों की दशा पर नज़र डालने से पता चलता है कि अनेक परिवर्तनों के बावजूद दलितों की हालत आज भी समाज की आख़िरी पायदान पर जीवन और मौत के संघर्ष में ही बीत रही है।" (उत्तर प्रदेश, 'दलित विशेषांक', पृ. 28) प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'सोशलॉजिकल स्टडी ऑफ़ मॉडर्न इन्डिया' में दलितों के सामाजिक इतिहास की पड़ताल करते हुए जो निष्कर्ष प्रस्तुत

किये हैं, उनसे भी यह इंगित होता है कि वे सवर्णों की सेवा करके ही अपने अस्तित्त्व को बनाये हुए हैं। श्रीनिवास जी के मतानुसार, "दलित कृषि में कुछ आवश्यक आर्थिक कार्य पूरा करते हैं और गाँव के उत्सवों-त्योहारों पर ढोल पीटते हैं तथा सामुदायिक भोज की पत्तलें उठाते हैं। आज भी सामाजिक जीवन में शूद्र वर्ग ही ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करते हैं।" (सोशलॉजिकल स्टडी ऑफ़ मॉडर्न इन्डिया)।

प्रत्येक युग में जो भी वर्ग अथवा वर्ण सत्ता और शासन में रहा है, उसने कभी भारतीय समाज के ढाँचे को बदलने की कोशिश नहीं की। सत्ता में अंग्रेज़ और मुसलमान भी आये, तो उन्होंने वर्णवादी समाज के कर्णधारों से परोक्षतः परस्पर हितों का स्वार्थी गठबंधन ही किया। यही कारण है कि अंग्रेज़ों ने भारत में अपने शासनकाल में बहुत कुछ बदला, लेकिन समाज के परंपरागत ढाँचे को ज्यों का त्यों रहने दिया। उन्हें भी अपने प्रभु-वर्ग की सेवार्थ सेवकों की आवश्यकता पड़ती थी। इसी प्रकार, मुग़लों ने भी वर्णवादी समाज की परंपरा को यथावत क़ायम रखा। यही नहीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भारतीय बुद्धिजीवियों, समाज-सुधारकों ने भी शूद्र तथा निम्नवर्ण के उत्थान हेतु सुधारवादी प्रयास तो किये, उन्हें मानवतावाद के संदर्भ में अपनी मान्यता और सहानुभूति तो दी, परंतु सामाजिक ढाँचे के साथ छेड़छाड़ करना उन्होंने भी उचित नहीं समझा।

अंग्रेज़ों की आधुनिक शिक्षा से लैस, मानवीय चेतना से संपन्न स्वयं दलित वर्ग के अंदर स्वाभिमान का भाव उदित हुआ कि दलित भी मनुष्य है, उसे भी शिक्षा लेने का अधिकार है, समान जीवन जीने का अधिकार है। ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब अंबेडकर जैसे नेता उभर कर आये, जिन्होंने शूद्रों की दीन-हीन अवस्था को सुधारने के लिए अधिकार और आंदोलन की बात की। उन्होंने सवर्ण नेतृत्व के विरुद्ध संघर्ष किया। अंग्रेज़ हिन्दू समाज के विघटन की राह तलाश ही रहे थे, तुरंत वे दलितों के पृथक चुनाव कराने हेतु तैयार हो गये। गांधी जी ने इस कुटिल चाल के विरुद्ध आंदोलन किया। अंबेडकर जैसे लोगों को गांधी के आगे झुकना पड़ा। स्थिति बदलते-बदलते रुक गयी। गांधी जी और उन जैसे ही नेताओं ने हरिजनों के उद्धार हेतु पहल की।

'हृदय' और 'भावना' के स्तर पर प्रयास मध्यकाल में सिद्धों, नाथों, सूफ़ियों और संतों में भी किये। संतों के सांस्कृतिक एकता के प्रयासों में तो दलितों में एक नयी चेतना का उदय भी हुआ। निम्न जाति और वर्ण के अनेक लोग भक्ति की अक्षुण्ण धारा में रसमग्न हो गये। यह भी सही है कि अधिकांश सिद्ध, नाथ और संत निम्न जाति और वर्ण से ही संबद्ध थे। उन्होंने खुलकर ब्राह्मणवाद, जातिवाद और रूढ़िवाद पर कटु प्रहार भी किये जिन्होंने मानव को अपने जटिल पाश में बाँध रखा था। समूचे भक्तिकाल में जातीय एकता, प्रेम, सौहार्द, और सद्भाव की लहर चलने लगी—'जात-पांत पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि को होई।' इस्लाम के एकेश्वरवाद, सूफ़ियों के प्रेम—तत्त्व और वैष्णवों की अहिंसा, करुणा और शांति के भाव ने तत्कालीन समाज में ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना कायम की। भावना के स्तर पर तो सब कुछ हुआ, लेकिन वर्णवादी समाज का ढाँचा अपरिवर्तनीय रहा। सत्ता पर सवर्णों और सामंतों का ही वर्चस्व क़ायम रहा, परिणामतः भक्ति ने दलितों के तृप्त ज़ख़्म पर मरहम तो लगाया, लेकिन पूर्ण उपचार मध्यकाल के भक्त कवि भी नहीं कर सके। दलित फिर भी दलित बना रहा। दलितों की शोषण-गाथा का अंत हो भी नहीं सकता था। समाज की व्यवस्था तो वर्णवादी शक्तियों के हाथ में थी। उत्पादन के साधन और वितरण-प्रणाली की बागडोर भी उन्हीं के हाथों थी। अतः मध्यकाल के संत व्यवस्था-विरोध केवल सत्संग और बानी द्वारा ही व्यक्त कर सकते थे या फिर भजन या योग-साधना कर सकते थे। हाँ, संतों ने यह अवश्य किया कि दलितों में व्यवस्था के प्रति जो आक्रोश और असंतोष था, उसे उन्होंने लीकेज दे दिया। दलित चौपालों और मंदिरों के बाहर भजन करते रहे और वर्णवादी सत्ता के शोषक और शासक राज्य करते रहे। जो विद्वान मध्यकाल में दलित-विमर्श तलाशते हुए सिद्धों, नाथों और संतों की परंपरा में उनकी समस्याओं का निदान ढूँढते हैं, उनको यह जान लेना चाहिए कि घृणा के आधार पर गठित समाज का समूचा तंत्र संतों की वाणी से टूट जाना चाहिए था, लेकिन नहीं टूटा। स्पष्ट है कि जब तक सत्ता पर सामंतों का अधिकार रहेगा, यह संभव नहीं हो सकता।

दलित-विमर्श के दौरान् वैदिक समाज-व्यवस्था में शूद्रों की सामाजिक और आर्थिक हैसियत की पड़ताल करना इसलिए भी ज़रूरी है, क्योंकि 'दलित' शब्द ने अपनी यात्रा वैदिक काल से ही शुरू की है। वैदिक काल में समाज को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने हेतु ऋषियों ने चार वर्णों में विभक्त किया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। विद्वानों के अनुसार ऋग्वैदिक काल में प्रथम तीन वर्णों का उल्लेख मिलता है। केवल 'शूद्र' शब्द का प्रयोग 'पुरुष सूक्त' में हुआ है। तत्पश्चात यह शब्द 'अर्थववेद' में प्रयुक्त होता है। कालांतर में समाज विकास की प्रक्रिया में जब स्वामित्व का प्रश्न आया, तब आर्यों और दासों में युद्ध हुआ। पराजित दासों को परिवार में नौकरों के रूप में रखा जाने लगा। यह वर्ग शूद्र कहलाया, जो धन और स्वामित्व के अभाव के कारण समाज में उपेक्षित और पीड़ित था। 'शूद्र' शब्द का दूसरा संदर्भ जनजाति से जुड़ा हुआ है। 'अथर्ववेद' के आरंभिक भाग में शूद्र को जनजाति माना गया है। एक प्रार्थना में 'तक्मन' ज्वर से कहा गया है कि वह "भुजवंतों, वल्हिकों और महावृषों के साथ-साथ कुलटा, शूद्र महिलाओं को भी ग्रसित करे।" ये

सभी उत्तर भारत के निवासी थे जहाँ शूद्र जनजाति आभीरों के साथ रहती थी।

इसी प्रकार, एक अन्य ऋचा में ऐसी ही इच्छा व्यक्त की गयी है कि ज्वर विदेशियों को ग्रसित करे। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि शूद्र महिला का उल्लेख जिस संदर्भ में हुआ है, वह अथर्ववेदकालीन आर्यों के उस वैर-भाव का द्योतक है, जो उनके मन में भारत के उत्तर-पश्चिम भाग के विजातीय निवासियों के प्रति रहता था। अतः यहाँ 'शूद्र' शब्द का अर्थ शूद्र जाति की महिला है। ऐसी ही एक अन्य ऋचा में 'शूद्र' की जगह 'दासी' शब्द का प्रयोग हुआ है। डा. रामशरण शर्मा ने शूद्रों का अर्थ जनजाति से लिया है। उनके मतानुसार 'महाभारत' में भी शूद्र की चर्चा जनजाति के लिए हुई है। इस जनजाति का इतिहास ई.पू. दसवीं शताब्दी में अपने अस्तित्त्व के साथ मिलता है। शूद्रों का संबंध आभीरों, दरदों, तुखारों, पहलवों आदि के साथ था। ये उत्तर पश्चिम के रहने वाले थे। आभीर और शूद्र एक साथ सरस्वती नदी के तट पर रहते थे। इनमें परस्पर ईर्ष्या, वैर-भाव रहता था, युद्ध होते रहते थे। इनके परस्पर संबंधों में वैर-भाव के कारणों की खोज करते हुए इतिहासकार डा. रामशरण शर्मा ने लिखा है—"चूँकि संघर्ष मुख्यतया मवेशियों के स्वामित्त्व को लेकर और बाद में भूमि को लेकर होता था, अतः जिनसे ये वस्तुएँ छीन ली जाती थीं और जो अशक्त हो जाते थे, वे नये समाज में चतुर्थ वर्ण कहलाने लगते थे। फिर, जिन परिवारों के पास इतने अधिक मवेशी हो गये और इतनी अधिक ज़मीन हो गयी कि वे स्वयं सँभाल नहीं पाते थे, तो उन्हें मज़दूरों की आवश्यकता हुई और वैदिक काल के अंत में ये शूद्र कहलाने लगे।"(शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ. 38) वैदिक, उपनिषद् और पुराण काल में इसी शूद्र वर्ग का सर्वाधिक शोषण किया जाने लगा। इन्हें नगर से बाहर धकेल दिया गया और इस प्रकार, सत्ता और आभिजात्य अहं में मदांध ब्राह्मणों ने शूद्रों के सामाजिक जीवन का विकास मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया।

वैदिक काल और उसके बाद की समाज-व्यवस्थाओं के इतिहास में दलितों का पहला रूप 'शूद्र' है, तो दूसरा रूप 'अछूत' का है। 'ऋग्वेद' से लेकर आचार्य चाणक्य तक के समय में इन्हें अछूत नहीं माना जाता था। बैरिस्टर एस. मुखर्जी के मतानुसार अछूत वे होते थे, जिन्होंने हिन्दू धर्म को स्वीकार नहीं किया था। ऐसे अछूतों को शहर से बाहर निकाल दिया गया, उनके सिर उड़ा दिये गये थे। उन्हें वर्जनाओं के माध्यम से अछूत माना जाता था।

डा. अंबेडकर ने भी अछूतों का अस्तित्त्व 400 ई.पू. माना है। उनके मतानुसार पाणिनि के समय में शूद्रों और अछूतों के बीच जो विभाजन हुआ, उसका विकास गुप्तकाल में तीव्र रूप में देखने को मिलता है। 'मनुस्मृति' में तो स्पष्ट वर्जना है कि ब्राह्मणों को तो अपने हाथों से चांडालों को दान तक नहीं देना चाहिए। कालांतर में ये नियम और भी सख़्त होते चले गये। आज भी केरल और मद्रास में चांडाल को ब्राह्मण की छाया से दूर रहने को कहा जाता है। मध्यकाल में शूद्र चांडाल रूप धारण कर लेता है। वर्णवादी समाज के दलितों के प्रति अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध बुद्ध पहले व्यक्ति हैं, जो जात-पाँत और वर्णवाद के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाते हैं। मध्यकाल में संत कवि और भक्तों ने अछूतों को गले लगाया। आधुनिक काल में नवजागरण के बुद्धिजीवी इन्हें मानववाद के परिप्रेक्ष्य में मानवीय दर्जा दिलाने का क्रांतिकारी क़दम उठाते हैं। नवजागरण के समाज-सुधारवादी प्रयास में पुनः इन्हें प्रतिस्थापित करने की योजना आधुनिक काल की विशिष्ट देन है, क्योंकि पश्चिम के स्वतंत्रता, भ्रातृत्व और समानता का आंदोलन भारतीय समाज को प्रभावित कर रहा था। बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक में दलित 'हरिजन' के रूप में प्रतिष्ठापित हुए।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में दलित-चेतना का उदय फुले और डा0 अंबेडकर के भाषणों, विचारों और आभिव्यक्ति के माध्यमों द्वारा हुआ। इन दलित चिंतकों के प्रयासों से दलितों में सर्वप्रथम सुगबुगाहट मराठा क्षेत्र में हुई। 'दलित' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'दलित पैंथर्स' ने किया। सन् 1970 के बाद यह एक आंदोलन के रूप में मराठा भूमि से क्रांति का बिगुल बजाते हुए समूचे देश में दलित-चेतना का प्रचार एवं प्रसार कर रहा है। इस नवीन दलित-चेतना के तहत राजनेता, समाज-चिंतक, संस्कृतिकर्मी, लेखक, पत्रकार एवं बुद्धिजीवी समाज के परिदृश्य को अपने-अपने क्षेत्रों में रूपायित कर रहे हैं।

दलित-चेतना आज दलितों के स्वाभिमान का प्रतीक है। इतिहास में दलितों के संगठित और असंगठित संघर्ष भी हुए हैं, लेकिन दृष्टि और चेतना के अभाव में प्रायः असफलता ही मिली। दलितों के संघर्षों की यह परंपरा वस्तुतः गौतम बुद्ध से लेकर सिद्धों, नाथों और संतों तक रही। आधुनिक काल में सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों से विकसित होते हुए स्वतंत्र भारत में अपने पूरे अस्तित्त्व में स्थापित हुई है। दलितों को इतिहास से सबक लेकर भविष्य में अपने लक्ष्यों को निर्धारित कर यात्रा जारी रखनी चाहिए। दलित-वर्ग को यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्ता पर वर्चस्व आज भी पूँजीवादी और सामंती तत्त्वों का ही है, अतः यह ख़तरा भी संभावित है कि दलित राजनीति करने वाले नेता भी वर्णवादी सोच के शिकार हो जाएँ। इसलिए, दलित-वर्ग को अपनी स्वतंत्रता और अस्मिता के लिए निरंतर आत्म-मंथन करने और सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन को जारी रखने की आवश्यकता है।

रीडर हिन्दी विभाग, जे.एल.एन. कॉलेज, एटा

सच्चिदानंद विशाख की कविताएँ

किसान

किसान के हाथ छूते हैं धरती का फैलाव
बार-बार
आर-पगार रामा उठाये
किसान चौहद्दी घूम लेता है
बाँहों में बोझा भर पुआल लिये लौटता है
धान के गाँज पर चढ़कर उसने आश्वस्त किया है खुद को

पानी बहता चला जाता है एक-एक थान तक
करहा झारकर वह उठ खड़ा होता है जब
उसे ढूँढता है जब कोई
वह बैठा होता है पौध के नीचे उसके पत्तों को सुहराते
अपने हाथों से गढ़ता है सूर्यमुखी के फूल
बैठते-उठते बच्चों को खड़ा करता है अपनी कमर तक
अपनी कमर तक लाता है फूलों को
अपने घुटनों तक आहर को
अपने हाथों में उठाता है हवा को सूप से साथ
बहाता है पुआल के कण
माथे पर ओड़ी उठाता है
दौड़ता है खलिहान से घर तक।

खेतों में सूर्यास्त

हथेलियाँ थक गयी हैं
निकल गया है सूरज का लाल गोला
रुकने को तैयार हैं हजारों सर अपने बोझ को हल्का करते
और मद्धिम होते।

दिशाएँ कहीं और नहीं हैं
गोले को डूब जाना है बदली की परत में
आसानी से बाँधा जा सकता है खिड़की में
किसी विशाल ध्वज वाले युग को
रखा जा सकता है
किसी को घर में यूँ ही बोलते हुए
बोलने भर में नदी सरक जाती है
थम सकते हैं असंख्य गिनती में लोग
और थोड़ी दूर जाकर
और धरती के बिल्कुल अंतिम छोर तक जाते
अपने चेहरे में हल्का परिवर्तन करते
स्वतः ही पीछे होते
स्थिर होता है अपना सर धुएँ की परत में
परत को सच मानते
डूबने लगता है अपना ही सर
और पीछे चले जाते हैं काफ़ी दूर
पेड़ की शक्ल में
अपने अंगों को अलग-अलग देखते हैं
अपनी पूरी शरीर इकाई
आँखों को बार-बार औंघते हैं अंगों पर

लोग बैठ जाते हैं कुर्सियों पर
सबसे बोलते हैं बिना पूछे हुए
बिना पूछे चले जाते हैं
कभी खूँटे की तरह खड़ा होता है आदमी

हथेलियों में भरना चाहते हैं सारा कुछ
सारा बादल भर आता है हमारे आगोश में
सभी को बुलाते हैं/ सभी में सटते हैं
सभी के साथ चिपक जाते हैं बरसों तक
कभी पत्नी छीलने लगती है हमारी सारी त्वचा

सारा कुछ सूख जाता है
आँख/ स्पर्श/ धड़कन
आदमी ज़ोर-ज़ोर से चलता है
शाम को भागता है
हाथों को उठाये होता है
लाँघ जाता है शहर
दलदल पर कूदता है
बना लेता है माटी घर।

बॉस

उसका तंत्र है मिला हुआ सबके तंत्र में
सभी ओर चला जाता है वह
सभी खिंचे आते हैं/ उसके पास
वह बनाता है जाल, महाजाल
सभी फँसक खेलते हैं जाल में, महाजाल में

सभी को खेलता है वह,
सभी के साथ खुलता है/वह खोलता है शराब की बोतल
सभी का आदेश मानता है
जब भी उसमें कोई शामिल होता है

सभी में शामिल होता है
सभी में समाता है
उसकी दीवार कोई काटता नहीं
न वह कभी किसी की सीढ़ी काटता है
बस यूँ ही दो मूर्तियाँ एक हो जाती हैं
सभी मूर्तियाँ नाचने लगती हैं
कुछ मूर्तियाँ/कुछ महामूर्तियाँ
कुछ चेहरे उछलते हैं/भँवर में, काफ़ी देर
अंततः तिरोहित उसकी धार में होते हैं
उसी धार में वह खड़ा पाता है खुद को
बस राक्षस की तरह समाहित होता है उसी सारा कुछ।
कभी सपाट पड़ जाता है आदमी
ढूँढ ही लेता है दूर भटकी हुई दृष्टि
फिर उठ खड़ा होता है बहुत ऊँचाई तक

हम दूरबीन से सिर्फ़ दूर के तारों को देखते हैं
मंगल, शनि, बुध/सबका आकार
दूरबीन में पाते हैं
पर, आदमी का उजाला कभी दूर टिका होता है

आँखें फाड़े हुए लोग ऊपर उठते हैं
पीछे-पीछे चलती होती है सदियों की सोयी हुई पुकार
किसी स्लेट पर लिख सकते हैं
केकड़े को/ एक भाषा के रूप में
एक आदमी को ठेलकर भर सकते हैं किसी खड्ड को
आदमी को नाप सकते हैं अपनी आँखों को फाड़कर
ढूँढते हैं आदमी के चेहरे की भिन्नता
आदमी की पुकार भाँप लेते हैं अपनी दिशाएँ तोड़कर
सभी सड़कों को कुंद बना देते हैं
हवा की डोर कभी थामकर
उतर जाते हैं अथाह सागर में

ब्रह्मांड का हिस्सा बनने में

पसीने में डूबकर लगता है उम्र थोड़ी खिंच जाएगी
बाक़ी कुछ बचेगा
जो ज़मीन के अंदर बैठा होगा
पानी ज्यों शांत धरातल पर नाचता-बैठता है
ज़मीन के अंदर भी आग है, पानी है/ कुछ ऐसा है
अदमी के पसीने जैसा ही, उसमें भी
उसमें से कुछ ऊपर खींच लाना, कुछ उससे भी नीचे ले जाना
अपना माथा डूबने लगता है, कभी पसीने में सराबोर होकर
जैसे, किसी ताड़ के पत्ते के मोन्हे में माथा धरा हुआ माटी का
कोई परिभाषा बनाना भी चाहे, आदमी तो बन नहीं पाएगी
आदमी कहाँ से कहाँ डूबा होता है सागर में या ख़ुद में
दिमाग़ ही मिट्टी का; मांस का कुछ होता है उसका
मिट्टी में मिल जाता है दो दिनों में पूरा शरीर
दिमाग़ को हथेली में सँभालेंगे, उसे रख नहीं पाएँगे
दिमाग़ तो नाचता है और दिमाग़ फटा हुआ होगा
तो खुलकर गिर जाएगा ज़मीन पर
ख़ून जमा होगा तो उस पर भी किसी बाघ की नज़र होगी
फिर यदि अपनी कमर को, गदा से, तोड़ देंगे खुद
संभव लगता तो नहीं, लेकिन खुद तोड़ेंगे
तो आदमी बहने लगेगा/ हवा में
पानी में छा जाएगा, उतरने लगेगा किसी नल से
कब से पानी की टंकी में जमा था, जैसे
अजीब-सी रोशनी, जो निकलती हे मेरे चेहरे से
कार के धुएँ सी बदबू आ रही है शरीर से
तो भी आदमी को ज़मीन में खोदकर
तहों में/जमा तो नहीं कर देंगे
फिर भी रहेंगे हम, जब तक ब्रह्मांड से किरणें निकलेंगी
जिन्होंने आदमी को जन्म दिया होगा,
कभी उन किरणों में डालेंगे, आदमी का माथा
उसी में सुखाएँगे,
हिस्सा बनेंगे ब्रह्मांड का
नक़्शा बनेगा तारों का
छतों पर उभरते आएँगे लोग, बल्ब की तरह रोशनी देंगे
फिर कुछ देर लगेगी, मुझे तारों के साथ
ब्रह्मांड का हिस्सा बनने में।

मध्य विद्यालय, कल्याणपुर
पो0 कल्याणपुर, वाया पुनपुन, जिला-पटना (बिहार)

मैंने ऐसा जीवन नहीं देखा

सूरजपाल चौहान

कार्यालय में ऑफ़िस मैनेजर के पद पर साथ काम कर रही श्रीमती नीलम पॉल जब भी मेरा लिखा पढ़ती तो हमेशा नाक-भौंह सिकोड़ती हुई कहती–"सर मैं स्वयं एक दलित परिवार से संबंध रखती हूँ..., जैसा आप लिखते हैं या बातें करते हैं, ऐसा समाज में कुछ नहीं है, सच कहूँ, आप कुछ बढ़ा-चढ़ा कर ही लिखते हैं।"

मैं नीलम पॉल की बातें सुनकर मुस्कुरा कर रह जाता था। दर-असल, ग़लती नीलम पॉल की भी नहीं थी। दलित-परिवार में जन्म लेने के बाद नीलम. ने देश के दूसरे दलितों की तरह जीवन व्यतीत नहीं किया था। उसके पिता भारत सरकार के वित्त मंत्रालय में उच्च अधिकारी रहे थे और नीलम पॉल का जन्म भी दिल्ली के मोतीबाग इलाक़े में हुआ था। शिक्षा भी उसने दिल्ली में ही प्राप्त की है। वह अपने पिता के साथ गाँव भी कभी-कभी एक या दो रोज़ के लिए ही गयी है। एक दिन मेरे पूछने पर उसने बताया था–"सर, हमारे पुरखे पंजाब के एक गाँव के रहे हैं और रामदासिया समुदाय से संबंध रखते हैं।" यह सुनकर मैंने नीलम पॉल से पूछा था कि फिर तो आपके पिता ने थोड़ा-बहुत दलित-जीवन जिया ही होगा।

"नहीं, मेरे पिता ने भी ऐसा जीवन न जिया और न देखा है, क्योंकि मेरे दादा जी का रेशम के बने कपड़ों का कारोबार था। कपड़ों का कारोबार होने के कारण कभी भी आर्थिक तंगी नहीं रही. .. हमारे परिवार के लोगों को दूसरे लोग बनिया-व्यापारी ही समझते रहे थे," नीलम पॉल ने अपनी बात मुझे समझाते हुए कहा था।

शुरू से ही दिल्ली की अच्छी बस्ती में रहना, पिता का ऑफ़ीसर होना, फिर दादा जी का रेशम के कपड़ों का व्यापार, दिल्ली के स्कूलों व कॉलिज में शिक्षित होकर सरकारी नौकरी प्राप्त कर एक इंजीनियर लड़के से विवाह हो जाना और फिर ऐसी सभी आधुनिक सुविधाओं को पाकर नीलम पॉल जैसी दलित महिलाओं को क्या पता कि सच में दलित जीवन क्या है, और क्या होता है? नीलम पॉल के बारे में यह सब जानकर अब मैंने भी उससे दलित-समाज या दलित-साहित्य को लेकर गंभीर चर्चा करना लगभग बंद ही कर दिया था।

9अक्तूबर, 2007 के दिन की बात है। उस दिन मेरी एक कहानी 'एलिजाबेथ' पाक्षिक समाचार-पत्र 'जिंदा लोग' (संपादक-राधेश्याम तिवारी) में प्रकाशित हुई थी। ऑफ़िस के अपने एक साथी राकेश चंद्र के साथ मैं 'मंडी हाऊस' के बुक-कॉर्नर से समाचार-पत्र की प्रति ख़रीद लाया था और उसे मैंने अपनी टेबल पर रख दिया। तभी मुझे मुख्य महा-प्रबंधक श्री अमित राहा के पास ऑफ़िस के कार्य पर चर्चा करने जाना पड़ा। मुख्य महा-प्रबंधक से चर्चा करने के बाद जब आकर मैंने अपनी सीट पर रखे समाचार-पत्र को खोजा, तो वह वहाँ नहीं था। मैंने नज़र उठा कर दूसरी ओर देखा, तो उसे श्रीमती नीलम पॉल बड़ी तल्लीनता से पढ़ती नज़र आयी। मैंने उससे उस समय कुछ न कहा। उसे पढ़ने दिया। मैंने सोचा समाचार-पत्र में प्रकाशित मेरी कहानी को वह पढ़ेगी नहीं। यदि पढ़ भी ली, तो हमेशा की तरह यही कहेगी कि दलित रोना रोने के सिवाय मुझे कुछ नहीं आता।

लेकिन यह क्या! उस दिन नीलम पॉल 'एलिजाबेथ' कहानी को पढ़ कर बेचैन हो उठी थी। उसके चेहरे पर आते-जाते भावों को देखते हुए साफ़ पता चल रहा था कि कहानी ने उसे अंदर तक हिला कर रख दिया है। वह अपनी सीट से उठकर आयी और मुझे समाचार-पत्र थमाते हुए कहानी के सवर्ण पात्र को गाली देते हुए बोली –"देखो तो सर, विनोद वशिष्ठ नाम का मक्कार व्यक्ति एलिजाबेथ नाम की महिला से इतने वर्षों तक रंगरेलियाँ मनाता रहा..., जैसे ही उसे पता चला कि एलिजाबेथ के परिवार के सदस्य ईसाई-धर्म अपनाने से पहले दलित जाति से संबंध रखते थे, हरामी ने उससे नाता ही तोड़ लिया।"

बात करते-करते नीलम पॉल का ग़ुस्से के मारे चेहरा तमतमा उठा था। मैं उसके चेहरे पर आते-जाते भावों को देख रहा था। वह अपनी सीट पर जाकर बहुत देर तक गुमसुम होकर बैठी रही।

उस दिन मुझे यह जानकर अच्छा लगा था कि नीलम पॉल के मन में कहानी को पढ़ कर दलितों के प्रति सहानुभूति की एक लहर जागी थी। कहानी ने उसे अंदर तक कितना झकझोर कर रख दिया था। यह सब उसके चेहरे पर आते -जाते भावों से स्पष्ट दिखायी दे रहा था।

एक सच्चाई यह भी–

नीलम पॉल के साथ घटी घटना को आधा घंटा ही बीता होगा

कि सी0आर0पी0एफ0 में डी0आई0जी0 के पद पर कार्यरत उमराव सिंह जाटव का मेरे पास फ़ोन आया। वे कनॉट-प्लेस आये हुए थे और मुझसे मिलना चाहते थे। मैंने उन्हें अपने ऑफ़िस में आने को कह दिया। दस-पंद्रह मिनटों के बाद वह पूछते-पाछते मेरे ऑफ़िस के भवन में आ गये थे। उप प्रबंधक, दर्शन लाल उन्हें मेरे केबिन तक छोड़ने आये थे।

मैंने ऑफ़िस के एक-एक साथी से उनका यह कहते हुए परिचय कराया कि सी0आर0पी0एफ0 में डी0आई0जी0 के पद पर कार्य करने के साथ-साथ उमराव सिंह बहुत बड़े लेखक हैं। मेरे साथ काम कर रहे अधिकतर साथी दलित-समाज के ही हैं। उन्हें भी अपने दलित समाज के एक डी0आई0जी0 से मिलकर अच्छा लग रहा था। वे सभी उमराव सिंह जाटव से मिलकर बहुत खुश हुए थे।

मेरे साथ काम कर रहे साथियों से मिलने-मिलाने के बाद उमराव सिंह जाटव ने अपने ब्रीफ़-केस से अपना सद्यः प्रकाशित कविता-संग्रह 'अतीत से झाँकते संबंध' निकाल कर मुझे दिया। संग्रह देख कर सहसा मेरे मुख से निकला–''अरे, यह कब प्रकाशित होकर आया? इसकी भनक तक नहीं लगने दी..., मेरी ओर से आपको हार्दिक बधाई!''

''धन्यवाद'' उमराव सिंह ने मुस्कुराहट के साथ मुझसे कहा था।

''वाणी प्रकाशन से जो आपका उपन्यास आने वाला था, क्या हुआ?'' मैंने पूछा।

''अरुण माहेश्वरी ने बताया है कि उपन्यास वर्ष 2008 के 'विश्व पुस्तक मेले' में आ जाएगा,'' उमरावसिंह ने मुझसे कहा।

आज से तीन वर्ष पहले मेरे पास उमराव सिंह जाटव का चंडीगढ़ से फ़ोन आया था। फ़ोन पर उन्होंने मुझे बताया था कि वे मेरे लेखन से प्रभावित हैं। मेरी कविताएँ, कहानियाँ व आत्मकथा के अंश उन्हें पसंद हैं। उस समय उन्होंने फ़ोन पर मुझसे मेरे कविता-संग्रह 'क्यों विश्वास करूँ ' की कुछ कविताओं का ज़िक्र भी किया था। उन्होंने अपने बारे में भी बताया था कि वे भी कविताएँ, कहानियाँ लिखते हैं। उनके कहे अनुसार, उनका एक उपन्यास भी तैयार था, जिसे वे मुझे दिखाना चाहते थे। अंत में, उन्होंने फ़ोन पर ही कहा था कि वे इस बार दिल्ली आएँगे, तो मुझसे ज़रूर मिलेंगे।

लगभग महीने बाद एक दिन वे मेरे निवास पर मुझसे मिलने आ गये। थोड़ी देर की चर्चा के बाद उन्होंने मुझे अपनी कुछ दलित-कविताएँ सुनायीं। वाक़ई, अच्छी दलित-कविताएँ थीं उनकी। कविताएँ सुनकर मैंने प्रशंसा भी की थी। घंटे-भर तक अपनी कविताएँ सुनाने के बाद उन्होंने लगभग 500-550 पृष्ठों के एक उपन्यास की पांडुलिपि दिखायी थी। उस समय, उस उपन्यास का शीर्षक उन्होंने 'जाटवों का कुआँ' रखा हुआ था। पांडुलिपि को मेरे पास छोड़ते हुए उन्होंने कहा था–''चौहान जी, आप दस-पंद्रह दिनों में इसे देख लें। अभी यह पूरा नहीं है, इसके कुछ अध्याय चंडीगढ़ में रह गये हैं और अभी कुछ और लिखने हैं..., जैसे ही यह पूरा हो जाएगा, तो आप किसी प्रकाशक से कह कर इसे प्रकाशित करवाने की व्यवस्था कर दें।'' उपन्यास की पांडुलिपि छोड़कर वे मेरे घर से चले गये थे।

रात के समय, जब मैंने उसे उलट-पुलट कर देखा, तो मेरा माथा ठनका। यह उपन्यास मुझे आधे से ज़्यादा अमृतलाल नागर के चर्चित उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की नकल लगा। निगुर्णियाँ वाले प्रसंग का नाम बदल कर हू-ब-हू उतार रखा था। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास का लेखक निगुर्णियाँ पात्र के पास दारू पीने या पिलाने जाकर उससे पूछ-पूछकर दलित-जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। ऐसे ही, उमराव सिंह जाटव अपने उपन्यास 'जाटवों का कुआँ' में भंगी मोहल्ले में जाकर एक महिला पात्र से मिलते हैं, जो निर्गुणियाँ की तरह ही दारू पीती और पिलाती है। उमराव सिंह पूछ-पूछकर भंगी समाज के बारे में भंगी पात्र (चावली) से जानकारी लेकर अपने उपन्यास में दर्ज करते हैं। सबसे अधिक हैरानी की बात तो यह है कि 50 वर्ष पहले के ग्रामीण जीवन में वह भी एक भंगिन के जीवन में, जो गाँव में दाई माँ का काम करती है, और अपना गुज़ारा जैसे-तैसे करती होगी; उसे उपन्यासकार ने अंग्रेज़ी दारू पीते दिखाया है। उस ज़माने में दलितों को दो जून की रोटी जुटाना दूभर था, शराब कहाँ नसीब और वह भी अंग्रेज़ी! ख़ैर, वर्षों पहले से ग़ैर-दलित लेखक अपनी लेखनी से दलितों में दलित भंगी समाज का चरित्र-हनन करते रहे हैं, अब इसमें उमराव सिंह जाटव जैसे दलित लेखक भी गर्व के साथ सम्मिलित हो रहे हैं।

पंद्रह-बीस दिनों के बाद इस बार फिर से उमराव सिंह जाटव मेरे घर आये। चाय-पान के बाद उन्होंने फिर बोलना और अपनी कविताएँ सुनाना शुरू कर दिया। लगभग दो घंटे तक अपनी अथाह लंबी-लंबी कविताएँ सुनाने के बाद उन्होंने पूछा –''चौहान जी, मेरे अंदर एक दलित रचनाकार की सँभावनाएँ हैं कि नहीं।''

''हाँ, हाँ, क्यों नहीं, आप संभावनाओं की बातें कर रहे हैं. .., आप तो पूर्ण-रूप से दलित साहित्यकार हैं।''

''धन्यवाद,'' मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद वे अपने उपन्यास पर चर्चा लेकर बैठ गये। मैंने उनसे सीधे-सीधे उपन्यास के नाम को लेकर चर्चा करते हुए कहा कि नाम से ऐसा लगता है कि मुंशी प्रेमचंद ने 'ठाकुर का कुआँ' नाम से कहानी लिखी है और आप 'जाटवों का कुआँ' लिख रहे हो, इसे बदल दो। मेरी बात सुनकर उमराव सिंह कसमसा कर व मौन साध कर रह गये थे। मैं भी कुछ नहीं बोला। यह लेखक का अधिकार है कि वह किसी की सलाह माने या न माने।

''अच्छा चौहान जी, इसके प्रसंग कैसे हैं, स्पार्किंग है कि नहीं?'' उन्होंने मुझसे पूछा था।

''हाँ-हाँ, कई प्रसंग बहुत अच्छे हैं, आप इसे आत्मकथा का

आप क्यों नहीं देते?" मैंने उनसे कहा।

"नहीं चौहान साहब, मैं ऐसा नहीं कर सकता, मेरे अंदर आप जितनी हिम्मत नहीं है..., मेरी अपनी मजबूरियाँ हैं," उमरावसिंह ने अपने सेना के पद की मजबूरी की ओर संकेत करते हुए कहा।

बात चलते-चलते अब उपन्यास की भंगिन पात्र को लेकर सामने आ खड़ी हुई। मैंने उनसे कहा कि इस पूरे प्रसंग में 'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास की निर्गुणियाँ पात्र की छवि दिखायी देती है। हो सके तो आप इस प्रसंग को दोबारा से लिखें। मेरी बात सुनकर वे भड़क गये और बोले, "कैसी बात कर रहे हैं, मैंने तो अमृतलाल नागर का उपन्यास देखा तक नहीं है, मेरे गाँव के भंगी मोहल्ले की यह सच्ची घटना है...।"

उमराव सिंह जाटव न तो इस प्रसंग को दोबारा लिखने के लिए सहमत हुए, और न ही यह मानने के लिए राज़ी हुए कि यह अमृतलाल नागर के उपन्यास जैसा ही प्रसंग है। उल्टा, वह बहुत दिनों तक अपने इस उपन्यास को प्रकाशित करवाने की ज़िद मुझसे करते रहे।

आख़िरकार, एक दिन मैं उन्हें लेकर वाणी प्रकाशन के अरुण माहेश्वरी के पास गया। अरुण जी से उनका परिचय कराते हुए मैंने कहा था—"ये उमराव सिंह जाटव, सी0आर0पी0एफ0, चंडीगढ़ में डी0आई0जी0 के पद पर तैनात हैं, साथ ही साथ एक अच्छे दलित रचनाकार हैं।"

उस समय अरुण माहेश्वरी के केबिन में कुछ और लोग भी बैठे थे। मेरा इतना कहना भर था कि इन महोदय ने वहीं, उसी समय, न आव देखा न ताव अपनी रचनाओं का पाठ शुरू कर दिया। एक, दो, तीन, चार... लगातार और न जाने कितनी। मैं भौंचक होकर उनकी ओर देखे जा रहा था। मैं उनकी इस हरकत से बड़ी ही अशोभनीय स्थिति में था और सोच रहा था, 'किसे अपने साथ ले आया?'

जब पानी सिर के ऊपर से बहने लगा, तब मैंने ही तेज़ स्वर में उन्हें कविताएँ पढ़ने से रोकते हुए कहा, "यार, अपने उपन्यास की पांडुलिपि निकाल कर अरुण जी को दिखाओ, जिस काम के लिए आये हो, पहले उसे पूरा करो।"

मेरे इस तरह से तेज़ स्वर में बोलने से ही वे कविताएँ सुनाने से रुके। मेरे साथ में रहने की वजह से अरुण जी ने उनसे कुछ नहीं कहा था। ग़लती मेरी भी थी कि मैं उमराव सिंह जाटव को बिना जाँचे-परखे जल्दी ही वाणी प्रकाशन के ऑफ़िस लेकर पहुँच गया था। सच कहूँ—मैं उनके डी0आई0जी0 के पद से कुछ जल्दी ही 'इन्फ़्लुअन्स' हो गया था। ख़ैर..., कुछ समय बाद उमराव सिंह जाटव ने अपने उस भारी-भरकम उपन्यास की पांडुलिपि निकालकर अरुण जी की ओर बढ़ायी। उपन्यास का नाम देखते ही अरुण जी ने भी वही बात कही जो मैंने कही थी। अरुण जी उपन्यास को उलट-पुलट कर देखने में लगे हुए थे और दूसरी ओर उमराव सिंह जाटव फिर से वहाँ बैठे लोगों को अपनी कविताएँ सुनाने में जुट गये। मैंने अरुण जी से कहा, "आप इस उपन्यास को देख लें, यदि छपने लायक हो तो छाप दें।"

"चौहान जी, यदि यह छपने योग्य होगा, तो हम इसे ज़रूर प्रकाशित करेंगे," अरुण जी ने सीधे-सीधे कहा था।

अब मैं उमराव सिंह जाटव के साथ वहाँ से चला आया था। रास्ते भर उसके बारे में ही सोचता रहा। कैसा व्यक्ति है यह। अपनी कविताएँ ही सुनाने बैठ गया वहाँ। ऐसे आत्मकेंद्रित व्यक्ति से जितना दूर रहा जाए, उतना अच्छा। और, उसी समय मैंने निर्णय लिया कि आज के बाद इस व्यक्ति से कभी न मिला जाए। मैंने ऐसा ही किया। जब भी उनका फ़ोन आता और मिलने के लिए कहते, मैं बहाने करके टाल जाता।

लगभग दो वर्षों के बाद आज मैं फिर से उनकी बातों में आ गया था। मुझसे भी ग़लती यह हो गयी कि मैंने आज उन्हें अपने ऑफ़िस में बुला लिया था। दरअसल, वे अपने सद्यः प्रकाशित कविता-संग्रह 'अतीत से झाँकते संबंध' भेंट करने आए थे। मैंने संग्रह को उलट-पुलट कर देखते हुए कहा—"इसमें दलित कविताएँ तो हैं ही नहीं, प्रेम कविताएँ हैं।"

"दलित कविता - संग्रह 'यूनी स्टार प्रकाशन' से शीघ्र आने वाला है," वे बोले। उन्होंने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए बताया कि वाणी प्रकाशन से उपन्यास शीघ्र आने वाला है और प्रकाशक ने उसका नाम 'जाटवों का कुआँ' से बदल कर 'थमेगा नहीं विद्रोह' कर दिया है।

मुझे उपन्यास के बारे में जानकर अच्छा लगा था। मैंने एक बार फिर से अपने साथ काम कर रहे साथियों से यह कहते हुए कि ये डी0आई0जी0 हैं और एक अच्छे दलित साहित्यकार हैं, उनका परिचय कराया था। मेरी इस बात से उमराव सिंह जाटव एकदम से भड़क उठे। उन्होंने मेरे ऑफ़िस की मर्यादाओं का तनिक भी ध्यान नहीं रखा और लगभग चीख़ते हुए बोले, "मैं नहीं हूँ दलित साहित्यकार, तुम होगे दलित साहित्यकार, ख़बरदार, आगे से मुझे दलित साहित्यकार कहा तो, मैं एक साहित्यकार हूँ, दूसरे साहित्यकारों की तरह।"

जाटव की बातें सुनकर मैं अकबका कर रह गया था। ऑफ़िस के मेरे साथी अब मेरी ओर देखे जा रहे थे। मैं कुछ बोलूँ कि वे फिर बोले, "वाणी प्रकाशन के अरुण माहेश्वरी और यूनी स्टार के प्रकाशक ने मेरा दलित साहित्यकार कह कर परिचय कराया, तो मैंने उन्हें लताड़ लगायी थी।"

"आप दलित साहित्यकार नहीं हैं, लेकिन एक दलित तो हैं, क्या आपने सी0आर0पी0एफ0 में कोटे से नौकरी प्राप्त नहीं की, आज आप उप निरीक्षक के पद से दलित होने के कारण ही तो डी0आई0जी0 के पद तक पहुँचे हो..., हाँ, अब आप फरवरी-2008 में रिटायर हो रहे हो, आपका काम पूरा हो गया, रोहिणी में कोटे से एम0आई0जी0 मकान भी आ गया, बच्चे भी पढ़-लिखकर विदेशों में बस गये..., अब आप अपने को दलित मानें या न मानें,

क्या फ़र्क पड़ता है?''...मैं भी एक रौ में अपनी बात कह गया था।

मेरी बातों का अब उनके पास कोई जवाब न था। वह खिसियाते और बड़बड़ाते हुए–''दलित साहित्यकार कह कर मेरा अपमान कर दिया'' मेरे पास से चले गये।

उनके चले जाने के बाद, सभी साथी एक स्वर में बोले, –''कैसा बेहूदा व्यक्ति है, डी0आई0जी0 तो कहीं से लगता ही नहीं, सरकारी चपरासी से भी गया-गुज़रा व्यक्ति है यह।''

यह दूसरी बात है कि जब इन महोदय का उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' प्रकाशन के लगभग एक वर्ष के बाद तक चर्चा में नहीं आया, तो हारकर उमराव सिंह जाटव 'दलित लेखक संघ' की ही शरण में आये और साहित्य अकादेमी के सभागार उसका लोकार्पण दलित लेखक संघ की अध्यक्ष डॉ0 विमल थोराट से कराया। लेकिन, विचार करने की बात है कि क्या ऐसे अवसरवादी लेखकों से हिन्दी के दलित-लेखन का भला हो सकेगा? हाँ, एक बात और, साहित्य अकादेमी के सभागार में उमराव सिंह जाटव ने मंच से स्वीकार किया कि उन्होंने सेना में नौकरी करते हुए अमृतलाल नागर के उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' को सात बार पढ़ा है। यह क्या बात हुई? मुझसे चर्चा करते समय वे एकदम से मुकर गये थे कि उन्होंने 'नाच्यौ बहुत गोपाल' उपन्यास देखा तक नहीं। और, आज मंच से स्वीकार कर रहे हैं कि उन्होंने उसे सात बार पढ़ा है। यह कैसा बहुरूपियापन है। आख़िर ऐसा करके वे पाना क्या चाहते हैं?

डी-20, एस0टी0सी0कॉलोनी, महरौली रोड, नई दिल्ली-110017

पहला क़दम

मैं और मेरी मूरत

जोइस टॉम

मेरे दरिद्र-दिल में एक मूरत थी–
आस्था, भरोसे, सहारे और ख़ूबसूरती की/और मैं
बहरा, काना, भूसड मूक
गंध से वंचित, स्पर्शहीन

पर पेट की राह में कहीं मैं बैठा
उसे लिये, बेचने/'पूँजी' आयी ख़रीदने, पर
मैं था स्वयं उस उदरांधकार में;/ देख न पाया।

फिर उसने भेज दिया संसद को मेरे पास,
बक्सा-बाल्टी पकड़ाये हाथों में
तो मेरी मूरत की फट गयी आँखें
फिर कोई धरम-बिरादरी के आये,
कारे रंग के कोई प्यारे आये,
शत के दश कहते हुए कोई आये,
उनकी शब्द तरंग से तंग उस
मूरत के भई कान फटे/फिर कोई लेखक दिग्गज आये,
कलम पथारे पथ-हारे
उन्होंने कुरेद-कुरेद के खाया
मूरत का हाय ! भेजा रे

तुलन लिये तलवार लिये,/न्याय आया दृग बंद किये।
नाक भली मेरी भूरत की भई
छेद लिये अध-अंध हुए
फिर आया विज्ञान-विलासित
विश्व-विशारद बुद्धिजन
उसकी आहट कंपन से मेरी
मूरत की मभी खाल उपटी
घबराया मैं भागा आया मेरी
मूरत लेकर सोच आया
रावण क्यों नहीं आ पाया?
हिट्लर की क्या भूल हुई?

वीणा-गायन करता 'नीरो'
इस पथ की न सवारी हुए/'शैलोक' की क्या शरम हुई?
कोई 'पापरासी' क्यों न आ झपटा?
एटम बम का विधाता विनाशक
इस पथ क्यों न दिखायी दिया?
मच्छर क्यों मधुमक्खी दिख पड़ा?
चकवा क्यों चमगादड़ दिख पड़ा?

अँखियों में दो तारक खिल पड़े
मेरे मुँह में जीभ अब उछल पड़ी
सोच जगी तब कान भी खुल पड़े
मेरे मन-बंधन-घन घुल पड़े
पुनः किया प्रतिष्ठित मैंने,
मूरत को दिल में ही, वैसी ही;
पर दिमाग़ की पहरेदारी में।

हिन्दी विभाग, कोचिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, कोचिन-22, केरल

दुर्गंध

कमल चोपड़ा

नाक के आसपास की हवा हथेली से उड़ाता, तो कोई रूमाल से नाक को दबा लेता। लाश से उठती हुई दुर्गंध गली में आने-जाने वालों और आसपास के दूकानदारों का माथा ख़राब किये दे रही थी।

एक दमघोंटू और तीख़ी सड़ाँध तिवारी जी के दिलोदिमाग़ पर असंख्य कीटाणुओं की तरह रेंग रही थी। उन्हें बार-बार बहुत ज़ोर से उबकाई आती। उन्हें लगता, उनका कलेजा और अंतड़ियाँ मुँह-नाक के रास्ते बाहर आ जाएँगी। आँखों की गोलियाँ बाहर जा गिरेंगी। उनका दम घुट जाएगा। हालाँकि कुत्ते की सड़ी-गली लाश एक-डेढ़ दिन से जहाँ पर दुर्गंध फैला रही थी, उस जगह को उन्होंने मोटर चलवा कर तेज़ पानी की धार से धुलवा दिया था। अब वहाँ से दुर्गंध नहीं आ रही थी, पर उन्हें लग रहा था कि अभी इतनी दुर्गंध आ रही है कि उनका दम घुट जाएगा।

परसों तिवारी ऑफ़िस से लौटे, तो देखा कि घर के बाहर एक कुत्ता मरा पड़ा है। गली-सड़ी और जगह-जगह से कटी-फटी लाश। उन्हें अजीब-सी बेचैनी हुई। पत्नी बाहर आयी—"दोपहर से पड़ा है यहाँ, कोई कार वाला कुचल कर भाग गया है। कुछ पहले से बीमार रहा होगा, तभी तो इतनी बदबू मार रहा है। कल सुबह ही गली वाला जमादार आएगा और अपने आप उठा ले जाएगा।

कमरे की खिड़की बाहर गली में खुलती थी, जिसके ठीक नीचे लाश पड़ी थी।

दिन में दो बार सफ़ाई और दो बार धूप-अगरबत्ती जलाने वाले तिवारी जी अजीब सी बेचैनी, खीझ और खुंदक से भरे हुए थे—"साले को यही जगह मिली थी मरने के लिए?" कमरे की खिड़की बंद कर उन्होंने अगरबत्ती जला दी। संध्या-पूजन करते वक़्त भी उनका ध्यान बाहर पड़ी लाश की तरफ़ ही था।

कमरे में अगरबत्ती का धुआं भर गया था, जिसकी खुशबू से उनकी पत्नी को एलर्जी-सी थी। ऐसी जली, सड़ी और मरी खुशबू से देवता क्या प्रसन्न होते होंगे? रात भर वे सो नहीं सके। करवटें बदलते, लेकिन ख़्याल वहीं के वहीं—बाहर एक लाश पड़ी है—बायोलॉजिकल पेस्ट, जिसे जल्दी ही डिस्पोज़ न किया गया, तो ये कूड़ा कीड़ों के ढेर में बदल जाएगा। कुछ देर पहले कूड़े में जो जीव था, जो जीता था, जो दौड़ता था, भौंकता था, जिसे भूख लगती थी, जिसे दर्द होता था, जो रोता था; वो कहाँ गया? उसकी रूह यहीं-कहीं मंडरा रही होगी।

सुबह उठते ही वे घर से बाहर निकले। लाश वहीं पड़ी थी। दिन काफ़ी निकल आया था। लेकिन, रोजाना की तरह आज गली में अभी तक उतनी चहल-पहल नहीं थी। जमादार भी झाड़ू लगाने अभी तक नहीं आया था। आज सरकारी छुट्टी का दिन है, उन्हें याद आया।

बदबू का एक बहुत तेज़ झोंका उनकी नाक में नुकीले भाले की तरह घुसा। उन्हें लगा कि किसी ने उन्हें गलती-सड़ती लाशों से भरे गंदे नाले में धकेल दिया गया है। आज जमादार नहीं आएगा। कल तक लाश यहीं पड़ी बदबू मारती रहेगी? क्या होगा?

बदबू उनकी बेचैनी बढ़ा रही थी। वे कभी अंदर जाते, कभी बाहर निकल आते—एम0सी0डी0 का दफ़्तर भी बंद होगा, वरना वहाँ जा कर शिकायत लिखवा आते। छुट्टी भी आज ही होनी थी। रोज़ तो जमादार यहीं धक्के खा रहा होता है। आज ज़रूरत पड़ी तो....?

गली से गुज़रने वाले एक निगाह उस लाश पर डालते और बचते-बचाते आगे निकल जाते। उनके चेहरों पर उनसे ज़्यादा कुत्ते के प्रति हमदर्दी होती—'बेचारा!...' जिसे देख तिवारी जी की खीझ और खुंदक बढ़ जाती। आस-पड़ोस वाले आकर उन्हें सलाह देने लगते—"इसे उठवाओ भाई! आज तो जमादार आएगा नहीं। उसके घर का पता कर लो, कहाँ रहता है? घर से बुला लाओ। जग्गी चाय वाले को उसका घर पता होगा। जब देखो उसकी दुकान पर वह बैठा होता है।

जग्गी चाय वाले ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा। वे ठुनक गये—ऐसे क्या देख रहा है? मुझे भी अब जमादार का भाई-वाई समझ रहा है क्या? एकाएक वे ऐंठ कर बोले—"मैं आर0एन0 तिवारी हूँ। मित्तल इन्डस्ट्रीज में सुपरवाइज़र हूँ मैं।" पूरी बात सुनकर जग्गी ने कहा—नंदू जे0जे0 कॉलोनी में रहता है. .. मकान का नंबर तो मुझे पता नहीं, पर... बी ब्लाक का पार्क है न... पार्क के गेट के सामने से एक गली जाती है। उस गली के अंदर जा के आख़िरी वाला मकान उसी का है। वहाँ जाने पर पता चल जाएगा...

पूछते-पूछते, धक्के खाते तिवारी जी जे0जे0 कॉलोनी पहुँचे। घुटनों में सिर दिये किसी मुर्गे की तरह नंदू छोटे-से उस पार्क के

बाहर फुटपाथ पर बैठा था। उसके पास पहुँचते ही तिवारी ने उसे कहा कि वह चल कर मरे हुए कुत्ते को उठाकर ले जाए। बहुत परेशानी हो रही है। अनसुना-सा करते हुए नंदू ने मुँह परे कर लिया। उन्होंने उसे फिर कहा, तो उसने गुस्से से घूरते हुए कहा—"मैं नहीं जाता...मेरी तबीयत ख़राब है। वैसे भी आज छुट्टी है।" तिवारी जी ने उसे चाय-पानी का लालच दिया। वह नहीं माना। तिवारी जी खीझ उठे। वह भी गर्म हो गया—"नहीं जाता। जाओ, जो करना है कर लो.... ।"

फनफनाते हुए तिवारी जी नेताओं और सरकार को गालियाँ बकने लगे, जिन्होंने उन जैसे लोगों का दिमाग़ चढ़ा दिया है। उन्हें सिर पर बिठा लिया है। कोई शर्म लिहाज़ नहीं.... अफारा आ गया है इनको...औक़ात भूल गये हैं...

भीड़ में से एक लड़का तिड़क कर बोला—"ओ बाबू? तेरे हाथ-पाँव नहीं हैं क्या? जा, जा के खुद फेंक ले... बहुत बोल लिया, इससे आगे कुछ बोला तो...."

थरथरा कर रह गये वे। इस व्यवहार और अपमान की उन्हें उम्मीद नहीं थी। भूल गये थे कि इस वक़्त वे उन्हीं के मुहल्ले में है। फनफनाते-थरथराते तेज़ क़दमों से लौट पड़े।

लौटे, तो गली के कुछ बच्चे मरे हुए कुत्ते को घेर कर खड़े थे। कोई तिनके से उनकी पूँछ को छेड़ रहा था, तो कोई उसके कान। जैसे वे कोई खोज कर रहे हैं। तिवारी जी ने उन्हें डाँट कर भगाया। पत्नी ने बताया कि पैसों का लालच देने के बावजूद काम वाली भी मरे हुए कुत्ते को उठाने के लिए तैयार नहीं हुई। आजकल सब के पेट भरे हुए हैं। किसी को न काम की ज़रूरत है, न पैसों की! पता नहीं, आगे क्या देखना बाक़ी है?

तिवारी जी कलपने-झल्लाने लगे—"मन हो रहा है डंडे से कुत्ते को पड़ोसियों के घर की ओर ठेल दूँ या गली के नुक्कड़ पर फेंक आऊँ! लेकिन, एक मिनट में झगड़ा-फसाद शुरू हो जाएगा। मुझ से यह बर्दाश्त नहीं हो रहा। क्या करूँ...ओफ्फो... क्या करूँ?"

"इतना भी क्या मुश्किल काम है? साले इन नीचों के नखरे बढ़ गये हैं। काम तो करना ही नहीं चाहते। तभी तो साले भूखे मरते हैं।"

जैसे-तैसे वे एक बोरी का जुगाड़ कर लाये। मुँह पर कपड़ा बाँधा और पत्नी और एक डंडे की मदद से मरे कुत्ते को बोरी में डालने की कोशिश करने लगे। कभी बोरी का मुँह छूट कर गिर जाता, तो कभी कुत्ते की टाँग अटक जाती। बदबू के मारे तिवारी जी का जी मिचलाने लगा। पत्नी ने झुंझला कर उन्हें बोरी का मुँह पकड़ने को कहा और एक ही झटके में कुत्ते को उठा कर बोरी में डाल दिया।

बोरी को जी-ब्लाक के पास कूड़े के खत्ते पर फेंक कर आना था। बड़ी समस्या तो अब थी। स्कूटर कई दिन से ख़राब पड़ा था। बोरी सिर या पीठ पर लाद नहीं सकते थे। हाथों पर लटकाते बन नहीं रहा था। कुछ देर परेशान रहने के बाद किसी तरह हिम्मत जुटाकर बोरी को घसीटते हुए वे सड़क तक ले गये। सोचा, सवारी रिक्शा कर लेता हूँ। बदबू मारती बोरी को देखकर सभी बिदक जाते। न जाने बोरी में मरा हुआ कुत्ता है या किसी इन्सानी लाश के टुकड़े। मरे कुत्ते तो कूड़े के ढेरों पर पड़े सड़ते रहते हैं। थोड़ी दूर और ले गये। सोचा, बोरी को यहीं फुटपाथ पर या किसी दूकान के आगे छोड़कर लौट जाएँ। लेकिन, किसी ने देख लिया, तो कहीं धुनाई ही न हो जाए। वैसे भी आजकल लावारिस पड़ी चीज़ों के प्रति लोग सतर्क रहते है। धूप तेज़ होती जा रही थी। छुट्टी का दिन था-सड़क पर आवाजाही कम ही थी। गनीमत थी कि उन्हें कोई जान-पहचान वाला नहीं मिला था, वरना ख़ामखाह शर्मिंदा होना पड़ता। मज़ाक उड़ता, सो अलग। बोरी खींचते उनका जी मितलाने लगा था। थोड़ी-सी दूरी मीलों लंबी लगने लगी थी। बोरी



को उठाते-रखते खुद गिरते-पड़ते किसी तरह कूड़े के खत्ते के पास पहुँचे। बोरी समेत किसी तरह बोरी को खत्ते पर फेंक, तेज़ क़दमों से लौट पड़े। उन्हें लग रहा था कि लोगों की नज़रें अब भी उनका पीछा कर रही हैं।

घर पहुँचे तो पत्नी झाड़ू-पोंछा लगा चुकी थी। नरक की बदबू ने उनका पीछा नहीं छोड़ा था। उन्हें उल्टियाँ आने लगीं। कुछ देर उल्टियाँ करने के बाद उन्होंने मोटर चलवाकर अंदर-बाहर फिर अच्छी तरह धुलवाया। खुद अच्छी तरह नहाये-धोये, कपड़े बदले, लेकिन, नाक में घुसी तेज़ बदबू उन्हें अब भी बेचैन कर रही थी।

पत्नी को उन पर बहुत गुस्सा आ रहा था।

उनकी उल्टियों की बदबू बर्दाश्त करनी पड़ रही थी। आख़िर फट पड़ी—"अब बदबू कहीं है भी? एक दिन कूड़ा फेंकना पड़ गया, तो ऐसे कर रहे हो? उनका क्या, जो रोज़ाना नरक उठा कर ले जाते हैं? सोचो, कैसे कर पाते होंगे? धन्य हैं वे भी।"

नाक को उँगलियों से भींचकर कुत्ते की तरह हाँफते हुए तिवारी जी बोले—"धन्य-वन्य कुछ नहीं, भगवान उन्हें ऐसा ही बना देता है। कभी बीमार होते देखा है?"

"क्यों नहीं? भगवान तो एक जैसा ही बनाता है सबको। वे भी तो जीते-जागते इन्सान हैं। मजबूरी में करना पड़ता है उन्हें। बीमार क्यों नहीं पड़ते, अस्पतालों में जाकर देखो। लाइनों में ऐसे ही बेचारे दिखेंगे। किसी को अंतड़ियों की, तो किसी को फेफड़ों की टी0बी0 है।"

"मुझे भी ऐसी ही किसी बीमारी ने पकड़ लिया है..." कहते-कहते वे फिर से उल्टी करने बाहर भागे।

पत्नी बार-बार उन्हें अपना ध्यान बदबू की तरफ़ से हटाने के लिए कह रही थी, लेकिन उनका ध्यान उस गंदी बदबू से हट ही नहीं रहा था। वे कुल्ला करके आते और थोड़ी देर बाद फिर से उल्टी करने लगते। कुछ खाते और थोड़ी देर बाद ही उल्टी से बाहर कर देते।

उल्टियाँ साफ़ कर-कर पत्नी परेशान हो चुकी थी। शाम को वो पास ही के डॉक्टर के पास ले गयी। उन्होंने चैक-अप किया और दवाइयाँ लिख दीं।

दवाई के असर से उन्हें कुछ चैन आया। शांत होकर पड़े रहे। थोड़ी-थोड़ी देर बाद नरक-नरक... बदबू-बदबू बुदबुदाते और नाक के आसपास की हवा को हथेलियों से इधर-उधर उड़ाने लगते। रात फिर से उन्हें उल्टियाँ आनी शुरू हो गयीं। पत्नी ने फिर से उन्हें दवाई दी। किसी तरह रात कटी। रह-रहकर तिवारी जी अब भी उबकाई मार रहे थे। पत्नी को चिंता होने लगी थी कि इन्हें कुत्ते से कोई इन्फैक्शन तो नहीं हो गया? पर इन्होंने तो लाश को छुआ भी नहीं। मैंने अपने हाथों से उसे बोरी में डाला था। इन्फैक्शन होता तो मुझे भी होता। इनके दिमाग़ में वहम घुस गया है।

तभी मिलने आये एक पड़ोसी ने उनकी हालत देखी तो सलाह दी—"इन्हें ले जाकर डॉ0 अजय को दिखाओ। बहुत बड़े डॉक्टर हैं। पहले वे सफदरजंग अस्पताल में काम करते थे। अब माडल टाउन मेन रोड पर अपना क्लीनिक खोला है। वह डॉ0 शर्मा से ज़्यादा क़ाबिल-क्वालिफ़ाइड है। वैसे भी, शर्मा की दवाई इन्हें माफिक नहीं आयी, तो दोबारा उन्हें ही दिखाने का क्या फ़ायदा?

पड़ोसी की बात पत्नी को ठीक लगी। ऑटो करके तिवारी जी को लेकर ढूँढते-ढूँढते वह डॉ0 अजय के क्लीनिक पर पहुँच ही गयी। डॉ0 साहब काफ़ी देर तक तिवारी जी का चैक-अप करते रहे, फिर धीरे-से बोले—"कोई ख़ास बात नहीं है। जो दवाइयाँ आप ले रहे हो, वह भी ठीक हैं।"

तिवारी जी झुँझलाये—"उन नीचों का काम हम जैसों को करना पड़े, तो क्या टैन्शन नहीं होगी?"

एकाएक डॉ साहब के चेहरे का रंग बदल गया। अचानक तिवारी जी को ख़्याल आया कि डॉ0 साहब के नाम के आगे जातिसूचक शब्द तो है ही नहीं! एकाएक तिवारी जी अकबकाये—"डॉक्टर साहब, मेरी नाक में कुछ प्रॉब्लम..."

धीरे-से डॉक्टर साहब ने कहा—प्रॉब्लम आपकी नाक में नहीं, आपके दिमाग़ में है। इन्सानियत के कुछ सैल्स डैड हैं, जो बदबू दे रहे हैं। किसी साइकेट्रिस्ट को दिखाएँ...."

डॉक्टर साहब की आँखें लाल हो गयी थीं। उन्होंने तिवारी जी की ओर देखा, फिर पैन उठाकर पर्चे पर लिख दिया—'रेफ़र टू मैन्टल हॉस्पिटल...'

1600/114, त्रिनगर, दिल्ली-110 035



सूली पर सत्य

साहिब सिंह गिल

साहब अकेले रह गये। फ़ोन पर मासूम-सी एक परिचित आवाज़ आयी, मानो उसकी बाजू कुल्हाड़ी में आ गयी हो। वहाँ एक बिहारी मुंडू फ़रियाद कर रहा था। उस पर मुसीबतों का पहाड़ गिरा लगता था। कुछ दिन पहले उसे काम के लिए प्रवासी दोस्त के घर भेजा था।

"क्या हुआ आलू, तुम रो रहे हो?" मैंने उसका संकट महसूस करते हुए पूछा। आलू उसे प्यार से पुकारते थे। असल नाम आलमगीर था। कुल दस-बारह साल का। तीखा, शस्त्र-सा। रसोई के तमाम काम कर लेता। परदेसों में भटकने के कारण वह प्यार का भूखा था। शेरसिंह और उसकी पत्नी को माँ-बाप से ज़्यादा प्यार करता था। कई बार शेर सिंह के साथ ही सो जाता। उसे जगाकर सरदारनी अलग डालती। पति को भी डाँटती–"कितना सिर चढ़ाया है। नौकरों को यों नहीं सुलाते।"

उसने बताया, "साहिब को पुलिस ले गयी।" बात करते उसकी रुलाई निकल गयी। अकेला रहने के कारण उदास हो गया था।

"मेमसाहिब से बात करवाओ। उनसे पूरी बात पता चलेगी।"

"उन्हें भी पुलिसवाले ले गये।"

"हूँ! क्या कहते हो?" सुनकर मैं परेशान हो गया। सोचने लगा, अभी तो आये थे। पुलिस भी पीछे पड़ गयीं। ऐसा क्या गुनाह कर बैठे? यहाँ तो अंतरराष्ट्रीय स्मगलर और आतंकवादी जमात को कोई नहीं पूछता। खुले दनदनाते घूमते हैं, मानो राजपाट उन्हीं का हो। इन बेचारों ने तो कभी कुत्ते पर भी सोटी नहीं चलायी, पुलिस क्यों पकड़कर ले गयी? फिर दोनों सत्तर-बहत्तर आयुवर्ग में है। चल भी नहीं पाते। अपने देश लौटे बूढ़े, बुढ़िया का अच्छा स्वागत हो रहा है!

उस समय और तो कुछ न कर पाया, आलू को बहादुर बच्चा बनने की शिक्षा देने लगा। भय था, कहीं अकेला उदास न रहने लगे। अकेला खाली घर छोड़कर कहीं चला न जाए।

शेरसिंह की गिरफ़्तारी सुनकर मुझे बेचैनी होने लगी। रात मुश्किल में बितायी। दिन चढ़ा। मैं उठकर उसके गाँव बरगाड़ी के लिए चल पड़ा। जाकर मुंडू से मिला। उससे बात नहीं समझ सका। अड़ोस-पड़ोस से पता चला–डी.एस.पी. ने सवेरे ही छापा मार दिया। गाँव का एक भी आदमी साथ नहीं था। गाँव के लोग भी चिंतित थे। पर, कोई मदद नहीं कर पा रहा था। असल बात किसी से मालूम नहीं कर पाया। छापे का यह क्या ढंग था? यों आतंकवादियों के घरों में छापे पड़ते थे।

दूसरी सुबह थाने पहुँचा। मुंशी गेट पर दफ़्तर लगाये बैठा था। विनीत भाव से मैंने कहा–"एस.एच.ओ. से मिलना है।"

"गश्त पर गये हैं। कल आना।"

मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं था। इतनी सुबह पुलिसवाले कहाँ निकलते हैं भला? नवाबों की ज़िंदगी जीने वालों की जल्दी आँख कहाँ खुलती है? चलो, आया हूँ तो मुंशी से पता कर लेता हूँ। "किसी प्रवासी शेरसिंह और उसकी पत्नी को आपने पकड़ा है?"

"कनाडा वाले!"

"जी, हाँ।"

"सेंट्रल जेल फ़िरोज़पुर भिजवा दिये। बड़े अपराधियों को थाने में नहीं रख सकते।"

"हिलने की तो उनमें हिम्मत नहीं। ऐसा कौन-सा अपराध कर दिया उन्होंने?"

"पुत्रवधू को घर से निकाल दिया। कहते, 'चार लाख लाओ, कार लेनी है।' कहते हो कि अपराध नहीं किया...दहेज़ के केस में ज़मानत नहीं होती। कम-से-कम सात साल के लिए बँध जाएँगे। तभी सेंट्रल जेल भिजवाये हैं"

"अदालत में तलाक हो गया, दहेज क्या माँग लिया? भारत की अदालत का केस नहीं रहा।"

"यह सब अदालत में बताते रहना।"

लाली के तलाक होने पर शेरसिंह ने इंडिया आने का मन बना लिया था। सोचा था, कई साल से ज़मीन का ठेका वकाया है, ले आऊँगा। साथ ही जान-पहचान में से कोई लड़की देख लेंगे। सरदारनी को आने का पता चला, वह भी तैयार हो गयी। कहा–"मैं भी चलती हूँ। जन्मभूमि देख आऊँगी। ज़िंदगी का क्या भरोसा? नदी किनारे के पेड़ हैं, पता नहीं जीना है कि मरना।"

लाली दोनों को भेजने के लिए सहमत था। लड़की पसंद करने में दोनों की सहमति हो सकती थी।

"मम्मी, आप दोनों ही जाएँ। जो रिश्ता पसंद हो, मुझे स्वीकार होगा।"

लाली ने दोनों को हवाई जहाज में चढ़ा दिया। वे लंबे समय के बाद इंडिया आये थे। कई जगह जाना था। लोगों से मिले युग

बीत गये थे। टैक्सी ले ली। कुल बीस डॉलर दिहाड़ी के थे। बीस तो कनाडा में टिप दे दिया करते थे।

पहले दिन हरमिंदर साहिब की यात्रा की। पौंटा साहिब, दमदमा साहिब और अन्य तीर्थों पर होते हुए वे मेरी तरफ़ आ गये। उनके लिए नौकर का प्रबंध करना था। सरदारनी काम नहीं कर सकती थी। घुटने आदि जवाब दे गये थे। रात भर इधर-उधर की अन्य बातें होतीं रहीं। घूमते हुए, शेरसिंह जो देख पाये, मेरे साथ साझा किये बिना नहीं रह सके।

"वीर, अपनी मिट्टी के मोह को आ जाते हैं, लेकिन मुल्क की तरफ़ देखकर मन में दुख होता है। हर तरफ़ स्कैंडल। यों लगता है, जैसे कश्ती में मल्लाह खुद ही नौका डुबोने को उतारू हों। पहले मंत्री अकेले करते थे, आज सरकारी मशीनरी को भी साथ मिला लिया। छूट है—पैसा बनाओ, जैसे मन चाहे बनाओ। फिर मौका हाथ नहीं आएगा।"

"ये लोग रेशम के कीड़ों की तरह रेशम की तारें नहीं पैदा करते। गंदगी के कीड़ों की तरह गंद खाते हैं। गंद हगते हैं। शर्म महसूस नहीं करते। चौड़े हो होकर चलते हैं, मानो देशभक्ति का बड़ा कारनामा कर रहे हों।"

"शेर, तुम भी चमारों की नयी विवाहिता बहू-सी बात करते हो कि घर में चमड़े की बू आती है। साल भर रहने पर तुम्हें भी उसकी तरह आती बू हट जाएगी। सब ठीक लगने लगेगा।"

दूसरे दिन अपने गाँव चले गये। रात में छापा पड़ गया। मुझे कई दिनों बाद घटना का पता चला। वह भी आलू की अकल काम कर गयी। मैं पहुँचा तो शेर के रिश्तेदारों ने हाईकोर्ट में तीस हज़ार रुपये में वकील निश्चित कर लिया था। वह विधायक रह चुका था। कहता—"पहली पेशी में केस ख़ारिज करवा दूँगा। यदि कनाडा में हो चुका हो, तो भारत में केस नहीं बनता।" उनसे निर्णय की नकल ले ली।

दूसरे दिन केस की जानकारी के लिए मैं उस वकील से मिला। बोला "मुझे केस का पता नहीं, मुंशी से मिलो।"

"पैसे आपने लिये हैं। पता मुंशी को है?"

वाह क़िस्मत, वाह! हमारे अधिकारों की रक्षा इन लोगों को करनी है। पुलिस तो गयी गुज़री है ही, वकील उसे भी पीछे छोड़ गये। मुँहमाँगे पैसे लेकर जेब में डाल लिये। केस की जानकारी नहीं। उसके केस की अख़बारों में ख़बर छप गयी। कभी तारीख़ पर गया हो, केस की तैयारी की हो, तभी तो हो।

सम्मानित प्रवासी मेहमान महीनों जेल में परेशान होते रहे। दाद फ़रियाद किसी ने नहीं सुनी। रात को लाली का फ़ोन था, "अंकल, मम्मी डैडी कहाँ है?"

"सैंट्रल जेल में।"

लेकिन लाली को यकीन नहीं हुआ—"अंकल, आप भी मज़ाक करने लगे।"

"जो कहा, ठीक है। फ़ोन करके देख ले।"

"कई फ़ोन किये। कोई उठा नहीं रहा। उन्होंने मुझे छुट्टी लेकर इंडिया आने को कहा था कि लड़की पसंद कर लूँ। झट मंगनी, पट्ट ब्याह। मैं सीटें 'बुक' करवा चुका हूँ। छुट्टी ले ली। कल प्लेन पकड़ना है।"

"सीटें कैंसिल करवा दे। नहीं तो उतरते ही पुलिस सँभाल लेगी। इधर पुलिस तुम्हारे तलाक नहीं मान रही।"

"हैं! कैसी सरकार है? कनाडा सरकार के हुकुम को मानने से इनकारी है? पच्चीस हज़ार डॉलर खर्च करके केस सुलझाया। अदालत के द्वारा भुगतान किये। अब क्या कसूर?"

बूढ़ी उम्र में बेचारों को तुम्हारा पंगा ले बैठा। गुज़ारा कर लेता, क्या बुरा था? और कहीं आकाश से उतरेगी? हो सकता है आने वाली इससे भी बुरी निकले?"

"अंकल, आपको दूर बैठे असलियत नहीं पता। शादी क्या की, मैं फँस गया। वह दिमाग़ी मरीज़ है। आप लोगों ने मेरे गले में मरा साँप डाल दिया। बेटीवालों ने सोचा होगा, परदेस बैठे हैं, क्या पता चलेगा। फाँस लो, गोरी चमड़ी है। लालच में फँस जाएँगे। बीमारी में गोलियाँ खा रही थी। क्या पता लगता? इंडिया में किसी की बहिन-बेटी के बारे में बुरा-भला कोई बताता ही नहीं। कैनेडा आते वक़्त दवाई साथ ले आयी। जब दवा ख़त्म हुई, पर्दाफ़ाश हो गया। रात को नींद न आये। एक बार, आधी रात बीती होगी, ठंडे पानी की धार के नीचे सिर करके टब में बैठ गयी। सर्दी की रात थी। मैं जाग उठा। ज़बरदस्ती धार के नीचे से उठायी। कहीं सर्दी न लग जाए। कभी आधी रात के समय दाल-सब्ज़ी बनाने बैठ जाती। आटा मलने लगती। कुछ दिनों यही चलता रहा। संकट तब शुरू हुआ, जब मेरे सोने पर उठकर बाहर भाग जाया करे। नयी-नयी आयी भटक सकती थी। रास्ता भूल जाती। पुलिस इसे आवारागर्दी में पकड़ सकती थी। उससे बड़ी चिंता यह कि कहीं समंदर में छलाँग न लगा दे।

"बुरी क़िस्मत। नयी हुई शादी के चाव में मकान बीच पर ले बैठा। वह उजड़ने की जगह बन गया। डरने लगा, कोई चाँद न चढ़ा ले। क़त्ल का केस मुझ पर पड़ जाएगा। अंदर होकर 'हनीमून' मनाता रहूँगा। दिन-भर के काम का थका-हारा आता। रात में भागवती के पीछे दौड़ता रहता। सब मुसीबतें झेलता रहा। एक बात रह गयी, जहाँ मैं हार गया। वह था मेरी जान को ख़तरा। हो सकता था, सो रहे के सिर में कुछ ठोक देती। कुछ भी संभव था। मानसिक रोगी को घर में भी नहीं रख सकता था। पुलिस को सूचना देता, तो पकड़कर पागलखाने छोड़ आते।

"इलाज़ के लिए डॉक्टर के पास ले जाने को पूछता। कह देती, "मुझे क्या हुआ है।"

"मेरा बुरा मुक़द्दर कि पागलों के परिवार के साथ जुड़ गया। वे मुझे जानबूझ कर पागल बना रहे हैं।"

"लाली, तुम बच्चे हो। सच में फँसे हुए थे। उसे सँभालते या नौकरी करते।"

"नौकरी में मन कहाँ टिकता था। इसकी ही चिंता लगी रहती। ऐसा न कर ले, कहीं वैसा न कर ले। कुछ और हानि न होती, तो फ़ोन की शामत आ जाती। इंडिया में लगातार घंटों फ़ोन करती रहती। उसे नफ़े-नुक़सान का होश तो था नहीं।

"मेरी क़िस्मत अच्छी थी कि उसके पर्स में से इंडियन डॉक्टर की पुरानी पर्ची निकल आयी। नींद के लिए 'पैरांडिल', जिसे 'हैल्डल' भी कहा जाता है, लिया करती थी। उसके इस्तेमाल से कोई भी अमली एडिक्ट हो सकता है। सुक्खे की अभ्यस्त हो चुकी थी। मानसिक संतुलन के लिए 'लीथियम' ले रही थी। उसके सेवन से क्रोध नहीं आता, लेकिन गर्भवती के लिए बुरी होती है। शिशु अपाहिज़ हो सकता है। इसलिए, गर्भ-निरोधक गोलियाँ खा रही थी।

"हमारे परिवार को देहाती, दलित कहती। हालाँकि शिक्षा के लिहाज़ से अपने क्षेत्र में माने हुए परिवारों में हैं हम। कोई डॉक्टर, कोई इंजीनियर है हमारे यहाँ। कभी कहती, हमें बात तक करनी नहीं आती। हर समय एक ही रट लगी रहती। 'हाय, मेरे घरवालों को जल्दी बुलाओ।' ब्याह करके मैं मुसीबत में फँस गया।

"कई बार गुरुद्वारे ले जाने का यत्न किया कि बाहर निकले। लोगों से मिलेगी, तो दुख-सुख कह पाएगी। ठीक हो सकेगी। अकेला रहता इन्सान बीमार हो जाएगा, लेकिन गुरुद्वारे जाकर उदास-ख़ामोश रहती। किसी से बोलती न थी। कुछ समय के बाद एक गरेवाल परिवार, इसके मायके का परिचित निकल आया। उनके साथ थोड़ा 'हाँ-हूँ' कर लेती। इतने से ही मुझे थोड़ी सुख की साँस आयी। वे देखभाल में मेरी सहायता कर देते। कभी-कभी मेरे साथ उसको खोजकर लाते। दवा लेने को कहते। उन्हीं के कहने पर डॉक्टर के पास जाने को तैयार हो गयी। लेकिन जब काम के बाद घर लौटा, कह दिया—'मुझे क्या हुआ है?'

"एक दिन मेरे आने पर वही हुआ, जिसका डर था। वह घर से भाग चुकी थी। इस बार खाली नहीं गयी। जो कुछ उठाया जा सका, ले गयी। मेरे लिए चाय वाला बर्तन भी नहीं छोड़ा। सामान उठाकर ले जाने का होश नहीं था। यह कारनामा किसी की सीख, शह के बिना नहीं कर सकती थी। रात तक इंतज़ार किया। पुलिस को फ़ोन करने वाला था। गरेवाल के घर पहुँची, तो ख़बर आ गयी। बीमार को सँभालने का संकट कौन मोल ले? गरेवाल ने उसके पिता को फ़ोन कर जहाज चढ़वा दिया। टिकट के पैसे मैंने दिये।

"शादी करने की सज़ा अभी पूरी नहीं हुई थी। कोर्ट में समझौते के अनुसार पच्चीस हज़ार डॉलर और देने पड़े। अदा करके सुख की साँस ली। सिर से बला उतरी।

"मेरे मानवीय व्यवहार का परिणाम हुआ कि इंडिया में एफ़. आई.आर लिखवा दी। मेरे माँ-बाप गिरफ़्तार करवा दिये। संसार में ऐसे लोग भी हैं, जो अपनी बला दूसरे के गले डालने का बहाना खोजते हैं। इंदु के माँ-बाप ने कैनेडा आने के बहाने दिमाग़ी मरीज़ को मेरे गले डाल दिया।"

लाली की बात सुनकर मैं बेचैन हो उठा। मन में आया कि मौक़ा मिले, तो शेर सिंह को मिलकर आऊँ। बेचारे के साथ धोखा हुआ है। पता करूँ, मैं कुछ कर सकता हूँ तो... मुलाक़ात का दिन, प्रतीक्षा के बाद, मुश्किल से आया।

सेंट्रल जेल का दरवाज़ा देखकर वहाँ एक पुरानी घटना याद आ गयी। वहाँ क़ैदियों पर गोली चली थी। क़ैदियों का अमानवीय व्यवहार के ख़िलाफ़ विरोध जारी था। उनकी अवस्था दूसरे विश्वयुद्ध के समय आस्ट्रेविज़ के टॉर्चर कैंप में धकेले गये यहूदियों जैसी थी। उनका राशन उन तक पहुँचने से पहले ही खा लिया जाता। जो बचता, उसमें मिलावट करते। क़ैदियों का खाना इन्सानों के खाने योग्य न रहता। क़ैदियों को वही खाने को मजबूर किया जाता। जो न खाते, उन्हें सोटियों से पिटना पड़ता। क़ैदियों ने अंदर सत्याग्रह कर दिया। गोली चल पड़ी। आधा घंटा चलती रही। कौओं ने काँय-काँय मचायी। कौओं की उड़ान से आकाश में कालिमा छा गयी। लग रहा था, मानो कोई दैत्य प्रकट होने वाला है। घायल हुए और वीरगति पा चुके क़ैदियों को स्ट्रेचरों पर ले जाने वालों की रुलाई निकल आयी। मनुष्य जाति की, मनुष्य पर ही जुल्मोसितम ढाये जाने के विरुद्ध, कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। लेकिन, पंछी काली बोली आँधी ले आये थे। मातृभूमि की यात्रा करने आये बेचारे प्रवासी उसी जेल में बंद थे।

लंबी प्रतीक्षा के बाद हमारी मिलने की बारी आयी। ग़मज़दा बुढ़िया की तरह अंदर से सरदारनी चली आ रही थी। पीछे-पीछे पाँव घसीटते हुए शेर सिंह भी। क्या करते शर्म आ रही थी। पहली बार जेल देखी थी। वे निर्दोष थे। दहेज लिया होता, तो इतना दुख न होता। मंत्री लोग, क़ानून के रखवाले बेटियों-बेटों की शादियों पर लाखों का लेन-देन करते हैं। कालाधन पानी की तरह बहाते हैं। चित्र छपते हैं उनके। संसार देखता है। उनके लिए क़ानून ख़ामोश क्यों है? प्रवासी बुजुर्गों को तलाक के बाद भी नहीं छोड़ा गया।

वे भावनाओं पर नियंत्रण न रख पाये। हमें देखकर रोना आ गया। साथ ही हमारा मन भी भर आया। मन हल्का हो जाने पर शेर सिंह बोला—"अंदर सभी बुढ़ऊ, हमारे जैसे प्रवासी माँ-बाप भरे हुए हैं। निर्दोष—लालच के लिए झूठे केस में फँसाये हुए।"

यों लगा, जैसे यहाँ सच्चा जीवन जीने वाले लोगों को यंत्रणा ही झेलनी पड़ती है।

फ़िरोज़पुर रोड, दुनिके (मोगा)
166475 19th Place Phonix, AZ85048 USA

पंजाबी से अनुवाद : फूलचंद मानव
239, दशमेश एनक्लेव, ढकौली, जीरकपुर-140603

शम्बूक वध और भवभूति

रामगोपाल भावुक

अग्नि परीक्षा के बाद भी/ सीता माँ का परित्याग,
महान तपस्वी/ शम्बूक का राम के द्वारा वध,
पता नहीं किस कुघरी में/ ये निर्णय लिये गये।
व्यवस्था को सड़ने के अंकुर दिये गये।।

मैं अपनी इस पंक्तियों को पिछले बीस वर्षों से गुनगुनाता रहा हूँ।

आज याद आ रहा है, कथित ब्राह्मणों ने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का चरित्र ही दाँव पर लगा दिया। वाल्मीकीय रामायण के तिहत्तर से छिहत्तर सर्ग में यह प्रसंग है। राम राज्य के जनपद में रहने वाला एक ब्राह्मण अपने मरे हुए बालक का शव लेकर राजद्वार में आया और कहने लगा-"यह राजाराम का कोई महान दुष्कर्म है जिससे इनके राज्य में रहने वाले बालकों की मृत्यु होने लगी है। (वाल्मीकीय रामायण, सर्ग 73, श्लोक-10) यहाँ अन्य बालकों की मृत्यु को प्रमाण के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिए था किन्तु एक ही ब्राह्मण के बालक की मृत्यु को लेकर यह बात कही गयी है।

उस ब्राह्मण ने राम को यह धौंस दे डाली कि मैं अपनी स्त्री के साथ आपके राजद्वार पर प्राण दे दूँगा। फिर ब्रह्म हत्या का पाप लेकर तुम सुखी होना। यों सारा दोष राम के मत्थे मढ़ दिया गया।

इस समस्या के समाधान के लिए राजसभा बुलाई गयी। नारद जैसे दिव्य दृष्टि वाले मुनि का यह कथन-'सत युग में ब्राह्मणों को तप करने का अधिकार था। त्रेता युग में क्षत्रियों को तप करने का अधिकार हो गया। क्रम से द्वापर में वैश्य भी तप का अधिकार प्राप्त कर लेंगे। किन्तु शूद्रों को कलियुग में तपस्या करने की प्रवृत्ति होगी और वे यह अधिकार प्राप्त कर लेंगे। (वाल्मीकीय रामायण, सर्ग 74, श्लोक-27)

यों त्रेतायुग में वैश्य और शूद्रों को तप करने का अधिकार नहीं था। इस परम्परा को शम्बूक ने तोड़ने का प्रयास किया तो ब्राह्मण को अपना वर्चस्व खतरे में पड़ता दिखाई दिया। वे अपने पेट पर हाथ फेरने लगे। यहाँ उन्होंने अपना वर्चस्व बनाये रखने एवं लोगों को भ्रम में डालने के लिए यह कथा गढ़ डाली और उसे वाल्मीकीय रामायण में जोड़ दिया।

जरा सोचिए, किसी शूद्र की तपस्या से ब्राह्मण बालक की मृत्यु हुई! राजसभा के माध्यम से राम जैसे व्यक्तित्व द्वारा तपस्वी का वध करने की कहानी इसमें जोड़ना। जिससे लोग राम की तरह ब्राह्मणों से डरकर रहें। उनके झूठे कथनों पर आँखें बन्द करके विश्वास करते रहें और उनकी सोने की झोली में भीख डालते रहें। इन भिखमंगों को राम पर ऐसा नीच आक्रमण करने में जरा भी संकोच नहीं लगा और यह कहानी गढ़कर वाल्मीकीय रामायण में चिपका दी।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या राम जैसा व्यक्तित्व इतना कमजोर था कि ऐसी झूठी बातों में आ गया। तपस्या से ब्राह्मण बालक की मृत्यु जैसी बात पर किसी तपस्वी को मारना न्याय संगत नहीं लगता।

इसी प्रसंग में आश्चर्य यह भी है कि नारद जैसा तपस्वी ऋषि यह तो बतला देता है कि कहीं शम्बूक शूद्र तप कर रहा है। किन्तु वे यह नहीं बतला पाते कि वह कहाँ तप कर रहा है। राम उसे मारने के लिये देश में चारों तरफ खोजते फिरते हैं।(वाल्मीकीय रामायण सर्ग 75, श्लोक-10 से 14)

शम्बूक एक सरोवर के निकट वृक्ष से उलटा लटका तप कर रहा था। राम उससे पूछते हैं-'तुम कौन हो और तप क्यों कर रहे हो?' वह बोला-'मैं शम्बूक नाम का शूद्र हूँ। इंद्रासन प्राप्त करने (उच्च पद प्राप्त करने) के लिए तप कर रहा हूँ।'

शम्बूक की बात सुनकर उत्तर दिये बिना राम तलवार से उसका बध कर देते हैं। यहाँ हमारे मन में यह प्रश्न उठता है, कि केवल शम्बूक का वध करने के लिए राम तलवार लेकर चले थे। किन्तु वे तो धनुषधारी थे। इससे स्पष्ट है- तलवार युग में यह कहानी वाल्मीकीय रामायण में जोड़ी गयी है। आश्चर्य तो देखिए, शम्बूक के वध के बाद वह ब्राह्मण-बालक जी जाता है और अपने बंधु-बांधवों से जा मिलता है। कथा में फिर उस बालक के माता-पिता कहीं दिखाई नहीं देते। राम का उपकार मानने भी नहीं आते। अरे! किसी का मृत पुत्र जीवित हो जाये और वह जीवित करने वाले का उपकार भी न माने। यहाँ कथा गढ़ने वाले यह भूल गये कि इससे उनकी कृतघ्नता ही प्रदर्शित होगी। यों वाल्मीकीय रामायण में यह वृत्तांत ही गढ़ा हुआ प्रतीत होता है।

अब हम महाकवि भवभूति द्वारा लिखे प्रसंग पर ध्यान दें। वे राम कथा लिखते समय परम्परागत प्रसंगों को नहीं छोड़ पाये हैं। भवभूति सीता के अग्नि परीक्षा वाले प्रसंग से व्यथित हैं... और यही व्यथा उन्हें उत्तर रामचरित लिखने को विवश करती है। वे इस कृति के माध्यम से इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करना चाहते हैं। भवभूति की सीता वाल्मीकीय रामायण की तरह धरती में नहीं समातीं बल्कि उनका मिलन होता है।

परंपरा के मोह में पड़कर भवभूति भी शम्बूक का द्वारा वध

कराते हैं, किंतु यहीं राम का अपनी बाहु से यह कथन—'हे दक्षिण बाहु, ब्राह्मण के मरे हुए शिशु के जीवन के लिए शूद्र मुनि के ऊपर कृपाण चलाओ। परिपूर्ण गर्भ से खिन्न सीता के निष्कासन में निपुण तुम राम की वाहु हो। तुम्हें भला दया कहाँ?'

यहाँ, व्यंग्य भी भाषित होता है, उसे गौर से देखें। इसी कारण इस प्रकार का द्वंद्वात्मक प्रसंग उन्हें लिखना पड़ा है।

शम्बूक वध से पूर्व राम का ऐसा चिन्तन। इस तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने वाला व्यक्ति किसी की हत्या कर पायेगा? वे करुणा से परिपूर्ण हो अपनी भुजा को धिक्कारते हैं। शम्बूक वध के समय निर्वासित सीता की स्मृति करके वे महसूस करते हैं कि उनके हाथ से यह अशोभनीय कार्य भी हो रहा है। इससे आगे उनका ही वाक्य देखें-'किसी भी प्रकार मारकर राम के सदृश्य कर्म कर दिया। संभव है ब्राह्मण पुत्र जी जाय।'

इस कथन से राम अपने को धिक्कारते हुए यह अनैतिक कर्म करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

जो प्रसंग बाद में जोड़े हुए होते हैं उनमें कहीं न कहीं भूल-छूट हो जाती है। यों भवभूति और बाल्मीकि की कथा में बहुत अंतर है। वाल्मीकि की अपेक्षा भवभूति ने मनोवैज्ञानिकता का पूरा ध्यान रखा है। भवभूति मृत बालक के शव को पिता के द्वारा न भेजकर माताके द्वारा राजद्वार में भेजते हैं।

शम्बूक वध के बाद दिव्य पुरुष की उपस्थिति वाल्मीकि की अपेक्षा नया प्रयोग है। उस दिव्य पुरुष के शब्दों पर ध्यान दें-' यमराज से भी निर्भय करने वाले, दण्ड धारण करने वाले तुम्हारे कारण यह शिशु जी गया। यह मेरी समुन्नति है। यह शम्बूक तुम्हारे चरणों में सिर से नमस्कार करता हैं। सत्संग से उत्पन्न मरण भी मुक्त कर देते है। राम शम्बूक को तप का फल प्रदान करते हैं, उसे अणिमा लघुमा जैसी सिद्धियाँ प्रदान कर बैराज नाम के लोक में निवास करने का वरदान देते हैं।'

शम्बूक कहता है-'स्वामी आपके प्रसाद का यह महत्व है। तपस्या से भला क्या। अर्थात् तपस्या ने बहुत बड़ा उपकार किया है। संसार में अन्वेषण करने योग्य लोकनाथ, शरणागत की रक्षा करने वाले मुझ शूद्र को ढूँढते हुए सैकड़ों योजन लाँघकर यहाँ आये हैं। यह तपस्या का फल ही है।'

शम्बूक मरने के बाद भी राम की सेवा में उपस्थित रहकर उन्हें दण्डकारण्य से परिचित कराता है। यों राम शम्बूक वध के बाद प्रसंग में शम्बूक को संतुष्ट करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। यहाँ विचार करें-आपको किसी ने दण्डित कर दिया। फिर भी आप उस दण्डित करने वाले की मदद करने में लग सकेंगे? यह सम्भव नहीं लगता। यहाँ शम्बूक राम को दण्डकारण्य का मार्ग सुझाता है। राम उसकी बात मानकर आगे बढ़ते हैं। यह सब हास्यप्रद और अमनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है।

इसका अर्थ है संपूर्ण वृत्तांत ही झूठ का पुलंदा है। वाल्मीकि जैसे महाकवि से ऐसे अस्वाभाविक वृत्तांत की रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। वाल्मीकि के राम भवभूति के राम की तरह पश्चाताप नहीं करते। यदि यह वृत्तांत वाल्मीकि ने लिखा होता तो करुणा के कवि के राम भी उस पर पश्चाताप करते अथवा उस मृत बालक को जीवित करके शम्बूक को मारे बिना उसको अपना महत्व समझा देते। यों भी शम्बूक को तमोगुणी साधना से उदासीन कर सतोगुणी मार्ग की ओर प्रेरित कर सकते थे।...किन्तु इससे उन ब्राह्मणों का लक्ष्य पूरा नहीं होता।

महाकवि भवभूति परंपरागत पौराणिक प्रसंग में पड़कर शम्बूक का वध तो करा देते हैं, किंतु वध कराते समय उनके राम का हाथ काँपता है। यदि यह वाल्मीकि रामायण का वास्तविक प्रसंग होता तो स्वाभाविक रूप से लिखा जाता। भवभूति अपने लेखन के प्रति सजग हैं। उनकी सीता वाल्मीकि की सीता की तरह धरती में नहीं समातीं बल्कि मिलन होता है। ऐसे ही भवभूति के राम के द्वारा पश्चाताप शम्बूकवध का प्रायश्चित ही है। ऐसे प्रसंग संदेह के घेरे में आते हैं और निःसंदेह क्षेपक के रूप में स्वार्थ पूर्ति के लिए चिपकाये हुए होते हैं।

महाकवि तुलसीदास ने अपने साहित्य में इस प्रसंग की चर्चा कहीं नहीं की है।

अखिल भारतीय भवभूति समारोह में पधारे संस्कृत साहित्य के विद्वान डा0 वसंत भट्ट ने सन् 2007 में कहा था—"राम द्वारा शम्बूक का वध मिथक है। इसका चतुर्थ और पंचम अंक ही शिथिल है। रघुवंश में महाकवि कालिदास ने इसको प्रस्तुत किया है। कथ्य अमनोवैज्ञानिक है, जो वशिष्ठ जी की आज्ञा से कर्मफल की अवधारणा को व्यक्त करता है। गर्भवती सीता का निष्कासन करके राम खुद के पुत्र के जन्म के समय दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सके। उन्हीं राम को दूसरे के पुत्र की रक्षा के लिए तपस्या करने वाले का वध करने जाना पड़ा। यह बात अस्वाभाविक लगती है।"

डा0 वसंत भट्ट कहते हैं—"वाल्मीकि और भवभूति की कथा में अंतर है। यह अंतर ही संदेह उत्पन्न करता है।"

डा0 अंबेडकर और पेरियार की वाल्मीकि रामायण पर टीकाएँ अलग-अलग व्याख्या करती हैं। दोनों में कुछ समानताएँ भी हैं। डा0 अंबेडकर का जोर राम द्वारा शम्बूक की हत्या पर है जो कि इसलिए की गयी थी कि शम्बूक ने नीच जातियों के सदस्यों के प्रायश्चित स्वरूप तपस्या करने पर प्रतिबन्ध का उल्लंघन किया था। महात्मा फुले की तरह डा0 अंबेडकर ने भी बाली की हत्या करने के लिए राम की कड़ी निंदा की है।

यों यह कथा महाकवि वाल्मीकि द्वारा रचित न होकर क्षेपक के रूप में जोड़ी गयी है। महाकवि भवभूति एवं अन्य मनीषियों ने वाल्मीकि की कथा का ही अनुकरण किया है।

कमलेश्वर कालोनी, (डबरा) भवभमति नगर,
जिला-ग्वालियर (म0 प्र0)-475110,

कविताएँ

कु0 मणिबेन पटेल

वह उससे प्रेम करता है

वह हमेशा इन्क़ार करता है
उसके बच्चे का पिता होने से
क्योंकि वह उससे प्रेम करता है
अत्यंत गहराई से

बार-बार पिता बनने के क़रीब जाकर
हत्या कर डालता है
उसके हुलसते-छलकते मातृत्व की
वह उससे प्रेम करता है
इसका दावा कई बार ठोंक चुका है

कहता है–
किसी और की हो जाएगी
तो वह ज़रूर पागल हो जाएगा
साथ ही, यह भी कहता है
कि वक़्त हर चीज़ की बड़ी अच्छी दवा
होता है।

दिन भर दूसरी लड़कियों के आजू-बाज़ू
मँडराते, अपनी तेज़ निगाहों से
उन्हें टटोलता, मसलता हुआ
अँधेरे में उसके पास आकर
सच्चे प्रेमी की भूमिका में
तब्दील हो जाया करता है

अक्सर ही
उसकी रोती आँखों को
झँझोड़ कर कहता है–
'कितनी नैरो माइन्डेड लड़की है'
'कितना छोटा सोचती है'

या फिर–
हमारी-तुम्हारी बुनियाद में फ़र्क़ है
वह उसकी तरह केंद्रित नहीं रह सकता
क्योंकि, ज़िंदगी के तंग हो जाने का
ख़तरा है
एक जगह अटके पानी में
सड़ाँध पैदा हो जाया करती है...

वह उससे सचमुच प्रेम करता है
और अपनी माँ की बतायी
लड़की से विवाह-रस्म करने तक
प्रेम करेगा
वह तो यहाँ तक कहता है
कि विवाह के बाद भी
सबसे ऊपर उसी को रखेगा
उससे भी प्रेम करेगा
बस वह भरोसा रखे...

ऐसे में सचमुच
मैं डिक्शनरी उठाकर
ढूँढने लगती हूँ
भरोसा... माने...???

विश्वास के दरम्यान

वह सोचती है
कि वह उसके बारे में
सब कुछ जानती है
बेहद अंतरंग क्षणों को
उससे शेयर करता है वह

छोटी से छोटी...
गहरी से गहरी...
घनी से घनी...
इतना कि दूसरे कभी नहीं जान सकते
और उसके सिवा
किसी और को, वह कभी बता भी नहीं सकता
आख़िर वह उसके बेहद क़रीब है

नासमझ है पगली,
उसकी इन्हीं बेहद अंतरंग बातों से तो
रोज़ धोका खाती है
उसके उस कमीनेपन पर
उसे कभी यक़ीन नहीं होता...
जो दूसरे जानते हैं

बड़े फ़ख़्र से कहती है
वह उस पर विश्वास करती है...
ऐसे ही कमोबेश
रोज़ होने वाली
विश्वास की हत्या के पीछे
एक अजन्मे शिशु की
हल्की-सी चीख़ से महीनों पहले ही
हो जाया करती है
उसकी हत्या...

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी



दादू निरक्षर भगत नहीं थे

सुभाष राय

(अधिकांश संत कवि नीची जातियों से आये थे। इसी क्रम में कबीर, सेन, रैदास, नामदेव आदि के नाम लिये जा सकते हैं। दादू भी धुनिया थे। वे स्वयं को कई जगह 'कमीन' कहने में संकोच नहीं करते। हिन्दी साहित्य में भक्ति काल का समय भारी सामाजिक विषमता का काल था। जर्जर सामाजिक व्यवस्था में रचे-बसे भेदभावपरक ढाँचे को इन कवियों ने ज़बरदस्त चुनौती दी। चूँकि, उस समय नीची जातियों के लोगों को पढ़ाई-लिखाई के अधिकार से वंचित रखा जाता था, इसलिए अक्सर इन सबको 'अनपढ़' कह देने की परंपरा सी चल पड़ी। यह इस कारण भी हुआ कि इन कवियों ने आनुभाविक ज्ञान के आगे किताबी ज्ञान की निरर्थकता साबित की, परंतु यह भी तथाकथित पढ़ी-लिखी जातियों, ख़ासकर पंडितों के ख़िलाफ़ उनका विद्रोह ही था। कम से कम दादू के बारे में यह कहना अर्थपूर्ण नहीं होगा कि उनकी पढ़ाई-लिखाई नहीं हुई थी। भले ही वहिसर्क्षिय न हों, पर अनेक अंतसर्क्षिय ऐसे हैं, जो संकेत करते हैं कि इस परंपरा में दादू के लिए विधिवत विद्यार्जन की सुविधा ज़रूर संभव हुई थी। -संपादक)

दादू के बारे में अगर आचार्य क्षितिमोहन सेन के कथन को प्रामाणिक माना जाए, तो सीधे कहा जा सकता है कि वे संत थे, भक्त थे, परंतु अनपढ़ थे। लेकिन, दादू-साहित्य के मर्मज्ञ और 'दादू ग्रंथावली' के संपादक परशुराम चतुर्वेदी इस मामले में सावधानी बरतते हैं। वे लिखते हैं कि "इनके प्रथम 18 या 24 वर्षों के बारे में हमें प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। हमें यह भी पता नहीं कि वे कहाँ रहे, कब तक कहाँ रहे और कहाँ रहकर क्या करते रहे। यही समय शिक्षा का सर्वोत्तम काल माना जाता है।" इसलिए, इस बारे में कुछ भी कहना कठिन है कि उनकी पढ़ाई-लिखाई हुई थी या नहीं। चतुर्वेदी जी इस प्रश्न पर आगे विचार की गुंजाइश छोड़ देते हैं। यह एक परंपरा सी रही है कि विद्वान प्रायः संतों को अशिक्षित मानकर उनकी विशिष्टताओं को स्वानुभूतिजन्य घोषित कर देते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। दादू-साहित्य पर महत्त्वपूर्ण काम करने वाले साहित्य के विद्वान डा0 गोविंद रजनीश इस धारा पर सवाल उठाते हैं—"जो लोग संतों को अशिक्षित मानकर उनकी स्वानुभूति पर ज़ोर देते रहे हैं, उनसे विशेषकर दादू के संदर्भ में सहमत नहीं हुआ जा सकता है। दादू ने व्यवस्थित तौर पर शिक्षा पायी या नहीं, तथ्यों और साक्ष्यों के अभाव में निर्णयात्मक रूप से कहना कठिन है... कबीर-काव्य का तो उन्होंने गहराई से अध्ययन किया था। वे कबीर-काव्य के आलोचक भी थे और अप्रतिम प्रशंसक भी। वे कबीर की निर्गुणोपासना की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए, उसी पर चलने का संकल्प व्यक्त करते हैं—जै था कंत कबीर का सोई बर बरिहूं, मनसा वाचा क्रमणां मैं और न करि हूँ।"

इतना ही नहीं, दादू कबीर के साथ ही अपनी समूची पूर्व संत-परंपरा से परिचित दिखायी पड़ते हैं। वे नामदेव, रैदास, पीपा, सेन, सोझा—सभी की चर्चा करते हैं। बहुत साधारण तरीक़े से नहीं, असाधारण तरीक़े से, मानो वे इन सबके साहित्य से पूर्णरूपेण परिचित हों। नाथ-संप्रदाय के प्रायः सभी सिद्धों का वे आदरपूर्वक नाम लेते हैं। गोरखनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोपीचंद, भरथरी के हठयोगात्मक अनुभवों और चित्तशोधन, काया-पलट के तौर-तरीक़े भी उन्हें मालूम हैं। वे न केवल उनसे प्रभावित हैं, बल्कि उनकी योग-साधना में पारंगत भी। इस रास्ते पर वे बहुत दूर तक जाते हैं और जैसे गोरखनाथ स्वयं को योगीश्वर कहते हैं, वैसे ही दादू स्वयं को 'अवधूत जोग्यंद्र' कहने में संकोच नहीं करते। ईसा, मूसा से लेकर भारत की तमाम मिथकीय कथाएँ भी उन्हें अपनी बात कहने का माध्यम प्रदान करती हैं। वे ध्रुव, प्रह्लाद, सनकादिक की तो चर्चा करते ही हैं, 'सांख्य' के प्रणेता कपिलदेव, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ समेत 24 जैन तीर्थंकरों का भी उल्लेख करते हैं। उन्हें 84 सिद्धों के बारे में पता है, वे 'कुरान' से चलकर 4 वेद, 18 पुराण, स्मृति ग्रंथों, 52 उपनिषदों तक की बात करते हैं। उन्हें भारतीय दर्शन के षट् संप्रदाय का भी ज्ञान है। किसी भी एक व्यक्ति को साहित्य, इतिहास और दर्शन की इतनी विशद जानकारी केवल सुनी-सुनायी बातों से हो सकती है, यह कहना अव्यावहारिक लगता है। बिना विधिवत पढ़ाई के, बिना अध्ययन के यह संभव नहीं है। तो क्या दादू की सम्यक् शिक्षा-दीक्षा हुई थी, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका उत्तर न तो वे स्वयं कहीं देते हैं, न ही उनके शिष्य। डा0 रजनीश के अनुसार—"इनके यायावरी जीवन का प्रारंभ सांभर-निवास से पूर्व ही हो चुका था। युवावस्था में वे बिहार, बंगाल तथा काशी आदि तीर्थों में घूमते रहे। उनके घूमने का लक्ष्य सैर-सपाटा न होकर, विभिन्न संप्रदायों एवं साधना-पद्धतियों से परिचित होना

और अपने अनुभवों को समृद्ध करना था।'' यह वही समय था, 18 से 24 वर्ष के बीच का, जिसके बारे में दादू साहित्य के विद्वान अध्येताओं को कोई ख़ास सूत्र अब तक नहीं मिला है। दादू जिस अधिकार के साथ संत और सिद्ध-परंपरा की चर्चा करते हैं, उससे यह अनुमान लगाना अस्वाभाविक नहीं लगता कि अपनी पूर्व प्रांतों की यात्रा के दौरान् साधना और शिक्षा की नगरी काशी या इसी तरह की किसी अन्य अध्ययन पीठ पर ठहरकर योग्य और विद्वान गुरुओं से विधिवत शिक्षा पायी होगी। भले ही इसके स्पष्ट साक्ष्य न हों, पर उनके रचनात्मक साहित्य की परीक्षा करने पर अनेक ऐसे अंतर्साक्ष्य मिलते हैं, जो इस अनुमान को सहज और ठोस आधार प्रदान करते हैं।

दादू की बात सुनें, तो वे पंडितों और मुल्लाओं के विरोधी जान पड़ते हैं। वे वेद की भी आलोचना करते हैं और 'कुरान' की भी। शायद उनके इस विरोध का असल मक़सद पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता का प्रतिपादन करना है। लगभग सभी संत कवियों ने अनुभव के मार्ग में किताबी ज्ञान को बाधक बताया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दादू उस सीमा तक चले जाते हैं, जहाँ लगने लगता है कि वे पढ़ने-लिखने को भी व्यर्थ मानते हैं। उनकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर 'पढ़े न पावै परम गति', 'पढ़े न लंघे पार', 'केते पुस्तक पढ़ि मुए पंडित वेद-कुरान', 'क़ाज़ी क़ज़ा न जानहिं कागदि हाथ कतेब' जैसी अभिव्यक्तियाँ हैं, पर इनसे यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि वे पढ़ाई-लिखाई के विरोधी थे। ये बातें केवल दादू का यह मंतव्य स्पष्ट करती हैं कि ढेर सारा पुस्तकीय ज्ञान एकत्र कर लेने मात्र से तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। वे जानते थे कि पढ़ने का एक अनिवार्य परिणाम है वाद-विवाद और यह अनुभव की यात्रा में बाधक है। वे 'सच' पर लगातार ज़ोर देते हैं, इसलिए यह कहना समीचीन होगा कि जिन वेद, कुरान, पुराण का वे खंडन करते हैं, उन्हें जानना ज़रूर होगा, क्योंकि किसी चीज़ को जाने बग़ैर उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता का निर्णय कम से कम दादू जैसा संत नहीं कर सकता।

यद्यपि, दादू का समय 'कमीन' या 'नीची' जातियों के लिए पढ़ाई-लिखाई की दृष्टि से अनुकूल नहीं था। उन्हें वेद, पुराण, शास्त्र के अध्ययन से वंचित रखा जाता था, फिर भी दादू के साहित्य और जीवन की गहन जाँच-पड़ताल हमें बार-बार यह मानने को प्रेरित करती है कि दादू ने शिक्षा ज़रूर पायी होगी। उन्हें अनपढ़ कहना उनका मज़ाक उड़ाने जैसा है। उन्हें अनपढ़ कहने वाले उन्हीं के हवाले से तर्क दे सकते हैं। दादू कहते हैं–'ना मैं पंडित पढ़ि गुन जानौ, ना कुछ ज्ञान विचारा। ना मैं आगम-जोतिग जानूं, ना मुझ रूप सिंगारा। ना तप मेरे इंद्री निग्रह, ना कुछ तीरथ फिरणी। ''जोग-जुगति नाहीं कछु मेरे, ना मैं साधन जानौ।' यह ठीक है कि वे ऐसा कहकर स्वयं को पंडितों की श्रेणी से अलग कर लेते हैं, पर उनकी यह आत्म-स्वीकृति विनम्रता और दैन्य के प्रदर्शनार्थ ज़्यादा लगती है, क्योंकि वे अन्यत्र अपने को 'जोग्यंद्र' भी घोषित करते हैं, 'साधक' भी बताते हैं और इस तथ्य के तो असंदिग्ध प्रमाण हैं कि उन्होंने प्रचुर तीर्थ-यात्राएँ की थीं।

उनकी काव्य-शैली, शिल्प और भाषा पर ग़ौर करें, तो उनकी विलक्षणता इस विश्वास को और बल प्रदान करती है कि दादू विधिवत शिक्षित थे। छंद, अलंकार का वैविध्य; अनेक भाषाओं का ज्ञान तथा अलंकृत काव्य के विविध प्रयोग उनकी कविताई में अनायास आ गये होंगे, यह मानने का कोई तर्क-सम्मत कारण नहीं दिखता। साखियों में दोहा, चौपाई, दोही, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता तथा छप्पय छंदों का प्रयोग ऐसा कोई व्यक्ति कैसे कर सकता है, जो उनका जानकार न हो। श्लोकी और फ़ारसी बहर का वे एक सिद्ध कवि की तरह प्रयोग करते हैं। कई साखियाँ सिंधी, मराठी छंद-प्रणाली पर आधारित हैं। गुजराती, राजस्थानी, सिंधी, पंजाबी शब्दों की बहुलता उनके बहुभाषाविज्ञ होने का प्रमाण है। उर्दू-फ़ारसी कविता का एक उदाहरण देखें–'अलां, आसिकां ईमान। मिस्त दोजग दीन दुनिया चि कारे रहि मांन। मीर मीरी पीर पीरी फरेस्तां फुरमान। आब आतम अरस कुरसी दीदनी दीवान। हरदु आलम ख़लक ख़ाना मोमिना इसलाम।' यह प्रयोग किसी निरक्षर भगत का है, यह मानने का जी नहीं करता। इतनी सारी भाषाओं पर अधिकार और पदों में उनके शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास का सजग और सफल निर्वाह एक अनपढ़ संत कैसे कर पाएगा? उनकी अलंकारप्रियता तो चमत्कृत करने वाली है। वाक्यों, शब्दों, पंक्तियों की पुनरावृत्ति से शब्दालंकार और नाद-सौंदर्य का अद्भुत सृजन दादू की रचनाओं में दिखायी पड़ता है। 'आदि है अंति है, अंति है आदि है', 'खन हवन, हवन खन', 'धरम का करम का, करम का धरम का' जैसे प्रयोग वहाँ जगह-जगह बिखरे पड़े हैं। छंद, अलंकार और भाषा का यह वैविध्य काव्य-कला पर अधिकार के बिना असंभव है। 'आदि बोध सिद्धांत ग्रंथ' में योग-साधना की जटिल और दुरूह शब्दावली का जिस विस्तार और सफ़ाई से प्रयोग मिलता है, वह दादू को अनपढ़ कहने वालों पर एक कटाक्ष है–

> नाग कमलै रहे, भमर बाचा बहै, प्यंगुला तीणी से साठी साधै
> असंख नाली झरै, भमर भाठी भरै, सुषुम्ना सहस्र कमल दल बाँधै
> जोग ऐसे रहे उलटि आपा गहे, भेदि षट्चक्र अरु उर्ध बाँधै
> मुक्ति द्वारे लड़ै, काल पाछा पड़ै, दादू अवधूत गढ़ ग्यांन साधै

जो आचार्य क्षितिमोहन सेन दादू को अनपढ़ कहते हैं, वही यह भी स्वीकार करते हैं कि 'सर्वंगी' और 'गुणगंजनामा' दोनों संकलन उनके जीवनकाल में ही तैयार हो गये थे और दादू ने उन्हें सुन भी लिया था। यह तथ्य अगर सही है, तो यह सेन की अपनी ही इस संकल्पना का खंडन कर देता है कि दादू की पढ़ाई-लिखाई नहीं हुई थी। दादू को अगर पढ़ाई-लिखाई से इतना ही परहेज़ था, तो वे अपने उपदेशों को संकलित कराने में इतनी दिलचस्पी क्यों लेते? सच तो ये है कि वे चाहते रहे होंगे कि उनकी रचनाएँ

यथासंभव शुद्ध रूप में संकलित की जाएँ, ताकि लोग उन्हें पढ़कर उसका लाभ प्राप्त कर सकें। ऐसा सोच एक ऐसे व्यक्ति का ही होगा, जो पढ़ाई-लिखाई को अर्थवत्ता से वाकिफ़ हो। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य, ज़ो ध्यान देने योग्य है, वह उचित शिक्षा-दीक्षा में दादू के आकाट्य विश्वास का ज्वलंत प्रमाण है। दादू ने स्वयं अपने शिष्य सुंदरदास को विद्याध्ययन के लिए काशी भेजा था। रज्जब और जगजीवन 11 वर्ष के बालक सुंदर को वहाँ ले गये थे। यह दृष्टि किसी अपढ़ व्यक्ति की नहीं हो सकती। विद्याध्ययन के महत्त्व को वही जान सकता है, जो स्वयं विधिवत गुरुओं के सान्निध्य में रहकर अध्ययन कर चुका हो। अगर साधना और स्वानुभूतिजन्य ज्ञान में पढ़ने-लिखने का कोई योगदान नहीं हो सकता है, तो फिर सुंदरदास को काशी भेजकर उनका समय नष्ट करने की आख़िर दादू को क्या ज़रूरत थी? इतना ही नहीं, दादू को अपने वे शिष्य विशेष रूप से प्रिय थे, जो प्रतिभासंपन्न और पढ़े-लिखे थे। कौन नहीं जानता कि रज्जबदास, जगजीवन और जगन्नाथ पर दादू का अत्यधिक स्नेह था। ये तीनों ही पढ़े-लिखे थे। 'सर्वंगी' और 'गुणगंजनामा' इन्हीं के प्रयासों का परिणाम हैं।

एक बड़ी ख़ास बात दादू की रचनाओं में दिखती है। जब वे वेद, पुराण, कुरान का खंडन कर रहे होते हैं, तो वे यूँ ही ऐसा नहीं कर देते, उनको 'सोध' कर उनकी अनुपयोगिता साबित करते हैं। 'हम सब देख्या सोध करि वेद कुरानों मांहि' या 'अष्टादस पुराण मध्य घृत सोध्या'—इनमें 'सोध' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया गया है, वह बहुत स्पष्ट संकेत करता है कि दादू ने इनका गहन शोधन किया, अध्ययन किया और तब उसका घृत यानि सार-तत्त्व निकाला। यह अंतर्साक्ष्य भी उनके पढ़े-लिखे होने का संकेत करता है। किसी को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिन उपनिषदों, वेदों और उन पर आधारित ग्रंथों को वे साधन के मार्ग की बाधा बताते हैं, उनके कई श्लोक हूबहू अपनी साखियों, पदों में व्यक्त करते दिखायी पड़ते हैं। गीता का श्लोक-'भिद्यंते हृदय ग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयः, क्षीयंते चास्य कर्माणि, तस्मिन दृष्टे परावरे'-दादू की रचना में अनुदित होकर आ जाता है—'जब घर अनभै उपजै, तब क्रिया कर्म का नास। मैं द्वार भ्रम भागै सबै, पूरन ब्रह्म प्रकास।' इसी प्रकार उपनिषद का श्लोक—'तिल मध्य यथा तैलं पाषाणेस्विन कांचनम्। एवं सर्वेपु भूतेषु आत्मा नित्यं प्रतिष्ठितः'—दादू के शब्दों में इस प्रकार आता है—'जीये तेल तिलनि में, जीये गंध फुलन्नि। जीये माखण घीव में, हुए रव रुहन्ति।' इस प्रकार के अनेक उदाहरण आसानी से दादू के साहित्य में दिखायी पड़ते हैं। इनमें अनुभव और अध्ययन दोनों का योग परिलक्षित होता है। साधना के दौरान् हुए अनुभवों को व्यक्त करने के लिए शब्द और उपमान उनकी स्मृति से आये होंगे और स्मृति में उनके अध्ययन के संस्कारों ने लगभग उन्हीं शब्दार्थ-साम्यता तक उन्हें पहुँचा दिया होगा।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि दादू की शिक्षा-दीक्षा के बारे में अभी तक विद्वानों की जो मान्यता रही है, उसे अंतिम मान लेना अभीष्ट नहीं होगा। यह सच है कि इस बात के हमारे पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं हैं कि उनकी शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई थी, कितनी हुई थी, हुई भी थी या नहीं, लेकिन उनके जीवन के बारे में उपलब्ध विवरणों और उनकी रचनाओं में एक अध्ययनशील व्यक्तित्त्व की अनेक स्तरों पर गूँज हमें यह मानने के लिए प्रेरित करती है कि उनके जीवन के इस पक्ष पर अभी और गहराई से चिंतन-मनन, अनुसंधान की ज़रूरत है। रचनाओं में जो अंतर्साक्ष्य सन्निहित हैं, वे इस पर प्रबल संदेह के पर्याप्त आधार प्रदान करते हैं कि दादू अनपढ़ थे। स्पष्ट रूप से काव्य-शिल्प से लेकर इतिहास, शास्त्र और दर्शन विषयक उनकी जानकारी इस तर्क को मज़बूत करती है कि दादू की गंभीर शिक्षा-दीक्षा ज़रूर हुई थी। यह विषय अध्ययन की और संभावनाएँ समेटे हुए है। हो सकता है, भविष्य में दादू से संबंधित और सामग्रियों के मिलने पर इस प्रश्न का साफ़-सुथरा समाधान साहित्य के अध्येताओं के सामने आ जाए।

ए-158, एम0आई0जी0, शास्त्रीपुरम, आगरा (उ0प्र0)

सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–

vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

'गोदान' और दलित प्रसंग

ओम प्रकाश वाल्मीकि

प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान' 1936 में प्रकाशित हुआ था। प्रेमचंद ने इसका लेखन 1932 में शुरू किया था। किसी भी रचना पर चर्चा करने से पूर्व उस काल और परिवेश की पड़ताल ज़रूरी होती है, क्योंकि कोई भी महान रचनाकार अपने काल और परिवेश से अछूता नहीं रह सकता। यदि कोई रचनाकार अछूता रहता है, तो उसकी रचनाधर्मिता हमेशा सवालों के घेरे में रहेगी, भले ही उसकी लेखनी से कालजयी रचना का जन्म ही क्यों न हुआ हो। आज ऐसे अनेक रचनाकार हैं, जो सवालों के घेरे में खड़े हैं, उनका रचना-कर्म कई प्रकार के भ्रम पैदा करता है। इसीलिए रचना और रचनाकार दोनों के काल और परिवेश को जानना आवश्यक हो जाता है।

डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने एक जगह कहा है कि जर्मन आलोचक रॉबर्ट वाइमान ने कभी शेक्सपीयर पर लिखते हुए क्लासिक को, किसी बड़े लेखक को, पहचानने का एक सूत्र दिया था। क्लासिक या महान लेखक वह होता है, जो अपने विगत के महत्त्व को बरकरार रखते हुए वर्तमान में भी हमारे लिए उतना ही अर्थवान हो। उनका सूत्र था-Past Significance and Present meaningfulness—अर्थात् विगत की महत्ता और वर्तमान की अर्थवत्ता। उनके अनुसार, विगत की इस महत्ता और वर्तमान की अर्थवत्ता के बीच जितना तनाव होगा, लेखक का बड़प्पन उतना ही भास्वर होकर सामने आएगा। हम समझते हैं कि प्रेमचंद में हमें क्लासिक की यह पहचान मिलती है। (प्रेमचंद का रचना संसार : पुनर्मूल्यांकन, सं0-डा0 सुशीला गुप्ता, 'नयी सदी में प्रेमचंद', डा0 शिवकुमार मिश्र का लेख, पृ0 27)

अमृत राय प्रेमचंद के संदर्भ में कहते हैं—"कोई इसे गुण माने चाहे दोष, सामयिकता मुंशी जी के कृती मन की प्रधान वृत्ति है। मुंशी जी वर्तमान में जीते हैं और वर्तमान के लिए लिखते हैं। वर्तमान को फलाँग कर भविष्य में नहीं पहुँचा जा सकता। वर्तमान से परांगमुख होकर कोई कालजयी नहीं हुआ। वर्तमान को छोड़ते ही भविष्य की स्थिति आकाशबेल-सी हो जाती है, जो कभी नहीं फूलती। वर्तमान ही भविष्य का आधार है।उसकी खाद-मिट्टी, और भविष्य की, वर्तमान की सहज दिशा है, उसका गंतव्य। (कलम का सिपाही, अमृत राय, पृ0 306)

प्रेमचंद समाज का अंग बनकर जिये, इसीलिए वे समाज-व्यवस्था से असंतुष्ट थे और उसे तोड़ने के लिए उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता का भरपूर इस्तेमाल भी किया। समाज की वास्तविकताओं से हटकर साहित्य का कोई अर्थ उनके लिए नहीं था। साहित्य का उत्तरदायित्व सामाजिक परिवर्तन के लिए होता है—इस बात को वे गहरे अर्थ-बोध के साथ महसूस करते थे। संस्कृति और परंपराओं के प्रति अंध-आस्था के वे पक्षधर नहीं थे। उनकी यह पुख़्ता धारणा थी कि साहित्यकार का निजी ज़िंदगी से नहीं, सामाजिक ज़िंदगी से सरोकार होना चाहिए।

सौंदर्य की व्याख्या करते हुए प्रेमचंद कहते हैं—"प्रश्न यह है कि सौंदर्य है क्या वस्तु? हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुंदर सुगंधि भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलने वाली चिड़ियाँ देखी हैं, कलकल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही है सौंदर्य। इन दृश्यों को देखकर हमारा अंतःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग और ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात के संयोग से हुई है, इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है..."

प्रेमचंद कहते हैं—"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

प्रेमचंद ने कहा था—"मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। हमे सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी... कला नाम था, और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का...उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे... उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है—उस बच्चों वाली ग़रीब, रूप हीन स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। पर, यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उस सौंदर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाए, तो वह देखेगा कि रँगे होंठों और

कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है।"

उस दौर में यह एक अलग और विशिष्ट दृष्टिकोण था, जिसने हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा देने में अहम भूमिका निभायी। उस दौर में छायावाद अपने शिखर पर था। हिन्दी साहित्य अपनी पारंपरिक छवि से आत्म-मुग्ध था। प्रेमचंद ने ही सबसे पहले इस आत्म-मुग्धता से उसे बाहर निकाला।

वैसे तो, 'गोदान' किसान जीवन का महाकाव्यात्मक सृजन है, जिसमें भारतीय गाँव के किसान होरी के संघर्ष की गाथा है। इसमें दलित-जीवन का भी एक प्रसंग आया है। सिलिया का यह प्रसंग जिस तरह से सामने आता है, उस पर आलोचकों का ही नहीं, पाठकों का भी ध्यान जाता है। प्रेमचंद ने जिस तरह इस प्रसंग को प्रस्तुत किया है, वह कथानक का एक चर्चित प्रसंग बन जाता है–"...उधर, मातादीन सिलिया चमारिन की जवानी का सुख भोगते हैं। गाँव में यह बात सब जानते हैं, लेकिन किसी की क्या मजाल कि उँगली उठा सके। धन और धर्म जिनके पक्ष में हो, उनका कोई क्या बिगाड़ सकता है? सिलिया उनकी रखैल ज़रूर है, लेकिन उसकी गति सहवास तक सीमित है, वह सहभोज की अधिकारिणी नहीं। मातादीन और उनके पिता पं0 दातादीन अपने भोजन की पवित्रता बनाये हुए हैं। दातादीन के शब्दों में 'सिलिया हमारी चौखट नहीं लाँघ पाती, चौखट, बरतन-भाँडे छूना तो दूर की बात है।" (पृ0-206)

प्रेमचंद यहाँ 'मूल तत्त्व' को लेकर सिलिया की माँ के माध्यम से एक विचार रखते हैं, जो उस दौर की एक सामाजिक, राजनीतिक हलचल का अक्स दिखायी देता है। गोल मेज कान्फ्रेंस से उपस्थित राजनीतिक सरगर्मियों ने गाँधी और अंबेडकर के बीच एक गहरी खाई पैदा कर दी थी, जिसका परिणाम था–पूना-पैक्ट, जिसे प्रेमचंद भी गांधीवादी दृष्टिकोण से देख रहे थे। लेकिन, कहीं उनके मन में यह अहसास भी था कि दलितों के साथ सामाजिक ही नहीं, धार्मिक रूप से भी अन्याय हुआ है। उसी पीड़ा को प्रेमचंद सिलिया-प्रकरण के द्वारा 'गोदान' में रेखांकित करने की कोशिश करते हैं, जिसे प्रेमचंद पर डा0 अंबेडकर के प्रभाव के रूप में देखा जाए, तो अप्रसांगिक नहीं होगा।

वे दिखाते हैं–"दातादीन अपनी जवानी में स्वयंभ्वड़े रसिया रह चुके थे, लेकिन अपने नेम-धर्म से नहीं चूके मातादीन भी, सुयोग्य पुत्र की भांति उन्हीं के पद-चिह्नों पर चल रहा था। धर्म का मूल-तत्त्व है–पूजा-पाठ, कथा-व्रत और चौका-चूल्हा। जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल-तत्त्व को पकड़े हुए हैं, तो किसकी मजाल है कि उन्हें पथ-भ्रष्ट कह सके।(पृ0-206) इस मूल तत्त्व की बख़िया उधेड़ने का काम प्रेमचंद सिलिया की माँ के माध्यम से करते हैं–"उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी नहीं पियोगे।"

दलितों के प्रति शोषकों के दृष्टिकोण को मातादीन के इस संवाद से समझा जा सकता है–"मातादीन और सिलिया के संबंधों की बात चलने पर मातादीन झिंगुरी सिंह को समझाते हैं.... फिर मेरा तो सिलिया से जितना उबार होता है, उतना ब्राह्मण की कन्या से क्या होगा? वह तो बहुरिया बनी बैठी रहेगी, बहुत होगा, रोटियाँ पका देगी। यहाँ सिलिया अकेली तीन आदमियों का काम करती है, और मैं उसे रोटी के सिवा और क्या देता हूँ? बहुत हुआ, तो साल में एक धोती दे दी।" (पृ0-207)

डा0 अंबेडकर के आविर्भाव से दलितों में जिस चेतना का संचार हुआ, उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। दलित-चेतना के इस प्रभाव से जाति, भेदभाव और सामाजिक विषमता के विरुद्ध मुखरता का आग़ाज़ हुआ, जिसकी छाया से प्रेमचंद भी अछूते नहीं रहे, क्योंकि प्रेमचंद में किसानों और मज़दूरों के प्रति संवेदनशीलता मौजूद थी, जिसका विस्तार 'गोदान' में व्यापक होता है। लेकिन, प्रेमचंद जिस आदर्शोन्मुख यथार्थ के लिए जाने जाते हैं, उसका साहसिक सनसनीख़ेज़ स्वरूप इस प्रकरण में और अधिक तीव्रता के साथ 'गोदान' में उभरता है।

एक दिन चमार इकट्ठे होकर मातादीन के खेत पर, सब के देखते-देखते, मातादीन को घेर लेते हैं। झिंगुरी सिंह को अपने आने का प्रयोजन बताते हुए सिलिया का बाप हरखू कहता है–"हम आज मातादीन को चमार बना के छोड़ेंगे, या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे। सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर जाएगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना है। मगर, उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह संभव नहीं है, तो फिर तुम चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पियो, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज़्ज़त लेते हो, तो अपना धर्म हमें दो।" (पृ0 208)

इस प्रकरण की पराकाष्ठा होती है, जब सारे चमार मातादीन को पकड़कर उसका जनेऊ तोड़ देते हैं और उसके मुँह में एक बड़ी-सी हड्डी का टुकड़ा डाल देते हैं। जिस बिंदु की ओर मैं आलोचकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूँ, वह है प्रेमचंद का निष्कर्ष, जो इस साहसिक प्रकरण को सनसनीख़ेज़ वृत्ति के तहत रचा गया है। प्रेमचंद अपने कथन में धर्म के मूल तत्त्व की जिस तरह व्याख्या करते हैं, वह उन्हीं धारणाओं को पुख़्ता करती हैं, जो हिन्दू कहे जाने वाले उच्चवर्णीय समाज में प्रचलित है।

प्रेमचंद इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं–"जिस मर्यादा के बल पर उसकी रसिकता और घमंड और पुरुषार्थ अकड़ता फिरता था, वह मिट चुकी थी। हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था।

उसका धर्म इसी खान-पान, छूत-विचार पर टिका हुआ था। आज उस धर्म की जड़ कट गयी। अब वह लाख प्रायश्चित करे, लाख गोबर खाए और गंगा जल पिए, लाख दान-पुन्य और तीर्थ-व्रत करे, उसका मरा हुआ धर्म जी नहीं सकता।'' (पृ0-209)

प्रेमचंद लिखते हैं—'...लेकिन एक तरह से इस प्रायश्चित ने उसे पवित्र कर दिया। हवन के प्रचंड अग्निकुंड में उसकी मानवता निखर गयी और हवन की ज्वाला के प्रकाश में उसने धर्म-स्तंभों को अच्छी तरह परख लिया उस दिन से उसे धर्म के नाम से चिढ़ हो गयी । उसने जनेऊ उतार फेंका और पुरोहिती को गंगा में डुबा दिया। अब वह पक्का खेतिहर था।'' (पृ0 285)

मातादीन और सिलिया के प्रेम-प्रकरण का अंत वियोगात्मक नहीं है। प्रेमचंद उन दोनों के बीच होने वाले संवाद के ज़रिये बहुत कुछ कह जाते हैं, जिसे आलोचक और पाठक नज़रअंदाज़ कर जाते हैं :

"..मैं डर रही हूँ, गाँव वाले क्या कहेंगे।''

"जो भले आदमी हैं, वे कहेंगे, यही इसका धर्म था। जो बुरे हैं, उनकी मैं परवाह नहीं करता।''

"और तुम्हारा खाना कौन पकाएगा?''

"मेरी रानी सिलिया।''

"तो ब्राह्मण कैसे रहोगे?''

"मैं ब्राह्मण नहीं, चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धरम पाले, वही ब्राह्मण है, जो धरम से मुँह मोड़े, वही चमार है।''

सिलिया ने उसके गले में बाहें डाल दीं।'' (पृ0 288-289)

प्रेमचंद की यह परिभाषा हिन्दू पूर्वग्रहों पर आधारित है। जो उनकी और रचनाओं में भी दिखायी देती है। यहाँ यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि मातादीन, जिसके पूर्णतः बदल जाने की बात प्रेमचंद करते हैं, वह भी पूर्ण सत्य नहीं है। उनके उपरोक्त संवाद में ब्राह्मण का श्रेष्ठ भाव समाप्त नहां होता है। मातादीन जिस धर्म की श्रेष्ठ मान्यताओं के पालन की हिमायत कर रहे हैं, क्या एक चमार के लिए भी वे उतनी ही स्वीकार्य हैं या नहीं। इस बिंदु पर भी विचार कर लेना क्या प्रेमचंद जैसे संवेदनशील लेखक के लिए ज़रूरी नहीं था? चमार की मानवीय अस्मिता के प्रति यदि एक लेखक मानवीय दृष्टि रख पाने में समर्थ नहीं है, तो फिर मातादीन और दातादीन जैसे लोग ही तो समाज को हाँकते रहेंगे या फिर समाज पर उनका वर्चस्व बना ही रहेगा।

'गोदान' का रचना काल 1936 है। प्रगतिशील लेखक संघ अस्तित्व में आ चुका है। अंबेडकर का दलित-आंदोलन दलितों के बीच ही नहीं, राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बना चुका है। गोल मेज़ सम्मेलन के बाद यर्वदा जेल, पूना में गांधी जी दलितों को दिये जाने वाले मताधिकार के विरोध में उपवास कर चुके हैं, पूना-पैक्ट हो चुका है। उस दौर में प्रेमचंद की यह टिप्पणी—जो धर्म का पालन करे, वह ब्राह्मण; जो धर्म से मुँह मोड़े वह चमार—गले नहीं उतरती। विद्वान समीक्षक शायद कोई तर्क देकर इसे उचित सिद्ध कर दें, लेकिन एक दलित होने के नाते मुझे यह अनुचित ही नहीं पूर्वग्रह लगता है।

डा0 शिवकुमार मिश्र की मान्यता है—"वस्तुतः, प्रेमचंद के समय तक आदर्शवाद और यथार्थवाद की अवधारणाए बहुत साफ़ नहीं थीं। आदर्शवाद मायने—सुंदर, मनोरम, आकांक्षित, उदात्त और यथार्थवाद के मायने—कुरूप, वीभत्स, कुत्सित और गंदा। ये दोनों बुनियादी तौर पर दार्शनिक दृष्टियाँ हैं और इनका प्रतिफलन अपने-अपने दार्शनिक आशयों के साथ कला और साहित्य में हुआ है। कला और साहित्य में उनके इस प्रतिफलन का सोच, इनकी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ बहुत बाद में सामने आया, जब प्रेमचंद गत हो चुके थे। यदि यह सब उनके रचनाकाल में हो गया होता, उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थ के नाम से एक नयी कोटिं बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। (इस सदी में प्रेमचंद, डा0 शिवकुमार मिश्र, प्रेमचंद का रचना-संसार (पुनर्मूल्यांकन) सं0-सुशीला गुप्ता, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, मुंबई, 2004, पृ0 33)

इसलिए जब प्रेमचंद की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं, तो आदर्शोन्मुख यथार्थ की अवधारणा गहरे भाव-बोध के साथ हमारे सामने होती है। यही प्रेमचंद की शक्ति भी है और पहचान भी। 'गोदान' में भी ये तथ्य उभर कर सामने आते हैं, जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता।

प्रगतिशील आलोचक 'गोदान' को प्रेमचंद के 'गांधीवाद' से मोहभंग का उपन्यास कहते हैं, क्योंकि वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रेमचंद की गांधी-निष्ठा सच नहीं थी। लेकिन, जब प्रेमचंद 'जागरण' का संपादन कर रहे थे, तब उनके संपादकीय पूर्णरूपेण गांधी जी के विचारों से सिर्फ़ प्रभावित ही नहीं थे बल्कि उनका समर्थन भी कर रहे थे। गोल मेज़ और पूना-पैक्ट मामले में अंबेडकर के पक्ष को समझने के बजाय, वे गांधी जी के पक्ष में लगातार संपादकीय लिख रहे थे और अंबेडकर को शंका की दृष्टि से देख रहे थे।

गांधी-विचार के रूप में रामराज्य, हृदय-परिवर्तन, सत्याग्रह, ट्रस्टीशिप,अहिंसा और सत्य आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो प्रेमचंद की रचनाओं में जगह पाते रहे हैं। 'गोदान' का होरी तमाम संघर्षों के बाद भी एक भला और धार्मिक आस्थावान व्यक्ति बना रहता है, क्योंकि होरी के चरित्र का निर्माण प्रेमचंद ने गांधीवादी आदर्शों के साथ किया है। यही प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि है। होरी की चिंता उत्पीड़न से मुक्त होने के बजाय 'गोदान' करके अगला जीवन सुधारना है। होरी में वर्ग-चेतना नहीं, धार्मिक चेतना है, और यही प्रेमचंद की विकास-यात्रा का विरोधाभास भी है कि वे इस कृति का शीर्षक 'गोदान' रखते हैं, जिसका सीधा संबंध भारतीय जीवन में रचे-बसे धार्मिक और कर्मकांडी संदर्भों से जुड़ता है।

ऐसे अनेक हिन्दी आलोचक हैं, जो दलित लेखकों पर यह

आरोप लगाते हैं कि वे प्रेमचंद के विरोध में खड़े हैं। ये आरोप सही नहीं है। क्या अपने पूर्व साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का पुनर्पाठ या पुनर्मूल्यांकन करना उन साहित्यकारों का विरोध करना होता है? क्या किसी भी रचना को एक ही दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए? यदि ऐसा होता है, तो समझ लीजिए कि हम साहित्य के विकास की बात नहीं कर रहे हैं। प्रेमचंद को एक लेखक ही रहने दीजिए, भगवान या देवता न बनाइए, क्योंकि जब तक प्रेमचंद इन्सान हैं, तब तक ही वे हमारे हैं, देवता बनते ही वे दूर हो जाएँगे।

ऐसे अनेक आलोचक हैं, जो दलित जीवन के बारे में न कुछ जानते हैं, न जानना चाहते हैं; न ही दलित-सरोकारों से उनका कुछ लेना-देना है। वे सिर्फ़ उपदेशक की भूमिका में होते हैं। क्या ऐसे आलोचकों से कोई संवाद हो सकता है? मेरे विचार से रचना और रचनाकार पर निरंतर होने वाली विश्लेषणात्मक चर्चा ही उसे प्रासंगिक बनाती है। सहमति और असहमति के लिए जगह रहना साहित्य के ही पक्ष में जाता है।

एक विद्वान आलोचक का कहना है—"...इसे विडंबना ही कहेंगे कि हिन्दी के दलित लेखक प्रेमचंद को अपने मार्गदर्शक के रूप में न देखकर प्रतिस्पर्धा के रूप में देख रहे हैं.... दलित लेखक उनकी निगाह में वही है, या हो सकता है, जो जन्मना दलित हो। बड़ी शिकायतें हैं हमारे दलित लेखक बंधुओं को प्रेमचंद से। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि ग़ैर-दलित समीक्षक प्रेमचंद को एक लाठी की तरह दलितों को, उनके लेखन को पीटने के लिए इस्तेमाल करते हैं, आदि-आदि। एक समीक्षक तो अपनी अध्यापकीय शैली में कहते हैं—"...जो प्रेमचंद की कलात्मक युक्ति है, डिवाइस है, उससे बेख़बर दलित लेखक प्रेमचंद को ख़ारिज करते फिरते हैं।"

हिन्दी के एक महान युगीन समीक्षक ने तो कमाल ही कर दिया था, उनकी भाषा किस सौंदर्यशास्त्र की स्थापना कर रही थी, यह देखने योग्य है। वे कहते हैं..."अब अपना दोस्त भी दुश्मन दिखायी देने लगे, तो यह मनोचिकित्सा का विषय है...जैसे कुत्ते का काटा पानी से डरता है...ये (यानी दलित) किनके काटे हुए हैं।"

यहाँ यह कहना मेरे लिए ज़रूरी हो जाता है कि किसी भी रचना का मूल्यांकन क्या सिर्फ़ शब्दजाल या बौद्धिक आख्यान भर होता है? या इससे परे भी कुछ अर्थ होता है? 'गोदान' का मातादीन-सिलिया प्रसंग हो या 'कफ़न' कहानी, क्या एक दलित को भी इनका अर्थ उसी तरह लेना चाहिए, जैसे ग़ैर-दलित समीक्षक ले रहे हैं। क्या परिवेशगत या पारिवारिक संस्कारों की मनुष्य की सामाजिक चेतना-निर्माण में कोई भूमिका नहीं होती। या फिर, उन तमाम समीक्षकों की स्थापनाओं को आँख मूंद कर स्वीकार कर लेना चाहिए, जो मंचों और सभा-गोष्ठियों में तथाकथित मार्क्सवादी हैं और घर की देहरी पर कट्टर ब्राह्मणवादी और सामंती संस्कारों से परिपूर्ण हैं। जो वर्ण और जाति के श्रेष्ठ भाव में गले-गले डूबे हुए हैं। मेरे लिए यह दोहरे मापदंड का रास्ता स्वयं को धोखे में रखने जैसा है।

दलित लेखक और दलित-साहित्य न प्रेमचंद के ख़िलाफ़ हैं और न प्रेमचंद को ख़ारिज करते हैं, बल्कि प्रेमचंद को एक ऐसा रचनाकार मानते हैं, जिसने किसान, मज़दूर का पक्ष लिया और अपने लेखन से हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा दी। 'गोदान' के माध्यम से उन्होंने भारतीय जीवन का जो चित्र खींचा, वह हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

सी-5/2
आर्डनैंस फ़ैक्टरी इस्टेट
देहरादून-248008

श्रीमती पार्वती बाई चौगुले महाविद्यालय, मडगाँव, गोवा के हिन्दी विभाग द्वारा 'कालजयी की अवधारणा और हिन्दी उपन्यास' विषय पर आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय परिसंवाद, 24, 25 नवंबर 2008, पढ़ा गया आलेख।



कब दूर होगी दलित की शिकायत

संजय 'कुमार

महादलित विमर्श की जब-जब चर्चा होती है तब-तब बिहार के हीरा डोम की वह शिकायत सामने आती है। जो उन्होंने 1914 में की थी। डोम जाति की पीड़ा को हीरा डोम ने शब्दों में वर्षों पूर्व पिरोया था। देश आज़ाद हुआ, हालात बदले, लेकिन हीरा डोम के लिखे एक-एक शब्द आज भी प्रासंगिक है। भगवान, समाज, व्यवस्था व सरकार से की गई भोजपुरी में उनकी शिकायत को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'अछूत की शिकायत' नाम से कविता के रूप में 'सरस्वती' के सितंबर, 1914 के अंक में प्रकाशित किया था। दलित विमर्श में हस्तक्षेप करती हीरा डोम की कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली संभवतः पहली और एकमात्र भोजपुरी कविता थी। और वह भी एक दलित की। भोजपुरी में लिखी गयी कविता ने वर्षो से भारतीय समाज में उपेक्षित और अछूत रहे डोम जाति के उस दर्द को सामने लाया है जिसे देख हर कोई अपनी आँखें मूँद लेता है। जिसमें इन्सान तो शामिल हैं ही भगवान भी पीछे नहीं हैं। चलते हैं पहले दलित हस्तक्षेप के पास जिसे हीरा डोम गाकर अपनी अभिव्यक्ति को शिकायती लहजे में सामने लाते थे–

"अछूत की शिकायत"/ हीरा डोम

हमनी के राति दिन दुःखवा भोगत बानी/हमनी के सहेब से मिली सुनाइबि।
हमनी के दुःख भगवानओ ने देख ताजे/हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पादरी सहेब के कचहरी में जाइबजां/बेधरम होके रंगरज बनी जाइबि।
हाय राम ! धरम न छोड़ते बनत बाते/बेधरम होके कैसें मुहंवा देखाइबि।
खंभवा के फारि पहलाद के बचवले जां/ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहै/परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़बले।
मरले रवनवाँ के पलले भभिखना के/कानी अँगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहवाँ सुतल बाटे सुनत न बाटे अब/डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।
हमनी के राति दिन मेहनत करीलेजाँ/दुइगो रुपयवा दरमहा में पाइबि।
ठकुरे के सुखसेत घर में सुतल बानीं/हमनी के जोति-जोति खेतिया कमाइबि।
हाकिमे कै लसकरि उतरल बानीं/जेत उहओं बेगरिया में पकरल जाइबि।
हमनी के बान्हि ऐसन नोकरिया करत बानीं/ई कुलि खबरि सरकार के सुनाइबि।
बभने के लेखे हम भिखिया न माँगबजाँ/ठाकुरे के लेखे नहि लउरी चलाइबि।
कहरा के लेखे नहि डांडी हम मारबजां/अहिरा के लेखे नहि गइया चोराइबि।
भंटऊ के लेखेन कवित्त हम जोरबजां/पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसिनवां के पइसा कमाइबजां/घर भर मिली जुली बांटि चोंटि खाइबि।
हड़वा मसुइया कै देहियां है हमनी कै/ओकरै के देहियां बभनओं कै बानी।
ओकरा के घरै-घरै पुजवा होखत बाजे/सगरै इलकवा भइलैं जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइलेजां/पांके में से भरि भरि पियतानी पानी।

('सरस्वती' के सितंबर, 1914 में प्रकाशित)

हीरा डोम ने उस समय के दलित संवेदना को जिस ढंग से कविता में रखा उसका स्वरूप आज भी बरकरार है। दलित के दुःख दर्द और उसके पीड़ा के प्रति समाज ही नहीं भगवान द्वारा आँख मूंद लेने पर उन्हें कोसते हुए, उस पीड़ा से निकलने के लिए धर्मांतरण की तरफ मुखतिब होता है लेकिन अंतिम क्षण में उसे खारिज कर देता है। और इसके पीछे दलित का आत्म सम्मान (कैसे मुहँवा देखाइबि) सामने आ जाता है। हीरा डोम कहते हैं–

हमनी के दुःख भगवानओ ने देख ताजे/ हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पादरी सहेब के कचहरी में जाइबजां/बेधरम होके रंगरज बनी जाइबि।
हाय राम ! धरम न छोड़ते बनत बाते,
बेधरम होके कैसे मुहंवा देखाइबि।

ऐसा नहीं कि हीरा डोम भगवान से डर कर धर्मांतरण को ख़ारिज करते हैं बल्कि अगले ही क्षण उनकी कविता डोम को छूने से डरे भगवान के सामने खड़ा हो जाता है।

खंभवा के फारि पहलाद के बचवले जां,
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहै,
परगट होके तहाँ कपड़ा बढ़बले।
मरले रवनवाँ के पलले विभीषण के,
कानी अंगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहवाँ सुतल बाटे सुनत न बाटे अब,
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।

खँभा फाँड कर प्रहाद को, ग्राह के मुँह से गजराज को, द्रोपदी को बचाने के लिए कपड़ा देने, रावण को मारने व विभीषण को पालने, कानी उँगली पर पहाड़ उठाने वाले भगवान से हीरा डोम साफ़ शब्दों में कहते हैं कहाँ सोये हैं, सुनते नहीं या डोम को छूने से डरे हैं ? डोम से डरे भगवान अपने आप कई सवाल छोड़ जाता

है। भगवान और समाज डोम के स्पर्श से भले ही कतराते हो। लेकिन कहा जाता है कि इसी सामाजिक व्यवस्था में डोम के बिना मरने वालों को मोक्ष नहीं मिलता है। शमसान घाट पर डोम राजा के हाथों दी गयी अग्नि से चिता को आग के हवाले किया जाता है। कैसी विडंबना है कि जीते जी डोम के स्पर्श से कतराने वालों को जीवन के अंतिम क्षण में डोम की याद आती है। दूसरी ओर हीरा डोम की भगवान से शिकायत आज भी प्रासंगिक है। आये दिन ख़बर आती है कि समाज के ठेकेदारों ने गाहे-बगाहे मंदिर में ताला जड़ कर दलितों को पूजा पाठ व भगवान के दर्शन से रोका। तभी तो हीरा डोम कहते है कि भगवान प्रह्राद को, ग्राह को, द्रौपदी आदि को बचाने आते लेकिन डोम को छूने से डरते हैं?

कविता में हीरा डोम ने श्रम को भी मुद्दा बनाया है। दलितों के काम को गँदा व घिनौना माना जाता रहा है। इसके जवाब में हीरा डोम अन्य जातियों के श्रम पर सवाल उठाते हैं और कहते हैं–

बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजां,
ठाकुरे के लेखे नहि लउरी चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहि डांडी हम मारबजां,
अहिरा के लेखे नहि गइया चोराइबि।
भंटउ के लेखेन कवित्त हम जोरबजां,
पगड़ी न बान्हि के कचहरी में जाइबि।
अपने पसिनवां के पइसा कमाइबजां,
घर भर मिली जुली बांटि चोंटि खाइबि।

मतलब, ब्राह्मणों की तरह हम भीख नहीं माँगेगे, ठाकुरों की तरह लाठी नहीं चलायेंगे, बनियों की तरह डंडी नहीं मारेंगे, अहीरों की तरह गाय नहीं चरायेंगे...। हाँ हम अपने पसीने से पैसा कमायेंगे और मिल बाँट कर खायेंगे। यह बात आज के तथाकथित स्वर्ण समाज के गाल पर तमाचा भी है। जब-जब आरक्षण का सवाल उठा तब-तब स्वर्णों ने आंदोलन चला कर विरोध किया। आंदोलन के दौरान झाडू लगाने, जूता में पॉलिस लगाने आदि श्रम को अपनाते हुए विरोध करते हैं। मानो यह काम बहुत ही घिनौना है और जैसे कि यह सिर्फ़ दलितो का ही काम हो ! ऐसा करके तथाकथित स्वर्ण समाज आज भी सदियों पुरानी दृष्टिकोण रखता है। ऐसे में हीरा डोम की शिकायत उनके वैचारिक सोच पर भारी पड़ जाता है।

अंत में हीरा डोम एक बड़ा ही मानवीय सवाल उठाते हैं जो आज भी यथावत है। देखिये इसकी बानगी–

हड़वा मसुइया कै देहियां है हमनी कै,
ओकरै के देहियां बभनओं कै बानी।
ओकरा के घरै घरै पुजवा होखत बाजे,
सगरै इलकवा भइलैं जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइलेजां,
पांके में से भरि भरि पियतानी पानी।

कवि इसमें आदमी-आदमी के बीच के विभेद को सिरे से ख़ारिज करते हुए कहते हैं एक ही हाड़ माँस को देह हमारा भी है और ब्राह्मण का भी, फिर भी ब्राह्मण पूजा जाता है। पूरे इलाके में ब्राह्मण की जजमानी है और हम दलितों को कुआँ के पास भी नहीं जाने दिया जाता है, किंचड़ से पानी निकाल कर पानी पीते हैं। सच भी है आज भी दलितों को उन कुओं से पानी नहीं भरने दिया जाता है जहाँ स्वर्ण जाति के लोग पानी भरते हैं। गलती से कोई दलित कुआँ के पास चला भी गया तो उसका हाथ-पैर तोड़ दिया जाता है।

करीब एक सौ साल पूर्व लिखी हीरा डोम की यह कविता आज भी जीवंत व प्रासंगिक है। हीरा डोम ने कविता के माध्यम से अपनी जाति की संवेदनशीलता को सामने लाया साथ ही अपने आत्म-सम्मान को स्थापित भी किया, जो अपने आप में बड़ी बात है।

303, दिगंबर प्लेस, डॉक्टर्स कालोनी, लोहियानगर, कंकड़बाग, पटना-800020, बिहार।



उधर के लोग : स्त्री अस्मिता का प्रश्न

सुनीता साखरे

अजय नावरिया द्वारा लिखित 'उधर के लोग' उपन्यास हाल ही में प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख आया है। अपने कथानक में अन्य दलित उपन्यासों से हटकर है। गाँव की भावभूमि से ऊपर उठकर महानगरीय जीवन-शैली को कथा में उकेरा गया है। उपन्यास के पात्र दलित व्यक्तियों से संबंधित हैं, साथ ही, कुछ अल्पसंख्यक मुसलमान पात्रों का चित्रण भी हुआ है।

उपन्यास में नावरिया जी ने कई सवाल उठाये हैं, मसलन-हिन्दी दलित-साहित्य में स्त्री-जीवन का चित्रण कम होना, आरक्षण का लाभ किसी एक ख़ास जाति को मिलना, जाटव और वाल्मीकि संघर्ष, दलित लेखकों की गोलबंदी, दलितों के अंतर्विरोध, अंतरजातीय विवाह, तलाक आदि।

उपन्यास में तीन स्त्रियाँ और एक पुरुष पात्र है। तीनों स्त्रियों का संबंध पुरुष से है, जो उपन्यास का नायक है। उपन्यास का प्रारंभ नायक और एक स्त्री पात्र आयशा के वार्तालाप द्वारा होता है। नायक दलित जाति का है, जो एक विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर है। आयशा एक सेक्स-वर्कर है, जो सवर्ण जाति से है, जिस पर 'नाजायज़ औलाद' का ठप्पा लगा है। आयशा में जाति अहं भी कूट-कूटकर भरा है। (पृष्ठ-25) आयशा नाम के कारण वह धार्मिक कट्टरता को भी बढ़ावा देती है। ऐसा करके वह पुरुष-समाज से अपना बदला लेना चाहती है। किंतु, नायक के साथ आयशा के संबंध सम्मानजनक हैं। नायक स्त्री-गरिमा को समझता है। उपन्यास के अंत तक आते-आते नायक और आयशा में संबंध भी बनते हैं। दोनों अपनी-अपनी मंज़िल तलाश रहे हैं। यह मंज़िल उन्हें निजी मुक्ति में ही दिखायी दे रही है।

जाति-प्रथा को तोड़ने में अंतर्जातीय विवाह की अहम भूमिका हो सकती है, इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने आगे की कथा लिपिबद्ध की है। नायक अपनी सहपाठी वंदना झा से प्रेम-विवाह करता है। यह विवाह दोनों की मर्ज़ी से हुआ है। नायक के पिता इसका विरोध नहीं करते, क्योंकि वे स्वतंत्रता के पक्षधर हैं। किंतु, यह स्वतंत्रता वे अपने पुत्र को ही देना चाहते हैं, अपनी बहू (वंदना झा) को नहीं। ससुर का व्यवहार वंदना को जातिवादी लगता है। वंदना जाति से ऊपर उठकर प्रेम-विवाह करती है। वंदना की यह क्रांतिकारी विजय भी है। वंदना चाहती है कि परिवार के सभी सदस्य उसे भी अहमियत दें, तो क्या बुरा कहती है। परिणामस्वरूप, रोज़-रोज़ की किच-पिच के कारण नायक दूसरा घर लेने को बाध्य हो जाता है। यहाँ भी पति-पत्नी की परेशानियाँ कम नहीं होतीं। घर में ब्लैंक कॉल का आना, पति का शराब पीना, देर से घर लौटना, अंतर्जातीय विवाह भूल लगना आदि-आदि के कारण वंदना आत्महत्या कर लेती है।

उपन्यास में पितृ-सत्तात्मक सोच पूरी तरह हावी है। परिवार की पूरी संरचना अभी भी स्त्री के उत्पीड़न पर आधारित है। इस मामले में दलित सवर्णों से अलग नहीं हैं। स्त्री चाहे वह दलित हो या सवर्ण, पुरुष-वर्चस्व और उत्पीड़न उसके अनुभव-संसार का ऐसा सत्य है, जिससे वह उसी तरह इन्कार नहीं कर सकती, जिस तरह एक दलित जातिवादी उत्पीड़न से इन्कार नहीं कर सकता। उपन्यास के माध्यम से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि दलित जिन अधिकारों की माँग स्वयं करता है, उसे वह अपनी ही स्त्रियों को नहीं देना चाहता। स्त्री की स्वतंत्रता के विरोधी दोनों हैं सवर्ण भी और दलित भी। दोनों के यहाँ स्त्री के जीवन के फ़ैसले पुरुष करते हैं।

उपन्यास की तीसरी स्त्री पात्र संगीता है। नायक का दूसरा विवाह संगीता के साथ हुआ है। दोनों पति-पत्नी हैं। यह भी अंतर्जातीय विवाह है। यहाँ दलितों के अंतर्विरोधों को साफ़ देखा जा सकता है। यह विवाह नायक के पिता की मर्ज़ी से हुआ है। पिता ने अपने बेटे के भविष्य की ख़ातिर यह बात संगीता से छुपायी है कि उनके बेटे का पहला विवाह बाम्हनी से हुआ था और उसने आत्महत्या कर ली है। नायक (बेटे) को पिता की यह बात मालूम नहीं है। उसे लगता है कि पिता ने लड़की वालों को पहले विवाह के बारे में साफ़-साफ़ बताया होगा। यही सोचकर वह दूसरा विवाह कर लेता है। कुछ दिनों में ही संगीता को यह बात मालूम हो जाती है और वह पति से दूरियाँ बढ़ा लेती है। उसके आत्मसम्मान को ठेस लगती है। लेखक यहाँ स्त्री-समर्थन में खड़ा दिखायी देता है। स्त्री को भी परित्यक्त पति का वरण करने की आज़ादी होनी चाहिए। पुरुष परित्यक्ता स्त्री से विवाह नहीं करता, जब तक कि वह स्वयं परित्यक्त न हो। संगीता अंत में जाकर तलाक नहीं लेती और पुनः घर लौट आती है। संगीता बच्चे के भविष्य की ख़ातिर ऐसा क़दम नहीं उठाना चाहती। यदि संगीता परित्यक्ता होती, तो क्या नायक उससे विवाह करता? यदि संगीता के परिवार वाले इस बात को छुपाकर रखते और नायक को विवाह के पश्चात् यह बात मालूम होती कि संगीता के पहले पति ने आत्महत्या कर ली है, तो क्या नायक उसे छोड़ नहीं देता?

दलित-साहित्य खेमे में जाटव और वाल्मीकि के बीच उभरते

अंतर्द्वंद्व को भी नावरिया जी ने यथार्थता से रेखांकित किया है। कहीं किसी पक्ष की पक्षधरता नहीं दिखायी देती, निष्पक्षता से अपनी बात कही है। एक दलित लेखक होने के नाते उन्होंने अन्य दलित लेखकों को चेताया है कि समय रहते हुए वे अपने आपसी संघर्षों से ऊपर उठकर सोचें एवं लेखन करें।

उपन्यास में दलितों के अंतर्विरोधों पर भी प्रकाश डाला गया है। बहुत सी ऐसी परंपराएँ, जो पहले दलित परिवारों में नहीं थीं, अब उनमें भी घर कर गयी हैं। उपन्यास में रिंकू के विवाह-प्रसंग को अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है। उम्मीद है, नावरिया जी अपने अन्य उपन्यास में इस बात से बचेंगे।

उपन्यास में एक बात खटकती है कि लेखक ने जितने भी सवाल उठाये हैं, उनके उत्तर शराब की महफ़िलों एवं सपनों में खोजने की कोशिश की है। कहते हैं कि जब कोई शराब पीता है, तो नशे में सच बोलता है। पर यह सच शराब की ताक़त का होता है। 'उधर के लोग' में यही प्रयोग हुआ है, जो उपयुक्त नहीं लगता। हक़ीक़त में अपनी ताक़त के ज़ोर पर तर्कों के उत्तर देना साहसिकता है, जिसका इस्तेमाल नहीं किया गया है। 'उधर के लोग' शीर्षक समझना भी मुश्किल लगता है।

कुल मिलाकर देखें, तो दलित उपन्यासों में 'उधर के लोग' उपन्यास अपनी विशिष्टता लिये हुए है। शिल्प की दृष्टि से भी उपन्यास बेजोड़ है। नारी-स्वतंत्रता और सोच उपन्यास का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अजय नावरिया जी का यह पहला उपन्यास है। आशा है कि भविष्य में वे और बेहतर कथा-सृजन करेंगे।

विजय अपार्टमेंट्स, बी-विंग, फ़्लैट नं0-402,
चिंचोली बंदर रोड, मालाड (प0), मुंबई-400064

उधर के लोग, अजय नावरिया, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली-2, मूल्य : 200 रुपये मात्र

■

समाज और इतिहास के आईने में वाल्मीकि समाज

हरपाल अरुष

ओमप्रकाश वाल्मीकि की नयी पुस्तक आयी है–'सफ़ाई-देवता'। इस पुस्तक में वाल्मीकि समाज की ऐतिहासिक और सामाजिक पहचान की पड़ताल करने के साथ-साथ भारतीय हिन्दू समाज में उसके स्थान और महत्त्व को चिन्हित करने का श्रम किया गया है। जैसाकि फ्लैप पर कहा गया है, "इस पुस्तक का उद्देश्य ऐतिहासिक उत्पीड़न, शोषण और दमन का विश्लेषण करना है। उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आकलन करना है, उसके सामने खड़ी समस्याओं का विवेचन करना है। लेखक का उद्देश्य लंबे भीषण नारकीय दौर में वाल्मीकि समाज की उपलब्धियों, संघर्षों की खोज करके ऐसी मिसाल पेश करना है, जो भविष्य के अंधकार से उसे बाहर निकालने की प्रेरणा दे सके", निश्चित ही यह पुस्तक इसी महान उद्देश्य को सामने रखकर लिखी गयी है। जिस सामाजिक समूह का इतिहास समय की परतों के नीचे दब जाता है, वह समूह अपने आपको सिद्ध करने के लिए छटपटाता रहता है। सामाजिक अस्मिता का बड़ा भाग इतिहास के द्वारा ही निर्मित होता है। जब तक प्रामाणिक इतिहास के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक योगदान को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक सामाजिक समूह का चिह्नांकन करना एक कठिन कार्य होता है। विशेषतौर से, उस सामाजिक समूह का, जिसको सामाजिक धार्मिक शास्त्रों से डरा-धमकाकर जातिगत सीढ़ी या सामाजिक संरचना वाली व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर धकेल दिया गया हो। इस कठिन और दायित्व भरे कार्य को करने में ओमप्रकाश वाल्मीकि को शास्त्र और इतिहास को खँगालने में जो परिश्रम करना पड़ा होगा, इसका अनुमान लगाने में उस आदमी की याद आने लगती है, जो भूसे के ढेर में सुई की तलाश कर रहा हो।

इस पुस्तक में केवल वाल्मीकि समाज के उद्भव, विकास, प्रसार और पराभव का विश्लेषण-विवेचन ही नहीं किया गया है, अपितु भारतीय समाज में व्याप्त 'सामाजिक चेतना' के अभाव और 'जाति-चेतना' की प्रचुर व्याप्ति को भी उजागर किया गया है। वैदिक 'पुरुष सूक्त' का संदर्भ देते हुए बताया गया है कि विभिन्न वर्णों का जन्म ईश्वर के विभिन्न अंगों द्वारा होना स्वीकार कर लिये जाने के भेदपरक विश्वास के कारण ही समाज में बंधुता का न तो जन्म हो पाया और न सहानुभूति का ही उन्मेष हो पाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अस्पृश्य के बीच भेदभाव को किस प्रकार हिन्दू दर्शन, आध्यात्मिकता, नैतिकता की व्यवस्था के तले संरक्षित करने का लंबे समय से प्रयास चलता रहा है, इसकी पुष्टि में रौथ, डा0 अंबेडकर, बलंट, रामप्रकाश गौतम आदि के विचारों से संदर्भ लेकर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। कई जगह ऐसे हवाले भी दिये गये हैं जिनसे विदित होता है कि उच्च कही जाने वाली जातियों के लोगों ने नियमावली बनाकर बलाइयों और ऐसी ही अन्य समकक्ष कही जाने वाली जातियों पर सामाजिक और आर्थिक

प्रतिबंध थोपे। वे 'गौतम सूत्र' का संदर्भ देकर बताते हैं, शूद्र नौकर को चाहिए कि वह उच्चवर्ण के लोगों द्वारा उतारकर फेंके गये जूते, छाते, वस्त्र, चटाई इस्तेमाल करें', आगे कहा गया है कि भोजन का उच्छिष्ट (जूठन) शूद्र नौकरों के लिए रखा जाए। इस प्रकार, शूद्र, दास और अछूत मानकर किये जाने वाले व्यवहार की ऐतिहासिकता को आपस्तंब में दिये गये निर्देशों के आधार पर परखा गया है।

भारतीय समाज में वाल्मीकि समाज से संबंधित जातिगत नाम-संज्ञा चूहड़ा और भंगी गाली के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। इन अपमानबोधक शब्दों को सामाजिक परंपरा में समता के अधिकार की आकांक्षा रखने वाला वाल्मीकि समाज का व्यक्ति अब सहन करना नहीं चाहता। यह शिक्षा और जागरूकता का फल है, जो चेतना में ढलकर आ रहा है।

पुस्तक में बौद्धग्रंथों के साथ-साथ अलबरूनी, कल्हण, जे0 ब्यूर, वेबर और स्वामी दयानंद के हवाले देकर इस जाति के उत्थान-पतन की स्थितियों और कारणों का अध्ययन किया गया है। वे महर्षि वाल्मीकि से लेकर वर्तमान काल तक को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास करते हुए निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए श्रम करते प्रतीत होते हैं। तथागत बुद्ध के द्वारा सुणीत नामक श्वपच को दीक्षित करना तथा समतापरक समाज का सपना साकार करने के लिए क़दम उठाना इतिहास को एक महान पग उठाने का आरंभ माना जाता है। भारतीय समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में हज़ारों सालों से चली आ रही सोच, धारणाओं और अवधारणाओं का विमर्श-विश्लेषण भी यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है। इसमें भारतीय मानस की, जिसमें शास्त्रीय सवर्ण सोच और परंपराओं का समुच्चय है, विसंगतियों और षडयंत्रों और धार्मिक घोषित आधारों पर खड़े कृत्रिम विश्वासों की पड़ताल की गयी है। इसके सापेक्ष वाल्मीकि समाज की पारंपरिक धार्मिक आस्थाओं और मान्यताओं का भी सविस्तार विश्लेषण किया गया है। इस समाज के अनुष्ठान और पूजा-पद्धति किस प्रकार स्वावलंबी हैं, यह भी स्पष्ट किया गया है। यह सभी जानते हैं कि पुरुष-प्रधान समाज में देवताओं का वर्चस्व रहता है, जबकि वाल्मीकि समाज में मसानी माई, हिडिंबा और माई मरदान को पूजने की मान्यता है। 'पौन' देवता की भी मान्यता है, किंतु घर के भीतर ही। पूजा-पद्धति का भी सविस्तार ज़िक्र किया गया है। ख़ास बात यह है कि इस समाज में पुरोहितगिरी की प्रथा नहीं है। इस समाज की सांस्कृतिक मान्यताएँ समानांतरता को धारण करके चल रही हैं, हिन्दू धर्म की अनुगामी तो कदापि नहीं हैं। यह भी पता चलता है कि यह समाज पितृ-प्रधान होते हुए भी मातृ-प्रधानता के गुणों से किसी न किसी स्तर पर आविष्ट है।

पंचायतों में होने वाले निर्णय किस प्रकार सामंतवादी वर्चस्व की छाया में लिये जाते हैं, यह भी विस्तार से बताया गया है। यहाँ जाट जाति की खाप परंपरा का ज़िक्र कर देना इसलिए भी विषयानुकूल है कि गोहाना कांड में राजनीति ने आग खाप के कुंचे में रखकर लगायी थी, जिसको इस पुस्तक में समाचार-पत्रों, संवेदनशील लोगों की टिप्पणियों और प्राप्त रिपार्टों के आधार पर स्वीकार किया गया। खाप-व्यवस्था का उद्‌भव और विकास पिछड़ों और दलितों में संयुक्त रूप से तब हुआ था, जब इन दोनों तबक़ों को शूद्र कहा जाता था। तब ब्राह्मणीय न्याय-व्यवस्था में न तो इनका विश्वास था, न तत्कालीन यह व्यवस्था इनको अपना सांस्कृतिक अंग ही स्वीकार करती थी। आपसी विवादों को निपटाने तथा सामूहिक राजनीतिक निर्णय लेने के लिए किसी शास्त्र या किसी स्मृतिग्रंथ की इनको आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उस काल में 'खाप' में हर जाति का प्रतिनिधित्व होता था। यही कारण था कि इतिहास में पिछड़ी जातियों और दलितों के बीच जातीय संघर्ष नाममात्र को ही हो पाता था। खाप की पंचायतें उनका निपटारा कर लिया करती थीं। महाराजा रणजीत सिंह की सेना में भंगी मिसिल से बड़े-बड़े योद्धा पदाधिकारी आते रहे थे, जिनको बिना भेदभाव के, समानता के आधार पर सम्मान प्राप्त था—इस बात का भी इस पुस्तक में सविस्तार ज़िक्र किया गया है। हालाँकि, यही पिछड़ा वर्ग, जिसमें उत्तरी भारत की जाट, गूजर, अहीर, सैनी, कश्यप आदि जातियाँ आती हैं, एक समय दलितों की तरह ही ब्राह्मणवादी व्यवस्था द्वारा उत्पीड़ित और शोषित वर्ग था, जिसका पिछली शताब्दी में हिन्दूकरण हुआ है और वह पक्का ब्राह्मणवादी बनकर, अपने आपको सवर्ण समझकर, राजनीति प्रेरित होकर दलितों के प्रति, क्रूर और हिंसक हो जाने लगा है। जिन तबक़ों की जीवन-शैली उन्नीसवीं शताब्दी तक बुद्ध-धर्म से प्रभावित थी, हिन्दूकरण होते ही उनके सोच में आया। यह परिवर्तन निसंदेह नकारात्मक और अलोकतांत्रिक है। यह पिछड़ा वर्ग वर्चस्ववादी समुदायों के संकेतों पर चलकर अपने आप को शूद्रत्व के शाप से मुक्त करने का भ्रम पाले हुए है। कुछ भी हो, यह पुस्तक इतना तो साफ़ करती है कि वाल्मीकि समाज आज भी सामाजिक स्तरीकरण में निम्नतम स्थान पर है। इसके साथ अलोकतांत्रिक, असामाजिक और अमानवीय व्यवहार करने की परंपरा का अंत तो होना ही चाहिए।

विमल कुंज, आदर्श कॉलोनी, मुज़फ़्फ़रनगर-251001

सफ़ाई देवता, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नारी लेखन पर राष्ट्रीय संगोष्ठी संपन्न

श्री एस0डी0 पटेल आर्ट्स एंड सी0एम0 पटेल कॉमर्स कॉलेज आँकलाव व गुजरात साहित्य अकादमी गाँधी नगर के सामूहिक तत्त्वावधान में 16 जनवरी, 2009 को ''नारी लेखन : अतीत से वर्तमान तक'' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी में प्रख्यात कथाकार डॉ0 नमिता सिंह मुख्य अतिथि तथा इंडियन ऑयल कारपोरेशरन के हिन्दी प्रभारी डा0 माणिक मृगेश विशिष्ट अतिथि के रूप में आमंत्रित थे। नमिता सिंह ने अपने उद्घाटन भाषण में अतीत से वर्तमान तक स्त्री लेखन के विषय में सोदाहरण विस्तार से चर्चा की । नमिता सिंह ने कहा कि यह नवजागरण काल का प्रभाव था कि नारी विमर्श के मुद्दे उन्नीसवीं सदी के आरंभ से उठने शुरू हुये। विभिन्न समाज सुधार आंदोलनों ने चारदीवारी में बंद स्त्री मुक्ति के अभियान को गति दी। एक अज्ञात हिन्दू औरत की 'सीमंतनी उपदेश' से लेकर महादेवी वर्मा तक और फिर नई कहानी के दौर में मन्नू भंडारी तक स्त्री लेखन के अनेक पड़ाव पार किये हैं और यह यात्रा सततू रूप से आगे नये क्षितिज छू रही है।

डा0 माणिक मृगेश ने अपने वक्तव्य में कहा कि साहित्य का प्रयोजन मात्र 'कला के लिये कला वाला सिद्धांत नहीं होना चाहिए बल्कि साहित्य का उद्देश्य समाज को दिशा देने वाला होना चाहिए। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्यकार मशालची की तरह होता है। नारी रचनाकारों ने अतीत से अब तक हर काल में क्रांति की है।

संगोष्ठी को दो सत्रों में विभक्त किया गया था। प्रथम सत्र महादेवी वर्मा पर तथा दूसरा मन्नू भंडारी पर केंद्रित था।

पहले सत्र की अध्यक्षता डा0 आलोक गुप्त (अहमदाबाद) ने की। डा0 दयाशंकर त्रिपाठी (सरदार पटेल वि0वि0 आणंद) ने महादेवी वर्मा तथा मन्नू भंडारी के साहित्य पर मुख्य वक्तव्य दिया। विषय विशेषज्ञ के रूप में प्रो0 घनश्याम सनाढ्य को आमंत्रित किया गया। उन्होंने तत्कालीन अंग्रेज़ी और हिन्दी कहानियों का उल्लेख करते हुये हिन्दी कहानी की सामाजिकता की चर्चा की। डा0 विमलेश तेवतिया ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' पर अपना आलेख प्रस्तुत किया।

दूसरे सत्र की अध्यक्षता प्रो0 पारूकांत देसाई ने की। मुख्य वक्ता थे डा0 मदनमोहन शर्मा। विषय विशेषज्ञ के रूप में डा0 दयाशंकर त्रिपाठी को आमंत्रित किया गया। डॉ0 ओमप्रकाश गुप्त व डॉ0 शिव प्रसाद शुक्ल ने महादेवी वर्मा तथा मन्नू भंडारी के साहित्य पर केंद्रित आलेख प्रस्तुत किए। प्रो0 पारूकांत देसाई ने समसामयिक परिदृश्य को प्रस्तुत करते हुये कहा कि स्त्री चेतना को निरंतर संघर्ष करने की ज़रूरत है क्योंकि आज भटकाव के रास्ते भी खुले हुये हैं। संगोष्ठी में गुजरात प्रांत के विभिन्न कॉलेजों के 50 से अधिक हिन्दी के प्राध्यापकगण प्रतिभागी के रूप में उपस्थित थे जिन्होंने संगोष्ठी में सक्रिय भागीदारी की।

पूर्व में कॉलेज के प्राचार्य डा0 किशोर सिंह राव ने गोष्ठी की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की तथा आमंत्रित अतिथियों का स्वागत किया। पूरी गोष्ठी का सफल व व्यवस्थित संचालन किया, कॉलेज की हिन्दी प्रवक्ता डा0 मीरा सक्सेना ने। सभी प्रतिभागियों ने गुजरात के एक छोटे से गाँव के कॉलेज में आयोजित इस सार्थक संगोष्ठी की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

प्रस्तुति : डा0 किशोर सिंह राव,

प्राचार्य, आर्ट्स ऐंड कामर्स कालेज, आँकलाव (गुजरात)

इस अंक के चित्रकार : विनोद सिंह

- मास्टर ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स की उपाधि स्वर्ण पदक के साथ—बी0एच0यू0, वाराणसी से।
- आदिवासी तथा ग्रामीण महिलाओं के चित्रों की विशेषता।
- अनेक एकल प्रदर्शनियाँ देश-विदेश में।

पता : विभागाध्यक्ष, ए0बी0पी0एस0-जगदीशपुर (उत्तर प्रदेश)

दलित विमर्श की सीमाएँ

महाराष्ट्र में जैसे दलित चेतना ने आंदोलन का स्वरूप ग्रहण किया था, हिन्दी में भी दलित विमर्श वैसे ही हो रहा है। विभिन्न शासक वर्गों ने सदैव वर्णवादी भारतीय समाज के मानदंडों के अनुरूप ही दलित समाज से बर्ताव किया और वे शाश्वत पीड़ा और अपमान के शिकार रहे। बाबा साहब अंबेडकर ने छुआ-छूत के विरुद्ध जो आंदोलन किया वह सामाजिक और धार्मिक समानता के लिये था। भारतीय समाज व्यवस्था बहुत जटिल है। इसके अपने अंतर्विरोध हैं। इन अंतर्विरोधों को पहचानने की किसमें कितनी शक्ति और सामर्थ्य है वह उतना ही आगे बढ़ सकता है। डा0 अंबेडकर में यह क्षमता थी। उनके समय में और बहुत बाद तक भी अछूतों को मंदिरों में जाने की इजाज़त नहीं थी। अंबेडकर ने लंबा संघर्ष और त्याग किया। सब लोग अंबेडकर पर व्यंग्य करते थे कि ये क्या समाज सुधारेंगे? अंबेडकर ने इन व्यंग्यों की कोई परवाह नहीं की और इतिहास में वह काम किया जो पूरे भारत के लिए था। अछूतों पर होने वाले अत्याचार भारत की राज्य व्यवस्था में बहुत बड़ा कलंक था। अंबेडकर जब अपनी शिक्षा पूर्ण करके भारत लौटे तो उन्हें योग्यता के अनुसार सरकारी नौकरी तो मिल गयी लेकिन बंबई जैसे शहर में रहने के लिए मकान नहीं मिला। इसके पीछे सिर्फ़ छुआ-छूत और ऊँच-नीच की मानसिकता थी। यदि कोई अछूत संपन्न होता भी था तो उसे यह कहकर अपमानित किया जाता था कि "जो तुम पढ़ गये हो, इससे तुम्हारी जाति नहीं बदली। पैसा आने से जाति नहीं बदलती।" बहुत से लोगों का मानना था कि जब तक आर्थिक और राजनीतिक स्थिति नहीं बदली जायेगी तब तक मूलभूत परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके बावजूद अंबेडकर ने एक व्यापक आंदोलन खड़ा कर दिया और कांग्रेस तथा अंग्रेज सरकार को मजबूर कर दिया कि वह दलितों की समस्या को संज्ञान में ले। कम से कम उनके साथ इन्सानों जैसा व्यवहार होना चाहिए, जानवरों जैसा नहीं।

गांधी जी ने कांग्रेस पार्टी में दो मुख्य मुद्दे उठाये। अछूत (हरिजन) को हर तरह से मदद करनी चाहिए और उन्हें सामाजिक न्याय मिलना चाहिये। दूसरा प्रश्न महिलाओं का था जिसमें गांधी जी ने पीड़ित महिला और पीड़ित दलित की स्थिति लगभग एक जैसी बतायी। गांधी जी ने कहा कि महिला और दलितों के साथ जो अन्याय होता चला आया है उसको रोका जाय। गांधी जी ने एक काम और किया। कांग्रेस पार्टी का हर पदाधिकारी कम से कम दो दिन किसी दलित के यहाँ रहे, उसके साथ परिवार के सदस्य के रूप में खाये-पीये और साथ ही रहे। स्वाधीनता आंदोलन में कांग्रेसियों के साथ कम्युनिस्ट विचार धारा के लोग भी सम्मिलित थे। सभी मिलकर भारत की मुक्ति के लिए प्रयास कर रहे थे। एक दिलचस्प घटना यह है कि गांधी जी के कहने पर कि पार्टी पदाधिकारी दलित के यहाँ कम से कम दो दिन का समय परिवार के सदस्य के रूप में व्यतीत करे, इस बात को लेकर कांग्रेसी पदाधिकारियों ने गांधी जी से अनेक बहाने किये कि, हमारा व्रत है, कि तबियत ठीक नहीं है... वगैरह-वगैरह, लेकिन कोई भी दलित के यहाँ दो दिन का समय बिताने नहीं गया। कम्युनिस्टों ने इस बात को पूरी संवेदना के साथ ग्रहण किया और उसे सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में एक व्यावहारिक कदम के रूप में अमल किया। इसी के आधार पर वे कांग्रेस पार्टी में अध्यक्ष, सचिव, सामान्य सचिव आदि पदों पर आसीन हो गये। हालांकि कम्युनिस्टों का बहुमत ज़्यादा नहीं था लेकिन गांधी जी के नियमानुसार वह उत्तर प्रदेश के सभी प्रायः सभी जिलों में पदाधिकारियों के रूप में नियुक्त किये गये।

एक किस्सा और दिलचस्प है। इंग्लैण्ड की पढ़ी हुई दो महिला कार्यकर्ता अलीगढ़ में पढ़ा रही थीं। ये महिलाएँ उपरोक्त कार्यक्रम के अनुसार दो दिन एक गाँव में दलित परिवार के यहाँ रुकीं। रात को उनके सोने के लिए एक झोंपड़ी में व्यवस्था की गयी जिसमें कुछ बकरियां भी बंधी थीं। रात को सोते वक़्त बकरियाँ उन महिलाओं का मुँह चाटती रहीं, पेशाब करती रहीं। भद्र महिलाएँ पूरी रात परेशान रहीं और सुबह उन्होंने कहा कि हम यहां नहीं रह सकते, हम जा रहे हैं। इस पर पार्टी के सचिव ने कहा कि यदि आप अब बीच में गयीं तो पार्टी से आपका निष्कासन कर दिया जायेगा तथा पार्टी की मेम्बरशिप भी समाप्त कर दी जायेगी। महिलाएँ डर गयीं और तीन दिन का समय उन परिवारों और बकरियों के साथ व्यतीत किया। उनको अनुभव हुआ कि दलितों की स्थिति तो सचमुच बहुत बुरी है। ये लोग मनुष्य होकर भी जानवरों के साथ रहते हैं। दलितों के उत्थान में कम्युनिस्टों का

बहुत बड़ा योगदान रहा है। इसी का उदाहरण पेश है कि जिला अलीगढ़ में एक गाँव पिसावा है। वहां का जमींदार एक दलित की लड़की की शादी नहीं होने दे रहा था क्योंकि वहां दलित समुदाय के बीच कम्युनिस्टों का प्रभाव था और वे सामाजिक न्याय की लड़ाई में उनकी मदद कर रहे थे। दलित ने ये बात अलीगढ़ और हाथरस में अपने साथियों को बतायी तो कम्युनिस्टों ने मिलकर शादी की व्यवस्था की। समस्त सामग्री जैसे-घी, बूरा, पत्तल आदि सामान लेकर तकरीबन 500 कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता वहाँ पहुँचे और बरात के समय पूरी साज-सज्जा के साथ बरात की अगवानी की। एक बात यह भी हुई कि बरात का ढोल, नगाड़ा वजाकर स्वागत किया गया। जब यह बात ज़मीदार ने देखी तो उसने अपनी गढ़ी के मुख्य गेट को बंद करा दिया और अंदर चला गया। जो बात आज उठायी जा रही है कि दलित ही अकेले अपनी लड़ाई लड़ेंगे, यह भावना तब नहीं थी। सामाजिक न्याय के सवाल पर सवर्णों ने भी भरपूर लड़ाई लड़ी और उसके अच्छे परिणाम हुये।

माननीय कांशीराम जी ने अपनी एक चुनाव सभा में कहा था कि हम उन्हीं जगहों पर मजूबत हैं जो कम्युनिस्टों का कभी कार्य क्षेत्र रहा है। जब कुछ लोगों ने कहा कि फिर आप कम्युनिस्टों को बुरा-भला क्यों कहते हैं तो उन्होंने हँसकर कहा कि कम्युनिस्ट और हमारी जो जड़ें हैं वह लगभग समान हैं। कांशीराम जी ने कहा कि एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकतीं हैं। इसी लिए कम्युनिस्टों का विरोध किये बिना हम दलित राजनीति नहीं कर सकते। कम्युनिस्ट वर्ग संघर्ष की बात करता है जबकि हम केवल दलितों की बात करते हैं...। सचमुच दलित राजनीति में ऐसा ही हुआ है। सुश्री मायावती पहले-दूसरे चुनाव में जहाँ जीतीं वहाँ पहले कम्युनिस्ट पार्टी का वर्चस्व था। लेकिन आज जातिवाद ने दूसरी तरह की समस्याएँ पैदाकर दी हैं जो देश की एकता और अखंडता के लिए एक बहुत बड़ा ख़तरा है। मायावती अकेली जातिवाद की राजनीति नहीं कर रही हैं बल्कि भाजपा, समाजवादी पार्टी, सभी अपनी राजनीति में जातियों का दुरुपयोग कर रहीं हैं। यही काम कांग्रेस ने चतुराई और निपुणता से किया था। आज छुआ-छूत तो बहुत कम है लेकिन जातिवाद पहले से आज दस गुना ज़्यादा है।

हर पार्टी जातिवाद को लेकर राजनीति कर रही है। ये धंधा ज़्यादा दिन तक नहीं चलेगा। सांप्रदायिकता की तरह यह भी एक कोढ़ है। सत्ता की अंधी राजनीतिक दौड़ किसको कहाँ ले जायेगी! राजनीतिक पार्टियां केवल अपना आज देख रही हैं, भविष्य नहीं।

डा0 अंबेडकर ने जब अपना संघर्ष आरंभ किया उस समय देश में स्वाधीनता के लिए संघर्ष चल रहा था। इससे ज़्यादातर लोग प्रभावित थे। भले ही वह सक्रिय हों या न हों। सच्चे देश भक्त की भांति डा0 अंबेडकर ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दलित मुक्ति के सवाल उठाये और इसे भारतीय राजनीति का केन्द्रीय विषय बनाया। इससे देश की राजनीति में बहुत फ़र्क़ पड़ा और अंबेडकर का राष्ट्रीय महत्व और बढ़ गया। भारत के धर्म-निरपेक्ष संविधान में महिला और दलितों को वोट डालने का अधिकार मिला। यही वह मोड़ है जहाँ भारतीय राजनीति और सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण बदलाव आया। अंबेडकर के सिद्धांतों के खिलाफ़ यदि कोई निर्णय होता तो वे तुरंत पद को छोड़ देते थे क्योंकि वे अपने उसूलों के पक्के थे। उन्होंने हमेशा मूल्यगत राजनीति की, जो अब विरल होती जा रही है।

उत्तर भारत में उस समय दलितों में मध्यवर्ग बहुत कम था। समाज घोर सामंती प्रवृत्ति का पोषक था। इसी कारण यहाँ कोई बड़ा सामाजिक आंदोलन नहीं हुआ। इसीलिए उत्तर भारत के दलितों में चेतना का प्रसार भी बहुत बाद में हुआ। यहाँ भी एक प्रभावी मध्यवर्ग उभरकर आया। उसने पढ़-लिखकर अपने स्वाभिमान और चेतना का विस्तार किया। अंबेडकर ने भी नारा दिया था कि 'शिक्षित बनो, संघर्ष करो'। उस समय अंबेडकर ने स्वयं खड़े होकर औरंगाबाद में एक इंजीनियरिंग कालेज, पॉलीटेक्निक और लॉ कालेज बनवाया था जो आज सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। उच्च शिक्षा संस्थान में साथ-साथ पढ़ते हुये, काम करते हुये, दलित और सवर्ण एक दूसरे को समझ सकेंगे और छुआ-छूत को मिटा सकेंगे। ये काम केवल बातों से नहीं होगा बल्कि व्यवहार में लाना होगा। अंबेडकर के अनुयायी समझते हैं कि सिर्फ़ सत्ता पर काबिज होकर ही दलितों का उत्थान होगा, यह अर्ध सत्य है। मायावती जी के सलाहकारों ने उन्हें नया एक फार्मूला बताया कि ब्राह्मण, बनियों, ठाकुरों को सत्ता संघर्ष में साथ लिया जाय जिससे पार्टी को जीत मिलेगी। उसी फार्मूले को मायावती जी अपना रही हैं। हमारी सभी बुर्जुआ पार्टियां पहले से यही कर रही हैं। मायावती भी उसी पुराने रास्ते पर चल रही हैं जिस पर तमाम सत्ता के अन्य आकांक्षी लोग चल रहे हैं।

लेकिन मायावती जी ने स्वयं राजनीति में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उन्होंने एक तरह से नया इतिहास रचा है। मायावती जी को अपने पुराने राजनीतिज्ञों की अपेक्षा सत्ता की राजनीति बेहतर आती है जिसका वे समय-समय पर इस्तेमाल करती हैं। ये राजनीति कभी गलत रास्ते पर भी ले जाती है। तब उनका दलित प्रेम छलावा बन जाता है। जाति-पांत का उन्मूलन करने के लिए तो लंबे संघर्ष और सही ऐतिहासिक समझ होनी चाहिए। इसके लिये नये भूमि संबंधों की स्थापना करके, दलितों की आर्थिक स्थितियों को बदलने के लिए निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। बिना आर्थिक संबंधों के बदले सामाजिक संबंध नहीं बदले जा सकते हैं। बिना चेतना और विचार के, सिर्फ सत्ता की राजनीति का रास्ता पूंजीवाद की ओर ले जाता है जहाँ समता और बराबरी पर आधारित समाज नहीं बन सकता।

मायावती जी इस रूप में सही हैं कि पुरानी भारतीय संस्कृति में दलित स्त्रियों का कोई सम्मान नहीं हुआ। नई संस्कृति के अभाव

...भारत की सामंती और पूंजीवादी संस्कृति हावी हो रही है। उसके ...अलग-अलग हैं लेकिन उसकी आत्मा एक है। भारत में जिस तरह से अबाध विदेशी पूंजी आई, अब उसका असर दिखाई दे रहा है। सामंती संस्कृति मूलतः कुलीन और अकुलीन व्यवस्था में बंटी हुई है। दलित और स्त्रियाँ सामंती संस्कृति में सिर्फ हाशिए पर बनी रहती हैं। पूंजीवादी संस्कृति में जातिवाद का विरोध है। राष्ट्रीय पूंजीवाद महिला और दलितों को समान अधिकार काग़ज पर देता है जबकि व्यवहार में लंबे संघर्ष के बाद भी वह अधिकार नहीं मिले हैं जिसके लिए संविधान ने वायदा किया था। यह सही है कि आज की व्यवस्था में दलितों को बहुत सम्मानजनक स्थिति मिली है। उनमें एक स्वाभिमान की चेतना पैदा हुई है। हालांकि आज भी भूमिहीन तथा सहायता वंचित कारीगर बड़ी संख्या में हैं। अब वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था में बदल गयी है।

1970 के बाद तो स्थिति बहुत बदली है। दलितों में एक बड़ा शिक्षित मध्यवर्ग पैदा हुआ है। उन्हें संगठित करने में कांशीराम जी का महत्वपूर्ण योगदान है। इस पार्टी ने 10 वर्ष में ही इतना चमत्कार किया कि एक दलित स्त्री को देश के मुख्यमंत्री पद पर पहुँचा दिया। सत्ता के जो दुर्गुण होते हैं, वे निश्चित रूप से उनके बहुत से सहयोगियों में भी आ गये जो आम दलित से कट गये हैं। इससे शक नहीं कि वे उसी व्यवस्था का अंग बन गये हैं जिसके विरोध में डा0 अंबेडकर और उनके सहयोगियों ने लंबी लड़ाई लड़ी। आज फिर उसी आधारभूत लड़ाई को आगे ले जाने की ज़रूरत है।

(कुँवरपाल सिंह)

वार्षिक घोषणा

(प्रपत्र-4 के अनुसार)

पत्रिका का नाम	:	'वर्तमान साहित्य'
भाषा	:	हिन्दी
प्रकाशन की समयावधि	:	मासिक
संपादक का नाम	:	कुँवरपाल सिंह
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-प्रथम, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
प्रकाशक का नाम	:	नमिता सिंह
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-प्रथम, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
मुद्रक का नाम	:	नमिता सिंह
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	28-एम0आई0जी0, अवन्तिका-प्रथम, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
स्वामित्व	:	प्रदीप नारायण राय
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	
मुद्रणालय	:	रुचिका प्रिंटर्स 10295, लेन नं0-1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32

सब शामिल होंगे विकास की यात्रा में

मध्यप्रदेश में विकास के नये सफर में समाज का हर वर्ग शामिल है। अब एक ऐसी व्यवस्था बनी है, जिसमें समाज के सबसे अंतिम व्यक्ति की भी चिंता हो रही है। सामान्य निर्धन वर्ग कल्याण आयोग, इसी प्रक्रिया का हिस्सा है।



"पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड़ से पैसा नहीं लेते। हम तो अपनी ओर से पूंजी लगाते हैं और जानते हैं कि पेड़ के फलने पर हमें फल मिलेंगे ही। समाज के हर व्यक्ति का विकास भी इसी प्रकार का विनियोजन है। विकसित व्यक्ति समाज और राज्य के लिए काम करेगा ही।"

पं. दीनदयाल उपाध्याय



सच्चे विकास का अर्थ होता है, जिसमें समाज का हर वर्ग शामिल हो।

भूख का जातीय और सांप्रदायिक वर्गीकरण करने के पहले यह देखें कि भूख और निर्धनता सबसे पहले एक आर्थिक संघटना है। हम प्रदेश के विकास में हर निर्धन व्यक्ति को जोड़ना चाहते हैं।

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री

सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय

राज्य सामान्य निर्धन वर्ग कल्याण आयोग

पिछले एक वर्ष से निरंतर आयोग ने निर्धनों के हित में अनेक अनुशंसाएँ की हैं। गरीबी को पुनर्परिभाषित करने और सामान्य निर्धनों के लिए योजनाएं बनाने में आयोग ने नयी मंजिलें तय की हैं।

दीनदयाल अंत्योदय योजना, मजदूर सुरक्षा योजना, लाड़ली लक्ष्मी योजना, दीनदयाल अंत्योदय मिशन, दीनदयाल रोजगार योजना, जैसी योजनाओं में जाति, धर्म, वर्ग के भेद मिटा कर इन्हें गरीबों तक पहुंचाया गया है। निर्धनों का कल संवारने, शिक्षा और रोजगार की योजनाएं शुरू हुई हैं।

- **सामान्य निर्धन वर्ग के छात्रों को छात्रवृत्ति** – शासकीय स्कूलों में कक्षा 6वीं, 7वीं और 8वीं में पढ़ रहे सामान्य निर्धन वर्ग के छात्रों को सालाना 200 रुपये तथा छात्राओं को 300 रुपये सालाना की छात्रवृत्ति मिलती है।
- **स्वामी विवेकानंद प्री मेट्रिक छात्रवृत्ति** के रूप में शासकीय स्कूलों में कक्षा 9वीं और 10वीं में पढ़ रहे सामान्य वर्ग के समस्त छात्रों को 300 रुपये और छात्राओं को 400 रुपये प्रतिवर्ष की छात्रवृत्ति मिलती है।
- **स्वामी विवेकानंद पोस्ट मेट्रिक प्रावीण्य छात्रवृत्ति योजना** के तहत प्रदेश के शासकीय विद्यालयों में 10वीं की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ग्यारहवीं में तथा 11वीं की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर 12वीं में पढ़ने वाले छात्रों को 500 रुपये प्रतिवर्ष तथा छात्राओं को 550 रुपये प्रतिवर्ष प्रावीण्य छात्रवृत्ति दी जा रही है।
- **सुदामा शिष्यवृत्ति योजना** के तहत उत्कृष्ट विद्यालय में अध्ययन करने वाले और छात्रावास में रहने वाले सामान्य वर्ग के निर्धन छात्रों को 500 रुपये प्रतिमाह और छात्राओं को 550 रुपये प्रतिमाह की शिष्यवृत्ति 10 माह के लिये दी जा रही है।
- **डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम मेधावी छात्र प्रोत्साहन योजना** के तहत प्रत्येक जिले के शासकीय विद्यालयों में 12वीं कक्षा में सर्वाधिक अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण होने वाले प्रत्येक संकाय के सामान्य वर्ग के निर्धन छात्र/छात्रा को 5000 रुपये की प्रोत्साहन राशि मिल रही है।
- **व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में विक्रमादित्य निःशुल्क शिक्षा योजना** के तहत शासकीय इंजीनियरिंग, मेडिकल, डेण्टल, आयुष, कृषि, वेटनरी, उद्यानिकी, वानिकी महाविद्यालयों तथा पॉलीटेक्निक तथा आई.टी.आई. में संचालित सभी पाठ्यक्रमों में सामान्य वर्ग के निर्धन परिवारों के छात्र-छात्राओं को निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराई जा रही है।
- **निःशुल्क पाठ्यपुस्तकें** – विद्यार्थियों के बीच भेदभाव समाप्त करने और सामान्य और पिछड़ा वर्ग के सभी विद्यार्थियों को सुविधा के उद्देश्य से शासकीय शालाओं में 9वीं से 12वीं तक अध्ययन करने वाले समस्त विद्यार्थियों को पाठ्यपुस्तकों का निःशुल्क वितरण होता है।
- **वीरांगना लक्ष्मीबाई सायकिल योजना** के तहत कक्षा 6वीं में प्रवेश लेने वाली ऐसी सभी बालिकाओं को सायकिल उपलब्ध कराई जा रही है, जिन्हें पढ़ाई के लिए अपने ग्राम से दूसरे ग्राम जाना पड़ता है। इसी प्रकार हाई स्कूल एवं हायर सेकेण्ड्री में पढ़ने वाली ऐसी सभी बालिकाओं, जिनके ग्राम में हाई स्कूल/हायर सेकेण्ड्री स्कूल नहीं हैं, को सायकिल वितरित जा रही है।
- **सांदीपनि संस्कृत भाषा प्रसार योजना** के तहत प्रत्येक विकासखण्ड में संस्कृत के अध्यापन के लिए संविदा शिक्षक वर्ग-3 का एक पद स्वीकृत किया गया है।
- **माँ सरस्वती अक्षय कोष** – निर्धन किन्तु प्रतिभावान एवं मेधावी छात्रों को उच्च शिक्षा की सुविधा मिल सके, इस दृष्टि से पर्याप्त राशि की उपलब्धता वाला उच्च शिक्षा ऋण गारंटी कोष स्थापित किया गया है।
- **आचार्य विद्यासागर गौ संवर्धन योजना** के तहत 10,000 महिलाओं को गौ संवर्धन योजना से लाभान्वित किया जायेगा। दुग्ध संघों के अंतर्गत मिल्क रूट्स पर 10 हजार महिलाओं को गाय दी जा रही हैं।



बाबूलाल जैन
अध्यक्ष
राज्य सामान्य निर्धन वर्ग कल्याण आयोग



सबकी तरक्की के ईमानदार प्रयास
मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश जनसंपर्क द्वारा जारी

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण



क्या पूजा क्या अर्चन रे!
उस असीम का सुंदर मंदिर,
मेरा लघुतम जीवन रे
मेरी श्वासें करती रहतीं,
नित प्रिय का अभिनंदन रे!

महादेवी वर्मा
(1907 - 1987)





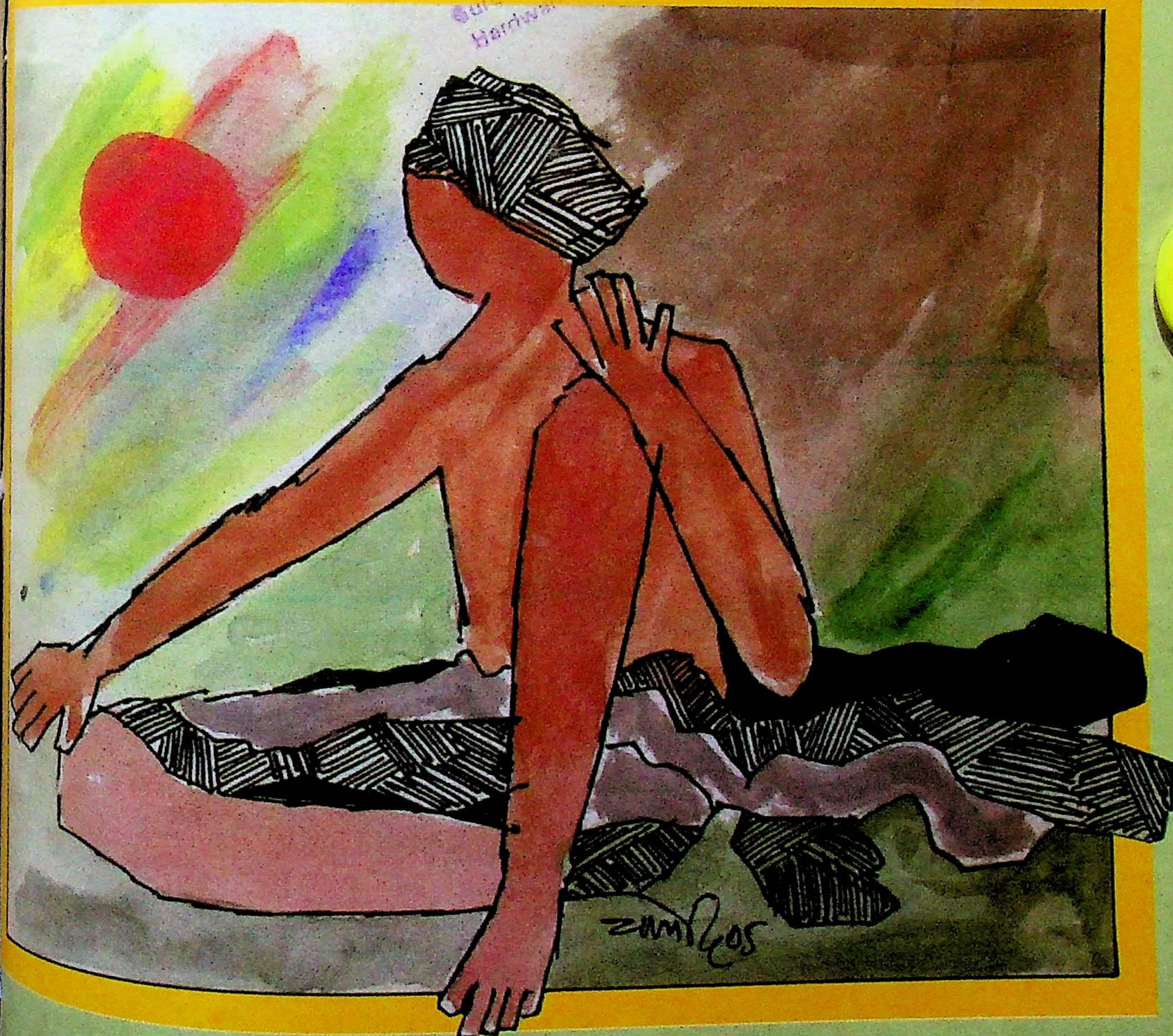
सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा 28, एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिंह

मई, 2009 ■ अठारह रुपये

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका



मलखान सिंह सिसोदिया कविता पुरस्कार-2009

हेतु प्रविष्टियाँ आमंत्रित हैं।

नियमावली :

1. पुरस्कार की राशि रु0 10 हजार होगी।
2. वर्ष 2009 के पुरस्कार हेतु 31 मई 2009 तक प्राप्त प्रविष्टियाँ ही मान्य होंगी।
3. 31 मई, 2009 को 50 वर्ष की आयु तक के रचनाकार ही इस पुरस्कार के लिए मान्य होंगे।
4. पुरस्कार हेतु काव्य कृति/ कविता संग्रह का प्रकाशन 31 मई, 2004 के उपरांत हुआ हो।
5. काव्य कृति/कविता संग्रह की चार प्रतियाँ कवि के संक्षिप्त परिचय के साथ 'वर्तमान साहित्य' के संपादकीय पते पर भेजी जायें।
6. कविता की मूल भावना जनोन्मुखी एवं धर्म निरपेक्ष हो।
7. पुरस्कार हेतु समिति चुनी गयी काव्य कृतियाँ/ कविता संग्रह तीन सदस्यीय निर्णायक मंडल को भेजी / भेजें जायेंगे।
8. निर्णायक मंडल के अभिमत के आधार पर पुरस्कार की घोषणा यथासंभव सितंबर, 2009 तक कर दी जायेगी।
9. निर्णायक मंडल का अभिमत अंतिम एवं मान्य होगा।

सम्पादक

वर्तमान साहित्य

28-एम.आई.जी., अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़

Fax : 0571-2742038

E-mail : vartmansahitya@gmail.com, vartmansahitya@yahoo.com

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

संस्थापक सम्पादक
विभूति नारायण राय

सम्पादक
कुंवर पाल सिंह ☐ नमिता सिंह

सह-सम्पादक
अजय बिसारिया ☐ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

[illegible]न्य सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव
[illegible]लाहकार : वेद शर्मा, बीकानेर
[illegible]शेष सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा
[illegible]ज्जांकन : बिसारत अली
[illegible]खपृष्ठ : चन्द्रमोहन दिनेश, शाहजहांपुर
[illegible]त्रांकन : जयंत, सासाराम, बिहार
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 ☐ मई, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001
टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114
Web. : www.khabarexpress.com
Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 18/-; ☐ वार्षिक : 200/-; ☐ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ☐ आजीवन : 2000/- ☐ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

इस अंक में

□

हिन्दी-साहित्य का प्रेमी होने के कारण मैं कई दिनों से इस तरह की पत्रिका की खोज में था, जो मुझे रेलवे स्टेशन पर मिल ही गई। यह मार्च, 2009 संस्करण की पत्रिका थी।

वर्तमान समय के उन्नत साहित्य का समावेश इस अतुल्य पत्रिका में मिला। आप प्रबुद्धजनों को हार्दिक धन्यवाद। पत्रिका में ग़ज़ल एवं कहानियों का अद्भुत समन्वय है। 'अपना ख्याल रखना' और 'उत्तरायण' कहानियाँ साहित्य की विकसित रचनाओं की द्योतक हैं। कोंकणी लघु कथाओं ने तो कल्पना का विहंगम दृश्य ही नयनों में उतार दिया।

'ज़ख्मों के दस्तावेज' ग़ज़ल बहुत हृदयस्पर्शी रचना थी। 'स्त्री-विमर्श' आपका शीर्षक इस पत्रिका के माध्यम से बहुत ही गहरा प्रभाव छोड़ता है।

मोहम्मद ज़फ़र, डुमरियागंज, सिद्धार्थनगर (उ0प्र0)

□

'वर्तमान साहित्य' का नारी-विमर्श पर केंद्रित अंक मार्च, 2009 पढ़ा, अच्छा लगा। 'अपनी बात' में आपने मंगलोर की घटना को उठाया है। इस लेख में मंगलोर के साथ-साथ अयोध्या की घटना, जो राजनीति से ओत-प्रोत थी, धर्म के नाम पर जाति व धर्मवादी संगठनों पर भी प्रहार किया गया है। ग़ौर करने की बात है कि हमारे संविधान में धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र की बात की गई है जिसमें जाति, धर्म, लिंग के भेदभाव के बिना समानता की बात सामने आती है। परंतु, आज हमारे देश में संविधान का जिस तरह से मखौल उड़ाया जा रहा है वह चिंतनीय है। सत्ता पर बैठने वाले लोग सत्ता तक पहुँचने के लिए धर्म, जाति और लिंग की सीढ़ी बनाकर सत्ता तक पहुँच रहे हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि संविधान और प्रशासन इनका कुछ नहीं कर पा रहा। नित्यानंद तिवारी जी ने अपने लेख में पद्मावत में स्त्री-विषयक सोच पर चर्चा की है। एक ओर यदि नागमती के पटरानी होने के बाद भी अधिकार न मिल पाने की बात सामने आती है तो दूसरी ओर नागमती के रूप सौंदर्य के कारण अभिमान की बात भी है। 'समय संवाद' में कुँवरपाल जी ने 'भगत सिंह से मुलाक़ात' के बहाने कुछ गंभीर मुद्दों पर चर्चा की है। एक प्रश्न बराबर दिमाग पर हथौड़ा मारता है कि गांधीजी ने वायसराय से भगत सिंह के फाँसी वाले मुद्दे पर चर्चा क्यों नहीं की ? मुझे लगता है, गांधी जी को शायद यह भ्रम रहा हो कि यदि भगत सिंह जीवित रहा तो उनकी छवि धूमिल हो जायेगी या उनका क़द छोटा हो जायेगा। शायद वे राष्ट्रपिता बनने का मोह छोड़ नहीं पाये। इसके साथ ही इस अंक की अन्य रचनाएँ स्तरीय रहीं।

गजेन्द्र नामदेव, सागर (म0प्र0)

□

'वर्तमान साहित्य' मार्च, 2009 प्राप्त हुआ। नारी-विमर्श पर केंद्रित यह अंक अपने उद्देश्य में सफल है। 'मातृत्व और नारी' व 'सुआ-संवाद खंड' लेख दृष्टिपरक हैं। यह तो निश्चित ही स्वीकार्य है कि नारी से संबंधित इतने संगठन सक्रिय हैं फिर भी 'नारी' को नारी-रूप में, मानव के रूप में स्वीकार्यता और समानता के आधार पर भागीदारी का कहीं भी अता-पता नहीं। सभी कहानियाँ अच्छी हैं। 'भगत सिंह से एक मुलाकात' प्रस्तुत करके डॉ0 कुँवरपाल सिंह ने श्रेयस काम किया है। 'वर्तमान साहित्य', आँख-कान और जुबान खुले रखकर प्रेरणा देने के दायित्व को निभा रहा है।

हरपाल सिंह 'अरूष', मुजफ़्फ़रनगर

□

'वर्तमान साहित्य' मार्च, 2009 नारी-विमर्श पर केंद्रित अंक सुंदर लगा। मेरी हार्दिक बधाई। 'अपनी बात' ज्वलंत विषय की ओर संकेत करती है। 'स्मरण' के अंतर्गत दया दीक्षित 'सुमन राजे' को याद करती हैं। याद करने की यह परंपरा हमेशा जारी रहनी चाहिए। 'मातृत्व और नारी' विषय पर मैथिली प्रसाद भारद्वाज का विशेष आलेख सही मायने में विशेष है। यह आलेख समस्या और समाधान दोनों बताने में सक्षम है। सभी कहानियाँ अच्छी हैं। विशेषकर 'अपना ख़्याल रखना' और 'रामवती'।

खगेन्द्र ठाकुर की लंबी कविता 'वह जूता' संकेत रूप में बहुत कुछ बयाँ करती है। विमला सिंह की ग़ज़ल भी आकर्षित करती है—"वो लिखते हैं उनको अहंकार है", ऐसे साहित्यकार की अब ज़रूरत नहीं।

मनांनंद 'हर्ष', पूर्णियाँ (बिहार)

□

'वर्तमान साहित्य' का मार्च, 2009 अंक पढ़ा। नारी-विमर्श को समर्पित यह अंक नारी-जीवन की विविध विसंगतियों को प्रस्तुत कर उनका समाधान भी ढूंढ़ पाने में सफल तो रहा ही, बेजोड़ भी था। हम नारी-मुक्ति व सम्मान की बातें तो बहुत करते हैं, सेमिनार आयोजित करते हैं, पर आज तक 33 प्रतिशत की भागीदारी भी उन्हें नहीं दिलवा पाये। जिसे माँ, बहन, पत्नी, बेटी का सम्मान देते हैं उसे कोख में ही मार कर ख़त्म कर देने की क्रूर परंपरा भी हम ही निभाते हैं। कम-से-कम उनकी अस्मिता के सवालों को शोधपूर्ण, सशक्त तरीके से उठा पाने की पहल व उन्हें सम्मान दिलाने की कोशिश तो पत्रिका ने की है, बहुत बधाई। नमिता सिंह का संपादकीय कई ज्वलंत मुद्दे भी उठा गया। पंक्तियाँ मन को छू गयीं, "अपने अपने धर्म के हवाले से हम यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि केवल उनका ही

है जो स्त्री को सम्मान देता है।... स्त्री तो देवी है... जननी ...त्र नार्यस्तु पूज्यन्ते... वग़ैरह, मगर इसके विपरीत प्रसंग भी ...के ग्रंथों में मौजूद हैं, उनका उल्लेख क्यों नहीं?'' संस्मरण 'अपनी याद से कह दो' और कहानी 'अपना ख्याल रखना' ...ी लगीं। श्री मैथिली प्रसाद भारद्वाज का लेख 'मातृत्व और ...' विशेष रूप से पसंद आया। समाज में एक बेटी से संघर्ष ...ाया कथा प्रस्तुत करती कहानी'' 'उड़ान भरते' मार्मिक ...। विजय शर्मा लिखित 'पर्ल बक' पर लेख बहुत ही अच्छा ...। वे हमेशा शोधात्मक व नयी उद्‌भावनाओं को प्रस्तुत करती हैं, बधाई। कविताओं में खगेन्द्र ठाकुर की कविता 'वह जूता' ...हकीरत कलसी की 'जख़्मों के दस्तावेज़' अच्छी लगी। ...आलेख के रूप में पद्‌मा पाटील की कहानी 'धरती की बेटी' ...नमिता जी कृत ''संघर्षशील औरतों की दास्तान अच्छी रही। ...भी 'वर्तमाान साहित्य' एक सशक्त, जागरुक व आधुनिक ...वाली पत्रिका का दायित्व इसी प्रकार निभात रहेगा, इसी ...ा व विश्वास के साथ मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

पद्‌मा मिश्रा, जमेशद्पुर

□

...मान साहित्य' का नारी-विमर्श पर केंद्रित अंक हासिल हुआ। ...त कुलश्रेष्ठ की पुस्तक चर्चा ''सौ वर्ष....'' बड़ी ही रुचिकर ...ी और सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी 'उत्तरायण' ज़िंदगी से ...न का विस्तार बढ़ाने में सफल रही। आपकी पत्रिका को ...े की लालसा हमेशा बनी रहती है।

देवीनागरानी, मुंबई

□

...मान साहित्य' का नारी-विमर्श अंक बहुत अच्छा बन पड़ा है। ...ा मुनीन्द्र की कहानी 'अपना ख्याल रखना' एक ज़बरदस्त ...ी है और नारी आयाम के सबसे नये और अनूठे पहलू को ...ती है। इतनी असम्पृक्ति के बावजूद मन की जो कोमल ...ृतियाँ हैं, उनका स्फुरण हो ही उठता है। नारी की इन ...न संवेदनाओं को आज की प्रोद्योगिकी और विज्ञान कभी ...ा नहीं सकता और तभी तब यह सृष्टि भी विद्यमान है।

कैलास चन्द्र, रीवाँ

□

...ी अंक ठीक-ठिकाने का है। जीवन सिंह ने अपने लेख में ...त पूँजीवाद के मायाजाल और उसके शुरू हो चुके पतन की ...ड़ताल की है। जिन कारकों के चलते भारतीय अर्थव्यवस्था ...क वैश्विक मंदी से कुछ बची है, उन्हें पहचान कर, मजबूत ...ाना चाहिए। इस सवाल पर बहस भी होनी चाहिए कि ...विरोधी और वित्तीय-जाल पर आधारित उदारवादी व्यवस्था ...जनतंत्र-विरोधी नहीं है ?

सुजीत कुमार सिंह ने जो मुद्‌दा उठाया है वह विचारोत्तेजक है, लेकिन उन्होंने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए ...ने साक्ष्य नहीं दिये हैं। उन्होंने यह तो कह दिया कि, ...न्दुयुगीन साहित्यकारों ने अपने समय के मुसलमानों के ...े जो कुछ किया, वही काम अब हिन्दू संगठन अत्यधिक घिनौने रूप में कर रहे हैं, लेकिन प्रमाण के तौर पर न उस युग की किसी रचना का उल्लेख किया है, न ही किसी पत्रिका में छपी सामग्री का। उन्होंने लिखा है कि 'नवजागरणकालीन पत्र-पत्रिकाओं के अधिकांश लेख ईसाई-मुस्लिम विद्वेष से भरे पड़े हैं।' प्रमाण के लिए केवल 'मर्यादा' और 'अभ्युदय' से सामग्री उद्धृत की गयी है। क्या उस समय केवल यही दो पत्रिकाएँ थीं ? या, ये ही दोनों तत्कालीन पत्रकारिता की प्रतिनिधि पत्रिकाएँ हैं ? वैसे भी, ये दोनों राजनीतिक थीं। तत्कालीन साहित्य-जगत की दिशा को इनके आधार पर ठीक-ठीक तय नहीं किया जा सकता। 'सरस्वती' की दलित विरोधी भूमिका बताने के लिए, दशकों तक चलने वाली इस पत्रिका के बस एक लेख का ज़िक्र किया गया है। सुजीत जी लिखते हैं कि, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी के एक पत्र से ज्ञात होता है कि बाद में वे उर्दू मिश्रित हिन्दी के विरोधी हो गये।' प्रमाण के रूप में वह उनके एक पत्र का हवाला भी देते हैं, लेकिन पत्र का जितना हिस्सा उद्धृत है वह लेखक के इस निष्कर्ष के एकदम विरुद्ध जाता है।

यह ठीक है कि सांप्रदायिक विद्वेष को भड़काने में मुस्लिम लीग के साथ-साथ उस हिन्दू वर्ग का भी हाथ था, जिसमें कुछ कांग्रेसी भी थे, कुछ लेखक भी थे, हिन्दू महासभा के लोग तो थे ही। ये सामंतवादी नेता-लेखक सामाजिक सुधार के भी विरोधी थे, लेकिन इस मामले में अंग्रेज़ों को 'क्लीन चिट' नहीं दी जा सकती और दलितों-मुसलमानों की स्थिति में तथाकथित सुधार के लिए उनकी नीतियों के वास्तविक उद्देश्य को नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा सकता; जैसा कि इस लेख में सुजीत कुमार सिंह करते हुए दिखायी देते हैं। डॉ0 बाबा साहब अंबेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज' खण्ड-12 के पृष्ठ सं0-95 पर डॉ0 अंबेडकर का यह कथन दर्ज है-'ब्रिटिश हुकूमत ने जानबूझ कर यह तय किया कि शिक्षा पर उच्च वर्णों का ही अधिकार रहना चाहिए।' 1925 में संयुक्त प्रांत में तथा 1927 में पंजाब के कानून बनाकर पुलिस में अछूतों की भर्ती पर रोक दी गयी थी। बंबई महाप्रांत के वतन-कानून के बारे में बताने की ज़रूरत नहीं। ज़मींदारी व्यवस्था ब्रिटिश हुकूमत ने ही बनायी थी, जिसके द्वारा दलितों के शोषण की कहानी अंतहीन है। देश-विभाजन के लिए ज़िम्मेदार मुस्लिम लीग (कांग्रेस और हिन्दू महासभा भी जिम्मेदार हैं) का भी जन्म 1906 में अंग्रेज़ों के ही संकेत पर हुआ था। भारत के वायसराय मिण्टो ने अपने भाषण में इशारा किया कि मुसलमानों को अपने लिए विशेष अधिकारों की माँग करनी चाहिए। रजनी पामदत्त ने 'इण्डिया टुडे' में मिण्टो के नाम मौलवी का पत्र उद्धृत किया है, जिसमें इस भाषण का उल्लेख है। संकेत से प्रेरित होकर मुसलमानों का प्रतिनिधि मण्डल मिण्टो से मिला और तुरंत उनकी माँगें स्वीकार कर ली गयीं।

'समय-संवाद' में कुँवरपाल सिंह जी की यह चिंता वाजिब है कि पूँजीवाद-बाजारवाद हमारी संस्कृति के मूल तत्व-मनुष्य और प्रकृति के सघन रागात्मक संबंधों को नष्ट कर, मनुष्य को एक दूसरे ढंग से विपन्न बना रहा है क्योंकि उसमें हर चीज़ बेचने के लिए है। उसकी महत्ता बाज़ार में उसकी माँग से तय

होती है। बिहार में कोसी नदी की प्रलयंकारी बाढ़ पर रपट तथ्ययुक्त भी है और मर्मस्पर्शी भी। कवि एकांत श्रीवास्तव की शीघ्र प्रकाश्य आत्मकथा 'मेरे दिन मेरे वर्ष' के प्रकाशित अंश ने उनके बारे में उत्सुकता बढ़ा दी है।

सैन्नो अशेष का उपन्यास-अंश पढ़कर मन-मस्तिष्क को कुछ हासिल नहीं हुआ। चाबी भरे खिलौने की तरह पात्र, पात्रों की भाषा में उनके आदिवासी होने की पहचान सिरे से ग़ायब, दार्शनिक एवं प्रवचननुमा संवाद, अस्वाभाविक कथा-गति, कहानी कैसे रचे! पर्वतीय आदिवासी-समाज के चित्रण में मौजूद विसंगतियाँ उसे अविश्वसनीय बनाती हैं। सैन्नी अशेष को इन बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए। (स्नोवा बार्नो का नाम इसलिए नहीं ले रहा हूँ क्योंकि उनका होना ही विवादित हो गया है। वैसे, प्रसंगवश कहना चाहूँगा कि जो लोग इसलिए आक्रोशित हैं और स्नोवा बार्नो के नाम से छपी रचनाओं को खारिज कर रहे हैं कि स्नोवा बार्नो नाम का कोई है ही नहीं; सैन्नी अशेष ही इस नाम से लिख रहे हैं, उन्हें इस निहायत ग़ैरज़रूरी मुद्दे को छोड़कर रचनाओं की मूल्यवत्ता पर विचार करना चाहिए)। 'वक्त बदल रहा है' शीर्षक कहानी सचमुच वक़्त के बदलाव की 'लाइव टेलीकास्ट'-सी है। कहानीकार ने ऐसी आश्वस्तकारी मुद्रा में दलितों-शोषितों के प्रतिरोध को सही मुकाम तक पहुँचाया है कि भीतर मजबूती भर जाती है। 'ज़िंदगी के रंग' कहानी हमारी सामाजिक संरचना के उस हिस्से की कहानी है जहाँ अर्थहीन रूढ़ियों का धुआँ बहुत गाढ़ा होता है। खुलकर साँस लेने के लिए उसमें से निकलना नहीं पड़ता है। बहुत ही परिचित परिवेश कहानी को ग्राह्य बनाता है।

इस अंक का संपादकीय साहित्य की दुनिया में बढ़ रही धंधई पर चिंताकुल करने वाला है। कविताओं, गीतों और ग़ज़लों का चयन अच्छा है।

उन्मेष कुमार सिन्हा, गोरखपुर

□

फरवरी, 2009 का वर्तमान साहित्य मिला, हिमालयी कहानी शिल्प कथ्य की दृष्टि से उच्चतम ऊँचाई पर आ गई। राजीव शर्मा की 'शैम्पेन' सुखात्मक है। कचरा नहीं तो मुर्गियाँ पालो, झगड़ा नहीं तो पत्नी की सौत पालो। शैलेय की कहानी-ग़रीबी व प्रशासन की उदासीनता तले आदमी जीवन का उपभोग नहीं कर पाता। ताप संतापित ओड़िया कहानी 'दूर अंतरिक्ष' दीपक भाँति जल रही है।

अशोक भाटिया ने पानी को आँखों में देखा। राजेश चक्र की दूर दृष्टि आँखों में पानी ला देती है। हिन्दी-उर्दू एक दूसरे बिना टिक नहीं सकतीं। चक्र की दूसरी लघुकथा ने भी अभियंता को शर्मसार कर पानी पिलाया। जीवन सिंह का लेख क्रमागत विकास से अर्थव्यवस्था की मजबूती दर्शाते हुए स्पष्ट करता है—"करोड़ों किसान मज़दूर पूँजीवादी व्यवस्था में बर्बाद हुए" मनमोहन सिंह को वैश्विक पूँजी के लिए सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री का तमग़ा दिया गया था कि, बहुराष्ट्रीय हितों में काम कर सकें। सुजीत सिंह के लेखन से उजागर हुए उर्दू के प्रति सांप्रदायिकता हिन्दी पट्टी में हिन्दी भाषियों द्वारा की गयी। इसीलिए हसन जमाल ने समयांतर फरवरी, 2009 के पत्र में लिखा है कि 'क्षेत्रीय बोलियों और भाषाओं की तो बात की जाती है पर उर्दू को हिन्दी में ही समाहित मान लिया है। यदि उर्दू स्वतंत्र बोली अथवा भाषा नहीं है तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा (मुंबई) दो लिपियों में 'हिन्दुस्तानी जबान' पत्रिका क्यों निकालती। इस लेख में "मनुष्य धर्म परिवर्तन क्यों करता है" बहस के लिए मुद्दा उठाया है। सार्थक है। प्रलयंकारी बाढ़ सामाजिक त्रासदी है। कुदरत से मत खेलो। खेलते हो तो सुदृढ़ बनो।

वसंती पर्यावरण पर पूँजीवादी धनलिप्सा और बाजार पर कुँवरपाल जी ने ख़बर ली जो अनमोल है। पपीहा, खंजन, हारिल की गूँज से जंगल पेड़-पौधे आबाद थे। दोनों को मुनाफ़ाखोरों ने नष्ट कर डाला। बाग़-बग़ीचों को कृत्रिम बाज़ार-दरबार बना डाला। तमाम न्यायविरोधी सियासतों के बीच संपादकीय कलम चाहू है।

यशवंत मेश्राम, राजनांदगांव

□

(9) वसंत ऋतु के आगमन का स्वागत करता फरवरी, 2009 माह का अंक पढ़ा। 'वर्तमान साहित्य' उत्तम साहित्यिक पत्रिका की परिभाषा में पूर्ण रूप से खरी उतरती है। अतः आलोचनात्मक टिप्पणियों से विचलित नहीं होना चाहिए। 'समय संवाद' में कुँवरपाल सिंह का लेख पढ़ा। आज पर्यावरण के प्रति लोगों में जागरुकता पैदा करने के लिए अनेक प्रयास हो रहे हैं, विद्यालयों में 'पर्यावरण अध्ययन' को एक अनिवार्य विषय बना दिया गया है। पर्यावरण सुरक्षा को अपनी नैतिक जिम्मेदारी समझने का वक़्त आ गया है। कहानियों में सबसे अधिक प्रभावित किया शैलेय की कहानी 'यह कोई लीला नहीं है' ने।

कहानी-'ज़िंदगी के रंग' में असग़र चाचा का पुनर्विवाह का निर्णय बिल्कुल सही लगा, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि चाचा की जगह चाची होती तब भी क्या घर के बुज़ुर्ग इस क़दम को उचित ठहराते? 'आप बीती' स्तंभ के अंतर्गत एकांत श्रीवास्तव का लेख पढ़ा। स्मृतियाँ भी बड़ी अद्भुत होती हैं। अतीत में बिताये सुखद-दुखद क्षणों की झाँकी किसी फिल्म के दृश्यों जैसी हैं।

हिमालयी संस्कृति, वहाँ के रहन-सहन, आस्था-विश्वास तथा सामाजिक संरचना को दर्शाती कहानी 'अप्सराओं का देश' भी पठनीय है। इस प्रकार विविध रंगों को सहेजे यह अंक भी उत्कृष्ट है।

आरती त्रिपाठी, कानपुर

□

'वर्तमान साहित्य' के जनवरी, 2009 अंक में प्रो. रमेश कुंतल मेघ का डी.डी. कोसांबी पर लेख पढ़ना प्रीतिकर लगा। इतनी बड़ी विभूति को केवल 'वर्तमान साहित्य' ने याद किया। दूसरी चीज़ वशिष्ठ अनूप की ग़ज़लें। हिन्दुस्तानी ज़बान में ऐसी ग़ज़लें पढ़ना सचमुच समृद्ध अनुभव है।

पल्लव, उदयपुर

''नारी विमर्श से जुड़े कुछ व्यावहारिक सवाल''

श्रीनिवास शर्मा

...विमर्श पर केंद्रित मार्च, 2009 का अंक प्राप्त हुआ। पिछले कुछ वर्षों में नारी-विमर्श पर केंद्रित राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ...लेखिकाओं की रचनाएँ पढ़ता रहा हूँ। केट मिलेट की पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलीटिक्स' को पढ़ा है। यह अपने ढंग की अकेली ...क है और भिन्न नज़रिए से लिखी गयी है। नोवेल पुरस्कार प्राप्त ब्रिटेन की डोरिस लेसिंग ने भी महिलाओं पर लिखा है।

नारी-विमर्श सं संबंधित कुछ सवाल अब भी मुझे परेशान करते हैं। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, मैं इस दावे को सच कह ...ता हूँ कि महिलाओं की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। शहरों की बात जाने दें। अपवाद तो हर जगह मिल ...गे। गाँवों, उपनगरों, कस्बों में नारियों की स्थिति अब भी यथापूर्व है। अर्थात् आज भी वे सामंती मान्यताओं की शिकार हैं। 'सेक्स' के नाम पर औरतों को इस्तेमाल करने की एक नज़ीर चाँद और फिज़ा की तो है ही। हजारों स्त्रियाँ आज भी ...त्कार का शिकार होती हैं। हजारों में कोई एक घटना टी0वी0 के किसी चैनल पर दिख जाती है।

दहेज-विरोधी अधिनियम के बाद दहेज-प्रथा बुरी तरह बढ़ी है। दहेज से परेशान परिवारों में आत्म-हत्याएँ आम बात हैं। वर्षों ...ं कानपुर महानगर की तीन बेटियों ने एक साथ (दहेज दानव के चलते) आत्महत्या कर ली थी।

कुछ पढ़ी-लिखी औरतें तो पुरुषों के अत्याचार के भय से आजन्म कुँवारी रह जाती हैं। विवाह-बंधन में फँसने से विवाह के ...ला जीवन कहीं बेहतर लगता है। दहेज के चलते लोग-बाग बर्बाद हो जाते हैं। जगह-ज़मीन बेचने पर भी दहेज समस्या हल ...हीं हो पाती। और फिर जगह-ज़मीन सबके पास है भी कहाँ? दहेज देने पर भी और अधिक दहेज की माँग ससुराल वालों की ...र से होती है। पति, सास-ससुर सभी मिलकर विवाहिता को परेशान करते हैं। अंत में ऊबकर वधु आत्म-हत्या करती है। क्या ...धान है इस समस्या का?

मेरे एक मित्र (जो कि अच्छे परिवार के थे और बैंक में अधिकारी थे) ने दहेज-माँग से तंग आकर रेल से कटकर आत्महत्या ...र ली। मेरे एक अन्य परिचित के पूरे परिवार ने ज़हर खा लिया।

मेरे एक मित्र हैं। अवकाश प्राप्त अध्यापक हैं। चार बेटियाँ हैं। एक का विवाह न हो सका। रक्तचाप और मधुमेह से पीड़ित पिछले पाँच वर्षों से इधर-उधर दौड़ रहे हैं। कोई दस लाख नक़द माँगता है तो कोई नकद और 'कार' की फ़रमाइश करता ...शेष सारा खर्च लड़की वाले को वहन करना होगा। एक दिवंगत प्रगतिशील लेखक, बिहार के एक प्रगतिशील गीतकार के घर ...के विवाह का प्रस्ताव लेकर गये थे। गीतकार महोदय नहीं थे। पत्नी ने कहा 'देखिए न, एक सज्जन आरा के हैं। तीन लाख ...द, गहना तथा 'कार' अपनी इच्छा से दे रहे थे। बाबू ने उन्हें दरवाज़े से लौटा दिया। मेरे मित्र ने जल भी नहीं पीया। बैरंग ...स आ गया। उन्होंने तत्काल प्रगतिशील लेखक संघ से त्याग-पत्र दे दिया था।

मेरे एक परिचित की बेटी ने दहेज से पिता को बचाने के लिए एक मुस्लिम युवक से शादी कर ली। वहाँ भी गुज़ारा न ...सका। शरीर पर मिट्टी का तेल डालकर आग लगा ली और मर गयी। उसके पति की पहले से ही दो बीबियाँ थीं और वह ...बी तथा जुआरी भी था।

इस प्रकार की अनेक घटनाओं का मैं चश्मदीद गवाह हूँ। एक परिवार ने दहेज की मांग से तंग आकर अपनी बेटी एक ...से ब्याह दी। गाँवों का तो और बुरा हाल है। वहाँ तक किसी की आवाज़ नहीं पहुँचती। कोई मीडिया, कोई दूरदर्शन वहाँ ...पहुँचता। स्वयं मैं इस प्रथा का भुक्तभोगी रहा हूँ।

गाँवों में आज भी जातिवाद और सामंतवाद के स्तूप क़ायम है। राजनीतिक चेतना भले हो पर अन्य मामलों में गाँवों में कही ...कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। हाँ, कुछ लोगों के पास पैसे हो गये हैं। राजनीतिक बुराइयाँ बढ़ी हैं। पंचायत के चुनाव में ...र खून ख़राबा होता है। प्रतिशोध की राजनीति भी होती है। यह सच है कि गाँव, गाँव को खा रहा है। कुछ लोगों के घर ...के अवश्य बन गे हैं पर, उनका मन नहीं बदला है, विचार-व्यवहार में आज भी वे पूरी तरह सामंती जड़ता से ग्रस्त हैं। आज़ादी ...द गाँवों में नयी बुराइयाँ प्रवेश कर गयी हैं। देहज प्रथा उनमें एक है। दहेज-प्रथा पहले की ही तरह है, आज उसने वीभत्स ...ले लिया है।

क्या इसका संबंध केवल पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था से है ? महिलाएँ भी (सास, बहुओं पर उसी तरह अत्याचार करती ...नौकरी पेशा औरत भी उसी तरह सतायी जाती हैं। इसके भी कई उदाहरण सामने आये हैं। सोच और मानवीयता के क्रांतिकारी ...न के बिना इन समस्याओं का समाधान दूर की कौड़ी ही प्रतीत होता है।

कोलकाता (प0बंगाल)

डॉ0 अम्बेडकर का दुख

सूरज पालीवाल

'वर्तमान साहित्य' का अप्रैल, 2009 अंक। आपने डा0 अंबेडकर के चिंतन पर केंद्रित कर उनके योगदान को फिर से रेखांकित करने का अवसर दिया। अपने संपादकीय में आपने रीता नाम की जिस लड़की के माध्यम से समाज की जिस मानसिकता को उभारा है, वह पूरे अंक पर भारी है। डा0 अंबेडकर ने जाति-प्रथा के उद्भव पर विचार करते हुए कहा था कि केवल ब्राह्मणों के द्वारा जाति-प्रथा को बचाये रखना संभव नहीं था, यह नीची और पिछड़ी जातियों में ऊँचा उठने की मानसिकता का परिणाम है। रीता जैसी भावुक लड़कियों के दुख का कारण भी जाति को छुपाने में ही है। यदि, उनमें यह साहस आ जाये कि वे धड़ल्ले से अपनी जाति बता सकें तो फिर दुख भी निर्मूल हो जाता है। आज दलित-वर्ग और विशेष रूप से वह दलित-वर्ग जो सरकारी नौकरियों पर काबिज़ है अपने ही समाज को घृणा की दृष्टि से देखता है, अपने ही अनपढ़ रिश्तेदार उसे अस्पृश्य लगते हैं। इसलिए सफेद कॉलर दलितों ने ब्राह्मणवाद के उन पाखंडों पर विश्वास करना आरंभ कर दिया है, जो विश्वास उन्हें और उनके पूर्वजों को अछूत बनाये रखने में कामयाब रहे थे। डा0 अंबेडकर ने कहा था कि 'जाति-व्यवस्था का आधार ईश्वरीय है। अतः आपको इस पवित्रता और देवत्व को नष्ट करना होगा, जो जाति व्यवस्था में समाया हुआ है। अंतिम विश्लेषण के रूप में, इसका अर्थ यह है कि आपको शास्त्रों और वेदों की सत्ता समाप्त करनी होगी।' तथा 'यदि आप जाति प्रथा में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिये आपको हर हालत में वेदों और शास्त्रों में डायनामाइट लगाना होगा क्योंकि वेद और शास्त्र किसी भी तर्क से अलग हटाते हैं और किसी भी नैतिकता से वंचित करते हैं।'; तो अच्छी नौकरियों में बैठे दलित यदि उसी तरह व्रत, उपवास करना शुरू करते हैं, घरों में मंदिर बनाकर घंटियाँ बजाते हैं, तीर्थों में जाते हैं तथा देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कथा पारायण करते हैं तो यह संस्कार ब्राह्मणवाद का है इसका मतलब आप डा0 अंबेडकर के विरोध में जाकर ब्राह्मणों से घृणा और ब्राह्मणवाद को शिरोधार्य कर रहे हैं। दरअसल, डा0 अंबेडकर के बाद दलित समाज में ऐसा कोई नेता नहीं हुआ जो खुलेआम अपने जीवन को दाँव पर लगाकर व्यापक दलित हित में विचार कर सका हो। दलित समाज की समस्याओं की अनदेखी कर दलितों ने नौकरी और सत्ता में हिस्सेदारी पर अधिक ज़ोर दिया लेकिन इससे आम दलित का कोई भला नहीं हुआ। बल्कि इससे समस्याएँ और बढ़ीं। आम दलित आज भी ग़रीब और अस्पृश्य है। नौकरी पाये दलितों को दलितों से कोई हमदर्दी नहीं रही और दलित राजनेताओं को अपने राजनीतिक कैरियर को आगे ले जाने की चिंता रही। यही कारण है कि दलित राजनीति के नाम पर पहले बाबू जगजीवनराम और अब मायावती अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंक रही हैं। वे दलितों की बात तो करती हैं पर दलित हितों के लिये संघर्ष नहीं करतीं। ब्राह्मणों को साथ लेकर दिल्ली की गद्दी पर नज़र गड़ाये मायावती से कोई पूछे कि आपका उद्देश्य दलित हित है या प्रधानमंत्री का पद ? जो लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि अब दलित दूल्हा घोड़े और कार में जाता है उन्हें राजस्थान के गाँवों का भ्रमण करना चाहिये और देखना चाहिए कि दलितों की गाँव में आज क्या स्थिति है? कई वर्ष पहले जोकहरा में एक दलित परिवार में हम लोग नाश्ता करने गये थे। वहीं बसपा के विधायक जो पिछड़ी जाति से थे, दूर चारपाई पर बैठे थे। उन्होंने दलित के घर नाश्ता करना उचित नहीं समझा। अभी, पिछले दिनों मैं आगरा गया था। वहाँ उच्च शिक्षा के एक अधिकारी मि0 सिंह से मुलाकात हुई। बात मायावती के कुशासन पर चली। वे इस बात से बहुत नाराज़ हुए कि मैं मायावती को आदरणीय बहनजी न कहकर मायावती कह रहा हूँ और मीडिया की ख़बरों के आधार पर उन्हें भ्रष्ट भी सिद्ध कर रहा हूँ। मैं चाहता था कि वे मेरी बातों का तर्कसंगत जवाब दें लेकिन ऐसा नहीं हुआ, बल्कि वे चीखने चिल्लाने लगे और मुझे डराते हुए कहा कि आपको गिरफ़्तार किया जा सकता है। मैंने कहा कि यदि यही लोकतंत्र है तो मुझे अपनी गिरफ्तारी स्वीकार है। हमारी इस बहस में हमारे एक मित्र जो उन्हें लेकर आये थे बार-बार इशारा करते रहे कि सिंह साहब दलित हैं, इसलिये इस प्रकार की बहस मत करो। लेकिन मुझे लगा कि तर्कसंगत बहस तो लोकतंत्र को मज़बूत करती है। मैं इसलिये चुप रहूँ कि सामने वाला दलित है और मायावती जी ने उन्हें यहाँ प्रयोजनवश लगाया है। मैं सही अर्थों में आज भी नहीं सोच पा रहा हूँ कि ऐसा दलितवाद मायावती जी को कैसे प्रधानमंत्री बना पायेगा। यदि वे प्रधानमंत्री बनती भी हैं तो लोकतंत्र कैसे साँस ले पायेगा ? यह एक अलग प्रकार का जातिवाद है जो संकीर्ण और तानाशाह बनने के रास्ते पर ले जा रहा है जबकि डा0 अंबेडकर ने कहा था कि 'जाति व्यवस्था की नींव पर आप कोई निर्माण नहीं कर सकते। आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। जाति व्यवस्था की नींव पर आप कोई निर्माण नहीं कर सकते। जाति व्यवस्था की नींव पर आप कोई निर्माण करें, वह चटक जायेगा और कभी भी पूरा नहीं होगा।' क्या मायावती जी और उनके दलित हितैषियों को डा0 अंबेडकर की यह सीख बासी और बेकार लगती है? यदि हाँ, तो जातिवाद के बढ़ते दौर में रीता जैसी लड़कियाँ इसी तरह अवसादग्रस्त होती रहेंगी।

डा0 अंबेडकर ने कहा था कि मैंने बहुत दुख और उपेक्षा के बीच इस संघर्ष को जारी रखा है। यदि आप इसे आगे न ले जा सकें तो पीछे मत ले जाना।' जातिवाद की राजनीति करने वाले क्या इस आंदोलन को पीछे नहीं ले ज़ा रहे हैं ?

अपनी बात

र के कामकाज में हाथ बटाने के लिये बेबी मेरी नयी सहायक थी। पुरानी सहायक बीमार थी और गाँव चली गयी थी। बेबी के हिस्से में कपड़े धोना और कमरों में साज-सफ़ाई करना था। पहले दिन वह आई और काम करके चली गयी। दूसरे दिन उसका सामना हमारी मिसरानी से हो गया। वह पिछले दस साल से हमारा खाना बना रही है, इस नाते घर के इंतजाम में दखल देना उसके अधिकार में शामिल है। उसने बेबी को सर से पैर तक देखा ! फिर नाम पूछा। नाम बता दिया। उससे नहीं रहा गया,

–"कौन जात हो..." वह चुप रही और ऊपर चली गयी, कपड़े धोने।

जब वह नीचे लौट कर आई तो मिसरानी से फिर नहीं रहा गया।

–कहाँ रहती हो...

–क्वार्सी। नाले के पीछे...

–नाले के पीछे ? उसने भौंह चढ़ाई, 'वहाँ तो...'

–ना। मैं नाले के अगाड़ी हूँ, शुरू में...

उसके जाते ही मेरी क्लास शुरू हो गयी—कहाँ-कहाँ से, किसको-किसको बुला लेती हो...

–क्यों! अब क्या हुआ !

–अरे, क्वार्सी के नाले के पीछे तो पूरा मेहतर टोला है...

–तो!! मैं फिर भी अनजान बनी रही।

–मैं दूसरी ले आऊँगी कपड़े धोने वाली,

–नहीं भाई! बिना बात तो काम से मैं हटाऊँगी नहीं... काम तो बेबी ही करेगी, तुम चाहो तो...

यह हमारे समाज का बेहद टूटा-फूटा और दरारों से भरा चेहरा है। ये दरारें हमारे चरित्र का हिस्सा हैं। जहाँ सब कुठ ठीक-ठाक सामान्य चल रहा है, वहाँ भी हम दरारें खींचकर समाज को टुकड़ों में बांट देते हैं। हमारे संयुक्त परिवारों में तो यह दरार-व्यवस्था पिछले हजारों साल से रही है। संयुक्त परिवार में मुखिया, पुरुष सदस्यों और स्त्री समूह के बीच विभाजन दर विभाजन। आज भी भारत संयुक्त परिवारों में ही नहीं, एकल परिवारों में भी एक ओर पुरुष मुखिया। फिर बेटे-फिर स्त्री और फिर अंत में बेटियाँ। परिवार के संसाधनों पर सबका बराबर हिस्सा नहीं। किसी भी प्रकार की लाभदायक स्थितियों पर सबका समान अधिकार नहीं। उनको प्राप्त करने के बराबर अवसर नहीं। यह सामाजिक, पारिवारिक विभाजन और वर्चस्व की व्यवस्था हमारा संस्कारगत स्वभाव है। यही आदत सार्वजनिक जीवन में भी विभाजन की मानसिकता का निर्माण करती है। अगर समाज में हम गैर बराबरी झेल रहे हैं तो फिर हर एक को इसी ग़ैर बराबरी वाले चश्मे से देखने की हमारी आदत बन जाती है। यह हमारे संस्कार का हिस्सा बन जाता है। यह अलग बात है कि यह ग़ैर बराबरी और अधिकार हीनता के हम इतने आदी हो जाते हैं कि सब कुछ जो घर-परिवार और समाज में घट रहा है, हमें कुछ गलत नहीं लगता। वह हमारी संस्कृति का हिस्सा बन जाता है, हमारा संस्कार बन जाता है।

हमारे समाज सुधारकों ने जाति आधारित समाज की विषमताओं को पहचाना था, सामाजिक अन्याय की अनगिनत पर्तो को देखा था और उन्हें उधेड़ कर समाज को आईना दिखाया था। कबीर, रैदास, दादू से लेकर महात्मा ज्योतिबा फुले, डा0 अंबेडकर सबने पर्त-दर-पर्त विभाजित हिन्दू समाज की विद्रूपता और अन्याय को उजागर किया था और एक वर्णविहीन समाज की कल्पना की थी। जाति आधारित व्यवस्था में सबको समान अधिकार, अवसर और सबके लिये सामाजिक न्याय और सम्मान की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस व्यवस्था में लोकतंत्र भी अधूरा है, विकलांग है।

हमारी मिसरानी जिसने कपड़े धोने वाली का विरोध किया, वह स्वयं उस समुदाय से है जिसे हाल फिलहाल में राजनीतिक कारणों के चलते अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल किया गया है। इसके बावजूद उसमें श्रेष्ठता भाव उसे बेबी के साथ काम करने से रोकता है।

एक और दृष्टांत! मेरा रिश्ते का भाई, उच्च पदस्थ अधिकारी। उसका सरकारी ड्राइवर हिन्दू नहीं था। लेकिन अपने माता-पिता के रहते उसने अपने ड्राइवर को 'शुक्ला जी' बना दिया था।

—कैसे सरकारी अफ़सर हो तुम। अपने घर में पाखंड करते हो... मेरे उलाहना देने पर वह नाराज़ हो गया था।

हमारी मिसरानी ने तो बेबी का विरोध किया, बर्तन धोने और झाड़ू बुहारी करने वाली शकीला ने भी उसका विरोध किया। बेबी के रहते वह वह तो एकबारगी काम छोड़ने को भी तैयार थी।

मैंने शकीला से कहा,

—शकीला, तुम भी ऐसी छूआछूत की बात करती हो! तुम्हारा मज़हब तो सारे इंसानों को एक बराबर समझता है...

—अरे आंटी जी ! अब ऐसा भी नांय कि सबरै....

मैंने उसे चुप किया।

हम समाज में औरतों की बराबरी की बात करते हैं। तरह-तरह की विभाजन रेखाओं से बंटे हमारे समाज में यह कैसे संभव होगा ? खुद हमारे परिवार भी तो इन्हीं विभाजन रेखाओं से अलग-अलग टुकड़ों में बंटे हैं। टुकड़ा-टुकड़ा समाज में बराबरी की बात संभव नहीं है। हमारी लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था में सामाजिक लोकतंत्र के साथ-साथ परिवार में भी लोकतांत्रिक व्यवस्था होना ज़रूरी है। हमें पहले खुद लोकतंत्र को अपनी सोच और मानसिकता का हिस्सा बनना होगा। लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक व्यवस्था नहीं है। यह एक जीवन पद्धति है। हमारे जीवन मूल्यों का स्वरूप है जो हमारा सामाजिक व्यवहार निर्धारित करता है। हम बौद्धिक, अकादमिक विमर्श में लोकतांत्रिक व्यवस्था के पक्षधर होते हैं। अपने लेखन और सार्वजनिक मंचों पर लोकतांत्रिक पद्धति की बात करते हैं। ज़रूरी है देखना कि ये लोकतंत्र का दर्शन क्या हमारे स्वाभाविक सोच का, हमारी पद्धति का और सामान्य व्यवहार का हिस्सा बन पाया है या नहीं। वर्ना तो सिर्फ़ कोरी बकवास! हम सामाजिक जीवन में सांप्रदायिक जीवन पद्धति जीते हैं। धर्म आधारित श्रेष्ठता का भाव ढोते हुये जन्म से ही विभाजन की रेखाएँ खींच लेते हैं। फिर वर्ण का आधार जिससे हम सांस्कृतिक पहचान निर्धारित करते हैं। उससे आगे चलें तो जाति... उपजाति... इसमें भी अपने लिये एक श्रेष्ठता मंडित सुरक्षित पायदान खोजते हैं। इससे भी और आगे... वह श्रेष्ठता क्षेत्रीयता के कोने ढूंढने लगती है।

ऐसी ही विभाजन की रेखाएँ हमारे परिवार को खानों में बांटती हैं। पुरुष समाज श्रेष्ठ! पिता सर्वोपरि! उसकी आज्ञा, उसकी इच्छा-अनिच्छा, उसकी रुचि-अरुचि परिवार की संरचना को निर्धारित करती है। फिर बेटे.... उसमें भी अनेक तरह के विभाजन। संयुक्त परिवारों में तो यह पायदानों का विभाजन और जटिल होता था। सबसे नीचे के पायदान पर कन्यायें। आज के एकल परिवारों में भी यही विभाजन का क्रम देखा जा सकता है। परिवार की आय, संसाधन पर जहाँ तक हिस्सेदारी की बात है, कभी समानता नहीं देखी जाती। परिवार संबंधी मामलों में निर्णय लेने का अधिकार घर की स्त्री को कितना होता है, यह देखने की बात है। बेटे और बेटियों में फर्क तो भारतीय समाज की आधारशिला है। ऐसे में पारिवारिक लोकतंत्र को स्थापित करना.. एक ऐसा स्वप्न है जिसे वास्तविकता में बदलने में समय लगेगा।

पारिवारिक लोकतंत्र के लिये जद्दोज़हद भी वंचित स्त्री समूह को ही करनी होगी। परिवार के लिये निर्णय लेने में घर की औरत की राय को कितना महत्व दिया जाता है ? पारिवारिक व्यवस्था में बच्चों की शिक्षा, उनका कैरियर, विवाह संबंधी फैसले, खुद परिवार की स्त्री का कैरियर, उसकी नौकरी, वित्त और अर्थ से जुड़े फैसलों में कितने परिवारों की औरतें भागीदारी करती हैं ? अभी मेरी जानकारी में एक घटना आई। एक परिवार में लड़के के जनेऊ की तैयारी चल रही थीं। यह भी बता दूँ कि ये कोई ब्राह्मण परिवार भी नहीं था। बहरहाल, आयोजन से लगभग पंद्रह दिन पहले पता चला कि लड़के की छोटी बहिन जिसकी उम्र बमुश्किल चौदह-पंद्रह होगी, उसका रिश्ता भी बाप ने तय कर दिया है। अब सवेरे जनेऊ का कार्यक्रम होगा और शाम को लड़की की बारात आयेगी।

माँ तो हतप्रभ हो गयी। कैसा लड़का! कैसा घर! किसी को कोई मतलब नहीं। किसी की राय नहीं। लड़की की राय का तो प्रश्न ही नहीं, माँ भी एकदम अनभिज्ञ। बच्ची अभी शादी लायक नहीं है... यह विरोध माँ ने भरसक किया, लेकिन फिर पिट-पिटाकर वह भी ख़ामोश हो गयी। मात्र परिवार के मुखिया ने यह निर्णय लिया था। लड़की का बाप और दादा केवल इस निर्णय में शामिल थे। उनका तर्क था कि एक दावत में दो काज हो जायेंगे। लड़का अभी पढ़ रहा है। सरकारी नौकरी पा जायेगा। बाद में सरकारी नौकरी वाले लड़के से शादी करने पर लंबा-चौड़ा दहेज देना पड़ेगा।

माँ ने पूछा-पढ़ा लिखा लड़का-सरकारी नौकरी वाला! अगर उसने हमारी अनपढ़ लड़की को बाद में छोड़ दिया तो-

जवाब था—फिर देखी जायेगी...अभी हाथ पीले होने दो...

माँ, बेटी तथा अन्य सर पीटकर रह गये और बच्ची हाथ पीले करके ससुराल चली गयी। अधिकतर हमारे परिवारों का यही स्वरूप है। कहीं कम... कहीं ज़्यादा। मुद्दे अलग हो सकते हैं लेकिन प्रवृत्ति लगभग एक सी है।

मेरा बार-बार कहना है कि यह बहुत त्रुटिपूर्ण और भ्रामक अवधारणा है कि स्त्रियों को राजनीति से क्या सरोकार! चुनाव लड़ना अलग बात है। जब कोई स्त्री किसी दल से चुनाव लड़ती है तो वह स्त्री के रूप में नहीं, एक राजनीतिक पार्टी के उम्मीदवार होती है। यही उसकी पहचान है।

सामाजिक विकास का रथ, स्त्री समूह के विकास की यात्रा से जुड़ा है। स्त्री शिक्षित होगी, पूरा समाज शिक्षित होगा। अब प्रश्न यह है कि सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में स्त्री समूह की

...न कैसे संभव है। स्त्री विमर्श के साथ हमेशा सामाजिक ...व की बात लिखी और कही जाती हैं। मेरा प्रश्न है, यह ...होगा। सामाजिक बदलाव का अर्थ ये तो है नहीं कि पुराने ...की जगह नये ढर्रे की पोशाक बदल ली। परिवार में पुरुष ...से संघर्ष भी इसके लिये राह नहीं बनाता, क्यों कि यह ...की लड़ी जाने वाली लड़ाई नहीं है। अगर किसी स्त्री विशेष ...अपने परिवार में संघर्ष से कुछ प्राप्त किया तो यह व्यक्तिगत ...लब्धि है। यह दूसरों के लिये मिसाल हो सकती है, प्रेरणा दे ...सकती है। लेकिन पूरे स्त्री समूह की चिंता के बिना यह संघर्ष ...विमर्श नहीं पूरा होगा।

आज राजनीतिक परिदृश्य जो उभर कर आता है वह ...यह है। अपना पहला कदम राजनीति में बढ़ाते ही वरुण ...हिंसा और नफ़रत की बात करते हैं और सामाजिक समरसता ...की जगह एक चौड़ी खाई तैयार करते हैं। दूसरी ओर दलित ...परिवार रातों-रात घर से उठा लिया जाता है और सबेरे उसकी ...पेड़ पर टंगी मिलती है। सबके सामने मंच पर दलित ...परिवार की गोलीमार कर हत्या कर दी जाती है। दलित ...महिला सरपंच स्वतंत्रता दिवस पर पंचायत में राष्ट्रध्वज फहराती ...तो उसे सरेआम नंगा करके बेइज्जत किया जाता है। गुजरात ...सन् 2002 के नरसंहार में कथित रूप से शामिल मंत्री डॉ0 ...कोडनानी पर यही आरोप हैं। नरोदा पाटिया में बड़ी संख्या ...में स्त्रियों के साथ बलात्कार और हत्यायें हुईं, कहा जाता है ...के पीछे वही थीं।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में नफ़रत और हिंसा का कोई स्थान ...है। हम समाज में घृणा, हिंसा और अलगाव को समर्थन देते ...और घर परिवार के भीतर स्वयम् हिंसा का शिकार होते हैं, ...अपमान और असमानता को झेलने के लिये विवश होते हैं। हम ...समाज में, राजनीति में लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करेंगे तभी ...परिवारों में लोकतांत्रिक जीवन पद्धति प्रवेश करेगी। हमारे व्यवहार और सोच में अगर हिंसा और वर्चस्ववाद है तो परिवार में उसका प्रतिफलन अवश्य होगा।

स्त्री समूह की लड़ाई परिवार से लेकर समाज और राज्य व्यवस्था की संरचना तक फैली हुई है। पाखंडवादी समाज और अंध धार्मिकता को प्रश्रय देने वाले समूह, स्त्री के लिये समान अधिकार और उनके मूलभूत जनतांत्रिक अधिकारों के पक्षधर नहीं हो सकते। धर्म आधारित समाज में स्त्रियों के लिये जनतांत्रिक पारिवारिक स्वरूप और समानता पर आधारित जीवन पद्धति असंभव है।

मेरी मिसरानी, शकीला, बेबी और मैं, जब बिना किसी विभाजन रेखाओं के एक ही स्तर पर व्यवहार करेंगे तब इस जीवन पद्धति की शुरूआत हो सकेगी।

0 0 0

'वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत लेखक श्री कैलाश चन्द्र की कहानी 'अंधेरे में सुगंध' के अतिरिक्त दूसरे स्थान पर चुनी गई अभिज्ञात की कहानी 'क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया' इस अंक में दे रहे हैं। अन्य दस कहानियाँ पत्रिका के अगले अंकों में देते रहेंगे। दलित चिंतन पर केंद्रित अंक के लिये चयनित कुछ सामग्री अप्रैल अंक में नहीं जा सकी। उसे भी हम यथासमय अगले अंकों में देंगे।

0 0 0

हिन्दी के महत्त्वपूर्ण और वयोवृद्ध रचनाकार विष्णु प्रभाकर हमारे बीच नहीं रहे।

नवगीत के विशिष्ट हस्ताक्षर नईम का भी देहांत हो गया। हिन्दी के दोनों समर्थ साहित्यकारों को वर्तमान साहित्य परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

नमिता सिंह

(नमिता सिंह)

सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

• 'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–

vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

अँधेरे में सुगंध

कैलास चन्द्र

मुकाम पर यह पहली रात थी। उस रात सुकया ने मुर्गा पकाया था। लाजवाब बना था। वह मटन और मछली भी इतनी ही लज़्ज़त से पकाता है, यह बात मेरे जीप के ड्राइवर कंथा ने बतायी थी। पहली पोस्टिंग की इस पहली रात को दिल खुश हो गया। सदर में ज्वाइनिंग देने के साथ ही यहाँ की पोस्टिंग मिल गयी जो ज़िले का सबसे ख़तरनाक इलाका माना जाता था। दिल घबरा गया था। पहली पोस्टिंग में ही उम्मीदें और उमंगें एक झटके में ध्वस्त होतीं लगीं।

एड.एस.पी. तांबे ने, जो प्रमोशन पाया अफ़सर था और अपने भारी चेहरे के कारण अच्छा-ख़ासा रोबीला दिखता था, कहा था—"मि. रोहित, अपनी ट्रेनिंग की याद करो। यह तुम्हारा इम्तिहान भी है और लियाकत भी कि तुमको पहली पोस्टिंग में ही ऐसी जोखिम भरी जगह भेजा जा रहा है, जो पूरी तरह नक्सल प्रभावित क्षेत्र है और शायद सबसे ख़तरनाक मुहिम भी। ऐसी जगहों पर प्रायः अनुभवी अफ़सरों को भेजा जाता है। पर पता नहीं क्या सोच कर आई.जी. सा'ब ने तुमको वहाँ भेजने का निर्णय ले लिया। मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।

दरअसल ये शुभकामनाएँ नहीं थीं, ख़तरे का अलार्म थीं। टेढ़ी-मेढ़ी सड़कों को पार कर जब मुकाम पर पहुँचा तो बंगला खाली मिला। कई माहीनों से कोई यहाँ आया नहीं था। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि कोई अफ़सर यहाँ आना ही नहीं चाहता था। यहाँ का काम दरोगा ही देख रहा था। मुझे देख कर स्टाफ़ में शायद सभी को आश्चर्य हुआ था कि यह रंगरूट कहाँ फँस गया।

अब यहाँ से भाग भी तो नहीं सकता था। सोचा शहीद ही होना है, तो यही सही। अभी कंधों पर कोई बड़ी ज़िम्मेदारी भी नहीं थी, निपट कुआँरा था। घर में अकेली माँ है, जिसने हौसले के साथ मुझे पढ़ाया-लिखाया था। इस वजह से आज इस मुकाम पर पहुँचा था। जो कुछ भी हासिल हुआ था उसकी ममता और आशीर्वाद से मिला था। बस यही एक मोह मेरे पैरों में ज़ंज़ीरें डाले था। मेरे बाद माँ किसके सहारे रहेगी, मेरी चिंता का सबब यही था।

बहुत छोटी जगह थी यह। चारों तरफ जंगल घिरा हुआ था। रात होते ही गहरा सन्नाटा उतर आता। छोटी जगह होने के कारण सभी लोग एक दूसरे को जानते थे। इस छोटे से क़स्बे में मन को रमाये रहने की कोई जुगत नहीं थी। यहाँ आने पर दो-तीन दिन तो स्वागत-सत्कार लेते ही बीत गये। इसके बाद क़ायदे से मैंने अपने ऑफ़िस में बैठ कर काम करना शुरू कर दिया। फिर जल्दी ही समझ में आ गया कि यह क्षेत्र जिन समस्याओं से रू-ब-रू है, वहाँ नक्सलवाद पनप जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। जगह इतनी दुर्गम और ऊबड़-खाबड़ थी कि पुलिस को कहीं भी मोर्चा जमाना बहुत कठिन होता था। हालाँकि स्टाफ में कई स्थानीय कर्मचारी भी थे और कुछ ऐसे भी थे, जिनके अनुसार उनकी कोई सोर्स-सिफ़ारिश न होने के कारण वे लंबे समय से यहाँ पड़े सड़ रहे थे। ऐसे कर्मचारियों को किसी भी वारदात का पता रहता था, क्योंकि वे स्थानीय लोगों से संवाद कर लेते थे। परंतु, नक्सलियों की भावी योजनाओं के बारे में कोई कुछ नहीं बताता था। केवल गुजर चुकी घटना के बारे में पूरी तफ़सील मिल जाती थी।

मसलन, किसी गाँव के छोर पर वने किसके झोपड़े में कितने नक्सलियों ने खाना बनवा कर खाया, और इसके बाद उनकी बैठक हुई और इस बैठक में गाँव के किस आदमी को बुलाया गया—गाँव के साहूकार, प्रधान या किसी बड़ी जोत वाले भू-पतिं अथवा किसी सरकारी कर्मचारी-अधिकारी को। उनसे क्या-क्या कहा, यह बात भी पता चल जाती थी। ऐसी ही बैठकों में अगली योजनाओं के बारे में भी ज़रूर चर्चा होती होगी, पर इनके बारे में कोई नहीं बताता था। शायद पता होने पर भी नहीं। इन योजनाओं के बारे में नक्सलियों के डर से कोई कुछ नहीं बताता था, क्योंकि इसके परिणाम बहुत बुरे होते थे। नक्सली ऐसे मुख़बिरों को छोड़ते नहीं थे, बुरी मौत देते थे। पुलिस स्थानीय लोगों को अपने विश्वास में कभी नहीं ले पायी थी। यह बिडंबना ही थी कि गाँववासियों को अगर कहीं सुरक्षा मिलती थी, तो नक्सलियों के संरक्षण में।

नक्सलियों की अलग से पहचान करना बहुत मुश्किल था। उनको छोड़कर, जो जंगल में असलहों के साथ विलुप्त रहते थे, अधिकतर नक्सली तो गाँव-समाज में घुले-मिले थे और आम बाशिंदों की ज़िंदगी जीते थे। इन सब की गतिविधियाँ सुदूर बीहड़ों में रात के घने अँधेरे में होती थीं, जब इनके लीडरों का बुलावा आता था। उनके पाँव उन जंगली रास्तों, घाटियों, झाड़-झंकाड़ों, पेड़ों को ऐसे पहचानते थे, जैसे वे उनके सगे-संबंधी हों। बीहड़ और अनगढ़ रास्तों पर वे अँधेरे में भी ऐसे मज़े से चलते, जैसे उनके पाँवों में आँखें लगी हों। खेतों में पलिया बाँधना

...न, मज़दूर, कहीं काम करने वाला कारकुन, छोटा-मोटा ...कार, रस्सी बँटता कोई छोरा—कौन रात के अँधेरे में ये ...नी खेल खेलता था, कोई नहीं जान सकता था। कपड़ों की ...रियों और लकड़ी के गट्ठरों में बाँधकर असलहे वे कहाँ से ...हँचा देते थे, किसी को हवा नहीं लग पाती थी।

पुलिस-तंत्र इन रहस्यों को भेदने में असमर्थ था। इसके ...ण भी थे। सबसे बड़ा कारण था पुलिस का सख़्त चेहरा। ...स ने कभी आम लोगों से मित्र-भाव क़ायम करने की कोशिश ...हीं की। पुलिस के मुख़बिर थे जरायमपेशा में फँसे लोग जो ...तरह के कामों में छूट मिलने के एवज सूचनाएँ पहुँचाते थे। ...ना देने के दबाव में वे अक्सर ऐसी ग़लत ख़बरें भी पुलिस ...मुहय्या करा देते थे, जिससे पुलिस की बदनामी ही होती थी। ...न, पुलिस को एक दिन सूचना मिली कि पांड्या गाँव की ...ट में दो नक्सली वीरन और शिंबू आये हुए हैं। पुलिस पार्टी ...हाट के लिए रवाना कर दी गयी, पर पूरे हाट में छान मारने ...गाँव के हर दरवाज़े पर ठोकर मारने के बावजूद उन दोनों ...लियों का कुछ पता नहीं चला। बाद में खुलासा हुआ कि ...ना ग़लत थी। हताशा और खीझ में पुलिस दारू पीकर झूमते ...लड़के मोहंतू को पकड़ कर ले गयी और उसे इतना मारा कि ...बेहोश हो गया, जबकि दारू पीकर झूमना न तो कोई नयी ...थी और न कोई अपराध ही वह लड़का कर रहा था। सरकार ...ने स्वयं आदिवासियों को दारू उतारने की छूट दे रखी थी। ...वासियों के समारोह, रीति-रिवाज़ बिना दारू के पूरे नहीं होते ...।

यहाँ आकर नौकरी पर रहते महीना पूरा होने को आ रहा ...और ये दिन यही सब समझने-बूझने में बीत गये थे। यहाँ ...यह भी जान गया था कि अब यहाँ से जल्दी निजात ...ने वाली नहीं है। पुलिस की नौकरी में किसी सुकून की कोई ...नहीं होती। इससे भी बड़ी और विषम परिस्थितियाँ आ ...ती हैं। ईश्वर को शायद यही मंजूर हो और इसी बहाने मेरी ...ले रहा हो, यह सोचकर मैं अपने को ढालने में लग गया ...मुझे यह सिखाया गया था अपनी ट्रेनिंग के दौरान कि ...का काम जनता का अमन-चैन क़ायम रखना है और ...लिए पुलिस महकमे को अपनी नींद हराम करनी पड़ती है। पोस्टिंग के क़रीब दो माह बाद पुलिस कप्तान ने सदर में ...अधिकारियों की मीटिंग बुलायी। जब मुकाम से जीप पर ...के लिए निकलने को हुआ, तो हमेशा की तरह एल.एम. ...लिए एक सुरक्षाकर्मी भी जीप पर चढ़ा। मैंने उसे जीप से ...उतार दिया, तो मेरे स्टाफ़ को बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा ...कोई ख़तरा नहीं है। अगर कोई ख़तरा आता भी है, तो ...निपटने में समर्थ हूँ। सरकार ने इसके लिए मुझे गन दी ...।

स्टाफ़ ने ज़रूर मुझे सिरफिरा समझा होगा, पर मैंने अपने ...चालक कंधा की आँखों में प्रशंसा का भाव तैरते देखा था। ...फिर किसी भी अधीनस्थ कर्मचारी की निगाह में मेरा यह ...बहुत बचकाने क़िस्म का था क्योंकि नक्सलियों के दुस्साहस के कारण पुलिस को यहाँ हर क़दम पर ख़तरा था। बिना पूरी सुरक्षा के कोई भी बड़ा अधिकारी बाहर क़दम नहीं रखता था।

मैंने यहाँ आने के कुछ दिनों बाद ही अपनी कार्यशैली से परिचित कराना शुरू कर दिया था। मैंने यह बताने की कोशिश की थी कि मैं आम पुलिसवालों से भिन्न हूँ और रहूँगा। अपने इलाके के तीन थानों का मैंने सघन दौरा किया और वहाँ से जानकारियाँ हासिल कीं। महत्त्वपूर्ण मुद्दों को मैं अपनी डायरी में लिख लेता था। इलाके में आने वाले गाँवों के हर प्रधान और सरकारी कर्मचारी से, चाहे वह किसी भी स्तर का हो, मैं मिल चुका था। विभिन्न समस्याओं और मुद्दों पर उनके विचारों की जानकारी मुझे मिल गयी थी। यह सब जानना मुझे ज़रूरी लगा था, क्योंकि मैं इस इलाके में हाथ पर हाथ धर कर बैठने के लिए नहीं आया था।

मीटिंग को लेकर मेरे मन में कोई तनाव नहीं था। एक तो मुझे आये अभी ज़्यादा दिन नहीं हुए थे और इतने कम समय में किसी से भी कोई कारगुज़ारी दिखाने की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। दूसरे, क्षेत्र के बारे में मैं पुख़्ता तौर पर जान चुका था। मीटिंग में मैंने अपनी एक माह की रपट पेश की। मेरी रपट पढ़ने के बाद पुलिस कप्तान की आँखों में मुझे लेकर एक प्रशंसा का भाव आ गया था, शायद मेरी कम उम्र और मेहनत ने उनको अभिभूत किया था।

उन्होंने सब के सामने कहा था—"मि. रोहित, वेल डन! यू आर गोइंग टू बी एक्सक्ल्यूसिव। ए स्टाउट यंगमैन विद ब्रेन। गो अहेड, "फिर कुछ रुककर बोले थे, "तुम्हें यह तो पता चल ही गया होगा कि तुम्हारे इलाके में नक्सलियों की सरगना एक यंग लेडी है, जिसका नाम है सावली। वैसे आसपास के तीन-चार ज़िलों के नक्सलियों की हेड वही है। तुम्हारे इलाके में मैंने इसलिए कहा, क्योंकि उसका घर तुम्हारे इलाके में पड़ता है और इस वजह से उसकी सक्रियता सबसे ज़्यादा तुम्हारे इलाके में ही रहती है।

फिर एक शरारत-सी उनके चेहरे पर उभर आयी—"पुलिस रिकॉर्ड में उसकी उम्र बीस साल लिखी है। महुए की तरह ताज़ी और नशीली यंग लेडी है वो। जिन्होंने उसे देखा है, वे उसके रूप का ताप जानते हैं और उसे देखकर कोई कह नहीं सकता कि वह इतनी ख़तरनाक हो सकती है। पुलिस का पिछले पचहत्तर साल का रिकॉर्ड बताता है कि इतनी दुस्साहसी और ख़तरनाक औरत यह पहली है। वह दिन-दहाड़े थानों के भीतर घुसकर सिपाहियों को पीट आती है, असलहा छीन कर ले जाती है। बस्ती से किसी को भी उठा लेती है। अक्सर नाक-कान काटकर लोगों को सज़ा देती है, नंगा घुमाकर ज़लील करती है और फिर भी न सुधरने पर गोली मार देती है। एक क्षण को भी वह औरत सावली आगा-पीछा नहीं सोचती। तुरंत एक्शन लेती है। उसके खाते में अभी तक ग्यारह मर्डर दर्ज हैं और...और..." वे चुप हो गये।

मीटिंग हॉल में सन्नाटा-सा पसर गया था। केवल तांबे 'हाँ सर! हाँ सर!' कह रहे थे। पुलिस कप्तान फिर बोले—"और

उसका दिया अब तक का सबसे ख़तरनाक अंजाम यह है कि वह महामहिम राज्यपाल के समारोह में हज़ारों लोगों की भीड़ के सामने एक दरोगा का मर्डर कर चुकी है। हाँ, तब वह नक्सली नहीं बनी थी।''

''हाँ सर! मैंने उसके बारे में सब कुछ जानने की कोशिश की है।''

''पर कोई भी लोकल आदमी उसके बारे में कुछ नहीं बताएगा। वह ख़तरनाक औरत उनके लिए किसी नायिका से कम नहीं है। दरोगा की हत्या को वे उसके शौर्य के रूप में लेते हैं। उसके प्रति एक सहानुभूति की लहर तुम पाओगे, रोहित। उससे पार पाना बहुत कठिन काम है और वह महकमे के लिए एक भारी चुनौती बनी हुई है। उसके सफ़ाये के लिए जो भी स्कीम बनाना, बहुत सोच-समझ कर बनाना। किसी पर विश्वास नहीं करना और जो कुछ करना, अपने बूते पर करना। कौन नक्सलियों के लिए काम कर रहा है, यह पता लगाना तुम्हारे लिए बहुत कठिन काम होगा...''

मीटिंग बर्खास्त हो गयी। जीप से वापस लौटते मेरे ज़ेहन में सावली का हिंसक चेहरा बार-बार कौंध रहा था। सबसे ज़्यादा चौंकाने वाली बात उसकी कम उम्र थी। आदिवासी समाज के चलन के हिसाब से यह उम्र वैवाहिक जीवन में दाखिल होने की उम्र होती है। यह उम्र, जो सपने देखने की उम्र होती है, उन सपनों और उमंगों को छोड़ कर उसने जंगलों की राह पकड़ ली। ज़रूर कोई बहुत बड़ा अन्याय उसके साथ हुआ होगा, पर कैसा अन्याय उसके साथ हुआ होगा, कैसा बदसलूक किया गया है सावली के साथ? सहज भले में कोई ऐसी दुर्गम राह नहीं पकड़ता, जिसका अंत ही एक निश्चित मृत्यु है।

मुझे मालूम था कि यहाँ के आदिवासियों की सामाजिक संरचना बहुत सरल और सीधी होती है। इनके बीच ज़मीन और जोरू को लेकर ही प्रायः संघर्ष होते हैं और वे भी व्यक्तिगत। इन संघर्षों का फलक व्यापक नहीं बन पाता। राजस्व और पुलिस के समवेत प्रयासों से ऐसे संघर्ष प्रायः टाल भी दिये जाते हैं।

कैसी होगी सावली? मन में एक कल्पना ने जन्म ले लिया था, पर उस कल्पना में न जाने क्यों उसका चेहरा बहुत सौम्य दिखता था। आम आदिवासी महिलाओं जैसा—सुघर और सलोना। यक्षणी जैसी अथवा खजुराहो के मंदिरों की भित्तियों पर उकेरी गयी नारी-मूर्तियों जैसी सुपुष्ट और सुगढ़ देहराशि। बीस साल की उम्र तो रूप के ताप की उम्र होती है, फलने-फूलने और पकने की उम्र है यह तो। मेरे ख़्यालों में सावली के चेहरे पर कोई हिंसक परत जम ही नहीं पाती थी।

सोचा कि अपने स्टाफ़ के लोगों से सावली के बारे में पता करूँ, पर किसी ने सावली को देखा नहीं है। उसका भय ऐसा है कि जिसने भी उसके बारे में कल्पना की एक खूंखार औरत का चेहरा ही लोगों के ज़ेहन में चस्पां हो याद रहा आया। उसके साथ क्या ऐसा घटा, जिसके कारण वह नक्सली बनी, यह भी पुख़्ता पूरा पता होने के बावजूद कोई बताना नहीं चाहता था। एक औरत का नक्सली बन जाना भले हैरत की बात न हो, पर इससे अन्याय की हद का पैमाना तो तय हो ही जाता है। न जाने क्यों में यानि कि रोहित कुलश्रेष्ठ सावली के बारे में सब कुछ जानने के लिए बेताब हो उठा था। फिर यह हम पुलिसवालों का उसूल भी है कि जिसे हम टारगेट बना लेते हैं, उसके बारे में सब कुछ जानने का प्रयास करते हैं। पुलिस के टारगेट पर सावली थी।

एक शाम जब आफ़िस से लौटकर मैं चाय पी रहा था कि वायरलैस सेट पर ख़बर मिली कि काछिन नदी पर बनते पुल को रोकने के लिए सावली ठेकेदार का अपहरण करके ले गयी है। हालाँकि, रात भर पकड़ में रखने के बाद उसे छोड़ दिया गया था, पर वह इतना घबराया हुआ था कि आगे पुल बनाने का काम करने के लिए तैयार नहीं था। पी.डब्ल्यू.डी. के सब इंजीनियर वग़ैरह तो डर के कारण कभी साइट पर जाते ही नहीं थे।

मेरे लिए आई.जी. का आदेश था कि मैं चाहे कैसे भी हो पुल बनाना संभव बनाऊँ। यह नदी बरसात में बहुत ऊधम मचाती थी। पुल बनने से दो बड़े गाँव आपस में जुड़ जाते और आगे यह सड़क हाई-वे से जुड़ कर यात्रा की दूरियाँ काफ़ी कम कर देती। नदी के उस तरफ़ वाले गाँव में बहुत बड़ी हाट लगती थी, जिसमें ज़रूरत की सभी चीज़ें मिल जाती थीं। मेरे लिए यह काम बेहद कठिन था। नक्सलियों से कोई संवाद होना संभव नहीं था। ठेकेदार को प्राणों का भय सताने लगा था।

ऊपर से देखने पर पुल का निर्माण रोकना ग़ैरक़ानूनी दिखता था और एक तरह से विकास को अवरुद्ध कर देने जैसा कृत्य लगता था। स्थानीय विधायक, जो वर्तमान में मंत्री भी थे, चुनाव के समय इस पुल के निर्माण की घोषणा कर चुके थे। आगे भी उनको चुनाव जीतना था। पर, जब मैं इस समस्या की तह में घुसा, तो पुल-निर्माण के सरोकार काफ़ी संगीन दिखे। पुल के बन जाने के बाद दूसरे इलाके के साहूकार, व्यापारी वहाँ आकर अपने पाँव जमाने लगते। सूदखोरी, कम तौल और महँगा बेचकर मुनाफ़ा कमाना शुरू हो जाता। दुर्लभ जड़ी बूटियाँ, अचार, आँवला, गिलोय, जंगली हल्दी, चराय आदि एक किलो आटा-नमक के विनिमय में हड़पने का खेल शुरू हो जाता। दिन भर स्थानीय लोगों से मेहनत कराते और शाम को थोड़े से चावल देकर छुट्टी कर देते। स्थानीय व्यापारियों की कमर टूट जाती। ग़रीब और निर्धन आदिवासियों की बहू-बेटियों के साथ व्यभिचार का खेल चलना भी प्रारंभ हो जाता।

सरकारी नज़र से यह सब नहीं दिखता। सरकार के सामने केवल विकास का मुद्दा होता है—कुछ कमीशन फ़िट हो जाए बस... कोई यह नहीं जानना चाहता कि एक सड़क शोषण के कितने तरीक़ों का रोड रोलर ले के आती है। कितनी विपत्तियाँ उस विकास के साथ अनायास चली आती हैं। किसी के मन में यह प्रश्न नहीं उठता कि ऐसे विकास से आदिवासियों की निजता टूटती है। उनकी अनगढ़ता ही उनका सच्चा सुख है।

ज़ाहिर है इतना जानने-समझने के बाद मैं इस मुहिम में असफल हो गया था। पुल अधूरा पड़ा था और मुझे लानत मिल गयी थी। ज़रूर पुलिस कप्तान समझदार और उदार अधिकारी

। उन्होंने इस बारे में मुझसे कुछ नहीं कहा।

एक उपन्यास 'ब्ल्यू रोज़' इन गहरी व्यस्तताओं के कारण अधूरा पढ़ा पड़ा था, उस रात उठा लिया था। पर, मायूसी के कारण पढ़ने में मन नहीं लगा। मन जब भटकता हो, तो उसे बांधना कठिन हो जाता है। आख़िरकार, ख़ाना खाने बैठ गया। सुकया ने मुर्गा बहुत उम्दा पकाया था और शोरबा तो बेहतरीन ज़ायकेदार बना था। मैं ज्वार की रोटी का कौर शोरबे में डुबोकर मुँह में रखने ही वाला था कि सुकया बोल पड़ा—'सर जी, एक बात कहनी है... सुकया ठीक मेरे सामने उकडूँ बैठ गया। वह सावली के बारे में बताना चाहता था। मैंने उसे अनुमति दे दी। उसने जो बताया वह यों था...।

सावली पहले नक्सली नहीं थी। दरोगा को मारकर वह फ़रार हो गयी। इसके बाद उसने संगठन बना लिया। उसके पहले नादया संगठन का हेड था। सावली ने उसे खदेड़ दिया। वह जंगल में अकेला भाग गया। फिर उसका कुछ पता नहीं चला। तब से सावली ही संगठन चला रही है। सावली का कोई क़ुसूर नहीं था। उसके साथ पुलिस ने बहुत ज़्यादिती की थी। वहीं थाने में एक दरोगा था तिवारी। सब उसे साहब कहते थे। उसे अच्छा लगता था साहब कहलाना। बंदगी कहने वाले पर वह बहुत खुश हो जाता था। उसे साहब बंदगी कहते थे और वह दरोगा बहुत खुश। उसे लोग साहब बंदगी कहने लगे थे। उसका शरीर ऊँचा-पूरा और गोरा रंग। उस जैसा दरोगा पूरे जिले में नहीं था। पर स्वभाव से बहुत दुष्ट था। तफतीश में पकड़े आदमी का मार-मार कर वह कचूमर निकाल देता था। उसने आंतक फैला दिया था।

सावली गाँव-देस के रिश्ते से सुकया की भतीजी लगती है। बहुत सीधी लड़की थी। इस तरफ़ कोई पढ़ता-लिखता नहीं है। मौंड़ा-मौंड़ी ज़रा बड़े हुए कि मजूरी तलाशने लगते हैं, चार पैसे घर में आ जाएँ। उस वक़्त सावली की उमर 14-15 साल की रही होगी। गाँव का एक जायसवाल मौंड़ा जसराम क़स्बे में मजूरी करने रोज़ आता-जाता था। सावली ने उससे मजूरी दिलाने के लिए कहा। जसराम सावली को अपने साथ गाँव से मजूरी करने के लिए ले गया। एक गल्ला व्यापारी के यहाँ, जहाँ वह मजूरी करता था, उसने सावली को भी मजूरी दिला दी।

अब वे दोनों साथ-साथ मजूरी करने क़स्बे आने-जाने लगे। कई महीने गुज़र गये। सावली की महतारी तीन साल पहले मर गयी थी। सावली के बाप ने एक दूसरी औरत घर में बैठा ली थी। सौतेली महतारी सावली के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करती थी। जब-तब उस पर हाथ उठा देती थी और ताने मारती रहती थी। घर का पूरा काम उस पर लादे रहती थी। सावली मजूरी करने लगी, तो उसे इन सबसे राहत सी मिल गयी थी। सावली के बाप के नाम कुछ खेत थे। साल भर के लिए उनमें गल्ला निकल ही आता था।

सावली की मजूरी के कारण सौतेली महतारी का रुख़ कुछ नरम हो गया था। बस केवल जसराम उसकी आँखों में किरकिरी बन कर गड़ रहा था। उसे डर लगा रहता था कि ये कहीं सावली को भगा कर न ले जाए। तो, वह मजूरी के रुपयों से जाएगी और सावली के ब्याह पर मिलने वाले कन्या-मूल्य से भी वंचित हो जाएगी। यही डर उसे खाये जा रहा था।

मजूरी करके एक रोज़ सावली जब लौटने लगी, क़स्बे में उसकी मुलाक़ात अपनी बड़ी बहन और बहनोई से हो गयी। उसका बहनोई पास के गाँव में शिक्षक था। बहन आग्रह करके सावली को अपने साथ ले गयी। सावली के घर में किसी को इस बात की ख़बर नहीं। सावली वहाँ दो-तीन दिन रुक गयी। जब तीसरे दिन भी सावली नहीं लौटी, तो महतारी का माथा ठनका। उसे लगा कि ज़रूर जसराम सावली को भगा कर ले गया है। जसराम भी उन दो-तीन दिनों गाँव में नहीं था। महतारी ने सावली के बाप से भी नहीं पूछा और जाकर थाने में जसराम के ख़िलाफ़ सावली को भगाने की रपट लिखा दी।

आदिवासी इलाका और सरकार वैसे भी आदिवासियों को लेकर बहुत सचेत रहती है। यह मामला एक ग़ैर-आदिवासी का आदिवासी लड़की को भगाकर ले जाने का था। पुलिस कुछ ज़्यादा ही सचेत हो गयी थी। तिवारी दरोगा तो बहुत उत्साहित हो गया था। उसने एकदम रपट लिख ली। रपट लिखाने के तीसरे दिन जसराम गाँव लौट आया। वह अपनी रिश्तेदारी में कहीं गया था। आते ही पुलिस ने उसे पकड़ लिया। उसे थाने में इतना मारा कि वह बेहोश हो गया। जसराम के बाप ने अपने रिश्तेदारों की तस्दीक करा दी। मारपीट के बाद भी जसराम ने सावली को भगा कर ले जाने की बात को कुबूल नहीं किया था। इसके बावजूद तिवारी दरोगा जसराम को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था।

सावली अभी तक अपने घर नहीं लौटी थी। पुलिस एक दिन सावली को उसकी बहन के घर से बरामद कर लेकर आयी और लॉकअप में बंद कर दिया। सावली ने इन्क़ार किया कि उसे जसराम भगा कर ले गया था। सावली के बहनोई ने आकर तस्दीक कर दी कि इतने दिनों सावली उसके घर में रही थी। इस पर तिवारी दरोगा ने सावली के बहनोई को ही धमका दिया। उसने सावली पर दबाव बनाया कि वह जसराम का नाम ले ले, पर सावली किसी तरह यह झूठ बोलने को तैयार नहीं हुई।

तिवारी दरोगा की तौहीन हो जाती, जो वह केस में ख़त्मा लगा देता। उसे यह समझ में तो आ गया कि सावली की महतारी ने नासमझी में रपट लिखा दी है। कोई केस बनता ही नहीं है। पर, दरोगा साहब बंदगी को यह हेठी लगी कि वह इस केस से बिलावजह अपना हाथ खींच ले। मामला आदिवासी लड़की का फँसा था। वह एक झूठे केस को अंजाम देने में लग गया।

फर्ज़ी केस का नक़्शा यों था—जसराम सावली को भगा कर ले गया। उसे अपने साथ चार दिन रखा और उसने उसके साथ शारीरिक संबंध बनाये, इसलिए जसराम और सावली की बरामदगी उसने दूसरे शहर में होना बतायी थी। बात रह जाती थी सावली के साथ जसराम के शारीरिक संबंध बनाने की और यह बात मेडीकल रिपोर्ट से ही पुख़्ता होती, इसलिए साहब बंदगी और दो सिपाहियों ने लगातार आठ दिनों तक अबोध सावली के साथ

बलात्कार किया। इतना जुल्म सहने के बाद भी सावली जसराम के ख़िलाफ़ कुछ भी कहने के लिए राज़ी नहीं हुई।

सावली को बहलाने-फुसलाने के दूसरे उपाय भी किये गये। उसे अच्छा खाने को दिया जाता। एक या दो पुलिसवाले सावली को लेकर बाज़ार जाते और उसका मन जीतने के लिए उसे भेंट देते—क्रीम पाउडर, टिकुली, चूड़ियाँ, ब्लाउज़, कंघी, काजल, रिबन, चोटी, रंग-बिरंगे रूमाल, खुशबूदार तेल-फुलेल, बटुआ, गिलट की पायलें और करधन। अद्भुत प्रेम-प्रदर्शन करते। सावली फिर भी झूठ बोलने को तैयार नहीं होती। साहब बंदगी का गुस्सा बढ़ता ही जा रहा था।

आई.जी. सा'ब के इन्सपैक्शन ने दरोगा की यह मुहिम गड़बड़ा दी। उस दिन की अफ़रा-तफ़री में सावली लॉकअप से भाग गयी। अँधेरा घिरने तक सावली थाने के बगल बने क्वार्टरों के पिछवाड़े छिपी रही और फिर जंगल में घुस गयी। पूरे तीन दिन वह अकेली अबोध लड़की जंगल में पुलिस के डर से भूखी-प्यासी भागती रही।

जंगल से निकलकर वह जंगल से लगी बस्ती में एक घर के खुले दरवाज़े के भीतर दाख़िल हो गयी। वह घर एक शिक्षक उदयराज का था। वो मास्टर बाहर कहीं का था और उसके बारे में संदेह किया जाता था कि वह कभी नक्सली संगठनों से जुड़ा रहा था, पर पुलिस के पास उसके ख़िलाफ़ कोई सबूत नहीं था। इसलिए, पुलिस उसका कुछ बिगाड़ नहीं पायी थी। अब वह एक समाजसेवी संगठन के स्कूल में शिक्षक हो गया था।

सावली की प्रताड़ना की पूरी दास्तान सुनकर उदयराज ने सावली को एक युवा और उत्साही वकील विजय सोनी से मिलवा दिया। सावली को क़ानूनी संरक्षण मिल गया। इधर सावली के लॉकअप से भाग जाने के बाद साहब बंदगी का पूरा गुस्सा सावली के बहनोई पर उतरा। वह उसे पकड़कर ले आया और थाने में उसकी ऐसी धुनाई की कि आज भी वो लंगड़ाकर चलता है। अदालत में अर्ज़ी लगाकर साहब बंदगी सावली का मेडीकल परीक्षण कराने में ज़रूर सफल रहा, पर अकेली रिपोर्ट क्या कर सकती थी, जब कोई गवाह ही नहीं था।

साहब बंदगी को मुकदमे का हश्र मालूम पड़ गया था कि इस केस में जसराम के ख़िलाफ़ कुछ होने वाला नहीं है। वह साफ़ बरी हो जाएगा। उसे डर लगा कि कहीं उसकी शिकायत न हो जाए। वह फँस सकता है। अपनी बचत के लिए सावली के लॉकअप से भागने की तफ़सील उसने रोजनामचे में लिखी कि जसराम के घर के हथियारबंद लोग आये और थाने से सावली को अगवा करके ले गये। उसने विभाग को सावली की हिम्मत व दिलेरी के बाबत कई रपटें भेजीं कि किस प्रकार 14 साल की लड़की अगवा करने वालों को चकमा देकर उनके चंगुल से छूट गयी और बिना डरे जंगल और पहाड़ों में अकेली भागती रही। साहब बंदगी ने जान पर खेल कर उस आदिवासी लड़की सावली को बचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इन दो झूठों की वजह से विभाग की सिफ़ारिश पर सावली को उसके साहस के लिए पुरस्कार और एक आदिवासी लड़की सावली को बचाने के लिए पुलिस का शौर्यपदक साहब बंदगी को देने की घोषणा सरकार ने कर दी।

सावली दरोगा के नाम से ही भड़क जाती थी। उसका वश चलता तो वह दरोगा को गोली मार देती। ग़ज़ब की हिम्मत उस लड़की में आ गयी थी। जुल्मों ने उसको बेहिसाब साहसी बना दिया था।

अगले गणतंत्र दिवस पर सावली को लेकर राजधानी आने का हुकुम दरोगा साहब बंदगी को मिला था। वहीं राज्यपाल से पुरस्कार लेते समय बगल में खड़े दरोगा के होलस्टर से रिवॉल्वर खींचकर सावली ने दरोगा पर गोली चला दी थी। दरोगा ने वहीं दम तोड़ दिया। उसके इस दुस्साहस पर सनसनी फैल गयी थी। इसके बाद सावली जो फ़रार हुई, तो फिर नक्सली सरगना बन कर सामने आयी। पुलिस उसके नाम से ही घबराने लगी है।

यह थी सावली की मुकम्मिल दास्तान। मुझे याद पड़ रहा था कि जब मैंने राज्य परीक्षा के लिए फ़ॉर्म भरा था, तब यह ख़बर मैंने अख़बार में कहीं पढ़ी थी। उस समय यह क्या मालूम था कि मैं पुलिस का डिप्टी एस.पी. बन कर पहली ही पोस्टिंग में उसके इलाके में तैनात हो जाऊँगा। उस रात मैं ठीक से सो नहीं पाया था। बार-बार सावली मेरे ज़ेहन में उतर आती थी। कहाँ से इतना साहस और निडरता उसके भीतर आ गयी थी। सावली की अद्भुत् साहस-गाथा ने मेरे मन में उसका क़द बहुत ऊँचा कर दिया था।

उदयराज के बारे में पता चला कि हताश पुलिस ने दरोगा की हत्या का बदला उसको मार कर लिया। उसे फ़र्ज़ी इनकाउंटर में मार दिया गया। दरअसल, पुलिस ने लॉकअप में पीट-पीट कर उदयराज को पहले ही मार डाला था। बाद में उसकी लाश पर गोलियाँ चला कर इनकाउंटर दिखाया था। इस पर बहुत पेपरबाज़ी हुई, जाँच बैठी और लीपापोती कर दी गयी। उदयराज का कोई सगा-संबंधी नहीं था, जो पीछे लगता, तो सच सामने आता।

यहाँ आने के हफ़्ते भर बाद ही मैंने सावली की पूरी फ़ाइल पढ़ डाली थी। उसे बहुत ख़तरनाक और क्रूर बताया गया था। न जाने क्यों मेरा मन यह सब नहीं मान रहा था। यह तो उसका प्रतिकार था, जो क़ानून की नज़र में गुनाह था। उसके ऊपर हुए अन्याय के एवज़ क़ानून उसे कोई राहत नहीं दे सकता था, इसलिए बहुत स्वाभाविक था कि वह क़ानून अपने हाथ में लेकर बदला लेती और उसने यह कर दिखाया। मेरे ऊपर अभी विभाग की मानसिकता हावी नहीं हुई थी। इस कारण मैं फ़ाइल में लिखे पुलिसिया तथ्यों से अलग हटकर सोच रहा था। मैं नहीं जानता था कि मेरा यह अलग क़िस्म का सोच कब तक क़ायम रह पाएगा। पुलिस जिस झूठे सच को आँखों में उतारने के लिए तत्पर थी, मैं उस आरोपित सच को दुत्कारने में लग गया था।

मैं नहीं जानता कि मुझसे पहले वाले अफ़सरों को मुकद्दमे ने यह दास्तां सुनायी अथवा नहीं। हो सकता है उनके चेहरों पर लिखी बेरुख़ी को पढ़कर उसने बताना व्यर्थ समझा हो। उसकी अनुभवी आँखों ने मेरे अंतर को पढ़ लिया था, इसलिए खुद ही बताने बैठ गया कि यह अफ़सर कुछ अलग हट कर है।

सहसा मैंने सुकया से पूछ लिया—"क्या सावली से मेरी भेंट हो सकती है?"

मेरे इस बेतुके प्रश्न पर सुकया अचकचा गया—"सर जी! आप मिलेंगे सावली से! न! न! वो मुजरिम है सर जी!", उसकी आँखों में अविश्वास तैर रहा था—"पुलिस ने उसे मारने पर बड़ा इनाम लगाया हुआ है।"

"मैं उसकी ख़ुद्दारी का जलवा देखना चाहता हूँ। उसने इतना बड़ा क़दम उठा लिया, तो उसके भीतर कोई बात तो है जो समझ से परे है—"मैंने सुकया को बताया।

"पर, वह आप पर विश्वास नहीं करेगी, सर जी। वो किसी पुलिसवाले पर भरोसा नहीं कर सकती। वो किसी हालत में तैयार नहीं होगी", सुकया गिड़गिड़ा रहा था, "फिर उस तक पहुँचने का कोई सूत्र नहीं है।"

"तुम मिले हो सुकया उससे? वो तो तुम्हारी भतीजी भी लगती है", मैं पूछता हूँ।

वह एकदम हड़बड़ा गया, बोला—"नहीं सर जी! मैंने विभाग का नमक खाया है। मैं मिलता, तो ज़रूर उसका सुराग देता", वह सफ़ाई दे रहा था।

अगली मीटिंग क़रीब डेढ़ माह बाद हुई। बीच में सी.एम. का दौरा, त्योहार पर एक तीर्थस्थल पर भगदड़, इसके बाद एक सड़क-दुर्घटना, फिर दहेज-उत्पीड़न का एक मामला—आपदाओं की एक श्रृंखला सी जुड़ती गयी-एक के बाद एक। पुलिस कप्तान को फ़ुरसत ही नहीं मिली। मीटिंग में मैंने एक लाइन ऑफ़ एक्शन पुलिस कप्तान को बतायी। सुनकर कुछ देर वे गंभीर बने रहे, फिर बोले—"मि0 रोहित! यू आर यंग एन्ड इनर्जिटिक। जो भी करना, भावना में बहकर न करना। इस मुहकमे को सब कुछ क़बूल है, सिवाय भावना के। सामने एकदम नंगी सच्चाइयाँ है। तुम यह भी जानते हो कि अगला वर्ष चुनाव का वर्ष है। यह भी जान लो कि यहाँ के मंत्री का, जो यहाँ से विधायक भी है, भविष्य ये नक्सली तय करेंगे। इसलिए अगर साँठगाँठ ठीक न हो पायी तो मंत्री चाहेगा कि उस नक्सली औरत सावली का इनकाउन्टर कर दिया जाए, ताकि वह चुनाव में अपनी निरापद जीत पक्की कर सके।"

"सर! मेरा इरादा है कि उसके रुख़ को मोड़ दिया जाए, जो न तो राजनीति से संभव है और न प्रशासन के बस का है", मैं अपनी बात पर अड़ा रहा।

कप्तान ने एक असंगत सवाल मुझसे पूछ लिया—"रोहित तुम अभी बेचलर हो न?"

"यस सर!"

अब उनके चेहरे पर एक मुस्कान कौंधकर विलीन हो गयी। बोले—"तुमने अभी उस नक्सली औरत को देखा नहीं है। उसके शबाब को जब देखोगे, तो गश खा के गिर पड़ोगे। अभी मुश्किल से बीस साल की हुई है वो। उसे देखकर उसके ख़ौफ़ से ज़्यादा उसकी कामना जागती है। यू कान्ट इमेजिन कि ब्यूटी और दहशत का भी कहीं मेल होता है। चिंता की बात यह है कि यहाँ के आदिवासी उसे पूजने लगे हैं। वह औरत है भी ग़ज़ब की। अभी यहाँ और घंटे भर बाद ही दस मील वहाँ दूसरी तरफ़... जंगल पार या किसी गाँव में। हवा की तरह बहकर चाहे जहाँ पहुँच जाती है। आई वार्न यू मि0 रोहित कि उसके जादू में न फँस जाना...."

पूरे मीटिंग हाल में हँसी के ठहाके लग रहे थे। मज़ाक जैसा लगते हुए भी कप्तान ने हँसी नहीं की थी। यह काफ़ी गंभीर बात थी और सभी इस मर्म को जान-समझ रहे थे। मैं उनकी बातों से झेंपा नहीं था और न ठहाके मेरे ऊपर ही लगाये गये थे।

बोला—"मुझे सब बातें पता हैं सर! मैं सावली से मुलाक़ात करने की कोशिश में लगा हूँ। मैं एक बार उससे रूबरू बात करना चाहता हूँ। आई एश्योर यू सर! ऐसा कुछ न होगा, जो मुझको लेकर कोई शंका आपके मन में आयी हो। यह केवल एक टेस्ट होगा और वह भी केवल एक बार..."

"क्या... क्या कह रहे हो तुम रोहित?" उनकी आँखें विस्फारित थीं—"उसे पकड़ने या मार देने के बजाय तुम उसे संवाद बनाना चाहते हो।"

"हाँ सर! बस, केवल एक बार। सर, मैं लीक से हटकर कुछ करना चाहता हूँ। नक्सलियों की सोच के पीछे उनके प्रति हो रहे अन्याय का प्रतिकार है। एक सीमा तक सहते रहना अंततः हिंसा में तब्दील हो जाता है, लेकिन देखने की बात ये है कि उनकी हिंसा किसी अन्याय के विरोध में अनायास है अथवा आदतन। मेरा अभी तक का अध्ययन उनके बारे में है कि वे केवल आंतक फैलाने की गरज़ से हिंसा नहीं कर रहे हैं। यही कारण है कि उनका इतना बड़ा संगठन यों ही एक रात या एक साल में नहीं उठ खड़ा हुआ है। उनके संगठन के बीज हमारे सिस्टम में ही कहीं मौजूद हैं।"

"यू आर राइट मि0 रोहित। प्रोसीड ऑन। मैं चाहता हूँ कि विभाग में कुछ अलग हटकर सोच वाले ऑफ़ीसर्स भी हों।" मीटिंग ख़त्म हो गयी थी। मीटिंग के बाद कुछ अधिकारियों ने मुझे घेर लिया। मैंने शायद उन पर कोई गहरा असर डाल दिया था अथवा मैंने बिल्कुल एक नया रास्ता चुना था।

लौटकर आया तो अकेलापन काटने लगा। यहाँ न तो कोई कंपनी थी और न कोई मैगज़ीन या किताब ही मिलती थी।

एक साँझ की बात है। गाढ़ापन अँधेरे में घुलकर तेज़ी से नीचे उतरता आ रहा था। पहाड़ों और जंगलों से घिरी बस्ती में साँझ जल्दी उतर आती है। बंगले के पीछे एक पगडंडी थी, जो सीधे जंगल में अविकल घुसती चली जाती थी। दोनों ओर चीड़ और सरई के पेड़ उगे थे। इस वजह से अँधेरा और अधिक घना लग रहा था। रोज़ ही इस वक़्त घूमने निकलता था। हालाँकि, पुलिस वालों को कोई आदत नहीं डालनी चाहिए, क्योंकि आदतों में ही कमज़ोरी छुपी होती है। आज मैं ख़्यालों में डूबा चला जा रहा था। बंगला आधा या पौन किलोमीटर पीछे छूट गया था। सहसा ऐसा लगा जैसे मैं तेज़ गंध वाली फूलों की वादियों में घिर गया हूँ। तेज़ गंध, जिसने नाक के हिस्से को हुलरा दिया था और वह गंध सराबोर करती मुझे चारों ओर से घेरकर खड़ी हो गयी

थी। मैं चौंक गया कि यहाँ आसपास पेड़ों की भरमार के अलावा कुछ नहीं है, फिर यह तेज़ गंध कहाँ से उड़कर आ रही है। रोज़ तो ऐसा नहीं होता था। मैंने आँखें फाड़कर चारों ओर देखा। वहाँ पेड़ों की पत्तियों की सरसराहट और जंगल की अबूझ आहटों के सिवा कुछ नहीं था। गहरा अँधेरा और गहरा हो गया था। लगता था कि आज काफ़ी आगे तक निकल आया था। अँधेरे में गंध के स्रोत को ढूँढ़ना बहुत कठिन था। पर गंध ने मुझे ढूँढ लिया था।

"रुक जाओ! जहाँ खड़े हो वहीं खड़े रहो, अपनी जगह से हिलना नहीं डिप्टी–"गंध ने अँधेरे में कहीं से चेतावनी दी।

मैं अचकचा गया। डर की एक सिहरन मेरी रीढ़ की हड्डी में उतरती चली गयी। उस तेज़ गंध से मैं बेहाल हुआ जा रहा था। आवाज़ किसी औरत की थी और अँधेरे में इस क़दर बेख़ौफ़ पुकारने वाली सावली ही हो सकती है। 'सावली' शब्द जैसे ही मेरे ज़ेहन में घुसा मुझे कँपकँपी छूट गयी।

अँधेरे में अब मेरे चारों तरफ़ नक्सली फैले हुए थे। अँधेरे में उनकी निगाहें मुझे छेदे डाल रही थीं। वे पाँच-पंद्रह की संख्या में हो सकते हैं, हथियारों से लैस। चेतावनी सावली ने ही दी है, इसमें कोई शक नहीं रह गया था। मेरे क़द का सारा बड़प्पन एक ही क्षण में काफ़ूर हो गया था।

"तुम मुझसे मिलना चाहते हो, क्यों?" गंध ने फिर टेरा।

इसके पहले मैं यह पूछना चाहता था कि तुम उस तेज गंध वाले फूल का नाम बताओ सावली, जो शायद तुम जूड़े में खेंसे हो। अब यहाँ न तो कायरता दिखायी जा सकती थी और न हेकड़ी। यह तय था कि वे अगर मारना चाहते, तो कहीं से एक गोली अँधेरे में छुपी आती और सीने में धँस जाती। उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस कारण डर थोड़ा कम हुआ।

"हाँ! मैं बात करना चाहता था तुम से। मिल-बैठकर हम कुछ तय कर लें।"

"तुम्हारा विभाग कुछ तय करना नहीं चाहता डिप्टी! फिर भी, तुम हमें अच्छे अफ़सर दिखते हो। तुमने जिस तरह शिवराम कुंठे का केस सुलझाया है। मैं तुम्हारी तारीफ़ करती हूँ," गंध ने कहा और अँधेरे के परदे चीरकर सावली तीन फुट के फ़ासले पर आकर खड़ी हो गयी।

वह फ़ासला चाहे जितना रहा हो, मैं चिंहुक गया उसे देखकर। कम उजाले में उद्दाम यौवन और शौर्य से भरी सावली खड़ी थी, सीधे मेरी आँखों में झाँकते हुए। यक्षिणी का सा साँवला रूप। सेब की तरह भरी-कसी देह। सामान्य क़द की वह नक्सली। उसके कंधे से कारबाइन टँगी थी... ठक!ठक!ठक! गोली नहीं, जवाकुसुम के फूल छूटते होंगे उसकी कारबाइन से। सही कहा था एस0पी0 साहब ने, ऐसा रूप कि किसी का भी ईमान डोल जाए। सिर पर घने केशों का जूड़ा... तेरे बालों की छाँव, जैसे सरई की छाँव... रूप और आतंक का अद्भुत संगम... अँधेरे में वह जैसे धधक रही थी।

अभी जिस शिवराम कुंठे की बात सावली ने की थी, उसके 17-18 साल के स्कूल में पढ़ने वाले लड़के को पुलिस पकड़कर ले आयी थी। शक था कि यह लड़का नक्सलियों के लिए काम करता है। घर से दो-दो, तीन-तीन दिन ग़ायब रहकर जंगल में बंदूक चलाने की ट्रेनिंग लेता है। मैं जानता था कि अगर इस लड़के को टॉर्चर किया गया, तो यह पक्का जंगल की राह पकड़ लेगा। उसके ख़िलाफ़ पुलिस के पास कोई ठोस सबूत नहीं है। लॉकअप से निकालकर मैंने उसे अपने बंगले बुलवाया और उससे बात की। लड़के ने बताया कि अपने टोले में केवल वही अकेला स्कूल जाता है। उसे स्कूल अच्छा लगता है, उसे किताबें अच्छी लगती हैं। सबसे अच्छी उसे नर्सरी की किताब लगती है। वह जड़ी-बूटियों की खोज में जंगल में कुछ दिनों के लिए ग़ायब हो जाता है। वह जड़ी इकट्ठी करके लाता है और बनिये को बेचकर घर के लिए चावल और नमक ले लेता है। इस तरह बाप की कुछ मदद हो जाती है। घर में उसके दो भाई और हैं, पर वे स्कूल नहीं जाते। मैंने गाँव के बनिये को बुलाकर लड़के की बात की पुष्टि कर ली। मैंने लड़के को छुड़वा दिया।

"ये तुम्हारी कोई चाल तो नहीं है, मुझे पकड़ने की अथवा गोली चला के मार देने की?"

"यकीन कर सको तो ऐसा कुछ नहीं होगा", मुझे लगा कि समझौता एक्सप्रेस चल पड़ने की तैयारी में है।

"तुम वैसे पुलिसवाले नहीं हो डिप्टी। ख़ैर, कोई हर्ज़ नहीं, पर तुमको हमारे पास आना होगा, अकेले और निहत्थे, पर ख़बरदार कोई चालाकी न करना, नहीं तो जान से हाथ धो बैठोगे.. इंतज़ार करो", दूसरे ही पल सावली हवा में धूमिल हुई, फिर पूरी तरह घुल गयी। अब गंध कहीं नहीं थी। अब अंधेरे से इ... नहीं लग रहा था और मुझे लगा कि मैं निपट अकेला पड़ गया हूँ।

लौटकर सुकया को मैंने कुछ नहीं बताया।

इस मुलाक़ात के बाद मैं कई रातों बेचैन रहा। सोचा इ... मुलाक़ात की बाबत अपने अफ़सरों को बता दूँ। उन्होंने कहीं पू... लिया कि सावली जैसी ख़तरनाक नक्सली औरत से मुलाक़ात करके क्या समझाओगे उसे। तो उनको इसका क्या जवाब दूँगा। अभी कुछ भी मेरे मन में स्पष्ट नहीं था। यह भी निश्चित नहीं था कि वह मेरी कोई बात मान लेगी। पुलिस की निगाहों में व... सबसे बड़ी मुजरिम थी, क्योंकि उसने एक पुलिसवाले की हत्या की थी। यह भी तय था कि मेरे मंतव्य को विभाग कोई महत्व नहीं देगा। प्रशासन की तरफ़ से भी कोई सहयोग मिलने की संभावना नहीं थी। मैंने निश्चय कर लिया कि सावली से हुई इ... मुलाक़ात की बाबत किसी को कुछ नहीं बताना है।

मेरे मन में एक बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि अन्याय और शोषण के सरोकारों को भले ही पूरी तरह से मिटाया न जा सके, पर अगर उनको भेंथरा कर दिया जाए, तो नक्सलवाद पर काफ़ी हद तक लगाम कसी जा सकती है। सामान्य तौर पर, मनुष्य तो एक सामाजिक प्राणी ही और शांति और सुरक्षा के तले रहना चाहता है। बहुत मजबूरी में ही कोई असामाजिक बनता है। विषम परिस्थितियों में ही उपाय के रूप में आदमी हथियार उठाता है। वे परिस्थितियाँ मिटा दी जाएँ, तो नक्सलवाद रुक सकता है।

...कि, यह अत्यंत दुष्कर कार्य था, पर शुरूआत तो की ही जा सकती थी।

अगली मीटिंग जल्दी ही हुई। मैंने पुलिस कप्तान के ...ने राजस्व विभाग के सहयोग की बात रख दी। मैंने तर्क ...या कि आदिवासियों के कल्याण के लिए जितनी योजनाएँ ...ायी जा रहीं हैं, उन पर अगर दोनों विभाग समान नज़र रखें ...उनका पूरा लाभ उनको मिल सकता है। वे अपनी समस्याओं ...उबरेंगे और अपनी स्थिति को बेहतर बनाने में कामयाब हो ...गे। ज़रूरत इस बात की है कि योजनाएँ पूरी ताक़त और ...ईमानदारी से लागू की जाएँ।

पुलिस कप्तान की ओर से कलेक्टर को पत्र जारी हो ...या। कलेक्टर ने भी तत्परता दिखायी। पंद्रह दिन बाद सभी ...विभागों की मीटिंग कलेक्टर ने बुलायी। उस मीटिंग में पहली ...बार पुलिस विभाग शामिल हुआ। मैंने मीटिंग में जब अपनी सर्वे ...रिपोर्ट पढ़ी, तो हाय-तौबा मच गयी। रिपोर्ट में मैंने यह स्पष्ट ...किया कि पिछले तीन सालों में किस योजना को लागू करने में ...कहाँ तक चूक हुई, जिसकी वजह से योजना का पूरा लाभ नहीं ...मिल पाया। दूसरे विभागों को यह पुलिस विभाग का अनावश्यक ...दखल लगा। रिपोर्ट में एक तरह से उनके विभागों पर आक्षेप था। ...कलेक्टर ने इस रिपोर्ट की सराहना की और एक लाइन ऑफ़ ...एक्शन बना डाली और कड़ाई से अमल के लिए एक माह का ...समय दिया। अगली मीटिंग में उसकी समीक्षा होनी थी।

अगले दो माह अमूनन शांति से बीते और नक्सलियों ने ...किसी वारदात को अंजाम नहीं दिया। इस बीच माँ की बीमारी ...की ख़बर मिली। उनको देख भी आया। उनको साथ रखने की ...इच्छा ज़ाहिर की, लेकिन माँ पुरखों के घर को छोड़ने को राज़ी नहीं ...हुईं। उनका तर्क था कि वे अपने घर में ही अपना अंतिम समय ...बिताना चाहती हैं। अकेले ही लौटना पड़ा।

लौटकर आया और राजस्व विभाग के एस.डी.ओ. से मुलाक़ात ...की। वे क़तई न उत्साहित होने वाले आदमी लगे। एक बँधा हुआ ...दायरा था उनका और कुछ पूर्वाग्रह। उन दायरों से निकलना उनको ...मंज़ूर नहीं था। अधेड़ उम्र के रंगीनमिज़ाज अफ़सर। कनपटी भर ...के श्वेत-श्याम, सिर के बाक़ी बालगारनियर' कलर में चमकते ...हुए भुरभुरे बाल... शायद रोज शैंपू करते थे। विज्ञापनों जैसे ...चमकते मजबूत तो नहीं, पर उनको सेक्सी अंदाज़ में फरफराते ...हुए कहा जा सकता था।

बोले—''मि. रोहित! अभी तो बिल्कुल युवा हो। लाइफ़ ...एन्जॉय करो। ये क्या भारी-भरकम रिपोर्टें तैयार करने लगे। ...भाई, मेरा तो सर दर्द करने लगता है ऐसी रिपोर्टों से। यहाँ तो ...बस ही सेक्स है, माँ कसम। एकदम ठोस! सच्ची, मज़ा आ ...जाता है। कहाँ सुधार के लफ़ड़े में पड़े हो यार! ये ससुरे आदिवासी ...नहीं सुधरने के, लाख जतन कर लो। फिर, हम लोगों को यहाँ ...रहना कितने दिन है? मैं तो कब का फूट लेता यहाँ से। शराब ...और शबाब छँके है.... फिर वे सेक्स का एक लंबा-चौड़ा क़िस्सा ...सुनाने बैठे जो रतलाम या झाबुआ कहीं का था। वे उस रसमय क़िस्से ...में मुझे डुबोना चाहते थे, पर वे खुद डूबे। मैं किनारे खड़ा रहा।

उनसे मिलकर कोई खुशी नहीं हुई। उमंग को थोड़ा आघात लगा, पर संकल्प नहीं टूटा। मैं जानता था कि अपने सोच का मैं अकेला अफ़सर हूँ और कहीं से कोई ज़्यादा सहयोग मिलने वाला नहीं है। राजस्व विभाग अपने अनमनेपन में ऊँघा सो रहा था।

आदिवासियों की समस्याएँ विकट थीं, पर उनको समझे बिना कोई उनके हित में काम नहीं कर सकता था। सबसे बड़ी समस्या उनके सामने महाजनी की ही थी। यहाँ जितने महाजन थे, सभी ग़ैर-आदिवासी थे, यहाँ तक कि सरकारी कर्मचारी भी चोरी-छुपे महाजनी करते थे। महाजन देते तो थोड़ा सा क़र्ज़ा और पता नहीं कौन-कौन से कागजों में उस भूपति आदिवासी का अंगूठा लगवा लेते थे। साल-दो-साल के भीतर उस आदिवासी की पूरी ज़मीन उस महाजन के कब्ज़े में चली जाती थी। सरकारी काग़ज़ों में यद्यपि नाम उस आदिवासी का ही चढ़ा होता था। नियमानुसार कोई ग़ैर-आदिवासी बिना कलेक्टर की अनुमति के आदिवासी की भूमि नहीं ख़रीद सकता था। वही आदिवासी अपनी ही ज़मीन पर मज़दूर हो जाता था और उस ज़मीन के मालिक वे महाजन हो जाते थे।

सरकार ने आदिवासियों को क़र्ज़ा देने के लिए ग्रामीण बैंक खोल रखे थे, पर बैंक के कर्मचारियों का रवैया आदिवासियों के प्रति क़तई सहानुभूतिपूर्ण नहीं होता था। महीनों चक्कर लगवाने के बाद कहीं क़र्ज़ा मंजूर होता था। यहाँ भी वही महाजनी दुष्कर्म! बस महाजन की जगह होते सरकारी और बैंक कर्मचारी। क़र्ज़ा का रुपया जब तक आदिवासी के हाथ में पहुँचता, एक तिहाई रक़म कमीशन के बतौर काट ली जाती। मैंने एक-दो बैंकों में जाकर जायज़ा लिया और उनको समझा भी दिया। बैंक वाले मुझे ही दुश्मन समझने लगे। मैं कुछ निराश सा होने लगा था।

एक रात जब मैं सोने की तैयारी में था, सुकया ने आकर ख़बर दी—''सा'ब! एक आदमी दरवाज़े पर हैं। आपसे अभी मिलना चाहता है। आमतौर पर इतनी रात गये कोई मिलने आता नहीं है। वैसे भी पुलिसवाले अतिरिक्त सतर्कता के कारण नक्सलियों के भयवश किसी से मिलने-जुलने में डरते रहते थे। फिर, वह इतनी रात बीतने पर मिलने आया था, डर मुझे भी लगा पर सुकया पास में था। मैंने मिलने की इज़ाजत दे दी।

जो मिलने आया था, उसने आते ही सुकया से कहकर कमरे की बत्ती बुझवा दी। बरामदे में जलते बल्ब की रोशनी सरक कर कमरे में आ गयी थी। वह कमरे के फ़र्श पर बैठ गया था सामने पड़ी बैंच पर बैठने के आग्रह के बावजूद। एक मैली सी लंगोटी उसके खुरदरे बदन पर चिपकी थी, जिसे उसने एक फटे गमछे से लपेट रखा था। निपट काला बदन, सिर पर छोटे-छोटे खिचड़ी बाल। उसकी उमर का अंदाज़ा लगाना ज़रा मुश्किल था। जंगल का आदमी, वैसा ही मुक्त और निश्पाप। उसकी तरल आँखों में वेदना, आशा और कुछ न कह पाने की असहायता के टूटे-फूटे बिंब बड़ी बेबसी में तैर रहे थे।

''क्या नाम है तुम्हारा, सा'ब पूछते हैं,'' सुकया उससे पूछता है।

''माँगले'', वह मुँह खोलता है, जैसे यह बताना इतना आसान न हो। आदिवासी के होंठ, जीभ और स्वरतंत्रिकाएँ शिकायत के हिसाब की नहीं बनी होती हैं। संवेदी तंत्र लगातार सहने के हिसाब से बनाये गये होते हैं।

''काम क्या है,'' मैं पूछता हूँ।

वह अटक-अटक कर अपनी बोली में बताता है। मैं सुकया का मुँह हेरने लगता हुँ। सुकया उसके एक-एक वाक्य का खुलासा करता बताता चलता है।

उसने बताया कि सावली के भेजने पर वह यहाँ सा'ब के पास आया है। उसने वोला कि वो अफसर न्याय करेगा। नारायन साहू से उसने क़र्ज़ा लिया था—बत्तीस रुपये। अभी तक उसने साहू के पास ढाई सौ रुपये चुकाये हैं। उसका क़र्ज़ा ज्यों का त्यों है। इस साल उसने खेत नहीं बोने दिया। उसने बोला कि क़र्ज़ा पटा दो, नहीं तो खेत डूब जाएगा। घर में चावल दो दिन से नहीं है, न महुआ और न कंद।

मेरे पास उसे सावली ने एक आशा के साथ भेजा है। मैं आश्चर्य में आ गया। थोड़ा गर्व भी भर आया भीतर। आतंक की पर्याय बन चुकी वह औरत इतना विश्वास एक पुलिसवाले पर करने लगी, यह अनहोनी घटना थी सदा सर्वदा के लिए। इस विश्वास की क्या वजह हो सकती है? मुझे लगा कि उसकी आँखें चीज़ों को भेद रही हैं, समय से पार जा रही हैं। उसकी आँखें मेरे विचारों को पढ़ रही हैं, मेरी आत्मा में पैठ रही हैं। मुझे लगा कि वह आसपास ही होगी अपने जूड़े में खेंसे तेज़ गंध वाले पुष्प-गुच्छों के साथ कहीं अँधेरे में डूबी।

सबसे पहले मैंने सुकया से कहकर उसे चावल दिलाये। फिर, उतनी रात हेड मुंशी को बुलाकर उसकी रपट लिखायी। रपट लिखाने के बाद मैंने हेड मुंशी सरन को आदेश दिया कि कल सुबह वह नारायन साहू को बुलवाये और मुझे इसकी इत्तिला दे। इतना सब होते-होते रात के एक बज गये थे।

माँगले चला गया। पर पूरी रात मेरी आँखों में नींद नहीं आयी। दिमाग़ में सावली घूम रही थी। फ़िर उसके खुद्दार कारनामों का, उसके रूप के ताप का जादू मेरे दिल-दिमाग़ को आच्छादित करने लगा था। उसने मुझसे पूछा था—''तुम मुझसे क्यों मिलना चाहते हो, डिप्टी?' इस प्रश्न के पीछे दुबका सुकया मुझे दिख गया था। सहसा रात के अँधेरे में सुकया का आकार फैलने लगा। उसने ही मेरी इच्छा को उस तक पहुँचाया होगा और मेरे सोच को भी। मेरे घूमने जाने की बात भी उसने ही बतायी होगी। माँगले को मेरे बंगले देर रात भेजने के पीछे भी शायद उसका ही हाथ हो।

मेरे ज़ेहन में किसी ने टहोका दिया—'ये सुकया सावली का मुख़बिर है!' आगे मैं कुछ सोच नहीं सका। पुलिस की गतिविधियों की ख़बर अभी तक क्या वही सावली तक पहुँचाता रहा है? पुलिस के किले में सेंधमार सुकया। फिर भी मेरे मन में संदेह नहीं उपजा। सुकया के मन में कोई खोट होती, तो मेरे मन के अच्छे भाव वह कभी नहीं पढ़ सकता था। खुद ही शायद उसके मन में मुझे जानने-समझने के बाद कोई आशा जगी हो। इतने वर्षों से पुलिस महकमे में है। उसकी ऐसी गतिविधियों पर कभी तो किसी को कोई संदेह होता। मुझे लगा कि मुझे लेकर उसने संवाद क़ायम करने की पहल की है। आख़िर नक्सली जिस वजह से नक्सली हैं, वह सामाजिक न्याय का अभाव ही तो है। उन्हीं की संपदा पर उन्हीं का शोषण हो रहा है।

नींद पूरी रात सुकया, सावली और माँगले के बीच छुवा-छुव्वल खेलती रही। सुबह के पहर जो नींद लगी, तो दिन के दस बजे फिर खुली। तैयार होते-होते बारह बज गये। तभी हेड मुंशी का फ़ोन आ गया कि उसने नारायन साहू को बुला कर थाने में बैठा रखा है। कुछ ही देर में मैं थाने पहँच गया।

थाने के बरामदे में वह उकड़ूँ बैठा हुआ था। वह छोटे क़द का पचास-पचपन की उम्र का आदमी था। मैली-सी धोती और अपेक्षाकृत ज़्यादा साफ़ कुरते पर वह हलके हरे रंग की सदरी पहने हुये था। मैं जैसे ही थाने के कमरे में थानेदार की कुर्सी पर जाकर बैठा, हेड ने साहू को मेरे सामने पेश कर दिया। उसने कमरे में घुसते ही मेरी टेबल पर अपना बहीखाता फैला दिया और माँगले के अँगूठा लगे काग़ज़ निकालकर दिखाने लगा। माँगले ने अपने बड़े लड़के के जनम पर यह क़र्ज़ा लिया था। एक काग़ज़ बिक्री का भी था, उसमें लिखा था कि क़र्ज़ा समय पर न पटा पाने पर खेतों का मालिक नारायन साहू हो जाएगा। इस पर माँगले का अँगूठा निशानी लगी थी। ब्याज का ज़िक्र किसी काग़ज़ में नहीं था। बताया कि मौखिक तय हुआ था। दस रुपया महीना ब्याज साढ़े बत्तीस रुपया क़र्ज़ा पर लगा था।

मैंने केन से काग़ज़ परे हटा कर टेबल पर जगह बनायी और कोहनी टेक कर हथेलियों पर अपना चेहरा टिका दिया। मैं नारायन साहू को घूरने लगा, पर उसकी धूर्त आँखें जैसे अथाह हो गयीं थीं। वह कई बार ऐसी स्थितियों से गुज़र चुका था, इसलिए पूरी तरह अप्रभावित दिख रहा था।

मैंने पूछा, स्वर दोस्ताना था—''तुम्हारे पास महाजनी करने का लाइसेन्स है?''

''हुकुम सरकार'', उसने फ़ौरन सदरी की भीतरी जेब से लेमीनेटिड लाइसेन्स निकालकर मेरे सामने रख दिया। बोला, ''अब मैं जाऊँ सरकार।''

''जब तुमने सब कुछ लिखा लिया तो ब्याज के बाबत क़र्ज़े के काग़ज़ में क्यों नहीं लिखा?''

''सरकार, सूद की बात क़र्ज़े के काग़ज़ में नहीं लिखी जाती है, ही-ही-ही... वो ऐसा है सरकार, महाजनी सूद अलग होता है,'' बात के बीच में वह हँसा।

एक तरफ़ क़ानूनी रुप से क़र्ज़ा देने का पुख़्ता काम और दूसरी तरफ़ ग़ैरक़ानूनी रूप से मनमाना सूद वसूलना, ''मैंने तेज़ आवाज़ में कहा, ''ऐसे करते हो महाजनी, एक ग़रीब आदिवासी की ज़मीन हड़पना चाहते हो?''

उसको मेरे सहसा चिल्ला पड़ने का गुमान शायद नहीं था अथवा इसके पहले उसका ऐसी स्थिति से साबका नहीं पड़ा था। वह घबरा गया और कँपकँपी का भँवर उसके शरीर में ठहर गयी थी।

बोला—"हुकुम सरकार! वो... धंधा है न सरकार.... करना होता है... सरकार चलन है महाजनी का, सभी करते हैं।" वह घिघियाना होने लगा।

"बेईमानी और जालसाजी का चलन," मैं गुर्राया तो उसके पसीने छूटने लगे।

मनमाना सूद वसूला और बिना सरकारी अनुमति उस गरीब आदिवासी की ज़मीन ख़रीद ली क़र्ज़े के एवज़?

मैंने हेड को आवाज़ दी। हेड के हाज़िर होते ही मैंने हुक्म दिया, "बंद कर दो इस महाजन को हवालात में और इस पर मुकदमा क़ायम कर लो।"

इतना सुनते ही नारायन साहू मेरे पाँवों पर लोट गया और 'हुकुम सरकार... हुकुम सरकार...' की रट लगाने लगा। हेड हक्का-बक्का खड़ा था। इस तरह का दृश्य शायद वह पहली बार देख रहा था।

"इसे उठा कर खड़ा कर दो," मैंने हैड को डपटा। हेड ने नारायन साहू को उठाकर खड़ा कर दिया। नारायन साहू पत्तों की तरह काँप रहा है। उसकी निगाहें हेड से मिलीं और अपनी गर्दन को बहुत हल्की जुम्बिश देकर हेड ने मना कर दिया। कमरे के दरवाज़े के बाहर एक पाँच किलो का प्लास्टिक का कन्टेनर और बड़े साइज का एक कार्टन रखा था। दोनों की निगाहें इन सामानों को छूती हुई निकल गयी थीं। मेरी समझ में कन्टेनर में शुद्ध घी और कार्टन में चिरौंजी या छुहारे भरे होंगे। हर बार की तरह भेंट देने का इरादा रहा होगा। इस बार जुगाड़ नहीं बैठ पाया।

"अगर तुम माँगले का क़र्ज़ा अपने बहीखाते में छेंक दो और बेची की टीप उसे वापस कर दो, तो तुम यहाँ से जा सकते हो। वरना तुम को मैं जालसाज़ी और बिना अनुमति ग़रीब आदिवासी की ज़मीन ख़रीदने के जुर्म में हवालात में बंद करवा दूँगा," मैंने अपना दो टूक निर्णय सुना दिया।

नारायन साहू ने फ़ौरन मेरे सामने बहीख़ाता खोला और माँगले के क़र्ज़ा के सामने चुकता लिख दिया और वह बिक्री टीप मेरे हवाले कर दी। वह जब वहाँ से बिना अपने सामान को लिये जाने लगा, तो मैंने उसे वापस बुलाकर उसे उसके लाय सामान की याद दिला दी। उसने एक रिक्शा बुलाया और अपना सामान लेकर वहाँ से रवाना हो गया।

मैंने पूरी तफ़सील सुकया को बता दी। तीसरे दिन माँगले मेरे पास आया। उसकी बिक्री की टीप जब मैंने वापस की, तो वह कितना खुश हुआ, बता नहीं सकता। उसके चेहरे पर दुखों की ऐसी कालिमा पुती थी कि खुशी की कोई लकीर दिखाई ही नहीं देती थी। यह वाकया सावली तक ज़रूर पहुँच गया होगा। हालाँकि मुझे सावली के किसी कृतज्ञता-ज्ञापन की ज़रूरत नहीं थी, पर इतना ज़रूर चाहता था कि वह इस घटना से अवगत हो जाए। मैंने जो किया था, वह मेरी दृष्टि में उचित था और मैंने एक ग़रीब आदिवासी को ठगे जाने और बेमौत मारे जाने से बचा लिया था। मैं जानता था कि माँगले अगर ठगा जाता और अपनी ज़मीन से बेदख़ल कर दिया जाता, तो वह मजूरी करने के लिए मजबूर हो जाता। वह किसी भट्ठे में हाड़-तोड़ मजूरी करता होता, लकड़ी के किसी ठेकेदार के यहाँ पिरता अथवा किसी बेईमान दूकानदार के यहाँ मेहनत से इकट्ठी की गयी दुर्लभ जड़ी-बूटियों को सेर भर चावल और चुटकी भर नमक के एवज़ देकर ठगा जाता रहता।

माँगले के उद्धार के बाद स्टाफ में खलबली मच गयी। दरोगा बापट सिंह ने इतना भर कहा—"सा'ब जब तक आप यहाँ हैं, इनमें से एक दो को राहत मिल जाएगी। आपके तबादले के बाद फिर वही ढर्रा चल निकलेगा। ये साले यहाँ के महाजन नहीं हैं, ख़ून चूसने वाली जौंकें हैं, सर।"

मैं जानता था कि थानेदार इसके अलावा और क्या कह सकता था। मैंने जवाब दिया—"जितने दिन यहाँ हूँ, उतने दिन ही सही। तुम लोग अपनी ड्यूटी सही ढंग से करने लगो, तो ये सूदखोरी तो महीने भर में ही ख़त्म हो सकती है।"

थानेदार बापट सिंह झेंप गया। लड़की, कच्ची दारू, घी, चिरौंजी, बाजीकरण जड़ी-बूटियाँ और फ़र्नीचर के लिये सागौन—इनके जुगाड़ के आगे ड्यूटी-बोध कहाँ लगता था।

इस बीच दो बार पुलिस कप्तान से मेरी भेंट हुई और मैंने घटनाओं का सिलसिलेवार ब्यौरा उनके सामने प्रस्तुत कर दिया था। उन्होने ब्यौरा पढ़ा, पर कहा कुछ नहीं। मैं जानता था कि वे ऊपर से चाहे जितने उदार दिखते हों या उसका दिखावा करते हों, पर उनके सोच की चूलें पूरी तरह विभाग के घुट्टों में फ़िट बैठ गयी थीं।

एक दिन नक्सलियों ने एक साहूकार का अपहरण कर लिया और उसके बहीखाते जला दिये। पर ये नकली खाते थे। असली एक बैंक के लॉकर में बंद थे। साहूकार के अपहरण का कारण भी यही था। जब तक असली बहीखाते नहीं मिलते, साहूकार नक्सलियों के कब्ज़े में रहता। निशाने पर उस बैंक का मैनेजर भी आ गया था जहाँ बहीखाते बंद थे। साहूकार मंत्री की ख़ासमख़ास वाली श्रेणी में आता था, जिनको ईमान की अपच होती रहती है। ज़िले में इस वजह से दहशत का माहौल बन गया था। ज़िले के बेईमान बुरी तरह डरे हुए थे।

अपहरण की वारदात यद्यपि दूसरे डिप्टी एस.पी. के क्षेत्र में हुई थी, पर नक्सलियों के इलाके अपने हिसाब से बंटे होते हैं। अलर्ट रहने के आदेश हर थाने में पहुँच गये थे। सब अपनी तरह से सक्रिय होकर भी निष्क्रिय थे। एक डिप्टी सुग्रीव पाले ने कहा—"साल भर में ऐसे दस आदेश निकलते रहते हैं और इन आदेशों को पैंदों के नीचे दबाकर हम भूल जाते हैं। यहाँ पुलिस विभाग में कौन चाहता है नक्सलियों के हाथों शहीद होना। मरने के बाद विधवा को ता उम्र पूरा वेतन भी नहीं मिलता है।

नक्सली तो कहते हैं कि हम न्याय कर रहे हैं, जो काम पुलिस का है, प्रशासन का है, कोर्ट-कचहरी का है। जब नहीं कर पा रहे हैं, तो मजबूरी में हमको करना पड़ रहा है। हमारे यहाँ तो तुरत न्याय होता है, न पेशी और न अपील।

साहूकार के घरवाले बुरी तरह घबराये हुए हैं। मंत्री की फटकार राजधानी में बैठे सबसे बड़े पुलिस अधिकारी पर पड़ रही

है। एस.पी. हड़बड़ाए। बस पुलिस में कोई निश्चिंत है, तो निचला तबका। कहां घनघोर जंगल में दबिश मारें। कहीं कोई सुराग तो नहीं लगता। बगल से निकल जाते हैं और पुलिस जान तक नहीं पाती। नक्सली फंदा डालकर खींच लेते हैं अथवा बारूदी सुरंग लगाकर उड़ा देते हैं। उनके लिए क्या मुश्किल है। जंगल और बीहड़ों के चप्पे-चप्पे से उनकी पहचान है।

अगले हफ़्ते पता चला कि नक्सली उस साहूकार का फ़ैसला अपनी पंचायत में करने वाले हैं। अब पंचायत कहाँ पर होगी? पुलिस लाख कोशिश कर ले, इस बात का पता नहीं लगा सकती। पुलिस कप्तान ने ज़िले के पूरे महकमे को हड़का कर रख दिया कि जिस किसी के इलाके में पंचायत हुई, उसकी ख़ैर नहीं। नक्सलियों को यह अधिकार नहीं है कि वे किसी को कोई सज़ा दें। पर, ये सारी डाँट-डपट और सक्रियता व्यर्थ ही थी।

तय था कि महाजन को सज़ा मिलकर रहेगी और सज़ा भी मौत से कम क्या होगी? रिहाई की एक ही सूरत थी कि महाजन सारे बहीखाते नक्सलियों के हवाले कर दे और महाजनी का धंधा बंद कर दे। पुलिस कप्तान ने महाजन के परिवारवालों को पूरी सुरक्षा देने का आश्वासन दे दिया था और कहा था कि वे पुलिस को सहयोग दें और निरंतर उसके संपर्क में रहें, पर साहूकार के घरवालों को पुलिस पर कतई विश्वास नहीं था।

एक दिन साहूकार सही-सलामत लौट आया। साहूकार के लड़के ने बैंक के लॉकर से बहीखाते निकाले और नक्सलियों को सौंप आया। उनके सामने कह कर आया कि आगे से साहूकारी का धंधा वह छोड़ देगा। पुलिस के लिए यह कम संतोष की बात नहीं थी कि साहूकार की ज़िंदगी बच गयी थी और वे उसकी मौत के कलंक से बच गये थे। यह पुलिस के ठंडेपन की शौर्यगाथा थी और इस शौर्यगाथा के चारण वे स्वयं थे।

मुझे पोस्टिंग पर आये छह महीने हो रहे थे और पिछले दो-ढाई महीने से सावली ने कोई वारदात मेरे इलाके में नहीं की थी। इलाके में शांति थी, जैसे उसने इलाका छोड़ दिया हो। कोई आहट उसकी तरफ़ से नहीं हो रही थी। यह मेरे लिए गर्व की बात हो सकती थी। शायद मेरी कार्यप्रणाली से सावली संतुष्ट हो चुप बैठ गयी हो। अगर ऐसा है, तो पहली बार पुलिस किसी का विश्वास जीतने के निकट थी।

मन हुआ कि सुकया से सावली के बाबत पूछूं। पर उचित नहीं लगा कि मैं उसके प्रति कहीं भी अपनी संलग्नता ज़ाहिर करूँ। आख़िर मैं एक पुलिस अधिकारी हूँ और वह सावली क़ानून की एक मुजरिम। एक मुजरिम के प्रति मेरी दिलचस्पी मेरे कैरियर को डुबो सकती है।

अगली बार जब मैं पुलिस कप्तान से मिला, तो उनके इस रिमार्क पर अवाक् रह गया, जो उन्होंने मेरे ऊपर किया, "सावली को तुम से इश्क़ हो गया है मि. रोहित।"

मैं अचकचा गया और बोला—"ये आप क्या कह रहे हैं सर! मेरी ड्यूटी में कहीं कोई चूक हो गयी है क्या?" नौकरी का मेरा यह पहला साल मेरे कैरियर में बहुत महत्त्व रखता था। कहीं एडवर्स रिमार्क चला गया तो...

वे हँसे और बोले—"डोन्ट वरी। मैं तो ये कह रहा था कि आसपास के ज़िलों में ये नक्सली कितना उपद्रव मचाये हुए हैं। अपना ज़िला एकदम शांत पड़ा है। तुम्हारे आते ही उस नक्सली औरत की गतिविधियाँ एकदम डेड हो गयी हैं। वो तो ग़ज़ब की निडर औरत है कि हाटों में दिख जाती है, जबकि आमतौर पर नक्सली ऐसा रिस्क नहीं लेते। तुम्हारे इश्क़ में पड़कर वो शांत पड़ गयी लगती है", वे फिर हँस पड़े।

मेरी जान में जान आयी कि यह केवल मज़ाक था। मेरा मन पड़ा कि उनसे कहूँ—वो सर! मुजरिम नहीं है। वो तो समाज के उन मुजरिमों के ख़िलाफ़ है, जिन्हें कोई मुजरिम नहीं कहता। पर, मैं जानता था कि मेरा ऐसा कहना सावली के पक्ष में जाएगा और किसी भी पुलिस अफ़सर के लिए, चाहे वह कितना ही उदार होने का दम भरे, यह नागवार लगेगा कि एक मुजरिम की तारीफ़ की जा रही है, जो विभाग की निगाहों में सबसे बड़ी मुजरिम है।

"मैं नहीं जानता सर! यह ज़रूर है कि इन दिनों उसकी गतिविधियाँ अवश्य कुछ शांत हैं" मैंने विनम्र शब्दों में अपनी बात कही।

"कहीं किसी बड़े मन्सूबे को अंजाम देन में तो वह नहीं लगी है? बी एलर्ट मि. रोहित! वो औरत बहुत ख़तरनाक और दुस्साहसी है। और हाँ, अगले माह बीस बेड वाले एक अस्पताल की आधारशिला रखी जानी है और यहाँ का मंत्री सी.एम. को लाने की बात कह रहा है। अभी नक्सलियों के रुख़ का पता नहीं है। अगर उन्होंने ठान लिया, तो फिर प्रोग्राम नहीं हो पाएगा। पुलिस विभाग के लिए यह कोई गौरव की बात नहीं होगी," एस. पी. बता रहे थे।

यह चिंता मुझे भी लग गयी। इसमें कोई शक नहीं था कि सावली कुछ भी कर सकती थी। उसके लिए कुछ भी कर बैठना ज़रा भी कठिन नहीं था। सुकया फिर मुझे सहारे के रूप में दिखा। सोचा, सावली तक संदेशा भिजवा दूँ कि वह इसमें बाधक न बने। पर क्या वह मेरी बात मान लेगी? ऐसा संदेशा भिजवाना पुलिस की कमज़ोरी को ही ज़ाहिर करेगा।

मुकाम पर लौटते ही इलाके के थानेदार बापट सिंह और सुनील सेंगर को मैंने हाज़िर किया और अपनी चिंता उन दोनों को बतायी। दोनों का दो टूक जवाब यही था कि सावली के किसी मन्सूबे का पता लगाना असंभव है। वो प्रोग्राम की तारीख़ के दो-तीन दिन पहले ऐलान कराएगी और तब तक बहुत देर हो चुकी होगी, क्योंकि एक बार सी.एम. का प्रोग्राम तय हो गया तो इस वजह से उसे कैन्सिल कराना बहुत बड़ी बदनामी का सबब बनेगा। उनकी बातों में दम था।

मैंने पूछा, "अस्पताल के निर्माण का क्या वो विरोध करेगी?"

"हाँ सर! कर सकती है। अगर उसके दिमाग में आ गया कि अस्पताल बनने से आदिवासियों के सहज जीवन में कोई बाधा उत्पन्न होगी", सुनील सेंगर ने कहा।

"पर, अस्पताल में तो इलाज होता है", मैंने शंका डाली।

"सर! यहाँ आदिवासियों का बहुत बड़ा तबका परंपरागत इलाज पर विश्वास करता है। जड़ी-बूटियों से इलाज होता है।

वैद और ओझा हैं, जिनको बैगा कहा जाता है। यहाँ दुर्लभ बूटियाँ हैं। कोई-कोई बूटी तो ऐसी है कि बूटी का लेप लगते ही घाव भर जाता है। ऐसी चमत्कारी औषधियाँ पायी जाती हैं इनके जंगलों में। उन पर असर पड़ेगा। दूसरे आदिवासी यह मानते हैं कि अस्पताल साहूकारों, भू-माफ़ियाओं, ठेकेदारों और सरकारी कर्मचारियों के इलाज के लिए बनाये जाते हैं। यानी अस्पतालों को वे शोषण के केंद्र के रूप में देखते हैं, थानेदार बापट सिंह ने बताया।

मेरी चिंताएँ दूर नहीं हुई। कई बार मन रपटा कि सुकया के माध्यम से सावली तक अपना इरादा पहुँचवाऊँ। ज़्यादा से ज़्यादा वह इन्कार कर देगी। इसी इन्कार में मेरी हार हो जाती। ख़ैर रही कि आधारशिला वाला कार्यक्रम टल गया।

महीने भर बाद अचानक एक नयी चिंता ने मुझे घेर लिया यह चिंता सहज नहीं थी। दिक़्क़त यह थी कि इस चिंता को मैं किसी के सामने प्रकट नहीं कर सकता था। ऊपर से आदेश आया था सावली के सफ़ाये का और इस अभियान को नाम दिया गया था—आपरेशन बिजली। अगला वर्ष चुनावी साल था। इलाके का विधायक सुगना भाई, जो मंत्री भी था, नक्सली के ख़िलाफ़ हो गये थे। नक्सलियों का आरोप था कि उसने आदिवासियों के हित में कोई काम नहीं किया है। ठेकेदारों, व्यापारियों से वह पैसा खाने लगा है। नक्सलियों के डर से कोई सुगना भाई को वोट नहीं देता और उसका हारना तय था। अफ़सरों को पटाकर उसने ही ये आदेश जारी करवाया था। हर हाल में सावली का सफ़ाया। वैसे भी सावली दरोगा के क़त्ल के मामले में सबसे वांछित मुजरिम थी। इस कारण आदेश जारी होने में समय नहीं लगा।

मेरे सामने एक चुनौती आकर खड़ी हो गयी थी। न जाने क्यों मेरे मन में सावली को लेकर नरमी पैदा हो गयी थी। मेरा मन मेरे सामने खड़ा था। क़ानून की नज़र में जुर्मी थी सावली। मुझे नहीं लगता था कि कहीं ग़लत है सावली। उसने जो किया, वह उसका प्रतिकार था। क़ानून दरोगा को सज़ा नहीं देता। अन्याय की पराकाष्ठा में उस सीधी-सादी लड़की के पास कोई विकल्प नहीं था। क़ानून हर नागरिक को आत्मसम्मान और गरिमा से रहने का हक़ देता है, लेकिन यहाँ तो क़ानून के रक्षक ने ही मर्यादा का उल्लंघन किया था, तो फिर चारा ही क्या था। पर मुझे अपना कर्त्तव्य देखना था, जो सर्वोपरि था। मैंने अपने अधीनस्थों को चुस्त-दुरुस्त किया। हर उस सूत्र को सक्रिय शुरू कर दिया, जो सावली के होने का सुराग दे सके। सैनिक बलों की दो बटालियनें आपरेशन बिजली को अंजाम देने के लिए आ गयी थीं। एक स्कूल के बरामदे में और दूसरी पुराने मंदिर में टिक गई थी। मैंने जानबूझ कर सुकया के सामने इन बातों का कोई ज़िक्र नहीं किया, ताकि इधर की कोई बात रिसकर सावली की तरफ़ न पहुँच जाए।

एक दिन दुपहर बाद पक्की ख़बर मिली कि 15-16 किलोमीटर दूर के एक गाँव में सावली का पड़ाव पड़ने वाला है। दोनों बटालियनों को सूचना हो गयी। दस सिपाही थाने में थे, थानेदार बापट सिंह के साथ उनको मेरे इर्द-गिर्द रहना था। अँधेरा घिरते ही हमको जीपों और ट्रकों से कूच करना था। मैंने अपने लिए सबसे अच्छी रायफ़ल दिन रहते ही चुन ली थी।

थानेदार ने बताया कि सड़क बहुत अनगढ़ है और जंगलों में जो ठेकेदार काम करते हैं, अपने वाहनों के लिए बना लेते हैं। गाड़ियाँ कुछ ही दूरी तक जा पाएँगी। बाक़ी रास्ता ख़ामोशी के साथ पैदल ही तय करना पड़ेगा। मैंने निर्देश दिये कि सिपाही रेडियम डायल वाली घड़ियाँ न पहने और न वे सिपाही इस आपरेशन में भाग लें, जिनको बीड़ी या सिगरेट पीने की लत है। अँधेरे में ये चीज़ें सिपाहियों की पोजीशन बता सकती हैं।

सुकया खाने की बावत पूछने आया, तो मैंने टाल दिया कि आज रात का खाना तबीयत ठीक न होने की वजह से नहीं खाऊँगा और उसको छुट्टी भी दे दी। पूरा दिन एक अजीब से भँवर में बीता। जैसे ही अँधेरा धरती पर उतरा, हमारा क़ाफ़िला कूच कर गया। सड़क वाकई बहुत बेढंगी थी और वाहन कूदते-फाँदते से धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे।

कितनी दूर चले आये और कितना समय बीत गया, इसका अंदाज़ा किसी को नहीं हो पाया। सहसा क़ाफ़िला रुक गया। हेड ने बताया कि बस इसके बाद पैदल रास्ता है। यहाँ तो साइकिल भी नहीं चल सकती है।

जब पैदल चले, तो मेरे दिल में सावली के लिए एक नरम भाव लहरा रहा था। मैं मन ही मन सुमर रहा था कि हमारे क़ाफ़िले के पहुँचने से पहले ही वह उस गाँव से चली जाए। आगे का रास्ता बहुत दुर्गम और अनजाना था। झाड़ियों और पेड़ों के बीच से रास्ता बनाते हुये हम वांछित गाँव के क़रीब पहुँच रहे थे। तीन-चार घंटे से कम क्या लगे होंगे। थानेदार ने बताया था कि गाँव एक पहाड़ की तलहटी में बसा है और दूसरी ओर एक नदी है। गाँव से भागने के केवल दो रास्ते हैं। घेराबंदी इन्हीं दो रास्तों पर की जाएगी।

दस-बारह टपरियों का गाँव गहरे अँधेरे और खामोशी में डूबा हुआ था। कहीं रोशनी का एक कतरा भी भूले-भटके नहीं दिख रहा था। दोनों रास्तों पर थानेदार बापट सिंह ने चौकस घेराबंदी कर दी थी। दोनों बटालियनें उन जगहों पर लगायी गयी थीं, जहाँ से भागने की गुंजाइश सबसे कम थी, क्योंकि भागने के लिये प्रचलित रास्ते छोड़ दिये जाते हैं। आधा घंटे बाद उसने बताया कि कोई आहट गाँव में सुनाई नहीं पड़ रही है। कहीं ससुरी निकल तो नहीं गयी।

मेरे संकेत पर बापट सिंह ने अपने मेगाफ़ोन से एक चेतावनी जारी कर दी—गाँव को चारों ओर से पुलिस ने घेर लिया है। जो नक्सली गाँव में छुपे बैठे हैं, वे अपने हथियार डाल दें और अपने दोनों हाथ सिर के पीछे बाँधे गाँव से बाहर एक के पीछे एक आ जाएँ। दूसरी चेतावनी उसने कुछ देर बाद जारी की, फिर तीसरी...

गाँव के भीतर कोई सुगबुगाहट नहीं हुई। थानेदार ने टपरियों में आग लगा देने की धमकी भी दे डाली, पर कोई जवाब नहीं आया। बीतते पल बहुत उबाऊ हो उठे थे। मेरी

उत्तेजना काफ़ी बढ़ गयी थी। मैं बेचैनी में आसपास टहल रहा था। पता नहीं अँधेरे में कहीं से एक गोली आकर कनपटी फोड़ दे। कोई नहीं जानता था कि सावली गाँव में है अथवा नहीं।

बहुत देर बाद गाँव के सीने से एक तीख़ा स्वर फूटा, जो सावली का था–'तुम सब पुलिसवालों कान खोलकर सुन लो। हम यहाँ पर एक गर्भवती औरत को अस्पताल भेजने की जुगत में आये हैं। कल से ही उसकी तबीयत ख़राब चल रही है। औरत के दिन पूरे हो गये हैं। उसका डोला तैयार हो गया है। इस डोले के निकलने में कोई पुलिसवाला बाधा न डाले, वरना उसका सीना हम गोलियों से छलनी कर देंगे।

इस धमकी के बाद किसी पुलिसवाले की हिम्मत नहीं थी कि गाँव में घुस जाता। इसके क़रीब दस मिनट बाद फिर सावली की आवाज़ सुनायी दी–'डोला रवाना हो रहा है... कोई रोके नहीं.... कोई रोके नहीं.... कोई रोके नहीं....

बापट सिंह बकने लगा–"साली बकवास कर रही है। कहीं ख़ुद उस डोले में छुपकर न निकल जाए, इसके साथ ही उसने जवाब में आवाज़ लगा दी–'कैसे मालूम पड़े कि डोले में वह औरत ही है और कोई नहीं।'

'अबे हिजड़े, ऐसे', सावली ने ललकारा और इसके साथ ही आसमान को लक्ष्य करके दनादन गोलियाँ चलने लगीं, जैसे दर्जनों बंदूकें एक साथ गरज़ रही हों', जब तक डोला गाँव से बाहर नहीं चला जाता, गोलियाँ चलती रहेंगी। हम बताते रहेंगे कि हम गाँव में ही हैं।'

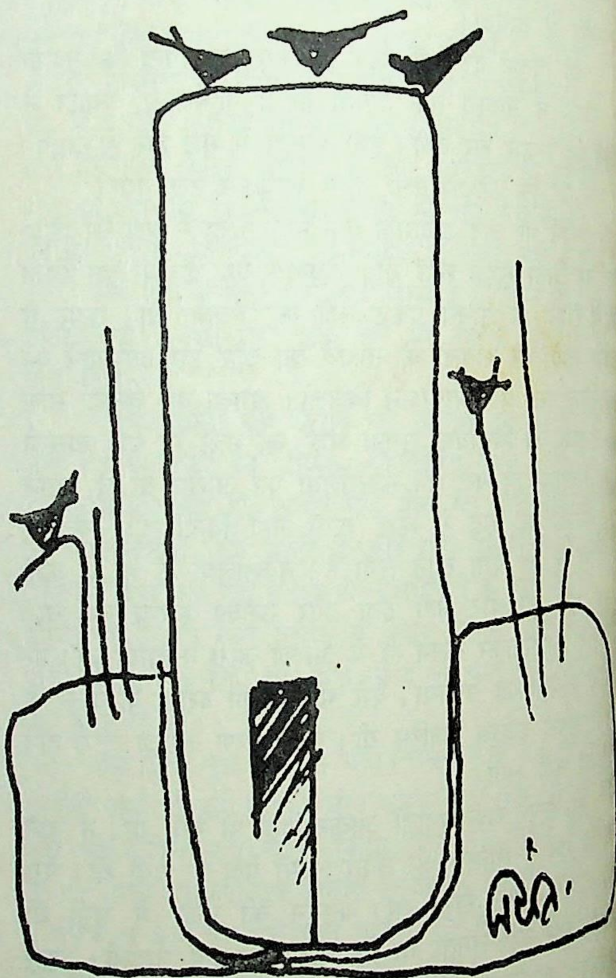
मैंने थानेदार के कंधे पर हाथ रखकर धीरे से कहा–'डोला जाने दो। हमारी उस औरत से कोई दुश्मनी नहीं है।'

कह नहीं सकता कि बापट सिंह को ऐतबार हुआ या नहीं, पर वह सशंकित ज़रूर था। लेकिन, इस गोलीबारी से सिपाहियों की हिम्मत टूट सी रही थी। पाँच मिनट बाद गोलियाँ चलनी बंद हो गयी। डोला गाँव के बाहर चला गया था, यह पक्का था। बापट सिंह कुछ पस्त हो गया था। डोला रोककर वह कुछ सौदेबाज़ी कर सकता था। वह अवसर हाथ से चला गया था। मेरे मन में संदेह उठा कि उस डोले में छुप कर कहीं सावली निकल न गयी हो।

अब गहन चुप्पी छा गयी थी। बापटसिंह ने फिर चेतावनी जारी की, पर गाँव के भीतर से कोई जवाब नहीं मिला। अब एक ही उपाय था कि रात भर गाँव को घेरे बैठे रहो और दिन के उजाले में पोजीशन लेकर गाँव में घुस पड़ो। अँधेरे में तो अब कुछ कर नहीं सकते थे। यद्यपि पुलिस पार्टी के पास सर्चलाइटें थीं, पर ख़तरा भी था, क्योंकि सिपाहियों की पोजीशन दिख जाती और वहाँ नक्सलियों की तरफ़ से अंधाधुंध गोलीबारी शुरू हो जाती और उनको रोकना असंभव हो जाता। उसी आड़ में वे निकल लेते।

पीछे पहाड़ और नदी वाले रास्ते पर दोनों बटालियनें लगी थीं। इधर वाले रास्ते पर जहाँ से डोला गुज़रकर गाँव से बाहर गया था, हमारी पुलिस पार्टी तैनात थी। यह थानेदार की व्यवस्था थी। इसी बात को शायद सावली ने ताड़ लिया था।

अचानक उस गहन अँधेरे में एक तेज़ गंध मेरी नाक में घुस गयी। जंगली फूलों की गंध, जिन्हें सावली अपने जूड़े में लगाती है। कहीं कोई और तो इस गंध को नहीं पहचानता? उसे सावली की ख़बर लग सकती है। मुझे लगा, मुझसे एकदम सटकर या बगलगीर होते सावली यहीं कहीं है बिल्कुल पास में। शायद मुझसे हाथ-दो-हाथ की दूरी पर ही हो। घबराहट में रायफ़ल



पकड़े मेरे हाथ में न जाने कितना पसीना भर गया और लगा कि अभी फिसली। सर्चलाइट जलाकर उसे देखा जा सकता था, बापट सिंह को ज़रा भी आहट मिलती, वह बिना सोचे-समझे उस से स्विच ऑन कर देता। गनीमत थी, उसे कुछ मालूम नहीं पड़ा था। उस गहन अँधेरे में मैं चुपचाप खड़ा रह गया। मेरा पुलिसिया कर्त्तव्य-बोध न जाने कहाँ बिला गया। कुछ करने की इच्छा नहीं हो रही थी। चाहता था कि सावली इस संकट से बाहर निकल जाए।

फिर दूर होती सुगंध की आहट बंद हो गयी और कुछ पल बाद कहीं विलीन हो गयी। मैं खड़ा रहा। जान गया कि सावली गाँव से बाहर निकल चुकी है। पल भर में मेरा तनाव दूर हो गया था। कुछ ही देर बाद पौ फटने वाली थी।

आधी हक़ीकत आधा फसाना-लेखकीय वक्तव्य

कैलास चन्द्र

सर्वप्रथम तो मैं 'वर्तमान साहित्य' परिवार को इस आयोजन के लिए धन्यवाद देना चाहूँगा। कमलेश्वर कहानी प्रतियोगिता-2008 के लिए मेरी कहानी 'अँधेरे में सुगंध' का चयन कर मेरा जो मान बढ़ाया है उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। मैं नहीं जानता कि किसी लेखक के लिए पुरस्कार का क्या महत्त्व होता है, पर मेरे लिए तो है। इस पुरस्कार ने मेरी जिजीविषा को बढ़ा दिया है। मुझे साहस मिला है और आत्मविश्वास भी। अस्तु, एक बार फिर मैं 'वर्तमान साहित्य' परिवार एवं पुरस्कार-प्रदाता कमलेश्वर के परिवार तथा यहाँ उपस्थित सभी सुसंस्कृत जनों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

यह एक आतताई समय है। ऐसा समय जो मानव को मिटाने में लगा है, व्यवस्थाओं को ध्वस्त करने में लगा है; जिसकी भूख अपरिमित है; हालाँकि, व्यवस्थाएँ कभी मानव के अनुकूल नहीं होतीं। जो चिंतक हैं, सोचते हैं, क्रांतिदर्शी हैं, जिनमें बदलने का हौसला है, वे सदैव इन व्यवस्थाओं को अनुकूल बनाने के लिए प्रयासरत रहते हैं। आज पूँजीवाद का घृणिततम रुप हमारे सामने उजागर हुआ है और हमने उन सीमाओं को भी देख लिया है जिस हद तक पूँजीवाद जा सकता है। पूँजी, जो अपने आप को अनश्वर मान बैठी थी, आज उसको अपने वजूद के लिए कशमकश करनी पड़ रही है। बाज़ार, जो अपने आप को सीमाहीन और वर्जनाहीन और पूरी तरह आज़ाद मान बैठा था, आज औंधे मुँह पड़ा नज़र आ रहा है। इसने मानव समाज के वृहत्तर भाग का कभी भला नहीं किया है। इस व्यवस्था में मानव भाग्यवादी बन बैठा है। एक गलाकाट स्पर्द्धा चल पड़ी है, जहाँ आपको निरंतर दौड़ते रहना है। आप अगर बाज़ार को प्रभावित कर सकते हैं, उसमें अपनी पैठ बना सकते हैं और कैसे भी पूँजी जुटा सकते हैं, तभी आपको जीने का हक़ तब तक मिल सकता है, जब तक आप अपने प्रभाव को बनाये रख सकें। आपके हाथ से तंत्र फिसला और आप खलास। कोई फिर आपको कचरे तक का भाव देने वाला नहीं है। मानव गरिमा का इतना निरादर आज के पहले प्राचीन इतिहास में शायद पहले कभी नहीं हुआ है।

भारत में पूँजीवाद का वह निकृष्टतम रुप अभी अवतरित नहीं हुआ है, पर क्या कह सकते हैं कि कब हमारे नेता, जो पहले से ही उच्छृंखल और विचारहीन हैं, इस दिशा में क़दम बढ़ा लें, वे दरअसल पूँजीवादियों के एजेंट के रुप में काम कर रहे हैं। उनको न देशहित सुहा रहा है और न मानव-हित। वे इनसे परे हैं। अपने अमरीकी आकाओं की इच्छा पूरी करने के लिए वे किसी सीमा तक जा सकते हैं।

ऐसे समय में लेखन की चुनौतियाँ बहुत बढ़ जाती हैं। वैसे तो हरेक समय लेखन के लिए चुनौतियाँ बन कर खड़ा हुआ है, पर वे चुनौतियाँ तब ख़ूंखार नहीं बनीं थीं। आज तो हर क्षण बदल रहा है और प्रतिकूल-दर-प्रतिकूल होता जा रहा है। ऐसे में एक लेखक, जो अपने लेखन को कोई मानसिक विलास मात्र नहीं मानता, अपने आप को एक बहुत बड़े ख़तरे में घिरा खड़ा पाता है। उनके बीच से अपनी कथा के सूत्र ढूँढ निकाल लाना अत्यंत कठिन और दुश्कर काम होता जा रहा है। समस्याएँ इतनी व्यापक और ख़तरनाक पहले कभी नहीं हुई थीं और उनके प्रति मानव मन किस तरह रियेक्ट करता है, इसका अंदाज़ा भी लेखक को हर पल लगाये रखना पड़ता है। इसलिए, मैं कहूँगा कि आज के समय में जो रचा जा रहा है और जिसमें सफलता की पूरी गुंजायश है, वह किसी महाकाव्य से कम नहीं है, भले ही वह रचना आकार में कितनी भी छोटी क्यों न हो। विपत्तियों के महासमुद्र में एक मोती-संचित सीप ढूँढ लाना कम विस्मयकारी नहीं है। इसलिए, आज के पात्र वही बन रहे हैं, जिनका कोई ज़िक्र कहीं नहीं होता, जो सामने होते हुए भी दृश्यमान नहीं होते हैं, पर वे जो रच-कर रहे हैं, वह अपौरुषेय है।

ऐसे समय में लेखक का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। उसे अपने लेखन की अस्मिता बचाये रखने के साथ-साथ अपने पात्रों की अस्मिता बचाये रखने की भी चुनौती झेलनी होती है कि कहीं वे हार न जाएँ। यह एक तरह से दोधारी तलवार पर चलने जैसा है। अपने पात्रों को उस मुकाम पर नहीं छोड़ा जा सकता है कि वे अपनी जिजीविषा से, अपनी मेहनत-मशक़्क़त से हार जाएँ। भले ही निरंतर संघर्ष उनकी नियति बन गयी हो और उनके सामने कोई जीने का औचक मक़सद न रह गया हो। लेकिन कुछ भी हो, वे एक मानव होने की गरिमा से विभूषित तो हैं ही और इस गरिमा की रक्षा करना उनका अधिकार और औचित्य दोनों है।

इस वजह से एक लेखक की जब अपने पात्रों से मुठभेड़

होती है, तो हर बार लेखक को ही हारना पड़ता है। क्योंकि किसी भी पात्र को अपने संघर्षों के बीच आद्योपांत रच लेना एक जोखिम भरा नाकामी का काम है। वह उसको समग्रता में नहीं पकड़ पाता है, इसलिए लेखक को मात्र किंचित को ही अपनी रचना के वैभव से रचने का काम करना पड़ता है। यही लेखक की हार भी है और उसकी सफलता भी, क्योंकि नाकामी के बवंडर में एक तिनके को भी पकड़ लेना एक उपलब्धि ही कही जाएगी।

समय कितनी तेज़ी से बदल रहा है और हालात कितने विपरीत होते जा रहे हैं, उसकी मुकम्मिल तस्वीर बड़ी भयावह है। तकनीक जिस हिसाब से दैत्याकार हो रही है और मनुष्य उसका गुलाम बनता जा रहा है—ये अवसाद के लक्षण हैं, जो हमारी जिजीविषा और हौसले को खाये जा रहे हैं। जीने की और ज़िंदा बने रहने की शर्तें दिन-ब-दिन कठिन हो रही हैं। हम जितना विकास की ओर दौड़ रहे हैं, उतनी की विकट परेशानियाँ अपने लिए खड़ी करते जा रहे हैं। इसके साथ ही एक दूसरे के प्रति हमारी ज़िम्मेदारियाँ शून्य होती जा रही है। संवेदनाएँ ख़त्म हो गयी हैं। यह घड़ी उनके लिए, जिनके पास कुछ नहीं है, बहुत ही विषादपूर्ण और विघटनकारी हो रही है। उनसे उनके जीने का हक़ छीन लिया गया है। वे केवल एक कमोडिटी की तरह इस्तेमाल हो रहे हैं। बाक़ी उनको मनुष्य होने का कोई हक़ नहीं मिला हुआ है।

चाहे हमारी न्याय-व्यवस्थाएँ हों, धर्म की सत्ताएँ हों, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ हों अथवा राजनीति के जगमगाते रास्ते हों—ये सभी मानव-विरोधी हो उठे हैं। ये हमारी उम्मीद के रास्ते नहीं रहे। हर आदमी लड़ रहा है, हर आदमी योद्धा है। उसे कहीं सुरक्षा और सुकून उपलब्ध नहीं है। सामूहिकता ख़त्म हो गयी है और जिस समाज की व्यवस्था सदियों पहले की गयी थी कि यह हर आदमी की रक्षा करेगी, वह ध्वस्त हो गयी है। केवल अपने लिए जीना—इस प्रवृत्ति ने सारे सहयोगों को तोड़ कर रख दिया है। इस अकेलेपन ने सारी मर्यादाओं और नैतिकताओं को झिंझोड़ कर रख दिया है। यह सामूहिक संघर्षों का काल है, पर अकेले लड़ा जा रहा है।

ये सारी लड़ाइयाँ, जो अकेली हैं और जो दुख, जो विषमताएँ और विमुखताएँ हैं और शोषण का जो विकराल रुप निर्मित हो गया है—ये सारी चुनौतियाँ कभी एक साथ और अक्सर अलग-अलग लेखक के सामने हैं और उसे उनके बीच अपनी कथा-यात्रा को, अपनी खोज को मुकम्मिल बनाना है। ऐसे में शब्दों को चुनना और उनमें अर्थ भरना जोखिम और सामर्थ्य का काम है। मैं यह नहीं कहता कि अपनी इस मुहिम में कोई लेखक पूरी तरह सफल होता है। पर वह जितना करता है अथवा जितना अपना सामर्थ्य भर कर देता है, उसका मूल्यांकन होना चाहिए। सभी विजेता नहीं होते, पर किसी युद्ध में भाग लेना भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। तो यह एक अनवरत और कभी न ख़त्म होने वाली लड़ाई है, जो किसी लेखक को लड़नी पड़ती है।

आज किसी भी विचारवान मनुष्य के सामने एक और भी चुनौती है, वह है मानव की अस्मिता की खोज। उस अस्मिता की, जिसका क्षरण लगातार और बड़ी तेज़ी से हो रहा है। इस घटाटोप के भीतर मानव की पहचान, उसके होने का सबूत, उसकी गरिमा खोती जा रही है। इस भयानक तंत्र ने सब कुछ निगल लिया है। आदमी बस एक पुरजा भर नज़र आता है। उसके भाग्य का लेखा, उसकी गति, उसकी जीवन शैली, उसके राग-द्वेष—सब कुछ दूसरों के अधीन हो गया है। उसकी क्षमताओं को जकड़ दिया गया है। वह अपना निर्णायक खुद नहीं बन सकता। जो वे चाहेंगे, वही होगा। यह इक्कीसवीं सदी विडंबनाओं की सदी बनने जा रही है हालाँकि इसके सूत्र पिछली सदी से जुड़े हैं। यह एक लंबी और संगठित प्रक्रिया के तहत हुआ है। आर्थिक मंदी ने शक्तिशाली देशों को अपनी चपेट में न लिया होता, तो इस प्रक्रिया की गति बहुत तेज़ हो गयी होती। मेरा विचार है कि यह सदी पूँजीवाद के पराभव की सदी भी सिद्ध होकर रहेगी। पूँजीवाद का जो ढाँचा पहले इतना मज़बूत दिख रहा था, पिछले कुछ माहीनों में उसकी विकट पोल खुल गयी है। जो कल तक दैत्य दिख रहा था, वह मेमने से भी दयनीय दिखने लगा है।

हो सकता है कि आगामी कुछ वर्ष ज़श्न का माहौल देने लगें, जब पूँजीवाद अपने निकृष्टतम रुप में चला जाए और मानवीय गरिमा फिर क़ायम हो। पर, लेखक का दायित्व कहाँ ख़त्म होता है। इस बात की तो कोई गारंटी नहीं दी जा सकती कि कोई दूसरी अनिष्टकारी व्यवस्था आकर मनुष्य को नहीं दबोच लेगी। पर, लेखक कभी निराश नहीं होता। वह लड़ता है, रचता है। यही उसका सृजन है और यही उसका दायित्व है।

अस्तु अब अपनी बात ख़त्म करता हूँ।



क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया

अभिज्ञात

पोर्ट टॉरटॉइज़ समुद्र तक पर स्थापित किया गया था। यहाँ चल रहा था कछुओं पर अनुसंधान। उसका एक कारण यह था कि यहाँ भारी तादाद में दुनिया से कछुए अंडे देने के लिए आते थे। समुद्र का यह कोना उन्होंने क्यों पसंद किया था, उसके क्या ख़ास कारण हैं—इस पर हो रही थी खोज। खोज के लिए यहाँ अनुसंधान केंद्र स्थापित किया गया था। इस पोर्ट से वस्तुओं की आवाजाही नहीं होती थी। यहाँ, चूँकि पूरी दुनिया के कछुए आते थे, इसीलिए इन्हें कछुओं का पोर्ट कहा गया और उसका नामकरण किया गया पोर्ट टॉरटॉइज। कछुओं के रहन-सहन और समुद्र की अथाह गहराइयों के रहस्यों को जानने के कई उपाय यहाँ के अनुसंधान केंद्र में चलते रहते थे, जिसमें कछुओं की तमाम गतिविधियों पर निगाह रखना शामिल था।

इस अनुसंधान केंद्र में कुल जमा पाँच स्टाफ़ था, जिनमें एक थे प्रोफ़ेसर एन0एन0 निगम, जो केंद्र के प्रमुख थे। निगम न सिर्फ़ प्राणिविज्ञानी थे, बल्कि वे भाषाविज्ञान के गहन अध्येता था। वे पशु-पक्षियों की बोली को समझने में किसी हद तक सफल थे। वे अरसे से कछुओं की भाषा समझने की कोशिश में जुटे थे। दुनिया भर से यहाँ अंडे देने आये कछुओं की विचित्र प्रजाति के कछुए तट के मुहाने पर आते थे और अंडे देते थे। अंडे देने से पहले वे तटीय हिस्से में घोंसले बनाना शुरू कर देते थे। हज़ारों की संख्या में ये समुद्र के किनारे रेत पर आ जाते हैं और सुरक्षित लगते स्थानों पर खोद कर अंडे देते। अंडे देने के बाद मादा कछुए वापस समुद्र में लौट जाते हैं। पैंतालीस दिन बाद अंडों से उनके बच्चे निकलते हैं। एक कछुआ एक बार में बीस से तीस अंडे देता है। अंडे देकर लौटते समय उनमें से कुछ को पकड़ कर उन पर माइक्रोचिप, वीडियो कैमरा, रेडियो ट्रांसमीटर, दिमाग़ में इलेक्ट्राड व अन्य उपकरण बिठाकर उन्हें फिर समुद्र में छोड़ दिया गया था, जिससे कि वे अपनी अलग-अलग दुनियाओं में चले जाएँ और वहाँ से इन उपकरणों के ज़रिये उनके जीवन, पर्यावरण और समुद्र के संबंध में कई अनुद्घाटित पहलुओं की जानकारी मिलने की संभावना थी। वे उनकी गतिविधियों पर पैनी निगाह रखे हुए थे। प्रोफ़ेसर का घर थोड़ी दूर पर था, जहाँ वे अपनी पत्नी व बेटी के साथ रहते थे। किंतु, उनका ज़्यादातर समय घर के बजाय अनुसंधान केंद्र में ही बीतता था, जबकि दूर दराज़ इलाक़े में बने इस केंद्र में बड़ी मुश्किल से ही सरकारी व्यक्ति आते जाते थे। कार्यालय के कर्मचारी अक्सर ड्यूटी पर नही आते थे। आते थे, तो महीने में दो-चार दिन के लिए। जो आता, यहाँ से ट्रॉंसफ़र लेने की कोशिश में लग जाता। एक ढंग से प्रोफ़ेसर ही यहाँ के कर्ताधर्ता थे। प्रोफ़ेसर को अपनी एक खोज के लिए अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुका था और उन्हीं की माँग पर यह अनुसंधान केंद्र स्थापित किया गया था। सरकारी महकमे में उनके काम को लगभग व्यर्थ की कवायद मान लिया गया था, किंतु अंतरराष्ट्रीय सम्मान के कारण उनकी साख थी, जिसके कारण उनके काम में हस्तक्षेप करने का साहस किसी में नहीं था। केंद्र को समय-समय पर प्रधानमंत्री कार्यालय सीधी राहत राशि भेज दिया करता था, हालाँकि उनका ज़िक्र आते ही लोगों के चेहरे पर एक परिहास की परछाई खिंच जाती थी। प्रोफ़ेसर के तर्क को कोई नहीं समझ पाता था कि इससे क्या हासिल होना है। कोई यह पूछने भी नहीं आता था कि इस केंद्र ने क्या हासिल किया है। स्वयं प्रोफ़ेसर ने अपने अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार को भी इस केंद्र की स्थापना के लिए सरकार को समर्पित कर दिया था। प्रोफ़ेसर निगम के कार्यों के कारण दुनिया भर के एन0आर0आई0 भी इस केंद्र की आर्थिक मदद करते रहते थे। कछुओं को लेकर उनकी गहरी दिलचस्पी के कारण विभाग में उन्हें प्रोफ़ेसर निगम नहीं, बल्कि प्रोफ़ेसर टॉरटॉइज़ कहा जाने लगा था। कछुओं पर उनके लेख अंतरराष्ट्रीय शोध पत्रों में छपते, जिन्हें ख़ासे सम्मान के साथ देखा जाता था। वे कई बार अंतरराष्ट्रीय सेमिनारों में भी कछुओं पर पर्चे पढ़ने के लिए बुलाये जाते थे।

कछुओं के साथ उनका संबंध इतना प्रगाढ़ होता गया कि वे उनकी भाषा किसी हद तक समझने में कामयाब होने लगे थे, हालाँकि यह अभी आरंभिक चरण में ही था। उन्होंने यह रहस्य किसी पर ज़ाहिर नहीं होने दिया, क्योंकि इसका खुलासा बहुत ख़तरनाक हो सकता था। वे भाषा को यदि ठीक प्रकार से समझ लेने में कामयाब हो जाते हैं, तो दुनिया भर में कछुओं से वे सीधी बात कर सकते थे और कछुओं से वे समुद्र की अतल गहराइयों के राज़ जान लेते। वह भी लगभग पाँच सौ सालों का इतिहास, क्योंकि कछुओं की पाँच सौ साल उम्र आम बात है। कई कछुओं को उनके पूर्वजों की बातें भी याद होने की संभावना थी, जो उन्होंने उनसे सुन रखी होंगी। कछुओं पर शोध में डूबे प्रोफ़ेसर ने अपने दांपत्य जीवन पर कभी ध्यान नहीं दिया। बच्ची पढ़ाई-लिखाई में बेहद कमज़ोर थी और वह अपनी कक्षाओं में फ़ेल होती रहती थी और पत्नी अक्सर बीमार और चिड़चिड़ी।

उन्होंने एक कम पढ़ी-लिखी सीधी-सादी देहाती लकड़ी से यह सोच कर विवाह किया था कि वह उनके काम में किसी प्रकार से बाधक नहीं बनेगी, क्योंकि उनका अपना जीवन सामान्य लोगों से अलग था, सपने अलग थे, जीने के तौर-तरीक़े अलग थे। व्यर्थ की पारिवारिक औपचारिकताओं के लिए उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था। उन्हें इस छोटे से जीवन में बहुत कुछ करना था। लोगों का जीवन बेहतर बनाने का लक्ष्य था उनके सामने और वे जीवन की गुत्थियों को सुलझाना और समझना चाहते थे। लेकिन, उनका वैवाहिक जीवन वैसा नहीं हो पाया, जैसा उन्होंने चाहा था। पत्नी भी दूसरी अन्य पत्नियों की तरह निकली। वह दूसरे के जीवन से अपने जीवन के ढर्रे की तुलना करती और उनसे भी वही अपेक्षाएँ, जो अन्य सामान्य पति से कोई पत्नी करती है। वह चाहती थी कि वे उसके मायके जाएँ, मेहमानों से बोलें-बतियाएँ, समाज में उठें-बैठें, लोगों के यहाँ भी आएँ-जाएँ, तफ़रीह पर ले जाएँ। समय पर काम पर जाएँ और ड्यूटी का समय ख़त्म होते ही घर लौटें। यह स्वाभाविक था कि प्रोफ़ेसर से नहीं हो पाया और वह कर्कशा और ज़िद्दी होती गयी। अक्सर अनबन रहती। झगड़े होते। वे तनहा होते गये और पूरा जीवन ही शोध को समर्पित होकर रह गया। पत्नी कभी नहीं समझ पायी कि प्रोफ़ेसर क्या हैं। वह दूसरों से कितने भिन्न हैं। पत्नी अक्सर बीमार रहने लगी थी। नहीं रहती, तो भी वह कई कुंठाओं से ग्रस्त थी और प्रोफ़ेसर को मानसिक तौर पर बीमार ही लगती। उसमें एक गंभीर बीमारी के सिम्टम्स भी प्रोफ़ेसर को नज़र आये, अलबत्ता तो वह अपने को डॉक्टर को दिखाने को तैयार नहीं हो रही थी और फिर दवाएँ लेने में उसने लगातार कोताही बरती। दवाओं की अनियमितता ने उसे ऐसी स्थिति में ला पटका जहाँ दवाएँ प्रायः कम ही असर करतीं। वे बेटी को समय देना चाहते थे, लेकिन वह कोशिश करती कि बेटी भी उनसे दूर ही रहे। हर बात में लगता कि प्रोफ़ेसर का व्यवहार बेटी के प्रति भी स्वस्थ नहीं है। वे बेटी से अपेक्षाकृत अधिक गंभीरता से पेश आते हैं। पत्नी को लगता कि प्रोफ़ेसर खुद तो व्यावहारिक हैं नहीं, बेटी को भी अपने जैसा बना देंगे। ज्ञान -विज्ञान की नीरस दुनिया के नर्क में वे बेटी को भी झोंक देंगे। और, जब प्रोफ़ेसर अमरीका के एक अंतरराष्ट्रीय सेमिनार में पेपर पढ़ने गये थे, वहाँ फ़ोन पहुँचा कि पत्नी का बीमारी से देहांत हो गया है। जब वे घर लौटे, तो तब महसूस हुआ कि उनसे बड़ी ग़लती हुई है। पत्नी की छोटी-मोटी इच्छाओं तक का उन्होंने ध्यान नहीं रखा था और उसकी बीमारी को भी गंभीरता से नहीं लिया। यदि वे थोड़ा सामान्य हो जाते, अर्थात दूसरे आम लोगों की तरह जीते, तो शायद पत्नी अब भी दुनिया में होती। पत्नी की ग़लती नहीं थी। वह एक साधारण औरत थी, उसके सपने और इच्छाएँ भी वैसी ही थीं, तो यह ग़लत कहाँ था। यदि वे अस्वाभाविक ज़िंदगी जीते हैं और दूसरों से अलग सोच रखते हैं, तो यह उनकी अपनी ग़लती है। वे अपने को दूसरों पर थोपने वाले कौन हैं। उन्हें लगा कि बेटी के प्रति भी वे बेहद लापरवाह रहे हैं और अब बेटी की ज़िम्मेदारी ही उनके जीवन की प्राथमिकता होगी।

प्रोफ़ेसर पश्चाताप की आग में जलने लगे। अब वे अनुसंधान केंद्र बेहद कम जाते। बच्ची के साथ अधिक से अधिक वक़्त गुज़ारते। बच्ची को कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक था। उसकी ज़िद पर वे रोज़ रात को कहानियाँ सुनाते। बचपन में सुनी और बाद में पढ़ी कहानियों का उनका स्टॉक जल्दी ही ख़त्म हो गया, किंतु बेटी की फ़रमाइशें जारी रहीं। अब वे मनगढ़ंत क़िस्से सुनाने लगे थे और जल्द ही इसमें माहिर हो गये। एक दिन उन्हें यह ख़याल आया कि क्यों न इन क़िस्सों को लिख कर किसी प्रकाशक को थमा दें, ताकि अन्य बच्चे भी इससे लाभान्वित हों। प्रोफ़ेसर ने जो क़िस्से लिखे, वे धारावाहिक की शक्ल में थे। एक ख़ास चरित्र था, जो उनकी हर कहानी में आ जाता था, जिसका नाम उन्होंने क्रेज़ी फ़ैंटेसी रखा था। क्रेज़ी फ़ैंटेसी मनचाही शक्लें अख़्तियार करने में माहिर था। कभी वह बड़े जानवर की शक्ल ग्रहण कर लेता, तो कभी दैत्य की। कभी वह चुड़ैल बन जाता, तो कभी साँप; कभी मछली, तो कभी बंदर। वह अच्छों के साथ अच्छे व्यवहार करता और बुरे को दंड देता। यही वे क़िस्से थे, जो प्रोफ़ेसर अपनी बेटी को सुनाते। और जो धारावाहिक कहानियाँ उन्होंने लिखी थीं, वे वही थीं। प्रकाशक ने उन्हें अच्छी-ख़ासी रक़म दी और क्रेज़ी फ़ेंटेसी के कारनामों पर कई धारावाहिक उपन्यास लिखने का प्रस्ताव दे गया। जितने भी खंड वे चाहें, लिखें। फिर क्या था, प्रोफ़ेसर का काम आसान हो गया। वे क़िस्सों के दुनिया में डूबते गये। क्रेज़ी फ़ैंटेसी सीरीज़ का पहला उपन्यास ही धमाकेदार साबित हुआ। बच्चे, बड़े, बूढ़े सब क्रेज़ी फ़ैंटेसी के तिलस्म में फँसते नज़र आये। लोगों को उनके अगले उपन्यास का इंतज़ार रहने लगा।

फिर क्या था, उनके क्रेज़ी फ़ैंटेसी सीरीज़ के उपन्यास एक के बाद एक निकलते गये। उपन्यास लोकप्रिय उपन्यासों की कड़ी में मील के पत्थर साबित हुए तथा उन्होंने बिक्री के नये कीर्तिगान भी स्थापित किये। उपन्यासों की लोकप्रियता का अंदाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि उस पर फ़िल्में बनने लगीं। धारावाहिक बने और रेडियो नाटक भी बने। अखबार-पत्रिकाएँ उनकी चर्चा करने लगे थे। मनोरंजन की दुनिया में यह एक नया धमाका था। कोई उपन्यास इस क़दर पॉपुलर नहीं हुआ था, कोई चरित्र इतना चमत्कारपूर्ण और विस्मयकारी नही था। क्रेज़ी फ़ैंटेसी बुरे और अच्छे-दोनों की ही विशेषताओं से लैस था। उसकी ख़ूबियाँ लोगों को रिझातीं, उसकी ख़ामियों का ख़ौफ़ भी ज़बरदस्त था। क्रेज़ी फ़ैंटेसी की उपस्थित हर कहीं थी। उसके रूप अनेक थे—सम्मोहक भी और डरावने भी। पुरस्कार और दंड उसके प्रमुख कार्य थे, लेकिन, वह सहायक भी हो सकता था किसी का। चरित्र के आसपास बने होने का आभास हो सकता था उसके पाठकों को। फ़िल्मों ने क्रेज़ी फ़ैंटेसी के कई रूप बड़े पर्दे पर दिखाये थे और कई बार सिनेमाघर में क्रेज़ी फ़ैंटेसी के रूप को देखकर दर्शकों की चीख़ निकल जाती थी। यह चरित्र की कामयाबी थी और फ़िल्म में उसके साथ डायरेक्टर का न्याय था, उसकी गंभीरता थी और कला का कौशल था। फ़िल्मी तकनीक का विकास -था।

क्रेज़ी फैंटेसी लोकप्रिय उपन्यासों का एक अविस्मरणीय चरित्र बना रह सकता था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उसने अपनी हदें पार कर दीं। अचानक क्रेज़ी फैंटेसी में जान आ गयी और हंगामा बरपा हो गया। साहित्य की दुनिया में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। कोई औपन्यासिक और एकदम काल्पनिक चरित्र जीता जागता दुनिया में उपस्थित नहीं हुआ था, किंतु ऐसा हो गया। पहले पहल तो प्रोफ़ेसर निगम को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने इधर-उधर से सुना था। यह बात उन्हीं की तरह जब लोगों ने पहले सुनी, तो सोचा यह उपन्यास के किरदार को हिट करने का कोई फंडा है। चूँकि, क्रेज़ी फैंटेसी पर फ़िल्में बन रही थीं, नॉवेल बिक रहे थे, धारावाहिक चल रहे थे, सो स्वाभाविक था कि करोड़ों की पूँजी इस चरित्र में लगी थी और क्रेज़ी फैंटेसी को लेकर किसी प्रकार की अतिरिक्त चर्चा इसे और लोकप्रिय बना सकती थी; जिनका ध्यान इस पर अब तक नहीं गया है उनका ध्यान आकृष्ट करा सकती थी, किंतु ऐसा नहीं था। देश के कई हिस्सों में ऐसी ख़बरें एक साथ सुनायी दीं कि क्रेज़ी फैंटेसी देखा गया है, जिसे देखने के बाद कई लोग बेहोश हो गये और उन्हें अस्पतालों में भी भर्ती कराया गया है। कुछेक लोगों की मौत की ख़बरें भी सुनी गयी हैं। इन ख़बरों से देश के अख़बार भरे पड़े थे और टीवी चैनल लगातार उन लोगों के इन्टरव्यू प्रसारित कर रहे थे, जिन लोगों ने उसे साक्षात देखा था। पते की बात यह थी कि लोगों ने क्रेज़ी फैंटेसी को उन्हीं रूपों में देखा, जैसा उपन्यासों में उसका वर्णन था। किसी ने कहा कि जब वह टीवी पर क्रेज़ी का सीरियल देख रहा था, एकाएक वह टीवी से बाहर निकल कर सामने आ गया और वह जब उसकी ओर लपका, तो वह बेहोश हो गया। कोई कह रहा था कि वह देर रात को क्रेज़ी का नॉवेल पढ़ रहा था और एकाएक क्रेज़ी की ज़ोरदार गुर्राहट उसे सुनायी दी, पलट कर उसने देखा, तो पाया कि वह दैत्याकार उसके पीछे खड़ा था। उसकी जीभ लपलपा रही थी। उसके बड़े-बड़े नाखून वाले हाथ उसकी ओर लपके थे, फिर क्या हुआ, इसका उसे होश नहीं। उसने बाद में अपने को अस्पताल में पाया। इस प्रकार की दहशत की ख़बरें लगातार आने लगी थीं और फिर तब गजब हुआ, जब सिनेमाहॉल में क्रेज़ी फैंटेसी की फ़िल्म चल रही थी और वह सिनेमाहॉल में ही प्रगट हो गया। भगदड़ में दस लोगों की जानें गयीं, कई अन्य घायल हो गये। कोई यह नहीं बता पाया कि वह परदे से निकल कर ठीक उसके सामने खड़ा हो गया, किंतु गया कहाँ। किसी को यह देखने का होश नहीं था। सब अपनी जान बचाकर भागने के फेर में थे।

टीवी और अख़बार वाले उनके घर के सामने मजमां लगाये हुए थे और उनसे तरह-तरह के सवाल पूछे जा रहे थे। क्रेज़ी फैंटेसी क्या है? वह कहाँ रहता है? क्या खाता-पीता है? पहली बार वह कहाँ देखा गया था? उससे सामना करने का क्या उपाय है? वे उससे पहली बार कब मिले थे?

मीडिया यह मानने को तैयार नही था कि यह काल्पनिक चरित्र था, जो अब वास्तविक हो उठा है। यह संभव ही नहीं है। और यह बात कोई वैज्ञानिक कहे, तो और गले उतरने लायक नहीं है। यह कैसे संभव है कि कोई वास्तविक प्राणी की पहले ही कल्पना कर ले। उसके हाव-भाव तौर-तरीक़ों, रूप-रंग और आवाज़ों तक को जान ले, जैसे कि वह अरसे से उसे जानता हो।

अंतरराष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक निगम से पूछताछ करने से प्रशासन पहले तो कतराता रहा, किंतु मीडिया के बेलौस सवालों ने उसका हौसला बढ़ाया। मुख्यमंत्री तक ने सीधे केंद्रीय गृह मंत्रालय से बात की और उनके आरंभिक जीवन पूछताछ की गयी। यह ज़रूर हुआ कि उनको पर्याप्त सम्मान देते हुए उनसे उनकी प्रयोगशाला में पूछताछ का समय लिया गया और फिर वही पूछताछ की गयी। प्रोफ़ेसर निगम के जवाब जाँचकर्ताओं को संतुष्ट नहीं कर सके। वे बार-बार क्रेज़ी फैंटेसी के काल्पनिक होने की बात दुहराते रहे। उनके जवाब से गृह मंत्रालय को अवगत कराया गया। केंद्रीय टीम खुद चलकर उनके यहाँ पहुँची, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। देश भर में क्रेज़ी फैंटेसी के प्रकट होने के नये-नये मामले आते रहे और लोगों का प्रोफ़ेसर निगम और सरकार के ख़िलाफ़ प्रदर्शन ज़ोर पकड़ता गया। अंततः प्रोफ़ेसर निगम को उनकी बेटी सहित उनकी प्रयोगशाला में नज़रबंद कर दिया गया। ऐसा इसलिए भी किया गया, क्योंकि प्रोफ़ेसर की जान को ख़तरा हो सकता था। प्रदर्शन उग्र होते जा रहे थे। क्रेज़ी के बारे में जब तक प्रोफ़ेसर नही बताते, कोई कार्रवाई संभव ही नही लग रही थी। लोगों का कहना था कि प्रोफ़ेसर इस अलौकिक शक्तिसंपन्न प्राणी के संबंध में बहुत अच्छी तरह से जानते हैं, किंतु किन्हीं कारणों से वे उसका बचाव कर रहे हैं या फिर सरकार सब कुछ जानते-बूझते लोगों के बचाव में आगे नहीं आ रही है। क्रेज़ी से जुड़े साहित्य, फ़िल्म व धारावाहिकों पर प्रतिबंध लगाया जा चुका था, लेकिन मामला थमता नज़र नहीं आ रहा था। मरने वालों की संख्या सौ से अधिक हो चुकी थी। जिन लोगों ने देखा था, वे दहशत से उबर नहीं पा रहे थे। कुछ लोग मानसिक रूप से विक्षिप्त हो चुके थे।

प्रोफ़ेसर निगम अरसे बाद अपनी प्रयोगशाला में थे। क्रेज़ी फैंटेसी सीरीज़ के लेखन ने उन्हें वक़्त ही नहीं दिया था कि वे कछुओं से जुड़े अपने शोध को आगे बढ़ा सकें। अब क्रेज़ी फैंटेसी की कहानियाँ लिखने का उनमें साहस नहीं रह गया था और ज़रूरत भी नहीं थी। उसके चलते वे विकट परिस्थितियों में फँस गये थे। वे उलझन में थे कि ऐसा हुआ तो कैसे। उन्हें दूर-दूर तक याद नहीं आता कि ऐसे किसी प्राणी के बारे में उन्होंने किसी किताब में पढ़ा हो और अवचेतन में वे उसके बारे में लिख बैठे हों।

मन उदास और बुझा-बुझा सा था। बाहर कहीं निकल कर घूम आने का कोई उपाय न था। बाहर सख़्त पहरा था। जाने कब तक वे नज़रबंद रहेंगे और इस नज़रबंदी से क्या हासिल होगा। उन्होंने पुराने शोध को आगे बढ़ाने का मन बनाया। कछुओं की बातों को समझने की ही कोशिश की जाए इस नज़रबंदी में। उन्होंने कंप्यूटरों पर वे मैसेज चेक किये, जो कछुओं पर फिट किये गये थे। वे यह देखकर रोमांचित हो उठे कि एक कछुए ने अपनी ओर से भी उनसे संपर्क करने की काफ़ी-कोशिशें की हैं। उसका वॉइस

मैसेज चेक किया। वह पहले से काफ़ी बदला लगा। यह साफ़ दिखायी देता था कि कछुओं की भाषा समझने में उन्होंने जितनी कोशिश की है, उससे अधिक कोशिश एक कछुए ने आदमी की भाषा समझने में और उसी प्रकार बोलने में की है। ध्वनि तरंगों को लिपि और उसे मानवीय आवाज़ में बदलने वाले सॉफ़्टवेयर की मदद से कंप्यूटर ने कछुए की भाषा का तर्जुमा किया था। वह कछुआ मदद चाहता था मनुष्य से। निगम ने कछुए से तत्काल संपर्क किया। आदमी की आवाज़ से उठती तरंगों को उपकरणों की सहायता से कछुए तक संपर्क सध गया। और यह चमत्कार था, जिसका प्रोफ़ेसर को हमेशा से इंतज़ार था। वे कछुए से संवाद कर सकते थे। और उन्होंने किया भी। इसे वे बेहद गोपनीय भी रखना चाहते थे।

यह साढ़े चार सौ साल की उम्र का कछुआ था। वह उनसे मदद माँग रहा था। उसका कहना था कि समुद्र में तेल निकालने के जो प्रयास किये जा रहे थे, उससे समुद्र की भारी क्षति होने जा रही है। समुद्र के पास अथाह संपदा है, किंतु उसे प्राप्त करने के तरीक़े मनुष्य ने नहीं सीखे हैं। उन्हें सीखना होगा। जिस प्रकार से तेल निकालने के प्रयास किये जा रहे हैं, उससे स्वयं कछुए की जाति भी ख़तरे में पड़ने जा रही है और मछली सहित अन्य जीव भी जो समुद्र में रहते हैं।

धीरे-धीरे कछुआ प्रोफ़ेसर का दोस्त बन गया और वे उसके साथ चैट पर बैठे रहते। प्रोफ़ेसर ने अपनी समस्या बतायी–क्रेज़ी फ़ैंटेसी के संबंध में। अपने अनुमान बताये कि क्या-क्या संभव है। कैसे हो सकती है ऐसी वारदात। कछुए के पास अपना साढ़े चार सौ साल का तजुर्बा था। उसके और भी साथी थे दुनिया भर के समुद्रों में फैले हुए। अन्य प्राणी भी उसके दोस्त थे। कछुए ने सबसे संपर्क साधा। सबको बताया कि पृथ्वी के एक ख़ास भूखंड में क्या हो रहा है। और फिर कछुए ने जो जानकारी दी, वह प्रोफ़ेसर के लिए पर्याप्त चौंकाने वाली थी।

प्रोफ़ेसर ने प्रधानमंत्री कार्यालय को फ़ोन लगाया और प्रधानमंत्री से मिलने का समय माँगा। समय तय हो गया, क्योंकि वे स्वयं भी उनसे मिलना चाहते थे। प्रोफ़ेसर के उपन्यास के चरित्र क्रेज़ी फ़ैंटेसी के चलते उनकी सरकार की ख़ासी बदनामी हो चुकी थी। तत्काल एक विशेष विमान से उन्हें दिल्ली ले जाया गया और फिर प्रधानमंत्री निवास पर एक अति गोपनीय बैठक प्रधानमंत्री व प्रोफ़ेसर के बीच हुई। बैठक में उन दोनों के अलावा और कोई नहीं था।

प्रोफ़ेसर ने कहा–"प्रधानमंत्री जी, क्या आपको पता है कि देश के कुछ हिस्सों में ख़ास प्रकार की मछलियाँ विचित्र समुद्र तटों पर पायी गयी हैं, जिनका आकार सामान्य से कुछ बड़ा था।

यह क्या सवाल हुआ। क्या आपको लगता है कि मेरे पास यह सब जानने का वक़्त होता है। आपके कहने का आशय क्या है ? हम आपसे क्रेज़ी के बारे में जानना चाहते हैं और आप हैं कि मछलियों की चर्चा कर रहे हैं।"

"यह बात उसी के संदर्भ में हो रही है। इन मछलियों में एक ख़ास तरह के वायरस प्लांट किये गये थे, जिनके कारण मछलियों का आकार सामान्य की तुलना में अधिक हो गया था। वे अस्वस्थ थीं और देश के विचित्र तटों पर सुमद्र से बाहर निकल पड़ी थीं। जिन्होंने उन मछलियों को खाया, उनमें एक ख़ास प्रकार के फ़ोबिया का संक्रमण हो गया, जो सच और कल्पना का फ़र्क़ भूल जाते हैं। जो बात उनके दिलो दिमाग़ को गहरे तक प्रभावित करती है, उसे वे सच मान बैठते हैं और अपनी कल्पना को ही हक़ीकत समझ बैठते हैं। चूँकि, इन दिनों मेरे उपन्यास लोगों के ज़ेहन पर छाये हुए थे, इसीलिए उन्होंने मेरी रचना के एक सशक्त पात्र को हक़ीकत समझ लिया।"

"आपके कहने का मतलब है कि क्रेज़ी फ़ैंटेसी केवल कल्पना है, लोगों को उसके होने का वहम हुआ है?"

"हाँ, क्योंकि जो लोग भी उससे प्रभावित हुए हैं, वे केवल दहशत से हुए हैं। क्रेज़ी के सशरीर होने का प्रमाण कोई नहीं दे पाया है। जो लोग मरे हैं, वे दुर्घटना में मरे हैं या फिर तनाव के कारण।"

"आपको कैसे पता चला कि मछलियों में वायरस प्लांट किये गये हैं।"

"मेरे अपने सोर्स हैं, जिन्होंने मुझे बताया। हम एक बहुत बड़ी अंतरराष्ट्रीय साजिश का शिकार हुए हैं। हमें हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठना चाहिए।"

"प्रोफ़ेसर, क्या आपको पूरा यकीन है कि जो कुछ आप कह रहे हैं, वह सच है।"

"हाँ। मैं जानता हूँ कि मैं किससे बात कर रहा हूँ। यह वक़्त व्यर्थ में समय गँवाने का नहीं है, देश के तमाम लोग संकट में हैं।"

"एक ख़ास तरह के वायरस के बारे में मुझे गृह मंत्रालय ने बताया ज़रूर था, लेकिन यह नहीं बताया था कि वह वायरस मछलियों में प्लांट किया गया था और वे मछलियाँ हमारे देश में पायी गयीं।"

"पता लगावाइए, प्रधानमंत्री जी। इस बात का भी पता लगवा लीजिए कि जो लोग फ़ोबिया का शिकार हुए, वे शाकाहारी हैं या नहीं। मेरा मतलब है कि वे मछलियाँ खाते हैं या नहीं।"

"ठीक है, किंतु हम बड़ी मुश्किल में हैं, यदि यह सच है तो। जिस देश ने यह किया है, उससे हमारे रिश्ते बेहतरी की ओर जा रहे हैं। हमारे देश के कई बड़े सौदे उसके साथ लगभग अंतिम चरण में हैं। हम किसी भी क़ीमत पर सौदे को सफल कराने में लगे हैं। यह हमारी सरकार के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन चुका है और इन सौदों की सफलता ही हमें फिर से सरकार बनाने में सहायक सिद्ध होगी। उसी के बल पर हम अगले चुनाव में लोगों के सामने जाएँगे। फिर आप तो जानते ही हैं गठबंधन सरकार की मुश्किलें। गठबंधन सरकार चलाना एक पलड़े में कई मेंढक तौलने के समान है। जिसे देखें गठबंधन तोड़ने की धमकी देता रहता है। जिस देश की यह करतूत है, वह देश हमें क्रेज़ी फ़ैंटेसी की बला से निपटने के लिए करोड़ों की राहत दे रहा है, दवाओं के रूप में और डॉक्टरों के रूप में। डॉक्टरों की टीमें आ चुकी हैं और बीमार लोगों का इलाज किया जा रहा है। आशा की जाती है कि सब कुछ ठीक हो

...ा, क्योंकि वह देश स्वयं जानता है कि उसने हमें क्या बीमारी दी है और उसका क्या इलाज है। आपको इस बात से इन्कार न होना चाहिए कि आपकी चुप्पी ही देश हित में है और हमारी सरकार के भी। हम जानते हैं कि आप देश के ज़िम्मेदार नागरिक हैं। फ़िलहाल जैसी स्थिति है, आपसे आग्रह है कि सब्र रखें। हम आपको कुछ दिनों के लिए अज्ञात स्थान पर नज़रबंद करने जा रहे हैं, जहाँ आप किसी से नहीं मिल सकते।''

''यह क्या?''

''यह ज़रूरी है, क्योंकि यदि किसी के सामने आप कुछ कह देंगे तो हमारी सरकार तो गयी, हमारे सौदों पर भी आँच आ जाएगी। आप कूटनीति नहीं समझते प्रोफ़ेसर। आप चिंता न करें, आपकी बेटी को हम देश के एक बड़े बोर्डिंग स्कूल में भेज रहे हैं, जहाँ उसकी पढ़ाई सहित सारा खर्च सरकार वहन करेगी। और हाँ, अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए भी आपको नामित करने जा रहे हैं। आप तो जानते ही हैं कि उसी देश के इशारे पर कई पुरस्कार दिये जाते हैं। इस साल पद्म पुरस्कारों के लिए भी हम सिफ़ारिश करेंगे। आपके शोध संस्थान व प्रोजेक्ट पोर्ट टॉरटॉइज के लिए के लिए सौ करोड़ की ग्रांट दी जाएगी। फिर मिलते हैं, नमस्ते।''

और तेज़ क़दमों से प्रोफ़ेसर निगम प्रधानमंत्री कार्यालय से निकले थे। बाहर निकलते ही उन्हें ख़ुफ़िया पुलिस के लोग अपने साथ किसी अज्ञात स्थान पर ले गये जहाँ उन्हें सबसे अलग तथा सभी सुविधाओं से लैस बंगले में रखा गया।

इधर प्रधानमंत्री ने गृहमंत्रालय से इस संबंध में चर्चा की और ख़ुफ़िया विभाग की उच्चस्तरीय बैठक बुलायी, तो उन्हें जानकर हैरानी हुई कि प्रोफ़ेसर की बातों में सच्चाई थी। जो मछलियाँ पायी गयीं, उनमें वायरस प्लांट किये गये थे। एक विकसित देश ने एक खास तरह के वायरस से छुटकारा पाने का यह उपाय किया था। दुनिया को एक बड़ी बीमारी से सौ साल तक बचाने वाले एक ख़ास वायरस को नष्ट करना उसकी मज़बूरी थी, क्योंकि वह बीमारी दुनिया से अब ख़त्म हो चुकी थी। रोग के वायरस से ही उसके निवारण के टीके बनाये गये थे। अब, जबकि बीमारी का दुनिया से पूरी तरह ख़ात्मा हो चुका था, टीकों के वायरस को ख़त्म किया जाना ज़रूरी था। उसे ख़त्म करने की घोषणा तो आनन-फानन में कर दी गयी, लेकिन चाहकर भी वायरस के बदले स्वरूप को एकदम निष्प्रभावी नहीं किया जा सका। हालाँकि उसकी प्रभाव काफ़ी क्षीण हो गया था। वायरस का यह बदला रूप किसी में संक्रमण कर जाए, तो वह हैल्युसिनेशन बीमारी को जन्म दे सकता था, यह दिमागी बीमारी है जो किसी व्यक्ति में उसकी तीव्रतर कल्पना को हक़ीक़त होने का भ्रम पैदा करने में समर्थ है। इस बीमारी का इलाज नहीं था। यह बीमारी दिमाग़ी हालत के ठीक होते ही अपना प्रभाव ख़त्म कर सकती थी।

वायरस के बदले रूप को उस देश ने कुछ मछलियों के अंदर डाल दिया और उसे उस देश के काफ़ी दूर समुद्र में छोड़ दिया था। अब, जबकि प्रोफ़ेसर निगम दावा कर रहे हैं कि यह वायरस मछलियों से यहाँ आया है, तो यह दलील सही जान पड़ती है। ख़ुफ़िया विभाग ने इस बात की ताक़ीद कर दी कि जिन शहरों में ये मछलियाँ पायी गयीं, क्रेज़ी फ़ेंटेसी के कहर की ख़बरें उन्हीं शहरों से मिली हैं। और जो लोग शिकार हुए हैं, उन्होंने मछलियाँ खायी थीं।

रिपोर्ट आने के बाद गठबंधन सरकार की बैठक हुई। क्रेज़ी फ़ैंटेसी से निपटने की जो योजना बनायी गयी, वह व्यापक थी और बैठक में भाग लेने वालों के चेहरे पर प्रसन्नता की लहर। बैठक के बाद सरकार की ओर से क्रेज़ी फ़ैंटेसी से निपटने के लिए हज़ार करोड़ रुपये की राशि मंजूर की गयी थी। सरकार ने बताया कि प्रो. निगम ने क्रेज़ी वायरस की खोज की है। यह वायरस मछलियों से फैला है। लोगों से अपील की गयी है कि वे मछलियाँ न खाएँ। मछलियों से क्रेज़ी वायरस फैल सकता है। सरकार ने तमाम मछलियों को मारने की घोषणा की। जिन लोगों ने अपने तालाब में मछलियाँ पाली हैं, सरकार उन्हें मछलियों का मुआवज़ा देगी। जगह-जगह कार्यबल तैनात किये जाएँगे, ताकि मछलियों का सफ़ाया किया जा सके। यह फ़रमान तत्काल प्रभाव से लागू हो गया।

यह प्रधानमंत्री से प्रोफ़ेसर निगम की अगली बैठक थी। प्रधानमंत्री ने प्रोफ़ेसर को बधाई दी थी कि उन्हें वायरस की खोज के लिए जल्द ही सम्मान दिया जाएगा तथा वे क्रेज़ी वायरस किलर अभियान के सलाहकार नियुक्त किये गये हैं। वे हैल्युसिनेशन ग्रस्त लोगों की समस्या के निदान के लिए जो भी उपाय करना चाहें, करें। सरकार को सुझाव दें। सरकार दो हज़ार करोड़ रुपये तो क्रेज़ी के सफ़ाये के लिए बहा ही रही है।

जब प्रोफ़ेसर ने मछलियों के सफ़ाये आदि के तौर-तरीक़ों और औचित्य का प्रश्न उठाया, तो प्रधानमंत्री मुस्कुराये—''आप क्या समझते हैं, आपदा प्रबंधन क्या होता है। सरकार का अपना तौर-तरीक़ा होता है। सरकारें अपना काम तंत्र से करती हैं। तंत्र के काम करने की अपनी पद्धति है। सरकार को पता है कि केंद्र से रवाना हुए दस रुपये में से एक ही रुपया वास्तविक कार्य पर खर्च होगा, बाक़ी तंत्र की भेंट चढ़ जाएगा। जब काम शुरू होता है, तभी सबको पता होता है कि तंत्र कैसे काम करेगा, फिर भी दसवाँ हिस्सा ही सही, होता तो है तंत्र के भरोसे। बिना तंत्र के सरकारें नहीं चला करतीं। कई बार तो दसवाँ हिस्सा भी नहीं होता। कुछ भी नहीं होता अरबों खर्च करके। राज्य सरकार केंद्र से विभिन्न मदों में हज़ारों करोड़ की रकम बिना खर्च किये लौटा देती हैं, क्योंकि तंत्र के लिए पर्याप्त गुंजाइशें नहीं होती। योजनाएँ तंत्र को ध्यान में रखकर ही बनायी जाएँ, तो सफल होती हैं। हम उम्मीद करते हैं आप हमारे तंत्र का हिस्सा बनें। तंत्र में बेहतर लोगों की आवश्यकता है, ताकि दसवाँ हिस्सा ही सही, काम हो। आप जिसे भ्रष्टाचार कहते हैं, हम उसे तंत्राचार कहते हैं। तंत्र का हिस्सा बनकर कुछ कर लेना बड़ी कामयाबी है। तंत्र से जुड़कर ही उसमें सुधार किया जा सकता है। उससे अलग होकर किया गया कोई भी प्रयास टिकाऊ नहीं हो सकता। कुछ देर का गतिरोध ज़रूर पैदा किया जा सकता है, किंतु तंत्र उस गतिरोध को दूर कर ही लेता है। हम और आप जैसे लोगों को तंत्र का हिस्सा भी बनना चाहिए और अपने लक्ष्य को नहीं भूलना चाहिए। हम लोग तंत्र से लड़ने

नहीं, तंत्र गढ़ने वालों में से हैं। एक बड़ी व्यवस्था में ये सब छोटी-मोटी चीज़ें हैं, जिससे लड़ें, तो हम कुछ नहीं कर सकते। मुझे एक अरब वाले देश को चलाना है, मैं एकल व्यवस्था नहीं लाद सकता। आप भी नहीं। मैं जानता हूँ कि पुरस्कार व सम्मान आपको प्रस्तावित नहीं कर सकते, किंतु वे लोगों को प्रभावित करते हैं। आप पुरस्कार लें या दान कर दें या ठुकरा दें हर हाल में लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण बन जाएँगे पुरस्कार के लिए चयनित होते हैं, इसके आपका मान बढ़ेगा। आपके कहे को लोग ग़ौर से सुनेंगे। तंत्र में आपकी स्थिति मज़बूत होगी, तो आपको अपने उद्देश्य में अधिक सफलता मिलेगी। चुनाव क़रीब हैं। इस क्रेज़ी वायरस से तंत्र में नयी जान आएगी, ऐसी मुझे आशा है।''

प्रोफ़ेसर निगम पोर्ट टॉरटॉइज लौटे, तो उनकी नज़रबंदी समाप्त हो गयी थी। अपने मित्र कछुए से सलाह मशविरे के बाद उन्होंने क्रेज़ी फैंटेसी सीरीज़ की आख़िरी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में क्रेज़ी फ़ैंटेसी की वास्तविकता बताते हुए उसे कपोल कल्पित बताया गया था और कहा गया था कि यह आपकी कल्पना भर है। उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। सरकार से उन्होंने अपील की कि इस पर फ़िल्म बने और इस उपन्यास को प्रकाशन की अनुमति दी जाए, जिससे कि लोगों के मन से क्रेज़ी फ़ेंटेसी का भय जाता रहे। बीमार लोगों के मन से दहशत जाती रहे और लोग समझ लें कि क्रेज़ी फ़ेंटेसी का कोई अस्तित्त्व नहीं है।

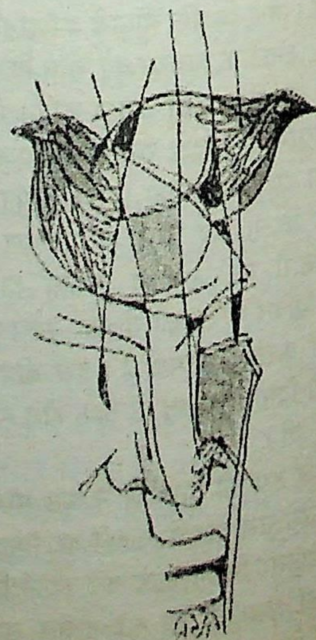
लेकिन, सरकार ने प्रतिबंध नहीं हटाया। क्रेज़ी वायरस से तो विदेश से आये डॉक्टर लड़ते रहे और देश में वायरस का आतंक कुछ दिनों तक फैलाया जाता रहा। मछलियाँ मारने की झूठी खानापूरी की गयी। मछुआरों को कुछ दिन तक मछली पकड़ने से रोका गया और उन्हें बिठाकर रुपये दिये गये। मुआवज़े के नाम पर करोड़ों का बंदरबाँट होता रहा। अलबत्ता कुछेक स्थानों पर मछली मारने का नाटक मीडिया के समक्ष ज़रूर किया गया। प्रोफ़ेसर निगम चैट पर अपने मित्र कछुए से जान गये थे कि तालाब की मछलियों से कोई वायरस नहीं फैला था और उनमें होने की कोई गुंजाइश भी नहीं थी। सरकारी तंत्र के कारण आख़िरकार दो हज़ार करोड़ क्रेज़ी वायरस की भेंट चढ़ गया।

इधर, कुछेक और देशों में लगभग इसी समय क्रेज़ी वायरस की ख़बरें मीडिया में आयीं और संभवतः वहाँ भी सरकारी तंत्र ने उससे ऐसे ही निजात पायी होगी। वहाँ भी उस विकसित देश ने, जिसने वायरस भेजा था, डॉक्टरों की टीम भेजीं और दवाएँ, जिससे वह विश्व का दरियादिल और दयावान देश माना गया। जो देश अविकसित थे, उनके लिए विकसित देश देवता बन गया था और उनसे अपने स्वार्थ साधकर और मज़बूत बनता गया।

प्रोफ़ेसर निगम सब कुछ जानते-बूझते चुप्पी साधे हुए थे और अपने भीतर चल रहे अंतर्द्वंद्व पर क़ाबू पाने का प्रयास भी कर रहे थे। उनके सामने एक वास्तविक दुनिया थी, जिसमें हो रहे क्षरण से वे टकराएँ या फिर उस दुनिया की खोज करें, जो अभी अनुद्घाटित है। समुद्र की वह दुनिया, जहाँ कितनी ही सभ्यताएँ जलमग्न पड़ी हैं अपना रहस्य छिपाये। कितनी ही वनस्पतियाँ हैं, जिनमें मनुष्य को विभिन्न बीमारियों से निजात दिलाने की शक्ति है। न जाने कितने खनिज और रत्न हैं। कितने ही जीवन, जिनके बारे में लोग नहीं जानते। वे यह जानते थे कि दो में से एक ही पथ का उन्हें चुनाव करना है। दोनों काम उनके बूते के नहीं। तंत्र में सुधार के औज़ार उनके पास नहीं थे और उसके तरीक़ों से भी वे अनभिज्ञ थे। दूसरी दुनिया उन्हें अधिक परिचित लगती थी, शोध की। उन्होंने मन ही मन तय किया कि वे शोध के रास्ते पर ही आगे बढ़ेंगे।

इधर चुनाव हुए गठबंधन सरकार पराजित हुई और दूसरी सरकार आयी, लेकिन वह भी गठबंधन वाली। इस सरकार ने पुरानी सरकार के तमाम कार्यों को ख़ारिज़ किया, किंतु दो बातों पर वह पुरानी सरकार से सहमत रहीं—एक उस विकसित देश से कूटनीति संबंध और दूसरे क्रेज़ी वायरस से निपटने में सरकार की भूमिका। हालाँकि जल्द ही फिर से क्रेज़ी वायरस की ख़बरें आने लगीं। दूसरी सरकार ने भी उन्हें सलाहकार बनाये रखा और इस बार फिर तीन हज़ार करोड़ रुपये आवंटित किये गये वायरस के सफ़ाये के लिए। कहा गया कि पिछली बार कुछ लोगों ने तालाबों से छोटी मछलियों को निकाल कर कहीं और छिपा दिया था, जब वहाँ टास्क फ़ोर्स मछलियों को मारने पहुँचा था, जिसके कारण क्रेज़ी वायरस ज़िंदा रह गया। दूसरे तालाबों में नीचे की मिट्टी में कुछ ख़ास प्रकार की मछलियाँ छिपी रह गयीं, जिनसे यह वायरस बचा रहा। सरकार ने मछलियों के सफ़ाये के लिए यह उपाय निकाला कि पुराने तालाबों को भरा जाने लगा, जिससे न तो पुराना पानी रहेगा, न मछलियाँ और क्रेज़ी वायरस विदा हो जाएगा। इसका फ़ायदा बिल्डरों ने उठाया और तालाब भरकर उन फ़्लैट बनाकर बेचे। फिर पर्यावरणविदों के विरोध को देखते हुए नये स्थानों पर तालाब खोदे गये। तीन हज़ार करोड़ इस प्रकार क्रेज़ी के नाम पर साफ़ हो गये। प्रोफ़ेसर जान गये थे कि तंत्र वही रहेगा, सरकारें आती-जाती रहेंगी।

40-ए, ओल्ड कलकत्ता रोड
पो0ऑ0-पाटुलिया, टीटागढ़, कोलकाता-700119



वर्तमान राजनीतिक यथार्थ की कहानियाँ

जवरीमल्ल पारख

युवा रचनाकारों को प्रोत्साहित करने के लिए होने वाली प्रतियोगिताओं में पुरस्कारों के लिए चयन एक चुनौतीपूर्ण काम होता है। रचनाओं के ढेर में से अच्छी रचनाएँ कुछ ही होती हैं। इसलिए प्रथम दृष्टया चयन आसान होता है। कमज़ोर और खराब रचनाओं को अपेक्षाकृत बेहतर रचनाओं से आसानी से अलग किया जा सकता है। लेकिन बेहतर रचनाओं में सर्वाधिक अच्छी रचनाओं को चुनना आसान नहीं होता। वर्तमान साहित्य द्वारा आयोजित कमलेश्वर कहानी प्रतियोगिता में भी कहानियों को चुनने में इस तरह की दुविधा का सामना करना पड़ा है। कहानियों का चयन कविताओं की तुलना में शायद आसान होता है, लेकिन इतना आसान भी नहीं। इस प्रतियोगिता में शामिल कहानियों की विषयवस्तु प्रायः समकालीन यथार्थ से जुड़ी है। समकालीन यथार्थ में निहित विविधता को इन कहानियों में भी देखा जा सकता है। लेकिन किसी कहानी के उत्कृष्ट होने के उसका समकालीन होना पर्याप्त नहीं है। कहानी एक साहित्यिक विधा है और सबसे पहले कहानी को साहित्यिक मानदंडों के आधार पर कहानी होने की शर्त को पूरा करना होता है। कहानीकार को यह भी ध्यान रखना होता है कि हिंदी कहानी ने लगभग एक सदी में जो यात्रा तय कर ली है, उस यात्रा में स्वयं उसकी कहानी कहाँ स्थित है। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह बीते हुए कालखंडों में ही कहीं कदमताल कर रही हो। इस तरह की प्रतियोगिता की यह सीमा तो होती ही है कि प्रतियोगिता में शामिल कहानियों में से ही सबसे अच्छी कहानी का चयन करना होता है।

वर्तमान साहित्य द्वारा आयोजित 'कमलेश्वर कहानी प्रतियोगिता' पर भी यह सब बातें लागू होती है। लेकिन जिन दो कहानियों का पहले और दूसरे स्थान के लिए चयन हुआ है, वे निश्चय ही बेहतर कहानियां हैं। प्रतियोगिता में कैलाशचंद्र की कहानी 'अंधेरे में सुगंध' को प्रथम स्थान और अभिज्ञात की कहानी 'क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया' को दूसरा स्थान प्राप्त हुआ है। ये दोनों कहानियाँ एक दूसरे से मिजाज में बिल्कुल अलग हैं। जहाँ 'अंधेरे में सुगंध' कहानी 'मैं' शैली में विवरणात्मक ढंग से लिखी गयी है जबकि अभिज्ञात की कहानी 'क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया' फैंटेसी की शैली में लिखी गयी है। दोनों कहानियाँ अपने निहितार्थ में राजनीतिक हैं। पहली कहानी आदिवासियों के जीवन से संबंधित है और नक्सलवाद के प्रति सहानुभूति के साथ लिखी गई है जबकि दूसरी कहानी का संबंध साम्राज्यवाद और भूमंडलीकरण से है। 'अंधेरे में सुगंध' में रूमानी क्रांतिकारिता है, तो 'क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया' रूमानियत से दूर है।

कैलाशचंद्र की कहानी 'अंधेरे में सुगंध' रोहित नाम के एक नये पुलिस अधिकारी की कहानी है जिसकी ट्रेनिंग पूरी होने के बाद पहली पोस्टिंग एक ऐसे आदिवासी इलाके में होती है, जो नक्सलवाद से ग्रस्त है। इस दृष्टि से यह इलाका खतरनाक माना जाता है। यह कहानी रोहित के माध्यम से कही गयी है इसलिए जो भी चरित्र और घटनाएँ कहानी में सामने आती हैं या जिनका उल्लेख किया गया है, या तो रोहित की उपस्थिति में घटित होती है या उसे बतायी जाती है। रोहित एक ईमानदार और विवेकशील युवा पुलिस अधिकारी है। वह पुलिस के परंपरागत तरीकों का इस्तेमाल नहीं करना चाहता। ग़रीबों और आदिवासियों के प्रति उसके मन में गहरी सहानुभूति का भाव है। वह इस बात में भी यकीन करता है कि मौजूदा शासन और शोषक शक्तियाँ, जिनमें महाजन सबसे प्रमुख हैं, आदिवासियों के परंपरागत जीवन के लिए मुश्किलें ही खड़ी करते हैं। पुलिस और प्रशासन भी आदिवासियों से सहानुभूति नहीं रखते इसलिए उनको कहीं से भी न सुरक्षा मिल पाती है और न ही संरक्षण। ऐसे में आदिवासियों के लिए नक्सलवादी बनने के अलावा कोई और रास्ता नहीं दिखता। इस इलाके में सक्रिय नक्सलवादी गुट की सरगना सावली नाम की एक आदिवासी लड़की है जिसकी उम्र महज 20 साल है। रोहित को यह निर्देश दिया गया है कि वह इस नक्सलवादी गुट को ख़त्म करे। लेकिन सावली के नक्सलवादी बनने की कहानी सुनने के बाद उसे उसके प्रति सहानुभूति ही होती है। सावली एक दारोगा तिवारी द्वारा जबरन कैद करली जाने और पुलिस थाने में बारबार बलात्कार की शिकार होने के कारण ही नक्सली बनती है। वह दारोगा को राज्यपाल के सामने ही गोली से मारकर फरार हो जाती है और जंगल में नक्सली गुट में मिल जाती है। कुछ दिन बाद वह उनकी नेता बन जाती है।

'अंधेरे में सुगंध' रोहित और सावली के अनकहे रिश्ते की कहानी है। रोहित के मन में सावली के प्रति गहरी सहानुभूति का भाव है क्योंकि उसे यह विश्वास है कि सावली अपराधी नहीं है।

वह जिस रास्ते पर चल रही है, उस रास्ते पर उसे धकेला गया है। रोहित के जनहितकारी कामों से सावली भी प्रभावित होती है और वह ऐसे लोगों को जो महाजनों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, रोहित के पास भेजती है कि वह उसकी मदद करेगा, जो रोहित करता भी है। कहानी में सावली और रोहित की एक बार मुलाकात भी होती है। अपने बंगले से दूर जब वह घूमने निकलता है तब सावली से उसकी मुलाकात होती है। उस मुलाकात में सावली के बालों में खोंसे फूल की गंध उसके दिल-दिमाग में बैठ जाती है। उसी गंध से वह उसकी मौजूदगी को पहचान जाता है। कहानी के अंत में एक गाँव में जब पुलिस की टीम सावली और दूसरे नक्सलियों को घेरे हुए है और सावली रात के अंधेरे में उसके पास से चुपके से निकल जाती है, तब भी वह उस गंध से ही यह पहचान पाता है कि वह सावली है। इस तरह इस कहानी का शीर्षक 'अंधेरे में सुगंध' अंधेरे में सावली की उपस्थिति को संकेतित करता है। लेकिन अपने व्यापक अर्थ में वह आदिवासियों की जिंदगी में छाए शोषण और उत्पीड़न के अंधेरे में आशा की सुगंध की तरह है।

'अंधेरे में सुगंध' पुलिस, प्रशासन, राजनेताओं, महाजनों और ठेकेदारों से घिरे आदिवासियों के शोषण और उत्पीड़न की कहानी कहती है। यह कहानी बताती है कि किस तरह आदिवासी शोषक तंत्र से घिरे सीधे-सादे आदिवासी नक्सलवाद में पनाह लेने के लिए मजबूर हो जाते हैं। स्वयं सावली इसका उदाहरण है जो एक सीधी-सादी ग्रामीण लड़की है लेकिन पुलिस के अत्याचार ने ही उसे नक्सली बनने के लिए प्रेरित किया। सावली और रोहित के बीच संबंधों को जिस तरह से कहानी में प्रस्तुत किया गया है उससे कहानी के यथार्थवादी स्वर पर रूमानियत हावी हुई है। इससे कहानी में रोचकता बढ़ी है, लेकिन एक हद तक यथार्थवाद कमजोर भी हुआ है। एक पुलिस अफसर के माध्यम से कहानी कहने की इस प्रविधि का यह जरूर लाभ है कि आदिवासी जीवन के सबसे कष्टपूर्ण पहलू आसानी से उभारे जा सकते हैं। कहानी की इस तरह की संरचना की यह कमजोरी जरूर है कि इसे किसी भी विरोधी स्थितियों, चरित्रों के बीच द्वंद्वात्मक संबंध को व्यक्त करने के लिए किया जा सकता है। यह नक्सली और पुलिस हो सकती है। डाकू और पुलिस हो सकती है। गरीब और अमीर हो सकता है। पापुलर सिनेमा इस तरह की बाइनरी का इस्तेमाल करती आई है। इसके बावजूद यह कहानी आदिवासियों के जीवन यथार्थ को पेश करने और उसके प्रति अपनाए जा रहे रवैए के प्रति आलोचनात्मक रुख के कारण महत्त्वपूर्ण बन जाती है।

'अंधेरे में सुगंध' से काफी भिन्न 'क्रेज़ी फैंटेसी की दुनिया' फैंटेसी के रूप में लिखी गई कहानी है। इसलिए इसमें जो कुछ घटित होता हुआ दिखाया गया है, उसका तब तक कोई अर्थ नहीं है जब तक कि उसमें निहित अर्थ को न जान लिया जाए। मसलन, इस कहानी का केंद्रीय चरित्र प्रोफ़ेसर निगम जो एक



वैज्ञानिक है और कछुओं पर शोध कार्य कर रहे हैं, कछुओं की भाषा भी जानते हैं। कहानी में यह भी बताया गया है कि एक कछुए ने भी आदमी की भाषा सीख ली है। हम जानते हैं कि जानवर कुछ ध्वनियों का ही इस्तेमाल करने में सक्षम होते हैं और ये ध्वनियां मनुष्य की भाषा की तरह विकसित नहीं होतीं और न ही उनमें मनुष्य के विकसित ज्ञान-विज्ञान को समझने और व्यक्त करने की क्षमता होती है। लेकिन फैंटेसी के रूप में लिखी गई कहानी में तथ्य का औचित्य नहीं बल्कि तथ्य में निहित संकेतात्मकता और उसके निहितार्थ ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस दृटि से यह कहानी निश्चय ही रोचक भी है और महत्त्वपूर्ण है। यह जरूर है कि इस तरह की कहानियों में जो जटिल संरचना का उपयोग किया जाता है, वह इस कहानी में नहीं है। कहानी बहुत सीधी लेकिन तीव्र गति से विकसित होती है।

कहानी कुछ इस प्रकार हैः प्रोफेसर निगम कछुओं पर शोध कार्य कर रहे हैं। वे अंतरराष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक है और सरकार की तरफ से उनके शोध कार्य को पूरा संरक्षण और सुविधाएँ उपलब्ध हैं। कछुओं की उम्र प्रायः तीन सौ से पांच सौ

मानी जाती है। अपने शोध कार्य के लिए उन्होंने समुद्र में जाने वाले कछुओं के शरीर में कई तरह के आधुनिक यंत्र करा दिए हैं ताकि उनके द्वारा वे पिछले चार-पांच सदियों बारे में जानकारी हासिल कर सकें। उनके परिवार में उनकी पत्नी और बेटी है। जैसाकि होता है, शोध में तल्लीन रहने के कारण वे अपनी पत्नी और बेटी पर ध्यान नहीं दे पाते। जिससे उनकी पत्नी उनसे नाराज़ रहती है। आखिर वह बीमार पड़ जाती और जब वे विदेश में किसी सेमिनार में भाग लेने गये होते तब उनकी पत्नी मर भी जाती है। पत्नी की मृत्यु के लिए वे अपने आप को जिम्मेदार मानते हैं और अपना पूरा समय अपनी बेटी को देते हैं। बेटी को कहानियाँ सुनाते हैं। जब सुनी और पढ़ी कहानियों का भंडार समाप्त हो जाता है तो वह कहानियाँ गढ़-गढ़ कर सुनाने लगते हैं। वे कहानियां इतनी रोचक होती है कि वे उन्हें छपाने का इरादा करते हैं। थोड़े दिनों में उनकी कहानियां उपन्यासों के रूप में पुस्तकाकार बाज़ार में आ जाती हैं। क्रेज़ी फैंटेसी श्रृंखला के उपन्यासों के रूप में लोकप्रिय हो जाते हैं। उन पर फिल्में बनती हैं, टीवी सीरियल बनते हैं। इस तरह इन उपन्यासों की लोकप्रियता बढ़ती जाती है। अचानक अलग-अलग स्थानों से ये खबरें आने लगती है कि इन उपन्यासों के पात्र उपन्यास, फिल्म और टेलीविजन से निकलकर लोगों के सामने आ गये। लोग इससे घबरा गये। इन खबरों से तहलका मच जाता है। कई जगह दहशत से लोग मर भी जाते हैं। उपन्यासों पर प्रतिबंध लगाने की माँग उठती है और क्रेज़ी फैंटेसी के उपन्यासों और उन पर आधारित फिल्मों आदि को भी प्रतिबंधित कर दिया जाता है। लोग इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि स्वयं प्रोफ़ेसर निगम की जान को खतरा हो जाता है। उनको उनके घर में ही नज़रबंद कर लिया जाता है।

स्वयं प्रोफ़ेसर यह समझ नहीं पाते कि ऐसा क्यों हो रहा है। तभी उन्हें एक कछुए से यह जानकारी मिलती है कि एक विकसित द़ेश ने अपने यहाँ के वायरस समुद्र की मछलियों में प्लांट किए हैं जिनके कारण उनका आकार सामान्य से ज्यादा हो गया है। उन मछलियों को उस विकसित देश ने अपने यहां से लाकर विकासशील देशों के समुद्र में छोड़ दिया गया है। शोध करने पर प्रोफेसर निगम को भी मालूम पड़ता है कि यह बात सही है और जिन लोगों को क्रेज़ी फैंटेसी के पात्र सचमुच दिखाई दिये थे, उन्होंने ऐसी ही मछलियों को खाया था। इन मछलियों को खाने से व्यक्ति की मनोदशा ऐसी हो जाती है कि वह काल्पनिक बातों को वास्तविक मानने लगता है। लेकिन यह स्थिति कुछ ही समय रहती है। प्रोफेसर निगम प्रधानमंत्री से मिलकर सारी वस्तुस्थिति से परिचित कराते हैं। लेकिन प्रधानमंत्री इस बात को मानते हुए भी उस विकसित देश के खिलाफ कुछ कार्रवाई करने के लिए तैयार नहीं होते क्योंकि उस देश के साथ एक बड़ी डील होने वाली है। इसके विपरीत सरकारी बजट से दो हजार करोड़ रुपये मछलियों को मारने के लिए आवंटित किये जाते हैं। इनमें तालाब में पलने वाली मछलियां भी शामिल है जबकि शोध से यह सिद्ध हो चुका है कि तालाब की मछलियों में यह वायरस होने का प्रन ही नहीं है। प्रधानमंत्री प्रोफ़ेसर निगम को समझाते हैं कि हम उस विकसित देश के साथ संबंध खराब नहीं कर सकते इसलिए इस संबंध में आप चुप ही रहें। वह विकसित देश भी भारत में फैली इस बीमारी के लिए हर तरह की सहायता देने के लिए तैयार है। प्रधानमंत्री को इस बात का डर है कि यदि सच्ची बात फैल गई तो उनकी गठबंधन सरकार गिर सकती है। इसके बावजूद वह सरकार अगले चुनाव में हार जाती है। नयी सरकार भी गठबंधन सरकार होती है। वह भी उस विकसित देश से अपने संबंध नहीं बिगाड़ना चाहता। वह भी मछलियाँ मारने के लिए 3000 रुपये की राशि आवंटित करता है। तालाबों में लोग मछलियाँ न पालें इसके लिए सरकारी पैसे से तालाब पाट दिए जाते हैं और जब पर्यावरणवादी शोर मचाते हैं, तो सरकारी पैसे से उनकी जगह पर नये तालाब खोदे जाते हैं।

कहानी बहुत स्पष्ट है और इसका संबंध वर्तमान राजनीतिक स्थितियों से है। विकसित देश स्पष्ट ही अमेरिका है जिसका भारत जैसे देशों का शासक वर्ग विरोध करने की स्थिति में नहीं है। चाहे सरकार यूपीए की हो या एनडीए की। मछलियां भूमंडलीकरण के दौर की आर्थिक अर्थव्यवस्था है जिसके दुष्परिणाम भारत जैसे देशों को झेलने पड़े हैं। यह आतंकवाद भी हो सकता है जो आज एक भयावह बीमारी का रूप ले चुका है और दक्षिण और मध्य एशिया में इसे फैलाने का श्रेय अमेरिकी साम्राज्यवाद को ही है। प्रोफेसर निगम उस बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतीक है जो सरकारी अनुदान पर पला-बढ़ा है और सत्ता के विरोध में जाने पर जिसकी जबान आसानी से बंद की जा सकती है। मछलियाँ मारने और तालाब खुदवाने की सारी कोशिशें विकास के नाम पर जनता के धन की लूट है। स्वयं प्रधानमंत्री के मुख से इस बात को कहानी में कहलाया गया है। इस तरह कहानी वर्तमान दौर की अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय राजनीति के चरित्र को उजागर करती है। कहानी को रोचक ढंग से गढ़ा गया है। क्रेज़ी फैंटेसी की कामयाबी संभवतः हेरी पॉटर से प्रेरित है। कहानी को विज्ञान कथा की तरह भी प्रस्तुत किया गया है। इस तरह की कहानियों में प्रायः घटनाओं की प्रधानता रहती है, यह इस कहानी में भी है।

इस तरह ये दोनों कहानियाँ वर्तमान राजनीतिक यथार्थ के दो भिन्न पक्षों को रचनात्मक ढंग से उभारती हैं और यही इन कहानियों के चयन का ठोस आधार है।

जे-1, यमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-68

पुलिसिया दमन और आतंक के खिलाफ

(अँधेरे में सुगंध)

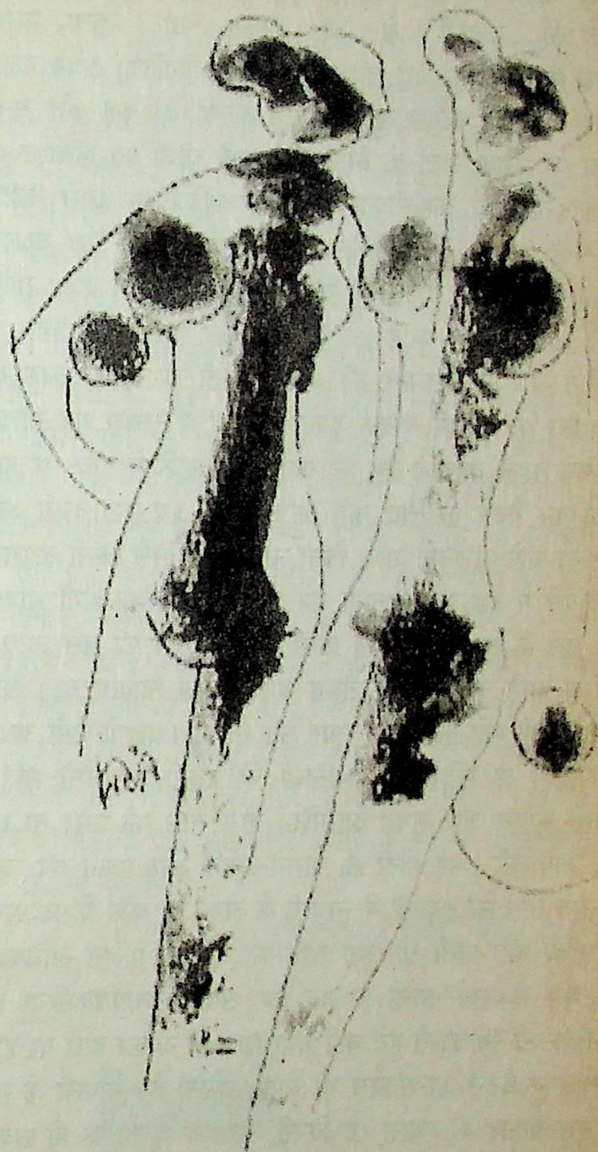
सूरज पालीवाल

यह कहना कठिन है कि पुलिस के दमन और आतंक के प्रतिरोध में नक्सल आंदोलन जन्म लेता है। लेकिन यह सही है कि पुलिस का आतंक इतना फैल जाये कि उसे कानून से भी रोक पाना संभव नहीं हो तब नक्सल आंदोलन जैसे सशस्त्र आंदोलन आरंभ हो सकते हैं । प्रत्येक समाज अत्याचारों के प्रतिरोध में अपनी तरह से रास्ते बनाता रहा है, वे रास्ते दूसरों के लिये प्रेरणा तो हो सकते हैं पर एकमात्र उपाय नहीं। नक्सल आंदोलन का अब तक इतिहास बताता है कि जहाँ शोषण और अन्याय है, जहाँ विषमता है, जहां लोकतंत्र में भी राजनेताओं और पुलिस का जंगल राज चल रहा है वहां नक्सलवाद अपनी तरह से लड़ाई लड़ रहा है। नक्सलवाद समस्याओं का हल नहीं है, न हो सकता है क्योंकि वह समाज को बदलने के जिस वैज्ञानिक दर्शन को आधार मानता रहा है वह आधार अधूरा ही है । यह सही है कि अन्याय के विरोध में हथियार उठाने चाहिये पर हथियार उठाने से पहले अपने आसपास को भी तो तैयार करना चाहिये ताकि एक आतंक के मुकाबले के लिये दूसरे आतंक को जगह न मिल सके। नक्सलवादी अपने अतिरेक में अपने समान वैचारिकता वाले दलों के विरोध में ही आ जाते हैं जिससे वे समाज और राजनीति की धारा से अलग थलग पड़ जाते हैं । तत्काल इसे समझने के लिये नेपाल का उदाहरण लिया जा सकता है जहाँ नक्सलवादियों ने पूरे समाज को अपने साथ लेकर लड़ाई लड़ी और सफलता पाई । नेपाल जैसे पर्वतीय देश में नक्सलवादियों का सत्ता में आना मामूली बात नहीं है। धर्म और संस्कारों की जड़ता को तोड़कर राजवंश की तानाशाही को उखाड़ फेंकना केवल हथियारों से संभव नहीं था । इसके लिये जिस तरह की जमीन तैयार करनी चाहिये, वह वहाँ की गई ।

नक्सलवाद पर चर्चा इसलिये जरूरी थी कि कैलाश चंद्र की कहानी 'अंधेरे में सुगंध' कहीं न कहीं नक्सलवाद का समर्थन करती है। कहानीकार ने समर्थन के लिये जमीन तैयार की है और जिस तरह से की है उससे कहानी में नक्सलवाद बुरा नहीं लगता बल्कि एकमात्र उपाय के रूप में आता है । दरअसल , कहानीकार को यह छूट तो दी ही जानी चाहिये कि वह जिस घटना को कह रहा है उसे अपनी तरह प्रामाणिक बनाकर कहे । कहानी में घटना कोई हो पर उसको तार्किक ढंग से प्रस्तुत करने का तरीका ही लेखक की विशेषता होती है। कैलाश चंद्र ने उस तर्क का इस्तेमाल किया है और बड़ी सावधानी से किया है इसलिये कहानी पढ़ते हुये हम लेखक के साथ रहते हैं वह जिस बात को भी मनवाना चाहता है हम उसे इसलिये मान लेते हैं कि उसके अलावा उन स्थितियों में हमारे पास कोई दूसरा विकल्प नहीं रहता। विकल्पहीनता की यह स्थिति लेखक की समझदारी से होती है, जो कहानी को विश्वसनीय बनाती है। पाठक के सामने कहानी की वह कथा होती है जिसे लेखक बताना चाहता है इसलिये लेखक की यह भी जिम्मेदारी होती है कि वह अपने पाठक को कथा के साथ बांधे रखे , इधर-उधर न भटकने दे। यदि पाठक भटकता है तो कहानी छूट जाती है और कमजोर पड़ जाती है। कैलाश चंद्र ने जिस कहानी को लिया है वह दुधारी तलवार की तरह है । एक ओर नक्सल आंदोलन का नेतृत्व कर रही सावली है तो दूसरी ओर पुलिस का अधिकारी है जो अभी-अभी प्रमोशन पाकर डिप्टी एस.पी. बना है । पुलिस अधिकारी की यह पहली नियुक्ति है जो नक्सल प्रभावित क्षेत्र में दी गई है। यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है जिसे उसके एड. एस.पी. ने यह कहते हुये दिया कि 'मि. रोहित अपनी ट्रेनिंग की याद करो । यह तुम्हारा इम्तिहान भी है और लियाकत भी कि तुमको पहली पोस्टिंग में ही ऐसी जोखिम भरी जगह भेजा जा रहा है जो पूरी तरह नक्सल प्रभावित क्षेत्र है और शायद सबसे खतरनाक मुहिम भी । ऐसी जगहों पर प्रायः अनुभवी अफसरों को भेजा जाता है । पर पता नहीं क्या सोच कर आई.जी. साब ने तुमको वहाँ भेजने का निर्णय ले लिया। मेरी शुभकामनायें तुम्हारे साथ हैं ।' एक माह बाद पुलिस कप्तान ने उसकी रपट सुनकर कहा - 'मि. रोहित ! वेल डन । यू आर गोइंग टू बी एक्सक्ल्यूसिव । ए स्टाउट यंग मैंन विथ ब्रेन । गो अहेड फिर कुछ रुक कर बोले थे - तुम्हें यह तो पता चल ही गया होगा कि तुम्हारे इलाके में नक्सलियों की सरगना एक यंग लेडी है जिसका नाम है सावली। वैसे आसपास के तीन चार जिलों के नक्सलियों की हेड वही है। तुम्हारे इलाके में मैंने इसलिये कहा क्योंकि उसका घर तुम्हारे इलाके में पड़ता है और इस वजह से उसकी सक्रियाता सबसे

सदा तुम्हारे इलाके में ही रहती है। फिर एक शरारत सी उसके चेहरे पर उभर आई-पुलिस रिकार्ड में उसकी उमर बीस साल लिखी है। महुये की तरह ताजी और नशीली यंग लेडी है। जिन्होंने उसे देखा है वे उसके रूप का ताप जानते हैं और उसे देखकर कोई कह नहीं सकता कि वह इतनी खतरनाक हो सकती है । पुलिस का पिछले पचहत्तर साल का रिकार्ड बताता है कि इतनी दुस्साहसी और खतरनाक औरत यह पहली है । वह दिन दहाड़े थानों के भीतर घुसकर सिपाहियों को पीट आती है, असलहा छीनकर ले जाती है। बस्ती से किसी को भी उठा लेती है। अक्सर नाक-कान काटकर लोगों को सजा देती है, नंगा घुमाकर जलील करती है और फिर भी न सुधरने पर गोली मार देती है । एक क्षण को भी वह औरत सावली आगा पीछा नहीं सोचती। तुरत एक्शन लेती है। उसके खाते में अभी तक ग्यारह मर्डर दर्ज हैं।'

यह चेतावनी रोहित के आला अफसरों ने दी थीं जाहिर है कि उन पर अपनी तरह से अमल करना उसके अधिकारक्षेत्र में था लेकिन अनदेखी करना ठीक नहीं होगा यह वह अच्छी तरह जानता था। हर अफ़सर अपनी तरह से समस्याओं से निबटता है, यही उसकी अपनी विशेषता भी होती है। रोहित के सामने केवल सावली और नक्सलवाद की समस्याएँ ही नहीं थीं बल्कि उसने इलाके में घूमकर यह भी जान लिया था कि स्थानीय विधायक जो सरकार में मंत्री भी है सावली का एन्काउंटर चाहता है क्योंकि क्षेत्र की समस्याओं के प्रति मंत्री जी की अनदेखी और उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण सावली उसके विरोध में थी । रोहित यह भी जानता है कि पुलिस और जिले के सभी अधिकारी भी मंत्री के सामने निरुत्तर हैं क्योंकि सावली ने महामहिम राज्यपाल के सामने ही थानेदार तिवारी की हत्या की है। आदिवासी युवती द्वारा इस प्रकार के जघन्य अपराध पुलिस और राजनेताओं के लिये एन्काउंटर की श्रेणी में आते हैं। यह सोचने की किसी को फुरसत नहीं थी कि सावली जैसी लड़की जो सामान्य जीवन जीना चाहती थीं पुलिस ने ही उसे जंगल में भटकने और अत्याचारों का विरोध करने के लिये विवश किया है। पुलिस, प्रशासन और राजनेता सावली के विरोध में है। यह कहानी 2009 की है इसलिये यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मीडिया की भूमिका को कहानीकार ने नजरअंदाज किया है। आज मीडिया जिस प्रकार चीजों को ला रहा है और इस प्रकार के अत्याचारों को बड़ी खबर बनाकर प्रस्तुत कर रहा है उससे एक प्रकार की जागरूकता तो आ ही रही है यह बात और है कि मीडिया भी कई बार जानबूझकर ऐसी घटनाओं की अनदेखी अनदेखे दबावों में कर जाता है। पर यह हमेशा नहीं होता। कहानीकार की दृष्टि उपाधीक्षक रोहित पर टिकी है, जैसे कैमरा चीजों को फोकस करता है इसलिये आसपास की कोई दूसरी चीज जब तक दिखाई नहीं देती तब तक वह उसे



दिखाना न चाहे। कहानी का पूरा केंद्र बिंदु रोहित है इसलिये कहानीकार उसके ही इर्दगिर्द कहानी को घुमता है इससे कहानी कई बार और कई स्थलों पर कमजोर भी पड़ जाती है। जैसे 'मैंने यहाँ आने के कुछ दिनों बाद ही अपनी कार्यशैली से परिचित कराना शुरू कर दिया था। मैंने यह बताने की कोशिश की थी कि मैं आम पुलिस वालों से भिन्न हूँ और रहूंगा। अपने इलाके तीन थानों का मैंने सघन दौरा किया और वहाँ से जानकारियाँ हासिल कीं । महत्वपूर्ण मुद्दों को मैं अपनी डायरी में लिख लेता था। इलाके में आने वाले गांवों के हर प्रधान और सरकारी कर्मचारी से चाहे वह किसी भी स्तर का हो मैं मिल चुका था। भिन्न समस्याओं और मुद्दों पर उनके विचारों की जानकारी मुझे मिल गई थी। यह सब जानना मुझे जरूरी लगा था क्योंकि मैं यहाँ इस इलाके में हाथ पर हाथ धर कर बैठने के लिये नहीं आया था।'

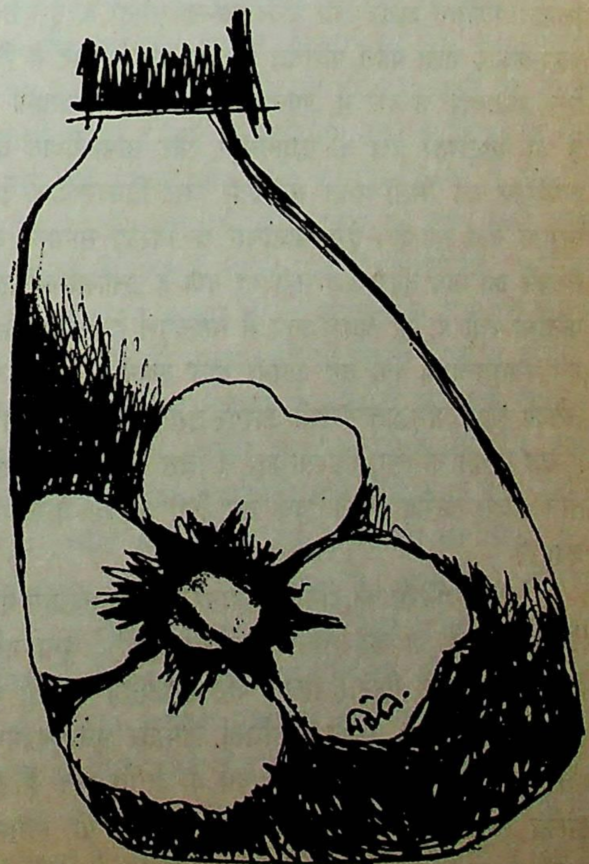
इस प्रकार के वक्तव्य कहानी को कमजोर बनाते हैं।

यहाँ रोहित को अपने बारे में बताने की आवश्यकता नहीं थी यह तो कहानी से ही निकल आ जाता, उसकी प्राथमिकताएं धीरे-धीरे तय हो रही थीं , स्थितियां अपने यथार्थ रूप में उसके सामने खुल रही थीं, जिन्हें वह देख और समझ रहा था उसके आगे के निर्णय ही सारी चीजों का खुलासा कर देते। यह धैर्य कहानीकार में होना चाहिये था इससे कहानी सुगठित बनती। कहानीकार को बार-बार अपना पक्ष बदलना नहीं चाहिये वह रोहित की कहानी कह रहा है तो कहे। रोहित की अच्छाई और बुराई को भी वही नेरेट करे इसमें रोहित को अपने बारे में बतलाने की जरूरत कहाँ थी? इसी तरह वह सावली के बारे में भावुक होकर सोचता है उसका यह सोचना अपने पहले वक्तव्य कि 'मैं यहाँ इस इलाके में हाथ पर हाथ धर कर बैठने के लिये नहीं आया था।' जब कुछ करने आये हो तो करो पर बिना जाने, बिना समझे और मिले किसी अपराधी के बारे में यह क्यों कल्पना कर रहे हो कि 'कैसी होगी सावली ? मन में एक कल्पना ने जन्म ले लिया था पर उस कल्पना में न जाने क्यों उसका चेहरा बहुत सौम्य दिखता था। आम आदिवासी महिलाओं जैसा सुघर और सलौना। यक्षणी जैसी अथवा खजुराहों के मंदिरों की भित्तियों पर उकेरी गई नारी मूर्तियों जैसी सुपुष्ट और सुगढ़ देहराशि। बीस साल की उमर तो रूप के ताप की उमर होती हे, फलने-फूलने और पकने की उमर है यह तो। मेरे ख्यालों में सावली के चेहरे पर कोई हिंसक परत जम ही नहीं पाती थीं' इस तरह की कल्पना पुलिस अधिकारी के मन में क्यों आती है जब वह अपने उच्चाधिकारियों की चुनौती को स्वीकारते हुये वहाँ गया था और जाकर हाथ पर हाथ धरकर न बैठने का संकल्प भी व्यक्त करता है। सावली के बारे में इस प्रकार के ख्याल तो किसी सामान्य युवक के हो सकते हैं पर पुलिस के आला अधिकारी के क्यों मै यदि यह कहूं कि वह भी एक आदमी ही है इसलिये किसी लड़की के बारे में इस प्रकार के विचार आने गलत नहीं है तो यहाँ उस स्थिति की अनदेखी करनी होगी जिन स्थितियों में उसे वहां भेजा गया है । जब तक वह सावली से मिल नहीं लेता और जब तक उसके बारे में सारी जानकारियां उसे नहीं मिल जाती तब तक तो सावली उसके लिये अपराधी ही है। कहानीकार को ऐसे भावुक वक्तव्यों से बचना चाहिये। सरकार और सरकारी तंत्र में नक्सलवादी आंदोलन से जुडी सावली को क्या जरूरत थी कि उसने इस प्रकार का जीवन अपनाया? आदिवासी समाज की उपेक्षाओं और अत्याचारों ने नक्सलवादी आंदोलन को फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया है। सरकार की दृष्टि महानगरों को अत्याधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने तक ही सीमित रहती है इसलिये लाखों करोड़ों का बजट महानगरों को चमकदार बनाने में ही खर्च होता रहा है। आदिवासी आज भी चौदहवीं शताब्दी का जीवन जीने के लिये विवश हैं, उन पर जिस प्रकार के अत्याचार होते रहे हैं उनकी ओर ध्यान देने और उन्हें नागरिक जीवन जीने के लिये सुविधाएँ प्रदान करने की आज तक किसी ने सोची। उनकी इन स्थितियों को सुधारने और अत्याचारों का मुकाबला करने की ताकत प्रदान करने का काम नक्सलवादी आंदोलन ने किया है इसलिये यह आंदोलन और जगहों की अपेक्षा वहाँ अधिक फल-फूल रहा है।

सावली को प्रतीक के रूप में लें तो स्थितियाँ अधिक स्पष्ट होकर सामने आती हैं । 14-15 साल की सावली अपने परिचित जसराम के साथ नौकरी करने जाती है एक दिन अचानक वह अपनी बहन के पास चली जाती है इसलिये घर लौटकर नहीं आती । उसकी सौतेली माँ जसराम द्वारा सावली के अपहरण की रिपोर्ट पुलिस में लिखा देती है। थानेदार चाहता है अपहरण और बलात्कार जैसा मुकद्दमा बनाकर जसराम को फंसा दे और स्वयं पुलिस तमगा ले ले। इसलिये वह सावली से बलपूर्वक कहलाना चाहता है पर सावली ने मना कर दिया। वह बलात्कार को सिद्ध करने के लिये दो सिपाहियो के साथ मिलकर आठ दिनों तक सावली के साथ बलात्कार करता है। थाने में बंद सावली के पास इससे बचने का कोई उपाय नहीं था। थानेदार उसके बहन और बहनोई पर भी दबाव बनाते हैं लेकिन वे भी जसराम के विरुध्द मामला बनाने का विरोध करते हुये कहते हैं कि सावली उन दिनों उनके पास ही थी। एक दिन अचानक आई.जी. के इंस्पेक्शन के दौरान आँखें बचाकर सावली थाने से भाग जाती है और अकेली जंगलों में घूमते हुये नक्सलवादी नेताओं के सम्पर्क में आ जाती है। अब उसके मन मे थानेदार के प्रति प्रतिशोध पनपता है। न जाने कितनी सावली जैसी युवतियों के साथ पुलिस इस प्रकार के अत्याचार करती होगी लेकिन प्रतिरोध करने का आधार उनके पास कोई नहीं होता अतः वे चुपचाप सहन भी करती रहती हैं। पर सावली नक्सली आंदोलन से जुड़ने के बाद स्वयं को असहाय और विवश नहीं मानती। अब वह हर अत्याचार का बदला लेने की ताकत संजो चुकी हैं। जब थानेदार तिवारी इसी केस को सुलझाने के लिये राज्यपाल से मैडल ले रहा होता है तभी सावली थानेदार के पास जाकर गोली मार देती है। यह दृश्य किसी फिल्मी सीन की तरह सकता है पर सावली के प्रतिशोध की आग में वह सही दिखता है। मैं सावली पर हुये अत्याचारों का विरोध करते हुये उसके पक्ष में जाऊं तब भी यह तो कहने का हक रखता ही हूँ कि कहानीकार को थानेदार की हत्या तो करानी चाहिये थी पर जगह का चयन भी सही करना चाहियें था। भारतीय समाज में राज्यपाल जिस सुरक्षा व्यवस्था के तहत मंच पर आते हैं उस जगह पर नक्सलवादी आंदोलन से जुड़ी किसी सावली का पहुँच पाना संभव नहीं हो सकता। आज़ादी के बाद आम आदमी की सुरक्षा की अनदेखी कर सरकार ने सारी पुलिस को राजनेताओं की सुरक्षा में लगा दिया है। सर्वोच्च न्यायालय आम आदमी की

की अनदेखी पर अपनी नाराजगी भी व्यक्त कर चुका है पर राजनेताओं को उसकी फिक्र नहीं है। वे तो स्वयं को पुलिस के घेरे में बड़ा आदमी मानकर चलते हैं और गौरवांवित होते रहते हैं। 17-18 साल के शिवराम कुंठे, मांगले या गर्भवती औरत के प्रसव के दृश्यों में डिप्टी एस.पी. रोहित कुलश्रेष्ठ अधिक संवेदनशील नजर आते हैं, वे समस्या की संवेदनशीलता से परिचित होते हैं और उसके समाधान की दिशा में भी सही कदम उठाते हैं इसलिये सफल भी होते हैं। पर बीच बीच में सावली की सुगंध का आना और उनका भावुक होना कहानी को लक्ष्य से भटकाता है। यह प्रेम कहानी नहीं है और न किसी व्यावसायिक फिल्म के नायक नायिका की कहानी है। यह हिंदी कहानी है जो अपने पूरे कौशल के साथ यथार्थ की मांग भी करती है। शिवराम कुंठे के केस को सुलझवाने के लिये वह स्वयं आती है। उसे देखकर डिप्टी को लगता है 'वह फासला चाहे जितना रहा हो मैं चिंहुक गया उसे देखकर। कम उजाले में उद्‌दाम यौवन और शौर्य से भरी सावली खड़ी थी, सीधे मेरी आँखों में झाँकते हुये। यक्षणी का सा सांवला रूप । सेव की तरह भरी कसी देह। सामान्य कद की वह नक्सली। उसके कंधे से कारबाइन टंगी थी-ठक ठक ठक। गोली नही जवाकुसुम के फूल छूटते होंगे उसकी कारवाइन से। सही कहा था एस पी साहब ने ऐसा रूप कि किसी का भी ईमान डोल जाये। सिर पर घने केशों का जूड़ा तेरे बालों की छांव जैसे सरई की छांव। रूप और आतंक का अद्‌भुत संगम। अँधेरे में वह जैसे धधक रही थीं।' यह रात के अंधेरे का दृश्य है। सावली स्वयं शिवराम कुंठे के केस को सुलझाने के बाद मिलने आई है । सावली नक्सली है और एक थानेदार की हत्या का मुकदमा चल रहा है उसपर और रोहित डिप्टी एस.पी है। सावली कहती है ' तुम्हारा विभाग कुछ तय करना नहीं चाहता डिप्टी । फिर भी तुम हमें अच्छे अफसर दिखते हो। तुमने जिस तरह .ाविराम कुंठे का केस सुलझाया है। मैं तुम्हारी तारीफ करती हूं-गंध ने कहा और अंधेरे के परदे चीर कर सावली तीन फुट के फासले पर आकर खड़ी हो गई।' कहना न होगा कि गंध के इस अहसास से व्यामोहित डिप्टी एस.पी. की जो हालत है वह सामान्य नहीं है। इसी तरह गर्भवती औरत के डोला उठाने की इजाजत देते समय डिप्टी एस.पी ने सावली को जाने का अवसर भी दिया 'अचानक उस गहन अंधेरे में एक तेज गंध मेरी नाक में घुस गई। जंगली फूलों की गंध जिन्हें सावली अपने जूड़े में लगाती है। कहीं कोई और तो इस गंध को नहीं पहिचानता ? उसे सावली की खबर लग सकती है । मुझे लगा मुझसे एकदम सटकर या बगलगीर होते सावली यहीं कहीं है बिल्कुल पास में। शायद मुझसे हाथ दो हाथ की दूरी पर ही हो। घबड़ाहट में रायफल पकड़े मेरे हाथ में न जाने कितना पसीना भर गया और लगा अभी फिसली। सर्चलाइट जलाकर उसे देखा जा सकता था। वापटसिंह को जरा भी आहट मिलती वह बिना सोचे समझे खट से स्विच आन कर देता। गनीमत थी उसे कुछ मालूम नहीं पड़ा था। उस गहन अंधेरे में मैं चुपचाप खड़ रह गया था । कुछ करने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। फिर दूर होती सुगंध की आहट बंद हो गई और कुछ पलों बाद कहीं विलीन हो गई। मैं खडा रहा। जान गया कि सावली गांव से बाहर निकल चुकी है। पल भर में मेरा तनाव दूर हो गया था। कुछ देर ही बाद पौ फटने वाली थी।' यह कहानी का समापन अंश है जिसमें डिप्टी एस.पी. सहानुभूतिपूर्वक सावली के साथ खड़े हैं और पुलिस पार्टी को कुछ नहीं मालूम यानी अपनी ही पुलिस से चोरीछुपे कहानी के आरंभ में वे तनाव में थे और सावली को पकड़ने तथा नक्सलवादियों से मुकाबला करने की चुनौती को स्वीकारने का साहस था। कहानी कर्तव्य पालन की ईमानदारी के साहस से आरंभ होकर भावुकता में समाप्त होती है। आरंभ में तनाव सावली से मुकाबले का था तो समाप्ति में उसके सकुशल निकल जाने का। कहानीकार ने स्थितियों को नेरेट करते हुये सावली का पक्षउभारा है, जिसमें पूरा नक्सलवादी आंदोलन ही सहानुभूति की अपेक्षा रखता है। यदि डिप्टी एस.पी. की भावुकता और सावली की गंध के विवरण को निकाल दिया जाये तो कहानी एक आदिवासी युवती के साहस और बलिदान की कहानी बनती है।

71, सेंट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर 342011



भ्रष्टाचार का मतलब तंत्राचार

(क्रेज़ी फ़ैंटेसी की दुनिया)

सूरज पालीवाल

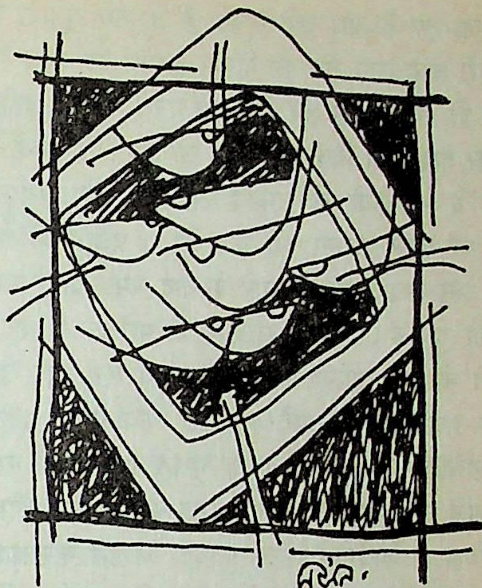
अभिज्ञात की 'क्रेज़ी फ़ैंटेसी की दुनिया' भ्रष्टाचार की फ़ंतासी को परत-दर-परत खोलती कहानी है। अभिज्ञात मीडिया की दुनिया से हैं इसलिये उन्हें यह मालूम है कि सीधे-सीधे भ्रष्टाचार पर लिखने का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है क्योंकि बड़े से बड़े भ्रष्टाचार को हमने स्वीकार कर लिया हैं। अब बोफोर्स, तहलका,चारा भूसा, तेलगी या सत्यम कंप्यूटर कांड किसी के माथे पर शिकन नहीं डालते। मीडिया रात-दिन उनकी नंगी और बेशर्म हक़ीक़त को उजागर करता रहता है और हमारा समाज अपने रास्ते पर चलता रहता है-बेईमानी करने वाले बेईमानी करने से नहीं हिचकते, चोर चोरी करने में शर्म महसूस नहीं करते, बिगड़े रईस किसी विनम्र किशोरी को छेड़ने में संकोच नहीं करते और राजनेता ये तो परम स्वतंत्र हैं इन्हें न देश की चिंता और न समाज की चिंता। इस स्थिति में जब भ्रष्टाचार सार्वजनिक स्वीकृति का विषय बन जाय उस समाज में भ्रष्टाचार के विरुद्ध लिखना-कितना हल्का और बचकाना-सा लगता है, इस तथ्य से कहानीकार भली-भाँति परिचित है। पर उनकी ज़िद है कि वह ऐसे भ्रष्टाचार के बारे में अपने पाठकों को ज़रूर बताना चाहते है जो भ्रष्टाचार देश के प्रधानमंत्री और साम्राज्यवाद के गढ़ अमेरिका की मिली-भगत से हमारे जैसे विकासशील देशों में निरंतर चल रहा है। ऐसे भ्रष्टाचार के विरुद्ध सामान्य कहानी लिखने का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है इसलिये अभिज्ञात ने फंतासी रची है, जो अपने आप में महत्वपूर्ण है। कहानीकार को यह स्वतंत्रता है कि वह अपनी बात कहने के लिये कारगर तरीका ढूंढ़े। अभिज्ञात ने इसी कारगर तरीके से यह कहानी लिखी है यह बताने के लिए कि सरकार ने जिस समस्या पर अब तक तीन हज़ार करोड़ रुपये ख़र्च कर दिये हैं वह वास्तव में है क्या ?

'क्रेज़ी फ़ैंटेसी की दुनिया' कहानी को तीन आधारों पर खड़ा किया गया है या कहें तीन बिंदुओं के इर्दगिर्द बुना गया है। पहला, समुद्र के किनारे स्थित पोर्ट टॉरटॉइज़ पर जो कछुआ अनुसंधान केंद्र है उसके कर्ताधर्ता प्रोफ़ेसर एन.एन.निगम हैं, दूसरे, कछुओं की उम्र पांच सौ वर्ष के क़रीब होती है इसलिये उनका समुद्र के बारे में जो अनुभव है उससे प्रो. निगम लाभ उठाते हैं तथा तीसरे क्रेज़ी वायरस मछलियों के द्वारा फैला है, लेकिन यह तथ्य अंततः ग़लत साबित होता है पर सरकार इस पर तीन हजार करोड़ रुपये अब तक ख़र्च कर चुकी है और दुनिया की बड़ी ताक़त जो दूसरे विकासशील देशों की रहनुमा बनने का नाटक भी करती है अपनी उदारता से दवाइयाँ इत्यादि सहायता देकर देवता की कोटि में आ चुकी है। कहानी इन बिंदुओं को क्रमशः उठाती हुई विकसित होती है। प्रो. निगम के बारे में कहानी में लिखा गया है 'इस अनुसंधान केंद्र में कुल जमा पाँच स्टाफ़ था जिनमें एक थे प्रोफ़ेसर एन0एन0 निगम, जो केंद्र के प्रमुख थे। निगम न सिर्फ प्राणि-विज्ञानी थे बल्कि वे भाषा-विज्ञान के भी गहन अध्येता थे। वे पशु-पक्षियों की बोली को समझने में भी किसी हद तक सफल थे। वे अरसे से कछुओं की भाषा समझने की कोशिश में जुटे थे । वे उनकी गतिविधियों पर पैनी निगाह रखे हुए थे। प्रोफ़ेसर का घर भी थोड़ी दूर पर था। जहाँ वे अपनी पत्नी व बेटी के साथ रहते थे। किंतु उनका ज़्यादातर समय घर के बजाय अनुसंधान केंद्र में ही बीतता था जबकि दूर-दराज इलाक़े में बने इस केंद्र में बड़ी मुश्किल से ही सरकारी व्यक्ति आते-जाते थे । कार्यालय के कर्मचारी भी अक्सर ड्यूटी पर नहीं आते थे। आते भी थे तो महीने में दो-चार दिन के लिये। जो भी आता यहाँ से ट्रांसफर लेने की कोशिश में लग जाता। एक ढंग से प्रोफ़ेसर ही यहाँ के कर्ताधर्ता थे। प्रोफ़ेसर को अपनी एक खोज के लिये अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुका था और उन्हीं की माँग पर यह अनुसंधान-केंद्र स्थापित किया गया था। स्वयं प्रोफ़ेसर ने अपने अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार को भी इस केंद्र की स्थापना के लिये सरकार को समर्पित कर दिया था। कछुओं को लेकर उनकी गहरी दिलचस्पी के कारण विभाग में उन्हें प्रोफ़ेसर निगम नहीं बल्कि प्रोफ़ेसर टॉरटॉइज़ कहा जाने लगा था।' इस परिचय से यह साफ़ हो जाता है कि प्रोफ़ेसर निगम अपने शोध के प्रति निष्ठावान थे। इसलिये शोध कार्य में निमग्न रहने के कारण वे अपने परिवार की ज़िम्मेदारियों से भी बेखबर रहते थे 'कछुओं पर शोध में डूबे प्रोफ़ेसर ने अपने दाम्पत्य-जीवन पर कभीं ध्यान नहीं दिया। बच्ची पढ़ाई-लिखायी में बेहद कमज़ोर थी और वह अपनी कक्षाओं में फ़ेल होती रहती थी और पत्नी अक्सर बीमार चिड़चिड़ी।'

अभिज्ञात ने प्रोफ़ेसर निगम के रूप में जिस वैज्ञानिक का चित्र बनाया है, वह चित्र अपने आप में संपूर्ण है। एक वैज्ञानिक

और शोधकर्ता की यही स्थिति होती है, वह दुनिया जहान से बेखबर अपने कार्य में निमग्न रहता है, दुनिया का कोई प्रलोभन उसे न लुभाता है और न अपने पथ से डिगाता है, वह अपने लक्ष्य के प्रति अनन्य भाव से लगा रहता है। इस प्रकार के शोधकर्ताओं से परिवार की उपेक्षा निश्चित ही होती है। उपेक्षा वे जानबूझकर नहीं करते पर एक समय में एक ही कार्य किया जा सकता है इसलिए वे अपना मूल कार्य शोध को ही मानकर उसी में डूबे रहते हैं। ऐसे लोग विरले हैं जो दो नावों पर सवारी अच्छी तरह कर लेते हैं-परिवार की जिम्मेदारियों और शोध के परिणामों पर जिनकी समान पकड़ होती है ऐसे व्यक्ति प्रो. निगम नहीं थे। यहाँ यह वहस का मुद्दा नहीं है कि प्रोफेसर निगम सही थे या गलत यहाँ जो परिचय दिया गया है उसका एक ही अर्थ निकाला जाना चाहिये कि वे अपने शोध कार्य के प्रति वेहद ईमानदार और जागरूक थे। यह ईमानदारी, जागरूकता और निष्ठा ही उन्हें शोध केंद्र का पर्याय बना सकी। लोगों की दृष्टि में उपेक्षित लेकिन प्रोफ़ेसर निगम के लिये महत्वपूर्ण शोध-केंद्र को अंतरराष्ट्रीय ख्याति दिलाकर उन्होंने जो कार्य किया वह अनूठा है। पर कहानीकार का इशारा इस तरफ़ भी है कि राजनेताओं के लिये इस प्रकार के कार्य कोई मायने नहीं रखते। राजनेताओं के लिये अपनी कुर्सी और अपना राजनीतिक दल ही प्रमुख होता है, उसी की सुरक्षा और संवृद्धि में वे रात-दिन एक किये रहते हैं। देश में फैले वायरस की जानकारी देने जब प्रो. निगम प्रधानमंत्री से मिलने गये और उन्होंने कहा कि 'एक विकसित देश ने एक खास तरह के वायरस से छुटकारा पाने का यह उपाय किया था। दुनिया को एक बड़ी बीमारी से सौ साल तक बचाने वाले एक खास टीके को नष्ट करना उसकी मजबूरी थी क्योंकि वह बीमारी दुनिया से अब खत्म हो चुकी है। रोग के वायरस से ही उसके निवारण के टीके बनाये गये थे।' सुनकर प्रधानमंत्री जी चौंकते हैं और प्रो. निगम को सावधान करते हुए कहते हैं 'ठीक है किंतु हम बड़ी मुश्किल में हैं यदि यह सच है तो जिस देश ने यह किया है उससे हमारे रिश्ते बेहतरी की ओर जा रहे हैं। हमारे देश के कई बड़े सौदे उसके साथ लगभग अंतिम चरण में हैं। हम किसी भी कीमत पर सौदे को सफल कराने में लगे हैं। यह हमारी सरकार के लिये प्रतिष्ठा का प्रश्न बन चुका है। और इन सौदों की सफलता ही हमें फिर से सरकार बनाने में सहायक सिद्ध होगी। इन्हीं के बल पर हम अगले चुनाव में लोगों के सामने जाएँगे।' इसलिये 'हम आपको कुछ दिनों के लिए अज्ञात स्थान पर नज़रबंद करने जा रहे हैं जहाँ आप किसी से नहीं मिल सकते। यह ज़रूरी है क्योंकि यदि किसी के सामने आप कुछ कह बैठे तो हमारी सरकार तो गयी। हमारे सौदों पर भी आँच आ जायेगी। आप कूटनीति नहीं समझते, प्रोफ़ेसर।

आप चिंता न करें। आपकी बेटी को हम देश के एक बड़े बोर्डिंग स्कूल में भेज रहे हैं जहाँ उसकी पढ़ाई सहित सारा खर्च



सरकार वहन करेगी। और हाँ, हम अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार के लिये भी आपको नामित करने जा रहे हैं। आप तो जानते ही हैं कि उसी देश के इशारे पर कई पुरस्कार तय होते हैं। इस साल पद्म पुरस्कारों के लिए भी हम सिफ़ारिश करेंगे। आपकी शोध संस्थान व प्रोजेक्ट पोर्ट टॉरटॉइज़ के लिये सौ करोड़ की ग्रांट दी जायेगी।' प्रधानमंत्री ने ईमानदार शोधकर्ता को झूठ बोलने या चुप रहने के लिये तमाम तरह के प्रलोभनों की झड़ी लगा दी। कहानीकार ने जिस प्रकार से इस सच को सामने रखा है, उस पर किसी तरह की टिप्पणी अवांछित ही होगी। कई बार जब चीजें ज़्यादा साफ़ होकर सामने आती हैं तो उन्हें बताने की ज़रूरत नहीं होती। अभिज्ञात प्रधानमंत्री की कूटनीतिक भाषा को भी बता सकते थे पर अब ऐसे प्रधानमंत्री कहाँ हैं जो अपने पद और साम्राज्यवादी अमेरिका का विरोध मोल लेकर सच को सच कहने का साहस एक वैज्ञानिक को दे सकें । राजनीतिक सत्ता के शिखर पर अब ऐसे लोग नहीं पहुँचते जो अपनी चारित्रिक दृढ़ता से सच को स्वीकार कर सकें। अब ऐसी कठपुतलियों को सत्ता सौंपी जाती हैं जो मालिक के इशारे में नाचती रहती हैं। पिछले साल अमेरिका से परमाणु करार पर सरकार की जो फजीहत हुई, उसे इस कहानी के संदर्भ में पढ़ा और समझा जाये तो स्थिति साफ़ हो जायेगी। जो सरकार राजनीतिक दलालों से समझौते कर बचे रहने का उपाय ढूँढ़ती हो, उस सरकार के प्रधानमंत्री से और क्या उम्मीदें की जा सकती हैं। अब प्रधानमंत्री सीधे-सीधे कहते पाये जाते हैं कि 'हम उम्मीद करते हैं कि आप हमारे तंत्र का हिस्सा बनें। तंत्र में बेहतर लोगों की आवश्यकता है। आप जिसे भ्रष्टाचार कहते हैं हम उसे तंत्राचार कहते हैं।' यह भ्रष्टाचार की नयी परिभाषा है, जिसे प्रधानमंत्री एक वैज्ञानिक को समझा रहे हैं। कोई भी मज़बूत व्यवस्था एक तंत्र खड़ा करती है जो उसकी सफलता के लिये ज़रूरी होता है। तंत्र एक प्रकार से मज़बूत दीवार की तरह होता है, जो बाहरी दबावों और प्रभावों को निष्फल करता रहता है। तंत्र में रहकर आदमी वही देखता है जो उसे

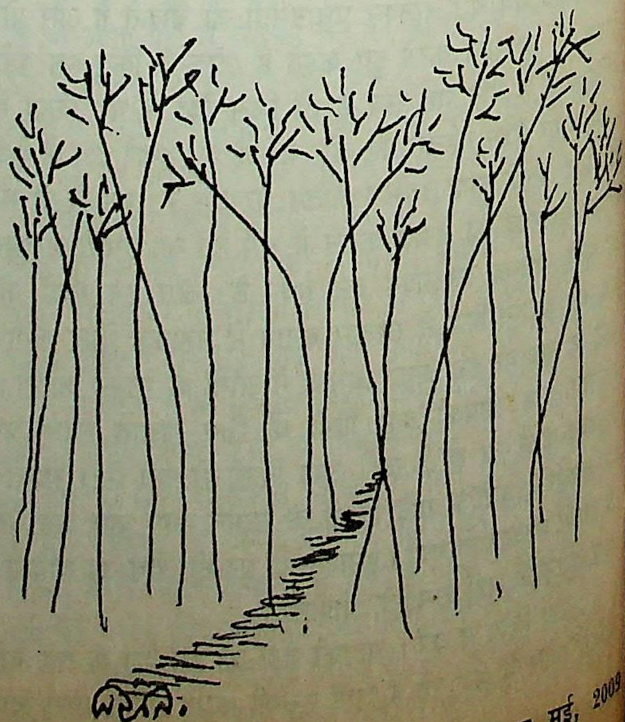
दिखाया जा रहा है और वही सुनता है जो उसे सुनाया जा रहा है, वह पूरी तरह उसी तंत्र का हिस्सा बनकर रह जाता है। यदि वैज्ञानिक प्रो. निगम उस तंत्र के हिस्से बनते हैं तो वे वही कहने, सुनने और देखने को विवश होंगे जो सरकार और उसके हित में है। फिर वे मछलियों के सफ़ाये आदि के तौर तरीकों और औचित्य पर प्रश्न उठाना बंद कर देंगे । प्रधानमंत्री ऐसा ही चाहते हैं और अब उनके समझाने के बाद समझे प्रो. निगम ऐसा ही मानकर चुप हैं। इसलिये सरकार की पराजय के बाद दूसरी सरकार ने भी उन्हें अपना सलाहकार बनाये रखा और 'इस बार फिर तीन हजार करोड़ रुपये आवंटित किये गये।' कहानी के अंत में अभिज्ञात की टिप्पणी है कि 'पुराने तालाबों को भरा जाने लगा जिससे न तो पुराना पानी रहेगा न मछलियाँ और क्रेज़ी वायरस विदा हो जायेगा। इसका फ़ायदा बिल्डरों ने उठाया और तालाब भरकर उसे फ्लैट बनाकर बेचा। फिर पर्यावरणविदों के विरोध को देखते हुए नये स्थानों पर तालाब खोदे गये। तीन हजार करोड़ इस प्रकार क्रेज़ी के नाम पर साफ़ हो गये। प्रोफ़ेसर जान गये थे तंत्र वही रहेगा, सरकारें आती जाती रहेंगी।'

प्रोफ़ेसर निगम की यह समझदारी कहानी के अंत में खुलती है, इसलिए कहानी रोचक भी है और प्रभावपूर्ण भी। यदि यह समझदारी पत्नी की मृत्यु के अवसर पर खुलती तो कहानी इतनी बड़ी नहीं बन पाती, उसमें प्रो. निगम का चरित्र पूरी तरह उभरकर नहीं आ पाता। पत्नी की मृत्यु से दुखी प्रो० निगम अपनी अकेली बेटी के लिये कहानियाँ कहना शुरू करते हैं जिन्हें बाद में लिखते भी हैं। यह उनकी दूसरी तरह की ख्याति है। इस ख्याति ने एक काल्पनिक चरित्र को वास्तविक बना दिया। पर वे बार-बार उसे काल्पनिक ही मानते और कहते रहे। काल्पनिक क्रेज़ी फ़ैंटेसी ने अपना चमत्कार दिखाया तो लोग घबड़ाकर मर गये या विक्षिप्त हो गये। यह चरित्र पूरी तरह फ़ैंटेसी का हिस्सा है, प्रो. निगम के दिमाग की उपज है जो ऐसे अवसर पर प्रकट हुआ जब शोधकार्य में रमे होने की वजह से उनकी उपेक्षा के कारण पत्नी की मृत्यु हो जाती है और वे अपराध भावना से ग्रस्त हैं। ऐसे समय इस प्रकार के चरित्र का निर्माण संभव है। क्रेज़ी फ़ैंटेसी न साधारण चरित्र है और न वास्तविक। यह काल्पनिक है और इस प्रकार की कल्पना अवसाद के क्षणों में होती है प्रोफ़ेसर निगम इसी का शिकार हैं। क्रेज़ी फ़ैंटेसी का चरित्रांकन कछुए पर शोधकार्य करने वाले वैज्ञानिक प्रो. निगम का विचलन है, यह विचलन ऐसे समय हुआ जब वे अकेले पड़ गये। अकेला आदमी चाहे वह कितना बड़ा क्यों न हो अपने अतीत की कमियों को देखता है। प्रो. निगम को अतीत में पत्नी, बेटी और परिवार की उपेक्षा साफ दिखाई दे रही है । इस कमी को भरने का एक ही उपाय है और वह उपाय क्रेज़ी जैसे चरित्र की फ़ैंटेसी में ही संभव हो सकता है।

'क्रेज़ी फ़ैंटेसी की दुनिया' काल्पनिक नहीं है वह एक यथार्थ है। हमारे समय का यथार्थ जो साम्राज्यवाद के डर के साये में जी रहा है और हमारी लोकतांत्रिक सरकार उस भय को सांस्थनिक रूप दे रही है। इस कहानी में प्रधानमंत्री के कथन या उनकी स्वीकृतियाँ उस भयावह यथार्थ को बताती हैं, जो सामान्य ढंग से उभरकर नहीं आ सकता। प्रधानमंत्री की यह आत्मस्वीकृति भी कम भयावह नहीं है कि 'सरकारें अपना काम तंत्र से करती हैं तंत्र के काम करने की अपनी पद्धति है। सरकार को पता है कि केंद्र से रवाना हुए दस रुपये में से एक ही रुपया वास्तविक कार्य पर खर्च होगा बाकी तंत्र की भेंट चढ़ जायेगा। योजनाएँ तंत्र को ध्यान में रखकर ही बनायी जाएँ तो सफल होती हैं।' इसलिये 'हम उम्मीद करते हैं आप हमारे तंत्र का हिस्सा बनें। तंत्र में बेहतर लोगों की आवश्यकता है ताकि दसवाँ हिस्सा ही सही, काम हो। आप जिसे भ्रष्टाचार कहते हैं हम उसे तंत्राचार कहते हैं।' तंत्र का हिस्सा बनने के लिए वे आगे समझाते हैं–मैं जानता हूँ पुरस्कार व सम्मान आपको प्रभावित नहीं कर सकते किंतु, वह लोगों को प्रभावित करते हैं । आप पुरस्कार लें या दान कर दें या ठुकरा दें हर हाल में लोगों के लिये महत्त्वपूर्ण बन जाएँगे पुरस्कार के लिये चयनित होते हैं इसके आपका मान बढ़ेगा आपके कहे को लोग ग़ौर से सुनेंगे तंत्र में आपकी स्थिति मज़बूत होगी तो आपको अपने उद्देश्य में अधिक सफलता मिलेगी। इस क्रेज़ी वायरस में नई जान आयेगी ऐसी मुझे आशा है।'

प्रधानमंत्री की समझ और वैज्ञानिक की समझ जब एक हो जाएँ तब क्रेज़ी वायरस की दुनिया फैंटेसी से निकलकर यथार्थ हो जायेगी, यह समझ कहानी देती है ।

71, सेंट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर-342011



कविताएँ

प्रेमशंकर रघुवंशी

एकलसूमड़ा

अकेला आदमी एकलसूमड़ा होता है
वह, न तो किसी के काम आता है, न
किसी के काम का होता, उसके हाथ
खुद के लिए जगन्नाथ होते और
खुद के पाँव खुद के लिए चरण
जिन्हें खुद ही खुद के हाथों पूजता
हुआ, घुन्ना बना ज़िंदगी के
दिन काटता है।



एकलसूमड़ा, न तो ठीक से बच्चा
पैदा कर पाता, न दे पाता कंधा
बाप तक की अर्थी को ठीक से।
चाहे नेपथ्य में काम-चेष्टाएँ हों
या मंच पर संयम का अभिनय,
प्रसंग चाहे जो रहें, प्रसंगातीत
होता है एकलसूमड़ा। इसे देख
कई बार भ्रम हो सकता है कि वह
आपकी ही बाट जोह रहा है, लेकिन
ऐसी कोई भी तरंग नहीं उठती
उसके मन में कि किसी की
भी प्रतीक्षा में स्पंदित हो सके।

वह न तो किसी से बोलता, न
किसी की सुनता—न गूँगा होता
न वाचाल—मात्र एकलसूमड़ा
होता है—खुद से बातें करता,
खुद की सुनता, खुद को
उलझाता, सुलझाता हर वक़्त
अपने अंदर स्थित उजाड़ में खोया
ख़तरनाक सन्नाटे की तरह होता है—एकलसूमड़ा।

वह, न तो किसी को देखता-सुनता, न
सूँघता-चखता, न ही स्पर्श करता है। यह
नहीं कि वह नेत्रहीन होता है या घ्राणशक्ति
नहीं होती उसमें—या उसे खाने या छूने
का अहसास ही नहीं होता। उसकी सभी
इंद्रियाँ ठीक-ठाक होती हैं, फिर भी वह नहीं
करने देता उनको उनके काम। निरर्थकता
का बुत बना एकलसूमड़ा अपने आसपास
इस क़दर अनासक्ति फैलाता है कि उसे
देखने वाला अच्छे से अच्छा आदमी भी
धीरे-धीरे ज्ञानेंद्रियों से उठने वाली
भाव-तरंगों को संवेदना के स्तर पर ग्रहण
करने की चेतना ही खो बैठता है।
अच्छे-ख़ासे हँसते-खिलते जीवंत क्षणों को भी पल
भर में अपनी उपस्थिति से लकवाग्रस्त
कर सकता है एकलसूमड़ा।

वर्षों बाद भी लौटो तो जहाँ छोड़कर
गये थे, वहीं बैठा दिखायी देगा वह
जबकि गाँव की आँखों से दिन-रात टपके
आँसुओं के एक-एक निशान दिख जाएँगे
दूर से तुम्हें एक-एक पत्ते का दर्द लिये
अमराई के चेहरे पर उभरी झाँईं के
निशान देख सकोगे दूर से तुम
कितनी नदी में नहाते छोकरों ने
पानी भर कर घर लौटती छोकरियों की गागर
फोड़ी। कब भुरिया की भैंस का पाड़ा मरा। कब
सताया गुल्ली की गाय को कीड़े ने। कब लगायी
नन्ने ने नरवाई जलाने के बहाने गाँव में आग।
कब टूटा घाटी चढ़ते जामले बैल का पाँव और
कब पिट गया गोल्या कंजरों के मोहल्ले में।
कब तोड़ी गयी जाटों द्वारा गूजर की खाट।
एकलसूमड़े
को कुछ भी पता नहीं

एकलसूमड़े को कुछ भी पता नहीं...
कि गाँव में कब चुने गये पंच
कब बनी गाँव की पंचायत और
कब सरपंच ने सच की
कसम खाने के बाद सड़क के वास्ते
ख़रीदे डामर को पंचायत की
कैश-बुक के चेहरे पर पोत दिया और
कब तक दलित महिला पंच से
अपने खलिहान में काम करवाया।

एकलसूमड़ा न तो असाढ़ के मेघों
की गर्जना सुनता, न पहली बारिश
के दोंगरे में नहाते बच्चों की किलकारियाँ,
न बेमौसम बरसात से चौपट होती
फ़सलों पर रोता है, न लहलहाते खेतों
के सपने देखता है, न पाले से पिटे
बाग़-बगीचों की ठंडी आहें सुन पाता
न इल्लियों से तबाह खेतों की
सिसकियाँ, न बचा पाता आग से
जलती बस्तियों के प्राण।

कब डूबे बाढ़ में मकान, कब अनावृष्टि
के वक़्त बादलों की मनुहारें करते गीत
गाते लोगों की आँखों से टपकते आँसुओं
से सूरज ने उनके चेहरे पर इंद्रधनुष
रचे—इसका कुछ भी पता नहीं—
एकलसूमड़े को।

अब, जबकि घनघोर अँधेरे में
बुझते दियों को रोशन करने की
तमन्ना लिये, बादलों की अगवानी
को खड़ा है गाँव, तो भी
एकलसूमड़ा है कि चुपचाप बैठा
वक़्त काट रहा है।
जहाँ-जहाँ भी सुख-दुख बाँटने
इकट्ठे होते लोग, वहाँ-वहाँ से
ग़ायब रहेगा एकलसूमड़ा
अब तक तो यह एकाध ही
पाये जाते थे कहीं—लेकिन
आजकल तेज़ी से गाँव-गाँव
मोहल्ले-मोहल्ले बढ़ते जा रहे
एकलसूमड़े।



और लोकतंत्र में एकलसूमड़ों के लिए भी
चुनने और चुने जाने के अधिकार सुरक्षित
हैं और मैं चिंतित हूँ इनकी बेशुमार
बढ़ती जा रही आबादी के वास्ते!

वे नवकुबेर

सबसे पहले वे कामधेनुएँ हाँक लाये
फिर उखाड़ लाये सारे कल्पवृक्ष
आजकल वे पारस की खोज में हैं
ताकि चुनकर रख सकें अपनी दीवाल में उसे
इसके पहले कि उनके ख़ज़ानों पर कोई नज़र पड़े
वे, उनके आस-पास यक्षों की चौकियाँ बना रहे हैं
अब ऋद्धि-सिद्धि उनके दरवाज़ों पर
इच्छित वरदानों के थाल सजाये खड़ी हैं
और बाहर खड़े लोगों की हथेलियों पर
चुटकी-चुटकी प्रसाद बाँटते वे नवकुबेर
सोने के नशे में धुत्त निर्द्वंद्व घूम रहे हैं
और एक आप हैं
जो पक्षाघात से पीड़ित
अपने समाज की
तीमारदारी करना छोड़
इनके पक्ष में क़सीदे पढ़ रहे हैं।

स्मृति में

आँगन के नीम पर लगे छत्ते से
दादी ने जो शहद निकाल रखा है
वह आज तक काम आ रहा है
जबकि आँगन का नीम
जाने कब का कट चुका
और उसकी लकड़ी से बना
तख़्ता भी टूटा पड़ा है

जब भी शहद की
शीशी नज़र आती
मुझे स्मृति में
फूलता-फलता नीम लहरा उठता
जिस पर झूले झूलते
छू लेते थे आकाश

आज ज्ञान के लिए
शहद भेज रहा

तो घर में रखी शीशी
दिखायी दे रही मुझे
जिसमें सभी की सेहत के वास्ते
दादी की स्वस्थ दुआएँ भरी हैं।

चुनाव मंथन में हर बार

चुनाव-मंथन में हर बार
दिवास्वप्नों के विषधरों की तरफ़ ही
लगाया जाता हमें
लोकमत के मंद्राचल का भार उठाने
हमें ही बनाया जाता कच्छप
हर बार अर्थ-मथानी से निकला मंहगाई का हालाहल
हमें ही पिलाया जाता पहले
ठंडा किया जाता छली युद्ध में हमें ही
माथे पर आश्वासनों का चंद्रमा रखकर
हक़ में बोलने के पहले
टाइप किये गये थे उस दिन
पुनःश्च—लिखना कि कोई
मेरी ग़ैर-हाज़िरी का फ़ायदा उठाकर
अध्यक्ष के कान तो नहीं भर रहा था उस दिन
लिखना पूरी तफ़सील से उस दिन का सब कुछ।

मालूम

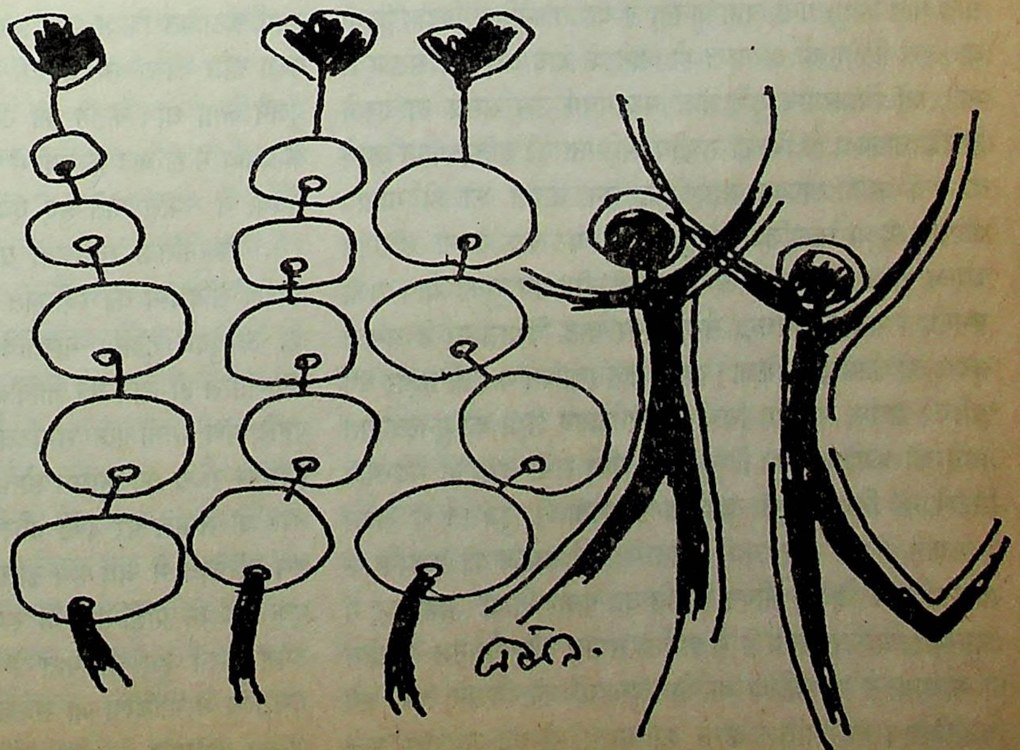
यह सच है
कि तुम
साँस की तरह हो
जिसकी ताज़गी से
महकता रोम-रोम मेरा
तुम्हें उच्छ्वास की तरह
छोड़ता हूँ तो—
इतने भर को
कि तुम, थोड़ा घूम-घाम कर
ढेर-सी
प्राणवायु समेटे
समा जाओ
जिजीविषा की तरह मुझमें
लेकिन देख रहा
कि तुम
आजकल कोहरे से
बोलने-बतियाने लगी हो
जो सूरज को भी
दीवाल की तरह घेरकर पसरा है

ओ मेरी साँस, मेरी आत्मगंध
इतना तो
तुम्हें भी मालूम होगा
कि कोई भी दीवाल
रोशनी के ख़िलाफ़ होती है
और कोई भी कोहरा
किरणों का जल्लाद
कि जिसके फंदों पर झूलती
पहाड़ की पहाड़ देहों की
शिनाख़्त भी—
मुश्किल होती है

ख़तरे के निशान से
ऊपर पहुँचकर पानी
डुबो देता पुल
और लौट आने का
शीतल सुख
खड़ा रहता उस पार

ओ मेरी साँस
मेरी आत्मगंध
तुम्हें मालूम ही होगा।

प्रताप कालोनी (चाल के पीछे), हरदा (म.प्र.)-461331



नवजागरण ठहरा हुआ

देवीप्रसाद मौर्य

हमारे यहाँ भारतीय नवजागरण पर यथोचित चर्चा नहीं होती है, जबकि पाँच हज़ार वर्ष पुरातन सभ्यता के भीतर घटित हो रहे वर्तमान सामाजिक रूपान्तरण के निहितार्थों और उसके परम्परागत ऐतिहासिक संदर्भों को सही ढंग से समझने के लिए उसपर विचार किया जाना बहुत ज़रूरी है। उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज में ऐतिहासिक जड़ता के विरुद्ध जिस स्वतः स्फूर्त जन चेतना का उभार प्रकट हुआ, उसने भारतीय भू-भाग को सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनैतिक स्तर पर झकझोर दिया था। मुग़ल सल्तनत के कमज़ोर होने पर जब ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वेतन भोगी हिन्दुस्तानी सिपाहियों की मदद से राजे-नवाबों को दबाकर सारे मुल्क को गुलाम बनाने की साज़िश रची जा रही थी, तब भारत की साधारण जनता ने राष्ट्रीय स्तर पर संगठित होकर 1857 में राज्यसत्ता के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प लिया था। हिन्दुस्तानी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प के प्रतीक के रूप में पूरे महाद्वीप में कमल और रोटी हाथों हाथ बंटे थे। त्रस्त और अपमानित किसानों और सिपाहियों के मन में आज़ादी की भूख जागी थी। संभवतः इतिहास में सैकड़ों साल बाद हिन्दुस्तानी आम जनता ने यह राजनैतिक विद्रोह किया था। इस विद्रोह के असफल हो जाने के बाद थोड़ी ही संख्या में सही, जो विचारवान बुद्धिशील मध्यमवर्ग उस समय था उसने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय अस्मिता को प्रतिस्थापित करने का एक मात्र माध्यम सामाजिक जन चेतना को ही माना। परिणाम स्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर लोक चेतना अभियान प्रारम्भ हुए। इस रूप में बंगाल पहले ही जाग चुका था। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने समाज सुधार का काम शुरू किया। ब्रह्मसमाज स्थापित कर दो हज़ार वर्ष पूर्व की प्राचीन भारतीय चिन्तन और जीवन शैली को पुनर्स्थापित करने की कोशिश की। हिन्दुओं के बीच सभी तरह के भेद-भाव मिटाने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुजरात से लेकर राजस्थान, पंजाब और उत्तरी भारत में आर्य समाज की स्थापना के साथ लौकिक वैदिक जीवन पद्धति का प्रचार किया। महाराष्ट्र में आगरकर, जस्टिस राना डे ने प्रार्थना समाज और नेशनल कान्फ्रेंस के माध्यम से सामाजिक-धार्मिक बुराइयों को मिटाने तथा नये ज्ञान-विज्ञान को हासिल करने का रास्ता खोला। ज्योतिबा फुले ने सत्य शोधक समाज की स्थापना करके स्त्री एवं शूद्रों की मुक्ति का बिगुल फूंका। रामकृष्ण परम हंस के योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने परिव्राजक के रूप में पूरे भारत वर्ष में घूम-घूम कर जन-जागृति की ज्योति जलाई।

ध्यान देने की बात यह है कि ये सारे सांस्कृतिक आन्दोलन आधुनिक युग के अनुरूप मध्ययुगीन ऐतिहासिक जड़ता के ख़िलाफ़ सांस्कृतिक क्रांति का आह्वान करने वाले अभियान थे। इनमें रचनात्मक दृढ़ता थी, ये अपनी पुरातन जड़ों से जुड़े ज़रूर थे, किन्तु प्रतिक्रियात्मक पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। प्राचीनता के बोझ स्वरूप भारतीय समाज में जो सांस्कृतिक सड़ांध-जैसे भूत-प्रेत वाली अंधश्रद्धा की धार्मिक धारणा, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, पुनर्जन्म, भाग्यवाद, जात-पाँत, ऊँच-नीच, अवतारवाद आदि अतार्किक रूढ़ियाँ बढ़ी थीं तथा इतर धार्मिक सम्प्रदाय ईसाइयत एवं इस्लाम की सामाजिक-सांस्कृतिक श्रेष्ठता के सामने हीनताबोध प्रकट हो रहा था-इन सब प्रवृत्तियों और बुराइयों का उचित निराकरण करते हुए नये धार्मिक आन्दोलनों ने भारतीय चिन्तन के उदात्त एवं प्रगतिशील सिद्धान्तों और व्यवहारों को पुनर्प्रतिष्ठापित किया था। इन भावनाओं के अनुरूप ही साहित्य, कला और अन्य सांस्कृतिक विधाओं में भी नवसर्जन का स्वर गूँजने लगा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नवचेतना के प्रभाव में ही बाद के वर्षों में भारतीय समाज सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों में सफल होते हुए एक स्वतंत्र सार्वभौम राष्ट्र बना।

राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद 1950 में एक आदर्श संविधान की स्वीकृति के साथ भारत के संघीय गणराज्य का अभ्युदय हुआ। भारतीय समाज के भारतीय गणराज्य में रूपान्तरित हो जाने का तार्किक तात्पर्य क्या है? गणराज्य बननेके पहले गण यानी कि संगठित राष्ट्र का बनना ज़रूरी होता है, जिसपर राज्य का शासन होता है। राज्यका शासन तो किसी भी तरह के समाज पर दण्ड और नियमन के लिए हो जाता है और इस परिप्रेक्ष्य में जब हम इतिहास में जाते हैं तो राज्यको किसी एक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में शेष समाज का शोषण और दमन करते हुए ही पाते हैं। राज्य के इस चरित्र को हमारे गणराज्य में भी देखा जा सकता है। हमें बताया गया है कि हमारा शासन गणराज्य या लोकतांत्रिक है, जिसमें सभी नागरिक स्वेच्छा

ते संविधान के कानून को मानते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि यहाँ राज्य शोषण और दमन नहीं करता है बल्कि शान्ति और व्यवस्था बनाये रखता है। लोकतंत्र में राज्य पूरी तरह उसके नागरिकों के बीच विलोपित हो जाता है। अब इसमें कितनी सच्चाई है? क्या यह फिर से ब्रह्म और माया का परम्परागत जादुई करिश्मा तो नहीं है-जिसके तहत संसार के सभी मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोग रहे हैं इस मायामय जगत् में व्याप्त ब्रह्म तटस्थ-कूटस्थ निर्विकार बना सब कुछ देख रहा है? अभी एक सरकारी एजेन्सी के सर्वेक्षण के मुताबिक़ भारतीय समाज के सत्तर प्रतिशत लोग मात्र बीस रूपये रोज की कमाई पर अपनी ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। जिसका साफ़ मतलब है कि लगभग पचहत्तर करोड़ लोग देश में भर पेट खाना न मिलने के कारण भूखे हैं। पिछले कई वर्षों से देश का कृषितंत्र पूरी तरह से गड़बड़ा गया है, लगातार हज़ारों किसान कर्ज़ के कारण आत्महत्या कर रहे हैं। यह वही भारतीय समाज है जो हज़ारों साल से अपने गाँव-सेवान में किसी भी व्यक्ति के भूखे सोने को सामाजिकपाप मानता रहा है और यहाँ की धरती से इतना अन्न-जल उपजा लेता रहा है कि लोग भूखे न रहें।

पहले भारतीय समाज पर सामंती राजाओं का राज्य होता था, जनता को उस समय भी ईश्वर के प्रतिनिधि राजा से तरह-तरह के अत्याचार, शोषण और अन्याय झेलने पड़ते थे। राजा तो ईश्वर का बेटा था। वह जनता पर राज्य करने के लिए ही पैदा हुआ था और जनता को अपने पूर्व जन्म के पाप-पुण्य के हिसाब से वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के अनुसार कर्म फल भुगतने थे। तो हमारा यह गणराज्य-कानून का राज्य सामंती राज्य-धर्म का राज्य से किस तरह भिन्न हो गया? हिन्दुस्तानी जनता कैसे मान ले कि यह गणराज्य है जबकि नागरिक होने के ठप्पे के साथ लोगों को पुलिस, कचहरी, फौज, जेल के माध्यम से आये दिन तरह-तरह की यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। लोगों को तो पंडित जी की बात ज्यादा विश्वसनीय लगती है कि अब कलियुग आ गया है, धर्म की हानि हो रही है इसलिए तरह-तरह के कष्ट भुगतने ही पड़ेंगे, केवल इष्ट देवता की कृपा से ही अनिष्ट से बचा जा सकता है। जिस नव-जागरण की बात हम कर रहे हैं क्या उसका यही हश्र होना था? नव-जागरण ने अपने प्रभाव से सामाजिक स्थितियाँ तो बदल दीं, किन्तु उसकी जो मूल चेतना थी वह सामाजिक व्यवहार में अभी तक प्रतिफलित नहीं हुई है। समाज के परम्परागत संस्थान और व्यवस्थाओं को जात-पाँत, ऊँच-नीच, नारी शोषण, गाँव की परम्परागत हाली प्रथा आदि जो कि अन्याय और शोषण के साधन थे उन्हें गैर कानूनी करार दिया गया है। कानून के शिकंजे में लोग फँस भी रहे हैं कुछ मायने में पुरानी सामाजिक व्यवस्था टूटी भी है। सड़ी-गली व्यवस्था के जोड़े जाने का नारा कामयाब भी हुआ है। नैतिकता-अनैतिकता, अपसंस्कृति के नये संताप से लोग दुखी हैं। नवजागरण सामाजिक परिवर्तन लाना चाहता था-परिवर्तन तो आ गया, परन्तु क्या उसके प्रगतिशील उदात्त मूल्यों को सामाजिक मान्यता मिली? क्या भारतीय समाज का भी आरोपित आदर्शों के अनुरूप रूपान्तरण हुआ? वह व्यक्ति जो अब नागरिक है क्या राष्ट्र कानून, लोकतंत्र, संसदीय व्यवस्था तथा अन्य नये संवैधानिक संस्थानों का सही प्रतिनिधित्व कर पा रहा है?

हिन्दुस्तान 1947 तक एक संवैधानिक राष्ट्र नहीं बन पाया था। कहने को भले स्वतंत्रता आन्दोलन को राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन कहा जा रहा था, किन्तु उस समय देश में सैकड़ों राजा-नवाबों का मध्ययुगीन तरीके से सामंती शासन चल रहा था, इसलिए समाज में राष्ट्रीयता की कोई पहचान नहीं बन पायी थी, लोगों की मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया था। समालोचक गण भारतीय नवजागरण को राजा राममोहन राय के जीवन काल से स्वामी विवेकानन्द के जीवन काल तक-मोटे तौर पर उन्नीसवी सदी के प्रारंभ से लेकर 1905 तक जबकि बंगाल का विभाजन हुआ था, उस समय तक ही सीमित कर देते हैं, आगे के सारे मुक्ति आन्दोलन को वे लोग आधुनिक काल की अवधारणा से जोड़ते हैं। इसी प्रसंग में हम अंग्रेज़ी के तीन शब्दों के अर्थभेद को समझ लें। रिनांसा शब्द पुनर्जागरण के लए, रिवाइवल शब्द पुनरूत्थान के लिए और रिसर्जेन्स शब्द नवजागरण के लिए प्रयुक्त होता रहा है। हमारे यहाँ रेनेसाँ के शुरू होने के साथ काल क्रम से पूरे महाद्वीप में तीनों तरह की स्थितियों को देखा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में औद्योगिक पूँजी के लिए विश्वबाजार तैयार हो चुका था, क्योंकि सभी ओर औद्योगीकरण की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य एशियाई समाज के बाजार को पूरी तरह अपने कब्जे में लिये था। साथ ही यूरोप अमेरिका के देश भी पूरी दुनिया के स्थानीय बाजारों में अपना माल भेज रहे थे। इसलिए स्वाभाविक तौर पर यूरोप के आधुनिक औद्योगिक काल को दुनिया के पुरातन समाजों पर भी आधुनिक काल की तरह चस्पा कर दिया गया। औपनिवेशिक समझ के कारण भारतीय बुद्धिजीवियों ने एक उपनिवेश होने की वजह से ही उस समय की भारतीय सक्रियता को आधुनिक काल कहा ज़बकि आधुनिकता पूरे समाज में नहीं केवल कुछ बुद्धिजीवियों में ही आयी थी। वैसे इसमें कोई बड़ी चूक नहीं है, परन्तु इससे हमारे स्थानीय परिप्रेक्ष्य को समझने में जरूर दिक्कत पेश आती है। एशियाई उत्पादन प्रणाली और पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता के संदर्भ में यूरोपीय समाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को जस का तस स्वीकार कर लेने पर, वास्तविक सामाजिक रूपान्तरण की विसंगतियों को ठीक से समझा नहीं जा सकता है।

अस्तु, भारतीय सामाजिक क्रान्ति को समग्रता से देखने के लिए हमें आधुनिकता को एक विचार के रूप में स्वीकारते हुए नवजागरण आन्दोलन के सातत्य को आगे आने वाले कालक्रम में भी देखने की जरूरत है। प्राचीन अर्थतंत्र का शोषण आधुनिक

यूरोप किस तरह कर रहा था, इस तथ्य को दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश राज के द्वारा हिन्दुस्तान की दौलत की लूट से अपने विशाल साम्राज्य को चलाये जाने की सचाई से खुलासा किया। विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, तिलक, गोखले, अरविन्द घोष, सर सैयद अहमद खाँ, मुहम्मद अली, शौकत अली, मदन मोहन मालवीय आदि बहुत सारे क्रान्तिवीर चिन्तक तथा विचारक समाज को जगाने का काम कर रहे थे। इनके सामने तात्कालिक लक्ष्य राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं थी, बल्कि देश की जनता में आत्म स्वाभिमान, सामाजिक संचेतना और निर्भीकता आ जाय-ऐसा उनका प्रयत्न था। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने जिस तरह से पूरे समाज को सड़ा-गला दिया था- संस्कृति के उस विपर्यय को नारायण गुरू, रामास्वामी नायकर, और डा0 भीमराव अम्बेडकर पूरे समाज के सामने ला रहे थे और शूद्रों-अतिशूद्रों के मन में नये मनुष्य बनने का साहस भर रहे थे। मोहनदास करम चन्द गाँधी जब दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो उनके आदरणीय गोखले ने सबसे पहले भारत भ्रमण कर इस देश की मिट्टी और जिन्दगी की सचाइयों को नजदीक से देखने समझने की सलाह दी ताकि वे राजनैतिक बहसों में न उलझ कर समाज की बुनियादी तकलीफ़ को दूर करने की कोशिश में जुटें। हम देखते हैं कि देश की राजनैतिक आजादी उनके लिये उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितनी कि सामाजिक समानता, स्वावलंबन और स्वदेशी की भावना। इसीलिए समाज में फैली साम्प्रदायिक उन्माद की आग में उन्होंने स्वयं को झोंक दिया। वह सब भारतीय लोक चेतना की जरूरी सक्रियता ही थी, जिसके माध्यम से ही भारतीय समाज अपना नवनिर्माण कर सकता था-अपनी संस्थानिक विसंगतियों का उचित निराकरण कर सकता था। किन्तु चूक यह हुई कि हमने राजनैतिक स्वतंत्रता को ही समाज का समग्र रूपान्तरण मान लिया, जिसके त्रासद परिणाम हम आज भुगत रहे हैं।

प्रस्तुत वर्तमान में इस चूक के विपर्यय को इस द्वैत में देखा जा सकता है कि एक गरीब मुल्क अरबों रूपये खर्च कर चन्द्रमा की सतह पर चन्द्रयान भेजकर महाबली बनने जा रहा है और दूसरी ओर सम्प्रदायवाद, आतंकवाद का जहर लगभग हर शहर में फैल चुका है। महाबली भारत बम्बई में हुए 26 नवम्बर 2008 के गुरिल्ला युद्ध में मात्र दस पाकिस्तानी आतंकियों के कारनामे के सामने अवसन्न सा खड़ा है।1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय त्रस्त सैनिकों ओर किसानों ने पूरे भारतीय भू-भाग के अमन-चैन के लिए जन-संकल्प लिया था, जिसमें प्रतीक रूप में बहादुरशाह ज़फ़र इस भू-भाग के सारे हिन्दुओं और मुसलमानों के नेता थे। हमारी उस समय की गंगा-जमुनी संस्कृति की यदि हमने सही ढंग से हिफ़ाज़त की होती तो शायद यह स्थिति न बनती। आज हाल यह है कि पाकिस्तान अभी तक अपना इतिहास और अपनी संस्कृति नहीं ढूंढ पाया है जो कम से कम अरबी या फ़ारसी तो नहीं ही है। बांग्लादेश अपनी भाषा भूषा और जीवनशैली की जगह कट्टर धार्मिकता को संस्कृति मानने की सज़ा भुगत चुका है और हिन्दुस्तान अपनी प्राचीन जीवन-दृष्टि विविधता में एकता- के प्रति पूरी तरह ईमानदार न रहने के कारण दुनिया के सामने एक साम्प्रदायिक हिन्दू देश बना खड़ा है।

आज हमारे चारों तरफ़ हम अपने आप को बचा लेने की आपाधापी या स्थापित करने की होड़ देख रहे हैं। बौद्धिक, राजनैतिक, व्यवहारिक सभी क्षेत्रों में घिनौने क़िस्म का व्यक्तिवाद दिखाई दे रहा है। दुःस्वप्नों के बीच सही सिद्धान्त या ठीक विचारों में तारतम्य बनाना कठिन हो रहा है-लोगों को विचार तथा विचारधारा के नाम से चिढ़ हो गयी है। फिर भी, यदि हममें ज़रा सा भी धैर्य समय के आर-पार देखने का बचा है, तो हम देख पायेंगे कि जो सामाजिक सुखभोग, सुविधा-साधन आज उपलब्ध है उन्हें पाने के लिए हमारे पूर्वजों ने त्याग-तपस्या और आत्मबलिदान किया था। आगे भविष्य में भी यदि सामाजिक आदर्शों और स्वप्नों को यथार्थ में परिवर्तित होना है तो उसके लिए सामाजिक साझेदारी और संघर्ष की ज़रूरत होगी। समाज की हर पीढ़ी को उसके पूर्वजों की विरासत मिलती है ओर उससे उम्मीद की जाती है कि वह भविष्य की पीढ़ी के लिए बेहतर समाज छोड़कर जाय। हम पीछे मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप के भारतविदों, दार्शनिकों, पुरातत्त्ववेत्ताओं ने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विस्मित और हतप्रभ कर देने वाले ऐतिहासिक तत्त्वों को उजागर किया था। वैसे अंग्रेज़ जब यहाँ आये थे तो उन्हें पाँच हज़ार वर्षों का पुरातन समाज जादूगरों, सपेरों, ऊँट-हाथी पालने वालों का जाहिल मानव समूह ही दिखा- इसे समझने के लिए समाजशास्त्र की बनिस्बत नृतत्वशास्त्र की उनको ज्यादा जरूरत पड़ी। यहाँ के काले, भूरे, पीले लोगों के उद्धार किये जाने की जवाबदारी (व्हाइटमेन्स बरडन) उनके सिर माथे ईसा मसीह पहले से डाल गये थे। ईसाई मिशनरीज, फौजी अफ़सरों और प्रशासकीय अधिकारियों ने हिन्दुस्तान की धरती और जंगलों के रहस्य को जानना चाहा। जब उन्होंने यहाँ के खण्डहरों, टीलों को साफ़ करना-खोदना और सहेजना शुरू किया तो उनके सामने दो हजार वर्ष पूर्व की भव्य सभ्यता प्रकट हो गयी। इन अभूतपूर्व मानवीय धरोहरों को देखने-समझने पर उन्हें अपनी यूरोपीय विरासत भी छोटी दिखने लगी। भारतीयों ने भी अपनी जड़ों को देखा और दो हजार वर्ष पूर्व की स्मृतियों के ताजा होने पर उनका प्रमाद टूटा, उनके पूर्वजों के पुरुषार्थ का इतिहास सामने प्रत्यक्ष हो गया। पाश्चात्य और पूर्वात्य सभ्यताओं के इस सम्मिलन में से भारतीय नवजागरण का अभ्युदय हुआ था।

आज जब हम इन पिछले डेढ़ सौ वर्षों के पाश्चात्य-पूर्वात्य सम्मिलन के बौद्धिक दार्शनिक विमर्श पर विचार करते हैं तो एक द्वन्द सामने आता है। हमारे कुछ पुरोधा मानते हैं कि आधुनिक भारतीय सभ्यता के अभ्युदय के लिए यूरोप के ज्ञान-विज्ञान का

और विशेषकर वहाँ के सत्यप्रेमी विशेषज्ञों का बहुत बड़ा अवदान है। दूसरे खेमे के विद्वान पाश्चात्य सभ्यता को अपने से ज्यादा श्रेयस्कर होने से इन्कार करते हैं। पन्द्रहवीं सदी से विकसित होने वाली यूरोप की औद्योगिक सभ्यता को औपनिवेशिक लूट पर आधारित होने के कारण उनका मानना है कि यह सभ्यता प्रकृति और मानव विरोधी है, जबकि भारतीय और एशियाई सभ्यतायें हजारों वर्षों से प्रकृति के साथ समायोजन करती हुई अस्तित्व में रही हैं। इसलिए यदि मानव सभ्यता को भविष्य में बचे रहना है तो पाश्चात्य सभ्यता में अन्तर्निहित अधिग्रहण और प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्तियों को समूल त्यागना होगा। कार्ल मार्क्स ने 1853 में न्यूयार्क ट्रिब्यून समाचार पत्र में भारतीय समाज और सभ्यता पर केन्द्रित जो लेख लिखे थे, उसमें उन्होंने माना था कि एशियाई उत्पादन प्रणाली वाली पुरातन सभ्यता के मज़बूत आर्थिक तंत्र को ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने कब्जे में लेकर ध्वस्त कर दिया है। यदि भारतीय लोग अपनी जात-पाँत, ऊँच-नीच की भावना को त्यागकर इन आततइयों का मुकाबला करें तो वहाँ एक शोषण मुक्त समाजवादी समाज का निर्माण होगा। लगभग उसी काल के आस-पास स्वामी विवेकानन्द के विदेशों में दिये गये भाषणों से स्पष्ट हो जाता है कि वे पश्चिम के विज्ञान के साथ पूर्व के अध्यात्म दर्शन का समन्वय करना चाहते थे। भारत की गरीबी के संदर्भ में यूरोप में उठ रही तत्कालीन समाजवादी विचारधारा के अनुरूप वे घोषणा कर रहे थे कि आगामी समय में राज्यसत्ता शूद्रों (मजदूरों) के हाथ में आनेवाली है। समाजवाद की वकालत करते हुए वे स्वयं को एक समाजवादी बताते हैं। नवजागरण के सभी आह्वान पूरी तरह लौकिक, तर्क संगत और व्यावहारिक जीवन को प्रतिष्ठा देने वाले थे। स्वामी दयानन्द के आर्य समाज के आन्दोलन ने उत्तर भारत के गाँव-गाँव में पिछड़ों और दलितों को नया जीवन दिया। लोग जनेऊ धारण करके 'आर्य' बन रहे थे और अपने घरों में से भूतप्रेत ही नहीं हनुमान, गणेश, दुर्गा आदि की तस्वीरों को भी बाहर फेंक रहे थे। ज्योतिबा फुले ने सत्य शोधक समाज के माध्यम से शूद्रों और स्त्रियों की मुक्ति का मार्ग खोजा। उन्होंने ब्राह्मणवादी पोंगापथ का मजाक उड़ाया। हिन्दू पुराणों की कल्पित कथाओं में किस तरह प्राचीन काल के वैदिक संप्रदाय विरोधी मानव समाजों को दैत्य, असुर, दानव बताकर नीचा दिखाया गया है- इस तथ्य को उजागर किया। लोक प्रसिद्ध दानवीर राजा बलि को वैदिकों के इष्ट विष्णु के द्वारा अपदस्थ किये जाने की छलपूर्ण कार्यवाही की ऐतिहासिक व्याख्या करके उन्होंने समझाया कि हिन्दू समाज में श्रम करने वाली जातियों और सेवा कार्य करने वाले अस्पृश्यों को हमेशा-हमेशा के लिए शोषित और पद दलित बनाये रखने के लिए ऐसी कथायें रची गयी हैं। हम देखते हैं कि इन सभी समाज सुधारकों के चिन्तन में पर्याप्त विवेक प्रवणता-रेशनालिटी है। वे पश्चिमी तत्व चिंतकों के सानिध्य से नैतिकता और धार्मिकता की वैचारिक पृष्ठभूमि को भी समझते थे। उनके सामने यह तथ्य स्पष्ट है कि समाजशास्त्रीय व्याख्या के अनुसार धार्मिकता का स्वरूप तत्कालीन सामाजिक संज्ञान के अनुरूप तय होता है। सामाजिक विकास क्रम से जादू-टोना, देवी-देवता के प्रति अंधश्रद्धा, भाग्य और परलोक आदि के विश्वासों का स्थान धीरे-धीरे विवेक सम्मत अध्यात्म ले लेता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारत ही नहीं दुनिया के सभी पिछड़े समाजों में ब्रिटिश और यूरोपीय साम्राज्यों के विरुद्ध आजादी के लिए संघर्ष तेज हुआ था। हमारे यहाँ कांग्रेस पार्टी के गरम और नरम दल तथा क्रांतिकारियों की सामाजिक सक्रियता के कारण जनता के मन में नये बदलाव की आकांक्षा जागी थी। महात्मा गाँधी सामाजिक आन्दोलनों के माध्यम से ही जनता के विचार और व्यवहार बदलना चाहते थे। अहिंसा का विचार उनके लिए पुण्य प्राप्त करने का साधन नहीं बल्कि मानव जीवन में स्वावलम्बन और साहस भर करके सामाजिक समरसता को चरितार्थ कराने वाला माध्यम था। महाबली ब्रिटिश साम्राज्य को अहिंसक सत्याग्रह के बल पर पराभूत करने का यह प्रयोग मानव इतिहास में तो अद्वितीय है ही, आने वाले भविष्य के मानव समाजों की सरकारों से जनता के हितों और सलामती की रक्षा के लिए भी अचूक सामाजिक हथियार है। आजादी की लड़ाई में जो भी अन्य समूह और राजनेता सक्रिय थे, वे इसे ब्रिटिश सत्ता से भारतीय भू-भाग को स्वतंत्र कराने का राजनैतिक संघर्ष मान रहे थे। उनमें से अधिकांश के लिए यह आजादी राजनैतिक आजादी ही थी जिसके माध्यम से लड़ने वाले नेताओं को राज्य सत्ता हासिल होने वाली थी। समाज, राष्ट्र अथवा मानव समूह की वास्तविक आजादी, जिसमें लोग परस्पर सहयोग, प्रेम और समानता के साथ जीवन जी सकें-ऐसी जवाबदारी के प्रति उनकी कोई प्रतिबद्धता नहीं थी। इसी कारण आज हम देख रहे हैं कि राजनैतिक दल एक कारपोरेट कम्पनी की तरह राज्य सत्ता हासिल करने की दौड़ में लगे हुए हैं। जनता की खुशहाली, न्याय और मानवीय मूल्यों से उनको कुछ लेना-देना नहीं है।

राजसत्ता और धर्म मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही मनुष्य जाति को दमित, अनुशासित और नियमित करने के साधन रहे हैं। वैश्विक सभ्यता के उदय के साथ अब यह स्पष्ट हो रहा है कि यदि मानव समाज को जीवन में सुख, सम्पन्नता और प्रसन्नता चाहिए तो राज्यसत्ता और संगठित धर्म (मजहब) के कठोर नियामक शक्ति से मुक्ति पानी होगी। कार्लमार्क्स, महात्मा गाँधी और अन्य तमाम समाजवादी चिन्तकों ने इस तथ्य को अपने तरीके से बहुत पहले ही व्यक्त कर दिया है। प्रस्तुत संदर्भ में ध्यान में रखने वाली बात यह है कि सामासिक सामाजिकता तभी सफल हो सकती है जबकि सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर व्यक्तियों का समग्रता से पूर्ण विकास हो। भारतीय नवजागरण की प्रक्रिया मेंऐसे नये मानव समाज के निर्माण की जनचेतना को विकसित

करने का प्रयास शुरू हुआ था, किन्तु तमाम सामाजिक अन्तर्विरोधों के बने रहने से वह चेतना धीरे-धीरे विलुप्त हो गयी और नवजागरण का लक्ष्य आज भी यथावत ठहरा हुआ है।

यह कहना तो सत्य नहीं होगा कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय गणराज्य में नव निर्माण की दिशा में कोई सकारात्मक उपलब्धि ही नही हुई। औद्योगिक उत्पादन, वैज्ञानिक प्रगति, सम्पन्नता और आधुनिक जीवन के आवश्यक बुनियादी ढाँचे में पर्याप्त प्रगति हुई है। आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से आज दुनिया के प्रमुख देशों में भारत की गिनती होती है, इतना ही नहीं आगामी कुछ वर्षों में विश्व के प्रथम चार महाबलियों में इसके शामिल होने के कयास लगाये जा रहे हैं। आजादी के प्रारंभिक वर्षों में समाजवादी समाज रचना की दृष्टि से जो योजनायें और संस्थान प्रारंभ हुए थे, उनकी स्मृतियाँ शहरी निवासियों के मन में अभी शेष हैं। परन्तु प्रशासन, राजनीति और नीतिगत भ्रष्टाचार के बढ़ते-बढ़ते वे सारे सकारात्मक सामाजिक संस्थान या तो बरबाद हो चुके हैं, या लड़खड़ाते हुए चल रहे हैं। नयी नीतियाँ नये कानून बनते हैं; जिन्हें जनहित की दिशा में क्रान्तिकारी कदम कहा जाता है। उदाहरण के लिए लें तो स्वायत्त संस्थाओं का सशक्तिकरण-वहाँ महिलाओं और दलितों के लिए पदों का आरक्षण। किन्तु भ्रष्टाचार तथा सामाजिक स्वीकार्यता न होने के कारण व्यवहार में हर जगह हास्यास्पद और त्रासदायक स्थितियाँ दिखाई देती हैं। संविधान की भाषा की सार्थकता केवल सुप्रीम कोर्ट तक ही सीमित हो गयी है। सामंती और पूंजीवादी मानसिकता और कुटिलता ने भारतीय गणराज्य की भावना को पूरी तरह निरर्थक बना दिया है। लोकतांत्रिक मूल्यों को बचाये रखने तथा सशक्त करने की जवाबदारी राजनैतिक दलों और प्रचार-संसाधनों-प्रेस और इलेक्ट्रानिक मीडिया की है परन्तु दुःखद स्थिति यह है कि वे स्वयं निरंकुश और बेइमान हो गये हैं। जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि जिन्हें संविधान में कोई अहमियत नहीं दी गयी है-जिन्हें नवजागरण की भावना के अनुरूप ही प्रतिबंधित किया गया है, उन्हें ही राजनीतिज्ञ अपनी कुटिल बुद्धि से सत्ता हथियाने का साधन बनाये हुए हैं। नवजागरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप पुनरुत्थानवाद सक्रिय हो गया है।

इक्कीसवीं शताब्दी की नई वैश्विकता में पुनरुत्थानवाद की प्रशंसा नहीं की जा सकती है। विविध सभ्यताएँ-संस्कृतियाँ अपने-अपने इतिहासों के साथ एक संघीय स्वरूप में नया विश्व रचने जा रही हैं। यूरोप अमेरिका का आर्थिक साम्राज्यवाद ढलान पर है- साम्यवादी तानाशाही की प्रवृत्ति का स्वतः बिखराव हो चुका है। विश्वव्यापी मन्दी यह संदेश ले आयी है कि वित्तीय पूंजी के सटोरियापन से राष्ट्रों और मानव समाजों की वास्तविक जिन्दगी को खुशहाल नहीं बनाया जा सकता है। मानवीय सक्रियता और श्रम से उत्पादित संसाधन ही मनुष्य जाति के सुख और शान्ति की रक्षा कर सकते हैं। पूंजीवादी की कलई खुल चुकी है- यदि विश्व के सभी समाजों की स्वतंत्रता और सार्वभौमिकता को बरकरार रखा जाना है तो अब किसी भी प्रकार का साम्राज्यवाद स्वीकार्य नहीं होगा। समाजों कीस्थानीय स्वायत्तता की सुरक्षा और वैश्विक सहयोग की भावना से ही नया विश्व स्थिर रह सकेगा। सभ्यताओं से संघर्ष की काली छाया जो धीरे-धीरे उभर रही है यह विश्व के अस्तित्व को ही संकट में डालेगी। इन परिस्थितियों में भारतीय समाज की परम्परागत दृष्टि-वसुधैव कुटुम्बकम्-ज्यादा प्रासंगिक हो गयी है, सेमेटिक दर्शनों के समानता और भाईचारा के विचारों की ज्यादा जरूरत है। इक्कीसवीं सदी में मानव सभ्यता के समक्ष एक अभूतपूर्व स्थिति निर्मित हुई है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने सभी तरह के प्राकृतिक और सामाजिक यथार्थ और आभास-रियालिटी और एप्पीयरेन्स के भेदों को पूरी तरह से मिटा दिया है, जबकि मानव जीवन में अभी भी तरह-तरह के अनतर्विरोध और व्यामोह अटे पड़े हैं जिनसे आभासों, विभ्रमों की माया बढ़ती जा रही है। भारतीय दर्शन ने अतीत में इस समस्या को सत्ता और ज्ञान के द्वन्द्व में देखा था, माया और शून्यवाद के रूप में। आज अमेरिकी चिन्तक फ्रान्सिस फुकूयामा (आवर पोस्ट ह्युमन फ्युचर) मनुष्योत्तर भविष्य की बात कर रहे हैं- प्रौद्योगिकी ज्ञान के मद में चूर उन्हें मनुष्य नहीं रॉबोट एवं साईबोर्ग दिखाई दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यदि मनुष्य को-मानवीय व्यक्तित्व को बचाये रखना है, तो मनुष्य की सामाजिकता का भी उचित समाहार करना होगा।

91, हीरा नगर, इन्दौर- 452010



कविताएँ

लाल्टू

टेलर ऑफ़िसर

सारे दिन पैसे गिनकर
लौट शाम को घर
वह ऐसी दुनिया बनाता है जहाँ
पैसे नहीं होते। बाज़ार में सब्ज़ी वाले को
कागज़ के पुड़िये देता है, बच्चों को
माँगने पर देता है, धातु की चकतियाँ
बीवी वैसे भी कभी कुछ माँगती ही नहीं
कभी कभार रिश्ते परिवार को हो दरकार
तो डायरी में लिख लेता है कि अगले दिन
दफ़्तर में जाकर दफ़्तरी काम करना है।

उसकी पैसों के लिए प्रतिबंधित दुनिया में
बहुत सारी चीज़ें हैं, जैसे जीने के लिए
हवा, पानी, भोजन और थोड़ा सा प्यार।
किताबें और टेलीविज़न के अलावा
फ़ोन पर लंबी बातें हैं, जिनमें पैसों/का ज़िक्र नहीं होता।

बहुत कम पर कभी कभार आ ही जाते हैं
पैसे सेंध लगाकर घर दुनिया की दीवारों में
ऐसे दिनों में पड़ता है उसे दमे का दौरा
बीवी चुप करा कर बच्चों को
मसलती है उसका सीना
हाँफता हाँफता थककर वह डूब जाता है
सपनों में और बीवी सोचती है
पैसों के लिए क्या नहीं गुज़र रही उसपर।

चाहूँ तो भी नहीं कह सकता

चाहूँ तो भी नहीं कह सकता सही सही
कि मैं क्या कहना चाहता हूँ
मैं जब कुछ कहना चाहता हूँ
मैं बहुत कुछ कहना चाहता हूँ
कहने के लिए मेरे पास सिर्फ़ एक जीवन की अवधि है
इतने कम समय में इतना ज़्यादा कहने की कोशिश में
तड़पता हूँ और कुछ भी ठीक-ठीक नहीं कह पाता।
कुछ लोग इस ग़लतफ़हमी में ज़िन्दगी गुज़ारते हैं कि
उन्हें सब कुछ कहना आता है
उन्हें सब कुछ ठीक-ठीक कहना आता है
मैं बिताता हूँ जीवन इन सटीक वक्ताओं से बचने की
कोशिश में।

लुकाछिपी के इस भूलभुलैये में/छूट जाती हैं
कुछ अदना-सी बातें/अचानक स्पर्श, मुलाक़ातें
दौड़ते हुए थक बैठ जब सोचता हूँ
याद आती हैं छूटी हुई बातें।

स्टोनहेंज

विकराल चट्टानें सी हैं
सहस्र पहले आदमी ले आया समुद्र और ज़मीन पर फिसलाते
उस वक़्त आदमी के पास/लिखने को कविता नहीं थी
नहीं थे रंग जो ढल सकें काग़ज़ पर
काग़ज़ भी नहीं था
गुफ़ाओं पर तस्वीरें बनाता/रोने लगा था आदमी
कुछ और कुछ और की चीख़ गूँजती निरन्तर हृदय में
दो-चार नहीं दर्जनों ज़िन्दगियाँ गुज़र गयीं
आदमी पर आदमी गिर रहे थे
जब चढ़ रहे थे पत्थरों पर पत्थर

कहने को सूरज और दीगर नक्षत्रों का विज्ञान था
जो पत्थरों के बीच से गुज़रते थे
और ले आते थे मंगल मुहूर्त
खेतीबाड़ी, ब्याह आदि के
आदमी को तृप्ति थी कि कुछ और/बन चला इसी बीच
इतना नादान/जानता ही नहीं
कि तृप्ति कभी नहीं होती/चाहत कुछ और की
रह जाती निरंतर जीने की वजह का शाप बनकर।

गच्छी बावली, हैदराबाद-500032

ग़ज़लें

कमलेश भट्ट कमल

(1)

बिछे हों लाख काँटे पर चुभन बिल्कुल नहीं आती,
उम्मीदों का सफ़र है ये थकन बिल्कुल नहीं आती।

समूचा जिस्म जल जाए, पता फिर भी नहीं चलता,
कि चिंता में नज़र कोई अगन बिल्कुल नहीं आती।

ये बस्ती है ग़रीबों की, ये सूरज को चुनौती है,
यहाँ आने से डरती है किरन बिल्कुल नहीं आती।

ये रंग औ' रूप या गुण जिसको तुम दौलत समझते हो,
अमीरों के यहाँ इसमें दुल्हन बिल्कुल नहीं आती।

उसे भी रास आती है अमीरी ही, रईसी ही,
ख़ुशी मुफ़लिस के घर में आदतन बिल्कुल नहीं आती।

(2)

असर बातों का उस पर कुछ नज़र आता भी तो कैसे,
नदी थी बावली उसको मैं समझाता भी तो कैसे ?

तेरी नज़रों से गिर कर तो सँभल जाऊँगा मैं फिर भी,
मगर ख़ुद की नज़र से ही मैं गिर जाता भी तो कैसे ?

उसे कुछ कम नहीं भारी था, ख़ुद का बोझ 'पैकेज' का,
वो अपने साथ रख पाता पिता-माता भी तो कैसे ?

बुलंदी पर पहुँचने की सभी को हड़बड़ी-सी थी,
वहाँ इन्सान का निभता कोई नाता भी तो कैसे ?

रुलाने वाले थे हालात जिनमें जी रहा था मैं,
किसी को हो गिला, पर उनमें मुस्काता भी तो कैसे ?

KL-154, कवि नगर, गाजियाबाद (उ०प्र०)

वाह-वाह जूते

नरेन्द्र तिवारी

जब से जूते ने किया, 'बुश' पर पहला वार।
जूता जूते से हुआ, जनता का हथियार।।

जूता फिकने का हुआ, यह ग्लोबल परिणाम।
जूता फिका इराक़ में, इटली बाढ़े दाम।।

खाते 'बुश' की नकल में, जूते नेताराम।
हो जाएगा देश में, 'जूता-संकट' आम।।

जूता-निर्माता करें, इस पर सोच-विचार।
जूता ऐसा होय जो, करे दूर तक मार।।

जूता ऐसा चाहिए, मुँह पर पड़े सटीक।
बार-बार का चूकना, नहीं रहेगा ठीक।।

हर जोड़ी में होंयगे, अब से जूते चार।
दो पहनो दो से करो, भरी सभा में वार।

भरी सभा के मंच पर, फेंका जूता खाउ।
रातों-रात प्रसिद्ध हो, एम.एल.ए. बन जाउ।।

जूता फिंकवा कर किया, छुटभइयों ने नाम।
ऊँचे कद के हो गये, अपने छोटूराम।।

'रुदाली'[1]-सा होयगा, 'जूता-फेंक' समाज।
देंगे नेता फीस तब, दे-दे कर आवाज़।।

जनाक्रोश को समझ लें, अपने नेता लोग।
गोली का बन जाए कब, जूते से संयोग।।

1.एक राजस्थानी जाति जिसमें संपन्न व्यक्तियों की मृत्यु पर पैसे देकर मातम करने बुलाया जाता है।

116, आवास विकास कॉलोनी, अलीगढ़

'अँधेरे में' : एक क्रांतिकारी व्यक्तित्त्व की तलाश

वशिष्ठ अनूप

'अँधेरे में' शीर्षक कविता मुक्तिबोध के जीवन के आखिरी दिनों में लिखी गयी थी। यह उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक लंबी कविता है। इस कविता का केंद्रीय कथ्य अभिव्यक्ति की पूर्णता और पूर्ण क्रांतिकारी व्यक्तित्व की तलाश है। मुक्तिबोध का चिंतन गहन और विराट था। उन्होंने समाज की दुर्दशा, पीड़ा, हाहाकार और व्यवस्था की तानाशाही एवं बर्बरता को देखा ही नहीं भोगा भी था। इन समस्त अनुभवों को उन्होंने कविता ही नहीं अन्य विधाओं में भी व्यक्त किया है, लेकिन उन्हें यह लगातार महसूस होता रहा कि बहुत कुछ कह लेने के बाद भी बहुत कुछ कहना शेष रह गया है। इसी अभिव्यक्ति की तड़प भरी कोशिश में उनकी कविताएँ लंबी हो जाती थीं, लेकिन उन्हें वह लंबी कविताएँ भी अधूरी लगती थीं। इस बात को उन्होंने अपने लेखों, कहानियों और कविताओं में बार-बार कहा है। 'एक लंबी कविता का अंत' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है—"कल ही मैंने एक लंबी कविता खत्म की। उसका अंत मुझे शिथिल-सा जान पड़ा। मुझे उसकी लंबाई-चौड़ाई को देखकर भय लगता है।" (मुक्तिबोध ग्रंथावली-4, 151) इसी क्रम में वह लिखते हैं कि-"यही कारण है कि मैं छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता और जो छोटी होती हैं वे वस्तुतः छोटी न होकर, अधूरी होती हैं।" (वही, पृ० 151) इस बात को वह अपनी कविताओं में भी कहते हैं। यहाँ 'चकमक की चिनगारियाँ' के कुछ अंश देखें मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में

सभी प्रश्नोत्तरी की तुंग प्रतिमाएँ
गिराकर तोड़ देता हूँ हथौड़े से
कि ये सब प्रश्न कृत्रिम और
उत्तर और भी छलमय...
कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमगकर/जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वांतरित होकर/
नए सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ, सच!!
X X X
नहीं होती, कहीं भी खतम कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है।...

यह अभिव्यक्ति की पूर्णता की तलाश मुक्तिबोध की रचना-यात्रा में अनवरत जारी रहती है और यही अधूरापन उन्हें पुनः और पुनः रचना के लिए प्रेरित करता रहता है। इसी प्रकार की पूर्णता की तलाश 'अज्ञेय' की 'कन्हाई ने प्यार किया' में दिखायी पड़ती है।

'अँधेरे में' कविता का नायक अपनी कहानी पूरी कविता में आत्मकथात्मक शैली में सुनाता है। पूरी कविता एक स्वप्न कथा के रूप में चलती है। यह स्वप्न कथा हवाई नहीं है। इसमें यथार्थ और विचार भी हैं। इसलिए यह फैंटेसी अत्यधिक जटिल है। इस जटिलता का कारण यह भी है कि इसमें स्वप्न के भीतर स्वप्न चलते हैं, यहाँ तक कि जब स्वप्न भंग हो जाता है, तब भी रचनाकार स्वप्न में ही रहता है। एक स्वप्न से निकलकर वह दूसरे स्वप्न में चला जाता है। कविता का आरंभ भी एक फैंटास्टिक चिंतन से ही होता है। इसमें रहस्यमय दृश्य, जादुई कल्पना, दृश्यात्मक बिंब, श्रव्य ध्वनियाँ भरी हुई हैं। कविता एक तिलिस्मी खोह से शुरू होती है -

ज़िंदगी के कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई लगातार

उस चक्कर लगाने वाले के पैरों की आवाज बार-बार सुनाई पड़ती है, उसके होने का अनुभव लगातार होता रहता है, लेकिन वह कहीं दिखायी नहीं पड़ता। तभी दीवार से फूले हुए पलस्तर गिरते हैं, चूने-भरी रेत गिरती है और स्वयमेव एक चेहरा बन जाता है -

नुकीली नाक और
भव्य ललाट है/दृढ़ हनु,
कोई अजनबी अन-पहचानी आकृति।
कौन वह दिखायी जो देता, पर
नहीं जाना जाता है!! कौन मनु?

फिर तिलिस्मी खोह का शिलाद्वार धड़ से खुल जाता है और उसमें से बाहर आता है रक्तालोक स्नात एक पुरुष जिसका ललाट तेजो प्रभामय है। उस रहस्यमय व्यक्ति को देखकर कवि को लगता है कि वह अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है। वह मेरी संभावनाओं का परिपूर्ण आविर्भाव है, वह आत्मा की प्रतिमा है। किंतु मन में यह प्रश्न उठता है कि वह फटे हुए वस्त्र

क्यों पहने है? उसके वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया? उसने कारावास दुख क्यों झेला? उसे रोटी कौन पहुँचाता है? पानी कौन देता है? फिर भी उसके मुख पर मुस्कान क्यों है ओर वह प्रचंड शक्तिमान क्यों दिखाई देता है? इसी के बाद कवि को लगता है कि मैं किसी शून्य बिंदु के अँधियारे खड्डे में अचेतन स्थिति में गिरा दिया गया। ऊपर आने वाले मनु को डॉ0 रामविलास शर्मा कामायनी के मनु से जोड़ते हैं और डॉ0 नामवर सिंह उसे जगत की गलियों में फटेहाल घूमता सामान्य मनुज मानते हैं। डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी इन मनु को मुक्तिबोध की पूर्ण अभिव्यक्ति मानते हैं। वह इसे 'कामायनी' के मनु से अलगाते हुए लिखते है कि-''मुक्तिबोध का यह मनु 'कामायनी' के मनु से कितना भिन्न है। यद्यपि 'अवयव की दृढ़ माँसपेशियाँ' वाला व्यक्तित्व यहाँ भी है। 'तेजो प्रभामय उसका ललाट देख/गौरवर्ण, दीप्त दृग, सौम्य मुख/भव्य आजानुभुज।'... हमारे अपने देशकाल को देखते हुए यह संस्कृति-पुरुष मध्यवर्ग के आदर्शवादी, दृढ़ चरित्र और जीवन की सुविधाओं से समझौता न करने वाले व्यक्ति का प्रतीक है। 'कामायनी' का मनु देव-संस्कृति से आकर पुनः आनन्दलोक में चला जाता है। इस लोक में भी वह स्वच्छंद विहार करता है। 'अँधेरे में' का मनु मन के कारावास, तिलस्मी खोह से बाहर निकलकर जनता में घुल-मिल जाता है। बाहर से आकर कमज़ोरियों से लगाव रखने वाले व्यक्ति को दुर्गम पर्वत-संधि पार करने का आमंत्रण देता है।.... उसे अपने कमज़ोर घुटनों को सहलाकर पैरों से धरती का फैलाव महसूस करने पर विवश करता है।''

कविता के दूसरे चरण में काव्य-नायक आधी रात में द्वार पर साँकल बजने की आवाज़ सुनता है। उसे लगता है कि कुहरे में द्युतिमय प्रेमभरा जो चेहरा है उसे मैं पहचानता हूँ यह वही व्यक्ति है, जो मुझे तिलिस्मी खोह में दिखा था। उसके चेहरे पर खिलती हैं सुबहें और गालों पर पठार की चट्टानी चमक है -

उसे देख, प्यार उमड़ता है अनायास।
लगता है दरवाज़ा खोलकर
बाँहों में कस लूँ, हृदय में रख लूँ
घुल जाऊँ, मिल जाऊँ लिपटकर उससे।

लेकिन उसे लगता है कि मैं तो भयानक खड्डे के अँधेरे में क्षत-विक्षत पड़ा हुआ हूँ। इस मध्यवर्गीय काव्य-नायक को अपनी कमज़ोरियों से मोह है। इसलिए उस प्रिय से मिलने से वह कतराता और डरता है। उसे लगता है कि वह प्रिय पर्वत-संधि के गह्वरों को पार करके शिखर पर पहुँचने की प्रेरणा दे रहा है। यहाँ वह संशय-ग्रस्त हो जाता है। वह उठकर दरवाज़ा खोलता है और पैरों में धरती का फैलाव, हाथों में दिशाएँ, साँसों में दुनिया और मस्तक में आकाश को अनुभव करता है। उसकी आत्मा में भीषण सत्-चित्-वेदना जलकर दहकने लगती है। विचार सहचर हो जाते हैं। रात का पक्षी जैसे कहता है–

वह चला गया है/वह नहीं आएगा, आएगा ही नहीं
अब तेरे द्वार पर।
वह निकल गया है गाँव में शहर में
उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर!
वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति,
उसका तू शिष्य है/वह तेरी गुरु है/गुरु है...

तीसरे खंड में काव्य-नायक कहता है कि यह स्वप्न है या जागृति। वह सोचता है कि 'अपने सिविल लाइंस के कमरे में जिस भूत जैसी आकृति को मैं देख रहा हूँ क्या वह मैं हूँ?' यह गहन मानसिक द्वंद्व और आत्मनिरीक्षण का क्षण है। रात के दो बजे हैं। जंगल से सियारों की हो-हो सुनाई पड़ती है। किसी असंभव घटना का भयानक संदेह होता है। इसी बीच टॉल्सटॉय दीख जाते हैं। घटना में मोड़ आता है। सामाजिक संघर्ष का आरंभ होता है। निस्तब्ध नगर में प्रोसेशन? मध्यरात्रि के अँधेरे में एक बैंड दल आता है। संगीनधारी फौजी चल रहे हैं। गैसलाइट की पंक्तियाँ हैं। कोई जुलूस है जिसमें अपार्थिव चेहरे हैं। कवि सोचता है कि क्या यह शोभा-यात्रा किसी मृत्यु दल की है? इस जुलूस में टैंक दल, मोर्टार, आदि के साथ कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल और कई सेनापति-सेनाध्यक्ष हैं। उनके साथ कई प्रतिष्ठित पत्रकार हैं। उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, कविगण, मंत्री, उद्योगपति, विद्वान, शहर का कुख्यात हत्यारा डोमाजी उस्ताद सब शामिल हैं।

तात्पर्य यह है कि इनके चरित्र में कोई फ़र्क नहीं है। अंधकार के वास्तविक कारण यही लोग हैं जो दिन में प्रच्छन्न और रात में खुलेआम अँधेरी शक्तियों अर्थात पूँजीवाद और फ़ासिज़्म के साथ होते हैं। ये अन्याय का कभी मौन और कभी मुखर समर्थन करते हैं-द्रोपदी के चीर हरण की तरह। बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा अन्याय के मौन समर्थन और प्रकारांतर से उसमें शामिल होने की समस्या 'भूल ग़लती' में भी उठायी गयी है जहाँ सत्ताधारी वर्ग से नाभिनालबद्ध दरबारी सुल्तान के इरादों को समझते हुए एकदम ख़ामोश हैं। इनमें शायर, सूफ़ी, मनसबदार, दार्शनिक, विद्वान, इतिहासकार, सरदार और सेनापति सभी चुप हैं-'ख़ामोश/सब ख़ामोश/मनसबदार/ शायर और सूफ़ी/अलगज़ाली, इब्ने सिन्ना, अलबरुनी/ आलिमोफ़ाज़िल सिपहसालार, सब सरदार हैं ख़ामोश!!'

'भूल ग़लती' और 'अँधेरे में' के बुद्धिजीवियों में फ़र्क इतना है कि 'भूल गलती' में वे ख़ामोश हैं और अन्याय का समर्थन कर रहे हैं और 'अँधेरे में' में उनकी अन्याय में सक्रिय भागीदारी है। इतने में उनमें से कुछ लोगों ने काव्य-नायक को देख लिया और उनकी आँखें रोष से भर उठीं। सड़क पर एक शोर उठा-

मारो गोली, दागो स्साले को एकदम
दुनिया की नज़रों से हटकर
छुपे तरीके से/हम जा रहे थे कि

आधी रात अँधेरे में उसने/देख लिया हमको
वह जान गया वह सब
मार डालो, उसको ख़तम करो एकदम।

उसका गुनाह यह है कि पुलिस से लेकर पत्रकार-विद्वान और अपराधी सभी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, इस सच्चाई को वह जान गया। इसीलिए -

हाय-हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा,
इसकी मुझे और सज़ा मिलेगी।

अपराधी को अपराध करते देख लेना गुनाह है। इसीलिए तमाम प्रत्यक्षदर्शियों की हत्या हो जाती है। बुद्धिजीवियों का स्वार्थी और दोग़ला चरित्र यहाँ बहुत साफ़ प्रकट होता है।

आगे उसे लगता है कि सेना ने सब ओर से सड़कें घेर ली हैं। यह सब किसी जन-क्रांति के दमन के लिए मार्शल लॉ है। कोई लगातार उसका पीछा कर रहा है और वह भाग रहा है। फिर वह उस भयंकर बरगद के पास पहुँच जाता है जहाँ तमाम ग़रीब-वंचित रहते हैं। आज वहाँ रहने वाले पागल की बुद्धि जाग्रत हो गई है और वह ऊँचे गले से कोई पद या गान आत्मबोधमय ढंग से गा रहा है -

ओ मेरे आदर्शवादी मन
ओ मेरे सिद्धांतवादी मन
अब तक क्या किया/जीवन क्या जिया!!...
बहुत-बहुत ज़्यादा लिया,
दिया बहुत कम;
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम!!

अब तक केवल पेट भरते रहे, व्यभिचारी के सहयोगी बनते रहे, लोकहित पिता को घर से निकाल दिया, जन-मन-करुणा- सी माँ को भी घर से निकाल दिया, स्वार्थों के कुत्ते पाल लिए, बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया, आदर्श खा गए। यहाँ कवि इस विडंबना की ओर संकेत करता है कि जो सच बोलता है, वह चालाक, घाघ और स्वार्थी लोगों की दृष्टि में पागल कहलाता है।

फिर उसे लगता है कि अचानक पीछे से किसी ने उसके कंधे पर हाथ रख दिया है। बरगद का एक पत्ता उसके कंधे पर गिरता है। वह सोचता है कि यह क्या किसी की चिट्ठी है? उसमें क्या संकेत हैं? वह दम छोड़कर भागता है और धाँय-धाँय बंदूक चलती है। इस क्रम में वह भागता हुआ अँधेरी गुफ़ा में पहुँच जाता है। वहाँ खोह के साँवले जल में चमकते पत्थर, जलप्रपात और चमकती किरणें हैं। उसे लगता है कि ये मेरे ही अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष यहाँ भरे पड़े हैं। ये विचारों के रक्तिम अग्नि के मणि हैं, किंतु मैंने इन्हें गुहा-वास, एकांत पीड़ा देकर लोक-हित और जनोपयोग से वर्जित कर दिया है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अब जूझना ही तय है।

छठे खंड में पुनः दृश्य बदलता है। सुनसान चौराहे पर पैदाएर दिखाई पड़ता है जहाँ काल टहलता है। भयानक सिपाही हैं। टैंकों का ऊँघता दस्ता है। वह दम छोड़कर भागता है और जादुई प्रभाव से खिंचा हुआ तिलक की मूर्ति के पास पहुँच जाता है और फिर वह मूर्ति जीवंत हो हिलती-सी लगती है। उसके होठों पर मुस्कान और आँखों में बिजली के फूल सुलगने लगते हैं। लेकिन यह क्या? भव्य ललाट की नासिका से लाल-लाल रक्त टपकने लगता है। मानो अतिशय चिंता के कारण मस्तिष्क कोश ही फूट पड़ा हो। वह सहसा चिल्ला उठता है -

हाय, हाय, पितः! ओ
चिंता में इतने न उलझो
हम अभी ज़िंदा हैं ज़िंदा/चिंता क्या है!

वह मूर्ति के पैरों से चिपककर रुआँसा हो जाता है। आत्मा में खून का तालाब बहता-सा लगता है। छाती के भीतर विवेक तीखा-सा रंदा चलाने लगता है। बसूले से लगता है कोई उसका निजत्व ही छीले जा रहा है। फिर उसके भीतर एक भारी भयानक हठ, भारी जिद उठ खड़ा होती है। फिर बंदूक चलती है। वह थककर बैठ जाता है। तभी वह देखता है कि सर्दी में बोरे को ओढ़कर कोई काँप रहा है, अरे वह गाँधी जी हैं!! इतने पंगु! तभी गाँधी जी कहते हैं -

'दुनिया न कचरे का ढेर जिस पर
दानों को चुगने चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुर्गा/यदि बाँग दे उठे ज़ोरदार
बन जाए मसीहा!''

वे कह रहे हैं -

''मिट्टी की लोंदे में किरणीले कण-कण गुण हैं,
जनता के गुणों से ही संभव/भावी का उद्भव!''

तभी लगता है कि उस आत्मा-के पिंजर और मूर्ति की ठठरी के कंधे पर बोरा और बाँह में बच्चा है। आश्चर्य होता है कि यह शिशु कैसे? उस द्युति-पुरुष ने मुस्करा कर कहा -

''मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था।
सँभालना इसको, सुरक्षित रखना।''

वह कुछ कहने को होता है तभी देखता है कि वहाँ कोई नहीं है। बालक चुपचाप गले से लिपटा हुआ है। उसका स्पर्श कोमल और प्यार भरा है। सहसा वह रोने लगता है। वह बच्चे को चुप करने के लिए लोरी गाता है, किन्तु वह चुप नहीं होता। फिर भी कवि का मन बहुत प्रसन्न होता है उसका मन उत्साह से भर जाता है। कुछ देर बाद बच्चा सहसा ग़ायब हो जाता है और कन्धे पर वज़नदार बंदूक आ जाती है। यह शिशु भविष्य और आगामी पीढ़ी तथा जन-संघर्ष का प्रतीक है।

वह आगे बढ़ता है और वहाँ ज़मीन पर खून में लथपथ एक आदमी मिलता है जो एक कलाकार था जिसे संदेहास्पद समझकर मार दिया गया था। उसके मरने से एक युग मर गया। वह संभवतः गाँधी जी थे। उसे लगता है कि मुझे भागना छोड़कर नए-नए सहचर तलाशना चाहिए। यह सोचकर वह जीने से

उतरा और एकाएक विद्रूप रूपों से घिर गया। भयानक आकार उसे घेर लेते हैं जिनकी पकड़ मशीन-सी है। वे उसे आततायी सत्ता के सामने पेश करते हैं जहाँ उसे प्रताड़ित किया जाता है। चाँटे से कनपटी टूट जाती है। गाल की त्वचा उखड़ जाती है। हर तरफ भगदड़ मच जाती है। उसे अँधेरे कमरे में स्टूल पर बैठाया जाता है जहाँ शीश की हड्डी तोड़ी जा रही है। शीश का मोटा अस्थि-कवच निकालकर देखा जा रहा है कि मस्तक यंत्र में कौन-से विचारों की कौन-सी ऊर्जा, कौन-सी शिरा में कौन-सी धकधक और कहाँ विस्फोटक सामान हैं। वे कहते हैं कि इस संस्था के मंत्री को खोजो, शायद उसका ही नाम आस्था हो। इस टुकड़ी के सरगना की आत्मा कहाँ हैं? स्क्रीनिंग करो... मिस्टर गुप्ता क्रास एक्जामिन हिम थॉरोली!! पीठ पर चाबुक की मार के बावजूद उसकी आत्मा बहुत कुशल है। सारे बंधनों के बावजूद उसका मन बहुत दूर निकल जाता है और पत्र के रूप में चुपचाप एक फटे हुए मन की जेब में गिरता है। उसे लगता है कि उसका यह आत्म विस्तार बेकार नहीं जाएगा। उसे सहानुभूतिपूर्ण कोमल समस्वर सुनाई पड़ते हैं। "हम कहाँ नहीं हैं, सभी जगह हैं हम।"

वह रिहा कर दिया गया, लेकिन कई छायामुख उसका पीछा करते रहते हैं। उसे लगता है कि मुझे अब साथी खोजने होंगे। इतने में सहसा दूर क्षितिज पर उसे बिजली की नंगी लताओं से झरते सफेद नीले मोतिया चंपई गुलाबी फूल दिखते हैं। वह ज़मीन पर पड़े उन चमकीले पत्थरों को चुनकर बिजली के फूल बनाने की कोशिश करने लगता है। ये मणि रत्न-स्वरूप हैं। यहाँ बिजली के फूल क्रांति के प्रतीक हैं। वह अनुभव करता है कि मेरा असंतोष गहरा है और शब्दाभिव्यक्ति का अभाव है काव्य-चमत्कार रंगीन तो है, लेकिन ठंडा। इससे काम नहीं चलेगा। मेरे मस्तक में गहरा तनाव है। उस मस्तक-कुंड में सतूचित् वेदना जल रही है। इसलिए उसे लगता है कि -

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी हमको
नीली झील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता/अरुण कमल एक
धँसना ही होगा/झील के हिम-शीत सुनील जल में।

यहाँ अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर मठों और गढ़ों को तोड़ने का भाव सिर्फ शब्दाभिव्यक्ति या काव्याभिव्यक्ति तक सीमित न होकर अभिव्यक्ति-योग्य विचार को कर्म में रूपायित करने से है। ख़तरे विचारों को व्यवहार में बदलने पर ही उपस्थित होते हैं। दुर्गम पहाड़ों के पार जाकर रचनाकार शोषित समुदाय को संगठित करना चाहता है। यहाँ अरुण कमल क्रांति का प्रतीक है और जादुई झील जन-समूह का।

इस संकल्प के बाद सातवें खंड में वह देखता है कि आकाश में चाँद उग आया है। फिर वह दम छोड़ कर भागता है और देखता है कि टूटी हुई भीतों के उस पार कहीं बहस गरम है। दिमाग़ में जान और दिलों में दम है। सत्य से सत्ता का युद्ध जारी है। लेकिन मेरी सारी कमज़ोरियाँ मेरे साथ हैं। आगे चलने पर जन-समूह मिलता है जिसमें बालक युवा हर उम्र के लोग हैं। जिनके भीतर आक्रोश की आग जल रही है। उनकी मुट्ठियाँ बँधी हैं। उसे लगता है कि यह जन-समूह उसी के विवेक-रत्नों को लेकर सोत्साह बढ़ रहा है। उसे लगता है कि–"किंतु मैं अकेला, बौद्धिक जुगाली में अपने से दुकेला।" यह बुद्धिजीवी-वर्ग की विसंगति है कि वह अपने विचारों पर अमल नहीं कर पाता। उसे व्यवहार-रूप में जनता ही उतारती है। वह गलियों में भागता है, तभी उसे कोई एक पर्चा देता है जिसमें उसी के विचार और अनुभव जगमगा रहे हैं। हर तरफ उसे जन-समूह दिखाई पड़ता है। उसमें एक दृढ़ता है। वह एक निर्णायक क्रांतिकारी स्वर में कहता है -

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता,
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को जन को।

कविता के आठवें खंड में भीषण दृश्य उपस्थित होते हैं और पूँजीवादी व्यवस्था का दमनकारी और आतंककारी रूप नग्न रूप में दिखाई पड़ने लगता है-"नगर से भयानक धुआँ उठ रहा है,



कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।'' ये पंक्तियाँ बार-बार दुहराई जाती हैं। जितना दमन है, उससे उग्र जनाक्रोश और क्रांति। लेकिन आश्चर्य यह है कि -

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके ख्याल से यह सब गप है/मात्र किंवदंती।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे
प्रश्न की उथली-सी पहचान/राह से
अनजान/वाक्-रुदंती।

समाचार-पत्रों के स्वामियों के स्थूल मुख भव्याकार भवनों के विवरों में छिप गए हैं। बौद्धिक-वर्ग क्रीतदास हो गया है और उसकी श्रद्धा नपुंसक हो गई है। बच्चों-बूढ़ों सबमें क्रांतिकारी-चेतना आ गई है। एक-एक वस्तु एक-एक प्राणाग्नि बम और प्रक्षेपास्त्र बन गई है। सबमें इतना उत्साह है कि वे शून्याकाश से होते हुए दुश्मन पर टूट पड़ने के लिए तत्पर हैं। लकड़ी के चक्कों पर लोहे की लाल-लाल पट्टियाँ चढ़ाई जा रही हैं। आत्मा के चक्के पर भी संकल्प-शक्ति के लोहे के ज्वलंत टायर चढ़ाए जा रहे हैं। हर तरफ भीषण युद्ध जारी है। फिर स्वप्नभंग होता है और वह अपने आपको अकेला पाता है। तभी किसी सुंदर प्रेमिका की तस्वीर उभर आती है और उसके चुंबन की याद आ जाती है। वह स्फूर्ति से भर जाता है। यहाँ मुक्तिबोध की यह प्रेमिका क्रांति का ही प्रतिरूप है। इस संदर्भ में डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि- ''विद्रोह और कविता का ऐसा संश्लिष्ट, सुकुमार रूप अपने में विशिष्ट है। कबीर में जैसे सामाजिक विद्रोह का तीखापन और प्रणयानुभूति की कोमलता एक साथ मिलती है, कुछ वैसा ही रचाव मुक्तिबोध में है।'' (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ0 240)

वह सोचता है क्या सचमुच कोई प्रेमिका मिलेगी? उस अज्ञात प्रेमिका की याद से ही कमरे में सुबह की धूप आ जाती है। प्रेम के इसी जादुई प्रभाव को महसूस करते हुए कृष्ण बिहारी 'नूर' ने लिखा था–

मैं तो अपने कमरे में उसके ध्यान में गुम था
घर के लोग कहते हैं सारा घर महकता था।

इस कविता की अज्ञात प्रेमिका का नाम डॉ0 राम विलास शर्मा ने 'आग्नेष्का' बताया है किन्तु डॉ0 नन्द किशोर नवल ने उस प्रेमिका का नाम 'नातालिया' बताया है और प्रमाण देकर बताया है कि 'आग्नेष्का' मुक्तिबोध को पिता मानती थी जिनका उन्होंने कन्यादान किया था, और यह कविता 'आग्नेष्का' के भारत आने से पहले लिखी जा चुकी थी। हर तरफ एक चुंबकीय आकर्षण महसूस होता है। वह आकर गैलरी में खड़ा हो जाता है। तभी देखता है कि सामने भीड़ में वही व्यक्ति चला आ रहा है जिसे मैंने गुहा में देखा था। धड़कते दिल से वह उसे पुकारने के लिए मुँह खोलता है, तभी वह भीड़ में खो जाता है। वह कोई और नहीं वह ?

अनखोजी निज समृद्धि का परम उत्कर्ष,
परम अभिव्यक्ति/मैं उसका शिष्य हूँ
वह मेरी गुरु है/गुरु/ है!!

काव्य-नायक का कहना है कि वह क्रांति-पुरुष कभी मेरे पास बैठा नहीं था। वह मेरे पास कभी आया ही नहीं था। तिलिस्मी खोह में उसे एक बार देखा था। वह जगत की गलियों में फटेहाल घूमता है। उसमें विद्युत-सी लहरें हैं, गतिशीलता है। वह ज्ञान के तनाव से उद्विग्न है। लोगों को क्रियाशील बनाने के लिए उसके पास अतिशय प्रेम है। वह जो फटेहाल रूप में है, वह कोई और नहीं, परम अभिव्यक्ति है। वह कहता है कि मैं हर गली, हर सड़क, हर चेहरे में उसकी तलाश करता हूँ -

खोजता हूँ पठार... पहाड़.... समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे/मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार/आत्म-संभवा।

मुक्तिबोध यहाँ उस प्रबल और अनिवार्य अभिव्यक्ति की तलाश कर रहे हैं जो आत्म-संभवा है। अंतर्मन या आत्म की उत्पत्ति है। डॉ0 बच्चन सिंह ने लिखा है कि–''यह आत्म-संभवा परम अभिव्यक्ति क्या है? आत्म-संभवा-आत्मा से उत्पन्न। 'आत्म-संभवा' मुक्तिबोध की ईमानदारी को रेखांकित करती है। जनक्रांति की पक्षधरता भीतर से उत्पन्न होती है। 'कुकुरमुत्ता उगाए नहीं उगता' मुक्तिबोध न तो सौंदर्यशास्त्र पर राजनीति का रंग चढ़ाते हैं, न राजनीति पर सौंदर्यशास्त्र का। इस कविता में दोनों का अद्भुत सामंजस्य है।'' (आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ0 318)

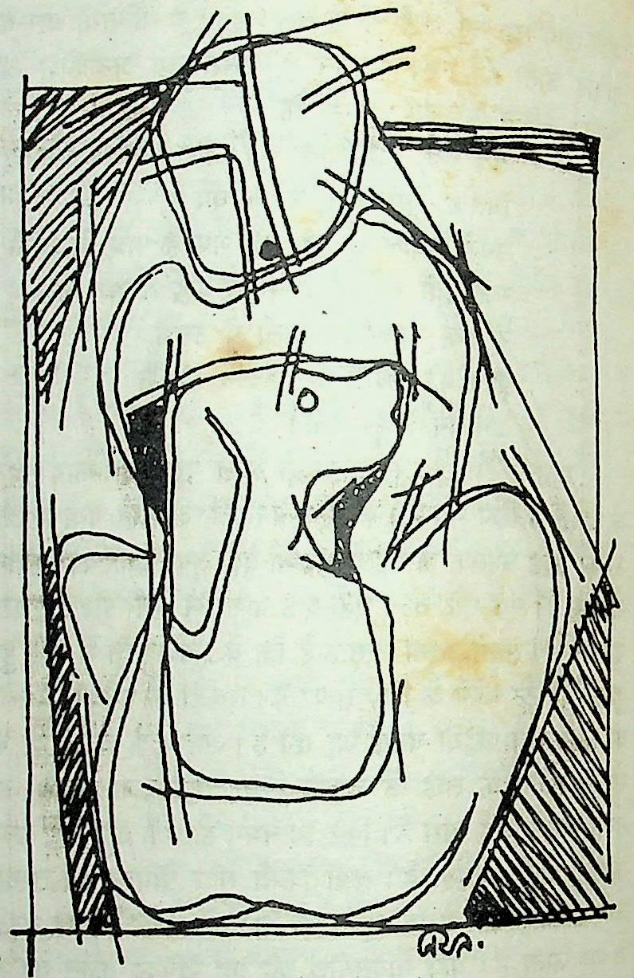
डॉ0 (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि–''यहाँ मुक्तिबोध की बेचैनी और रचनात्मक ईमानदारी उल्लेखनीय है। जीवन के गहरे अनुभवों और संघर्षों से गुजरते हुए वह अंतहीन रचनात्मक कोशिश अर्थात् 'परम अभिव्यक्ति' उसकी तलाश और जीवन एवं समाज में क्रांति की चुनौती को एक प्रकार से कवि-कर्म के रूप में स्थापित करते हैं। यह रचनात्मक खोज सहज नहीं है, न यह किसी औपचारिक प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है, न गैलरी से झाँककर।.... 'अँधेरे में' आरंभ से अंत तक तलाश जारी रहना ही सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। तलाश पूर्णता की है और उसके लिए ज्ञान को संवेदन और कर्म में बदलने की अपेक्षा है। यहाँ आकर मुक्तिबोध ने कवि के अस्तित्व को, उसकी पहचान को, सामाजिक आइडेंटिटी में मिला दिया है।'' (मुक्तिबोध और अँधेरे में, पृ0 32-33)

'अँधेरे में' के विषय में श्रीकांत वर्मा का मानना है कि - ''मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविता 'अँधेरे में' अपने युग की घटनाओं से नहीं, बल्कि उसकी बनावट से सामना करती है। इस कविता में वे सभी खतरे हैं जो कि उसे कविता की जगह उपन्यास में परिणत कर सकते थे। 'अँधेरे में' के अनुभव की

समग्रता चरित्रें और घटनाओं से बिखरकर स्थूल अर्थों में एक यथार्थवादी उपन्यास बन सकती थी। मुक्तिबोध ने इस खतरे को पहचानते हुए अपने अनुभव को और भी गुमनाम होने दिया। वास्तव में 'अँधेरे में' इस युग के यर्थाय की काव्य-परिणति है।'' (मुक्तिबोध, सं0 डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ0 61), 'अँधेरे में' कविता के काव्य-नायक के रूप में आलोचकों ने स्वयं मुक्तिबोध को देखा है। किंतु श्रीकांत वर्मा की दृष्टि में-''यह काव्य-नायक बेचैन, खंडित, जर्जर और व्यग्र हिंदुस्तान है। यह स्वाधीनता के बाद का भारतवर्ष है जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है। उसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियाँ, सीने पर गोली के घाव और अंतरात्मा में बेचैनी है। हिन्दुस्तान केवल नक्शे में नहीं, कविता में भी है। और शायद कविता का हिन्दुस्तान ज़्यादा सच है। इस हिन्दुस्तान को पहचानने में हिन्दी कविता को लगभग पचास वर्ष लग गये। और जब इस प्रश्नाहत 'मनु' को पहचाना गया तब तक देश सचमुच ही अँधेरे में ज़ा चुका था। मुक्तिबोध की सार्थकता इसमें है कि उन्होंने इतिहास के प्रश्नों को केवल 'इतिहास के प्रश्न' कहकर नहीं छोड़ दिया, बल्कि उन्हें कविता के प्रश्नों में बदल दिया।'' (वही, पृ0 61)

इस कविता में मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष भी प्रकट हुआ है, किंतु इस आत्मसंघर्ष के साथ सामाजिक संघर्ष भी जुड़ा है। इस विषय में डॉ0 नामवर सिंह ने लिखा है कि-''ज़ाहिर है कि सामाजिक संघर्ष में भाग लेकर ही इस आत्मसंघर्ष को निर्णायक दिशा की ओर उन्मुख किया जा सकता है। इसीलिए मुक्तिबोध की अधिकांश कविताओं का अंत किसी हड़ताल या जन-आंदोलन अथवा किसी जनक्रांति के आरंभ से होता है और काव्य नायक कभी तो इस आंदोलन या क्रांति का द्रष्टा मात्र होता है और कभी उसका प्रेरक।... इस तरह आत्मसंघर्ष की परिणति अंततः सामाजिक संघर्ष में होती है।'' (कविता के नए प्रतिमान, अँधेरे में : पुनश्च, पृ0 226) वैसे इस कविता का मूल कथ्य उन्होंने 'अस्मिता की खोज' माना है।

इस कविता में जो अँधेरा है, वह वातावरण की भयावहता को तो ध्वनित करता ही है वह अँधेरी शक्तियों का भी प्रतीक है। इस विषय में डॉ0 चन्द्रकला त्रिपाठी ने बहुत ठीक कहा है कि - ''अँधेरा इस कविता का परिवेश भर नहीं है अपितु कविता की समूची अर्थ प्रक्रिया से गहरे संबद्ध है। मुक्तिबोध के काव्यनायक का संघर्ष इकहरा नहीं है। उसके भीतर कठिन आभ्यंतर ग्रंथियों और बाह्य समस्याओं के तनाव हैं। दूसरी तरफ ज्ञान और संवेदना को मानवीय दीप्ति और सारी प्रखरता देने वाले सकर्मक जीवन से कटाव की यातनाएँ कम नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह अँधेरा इस मुनाफाखोर तंत्र का वह कवच भी है जिसके नीचे उसकी सारी पशुता और स्वार्थ छिप जाते हैं। मुक्तिबोध ने अँधेरे और प्रकाश के पारस्परिक प्रतीकार्थ को ही विकसित किया है। अँधेरा सर्वत्र जड़ता या अज्ञान से अवरुद्ध



जीवन की पीड़ादायी स्थितियों को व्यंजित करता है....।'' (अँधेरे में : इतिहास, संरचना और संवेदना, सं0 बच्चन सिंह, पृ0 153)

कई लेखकों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि 'अँधेरे में' की रचना-प्रेरणा के रूप में मुक्तिबोध का अपना जीवनानुभव रहा है। इसमें जो हिंसा और दमन के दृश्य हैं वे उन्होंने नागपुर में देखे थे। शमशेर बहादुर सिंह ने इस बात की चर्चा की है कि नागपुर में एंप्रिस मिल में जब मजदूरों पर गोलीकांड हुआ था, उस समय उन्होंने अपनी आँखों से घटना स्थल पर मजदूरों का सिर फूटना और रक्त बहना देखा था। शमशेर जी इसीलिए 'अँधेरे में' जैसी सशक्त और मार्मिक रचना के पीछे नागपुर-निवास के बहुत सारे संदर्भों की तीखी प्रत्यक्षानुभूति को मानते हैं। विष्णुचंद्र शर्मा ने भी कहा है कि 'नया खून' के रिपोर्टर के रूप में मुक्तिबोध उस घटनास्थल पर मौजूद थे।

'अँधेरे में' के पीछे एक अन्य घटना भी थी जिसका उल्लेख हरिशंकर परसाई ने किया है। मुक्तिबोध ने माध्यमिक विद्यालयों के लिए एक पुस्तक लिखी थी - ''भारत इतिहास और संस्कृति।' जिसपर मध्य प्रदेश सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था। उस पुस्तक को ज़ब्त कराने के आंदोलन में असंतुष्ट प्रकाशक बिके हुए पत्रकार और जनसंघ के लोग भी शामिल थे। शायद वही

कारण 'अँधेरे में' के प्रोसेशन दृश्य के पीछे रहा है। इस घटना से वह अत्यधिक उपेक्षित और अपमानित महसूस कर रहे थे। इस संदर्भ में उन्होंने मुख्यमंत्री और राज्यपाल से भी मिलने का प्रयास किया था। उन्हें इस बात की चिंता थी कि 'देश में फ़ासिस्ट ताकतें बहुत बढ़ गई हैं।'' वह कहते थे कि 'पार्टनर यह मेरी या तुम्हारी पुस्तक का मामला नहीं है।... वे आपकी कलम छीन लेंगी आपके गले को दबाकर आपको बोलने नहीं देंगी।' 'अँधेरे में' कविता उन्हीं दिनों पूरी हुई थी। परसाई जी ने लिखा है कि-''वह आदमी चट्टान जैसा था, लेकिन इस घटना ने उसके भीतर भय और असुरक्षा की भावना भर दी थी।... इस पूरे कांड को व्यापक राजनीतिक संदर्भ में देखकर वह बेहद त्रस्त थे। कहते थे - लेखक को लोग घेरें, शारीरिक क्षति की धमकी दें... अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जा रही है। गला दबाकर आवाज घोंटी जा रही है।''

मुक्तिबोध के समकालीन कवि शमशेर बहादुर सिंह ने इस कविता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है कि - "यह कविता देश के आधुनिक जन-इतिहास का, स्वतंत्रता-पूर्व और पश्चात का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज़ है। इसमें अजब और अद्भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है। देश की धरती, हवा, आकाश, देश की सच्ची मुक्ति आकांक्षी नस-नस इसमें फड़क रही है और भावनाओं के अनेक गुंफित स्तरों पर।.. इसके बहुत से अंश पिकासो के विश्व-प्रसिद्ध चित्र जैसा ही प्रभाव डालते हैं।... उसके बिम्ब और प्रतीक और संकेत और संदर्भ शब्द और ध्वनि चित्र, बड़ी गहरी और विविध गूँजें हमारी भावनाओं में भर जाते हैं। इसमें मुक्तिबोध का कवि-व्यक्तित्व वाल्ट व्हिटमैन और मायकोवस्की के शिल्प और शक्ति से टक्कर लेता है और अपनी ज़मीन पर अप्रतिहत और अद्वितीय रहता है।''

'अँधेरें में' कविता में जो अभिव्यक्ति की तलाश है, वह सिर्फ अनुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति की तलाश न होकर एक सम्पूर्ण ईमानदार, जनपक्षधर और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की भी तलाश है। काव्यनायक अपनी मध्यवर्गीय सीमाओं, द्वंद्वों और कमजोरियों के कारण जो नहीं बन सका और जिसका आकांक्षी था; वैसे पूर्ण क्रान्तिदर्शी व्यक्तित्व की तलाश इस कविता में लगातार चलती है जो शुरु से अन्त तक बार-बार उपस्थित होता रहता है और जिसके व्यक्तित्व का निरन्तर विस्तार होता जाता है। जो निकलता तो खोह से है किन्तु समाहित विशाल जनसमुदाय में होता है। भारत भूषण अग्रवाल के शब्दों में वह कवि का 'आदर्श स्व' है।

मुक्तिबोध ने अपनी कविता में भावाभिव्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति की नई प्रणाली तलाशी और विकसित की है। उन्होंने इस कविता में फैंटेसी की शैली अपनाई है। 'कला के तीन क्षण' की चर्चा के क्रम में उन्होंने फैंटेसी पर विस्तार से विचार किया है। 'अँधेरे में' जो स्वप्न कथा है, वह फैंटेसी का ही एक रूप है। डॉ0 नामवर सिंह ने लिखा है कि ''मुक्तिबोध की दृष्टि में कविता के अंतर्गत फैंटेसी के प्रयोग की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। कहना न होगा कि स्वप्न-शैली में कथा कहने के कारण 'अँधेरे में' कविता में काफी मितव्ययिता आ गई है तथा वर्णन के अनावश्यक विस्तार से अपने आप ही निजात मिल गई है।'' (कविता के नये प्रतिमान, पृ0 214.215) जबकि नंदकिशोर नवल का मानना है कि ''इस तरह फैंटेसी का इस्तेमाल इस कविता में किसी काव्य-कौशल के रूप में नहीं हुआ है, बल्कि वह स्थितियों से उत्पन्न कवि की मनोदशा का स्वाभाविक परिणाम है।'' (अँधेरे में : एक विश्लेषण, पृ0 48)

मुक्तिबोध की काव्य भाषा भी उनके अनुभव की भाँति ही नवीनता लिये है। उनकी भाषा प्रचलित भाषा नहीं है। वह अपनी भाषा का लगातार संस्कार करते चलते हैं। कभी-कभी उनकी भाषा अपरिचित और भयावह शब्दों से भरी दिखाई पड़ती है जो कथ्यगत भयावहता के कारण है। मुक्तिबोध पितृपक्ष से मराठी और मातृपक्ष से हिंदी भाषी थे। इस भाषिक द्वंद्व के कारण उनका कविकर्म काफी चुनौतीपूर्ण हो गया था। डॉ0 बच्चन सिंह ने मुक्तिबोध की काव्यभाषा के बारे में दो बातें की हैं - ''एक मुक्तिबोध की कविता जनवादी कविता है, लेकिन कविता की भाषा जनवादी नहीं है। यह ज़रुरी नहीं है कि जनवादी भाषा में लिखी गई कविता जनवादी हो ही।... कवि अपनी भाषा की तलाश स्वयं करता है। दूसरी मुक्तिबोध की भाषा में अजीब खुरदरापन है जो अपना अनुकर्ता नहीं पैदा करता, पर मसृणता की रुमानियत से बचाता भी है। इसकी बहुत कुछ ज़िम्मेदारी उनकी अपनी मातृभाषा मराठी पर भी है। इसलिए इसे हिंदी और मराठी का हाइब्रिड भी कहा जा सकता है। संभवतः ऐसी भाषा में जन-क्रांति की कर्कशता को रुपायित करना संभव है।'' (आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, 321)

इस कविता की भाषा सामान्य पाठक की समझ से परे है। संस्कृतनिष्ठ समास बहुल जटिल शब्दावलियों, विजातीय शब्दों के संयोजन, दुरुह और अपरिचित शब्द-प्रतीकों, अनेक असम्बद्ध वर्णनों एवं फैंटेसी के अतिशय प्रयोगों के कारण इस कविता को समझना किसी तिलिस्म का रहस्य जानना है। इसीलिए प्रत्येक आलोचक इस कविता का एक अलग निष्कर्ष निकालता है। वैसे मुक्तिबोध ने 'साहित्य किसके लिए?' का जवाब देते हुए 'जनता का साहित्य' और 'जनता के लिए साहित्य' का अन्तर पहले ही स्पष्ट कर दिया था। मुक्तिबोध की तमाम कविताएँ प्रबुद्ध पाठकों के लिए हैं। यह भी।

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, बी0एच0यू0, वाराणसी (उ0प्र0)

फिगड़े में फूल आ गया क्या?

ओम भारद्वाज

बहुत दिनों बाद गाँव लौटा हूँ। गाँव का नक्शा ही बदल चुका है। नये घरों की छतें चाँदी की लग रही हैं। इन टीन की छतों में जहाँ लागत कम आती है वहीं यह सर्दी में सर्द और गर्मी में अति गर्म होती है। मिट्टी-पत्थरों की दीवारों की जगह सिमेंट की दीवारें खड़ी हैं। ये दीवारें मुझे रिश्तों के बीच भी तनी हुई दिखती हैं। इन्हें तोड़ना मुश्किल है। पुराने घर बड़ी-बड़ी स्लेटों के भार तले आधुनिक चकाचौंध के आगे बौना सा महसूस कर रहे हैं। इन नये और पुराने घरों में ठीक ऐसा ही अन्तर है जैसा बेर और सेब के फलों में होता है। शायद इनमें से एक में जहाँ मेरा बचपन गुज़रा, छोटा सा घर है उस घर के सामने एक बूढ़ा जो सौ पार कर चुका होगा मुझे पहचानने की कोशिश कर रहा है।

ओटे पर बैठी सर्दी की धूप का मज़ा लेता वह माथे पर हाथ रखकर मुझे निहार रहा है। उसकी आँखों में इतना दम नहीं बचा कि वह मुझे पहचान सके। पहचाने भी कैसे, मैं तो सालों बाद घर लौटा हूँ।

"कौण ए तू?" उसने आख़िर चुप्पी तोड़ी।

"मैं हूँ, लेखु।"

"कौण लेखु?" उसे विश्वास नहीं हो रहा कि मैं वापिस लौट आया हूँ। वह मेरा चेहरा देखता रहा।

"मैं कौन हूँ? यह प्रश्न मेरे दिमाग़ पर कौंधा। आज तक मैंने इस बारे में कभी नहीं सोंचा।

सेवती घासनी से लौट रही थी। उसने पीठ का बोझा फेंका और लम्बी साँस भर कर आँगन में ही बैठ गयी। उसने मुझे पहचानने में तनिक भी देर नहीं की।

"तुझे भी मिल गया टाईम," जैसे उसने मेरी ओर तीर फेंका हो। मैं इधर-उधर की हाँकता रहा। सफ़ाई देने में नाकामयाब। माँ ने पेट पर गाची बाँध रखी थी। वह झुक कर सीढ़ियाँ चढ़ रही थी। इस उम्र में अक्सर ऐसा होता है। मैंने माँ के पाँव छुए और रसोई की ओर चला जहाँ पिता जी बीड़ी सुलगा रहे थे। पिता जी के चेहरे पर उत्साह जाग उठा मानो प्यासी धरती पर बादलों की मेहरबानी हो गयी हो।

"घोड़ा खेत में है, ठण्ड बढ़ रही है। ले आओ रात होने को है।" माँ ने बापू को काम दे दिया। बापू बेपरवाह होकर जैसे उसने कुछ नहीं सुना, अपने पोते से खेलने लग गये। चार वर्ष के काकू के साथ वे अपने बचपन में लौट गये थे। आज तक सुना था बाल और वृद्ध एक जैसे होते हैं। आज अपनी आँखों से देखा भी।

मैं माँ से कहता हूँ, "भलखू ने मुझे नहीं पहचाना।"

"कैसे पहचानेगा वह? दोनों आँखों में मोतियाबिन्द है। एक का आपरेशन हुआ था वह भी फेल हो गया। धुएं से परहेज़ नहीं रखता। कल सेवती कह रही थी-चूल्हे में चिपका रहता है बूढ़ा।"

"जाड़ा लगता होगा माँ। आप ही तो कहती थीं, बिल्ले और बूढ़े से ठंड कभी नहीं जाती।"

"सो तो ठीक है। आँखें ही तो हैं जो दुनिया में अच्छा-बुरा देख सकती हैं। आँखें गयीं तो अँधेरा ही अँधेरा।" बिन आँखों के गोते खाने पड़ते हैं।इस उम्र में कौन सहारा बनता है। बच्चे भी तंग हो जाते हैं। जंगल पानी भी हाथ पकड़कर ले जाओ। लाज-शर्म का करना पड़ता है सब, नहीं तो....।"

माँ कहते-कहते रुक गयी।

"तू कब आया। इन बूढ़े जुंगड़ों का ध्यान भी रखा कर बेटे।" माठू ने द्वार पर क़दम रखते ही कहा।

मैं इन गाँव के लोगों को कैसे समझाऊँ कि नौकरी क्या चीज़ है। वह गाँव के स्कूल की नौकरी जानते हैं, एक दिन नहीं गया तो दूसरा मास्टर पढ़ा देगा। यदि ऐसा भी न हो तो वाटर कैरियर तो बच्चों को संभाल ही लेगा।

"बस चार-छः दिन की मेहमान है। मैंने भी बहुत देखे हैं मरते। धूप में सफ़ेद नहीं हुए बाल,' माठू ने चूल्हे के पास बैठते ही प्रसंग छेड़ दिया। मैंने उनकी बातों में कान लगाये रखा। परन्तु मैं समझ नहीं पाया कि बात किसकी हो रही है। माँ ने मेरी नज़रों से नज़रें मिलायीं। वह शायद जान गयी थी कि बात की तह तक जाना मेरी आदत है।

"तू भी जा, आणा सीमा का हाल-चाल पूछणे कल," माँ ने मुझे इशारा करते हुए कहा।

'सीमा को क्या हुआ?'

'कई दिनों से बीमार चल रही है। बड़ अप्रशण हुआ है पेट का उसका। क्या बोलते उसको....।

गेनिंग।

"गाइनिं"

"हाँ-हाँ सैई।"

यह बात मैं जानता था। जिस रोज़ सीमा के पहली बार कपड़े आये उसकी माँ सेवती ने दरवाजा बंद करके सीमा की खाल उधेड़ दी थी। वह अपनी अनपढ़ माँ को समझाने में असमर्थ थी। उसके बाद जब भी उसके कपड़े आये वह ओबरे में रहने लगी।

सेवती जब इस घर में आई तो मात्र ग्यारह साल की थी, जेलदार लगभग चौदह साल का था। उसे भ्रम था कि पुरुष के सम्पर्क में आने से ही कपड़े आते हैं इसलिए उसने सीमा की क्लास ओबरे में लगाई। स्कूल जाना तक बंद किया गया। मुझसे मिलना-जुलना तो दूर।

"उसका पति क्या करता है आजकल?' मैने माँ से प्रश्न किया। "करना क्या, खाख। शराब पीने से फुरसत हो उसे तब न। चार बच्चे का बाप हो गया है। अक्कल अभी तक नहीं आयी। गाँव की किसी औरत पर मरता है। भला हो इस जेलदार का जो अस्पताल तक ले गया। बेटी को मरते हुए कैसे देखता। इधर भलखू की दोनों आँखें फटी हुई हैं। बड़ी विपदा आयी इस जेलदार पर। उफ़ तक नहीं की बेचारे ने।

सर्दी की रातें लम्बी होती हैं। प्रसंग चलता रहा। मेरे आने खबर गाँव में फैल चुकी थी। जो जेलदार के घर जाता मुझसे मिलने आ ही जाता। आने-जाने वालों का तांता लगा ही रहा। मैं बाथरूम के बहाने बाहर निकला और अपने कमरे में चला गया। मेरी स्थिति पत्नी ने भाँप ली थी। वह सारे कार्य छोड़कर गर्म पानी की परात लिये कमरे में आ गयी। उसे लगा कि इतने दिनों बाद मैदानी इलाके से आया हूँ, पहाड़ी हवा सहन नहीं कर पाया। ठण्ड लग गयी होगी।

"लाओ चोबे दे देती हूँ,' पत्नी ने मेरे पाँव की ओर हाथ बढ़ाया। मैंने उसकी बात रखने के लिए दोनों पाँव परात में डाल दिये। मैं गर्म पानी का डाम चुपचाप सहन कर गया।

मेरे भीतर इससे भी कुछ गर्म उबल रहा था। कुछ सालों आँच धीमी पड़ गयी थी। आज फिर लकड़ियों की छेड़-छाड़ में जैसे हवा ने मदद की हो। और लुप्पा लग गया हो। बिस्तर में रज़ाई के नीचे मैं चुपचाप पुरानी यादों को उधेड़ने लगा जो प्याज़ के छिलके की तरह कई तहों में दबी थीं। मैं और सीमा एक साथ स्कूल जाते थे। मुझे सुबह पानी ढोना होता था। गर्मियों में तो बावड़ी पर भीड़ लगी रहती थी। खूँटे पर बंधी भैंस चार टीन पानी पी जाती थी। रास्ता तंग होने पर उसे बावड़ी तक ले जाना कठिन था। सब बच्चे निकल चुके होते पर सीमा मेरे इन्तज़ार में फिगड़े की छाया में बैठी रहती। वहाँ से हमारा सफ़र साथ-साथ चलता। कुछ ही दिनों बाद जैसे पतंग की डोर टूट गयी हो और पतंग आसमान में उड़ते-उड़ते न जाने कहाँ पहुँच गयी।

वे सर्दी के दिन थे। सभी लोग ऊन कातने और धूप सेकने भलखू के औटे पर एक साथ जमा हो जाया करते थे। यहाँ धूप बहुत मीठी लगती थी, उससे भी ज्यादा मीठी-मीठी बातें। साँझ कैसे ढल गयी पता भी नहीं चलता। बूढ़े ऊन कातते तो बच्चों को ऊन खिलारने का काम दिया जाता। बातों-बातों में देश-विदेश घूम जाते । कई योजनाएँ बन जातीं। राज़ की गाँठें खुल जातीं। ऐसी ही एक गाँठ एक दिन खुल गयी। बापू ने भलखू से पूछा, 'पोती तो जवान हो गयी है, देख लिया कहीं लड़का?' बापू ने यह बात जान बूझकर पूछी थी। उन्हें मेरी और सीमा की दोस्ती की भनक लग चुकी थी। माँ ने बापू से साफ़-साफ़ कह दिया था, "आस-पड़ोस में इतनी गहरी दोस्ती अच्छी नहीं। सेवती कह रही थी सीमा के कपड़े आ रहे हैं। हो न हो इन दोनों का कुछ....।"

भलखू ने बात टालने की कोशिश की। परन्तु मण्डली में यह सम्भव न हो पाया। तकली का धागा समेटते हुए भलखू ने बापू की बातों को हलके से समेटना चाहा, 'हाँ, बात तो चली है।'

"कैसा है खानदान? लड़का तो अच्छा होगा।'

'हाँ अपनी ज़ात-बिरादरी का है।'

"लड़का राज़ी है।"

'सौलनैक नहीं पूछी भेड़। (ऊन काटने के लिए भेड़ को नहीं पूछा जाता)'

बात यहीं आयी-गयी हो गयी। कुछ दिनों बाद सीमा गाँव में नज़र नहीं आयी। मेरा मन मिलने को बहुत था। वहीं ज़ात आड़े आ जाती थी। मैं ज़ात की सीमा पार नहीं कर पाया। मुझ जैसे बहुत लड़के व लड़कियाँ होंगी जो सीमा रेखा के अन्दर ही दब गयी होंगी।

मैंने करवट बदली। काकू और पत्नी गहरी नींद में थे। मेरी नींद उड़ गयी। उसकी जगह उदासी बैठ गयी थी। मैं नींद को मनाने में लगा था। मेरे करवट पर करवट बदलते देख नींद को दया आ गयी आख़िर।

सुबह बापू की संध्या-पूजा हो रही थी। शंख ध्वनि ने मेरी आँखें खोल दीं। गाँव में उनसे अच्छा शंख कोई नहीं बजाता। उनका पुजारी होना भी इसका कारण रहा होगा। हमाम में पानी गर्म था। माँ को मालूम था कि जब भी मैं घर पर होता हूँ तो मंदिर जाना नहीं भूलता। नहाने के लिए पानी पत्नी ने निकाल दिया। हमाम में दो-चार लकड़ियाँ और डाल दीं ताकि हमाम की आग बुझ न जाये। नहाने वाले और भी थे।

मैंने मंदिर प्रांगण में प्रवेश किया। पुराने बंगले की जगह नए बंगले का निर्माण हो गया है। इसमें करनाल ढोल, नगाड़े के लिए अलग से कमरा बनाया गया है। एक विशाल सभाभवन, रसोई तथा अन्य दो तीन कमरे भी हैं। प्राचीन पौगौडा शैली के पत्थर व लकड़ी से निर्मित मंदिर में किसी प्रकार का बदलाव नहीं

है। देवता इसमें बदलाव की इजाज़त नहीं देता, नहीं तो बदलती मानसिकता के आगे कोई अजूबा ही खड़ा होता।

मंदिर के दांई तरफ़ एक विशालकाय अख़रोट का पेड़ था जिसके अवशेष अब मंदिर प्रांगण के एक कोने में पड़े हैं। पाँच फुट व्यास के तने को देखकर लगा रहा था कि इसे फाड़ने वाली कई कुल्हाड़ियाँ जी तोड़ मेहनत कर दम तोड़ चुकी होंगी। पूछने पर मालूम हुआ कि अख़रोट की पत्तियाँ झड़ कर प्रांगण में भर जाती थीं जिसे बार-बार साफ़ करना पड़ता था इसलिए इस पेड़ को जड़ से उखाड़ दिया गया। मैं सोच रहा था कि सिर के बाल भी बार-बार काटने पड़ते हैं। यदि सिर ही काट दिया जाये तो कैसी उपयोगिता होगी। बाज़ारवाद की चपेट में कुन्द मानसिकता के ग्रसित लोगों ने जो प्रकृति का हनन किया है इसके लिए प्रकृति उन्हें कैसे क्षमा करेगी?

लौटते समय जब मैं चाचा के घर पहुँचा तो चाची ने थाणी से आवाज़ दे दी, ''अन्दर जा बेटे! तेरे चाचा हैं अन्दर। मुझे थोड़े दिन हुए हैं, मैं ऊपर नहीं आ सकती।'

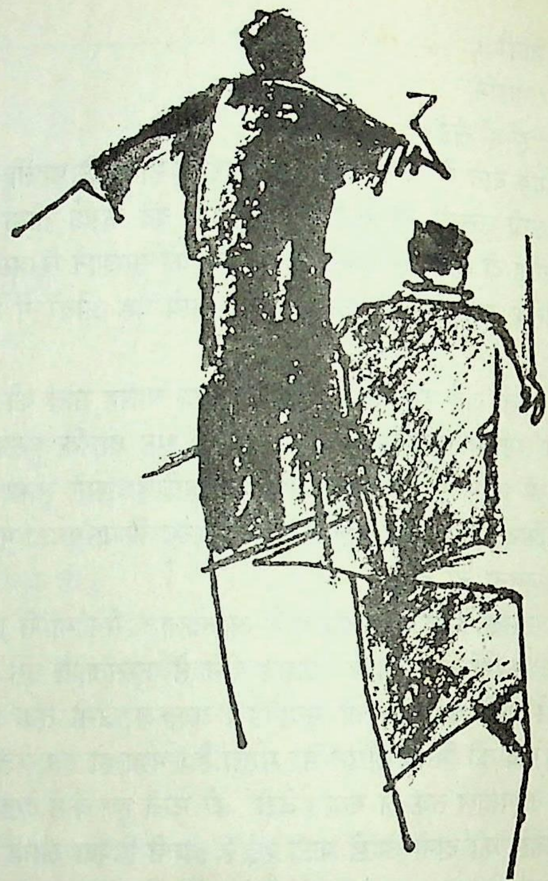
मैं जान गया कि चाची के कपड़े आये हुए हैं। चार रातें वह औबरे में ही सोएगी। किसी को छुएगी नहीं। भोजन-पानी उसे औबरे में ही दिया जाएगा। इन पाँच दिनों में चाचा को घर के सारे कार्य स्वयं ही संभालने होंगे।

''आप तो वी. आई. पी. हैं चाची आजलकल, '' मैं ने मज़ाक में चाची से कहा।

चाची मुस्कराईं और एक पटड़े पर थाणी में बैठ गयीं। मैं चाय पीकर चाचा के घर से निकला तो देखा जेलदार के घर कल से ज़्यादा लोग आज आ-जा रहे थे। मैंने भी इसी समय बैठना उचित समझा। जूते उतार कर जब मैं द्वार को लांघने लगा, सिर द्वार के ऊपरी हिस्से से बज गया। असहनीय दर्द उठा। मैं रो भी नहीं सकता था। मैं यह भूल गया था कि लकड़ी के पुराने घरों के दरवाज़े छोटे होते हैं जिसमें झुककर प्रवेश किया जाता है। मैं कुछ क्षण अपना तालू मलता रहा। मुझे अपने दम्भ का एहसास हुआ। मैंने सुन रखा था कि पुराने ज़माने में दरवाज़े छोटे इसलिए हुआ करते थे ताकि व्यक्ति अपना दम्भ त्याग झुक कर प्रवेश कर सके। आज मेरा प्रेम से पुनः साक्षात्कार था। मुझे झुक कर ही जाना चाहिए था, क्योंकि प्रेम झुकना ही सिखाता है।

सीमा कमरे के एक कोने में बिस्तर में लेटी थी। चार-पाँच लोग उसे घेरे बैठे थे। मैं भी उसके समीप जाकर बैठ गया। मुझे देखते ही उसने झटकेसे उठकर बैठना चाहा, परन्तु ऐसा करने के लिए उसका शरीर इजाज़त नहीं दे रहा था। इसलिए आगे झुककर मैंने उसे उठाने की कोशिश की । यह मेरा और उसका पहला स्पर्श था। वह तनिक मुस्करा दी, मानों उसने मन ही मन कहा, ''फिगड़े में फूल आ गया क्या?''

मुझे वह क्षण याद आ गया जब वह मुझसे कहने आयी थी, ''कल मेरी सगाई है।''



''मुबारक हो'' मैं ने कहा था।

''बड़े निष्ठुर हो। दया भी नहीं आती। अपने हाथों से गला घोंट दो मेरा।'

''फिगड़े में कभी फूल नहीं आते। सीधे फल लगते हैं....। तुम सगाई कर लो।'' सुनकर वह आँखें पोछती हुई भाग गयी थी। आज मैं आँखें पोछ रहा था।

''आप रोते हो, मर्द रोया नहीं करते।'' मुझे हंस कर विदा करो। कहाँ रहे इतने दिनों? आपके स्पर्श से सारी पीड़ा समाप्त हो गयी। मैं जाना चाहती हूँ जहाँ पुष्प वर्षा हो रही है। वह इंतज़ार कर रही है मेरा....।'

''कौन,'' मैंने पूछा।

उसने लम्बी सांस भरी और आँखों में आँखें डालकर मेरी बाहों में लेट गयी। उसकी आँखें बंद नहीं हुईं। आस-पास के कुछ लोग रोने लगे। एक बुजुर्ग ने उसकी आँखें बंद कीं और फ़र्श पर लिटा दिया। मैंने पहली बार किसी को देह त्यागते देखा। मेरे भीतर सन्नाटा छा गया और चारो ओर रोने-चिल्लाने का शोर। मुझे मालूम नहीं था कि मुझे देखते ही सभी सीमाएँ तोड़कर सीमा बिन बरसे बादलों की तरह निकल जायेगी। मेरे मन में बहुत से प्रश्न थे जिन्हें मैं अपने कंधों पर बरसों ढोता रहा। इन प्रश्नों के उत्तर सीमा दे सकती थी और दिये भी जो किसी ने नहीं सुने या शायद सुनकर भी अनसुने कर दिये गये।

गोण-बलन, डाo जैस, तैo ठियोग,
ज़िला-शिमला-171201 (हिo प्रo)

ग़ज़लें

जहीर कुरेशी

(1)

वो जिन लोगों को सपने बेचते हैं,
फिर, उनको ही, करिश्मे बेचते हैं।

हों 'हैड' और 'टेल' जिनके एक जैसे,
ठगों को हम वो सिक्के बेचते हैं।

खुले व्यापार की काली सदी में,
अब आईनों को अँधे बेचते हैं।

हैं उनके मन में गहरी तिक्तताएँ,
हमेशा व्यंग्य तीखे बेचते हैं।

जो उड़ना चाहते हैं बिन 'परों' के,
पतंगे या परिंदे बेचते हैं।

घटीं विज्ञापनों से तारिकाएँ,
कई चीज़ों को बच्चे बेचते हैं।

ये कैसा दौर है जादूगरी का,
मदारी को जमूरे बेचते हैं।

(2)

वो बहुत दूरी से नर-संहार ले कर आ गये,
जो 'मिसाइल' शैलियों की मार लेकर आ गये।

कल तलक पहचानते थे हम जिन्हें आवाज़ से,
वो अचानक सामने आकार ले कर आ गये।

एक पल को भी न झंकृत हो सका मन रूप का,
यंत्र-चालित पाँव ही झंकार लेकर आ गये।

उनके इस अहसान को कैसे चुका पाएँगे हम,
मुक्त होने के लिए जो द्वार ले कर आ गये।

अब महत्वाकांक्षा का अर्थ शायद है यही
लोग अपने मन में हाहाकार लेकर आ गये।

हम समंदर से नदी बन कर मिले तो थे, मगर,
मूढ़ सागर ज़िंदगी में ज्वार ले कर आ गये।

आजकल बाज़ार जाने की ज़रूरत है कहाँ,
घर के अंदर तक खुले बाज़ार लेकर आ गये।

(3)

अप्रासंगिक हुए जब से पिता जी,
हैं कचरे की तरह तब से पिता जी।

कभी वर्चस्व था घर में पिता का,
तो जीते थे उसी ढब से पिता जी।

वो अब रहते हैं सीली कोठरी में,
हैं वंचित घर के उत्सव से पिता जी।

अधिकतर लोग कतराते हैं उनसे,
करें 'जय राम जी' सब से पिता जी।

जो माँगा भी, वो प्रभु से मिल न पाया,
हुए यूँ दूर मज़हब से पिता जी!

हैं घर के बीच, फिर भी लग रहे हैं,
कई बरसों से, ग़ायब-से पिता जी।

बुलाता ही नहीं भगवान उनको,
प्रतीक्षा कर रहे कब से पिता जी।

समीर कॉटेज, बी-21, सूर्य नगर, शब्द प्रताप आश्रम के पास
ग्वालियर-474012 (म0प्र0)

स्त्रियों का अस्मिता-बोध : पौलेण्ड

प्रो0 रामकली सर्राफ

पश्चिमी नारीवादी चिंतन के मद्देनजर यह स्पष्ट है कि दुनिया के किसी भी देश में स्त्रियाँ पुरूषों के समकक्ष नहीं रहीं। पुरूषोचित नज़रिया बराबर उन्हें कमतर करके ही देखने का अभ्यस्त रहा। स्त्रियों के हिस्से में हमेशा दोयम दर्जा ही आता रहा। लेकिन दुनिया का इतिहास जहाँ पुरूषसत्तात्मक वर्चस्व और स्त्री-पराधीनता से भरा पड़ा है, वहीं वह स्त्रीर-मुक्ति की संघर्षगाथाओं का आभार है। बराबर वे अपने स्वत्वबोध-अस्मिता स्थापन के प्रति संघर्षरत हैं भारत हो, पोलैंड या अन्य देश।

परंपारिक पारिवारिक ढाँचा पोलैंड में पितृसत्तात्मक ही रहा। सन् 1918 में पोलैंड के पुनअर्स्तित्व में आने के बाद यहाँ की स्त्रियों की जिन्दगी में झांके तो वे घर की चाहदीवारी के भीतर कैद पुरूष-प्रदत्तनामा मानसिक शारीरिक प्रताड़नाओं और हिकरत से घिरी, उन्हें अपनी नियति मानकर झेलती और जीती रहीं। लेकिन बहुत शीघ्र ही 16-17 वर्षों बाद ही द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जब ज्यादातर पुरूष पोलैंड के सेना जंगल, युद्ध और कान्सन्ट्रेशन कैम्प में चले गये और बहुत मारे भी गये, तब परिस्थितिवश विवश होकर स्त्रियों को घर से बाहर आना पड़ा। स्त्रियों ने उन सभी क्षेत्रों के दफ्तरों, कारखानों, खेतों, अस्पतालों, रेडियो-स्टेशन आदि में वे सब काम किए, जिन्हें अर्थ तक पुरूष ही करते आ रहे थे। उन्हें बड़ा ताज्जुब था कि पुरूषोचित वे काम जो उनके लिए वर्जित थे, उन्हें वे बखूबी कर सकती हैं। उनकी अपनी ही नयी पहचान उनके सामने खुलने लगी, उनमें नयी चेतना का स्मरण हुआ। इस तरह घर की कैद से बाहर निकली, स्वावलम्बन की जीती स्त्रियों में गहरा आत्मविश्वास पैदा हुआ। पुरूषों की अधिकतर चेतना स्वतः ढीली पड़ती गयी। स्त्रियों की तुलना में पुरूष कम हो गये। अभी तक पुरी जनसंख्या 3 करोड़ 86 लाख में 56ः महिलायें और 44ः पुरूष हैं। युद्धों परान्त हिटलरशाही का तो खात्मा हुआ लेकिन रूस का वर्चस्व पोलैंड पर बना रहा जो सन् 1989 में हटा। फलतः स्त्रियों का स्वातंत्र्यबोध और बढ़ा, शिक्षा और नौकरियों के अवसर बढ़े, स्त्रियों ने खेतों में ट्रैक्टर तक चलाया। बावजूद इसके पारिवारिक ढाँचे में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया। परिवार में पुरूष-वर्चस्व बना रहा। स्त्रियों को घरेलू कामों से कोई मुक्ति नहीं मिली। मार्क्सवादी सोच ने अपनी तरह से स्त्री श्रम की उत्पादन-प्रक्रिया से सम्बद्ध करके और स्त्रियों के प्रसन्न-कर्म की सहज जैविक प्रक्रिया के नैरन्तर्य के रूप में वैसे ही विश्लेषित किया जैसा कि रूस में परिवार की नवनिर्मिति पर अलग से कोई विचार नहीं किया गया। फलतः बाकी कामों के साथ-साथ स्त्रियाँ घर गृहस्थी और बच्चों की देखभाल के कामों के साथ बंधी रहीं। पुरूषों की हुकूमत बजाती के दोहरे बोझ को ढोने को विवश रहीं। परिवार पर पुरूष का दबदबा बना रहा स्त्रियों की हैसियत परिवार में दोयम ही रही। फिर भी अब शाही -सम्बन्ध, वैवाहिक रिश्ते लड़कियों की पसंद से होने लगे। यौन-नैतिकता को लेकर यहाँ बहुत आग्रह तो नहीं रहा कभी भी। लेकिन पहले चर्च द्वारा वर्जिन या कौमार्य पर जोर होता था, दहेज या, लड़की को वश में करने के लिए 'कोड़ा' भी था। बातचीत के दौरान पता चला कि विवाह के समय दुल्हन द्वारा 'श्वेत परिधान' को धारण करना 'अक्षुत यौवना' होने का प्रतीक था। आज भी विवाह के समय युवतियाँ सफ़ेद वस्त्र पहनती हैं, लेकिन ऐसी कोई धारणा नहीं रह गयी, आग्रह तो पहले भी नहीं था। सन् 1989 में पोलैंड जब रूस के सख्त शासन से मुक्त हुआ तो अन्य देशों में आवाजाही शुरू हुई। पोलैंड से बाहर न जाने की पाबंदी हटी। 45 वर्षों तक जो विकास की गति अत्यन्त धीमी थी, उसकी रफ्तार तीव्र हुई। फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड का प्रभाव इस देश में आना शुरू हुआ। लगभग तीस फीसदी युवक युवतियों ने इन देशों की ओर रूख किया, जहाँ उन्हें बेहतर जीवान्तर और नौकरियों की आस थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संभलते, पुनर्निर्मित होते पोलैंड की आर्थिक स्थिति तो स्थिर और मजबूत हुई। स्त्रियों के भीतर आत्मविश्वास की जो चमक दिखी थी, उसमें अब फैलाव आया। स्त्री सशक्तीकरण का भिन्न रूप उपस्थित हुआ। अपने अधिकार-बोध के प्रति जागरूक स्त्रियों ने अपने पोटेंराल को पहचाना और विकास के नये रास्ते चुने। परिवार के भीतर पुरूषों के आतंक और भय के साये से बाहर आती स्त्रियों ने खुद के भीतर संघर्ष का माद्दा भरा।

आज के पोलैंड में स्त्रियों की स्थिति बहुत भिन्न है। आज वे न तो 'परिवार' के दायरे में बंधी हैं और न 'देह' के। वे अपनी अस्मिता और व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हैं। उनका मन भी अपना है देह भी अपनी है, उसका अधिकार भी अपना है। उनका जैसा चाहे स्वयं (यूज़) इस्तेमाल करें या औरों को करने दें। यही वजह है देह पर यदि बहुत कम वस्त्र हैं या छोटे वस्त्र हैं तो उनके अपने खातिर के। पुरूषों की चुभती-चाहती नजरों का सामना उन्हें नहीं करना पड़ता। लेकिन सवाल वस्त्रों और देह का

नहीं है, उनकी स्वतंत्रता और बौद्धिकता का है, सजग अधिकतर चेतना का उनके लिए देह 'लज्जा' का कारण नहीं है। यौन सम्बन्धी चाहत उनकी अपनी चाहत है न कि मर्द-आकांक्षा। यही कारण है छेड़खानी या बलात्कार की यहाँ घटनाएँ बहुत कम हैं। असुरक्षा-बोध बहुत कम हैं, रात में अकेले लड़कियाँ इधर-उधर जा-आ सकती हैं। कानूनी संरक्षा बहुत सख्त है। बलात्कार की घटना मुख्यतः तभी होती है जब कोई निकट का परिचित ही धोखा देकर ऐसा करे या फिर अत्यधिक नशे में धुत व्यक्ति द्वारा।

दरअसल पोलैंड के पुरूष नशा बहुत करते हैं। स्त्रियों को पीटते हैं। इसी का परिणाम है कि स्त्रियों को बहुत आज़ादी मिली, फिर भी वे पूरी तौर पर घरेलू हिंसा और उत्पीड़न से मुक्त नहीं हो पायी हैं। गाँव में तो लगभग 25 से 30 फीसदी औरतें घर-गृहस्थी के कामों को करतीं, बच्चों और पशुओंकी देखभाल करतीं पुरूषों की अमानुषिक क्रूरता और हिंसा की शिकार हैं। आजतक यहाँ यह कहावत प्रचलित है कि स्त्रियों को पीटा न जाए तो उनका खून जम जाता है। ग्रामीण स्त्रियों को अशिक्षित तो नहीं कह सकते क्योंकि प्रारंभिक शिक्षा सबके लिए अनिवार्य है। माता-पिता द्वारा बच्चे को स्कूल न भेजना दण्डनीय अपराध है यहाँ। लेकिन उच्च शिक्षा के लिए शहर जाना वहाँ पढ़ना सबके लिए संभव नहीं है। शिक्षा फ्री है लेकिन रहना-खाना बहुत मंहगा है। लड़कियों के लिए ऐसे में 'विवाह' ही एक विकल्प बचता है। शहरों में भी 4 से 5 फीसदी महिलाएँ पतियों द्वारा पीटती उनके जुल्मों को सहती विवश जिन्दगी बीताने को बाध्य हैं। पुराने संस्कारवश वे कानून की मदद लेने में हिचकती हैं। अभी तक गाँवों में तो बिल्कुल ही नहीं शहरों में थे लड़को को घरेलू कामों के लिए नहीं कहा जाता, लेकिन स्थितियाँ तेजी से बदल रही हैं आज।

संयोगवश न केवल शहर वरन् गाँवों में भी बेबस और पीड़ा को सहती स्त्रियों से मिलने का मौका मिला। इसी साल गर्मियों में मैं पोलैंड के उत्तर-पूर्व में स्थित 'मजूरे' नामक जगह पर गयी, जहाँ 900 झीलें हैं और घने जंगल थे। बीच-बीच में छोटे-छोटे गाँव, बहुत कम आवादी। मैं अपनी पोलिश मित्र 'कृष्णा' जिसे हिन्दी आती है के साथ स्टीटनो शहर के शीतांईनों गाँव गई । 'वेआता' नामक युवती उसकी दो छोटी बच्चियाँ वह भोजन बनाती, बच्चों को संवारती, पशुओं को चारा देती दिनभर दौड़ती-भागती रहती। सुबह-सुबह गायों को दुहती, ताजा दूध हमें पीने को मिला, हम सब बहुत खुश । दूहे दूध को वह 'डेयरीफॉर्म' तक पहुँचा अभी। मुर्गियों अंडे, भूरे रंग के खरगोश, एक पुष्ट कुत्ता और एक एक भूरी बिल्ली थी। चारों बच्चियां, दो कृष्णा की थी हम सब बहुत खुश थे। दो ही दिन बीते कि तीसरे दिन जो नजारा हमने देख, वह आजतक नहीं भूला। भीतर से चीखने-चिल्लाने और रोने की आवाजें आती रहीं, हम सिर्फ सुनने और समझने की कोशिश में लगे रहे विवश। व्यक्तिगत मामले में हस्तक्षेप संभव नहीं हो पाया हमसे। सुबह सारी तस्वीर साफ हुई। उसके पति 'मिहाऊ' (भाईकेल) का रवैया नया नहीं था। शराब की लत नित की थी जिसके लिए यह खटती स्त्री ही पैसे भी देती थी और पीटती भी थी। हमलोगों ने कहा 'तुम पैसे देती ही क्यों हो?' उसने जवाब दिया 'पैसे देने पर तो यह स्थिति कभी-कभी आती है, न देने पर तो पैसे के लिए ही रोज पीटेगा।' कातर होकर उसने यही कहा जो भी हो अपनी बेटियों को मैं ज़रूर शहर भेजकर पढ़ाऊँगी।' मुझे भारत की अनेक बेबस स्त्रियों को चेहरा उसके भीतर से अलंकृत दिखा। स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता ही स्त्रियों में साहस भरती है चाहे देश हो या विदेश।

आजकल शहरों में तो इस तरह की अमानवीय और क्रूरधर्मा स्थितियों से बचने के लिए लड़कियों के विवाह से ही कतराने लगी हैं। अधिकांशतः प्यार करती लड़कियों के भीतर मैंने यह भय देखा है कि विवाह के बाद यह 'पति' जो प्रेमी था, बदल तो नहीं जायेगा? विवाहोपरान्त पतियों की ज्यादतियों का शिकार हुई स्त्रियों की संख्या कम नहीं है। यही कारण है बिना विवाह के साथ रहने और सन्तानोत्पत्ति का सिलसिला तेजी से इधर 6-7 वर्षों में बढ़ा है। यहाँ सन्तान के वैध या अवैध जैसी कोई बात नहीं है यानी 'अविवाहित मातृत्व' कोई समस्या नहीं है। बावजूद इसके ऐसी संतानों का पैदा होना बहुत अच्छा नहीं माना जाता। खासतौर से दादी-नानी के लिए इसे पचा पाना मुश्किल होता है। लेकिन माता-पिता के लिए कोई हिक्कत की बात नहीं है। इसके पूर्व यह परंपरा थी कि चयन तक प्यार करते जोड़े साथ-साथ रहते घूमते थे, पर बच्चे विवाह के बाद ही जनते थे। कई परिवारों (पोलिश) में जाने का मौका मिला। बड़ा घर सारी सुख-सुविधाओं से युक्त जिसमें सिर्फ पति-पत्नी रह रहे हैं लेकिन उनके बच्चे (बेटा हो या बेटी) अपने गर्लफ्रेंड या ब्वाय फ्रेंड के साथ अलग घर में रहते हैं। मेरे लिए यह थोड़ा अजीब था कि उनके साथ रहने में जब आपत्ति नहीं तो फिर घर में रहने पर क्या आपत्ति हो सकती है। जवाब था- 'आंख के नीचे .....नहीं निगली जाती हमसे। वास्तव में उनके संस्कार और कभी-कभी सामाजिक-पारिवारिक प्रतिष्ठा आड़े आती है। लेकिन कोई ऐसी बड़ी बाधा नही है। वे साथ-साथ रहें अपनी मर्जी का जीवन जिएँ बिना विवाह के या फिर विवाह करें। सब कुछ युवा जोड़ों पर निर्भर है। विवाह सिर्फ कोर्ट में होगा या फिर चर्च में ही यह भी वही तय करते हैं। यदि विवाह होता है तो बहुधा परंपारित ढंग से पार्टी होती के, रिश्तेदार इकट्ठे होंगे, धूम धड़ाका होगा जिसमें पारिवारिक भावनात्मक लगाव और दिखावा दोनों अन्तर्ग्रथिंत होते हैं। अक्सर इस तरह की पार्टियां दोनों पक्षों के साझे खर्च से सम्पन्न होती हैं। यदि किसी एक पक्ष के पास नहीं है तो बहुत सादगी से विवाह सम्पन्न होगा। बहुत बंधन नहीं है, बाध्यता नहीं है। गाँवों में ज़रूर अपनी हैसियत के मुताबिक परंपारित ढंग की शादियाँ होती हैं और अधिकांशतः चर्च में ही यानी कोर्ट में तो सभी शादियाँ रजिस्टर्ड होती ही हैं, चर्च की शादी ही इच्छा पर है। परन्तु गाँव की तरह शहर की लड़कियों पर कोई दबाव नहीं है, वे न विवाह चाहती थी नहीं क्योंकि उन्होंने अपनी आंखों से परिवार के भीतर अपनी माताओं की दुदर्शा और उत्पीड़न देखा

है। वे अपनी 'स्वतंत्र इच्छा को जीती साथ रहना बेहतर मानती हैं। पति द्वारा दिए जाने वाले देश से ही मुक्त और विवाहिता जैसा जीवन भी।

पोलैंड में वस्तुतः पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जड़ें समाज में, पारिवारिक संरचना में भीतर तक गहरे धंसी हुई है। परिणामतः साठ-पेंसठ वर्ष की लम्बी अवधि के बीतने पर भी पुरूषों की उग्रता में, उनका वर्चस्ववादी रवैया पूरी तौर पर छटक नहीं पाया है क्योंकि पूर्व की पीढ़ी सामने है, संस्कार हे। यही स्थिति लड़कियों की है बौद्धिकता और आत्मनिर्भरता के बावजूद भावात्मक द्वन्द्व, वात्सल्य ममता को जीती अत्यन्त धैर्य के साथ बहुत कुछ सहती 'परिवार' (सिंगल पैरेन्ट) बन गया है तो बचाए रखने का प्रयास करती दीखती हैं। अलगाव या तलाक तो अन्तिम समाधान हैं ही। मैं यहाँ आने के पहले यही सोचती थी कि पश्चिम में क्या? आज शादी कल तलाक फिर दूसरा विवाह या दूसरा प्रेमी। लेकिन सुनने में यह जितना आसान था, वास्तविकता के धरातल पर एकदम भिन्न। मेरे ही अपार्टमेंट में रहती बत्तीस वर्षीया युवती, जिसने आठ वर्ष विना विवाह के 'तॉमक' के साथ बीताने पर जब गर्भवती थी, तब विवाह किया। विवाहोपरान्त 'वह पुरूष कोई दूसरा ही पुरूष बन गया,' उसके रोज बरोज के अपमान और मारपीट से तंग आखिरकार पिछले साल उसने तलाक ले लिया, उसका चार वर्ष का बेटा भी है। उसके चेहरे से झांकती गहरी पीड़ा मुझे भीतर तक छील जाती है। कई बार लगता है कि बात करते-करते जैसे कि अभी रो पड़ेगी। मैंने पाया कि रन्नी मन आखिरकार रन्नी -मन ही है, चाहे दुनिया के कोई जगह हो। पुरूषों की बनिस्बत उनमें भावनात्मक गहराई ज्यादा होती है। बेटा उसके पास है, भरण-पोषण का खर्च भी मिलता है। लेकिन किसी बच्चे और औरत को क्या इतना भर ही चाहिए तो शायद नहीं। बच्चे की ज़िद कि 'आप दोनों साथ क्यों नहीं रहते?' कहाँ है 'खाता' (पापा) ममा? मासूम बच्चे के लिए कोई माकूल जवाब उसे नहीं सूझ पड़ता। आहत भावनाओं के साथ जीती, स्वयं को सहेजती, बाल-मन को झूठी भर तसल्ली देती वह थकी-थकी सी रहने लगी है। मुझे इधर कुछ दिनों से कई बार उसकी आँखों में अलग चमक दीखी। मुझसे रहा न गया मैंने पूछ ही लिया, कोई मिला क्या नया साथी' फीकी हंसी हंसते हुए कहा 'जब आठ वर्ष जिस पुरूष के समझने में लगाया उसे नहीं समझ सकी तो फिर अन्य पुरूष अब अकेली भी नहीं हूँ, बेटा भी है साथ पर इतना आसान नहीं होगा, लेकिन लम्बी जिन्दगी के कुछ तो सोचना पड़ेगा।' खुश तो हो आज्कल।' पता चला कि अभी उसकी पढ़ाई भी पूरी नहीं हो सकी थी, छोटा बच्चा होने के कारण बीच में ही रह गयी थी। अब नौकरी करते हुए जो बहुत कम तन्ख्वाह पाती हैं, उसने एम.बीए. पूरा कर लिया है। अब अच्छी नौकरी मिल सकती है। 'तॉमेक' का क्या हाल है?' 'उसने तो पिछले साल ही विवाह कर लिया था, एक अठ्ठारह वर्षीया लड़की से।' मैं सकते में आ गयी। सुना तो बहुत था कि यहाँ बहुआ उम्रदराज लोग तलाक लेकर छोटी 15-20 साल तक छोटी लड़कियों से विवाह कर लेते हैं यदि उनकी आपसी सहमति है तो। मेरी समझ में आया कि वह नशा और मारपीट, अत्याचार सब क्यों थे? उसके पीछे यह भी कारण रहा होगा। इस तरह की 'पुरूष आशक्ति'की वजह से भी अलग हुई अन्य मैंने अनेक अधेड़ औरतों को देखा है जिनके दो-दो बच्चे 12 साल, 15 साल और वे क्लबों के चक्कर लगातीं, खुद को सिगरेट और शराब में डूबाती भयानक अकेलेपन को झेलती है। बातें भी हुईं कुछ दिनों बाद बच्चों की अपनी जिन्दगी हो जायेगी, मैं और अकेली-अकेली होती जाऊँगी। वृद्धों के क्लब यहाँ अलग हैं, जहाँ वृद्ध- अधेड़, औरतें और पुरूष आते हैं, नाचते हैं, पीते हैं खाते हैं, इसी में कोई मिल गया तो अकेलेपन से कुछ छुटकारा भी पा लेते हैं, अन्यथा कुत्ते-बिल्लियों को पालना, गाना और संगीत जैसे अन्य रास्ते भी हैं। कभी-कभी तो यहाँ भी उदास-निराश स्त्रियाँ भारत की तरह ही विवश लाचार बेचारी नजर आने लगती हैं। सच भी है गाँव और छोटे शहरों में लगभग 35 से 40 फीसदी स्त्रियाँ ऐसा ही जीवन जीने को बाध्य हैं, जिसके मूल में हमारे यहाँ जैसी गरीबी और अशिक्षा नहीं है वरन् आत्मनिर्णय और साहस की कमी है जिसकी उनकी शिक्षा, जागृत चेतना से पैदा हुआ आत्मबल है कि जीवन क्षमता नहीं, राह बनाता गतिमान है। 1989 में सभी प्रमुख के हटने और 2004 में यूरोपियन संघ(ण्ण्ण्) का सदस्य बनने से बराबर यह देश बदलाव को प्रक्रिया से गुर रहा है। वैश्वीकरण की धमक यहाँ पुरज़ोर ढंग से महसूस की जा सकती है। न केवल विकसित यूरोपिय देशों फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी, हॉलैंड वरन् अमेरिकी का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है। उपभोक्तावाद प्रसार पा रहा है। अर्थ गरीबी-अमीरी का अंतर बहुत बढ़ा नहीं है क्योंकि कम्युनिस्ट शासन के दौरान पूरे देश में लोगों को समान जीवन-स्तर देने का प्रयास तीव्र था। धीरे-धीरे बदलाव लक्षित हो रहा है। जाहिर है कि सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं में विकास का क्रम अत्यन्त धीमा, जटिल और पेचीदा होता है। एक छोटा समूह उच्च प्रोफेशनल पदों पर आसीन हो उत्पादन, सुख, वैभवभोग, को ही जीवन का तत् समझने लगा है। लगातार 12-12 घंटे काम, मिटिंग, मोटी तनख्वाह पाते, साथ-साथ रहते स्त्री-पुरूष और सम्बन्धों को एन्जॉय करने, फन, दोस्ती, मौज-मस्ती, ट्रैवलिंग जैसी प्रवृत्तियों को अपनाते उत्तरदायित्वों से दूर होते जा रहे हैं चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक। दूसरी ओर स्त्रियों का एक बड़ा समूह मॉल्स, सुपरमार्केट, विदेशी कम्पनियों में पुरूषों द्वारा उनके साथ करते जा रहे अरूग तरीके से किए जा रहे व्यवहार को सहता कार्यरत है। उन्हें इसी में संतोष है कि काम करने के नये अवयव उपलब्ध हुए, नया स्पेस मिला। न केवल, युवतियाँ वरन् अर्घड़ मियाँ जो कम शिक्षित हैं उन्हें भी काम मिलने लगे हैं। थोड़ा दबाव या नियंत्रण झेलते हुए भी वे कार्यरत हैं। घेवने में स्त्रियों और पुरूषों की दुनिया समान सी लगती है लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। दौड़ती-भागती काम करती स्त्रियों का हुजूम सड़कों, बसों, ट्रोमों मेट्रो में दीखंगा। लेकिन सभी जगहों पर उच्च पदों पर पुरूषों का वर्चस्व है, धीरे-धीरे स्त्रियाँ उसमें प्रवेश कर रही हैं, अभी संख्या नगण्य ही है।

दरअसल स्त्रियों की जो कनिष्तम् पीढ़ी है 18-20 वर्ष की लड़कियाँ हैं उनकी माताओं और बहनों ने उन्हें बहुत साहस दिया है। हर स्तर पर आगे बढ़ने के लिए एम्पुलेट किया ताकि वे अपने क्षेत्र में सफलता प्राप्त करें उपकाध्यि के शिखर को इसके पूर्व की पीढ़ियाँ मर्दों के पुरूषों को सहती, पिटती, रूपती अपने स्वत्व को भले ही गँवाती रही, लेकिन यह पीढ़ी अपने को कमता या दोयम दर्जे का कत्तर नहीं समझती, न हि पुरूषों को समझने का मौका देती है। पुरूषों से ज़्यादा समझदारी से काम कर रही हैं। काम की लगन है उनमें, ईमानदारी ओर चुस्ती है। पुरुषों के व्यवहार बदल रहा है, उनके अहम् और उग्रता में कमी आयी है। स्त्रियों के निर्णयों को सुनना, भावनाओं की कद्र करना, घरेलू कामों में सहयोग की भावना जन्म रही है। एक-दूसरे की इच्छाओं को आत्मसात् करने जैसी समझ और सहिजुता को अब दोनों बरतते हैं। यह सही है स्त्रियों में दूसरों की भावनाओं को समझने की सामर्थ्य ज़्यादा होती है। सचमुच निर्णय की क्षमता, समझदारी भरी सावधानी, संगठन का चातुर्य, संतुलित सर्जनात्मकता से पगा स्त्री जीवन कभी-कभी आश्चर्य में डालने वाला है। ठीक है वे मर्दों की तरह काम कर रही हैं, पर कोई प्रतिशोध-भाव नहीं है, सत्ता और वर्चस्व का हस्तान्तरण नहीं है। उन्हें पुरूष नहीं वन जाता है वरन् स्वयं के अस्तित्व और अस्मिता की सुरक्षा और सम्मान का सवकि अहम है। आज वे अपने निर्णय और चयन के प्रति सावधान हैं। उनकी पसंद में पोरिश ही नहीं भारतीय, पाकिस्तानी, अफ्रीकी अन्य पश्चिमी देशों के युवक भी शामिल है। इस वौवेध्य ने पोरिश युवकों के अहम को कमजोर किया है। कहीं भी अब ये स्त्रियाँ एकता का समर्पण की हामी नहीं है। प्रेम जितना देती है, उतना ही पाना चाहती है। भावुकता इस पीढ़ी के लिए निरी मूर्खता है। बोझ बने सम्बन्धों को जीने में उनका कोई विश्वास नहीं है। दृढ़ताभरी विचारशीलता है, ऐसे सम्बन्धों को 'बाय' करनें में उन्हें कोई हिचक नहीं है। व्यक्तित्व अत्यन्त पारदर्शी है, पुरूषों को बांध रखने का कोई उपकृम नहीं है उनके पास। पहले जरूर स्त्रियाँ बताव श्रृंगार द्वारा पुरूषों को वश में रखने के नुस्खे अपनाती थीं। अपने व्यक्तित्व में ऐसे छम और खोखलेपन को आज वे नहीं जीती। घर के अन्दर ककह मची रहे, बाहर सोस्तयटी के सामने दिखावा कि हम प्रसन्न हम्पति हैं। ऐसे झूठे प्रदर्शन से आज की पीढ़ी बहुत दूर है, इसकी बात आज समर्पण की, इसकी परवाह भी नहीं है। 'देह' का उत्स उनकी समूची चेतना विवेक-बुद्धि के आब से सम्पृक्त है। वे स्वतंत्र है वैयाक्तिकता की जीती हैं, पर स्वार्थी नहीं है, स्वच्छ भोग नहीं है। ये अलग बात है कि यहाँ सेक्स-शॉप है, कॉल गर्ल है, कॉल पुरुष है। वेश्यारत्रि और 'लेस्बियन' सम्बन्धों को जीती स्त्रियाँ हैं, 'गे' सम्बन्धों को जीते पुरूष हैं। अपनी ज़िन्दगी है, अपने रास्ते हैं, जिसे जो भाए और जो भाग का स्वच्छंता का माहौल नहीं है। यही कारण है उनके कभी एक तो कभी कई 'एक्सब्वायफ्रेंड' है, टूटन है विखराव है, कभी धोखा है, टीस है, दर्द है। जिस सही इंसान की तलाश है मिल नहीं रहा, जीवन में स्थिरता नहीं है, अकेलापन है, निराशा-हताशा, रूदन भी है। 20 वर्षीया 'क्लाऊडिया' को उसके ब्वायफ्रेंड स्वावेक ने कैसे 'चीट' किया, मुझे बताती रही आँखों से आंसू आते रहे। फिर खुद ही हंसने लगी स्वयं को तसल्ली देती, कोई बात नहीं, हममें यहाँ तो यह ट्रेंड के दूसरा मिलेगा, अभी मेरी उम्र ही क्या है? फिर अभी उसकी पढ़ाई जारी है, काम की व्यस्तता है, दोस्त है। चयन अपना है, आकर्षण अपना है, स्वीकार, खुशी, उल्लास अपना है तो अस्वीकार, धोखा, टूटन, घुटन, निराशा, पीड़ा भी अपनी है जिसे वे बखूबी समझती है। वह चली गयी और मैं अपनी पनियाकी आँखों के साथ भीतर तक हिलती रही अनेक अनसुलझे प्रश्नों में उलझी हुई। छोटी सी लड़की कितनी हढ़ कितनी तार्किक, कितनी बौद्धिक है, कितना सयानापन है इसमें। मेरे सामने यह प्रश्न था कि क्या वाकई यही देही मुक्ति है, स्त्री-स्वातंत्र्य है? ये आजाद तो हैं पर मुश्किलें भी कम नहीं है, भावात्मक धरातल पर टूटती-जुड़ती, सबकी अपनी-अपनी सलीबें है, जिनसे मुक्ति भी खुद ही पानी है। हमारे यहाँ 'स्त्री मुक्ति' अभी देह-विमर्श के घेरे में फंसी घूमरी पाल रही है। अंतर थोड़ा जो हीदव पड़ रहा है, मध्य यूरोपियन देशों उनमें भी पोलैंड जो 1918 के पूर्व लगभग सौ वर्षों तक दुनिया के नक्शें से ही गायब हो गया था, कुछ भाग रूस, कुछ जर्मनी (उस समय प्रश्या) और कुछ ऑस्ट्रिया के कब्जे में था। विकसित होते देश के लिए वर्तमान पीढ़ी द्वारा आजीवन एकती थेरी में घुटने, इटने, सीझने की बजाय बेहतर की तलाश की ओर मुड़ने का नैतिक साहस कम महत्वपूर्ण नहीं है। नयी संभावनाओं को तलाशती स्त्रियों में बुद्धि, विवेक और संवेदनीयता का तालमेल अद्भुद है। नौकरी करतीं, शिक्षित आत्मनिर्भर स्त्रियाँ बकौल सीमॉन द बोउवार- फिर नौकरी कोई रामबाण नहीं बावजूद इसके मुक्ति की बुनियादी शर्त है। यह जितना भारत के लिए सच्चा है उतना ही यहाँ के लिए भी। इधर स्त्रियों ने जो बड़ी पूंजी यहाँ संजायी है, वह उनका गहरा आत्मविश्वास है, आत्मनिर्णय होने का साहस है। स्वयं की तलाश, स्वयं को फिर न फिर खड़ा करने की कुव्वत। उनका हर आगे बढ़ा अगला कदम उनके इंसान होने के तर्क को और फैलाव देता है, व्यक्ति को पुष्ट करता है। दरअसल स्त्रियों के अस्मिता-बोध से जुड़ी संघर्ष प्रकृिया सरल सपाट और एकायामी नहीं है। उसके बहुविध आयाम हैं, बहुविध श्रेणियाँ हैं। संघर्ष करने और जूझने के अनेक स्तर हैं। मनुष्यता और नैतिकता के धरातल पद स्त्री-पुरूष दोनों की आपसी समझदारी, ईमानदारी, सहयोग की भावना ही रिश्तों को मज़बूती दे सकती है। 'समचेतना' के विकास के बाबत ही सम्बन्धों का स्वस्थ वस्तुपरक रूप उपस्थित होगा। पूरी मानव-सत्ता के समक्ष 'बराबरी' का व्यापक बड़ा प्रश्न खड़ा है। पोलैंड की स्त्रियाँ भी अपने अस्मिता-स्थापन, स्वातंत्र्य-बोध और मुक्ति कामना के गहरे एहसास के बीच से गुजरती संघर्षरत हैं।

पौलेण्ड

दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच

राजेश कुमार

किसी भी प्रांत-भाषा का रंगमंच हो, वह समाज से कटकर नहीं रह सकता। समाज में जो घट रहा है, उथल-पुथल मच रहा है, परिवर्तन की जो धारा बह रही है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उन घटनाओं क रंगमंच पर सीधा प्रभाव पड़नास्वाभाविक है। समाज और मनुष्य के बीच परिवर्तन की जो परस्पर प्रक्रिया चलती रहती है, वह सामानान्तर रूप से रंगमंच में भी चलती है। सामाजिक परिवर्तन ही सामाजिक चिंतन, संस्कृति, सभ्यता व संरचना के आधार बनते हैं। साहित्य और रंगमंच के साथ भी यही स्थिति है। दूसरे प्रांतों की भाषाओं की तरह हिन्दी क्षेत्र में भी दलित साहित्य की अवधारणा निरंतर एक वैज्ञानिक आधार पर ठोस होकर स्पष्ट आकार लेती जा रही है। साहित्य की एक विधा होने के कारण रंगमंच भी उतना ही कारगर व असरदार है जितना कि अन्य। बल्कि कला की समस्त विधाओं में रंगमंच ही एक ऐसी विधा है जिसमें गत्यात्मक और स्थ्यात्मक उर्जा का एक साथ सतत् प्रवाह है। अभिनय, नृत्य, स्वर, सुर जैसे गत्यात्क और दृश्य विधान, रूप सज्जा जैसी स्थ्यात्मक तत्व को एक साथ रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। यह ऐसा माध्यम है जहां नाटककार, निर्देशक, अभिनेता और दर्शक सामूहिक हिस्सेदारी के साथ जीवन को उद्घाटित करते हैं। वह न केवल संवेदनात्मक ज्ञान अविा ज्ञानात्मक संवदेना उत्पन्न करता है बल्कि जीवन और जगत के व्यापक संबंधों के विश्वजनीन् दृष्टि भी प्रस्तुत करता है। अगर वह शाश्वत मूल्यों को शास्त्रीय ढ़ंग से अंतरंगता पूर्वक स्पर्श करता है तो तत्कालिक विषयों को भी उसी त्वश के प्रदर्शित करता है जो देखने वालों के मन को झकझोरता ही नहीं, निरंतर कर्म के लिए प्रेरित भी करता है।

2 मार्च 1958 में दादर के बंगाली हाई स्कूल के सभागार में दलित लेखकों का जो पहला साहित्य सम्मेलन सम्पन्न हुआ, उसने दलित साहित्य को पृथक मान्यता दिलवाने में सार्थक, भूमिका निभाई।

डॉ0 अंबेडकर ने अपनी लेखनी, वाणी, ज्ञापनों, समाचार पत्रों, पुस्तकों एवं वक्तव्यों से दलितों में जो चेतना भरी थी, वह सन् 70 के दशक तक दहकता लावा बन चुकी थी। साहित्य का यह आंदोलन केवल मराठी भाषा तक सीमित नहीं रहा। वर्ण-व्यवस्था, जात-पात, धर्म के अंदर व्याप्त कुरीतियों, आडम्बर एवं गैर बराबरी के खिलाफ लड़ी गयी यह लड़ाई देखते-देखते अन्य प्रांतों तक जा पहुंची। चूंकि यह आंदोलन कोई प्रयोग तक सीमित नही था, इसका दायरा केवल किसी भाषा तक सिकुड़ा नहीं था इसलिए वहां-वहां गया जहां सामंती, ब्राह्मणवादी मूल्य वर्षो से फन काढ़े बैठा था। उन तबकों तक गया जो अस्पृश्यता के अपमान में धुल रहा था। तलाश रहा था ऐसी ऊर्जा जो लोगों को इकत्रित कर, स्वाभिमान को जगाकर इस अमानवीय, बर्बर व्यवस्था को ढ़ाहने में सक्रिय हो।

हिन्दी में कुछ दशकों से दलित साहित्य आंदोलन में कई महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। आज इसे सम्बद्ध कई पत्रिकायें निकल रही है। पुराने व नये लेखकों की एक लंबी कतार है जो सैद्धांतिक व रचनात्मक दोनों स्तर पर महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इन कवियों-लेखकों के प्रकाशित संग्रह चर्चा में है। मराठी की तरह हिन्दी में भी आत्मकथात्मक रूप में लिखी पुस्तकें जनमानस में लोकप्रिय हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि गैर दलित पत्रिकाओं तक ने दलित विमर्श पर विशेषांक निकाला और इसके विभिन्न पहलुओं पर हिन्दी के हर वर्गों के लेखकों, आलोचकों व समीक्षकों से बेबाशे से लेख, निबंध, साक्षात्कार लिखवाये। पर रंगमंच का जो क्षेत्र है उतना विस्तृत नहीं हो पाया है। मराठी में कवि-कहानीकार-उपन्यासकार जिस शिद्दत से दलित साहित्य के माध्यम से लोगों में चेतना क प्रसार कर रहे हैं, नाटक से जुड़े लोग भी उतने ही प्रभावशली ढ़ंग से लोगों तक विचारों को पहुचा रहे हैं। हिन्दी क्षेत्र में दलित रंगमंच से जुड़े लोग अभी इस आंदोलन को संगठनात्मक रूप नहीं दे पाये हैं। जो कर रहे हैं, अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी पहलकदमी से कर रहे हैं। जो स्वरूप उभरकर आना चाहिए था, कहीं न कहीं अस्पष्ट है। स्पष्ट तभी होगा जब दलित साहित्य की अवधारणाओं को रंगमंच में उतारा, जाए। जिन विचारों और उद्देश्यों को लेकर आंदोलन प्रारंभ हुआ है, उसे प्रतिबद्धता के साथ जनता के बीच ले जाया जाए।

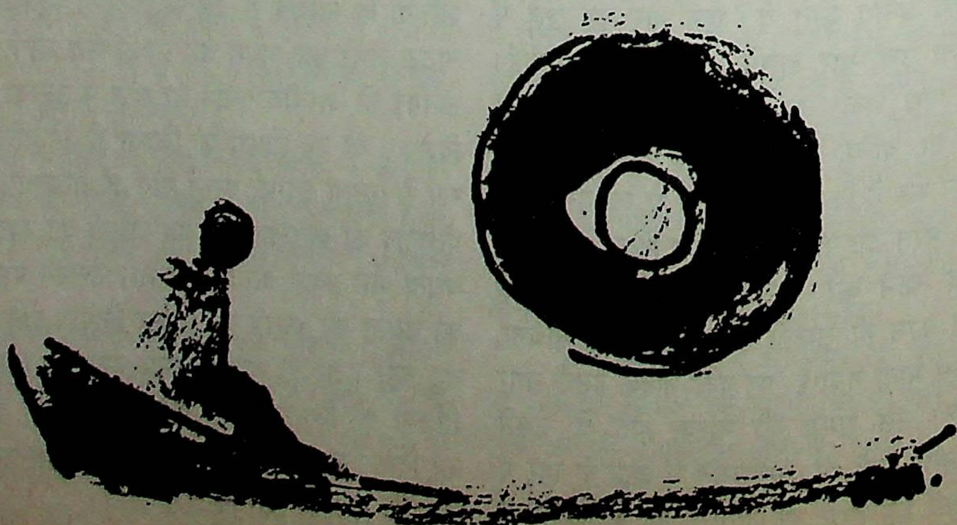
हिन्दी में कई तरह के रंगमंच है। शहरों में पाश्चात्य शैली पर आधारित यथार्थपरक नाटकों का ही जोर है। गांवों में विभिन्न प्रांतों की जो लोकनाट्य शैली है, आज भी किसी न किसी रूप में चल रही है। ये सारे नाट्य रूपों की पहचान इनके रूपों को लेकर है। दलित रंगमंच की जब बात चलती है तो रूप से

अधिक वस्तु पर लोगों की दृष्टि जाती है। प्रश्न भी उठता है कि साहित्य की तरह क्या रंगमंच का विभाजन भी जाति के आधार पर संभव है? नाटक जो अब तक अभिजन और जन के बीच बंटा था, कलावादियों और जनवादियों के बीच बंटा था, उसे दलित और गैर दलित के बीच विभाजित होता देख कई परंपरावादी रंगकर्मियों को अखरा भी। लेकिन वास्तविकता यह है कि रंगमंच केवल भाषा और शैली के आधार पर विभाजित नहीं है। बल्कि वह अनेकानेक वादों और विचारधाराओं में भी विभाजित है। कई हिन्दुवादी, ईसाई, संसदीय पार्टी के लोग रंगमंच के माध्यम से अपने दर्शन, विचार, पार्टी प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। इतना ही नहीं रंगमंच प्रगतिवादी, जनवादी, समतावादी भी है। कई तरह के विचारों और उद्देश्य वाले रंगमंच आज अस्तित्व में है। फिर प्रश्न उठता है कि इतने प्रकार के रंगमंच हैं तो दलित रंगमंच क्यों नहीं? जाति का सवाल उठाने वाले जाति आधारित सामाजिक विभाजन को क्यों भूल जाते हैं? जीवन-व्यापार में आज जाति की जो अहम् भूमिका है उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। प्रगति की राह में जाति किस तरह रोड़ा बनी हुई है, धर्म-परंपरा किस तरह उसका खुलेआम समर्थन दे रही है, यह सच किसी से छिपा नहीं है। जाति का घिर्नाना चेहरा देखकर लोगों को जब घृणा नहीं जगती तो दलित रंगमंच के आइने में समाज का भद्दा रूप का दिखना इतना चुभ क्यों रहा है? जाति का समाजशास्त्र इतना कटु है तो वह रंगमंच का सत्य क्यों नहीं बन सकता? और यह सवाल आज का भी नहीं है। भरत ने जो नाट्यशास्त्र लिखा था, उसके बारे में उन्होंने कहा था कि मैंने शूद्रों के लिए पांचवां वेद लिखा है। यानी कि रंगकर्मी जो थे, सभी शूद्र थे। उन्होंने एक बात और बड़ी दिलचस्प लिखी कि पहले नाटक स्वर्ग में होते थे। बाद में स्वर्ग से नाटक करने वालों, अभिनेताओं को निष्कासित करके धरती पर भेज दिया गया। उन्हें ऋषियों ने शाप दिया था कि तुम सब शूद्र हो जाओ। अर्थात् रंगकर्म करना प्रारंभ से ही श्रम की तरह निम्नकोटि का कर्म समझा गया है। भरत ने लिखा है, पहले नाटक खुले में होते थे यानी नाटकों के लिए प्रेक्षागृह नहीं बनाये जाते थे। एक बार वह खुले में नाटक कर रहे थे तो उन्हें मार डालने की कोशिश की गई। उन्होंने इसके लिए 'वद्य शब्द' का इस्तेमाल किया है। यानी मारना ऐसे ही नहीं था, बल्कि जान से मारने की कोशिश की गयी थी। अब सवाल यह है कि वे लोग कौन थे जो उन्हें जान से मारना चाहते थे? भरत ब्राह्मण थे, ब्राहमण होकर नाटकों में काम करें यानी शूद्र -कर्म करें? इसलिए स्वाभाविक रूप से ब्राहमणों का ही यह काम हो सकता है। मनुस्मृति में नाचना, गाना, बजाना शूद्र कर्म माना गया है, पर कोई नाटक इसके बगैर पूरा नहीं हो सकता। उस समय जो नाटक होते थे, उसमें नृत्य-संगीत की प्रधानता होती थी। मनुस्मृति में शूद्रों के बारे में जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकारों के प्रति ब्राह्मणों का रवैया क्या था। उसमें कहा गया है कि जो द्विज है, उनके लिए नाचना, गाना और बाजा बजाना मना है। लेकिन भरत नाटकों में काम करते थे तो नाचना, गाना और बाजा बजाना कैसे छोड़ सकते थे? प्राचीन ग्रंथों में ऐसी बहुत सी बाते हैं जिनसे प्राचीनकाल की समाज व्यवस्था ही नहीं बल्कि और भी बहुत सी चीजों पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य का तो मानना है कि नट लोग नगर में ही अपना नाटक दिखाएं, गांव में नहीं। इसके पीछे उनकी दृष्टि शायद यह रही होगी कि गांव के लोग नाटक देखेंगे तो उनके काम का नुकसान होगा। तब खेती कौन करेगा? दूसरी बात यह कही गयी कि नट लोग जब खेल दिखाने आएं तो वे बाहर से कोई सामान साथ में न लाएं। राजा स्वयं उनके लिए आवश्यक सामान की व्यवस्था करेगा। शायद इसलिए कि नटों के साथ यह भय जुड़ा हुआ था कि वे खेल-खेल में कुछ और न कर दें।

इस भय का मान आज भी परंपरावादियों, प्रानपंथियों को लगा रहता है कि वर्णवादी व्यवस्था का जो ढ़ांचा सदियों से चला आ रहा है, धर्म के बहाने कर्मकांड फलता-फूलता रहा है, भाग्यवाद का जो सितारा चमक रहा है, कहीं कोई ढ़ा न दे। बल्कि उन्हें तो ढ़ांचे की तरफ किसी का एक ढ़ेला फेंकना भी नागवार गुजरता है। इसलिए हमेशा से इनका प्रयास रहता है कि जो इस तरह की चेतना को जगा रहे हैं उसे पनपने न दिया जाए। चूंकि इसकी जड़ समाज के नीचले-पिछड़े लोगों से थी इसलिए नगरों में पनपा भी नहीं। मंदिरों और राजदरबारों में तो इनका प्रवेश ही संभव नहीं था। संस्कृत नाटकों में इस तरह की सोच का कोई स्थान ही नहीं था। वहां तो परम्परावादियों के पक्ष में अनेकों परिभाषाएं गढ़ दी गयी। न तो संस्कृत नाटकों में दलित को नाटक बताया जा सकता था, न उन्हें वह भाषा बोलने की अनुमति प्रदान की जा सकती थी जो उच्चवर्णीय लोगों की थी। बल्कि उनके प्रदर्शनों में दलित दर्शकों के स्थान में भी भेदभाव था। इस अवस्था में स्वाभाविक था, आमलोगों के विचार का कहीं दूसरी जगह से प्रस्फुटित होना। मध्यकालीन समय में लोकनाट्य शैलियों के माध्यम से देश के विभिन्न भाषाओं, बोलियों में जो नाटक उभर कर आया वह उच्चवर्णीय लोगों की नजर में भले अनगढ़ हो, शस्त्रीय पैमाने पर खरा न उतरता हो पर उनकी जो विशेषता थी वह शोषण का शिकार हो रहे दलितों का स्वाभाविक रूप से फूटता उद्गार परन्तु गाँव जो ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद का कारखाना है, वह दलितों को स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व कैसे प्रदान कर सकता था? उन्होंनें पहले तो ऐसे नाटकों को बलात् बंद कराने का प्रयास किया। जन समर्थन के कारण बंद नहीं हुआ तो दूसरा रास्ता अपनाया। तमाम लोक नाट्य शैलियों को जिनसे दलित चेतना का प्रसार हो रहा था, विकृत कर दिया। कथ्य और रूप के स्तर पर इतना भौंडा रूप दे दिया गया कि असकी धार कुंद हो गयी।

विशेषकर फुले और डा0 अम्बेडकर ने धर्म, वर्ण और जाति व्यवस्था के संबंध में जो अवधारणा स्थापित की उससे रूग्न और दम तोड़ती कलाओं में एक नई ऊर्जा का संचार हुआ। रंगकर्स पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिन्दी और दूसरी भाषाओं के कई नाटककारों ने अपने नाटकों में दलित चेतना को उतारा। विजय तेन्दुलकर ने नाटक 'सखाराम बाइंडर', 'कमला' प्रेमानन्द गज्वी का नाटक 'महाब्रह्मण', रत्नाकर भतकरो का 'लोक कथा 78', जयवंत दलसी लिखित 'सूर्यास्त' और 'पुरूष' दलितों की कजन्दी से जुड़े बहुत से महत्वपूर्ण सवालों को एक अत्यंत जतिम कथानक के भीतर में उधाड़ कर लाता है। शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' और स्वदेश दीपक का 'कोर्टपार्शल' शिक्षा और आर्मी के क्षेत्र में व्याप्त जातिवादी संजहा की परत-दर-परत खोलता है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से सत्ता में दलितों की भागीदारी होने लगी तब सत्ताधारियों को खुश रखने व अवसरवादिता का फायदा उठाने के लिए दलित मुद्दों पर नाटक मंचित करने की जैसे होड़ मची हुई है। यह नाटक दलित समस्या पर होते जरूर हैं लेकिन कभी भी इनकी मंशा वर्ण व्यवस्था को खत्म करने की नहीं होती है। घुमा फिरा कर ऐसे नाटक यथा स्थिति वाद के पक्ष में ही खड़े होते हैं। संवेदना को जगाने, सहानुभूति को गहरा करने में ही इनकी सारी ऊर्जा खर्च होती है। दलित चेतना को प्रखर बनाना इनका मकसद नहीं होता। फलतः इस तरह के नाटकों से दलित रंग मंच समृद्ध नहीं होता है। बल्कि इस प्रक्रिया में दलित रंग मंच को पूंजीवादी, सामंती, ब्राह्मण वादी विचार धारा की अंधी सुरंग में ही फंस जाने का भय बना रहता है। दलित रंग मंच की अवधारणा में वर्ण व्यवस्था के विरोध में और इसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत् मनुष्य और उसकी कला से प्रतिबद्ध है। वर्ण व्यवस्था अर्थात् द्वेष, शत्रुता, सत्सर, तिरस्कार की युद्ध भावना। इसके विपरीत प्रेम बंधुत्व, समता, भ्रातृ भावपूर्ण, शांति और समृद्धि है। दलित रंग मंच से अभिप्राय उस रंगमंच से है जिसमें दलितों ने स्वंय अपनी पीड़ा को अभिनय के माध्यम से दर्शाया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित रंग मंच उसी की अभिव्यक्ति का सशक्त प्लेटफार्म है। यह कला के लिए कला का नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का रंग मंच है। इस जिजीविषा को कोई भी कलाकार प्रस्तुत कर सकता है। ऐसा प्रतिबंध नहीं है कि दलित समस्या पर गैर दलित नाटक नहीं कर सकता। जरूर कर सकता है और लोग कर भी रहे हैं। पर सवाल अनुभूतियों और चिन्तन का है। दलित जीवन की पीड़ा की अनुभूतियाँ, वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने की जो शिद्दत एक दलित को होती है, वैसी प्रतिबद्धता एक सवर्ग को नहीं हो सकती। विचार को प्रस्तुत करने के लिए उस विचार पर आस्था का होना आवश्यक है। बगैर आस्था के मंचना करना कहीं न कहीं उथली, खोखली प्रयास के समान है और यह दिखता भी है। दलित साहित्य की अवधारणा में रंगमंच को केवल मनोरंजन का साधन बनाना नहीं है, न कृत्रिम ख्यालों को चंद सुविधा भोगी लोगों के बीच मात्र रखना होता है। वर्तमान राजसत्ता से लोगों का जिस तरह मोहभंग हुआ है, समाज में जिस तरह का सामंती मूल्य सगंध दे रही है, भाग्यवाद-कर्मकांड-धार्मिक कुचक्रों से विक्षुन्ध होकर लोग आक्रोश में आ चुके हैं और सामाजिक संरचना के बदलाव की जरूरत को जिस बैचेनी के साथ अनुभव करने लगे हैं। कहीं न कहीं दलित रंग मंच इसी सोच के साथ है और इस सोच को पुख्ता बनाने के लिए निरंतर प्रयास जारी है। भाषा, कथ्य और शैली के स्तर पर जो जकड़न है, उसे तोड़कर जनता से जुड़ना ही उद्देश्य है। उसे मंच पर जाना है और नुक्कड़ चौराहों पर भी। जहां से भी जनता का जीवंत संपर्क संभव हो, दलित रंगमंच को वहां से ले जाना, उसकी अवधारणा है।

32, हाइडिल ऑफिसर्स कॉलोनी
3, प्राग नारायन रोड, लखनऊ 226001



ब्रह्मचर्य व्रत और उसके प्रयोग

प्रेम शशांक

एक ऐसा आदमी जो स्त्री-पुरूष के सेक्स संबंधों से नफरत करता है। जो मानता है कि संभोग पाप है। स्त्री और पुरुष के बीच यौन संबंध त्शज्य हैं। ईश्वर ने स्त्री और पुरूष को संभोग के लिए नहीं बनाया है। पति और पत्नी का रिश्ता बकवास है। इस पृथ्वी पर आए हर पुरूष और स्त्री के बीच भाई-बहन जैसे संबंध होने चाहिए। विवाहितों को भी एक दूसरे के साथ एकांत सेवन नहीं करना चाहिए। एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए। वगैरह-वगैरह।'

'उन्हें स्त्रियों का साथ पसंद था। महात्मा के निजी जीवन में उनकी पत्नी के अलावा कई स्त्रियाँ आईं। उनके आश्रम हमेशा लड़कियों से भरे रहते। खास तौर से उन्हें कम उम्र और 'बोल्ड' लड़कियाँ पसंद थीं। महात्मा उनके साथ हँसी मजाक करते। उनके साथ खाना खाते। उनके साथ स्नान करते। उनके साथ एक बिस्तर पर सोते। आधा दर्जन से ज्यादा लड़कियों के साथ नग्नावस्था में सोने की बात महात्मा ने खुद स्वीकार की।

ये उदाहरण बीसवीं सदी के महानायक, सत्य और अहिंसा के वैश्विक प्रर्वतक महात्मा गाँधी के संदर्भ में उनके व्यक्तित्व के उस निजी पहलू को उजागर करते हैं जहाँ सत्य सोच और अनुभव के स्तर पर विरोधाभासी हो जाता है। समीक्ष्य पुस्तक (महात्मा गाँधी : ब्रह्मचर्य के प्रयोग) इस विरोधाभास को बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखती है। भूमिका में लेखक इस विरोधाभास की गहराई में जाते हुए गांधी के प्रारंभिक अनुभवों को इस कसौटी का आधार बनाते हैं जो स्त्री और सेक्स के संदर्भ में उन्हें सोच और व्यवहारिक स्तर पर कुंठित करते हैं। वह कहते हैं कि स्त्रियों को लेकर महात्मा के दिल में एक खास तरह का आकर्षण था जो सारी उम्र उनके पूरे व्यक्तित्व पर हावी रहा। महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी की महान जीवन-गाथा औरतों और उनकी निजी यौन कुंठाओं के बीच घिरी रही। 15 साल के मोहन को खूबसूरत वेश्या की चौखट से लज्जित होकर लौटना पड़ता है क्योंकि वह उस स्त्री के साथ बिस्तर पर जाने का अंतिम समय तक साहस नहीं जुटा पाता है। 16 साल के मोहन का मन उस वक्त भी अपनी पत्नी के साथ संभोग करने की इच्छा से मुक्त नहीं हो पाता है जब उसके पिता मृत्यु शैया पर अंतिम साँस का इन्तज़ार कर रहे होते हैं। 21 साल के युवा मोहनदास लंदन में 'परस्त्री को देखकर विकारग्रस्त्र' हो जाते हैं और उनका किशोर मन उस औरत के साथ 'रंगरेलियाँ' मनाने की इच्छा करता है। लेकिन वह ऐसा नहीं कर पाते क्योंकि ऐन मौके पर उनका एक शुभचिंतक उन्हें वहाँ से भगा देता है। पानी के जहाज से दक्षिण अफ्रीका जा रहे 28 साल के मोहनदास गांधी यात्रा की थकान मिटाने के लिए हब्शी औरतों की बस्ती में एक वेश्या की कोठरी में घुस जाते हैं। लेकिन फिर वहाँ से 'बिना कुछ किये' शर्मसार होकर बाहर निकलते हैं। 31 साल के बैरिस्टर मोहनदास अपनी पत्नी के साथ ब्रह्मचर्य और संयम का संकल्प लेते हैं लेकिन इसके बावजूद वह एक और बच्चे के पिता बन जाते हैं। 40 साल के प्रौढ़ गांधी अपने सबसे प्रिय दोस्त हेनरी पोलक की पत्नी मिली ग्राहम पोलक के प्रति एक खास तरह की 'आत्मीयता' महसूस करते हैं और वे 'एक-दूसरे के निकट' आते हैं। लेकिन अपने दोस्त को तकलीफ में देखकर वह बहुत जल्द यी 'आत्मीय रिश्ता' खत्म कर देते हैं। 41 साल के महात्मा गांधी 18 साल की मॉड नाम की उस लड़की से प्रभावित हो जाते हैं जो विदाई के वक्त उनसे 'हाथ मिलाने' के बजाय उनका 'चुंबन' चाहती थी। अपनी अन्तरात्मा की आवाज ठुकराकर वह उसे फिनिक्स आश्रम ले आते हैं और धोखा खाते हैं। 48 साल के गांधी जी नीली आँखों वाली 22 साल की सुन्दर डेनिस कन्या एस्थर फैरिंग के मोहजाल में फँस जाते हैं जिसे वह प्यार से 'माई डियर चाइल्ड' कहते थे। 51 साल के महात्मा 48 साल की विवाहित महिला श्रीमती सरला देवी चौधरानी के प्रेम में पड़ जाते हैं और उन्हें अपनी 'आध्यात्मिक पत्नी' का खिताब दे डालते हैं। यह महिला भी उन्हें सपने में बार-बार परेशान करती है। 56 साल की उम्र में महात्मा 33 साल की मैडलिन स्लेड के प्रेम में बँध जाते हैं जिसकी भक्ति से प्रभावित होकर वह उसे 'मीरा' बना देते हैं। 60 साल की उम्र में महात्मा गांधी 18 साल की तेज तर्रार महाराष्ट्रीयन लड़की प्रेमा के मायाजाल में गिरफ्त हो जाते हैं। प्रेमा जब कभी भावातिरेर में आकर उन्हें आलिंगनबद्ध करती तो वे कहते -'तू तो पागल है ही, लेकिन तेरा पागलपन मुझे प्यारा लगता है।'

फिर 64 साल के महात्मा एक 24 साल की अमेरिकन महिला नीला सी कुक उर्फ नीला नागिनी के संपर्क में आते हैं। जिसके बारे में आम धारणा थी कि वह एक 'अत्यंत कामुक और झूठी औरत है।'

65 साल के महात्मा 35 साल की जर्मन महिला मार्गरेट स्पीगल उर्फ अमला को कपड़े पहनने का सलीका सिखाने। अमला जब कभी वासना में बह कर उनसे लिपटती तो महात्मा उन्हें सलाह देते- 'तुम्हें अपने विचित्र और परेशानी में डाल देने

वाले तौर-तरीके बिल्कुल छोड़ देने चाहिए। 69 साल के महात्मा 18 साल की सुंदर युवती डॉ0 सुशीला नैयर के संपर्क में आते हैं जिससे वह प्राकृतिक चिकित्सा के नाम पर नग्न होकर अपने जिस्म की मालिश कराते हैं और वक्त बचाने के लिए उसके साथ स्नान भी कर लेते हैं। 72 साल के महात्मा अपने ब्रह्मचारी जीवन की प्रयोगशाला में बाल विधवा लीलावती आसर, पटियाला के एक बड़े ज़मीदार की बेटी अमतुस्सलाम, कपूरथला खानदान की राजकुमारी अमृत कौर और मशहूर समाजवादी जय प्रकाश नारायण की पत्नी प्रभावती जैसी करीब आधा दर्जन महिलाओं के साथ सिर्फ यह जानने के लिए सोते हैं कि उम्र के इस पड़ाव में क्या अब भी उनमें काम वासना शेष है। 76 साल के महात्मा 16 साल की आभा, वीणा और कंचन नाम की युवतियों को ब्रह्मचर्य का पाठ सिखाने के लिए 'नग्न' होने को कहते हैं। पर ये लड़कियाँ उनसे कहती हैं कि उनकी दिलचस्पी 'ब्रह्मचर्य पालन की बिल्कुल नहीं' वह तो 'संभोग का सुख भोगना चाहती हैं।' 77 साल के महात्मा अपनी पोती मनु के साथ नोआखली की सर्द रातें शरीर को गर्म रखने के लिए नग्न सोकर गुजारते हैं। 79 साल के महात्मा जीवन के अंतिम क्षणों तक आभा और मनु के साथ एक बिस्तर पर सोते हैं।'

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में महात्मा गांधी का कद इतना ऊँचा है कि उनके प्रति आदर और स्नेह महसूस करते हुए ही हम उन्हें राष्ट्रपिता के रूप में स्मरण करते हैं। उनके व्यक्तित्व के निजी और सार्वजनिक पहलुओं को समेटती समीक्ष्य पुस्तक की सर्जना निःसंदेह एक कड़ी चुनौती और जोखिम भरा काम है जिसे लेखक दयाशंकर शुक्ल सागर ने उतनी ही कड़ी मेहनत से अंजाम दिया है। भूमिका समेत पुस्तक की परिच्छेदीय आयोजना में उनकी और श्रम को साफ महसूस किया जा सकता है। यद्यपि लेखक ने उनके व्यक्तित्व को तथ्य और तर्क के तराजू के दो पलड़ों में रखते हुए बहुत ही सावधानी पूर्वक तौलने की कोशिश की है। फिर भी कुछ विचारक उनके इस प्रयास को नकारात्मक ढंग से भी ले सकते हैं। कई बार सार्वजनिक जीवन के व्यक्तित्व हमारी चेतना की तहों में इतने भीतर तक पैबस्त हो जाते हैं जहाँ श्रद्धा और विश्वास के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता और उनके जीवन को तथ्य और तर्क की कसौटी पर कसने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती। इस नज़रिये से यह काम श्रमसाध्य और चुनौती भरा ही नहीं कहा जायेगा बल्कि रीडरशिप के बढ़ते स्पेस के साथ श्रद्धा और तर्क के द्वन्द्वात्मक संदर्भ में वैचारिक स्तर पर एक तरह की गरमाहट अथवा विवादस्पद स्थितियों की संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन लेखकीय श्रमसाध्यता इस बात पर निर्भर करेगी कि कोरी भावुकता से बचते हुए संग्रहित तथ्यों और तर्कशील आग्रहों के आलोक में मनोवैज्ञानिक सारणियों की कसौटी पर उनके वैचारिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण का निर्मम परीक्षण बेहद ईमानदारी और सावधानी से हो। दरअसल समीक्ष्य पुस्तक रचना और आलोचना के संदर्भ में सर्जनात्मक स्तर पर एक ही तरह की चुनौती लिए हुए है जिसकी ओर वह भूमिका में संकेत करते हैं जैसे कि यह किताब महात्मा की छवि ध्वस्त करेगी अथवा राष्ट्रपिता के बारे में ऐसी बातों से कितनों की भावनाएँ और आस्थाएं आहत् होगी। एक आदमी जो इस दुनिया में नहीं है उसके बारे में लिखने का क्या मतलब? लेकिन इन सब बातों का एक ही जवाब हो कसता है कि रचनात्मक-सर्जनात्मकता का वेग ऐसी बाधाओं के रोके कभी नहीं रूकता। फिर महात्मा गांधी के इस कथन से कि "मैं शरीरिक इच्छा से मुक्त हूँ या नहीं, इस बात का पता शायद मेरी मृत्यु के बाद लगे।" समीक्ष्य पुस्तक की जरूरत और महत्व को समझा जा सकता है।

एक बेहद प्रासंगिक प्रश्न है कि 'ब्रह्मचर्य आखिर इतना विकट प्रश्न कैसे बन गया?' वैचारिक रूप से लेखक ने दो पुस्तकों क्रमशः विलियम आर थर्स्टन की 'फिलासफी ऑफ मैरिज' और पाल ब्यूरो की 'टुवहर्स मॉरल बैंकरप्सी' के प्रभाव की चर्चा की है लेकिन व्यवहारिक स्तर पर उनके दाम्पत्य जीवन के उतार-चढ़ाव भी इस विचार के लिए कहीं ज्यादा उत्तरदायी हैं। वह बताते है कि 'काम वासना से बेतरह घृणा करने वाले महात्मा गांधी का वैवाहिक जीवन कभी सुखी नहीं रहा। महात्मा कस्तूरबा से संतुष्ट नहीं थे। उनमें अक्सर झगड़े होते थे। दक्षिण अफ्रीका में तो उन्होंने कस्तूरबा को घर से निकलने के लिए कह दिया था। यह सच है कि महात्मा के ब्रह्मचर्य व्रत के पीछे कहीं दूर उनकी पत्नी कस्तूरबा गांधी भी खड़ी थीं। शरीर के धरातल पर महात्मा कस्तूर के कई बार करीब आये लेकिन मन की एक दूरी दोनों के बीच हमेशा एक दीवार बनकर खड़ी रही। कस्तूरबा एक विशुद्ध घरेलू औरत थीं। वह सही अर्थों में सह-धर्मचारिणी थीं। महात्मा प्रयोग धर्मी थे और उनकी प्रयोगधर्मिता उनके दाम्पत्य जीवन में जहर घोलने वाली साबित हुई। जिन लोगों ने कस्तूरबा को करीब से देखा और समझा उन्होंने कस्तूरबा को असहाय पाया। वह उस वातावरण के लिए नहीं बनी थी जो वातावरण महात्मा ने अपने ईर्द-गिर्द तैयार किया था।' इस तरह विचार और व्यवहार दोनों ही स्तरों पर महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य के सत्य को सहज ही समझा जा सकता है। यह मूल रूप में काम ऊर्जा के रूपांतरण का प्रश्न है। प्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरित्र मानस' के रचयिता महाकवि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा इस ग्रंथ की सर्जना के पीछे भी काम ऊर्जा के रूपांतरण को सर्जनात्मक ऊर्जा के रूप में एक सफल बदलाव को देखा जा सकता है। गोस्वामी की पत्नी रत्ना के काम भावना कुंठित करते शब्द वाणों के द्वारा ही उन्हें वाचुस्थिति का आभास होता है और उनके जीवन में एक कठिन और अटल परिवर्तन घटित होता है जो 'रामचरित मानस' की सर्जना का वायस बनता है। क्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप यह ऊर्जा -रूपांतरण का पूर्ण और सफल उदाहरण है। स्थितियाँ वही

है लेकिन महात्मा गांधी के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहाँ संघर्ष में बदलाव के स्वरूप को समझना होगा।

महात्मा गांधी का मन और शरीर द्वन्द्वात्मक अवस्था में है। यह एक अनवरत प्रक्रिया है जो उम्र भर साथ चलती है। वह मन और विचारों से बहुत सजग और मजबूत नज़र आते हैं लेकिन शरीर के स्तर पर उनका संघर्ष ढहता हुआ नज़र आता है। यही कारण है कि तमाम स्तरों पर विरोध और संभावित जोखिम को वह लगातार नज़रअंदाज़ करते चले जाते हैं। इसे जहाँ एक ओर प्रयोगों के प्रति उनकी सत्यनिष्ठा और अटल-विश्वास से जोड़कर देखा जा सकता है वहीं कहीं न कहीं ये प्रयोग उनकी दैनिक-दैहिक ज़रूरत से कब जुड़ जाते हैं, शायद उन्हें भी इसका ठीक-ठीक कभी आभास नहीं हो सका। इन प्रयोगों से विरत जीवन की कल्पना उनके लिए असह्य और असंभव जान पड़ती है, इसके बहुत से साक्ष्य पुस्तक में मिलते हैं। निजी जीवन की इस असहायता को सार्वजनिक जीवन में कई संदर्भों और मौकों में महसूस किया जा सकता है। क्या महान दार्शनिक ओशो मन और शरीर के द्वंद्वात्मक संबंध को ऐसे ही अवसरों और प्रसंगों के संदर्भ में नहीं खोल रहे हैं' मन सुसंस्कृत हैं, शरीर अभी भी वन्य है। मन मानवीय है, शरीर अभी भी पाशविक है। मन झूठा है, शरीर सत्य है। मन नियम और सिद्धान्तों को जानता है- कैसे व्यवहार करना और कैसे ठीक से व्यबहार करना- इसलिए तुम उबाऊ व्यक्ति से भी मिलो, तो तुम कहते हो, ''मैं तुम्हें देखकर खुश हूँ, बहुत प्रसन्न हूँ।'' और गहरे में, यदि तुम्हें इजाजत दी जाये तो तुम इस व्यक्ति को मार डालते। वह तुम्हें हत्या के लिए प्रेरित करता है। तब तुम बेचैन होने लगते हो, तुम व्याकुलता महसूस करते हो। यदि तुम शरीर की सुनो और दूर चले जाओ, तो बेचैनी दूर हो जायेगी। क्योंकि शरीर मन से अधिक प्रामाणिक है, शरीर मन से अधिक ईमानदार और सच्चा है। मन शिष्ट होने की, मुस्कराने की कोशिश कर रहा है। ब्रह्मचर्य के सत्य और सिद्धान्त को लेकर महात्मा गांधी जितने सजग और अडिग नजर आते हैं, प्रयोगों को `लकर वह उतने ही दुर्बल और शिथिल साबित होते हैं। ये प्रयोग ही उनकी आलोचना का कारण बनते हैं। इन प्रयोगों के मार्फत शरीर के स्तर पर जो कुछ भी घटित हो रहा है उसको वह किसी भी दशा में और किसी भी कीमत पर त्यागने को तैयार नहीं है।

ब्रह्मचर्य व्रत लेने की उनकी शुरूआती प्रतिक्रिया कम महत्वपूर्ण नहीं है जब वह लिखते हैं कि 'यह व्रत मेरे लिए बहुत कठिन सिद्ध हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मैं सोचता, विकारों को किसी प्रकार दबा सकूँगा? अपनी पत्नी के साथ विकारमुक्त संबंध का त्याग मुझे एक अनोखी बात मालूम होती थी। फिर भी मैं यह साफ देख सकता था कि यही मेरा कर्तव्य है। मेरी नियत शुद्ध थी। यह सोचकर कि भगवान शक्ति देगा, मैं इसमें कूद पड़ा।' इसी तरह टाल्सटाय कार्य और फिनिक्स आश्रमों में प्रयोग के दौरान उन्हें अन्य लोगों के संदर्भ में निराश होना पड़ा। वह कहते हैं कि 'हमारे चारों ओर जो एक कौतुक चल रहा है, जरा उस ओर भी देखें। छोटो से लेकर बड़े तक, चाहे वे पुरूष हों या स्त्री, सभी एक बड़ी हद तक इस मोह में डूबे हुए हैं। इस प्रसंग में हम सभी एकदम पागल हो जाते हैं। हमारी बुद्धि स्थिर नहीं रहती। हमारी आँखों के आगे पर्दा पड़ जाता है। हम लोग कामांध हो उठते हैं। कामांध पुरूषों, स्त्रियों और लड़के-लडकियों को मैंने एकदम पागलपन की स्थिति में देखा है। मेरा अपना अनुभव भी कुछ भिन्न नहीं है। जब-जब मैं ऐसी स्थिति में पहुँचा हूँ, तब-तब अपना होश-हवास भूल गया हूँ। वास्तव में यह वस्तु ही ऐसी है। इस प्रकार रत्ती भर सुख के लिए हम अपना मन भर बल पल-भर में खो देते हैं और जब हमारा वह नशा उतर जाता है, तब हमारी हालत उस रंक की-सी हो जाती है।' स्वयं एवं दूसरों के संदर्भ में ब्रह्मचर्य के प्रयोग की विफलता दर विफलता जहाँ वैचारिक रूप से उन्हें जिद्दी बनाती है वहीं शरीर के स्तर पर निरंतर प्रयोगों की सतत श्रृंखला विचार और अनुभवों के बीच की फाँक को गहरा करते हुए उनकी स्वयं की दुर्बलता के रहस्य से पर्दा उठाती है। ब्रह्मचर्य और उसके प्रयोग अन्य लोगों के संदर्भ में तो उनके जीवन काल में ही विफल हो गये, यही कारण है कि उनकी मृत्यु के साथ ही यह सब बंद हो गया। निजी स्तर पर ये प्रयोग उन्होंने अंतिम समय तक जारी रखे लेकिन ब्रह्मचर्य रूपी सत्य और उसके प्रयोगात्मक नतीजे सिर्फ उन्हीं तक सिमट कर रह गये। इन प्रयोगों के पक्ष में उन्होंने अपने अनुभवीय तर्क जिस तरह से विरोध के विरोध में व्यक्त किये, वे विवशतापूर्ण सफाई से अधिक महत्व नहीं पाते।

महात्मा गांधी भारतीय लड़के-लड़कियों के अभिभावकों से आश्रम में भाषण देते हुए कहते हैं ''मैं जो अभी इक्यावन बरस का बूढ़ा होने पर भी इतना जोर दिखा रहा हूँ, इसका कारण सिर्फ वीर्य रक्षा ही है।'' वह जिस तरह से वीर्य रक्षा पर जोर देते हैं उसे कालांतर में चिकित्सा विज्ञान ने भ्रम सिद्ध कर दिया है। वीर्य रक्षा और आंतरिक शक्ति का सीधा कोई संबंध नहीं है। ब्रह्मचर्य के संबंध में ओशो के विचार कहीं ज्यादा तर्क संगत लगते हैं जब वह कहते है कि ब्रह्मचर्य अथवा इंद्रिय-नियंत्रण के प्रयोग अनुभवीय धरातल पर अव्यवहारिक हैं। आप इच्छाओं पर जितना अंकुश लगाने का प्रयत्न करेंगे वे उतना ही ज्यादा फोर्स के साथ दबाव बनायेंगी। यह तर्क संगत सच उनके ब्रह्मचर्य-जीवन के अंत तक साथ चलता है, रात्रिकालीन नींद में स्वप्न दोष इसी सच का हिस्सा है जिससे गांधी जी बार-बार आहत हो जाते हैं। वह कहते हैं ''मैं जाग्रत अवस्था में सावधान रह सकता हूँ। मैं वाणी में संयम का पाल न करना भी ठीक-ठीक सीख गया हूँ। किंतु अभी विचारों पर काबू पाना बहुत -कुछ बाकी है। मेरे मन में जिस समय जिस बात का विचार करना हो उस समय उसके सिवा दूसरे विचार भी आते हैं। इससे

विचारों में द्वंद्व चला ही रहता है। फिर भी मैं जागृत अवस्था में अपने विचारों का एक दूसरे से टकराना रोक सकता हूँ। मेरी ऐसी स्थिति कही जा सकती है कि गंदे विचार मेरे मन में कभी नहीं आ पाते। परंतु निद्रावस्था में विचारों पर मेरा यह नियंत्रण कम होता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, अकल्पित सपने भी दिखते हैं और कभी-कभी इसी देह से की हुई क्रियाओं की वासना भी जागृत होती है। वे विचार जब गंदे होते हैं तब स्वप्नदोष भी हो जाता है।' वीर्य रक्षा अथवा वीर्य स्खलन का लेकर उनके मन का संघर्ष चिकित्सा विज्ञान के विकास और ओशे के तर्कसंगत विचारों के आलोक में समयातीत होने पर एकदम बेमानी नज़र आते हैं। स्त्री-पुरूष संबंध सहज होने चाहिए, स्वस्थ होने चाहिए। अतिचारिता दोनों ही संदर्भों में गलत है। ब्रह्मचर्य और उसके प्रयोगों के संदर्भ में महात्मा जहाँ एक ओर वैचारिक संघर्ष से गुजरते हैं वहीं प्रयोगों के माध्यम से शरीर की सहज स्थिति को भी भंग करते हैं जिससे विचार के स्तर पर वह स्वयं को ही संतुष्ट करते नज़र आते हैं और शरीर के स्तर पर स्वयं को ही धोखा देते नज़र आते हैं अन्यथा 65 वर्ष तक (उम्र) स्वप्न दोष की स्थिति उनके इस विरोधाभास को ही उजागर नहीं करती बल्कि विचार और अनुभवीय स्तर की फाँक के माध्यम से उनके ब्रह्मचर्य व्रत और उसके प्रयोग की सतत श्रृंखला को व्यवहारिक धरातल पर विफल सिद्ध करती है।

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि०
सेमीखेड़ा, बरेली (उ०प्र०) 243203 फोन - 9259774177

महात्मा गांधी : ब्रह्मचर्य के प्रयोग, दयाशंकर शुक्ल सागर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, मूल्य : 495 रूपये, पृष्ठ : 432

■

सतत चलती अन्तर्यात्रा

रामदेव शुक्ल

उदयभान मिश्र की एक किताब/ एक चिट्ठी की शक्ल में 'अलकनंदा' को संबोधित। किताब का शीर्षक है - 'रामग्राम से कामाख्या तक-. तुरंता आलोचकों को लग सकता है कि यह एक भौगोलिक यात्रावृतांत है, जो गोरखपुर से शुरू होकर गुवाहाटी में खतम होती है! इतने से इसे भैगोलिक यात्रा मान लेना वैसा ही है, जैसा किसी की देह को उसका व्यक्तित्व मान लेना।

कवि के रूप में साहित्य द्वार पर दस्तक देने वाले उदयभान मिश्र बहुत कुछ लिखने के बाद भी कवि ही हैं. 'आग की नीली नदी' को समर्पित यह चिट्ठी शुरू होती है- कवि की एक अन्य कविता से-

तुम्हारे नगर से/चला जायेगा उदयभान/एक दिन
बिछी की बिछी/ रह जायेंगी/गोटियाँ
देखते रह जायेंगे/साहब/दीवान/और प्यादे

काल चिन्तन करता हुआ कवि अज्ञेय और कबीर का स्मरण करता है। अपना निष्कर्ष देता है 'काल सदा जयी होता है और इस काल पर जय प्राप्त करने के लिए ही तो मनुष्य का जन्म होता है। इसी लक्ष्य से उसकी यात्रा प्रारम्भ होती है...... ...।' मनुष्य के संघर्ष और काल से होड़ लेने की उसकी जिजीविषा को 'इतिहास' के रूप में परिभाषित करते हुए लेखक को अपनी कविता याद आती है।

कभी नहीं रहा मैं/नहीं रहा/चित्तौड़/मेरा राज्य
मगर/एक चित्तौड़ पाने की/ इच्छा लिए
शुरू हुआ था/ मेरा संघर्ष

यहीं किताब में अवतरित होती है वह जिसे संबोधित है चिट्ठी ....'अलकनंदा'! तुम्हें याद है, मैंने तुम्हें अरावली की पहाड़ियों में खोजा था किसी दिन?

नहीं लिखूँगा/तुम्हें खत/नहीं करूँगा तुम्हारी चर्चा
चट्टानों पर/ सिर्फ खोजूँगा/ तुम्हारे पावों की/छाप
अलकनंदा!/उदयपुर से/चलकर/कितनी बार/गया हूँ
हल्दीघाटी/चेतक स्मारक/शाहीबाग/रक्त तलाई
इस उम्मीद में/कि तुम/मिल जाओगी/कहीं
किसी दिशा से /आकर

अलकनंदा! सचमुच कितना भाग्यशाली है वह कवि, जिसने अपनी अनंत यात्रा के बाद एक दिन अपनी 'वनलता सेन' को पा लिया था।

प्रख्यात बाँग्ला कविता की पंकित्याँ उद्धृत हैं-
हजारों वर्षों से चल रहा मैं पृथ्वी के पथ पर.............
......
क्लांतप्राण मैं
मुझे दो पल की शांति दी नाटोर की वनलता सेन ने।

अलकनंदा! तुम्हें मैं भी खोजता रहूँगा इस यात्रा में। तुम जानना चाहती हो-कहाँ खत्म होगी यह यात्रा?

तो अभी मैं क्या बताऊँ? प्रवाहित होती नदी और बहती हुई हवा का क्या ठिकाना? कब किस दिशा में मुड़ जायेगी क्या पता? काल, काल होता है। उसका पूर्वाभास किसे होता है? फिर भी अभी मैं रामग्राम में हूँ और कामाख्या की यात्रा पर निकल रहा हूँ। बस अभी इतना ही। बीच-बीच में तुम्हें लिखता रहूँगा। धैर्य रखो। धैर्य का फल मीठा होता है।'

अगला अध्याय-या अगला पत्र आरम्भ होता है- इस रूप में- 'अलकनंदा! तुम्हारा खत मिला। पढ़कर थोड़ी झुँझलाहट हुई। हर बात पर तुम शंका क्यों करती हो, समझ में नहीं आता। तुम जिसे 'रामग्राम समझ रहे हो, वह रामग्राम ही है या कोई और जगह है, इसे मैं चाहूँगी कि एक बार तुम फिर जाँच लो।''

अपने हिसाब से 'रामग्राम' की प्रामाणिक पहचान कराने के बाद भी लेखक का विनय उससे कहलवाता है- ''लेकिन अलकनंदा! समय बहुत क्रूर होता है। वह किसी की नहीं सुनता। बनाना और फिर बिगाड़ना-यही उसका खेल है। इसे समझो और मौन रहो।''

ज़ाहिर है आगे अलकनंदा किसी स्थान के विषय में शंका नहीं करेगी और अंत तक अलकनंदा मौन ही रहती है। फिर फिर संबोधिता। तीसरी चिट्ठी गौतमबुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी भस्म के लिए युद्धोन्मत्त गणराज्यों और अन्ततः भस्म के बंटवारे से शुरू होती है। लेखक फिर रामग्राम का धागा पकड़ कर गोरखपुर और उससे अपने रिश्ते की व्याख्या करने लगता है।

पिछला जीवन पगुराते हुए लेखक काठमांडों में मिले ज्योतिषी और तुलसीदास की बात याद करता हुआ यात्रा की राह पर लग जाता है- 'उदयभान! तू यात्रा पर है/मन को स्थिर करो/भटको नहीं/ देखो, उधर देखो गोरखपुर के पश्चिम की ओर एक नदी 'अचिरावती'.......।' महायोगी गोरखनाथ के दिव्य व्यक्तित्व को, इतिहास और जनश्रुतियों के आलोक में अवतरित किया गया है। गोरख वाणी और अन्य ग्रंथों के साक्ष्य पर महायोगी गोरखनाथ के विराट् व्यक्तित्व और उनके योग दर्शन की स्पष्ट झाँकी उपस्थित करने के बाद बाबा राघवदास और हनुमान प्रसाद पोद्दार के व्यक्तित्व- कृतित्व की भाव प्रणव मूर्ति गढ़ी गयी है।

पाठक की चेतना में यह बात जगह बनाती है कि उदयभान मिश्र की आध्यात्मिकता कहीं से संकुचित नहीं है। इसके बाद कुंडलिनी की शक्ति और कबीर का प्रखर व्यक्तित्व पाठक के सामने आकर लेने लगता है।

पाँचवीं चिट्ठी गंगा पार करके हरिहर क्षेत्र-सोनपुर से शुरू होती है। बुद्ध और महावीर वेदों के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। उनसे आगे बढ़कर चार्वाक सब कुछ का निषेध करते हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, विद्यापति, दिनकर, संतकवि धरमदास का स्मरण करता हुआ लेखक मुजफ्फरपुर पहुँच कर वैशाली के वैभव अर्थात् बुद्धकाल में रम जाता हे। लोकगीतों की डोर पकड़ कर 'बटोही' विरह गीतों का रस लेता लेखक बिहार, पटना और आसपास राजगृह, नालंदा के प्राचीन विद्या-वैभव का बखान करता है।

छठवीं चिट्ठी में राजगृह में विश्राम करे लेखक को विराहणियों की वेदना एक बार फिर अपनी ज़द में ले लेती है- धीरे बहु नदिया रे धीरे बहु......। पुराण और इतिहास के गलियारों से राजगृह को देखता हुआ लेखक असम प्रदेश में प्रवेश करता है।

सातवीं चिट्ठी शुरू होती है- ''अलकनंदा! मैं इससे पहले भी कामाख्या की यात्रा कर चुका हूँ........। कामरूप कामाख्या (कावरू कमच्छा) के सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों, शाबरमंत्र और अनेक प्रकार के अंधविश्वासों की चर्चा करने के बाद एक बार फिर चीनी यात्री हुवेनसांग के शब्दों में कामरूप प्रदेश का वर्णन किया गया है। इसकी पुष्टि में 'योगिनीतंत्र' के मंत्रों और उनकी व्याख्या के माध्यम से अलकनंदा को 'असम प्रदेश का संक्षिप्त इतिहास' सुनाने के बाद दग्ध काम के रूप प्राप्त करने की कथा, उसके आधार पर नाम 'कामरूप', नीलाचल पर्वत की कथा, ब्रह्मपुत्र नद के प्रादुर्भाव की कथा- पौराणिक और लोकविश्वास के आधार पर कही गयी है।

आठवीं चिट्ठी गुवाहाटी से लिखी गयी है। इसमें लेखक के सपने में नरकासुर आकर अपने मुँह से देवी पर मुग्ध होने और अपने विनाश की कहानी कहता है। इसी में वशिष्ठ मुनि द्वारा कामाख्या के उस स्थान से लुप्त होने के शाप की कथा भी है। इसी चिट्ठी में कबूतरों, बकरों, भैसों की बलि का विस्तृत वर्णन है। इसी में भैरवी चक्र पूजा, उसकी गोपनीयता, उसमें भाग लेने वालों की उद्दाम उपासना 'कुलार्णव तंत्र' के उद्धरणों से सुपुष्ट की गयी है।

विधाओं का वर्णन और उससे जुड़ी शिवशक्ति कथा`स आठवीं चिट्ठी पूरी होती है।

नवीं चिट्ठी बड़पुजारी शर्मा के प्रति कृतज्ञ लेखक के नीलाचल से विदा होने की कथा कहती है। 'फल मेवे के साथ लाल रंग का एक छोटा सा वस्त्र का टुकड़ा' देकर बड़पुजारी कहते हैं - ''यह कामाख्या का महा प्रसाद है, संभाल कर रखियेगा। सभी कार्य यह सिद्ध करेगा। पूजन अर्चन में तो वृद्धि होगी ही। धनधान्य की भी यह वर्षा करेगा।'' उस लाल वस्त्र के विषय में 'प्राणतोषिणी तंत्र और देवी भागवत' के हवाले से बताया गया है कि आषाढ़ के प्रथम सप्ताह में पृथ्वी (कामाख्या) रजस्वला होंगी। इस काल में उसका नाम 'अम्बुवाची' होगा। जब तक यह स्राव होता रहेगा, पूजा बंद रहेगी। उसी स्राव से भीगे वस्त्र को सकल फल दायक महा प्रसाद के रूप में अपने भक्तों को वितरित करते हैं बड़पुजारी।

दसवीं चिट्ठी गुवाहाटी में 'काम को धारण करने वाली, काम को जन्म देने वाली, काम के आलोक में समस्त विश्व को अलोकित करने वाली कामाख्या के मंदिर से बाहर' भीतर उमड़ते प्रश्न से जूढते लेखक को प्रस्तुत करती हैं। ''अपने भीतर उमड़ते एक प्रश्न से जूझने लगा हूँ। क्या कामाख्या, इस नीलाचल पर्वत के उस मंदिर में ही केवल स्थित है या बाहर भी हैं? भीतर से एक आवाज आती- जो बाहर है, वही भीतर है। इस सत्य के प्रमाण में कुरूक्षेत्र में खड़ा श्रीकृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को ब्रह्मांड के दर्शन करा देता है। आकाश, जल, अग्नि, पृथ्वी, पवन सभी इस शरीर में व्याप्त हैं, तो क्या कामाख्या मेरे भीतर है? यह प्रश्न मुझे उद्वेलित कर

रहा है। इस उद्वेलन का समाधान षट्चक्रों और कुंडलिनी जागरण के माध्यम से किया गया है। तंत्र ग्रंथों और योगी गोरखनाथ के साक्ष्य पर यहाँ कुंडलिनी, कामाख्या दर्शन की बहुत सटीक व्याख्या की गयी है। "गोरखनाथ कहते हैं कि प्रथम चक्र मूलाधार और इससे ऊपर स्थित स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में योनि स्थान है, यही कामरूप पीठ है। मूलाधार के चतुर्दल कमल के मध्य में त्रिकोणाकार योनि है। वही कामाख्या पीठ है। ....कामरूपिणी शक्ति को जाग्रत करना ही कामाख्या को सिद्ध करना है।" लेखक काम की विशद व्याचया करने के बाद बताते हैं कि "इस काम को जलाने वाली शक्ति को ही 'कामदा' 'कामेश्वरी' कामरूपिणी और कामाख्या कहा गया है। वही कामाक्षी भी कही जाती है। कामाक्षी शब्द का अर्थ है, हमारे काम अर्थात् मनोभिष्ट को अच्छी आँखों से देखने वाली, सांसारिक वासनाओं का अंत कर देने वाली शक्ति का नाम ही कामाक्षी या कामाख्या है।"

'जाग मछंदर गोरख आया' की जनश्रुति का मर्म बहुत अच्छी तरह उदयभान मिश्र खोलते है- "शिव और शक्ति के मिलनस्थल इसी कामाख्या पीठ पर कभी योगी मत्स्येन्द्रनाथ पहुँच कर टिक गये थे और सब कुछ भुला बैठे थे। मत्स्येन्द्रनाथ मूलाधार अर्थात काम पीठ पर विजय प्राप्त करके वहां कामाख्या अर्थात कुंडलिनी शक्ति जागरण के आनंद में ही डूब गये। पृथ्वी तत्व पर उन्हें विजय प्राप्त हो गयी थी और समाधि अवस्था में वे एक ऐसी जगह पहुँच गये थे, जहाँ से वे आगे नहीं बढ़ पा रहे थे। संसारिक व्यवहार उनसे बहुत दूर हो गया था। गोरखनाथ ने उनकी समाधि भंग करते हुए कहा- 'गुरूवर! आप समाधि में इस तरह बैठ जायेंगे, तो हमें आगे का रास्ता कौन बतायेगा?

मत्स्येन्द्रनाथ, गुरू दत्तात्रेय-परशुराम संवाद, योगिनी तंत्र और अवधूत किनाराम के प्रमाणों के आधार पर एक बार फिर बाममार्गी की गूढ़ बातों को खोलकर समझाया गया है। 'पंचमकार' की व्याख्या की गयी है, सुन्दरीपूजा, कुमारीपूजा, चक्रार्चन, लतासाधना आदि के रहस्य समझाने के साथ बताया गया है कि "शिव ही मांस है, शक्ति ही सुरा है और स्वयं भैरव शिव उसके भोक्ता हैं। शिव और शक्ति दोनों की एकता के योग से जो आनंद उत्पन्न होता है, उसी को मोक्ष कहते हैं। सहस्त्रदल कमल के बीच जो चंद्रमंडल स्थित है, उससे जो सुधा रस निर्झारित होता है, उसे ही काम पीठ का साधक सुरा मानकर पीता है। इसी को महापान, मधुपान, मदिरापान कहा गया है।

संसारिक शब्दावली के कारण भ्रमित हो जाने वालों को बार बार चेताया गया है -"यह उस साधक के लिए है जो दिव्यावस्था में पहुँच चुका है, जिसे नारी के अंग अंग में जगदम्बा दिखाई देती है, जो विषयभोग से ग्रस्त होकर इस साधना में लगता है, उसका पतन हो जाता है, जो व्यक्ति बिना उर्ध्वचेतस (ऊर्ध्वरितस) हुए मद्य, मांस, मदिरा और स्त्री -सेवन में लिप्त होता है वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है।" यह साधना 'लम्पट, व्याभिचारी, कामी व्यक्ति के लिए नहीं है।" यह उस मनुष्य के लिए नहीं है, जो बकरे के समान कामुक, भेड़ के समान क्रोधी, गदहे के समान मूर्ख और सुअर के समान दुराचारी होते हैं।"

गम्भीर अध्ययन, सतसंग, मनन, अभ्यास के बाद बाममार्गी साधना की व्याख्या करके लेखक अपरिपक्व लोगों को बचाने के सारे उपाय करता है। आखिरी चिट्ठी ग्यारहवें अध्याय में वह लिखता है- "अलकनंदा! हो सकता है कि तुम्हारे मन में यह ख्याल आए कि मैं बाममार्ग की साधनापद्धति का समर्थक हूँ। ऐसा कदापि मत सोचना। मेरी निश्चित धारणा है कि आज के जमाने में इस प्रकार की साधना से समाज में मुक्त यौनाचार और व्यभिचार को बढावा मिलेगा। अतः ययह सर्वथा त्याज्य है।"

इतनी अनमोल साधना को सर्वथा त्याज्य घोषित करने का सबसे बड़ा कारण है-"आज दिव्य साधक हैं कहाँ? मैंने तो लगभग पूरे भारत में भ्रमण किया है। योगियों, तांत्रिकों, साधुओं से संवाद किया है-'कहीं भी मुझे ऐसे दिव्य साधक के दर्शन नहीं हुए।'

बहुपठित, बहुश्रुत भ्रमणशील लेखक की आखिरी चिट्ठी के आखिरी संबोधन में दृश्य और सत्य को लेकर मौलिक सवाल उठाया गया है-"अलकनंदा! रामग्राम से प्रस्थान करते हुए मैंने तुमसे वादा किया था कि मैं अपने हर पड़ाव की सूचना तुम्हें देता रहूँगा। अपने इस वचन का मैंने पूर्णतया निर्वाह किया है। अब तुम यह जरूर जानना चाहती होगी कि मैंने इस यात्रा में ऐसा क्या देखा, जिसे मैं निजी तौर पर अपना देखना कह सकता हूँ, तो ऐसा कुछ भी नहीं है, अलकनंदा!"

उसके आगे के सत्य की डोर नहीं सम्हाल लेता।"

पाठक एक गहरी तृप्ति के साथ सतत् चल रही इसी 'यात्रा' को अपने ही भीतर चलती हुई पाने लगता है। 'कामाख्या' के साथ अलकनंदा की तलाश भी लेखक से पाठक तक संक्रमित हो जाती है। इससे बड़ी उपलब्धि किसी लेखक की क्या होगी?

यह यात्रा जितनी बाहर चलती है, उससे ज्यादा भीतर सम्पन्न होती है। भारतीय संस्कृति और परम्परा को समृद्ध करने वाले स्थानों, दर्शनों, व्यक्तियों, उपासना-पद्धतियों से होता हुआ पाठक एक गहरी आश्वस्ति का अनुभव करता है - "चाहे कोई भी ईश्वर हो, वह मनुष्य के बाहर नहीं है, मनुष्य के भीतर ही है।" इस पुस्तक की दुर्लभ विशेषता है कि इसमें किसी के प्रति कोई कुत्सा नहीं है। यह किसी को छोटा नहीं करती। पाठक को तृप्त करती है किन्तु ऐसी अन्य यात्राओं के प्रति प्यास भी जगाती है।

शीतल सुयश, राप्ती चौक, आरोग्यमंदिर, गोरखपुर - 273003

रामग्राम से कामाख्या तक, उदयभान मिश्र, साक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली

हिंदी समय

डॉ. शोभा पालीवाल

एक दशक से अधिक समय से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में है पर कितने हिंदी के लेखक, प्राध्यापक तथा पत्रकार हैं जो वहाँ गये या बुलाये गये हों। आरंभिक पांच वर्ष तो स्वयं कुलपति ही वहाँ नहीं गये, वे अपनी राजधानी दिल्ली ही बनाये रहे और वहीं से संगोष्ठियों का आयोजन, संचयनों तथा पत्रिकाओं का प्रकाशन करते रहे। पता नहीं यह बात क्यों उनकी समझ में नहीं आई कि विश्वविद्यालय सक्रिय अध्ययन-अध्यापन और शोध से ही सक्रिय रह पाता है। उसकी दीवारें और बाहरी तामझाम किसी विश्वविद्यालय को जीवंत नहीं बना सकते। उन्हें यह भी समझना चाहिये था कि भारत भवन और हिंदी विश्वविद्यालय में अंतर है। एक अवसर उन्हें नये विश्वविद्यालय के बनने के अनुभव को प्रत्यक्ष देखने का मिला था, जिसे उन्होंने अपनी सनक में खो दिया। दूसरे कुलपति पता नहीं किस राजनीतिक दबाव के तहत बनाये गये न उन्हें कोई जानता था और न वे किसी को जानते थे। जैसे विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागाध्यक्ष और आचार्यगण होते हैं, अनाम लेकिन अपने पद और लाभ-लोभ की दुनिया में चौकस वैसे ही दूसरे कुलपति रहे। तीसरे कुलपति चर्चित कथाकार विभूतिनारायण राय हैं जिन्होंने दो-तीन महीने पहले ही पदभार ग्रहण किया और कल्पना की कि हिंदी के लेखक, नाटककार, पत्रकार, प्राध्यापक जो इस नये बनते और अपना भव्य आकार ग्रहण करते विश्वविद्यालय में आयें और अपने चिंतन और सरोकारों से एक-दूसरे को परिचित करायें। इसका परिणाम यह कि दो-तीन महीनों में ही पिछले एक दशक की पत्र-पत्रिकाओं में सक्रिय रचनारत रहे लेखकों की सूची गहन श्रम से तैयार की गई और तीन सौ से अधिक लोगों को इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में भाग लेने के लिये आमंत्रित किया गया। 27 जनवरी से 31 जनवरी, 2009 तक चली राष्ट्रीय संगोष्ठी का कैसे समन्वय किया जाये कि सब लोग अपनी अपनी बात मजबूती से कह सकें और हिंदी सृजन अपनी संपूर्णता में आलोचना के साथ आ सके। इसके लिये अत्यधिक संवेदनशील मन से ऐसे शीर्षक चुने गये जो कहीं न कहीं हमारे बड़े लेखकों और उनके महत्वपूर्ण लेखन से जुड़े हुये थे । इसलिये कथा साहित्य के विमर्श का नाम 'आपबीती : जगबीती' रखा गया कहना न होगा कि यह भारतेंदु की आखिरी रचना है और कहा जाता है कि भारतेंदु अपने जीवन में इस बात से बहुत चिंतित थे कि हिंदी में वे अपने रहते कहानियों का लेखन आरंभ नहीं करा सके इसलिये उन्होंने स्वयं लिखना आरंभ किया जो दुर्भाग्य से अधूरी रह गई । यह शीर्षक न केवल कथा साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है अपितु भारतेंदु की चिंता के साथ अब तक के कथा साहित्य की सृजन यात्रा का इतिहास भी कहता है। वैसे ही कविता विमर्श के लिये शीर्षक रखा गया 'बात बोलेगी हम नहीं' यह शीर्षक जाने-माने कवि शमशेर का ऐसा अमर वाक्य है जो कवि की दृढ़ता का बोध कराता है। यह दृढ़ता हमारे समकालीन कवियों में भी आये यह शीर्षक यही संदेश देता है। आलोचना विमर्श के लिये 'सबद विवेकिया' का इस्तेमाल किया गया है। शब्द को विवेकसम्मत देखने और परखने की क्षमता जिसमें है वही तो आलोचक हासकता है और आलोचना कर्म के साथ न्याय कर सकता है। यही नहीं जिन सभागारों में ये विमर्श अपनी पूरी जीवंतता के साथ सक्रिय थे उनका नामकरण भी विवेक और कल्पना के साथ किया गया था जिससे पूरा हिंदी जगत अपने पुरोधाओं को एक बार स्मरण करता हुआ उनकी उपस्थिति का आभास करते हुये विमर्श में सक्रिय हो। सभागारों के नाम थे महात्मा गांधी सभागार, निराला सभागार , सुभद्राकुमारी सभागार, मुक्तिबोध सभागार तथा प्रेमचंद सभागार। कहना न होगा कि ये नामकरण अपनी भव्यता में कार्यक्रम के उद्देश्य को स्वयं प्रगट कर रहे हैं। पाँच दिनों के विमर्श को इस प्रकार बांटा गया था कि अब तक की सबसे बड़ी चुनौती भूमंडलीकरण की छाया तले हिंदी प्रदेशों, हिंदी के पाठकों, हिंदी के लेखकों और हिंदी के चिंतकों की सारी चिंताएँ इस विमर्श का हिस्सा बनें। इसलिये जिन महत्वपूर्ण बिंदुओं पर चर्चा केंद्रित रही उनमें गांधीः आंदोलन के नये औजार, अंबेडकरः वर्ण की कारा से मुक्ति का संघर्ष, मार्क्स : सामाजिक परिवर्तन की वैज्ञानिक अवधारणा, रंगमंच से नुक्कड़ तक, सिनेमा, रेडिया और टेलिविजन : आधी हकीकत आधा फसाना, प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया : कागद लेखी से आँखन देखी तक, संगीत, नृत्य और चित्रकला, स्त्री विमर्श : आधी आबादी का सफरनामा, आदिवासी : जंगल के दावेदार तथा सांप्रदायिकता का बदलता चेहरा आदि। ये विमर्श के ऐसे शीर्षक हैं जिन्हें सुनकर और जिनमें हिस्सा लेकर कोई भी हिंदी का प्राध्यापक या विद्यार्थी स्वयं को भरा-भरा अनुभव करेगा। राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ विश्वविद्यालयों में होती ही रहती हैं लेकिन इनके शतांश को छू पाना भी उनके लिये संभव नहीं होता। वे अपने अपनों को बुलाने के चक्कर में स्वयं दयनीय होयकर रह

जाती हैं। इस संगोष्ठी का महत्व इसलिये और बढ़ जाता है कि यहाँ इन पांच दिनों में ऐसा कौन हिंदी का लेखक होगा जो निरंतर लिख रहा है और यहाँ उपस्थित न हो। जिसकी सक्रियता साहित्यिक पत्रिकाओं में है उसकी सक्रियता अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में देखने को मिले-आयोजकों ने इस बात का पूरा ध्यान रखा और वे इसमें सक्रिय भी रहे। प्रो. नामवर सिंह, इतिहासकार सुधीर चंद्रा, आलोचक निर्मला जैन, शंभुनाथ, खगेंद्र ठाकुर, रविभूषण, विजयबहादुर सिंह, शंभु गुप्त, सूरज पालीवाल, चौथीराम यादव, विनोद तिवारी, साधना अग्रवाल, स्तंभकार भारत भारद्वाज, कथाकार मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, अल्पना मिश्र, वंदना राग, मनीषा कुलश्रेष्ठ, मधु कांकरिया, नीलम शंकर, महेश कटारे, हरिराम मीणा, धीरेंद्र अस्थाना, शिवमूर्ति, रामकुमार कृषक, अरविंद त्रिपाठी, नरेंद्र पुंडरीक तथा अजेयकुमार आदि आलोचक, कथाकार, कवि और नाटककारों ने विभिन्न सत्रों में अपनी सक्रिय सहभागिता से संगोष्ठी को नये आयाम दिये। इन गोष्ठियों की विशेषता उनकी शामें होती थीं जब वर्धा के पंचटीले पर संगीत की सुरलहरियों के बीच नाटक और लोकगीतों का जीवंत प्रदर्शन महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में होने की गवाही देता था ।

इस प्रकार के आयोजनों की सफलता में धन से अधिक बड़े मन की आवश्यकता होती है यह बड़ा मन वहाँ के नये कुलपति चर्चित कथाकार विभूतिनारायण राय के पास है इसलिये वे अपनी सहजता में भी भव्य आयोजन करा सके ।

71, सेंट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर-342011

'रेत में आकृति की खोज

रविशंकर उपाध्याय

वाराणसी : रामछाटपार शिल्प न्यास के तत्त्वावधान में 'रेत में आकृति की खोज विषयक संगोष्ठी का आयोजन किया गया है जिसमें युवा कवि श्रीप्रकाश शुक्ल द्वारा रचित रेत श्रृंखला पर आधारित 'रेत में आकृति की खोज' नाम की काव्य पुस्तिका का लोकार्पण हुआ। उक्त अवसर पर श्रीप्रकाश शुक्ल की लिखी कविताओं और प्रसिद्ध मूर्तिकार मदन लाल द्वारा दी गई फोटोग्राफी की चित्र प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया।

संगोष्ठी के मुख्य अतिथि हिन्दी आलोचना के सुप्रसिद्ध आलोचक प्रो0 अजय तिवारी ने अपना वक्तव्य देते हुए कहा कि इतने क्रूर समय में, जो कि उपभोक्तावाद का दौर है, इसमें संवेदनशीलता की ऐसी कोशिश हो सकती है, जो कि श्रीप्रकाश शुक्ल के इस संग्रह में दिखाई पड़ रही है, आज की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। अनेक कलाओं के बीच इस संग्रह में गहरा संबंध है, जो सौंदर्य विवेचना का विषय है। रेत किसी आकृति को स्थायी नहीं रहने देती है। इसमें क्षणभंगुरता और गतिमयता है, जो कि रेत का गुण है।

कार्यक्रम के मुख्य वक्ता और आज के दौर के वरिष्ठ कवि मदन कश्यप ने कहा कि आज मध्यवर्गीय चेतना हावी है, जो कि विडंबनापूर्ण स्थिति निर्मित कर रही है, इस दौर में श्रीप्रकाश शुक्ल ने अपनी कविताओं में लोकधर्मी चेतना को जीवित रखा है जो कि अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है।

संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए प्रो0 रामकीर्ति शुक्ल ने कहा कि कला और कविता दोनों स्वतंत्र विधायें हैं। संगोष्ठी को संबोधित करते हुए प्रो0 वशिष्ठ अनूप ने कहा कि अच्छा रचनाकार परंपराओं का वाहक होता है। श्रीप्रकाश जी की कविताएँ नये सृजन की ओर आकर्षित करती है। युवा आलोचक कृष्ण मोहन ने कहा कि सुमित्रानंदन पंत और त्रिलोचन के साथ-साथ शमशेर बहादुर सिंह की परंपरा के साथ श्रीप्रकाश जी ससम्मान जुड़ते हैं। प्रो0 बलराज पांडेय ने अपना वक्तव्य देते हुए कहा कि रेत में जीवन की तलाश करना बहुत बड़ी बात है। युवा कवि रामाज्ञा शशिधर ने कहा कि श्रीप्रकाश जी का व्यक्तित्व उत्सवधर्मी व्यक्तित्व है। इनकी कविताएँ रेत के मर्म के भीतर से उपजी रेतमर्मी कविता है।

लोकार्पित पुस्तिका के लेखक श्रीप्रकाश शुक्ल ने 'धूप' और 'रेत में अरमान' नामक दो कविताओं का पाठ किया।

अतिथियों का स्वागत प्रसिद्ध मूर्तिकार मदन लाल ने किया। उन्होंने कहा कि आज कला शब्दों के साथ भाषा में जीवंत हो उठी हे। मदन लाल ने अगले दिन गंगा के बीच रेत पर बनने वाली आकृतियों कें आयोजन में शहर के समस्त बुद्धिजीवियों और छात्रों को आमंत्रित किया।

उक्त अवसर पर प्रो0 राधेश्याम दूबे, प्रो0 सदानंद साही, प्रो0 चन्द्रकला त्रिपाठी, प्रो0 वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, डा0 दीनबंधु तिवारी के साथ ही तमाम सम्मानितगण एवं विद्यार्थीगण उपस्थित रहे।

कार्यक्रम का कुशल संचालन डा0 आशीष त्रिपाठी ने और धन्यवाद ज्ञापन डॉ0 नीरज खरे ने किया।

जमीन से जुड़कर लिखना ही रचना है

अमिता अरोरा

देहरादून। विख्यात आलोचक मैनेजर पांडे व विश्वनाथ त्रिपाठी का स्पष्ट मानना है कि ज़मीन से जुड़कर आम आदमी के सुख-दुख, सपने और संघर्ष की सच्ची अभिव्यक्ति ही सही

रचनाधर्मिता है। शैलेय के कहानी संग्रह ''यहीं कहीं से'' के लोकार्पण के अवसर पर उन्होंने उक्त विचार व्यक्त किये।

संग्रह ''यहीं कहीं से'' का लोकार्पण मैनेजर पांडे, विश्वनाथ त्रिपाठी, विद्या सागर नौटियाल, मैत्रेयी पुष्पा व गौरीनाथ ने सामूहिक रूप से किया। तत्पश्चात लीलाधर जगूड़ी, सुधा अरोरा, क्षितिज शर्मा, नवीन नैथानी, चमेली जुगरान, गीता गैरोला, जितेन्द्र श्रीवास्तव, भास्कर उप्रेती, सिद्धेवर सिंह, सुप्रिया, नंद किशोर हटवाल, सुनीता भट्ट, उदय किरोला व हयात समेत बड़ी मात्रा में उपस्थित साहित्य- संस्कृतिकर्मियों- बुद्धिजीवियों ने इन प्रख्यात आलोचकों के साथ समकालीन हिन्दी कहानी पर खासा विमर्श किया।

वक्ताओं ने एक मत से यह माना कि आज कहानी में साफ़ तौर पर दो ध्रुव बनते जा रहे हैं। एक वह जो ग्लोबाइजेशन की इस चकाचौंध के बीच कहानी में अंतर्वस्तु को हाशिये पर रखकर महज शिल्प को ही प्रमुखता देते हुए भाषा की चकाचौंध पैदा कर रहे हैं और दूसरे वे कहानीकार है दूर दराज के गाँवों-कस्बों-खेतों और विभिन्न औद्योगिक संस्थानों में पिस रहे श्रमिक वर्ग की पीड़ा और संघर्ष को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। वे महान नगरों में रह रहे निम्न व निम्न-मध्यवर्ग की विसंगतिपूर्ण स्थितियों व बदलते मनोविज्ञान को दर्ज कर रहे हैं। इस तरह ये प्रतिबद्ध रचनाधर्मी कहानीकार प्रेमचंद की जमीन से जुड़कर लिखने की परंपरा को आगे बढ़ा रहे है। आज ऐसी ही रचनाधर्मिता की ज़रूरत और चुनौती है। वक्ताओं ने खुशी ज़ाहिर की कि जन -संघर्षों से जुड़े शैलेय इस स्तर पर मौजूदा दौर के एक सतर्क व सजग रचनाकार हैं। कार्यक्रम का संचालन डॉ0 सिद्धेश्वर सिंह ने किया।

देहरादून

लघु पत्रिकाओं का बदलता स्वरूप और उनकी भूमिका

वंशीधर उपाध्याय

वाराणसी - 'परिचय' परिवार और हिन्दी विभाग (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) के संयुक्त तत्वाधान में ''लघु पत्रिकाओं का बदलता स्वरूप और उनकी भूमिका'' विषय पर एक साहित्यिक संगोष्ठी का आयोजन हिन्दी विभाग के सभागार में हुआ। उक्त अवसर पर युवा कवि श्रीप्रकाश शुक्ल के संपादन में निकलने वाली साहित्यिक पत्रिका ''परिचय'' का 8 वाँ अंक भी जारी किया गया।

संगोष्ठी के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध समीक्षक चौथीराम यादव ने अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए कहा कि आज का समय हिन्दी विभाग के नवजागरण का समय है। जहाँ नयी रचनाशीलता की व्यापक भूमि तैयार हो चुकी है। उन्होंने कहा कि श्रीप्रकाश शुक्ल ने 'परिचय' के माध्यम से वर्तमान रचनाशीलता में एक सार्थक हस्तक्षेप बनाए रखा है। आज साहित्य और पत्रकारिता एक दूसरे के निकट आ रहे हैं।

कार्यक्रम के मुख्य वक्ता और हिन्दी विभाग के अध्यक्ष कुमार पंकज ने भारतेन्दु युग से लेकर आज तक की पत्रिकाओं की समीक्षात्मक व्याख्या की। उन्होंने कहा कि पत्रिकाओं के लिए सबसे आवश्यक यह है कि वे अपने समय की रचनाशीलता के नब्ज पर उँगली रखें। बलिराज पांडेय ने कहा कि आज का लेखक 70 के दशक के लेखकों की तरह जोखिम नहीं उठाना चाहता है। राजकुमार ने आज के दौर को पत्रिकाओं के लिए स्वर्ण काल के रूप में रेखांकित किया। और कहा कि आज का सर्वश्रेष्ठ लेखन इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से हो रहा है। युवा आलोचक कृष्ण मोहन ने कहा कि आज पत्रिकाएँ अपने स्वरूप में सशक्त हुई हैं। अपना वक्तव्य देते हुए युवा समीक्षक रामाज्ञा शाशिधर ने कहा कि आज की पत्रिकाएँ ज़्यादा जनतांत्रिक हुई हैं। अतिथियों का स्वागत परिचय पत्रिका के संपादक श्रीप्रकाश शुक्ल ने किया। उन्होंने अपने स्वागत भाषण मे कहा कि कोई भी साहित्यिक आंदोलन लघु पत्रिकाओं के माध्यम से ही खड़ा हुआ है।

संगोष्ठी का संचालन प्रभाकर सिंह ने किया और औपचारिक धन्यवाद ज्ञापन शहर के जानेमाने समाजशास्त्री दीनबंधु तिवारी ने दिया।

वाराणसी

कालजयी रचनाकार का स्वप्न सौंदर्यपूर्ण समता मूलक समाज का सृजन है

नंद कुमार उन्मन

जनवादी लेखक संघ 'सिंहभूम' द्वारा आयोजित निराला-जयंती में महाकवि निराला एवं काजी नजरूल इस्लाम के साहित्य एवं सामाजिक सरोकार पर एक विचार गोष्ठी हुई। विचार गोष्ठी में निराला एवं नजरूल के जीवन-साहित्य तत्कालिक सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्यों पर व्यापक परिचर्चा करते हुए वक्ताओं ने प्रेम और विद्रोह की विलक्षणता, विशिष्टता एवं आवश्यकताओं को गहराई से विचारने का प्रयास किया। डा0 श्री कृष्ण सिन्हा संस्थान सभागार में नगर के प्रतिष्ठित साहित्यकारों को विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए आज के विश्व वैश्वीकरण, बाजारवाद, साम्राज्यवाद एवं कट्टरवादी सांप्रदायिकता के उभार तथा आतंकवाद के दुष्परिणामों पर चर्चा की।

प्रो0 अहमद बद्र ने जहाँ निराला और नजरूल के साहित्य

और जीवन में समानता की चर्चा की वहीं प्रो0 रिजवान वास्ती ने नजरूल के जीवन के कतिपय अंतरंग पहलुओं पर प्रकाश डाला। जलेस झारखण्ड के अध्यक्ष डा0 अली इमाम खाँ ने आज के संदर्भ में निराला और नजरूल की प्रासंगिकता तथा सामाजिक बदलाव में उनकी भूमिका का इंगित करते हुए कहा कि वे आज के साहित्यकारों को उन्होंने ऐसे लेखन की ओर प्रेरित किया जिससे सामाजिक बदलाव की दिशा तय की जाए और उस पर सार्थक क्रिया समन्वय हो।

कार्यक्रम के अध्यक्ष जलेस सिंहभूम के अध्यक्ष नंद कुमार उन्मन ने निराला और नजरूल के विद्रोही होने के परिवेश की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा कि एक कालजयी रचनाकार का स्वप्न सौंदर्यपूर्ण समतामूलक समाज का सृजन है। निराला और नजरूल के दृढ़ विचारों से ही तत्कालीन पुर्नजागरण को बल मिला था। दोनों ने रूढ़ परंपरा एवं सामाजिक विकृतियों के खिलाफ जोरदार प्रतिरोध किया। विषय प्रवर्तन करते हुए श्री शैलेन्द्र अस्थाना ने निराला और नजरूल के साहित्य संबंधी कई मुद्दे को रखा। श्री अरविन्द ने सामाजिक सरोकार की सन्दर्भ में क्रांति की भूमिका का उल्लेख साहित्य के संदर्भ में किया।

आगत अतिथियों का स्वागत जलेस सिंहभूम के संरक्षक श्री हरिबल्लभ सिंह आरसी ने किया। कार्यक्रम में श्रीमती ज्योत्सना अस्थाना, सुश्री ज्योत्सना एवं सोहेल द्वारा निराला के गीतों की प्रस्तुति की गई। श्रीमती चन्दना बनर्जी एवं श्री संजीत द्वारा नजरूल के गीतों को स्वर दिया। ख्यात कवियित्री गीतानूर ने नजरूल के गीत का बांग्ला अनुवाद प्रस्तुत कर जन समुदाय को अह्लादित किया।

कार्यक्रम का प्रभावी संचालन कवि श्री श्यामल सुमन ने किया, कवि श्री अशोक शुभदर्शी ने आगत अतिथि एवं जन समुदाय को धन्यवाद ज्ञापित किया।

प्रस्तुति : चन्द्रकान्त, आदित्यपुर

शब्द संकोच का समय

रीता रंजन

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा, हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ एवं 'शुरूआत' समिति के संयुक्त प्रयास से चण्डीगढ़ में समय, समाज और हिन्दी विषय पर राष्ट्रीय विमर्श का आयोजन किया गया। उद्घाटन वक्तव्य में डा0 शम्भुनाथ ने कहा कि हमें बाजार का नहीं बाजारवाद का विरोध करना चाहिए। बाजार में हिन्दी का प्रभुत्व बढ़ा है, इससे जहाँ हिन्दी के लिए अवसर के कई रास्ते खुले हैं वहीं चुनौतियाँ भी बढ़ी हैं। अगर बाजारवाद हावी हो गया तो समाज में तर्क की कमी हो जायेगी, संवेदना नहीं बचेगी परंपरा और आधुनिकता के उच्चतम मूल्यों का ह्रास होगा तथा मानवीय संबंधों का विस्थापन हो जाएगा। बीज वक्तव्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री धनंजय चोपड़ा ने प्रस्तुत किया। हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय के डा0 गुरमित ने विचार व्यक्त किये। प्रथम सत्र की अध्यक्षता श्री समीर माथुर ने की। सोनीपत के उपायुक्त श्री अजीत जोशी ने भी विचार व्यक्त किये। प्रथम सत्र की अध्यक्षता, हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा0 सत्यपाल सहगल ने की।

संगोष्ठी के द्वितीय सत्र का विषय था हिन्दी की जनता और जनता की हिन्दी। विषय प्रवर्तन दिल्ली से आये प्रख्यात पत्रकार श्री उर्मिलेश ने किया। स्त्री प्रश्न को उठाते हुए श्रीमती जयवंती श्पोकंद, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय के डा0 राम निरंजन, बीज वक्तव्य डा0 बैजनाथ प्रसाद ने प्रस्तुत किया।

तृतीय सत्र में 'हिन्दी की जनता और जनता की हिन्दी' विषय पर विषय प्रवर्तन करते हुए प्रख्यात पत्रकार श्री उदय सिन्हा ने किया। बहस का संचालन गोरखपुर विश्वविद्यालय के डा0 अनिल राय ने किया। संगोष्ठी की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हिन्दी विभाग के डा0 अशोक ने कहा कि हिन्दी हमारी परंपरा है, इसे ओढ़ने की बजाय जीने की ज़रूरत है। बहस में हस्तक्षेप करते हुए डा0 सिद्धार्थ शंकर तथा दैनिक भास्कर के श्री उत्तम सेन गुप्त ने विचार व्यक्त किये। हिन्दी विभाग के डा0 अशोक ने वक्तव्य प्रस्तुत किया। सत्र की अध्यक्षता करते हुए प्रख्यात लेखक श्री वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने कहा कि आज के विमर्श में उठते मुद्दे हिन्दी की कक्षाओं को नया स्वर देंगे।

चतुर्थ और आखिरी सत्र का विषय था ''पर्यावरण संरक्षण में हिन्दी साहित्य की भूमिका''। विषय प्रवर्तन करते हुए प्रसिद्ध लेखक श्री मैथिली प्रसाद भारद्वाज ने कहा कि साहित्य और पर्यावरण को लेकर सोनीपत में जो तरू यात्रा के माध्यम जागरण का कार्य किया गया है वह अनुकरणीय है। चर्चा के आरंभ में सोनीपत के जिला शिक्षा अधिकारी डा0 दिलबाग सिंह ने तरू यात्रा सोनीपत के सरजंभी के व्यापक अनुभव का साझा किया। श्रीमती अल्पना तथा डा0 नीरू ने भी विचार व्यक्त किये। चर्चा में उठे सवालों का जवाब देते हुए डा0 रमेश कुंतल मेघ ने कहा कि साहित्य में नये विषयों के आने से सृजन का द्वार खुलता है। आज की चर्चा से ऐसा हमें प्रतीत हुआ है। सत्र की अध्यक्षता प्रो0 नीरजा सूद ने की। समिति की सचिव श्रीमती रंजन ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

सचिव, शुरूआत समिति

कविवर नईम के लिए

नईम इतनी जल्दी चले जाएँगें, किसी को अंदाज़ा नहीं था। वे हिन्दी के बहुत अच्छे कवि थे। हिन्दी गीत-परंपरा के नेताओं में वे अग्रणी थे। हिन्दी के समकालीन कवि/ गीतकार या तो चुक गये या विदा हो गये किन्तु, नईम अपने समय की संवेदनाओं को समेटते हुए अपनी काव्य-यात्रा जारी रखे हुए थे।

नईम से मेरी मुलाक़ात तीस साल पुरानी थी। हिन्दी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में उनके गीत प्रकाशित होते थे। वे बहुत दिलचस्प व्यक्ति थे। उन्होंने, न तो कभी अपना जातीय परिचय दिया न पद ज़ाहिर किया। वे एक लंबे समय तक म0प्र0 के सरकारी महाविद्यालयों में पढ़ाते हुए अंत में प्राचार्य के पद से सेवानिवृत्त हुए। उसके बाद वे अपने पुश्तैनी घर देवास में बस गये। अपनी जड़ों से अंत तक जुड़े रहे। एक बार मैंने उनसे कहा–"आप दिल्ली या भोपाल क्यों नहीं रहते?" वे बोले–भाई, देवास की मिट्टी की गंध मुझे प्रिय है। महानगरों में मेरा मन नहीं लगता। मैं रह नहीं सकता।" उन्होंने जीवन के अंतिम समय तक अपनी काव्य-यात्रा जारी रखी। 'समावर्तन' के मार्च, 09 के अंक में उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। 'वर्तमान साहित्य' के फरवरी, 09 के अंक में उन्होंने दुष्यंत कुमार केन्द्रित अंक पर अपनी लंबी टिप्पणी की–

"इस बार का संपादकीय भाई कुँवरपाल सिंह ने बहुत प्रभावी लिखा है। पाँचवी-छठवीं में रहा होऊँगा कि पाकिस्तान बन गया। कुछ भाई-बहिन वहाँ चले गये। गाँवों पर उन दंगों का कोई असर नहीं था सो रिटायर्ड मुदर्रिस पिता भारत में ही रह गये। गोया तब से आजतक हम इस देश में प्रताड़ित होते रहे। सोच-व्यवहार से बांये बाजू का हो गया सो मुल्लाओं के लिये क़ाफ़िरों से गया गुज़रा और बहुमत के लिये नाम ही काफ़ी था। सो, दोनों दीन से गये पांडे, कलुआ बिके न बिके। एकबार तो आत्मकथात्मक गीत लिखकर अपनी चुनौती को पूरे दर्द से इज़हार करते हुए आडवाणियों और प्रज्ञाओं से साफ़-साफ़ कह दिया कि बार-बार मेरी नेकनीयती और प्रतिबद्धता पर प्रश्न-चिन्ह न लगाये जायें। मुझे नक़वी और सिकन्दर वख़्त न बनाया जाय। असग़र वजाहत और अब्दुल बिस्मिल्लाह होने पर लानत भेजी। अपनी योग्यता के आधार पर म0प्र0 शासकीय सेवा में रहा। प्राचार्य स्नातक महाविद्यालय से 1995 में रिटायर हुआ। गीत-विधा चुनी लेकिन रूमानी लिजलिजापन कभी नहीं रहा।

खुला ख़त पोस्टकार्ड लिख रहा हूँ। मुआफ़ी चाहूँगा मौजूदा मंदी और मँहगाई के मारे एक मुदर्रिस के लिये बचाव का एक यही रास्ता रह जाता है।"

उक्त पत्र तो संपादक के नाम है। उन्होंने, एक व्यक्तिगत पत्र मुझे लिखा था जिसमें, आतंकवाद और तालिबान की गतिविधियों पर चिंता जतायी थी। उन्होंने लिखा था-तालिबान भस्मासुर है, वह किसी को नहीं छोड़ेगा। पाकिस्तान की जो दुर्दशा है, उसका कारण है वहाँ का कमज़ोर जनतंत्र। हमारे यहाँ भी दिन-पर-दिन तालिबानी मानसिकता ज़ोर पकड़ रही है, हमारे यहाँ के तालिबानी भी पाकिस्तानी तालिबानों के भाई-बंधु हैं। हमें अपने यहाँ जनतंत्र और धर्म-निरपेक्षता को मज़बूत करना चाहिए। ये ही हमारी ढाल है। इनके मज़बूत होने से देश भी बचेगा और जनता की एकता सुदृढ़ होगी। हमारे देश के सांप्रदायिक लोग एक ऐसा निज़ाम बनाना चाहते हैं, जिससे अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान जैसे हालात पैदा हों।" उनके लंबे पत्र में चिंता और आक्रोश झलक रहा था। उन्होंने लिखा था-दिल्ली में साहित्यकार पढ़ते नहीं सुनते हैं। वे तय करके सुनते हैं कि किसकी सुनना है, किसकी नहीं । हिन्दी साहित्य का ऐसा बुरा समय शायद ही कभी आया हो। पत्र मिलने के दो-तीन दिन बाद, भोपाल से राम मेश्राम का फोन आया-नईम साहब हॉस्पिटल में हैं; 2-3 दिन से। मैंने पूछा-क्या हुआ ? उन्होंने बताया कि-नईम साहब को ब्रेन हैमरेज हुआ है। आई0सी0यू0 में हैं।" लगभग दो महीने से अधिक समय तक वे हॉस्पिटल में रहे, मौत से लड़ते रहे, अंततः हार गये और 07 अप्रैल, 09 को हमसे विदा हो गए।

नईम की एक और विशेषता थी। आज के समय में भी, जब फोन, ई-मेल, इन्टरनेट का युग है, वे हाथ से पत्र लिखते थे। उनका मानना था, जो बात हाथ के लिखे पत्र में है, वह फोन पर बात करने से या ई-मेल, फैक्स या इन्टरनेट में नहीं आती।

वनों को निर्वृक्ष होते देखना

वनों को निर्वृक्ष होते देखना, कितना कठिन है
देखना निष्प्राण होते वनों को, कितना कठिन है
एक क्रिया-कर्म की पूरी बुनावट
मौत की नज़दीक़ आती हुई आहट
वृक्ष-वध का दृश्य स्वर यह
देखना-सुनना कठिन है
छीनना रक्षा कवच छल से करण का
चश्मदीद गवाह हूँ अपने मरण का
आज तो साकेत में ही
देखना सीता हरण है
बसंती निष्पन्न हरियारे वनों को
भूमिका दें हरिजनों को, गिरिजनों को
पीठ पर इनके रखा जो
देखना किसका चरण है
क्रौंचवध से सवाये हैं दृश्य सारे
अपहरण हैं ये नहीं कोई स्वयंवर
ख़ून में लोहित कणों को
खोजना कितना कठिन है
आज भी इतिहास के जीवित कथानक
विन्ध्य हो या सतपुड़ा या अमरकण्टक
नर्मदा को अभय दो-
पाषाणपुत्रों की बहिन है।

फिर कब आएँगे ?

चिट्ठी-पत्री, खतो-किताबत के मौसम
फिर कब आएँगे ?
रब्बा जाने, सही इबादत के मौसम
फिर कब आएंगे ?
चेहरे झुलस गए, कौमों के लू-लपटों में
गंध चिरायंध की आती छपती रपटों में,
युद्ध-क्षेत्र से क्या कम है ये मुल्क हमारा,
इससे बदतर, किसी कयामत के मौसम
फिर कब आएंगे ?
हवालात-सी रातें, दिन कारागारों से,
रक्षक घिरे हुए चोरों से, बटमारों से,
बंदी पड़ी इजलास, जमानत के मौसम
फिर कब आएंगे ?
ब्याह, सगाई, बिछोह, मिलन के अवसर चूके,
फसलें चरे जा रहे पशु, हम मात्र बिजूके
लगा अंगूठा कटवा बैठे नाम खेत से
जीने से भी बड़ी, शहादत के मौसम
फिर कब आएंगे ?

0 0 0

जीना है गोल-मोल तो मरना सपाट है।
अपने से ही अये जीस्त मेरा दिल उचाट है।।

बस एक आदमी ही नहीं है तो क्या करें,
हिंदू हैं, मुसलमान हैं लोग सिक्ख जाट हैं।

लौटा हूँ अदालत से मैं अपना-सा मुँह लिये,
मुंसिफ़, वकील, मुजरिमों की साठ-गाँठ है।

दुनिया की तवारीख़ महज़ ताजोतख़्त की,
होरी[1] की चटाई न सलेमी की खाट है।

रेशम के बेशक़ीमती पहने हुए लिबास,
अपना तो ये खादी का लगे उनको टाट है।

उनकी उन्हें दिल्ली हो मुबारक़ गुरेज़ क्या,
लेकिन मेरा फ़िरदौस ये झाँसी वो राठ है।[2]

खुद को ही नज़र आयें न अपने ही ये सिर पैर,
पूरा वजूद आज मेरा बाराबाट है।

कातना किसके लिए, बेसूद फिर धुनना है क्या!
उठ गये चरखे ठिये करघे पे फिर बुनना है क्या!!

ये न था मेरा नज़रिया पर नज़ारों ने कि हाय,
आँख पर हमले किये तो कान से सुनना है क्या।

अपने होने का अगर अहसास ही जाता रहे,
पीरो-पैग़ंबर के जैसे आख़िरत बुनना है क्या ?

ख़ाक में क्यों फ़र्क़ करते ख़ाक की नस्लें नहीं,
क्या करांची और ढाका, आगरा, खुलना है क्या।

1. प्रेमचंद के 'गोदान' से, 2. भगवानदास मोरवाल के 'कालापहाड़' से

(कुँवरपाल सिंह)

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

2008-2009 के महत्वपूर्ण प्रकाशन

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित तथा 28, एम.आई.जी., अवन्तिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल सिंह

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

जून, 2009 ■ अठारह रुपये





सन्त कबीर

कबीर की 612वीं वर्षगाँठ पर

(06 जून 1398-1488 ई0)

स्मरण : कबीर वाणी

रमैनी

(1)

बोलना कासौ बोलिये रे भाई। बोलत ही सभ तत्तु नसाई।
बोलत बोलत बाढु बिकारा। सो बोलिये जो परै बिचारा।।1।।
मिलहिं संत बचन दुइ कहिये। मिलहि असंत मौन होय रहिये।।
पंडित सो बोलिये हितकारी। मूरुष से रहिये झषमारी।
कहंहि कबीर ई अध घट डौले। पूरा होय विचार लै बोलै।।3।।

(2)

ऐसा जोग न देषा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई।
महादेव को पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै।।1।।
हाट बजारे लावैं तारी। कंचा सीधा माया पियारी।
कब दत्ते मबासा तोरी। कब सुषदेव तोपची जोरी।।2।।
नारद कब बंदूक चलाया। व्यास देव कब बंब बजाया।
करहिं लड़ाई मति के मंदा। ई अतीत की तरकस बंदा।।3।।
भये विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावै बाना।
घोरा घोरी कीन्ह बटोरा। गांव पाये जस चलै करोरा।।4।।
सुन्दरी ना सोभै, सनकादिक के साथ।
कबहूं के दाग लगावै, कारी हांड़ी हाथ।।5।।

(3)

जो तुह करता बरन-बिचारा। जनमत तीनि-डांडि अनुसारा।
जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा। क्रितिम-जनेउ घालि जगधंधा।।
जो तुह ब्राह्मन बभनी के जाया। अवर राह दे काहे न आया।
जो तुह तुरक तुरुकनी क जाया।
पेटहि काहे न सुनति कराया।।2।।
कारी पिअरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु विलगाई।
छांड कपट नल अधिक-सयानी। कहंहि कबीर भजु सालंगपानी।

र्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

ापक सम्पादक
ूति नारायण राय

ादक
पाल सिंह ☐ नमिता सिंह

म्पादक
जय बिसारिया ☐ राजीवलोचन नाथ शुक्ल

य सम्पादक : राजीव श्रीवास्तव

ाहकार : वेद शर्मा, बीकानेर

ीय सहयोग : परवेज़ फ़ातिमा

ांकन : विसारत अली

ांकन : डॉ. रामेश्वर वर्मा, कानपुर, उ.प्र.

ीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

वर्ष 26 ☐ जून, 2009

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 • डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सम्पादकीय कार्यालय

28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001

टैलीफैक्स : 0571-2742038, 94122-72762, 9412501114

Web. : www.khabarexpress.com

Email : vartmansahitya@yahoo.com / vartmansahitya@gmail.com

सहयोग राशि : साधारण अंक : 18/-; ☐ वार्षिक : 200/-; ☐ संस्थाओं व लाइब्रेरियों के लिए 250/- ☐ आजीवन : 2000/- ☐ विदेशों में साधारण अंक : 4 डॉलर; वार्षिक : 60 डॉलर।

(सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/ड्राफ्ट 'वर्तमान साहित्य' के नाम से किए जाएँगे तथा सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजे जाएँगे। चैक से भुगतान करने पर तीस रुपये अतिरिक्त जोड़कर भेजें।)

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से, रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (9212796256) द्वारा मुद्रित तथा 28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।

इस अंक में

□

मार्च, 2009 का अंक। 'वर्तमान साहित्य' का 'नारी विषय पर केंद्रित अंक' सचमुच मानक बन गया है, नारी संबंधी डिस्कोर्स को लेकर। मैथिली प्रसाद भारद्वाज का लेख एक नये ऐतिहासिक वर्तमान का उद्घाटन करता है।

मैं काफ़ी अरसे से सोच रहा था कि लातिन अमेरिका में 'चे' से 'चावेज़' (शखेज) का छुरी बनाकर वहाँ के लालिन-अमेरिकी मार्क्सवादी समाजवाद की दिशा पर कुछ लिखूँ। वह लंबी यात्रा साईमन बोलिवार और जोस मार्ती से शुरू होकर पेरोन-एबिरा एलेन्दे, वास्त्रो तक आकर स्पीड पोस्ट पकड़ लेती है। आज अर्जेंटाइना चिली-पेरु-बोलिविया-ब्राज़ील-वेनेनजुएला, निकारागुआ आदि **NAM** के बाद छलाँग के लिए प्रस्तुत हैं। जिस तरह पाँचवे-छठे दशक में एशिया का कायांतरण हुआ था उसी तरह दसवें और इस नवें दशक में लातिन अमेरिका नवक्रांति ला रहा है। मार्क्सवाद नयी-नयी दिशाएँ ढूँढकर बढ़ता ही जा रहा है—नेपाल में, वेनेनजुएला में (बोलिविया) में।

किंतु कब लिख सकूँगा ? कम से कम दो-तीन माह तक नहीं। अब उम्र के साथ 'कुंतल' लँगड़ा भी है। फिर फरवरी 2008 में कांता के अकालचलाम के बाद तो आधा-अधूरा हो गया हूँ। फिर किताबें न तो जान पाता हूँ और न ही लाइब्रेरी के पुराने बासी शैल्फों को झाँक पाता हूँ। फिर भी हौसले बुलंद हैं।

रमेश कुंतल मेघ, पंचकूला (हरियाणा)

□

'वर्तमान साहित्य' के अंक बराबर मिल रहे हैं। आप और नमिता जी जिस लगन और परिश्रम से पत्रिका प्रकाशित कर रहे हैं, उसकी जितनी तारीफ़ की जाए कम है। हिन्दी को 'वर्तमान साहित्य' ने लोकप्रिय बनाया है, साथ ही एक बड़ा पाठक वर्ग भी पैदा किया है।

धर्मेंद्र, दिल्ली

□

'वर्तमान साहित्य' का अप्रैल, 2009 अंक हाथ में है। 'अपनी बात' में जिस जातीय संकीर्णता और विद्रूपता पर से आपने आवरण हटाया है, दुःखद यह है कि वह आज भी हमारे बीच विद्यमान है। चिंता का विषय यह है कि संकीर्णता नयी पीढ़ी में आ रही है। दलित-चिंतन पर केंद्रित यह अंक एक बार फिर कई सवाल खड़े करता है, जिनके उत्तर खोजने होंगे। इसी प्रश्न का उत्तर हीरा डोम की रचना चाहती है-

खंभवा के फारि पहलाद के बचवले जां।
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती दुरजोधना कै भइया छोरत रहे।
परगट होके तहां कपड़ा बढ़वले।
मरले खनवां के पलले भभिखना के।
कानी अँगुरी पै धैके पथरा उठवले।
कहवाँ सुतल बाटे सुनत व बाटे अब।
डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।

अंत में 'वर्तमान साहित्य' एवं उसके संपादकीय परिवार को बहुत सारी शुभकामनाएँ।

भोलानाथ कुशवाहा, मिर्ज़ापुर

□

'वर्तमान साहित्य' का अप्रैल अंक। अरविंदाक्षन की कविताएँ अच्छी लगीं। हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषा-परिषद को भी एक विशाल मंच प्रदान करने वाली एकमात्र पत्रिका 'वर्तमान साहित्य' है—इसमें कोई संदेह नहीं। ऐसा करके आपने इस पत्रिका को मात्र हिन्दी पत्रिका न रखकर अखिल भारतीय बना दिया है।

दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव, आंध्र प्रदेश

□

'वर्तमान साहित्य' अप्रैल-2009 अंक। अंबेडकर जयंती के अवसर पर दलित-चिंतन पर आधारित कई प्रकार की सामग्री पढ़ने को मिलीं, जो बहुत ही रुचिकर लगीं, जैसे ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'गोदान और दलित प्रसंग', संजय कुमार का 'कब दूर होगी दलित की शिकायत', कँवल भारती की 'लोक संस्कृति में दलित अभिव्यक्ति', हरपाल सिंह अरूष की 'दलित साहित्य का सामाजिक सौंदर्य'। ये सभी लोग दलितों की पीड़ा से हमें गहराई से परिचित करवाते हैं। ज़माना चाहे जितना आधुनिक हो, गया हो लेकिन आज भी लोग दलित को देखकर मुँह ज़रूर बनाते हैं। आज भी दलितों के अंदर अपने दलित होने का डर और हीनता-बोध बसा हुआ है। हालाँकि, दलित लेखकों ने इस पीड़ा को लेखनी से निकालना चाहा है, लेकिन पूर्णरूप से निकाल नहीं पाये हैं। लोगों के मन से भेद-भाव की भावना न जाने कब दूर होगी, स्वेच्छा से दलितों को न जाने कब लोग सहानुभूतिपूर्वक अपनाएँगे। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अगर किसी को आप अपनाना चाहते हैं, तो पूरी लगन, निष्ठा, स्वेच्छा, स्वतंत्रता से अपनाइए, अगर मन में ज़रा सी भी हो तो उसे न अपनाइए।

इसलिए, हमें अपने आस-पड़ोस, समाज में ही कोई ऐसा क़दम उठाना होगा, जो सार्थक और हर तरह के भेदभाव से रहित मानवीय संवेदनाओं को स्पर्श करने वाला हो। पुस्तक-समीक्षा में सुनीता साखरे का 'उधर के लोग : स्त्री-अस्मिता का प्रश्न' भी पठनीय रहा, जबकि इस पुस्तक पर समीक्षा निकल चुकी है, लेकिन हर समीक्षा की अपनी अलग बात होती है, उसमें कुछ न कुछ नये विचार जुड़ ही जाते हैं, इस वजह से वह फिर से पठनीय और मूल्याधारित बन जाती है। कविताएँ भी रुचिकर लगीं। कुँवरपाल सिंह की 'दलित विमर्श की सीमाएँ' में यह पंक्ति बिल्कुल सत्य है कि 'काम लेखन से नहीं होगा बल्कि व्यवहार में लाना होगा।'

जया सिंह, शोधछात्रा

□

'वर्तमान साहित्य' के क्रमश : नारी-विमर्श एवं दलित-चिंतन पर केंद्रित अंकों को अपने कुशीनगर प्रवास के दौरान पढ़ा।

मार्च अंक में अपनी बात में जो सवाल आपने उठाये हैं, उनका जवाब किसी के पास नहीं है। न ही पब बंद होंगे और न ही पुरुषवादी मानसिकता बदलने वाली है। डा0 दया दीक्षित का श्रद्धांजलि आलेख 'तुम अपनी याद से कह दो' डा0 सुमन राजे जी की याद को कभी भूलने नहीं देगा। बहुत सुंदर लिखा है। नित्यानंद तिवारी का लेख 'पद्मावत का सुआ संवाद खंड' स्त्री ज्ञानवर्धक है और नयी जानकारी देता है। सुषमा मुनींद्र की कहानी अच्छी लगी।

अप्रैल अंक में समय संवाद में 'दलित विमर्श की सीमाएँ' में डा0 साहब ने कई ऐसी बातों पर ध्यान आकर्षित किया है कि यदि सचमुच उन पर गंभीरता से विचार किया जाए तो प्रदेश ही नहीं, पूरे भारत की तस्वीर ही अलग होगी। दलित संदर्भ के अंतर्गत ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'गोदान और दलित प्रसंग' प्रेमचंद के प्रति दलित आलोचकों की 'गाँठ' खोलता है।

गोविन्द उपाध्याय, कानपुर

□

'वर्तमान साहित्य' अप्रैल 2009 का संपादकीय अच्छा लगा। व्यक्ति का आत्मविश्वास व दृढ़ संकल्प उसे मज़बूत बनाता है। यदि इरादे नेक हों, तो मंज़िल मिल ही जाती है।

माता प्रसाद का लेख 'दलित चेतना' समाज के व्यक्तियों को जाति-व्यवस्था में बाँटता है। जाति का विभाजन काल के साथ किया गया है। दलित साहित्य स्वयं एक आंदोलन है। संबोधन में ग0बा0 सरदार का 'दलित साहित्यकारों को विद्रोह का झंडा फहराना चाहिए', यह तो साहित्य का केंद्र बना हुआ है, जहाँ दलितों के बिना साहित्य में चर्चा ही अधूरी है। 'दलित शब्द' आज समाज का विद्रोही बना हुआ है। सैयद मुहम्मद असलम की ग़ज़लें अच्छी लगीं। शकील सिद्दीक़ी का लेख 'प्रतिरोध के नये क्षेत्र : साहित्य, दलित और मुस्लिम दलित' आज साहित्य दलित और मुस्लिम की चर्चा से अलग नहीं हैं। दोनों अपने-अपने वजूद की लड़ाई स्वयं लड़ रहे हैं। प्रेमचंद व निराला ने दलितों व पीड़ितों को साहित्य में संपूर्ण स्थान दिया है। दलित-साहित्य में संवेदना के अलावा चेतना ने सृजनात्मक कार्य किया है। गोपाल शर्मा का लेख 'वर्णवादी समाज व्यवस्था और दलित-विमर्श' के अनुसार सबसे पहले अंबेडकर ने आवाज़ उठायी कि दलितों को भी समाज में स्थान मिलना चाहिए। इसके लिए उन्होंने आंदोलन चलाया। वर्णव्यवस्था सिद्धों व नाथों के काल से चली। नवजागरण ने दलितों को साहित्य व समाज में स्थान दिलवाया। कमल चोपड़ा की कहानी 'दुर्गंध' समाज की स्वार्थी भावना को प्रस्तुत करती है। समय संवाद 'दलित विमर्श' की सीमाओं पर है, दलितों की सीमाएँ पहले ही सुनिश्चित थीं, लेकिन, आज समाज पर वह स्वयं हावी है, जहाँ पार्टीवाद व जातिवाद को बढ़ावा देने वाला हमारा वोट बैंक है, जिसके पीछे मासूम जनता को गुमराह करने के लिए अनेक षडयंत्र रचे जाते हैं। इन षडयंत्रों का संबंध पूँजीवादी व्यवस्था से है। अतः यह अंक दलितों की चर्चा से लबरेज़ है।

बीना सिंह, कानपुर

□

'वर्तमान साहित्य' के 2009 ई0 का अप्रैल अंक डा0 अंबेडकर जयंती के अवसर पर दलित चिंतन पर केंद्रित है। वर्ण-व्यवस्था के रोग को आपने सही ढंग से पहचाना, जब आपने अपनी बात में लिखा है कि 'हिन्दू वर्ण व्यवस्था का इतिहास, पश्चिम की रंग-भेद व्यवस्था से भी कहीं अधिक पुराना है', धर्म-सम्मत होने के कारण इसकी जड़ें समाज के अलावा मनोजगत के चेतना संसार में, अधिक गहरी धँसी हुई हैं। इस अंक में श्री सुभाष गाताड़े का लेख 'नये प्यादे पुरानी गुलामी' मुझे अधिक तर्कसंगत लगी। इस अंक के लिए आप को बधाई।

डा0 माता प्रसाद, पूर्व राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश

□

'वर्तमान साहित्य' अप्रैल 2009। कांग्रेस की भूमिका राजनीतिक स्तर पर ही रही। सामाजिक संरचनात्मक आंदोलन नहीं चलाए जा सके। विस्थापितों और दलितों का मोहभंग हो गया। मार्क्स-दर्शन विश्व-दर्शन है, अंबेडकर-दर्शन विश्व-दर्शन नहीं, यही कहना चाहते हैं मिश्र जी। डा0 अंबेडकर ने गोलमेज सम्मेलन में आवाज़ उठायी—''पश्चिम के नस्लभेद से ज़्यादा अमानवीय है, भारत में वर्णभेद और जातिभेद।'' डरबन सम्मेलन में भारतीय दलितों ने अपनी उपस्थिति दर्ज़ की वह वैश्विक नहीं? अमेरिकी हितैषी चंद्रभान के दिशा निर्देशन से दलितों का जहाज डूब जाएगा। अमेरिकापरस्त भारतीयों के हितसाधक चंद्रभान का स्वप्न-लोक फिल्मी नज़रिया है। सुभाष गाताड़े ने विभिन्न कोणों को खँगाला है। भारतीय व्यवस्था में इन्सानों को ज़िंदा जलाया जाता है, ख़ासकर महिलाओं को। इसे सतीरूप महिमामंडित करते हैं।

मुस्लिम समाज का जहाँ तक सवाल है, ख़तरा इस्लाम से नहीं, भाजी, मुल्ला, मौलवियों की ठेकेदारी से है। 'हिन्दू-मुस्लिम, मानसिकता' 'नंगा तलाई का गाँव' के ब्यौरे से समझी जा सकती है।

गोपालकृष्ण शर्मा भले ही अस्वीकार करें, पर यह अर्धसत्य नहीं। लेखांत में एकतरफ़ा ब्राह्मणवादी तर्क पेश किया। क्या ग़ैर दलितों को दलितों की स्वतंत्रता, अस्मिता के लिए स्वयं में आत्ममंथन, सामाजिक, सांस्कृतिक आंदोलन पर पहल नहीं करना चाहिए ? भविष्य में दलित-चेतना में गोलमटोल विचारक भी शामिल होंगे ? दुर्भाग्य होगा ? सूरजपाल की पकड़ गाँठ बाँधती है। शंबूक वध से ब्राह्मण बच्चे का जी उठना दलितों की सम्मानीय मानवीयता कही जायेगी, जो ब्राह्मणों में मिलती ही नहीं। जबकि 'भावुक' ने कथा के मिथक को क्षेपकरूपक सिद्ध कर दिया। संत दादू की शिक्षा-दीक्षा पर गंभीरता का विचारोत्तेजक खोजीय प्रभाव सुभाषराय के लेख में है। 'गोदान' को हिन्दी साहित्य की अमूल्यनिधि बताने वाले वाल्मीकि जी सिद्ध करते हैं कि 'गोदान' में गाय दान की प्रवृत्ति हिन्दू चरित्र का उत्पीड़न रूप है–''होरी के चरित्र का निर्माण प्रेमचंद ने आदर्शोन्मुखी किया है। यही प्रेमचंद की यथार्थवादी दृष्टि है, होरी की चिंता उत्पीड़न से मुक्त होने की बजाय, 'गोदान' करना, अपने जीवन को सफल बनाना है। होरी में वर्ग-चेतना नहीं, धर्म-चेतना है।'' (मुख्य धारा और दलित साहित्य'- ओमप्रकाश वाल्मीकि-सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ0 151-152)। हीराडोम की शिकायत जायज़ है। नाजायज ईश्वरीय बूते की बात नहीं। कुँवरपाल जी सच्चा-सच्चा उगलते हैं। दलित-विमर्श में कमल चोपड़ा ने सिद्ध किया कि मनोचिकित्सा आवश्यक है। संपादकीय कहानी सभी महिलाओं को प्रेरित करेगी, संभावना है। अच्छे अंक संपादन हेतु बधाई।

यशवंत मेश्राम, राजनांदगांव

□

'वर्तमान साहित्य' के मई, 2009 के संपादकीय में हिन्दू समाज की जाति-प्रथा तथा उसके साथ जुड़ी छुआ-छूत, ऊँच-नीच आदि बुराइयों को अच्छे ढंग से उठाया है। मेरा निवेदन है कि दलित-समाज के सामाजिक जीवन में जो कुप्रथाएँ हैं, उनका विश्लेषणपरक लेख अगर प्रकाशित किया जाए, तो पाठकों के ज्ञान में वृद्धि होगी। पुरुष काम करने से बचते हैं, रोज़ शराब पीते हैं, बच्चों तथा स्त्रियों को पीटते हैं तथा भद्दी-भद्दी गालियाँ देते हैं। स्त्रियाँ कमरतोड़ मेहनत करती हैं तथा परिवार का जीवन जैसे-तैसे खींचती हैं। बच्चों को पढ़ाने में पर्याप्त रुचि नहीं होती है। समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता को बदलने के लिए कैसे इच्छा जगायी जा सकती है? इनकी परिस्थितियों में बदलाव लाने के लिए एक ज़मीनी योजना भी बनाने की आवश्यकता है।

शांति स्वरूप गुप्ता, अलीगढ़

□

'वर्तमान साहित्य' मार्च, 2009 का स्त्री विशेषांक 'स्त्री चर्चा' से लबरेज़ है। संपादकीय स्त्रियों की स्थिति से अवगत कराता है। स्त्री कभी धर्म के नाम पर ठगी, तो कभी परिवार के नाम पर, कभी समाज के नाम पर। स्त्री ने ही हमेशा आत्म-समर्पण किया। स्त्री-विमर्श किसी एक की लड़ाई नहीं है, बल्कि यह स्त्री जाति के अधिकारों की लड़ाई है। डा0 दया दीक्षित का स्मरण 'तुम अपनी याद से कह दो' अनजाने ही उमड़ती अनेक भावनाओं को सीख में बदल गया। सुषमा मुनीन्द्र की कहानी 'अपना ख्याल रखना' आधुनिक यंत्रीकरण व विज्ञान को दर्शाती है। अनीता पंडा की कहानी 'मुट्ठी भर रेत' जीवन के विखराव को रेत की तरह ही बयान करता है, क्योंकि व्यक्ति को पता ही नहीं चलता कि किस तरह से रेत की फिसलन जैसा जीवन भी कब उसके हाथ से फिसल जाता है। वह संघर्ष करता रह जाता है। विमला सिंह की ग़ज़लें अच्छी लगीं। सुधा अरोड़ा का लेख 'औरत ही क्यों डायन और पागल ठहरायी जाती है' को पढ़कर गीता की पुस्तक 'स्त्री आकांक्षा के मानचित्र' याद आ गयी। सच है समाज में लोग अंधानुकरण करते हुए सारे नियम स्त्री पर ही थोप देते हैं। यह व्यंग्य है समाज पर... अलका पांडेय का लेख 'पितृसत्ता और प्रेम-विवाह 'पुरुष सत्ता को दर्शाता है कि विवाह हो या प्रेम-विवाह कुछ ही समय बाद पुरुष अपनी पितृसत्ता का ठप्पा लगा ही देता है।

विनीता रघुवंशी की कहानी 'रामवती' संपूर्ण स्त्री-जाति को अपने अधिकारों के प्रति सचेत करती है। स्त्री को स्वयं के लिए समाज में, परिवार में संघर्ष करना ही पड़ेगा, तभी कुछ हो सकता है। नमिता की पुस्तक समीक्षा 'संघर्षशील औरतों की दास्तान' अनेक वर्ग की स्त्रियों की स्थिति से रु-ब-रु कराती है। समय संवाद भगत सिंह के आचरण पर चलने के लिए प्रेरित करता है। किसी भी महापुरुष को पढ़ना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना उनके आदर्शों को मानना।

बीना सिंह, कानपुर

□

मार्च, 2009 का 'वर्तमान साहित्य' हृदय को स्पर्श कर स्थायी भाव छोड़ गया। मुख पृष्ठ पर 'यथा नाम तथा गुण' चरितार्थ है–''नारी-विमर्श पर केंद्रित अंक।''

शिवानी उप्पल की कहानी 'उड़ान भरते' में नलिनी की व्यथा मन-प्राण को छू गयी। साधारणतः नलिनियाँ पिता की मृत्यु के उपरांत स्वार्थ त्यागकर घर को सँभालती हैं, भाई-बहनों को पिता के दिवंगत होने का अहसास नहीं होने देती हैं–मर-खपकर परिवार तथा समाज के उदाहरण बन जाती हैं। पर, इस कहानी की नायिका नलिनी को परिवार के सभी सदस्य, यहाँ तक कि माँ भी; उसे निचोड़ना ही चाहते हैं। परिवार के लिए सर्वस्व न्योछावर करने वाली नलिनी क्या स्वच्छंदता

के साथ जी नहीं सकती ? नलिनियों का दुर्भाग्य तो देखिए, नौकरी में प्रमोशन पाकर तबादला होकर दिल्ली जाते समय नलिनी अकेली है। परिवार के सभी सदस्य अनुपस्थित रहकर उससे मुँह मोड़ लेते हैं। 'अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी–' पर नलिनी तो आर्थिक रूप से सबला है। फिर भी...

'विरासत' में पर्ल बक के संबंध की जानकारियाँ देकर विजय शर्मा ने सराहनीय कार्य किया है। पुत्री-प्रेम में सर्वस्व न्योछावर करने वाली इस्पात चरित्र नारी की मनोदशा का चित्रण कर पर्ल बक के पर्ल-चरित्र को पाठकों के सम्मुख ला रखा है। पर्ल बक का सुदृढ़ व्यक्तित्त्व लोगों को सर्वदा प्रेरणा देता रहेगा।

'पहाड़ पर प्रश्नचिह्न' शीर्षक कविता में हरीश कुमार वर्मा ने वर्तमान समाज की ज्वलंत समस्या को फिर से उठाया है। इसी पत्रिका में पहले प्रकाशित निर्मला पुतुल की कविताओं (संथाली से हिन्दी में अनूदित) की याद ताज़ा हो जाती है। अंत में, नमिता सिंह जी की 'अपनी बात' और कुँवरपाल सिंह जी का 'समय संवाद' पत्रिका के प्रत्येक अंक के प्राण हैं।

हीरालाल मिश्र,प0 मेदिनीपुर (प0बंगाल)

□

'वर्तमान साहित्य' के मार्च अंक में 'समय संवाद' के अंतर्गत 'भगत सिंह से एक मुलाक़ात' नामक आपका साक्षात्कार आलेख बहुत पसंद आया। इस दौर में भगत सिंह से आपके प्रश्न और भगत सिंह द्वारा दिये गये उत्तर सटीक हैं। गांधी के संबंध में भगत सिंह से आपके प्रश्न और उनके उत्तर उन लोगों को जवाब देते हैं, जो जानबूझकर गांधी और भगत सिंह के मतभेदों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं और भगतसिंह की फाँसी के लिए गांधी को ज़िम्मेदार मानते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि जब भी भगत सिंह पर चर्चा चलती है, तो भगत सिंह को महात्मा गांधी का विरोधी सिद्ध करने की कोशिश की जाती है। दरअसल, समाज का एक वर्ग भगत सिंह को उग्र राष्ट्रवादी के तौर पर प्रस्तुत कर अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है। गांधी की अहिंसा की सीख इन बुद्धिजीवियों को अपनी राह में अवरोधक लगती है, इसलिए महात्मा गांधी को पीछे धकियाकर भगत सिंह को मोर्चे पर खड़ा करना इनकी मजबूरी है। आमतौर पर, हमारे समाज में यह एक भ्रम है कि महात्मा गांधी और भगत सिंह एक दूसरे के धुर विरोधी थे। दरअसल, हम भगत सिंह और गांधी को पढ़ना नहीं चाहते हैं और इस मुद्दे पर अपने पूर्वग्रहों को ऊपर रखकर बात करते हैं। इस आलेख के माध्यम से आपने इन पूर्वग्रही लोगों को करारा जवाब दिया है, अतः आप बधाई के पात्र हैं।

रोहित कौशिक, मेरठ

सदस्यों से निवेदन

1. 'वर्तमान साहित्य' के सदस्यों से निवेदन है कि जिनकी वार्षिक सदस्यता का चंदा समाप्त हो गया है, वे कृपया अपना नवीनीकरण तुरंत कराएं।
2. मनीऑर्डर द्वारा सदस्यता राशि भेजने पर अपना नाम व पता स्पष्ट अक्षरों में अवश्य लिखें।

'वर्तमान साहित्य' पत्रिका के लिए ई-मेल कर सकते हैं–

vartmansahitya@yahoo.com vartmansahitya@gmail.com

अपनी बात

'समाज कल्याण' शब्द आज के सभ्य, सुसंस्कृत समाज की मानो आत्मा है। आज के राजनीतिक परिदृश्य में समाज कल्याण और इससे जुड़े कार्यक्रम आधुनिक लोकतंत्रवादी व्यवस्था की प्राणवायु के समान हैं। विकास के लिये समाज हेतु कल्याणकारी कार्यक्रमों के बल पर और उसके लिये दिये गये आश्वासनों के जरिये ही देश में हुए चुनावों में विभिन्न राजनैतिक दलों को जनता ने अपना मत दिया है, समर्थन दिया है और आश्वस्ति हासिल की है।

क्या सचमुच देश और प्रदेश की राजधानियों में बैठे लोग समाज कल्याण के लिये उतने ही संवेदनशील हैं, उतने ही प्रतिबद्ध हैं जितना कि प्रचार किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि स्थिति इसके विपरीत है तो शायद कोई विश्वास नहीं करेगा। दरअसल ये कार्यक्रम जिस स्तर पर चलाये जाते हैं या जिन लोगों के लिये चलाये जाते हैं वे साधारणतः ऐसे समूहों से आते हैं जिनकी अपनी कोई आवाज़ नहीं होती, निजी पहचान नहीं होती।

यह बात इस समय इसलिये भी याद आ रही है कि अभी अभी लोकतंत्र के राष्ट्रीय अनुष्ठान के रूप में पूरे देश में चुनाव संपन्न हुये हैं। विभिन्न राजनैतिक दलों ने यह चुनाव सामाजिक विकास के नाम पर लड़ा है। जनता ने भी विकास में सहायक बने दलों और नेताओं के कामों पर, आश्वासनों पर हीं मुहर लगाई है।

महिला और बाल कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के रूप में कार्य करने वाला विभाग इसका एक उदाहरण है। स्त्री कल्याण और बाल कल्याण की विभिन्न योजनाओं का संचालन इस विभाग के द्वारा ही होता है। इसके अंतर्गत प्रदेशों में भी राज्य समाज कल्याण बोर्डों का गठन किया गया जो केन्द्र से प्राप्त अनुदान को सभी जिलों में कल्याणकारी योजनाओं के लिये उपलब्ध कराते हैं और विभिन्न योजनाओं का संचालन करते हुये इस लोकतांत्रिक कार्यक्रम की प्रक्रिया में सहायक होते हैं। लगभग पच्चीस साल पहले महिला और बाल समाज कल्याण मंत्रालय ने समाज कल्याण बोर्ड की सहायता से प्रदेश के जिलों में परिवार परामर्श केन्द्रों की स्थापना की थी। इनका उद्देश्य घरेलू हिंसा से उत्पन्न महिलाओं की पारिवारिक समस्याओं के हल करने में सहायता करना था। विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से जिलों में यह परिवार परामर्श केन्द्र चलाये जा रहे हैं। आज भी हमारे समाज में यदि महिला परिवार के स्तर पर पीड़ित है तो वह न्याय के लिये कहां जायेगी ? कहाँ से उसे सामाजिक और कानूनी सहायता मिलेगी, संरक्षण मिलेगा। पुलिस, थाना और कोर्ट कचहरी... अकेली प्रताड़ित महिला के लिये आसान नहीं है। वहाँ तक पहुँचना भी आसान नहीं। उसके लिये सबसे पहले हिम्मत चाहिये। फिर पैसा चाहिये। कोई साथ देने वाला, सहारा देने वाला चाहिये। पुलिस-थाना के नाम से वैसे ही आदमी घबरा जाता है। परिवारीजन अपने ही खिलाफ क्यों कर किसी महिला की मदद करने लगे। रह गये मायके वाले। परिवार के स्तर पर पीड़ित महिला का एकमात्र सहारा मायके में माँ-बाप या भाई रह जाते हैं। अब वे मदद करने में कितना सक्षम होंगे, कितनी दूर तक सहमत होंगे। मामला यहाँ भी पैसे पर जा अटकता है। एक बार दान-दहेज देकर डोली बिदा कर दी। अब बेटी जाने या बेटी, 'भाग्य' जाने।

ऐसी पीड़ित महिलाओं को ये परिवार परामर्श केन्द्र मुफ़्त सहायता प्रदान करते हैं। राज्य समाज कल्याण बोर्ड से परिवार परामर्श केन्द्रों को अनुदान राशि प्राप्त होती रही है। यद्यपि यह अनुदान बहुत बड़ी धनराशि नहीं होती लेकिन फिर भी यह एक बड़ी योजना थी जो बेहद सफल हुई थी। हमारे जिले में जिस सामाजिक संस्था से मैं जुड़ी हुई हूँ, वहाँ लंबे अर्से से परिवार परामर्श केन्द्र काम कर रहा है, जहाँ पारिवारिक विवादों और घरेलू हिंसा के कारण पैदा होने वाली समस्याओं के हल के लिये औरतों को मुफ़्त सहायता प्रदान की जाती है। परिवारीजनों और पति द्वारा मारपीट, दुर्व्यव्हार, शारीरिक-मानसिक प्रताड़ना, दहेज के कारण उत्पन्न घरेलू हिंसा के प्रकरण हमारे परिवार परामर्श केन्द्र में लगातार आते रहे हैं और उनका निदान भी होता रहा है। इस काम के लिये क्योंकि कोई फीस नहीं ली जाती, इसलिये ग़रीब महिलाओं के लिये अथवा उनके परिवार के लिये यह बहुत बड़ा संतोष का विषय रहा है। ये केन्द्र ज़रूरत पड़ने पर मुफ़्त कानूनी सहायता भी प्रदान करता है। जो पीड़ित महिला और उसको समर्थन दे रहे उसके माँ-बाप को वकील और कोर्ट कचहरी के लंबे चौड़े खर्चे से बचाता है। आज भी हमारे देश की न्यायिक प्रक्रिया इतनी जटिल और खर्चीली है कि लोग ज़िंदगी भर मुकद्दमा लड़ते रहते हैं और न्याय नहीं मिल पाता। या फिर न्याय की उम्मीद में लड़ते-लड़ते कंगाल हो जाते हैं। ऐसे में ये परिवार परामर्श केन्द्र सचमुच ग़रीब और असहाय

महिलाओं की समस्याओं के निवारण के लिये बेहतरीन काम करते रहे हैं। आपसी बातचीत द्वारा पति-पत्नी के बीच समझौता कराना, हालात सुधरने की जहाँ गुंजाइश न हो वहाँ तलाक कराना, ज़रूरत के अनुसार थाना-पुलिस में रिपोर्ट दर्ज़ कराना, महिलाओं के भरण पोषण की व्यवस्था कराने में मदद करना और इन प्रक्रियाओं को क़ानूनी जामा पहनाना, इन परिवार मरामर्श केन्द्रों की कार्य प्रणाली का हिस्सा रहा है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन केन्द्रों में जो परामर्शदात्री कार्यरत हैं उनको मानदेय के रूप में बेहद मामूली राशि ही समाज कल्याण बोर्ड आवंटित करता रहा है। पूरी शैक्षिक योग्यता रखने वाली और प्रशिक्षित परामर्श दात्रियाँ अपना पूरा समय, ड्यूटी के रूप में देती हैं। एक समाज सेवा का भाव ही इस काम के लिये प्रमुख रहा है। केवल तीन वर्ष पहले केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने राज्यों को आबंटित धनराशि में वृद्धि का प्रस्ताव स्वीकार किया ताकि परामर्शदात्रियों को एक न्याय संगत न्यूनतम मानदेय दिया जा सके। यह प्रस्ताव उत्साहवर्धक और संतोषजनक था। विडंबना यह है कि पिछले दो वर्षों से परामर्श केन्द्रों को कोई धनराशि ही आबंटित नहीं हुई। राज्य समाज कल्याण बोर्ड कहता है कि केन्द्र से पैसा नहीं मिल रहा है। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड कहता है कि मंत्रालय ने ही आबंटित धनराशि देना बंद कर दिया है। अब महिला और बाल कल्याण मंत्रालय से कौन पूछे कि यह धनराशि क्यों नहीं प्रदान की जा रही है ! मंत्रालय के मंत्री औऱ अधिकारी बड़े लोग हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्ष से लेकर अधिकारी भी चुप बैठे हैं। उनको कोई समस्या नहीं है।

परिणाम स्वरूप परिवार परामर्श केन्द्र बंद होने की कगार पर हैं। महिला विमर्श की जब हम बात करते हैं तो लगातार घरेलू हिंसा और पारिवारिक प्रताड़ना के बिन्दुओं पर बहस होती है। बहस, कहानी या लेख लिखने भर से हालात नहीं सुधरते। व्यावहारिक तौर पर मदद कर सकने वाली संस्थाओं तक महिला को पहुँचाना भी ज़रूरी है जहाँ उसे सहायता मिल सकती है, न्याय मिल सकता है। हमारा सत्ता-प्रतिष्ठान सामाजिक आंदोलनों से उत्पन्न चिंतन के माध्यम से ऐसी योजनाएँ तो बनाता है जो कागजी तौर पर उसके सरोकारों और चिंताओं को दिखाती है लेकिन व्यावहारिक स्तर पर उदासीनता उसी जड़ व्यवस्था को स्थापित करती है जो संवेदनहीनता से उपजी हुई होती है।

इसी समाज कल्याण मंत्रालय ने लगभग पच्चीस वर्ष पहले ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल कल्याण केन्द्रों की परियोजनाओं की शुरूआत की थी। इन केन्द्रों में महिला सशक्तीकरण के कार्यक्रम चलाये जाते थे। बच्चों के स्वास्थ्य और शिक्षा के कार्यक्रम भी ये ग्रामीण परियोजना केन्द्र संचालित करते थे। महिलाओं को व्यवसायिक रोजगार के लिये प्रशिक्षित करना, बच्चों को शिक्षा की ओर उन्मुख करने के साथ-साथ उनके परिवारों को भी प्रेरित करना, इन केन्द्रों के कार्यक्रमों का हिस्सा था। हमारे जिले में तेरह ऐसे केन्द्र थे जो सफलतापूर्वक संचालित हो रहे थे।

परियोजना कार्यक्रम जब सफल होने लगे तो धीरे-धीरे अनुदान मिलने बंद हो गये। यह आज किसी से छिपा नहीं है कि अनुदान प्राप्त करना भी आज व्यक्तिगत कौशल ही नहीं, संस्थाओं के रवैये पर निर्भर करता है कि वे उसके लिये कितना खर्च कर सकते हैं। यह दुर्भाग्य कहा जाय या सौभाग्य कि हमारी संस्था ने उन भ्रष्ट रास्तों पर चलना मंजूर नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों के सभी परियोजना केन्द्रों को बंद करना पड़ा। इससे हमारी संस्था के सदस्य और केन्द्र से जुड़े गांव के लोग तो दुखी हुये, लेकिन राज्य-केन्द्र पर आसीन लोगों की मुद्राओं में अंतर नहीं आया।

राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, राज्य स्तर पर भी समाज कल्याण के लिये योजनाएँ तो बनती हैं, शुरूआत होती है, अच्छे नतीजे आने शुरू होते हैं लेकिन फिर वे आपसी उठा पटक और न जाने कैसे-कैसे राजनैतिक और अक्सर व्यक्तिगत दबाव के कारण बंद हो जाती हैं या अप्रभावी बना कर घूरे पर डाल दी जाती हैं। ज़रूरत है कि राज्य व्यवस्था जो समय-समय पर छोटे-छोटे दीपक जलाती है, उसमें तेल-बाती पड़ती रहे। तभी समाज व्यवस्था भी उसकी रोशनी को बनाये रखेगी। आखिर उधार ली हुई रोशनी कितने दिन की होती है। वंचित समूह के रूप में औरतों और बच्चों की बहुत बड़ी संख्या हमारे समाज में है। मात्र बौद्धिक विमर्श और कागज़ों पर उतारे गये नियम कानून व्यर्थ हो जाते हैं अगर उनके व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान न दिया जाय। कल्याणकारी योजनाओं के लिये नये रास्तों की तलाश ज़रूरी है। लेकिन जो रास्ते-पगडंडिया हम पहले ही बना चुके हैं, उसे तो चलने योग्य बनाये रखें। दरअसल वंचित वर्ग के लिये व्याप्त एक मानसिक उदासीनता और संवेदनहीनता को दूर करना बहुत ज़रूरी है। तभी 'समाज-कल्याण' जैसे साधारण शब्द लोकतंत्र की आत्मा को जीवित रख सकते हैं।

हाल ही में लोकतंत्र का महायज्ञ संपन्न हुआ है और इस अवसर पर 'सामाजिक विकास' के मुद्दे पर बहुत चर्चा हुई है इसलिये इस अंधेरे की ओर इंगित करना आवश्यक लगा। आशा है नयी केन्द्रीय सरकार इस ओर ध्यान देगी।

नमिता सिंह

(नमिता सिंह)

विष्णु प्रभाकर : एक अप्रतिम गद्यशिल्पी

सुनील विक्रम सिंह

विष्णु प्रभाकर का नाम लेते ही हमारे मानस पटल पर एक-ऐसे साधक और महान शब्द शिल्पी की विराट छवि अंकित हो जाती है जिसने हिन्दी गद्य की लगभग हर विधा में विपुल मात्रा में ग्रंथों का प्रणयन करके एक मिसाल क़ायम की है। विष्णु जी मसिजीवी थे और लगभग 76 साल की साहित्य साधना में उन्होंने लगभग 160 ग्रंथों का सृजन किया। हिन्दी गद्य-साहित्य में राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और रामविलास शर्मा के बाद विष्णु प्रभाकर ने विपुल मात्रा में सृजन किया है। लेखन के प्रति उनकी ऐकांतिक निष्ठा हमें विस्मित करती है। उनकी विराट रचना यात्रा को देखते हुए यह निर्णय करना मुश्किल है कि किस विधा का प्रतिनिधि रचनाकार माना जाए।

विष्णु प्रभाकर के समग्र लेखन का मूल्याँकन एक लेख में संभव नहीं है। हिन्दी का सामान्य पाठक विष्णु प्रभाकर को 'आवारा मसीहा' के लेखक के रूप में जानता है। उनके निधन पर प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के सारे माध्यमों ने उनका परिचय 'आवारा मसीहा' तक ही सीमित रखा। निःसन्देह 'आवारा मसीहा' जीवनी-साहित्य में मील का पत्थर है लेकिन उनकी अन्य श्रेष्ठ रचनाओं का मूल्याँकन न करके हम उनके साथ नाइंसाफी करते हैं। एक आश्चर्यजनक बात यह है कि बंगला के अमर कथा शिल्पी शरत चन्द्र को आवारा मसीहा कहने वाले विष्णु प्रभाकर का व्यक्तित्व शरत चंद्र के ठीक विपरीत है। शरत चंद्र का व्यक्तित्त्व बोहेमियन था जबकि विष्णु प्रभाकर का गांधीवाद से ओतप्रोत था। विष्णु प्रभाकर ने अपने पारिवारिक दायित्त्व का बखूबी निर्वाह करते हुए एक सुव्यवस्थित ज़िंदगी को जिया जबकि शरत चन्द्र का पूरा जीवन अव्यवस्था और अराजक स्थिति में बीता।

विष्णु प्रभाकर ने बंगला भाषा के अत्यंत लोकप्रिय कथाकार शरत चन्द्र की जीवन 'आवारा मसीहा' लिखी। शरत चन्द्र की जीवनी लिखना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था। जीवनी लेखक के लिए ज़रूरी है कि उसके पास चरित नायक के संबंध में वैज्ञानिक ज्ञानकारी उपलब्ध हो। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य जगत में यह मान्यता प्रचलित है कि अच्छी जीवनी लिखने के लिए चरित नायक का लेखक से संसर्ग आवश्यक है। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. जानसन ने लिखा है, "वही व्यक्ति किसी की जीवनी लिख सकता है जो उसके साथ खाता-पीता, उठता बैठता और बोलता बतियाता हो।" विष्णु प्रभाकर डॉ0 जानसन के विचार से सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि चरित नायक से दूरी वस्तुपरक दृष्टि देने में सहायक होती है। विष्णु प्रभाकर ने शरत चन्द्र की जीवनी लिखने के चुनौतीपूर्ण काम को स्वीकार किया। इस ग्रंथ को विष्णु जी ने तीन खंडों में विभक्त किया है–

दिशाहारा, दिशा की खोज तथा दिशांत। इस पुस्तक की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि इस पुस्तक में विष्णु प्रभाकर ने शरत चन्द्र की कहानियों और उपन्यासों की रचना प्रक्रिया का विवेचन किया है। ऐसा करके विष्णु प्रभाकर ने जीवनीकार के साथ-साथ एक समीक्षक के उत्तरदायित्व का भी निर्वाह किया है। एक दूसरी भाषा के रचनाकार की सबसे प्रमाणिक जीवनी के लिए चौदह वर्षों का श्रमसाध्य समय लगाकर विष्णु प्रभाकर ने अपनी ऐकांतिक साधना और गंभीर साहित्य निष्ठा का परिचय दिया है। आज हिन्दी साहित्य में ऐसे साधक रचनाकार दुर्लभ हैं। 'आवारा मसीहा' के नामकरण पर भी विचार कर लेना ज़रूरी है। 'आवारा मसीहा' नाम को लेकर विष्णु प्रभाकर आश्वस्त हैं। बकौल विष्णु प्रभाकर "आवारा के सामने दिशा नहीं होती। जिस दिन उसे दिशा मिल जाती है, उसी दिन वह मसीहा बन जाता है।"

जीवनी विधा में विष्णु प्रभाकर जी की अन्य पुस्तकें हैं-'अमर शहीद भगत सिंह' (1976) 'सरदार वल्लभ भाई पटेल' (1976) 'स्वामी दयानंद सरस्वती' (1987) 'स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती' (1987) 'सहित्य अकादमी' के भारतीय साहित्य के निर्माता शृंखला के अंतर्गत आपने काका कालेलकर की जीवनी लिखी है।

हिन्दी गद्य की प्रमुख विधाओं में यदि कोई विधा सबसे उपेक्षित रही है, तो वह है-नाटक। प्रसादोत्तर हिन्दी नाटककारों में प्रमुख नाटककार हैं- हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र, मोहन राकेश, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चन्द्र माथुर, भीष्म साहनी तथा लक्ष्मी नारायण लाल। हिन्दी नाटक का दुर्भाग्य है कि न तो उसको अच्छा रंगमंच मिल सका और न नाटक-समीक्षक विष्णु प्रभाकर आकाशवाणी से भी जुड़े रहे

लिए इन्होंने लगभग 200 रेडियो नाटक लिखे हैं। इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के बाद सबसे अधिक नाटक विष्णु प्रभाकर ने ही लिखे हैं। विष्णु प्रभाकर द्वारा सृजित नाटकों के नाम हैं- 'नवप्रभात', 'समाधि', 'डॉक्टर', 'युगे युगे क्रांति', 'टूटते परिवेश', 'टगर', 'वन्दिनी', 'सत्ता के आर पार', 'श्वेत कमल', 'केरल का क्रांतिकारी', 'कुहासा और किरण', इत्यादि। विष्णु प्रभाकर के समग्र साहित्य का केन्द्रीय तत्व है- मनुष्य की खोज। अपने नाटकों में भी विष्णु प्रभाकर ने मनुष्यता की खोज की है। 'श्वेत कमल' नाटक की भूमिका में विष्णु प्रभाकर जीने लिखा है :-

"जहाँ तक मानव मूल्यों का प्रश्न है, मनुष्य के मन का प्रश्न है, हम कुछ पीछे लौटे लगते हैं। सभ्यता ने इन्सान को समझदार नहीं बनाया है, केवल नासमझी के कारण को कुछ परिवर्तित कर दिया है।"

"डॉक्टर" विष्णु प्रभाकर का बहुचर्चित नाटक है। 1961 में प्रकाशित यह नाटक एक मनोवैज्ञानिक समस्या पर आधारित है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों की तरह इस नाटक में अंक और दृश्य दोनों का संयोजन है जबकि मोहन राकेश के दोनो प्रमुख नाटकों "आषाढ़ का एक दिन" और "लहरों के राजहंस" में अंक के अंदर दृश्य का विधान नहीं है। तीन अंकों का यह नाटक डॉ. अनीला के अंतर्द्वंद्व की गाथा है। नाटक का कथानक रोचक है। इस नाटक की नायिका डॉ. अनीला का पूर्व नाम मधुलक्ष्मी है। अपने इंजीनियर पति सतीश चन्द्र शर्मा द्वारा परित्यक्त होने पर मधुलक्ष्मी अपने भाई के सहयोग से डॉक्टर बनती है। कथानक में नाटकीय मोड़ तब आता है जब उसका पति सतीश चन्द्र शर्मा अपनी बीमार पत्नी को लेकर उसके नर्सिंग होम में भर्ती करने आता है। यही से शुरू होता है घृणा और कर्तव्य का अंतर्द्वंद्व। डॉ. अनीला उस मरीज को कभी मारने की इच्छा करती है, कभी बचाने की। प्रेम और घृणा के अंतर्द्वंद्व को बखूबी समझने के लिए डॉ. केशव और डॉ. अनीला के बीच का वार्तालाप पठनीय है। ऑपरेशन थियेटर में ऑपरेशन करने से पूर्व डॉ. अनीला के अंतर्द्वंद्व को विष्णु प्रभाकर ने निम्नलिखित शब्दों में यूँ व्यक्त किया है :-

"डॉ. अनीला। शबास, यह सुनहरा अवसर है। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। अपना बदला लो, नारी के अपमान का बदला चुको। मैं मधुलक्ष्मी हूँ, मुझे भूलो मत। मैं पुरुष को तड़पते देखना चाहती हूँ।

घृणा और कर्तव्य के द्वंद्व में कर्तव्य की विजय होती है। भारतीय नाट्य शास्त्र में अंतर्द्वंद्व का विधान नहीं हैं। पाश्चात्य नाटकों में अंतर्द्वंद्व दिखलाई देता है। अंतर्द्वंद्व की दृष्टि से 'डॉक्टर' नवीन नाटक है। "गांधार की भिक्षुणी" विष्णु प्रभाकर का ऐतिहासिक नाटक है। विष्णु प्रभाकर ने इस नाटक को जगदीश चन्द्र माथुर को समर्पित किया है। तीन अंकों में निबद्ध इस नाटक में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन संयोग हुआ है। आनन्दी नामक स्त्री-पात्र ही गांधार की भिक्षुणी है। गुप्तकाल के पतन के बाद यशोधर्मन जनता की सहायता के हूणों का सफल प्रतिरोध करता है। नाटकार का मंतव्य है कि वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में है।

"टूटते परिवेश" संयुक्त परिवार के संघर्ष की गाथा है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है लेकिन परिवर्तन के नाम पर परंपरा के ग्राह्य तत्त्वों को नकारना समझदारी नहीं है। पुरानी पीढ़ी के संस्कार अलग हैं। नई पीढ़ी आस्था विहीन और स्वच्छंद प्रकृति की है। विष्णु प्रभाकर इस नाटक की भूमिका में यह सवाल उठाते हैं :-

"टूटते परिवेश" का चालीस व्यक्तियों का परिवार बिखर गया, पर क्यों? किसी ने उसका कारण समझने का प्रयास नहीं किया।" गृहस्वामी विश्वजतीत के विशाल परिवार के सदस्य सह-अस्तित्त्व की विवशता को झेलने के लिए अभिशप्त हैं। वस्तुतः यह दो पीढ़ियों का संघर्ष है। यह मात्र दो पीढ़ी के व्यक्तियों का ही संघर्ष नहीं है बल्कि मान्यताओं और मूल्यों का भी संघर्ष है।

"केरल का क्रांतिकारी" विष्णु प्रभाकर जी का एक अलग तरह का नाटक है। यह नाटक 1987 में प्रकाशित हुआ। इस नाटक का नायक वेलुत्तम्पी दलवा है जिसने 1808-1809 में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मोर्चा लिया था। इस नाटक के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के केरल के परिवेश को जीवंत बनाने के लिए विष्णु प्रभाकर जी ने गंभीर शोध किया।

विष्णु प्रभाकर जी नाट्य लेखन में बाद में आये। अपनी साहित्य साधना के प्रारंभिक दौर में वे एकांकीकार और कहानीकार के रूप में स्थापित हो चुके थे। हिन्दी एकांकी साहित्य में विष्णु प्रभाकर का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि हिन्दी साहित्य के पांच महानतम एकांकीकारों की सूची प्रस्तुत की जाय तो वह सूची इस प्रकार से होगी- डॉ. राम कुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, जगदीश चन्द्र माथुर, और विष्णु प्रभाकर।

विष्णु प्रभाकर के 17 एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें प्रमुख हैं:-"इंसान और अन्य एकांकी", "अशोक तथा अन्य एकांकी", "प्रकाश और परछाई", "बारह एकांकी", "दस बजे रात", "ये रेखाऐं", "डरे हुए लोग", "मेरे प्रिय एकांकी", "मैं भी मानव हूँ", "दृष्टि की खोज" इत्यादि। विष्णु प्रभाकर का राजनीतिक चेतना से युक्त एक एकांकी है-"सीमा रेखा"। भारतीय जनतंत्र विकृतियों का शिकार हो चुका है। विष्णु प्रभाकर ने इस समस्या के समाधान का प्रयास किया। एक ही परिवार के चार भाई-शरत चन्द्र, लक्ष्मी चन्द्र, सुभाष चन्द्र, और विजय विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि चरित्र हैं। दूसरा भाई शरत चन्द्र मंत्री हैं, बड़ा भाई लक्ष्मी चन्द्र एक व्यवसायी

है। तीसरा भाई सुभाष चन्द्र विपक्ष का नेता है जबकि सबसे छोटा भाई विजय पुलिस कप्तान है। चारों भाईयों का अपना-अपना स्वार्थ है। जनता की शक्ति और नेता के कर्तव्य को लेकर पूरे परिवार में वैचारिक संघर्ष छिड़ा हुआ है। उग्र आंदोलनकारियों को नियंत्रित करने के लिए कैप्टन विजय द्वारा चलाई गई गोली से लक्ष्मी चन्द्र का दस वर्षीय बेटा अरविंद मारा जाता है। बाद में कैप्टन विजय और सुभाष चन्द्र भीड़ में कुचलकर मर जाते हैं। तीनों की मौत पर सविता का मानना है कि यह सब मेरे घर की नहीं, सारे देश की क्षति है। शरत चन्द्र के माध्यम से विष्णु प्रभाकर ने यह प्रतिपदित किया है कि जनतंत्र में सरकार और जनता के बीच कोई सीमा-रेखा नहीं होती है।

''रक्त चन्दन'' युद्ध की विभीषिका पर आधारित एकांकी है। कामीर की समस्या पर आधारित एकांकी में विभाजन के बाद हुए कबायली आक्रमण का ज़िक्र है। गुल नामक मुस्लिम पात्र के माध्यम से विष्णु प्रभाकर ने सांप्रदायिक सौहार्द का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'देवताओं की घाटी' भी काश्मीर समस्या पर आधारित एकांकी है। 'लिपस्टिक की मुस्कान' मध्यवर्गीय परिवार की व्यंग्यात्मक कहानी है। 'लिपस्टिक की मुस्कान' एकांकी के माध्यम से विष्णु प्रभाकर ने फैशन परस्त मानसिकता पर मर्मांतक व्यंग्य किया है। 'कितना गहरा कितना सतही' एकांकी में विश्व विद्यालयों के प्रांगण में व्याप्त अशांति के मूल स्रोतों को तलाशने का प्रयास किया गया है। युवा वर्ग दिशाहीन है। इस एकांकी के युवा पात्र यह स्वीकार करते हैं कि राजनेता लोग उनकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हैं।

विष्णु प्रभाकर एक महान कहानीकार हैं लेकिन दुखद बात यह है कि आज हिन्दी समीक्षा में उनके कहानीकार व्यक्तित्व की चर्चा लगभग नहीं होती। विष्णु प्रकार ने लगभग 300 कहानियाँ लिखी हैं। 'धरती अब भी घूम रही है', 'रहमान का बेटा', 'मुरब्बी', 'जज का फैसला', 'अँधेरे आँगन वाला मकान', 'एक और कुन्ती', की गणना हिंन्दी साहित्य की महानतम कहानियों में की जा सकती है। विष्णु जी ने अपने को सबसे पहले कहानीकार ही मानते हैं। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि उनका नवीनतम कहानी-संग्रह ''ईश्वर का चेहरा'' 2003 में प्रकाशित हुआ। विष्णु प्रभाकर की प्रारंभिक कहानियाँ 1931 और 1934 के बीच ''हंस'' और ''अलंकार'' में प्रकाशित हुई थीं लेकिन जिस कहानी ने विष्णु प्रभाकर को महान कहानीकार के रूप में स्थापित किया, वह कहानी है—''धरती अब भी घूम रही है''। इस कहानी में दो मातृहीन बच्चों की बेबसी का मार्मिक चित्र खींचा गया है। सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण दोनों बच्चों का पिता ईमानदार होने के बावजूद मजबूरी में मात्र बीस रुपये रिश्वत लेने के कारण जेल की सलाखों में बंद है। विष्णु प्रभाकर ने इस कहानी में बाल मनोविज्ञान का सुंदर चित्रण किया है। बच्चे अपने मौसा द्वारा यह जानकारी पाते हैं कि एक जज ने तीन हजार रुपये लेकर एक डाकू को छोड़ दिया। गंजा हाकिम के पास सुंदर लड़की भेजकर कोई भी काम करवाया जा सकता है। सफेदपोशों के भ्रष्टाचार का वीभत्स चेहरा सामने आता है। उस ग़रीब की दस साल की बेटी नीना अपने आठ साल के भाई कमल के साथ जज के पास पहुँच जाती है। बच्चों के संवादों की बानगी दृष्टव्य हैः- ''हमारे पास पचास रुपये हैं। आपने तीन हज़ार लेकर एक डाकू को छोड़ा है।' (कमल)

''लेकिन हमारे पिताजी डाकू नहीं हैं। मँहगाई बढ़ रही थी उन्होंने बीस रुपये की रिश्वत ली थी।'' (नीना)

''तो मैं एक-दो दिन आपके पास रह सकती हूँ।'' (नीना)

''मेरी जीजी ख़ूबसूरत है और आप ख़ूबसूरत लड़कियों को लेकर काम कर देते हैं।'' कथाकार कथानक से अपने को अलग कर लेता है। उसे लगता है कि धरती अब भी उसी तरह घूम रही है।

''रहमान का बेटा'' कहानी निम्नवर्ग की ज़िंदगी की दो पीढ़ियों की वैचारिक टकराहट की तल्ख सच्चाई बयान करती है। रहमान यथा स्थितिवादी है जबकि उसका पढ़ा-लिखा लड़का सलीम ज़िंदगी में बदलाव चाहता है, तरक्की चाहता है। वह बेहतर जीवन की आकांक्षा करता है। अनपढ़ रहमान उसकी बात को समझ नहीं पाता। ''जज का फैसला'' एक विचार प्रधान कहानी है। पूरी कहानी रेलगाड़ी के डिब्बे में घटित होती है। विष्णु प्रभाकर ने डिब्बे के यात्रियों के संवादों के माध्यम से एक सुंदर कथानक का ताना-बाना बुना है। बिहटा स्टेशन पर घटी एक भयानक रेल दुर्घटना का विश्लेषण कहानी के पात्र अलग-अलग ढंग से करते हैं। कहानी में एक नाटकीय मोड़ तब आता है जब यात्रियों के बीच बैठा एक जज इस रेल दुर्घटना का रोचक वृत्तांत प्रस्तुत करता है। उस दुर्घटना में जीवित बचे एक दम्पति में पुरुष अपनी अत्यंत रूपवती पत्नी की गला दबाकर इसलिए हत्याकर देता है कि दुर्घटना के बाद वह अपंग और कुरूप हो गई थी। यात्रियों के इस सवाल पर कि आपने उस व्यक्ति के साथ कैसा फैसला दिया। जज का उत्तर था-फाँसी। कहानी के अंत में जज कहता है—

''उसे जीवित रखना उसकी पवित्र भावना का अपमान होता।'' आज विभिन्न पत्रिकाओं द्वारा प्रायोजित कहानी-विशेषांकों में ऐसी कहानियाँ कहाँ मिलती हैं?

''अधूरी कहानी'' में बकौल विष्णु प्रभाकर ''हिन्दू-मुस्लिम समस्या भारत की एक शाश्वत समस्या बन गई है। इस कहानी में मैंने उस समस्या की जड़ में जाने का प्रयास किया है।'' रेल के डिब्बे में बैठे एक हिन्दू और एक मुसलमान के संवादों में पूरी कहानी चलती है। कहानी के अंत में आशावादी स्वर मुखरित होता है। कहानी एक पात्र अहमद कहता है—

"मेरे दोस्त। इस दुनियाँ में मिटने वाला कुछ भी नहीं है। मुहब्बत तो हरगिज नहीं। सिर्फ़ हमारी गफलत से कभी-कभी उस पर परदा पड़ जाता है।"

विष्णु प्रभाकर के कहानियों का संसार बहुत व्यापक है। 'ग्राम बहादुर की मौत', 'तांगेवाला', 'मेरा वतन', 'लैप पोस्ट के नीचे एक लाश', आदि कहानियों आधुनिक समाज में व्याप्त विकृतियों को उद्घाटित किया गया है।

हिन्दी में यात्रा-साहित्य की शुरूआत भारतेन्दु युग में हो गई थी लेकिन उसका वास्तविक विकास छायावाद युग में हुआ। हिन्दी में जिन साहित्यकारों ने यात्रा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, वे हैं- सत्यदेव परिब्राजक, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, यशपाल, अज्ञेय, भगवतशरण उपाध्याय, डॉ. नगेन्द्र, रामधारी सिंह, 'दिनकर', अमृतलाल बेगड और विष्णु प्रभाकर।

विष्णु प्रभाकर एक अच्छे, यायावर रहे हैं। सामान्य यात्री की तुलना में रचनात्मक प्रतिभा से युक्त यात्री की संवेदना विशिष्ट और मर्मस्पर्शी होती है। यात्रा-साहित्य में विष्णु प्रभाकर की रचनाएँ हैं:- 'जमना गंगा के नैहर में (1981)', 'हँसते निर्झर दहकती भट्टी' (1966), 'हिमशिखरों की छाया में' (1981)', 'ज्योतिपुंज हिमालय' (1982)। हिमालय की सुरम्य चोटियाँ सैलानियों को सदैव लुभाती रही हैं। भारत का हिमकिरीट हिमालय ने विष्णु प्रभाकर जी को बार-बार पुकारा है, ललचाया है।

हिमशिखरों पर पड़ती हुई सूर्य की स्वर्णिम रश्मियों ने विष्णु प्रभाकर को संवेदित किया है। विष्णु प्रभाकर की एक अत्यंत सुंदर पुस्तक है- "हिम शिखरों की छाया में"। इस पुस्तक के तीन खंड इस प्रकार हैं- खंड एक-'उत्तराखंड की यात्रा (1950), खंड-2 -जमनोत्री- (1950) और 'कश्मीर'-भूतल का स्वर्ग' (1957)। पहले यात्रा वृत्तांत की विशेषता यह है कि विष्णु प्रभाकर जी एक ओर जहाँ उत्तराखंड की भोगोलिक स्थिति का परिचय देते हैं, वहीं दूसरी ओर वहाँ की नैसर्गिक सुषमा का काव्यात्मक चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। पौड़ी के प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण लेखक इन शब्दों में करता है:–

"यहाँ से इन्द्रधनुष के रंगों की छाया में चमकती हुई हरितवसना पर्वत श्रेणियों का सौंदर्य देखते ही बनता है। उससे भी मनोहारी है हिमशिखरों की वह लंबी दुग्ध धवल शुभ्र पंक्ति जो पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है।"

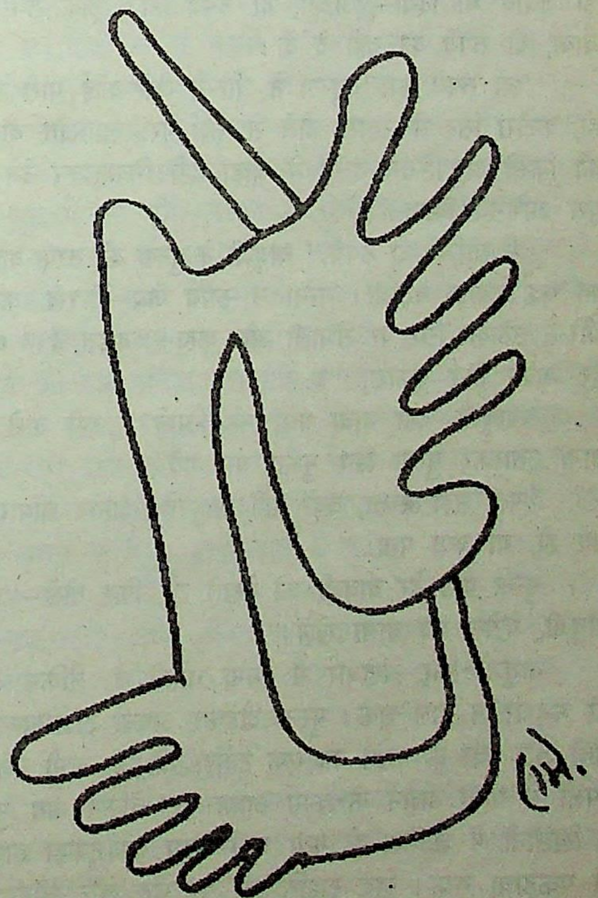
उत्तराखंड को "देवताओं का अंचल" कहा जाता है। विष्णु प्रभाकर जी ने उत्तराखंड के मंदिरों और जलकुंडों का परिचय दिया है। विष्णु प्रभाकर के यात्रा वृत्तांतों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें दृश्य भूमि के निवासियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज़ और बोली-बानी की भी झलक मिलती है।

विष्णु जी के व्यक्तित्त्व पर आर्यसमाज और गांधीवाद का प्रभाव है लेकिन वे वादों से मुक्त हैं। उन्होंने लिखा है:- "कुछ ने प्रगतिवादी कहा तो कुछ ने उदार सामंतवादी तो कुछ ने गांधीवादी, मैं अगर वादी हूँ तो विष्णुवादी।"

मैं विष्णु प्रभाकर की राय से पूर्णतया सहमत हूँ। रचनाकार किसी विचारधारा से जुड़ सकता है लेकिन विचार उसके सृजन पर आरोपित न लगे। वादों का आग्रही होने पर रचना में कहीं न कही संकीर्णता आ जाती है। विष्णु प्रभाकर सांप्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता के घोर विरोधी थे। उन्होनें अपनी कहानियों में सांप्रदायिकता का विरोध किया है।

'आवारा मसीहा' जैसी काल जयी कृति का रचनाकार वास्तव में 'शब्दों का मसीहा' है। संपूर्ण हिन्दी-साहित्य में गद्य की लगभग अधिकांश विधाओं में समान गति से लिखने वालों में उनका स्थान राहुल सांकृत्यायन के बाद आता है। हिन्दी साहित्य का यह दुर्भाग्य है कि इस अप्रतिम गद्य शिल्पी के प्रदेय को उतना सम्मान नहीं मिला, जितने के वे हकदार थे। भारतीय साहित्य का सर्वोच्च पुरस्कार "ज्ञानपीठ" पुरस्कार से वंचित रहना विष्णु प्रभाकर का दुर्भाग्य नहीं है वरन् यह हिन्दी-साहित्य और "ज्ञानपीठ" पुरस्कार दोनों का दुर्भाग्य है। इसका मूल कारण यह था कि वे गुटबाजी और तिकड़मों से दूर रहे। वास्तव में वे सरस्वती के संत साधक हैं और हिन्दी के अप्रतिम गद्यशिल्पी।

वरिष्ठ व्याख्याता हिन्दी, तिलकधारी
स्नात्कोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर (उ.प्र.)



दही बाबा

नवीन जोशी

"द ऽ ऽ ऽही ऽऽ !"

सिर पर दोनों हाथों से एक छोटी कटोरी पकड़े मुन्ना ने अख़बार में खोये हुए बाबूजी के सामने फिर पुकारा–"दऽऽ ही ऽऽ।"

बाबूजी शायद किसी ख़बर या लेख में गहरे पैठे थे। उन्हें मुन्ना की पुकार नहीं सुनायी दी। मुन्ना कुछ देर बाबूजी को अख़बार पढ़ते देखते रहे, फिर उन्होंने एक हाथ से सिर की कटोरी नीचे की और दूसरे हाथ से बाबूजी को हिलाया–"बाबूजी, दही बाबा आ गये।"

बाबूजी का ध्यान टूटा। मुन्ना को, जिन्होंने अब तक फिर कटोरी सिर पर रख ली थी, देखते ही उन्हें माजरा समझ में आ गया। उनके झुर्रीदार चेहरे पर मुस्कान तैर गयी।

"अच्छा, अच्छा ! दही बाबा आ गये...अरे, दही नहीं लेना क्या?" उन्होंने रसोई की तरफ़ आवाज़ फेंकी। फिर ख़ुद ही जवाब भी दिया–"अच्छा, दो रुपये का?...ठीक है। दही बाबा, दो रुपये का दही दे दो।"

"दो रुपये का!" मुन्ना ने धीरे-से जैसे कोई भारी बर्तन हो, कटोरा सिर से उतारा, हौले से फ़र्श पर रखा और बाबूजी को किसी अनुपस्थित बर्तन में थोड़ा दही निकालकर देने का पूरा अभिनय किया।

"ये लीजिये दो रुपये," बाबूजी ने मुन्ना की तरफ़ काग़ज़ का एक टुकड़ा बढ़ाया। मुन्ना ने रुपये जेब में रखे, कटोरी धीरे-से उठाकर सिर पर सँभाली और कहा–"जाइत हैं।" थोड़ी दूर जाकर फिर पुकारा, "द..ही...।"

"बाबूजी, दही बाबा क्यों नहीं आते?" दही वाले का बाना उतारकर मुन्ना फिर मुन्ना बन गये।

"पता नहीं बच्चा, क्यों नहीं आ रहे। शायद बीमार हो गये हों, या क्या पता..."

मुन्ना कुछ देर बाबूजी को देखते रहे, फिर बोले–"चलो बाबूजी, पेट्रोल पंप वाला खेलें।"

बाबूजी फिर अख़बार में रमना चाहते थे, लेकिन बच्चे की मनुहार न टाल सके। मुन्ना दौड़कर अपनी ट्राईसिकल ले आये और रबर के पाइप का एक टुकड़ा भी, जो कभी नल से गमलों में पानी डालने के काम आता था, लेकिन अब मुन्ना के खिलौनों में शामिल हो गया था। पाइप का टुकड़ा बाबूजी को पकड़ाया गया। ख़ुद ट्राइसिकिल पर बैठे और लॉबी की कुर्सी-मेजों के बीच से एक चक्कर लगाते हुए 'पेट्रोल पंप' पर रुके। इस बीच बाबूजी ने रबर के पाइप का एक सिरा दरवाज़े के कुंडे से बाँध दिया था और ख़ुद पाइप हाथ में लेकर खड़े हो गये।

"भैया, दो रुपये का पेट्रोल देना।"

"दो रुपये का तो दही आता है, भैया। पेट्रोल तो दस रुपये में मिलेगा। महँगाई बहुत बढ़ गयी है," बाबूजी मुस्कुराये।

"अब मैं दस रुपये कहाँ से लाऊँ। दो रुपये तो हैं मेरे पास," मुन्ना ने जेब से काग़ज़ का वही टुकड़ा निकाला, "ये देखो, दो ही तो हैं," मुन्ना रुआँसे हो गये।

"अच्छा, चलो बाबा दो ही रुपये का ले लो," बाबूजी ने समझौता किया। पाइप का सिरा साइकिल के पीछे लगाया और दरवाज़े का बेलन ऊपर-नीचे हिलाया–"बस साहब जी, टंकी भर गयी।'

मुन्ना की ट्राइसिकिल फिर लंबी-चौड़ी लॉबी में दौड़ने लगी। कभी वे मुँह से हार्न बजाते-पीं ऽऽ, कभी बीच सड़क में आ गयी दादी को डाँटते–"देखतीं नहीं, गाड़ी आ रही है, स्पीड से।"

"अरे, अरे, मुझे कुचल मत देना, भैया," दादी फ़्रिज से सामान निकाल कर फिर रसोई में ओझल हो जातीं।

"द ऽऽ ही ऽऽ...ताज़ा द ऽ ही ऽऽ।"

तभी बाहर से आती आवाज़ सुनायी पड़ी। मुन्ना ने ट्राईसिकिल वहीं पटक दी और बाहर भागे, "बाबूजी, दही बाबा आ गये, दही बाबा आ गये।"

बाबू जी भी पीछे लपके, "आ गये भई, सचमुच आ गये। आज कितने दिन बाद आये दही बाबा। मुन्ना ने मन से याद किया होगा।"

किचिन का काम छोड़कर दादी भी बाहर चली आयीं। गेट के सामने मैली-सी धोती, पुराने कुर्ते पर वही मिलिट्री वाला कुहनियों पर फटा स्वेटर पहने खिचड़ी दाढ़ी वाला एक बूढ़ा सामने के टूटे दाँतों से मुस्कुरा रहा था। सिर पर डलिया, डलिया में दही की मटकी। मटकी के मुँह पर सकोरे का ढक्कन। ढक्कन पर उलटा रखा स्टील का छोटा कटोरा, दही नापने के वास्ते।

"दही बाबा," मुन्ना किलके।

"ठीक हो मुन्ना!" दही बाबा का झुर्रियों भरा कमज़ोर

चेहरा खिल उठा।

"बहुत दिन बाद आये बाबा?" बाबूजी ने गेट खोलते हुए पूछा—"मुन्ना अभी-अभी याद कर रहा था।"

"मुन्ना तो रोज पूछता है। कटोरा लेकर दही बाबा बना घूमता है," दादी ने कहा—"तबियत तो ठीक है? कहाँ रह गये थे?"

"चुटाय गे रहे," दही बाबा धीरे-से बोले।

"अरे, कैसे?" बाबूजी और दादी के मुँह से एक साथ निकला। तब तक बाबा दही की मटकी वाला झौवा धीरे-से उतार कर नीचे रख चुके थे।

"स्कूटर वाला ठोकर मार दिहिस रहा," बरामदे के फ़र्श पर बैठते हुए उन्होंने धोती को थोड़ा सरकाकर घायल घुटना दिखाया। हालांकि घाव अब भर चुका था, लेकिन काली चमड़ी के बीच ललाई लिए बड़ा-सा चकत्ता बता रहा था कि घाव बड़ा रहा होगा।

"च्च...च्च...च्च," दादी के मुँह से निकला—"बूढ़े आदमी को मार दिया। देखकर भी नहीं चलते आजकल..."

मुन्ना इस बीच भीतर जाकर अपनी कटोरी ले आये थे और दही बाबा को देखे जा रहे थे।

"अरे मुन्ना, लाओ, लाओ, दही देई।"

मुन्ना ने कटोरी आगे बढ़ा दी। बाबा ने दही से आधी कटोरी भर दी।

"बस-बस, आप इसको बहुत दे देते हैं," बाबूजी ने टोका।

"अरे हमार मुन्ना हैं ई तो... अउर सब हाल-चाल ठीक?" उन्होंने बाबूजी से पूछा।

"हाँ, ईश्वर की कृपा है।"

"आप रोड के किनारे-किनारे चला कीजिए," दादी अभी तक दही बाबा को लगी चोट से विचलित थीं।

दही बाबा कुछ देर गर्दन हिलाते मौन रहे।

"अच्छा, चलित हैं," उन्होंने कहा और सिर पर रखने के लिए मटकी वाली डलिया उठाने लगे।

"अरे दही तो ले लो," बाबूजी ने दादी को याद दिलाया।

"बाबा रुकिए, बर्तन लाती हूँ," दादी भीतर दौड़ीं, "बात-चीत में भूल ही गयी थी मैं तो।"

दादी के बर्तन में दही देकर और पैसा धोती की गाँठ में बाँधकर दही बाबा चले गये। 'द ऽऽ हीऽऽ...द ऽऽ ही ऽऽ' की पुकार मुहल्ले में दूर तक सुनायी देती रही।

एक दिन अचानक शुरू हुआ यह सिलसिला कई बरस से चल रहा है। दादी की बनायी कढ़ी घर में सबको बहुत पसंद है। बाबूजी तो चाव से खाते ही, मुन्ना के मम्मी-पापा भी ख़ूब पसंद करते। दोनों नौकरीपेशा हैं। मुन्ना की मम्मी तो अक्सर ज़्यादा-ज़्यादा कढ़ी बनवाकर टिफ़िन में ऑफ़िस भी ले जातीं। मुन्ना पकौड़ी वाली कढ़ी के इंतज़ार में रसाई में ही खड़े रहते। कढ़ी से पहले उन्हें पकौड़ियाँ चाहिए। दादी कढ़ी में डालने से पहले छोटी-छोटी चंद पकौड़ियाँ मुन्ना की कटोरी में अलग निकाल देतीं।

बाबूजी हफ़्ते-दस दिन में एक-दो बार बाज़ार से दही लाते, लेकिन कढ़ी लायक़ दही अक्सर नहीं मिलता और दादी कहतीं कि दही सही नहीं, तो कढ़ी अच्छी कैसे बनेगी।

जाड़ों में इतवार की एक सुबह जब सब लोग छत पर धूप सेंक रहे थे, तो घर के सामने से 'द ऽ ही, दऽऽ ही ऽऽ' पुकारते हुए एक बूढ़े को देखकर दादी ने छत से ही पूछा—"दही वाले कैसा दही है?"

सर पर मटकी के कारण बूढ़ा गरदन छत की तरफ़ नहीं उठा सका। माथे पर बल डालते हुए उसने पुतलियों को यथासंभव ऊपर की ओर घुमाया, तब भी पुकारने वाली को नहीं देख सका, तो पूछ लिया—

"ले हौ?"

"माँ जी, मैं ले लेती हूँ... दही वाले रुकना," छत पर बाल सुखाती बहू सीढ़ियों की तरफ़ बढ़ी। "अरी सँभल कर, धीरे-धीरे," दादी ने बहू को सचेत किया। मुन्ना तब उसके पेट में था।

उस दोपहर हल्की खटास लिये जो स्वादिष्ट कढ़ी बनी, उसने इस घर को उस बूढ़े दही वाले का स्थायी ग्राहक बना दिया। दही वाला तीसरे-चौथे रोज़ जब उस कॉलोनी का चक्कर लगाता, तो इस घर के सामने रुककर 'द ऽऽ ही ऽऽ' पुकारना नहीं भूलता। कभी दरवाज़ा खुलने में देर होती, तो दुबारा ज़ोर से आवाज़ लगाता- 'द..ही..।' बेटा-बहू सुबह जल्दी दफ़्तर निकल जाते थे। दादी घर के कामों में उलझी रहतीं, तो बाबूजी से कहतीं—"सुनो, ज़रा दही ले लो, चला न जाए।"

बाबूजी दही के लिए बर्तन लेकर आते। गेट खोलते। दही वाला अंदर बरामदे में आता और मटकी नीचे उतारता। हाँ, शुरू-शुरू में वह सीधे मटकी ही सिर पर रखकर लाता था। कपड़े की इंडुरी बनाकर उस पर मज़े से टिकायी गयी मटकी। बिना हाथ के सहारे भी मटकी सिर पर जमी रहती। लेकिन बाद के वर्षों में जब वह ज़्यादा बूढ़ा और कमज़ोर हो गया, तो मटकी को एक डलिया या झौवे में रखकर लाने लगा। बाबूजी भी अब डलिया उतारने में बाबा की मदद करते। डलिया के बीचों-बीच रखी दही की मटकी, जिसे लुढ़कने से बचाने के लिए गोबर के तीन सूखे कंडे तीन तरफ़ से फँसाये गये होते। कंडे वज़न में बहुत हल्के होते हैं न।

बाबा मटकी का मुँह खोलते, तो दही की सोंधी महक मंद-मंद उठती। उसमें अजब स्वाद वाली खटास भी घुली होती। मंद-मंद आँच पर देर तक औटाये गये दूध से जमाया गया दही। हल्की गुलाबी रंगत लिये हुए। अक्सर दो रुपये का दही लिया जाता। छुट्टी के दिन या जब कभी बहू कह जाती, पाँच रुपये का भी। बाबा अपने कटोरे से मटकी अंदर तक चलाकर दही देते। बर्तन लौटाते-लौटाते ऊपर से थोड़ा और दही डाल देते। बँधा-बँधाया पक्का घर जो था।

बहुत कम ऐसा होता कि दही लेने से मना किया जाता।

घर के सामने बाबा एक-दो बार पुकार चुके होते, तो दादी या बाबूजी में से कोई आकर कहता—"बाबा, आज नहीं। अगली बार।"

"कउनो बात नाहीं। फिर अइबे," बाबा अपनी चाल चले जाते।

"बहू नीक आय?" एक बार दही देते हुए बाबा ने दादी से पूछ लिया। आते-जाते कभी-कभार बहू दिख जाती थी और बाबा जान गये थे कि पेट से है।"

"हाँ, ठीक है। ईश्वर की कृपा, सब ठीक-ठाक निपट जाए।"

"फिकर ना करौ, सब ठीक होई," बाबा ने भरोसा दिलाया, "पहलौटी आय?"

दादी ने हाँ में सिर हिलाया।

जिस दिन बाबा ने मुन्ना की पैदाइश की खुशी में दो-दो लड्डू खाए, उस दिन दही देने के लिए बड़ा बर्तन मँगवाया और पूरा भर दिया।

"अरे!" खुशी से फूल रहे बाबूजी और प्रफुल्लित हुए- "इतने दही का क्या करेंगे बाबा। बस, पाँच रुपये का दे दीजिए।"

"ना, आज रुपया ना लेइबे," बाबूजी ने बहुत मनाया, दादी ने ज़ोर दिया, मगर बाबा ने उस दिन दही का पैसा नहीं लिया और काफ़ी देर आँगन में बैठे रहे, सुस्ताने के बहाने।

अगली बार बाबा आये, तो दही देने से पहले उन्होंने डलिया के एक कोने में सँभाल कर रखा लोहे का टुकड़ा दादी को पकड़ाया—"ये घोड़े केर नॉल आय। मुन्ना के सिरहाने धरि दिओ। सब अलाय-बलाय से बचा रही।"

आदमी की ज़ात। कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे रिश्ते बनते चले जाते हैं, गाढ़े होते जाते हैं। विक्रेता-क्रेता का रिश्ता पिघलकर उस दिन जैसे दोनों तरफ़ के खून में रच गया। दही वाला, दही बाबा बन गया।

समय का क्या, उसे तो बस चलते ही जाना है। मुन्ना बड़े होने लगे। उनकी किलकारियों से घर खिलखिलाने लगा। बूढ़े बाबूजी में जीवन की नयी कोंपलें फूट आयीं। दादी की व्यस्तता बढ़ गयी और उसी अनुपात में खिलखिलाना और झुंझलाना भी। दही बाबा का आना और पुकारना उसी तरह जारी रहा। बाबूजी या दादी दही लेने बाहर निकलते तो गोद में किलकारियाँ मारते मुन्ना भी होते।

"दही बाबा को नमस्ते करो,...ऐसे...नमस्ते बाबा।"

"दही बाबा से पूछो, आज एक हफ़्ते बाद क्यों आये?"

"दही बाबा से कहो, ये बाबूजी का पुराना जूता है। इसे पहनें। आजकल सर्दी बहुत है और चप्पल में पैर ठंढा जाते होंगे।"

दही बाबा बरामदे में बैठकर थोड़ी देर मुन्ना से बतियाते—"नीक हो?...खूब जियो...खूब बड़ा हो..." और फिर अपनी राह चल पड़ते—"फिर अइबे, अच्छा मुन्ना?"

मुन्ना ने जब 'अम्मा' और 'बब्बा' बोलना सीखा, उसी के आस-पास 'त ही ऽ...त ही ऽऽ' पुकारना भी सीख लिया। दही बाबा आते तो मुन्ना लड़खड़ाते कदमों से दरवाज़े की तरफ़ दौड़ लगाते—'त ही... त ही,' तब दही बाबा की टूटे दाँतों वाली हँसी देखने लायक होती। लाजवाब। और इतनी देर तक टिकी रहती कि लगभग गल चुके मसूड़ों को होठों के पीछे छिपने में काफ़ी वक़्त लग जाता।

उस दिन तो बाबा निहाल ही हो गये, जब मुन्ना अपने हाथों में छोटी-सी कटोरी लेकर सामने आ खड़े हुए। तब मुन्ना डेढ़-दो बरस के हो चुके थे और घर भर में शैतानी करते फिरते थे। बाबूजी बर्तन लेकर दही लेने बाहर निकले, तो मुन्ना कहीं खेलने में मशगूल थे। मगर जाने कब वे अपनी पकौड़ी वाली छोटी-सी कटोरी लेकर धीरे-धीरे चलते हुए खुले दरवाज़े से बरामदे में निकल आये। बाबा ने दही भरा कटोरा बाबूजी को पकड़ाया ही था कि मुन्ना ने अपने हाथ की कटोरी उनकी तरफ़ बढ़ा दी।

"अर्र्रे, हमार मुन्ना," बाबा आह्लादित हो गये। सुखद आश्चर्य से उनका मुँह खुला रह गया। बाबूजी ने देखा तो वो भी चकित—"अरे बच्चा, ये कटोरी क्यों लाये? दही तो हमने ले लिया।" और वे ज़ोर से हँस पड़े।

मगर, मुन्ना दही बाबा की तरफ़ कटोरी बढ़ाये रहे, बिल्कुल मौन, अपलक, गंभीर।

"दही ले हौ?" बाबा ने पूछा।

मुन्ना ने हौले से 'हाँ' में गर्दन हिलायी।

"लाओ, लाओ, दही देई। आपन मुन्ना को दही ज़रूर देइब," बाबा ने मुन्ना की कटोरी दही से पूरी भर दी, मगर उनका मन नहीं भरा। मुन्ना की आँखों में कैसा आग्रह था।

बाबूजी दही के पैसे लेकर आये, तो उसमें एक अठन्नी मुन्ना के दही के लिए भी जोड़ दी। बाबा बिगड़ गये—

"अरे छाँड़ो, ई दही का पइसा लेब हम?"

बाबूजी ने बहुत कहा, मगर दही बाबा राज़ी नहीं हुए।

"मुन्ना के दिये से कित्ता घट जाई बाबू?"

"फिर यह नियम-सा बन गया। द..ही...ताज़ा... द..ही' सुनते ही मुन्ना की कटोरी पहले ही हाज़िर हो जाती। घर में दही की ज़रूरत न होती और बाबूजी कहते, "बाबा आज नहीं।" मगर तब तक मुन्ना कटोरी लिए आ खड़े होते। बाबूजी और दादी लाख मना करें, लेकिन बाबा मुन्ना की कटोरी में दही डालकर ही मानते—"आप न लेव, हमार मुन्ना के तो चाही।" और मुन्ना की कटोरी में दिये दही का बाबा ने कभी पैसा नहीं लिया। यह ज़रूर हुआ कि तीज-त्योहार के मौक़े पर मिठाई से लेकर पूड़ी-कचौड़ी तक में बाबा का हिस्सा सुरक्षित रखा जाने लगा।

दही बाबा के आने का क्रम भंग भी होता रहता और अक्सर कई-कई दिन तक। कभी वे बीमार हो जाते, कभी खेती-बाड़ी के दिनों में लंबा अंतराल हो जाता। बारिश के मौसम

नागा होती रहती, लेकिन देर-सबेर सिलसिला फिर चल ता।

एकबार बाबा की एक भैंस बीमार हो गयी और बचायी जा सकी। बैंक से क़र्ज़ लेकर ख़रीदी गयी अच्छी नस्ल की भैंस थी। दूध भी ख़ूब देती थी, लेकिन उसका दूध ज़्यादा माथे पर लिखा न था। बाबा का बेटा, जो जानवरों की भाल में ही लगा रहता, फूट-फूट कर रोया। क़स्बे के जानवर डॉक्टर से झगड़ा तक कर बैठा। बहू ने दो जून चूल्हा जलाया। पोते-पोतियों ने खाने का ज़िक्र तक न किया। भी बहुत दुखी थे लेकिन बेटे को समझाने में खुद भी आये। सब क़िस्मत की बात। दूसरी भैंस उन दिनों दूध वाली न थी। दही कहाँ से बनता। दूसरी भैंस के ब्याने बाद जब बाबा दही बेचने निकले, तो कोई छह महीने से समय गुज़र चुका था। वही बलवान समय, जिसका चक्का रोक नहीं सका। जिस पर किसी का वश भी न चला।

"द ऽ ही ऽऽ... ताज़ा द ऽ ही ऽऽ," बाबा ने आदतन ारा। मुन्ना को देखे कितने महीने हो गये। अभी दौड़े आएँगे, शिकायत करेंगे। बाबा सोच रहे थे । बातूनी भी तो ने हो गये हैं।

"द ऽ ही ऽऽऽ," बाबा ने तनिक ज़ोर से पुकारा। शायद यी न दिया हो। अभी बाबूजी निकलेंगे। पीछे-पीछे दादी एंगी। दोनों जन पूछेंगे, बीमार तो नहीं पड़ गये थे? हफ़्ता इधर न निकलो तो चिंता करने लगते हैं। भले लोग। इस ाने में कहाँ मिलते हैं अइसे मनई।

क्या बात? दूसरी आवाज़ पर भी कोई नहीं निकला। ा तो नहीं होता था। तीसरी बार पुकारने की नौबत शायद कभी आयी हो। बाबा अधीर होने लगे। मुन्ना की तबियत ठीक है।

"द..ही, द...ही," बाबा ने इस बार गले से पूरा ज़ोर ाया। आवाज़ हलके -से काँप भी गयी। नज़रें बरामदे में ने वाले दरवाज़े की तरफ़ लगी रहीं।

हाँ, अब खुला दरवाज़ा। लेकिन कोई बाहर क्यों नहीं ता?

"अरे, मुन्ना!" गेट के सामने आने पर बाबा को मुन्ना ायी पड़े। धीरे-धीरे आते गुमसुम से मुन्ना। आकर चुपचाप पर खड़े हो गये। पहले तो दौड़कर आते थे। चिल्लाते थे, बाबा आ गये, दही बाबा आ गये,' आज क्या हो गया हाथ में अपनी कटोरी भी नहीं।

"का भवा मुन्ना? सब ख़ैरियत तो!," मुस्कुराते बाबा का रा मद्धम पड़ गया, "का भवा, बोलत काहे नाहीं। दही न है? गुस्सा हौ का?" बाबा ने फिर मुस्कुराने की कोशिश । मगर मुन्ना वैसे ही गुमसुम।

"बाबूजी कहाँ हैं? अउर तोहार दादी कहाँ रहि गे?"

मुन्ना के चेहरे पर कुछ भाव आये-गये। पलकें हिलीं, ही बाबा, बाबूजी तो आसमान में तारा बन गये...वो ऽ ऊपर।" ा ने एक हाथ से दूर आकाश की ओर इशारा किया।

बाबा का पूरा शरीर एकबारगी काँप गया। पैर लड़खड़ाने लगे। लगा, सारी शक्ति किसी ने निचोड़ ली है। मुन्ना ये क्या कह रहे हैं।

"मुन्ना," बाबा के मुँह से फुसफुसाहट-सी निकली। सिर पर झौवा लिये-लिये वे वहीं बैठ गये, वरना गिर पड़ते शायद। बड़ी मुश्किल से सर का बोझ उतारकर नीचे रखा।

"का भवा मुन्ना, का कहत हौ?" बड़ी मुश्किल से वे बोल सके।

"बाबूजी आसमान में तारा बन गये," मुन्ना ने वही वाक्य दोहरा दिया। तब तक दादी भी चुपचाप आकर मुन्ना के पीछे खड़ी हो गयी थीं। दही बाबा को उन्हें पहचानने में समय लगा। फिर दर्द की तेज़ लहर कलेजे में भीतर से उठी और तन-मन में फैल गयी। दादी का मुख श्रीहीन हो गया था। न भाल पर चौड़ी बिंदी थी, न माँग में भरा-भरा सिंदूर। वे मुन्ना के सिर पर हाथ फेरने लगीं। आँखें डबडबा आयीं, जिन्हें उन्होंने आँचल से पोंछ लिया।

"का भवा बाबूजी को? कब? कइसन?" दही बाबा सदमे में थे।

"क्या बताएँ, क्या हुआ बाबा। मुन्ना के साथ खेल रहे थे, अच्छे-ख़ासे थे। अचानक लुढ़क गये। न बात, न चीत, न चीख-पुकार। हमने सोचा चक्कर आ गया होगा। डॉक्टर को बुलाया तो कहने लगा, हार्ट फेल...," आगे की बात रुँधे गले में ही अटक गयी। ज़रूरत भी नहीं रह गयी थी वाक्य पूरा करने की। काफ़ी देर बाद फिर उनकी आवाज निकली–"चार महीने से ऊपर हो गये बाबा... हमको ऐसे ही छोड़ गये।"

बाबा से कुछ कहते न बना। सिर्फ़ हाथ जोड़े जहाँ बैठे थे, वहीं बैठे रह गये। इस जीवन का क्या भरोसा। तभी तो कहा है–'पानी केरा बुदबुदा। आज है कल नहीं। अभी है, अभी नहीं। ईश्वर तेरी माया। कहीं धूप कहीं छाया।'

"हमसे तो छोटे ही रहे, जानें...भगवान के मरजी..." फिर मुन्ना के गुमसुम चहरे पर नज़र पड़ी–"मुन्ना बहुत अकेले रहि गे।"

"हाँ, बेचारा क्या समझे। पूछता रहा बाबूजी को क्या हो गया। बड़ी मुश्किल से समझाया कि भगवान ने तारा बना दिया... बहुत उदास रहता है। अब खेलता भी नहीं, किसके साथ खेले," दादी के आँसू धार-धार बहते रहे।

"चलो मुन्ना, भीतर चलो," थोड़ी देर की चुप्पी के बाद दादी ने कहा तो मुन्ना चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल पड़े। दरवाज़े के भीतर ओझल होने से पहले एकबार मुड़कर उन्होंने दही बाबा की तरफ़ देखा। फिर दादी की धोती का छोर थामे-थामे भीतर चले गये।

दही बाबा पता नहीं कितनी देर वहाँ बैठे रहे। जड़वत। मुहल्ले का कुत्ता उनका झौवा सूँघने लगा, तो होश आया। किसी तरह ताक़त बटोरकर उन्होंने झौवा सिर पर रखा और उठ खड़े हुए। क़दम आगे बढ़ाना इतना मुश्किल कभी नहीं हुआ था। अब दही क्या बेचा जाता। यंत्रवत ही क़दम गाँव की ओर बढ़

गये, मगर रास्ता जैसे कटता ही न था।

बाबा तीसरे-चौथे रोज़ दही बेचने निकलते, मगर मुन्ना के घर की तरफ़ जाने की हिम्मत न पड़ती। बाबूजी का चेहरा याद आता। फिर गुमसुम पड़ गये मुन्ना का और मुरझा गयी दादी का चेहरा... उस कॉलोनी के पास से भी गुज़रते तो 'द. .ही...' की पुकार अपने आप मंद पड़ जाती।

बहुत दिन बाद एक सुबह क़दम अपने आप उस तरफ़ खींच ले गये। सोचा, चलकर देखें। आवाज़ तो नहीं लगाएँगे, मगर हो सकता है मुन्ना बरामदे में दिख जाएँ।

बरामदे में सन्नाटा था। गेट के सामने बाबा के क़दम ठिठके फिर आगे बढ़ गये। थोड़ी दूर जाकर फिर मुड़ आये। रहा न गया। गेट के सामने हौले से पुकारा—"द...ही...," मगर अपनी आवाज़ ख़ुद उन्हें भी जैसे नहीं सुनायी पड़ी।

मुन्ना भीतर दादी के साथ थे। दादी मुन्ना को भरसक खिलाने, ख़ुश रखने का प्रयास करतीं। कभी कहतीं—"चलो मुन्ना दही बाबा खेलें। कभी कहतीं अच्छा चलो, पेट्रोल पंप वाला खेलें," मगर मुन्ना साफ़ नकार जाते—"नहीं दादी।" बाबूजी के बिना ये खेल जमते ही न थे। दादी मुन्ना से छुपाकर आँसू पोंछतीं।

"दादी चलो, लूडो खेलें," मुन्ना सयानों जैसे हो गये थे। लगता कि वे दादी को बहलाने की कोशिश कर रहे हैं। मुन्ना की समझदारी देख, दादी का कलेजा चाक हो जाता, वे मुन्ना को भींच लेतीं। कभी फ़ुर्सत के क्षणों में बाबूजी और दादी लूडो खेला करते थे और मुन्ना गोटियाँ चुराकर भाग जाते थे।

"दही....," अचानक मुन्ना को लगा कोई आवाज़ दे रहा है। दही बाबा जैसी पुकार। वे दादी की गोद से छिटककर खड़े हो गये और चौकन्ने होकर सुनने की कोशिश करने लगे।

"दही बाबा आ गये," उन्होंने धीरे-से कहा।

"नहीं तो, मैंने तो नहीं सुना बच्चा।"

"देखें, चलो देखें," मुन्ना ने ज़ोर दिया।

दोनों बाहर निकले। सामने सड़क पर कोई न था। वे गेट पर आये। तब भी बाबा नहीं दिखे। दादी ने गेट खोला। मुन्ना बाहर दौड़े। सामने सड़क पर दही बाबा चुपचाप चले जा रहे थे। उनकी पीठ दिख रही थी। सिर पर झौवा, झौवे के बीच मटकी, दही बाबा ही थे। पैरों में बाबूजी का दिया जूता भी था।

"दही बाबा," मुन्ना ने किलककर पुकारा। कई दिन बाद उनकी आवाज़ खुली।

दही बाबा पलटे। मुन्ना हाथ बढ़ाकर उन्हें बुला रहे थे—"दही बाबा आओ।"

बाबा जैसे चुंबक की तरह खिंचे चले आये।

"बाबा, आवाज़ नहीं दी, चुपचाप चले जा रहे थे," दादी ने शिकवा किया।

बाबा अवाक् सामने आकर खड़े हो गये, जैसे गुनाह हो गया हो।

"मुन्ना को पता चल गया था कि आप आये हैं।"

बाबा कैसे कहें कि पुकारना चाहा था, लेकिन फुसफुसाकर रह गये थे।

इस बीच मुन्ना भीतर जाकर दही के लिए बर्तन ले आये। अपनी छोटी-सी कटोरी नहीं, एक बड़ा कटोरा।

"अरे वाह, हमारा मुन्ना समझदार हो गया," दादी के चेहरे से जैसे उदासी के घने बादल कुछ छँटे हों।

दही बाबा बहुत कुछ कहना चाह रहे थे, लेकिन बोल नहीं पाये। मुन्ना के सिर पर हाथ फेरकर जैसे अपनी पूरी बात कह दी और मुन्ना की कटोरी दही से भर कर गाँठ में पैसा बाँधकर मटकी उठा ली।

"फिर अइबे मुन्ना!" वापस जाते हुए उनकी आवाज़ में पुराना दम आ गया था।

मुन्ना हाथ में दही का कटोरा पकड़े बाबा को जाते देखते रहे। मुन्ना की तरफ़ उनकी पीठ थी। वे धीरे-धीरे लेकिन सधे क़दमों से चले जा रहे थे। बीच-बीच में आवाज़ लगाते-'द. ..ही, द...ही।' एक हाथ से सिर का झौवा पकड़े थे। दूसरा हाथ बगल में झूल रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर बाद हाथ बदल लेते। मुन्ना के ज़ेहन में उनकी यह पुरानी तस्वीर थी–सिर पर झौवा, झौवे में मटकी, मटकी पर सकोरे का ढक्कन, ढक्कन पर उलटी रखी स्टील की कटोरी और वह सुपरिचित आवाज़-'द.. ही।'

"चलो बच्चा, अंदर चलें," दादी ने कहा।

मुन्ना का ध्यान दादी की ओर गया।

"दादी," अचानक ही उन्होंने पूछा—"दही बाबा भी आसमान में तारा बन जाएँगे।"

"चुप्प," दादी ने जोर से डाँट दिया—"ऐसा नहीं बोलते, नहीं निकालते मुँह से ऐसी बात।"

वे सचमुच नाराज़ हो गयीं और मुन्ना के हाथ से दही का कटोरा झटककर तेज़ी से भीतर चली गयीं।

मुन्ना सहम गये। उनकी समझ में नहीं आया कि अचानक दादी के इतना गुस्सा होने की क्या बात हो गयी थी!

3/48, पत्रकारपुरम
गोमती नगर, लखनऊ



रूस में एक लेखक था....

अशोक गुप्ता

अवध किशोर का रिक्शा पान वाले की गुमटी के पास रुका, रिक्शे से उतर कर अवध ने पल भर सोचा कि अभी हाथ के हाथ वह बिजली का बिल और चैक मदान की दूकान पर सौंप आएँ, टाइम से जमा हो जाएगा। वे घूम कर बाज़ार की तरफ़ जाने वाली गली में बढ़े ही थे कि सामने से उन्हें पुरुषोत्तम का छोटा बेटा भागकर अपनी तरफ़ आता नज़र आया उसे देखते ही कोफ़्त से भर उठे किशोर। ज़रूर यह लड़का अपने फ़ोटोकॉपी के लिए दिये गये काग़ज़ों के चक्कर में आ रहा होगा, जिन्हें वे अपने दफ़्तर की दराज़ में भूल आये हैं।

वह लड़का अब अवध किशोर के पास आ पहुँचा था।

"चच्चा रुको," उसके मुँह से यही निकला, जबकि अवध खड़े ही हुए थे।

"क्या बात है तिलक, क्या आफ़त है...?" अवध किशोर के सवाल पर उस लड़के ने हाँफते हुए अपनी बात कहनी शुरू की, "चच्चा, हेमंत भइया वापस लौट आये हैं... घर पर ही हैं, जल्दी जाओ, लेकिन नरमी से बात करना..."

तिलक अभी भी हाँफ रहा था, उसकी हड़बड़ी में कही गयी बात अवध के समझ में नहीं आयी थी।

"रुक जाओ तिलक, पहले साँस ले लो फिर कहो, मैं यहीं हूँ।"

तिलक रुका, कुछ सहज हुआ और इस बार उसने क़ायदे से अपनी बात कही, "हेमंत भइया वापस लौट आये हैं... घर पर ही हैं...

"क्या... हेमंत... कब?" बात सुनकर अवध किशोर चौंक गये।

आज दोपहर में... सूटकेस लिये यहीं रिक्शे से उतरे थे। बप्पा उस समय दालान में ही थे, उनकी बात हुई थी।"

अवध किशोर एकबारगी हकबक से रह गये।

"चच्चा, घर जाकर नरमी से बात करना, ठीक है?"

इतने में ही अवध अपनी दुनिया में गुम हो गये थे। हेमंत उनका इकलौता बेटा है... उसने पिछले साल फ़र्स्ट डिवीज़न में इन्टर पास किया था। तेज़ बच्चा है, लिखावट उसकी इतनी प्यारी है, जैसे मोती के दाने पिरोये गये हों। अवध ने अपने दफ़्तर में बेटे की गोट फिट कर ली, यहाँ काम करेगा और साथ-साथ सर्वेयर का काम सीख लेगा। फिरं तो गाड़ी चल निकलेगी... लेकिन हेमंत की ज़िद, कॉलेज ज्वाइन करना है, इकॉनोमिक्स में ऑनर्स उसे मिल जाएगा। घर का घर में रहेगा, अपना खर्चा ट्यूशन से निकाल लेगा, लेकिन क्लर्की नहीं करेगा।

इस बात को क़रीब सवा साल हुआ, न ख़त ख़बर। अवध पहले इस गुमान में थे कि हफ़्ता दस दिन में ठोकर खाकर वापस आ जाएगा, लेकिन यह नहीं हुआ। उनका गुस्सा पश्चात्ताप में बदला, पश्चात्ताप दुःख में, फिर दुःख भी ठंडा हो कर पत्थर हो गया, सीने पर रखा हुआ शिला-सा पत्थर... अब अवध किशोर उसी को बेटा समझ कर सीने से लगाये घूम रहे थे। हेमंत के बाद एक बेटी है, जो इसी बरस दसवें की परीक्षा देने की तैयारी कर रही है। घर में हेमंत की माँ है, जो अपनी आँख का आख़िरी आँसू तक रो चुकी है, लेकिन उसने कभी अपने पति से सवाल नहीं किया। सवाल थे तो ज़रूर, लेकिन फ़ायदा क्या था उन्हें उठाने का... और आज पंद्रह महीने बाद, अचानक...!

तिलक ने स्तब्ध से खड़े अवध किशोर को टोका, "जल्दी घर जाओ, चच्चा, लेकिन नरमी से पेश आना। बप्पा छोटी बुआ के ससुर की गठिया की दवा लेने गये हैं, आते होंगे। वे मेरी ड्यूटी लगा गये थे कि मैं तुम्हें आते ही ख़बरदार कर दूँ कि तुम नरमी से पेश आना...बप्पा को डर है कि तुम देखते ही उस हाथ छोड़ बैठोगे...

अवध यकायक बुक्का फाड़कर रो पड़े...दुनिया की नज़र में ऐसा बाप हूँ मैं? क्या मैं सचमुच उसे सामने पाकर सीने से लगाने की बजाय उसे कूटने लगूँगा? क्या यही है मेरी असलियत...

अवध का रोना सुनकर लोग आसपास घिर आये, मामला जानकर सबने अवध को ढाँढस बँधाया। बहुतों को हेमंत का आना दोपहर में ही पता चल चुका था। इसी बीच पुरुषोत्तम भी आ पहुँचे, उनके हाथ में एक ढका दोना था। पास पहुँचने के पहले ही उन्हें लोगों से बात का पता चल चुका था। भीड़ को चीरकर वे अवध किशोर के सामने जा खड़े हुए। उनका और अवध किशोर का गहरा दोस्ताना था।

"खुश हो कर जाओ अवध किशोर, अब रोने की बेला कहाँ रही...यह तो बाप के दिल की जीत है", पुरुषोत्तम ने हाथ बढ़ाकर दोस्त के आँसू पोंछे। इन पंद्रह महीनों में उन्होंने न जाने कितनी बार अवध को रोते देखा था और उसके आँसू पोंछे थे, लेकिन आज के आँसू तो बहुत फ़र्क थे, इनमें दुख

तो था ही, बल्कि उससे ज़्यादा गहरा दुख था कि दुनिया की नज़र में बतौर बाप उनकी छवि यह है, तो फिर बेटे की नज़र में भला इससे क्या फ़र्क़ होगी....

"लो, यह लेकर जाओ... हेमंत के लिए इमरती लाया था, उसे अपने हाथ से लिखा देना। मैं पीछे-पीछे आता हूँ। अवध ने चुपचाप वह दोना पकड़ लिया, पुरुषोत्तम से उनका बहुत पुराना दोस्ताना था। घर पहुँचकर किशोर ने फ़ाटक खोला, सीढ़ी चढ़कर ऊपर पहुँचे... उन्होंने बरामदे में रखे गमले से गेंदे के दो फूल तोड़े और सहजता से भीतर आ गये। जब वे सीढ़ी चढ़ रहे थे, तभी उन्हें प्रभा और हेमंत के हँसने-बोलने की हलचल सुनायी पड़ी थी और उसमें हेमंत की माँ की खनकदार आवाज़ भी थी।

अवध किशोर उस बैठक में पहुँचे, जिसमें तीनों का जमावड़ा था। हेमंत को आये पाँच घंटे बीत चुके थे और इस बीच उसके औचक आ पहुँचने पर हुआ चीत्कार-विलाप गुज़र चुका था। अब तो हेमंत इन पंद्रह महीनों के कुछ-कुछ बीते हुए टुकड़े उलीचकर बाहर ला रहा था। अवध किशोर ने सब को देखा और हाथ में दोना लिये उधर बढ़ गये, जिधर हेमंत की माँ ने ठाकुर जी बैठा रखे थे। उनके हाथ के दोने पर दो फूल रखे थे। अवध ठाकुर जी के सामने गये और मौन खड़े हो गये। न शब्द, न पूजा भाव में बंद आँख का नमन... वे बस निःशब्द खड़े रहे, उनके साथ आकर हेमंत भी हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, अवध किशोर जब सहज होकर अपनी जगह से हिले, तो हेमंत ने झुककर उनके पैर छुए। अवध ने उसे आशीष देते हुए सीने से लगा लिया। वे अपने आँसुओं के बाँध को रोके हुए थे, लेकिन हेमंत द्रवित था। इसी बीच हेमंत की माँ भी पानी का गिलास लिये पति के पास आ खड़ी हुई अवध किशोर ने उसे भी हाथ बढ़ाकर बेहिचक पास समेट लिया। हेमंत और हेमंत की माँ दोनों अवध के सीने से लगे खड़े थे और इस बीच पृथ्वी को अपनी सहज गति जुटाने में कई अतिरिक्त मिनट लग गये थे। एक युग-सा गुज़र गया था इन चंद मिनटों में। यह इन तीनों प्राणियों ने जाना था, तब तक सहसा संपन्न हो आये इस परिवार के बीच पुरुषोत्तम भी आ पहुँचे थे हेमंत को इमरती जैसे उन्हीं के हाथ से खानी थी, अपने बचपन के दिनों की तरह... बीती रात एक हलचल भरी रात थी जिसमें हेमंत सिर्फ़ लाड़ समेटता रहा था। सब लोग यह जानने सुनने को बेचैन थे कि हेमंत कहाँ रहा इतने दिन. .. क्या किया उसने.... अब क्या कर रहा है... उसे कैसे अचानक अब घर की सुधि आई... इतना तो उसकी अटैची खुलने से साफ़ हो गया था कि भूख लाचारी के दिन उसने नहीं काटे थे लेकिन उसकी हथेली छू कर माँ ने कहा था, 'हाथ कड़े हो गये हैं हेमंत... कुछ तो अनहोनी झेली ही है इन हाथों ने...

इस भोर तक हेमंत केवल चुप रहा था, सिवाय यह कहने के कि वह घर से सैकड़ों मील दूर था, एक नये शहर में ही नहीं, नये प्रदेश में भी बताने को उसके पास बहुत मसाला है, बहुत कुछ एकदम नया उसने देखा और जाना है... बताएगा वह, सब बताएगा... लेकिन जैसे सब बताने की हेमंत को जल्दी नहीं थी।

अगले दिन अवध किशोर दफ़्तर नहीं गये। प्रभा भी स्कूल नहीं गई। सुबह-सुबह अवध ने हेमंत को बुलाकर पास बैठा लिया। उसकी माँ और बहिन भी साथ आई और बैठ गईं, और अवध ने बेटे के आगे अँजुरी फैला दी कि वह उसमें वे अपने बीते हुए दिन डाल दे जो उसने इस दरवाज़े के पास गुज़ारे, चाहे अच्छे या बुरे... पिताजी, इसमें तो बहुत दिन लग जाएंगे. .. सारा कुछ एकबारगी कह भी नहीं पाऊँगा, हाँ, यह वादा करता हूँ कि सब कुछ बताऊँगा... मंज़ूर है ?

मंज़ूर है सबने एक साथ कहा था।

0 0 0

मेरा रिज़ल्ट आने के पहले ही तय था कि मैं अपनी किताबें और नोट्स वगैरह दीपक को दे दूँगा। आप जानते ही हैं कि वह मेरा पक्का और पुराना दोस्त है, रिज़ल्ट आने के दो-तीन दिन के भीतर जो होता रहा उसकी खबर दीपक को रोज़ ही मिलती थी। मिलती क्या थी, उसे मैं ही बताता था। वह भौंचक भी होता था और परेशान भी। दीपक के पिता का अच्छा बड़ा कारोबार है... दीपक ने उस साल ग्यारहवाँ पास किया था और वह भी आगे इकॉनामिक्स ही-पढ़ने का मन बना चुका था।

जिस दिन मैंने तय किया कि मैं घर से भाग निकलूँगा मैंने अपनी किताबें और नोट्स समेटे और दीपक के घर जा पहुँचा उसे किताबें सौंपीं, उसके पूछने पर अपना इरादा बताया, तभी आँखें भिगोते हुए दीपक ने पाँच सौ का एक नोट मेरे हाथ पर रख दिया। कोई बहस नहीं, बस इसे रख लो। उस समय पैसा मेरी ज़रूरत थी। उस पाँच सौ को मिलाकर मेरे पास तेरह सौ पचास रुपये हो गये थे। उसी रात अपने कुछ कपड़े और सर्टिफिकेटस समेट कर मैं सबसे लंबी दूरी वाली गाड़ी के आखिरी स्टेशन का टिकट लेकर भाग निकला था। "हूँ...," बेटे की बात सुनते हुए यह अवध किशोर की पहली हुंकारी थी।

रात ग्यारह सत्ताइस पर गाड़ी रवाना हुई। बर्थ के बावजूद मेरी आँखें में नींद नहीं थी। गाड़ी छूटने के पहले यह घबराहट कि कहीं कोई जाना-पहचाना न मिल जाए और उसके बाद यह कि आगे क्या होगा। ख़ैर मैं सो गया। भोर की सफ़ेदी फैलने पर मेरी आँख खुली। डिब्बे में कुछ हलचल थी। मैंने घड़ी देखी, सवा पाँच बज रहे थे। पता चला कि गाड़ी इस छोटे से स्टेशन पर चार बजे से किसी ख़राबी की वजह से खड़ी है, वरना यहाँ इसको कहाँ रुकना होता है। फिर मैं भी उस हलचल में शामिल हो गया.. और किया ही क्या जा सकता था? वहीं मेरी गपशप एक नौजवान अजीत सिंह से शुरू हो गई। बातचीत ज़रा गहरे उतरी तो पता चला कि वह एक ट्रक ड्राइवर है, छठी में पढ़ने वाला उसका बेटा इम्तिहान में फेल हो गया है... पता नहीं स्कूल उसे रखेगा भी या निकाल देगा... घर में पढ़ाने वाला कोई है नहीं, बच्चा करे भी तो क्या करे। मेरा दिमाग़ चला, मैंने झट

बात चला दी कि उसका ज़िम्मा मैं संभालता हूँ। वह आदमी चौंका।

"आप कहाँ जा रहे हो?"

"जहाँ आप कहो"

"क्या मतलब?"

"घर से भागा हूँ। बारहवाँ फ़र्स्ट डिवीज़न में इसी बरस पास किया है। मैं आगे पढ़ना चाहता था, पिताजी क्लर्क बनाने पर तुले थे, मैं घर छोड़कर भाग निकला कि जो बनूँगा, खुद बनूँगा। चाहे चपरासी बनूँ, लेकिन अपने ही शहर में क्लर्की नहीं करूँगा..."

"शाब्बाश...!" अजीत जोश में आ गया, "चलो मेरे साथ। मेरे बेटे को पढ़ा दो, मैं तुम्हें ड्राइविंग सिखाकर काम का जुगाड़ करा दूँगा पार्ट टाइम में पढ़ाई भी करते रहना।"

मैंने झट हामी भर दी।

मैं अजीत के साथ उसके शहर आ गया। मेरा कार पर हाथ आज़माना शुरू हुआ। अजीत के बेटे जोगिंदर को लेकर उसके स्कूल गया और उसके प्रिंसीपल को पटाया कि महीने बाद दुबारा इम्तिहान ले लें, तो बच्चे का साल बच जाएगा। मैंने बताया कि मैं बच्चे का मामा हूँ। प्रिंसीपल हँसा... उसने बताया कि बच्चा हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों में गोल है। मैंने चाल बदली, "कोई बात नहीं, आप हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों का टेस्ट ले लीजिएगा।"

वह मान गया। मैं खुश हो गया कि सारे विषयों की तैयारी से बचे। एक महीने का टाइम हाथ लगा और भगवान की कृपा से जोगिंदर न केवल दोनों में पास हुआ, बल्कि उसने ठीक नंबर लाकर दिखाये। मेरी गोटी जम गयी।

इस बीच मैं अजीत के चचेरे भाई के साथ टैक्सी पर जाने लगा। मेरे पास लर्निंग लाइसेंस था ही। वह बगल में बैठता और मैं गाड़ी चलाता। महीने भर में मैं पक्का हो गया। मेरा लाइसेंस भी बन गया। मुझे टैक्सी मिलने लगी। मेरा अजीत और उसके चचेरे भाई से अच्छा दोस्ताना बन गया। अजीत के बेटे का साल बच गया था, मैं उसे पढ़ा भी रहा था और इस नाते अजीत की खोली में रह भी रहा था ।

क़िस्मत की बात, एक बार किसी को सिर्फ़ एक दिन के लिए एक ड्राइवर की ज़रूरत पड़ी और मुझे पता-ठिकाना बताकर वहाँ भेज दिया गया। मैं जिनके पास पहुँचा, वे कोई डॉ० शिन्दे थे। एक बड़ी-सी कोठी थी, पोर्टिको में एक कार खड़ी थी। घंटी बजाने पर एक औरत ने दरवाज़ा खोला... वे मिसेज़ शिन्दे थीं। मैंने आने का मक़सद बताया। जबाव मिला कि डॉ० शिन्दे कहीं निकले हुए हैं, पता नहीं कब लौटें... मिसेज़ शिन्दे ने सुझाव दिया कि मैं अपना पता वगैरह लिख दूँ, फिर चाहे इंतज़ार करूँ या दुबारा चक्कर लगाऊँ। उन्होंने मुझे एक काग़ज़ क़लम पकड़ाया और भीतर जाने को मुड़ी ही थीं कि मैंने अपना सवाल रख दिया, "इनकी डिस्पेंसरी कहीं दूर है क्या...?"

जवाब में वे खिलखिला कर हँसी... पता चला डॉ० शिन्दे एक प्रोफ़ेसर है। मैं भी हँस पड़ा और काग़ज़ पर अपना नाम और सतनाम टैक्सी वालों का पता-ठिकाना लिखने लगा। लिख ही रहा था तभी प्रोफ़ेसर जी आ गये कुर्ते और पैन्ट में एक गोरा लंबा आदमी, चेहरे पर फ्रेन्च कट दाढ़ी और सिर पर एक अजीब-सी कैप...

मैंने उन्हें देखा और समझ गया कि यही हैं... फिर काग़ज़ उनकी ओर बढ़ा दिया।

उन्होंने काग़ज़ पढ़ा, फिर मेरी तरफ़ देखा और देखते रहे. ..

"तुम्हीं ड्राइवर हो?"

"जी सर"

"यह राइटिंग ड्राइवर की तो नहीं लगती" अपनी बात पर वह खुद हँसा और उसने मेरे किसी जवाब का दरवाज़ा बंद कर दिया। अब मैं स्टडी में था। वह बैठा, मैं भी बैठ गया। तभी एक ट्रे में मिसेज़ शिन्दे चाय ले आयीं इस बीच डॉ० शिन्दे ने फुर्ती से एक फाइल में से दो काग़ज़ निकाले और मुझे थमा दिये।

"इन्हें ज़ोर से पढ़ो"

मैंने देखा और काग़ज़ पढ़ना शुरू कर दिया। वह हिन्दी में कोई लेख था। मिनट भर बाद ही वह बोले, "ठीक है, अब ऐसे ही दूसरा वाला पढ़ो।"

यह भी हाथ का लिखा हुआ कुछ मैटर था और अंग्रेज़ी में था। मैंने उसे भी पढ़ना शुरू कर दिया। वह काग़ज़ उन्होंने पूरा सुना और फिर रुककर बोले, "तुम ड्राइवर नहीं हो, भले ही कार चलाना जानते हो।"

मैं चुप रहा

"आज से और अभी से तुम पूरे समय मेरे साथ इसी कोठी में रहोगे" वे तेज़ी से उठे और स्टडी से लगे पीछे के कमरे में चले गये। मैंने मिसेज़ शिन्दे की ओर देखा। चालीस-पैंतालिस की उम्र के थे दोनों लोग। आगे मिसेज़ शिन्दे ने कहा, "डॉ० शिन्दे एक बड़े लेखक हैं। यूनीवर्सिटी में प्रोफ़ेसर थे। पहले वहाँ से छोड़कर साल भर रूस में रहे... मैं भी साथ थी। सात महीने फ्रांस में भी एक प्रोजेक्ट किया। वहाँ बेटा है हमारा। अब दो साल से यहीं रहकर लिख रहे हैं। मैं यूनीवर्सिटी कॉलेज में पढ़ाती हूँ।

"क्या सब्जेक्ट है?"

"मनोविज्ञान...डॉ० शिन्दे का भी यही है।"

तभी डॉ० शिन्दे हाथ में एक काग़ज़ ले कर लौटे, "क्या नाम है तुम्हारा"

"हेमंत... हेमंत भारद्वाज"

ओ०के० हेमंत, यह फ़ार्म भरो, सब कुछ एकदम ठीक-ठीक। जहाँ कुछ पूछना हो पूछ लेना।

मैंने फ़ार्म भर दिया नाम, पिता का नाम, स्थायी पता, पढ़ाई, विषय, नंबर पर्सेंटेज, सब कुछ था उस फ़ॉर्म में फ़ॉर्म भर कर डॉ० शिन्दे को थमा दिया, वे पढ़ने लगे, तभी बीच में बोल कर मैंने अपनी बात कही, "हाई-स्कूल और इन्टरमीडिएट, दोनों

की ओरिजिनल मार्कशीट यहीं हैं मेरे पास, कल ले आऊँगा।''

पता नहीं क्या था कि डॉ0 शिन्दे खट् से उठे और फिर बैठ गये, ''घर से भाग कर आये हो?''

''हाँ,'' मैंने निडर होकर जबाव दिया, क्योंकि ऐसी हालत में मेरा घर से भाग निकलना कोई ग़लत क़दम नहीं था।''

अवध किशोर ने फिर एक हुंकारी भरी... 'हूँ' बात सुनते हुए यह उनकी दूसरी हुंकारी थी...

''अब उन्हें ख़बर करोगे?''

''नहीं''

''कब तक नहीं?''

''क्या यह बताना ज़रूरी है सर...?''

''ओ0के0... ज़रूरी नहीं है... आगे क्या करना चाहते हो...?''

''अर्थशास्त्र में एडमीशन चाह रहा था, इस साल नहीं तो अगले साल... आप बताएँ मुझे आपके पास क्या करना होगा?''

''बताता हूँ... मैं लिखूँगा, तुम उन शीट्स को साफ़-साफ़ फ़ेयर करोगे। यहीं पास में एक अड्डा है, जहाँ फ़ोटोकॉपी होती है। उसी का कंप्यूटर सेंटर भी है। उसने फ़ैक्स, स्कैनर वगैरह सब लगा रखा है। मेरा वहाँ भी काम कराओगे। मेरे पास अपना भी कंप्यूटर है, सिखा दूँगा तो तुम मेरी मेल भी देखकर जबाब दे सकोगे... सीख-समझ कर मेरी कॉल्स लेना शुरू करोगे.... गाड़ी तो चलाओगे ही... तुम्हारा खाना रहना सब मेरे साथ होगा, यहीं कोठी के आउट-हाउस में। इस सब के साथ मैं तुम्हें पाँच हज़ार रुपये दूँगा, बोलो मंज़ुर है...?''

मैं तो हैरत में आ गया। मुझे तो मंज़ूर ही था। मेरा काम डॉ0 शिन्दे के साथ शुरू हो गया। इस बीच मेरा जुड़ाव अजीत और जोगिया से भी बना हुआ है और...

''अरे वाह!'' अवध किशोर ने अब उत्साह में आकर बात काटी... तुम्हें तो हेमंत जैसे सब कुछ प्लेट में धरा, पका-पकाया मिल गया।''

''और यह हाथ के गट्ठे...?'' यह हेमंत की माँ का सवाल था।

''अरे यह गाड़ी चलाता रहा है तो इतना तो होगा ही'' अवध किशोर ने जवाब देते हुए अपनी जिज्ञासा सामने रखी, ''अब बताओ कितने दिन रहोगे, क्या इरादा है...?''

''पिताजी मिसेज़ शिन्दे ने प्राइवेट से बी0ए0 फ़र्स्ट इयर का फ़ॉर्म भरा दिया है... पढ़ाई भी करनी है, इम्तिहान देने तो वहीं जाना होगा, तभी निकलूँगा। डॉ0 शिन्दे भी रूस जाने की तैयारी में थे।''

''रूस न हो गया नुमायश ग्राउन्ड हो गया। तुम्हारे वह प्रोफ़ेसर बहुत रूसबाज़ हैं क्या...?'' प्रतिभा ने चुटकी ली।

''अरे हाँ, मुझसे और अपने दोस्तों से वह अक्सर रूस की बात करते हैं... 'रूस में एक लेखक था'... और शुरू हो जाते हैं।''

सब ठठाकर हँसे। हेमंत ने भी हँसने की कोशिश की, लेकिन हँस नहीं सका। किसी ने नोट भी नहीं किया। सबको तसल्ली थी कि लड़का रास्ते पर लग गया है।

0 0 0

उस रात हेमंत की माँ से नहीं रहा गया। हेमंत को उन्होंने देर तक बिस्तर पर छटपट करते देखा था। एक अजीब-सी बेचैन हालत में वह था। उन्होंने ऐसा सिर्फ़ उसी रात नहीं देखा था, वह कई बार देख चुकी थीं। दिन में भी वह पढ़ता तो डूबकर था, लेकिन कई बार जैसे उचट-सा जाता था। उस रात हेमंत की माँ से नहीं रहा गया, वे उठीं, पति को जगाया और उन्हें लेकर दालान में आ गयीं। अवध भी चौकन्ने होकर पत्नी की बात सुनने लगे।

''सुनो, लड़का बहुत बेचैनी में है। कुछ छिपा रहा है हमसे और उसे सह भी नहीं पा रहा है...''

''तुमने ठीक से देखा है?'' अवध के स्वर में संशय था।

''हाँ... कई दिन से देख रही हूँ। रात में ही नहीं, दिन में भी...''

''वहाँ जाकर कोई प्यार-व्यार का चक्कर तो नहीं पाल लाया..?'' अवध की शंका थी।

''नहीं, यह प्यार का लक्षण नहीं हैं, वह डरा-घबराया-सा लगता है।

''क्या...?'' अवध किशोर अब गंभीर हो गये, ''क्या कोई जुर्म करके वहाँ से भागा होगा..?''

हेमंत की माँ चुप रहीं, 'हाँ' कहने में उन्हें ज़ोर पड़ा, 'नहीं' की आवाज़ उनके भीतर से नहीं निकली।

पत्नी को चुप देखकर अवध और गंभीर हो गये। वे उसे जानते हैं, उसका पढ़ा कभी ग़लत नहीं होता। वह अपने बच्चों की सच्ची माँ है।

''रुको, मैं उसे लाता हूँ अभी।''

अवध किशोर वापस मुड़े, तो उन्होंने हेमंत को दरवाज़े पर ही खड़ा पाया।

''आ जाओ बेटा, खुलकर बात कर लो... कोई बोझ दिल पर मत रखो। मेरी एक चूक से तुम्हें घर छोड़ना पड़ा, अब मैं दूसरी चूक नहीं होने दूँगा....''

पिता के शब्दों में ग़ज़ब का ढाँढस था। हेमंत आया और दालान में पड़े सोफ़े पर बैठ गया, जहाँ उसकी माँ पहले से बैठी थी।

हेमंत ने बोलना शुरू किया—''डॉ0 शिन्दे ने मुझे बेटे जैसा प्यार दिया। मिसेज़ शिन्दे को मैं शहर के चलन में 'आन्टी' कहने लगा। डॉ0 शिन्दे को मैं 'सर' ही कहता था। उनका बहुत-सा काम मैंने सँभाल लिया था। उन्होंने मुझे कंप्यूटर सिखाया, तो उनका काम हल्का हो गया। वे मुझ पर ज़्यादा भरोसा भी करने लगे। जिस समय उन्होंने मुझे लिया था, वे एक बहुत बड़ी किताब लिख रहे थे... शिक्षा, देश, मनोविज्ञान, राष्ट्रीयता... इस सब से भरी हुई और मेरी समझ से बाहर। बस, वे लिखते थे, मैं फ़ेयर करता था और उसकी फ़ोटोकॉपी कराकर उसे फ़ाइल कर देता था। बात थी कि सर जब लिखना पूरा कर लेंगे, तब उस फ़ोटोकॉपी की फ़ाइल को दुबारा देखकर

फ़ाइनल करेंगे और उसके बाद कंप्यूटर पर उसे टाइप करा दिया जाएगा। फ़ेयर करने और फ़ोटोकॉपी कराने का काम मेरा था। इस बीच मैं डॉ0 शिन्दे के लिए आये हुए फ़ोन भी सुनता था, ख़ासतौर पर तब, जब वे लिख रहे होते थे। उन्हें फ़ोन करने वालों से मेरी जान-पहचान बस आवाज़ के ज़रिये हुई थी। सबके सब पढ़ने-लिखने वाले लोग थे और उनसे मेरी मुलाक़ात यदायदा फ़ोटोकॉपी की दुकान पर होती रहती थी।

एक दिन एक प्रोफ़ेसर ने मुझे फ़ोटोकॉपी की दूकान पर रोक लिया। हम दोनों वहीं दूकान पर बैठकर बात करने लगे। दूकान वाला मल्होत्रा भी वहीं पास बैठा था... अचानक बात की धारा बदल गयी।

मेरे सामने पेशकश हुई कि मैं डॉ0 शिन्दे की फ़ोटोकॉपी वाली फ़ाइल यहाँ लाकर उसका एक सेट और तैयार करा दूँ, फिर वह फ़ाइल उनकी शेल्फ़ में वापस पहुँचा दूँ.... उसके बाद जो भी शीट्स मैं लाऊँ, उनकी दो कॉपी बनें। एक मैं हमेशा की तरह ले जाकर फ़ाइल करूँ और दूसरी वहीं दूकान पर छोड़ दूँ। डॉ0 शिन्दे की ओर से मेरे लिए यह सख़्त हिदायत थी कि मैं ये शीट्स किसी भी हालत में, किसी भी कार्यवाही के दौरान् किसी के भी पास न छोड़ूँ। दरअसल, किताब वालों के काम का तरीक़ा ही यही होता है और मल्होत्रा भी यह जानता था। ख़राब हो गये काग़ज़ भी साथ वापस लाता था, ताकि कोई काला-पीला अधपन्ना भी वहाँ न छूटे।

उस दिन उस प्रोफ़ेसर ने मेरे आगे पंद्रह हज़ार रुपये रख दिये... नगद! बाक़ी के पूरी किताब का सेट बन जाने के बाद। योजना यह बनी कि जब तक डॉ0 शिन्दे इन फ़ोटोकॉपी किये हुए पन्नों को पढ़ेंगे, तब तक यह किताब डॉ0 दीवान के नाम से छपकर आ चुकी होगी, वह भी सैकड़ों मील दूर के किसी प्रकाशक के ज़रिये।

मैं सन्न था। दूकान वाले मल्होत्रा ने मुझे समझाया कि मैं कैश उठा लूँ और बेफ़िक्र हो जाऊँ।

"पिताजी, मैं डोल गया। मेरी तनख़्वाह डॉ0 शिन्दे मेरे एक बैंक में डलवाते थे, जिसे उन्होंने ही मेरे लिए खुलवाया था। इस कैश को मैंने पोस्ट-ऑफ़िस में नया खाता खोलकर उसमें जमा कर दिया। दो महीने में किताब पूरी हो गयी और उसके बाद मुझे दस हज़ार रुपये और मिले।

"जिस दिन किताब पूरी हुई, उसी दिन डॉ0 शिन्दे ने एक पार्टी रखी, उसमें उनके सारे संगी साथी आये, वे भी जिनके फ़ोन लिखने के दौरान् वे नहीं सुनते थे। उस पार्टी में डॉ0 शिन्दे बहुत ख़ुश थे और उस दिन उनसे कई बार सुनने को मिला था. कि रूस में एक लेखक था....

"पार्टी वाले दिन सर ने आंटी के साथ मेज़ पर नाश्ता किया और मुझे भी साथ बैठाया। तभी यह तय हुआ कि डॉ0 शिन्दे सपरिवार पहले नागपुर जाएँ, जहाँ आस-पास ही दोनों के परिचित घर हैं। उसके बाद सबसे मिल-जुल कर दोनों लोग रूस के लिए निकलें। वहाँ रुककर किताब की पांडुलिपि फ़ाइनल करें और टाइप कराकर उसे प्रकाशक के हवाले कर दिया जाए। उसके बाद तीन-चार हफ़्तों में किताब हाज़िर...।

"डॉ0 शिन्दे बहुत ख़ुश थे उस दिन और उस दिन उन्होंने मुझे पहली बार पास बैठाकर समझाना शुरू किया था कि रूस में लेखक था दोस्तोकी या कुछ ऐसा ही। वह उसे दोस्तो कहते थे। उनका जोश मुझे डरा गया था और इस नाते जो कुछ उन्होंने मुझे समझाया, वह सारा कुछ मेरे सिर के ऊपर से निकल गया था। उसके दो दिन बाद डॉ0 शिन्दे आंटी के साथ नागपुर उड़ गये थे। जाने से पहले आंटी ने मुझे कुछ नोट्स दिये, लाइब्रेरी से लाकर कुछ किताबें दीं और समझाया, 'ख़बरदार, मन लगाकर पढ़ना, फ़ादर मारें भी तो चुपचाप पिट लेना... मैं लौटने की ख़बर भेजूँगी।"

"डॉ0 शिन्दे ने उसमें अपना स्वर मिलाया, "किताब तो तुम्हारे सामने ही आएगी, एक बार तो उसके प्रूफ़ भी तुम्हें देखने होंगे, यह भी सीखो, यह मेरी कोई आख़िरी किताब थोड़े ही है...;

"वे लोग उधर नागपुर के लिए निकले, मैं इधर घर आ गया।"

इतना कहकर हेमंत चुप हो गया। अवध भी चुप थे और हेमंत की माँ भी। फिर कुछ ठहरकर अवध बोले थे, "यह बहुत बुरा हुआ हेमंत, बहुत बुरा। चोरी-चमारी से भी ज़्यादा बुरा हुआ। ख़ैर अब कमान से छूटा हुआ तीर तो वापस आने से रहा, इसलिए भगवान से क्षमा माँगते हुए सो जाओ... जो होगा, हम मिलकर झेलेंगे"

कुछ कँपकँपी भरी आवाज़ में हेमंत की माँ ने पूछा, "कोई पुलिस-मुकदमे का चक्कर तो नहीं बनेगा न?"

अवध ज़रा तैश में आ गये, "ज़मीर से बड़ी कौन-सी पुलिस है कुसुम? मामला उस अदालत का है। ख़ैर, अब सो जाओ और बेटे को भी प्यार से सुला दो।"

0 0 0

पिता और माँ से अपराध-बोध साझा कर लेने के बाद हेमंत का मन हल्का हो गया। उसका चित्त-मन पढ़ाई की ओर लौटने लगा। उसने मन ही मन मिसेज़ शिन्दे को प्रणाम किया और जुट गया परीक्षा में। अभी दो महीने का समय था कुछ तैयारी उसकी पहले से भी थी, अब वह एकाग्र हो कर इसी लक्ष्य में उतरने लगा। परीक्षा वाले दिन हेमंत ने अपना मन टटोला कि अगर आसपास उसे कोई शिन्दे परिवार का दिख गया, तो क्या वह उनका सामना कर पाएगा? भीतर से उसे उत्तर 'हाँ' में मिला। इतने दिनों में उसने बूँद-बूँद यह साहस जुटाया था कि वह उन लोगों के सामने अपना अपराध कह कर खुद को सज़ा के लिए पेश कर सके। सरल नहीं था यह, लेकिन हेमंत ने किया था। परीक्षा के बाद वह डॉ0 शिन्दे की कोठी की तरफ़ गया था। वे लोग रूस चले गये थे। चौकीदार ने कहा था कि वह कल परसों तक उनका रूस का फ़ोन नंबर दे सकता है, डा0 उस्मान से लाकर देना पड़ेगा। लेकिन हेमंत को तो उसी रात ट्रेन पकड़कर वापस लौटना था। फिर उसने गाड़ी पकड़ने के पहले पाँच घंटे अजीत, जोगिया और सतनाम

टैक्सी वालों के साथ जा कर बिताये।

जब वह वापसी में गाड़ी में बैठा तो उसका मन निर्द्वंद्व था। पर्चे उसके अच्छे हुए थे। उसने तय किया था कि अब वह पूरे साल ट्यूशन करेगा और जम कर पढ़ेगा। डॉ0 दीवान से मिले पच्चीस हज़ार रुपये उस शहर के डाकघर में जमा थे, जिसे वह गाड़ी तेज़ी से पीछे छोड़ती जा रही थी।

हेमंत पूरे मनोयोग से पढ़ाई में जुट गया। हेमंत की माँ और अवध किशोर बेटे को सहज होकर पढ़ते देखते तो मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद देते। डॉ0 शिन्दे के पास रहकर हेमंत ने बहुत कुछ नया देखा-सीखा था। अपना पढ़ाई का कमरा उसने बेहतर ढंग से सँवार लिया था, वहाँ डॉ0 शिन्दे के कमरे की झलक मिल सकती थी। उसकी मेज के सामने एक और कुर्सी थी जिस पर अक्सर प्रतिभा आकर बैठती थी और दोनों भाई-बहन एक दूसरे से ऐसे डूब कर बातें करते नज़र आते थे कि निकलते-बैठते अवध किशोर ठिठक कर देखने लगते थे। दो पीढ़ियों का यह अंतर उन्हें विस्मित करता था। वे अक्सर हेमंत को प्रतिभा से डॉ0 शिन्दे के बारे में बात करने के दौरान यह कहते पाते थे, "रूस में एक लेखक था..."

अवध किशोर मन ही मन उलझन में पड़ जाते, वह कौन लेखक था रूस में...? अवध किशोर रूस से बस एक ही लेखक का नाम जानते थे, वह था टॉलस्टॉय। उसका भी बस एक उपन्यास उन्होंने सुन रखा था—'वार एन्ड पीस', वह भी उन्होंने पढ़ा नहीं था। बी0ए0 तक तो अवध भी पढ़े थे, कॉलेज में रहे थे। एक बार लाइब्रेरी से वे 'युद्ध और शांति' लाये भी थे, लेकिन इतना बड़ा उपन्यास पिता और बड़े भाई की नज़र बचाकर पढ़ पाना नामुमकिन था। ख़ैर, अब इतने बरस बाद हेमंत के मुँह से किसी और रूसी लेखक का नाम सुनना एक कौतुक पैदा कर रहा था। ख़ासतौर पर इसलिए कि यह ज़िक्र डॉ0 शिन्दे के संदर्भ में बतौर ठिठोली सामने आ रहा था।

रूस का एक लेखक... क्या नाम था?... दोस्तो...उसके बाद हँसी का एक ज़रूरी फव्वारा....

हँसी का फव्वारा अवध किशोर को, बतौर बाप, एक तसल्ली देता था कि बेटा राह पर भी है और गुनाह की गिरफ़्त से बाहर भी आ गया है... लेकिन बतौर इन्सान जब वे उस वाकये को दुबारा सोचते थे, तो बेचैन हो जाते थे। कैसा लगा होगा उस प्रोफ़ेसर को, जब उसकी बरसों की मेहनत से लिखी, तैयार की गयी किताब किसी और के नाम से सामने आयी होगी... कितना तड़पा होगा वह बेचारा... चीखा-चिल्लाया होगा. .. गालियाँ बकी होंगी उसने... अवध किशोर ने अपने कॉलेज के दिनों में अपने प्रिंसीपल तक को क्लर्क, चपरासी पर बरसते समय उसकी माँ-बहन करते सुना है... मास्टर प्रोफ़ेसर भी आख़िर इन्सान होता है... और ऐसे में यह बात अवध को बेचैन कर देती कि उस डॉ0 शिन्दे ने माँ-बहन करने के दौर में हेमंत को भी ज़रूर फेंटा होगा... ऐसा न हुआ हो, यह मुमकिन ही नहीं है।

यह एक खरोंच थी अवध के मन पर, जो सूख नहीं रही थी। उन्होंने इसे पुरुषोत्तम से भी साझा किया था। पुरुषोत्तम से उनका याराना बरसों पुराना था और पुरुषोत्तम भी एक गहरी समझ वाले इन्सान थे... ख़ैर उस खरोंच पर न सही मरहम, एक फूँक की लहर का सा असर इस नज़ारे का था कि हेमंत ढंग से पढ़ रहा था, घर-परिवार के साथ सहज जी रहा था और इन पंद्रह महीनों में बाहर से एक सलीका भी सीख कर लौटा था। इस तरह यह एक तसल्ली भरा दौर भी था ।

इसी तसल्ली भरे दौर में एक दिन मौसम का बदलाव दिखा।

अवध किशोर के घर के सामने एक ऑटो आकर रुका। उसमें से एक लंबा, गोरा-सा आदमी उतरा। उसने बादामी रंग की कार्टराइट की पैन्ट और नीला आसमानी रंग का लंबा कुर्ता पहना हुआ था और सिर पर एक लाल रंग की अजीब-सी टोपी। उसके हाथ में एक पहिये वाला सूटकेस था और वह शख़्स ऑटो से उतरकर सीधे अवध किशोर के फ़ाटक की ओर मुड़ लिया था। सबसे पहले उसे प्रतिभा ने अपनी सहेली के घर की खिड़की से देखा था। वह देखते ही समझ गयी थी कि हो न हो, यह लाल टोपी वाला आदमी ज़रूर वह रूसी है, जिसे डॉ0 शिन्दे कहा जाता है। उसने बौखलाकर वहीं से अपने पिता को फ़ोन किया कि डॉ0 शिन्दे घर पहुँचे हुए हैं और उसके बाद वह तुरंत घर की ओर भागी। डॉ0 शिन्दे जब सीढ़ी पार कर दरवाज़े की घंटी तक पहुँचे, तब प्रतिभा ने भी सीढ़ी पर पैर रखा। उसकी आहट पर डॉ0 शिन्दे ने मुड़कर देखा और मुस्कुरा दिये।

"आप...प्रतिभा हैं? हेमंत भारद्वाज की बहन..."

"जी सर"

डॉ0 शिन्दे वहीं ठहर गये। घंटी ऊपर आकर प्रतिभा ने ही बजायी थी, हालाँकि उसकी ज़रूरत नहीं थी, दरवाज़ा खुला हुआ ही था।

प्रतिभा डॉ0 शिन्दे को भीतर लायी और उन्हें वहीं दालान में सोफ़े पर बैठा दिया। आहट सुनकर हेमंत की माँ भी उधर बढ़ी, तो प्रतिभा ने वहीं से जबाव दिया, "भैया के सर आये हैं" और भागकर भीतर चली गयी। वहाँ पहुँचकर पहला काम उसने यह किया कि अपने होंठ पर उँगली रख कर माँ को चुप रहने का संकेत दिया और गिलास में पानी भरकर एक ट्रे में लिये डॉ0 शिन्दे के पास चली आयी। अब संवाद शुरू करने की समस्या थी।

"घर खोजने में कोई दिक़्क़त तो नहीं हुई...?"

"अरे नहीं, ऑटो वाला भला आदमी था, वह मुहल्ले तक तो लाया, फिर भारद्वाज जी का मकान पूछकर सीधा यहीं आ पहुँचा।"

"क्या लेंगे? चाय या कॉफ़ी..."

"अभी कुछ नहीं, हेमंत कहाँ है?"

"शायद लाइब्रेरी गया होगा, या कहीं पढ़ाने..."

"अपनी पढ़ाई कर रहा है ठीक से?"

"हाँ, पढ़ तो रहा है..."

"फ़र्स्ट इयर में तो अच्छे नंबर लिये हैं... फ़िफ़्टी सेवेन परसेंट से कुछ ऊपर ही हैं। उसकी मार्कशीट मैं लाया हूँ।"

"अरे वाह, भइया मार्कशीट के लिए परेशान था, उसे तो अभी तक अपने नंबर भी नहीं पता हैं।"

"कोई बात नहीं, इस बार ज़ोर लगाएगा तो सिक्सटी परसेंट पा सकता है। इस बार तो माइक्रो इकॉनोमिक्स भी है, उसमें खूब नंबर उठते हैं... तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है? तुम्हारे पास तो म्यूज़िक होगा, हेमंत ने बताया था।"

"हाँ, डबल म्यूज़िक है, इन्सट्रूमेंट में सितार है...।"

"ओह ग्रेट... तुम्हारी आंटी भी सितार बजाती है।"

"अच्छा...आंटी भी सितार बजाती हैं!..और आप..?"

"मैं तो बस पढ़ता हूँ, गप्पें मारता हूँ और मस्त रहता हूँ, लेकिन म्यूज़िक सुनता ज़रूर हूँ। रवींद्र संगीत मुझे बहुत पसंद है...।"

"हाँ, आपकी लाइब्रेरी बहुत बड़ी है, भइया बता रहा था...।"

"हाँ, मेरी लाइब्रेरी में बहुत किताबें हैं...एक पूरा सेक्शन तो रूसी लेखकों का ही है... जानती हो, रूस में एक लेखक था...।"

यकायक प्रतिभा ठठाकर हँस पड़ी, इतनी ज़ोर से कि उसकी माँ भी रसोई से बाहर आ गयी, वह भी भौंचक... भौंचक तो डॉक्टर शिन्दे भी थे।

"क्या हुआ, क्या बात है प्रतिभा..?"

"सर, भइया ने बताया था कि यह आपका प्रिय वाक्य है...रूस में एक लेखक था...भइया इसे कई बार दोहरा कर हमें सुना चुके हैं, बस वे उस लेखक का नाम नहीं बोल पाते, दोस्तो..दोस्तो...कुछ ऐसा ही...।"

"हाँ...दोस्तोव्स्की, यही नाम है उसका.. मैं उसे दोस्तो ही कहता हूँ.... ओह फ़्यूदोर दोस्तोव्स्की...।"

नाम लेते-लेते डॉ0 शिन्दे उठकर खड़े हो गये।

"दोस्तोव्स्की... यह लेखक मास्को में पैदा हुआ। एक फ़ौजी डॉक्टर का बेटा था। वह खुद भी फ़ौज में रहा, बतौर इंजीनियर..लेकिन उसे तो लेखक होना था प्रतिभा, तो सब कुछ छोड़-छाड़ कर वह लेखक हुआ....वैसे तो रूस लेखकों से भरा हुआ है, लेकिन दोस्तो... वह मनोविज्ञान के सहारे लोगों के भीतर उतर जाता था और आदमी को पूरा पढ़ लेता था..यू नो, मैं भी मनोविज्ञान का स्कॉलर हूँ, लेकिन मनोविज्ञान में जितना दोस्तोव्स्की भीगा, उसके मुकाबले मैंने छींटे भी नहीं बटोरे तभी. तभी..."

अवध किशोर बेटी का फ़ोन पाकर एकदम घर भागे थे। पता नहीं क्या हाल होगा वहाँ? उन्हें पता था कि हेमंत अपने दोस्त दीपक के घर गया है, तब भी उन्होंने वहाँ ख़बर नहीं की। वे पहले यहाँ का जायज़ा लेना चाहते थे। सीढ़ी चढ़ते समय उन्होंने एक अजनबी आवाज़ सुनी थी, तभी उन्हें पता लग गया था कि डॉ0 शिन्दे बोल रहे हैं। लेकिन उन्हें अचंभा हुआ था कि यहाँ तो माहौल ही कुछ दूसरा है... न हेमंत, न किताब, न दीवान, न शिकायत, न फ़साद, सीढ़ियों पर दो मिनट ठहरकर अवध किशोर ने घर के दालान में क़दम रखा। डॉ0 शिन्दे ने बढ़कर उनसे हाथ मिलाया, "आप अवध किशोर जी भारद्वाज हैं..?"

"जी हाँ..."

"मैं शिन्दे..." डॉ0 शिन्दे के चेहरे पर एक आनंद की लहर थी, मैं आप सबको—पूरे परिवार को—जानता हूँ। हेमंत ने मुझे सब बताया है। आपका स्पेंडुलाइटिस कैसा है..? मैंने हेमंत को आपके लिए एक दवा बतायी थी...।"

अवध सहज होने लगे। डॉ0 शिन्दे की बातचीत में उन्हें कोई खम-पेंच नहीं दिखा। अब अवध हँसे।

"दवा ले रहा हूँ, एक्सरसाइज़ भी करता हूँ, इस सबसे आराम है... आप बैठें, मैं अभी आया... अरे प्रतिभा, डॉ शिन्दे हमारे मेहमान हैं, कुछ ख़ातिर-वातिर करो...।"

डॉ0 शिन्दे हँसे, "हाँ, मेहमान तो हूँ... इसलिए कहता हूँ कि लौकी वाली चने की दाल खाऊँगा। हेमंत अपनी माँ के चौके की हर चीज़ को याद करता था, पर लौकी वाली चने की दाल, उसकी तो बात ही मत पूछिए...।"

"ठीक है..." हेमंत की माँ बात सुनकर रसोई से निकल आयी, "हींग तो खाते हैं न आप?"

'हाँ... हाँ... आप जैसी हेमंत को खिलाती हैं, वैसी बनाइए, मैं सब खाता हूँ..."

हेमंत की माँ हँसते हुए भीतर चली गयी, अवध भी अंदर चले गये।

"हाँ, नहाने का इंतज़ाम कर दूँ? हमारे यहाँ ताज़ा पानी हर समय आता रहता है।"

"हाँ मालूम है। हैंडपंप भी तो है न पीछे आँगन में, हमारे यहाँ तो मोटर चलाना पड़ता है।"

0 0 0

जब तक डॉ शिन्दे नहा-धोकर आये, हेमंत भी घर पहुँच चुका था। डॉ शिन्दे को देखकर पहले तो वह अचकचाया, लेकिन उनकी सहजता को देखकर वह भी कुछ आपे में लौटा। डॉ0 शिन्दे उत्साह में थे—"तुम्हारी मार्कशीट ले आया हूँ यूनीवर्सिटी में गड़बड़ी की वजह से ओरीज़िनल कहीं डिस्पैच में अटकी हुई होगी। यह तुम्हारी आंटी ने डुप्लीकेट कॉपी निकलवायी है।"

हेमंत ने मार्कशीट हाथ में लेकर देखी और पहले उसकी नज़र ने वह तारीख़ खोजी, जो उस मार्कशीट का इशू होना बताती थी। डुप्लीकेट की मोहर के ठीक ऊपर लिखी हुई तारीख़ बस चार दिन पुरानी थी। इस तारीख ने भी हेमंत को हैरत में डाला। जितनी देर हेमंत मार्कशीट में डूबा रहा, अवध किशोर ने वहीं दालान में मेज़ पर नाश्ता लगवा दिया। बातचीत की धारा छोटे-मोटे घरेलू मुद्दों पर चलने लगी।

नाश्ते के बाद डॉ0 शिन्दे ने अपने सूटकेस की चाभी हेमंत की ओर बढ़ायी—"सूटकेस में से ब्राउनी और मेरा मोबाइल निकाल लाओ..."

पल भर ठिठक कर हेमंत ने चाभी पकड़ ली और चल

पड़ा। उसे पाता था कि ब्राउनी वह डायरी है, जिसमें सिर्फ़ देश-विदेश की यूनीवर्सिटी के नंबर हैं। हेमंत डायरी और मोबाइल लेकर लौटा तो डॉ0 शिन्दे ने कहा कि डॉ0 अहलावत को फ़ोन लगाकर बता दो कि मैं परसों सुबह के सत्र में अपना पेपर पढ़ने पहुँच जाऊँगा।

हेमंत डायरी पलट ही रहा था कि डॉ0 शिन्दे ने फिर कहा, "यह भी पूछ लेना कि क्या हरिभाई पोद्दार का आना तय हो गया है?"

हेमंत ने फ़ोन लगाकर अपना काम शुरू कर दिया। डॉ0 विक्रम अहलावत से पता चला कि डॉ0 शिन्दे का पर्चा परसों दूसरे सत्र में रखा गया है, क्योंकि हरिभाई पोद्दार भी उसी सत्र में पहुँच रहे हैं। अपनी बात बताकर हेमंत सूटकेस की ओर घूमा और एक हरी डायरी लेकर लौटा।

"मैं कैल में इस चेंज को लिख देता हूँ।"

"गुड.."

कैल डॉ0 शिन्दे की वह डायरी है, जो कैलेन्डर कहलाती है। हेमंत ने उसमें परसों की तारीख़ का पेज़ खोला और सूचना दर्ज़ कर दी। अवध किशोर इस कार्यवाही को देख रहे थे। वे बोल पड़े, "कोई सेमिनार है क्या?"

"हाँ..बहुत सी यूनीवर्सिटीज़ की ओर से सेमिनार की चेन शुरू हुई है। उसमें तीन दिन का कार्यक्रम इधर पास का ही था। एक तो कल हो गया, वहीं से आ रहा हूँ। एक परसों है... और आख़िरी उसके दो दिन बाद। मैं कल सुबह निकल जाऊँगा। आज शाम को हेमंत हम सबको वह मंदिर दिखाने ले जाएगा, जिसके चबूतरे पर बैठकर यहाँ के एक मुसलमान शायर ने कभी मीरा के भजनों का उर्दू में अनुवाद किया था और वह रात-रात भर जागकर उन्हें यहीं चबूतरे पर बैठ कर गाया करता था। क्यों हेमंत, याद है, तुमने ही बताया था।"

"हाँ याद है...हम सब चलेंगे। माँ और प्रतिभा ने भी मंदिर अभी तक नहीं देखा है। बात बहुत पुरानी है, लेकिन वह चबूतरा अभी भी फ़िरोज़ी का चबूतरा कहलाता है। कहते हैं, एक सुबह वह शायर उसी चबूतरे पर हमेशा के लिए सोया हुआ पाया गया था।"

"ओह!" डॉ0 शिन्दे ने कहा, "तुम अपने जुपिटर टैक्सी वाले को शाम पाँच बजे टैक्सी के लिए फ़ोन कर दो, नंबर मेरे मोबाइल में ही लिखा है।"

"आप तो पूरी तैयारी से चले हैं", प्रतिभा ने कहा।

उसके बाद का समय खाने-पीने में बीत गया। डॉ0 शिन्दे ने थोड़ी देर आराम किया। शाम मंदिर देखने जाने में निकल गयी। वहीं पास में एक दूकान की प्याज़ की कचौरियाँ मशहूर हैं, वे खायी गयीं... और इस तरह घर लौटते-लौटते रात के आठ बज गये।

सुबह साढ़े आठ बजे डॉ0 शिन्दे ने अपने जाने के लिए टैक्सी बुलवायी थी। अब नींद की रात समेत परिवार के पास केवल बारह घंटे का समय डॉ0 शिन्दे के लिए था। अब तक डॉ0 शिन्दे ने न तो कोई बात उस मामले को लेकर उठायी थी, न ही उनके व्यवहार में कोई खटास दिखी थी। यह बात सबके लिए हैरत की थी, लेकिन अवध किशोर के लिए यह बहुत परेशान कर देने वाली स्थिति थी।

जब अवध किशोर से नहीं रहा गया, तो रात साढ़े नौ बजे उन्होंने डॉ0 शिन्दे को बुला ही लिया।

"डॉ0 शिन्दे, आपसे कुछ ज़रूरी बात करना चाह रहा हूँ।"

हेमंत पास में ही था, वह खुद-ब-खुद वहीं ठहर गया। उसने इशारे से प्रतिभा को भी वहीं बुला लिया। हेमंत की माँ भी कुछ समझ कर वहीं आ जुड़ी। सब इस बात के लिए तैयार हो गये कि अब अवध वह प्रसंग डॉ0 शिन्दे से छेड़ेंगे, फिर पता नहीं क्या सामने आएगा... डॉ0 शिन्दे का गुस्सा... दुख, धिक्कार, व्यंग्य या भर्त्सना...

डॉ0 शिन्दे भी सहज होकर बैठ गये, "कहिये अवध किशोर जी... बताइए।"

अवध किशोर ने खुद को संयत करके बोलना शुरू किया, "हेमंत ने आपके पास से वापस लौट कर हमें अपनी सारी कहानी सुनायी थी... कैसे आपकी किताब के काग़ज़ उस फ़ोटोग्राफ़ी की दूकान से प्रोफ़ेसर दीवान के पास जाते रहे। कैसे जब तक आप अपनी किताब फ़ाइनल करते, उसकी पांडुलिपि इन लोगों के हाथों बिक गयी... और आपको पता लगने के पहले हेमंत यहाँ आ गया... बाद में विस्फोट हुआ होगा। वह किताब डॉ0 दीवान के नाम से आयी होगी और आपके साथ हुई दग़ाबाज़ी का राज़ खुला होगा...

"इस पूरे मामले में हेमंत कसूरवार है... यहाँ आने पर भी आपकी चुप्पी हमें और ज़्यादा अपराधी बना रही है... इसलिए डॉ0 शिन्दे, प्लीज़, अपनी चुप्पी तोड़िए... बताइए आगे क्या हुआ, आप का क्या बीती..."

डॉ0 शिन्दे ज़रा मुस्कराए, लेकिन चुप रहे। कुछ देर उस बैठक में सन्नाटा पसरा रहा... फिर डॉ0 शिन्दे ने बोलना शुरु किया—"अवध जी, आप मुझसे बड़े हैं, इसलिए आपके कहे पर मैं यह प्रसंग खोलूँगा, वरना मेरा विश्वास कीजिए, मेरे मन में इसकी कोई तक़लीफ़ अब नहीं बची है। ख़ैर... यह सच है कि मेरा बहुत सा समय और मेहनत इस किताब पर लगी थी। दरअसल, इसी किताब के लिए मैंने यूनीवर्सिटी छोड़ी थी। पैसे की मुझे कोई कमी नहीं है... फ़ादर की प्रॉपर्टी का पैसा आता है। मेरी तेरह किताबों का पैसा आता है, जिनमें पाँच हिन्दुस्तान के बाहर छपी हैं और ख़ासी रॉयल्टी देती हैं। मैंने यूनीवर्सिटी में उन्नीस साल काम किया, मिसेज़ शिन्दे अभी भी यूनीवर्सिटी में पढ़ा रही हैं। मेरे पास अपनी कोठी है, गाड़ी है। बेटा अपने स्कॉलरशिप पर बाहर पढ़ रहा है, इसलिए पैसे का झटका मेरे लिए बड़ी बात नहीं बना... एक और बात है, जो ज़रा खुलकर बताता हूँ... रूस में एक लेखक था फ्यूदोर दोस्तोव्स्की... बहुत पहले उसको पढ़ा था और उसके बाद मेरा दिमाग़ खुद को बदल देने के लिए बेचैन हो गया था। वह लेखक मनोविज्ञान का माहिर था और अपनी सीढ़ी लगाकर इन्सान के भीतर उतर

जाता था और बहुत बारीक़ी से उसे पढ़ लेता था, हालाँकि मनोविज्ञान उसने कभी नहीं पढ़ा था... वह कहता था कि अच्छे सकारात्मक सोच वाले इन्सान के बारे में लिखना सबसे कठिन काम है और बुरे आदमी, बुरे समाज के बारे में लिखना खुद अपनी बुराई को माफ़ करने जैसा है, अपनी बुराई की वकालत करने जैसा है... अवध जी, मैं उसकी इस बात पर फ़िदा हो गया। मैंने सोचा कि मैं कहानी, उपन्यास लिखने वाला साहित्यकार तो हूँ नहीं, जो अच्छे आदमी के बारे में लिखूँ, लेकिन मुझे लगा कि मैं खुद को अच्छे सहनशील और सकारात्मक आदमी की तरह ढाल तो सकता हूँ... और मैं इस काम में लग गया... तभी, जब हम रूस से लौटे, तो बहुत सी दूसरी डाक के साथ कुरियर से डॉ0 दीवान की यह किताब भी आयी पड़ी थी। उसका शीर्षक, उसकी भूमिका, उसके चैप्टर्स का क्रम... उसे भले आदमी ने कुछ नहीं बदला... शायद वह बहुत जल्दी में थे। मैं उसे देखकर एकबारगी बेहद बौखला उठा और भागकर मिसेज़ शिन्दे के सामने जा खड़ा हुआ। वे सुनकर मुस्कायीं, फिर बोलीं, "क्या सोचते हो, फ्यूदोर का कहा मानना है या जो हो वही बने रहना है?"

मैं पहले चौंका, फिर सही ठिकाने पर आ गया और हँसा... उन्होंने कहा कि तुमने यह किताब पढ़ने वालों के लिए लिखी है और यह उन तक पहुँच गयी। इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि इसे डॉ0 दीवान ने लिखा है या तुमने... फ़र्क़ पड़ता है क्या, बताओ? मैं चुप रहा और अपनी स्टडी में आ गया... मैं वहाँ बैठा सोचता रहा। इसमें कोई शक नहीं कि मैं बेहद बेचैन था और मिसेज़ शिन्दे की बात ने मेरी बेचैनी की शक्ल बदल दी थी। मेरे एक तरफ़ डॉ0 दीवान थे और दूसरी तरफ़ वह दोस्तोव्स्की... एक ओर ये सारे लोग मुझसे आँखें चुराते सिर झुकाये खड़े थे और दूसरी ओर फ्यूदोर सीधे मुझसे नज़रें मिलाता हुआ मुझे ललकार रहा था। ज़ाहिर है, मैं उसकी ओर ही झुकता.. साथ ही, मैंने एक सवाल और खुद से किया... मान लो, यह किताब मेरे नाम से ही आती और इसकी रकम मुझे मिलती, तब भी तो मैं उसमें से हेमंत के लिए कुछ न कुछ करता ही.. हमने तो तय किया ही हुआ था कि इसे आगे पढ़ाना है और अपने साथ रखना है, तो इससे कुछ पैसे हेमंत के पास आ गये, तो क्या प्रॉब्लम है?... और रही बात यश की, तो अवध भाई, वह आदमी डॉ0 दीवान तो मुश्किल में फँस गया है। इस किताब के कितने ही अध्याय हू-ब-हू इन्हीं शीर्षकों से बाहर के देशों में और यहाँ भी मेरे नाम से छप चुके हैं। इसके दो चैप्टर्स के अंश मैंने यूनेस्को की मीटिंग में पढ़े भी हैं, जो वहाँ के रिकार्ड में है, मैं तो ज़रूर इस बारे में चुप रहूँगा, लेकिन यह बात क्या छुपने वाली है... मैं नहीं जानता डा0 दीवान कौन हैं, उन्हें यह आइडिया किसने दिया, लेकिन... मैं काफ़ी देर इस पर सोच-विचार करता रहा और फिर एक झटके से मैंने खुद को इससे खींचकर बाहर कर लिया। अब यह बात न मुझे याद रहती है, न डिस्टर्ब करती है। अब मैं सिर्फ़ खुद को मौके-बेमौके परखता हूँ कि क्या मैं फ्यूदोर दोस्तोव्स्की का आदमी बन सका हूँ?... इतने दिनों बाद, आज मैं खुद से कह सकता हूँ कि मैंने फ्यूदोर के स्कूल की प्राइमरी क्लास पास कर ली है। यह है न खुशी की बात..."

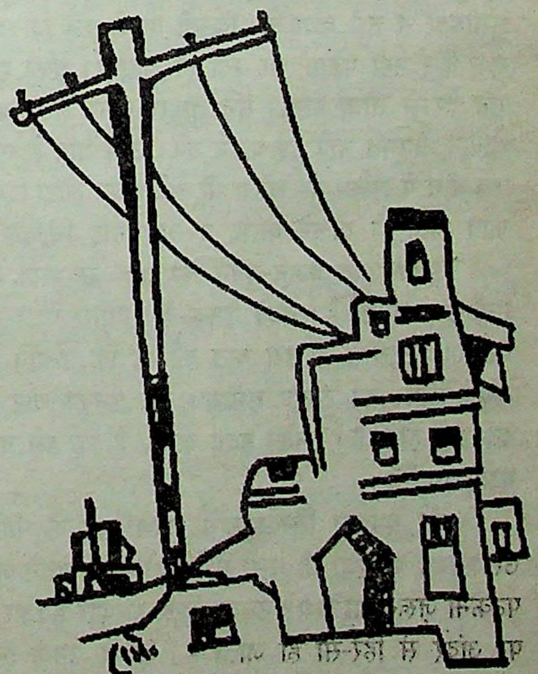
अपनी बात कहकर डॉ0 शिन्दे उठने को हुए, लेकिन अवध अभी भी कुछ कहना चाहते थे..और वे बोल ही पड़े, "लेकिन, डॉ0 शिन्दे, इस रास्ते हेमंत के पास जो पच्चीस हज़ार रुपये आये हैं, वे वहीं डाकघर में जमा हैं। यह पैसा रखना हमें बहुत दुख देता रहेगा। इसे आप ही....न मत करिएगा डॉ0 शिन्दे..."

डॉ0 शिन्दे हँसे, "ठीक है अवध जी, लेकिन एक बात ज़रूर कहना चाहूँगा। आप जिस तरह के फ़ादर हैं, जैसा मैंने हेमंत से इतने दिनों में और अभी कुछ देर में जाना, वह इस तरह के पिता का नक़्शा क़तई सामने नहीं लाता, जो हेमंत के आगे पढ़ने की ख़्वाहिश पर हाथ उठा दे... तो फिर कुछ तो दबाव रहे होंगे ज़रूर, जिन्होंने आप से ऐसा ज़ालिम व्यवहार करा दिया... मैं समझ सकता हूँ, ज़रूर वह समाज के रीति-रिवाज़ और बिरादरी के आईने में प्रतिभा के भविष्य का सवाल रहा होगा, जो अपनी जगह जायज़ भी है... तो अगर वह पैसा मेरा हुआ, तो चलिए मैं ही उसे इस काम के लिए फ़िक्स कर देता हूँ। अब मेरी मर्ज़ी पर तो किसी और का बस नहीं है न..."

बात ख़त्म करके डॉ0 शिन्दे हेमंत की तरफ़ घूमे, मैं वापसी में इधर से होता हुआ जाऊँगा। साथ चलने की तैयारी कर लेना... ओ0के0... अब सोना चाहिए..." और उन्होंने अपने सूटकेस की चाभी हेमंत को पकड़ा दी।

हेमंत ने बिना कुछ पूछे चाभी ली और उठकर चल दिया। उसे पता था डॉ0 शिन्दे अब सोने से पहले अपनी आँख की दवा लेंगे।

बी-11/45 सेक्टर 18, रोहिणी, दिल्ली-110085



होम-वर्क

चमेली जुगरान

हर रात 9 बजे जब वह खाना खाकर कार्टून देख रहा होता है, उसकी आँखों में नींद का नशा-सा छाने लगता है।

जब तक वह ड्राइंग-रूम में बैठकर खटर-पटर करता रहता है, वे उसके साथ बैठी रहती हैं। वह छुट्टियाँ बिताने आया है। कभी वे उसके साथ कैरम खेलती हैं, तो कभी ताश। नये-नये खेल और ख़ुद ही उसके बनाये नियम...

वे थकी होती हैं, समझती नहीं है गेम को, फिर भी साथ देती हैं। जैसा-जैसा वह बताता है, करती जाती हैं। उम्र का इतना बड़ा फ़ासला, फिर भी एक ही तार में जुड़े दो प्राणी। कितनी शांति और उल्लास है कमरे में। सारी दुविधाओं और चिंताओं से परे एक दूसरी ही दुनिया में विचरते जीव...

तभी बगलवाले कमरे का दरवाज़ा फटाक् से खुला और एक गरजती-डपटती मास्टर जी जैसी आवाज़ के साथ भारी बूटों की पदचाप सुनायी देती है...

"चलो वरुण, टाइम हो गया... आज साइन्स का काम करना है। तुम्हें मालूम है, इतना सारा असाइनमेंट पड़ा है। कब करोगे?"

"मैं दूध ख़तम करके आता हूँ पापा", उसने सहमते हुए कुछ और समय माँगा।

उसकी मासूम आँखों की मजबूरी उनसे न देखी गयी। मन तो हुआ कि आगे बढ़कर उसे अंक में भर लें.... दुनिया की सारी मुसीबतों से उसे बचा लें। विनती करके कहें कि आज रहने दो। एक दिन नहीं पढ़ेगा, तो क्या हो जाएगा। थका हुआ है। बच्चा रात देर से सोया होगा। मैंने तुम्हारे कमरे से आवाजें सुनी थीं। लेकिन, हिम्मत नहीं हुई कहने की। उन्हें याद है एक- आध बार जब बीच में आकर मुँह खोला भी तो डाँटकर लौटा दिया गया–"तुम कौन होती हो बोलने वाली, दे आर माइ चिल्ड्रन।"

इसके बाद कहने-सुनने को क्या रह गया था! मारें-पीटें, उन्हें हक़ बनता है। बच्चे उनके हैं। हमारा प्यार तो दूसरे नंबर पर है। अफ़सोस तो इस बात का था कि उन्होंने इन बच्चों को अपने जिगर का टुकड़ा समझा। जब उनको चोट लगती है, तो दर्द उन्हें होता है। उनका हृदय कहता है कि इसे क्यों लगी चोट, मुझे लगती।

वह चुपचाप सिर झुकाये अपने बाप के पीछे चला गया। उसके बाद दरवाज़ा भी धम्म से बंद हो गया। इतने ज़ोर से दरवाज़ा पटकना ज़रूरी था क्या? उनका दिल कमज़ोर है। हर ऊँची आवाज़ पर अंदर से हिर्रि-सा हो जाता है। शायद उनके लिए इशारा हो कि जाओ अपने कमरे में, डोंट इंटरफ़ेयर।

लेकिन, वे बैठी रहीं आस में कि कुछ देर बाद बच्चे को ब्रेक दिया जाएगा। वह जूस माँगेगा, सैंडविच या मैगी खाना चाहेगा। वे झट से बनाकर उसे खिलाएँगी। एक डर भी मन में पाले हुए कि कहीं बंद कमरे में बच्चे की पिटाई तो नहीं हो रही! चौकीदार की तरह बैठी रहीं ठंडे ड्राइंगरूम में। जनवरी का महीना। अंग-अंग में दर्द। डॉक्टर कहते हैं कि उम्र का तकाज़ा है। इसका कोई इलाज नहीं। दूध पीजिए, कैलशियम की गोली खाइए। गरमपानी का सेक और दर्द बढ़ने पर पेन-किलर लें। ज़्यादा गोलियाँ न खाएँ, एसीडिटी हो जाती है।

कैसी छुट्टियाँ मनायी जा रही हैं! जबसे आया है, पढ़ाई.. पढ़ाई... बस। कितने प्लान बनाये थे। उसको चिट्ठी में लिखती थीं कि हम घूमने जाएँगे, पिकनिक करेंगे। मैकडोनाल्ड में खाएँगे। तुम्हें मैट्रो की सैर कराएँगे। आजकल लड़के क्या खेल रहे हैं। वे खेल प्रतियोगिताएँ हो रही हैं। वे हर दिन उम्मीद के साथ उठतीं और सोचतीं शायद आज पढ़ाई न हो। कुछ प्रोग्राम बने घूमने-फिरने का। लेकिन, ऐसा होता नहीं था।

पहले ही दिन किताबें खुल गयी थीं। शाम को दोस्त खेलने के लिए बुलाते, आवाज़ें देते, तो मना कर दिया जाता। पढ़ाई ही करनी थी, तो वहीं रहता मसूरी में। यहाँ आने का कोई मतलब नहीं। जबसे उसकी माँ की नौकरी लगी, वह वहीं रहना चाहती है। बाप इधर, माँ उधर। बच्चा बँट गया है। नादान है, जानता नहीं क्या हुआ है। सोचता है कि शीघ्र ही वे सब एक जगह पर पहले की तरह साथ रहने लगेंगे।

यहाँ इस शहर में जाड़ों की छुट्टियाँ नहीं होती। दोस्त दिन-भर स्कूल में रहते हैं। उनके इंतज़ार में वह घर में बैठा बोर होता है। वे सब 5 बजे के बाद ही निकलते हैं, अपना होम-वर्क पूरा करके। यहाँ भी होम-वर्क पीछा नहीं छोड़ता।

पुकार होती है नीचे से–"वरुण, वरुण, आओ..." वरुण दौड़ पड़ता है, बिना मोज़े-जूते पहने ही। न स्वेटर, न जैकेट। केवल चप्पल में। जब आया था, कपड़े का बंडल लगता था । बनियान के बाहर बिना बाहों का स्वेटर। थर्मल बनियान। फिर दो कपड़े और ऊपर से भारी जैकेट। कुछ दिनों के बाद एक-एक करके कपड़े कम हुए। अब उसे ठंड से तो बचाना है। ठीक-ठाक वापस भेजना है, वरना कई आरोप लगेंगे।

इतनी रात हो गयी और अभी तक पढ़ाई चल रही है। थका

आया था खेलकर... कैसा पत्थर-दिल बाप है?

जब उन्होंने कहा था कि आज रहने दो, बच्चा थका है, उत्तर मिला "मैं भी तो थका हूँ।" अस्फुट स्वर में इतना ही पायी थीं—"वो तो बच्चा है।"

बोलने के बाद डर भी गयीं। पता नहीं क्या करेगा। उनके नोचेगा। गंदी गाली देगा या सामने पड़ी कोई भी चीज़ उठाकर देगा। कुछ भी हो सकता था... वे नहीं चाहती थीं कि बच्चे सामने कोई तमाशा हो। पहले तो ऐसा नहीं था उनका बेटा। धीरे-धीरे उसका स्वभाव बदलता गया, नहीं मालूम। किसलिए ते हैं संतान, यूँ ही सताने के लिए! कोई किसी को नहीं देखता। अपने को ही देखते हैं ज़िंदगी-भर। बाप मिले, जिन्होंने हुक्म या, साथ नहीं दिया। आदर-प्यार नहीं दिया।

एक बाप की क़ैद से छूटे, तो पति के रूप में दूसरा बाप ला। फिर पुत्र भी बाप बनकर सामने खड़ा हो गया।

इनके इशारों पर चलना उनकी नियति हो गयी। जो उन्हें अच्छा लगे, वही करो। वही करो, जो ये कहें। वहीं जाओ जहाँ जाने दें। उन्हीं से मिलो-जुलो, जिनसे ये कहें। मिलना भी क्यों ' घर में रहो, भली औरत की तरह।

कैसी होती हैं वे माँएँ जो जवान बेटों पर थप्पड़ जड़ती हैं। होती हैं वे बीवियाँ-बेटियाँ, जो किसी भी ग़लत आदेश पर द्रोह करती हैं। अपने सारे उसूलों-आदर्शों की होली जल गयी।

"खाने में क्या बनाया?" पुत्र ने पूछा।

"पुलाव बनाया है। साथ में रायता-पापड़। आज मेरी तबीयत नहीं थी इसीलिए...," हिचकते हुए वे सफ़ाई देती हैं।

"दिन-भर तो पड़ी रहती हो बिस्तर में... खाना भी ढंग से बन सकता... ओल्ड वुमन!"

आग बरसाती आँखें, उलटे-पाँव चर्र-मर्र बूट कमरे से बाहर गये।

यही सुनना बाक़ी था। पति नाम की चीज़ अभी ज़िंदा है। ही वह भी ज़्यादातर बिस्तर पर लेटा रहता है। कहीं इस आदमी कुछ हो गया, तो कैसे रहा जाएगा इस घर में? न कोई दुख-दर्द समझने वाला, न तो हाथ बँटाने वाला। घर का छोटा-बड़ा काम करने वाला भी नहीं है कोई। सबकी देख-भाल वे करती हैं। उनकी करेगा? बीमारी में भी खाना पकाया है, कपड़े धोये हैं। घर कोई दूसरी औरत होती, बेटी होती, तो उसका दर्द समझती, बँटाती। मर्दों की इस दुनिया में वे अकेली। मर्दों को अपने में ज़रा भी फ़र्क़ सहन नहीं होता।

उनके जीवन में ख़ुशी के क्षण... ये बच्चे। निर्मल निश्चल और विश्वास से छलकते पात्र। अगर पुनर्जन्म जैसी कोई है, तो नहीं चाहिए उन्हें कोई भी। न माता, न पिता। भाई, पति, पुत्र कोई नहीं। देख लिया सबको। सताने-रुलाने में ने कसर नहीं छोड़ी। सब अपनी दुनियाँ में डूबे रहे।

क्या संभव है कि उन्हें सिर्फ़ वे बच्चे मिलें, जिन्होंने जीने अर्थ समझाया। अटूट प्यार और बेगरज़ निस्वार्थ प्रेम दिया।

12 बज गये। दरवाज़ा खुला और उसका म्लान मुँह दिखायी । चैन की साँस ली उन्होंने। बच्चा सही-सलामत बाहर निकला है। मार-पीट और चोट के निशान नहीं हैं। लेकिन, वे ऐसा क्यों सोचती हैं। बाप है वो, उसकी मार-पीट क्यों करेगा?

"दादी, अब तो मेरी नींद भी भाग गयी," वह बोला।

सुनकर उन्हें दुख हुआ। नींद के वक़्त न सोओ, तो फिर नींद नहीं आती है।

"कुछ खाओगे... जूस पियोगे," उन्होंने पूछा।

"नहीं, कुछ नहीं" और वहीं सोफ़े पर वह उनकी गोद में सिर रखकर लेट गया... वे नींद का इंतज़ार करने लगीं। वो जब तक चाहे यूँ ही उनकी गोद में लेटा रहे...

दूसरे दिन उठते ही फिर कापी-किताब खुल गयी। दादा भी हैरान थे, "आई. ए. एस. की तैयारी है क्या। हमने भी पढ़ाई की है, पर ऐसी नहीं। मज़दूर बन गये।"

"मत बोलो, प्लीज़। कहीं सुन लिया गया, तो देखना क्या होगा," उन्होंने हाथ जोड़कर पति को चुप करवाया।

दोपहर का खाना खाने के बाद बगल में बैठ गया।

"मैं बोर हो रहा हूँ। मेरे सारे फ्रेंड्स छुट्टी मनाने चले गये फॉरेन कंट्रीज़, हम क्यों नहीं जा सकते थाइलैन्ड... मलेशिया' ऊँ. ऊँ. ? कैसे बताएँ उसे कि हमारे पास इतने पैसे नहीं। उसकी हालत पर तरस आया।

"चलो तुम्हें घुमा लाते हैं।"

उसने विरक्त होकर सिर झटक दिया, "अरे, आप क्या घुमाओगी मुझको। मैं तो यहीं का हूँ। मुझे नहीं जाना कहीं।" मुँह लटकाकर फिर सोफ़े पर लेट गया।

वे चौंक गयीं। तो क्या अभी भी तुम यहाँ का आदमी समझते हो अपने को, जबकि तुम्हारा बोरिया-बिस्तर (सब कुछ) खिलौने किताबें यहाँ से चले गये। ख़ुश भी हुईं कि उम्मीद बाक़ी है।

उसे मेहमान की भाँति ज़रूरत से ज़्यादा आवभगत अच्छी नहीं लग रही। वह तो यहीं का था, यहीं रहेगा।

वे सोचने लगीं कि क्या हमने ग़लत किया उसे यहाँ बुलाकर। पुराने घाव हरे हो गये। क्या लाभ होगा उसे बीच-बीच में यहाँ बुलाकर। उनकी आस लगी रहती थी। उसके नाम की रट, दिन-रात सोते-जागते। हालाँकि, आपस में उसको लेकर बातें कम करते थे। बोलते ही कंठ रुद्ध हो जाता था और आँसुओं की बरसात हो जाती थी। वे अपने वृद्ध होते पति को दुखी नहीं करना चाहती थीं। पति बोलते कुछ नहीं। अबोध बालक की तरह उनके मुँह को ताकते रहते।

अकेले में सोचतीं, क्या खाता होगा? कब सोता होगा? कौन उसके दोस्त होंगे? जाड़ों की सुबह ठंड में ठिठुरते हुए स्कूल जाता होगा! कौन उसकी शरारतों को समझता होगा? उसके खेल का साथी कौन होगा? फिर ख़ुद को ही धिक्कारतीं। छोड़ दो मोह -माया। मुक्ति दो। तुम्हारा प्यार सच्चा है, तो उसको अपनी यादों से आज़ाद करो। खुले आकाश में उड़ने दो। इस प्रकार तड़पती-कलपती रहोगी, तो क्या बच्चा चैन से जी सकेगा? कहते हैं कि जब कोई याद करता है, तो हिचकियाँ आती हैं... तो क्या हिचकियों से उसे मार डालोगी? यह तुम्हारा अपना स्वार्थ है। जीने के लिए तुम्हें कुछ चाहिए था, सो बच्चे पर सारी माया-ममता उड़ेल दी। मरने वालों

की आत्मा की शांति के लिए पाठ होता है, ताकि वे मुक्ति पाएँ। अपने सगे-संबंधियों के आस-पास भटककर उन्हें परेशान न करें। एक बार यहाँ से चले गये, तो फिर लौटकर देखना नहीं... उन्हें तो जीते-जी अपनी आत्मा का शांति-पाठ करना होगा। अपनी ही नज़र से बच्चे को बचाना होगा...

"बताइए, मुझे क्यों भेजा गया यहाँ से," उसने पूछा।

"ऐसा तो होना ही था। हम कुछ नहीं कर सकते थे," उन्होंने उदास होकर उत्तर दिया।

"क्यों, क्यों, बताइए क्यों होना था ऐसा?"

"तुम्हारे जन्म-दिन पर पंडितजी ने वर्ष-फल बनाया, तो बताया कि तुम पर महा-संकट आने वाला है–शनि की दशा...."

"वह क्या होता है... वह क्या होता है... बताओ।"

वे पीछा छुड़ाना चाहती थीं। पुरानी बातों को याद करना नहीं चाहती थीं।

"अब छोड़ो भी। जब तुम समझते नहीं, तो क्या बताऊँ। बड़े हो जाओगे तब समझोगे। अभी जाने दो। मुझे और काम हैं।"

"बस काम-काम। तुम्हें मेरे साथ बैठने की फुर्सत नहीं, क्यों आया मैं यहाँ?" उसे गुस्सा आ गया था।

"अच्छा बैठो, बैठो, बताती हूँ। पंडितजी ने उसका समाधान भी बताया था। महा मृत्युंजय का पाठ सात दिन तक। पाँच पंडितों को भोजन, पूजा-हवन आदि। कैसे होता इस घर में इतना खर्चा. .."

उनके स्वर में पश्चात्ताप था। क्यों नहीं किया उन्होंने, जो पंडितजी ने बताया। घर में नहीं, तो मंदिर में भी कराया जा सकता था। कभी भी... कोई समय की पाबंदी नहीं थी।

सच तो यह था कि उन्हें पंडितों की ऐसी भविष्यवाणियों पर विश्वास ही नहीं होता था, विश्वास था तो अपने प्यार की शक्ति पर। सोचती थीं कि मेरे रहते किसी पर आँच भी नहीं आ सकती। क्या कर लिया उन्होंने। सारा घर बिखर गया और वे देखती रह गयीं।

डर भी गयीं थी उस समय वैसा सुनकर, लेकिन क्या सचमुच संकट टल जाता पूजा-पाठ करने से? एक बार पुराने अलबम में फ़ोटो देखते हुए नन्हीं उषा ने पूछा था–"ये कौन हैं सफ़ेद साड़ी में।"

"मेरी माँ," वे बोलीं।

"अब कहाँ हैं?"

"भगवान के पास चली गयीं, उन्होंने आसमान की ओर उँगली उठायी।

"अरे आप ने उन्हें रोका क्यों नहीं? जाने क्यों दिया अपनी मम्मी को?" उषा परेशान हो उठी।

वे चौंकी, ये बच्चे भी कैसी-कैसी बातें करते हैं! उनकी कल्पना में कहीं रुकावट नहीं, कोई सीमा नहीं।

सचमुच यह ख़याल उन्हें कभी आया ही नहीं। क्यों नहीं रोक सकीं वे अपनी माँ को।

ज़मीन-आसमान एक कर देतीं। सावित्री ने सत्यवान को रोका। वापस ले आयी यमलोक से। उनके प्यार में वैसी श... क्यों नहीं?

बस, एक सावित्री हुई, उसके बाद दूसरी नहीं। क्यों ज... दिया था उन्होंने बच्चे को, रोक लेतीं। सुख-दुख, शनि का प्रको... जो कुछ भी था, साथ झेलते।

या तो फिर मालूम होता कि इतना ही साथ था, तो ... प्यार देती। कभी गुस्सा न करतीं। जितनी शैतानियाँ करता, क... देती। दीवार पर लकीरें खींचता, तस्वीरें बनाता, तो रोकतीं न... जितने प्याले-प्लेट तोड़ता, कभी मना न करतीं।

मेरे बाल खींचता, ठंडा पानी डालता हँसती रहती। अब सजे-धजे कमरों-दीवारों का क्या करना है, उन्हें। कौन देखता इन्हें। अब यहाँ कोई नहीं आता। उसके चले जाने के बाद उसके दोस्त आते हैं, न उनके माँ बाप।

वे धन्य हो गयी थीं, जब एक रात उसने पहले की ... उन पर ठंडा पानी डालकर उन्हें भिगो दिया। फिर पहले की ... शरमाते सकुचाते हुए उनके बिस्तर पर बीच में लेट गया।

"क्या मैं थोड़ी देर आप लोगों के साथ रह सकता ...

जैसे खजाना मिल गया हो। उन्होंने सीने से लगा लि... उसने शरमाकर उन्हें पीछे धकेला। अब बड़ा हो गया है। बातों से उसे लज्जा आती है। वो सयाना हो गया है। सि... ही नहीं बदलीं, मूरख बनी रहीं।

"कहानी सुनाइए... जो भी हो..."

"अब क्या राजा-रानी की कहानी सुनोगे। बड़े हो गये ...

"कोई बात नहीं, मैं सुनूँगा," उसने लाड़ में आकर उ... आँचल मुँह में डाल लिया।

"हाँ, क्यों नहीं, मेरे कपड़े गंदे करो," वे रोकने का ना... करने लगीं।

एक शाम ड्राइंग-रूम की सजावट पर नज़र डालते ... बोला-"ये आपने इतना पुराना सामान क्यों जमा कर रखा ... आपको शौक़ है पुरानी चीज़ें रखने का, आप खुद पुरानी हैं, ... इसीलिए। जब मैं बड़ा हो जाऊँगा, सब फेंक दूँगा। नयी ... लाऊँगा अपनी पसंद की," जोश में भरकर वह खड़ा हो ... वे तो सहम गयीं कहीं सारी चीज़ों को उठाकर सचमुच ही ... -फाँक न दे। एक-एक कर जोड़ा हुआ सामान, यादों से ... वस्तुएँ।

"अरे नहीं, ऐसा मत करना। जैसा तुम चाहोगे, वैसा ... होगा। अब तुम इन बातों से परेशान क्यों होते हो। वैसे भी ... को क्या मतलब इन सब बातों से। घर की लेडी का काम है ... वे बोलीं।

उसने चिंतित होकर कहा–"आप कहती हैं कि घर की ... का काम है। मेरी मम्मी तो यहाँ हैं नहीं। घर की लेडी ... हैं।"

वे फिर चौंकीं। यह तो याद ही न रहा कि अब वे ... घर की मालकिन नहीं, सिर्फ़ केयर-टेकर हैं। इतनी-सी बात ... भी समझता है। उन्होंने चाहा भी कब था मालकिन बनना। म... से बनना पड़ा। जिसे सँभालना समझना था, वह तो चली ...

कैरियर बनाने। माना कि इनकी आपस में ज़्यादा बनी नहीं आज़ादी, ऐशो-आराम वह चाहती थी, मिला नहीं। फिर किस तरह सारे बंधन तोड़कर जाता है कोई? हम कुछ नहीं उसके। बच्चे की ख़ातिर ही आना-जाना रखती, जिसे बीमारी और बुढ़ापे में साथ देना था उसे कुछ याद न रहा। शुरू किया था, उसी बिंदु पर आकर ख़त्म होना है उनको। बच्चा इस भुलावे में है कि जल्दी ही सब ठीक हो जाएगा। संसार उसको मिल जाएगा—जहाँ सब साथ रहते थे।

सब साथ-साथ हैं, बस फ़िल्मों में होता है। क्या इसी तरह चलता है। खानदान का नाम रोशन होता है... शायद आकर वंश ठहर जाए। इस खेल में बाप-बेटे दोनों शमिल नादानों को पता नहीं कि आगे कुछ होने वाला नहीं। सब इसी तरह रहने के आदी हो जाएँगे। एक बार मिली को कौन खोना चाहता है।

देश के टुकड़े हुए-हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बना, तो फिर वे जुड़े नहीं। उनकी अलग पहचान बनी। नयी पीढ़ी को पता होगा कि कभी वे एक थे। क्या उसे कुछ भी याद नहीं—वे सफ़र, पिकनिक, शादियाँ, जन्म-दिनों की उल्लास-भरी रात और दिन की चुहलबाज़ियाँ, रेशमी-सरसराहटें और रात की शामें। दिन-भर रेडियो बजता था और उसके साथ हुए घर के काम होते थे। वे अलबम जला दिये जाएँ। नहीं निकलता उन फ़ोटोज़ का। लेकिन इस नन्हें इन्सान उन्हें इन यादों को ज़िंदा रखना है। यहीं से तो उसकी होती है।

"देखो-देखो इस फ़ोटो को। कैसे हम माल-रोड पर आइसक्रीम घूम रहे हैं," झूठमूठ चहकते हुए उससे बोलीं, मानो में भी ऐसी यात्राएँ होंगी। पिछले दिनों कहीं अख़बार में कि नदी ने जिस ज़मीन को निगल लिया था, उसे फिर । तो क्या शनि भी, जो छिन गया था, पलटकर वापस

"मैं यहाँ अपना होम-वर्क करने आया हूँ। किसी से मिलने उसने रूठते हुए तीर जैसा छोड़ा। कैसी वाणी है उसकी, में आया कह दिया। धक्क रह गयीं। चलो बोलने दो बोलता है, बच्चा है। मन में न जाने क्या तूफ़ान मचे ।

बीती छुट्टियाँ। एक दिन भी नहीं लगा कि छुट्टियाँ आया है। घूमना, फिरना, सिनेमा, अप्पू-घर, मैकडोनाल्ड धरे आज इंग्लिश का काम पूरा करना है, तो कल हिन्दी निबंध लिखो... फिर साइन्स, उसके बाद मैथ्स। इतना पड़ा है, कब होगा। वे चुपचाप देखती हैं। कुछ कहने नहीं। उनका होते हुए भी उनके शरीर से जन्मा नहीं। उतना ही करना है, जितनी इज़ाज़त है।

बारह बजे तक पढ़ाई होती रही। एक ही हफ़्ता रह स्कूल खुलने में। फिर वापस वहीं, जहाँ से आया है। बैठी रहीं आस में कि पढ़ाई ख़त्म होगी। वह बगल में आकर बैठ जाएगा, टी.वी. खोलेगा। भूख लगी होगी, कुछ खाने को माँगेगा। मगर आज वह इतना थका हुआ था कि सीधा अपने कमरे में जाकर सो गया। वे उदास हो गयीं। क्यों बैठी रहीं इतनी देर ठंड में, चली जातीं सोने।

सुबह थका-माँदा, सूजी आँखें, नींद से बोझिल आँखें, जाड़ों के दिन रजाई में लोटता-चिपटता उनके पास लेट गया।

"दूध पियोगे, कुछ खाओगे?"

"नहीं, अभी सोने दो, नींद आ रही। चलो उठ ही जाता हूँ। पहले जूस दीजिए।"

उनकी आवाज़ें सुनकर बाप दौड़ता हुआ आया—"पंद्रह मिनट में शुरू करते हैं, गेट रेडी, वरुण।"

सुनते ही उसका चेहरा मुरझा गया। दया की गुहार-सी लगाते हुए बोला-"देखो ददिया, सुबह-सुबह पढ़ने को कह रहे हैं।"

वे सोचती रहीं क्या बहाने बनाएँ, कैसे थोड़ी-सी मोहलत माँगे, उसके प्राणों की रक्षा कैसे होगी। वे सोचती रहीं और बच्चे की पलकें बंद हो गयीं... अरे, ये तो सो गया, नींद में सोये आदमी को जगाते नहीं, बुरा असर होता है, माँ बताती थीं बचपन में।

तभी बच्चे की खोज में बाप सामने खड़ा हो गया।

"सो गया है, रहने दो," उन्होंने विनती की।

"क्यों रहने दूँ, उसको वार्निंग दी थी। "यू कीप आउट ऑफ़ दिस, उसने आँखें दिखायीं। वे जलती हुई आँखें ठीक वैसी थीं जैसे बचपन में उसके पिता की होती थीं। पिता ज़िंदा रहते हैं किसी-न-किसी रूप में। माँ तो बीच में आकर बचा लेती थी, अपने बच्चों को पिता की मार से। इस तरह कभी मार माँ पर पड़ जाती। ऐसा साहस क्यों नहीं था उनमें कि हाथ पकड़कर रोक लें।

दरवाजे से खड़े होकर बाप ने फिर पुकारा सोते बच्चे को—"वेक-अप, आइ से वेक-अप..."

आवाज़ ऊँची होती गयी, क्रुद्ध होती गयी। उनका दिल धड़कने लगा। बच्चा नहीं उठा, तो क्या होगा। क्या दो-चार थप्पड़ लगेंगे। झिंझोड़कर खड़ा किया जाएगा। ज़मीन पर पटका जाएगा।

"अभी तो नौ बजे," साहस करके चिल्लायीं। थोड़ी देर सन्नाटा-सा छा गया। उम्मीद थी कि जीत होगी, तभी परदे के पीछे कुछ हिला, सिर झुकाये छोटा अपराधी खड़ा था।

"अरे तुम डर गये, उठ गये..." उनके मुँह से इतना ही निकला और आँसुओं की झड़ी लग गयी।

उसी क्षण वह उम्र में उनसे बहुत सयाना होकर बोला, "तुम जाओ ददिया। कोई बात नहीं, मैं उठ गया।"

उसने हाथ से चुप रहने का इशारा किया... टेबिल पर उसकी किताब-कॉपी खुली पड़ी थीं। स्कूल खुलने में अब थोड़े ही दिन रह गये थे...

होम-वर्क पूरा नहीं हुआ था। काश, उनके पास भी समय काटने को कुछ काम होता। उसके चले जाने के बाद उन्हें लगेगा कि उन्होंने तो अपने सारे होम-वर्क बहुत पहले ही ख़त्म कर लिये थे...

दो कविताएँ

संतोष चौबे

अम्मा का रेडियो

सिरहाने रहता था वह
उनके किसी दोस्त की तरह
कि जब भी चाहें
कर सकें उससे बात।

सुबह सबेरे
बिस्मिल्लाह खान करते
मंगल ध्वनि से
उनके दिन की शुरूआत
और फिर हरिओमशरण के भजनों के साथ
वे लेतीं अपनी पहली चाय
हम सोकर उठते उसके पहले
वे कर लेतीं अपनें पौधों की देखभाल
संगीत-सरिता के शास्त्रीय गीतों का
रस लेते हुये।

मैं जब भी लौटता घर
सुबह की किसी ट्रेन से
वे मिलतीं मुझे
दरवाज़े पर जोहती बाट
कि उनका दोस्त रेडियो
पहले ही सुना चुका होता उन्हें
गाड़ी के भोपाल पहुँचने का सही समय।

लंबी दोपहरी में
जब हम रहते काम पर
वे चौपाल पर सुनतीं लोक-गीत
और अक्सर शाम को लौटने पर
सुनातीं कोई नीति-कथा
जिसने गहरे छुआ होता उनका मन।

हालाँकि पहचानती थीं वे
समाचार-वाचक की आवाज़
पर खबरों से चिढ़ थी उन्हें
कि इस मरी दुनिया में
मची थी अजीब मारकाट
बाढ़, भूकंप और दुर्घटनाओं
और आसमान छूती मँहगाई
चैन नहीं लेने दे रहे थे आदमी को
किसी भी तरह।

पंद्रह अगस्त और छब्बीस जनवरी
अब भी विशेष दिन थे उनके लिये
देशभक्ति के गीत
अब भी उन्हें जोश से भरते
और याद दिलाते
उन पुराने दिनों की
जब दादा के साथ
वे भी जातीं शाला में झंडावंदन करने।

सुबह-सुबह नहाने
और साफ़ सुथरी साड़ी पहनने के बाद
वे बैठतीं रेडियो के सामने
और ध्यान से सुनतीं
प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के भाषण
कि सबने मिलकर लड़ी थी आज़ादी की
लड़ाई
और आज़ादी है तो सब कुछ है।

तब जब नहीं था समय
हमारे पास
उनसे बात करने के लिए
रेडियो से बाँटा उन्होंने
अपना अकेलापन।

उनके जाने के बाद
आज भी रखा है वह उनके सिरहाने
और यकीन मानिये
आज भी आती है उसमें से
कभी-कभी अम्मा की आवाज़।

जीवनवृत्त

बहुत दिनों के बाद
एक बार फिर
किसी ने माँगा था
मेरा जीवनवृत्त

सब जानते हैं
तुम्हारा नाम और काम
बस औपचारिकता है जीवनवृत्त
उसने कहा था।

मेज पर पड़ा कोरा काग़ज
और मेरी सुंदर-सी कलम
मुझे मुँह चिढ़ाते पूछते थे
'तो शुरू करें सर?'

और तब मैंने लिखा
अपना नाम-
वह मुझे ठीक-ठीक याद था
और अपना पता भी-
शुक्र है मैं उसे भूला नहीं था।
पर अनुभव तक आते-आते
मैं रुका-

मैं लिख सकता था
उन सैकड़ों परियोजनाओं के बारे में
जिनमें खपता रहा साल-दर-साल
जो लगभग एक समान थीं।

पहली एक दो के बाद
...क ऊब पैदा करती थीं।

...न सम्मेलनों
...कार्यशालाओं के बारे में
...चमकती रोशनी के बीच
...किया जाता था
...कुछ सीखने-सिखाने का भ्रम
...बहुत-सारे लोगों से
...मिलाने के बावजूद
...रहता खाली का खाली।

...घर से दफ़्तर
...दफ़्तर से दिल्ली
...दिल्ली से लंदन तक
...रही उस अनवरत दौड़ के बारे में
...में जीतने पर
...सफल कहा जा सकता था।

...क्या
...ख सकता था मैं
...के बारे में
...ने मुझे भीतर से बदला।

...के बारे में
...से रस अब भी बरसता था।

...विता के बारे में
...में सहेजा मैंने
...ना अकेलापन

...के बारे में
...चलता रहा सालों-साल
...मन में
...और झूठ के बीच

...उस शाम के बारे में
...सुजाता बरसी थी
...पर
...फिर रोई थी फूट-फूटकर

...के उस अंतिम प्रहर के बारे में
...अम्मा के सिरहाने बैठ

मैं देखता रहा था उन्हें
जाते असहाय
जब काल का वह छोटा-सा खंड
लगा था मुझे कई युगों के समान
और दुनिया पूरी तरह निस्सार

उस ख़ुशी के बारे में
जब बेटे के साथ
लौटता मैं अपने बचपन में
या बेटी के साथ
झाँकता उसकी
खेल और ख़ुशबू से भरी दुनिया में।

अचानक मुझे लगा
जीवनवृत्त तो नहीं ही था
और सीधी रेखा
तो बिल्कुल भी नहीं।

कागज़ वैसा ही रखा था
कोरा का कोरा
बस उस पर लिखा था
मेरा नाम और पता
सच कहता हूँ दोस्त
कुल इतना ही है मेरा जीवनवृत्त
और इसके आगे
मुझे कुछ नहीं पता।

प्लाट नं0 7-8, सेवॉय सावन कॉलोनी
होशंगाबाद रोड, रतनपुर पोस्ट-मिसरोद,
भोपाल-26

मन करता है

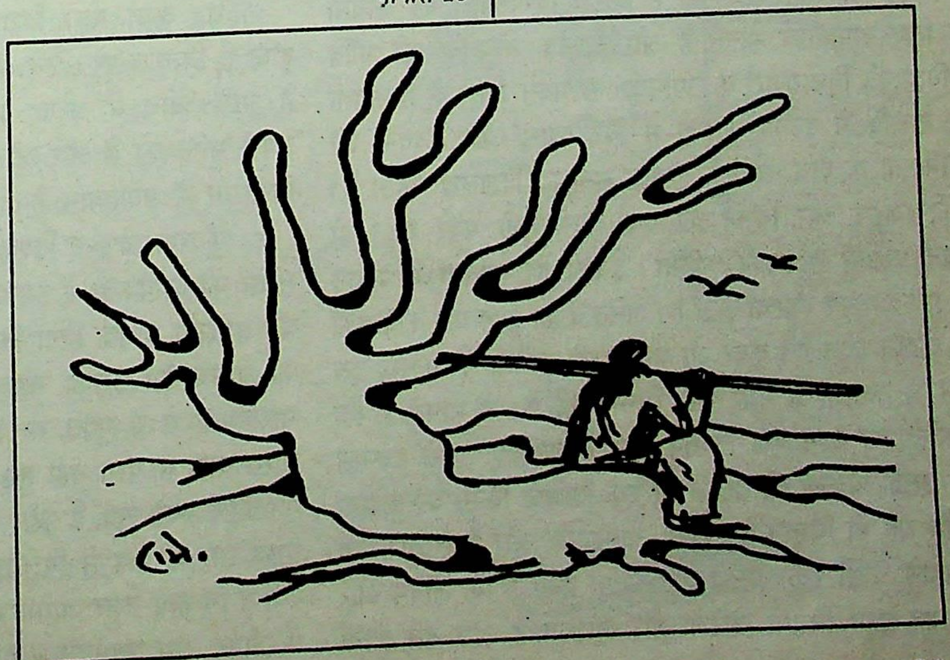
मीरा कुमारी

मन करता है कविता लिखूँ
अपने बेहद आत्मीय संसार पर
घर-आँगन में फुदकती चिड़ियों पर

मन करता है कविता लिखूँ
विज्ञान के दुष्परिणाम पर
आदमियों द्वारा बेतरह काटे जा रहे
पेड़-पौधों पर
जंगल-ज़मीन की जगह
कारख़ानों और मकानों के
बढ़ते जाने पर

मन करता है कविता लिखूँ
पानी के बारे में
आकाश के बारे में
इस पूरी पृथ्वी के बारे में।

राजा बाजार, चौधरी होटल गली
पश्चिम देवी स्थान, पो0-बी0भी0 कॉलेज
पटना-800014 (बिहार)



कुँवरनारायण सही अर्थों में आधुनिक भाव बोध के कवि हैं

लता श्री

दूसरे विश्व युद्ध के बाद जो घनघोर हताशा और निराशा का वातावरण छा गया था उसका जबरदस्त प्रभाव प्रयोगवादी काव्य पर दिखलाई पड़ता है। पर नई कविता के दौर में अनेक कवियों ने इससे मुक्त होकर कविताओं की रचना की जो न सिर्फ भाव के स्तर पर बल्कि भाषा की दृष्टि से भी मानवीय मूल्यों के ज़्यादा करीब हैं क्योंकि इनमें सिर्फ युद्धोत्तर विश्व की हताशा और निराशा का वर्णन नहीं था बल्कि जीवन के प्रति एक गहरा लगाव भी था। निश्चय ही यह लगाव उन कविताओं का मुख्य स्वर रहा है। कुँवरनारायण इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कविता में जीवन के यथार्थ का चित्रण किया मगर इनकी कविता कोरे विचार की कविता नहीं है, वह भाव और संवेदना को साथ लेकर चलती है। कविता के बारे में उनका मत है कि वह शब्दों और भाषा के माध्यम से बाहरी जीवन के यथार्थ को देखने का माध्यम है। न सिर्फ देखने बल्कि सोचने और समझने का भी। यह इतना महत्वपूर्ण माध्यम है कि कविता से इसका रिश्ता सीधा, सरल भी हो सकता है और बेहद जटिल भी। इस प्रकार कुँवरनारायण कविता और जीवन के बीच एक गहन आत्मीय रिश्ते की तलाश करते हैं। निश्चय ही वे आधुनिक भाव बोध के कवि हैं मगर उनकी आधुनिकता विचारधारा में बँधी हुई नहीं है। ऐसा नहीं है कि ये विचारधारा को कविता के लिए आवांछित मानते हैं और अशोक वाजपेयी की भाँति कविता को विचारधारा के उपनिवेश से मुक्त करने के हिमायती हैं, वास्तव में इनकी कविता में विचारधारा और संवेदना की मार्मिकता के बीच का एक उद्‌भुत समन्वय दिखलाई पड़ता है। तर्क, विचार और चिंतन की एक मिली-जुली मगर बहुत ही सघन प्रक्रिया है इनकी कविता। इनकी हर कविता में जीवन की एक अनुभूत व्याख्या होती है। अस्तित्व का प्रश्न कई कविताओं का केंद्रीय प्रश्न है। कुँवर जी भी अपनी कविता में अक्सर इस प्रश्न से टकराते हैं मगर जरा भिन्न मुद्रा में। वे मानते हैं कि अस्तित्व का प्रश्न एक चिरंतन प्रश्न है इसलिए उससे टकराने और उसके विकल्प की तलाश भी एक विशिष्ट किस्म की प्रक्रिया है और यह भी चिरंतन है। पहले 'आत्मजयी' और फिर 'वाजश्रवा के बहाने' जैसी रचनाओं में यही व्यक्त हुआ है कि जीवन और मृत्यु का प्रश्न नितांत जटिल और शाश्वत है और इन प्रश्नों का महत्व इनके अस्तित्व के बने रहने में ही है। दार्शनिकता से भिन्न संदर्भ में देखें तो अस्तित्व का यह प्रश्न आज के यथार्थ जीवन के प्रश्नों में बदल जाता है। कवि को हमेशा यह प्रश्न उद्वेलित करता है कि जीवन को सार्थक कैसे बनाया जाय। कवि चिरंतन प्रश्न की तलाश करते हुए वास्तव में जीवन की सार्थकता की तलाश करता दिखलाई देता है-

क्या है जीवन
कहाँ है वह ? कहाँ खोजें उसे
किस देश किस हाल में ?

इस प्रकार कवि दार्शनिक प्रश्न को आज की सभ्यता का प्रश्न बनाता है। वह नचिकेता की पौराणिक कथा को आधुनिक संदर्भ देता है। मगर यह आधुनिक बोध पाश्चात्य आधुनिकता बोध की घनघोर भौतिकता का अनुगामी नहीं है। यहाँ भारतीय जीवन दर्शन का काल बोध नज़र आता है जो जीवन को खंड में नहीं बल्कि संपूर्णता में देखता है और अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक अटूट रिश्ते क तलाश करता है-

वह आज भी वैसा ही है
जैसा कोई आज रहा होगा
इस आज से कहीं बहुत पहले

यह काल बोध विराट है, यूरोपियन दर्शन की खंडित दृष्टि से बिल्कुल परे। ज़ैसे अछोर अतीत है पीछे, अनंत अंधकार है आगे। बीच में अथाह जीवन, जो केवल मानवों का नहीं, संपूर्ण सृष्टि का है और जो खंड में नहीं बल्कि अखंडकाल की निरंतरता में प्रवाहमान है।

कुँवरनारायण ने विश्व भ्रमण किया है और इनके अनुभव संसार की व्यापकता में इसका बहुत महत्व है किंतु इसके कारण यह समझना भ्रामक होगा कि इनकी कविता पर अंग्रेज़ी कविता का प्रभाव है। इसका महत्व इसलिए है कि बंद किस्म की भारतीयता से ये मुक्त रह सके और निर्मल वर्मा की तरह के भारत बोध से ग्रस्त नहीं हुए। तनाव, विसंगति, नई कविता का महत्वपूर्ण स्वर रहा है और कुँवर जी की कविता में भी यह मुख्य स्वर के रूप में मिलता है मगर दोनों की तुलना करें तो पर्याप्त भिन्नता नज़र आयेगी। इसका कारण है कि इनकी कविता में जीवन और सामाजिक यथार्थ के बारे में बड़ी बेधक दृष्टि

दिखलाई पड़ती है। तनाव और विसंगति महज जीवन के प्रति हताशा और निराशा को प्रकट करने के लिए इनकी कविताओं में नहीं आते बल्कि वे कवि के सामाजिक सरोकारों से जुड़कर जीवन के प्रति एक सार्थक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं।

यह ठीक है कि कुँवरनारायण अपने लेखन में विचारधारा के प्रति बहुत रूढ़ नहीं हैं मगर इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी कविताएँ सामाजिक सरोकार से दूर हैं या उनकी कोई सामाजिक दृष्टि नहीं है। वास्तव में इनके लिए सामाजिक सरोकार का अर्थ बहुत व्यापक है। व्यक्ति और समूह के बीच जो संबंध ये देखते हैं वह द्वंद्वात्मक है और समूह के समक्ष व्यक्ति की अस्मिता समाप्त नहीं हो जाती। ये मार्क्सवाद के महत्व से अनजान नहीं हैं और उन कथित क्रांतिकारी मार्क्सवादियों की तरह सोवियत संघ के टूट जाने से हताश नहीं हो गए हैं जिनकी क्रांतिकारिता सोवियत संघ के होने पर टिकी हुई थी। इनका मानना है कि मार्क्सवाद दुनिया को समझने का एक विज्ञान है और काफी सटीक है और सोवियत संघ के होने या न होने से इसके महत्व में अंतर नहीं आता।

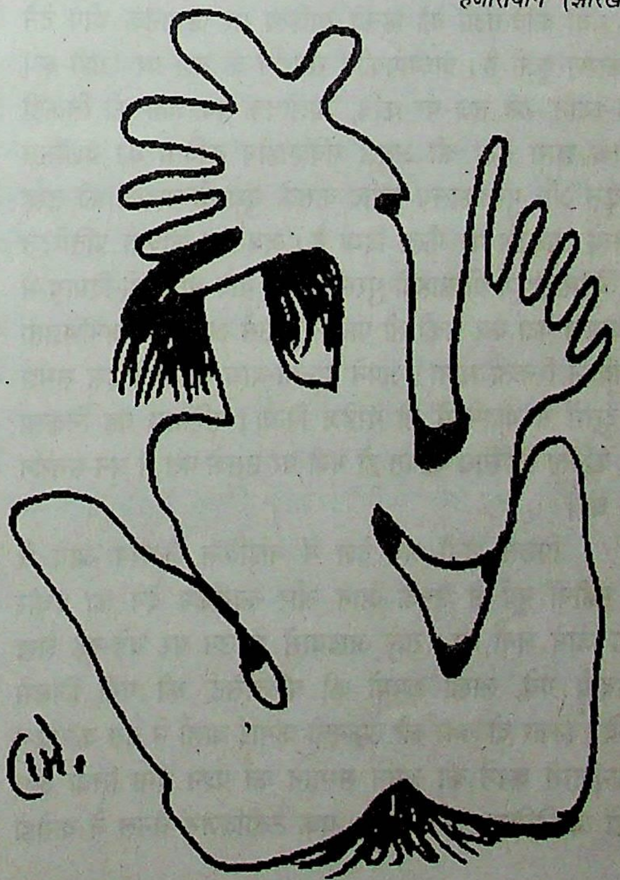
वास्तव में कुँवरनारायण कविता में विचार की सीधी मौजूदगी को स्वीकार नहीं करते हैं। कविता का लक्ष्य चूँकि मनुष्य जीवन होता है इसलिए विचार तो उसमें महत्व रखता ही है पर देखने की बात यह है कि कहीं वह कविता में सीधे-सीधे तो नहीं आ रहा। अगर ऐसा होता है तो वह कविता राजनीतिक नारा बनकर रह जायेगी और हम जानते हैं कि इस तरह की कविताओं को बहुत पसंद नहीं किया गया है। इनका यह भी कहना है कि कविता क्रांति नहीं करती। क्रांति जनता करती है और कविता जनता में यह चेतना जगाने का काम करती है। वे कहते हैं कि साहित्य को खास करके कविता को मैं उन ताकतों में नहीं गिनता जो दुनिया को बदल देगी। यह एक फौजी किस्म का एक्शन नहीं है, एक विनम्र सांस्कृतिक किस्म का प्रयास है जो हमारे निजी और सामाजिक मन को मानवीय भावनाओं के प्रति सजग रख सकती है। यह चेष्टा इतनी सुकुमार और इतनी मूल्यवान है कि उसे पूरी कोशिश से बचाए रखना ज़रूरी है, अगर हम सभ्यता और बर्बरता में फर्क बनाये रखना ज़रूरी समझते हैं। जिजीविषा या जीवन शक्ति का अर्थ केवल सबसे ताकतवर का अपने को ही बचाये रखना नहीं है, वह विवेक शक्ति भी है जो सुंदर और कोमल को बचाने में सक्षम हो। एक समाज और संस्कृति की सामर्थ्य को इस रूप में भी देखना और समझना ज़रूरी है कि उसमें कलायें और कविता कितना स्वतंत्र और सुरक्षित अनुभव करती हैं। इसके साथ ही ये यह भी कहते हैं कि कविता का आत्म संघर्ष बाह्य जीवन के संघर्ष से अलग नहीं होता है। इस प्रकार कुँवर जी कविता के कलात्मक अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसकी सामाजिक प्रासंगिकता की ओर संकेत करते हैं।

कविता के सामाजिक सरोकार को स्वीकार करते हुए भी कुँवरनारायण परोक्ष को महत्व देते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है और यह भ्रम कतई नहीं होना चाहिये कि ये पलायनवादी हैं, जीवन के संघर्षों से भागकर कल्पना का लोक रचना चाहते हैं। वह वास्तव में इनका जीवन की समग्रता में विश्वास है जो जीवन को एकरेखीय रूप में नहीं, उसको बहुरूपों में देखता है। जीवन को सिर्फ ठोस रूप में न देखकर कुँवर जी उसको इतिहास, स्मृति और श्रद्धा के आईने में देखते हैं। समय कवि के लिए टुकड़ों में नहीं बँटा हुआ है, उसकी एक निरंतरता है जो उसे प्रवाह देती है। निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

एक अथक कथावाचक है समय
ढीठ उपदेशक है कालचक्र
दुहराता पिछले पाठ
लिखता कुछ नये पृष्ठ
जीवन का महाग्रंथ
एक संकलन के प्रारूप में नत्थी
पिता-पुत्र दृष्टांत की
असंख्य चित्रावलियाँ

इनके पास जैसी सघन संवेदना है वैसी ही सघन भाषा। विडंबना का प्रयोग कविता के स्वर में नाटकीयता लाता है और निश्चय की यह कुँवर जी की कविता के शिल्प की एक खास विशेषता है।

द्वारा- वीर कुमार, क्वाटर नं0 के-3, सी.टी.एस. कॉलोनी
हजारीबाग (झारखंड)



कविता और पाठक में सीधे संबंध की ज़रूरत

वीरेन्द्र जैन

नयी युवा पीढ़ी की रुचि उछाल दी गयी हिन्दी कविता में बिल्कुल नहीं है। ऐसे में जब कोई युवा कभी-कभार कविता के साहित्य में रुचि लेता दिखायी पड़ता है तो बहुत अच्छा लगता है। ऐसे ही एक युवक ने एक दिन पूछा कि कविता अच्छी लगने के लिए क्या करें। प्रश्न बहुत पेंचदार था जिसमें यह छुपा हुआ था कि वह कविताएँ पढ़ने की कोशिश करता है पर वे उसे साहित्य-आनंद नहीं दे पातीं। उसका विश्वास था कि इतने विख्यात और पुरस्कृत कवियों की रचनाओं में तो कोई कमी नहीं होगी क्योंकि पत्रिकाओं के प्रतिष्ठित संपादकों ने उन्हें सादर प्रकाशित किया है, इसलिए सारा दोष उसकी समझ का ही है।

इस मामले में यह युवक अकेला नहीं है, अपितु पत्र-पत्रिकाओं के करोड़ों पाठक आज ऐसी ही कुंठा के शिकार हो गये हैं। यह सब कुछ पश्चिमी यूरोपीय देशों की परंपरा में रची गयी कविताओं को हिन्दी साहित्य पर अचानक थोप देने के कारण हुआ है। प्राध्यापकीय समर्थन के बल पर 'अहो रूपं अहो ध्वनि' की तर्ज पर कवि, आलोचक प्रकाशक की तिकड़ी ने एक ख़ास तरह की अबूझ संवेदनहीन कविता को प्रशंसित पुरस्कृत और पुस्तकालय खरीद कराके धुंध के बादलों की तरह साहित्य आकाश पर फैला दिया है। जब वह कविता प्रतिष्ठित और बेईमानीपूर्ण प्रोत्साहनों पुरस्कारों के बाद भी दिलो-दिमाग़ में हलचल न पैदा कर सकी तो पाठक ने उसे अपनी ही अनभिज्ञता व संवेदन रिक्तता माना। अपने हीनता-बोध में उसने इस समझ को दूसरों से बाँटने में भी परहेज किया। परिणाम यह निकला नयी कविता निर्विरोध घोषित हो गयी पर उसके पक्ष में जन-समर्थन नहीं था।

पिछले दिनों जब देश में माइकिल जैक्सन आये थे तब महीनों पूर्व से उनके आने और कार्यक्रम देने का प्रचार किया जाने लगा था। सारे अखबारों में उन पर बड़े-बड़े लेख लिखवाये गये, लाखों रुपयों की पब्लिसिटी की गयी जिससे प्रभावित होकर दो नंबर की उफनती कमाई वालों ने उस कार्यक्रम में भागीदारी करने को अपने सम्मान का प्रश्न बना लिया और करोड़ों के टिकिट खरीद लिये। एक टेलीविजन चैनल ने करोड़ों रुपयों में उस कार्यक्रम के प्रसारण अधिकार खरीद लिये व देशभर में प्रसारण किया। मुंबई के एक हिन्दूवादी महाराष्ट्रवादी नेता ने उन्हें अपने घर में शौच कराके गौरव महसूस किया। जिस चादर तकिये पर वह सोया था उसकी मँहगी नीलामी की गयी। कार्यक्रम को देशभर में देखा गया और कौतुक की तरह देखा गया। किसी अखबार ने उसकी निंदा करने की ज़रूरत नहीं समझी। कुछ दिनों बाद प्रसिद्ध कामेडियन जानी लीवर ने एक फिल्मी पुरस्कार वितरण के अवसर पर माइकिल जैक्सन की नकल उतार कर दिखायी तो हाल में उपस्थित सैकड़ों कलाकार और अन्य दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। उनके साथ कार्यक्रम प्रसारित करने वाले चैनल के लाखों दर्शकों ने भी खूब मज़ा लिया। यह इस बात का प्रमाण था कि माइकिल जैक्सन ने मूलतः लोकप्रियता भी भुनायी थी और भारत में किसी को प्रभावित नहीं किया था पर संकोचवश वे यह बात कह नहीं पाते थे। जानी लीवर द्वारा कहने का साहस कर देने पर सारे दर्शक उसके साथ हो गये।

मैंने उस युवक से कहा कि कुछ नहीं। कविता वही अच्छी है जो उसे अच्छी लगती हो। जो कविता उसे अच्छी न लगती हो वह अच्छी नहीं है—कम से कम उसके लिए तो अच्छी नहीं ही है। कविता आलोचक की दृष्टि से पढ़ने की ज़रूरत नहीं है। अच्छी कविता एक बार ही पढ़ने में अच्छी लगने लगती है।''

हिन्दी उर्दू शायरी अभी भी उतनी ही लोकप्रिय बनी हुयी है क्योंकि वे लोग पश्चिम का अंधानुकरण नहीं करते और ना ही अपने प्रयोगों को पाठकों पर थोपते हैं। कविता की किस्मों में विधा-भेद हो सकता है पर उस आधार पर दूसरी विधाओं में लिखी कविताओं को नीचे बतलाकर खारिज नहीं किया जा सकता। पुरस्कारों की विश्वसनीयता उतनी ही है जितनी उन्हें देने वाली सरकारों की विश्वसनीयता। इसलिए कविता और पाठक के बीच के सारे दलालों को हटाकर ही कविताएँ कहानियों की तरह पढ़ी जानी चाहिये।

0 0 0

पिछले दिनों दिल्ली में परंपरा संस्था की ओर से एक आयोजन किया गया था जिसमें वीर सक्सेना को ऋतुराज सम्मान

दिया गया। इस अवसर पर आयोजित कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री नामवर जी ने की और कहा कि कविता में गीतों की परंपरा शुरू से ही रही है। तुलसीदास, सूरदास, मीरा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत की रचनाओं में गीतों के ही स्वर हैं। जनवादी लेखक संघ के कलकत्ता अधिवेशन में राजेन्द्र यादव ने सही सवाल उठाया था कि ये यूनीवर्सिटियों में पढ़ाने वाले हिन्दी के प्राध्यापक नयी कविता और आलोचना ही क्यों लिखते हैं जो असल में लिखे लिखाये को लिखना है।

पिछले दिनों हिन्दी साहित्य का ठेका इन्हीं विश्वविद्यालयीन धंधेबाजों के पास चला गया था जिसके कारण कविता को सप्रयास जनता से काटने का काम बड़े स्तर पर किया गया। साहित्य को ऐसी गजदंती मीनारों के अंदर कैद करने की कोशिश की गयी जिससे वह जनता से कट जाये। पाठ्यक्रम के सारे चयन, हिन्दी साहित्य के सारे आयोजन, सारे पुरस्कार, प्रकाशन, पत्र-पत्रिकाएँ व पुस्तकों की खरीद पर इस गिरोह ने कब्ज़ा जमा लिया व विदेशी भाषाओं के अनुवाद की हिन्दी, विदेशी शैली, विदेशी प्रतीक, व विदेशी बिंबों को इतना सिर पर चढ़ा दिया कि हमारे निराला, स्त्री विमर्श का झण्डा उठाये बिना परंपरागत ग्रंथों के नारी पात्रों को नया रूप देने वाले मैथिली शरण गुप्त ही नहीं नागार्जुन, शील, केदारनाथ अग्रवाल, शैलेन्द्र, बलवीर सिंह 'रंग', मुकुट बिहारी सरोज, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, दुष्यंत कुमार आदि हज़ारों लोग इनकी साहित्यिक दुनिया में अछूत बना दिये गये। उपरोक्त कवियों ने इन विश्वविद्यालयीन ठेकेदारा को ठुकराते हुए प्रोफेशनल आलोचकों के प्रति वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि यशपाल जी ने बताया था। (यशपाल ने कहा था कि आलोचक तो गाड़ी के नीचे चलने वाले उस कुत्ते की तरह है जिसे यह भ्रम रहता है कि गाड़ी वही चला रहा है।) ये गीत कवि कबीर, तुलसी, सूर, रहीम, रसखान की तरह लंबे समय तक जनमानस की स्मृतियों में रहेंगे। उनकी कविताओं के अंश मुहावरे बनकर दैनिंदिन गतिविधियों में उल्लेखित किये जाते रहेंगे, पर विदेशी फूहड़ अनुकृतियों वाली नयी कविता केवल बिकाऊ कंधों पर ही ढोयी जाती रहेगी व अपने जीवन के लिए सरकारी दया कृपा पर निर्भर रहेगी। रोचक यह है कि सरकारों से इनकी हैसियत और आत्म विश्वास में फर्क आ जाता है। स्मरणीय है कि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के ही नहीं अपितु जन-आंदोलनों की सारी कविताएँ छान्दिक हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने संभवतः इन्हीं लोगों के संबंध में कहा होगा-

कागज की नावें हैं, तैरेंगी तैरेंगी
लेकिन वे डूबेंगी डूबेंगी डूबेंगी।

सन् अस्सी के आसपास बाबा नागार्जुन ने दिनमान में दिये एक साक्षात्कार में कहा था कि अब हिन्दी के कवियों को छंद की ओर लौट आना चाहिये क्योंकि छंद तो ईंट है। परंतु इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सुखद यह था कि उर्दू वाले लोग इनके झाँसे में नहीं आये। इन्होंने हिन्दी के नाम पर अपनी अलग दुकानें सजा कर हिन्दी-उर्दू के लिपि भेद को भाषा और संस्कृति भेद में बदलने की कोशिश करके सांप्रदायिक लोगों की मदद की। परिणाम यह निकला कि उर्दू में छान्दिक कविता उर्दू काव्य के केन्द्र में रही व हिन्दी में लिखने वालों का एक बड़ा हिस्सा ग़ज़ल लिखने की तरफ उन्मुख हुआ और उसे हिन्दी कविता की केन्द्रीय विधा देने की ओर जुट गया।

यहाँ मेरा आशय छन्दयुक्त कविता के महत्व को कम करके आँकना नहीं है अपितु अपने स्वार्थों के लिए उसे पक्षपाती ढंग से सबसे ऊपर बैठा कर दूसरी विधा को कमज़ोर बता कर उसके कवियों के बीच भेद खड़ा करने के षड़यंत्र पर प्रकाश डालना है। किसी भी विधा में अच्छी और बुरी दोनों ही तरह की कविताएँ लिखी जाती हैं तथा दूसरी विधा की आलोचना करते समय उस विधा की सबसे कमज़ोर रचनाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ताकि रचना की कमजोरी को विधा की कमजोरी समझा जाये। वास्तविक कवि सम्मेलनों की भड़ैंती को भी छंद कविता की निंदा के साथ जोड़ने की कुटिल हरकतें की गयीं। ज़रूरी है कि विधा-भेद को स्तर-भेद न बनाया जाये व गीत कविता को जानबूझ कर उपेक्षित करने के अपराध के प्रति सच्चे दिल व साफ़-साफ़ ढंग से प्रायश्चित किया जाये। यह काम साहित्य से जुड़े सारे लोगों को एक साथ करना पड़ेगा तथा किसी आलोचक के भरोसे नहीं छोड़ना होगा। कविता का फ़ैसला उसके लेखक पाठक और श्रोता करेंगे व कर रहे हैं किसी आलोचक द्वारा किसी को मुक्तिबोध बतला देने से वह मुक्तिबोध नहीं हो जाता यह हम देख चुके हैं।

गीत को अपने पक्ष में किसी तार्किक वकील को जुटाने की ज़रूरत नहीं है और ना ही वह ऐसा अपव्यय करने की हैसियत रखता है। उसके पक्ष में तो वे लाखों लोग खड़े हैं जो उसे अपनी आवाज़ व स्मृति का हिस्सा बना कर अमर कर देते हैं व कर रहे हैं जिसे दबा-छुपाकर इधर-उधर करके स्वीकार किया जाने लगा है क्योंकि ऐसा नहीं करने वाले स्वयं ही साहित्य समाज से बाहर का रास्ता देखने को विवश हो जायेंगे व केवल सरकारी बाबू की तरह साहित्य के इतिहास में दर्ज होंगे।

2/1 शालीमार स्टर्लिंग रायसेन रोड
अप्सरा टाकीज के पास भोपाल (म०प्र०)

अनूठी 'आल्हा' : ''इस्लाम खंड''

अब्दुल लतीफ

'इस्लाम खंड' एक आल्हा काव्य है। यह हिन्दी वीरगाथा काव्य की तर्ज़ पर लिखा गया है। इसके लेखक खलीफा मौलवी मुकीमुद्दीन है। आज से 122 वर्ष पहले अर्थात् 1349 हिजरी (सन् 1928) में रुहेलखंड क्षेत्र में बरेली जिले के बहेड़ी कस्बे के रहने वाले मौलाना मुकीमुद्दीन ने इस्लामी तारीख़ को कलमबद्ध किया था और इस किताब का नाम रखा था- ''इस्लाम खंड''। अपनी किताब के बारे में मौलाना ने लिखा—'नाव इसका इस्लाम खंड है, दीन इस्लाम की है तलवार। सन् का हाल जो कोई पूछे सन् हिजरी 1349।' वर्षो से बुंदेलखंड में गाए जाने वाले आल्हा की तर्ज़ पर इस्लामखंड पढ़ा जाता है। वैसे तो यह काव्य भुला दिया जाता परंतु उस क्षेत्र में ऐसी परंपरा है कि जब वर्षा नहीं होती है तो लोग उसे आल्हा की शैली में गाते हैं और ऐसी मान्यता है कि वर्षा हो जाती है।

रजमिया शायरी (वीरगाथा काव्य) में नायक के साहसपूर्ण और वीरता से भरे युद्धों के वर्णन को प्रमुखता दी जाती है। इसमें न केवल युद्धों का वर्णन होता है बल्कि वीर रस से पूर्ण नायक के नैतिक एवं उच्च आदर्शों की प्रशस्ति भी की जाती है। जैसा कि प्रसिद्ध अंग्रेज़ी समालोचक डैनील ने कहा कि-''वीरगाथा वह कविता है जिसमें महान व्यक्तियों (योद्धाओं) के साहसपूर्ण कार्यो एवं महान उपलब्धियों का वर्णन किया जाता है।'' ऐसे काव्य में कवि अपनी कल्पना के आधार पर घटनाओं का वर्णन न करके उन घटनाओं को ऐतिहासिक परिदृश्य में ही प्रस्तुत करता है। ऐसे चरित्र अपने युग की महान विभूतियाँ हुआ करते हैं।

इस्लाम धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए जो लड़ाईयाँ पैगम्बर हज़रत मुहम्मद साहब के दौर में या उनकी मृत्यु के पश्चात् मुसलमानों और यहूदियों के बीच लड़ी गयीं, उन्हें 'इस्लामी जंगें' कहा जाता है और इस्लाम खंड इन्हीं इस्लामी जंगों का दस्तावेज है। इस्लामखंड में एक स्थान पर लिखा है :—

कह तो मानो दीन हमारा, कह जजिया दो साल पिछार।
इन दोनों बातों को न मानो फिर हमसे आन करो तलवार।।

मौलाना मुकीमुद्दीन ने इस्लामखंड की प्रस्तावना में लिखा है कि हिन्दुस्तान के 33 करोड़ लोग परंपरागत आल्हा की शैली में विशेष रुचि रखते हैं। इसी कारण से खुलफा-ए-राशदीन[1] सहाबाकराम की तारीखें जंगे[2] और बहादुरी के जंगी कारनामे इस्लाम खंड में लिखे गये हैं। इस्लाम खंड दो खंडों में है। पहले खंड में दो जिल्द हैं। इसकी पहली जिल्द में बसरा, बैतुलहय्या, अजनादीन आदि लडाईयों का वर्णन है, जो हज़रत अबूबक्र सिद्दीकी की ख़िलाफत के दौर में लड़ी गयी। दूसरी जिल्द में तबूक, फलस्तीन और जंगें यरमुक आदि लड़ाईयों का वर्णन है जो हज़रत उमर फारूख आज़म की खिलाफत में लड़ी गयी। दूसरे खंड की पहली ज़िल्द में दमिश्क की लड़ाई, मेले की लड़ाई व हज़रत खालिद का धावा है।

'इस्लामखंड' का प्रारंभ 'सुमरनी' से होता है। सुमरनी का अर्थ-'अल्लाह की हम्द' अर्थात् अल्लाह के स्मरण से है :—

''सब खलकत के पालन हारे,
जग संसार के सिरजनहार।
जल-थल की सुध राखन हारे,
दयावान बिधना करतार।
अथम-अगम बहत है नदियाँ,
ता बिच नय्या पड़ी मंझधार।
तेरा भरोसा मैं राखत हूँ,
बेड़ा मेरा लगय्यो पार।''

हम्द के बाद ''नाते पाक है। 'नाते पाक' उस कविता को कहते हैं जो केवल पैगम्बर हज़रत मुहम्मद सल्लाहो अलैह बसल्लम की प्रशंसा में लिखी जाती है'' इसके शेर इस प्रकार हैं:-

''भेजू अदब से पाक नवी पर,
अब मैं लाखों दरूद सलाम।
नाम फरिश्तन में अहमद है,
और मुहम्मद जग में नाम।
कैसे नवी अल्लाह के प्यारे,
सबसे बढ़कर जिन पर प्यार।
ख़तम हुयी पैगम्बरी उन पर,
सिगरे रसूलन के सरदार।

नबी की शान को बयान करते हुए लिखा है:-

जिसके नूर को सबसे पहले,
सिरजन हार दिया सिर जाए।
धरती, आकाश, चन्द्रमा, सूरज,
जिसके कारन दए बनाए।
जिसकी ख़बर ख़ुशी की जग में,
हज़रत ईसा को पुकार।
पाछे मेरे अब आबत है,
अहमद दीऊ जग के सरदार।

हज़रत उमर फ़ारूख आज़म की ख़िलाफत में लडी गयी 'मेले की लड़ाई' का वर्णन इस प्रकार हैः-

"लाल उमर केमीर अब्दुल्ला, तिनका हाल कहा न जाये।
गिरे तड़प जिस गोल के ऊपर मानों बिजली गिरे अधाय।।
बरछा तान चलैं जैनी दश, दई लाश पै लाश गिराय।
और खींचे तलवार जिछर को दई रकत की नहर बहाय।।

इसी प्रकार रूमियों (यहूदियों) से जंग में हजरत खालिद बिन बलीद की बहादुरी का वर्णन करते हुए लिखा हैः-

"कर हमला फिर 'रन दूल्हा'[3] ने सिगरे दल को दियाबखेर।
लै तलवार पड़े रुमीन पर जैसे बकरियन में मस्ता शेर।।"

इसी प्रकार 'इस्लाम खंड' में दमिश्क, हिम्मश और बालबक की लड़ाई का भी वर्णन किया गया है। ये लड़ाईयाँ सहाबाकराम ने फतेह (जीती) की है। दमिश्क की लड़ाई का वर्णन करते हुए मौलाना मुकीमुद्दीन ने लिखाः-

"करके जीत फतेह मेले की हज़रत आमिर सिपहसलहार।
दे साफबान को पाँच सौ गाजी नगर दमिश्क हाकिम बैठार।।
बोले और रन के दूल्हा से लियौ उकाब निशान उठाय।
चलो जहफ का लश्कर लेकर नगर बालबक कूच कराय।।

हज़रत आमिर और हरबीस के बीच लड़ी गयी बालबक की लड़ाई का वर्णन इस प्रकार किया गया हैः-

शहर में था रोमन लोगन का एक बड़ा हाकिम सरदार।
नाव में था हरबीस कहे वे उसका बडा रईस इज़्ज़तदार।।
सुन के ख़बर मुसलमानन की, अपने मन में गया झुराय।
लागा तैयारी फौज की करके अपने इरादे जए बताय।।

दमिश्क की फतेह के बाद हज़रत खालिद का धावा रुमियों के ऊपर हुआ जिसका वर्णन इस प्रकार हैः-

"करें तैयारी तब हमले की हज़रत रन दूल्हा सरदार।
सुन ललकार जयरन दूल्हा की।।
हर नफस में, मन में करें विचार।
नारी अरबी असवास के सुन हरबीस सौ भाजन लाग।।
देख भजत उसको रन दूल्हा झपटे तुरती जैसे आग।
हज़रत अब्दुल्ला जाफ़र तिनका हाल कहा न जाए।।
कठिन लड़ाई लड़ रहै मानों, लोहा रहे चबाय।।"

रियाजुद्दीन 'रियाज' जो कि मौलाना मुकीमुद्दीन के पुत्र थे उन्होंने "जंगे यरमुक" लिखी। जंगे यरमुक हज़रत उमर फ़ारूख़ आज़म की ख़िलाफत में लड़ी गयी। जंगे यरमुक प्रकाशित नहीं हो सकी। रियाज द्वारा हस्तलिखित प्रति आज भी बहेड़ी (बरेली) के बुजुर्गों के पास उपलब्ध हैं, उसी से इसका वाचन होता है। रियाज ने जंगे यरमुक का वर्णन इस प्रकार किया हैः-

"हज़रत खालिद रन के दूल्हा।
अबू उबैदा सिपहसलहार।।
ठहर गये यरमुक के जंगल।
अपने डेरे तम्बु डार।।
लश्कर गाज़ी मुसलमान का।
रूमी दल का मेठन हार।।
था एक में कैशायरिया जिसमें।
बेटा हरलिक क्यार।।

मौलाना मुकीमुद्दीन और रियाज की मसनबी से यह पता चलता है कि इसमें सत्य (हक) और असत्य (बातिल) की लड़ाई है। इसमें अरबों और ईसाईयों के बीच लड़े गये युद्धों का वर्णन है। इसमें इस्लामी तारीख, युद्धों से संबंधित चरित नायकों के वीरतापूर्ण कार्यो का वर्णन है। इनमें जो चरित्र प्रस्तुत किये गये हैं वे ऐतिहासिक सत्य पर आधारित हैं। इसमें सलीबी जंगों[7] की वास्तविक घटनाएँ आल्हाखंड में प्रस्तुत की गयी हैं जो मूलतः फारसी लिपि में लिखे गये हैं किंतु इन आल्हा गीतों की शब्दावली मूलतः हिन्दी है। "इस्लामखंड" पर आल्हा काव्य की क्षेत्रीय बोली (बुंदेलखंडी) का प्रभाव नज़र आता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस रचना का उद्देश्य केवल वीरता या युद्ध के दाव-पेंच को प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि इस रचना का मुख्य ध्येय इस्लामी इतिहास को सामने लाना है। आज ज़रूरत इस बात कि है कि खंडों में विभक्त इस रचना को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया जाए और साथ ही इस अनूठी आल्हा का हिन्दी अनुवाद करके उसे समाज के सामने लाने का प्रयास हो। तभी इसकी सार्थकता सिद्ध होगी।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, राजकीय रज़ा पी0जी0 कॉलेज, रामपुर (उ0प्र0)

आधार ग्रंथ :

1. हिन्दी अबद की तारीख, मो0 हसन, दिल्ली, 1993
2. अंग्रेज़ी अदब की मुख्तसर तारीख, मो0 यासीन, अलीगढ़, 1992
3. तरक्कीपसंद तहरीक और उर्दू शायरी याकूब यायावर, अलीगढ़, 1997
4. अमर उजाला, बरेली संस्करण 10 जुलाई, 2006
5. Encylopaedia of Britanica vol. IX.
6. History of Literary Criticism by J.E. Spingam

संदर्भ :

1. इस्लाम के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद स0अ0व0 की मृत्यु 657 के पश्चात् क्रमशः हज़रत अबूबक्र, हज़रत उमर फारूख र0, हज़रत उसमान तथा हज़रत अली खलीफा शासक बनाए गए थे और इन चारों को इस्लामी इतिहास से सबसे उत्कृष्ट शासक एवं धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार शासन चलाने वाला माना जाता है इसलिए इन्हें राशदीन अर्थात् सद्बुद्धि प्राप्त खलीफा माना जाता है।
2. सहावा उन व्यक्तियों को कहते हैं जिन्होंने पैगम्बर हजूर स0अ0व0 को देखा था तथा उनके साथ धार्मिक युद्धों में भाग लिया था।
3. मैदान का सिपहसलाहार अर्थात् हज़रत खालिद।
4. सहाब कराम : सहाबा उन व्यक्तियों को कहते हैं जिन्होंने पैगम्बर हज़रत मुहम्मद सल्लाहो अलैह वसल्लम को देखा था तथा उनके साथ धार्मिक युद्धों में इन लोगों ने भाग लिया था।
5. जंगे यरमुक : "यहूदियों और मुसलमानों के बीच लड़ी गयी जंग"।
6. लहरूआ : कम उम्र के।
7. मुसलमानों के अनुसार जो युद्ध ईसाईयों और मुसलमानों के बीच हुये जिसमें उन्होंने (ईसाईयों) ने सलीब अर्थात् ईसा-मसीह की कुर्बानी के प्रतीक की सुरक्षा की हो और मुसलमानों की हानि पहुँचाने की कोशिश की हो, सलीबी जंग कहलाती है।

ऋषिवंश की छह कविताएँ

(1) मृत्युगीत

मौत ज़रूरी है
ज़िंदगी के लिए
चाँद देखता रहता है
राज की दरिंदगी
निगल रहा है साँप मेंढक को
धीरे-धीरे
पेड़ों की फुनगी पर
ख़ूनी निगाहें
गिद्धों की बस्ती में भोज है
लासा लगाया है
ज़हरीली मकड़ी ने
चलते हैं रात-दिन
भूख मिटाने के व्यापार, अभियान
दर्द और पीड़ा है
ठहरे समुंदर में
शहरों का बड़ा उग्र तेवर है
चलती ही रहती है
भूख की लड़ाई
जाने कब उड़ जाएँ
परख़चे शांति के
मृत्युगीत गाते क़बीले
ख़ूनी दरिंदे
उतरे हैं सड़कों पर
गाँवों को नींद नहीं आती।

(2) मौसम

घाटी में बहार का मौसम है
गुलो-गुलज़ार हैं पहाड़ी जंगल
जंगली ख़ुशबुओं की बौछारें हैं
छोटे सुंदर फूल थिरकते हैं
अल्हड़ हवाओं के साथ-साथ
उदास है शहर का मौसम
गलियों-सड़कों कुलबुलाते हैं कुचक्र के कीड़े....
कौन तोड़ना चाहता है शहरों की शांति
छोटे से छोटा गाँव भी दूर-दराज़ का
जुड़ा है शहर की मक्कारियों से
पढ़-लिखकर लोग क्यों बिगड़ जाते हैं ?
अधजल गगरी जैसे
निरर्थक नारे लगाते दिन
भुने आलू से रोटी खाते मरियल मज़दूर
सोने के लिए जगह तलाशते
मजबूर लावारिस बच्चे
ऊँचे भवनों से उतरी
मारक विभीषिका जो न करे
बिगड़ रहा है मौसम
शायद अंदेशों में बीतेगा जीवन
आतंकी उतरे हैं शहरों में
अकस्मात्
जाने कब हो जाए क्या घटना
घाटी के फूल न झुलस जाएँ!

(3) घटाटोप

लहूलुहान संवेदनाएँ
विभ्रम की स्थिति
विस्मृति का मारक भान
अस्तित्त्व, पर ही
प्रश्नचिह्न गंभीर
निकलें किस ओर
घटाटोप में
राहत वाली कोई बात नहीं
भरमार टूटे दिलों की है
दिल तोड़ना सिखाने वाले
पाठ्यक्रम तमाम हुए शामिल
आजकल
दिनचर्याओं में
बुरी आदतों की शिकार



एक पीढ़ी
उतरी है मनमानियों पर
चमत्कार भरे यंत्र
हाथ में उठाए
संवेदनशून्य होने की अनिवार्यता
मशीनी युग का है
यह आदमी
कुछ सोचता है, कहता है कुछ
बेचारा, करता कुछ और
दिल से क्रमशः दूर होते जाने की
सज़ा भोगता है अभागा।

(4) बंद गुफ़ा

दरवाज़े बंद हैं
क़ैद हैं हवाएँ
शहरों में
बदबूदार वर्तमान
हावी है
चली गयीं
न लौटने वाली खुशियाँ
सदा-सदा के लिए
चक्करदार गलियों-सा
माइग्रेन
धुआँ-धुआँ है अस्तित्त्व
बंद गुफ़ा से
गुज़रती ट्रेन
डरे सहमे छौने
यादों के
जली हुई रोटियाँ
महकती हैं
नहीं रही माँ भी अब
समझौतों पर ठहरी साँसें
दौड़ पड़े जानवर
भूख क्यों लगती है आख़िर ?



(5) शुभकामनाएँ

खेतों-घरों में काम करती औरतें
गाती रहेंगी
गीत जीवन के
शुभकामनाओं वाले
सुख-दुख के
बच्चों की चिंता में
आगत से भय खाये वक़्त में
जीने का मतलब जब
संघर्ष निर्मम अपमृत्यु से
दाने-दाने को तरसते
भूखे बदहाल लोग
मरते ही जाएँगे
क्रमश :
पैदा भी होंगे
कपास के फाहे-से बच्चे
मरने के लिए
बार-बार
गाती ही जाएँगी औरतें
गीत शुभकामनाओं के
मौतों के बाद भी...
दर्दों के बाद भी...

(6) अर्थ खोने तक

अर्थ खोती जा रही हैं वस्तुएँ
खो चुके हैं आदमी
विश्वास कब के...
पानी की तंगी
गर्म कर देती है जन-मानस
लोग उबल पड़ते हैं
पानी का मतलब गर्मी नहीं
आग भी तो ऐसे ही...
पानी-पानी होकर ठंडी पड़ी
आग जवानी की
धरती को संकट से उबारने
दिये नहीं जलते
मनीषा के
सबसे अमीर होने के युद्ध में
छिपा लिये हैं चेहरे
सबने
नकली चेहरे अलग मुखौटों के
करते होंगे
घात-प्रतिघात
और अर्थ बदल जाएँगे
बदलते ही जाएँगे
वस्तुओं के अर्थ खोने तक...

उत्तरायण, मंदिर वाला घर
डायवर्जन रोड, सिविल लाइन, संतना-855001 (म0प्र0)

कविताएँ

भास्कर चौधुरी

कैंसर वाला बच्चा

बच्चे के पास एक आँख है।

दायीं आँख सहित कटा हुआ है
आधा चेहरा
उस पर पट्टी बँधी होती है सदा
वह देखता है
कि लोग दोनों आँखों से
कैसे देखते हैं उसे दूर से
और पास आते ही
च्चू च्चू बोलने लगते हैं
आँखें बंद कर लेते हैं या
मोड़ लेते हैं दूसरी ओर
या कट कर निकल जाते हैं तेज़ी से।

बच्चे के पास
एक आँख है
देखने के लिए
कि औरों के पास
सलामत हैं दोनों आँखें।

बच्चे के पास
आधा चेहरा है
यह महसूसने के लिए
कि औरों का पूरा चेहरा होता है
कि उनके पास बदलने के लिए
हर रोज़ होता है एक नया चेहरा...

अख़बार

वे पढ़ते हैं अख़बार रोज़
हत्या, लूट, बलात्कार, दुर्घटना, विस्फोट।

वे पढ़ते हैं अख़बार और
एक ख़बर-
जीवन को बचाने के बारे में !

मैं मुसलमान हूँ

मैं एक मुसलमान हूँ,
जो पाँच बार नमाज़ पढ़ता हूँ,
भोर से लेकर रात तक अल्लाह को
याद करता रहता हूँ।

मैं जूते-चप्पल की दुकान का मालिक हूँ,
दूकान के काउंटर पर बैठता हूँ,
लोगों के पैरों का नाप लेता हूँ,
उन्हें जूते-चप्पल पहनाता हूँ।

मैं एक मुसलमान हूँ,
जो कुर्ता-पाजामा और दाढ़ी में
बिल्कुल अलग से पहचाना जाता हूँ।

क़रीने से कटे बालों
और सफ़ाचट गालों वाला
आमिर और शाहरुख मैं हूँ।

मैं देश का राष्ट्रपति हूँ,
जो माँस नहीं खाता
जो सबसे प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों में से
एक है,
जो एक उम्दा मनुष्य है।

मैं एक मुसलमान हूँ,
जो बेहद ग़रीब है,
मेरे छह बच्चे हैं-
पाँच लड़कियाँ और एक बेटा,
उनमें से किसी ने माध्यमिक शाला का
मुँह नहीं देखा है।

मैं एक मुसलमान हूँ,
जिसके तीनों बच्चे
मस्जिद वाले हमले में मारे गये,
और जिनकी चप्पलें
औरों की चप्पलों के साथ बाहर पड़ी मिलीं।

मैं एक मुसलमान हूँ,
जिसे देखते ही कुछ लोग
नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं,
जिसे लोग शक की निगाहों से देखते हैं।

मैं एक मुसलमान हूँ,
जिसे मंत्रीगण सिर्फ़ वोट पाने वाले दिन तक
याद रखते हैं।

मैं एक मुसलमान हूँ,
जो ईराक़ में, लेबनान में,
पाकिस्तान में...
रोज़ मर रहा हूँ,
मारा जा रहा हूँ।

डी०ए०वी० पब्लिक स्कूल,
गेवरा प्रोजेक्ट, कोरबा (छ०ग०)

"बैसनी दूँ"

दया हीत

गाँव की तरफ नज़र डालती हूँ, कुछ समझ में नहीं आ रहा? बीते समय की रफ़्तार ने शायद इस गाँव की चाल-ढाल, सबको अपने रंग में रंग लिया है। सात वर्षों की साक्षी रही हूँ इस गाँव की ऊँची- नीची बलखाती सर्पाकार पगडंडियों की, पहाड़ी कन्दराओं की, वैराग्य विपिनों व मधुवन से तृप्त खेत-खलिहानों की, पर आज शायद बीस वर्षों बाद, हाँ कमोबश इतने ही समय बाद लौटी हूँ। मेरे साथ की लड़कियों की तो डोलियाँ भी उठ गईं होंगी और किसका ससुराल किस दिशा और दशा में हो, क्या पता! फिर भी एक अन्जाने भय से सशंकित कहीं कोई पहचान न ले, धूप का चश्मा आँखों पर चढ़ाती हूँ और फिर स्वयं ही हाथ में ले लेती हूँ यह सोचकर कि सात वर्ष की उस 'हेमा' को इस हेमा में भला कौन पहचानने का प्रयास करेगा! वो बीते दिन, अबूझा अतीत, इतिहास का अनकहा हिस्सा बनकर रह गया है। पुरानी स्मृतियों के सहारे गाँव के रास्ते को खोजने का प्रयास करती हूँ पर व्यर्थ, समय की दौड़ में इंसान ने सुगम्य सरल पंथों की खोज कर ली है तो टेढ़ी-मेढ़ी पथरी संकरी पगडंडियों का स्थान चौड़ी पट्टीदार सड़कों का रूप अख्तियार कर लिया है।

'बस' में से तो सामान अकेले ही उतार लिया था मैंने, पर दूर उस ऊँची पहाड़ी पर बसे गाँव तक ढोने की हिम्मत नहीं हो रही थी, अब इतने वर्षों में पहाड़ों पर चलने की आदत भी कहाँ रही है? हाँ, कभी-कभी बाबूजी के साथ मसूरी-ऋषिकेष तक जाना भी हुआ है तो कार से ही सारी दूरियाँ तय की हैं। कोई भोटिया (पहाड़ी कुली) वगैरह मिल जाता तो सामान ले जाने की समस्या हल हो जाती। रास्ता तो मैं, कसे न कैसे तय कर लेती। इसी आस में इधर-उधर ताक ही रही थी कि पास की किसी दुकान से एक वृद्ध निकल आये, "को छूरे, का जाण छूँ (कौन है रे, कहाँ जाता है) फिर ठे कुमाऊँगी बोली से सीधी हिन्दी पर उत्तर आते हैं कौन हो? बेटी, मेरा मतलब जाना कहाँ है। पर अतने वर्षों बाद भी इस शख्स का अक्स कैसे धूमिल पड़ सकता है, अरे ये तो पूज्यनीय मोतीसिंह जी हैं, मन किया बढ़कर उनके चरण स्पर्श कर लूँ, परन्तु परिचय का छोर न देने की मजबूरी में, मेरे हाथ वहीं जड़वत हो गये। सहसा याद आ गये बचपन के वे अल्हड़ पल, जब हम बच्चे स्कूल से लौटते तो रास्ते में मोतीसिंह जी की दुकान पड़ती थी। उनकी दुकान की गरमागरम स्वादिष्ट पकौड़ियों का हकदार हर कोई होता, चाहे किसी के पास 10 पैसे हों या चार आने या फिर मेरी तरह कोई अभागा-खाली हाथ! कोई मायूस या खाली हाथ तो कभी नहीं लौटता। बच्चों से उनका प्रेम अनंतथा, बच्चों की चाह में उन्होंनें तीन-तीन शादियाँ की, पर अपनी एक भी नहीं हुई, हाँ उनके असीम प्रेम ने गाँव के सभी बच्चों को अपना बना लिया। कभी-कभार चूल्हे पर चढ़ी कढ़ाई, से छनती गरमागरम पकौड़ियाँ, बस अड्डे पर उतरती सवारियों के मुँह का ग्रास बनती मिलती, तो हम बच्चे कोहराम मचा देते। उनके थोड़ा सबर करने का आग्रह और हमारा दुराग्रह "हम ताड़का है ताड़का, संहार करते हैं मोतीसिंह बुबु का आहार करते हैं" कहने से बाज़ नहीं आते, और भाग खड़े होते। वे खी-खी कर बच्चों की नादानी पर हँस पड़ते।

अतीत के पलों से लौटी तो मुस्करा उठी, माथे की लकीरे गहरा गइ है, ठुड्डी लटक गई है औश्र गाल चिपक से गए हैं पर प्रेम का आभास आज भी इन ज्योतिपुजों से छलक रहा है। रोकने पर भी कुमाऊँनी मुँह से फिसल ही पड़ती है, "मैकै गढयूड़" जाण छू। (मुझे 'गढ़सूड़ा' जाना है। अरे तू तो पहाड़ी दिखै रै, को छुरे, कदबै आमरै) अरे तू तो पहाड़ी दिख रही है, कौन है और कहाँ से आ रही है। मैं लखनऊ बटी आमरै, को भोटी मिल जाण तो... (मैं लखनऊ से आ रही हूँ कोई भेटियाँ मिल जाता तो...) मेरी बात को बीच में से काटते हुए वे अनायास बोल उठे, "अभी तो मुसकील है, बेर हो गई है, यदि भरोसा हो तो साज-सामान दुकान पर रख जाओ, रास्ता बताने के लिए किसी को साथ भेज देता हूँ" "नहीं-नहीं" ऐसी तो कोई बात नहीं (मन ने प्रतिवाद किया यदि आप पर भरोसा नहीं होगा तो इस जीवन पर कैसे भरोसा करती जो आपकी धरोहर है) दुकान के भीतर गयी गरमागरम सरसों के तेल में छनती पकौड़ियों व पहाड़ी रायते से उठती पीसी राई के छौंक की महक ने मन बेकाबू कर दिया।

खुशबू का ज़िक्र करते ही वह साग्रह गद्‌गद्‌ कंठ से बोल उठे, हाँ-हाँ क्यों नहीं "पहाड़ और पहाड़ियों की जान है ये भोज्य तो" सच ही! इतने नैसर्गिक वातावरण में जहाँ एक

और कल-कल पर्वतीय जलधारा जीवन-धारा बन बह रही हो और उस पर ऐसा लज़ीज़ 'ऑफर', कोई सनकी ही होगा जो ठुकरायेगा। भरपेट खा-पीकर तृप्त होकर, कुछ ज़रूरी सामान एक छोटे से बैग में समेट मैं गाँव चलने को उद्यत हुई तो उन्होंने दुकान पर आये गाँव के एक लड़के को रास्ता बताने को मेरे साथ कर दिया।

गाँव की ओर उन्मुख हुई तो दूर पर्वतों के पार सूर्यास्त हो रहा था, अँधेरा उजाले को निगलने को तत्पर, मई की तपती गर्मी का अहसास मात्र नहीं, ठंडी-ठंडी पर्वतीय बयार ने अलौकिक स्फूर्ति भर दी। मातृभूमि का अहसास था या संजीवनी बयार की जादूगरी लखनऊ के वातानुकुलित इमारतों में क़ैद ठंडी हवा भी इसके आगे कुछ बासी और फीकी जान पड़ी। "तुम क्या मोतीसिंह जी की दुकान पर काम करते हो? परिचय बढ़ाने की गरज़ से मैंने उस लड़के से पूछा। "नहीं तो, मैं तो बस पकौड़ी लेने गया था।" एक लघु उत्तर देकर छोकरा फिर चुप हो गया। अरे, तुमने तो अपना नाम भी नहीं बताया। मेरे दुबारा प्रयास करने पर चिरपरिचित सकुचाहट से परिपूर्ण उसका उत्तर था "दीवान" और फिर वह किसी दीवान की भाँति मेरी पैरवी करने की जिज्ञासा को वह शायद रोक नहीं पाया, पूछ बैठा "आप क्या स्कूल की नयी टीचर हैं, यहाँ हमें पढ़ाने आई हैं। "हाँ, पढ़ाने तो आई हूँ पर तुम बच्चों को नहीं बल्कि बड़े-बूढ़ों को प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम जानते हो, उसी के लिए आयी हूँ। हाँ, तुम बच्चे भी चाहें तो पढ़ने आ सकते हैं। मुझे अच्छा लगेगा।"

यूँ सवाल-जवाब करते हम चढ़ाई चढ़ रहे थे। वह बालक तो बड़ी सहजता और चपलता से आगे बढ़ता यूँ मेरा मार्गदर्शन कर रहा था मानों कोई अनुभवी गाइड हो, जबकि, मैं साफ़ हाँफने लगी थी। वह जब कुछ दूर निकल जाता तो रूककर मेरी बाट जोहता और फिर मेरे पहुँचने पर साथ चल पड़ता। पर जब निरंतर चलना मेरे लिये दूभर हो गया तो मैं एक पुराने चीड़ के पेड़ की जड़ों पर जो किसी योगी के आसन-सा प्रतीत होती थीं, सुस्ताने को हुई तो वह सहजता से बोल उठा, टीचर जी, लगता है थक गई हैं, यहीं सुस्ता लीजिये, स्कूल तो अभी दूर है। दूर क़हाँ, यहीं पास में ही तो था, मैंने प्रतिवाद किया तो वह पुनः बोला, "आपकों बुड़ज्यु ने जरूर ग़लत बताया होगा, वो तो पिछले पाँच-छः सालों से प्रधानज्यु के मकान के ऊपरी तल्ले में, वहीं लग रहा है। प्रधानज्यु का तो पूरा घर-परिवार परदेस में बस गया है, इसलिये उन्होंने मकान स्कूल को दे दिया। "चल तो फिर चलते हैं नहीं तो अबेर हो जायेगी। यहाँ वीराने में अब और ठहरना जंगली जानवर का ख़तरा भी हो सकता है।" बढ़ते अँधेरे से सचेत करते हुये मैंने कहा, "अरे, कहाँ टीचरजी जबसे गाँव में लैट-पानी के बाघ, चीते सब लोप हो गये हैं।" किसी अनुभवी वृद्ध की भाँति उसने हाथ-नचाते हुये मेरा भ्रम दूर किया। वो देखिये नीचे बड़ी अच्छी जगह है, वहाँ आराम करेंगी, तो सारी थकान उड़नछू हो जायेगी। उसके कहने का अंदाज़ कुछ ऐसा था कि बरबस मेरी हँसी छूट गई। झिलमिल प्रकाश स्तम्भों की दूधिया रोशनी में जब मैंने उस ओर नज़र डाली तो वह चिरपरिचित गाइड की भाँति बोल उठा, वो देखिए हमारा "बैसनी ढूँ"। एकाएक उस चट्टान पर नज़र पड़ते ही मेरी आँखों के सामने बीस वर्ष पूर्व का वह बीभत्स मंज़र बिजली की भाँति कौंध उठा। यही तो वह चट्टान थी जिसे इस इलाके के लोग "बैसनी ढूँ" के नाम से पुकारते थे यानि बैठने वाला पत्थर। देसी हो या फिर परदेस से लौटता परदेसी, घनघोर बांज और चीड़ के जगलों से लकड़ी या पिरू समेटकर घर लौटते ग्रामीण या फिर नालों से पानी के गगरे छलकाती ग्राम्याएँ, सभी का आश्रय स्थल था ये। दशहरे के दिनों में रामलीला देखकर लौटता ग्रामसमुदाय हो या फिर जंगली जानवरों का डर गाँव की कल्पित सीमा का अंतिम पड़ाव माना जाता था ये "बैसनी ढूँ"। प्रकृति की भी इस स्थान पर कुछ विशेष अनुकम्पा प्रतीत होती थी। स्फटिक पत्थर की एक विशालकाय शिला दो पहाड़ों के बीच यूँ विराजमान थी मानों कोई तपस्वी सीधे देवभूमि से रास्ता भटकता यहाँ तप की किसी क्लिष्ट मुद्रा में आत्मसात हो। चारों ओर नैसर्गिक पर्वतीय कंदराओं की बेलें, ऊँचे-ऊँचे देवदार और चीड़ के दरख़्तों की घनी छाया जो जेठ की गर्मी में थके ग्रामीणों की पनाहगाह थी तो वहीं पूस व माघ की कँपकपाँती ठंड में अठखेलियाँ करती सूर्य की किरणों की ताप की गुलाबी आभा से पर्वतीयजनों की आरामगाह थी। दूरदराज से आया पथिक चंद क्षण भी यदि इस पर सुस्ता ले तो स्वर्गिक आनंद से पराभूत हो उठे। ऐसी थी इसकी अनुपम माया पर उसकी जिस माया के दर्शन मैं बीस वर्ष पूर्व कर चुकी थी, आज भी मेरे मानसपटल पर पोस्टआफिस की ताजी मुहर की भाँति अंकित थी।

मेरी स्मृतियों में मेरे पिता के स्वरूप का कोई अक्स नहीं रहा। रहता भी तो कैसे? मेरे जन्म के पूर्व ही मेरे जन्मदाता पिता देशसेवा को समर्पित हो चुके थे। उम्र के जिस दौर में, तरूणियाँ यौवन की मस्त फिज़ाओं में मदमस्त हिरणियों की भाँति कुलांचें भरती हैं, वस्तुतः तभी इसे "स्वीट सिक्सटीन की अनुपम संज्ञा से अलंकृत किया गया है। मेरी माँ के लिये वे वर्ष हर्गिज़ स्वीट न होकर दुर्भाग्य का बेहद कड़वा दौर थे। उन दिनों लड़कियों का ब्याह 10-12 साल में हो जाया करता था। इसी के चलते 15-16 की अल्पायु में ही वो तरूणी माँ का दर्ज़ा तो पा गई थी, परंतु गर्भकाल के दौरान ही मैं अपने पिता को खोकर सबके लिये अनिष्ट हो गई थी। प्रसवकाल तो इस आस में कट गया था कि शायद परिवार की पुत्रप्राप्ति से वंशबेल ही बढ़ जाये पर जब आमा (दादी) ने पुत्र की जगह मुझे पाया तो उनकी रही-सही आस भी जाती रही। माँ की 'किस्मत' का ग्रहण जो पिता की मौत से आरंभ हुआ मेरे जन्म के साथ और

ठहराता गया। अब मैं, ब्रह्मांड की सबसे निकृष्ट प्राणी थी और उसकी जन्मदायिनी सबसे 'तुच्छ' और 'हेय'। इसी के चलते माँ और मेरी जो दुर्गति हुई वो बचपन में ही माँ की जवानी अनेकों बार सुन व झेल चुकी थी। इस लोगों का फिर भी हम माँ-बेटी पर घोर अहसान था कि इतने उपालंभों के बाद भी हमें आश्रय दिया हुआ था।

जिस समय माँ को अपनों के अपनत्व, सांत्वना, संबल और प्यार की आवश्यकता थी, उसे मिली थी सबकी दुत्कार, तिरस्कार और घोर अपमान। आश्रय देने के पीछे भी कुत्सित खुदगर्ज़ी और मतलबपरस्ती का पूरा जोड़-तोड़ निहित था। माँ-बेटी को ज़मीन-जायदाद में कोई हिस्सा मिलना नहीं था, इसलिये घर भर की जूठन खाकर जब तक काम कर सकते थे, जी-तोड़ मेहनत और मशक्कत के बदले पुरानी उतरन और जूठन, कहीं से भी घाटे का सौदा नहीं था। पौ फटने के साथ ही माँ जो चक्की के चाक की भाँति शुरू हो जाती, निशा के अंतिम प्रहर तक, पुरे कुटुम्ब को खिला पिला, सुलाकर ही आँख मूँदती। उस पर भी जवान विधवा की मजबूरी का फ़ायदा उठाने का मौका तलाशते घर के भीतर के भेड़ियों से रात्रि के घनघोर अंधेरों में, कैसे रक्षा की होगी माँ ने! कभी-कभी सोचती शायद उस वक़्त की हर विधवा की आप बीती की भाँति माँ का जीवन भी एक था, परंतु विधाता ने शायद कुछ और ही लिखा था उनके भाग्य में...

धीरे-धीरे समय कट रहा था, उसके जीवन में कोई आस बची थी तो वो थी "मैं! मेरे बचपन की किलकारियों में पलभर के अपने ऊपर किये सारे अत्याचार भूल जाती। कभी मुस्काती तो कभी तुतलाती उसकी ये नन्हीं गुड़िया ही उसके संतोष की असीम धरोहर थे। यूँ ही दिन बीतते, उसकी बेबस ज़िंदगी तीन-चार वर्ष कुछ आगे खिसक गयी थी। मैं उस समय थी चार साल की हाड़-माँस की जीती जागती तस्वीर। दूसरों की जूठन पर पलने वालों का स्वास्थ्य जैसा होता है वैसी ही कुछ हालत थी मेरी। माँ बताती थी, दूध पीती बच्ची को ईश्वर के सहारे छोड़ जाती थी, शाम को जब वह खेत-खलिहान जोत-जातकर घास के गठ्ठर लादे वापस लौटती तो मैं घर की देहली पर रोती-बिलखती मिलती। गाँव की बड़ी बूढ़ियाँ ताना भी मारती, "क्यूँ रे सरूली, तु ये टब्बरवालों की ख़िदमत ही करती रहेगी या अपनी छोकरी का भी कुछ होश है तुझे।"

उन्हीं दिनों की बात है, गाँव की प्राइमरी पाठशाला में एक नये मास्टर साहब आये। एकदम नया-नवेला, फौज के रंगरूट की भाँति चुस्त-दुरस्त और हज़ारों अरमान सीने में सँजोये। गाँव की नयी पीढ़ी को शिक्षित बनाने का दिवास्वप्न लिये हुए। सुना था, गाँव में अपनी नियुक्ति की अर्ज़ी स्वयं उसने विशेष रूप से की थी। अपने अनुपम स्वप्न की संकल्पना को सजीव करने की चाहत व इच्छा शक्ति ही शायद उसे यहाँ खींच ले आयी थी।

गाँव में वो हर किसी के आकर्षण का केन्द्र बन गया था। एक तो शहरी बाबू वो भी बाँका जवान बड़े-बूढ़ों का स्नेहाशीष का पात्र था तो नवयुवकों की ईर्ष्या का। इधर गाँव की बालाओं के हृदय भी डोलने लगे थे उस पर। जबकि उसका अपना व्यक्तित्व था बेहद धीर, गंभीर, विराट, विशाल व संजीदा। इस प्रकार की हवाएँ उसके व्यक्तित्व को दूर तक छू तक नहीं गई थीं। पर हमारे घर परिवार के लोगों से उसके परिचय की सेतु बनी थी मैं। प्राइमरी पाठशाला में अपनी नियुक्ति के उपरांत सबसे पहली आवश्यकता थी ठौर-ठिकाने की, कब तक विद्यालय में रहा जा सकता था। किसी ने शायद यहाँ की राह सुझायी तो, एक दिन जब वे हमारे यहाँ आये और उन्होंने वहाँ नीचे दालान में भूख से रोते क़लपते मुझे देखा तो शायद उनका हृदय भी पीड़ा से व्याकुल हो उठा। यह जानने को कि भला ये किसकी अनचाही सन्तान भूख से बिलबिला रही है उन्होंने वहीं आंगन से आवाज़ लगायी। ताऊजी ने जब सुना तो बाहर आये, फिर मास्साब से परिचय आदि हुआ। बातों ही बातों में जब उन्हें पता चला कि मास्साब को रहने के लिये कमरे की तलाश है तो उन्होंने दो खेत नीचे बने अपने पुराने मकान को क़िराये पर देने की पेशकश की। तय हुआ, चूंकि मास्साब खाना पकाना नहीं जानते थे, दो समय का खाना उनके घर पहुँचा दिया जायेगा और वे इसके एवज में किराया तथा उनके तीनों किशोरवय पुत्रों को पढ़ा दिया करेंगे।

इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी। उन्हें तो आम के आम, गुठलियों के दाम मिल रहे थे, काम करने को माँ थी ही बदले में मुफ्त ट्यूशन और मासिक किराया। दिन का खाना मास्साब के स्कूल से लौटने पर बच्चे स्वयं ही पहुँचा आते और रात का खाना वे अक्सर घर पर आकर करते। घर पर यूँ आने जाने के क्रम में उन्होंने शायद यह महसूस किया कि हम माँ-बेटी के साथ किस कदर, परिवार वाले र्दुव्यवहार कर रहे हैं।

और फिर एक दिन तो हद हो गई। कार्तिक मास की एक ठंड भरी सुबह, पहाड़ों पर तो वैसे ही सर्दी बढ़ जाती है, मैं मात्र एक झगुले (पहाड़ी फ्राक) में सिमटी हुई, देहली पर बिलख-बिलखकर भूख से बिलबिलाती 'माँ' के आँचल को पकड़कर उसे खींचती हुई उन्हें मिली, तो वे चुप नहीं रह सके। अरे कैसी माँ हो, हमेशा काम की पड़ी रहती है, कभी उसे गोद में भी ले लिया करो, वे बोले तो माँ ने मुझे गोद में उठा लिया पर तभी भीतर से, बड़ी माँ की गालियों की बौछार पड़ने लगी, इस मरजाणी को कुछ नहीं होगा। ये करमजली तो कालकवच बाँध कर जन्मी है, पैदा होने से पहले ही बाप को खा गई, वो मुआ तो चला गया और इन दोनों माँ-बेटी की छोड़ गया हमारी छाती पर मूँग दलने। इन कटाक्षों से वे सारी वस्तुस्थिति समझ

गये। बिना कोई प्रतिवाद किये और माँ से लेकर मुझे गोद में उठा लिया। इसे मैं साथ लिये जा रहा हूँ दोपहर को लेता आऊँगा। माँ शायद बोलना चाह रही थी कि इसके खाने-पीने का क्या होगा? परंतु तार-तार धोती से अपने आपको ढकने का असफल प्रयास में वे शब्द उनके गले में ही घुटकर रह गये। मास्साब ने अपने ऊनी दुशाले से मुझे ढँका और निकल गये। पीछे से दालान में बड़ी माँ की झाड़ गूँजती रही, इस निगोड़ी को तो दिन भर भूख-भूख कुलबुलाती है।

वहाँ से स्कूल जाने की बजाय मास्साब मुझे लेकर सीधा रौतेलाजी की दुकान पर गये, मेरे लिए मोटे कपड़े का एक छींटदार फ्रॉक खरीदा और दो गरम पजमियाँ। फिर स्कूल ले गये, रास्ते से गंगासिंह हलवाई के यहाँ से जो गरम-गरम जलेबी दही का दोना बाँध लाये थे, वे मुझे वहाँ खिलायी। इस स्नेहवर्षा से मैं ऐसी तृप्त हुई कि स्कूल के कमरे में जो सोयी तो छुट्टी की घंटी के साथ ही आँख खुली। उसके बाद तो ये जैसे नियम-सा बन गया। मैं रोज़ उन्हीं के साथ स्कूल जाने लगी, वहीं पढ़ती, यहाँ तक कि ज़्यादातर दोपहर को उनके साथ ही खाना खाती और फिर उनके साथ ही ठुमककर उनके कमरे में खेलती रहती। धीरे-धीरे इस देखभाल का असर छः सात महीनों में ही मेरी सेहत में दिखने लगा। जहाँ इस कायापलट से माँ की आँखों में छायी मायूसी की जगह आशा की किरण झिलमिलाने लगी थी, वहीं घर भर के लोगों को मास्साब का मेरे प्रति ये अतिरिक्त स्नेह खटक रहा था। बड़ी माँ तो कभी-कभी चिड़चिड़ाकर कह उठतीं, "इस बानरी (बन्दरियाँ) को तो देखो, खा-पीकर कैसी मुटा गई है। प्यार से मास्साब मुझे 'दमुआ' (पहाड़ी आलू) पुकारते और मैं भी उनमें न जाने कब अपना पितृअक्स देखने लगी, जिसके चलते वे मास्साब से मेरे प्रिय बाबूजी बन गए। ताऊजी के लड़के भी अब आगे की पढ़ाई के लिए 'रानीखेत' के सेकेण्डरी स्कूल जाने लगे थे, उनके लिये वहीं डेरा ले लिया गया, तो दिन में बाबूजी के घर तक खाना पहुँचाने की जिम्मेदारी भी माँ के कामों की फ़ेहरिस्त में अपने आप शामिल हो गई। यही भोजन परोसने का क्रम उनके परस्पर परिचय का बातचीत का आधार बना। बाबूजी ने ही उन्हें आत्मबोध कराया। अब उन्हें पता चला कि माँ, प्राइमरी तक पढ़ी है तो उन्हें 'मिडिल' की परीक्षाएँ प्राइवेट तौर पर देने को कहा। माँ की तो जन्मों से इच्छा थी पढ़ने की, तभी तो वे मुझे पढ़ती लिखती देखकर अपने सब दुख भूल जाती, पर घरवाले इसके लिए इजाज़त देंगे। इस संशय के डर से वह कभी हिम्मत ही नहीं कर पायीं। पर बाबूजी ने इसका भी रास्ता निकाल ही लिया। वे घर के बड़ों को यह समझाने में सफल रहे, थोड़ा पढ़ लिख जाने से हो सकता है कि यहाँ के स्कूल में नौकरी भी मिल जाए। गाँव भर के लिए एक आदर्श तो होगा ही और हो सकता है इसी से वे पंचायत का चुनाव भी जीत जाएं।

घर की औरतों ने थोड़ी ना-नुकर करने की सोची भी तो बाबूजी ने आश्वासन दिया कि घर के कामों में कोई ढील नहीं होगी। बस फिर क्या था, उन्होंने सोचा बहू को दंतहीन तो पहले ही कर दिया है, इस अहसान के तले कभी सिर नहीं उठा पायेगी। चारों ओर जो नेकनामी होगी वो अलग। बाबूजी के इन्हीं तर्कों की बैसाखी तले माँ की पढ़ने की इच्छा बढ़ चली। इसी पढ़ने-पढ़ाने के दौर में कब वे दोनों एक दूसरे के करीब आ गए, पता ही नहीं चला। बाबूजी के आगे उनके सिद्धांतों व उसूलों की दीवार थी तो माँ वैधव्य व नारीत्व की स्वाभाविक झिझक व शर्मोहया की लक्ष्मणरेखा के भीतर क़ैद। उससे भी अधिक भय था पुराने परंपरावादी दकियानूसी घर व समाज के बंधनों का। ऐसा समाज़ जो रात के अँधेरे में किसी विधवा को अपनी वासना का शिकार तो बना सकता है पर सूर्य की आभा में उसे अपनाने की मूर्खता नहीं।

पर इश्क और मुश्क भी कभी छिपाने से छिपा है। बाबूजी तो आरंभ से ही थे घोर क्रांतिकारी। समाज के इन तथाकथित थोथे उसूलों को धता बताते हुए ही, उन्होंने अपने रईस उद्योगपति पिता के अकेले वारिस होने के दावे को साफ़ नकार दिया था। उन्हें खैरात में भी यह सौगात नामंजूर थी। सादगी और संयम, धैर्य व निरंतरता उनके व्यक्तित्व के स्तम्भ थे। इन्हीं से वे समाज की अंधी लड़ाई से लोहा लेने का दम रखते थे। विधवा-विवाह जैसी सामाजिक चेतना के तो वे प्रबल समर्थक रहे थे फिर अब तो यह उनके अपने जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था।

बाबूजी के निर्देशन में माँ ने मिडिल तथा हाईस्कूल की परीक्षाएँ अच्छे अंकों से उत्तीर्ण कर ली थीं। वह अब बी०टी०सी० करना चाह रही थी कि उसी बीच पर्वतीय समाज की ठंडी हवाएँ बाबूजी और माँ के संबंधों को लेकर कुछ गर्म होने लगी। धीरे-धीरे यह बात घर के लोगों के कानों में भी ज़हर घोलने लगी। वे जल्द कोई निर्णय लेते, इसके पूर्व बाबूजी स्वयं माँ से विवाह का प्रस्ताव लेकर घर के बड़ों के समक्ष जा खड़े हुए। माँ का हृदय तो पहले ही उनके सान्निध्य को स्वीकार चुका था पर घर-बाहर के डर से उनका सर्वस्व काँप रहा था। किसी अनिष्ट की आशंका से वे जड़ हो गई। जिस समय उनका विवाह हुआ था, उनके बालमन पर इसका कोई अहसास तक न था, और जब उसे विवाह और सहचर के साथ का अहसास हुआ तो वह साथ ही जाता रहा। साथ ही शुरू हो गया था, वैधव्य का कठोर व्रत जिसे समाज के पोंगे पंथियों ने और भी कठिन बना दिया था। यह उनके मन पर एक भारी बोझ बन गया था जिसे वह अनचाहे ही अपने कमज़ोर काँधों पर ढो रही थीं।

शायद इसे वे अपनी नियति मान ढोने भी लगी थीं कि तभी बाबूजी का आगमन उनके सूने जीवन में एक खुशनुमा

...के का अहसास लेकर आया। इसी बासंती बयार में कब ...की सुप्त इच्छाएँ जागृत हो गईं पता ही नहीं चला। श्वेत-श्याम ...रंगहीन दुनिया से जीवन की रंगीनियों को अब उनका वैरागी ...मन भी मचलने लगा था। मुझे याद है दीपावली के एक मौके ...पर बाबूजी, माँ के लिये रेशमी बेलबूटियों से सजी एक धानी ...धोती लाये थे। तब तो बिना किसी विरोध के सकुचाहट भरे ...अंदाज़ में लेकर वे भाग खड़ी हुई थीं। बाबूजी की मंद-मंद ...मुस्कुराहट, अपने प्रति उस चाहत के अहसास से फैलती चली ...गई थी। उस धोती को कई बार अँधेरी स्याह रातों में, माँ को ...संदूक से निकालते, पहनते ओढ़ते देख चुकी थी मैं। पूर्णिमा ...की चाँदनी रात हो या फिर अमावस की काली अँधयारी माँ का ...आरक्त चेहरा मैं, अपने मन के दर्पण में देख लेती। ऐसी खुशी ...पहली बार उसके जीवन में झाँक रही थी। चाहती थी मेरी माँ ...दिन के उजाले में भी उस खुशी से सम्मोहित रहे, पर यह कहाँ ...मुमकिन था, सूर्य के पूर्व में अँगड़ाई लेने के पूर्व ही वह अपनी ...उल्लखित हृदय तरंगों को उसी संदूक में क़ैद कर देतीं, ताकि ...समाज की ओछी दृष्टि उसे भाँप न ले।

बाबूजी के अटल-अदम्य बाहों का सहारा पाकर ही तो ...उसके प्रेम का अंकुर फूटने का साहस कर पाया था। परंतु ...पुष्पित होने के पूर्व ही प्रस्ताव को एक स्वर में खारिज कर ...दिया गया।

इसका आभास बाबूजी को पहले से ही था इसलिए वे ...क़ानूनी रूप से पहले माँ को अपना लेना चाहते थे परंतु माँ ...सर्वसम्मति से उनकी होना चाहती थीं। सो उनका कहा मानकर ...ही, वे मोतीसिंह जी को अपने विश्वास में ले पाये थे। बाबूजी ...का बराबर उनकी दुकान में आना-जाना था, वे भी बाबूजी से ...पुत्रवत् स्नेह करते थे। उनके पके बालों का यह अनुभव रहा ...था कि गाँव के धर्मधिकारी, जिनकी लोलुप नज़रें हर समय ...ऐसी मजबूर जवान विधवाओं का सर्वस्व निगलने को घात लगाये ...रहती थीं वे हर्गिज़ इसकी इजाज़त नहीं देंगे, क्योंकि इनकी ...बदौलत ही तो वे गाहे, बेगाहे अपनी पिपासा शांत कर पाते ...थे। फिर भी कोई बवाल न हो, इसलिये वे बाबूजी के नेक ...इरादे के समर्थन में इस प्रस्ताव के लिये राज़ी हो गये। परंतु ...वहाँ घर के लोग तो पहले ही तय कर चुके थे सो इंकार तो ...स्वभाविक था, परन्तु यह आशा न थी कि वे माँ पर दुश्चरित्रता ...का झूठा लांछन लगाने से भी नहीं चूकेंगे। बाबूजी को भी क्या ...कुछ नहीं सुनना पड़ा, "हम जानते हैं पढ़ाई की आड़ में दोनों ...क्या गुल खिला रहे थे। कोई और घर नहीं मिला था इस ...हरामज़ादे को, उजाड़ने को। जिसने तुम्हें ठौर दी वहीं कालिख ...पोतने चला था स्साला। कुछ तो पुरानी सड़ी गली मान्यताओं ...का मकड़जाल और कुछ यह प्रस्ताव उनके "अर्थ और गणित" ...के समीकरण पर खरा कैसे उतरता सो विरोध के स्वर ज़ोर ...पकड़ने लगे।



माँ पर तो जैसे आसमान टूट पड़ा। घर के लोगों ने उस बेसहारा की ऐसी दुर्दशा की कि रोंगटे खड़े हो जाते। घर के नीचे तल्ले में बने गाय-बछड़ों के गोट में उसे क़ैद कर दिया गया सिर्फ़ गालियों के नश्तर से ही नहीं, लात-घूँसों से भी उसके अंग-अंग को बेदम कर दिया गया। जुबान बंद रखने के एवज में न केवल माँ को गर्म चिमटों से दागा गया बल्कि मुझे भी प्रताड़ित किया गया। बाबूजी को आते जाते जो बेइज्ज़त किया जाने लगा, वो अलग। उन्हें घर छोड़कर स्कूल के कमरे में शरण लेनी पड़ी, क्योंकि पंचायत बिठा कर उनका हुक्का-पानी ही बंद कर दिया गया। कई लोगों में उन्हें शीघ्र ही गाँव छोड़कर अंयत्र चले जाने की सलाह दी, परंतु बाबूजी जैसे सिद्धांतवादी व्यक्ति क्या इन मुश्किलों से कभी घबराने वाले थे? जितना विरोध का स्वर मुखर हुआ, वे उतने ही अपने फैसले पर अटल होते गये। अंत में उन्होंने कोर्ट मैरिज करने की ठान ली, इसके लिये माँ की सहमति और उपस्थिति आवश्यक थी, परंतु माँ को तो घर में ही क़ैद कर लिया गया था।

स्कूल में काम करने वाली 'खीमुली' जिसे बाबूजी, बुआ कहकर बुलाते थे इस विकट परिस्थिति में, शायद आप बीती ने ही उसे प्रेरित किया हो, बाबूजी का साथ देने को राज़ी हो गई। उनकी मददसे बाबूजी ने अर्ज़ी पर माँ से चोरी-छुपे दस्तखत करवा लिये और फिर उसी सन्नाटे में वे उसे चुपचाप रानीखेत कचहरी में जमा कर आये थे।

बुआ के हाथ संदेश भेजकर, बाबूजी ने भविष्य की योजना से माँ को अवगत करा दिया था। नियत दिन व समय तय हो जाने पर कचहरी में पेशी व गवाही के तौर पर मोतीसिंह

जी आने वाले थे।

जिस रोज पेशी थी, उससे एक दिन पूर्व रात्रि के दूसरे प्रहर, घर का सारा काम काज निपटा कर माँ को चुपचाप ''बैसनी ढूँ'' पहुँचने को कह दिया था। मुझे बुआ किसी बहाने से शाम को ही स्कूल लिवा लाई थी। तय हुआ था कि मुझे बाबूजी लेकर वहाँ पहुँचेगें और माँ अकेले ही ''बैसनी ढूँ'' पहुँच जाएगी। इस कार्यक्रम की किसी को खबर न हो, इसलिए माँ ने आम राह छोड़कर 'श्मशान' का रास्ता पकड़ा। परंतु इस तयशुदा कार्यक्रम की खबर न जाने कैसे कचहरी के एक चपरासी को लग गई थी जो विभीषण बना इस कांड का।

घोर अमावस की रात थी वह। हाथ को हाथ न सूझता था। इस नीरव, निःशब्द निशा में दूर बहता पहाड़ी नौला (झरना) भयभीत धड़कनों की भाँति अजीब कोलहाल-सा संगीत बिखेरता हुआ। उसकी कल-कल गूँजती धारा, साँय-साँय डोलती पर्वतीय हवाएँ और उससे टकराती चीड़-देवदार के पत्तों की खड़खड़ाहट, वातावरण को बेहद भयावह बना रही थी। और उस पर मेरी माँ के सीने में एक ओर आगामी जीवन के उल्लास की अपूर्व उत्तेजना तो दूसरी ओर कुछ अनिष्ट न घट जाने की भयवेदना, उसके टेढ़े-मेढ़े पड़ते कदमों में और थरथराहट फैला रही थी। बीच-बीच में हूक-सी गूँजती पर्वतीय पक्षियों की गूँज इस नीरव रात्रि को और सनसनाहट से भर देती।

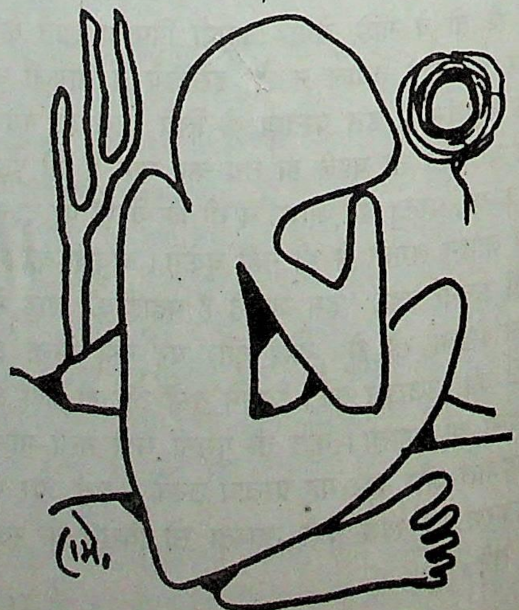
ऐसे में कलेजे में उफनती विद्युत तरंगों-सी भय लहरों को समेटे, नंगे पैर पहाड़ों की कंटीली दुर्गम पगडंडियों को पार करती हुई जैसे ही माँ ''बैसनी ढूँ'' पहुँची, कंटीली झाड़-झंकारों से महाकाल बने कई दरिंदे, दातुल (दरांती) हँसियों से माँ पर टूट पड़े। मैं बाबूजी की गोद में दुबकी-सिमटी कुछ ही पग दूर इस दुर्दांत काण्ड की साक्षी बनी। बाबूजी 'छिलुका' जलाये मुझे गोद में लिये मात्र बीस गज़ की दूरी पर रह गये थे जब ये काण्ड हुआ। वे मुझे वहाँ ले जाते तो पूरा परिवार ही एक पल में वंशहीन हो जाता। अपनी आँखों के सामने, अपने प्रेम का इतना दर्दनाक अंत देखकर वे सिहर उठे। मैंने देखा वे दुख और पीड़ा से क्षुब्ध अर्द्ध विक्षिप्त से वहीं गिर पड़े। माँ का अंत करके उनमें से एक चिल्लाया ''कहाँ है रे इसका यार, ढूंढो और इसकी नागिन चेली (बेटी) को भी। सब को मौत के घाट उतार दो, स्सालों को। कालिख पोतकर जा रहा था स्साला हरामी। बाबूजी आखिर क्या करते, उन नरभक्षियों से भिड़ भी जाते तो अंत निश्चित था, वे अंत से नहीं मेरी मासूम ज़िंदगी से सहम गये थे। वहीं पेड़ों के तले मुझे सीने से चिपटाये उन्होंने वह काली बड़ी रात काट दी। वे लोग काफ़ी समय तक वहीं राह देखते रहे फिर थककर लौट गये।

सुबह होने के पूर्व ही 'बाबूजी' चुपचाप मोतीसिंह जी के यहाँ पहुँचे। उन्होंने रातोंरात मोटर अड्डे जाने वाली एक बैलगाड़ी में हमारे जाने का प्रबंध कर दिया, बाबूजी को चुपचाप वापस लौट जाने की सौगंध देकर, समझाते हुए कहा था बेटा, अपनी नहीं इस नन्हीं जान की सोच। उसकी खातिर तुझे सब भूलना होगा। सरला तो चली गई, ये सब 'पटवारी' को खिला-पिलाकर सब मामला रफा-दफा कर देंगे पर इस 'हेमा' की ज़िंदगी नरक हो जाएगी। यदि किसी प्रकार जद्दोजहद कर उनके ऊपर केस बन भी गया तो फिर 'हेमा' को तुझे भूलना होगा। उसे तू न तो अपने साथ ले जा पायेगा और यहाँ वह एक बार फिर अनाथ हो जायेगी। जो नहीं रही उसकी नहीं, जो तेरे पास है उसके लिये तुझे सब भूलकर यहाँ से कहीं दूर जाना होगा।

आखिर वो करते भी तो क्या? इसके सिवा कोई चारा न था। सो वे मुझे, अपने कलेजे पर पत्थर रखकर यहाँ लखनऊ ले आये। कई वर्ष मैंने मानसिक आघात में झेले। माँ का साक्षात मृत्युतांडव मेरे हृदयदल पर ऐसा आघात कर गया था कि जिसे भूलने में बाबूजी के अपार स्नेह, वात्सल्य और पितृप्रेम के लेप को भी वर्षों लग गये। बाबूजी आजीवन ब्रह्मचारी रहे, मेरा लालन-पालन ही उनके जीवन का मूलभूत उद्देश्य बन गया, जिसके फलस्वरूप ही मैं इस मुकाम पर प्रौढ़शिक्षा अधिकारी के रूप में, आज अपनी पहचान बना सकी थी।

उसी के तहत जब मुझे यहाँ आने का अवसर मिला तो जन्मभूमि से वर्षों पूर्व तोड़ चुकी अपना नाता, एक बार फिर जोड़ने का लोभ नहीं छोड़ सकी थी मैं, पर आज इतने लंबे अन्तराल के बाद भी ''बैसनी ढूँ'' को पुनः देखने पर अहसास हुआ कि ईश्वर ने मुझे अपनी जन्मभूमि के दर्शनों को नहीं बल्कि अपनी माँ को अन्तिम श्रद्धांजली देने को यहाँ भेजा था शायद। लगा कि एक बार ''बैसनी ढूँ'' पर अपने नाम की सार्थकता के अनुरूप, मेरी 'माँ' समाज की सड़ी-गली मान्यताओं व परंपराओं की आहुति चढ़कर वर्षों पूर्व यहाँ की अपूर्व शांति में समाधिस्थ हो अपनी थकान मिटा रही है।

इलाहाबाद



कागज का हवाई जहाज

प्रेम रंजन अनिमेष

हने को तो वह अपनी प्लास्टिक की छोटी सी पेटी भर रहा था.... पर दरअसल समेट रहा था अपना सारा कुछ। सारा कुछ जो रह गया था यहाँ। बाकी मेज, कुरसी, चौकी, ...टी... छोड़ जायेगा यहीं। वह ईमानदार और सोचने वाला ...। इस महीने का किराया नहीं दे सका था। कह कर जाने ...कहीं वे रोकते। देने को पैसे भी नहीं थे पास में। इसलिए ...ा था चुपचाप चला जायेगा। मगर यह सब यहीं छोड़कर ...वे बड़ी और भारी चीजें... और साथ में एक छोटी चिट्ठी। ...रहा हूँ। हमेशा के लिए। शायद लौट कर न आ सकूँ। इस ...र का भाड़ा बाकी है। लेकिन ये चीजें छोड़े जा रहा हूँ। ...यद इनसे भरपाई हो जाये।

वैसे तो कोई चीज साबुत नहीं रह गयी थी। हर चीज ...ती थी। मेज का पाँव... कुरसी की बाँह...चौकी पूरी की ...। यही उसके अकेलेपन का संगीत था। शायद उन्होंने यही ...ता चुना था सूनेपन में उसका साथ देने के लिए। इन अनबोलों ...। अनबोले वे होंगे पर निर्जीव उसे कहीं से नहीं लगते। यह ...की कोई खासियत नहीं थी। जो रह जाता इस तरह अकेले ...ने साल इस कमरे में! सिंहासन बत्तीसी की पुराकथा उसे ...ोल कल्पना नहीं लगती।

उसमें कोई खासियत नहीं थी। होती तो कहीं होता। ...हीं नहीं। बस एक कुछ था जो था- उसका स्वभाव। इसी से ...का रहा इतने दिन। यहाँ । इसी कमरे में। आया था जहाँ ...ले पहले। जबकि उसके साथी इस बीच घाट-घाट कहाँ नहीं ...के। कुछ किनारे भी लगे। वह रह गया। यहीं का यहीं। पर ...ब आज भर, बस। कल सुबह सुबह चला जायेगा। वैसे वह ...ने में बुरा नहीं था। बल्कि अच्छा ही था। मगर शायद इतना ...हीं कि सारी अड़चनों को पारकर, सारे व्यूह भेदकर मुकाम ...क जा पाता। हर बार लगभग पहुँच कर रह जाता, बारीक ...तर से। अपनी सारी तेजी लगा कर भी पल के सौंवे हिस्से ...लक्ष्य दूर रह जाता...। वह सयानापन नहीं था उसमें कि ...चूक रहे तो गरदन आगे कर अपनी हाँफती जीभ बाहर ...डोर को छू ले उससे! लगभग...! उसने कई बार सोचा था ...पना नाम ही रख ले 'लगभग'...! ऐसी ही कुछ उसकी विडंबना ...। ऐसा ही प्रारब्ध शुरू से। गाँव में जो खेल होते उनमें भी जहाँ से पुरस्कार शुरू होते उससे बस एक पायदान रह जाता वह नीचे। वहाँ जहाँ कोई सांत्वना भी नहीं होती। यहाँ भी एक बार पता लगवाया था। बताने वाले ने वही बताया जिसका उसे अंदेशा था- उसका चयन हो जाता... बल्कि हो ही गया था! ग्यारह आरक्षित सीटें थीं और छब्बीस अनारक्षित। छब्बीस अनारक्षित उम्मीदवारों में मेधा सूची में वह छब्बीसवाँ ठहरता। पर गड़बड़ यह हुई थी कि एक आरक्षित प्रतियोगी अंकों के हिसाब से ऊपर था। इसलिए वह अनारक्षित 'सामान्य' सूची में ही चयनित हो गया.... और उसे मिला बाहर का रास्ता। पचास प्रतिशत आरक्षण के नियम का कार्यान्वयन इसी तरह था। अगर उस श्रेणी को कोई उम्मीदवार सामान्य श्रेणी वाली अर्हता या अंक प्राप्त कर लेता तो उसे सामान्य 'मेधा चयन' माना जाता और आरक्षितों का निर्धारित हिस्सा उसके अतिरिक्त उतना भरा जाता। बाद की किसी परीक्षा में उसने परिणाम के उपरांत इस तरह अपनी वास्तविक स्थिति पता करने की कोशिश तो नहीं की. .. पर उसे मालूम था वह होगा वहीं कहीं- सामान्य प्रतिभा सूची के आखिर में - किसी आरक्षित प्रतियोगी द्वारा अच्छा प्रदर्शन कर सामान्य सूची में ही जगह बनाकर एक सीढ़ी नीचे खिसकाया जाता और आरक्षित सूची के अंत में किसी निहायत कमजोर को जगह दिलाता...।

कपड़े उसने अलगनी से नहीं उतारे थे। सोचा था रात में रखेगा। नहीं तो किसी को शक हो जाता कि हमेशा के लिए तो नहीं जा रहा! बाकी किताब-कागज-पत्तर रैक पर ही एक ओर रख लिये थे, सरका कर। यही सोचा था शाम ढले हो जायेगी पैकिंग। बल्कि ठूँस लिया जायेगा अटैची में। अटैची भी अजब गजब थी। कितने सफर की रेखायें उस पर पड़ी थीं! और एक तरफ से सिटकिनी लगती ही नहीं। डोरी से बाँधना होता उसे। चलो यह भी सफर का एक रोमांच है। उसने सोचा। फिलहाल तो बस एक कागज चाहिए था उसे- एक छोटा सा कागज। ताया जी (मकानमालिक) को लिखने के लिए जाते जाते। यह काम भी रात में कर लेगा। वैसे रात में बिजली रहती नहीं थी लेकिन उसी में राहत थी। बत्ती जलते कहाँ से उमग कर चले आते इतने सारे कीड़े। फिर लिखना ही कितना था! वही दो पंक्तियाँ जो कबसे सोच रहा था। इतने सारे

कागज-पत्तरों को वहाँ अपने साथ ले जाकर क्या करेगा? कुछ प्रमाणपत्र भी थे। पर इतने साल बाद... जैसे इक उम्र निकल जाने के बाद... वहाँ ले जाकर इन्हें क्या करेगा- स्पेयर पार्ट की उस दुकान पर, जो बाबूजी के साढूजी की थी और उनकी सिफारिश पर वह भी जिसका हिस्सा अब होने को था। बाबूजी ने सारी बात कर ली थी। वही अब तक एक आखिरी परिणाम के लिए रूका हुआ था।

टक्की घूमता फिरता चला आया। छत पर जहाँ सीढ़ियाँ ऊपर उठकर खत्म होती थीं, उसी से लगी थी उसकी छोटी सी कोठरी। गर्मियों में सीधी धूप से हालत बुरी होती पर हवा भी लगती। सर्दियों के दिन होते बड़े प्यारे। सितंबर जा रहा था। सर्दी के दिन बस आ ही रहे थे। मगर अबकी जाड़े की धूप में वह यहाँ नहीं रहने वाला था। '...गेहूँ फैला हुआ है. .. पानी पड़ना शुरू हुआ तो कहाँ जायेगा? ढोकर नीचे ले जाना पड़ता न ऐसे! उसी तरह कपड़े पसारे हुए हैं। बारिश आयी तो यहीं उठाकर रख देने के लिए जगह होनी चाहिए। छत पर कोई सोया हुआ है.. आँधी पानी आया... तो बिस्तर लादकर नीचे तो नहीं पड़ेगा जाना। यही सोचकर था बनाया यह कमरा. ..।' तायाजी बताते और फिर कहते- लेकिन चलो अच्छा हुआ. .. तुम मिले..। तुम्हें दे दिया। बल्कि सबसे अच्छा हुआ। यह भी तो इस कोठरी का ही फायदा। तुम्हारे जैसे लड़के को आसरा मिला। पढ़ाई का एक माहौल मिल गया। और एक साथी बच्चों को।

- क्या है टक्की...। उसने पूछा।

चौखट से झाँक कर टक्की भीतर चला आया था और अब एकटक उसे ताक रहा था। टक्की नाम ही था उसका, इसीलिए। जन्म से गौर किया गया कि यह बच्चा टुकुर टुकुर देखा करता है सबको। सो नाम पड़ गया। अब टी0वी0 को भी उसी तरह टकटकी बाँधे देखा करता था, चार साल की इस उमर में। ताया जी का नाती था वह। बेटी के पास से लेते आये थे कि यहाँ मन लगेगा बूढ़ा-बूढ़ी दोनों का। पर अब उसको भी जल्दी ही जाना होगा। माँ बाप अपने यहाँ स्कूल में दाखिला कराने वाले थे उसका। 'इसके साथ के और बच्चे साल भर पहले से पढ़ने लगे हैं। जल्दी भेजिये इसे। नहीं तो घर बैठे खेलते बिगड़ जायेगा...।' उसकी माँ, यानी तायाजी की बड़ी बेटी ने खत में लिखा था।

-मुझे कागज का हवाई जहाज बना दो...। टक्की ने कहा धीरे से।

-तुम्हें...?

-भैया मेरे लिए! वह उसकी ठिठोली समझ गया।

-कल तक तो पतंग के पीछे पड़े थे... आज हवाई जहाज की धुन क्यों! पतंग चाहिए...? एक है मेरे पास।

-नहीं...। वह मुझसे उड़ती नहीं।

-यह उड़ जायेगी...?

-हाँ।

-पक्का?

-अरे हाँ भई हाँ।

-चलो ठीक है। कागज है तुम्हारे पास?

-नहीं। हवाई जहाज है। यहाँ...! उसने अपने माथे की ओर इशारा किया।

चलो.... जाते जाते एक यह काम कर लें...। एक बच्चे का मन रख लें। सोचा उसने। और सामने पड़ा कागज लेकर बैठ गया। और फिर कई कागज मोड़ तोड कर फेंके... जैसे पहले पहले कोई प्रेम पत्र लिखा रहा हो। हवाई जहाज था कि ढंग से बन ही नहीं रहा था। जबकि बनाना इतना आसान और सीधा था। यह नाकारापन भर दिया था इतने सालों की पढ़ाई और मगज खपाई ने! वरना कागज के हवाई जहाजों का खुद उसे कितना शौक था। बचपन में खूब बनाये थे... और कितने उड़ाये थे! पर अभी था कि जो चाहा बन ही नहीं पा रहा था। बनता भी तो कभी हाथ का पंखा या दवात। टक्की एकटक उसकी यह सारी जोर आजमाइश देखे जा रहा था- जैसे अब बोल पड़ेगा - कुछ मदद करूँ क्या? यह कितनी लजाने वाली बात होती कि चार साल का बच्चा उसे रास्ता बताये! पर उससे भी भारी था कि वह उस समय कुछ बोल नहीं रहा था। बस चुपचाप देखे जा रहा था।

कागज की तो फिलहाल उसके पास कमी नहीं थी। ये पन्ने भर ही तो थे उसके पास। कुछ छपे, कुछ लिखे-अधलिखे कोरे। और इनका भी अब कुछ करना नहीं था। कुछ होना जाना नहीं। तो अच्छा कि एक बच्चे के लिए ही कुछ बन जायें। कमी सब्र की होती जा रही थी। और अपने ऊपर भरोसे की भी - जो लगभग उठ चुका था शायद पहले ही। कुछ पन्ने आजमाने के बाद नाव तो बनी। 'यह चलेगा...?' थोड़ा सहमे हुए दिखाकर उसने पूछा। '...यह भी जहाज ही है। पानी का जहाज!'

जैसा अंदेशा था टक्की ने इस प्रस्ताव को निठुराई से ठुकरा दिया। 'बोलो पानी कहाँ से लायेंगे? अभी हवा है। हवा का जहाज उड़ायेंगे।'

-बाल्टी भर पानी है मेरे पास!

-नहीं चलेगा। आसमान की हवा है जैसे, आसमान का ही पानी चाहिए। और उसका मौसम अभी नहीं है।... फिर अभी उसके लिए बच्चे का मूड भी नहीं है...!

सबसे बड़ी बात यही थी। उबरने का कोई रास्ता नहीं था। मगर टक्की ने ही दिया। 'पानी का बन गया न! अब हवा का जहाज भी बन जायेगा! सब बनता है इस कागज से ही। मैंने अपने दोस्त के पास है देखा। कागज का मोर भी है वहाँ कागज के पंख फैलाता...।'

वह करीब है अपने लक्ष्य के... टक्की की बात सुन कर बल मिला। हालाँकि करीब जाकर ही वह कई बार रह था। किसी सदमे और अभिशाप की तरह उसे याद आया। इस बार इस लक्ष्य में उसे जूझना और जीतना है। यह लक्ष्य यहाँ जो इस बच्चे से उसे मिला है। कागज का जहाज वह बनायेगा... टक्की के लिए... और सबसे अच्छा. सबसे प्यारा....।

अभी खिंचकर जो कागज आ रहे थे उसके पास प्रमाणपत्रों सत्यापित प्रतिलिपियाँ थीं उनमें। लेकिन अब उसके लिए बेमानी। तीस पार कर चुका था वह। लगभग सारी योगिताओं की उम्र। और इन कागजों ने दिखा दिया था वे किसी काम की नहीं। एक बच्चे का हवाई जहाज ही बन जाये! और... और कोई काम चाहे नहीं सधा... यह तो वह आज कर के ही रहेगा।

उसके दिमाग पर जोर डाला। इतने सालों के गर्दो-गुबार परतों को हटाया और अपने बड़े पाँव बचपन के नन्हे जूतों डाले उन गलियारों में कुछ पल घूमने के लिए। वहाँ फिर घूमने में जो हुई हो... मिलने में ज्यादा देर नहीं हुई। मिला खाका। आखिर बना। कागज का वह हवाई जहाज जैसे पहला! और देखकर इतनी खुशी हुई उसे और टक्की को उतनी राइट बंधुओं को भी न हुई होगी। किंतु समस्या अभी । हवाई जहाज सफलतापूर्वक उड़ा तो पर कुछ ही दूर जाकर गया।

पीछे जलकुंभियों से भरी खाली जमीन थी कुछ दूर तक थी। काफी अरसे से इसी तरह। आसपास का बाकी इलाका गया... गझिन पर और गझिन होता हुआ.... मगर वह की तरह ठहरे हुए पानी और विवशता की गाद भरी हरियाली भरा। जैसे उस मुहल्ले का अंतिम छोर हो! उसके चारों तरफ सारे मकानों का पानी उसी में गिरता था। गाय भैसों का होटल और स्विमिंग पूल दोनों था।

'भैया! ऐसा हवाई जहाज बनाओ जो उड़कर इस जलकुंभी मैदान के पार पहुँच जाये! टक्की ने मासूमियत से कहा। खासी थी। कागज के हवाई जहाज के लिए। लेकिन चुनौती एक बच्चे की। और हमेशा नयी चुनौतियाँ नयी उम्र ही रखती हैं। बच्चों की आँखों में ही होते हैं दुनिया के नये !

इसके लिए कागज कुछ मोटा होना चाहिए! मूल प्रमाणपत्रों प्रशस्तिपत्रों का कागज ऐसा था। एक क्षण सोचकर उसने बाहर खींच निकाला। यह उनका सबसे सार्थक उपयोग वाला था।

चार नये मजबूत हवाई जहाज उसने बनाये। अच्छी तरह तौल कर। दोनों ओर संतुलन देख कर। डैने परख कर।

-पहले दो तुम उड़ाओ। उसने टक्की के हाथ में दिये। टक्की ने पूरे उछाह से उड़ाया। पहला आधे से ज्यादा मैदान पार कर गया और दूसरा उससे भी आगे गया - तीन चौथाई पार गिरा।

-भैया तुम अपना वाला उड़ाओ। यह जरूर पार कर जायेगा।

बस इसी हौसला अफजाई का तो इंतजार था। पहला हवाई जहाज उसका निकला तो बहुत अच्छा था.... आशायें जगाता.... प्रबल संभावनाओं से भरा... पर बीच में एक पोल आड़े आ गया। पतंग की तरह वह उसी के तारों में उलझ गया।

-कोई बात नहीं भैया! यह वाला उड़ाओ उससे बचा कर जरा...। यह जरूर पहुँचेगा।

बच्चे की बात! सुनकर छाती दुगनी हो गयी। एक बार आँख मूँदकर चूमा... और फिर साधकर उड़ाया। और लो वह गया। खिला ऊपर किस तरह! यह उसका सबसे बड़ा प्रमाणपत्र था...। इस बार इससे जरूर मिलेगी कामयाबी। टिक्की तालियाँ बजा रहा था। इस बार तो बस पहुँच ही गया। उस पार। उस किनारे...!

लगभग।

ठीक जब मंजिल सामने थी... अचानक हवा पलटी... जहाज की नाक नीचे हुई और वह गिर पड़ा वही... हाथ भर पहले! जैसा हमेशा हुआ था उसके साथ। उसने आँख भर देखा उसे। जैसे अपने को। मंजिल के सीढ़ी भर पहले... फिसला पड़ा हुआ।

मगर अबकी छोड़ने वाला नहीं था वह खुद को वहीं। एक दफा फिर से उठाया अपने को। एक चिकने अच्छे पन्नों वाली बड़ी सुंदर डायरी थी उसके पास। कभी किसी से भेंट में मिली। याद आया। उसने आँख मूँद कर जैसे अभिमंत्रित करते हुए बीच से दो पन्ने खींचकर निकाले उसके। बस यह एक कोशिश और। 'नहीं... भैया ऐसा करते हैं...।' टक्की ने टोका। '...मैं सीख गया हूँ। ...हवाई जहाज इस बार मैं बनाता हूँ। उड़ाओ तुम...!'

बच्चे की बात! दो हवाई जहाज उसने बना डाले। अपने पुलकते हाथों से उसके हाथों में थमाये। उसने तय कर लिया था। मैदान नहीं इस बार केवल आसमान देखेगा। ऊँची दृष्टि से ही ऊँचाई मिलती है! और पहला ही जहाज सीधे सर्र से निकला ऐसे... मानो चाँद को चूम लेगा। मैदान पार कर सीधे उस पार सामने वाले मकान की छत पर। पता नहीं हवा में बात थी कुछ ऐसी... कागज में... बनाने वाले हाथ या उड़ाने वाले में। या कोई था उस ओर से जो खींच रहा था। उस पार जाकर जहाज ने अपने आप घर भी कौन सा चुना! कई सितारे जहन में उभरे... कई यादें हो गयीं ताजा...। अब नींद अच्छी आयेगी! उसने सोचा। दूसरा हवाई जहाज बड़े प्यार से उसने टक्की के हाथों में सौंप दिया- इसे कल उड़ाना!

-नहीं.... अब और नहीं उड़ायेंगे। उस पार तो हम पहुँच ही गये। कितना अच्छा था... मैंने देखा...। अब फिर इतना अच्छा नहीं उड़ेगा। मैं इसे यादगार रख लूँगा...! टक्की ने किसी बड़े की तरह कहा। वह बेहद खुश था। उसकी आँखों में जैसे वह उड़ान कैद थी। उसने बताया कल से वह फिर पतंग उड़ायेगा या कोई एकदम नया खेल शुरू करेगा!

जैसे कितना भार उतर गया हो..मानों कितना हलका हो गया हो... कि खुद उड़ा जा रहा...। बिस्तर पर सपने सी आँख लगी। एक बड़े शोर से वह उठा। नीचे लोग जमा थे। कुछ लोग जोर जोर से चिल्ला रहे थे। ताया जी समझाने की कोशिश कर रहे थे पर वे शांत नहीं हो रहे थे। बल्कि उनकी आवाज बढ़ती जा रही थी। वे... वे उसका नाम ले रहे थे। 'आप नहीं बचा सकते इस लड़के को। ऐसे बदमाश को अपने यहाँ बसा रखा है...। मेरी लड़की को ऐसी चिट्ठी लिखता है...। हम नहीं चलने देते यह सिनेमा छाप प्यार मोहब्बत नौटंकीबाजी, लफंगई...। हमारे गाँव में ऐसा हुआ था तो.हमारे चाचा ने खेत में गाड़कर हल चलवा दिया था... उस मिट्टी के हैं हम। आपको कुछ नहीं करना है तो चुपचाप देखिये...बस हमको मत रोकिये। देखिये हम कैसे लगाते हैं इसके होश ठिकाने...।'

अब तक वे सीढ़ियाँ चढ़ चुके थे और उसकी कोठरी तक आ चुके थे। जल्दी से उसने मुँह पर पानी का छींटा मारा। गमछे से हाथ मुँह पोंछा। वे बहुत उत्तेजित थे। दरवाजा टूटता इससे पहले उसने खोल दिया। सामने कागज का वह पन्ना लहरा रहा था... चिकनी डायरी का वह पन्ना जो कुछ देर पहले हवाई जहाज था... जिसमें उसकी लिखावट थी... और नीचे नाम भी... और ऊपर किसी और का...। आँख मूँदकर मन ही मन प्रार्थना कर उसने बिना देखे यह पन्ना खींचा था... और प्रार्थना स्वीकार होकर यही उसके हाथ आया था...। बल्कि टक्की के। यह हवाई जहाज बनाया तो उसी ने था... उसने उड़ाया था। उड़ाते हुए अपनी लिखावट कुछ झलकी थी... लेकिन उस क्षण यही सोचा कि कुछ होगा लिखा। इतने अरसे में तो लगभग भूल ही गया था कभी किसी के लिए लिखा भी था उसने अपनी उस सुंदर सी डायरी में... और वह भी उसके नाम के साथ...! एक अनकहे प्यार की एक अनभेजी पाती...! शायद उसी नाम के सदके वह कागज मुक्त होते इतनी दूर चला गया था... जिस पर अचंभा था उसे... और टक्की को भी! लेकिन वह कागज अब फिर कैद था। वह पकड़ा गया था।

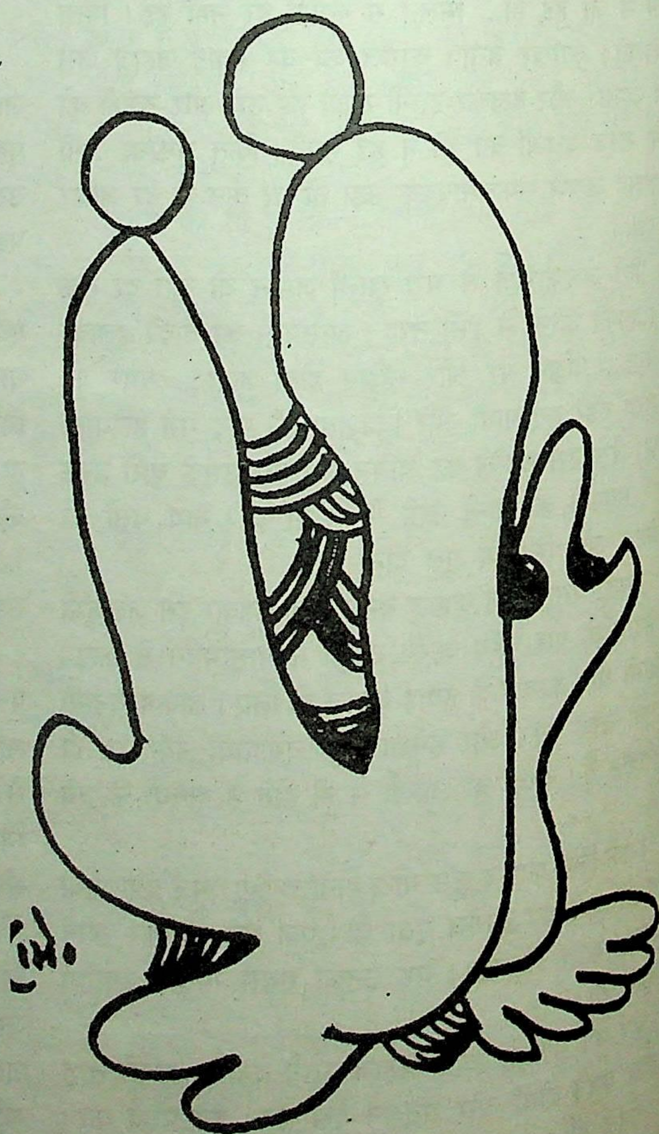
वे बहुत गुस्से में थे। न जाने उसका क्या कर देने के जुनून में। सीधा सादा और ईमानदार लड़का था वह। बस एक बार विनम्रतापूर्वक बताने की कोशिश की कि यह बात पाँच साल पहले की है। जब कम सयाना था वह...। और वह भी उतनी ही छोटी। मगर उसने कुबूल किया कि लिखाई उसी की थी। और मुहब्बत भी। वह झूठ नहीं बोलता था। नहीं बोल सकता था। मौत को सामने खड़ा देख कर भी।

खींच कर ले जाये जाते उसने परेशानहाल ताया जी को कहने की कोशिश की, इस बार का किराया चूँकि वह नहीं दे पाया है और अभी उसके पास है भी नहीं, चौकी मेज कुरसी और बाल्टी से वे कर लेंगे इसकी भरपाई...। इसीलिए कि अब वह शायद लौट न पाये!

गली में वे अब उसे गालियाँ देते, मारते पीटते चपत लगाते खींचते घसीटते ले जा रहे थे।

'भैया ऽ ऽ...!' टक्की अब जागा था। और उसे इस हाल में देख विह्वल था। 'यह लो... और इसे पकड़ कर निकल जाओ इनके बीच से...!' उसने साधकर कागज का वह हवाई जहाज उछाला जो उसके पास था। उसमें भी वही उड़ान थी और वही गति...। चिकने सुंदर पन्ने से बने हवाई जहाज के ढाँचे में छुपा वह अनभेजा दूसरा पत्र था...

पटना



कविताएँ

परमेन्द्र

हम

इत्र निकाल लिये जाने के बाद
फेंक दिया गया पुष्पावशेष हैं हम
चुकी हुई देह का थका हुआ ऐन्द्रिक बोध

हम तुम्हारी महानताओं से आतंकित
बेऔक़ात स्वप्न हैं
तुम्हारे उपजीव्य को प्रसाद-सा गटककर
आभार प्रदर्शन की मुद्रा में झुके
मुक्ति का स्वप्न

हमारे खुश होने की हर वजह पर
तुम्हारे लट्ठ तने हैं
जिन्हें तुम
संस्कृति का हलंत बता रहे हो

सूखता है हलक
गला छीलती है साँस
मगर गा रहे हैं हम स्वागत-गीत
लहूलुहान हाथों से
राजपथ सजा रहे हैं
बजा रहे हैं समय का नगाड़ा
चमकमक के उजाले में
घुल रही है
हमारे उछाह की गमक
यहीं कहीं धूल खा रहा होगा
हमारे आँसुओं से भीगा रूमाल।

बार-बार...

बार-बार
टूटती है नींद
ज़ुबान हलक से चिपक जाती है—
हाथ-पैर बेजान।

बार-बार
प्रेम
औंधे मुँह गिरता है
कुचला जाता है
भारी बूटों-तले!

बार-बार
कोई तलवार
चीर जाती है
बीचों-बीच से !

सामने का दृश्य
जिसे देखकर
आँखें सुर्ख हो जानी चाहिए
सिर्फ धुँधला होकर रह जाता है

शुक्र है !
हर बार ऐसा नहीं होता!!



प्रलय के बाद

प्रलय के बाद भी
बचे रहेंगे कुछ लोग
असीम लहरों को
अपने हाथों से काटते हुए
कि कोई भी अंत अंतिम नहीं

एक सूर्य बुझने से पहले
टाँक दिया जाएगा
नया सूर्य क्षितिज पर
सिर्फ एक इतराते सूर्य पर
नहीं टिकी दुनिया

खेतों से फिर उठेगी हरी गंध
बिखरेंगी रंग-बिरंगी तितलियाँ
अमराइयों में गायेगी कोयल अमरत्त्व

फिर
फिर-फिर
गौरवपूर्ण थकान
और
चिंथी हुई उँगलियों के बीच से
फूटेंगे कई सूर्य।

आकाशगंगाओं से
अप्रतिहत घूमती रहेगी धरती
अपनी धुरी पर
अक्षांशों और देशांतरों के माथे पर
एक शिकन तक न आएगी।

घर से आखिरी बार निकलेंगे
तैयार होकर
अपनी मौलिक बेचैनियों को
विराम देते हुए।

113-लाल बाग, गांधी कालोनी
मुजफ्फरनगर-251001 (उ0प्र0)

फिर किसी शाम

फिर किसी शाम
झरेंगे गुलमोहर
गोद में मेरी

फिर किसी शाम
मिटता दर्द
हारेगा दर्द
सुखद प्रतीक्षा के
दुखांत से पहले

शाम नहीं होगी
शाम से पहले।

दंगा

धर्म–
बर्फीला मौन।
ईश्वर–
स्वयं में गतिमान समुद्र
सिर झुकाए प्रार्थना में लोग
रुकी हुई नदी,
जिसमें जब भी बाढ़ आयी
समुद्र लाल दिखने लगा।

मृत्यु

कल
नहीं रहेगी देह
अधूरे स्वप्न भी झर जाएँगे
एक तारा टूटेगा
मगर आकाश भरा रहेगा

लघुकथा

मित्रता

सत्यनारायण भटनागर

चील हवा में प्रतिदिन गोते लगाती थी। कभी पंख फैलाकर नाचती, कभी उल्टी-सीधी हो हवा में गोता लगाती। उसे बड़ा आनन्द मिलता था। हवा उसकी मित्र जो थी। हवा और चील आसमान को नापते। खूब बातें करते।

हवा और चील में प्रतियोगिता होती। कभी हवा तेज़ चलती, कभी चील हवा को मातदेकर गोता लगाती। दोनों शर्तें लगाकर एक-दूसरे को मात देते। फिर जीत-हार के बाद खिलखिलाकर हंसते, आनन्द मनाते।

आज हवा खूब तेज़ चली। साँय-साँय की ध्वनि होने लगी।चील ने खूब गोते खाये। दोनों नाचे। आकाश में नाचते-गाते चील थक गयी। उसने हवा से कहा, तुम आकाश में होती हो तो स्वतंत्रतापूर्वक उड़ने में बाधा आती है। काश तुम न हो तो आकाश मेरा अकेले का हो। कोई रोक-टोक न हो। मज़ा आ जाये।'

हवा ने सुना तो बोली, शायद तुम ठीक कहती हो मित्र। कभी-कभी ऊँची उड़ान में हवा बाधा बन सकती है। कल तुम उड़ना। मैं तुम्हें केवल देखूँगी। तुम्हारे उड़ने का आनन्द लूँगी।'

हवा विश्राम करने लगी। चील सो गयी। दूसरे दिन भी हवा धरती के बिछौने पर सोई रही। चील उठी, उसने पंख फड़फड़ाये और आसमान को ताककर कर ऊँची उड़ान भरने के लिए ज़ोर लगाया, पर यह क्या? चील उड़ न सकी। उसने फिर ज़ोर लगाया और इस बार वह ज़मीन पर गिर पड़ी। हवा ने उसे सँभाला, नहीं तो बड़ी चोट लग जाती।

हवा ने पूछा, क्या हुआ मित्र? उड़ क्यों नहीं पा रही? चील ने सर नीचा कर लिया। चील ने कहा, 'हवा तुम मेरे उड़ने में बाधा तो हो, मुझे उड़ने में अटकाती तो हो पर तुम्हारे बिना तो मैं उड़ ही नहीं सकती। तुम्हारा आकाश में होना मेरे उड़ने के लिए आवश्यक शर्त है। आओ हम-तुम मिलकर आकाश को नापें। '

हवा प्रसन्न हुई। आकाश की ऊँची उड़ान बिना मित्र के हो ही नहीं सकती। मित्र कुछ बाधा लगे तब भी वह एक आवश्यकता है। मित्रों के बिना सफलता का आनन्द कहाँ?

2, एम. आई. जी., देवरा देव नगर, रतलाम, (म.प्र.) 457001

गौतम की मूर्ति

मिर्ज़ा सईद चग़ताई

मेरे अनदेखे अजन्ता में
सुनता हूँ बुद्ध की एक मूर्ति है।
एक ही मूर्ति
एक ही चेहरा
लेकिन तीन अन्दाज़।

एक तरफ़ से देखो उसको
तो दुख की तसवीर।

दूसरे रुख से डालो नज़र तो
गहरी सोच में डूबी है।

और फिर आगे आके देखो
हंसता चेहरा ज्ञानी का।

दुख क्या है ?
क्यूँ धरती है पीड़ा का गहवारा ?
मैं भी बरसों सोचा किया हूँ
कुछ कुछ जानता भी हूँ।
और कभी इस दुख की दुनिया पर
हंस भी लेता हूँ।
यह भी जानता हूँ
जीवन में रस होता है
जिसको पीकर आनंद आता है
हर नर नारी को।
हंसने लगते हैं चेहरे
जैसे दुख को जीत चुके हों
जैसे सुखी हों
जैसे गौतम बुद्ध हों।।

गौतम ने आँखें खोली थीं
उत्तर-पूर्व के भारत में
वह सब देखा भोगा था
जिसको जीवन कहते हैं।
और उस पर सोचा था
डूब के चिंता की पीड़ा में।
और समुद्र को मथकर
ढूंड निकाला था अमृत
जिसको बहुतों ने पिया है।।
इस उत्तर-पूर्व के भारत में
जा पहुँचा मैं फिर एक बार
गुज़ारने दो दिन
जैसे एक उड़ता पंछी
ले लेता है रैन बसेरा
किसी लचकती डाली पर।।

याद आया
देखी थीं मैंने
बुद्ध की दो कद्दे-आदम मूर्तियाँ
चार क़दम पर इस नगरी में पिछली बार
जिनके मुखड़े पत्थर के अंदर से
झाँक रहे हैं फलों जैसे
रंगी रंगीं रोशन रोशन
और महकते अपनी महक से।।

मैं उन को फिर देखने जाऊँ क्यूँ
है मेरे आगे
मूर्ति बुद्ध की एक जीती जागती
जिसने दुख देखे हैं
सहे हैं
जिसने सोचा है
डूब के जीवन की गहराई में।
अब वह जीना सीख गई है
हंसती है
मुस्कुराती है।।

ऐसी लाखों मूर्तियाँ
गौतम बुद्ध विद्वान महाज्ञानी की
रोज़ बना करती हैं
भारत के गांव गांव में
शहरों की गलियों गलियों में
कौन है जो इनको पहचाने
इनकी छवि से जोत जला के
नए अजंता रोज़ संवारे।।

480 ई, कबीर कॉलोनी
अलीगढ़-202002



जनवादी कहानी : अवधारणा का सवाल

डा0 अमरनाथ

'कथन' के संपादक और प्रसिद्ध कथाकार रमेश उपाध्याय ने एक किताब लिखी है 'जनवादी कहानी : पृष्ठभूमि से पुनर्विचार तक'। इसे उन्होंने प्रकारांतर से जनवादी कहानी का इतिहास कहकर संबोधित किया है। इस पुस्तक में सन् 1973 से लेकर 1995 तक समय-समय पर विभिन्न जगहों पर जनवादी और प्रगतिशील कहानियों पर संपन्न हुई गोष्ठियों की विस्तृत रपट है। इन गोष्ठियों की रपटों के आधार पर उन्होंने उस संगोष्ठी का विस्तार के साथ ज़िक्र किया है जिसमें उनकी ही एक कहानी 'नदी के साथ' को पहली जनवादी कहानी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। उनकी मानें तो हम जनवादी कविता, जनवादी कहानी, जनवादी नाटक अथवा जनवादी साहित्य को हिन्दी-उर्दू लेखकों के सबसे बड़े संगठन 'जनवादी लेखक संघ' से जोड़कर और उसी के समानांतर रखकर देख सकते हैं। यह अकारण नहीं है कि रमेश उपाध्याय ने अपनी पुस्तक में जनवादी लेखक संघ के गठन की प्रक्रिया से लेकर उसके घोषणा-पत्र और उसके कार्यक्रमों तक के बारे में विस्तृत विवरण दिया है। इस विवरण में प्रगतिशील लेखक संघ के गठन के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है, क्योंकि, इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना आगे बढ़ पाना संभव नहीं था।

जनवादी लेखक संघ के साथ आरंभ से ही जुड़े और कई वर्षों तक जनवादी लेखक संघ के शीर्ष पदाधिकारी रहे प्रो0 कुँवरपाल सिंह ने 'वर्तमान साहित्य' के फरवरी 2008 के अंक में 'समय संवाद' स्तंभ में लिखा है, "जनवादी रचनाकार के लिए ज़रूरी नही कि वह मार्क्सवादी हो। लेनिन ने गोर्की से कहा था, हमें तोल्स्तॉय से सीखने की ज़रूरत है। तोल्स्तॉय की रचनाएँ रूसी क्रांति की दर्पण है।" उन्होंने प्रेमचंद को भी जनवादी कथाकार कहा है। इतना ही नहीं उन्होंने द्विवेदीयुग के जनवादी रचनाकारों में मैथिलीशरण गुप्त, राम नरेश त्रिपाठी, नाथूराम शर्मा 'शंकर', छेदीलाल मूढ़, पढ़ीस और गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' तक का नाम लिया है। उनकी मानें तो जनवादी परंपरा निराला में पल्लवित दिखायी देती है। मुक्तिबोध, नागार्जुन, शील, त्रिलोचन आदि साधारणजन को प्रभावित करते हुए जनवादी परंपरा को ठोस आधार प्रदान करते हैं। दूसरी ओर रमेश उपाध्याय की पुस्तक में उन्हीं की कहानी को हिन्दी की पहली जनवादी कहानी बताया गया है। जनवादी लेखन में संबंधित विभिन्न गोष्ठियों और जनवादी लेखक संघ के घोषणा-पत्र में बार-बार इस बात का संकेत है कि जनवादी लेखकों को किसी-न-किसी संगठित राजनीतिक पार्टी से जुड़कर अर्थात् उससे निर्देश लेते हुए लेखन कार्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ 'जनवादी साहित्य की प्रमुख चिंताएँ' विषय पर जनवादी सांस्कृतिक मंच, रतलाम द्वारा आयोजित तीन दिवसीय संगोष्ठी में जनवादी लेखक संघ के पहले सचिव ओम प्रकाश ग्रेवाल लिखते हैं, "जन-विरोधी लोगों द्वारा फैलाए जाने वाले भ्रमजाल को काटने के लिए लेखक को राजनीति से सहयोग करना चाहिए तथा साहित्य और राजनीति, सांस्कृतिक संगठन और राजनीतिक संगठन के सह-संबंधों के बीच साहित्य की भूमिका, उसके महत्त्व और उसकी सीमाओं को समझना चाहिए। जनवादी साहित्य का प्रचार-प्रसार लेखकों के व्यक्तिगत प्रयास से संभव नहीं है और सामूहिक प्रयास के लिए जनवादी रचनाकारों, कलाकारों एवं सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को संस्थाबद्ध होकर परिवर्तनकारी संगठनों से निकट संबंध रखना चाहिए।" (जनवादी कहानी : पृष्ठभूमि से पुनर्विचार तक, पृष्ठ 117) इसी तरह दूसरे सचिव कर्णसिंह चौहान लिखते हैं, "फिलहाल श्रमिक वर्गों के एजेंडे पर सर्वहारा क्रांति न होकर जनवादी क्रांति है और उसमें अकेले सर्वहारा वर्ग ही नहीं, व्यापक वर्गों की हिस्सेदारी है। हम यह जानते हैं कि साम्राज्यवाद, सामंतवाद और इज़ारेदार पूँजीवाद के खिलाफ़ जितने भी वर्ग है, उनका सामूहिक प्रयास ही यह क्रांति संपन्न करेगा। लेकिन इसके आगे हम सर्वहारा के नेतृत्व और उसकी विचारधारा से भी स्वयं को प्रतिबद्ध मानते हैं। यही आज की परिस्थितियों में जनवाद का असली अर्थ है।" (उपर्युक्त, पृष्ठ 118) यहाँ लग रहा है कि लेखक नहीं, कोई राजनेता बोल रहा है। ग्रंथ के लेखक और जनवादी कथाकार रमेश उपाध्याय कहते हैं, "जनवादी साहित्य की समस्याओं पर हमें उपदेशक की तरह नहीं, बल्कि उन समस्याओं से जूझते हुए रचनाकार की तरह विचार करना चाहिए और जनवादी लेखन को विशिष्ट सामूहिक उत्तरदायित्व मानते हुए एक-दूसरे को अपना साथ और सहयोग देना चाहिए। यह सहयोग प्रेरणा, जानकारी, दिशा-दर्शन आदि देकर ही पूरा नहीं हो जाता, इसके लिए रचनाओं की सही

आलोचना और मूल्यांकन, उनके प्रचार-प्रसार की व्यवस्था और रचना के लिए अपेक्षित परिस्थितियों और साधन मुहैया कराना भी आवश्यक है। इन समस्याओं का समाधान सर्वहारा का क्रांतिकारी संगठन ही कर सकता है।'' (उपर्युक्त, पृष्ठ 120)

स्पष्ट है, सर्वहारा का क्रांतिकारी संगठन के लेखक का तात्पर्य राजनीतिक पार्टी से है। जनवादी लेखन से संबंधित विभिन्न गोष्ठियों और जलेस के घोषणा-पत्र से यह भली-भाँति विदित है कि जनवादी लेखक संघ जिस क्रांतिकारी संगठन से जुड़कर काम करता है। वह भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) है। प्रगतिशील लेखक संघ भी लेखकों का ही संगठन है, हिन्दुस्तान में जिसकी नींव सन् 1936 में पड़ी थी। इसकी पहली बैठक की अध्यक्षता मुंशी प्रेमचंद ने की थी जिनका विचार था कि साहित्य, राजनीति के आगे-आगे चलने वाली मशाल है। प्रलेस के गठन के पीछे कुछ निश्चित प्रगतिशील मूल्य थे जिनके प्रति आस्था ने लेखकों को एकजुट किया था। जबकि, जनवादी लेखक संघ के गठन के पीछे सी0पी0आई0 (एम0) का प्रयास है। ऐसा संगठन बनाना किसी भी राजनीतिक दल का अधिकार है और कई राजनीतिक दलों ने इस अधिकार का सदुपयोग किया है। हाँ, यह अलग बात है कि लेखकों का इतना बड़ा संगठन किसी भी अन्य राजनीतिक दल के पास नहीं है।

असल में हर ईमानदार लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है। उसे जिस राजनीतिक दल की नीतियाँ प्रभावित करती हैं, उसके पक्ष में वह सहज ही खड़ा हो जाता है क्योंकि, वह समाज को बदलना चाहता है। एक बेहतर समाज बनाना चाहता है। उसे यह भी पता होता है कि सिर्फ़ उसकी कलम से समाज नहीं बदल सकता। इसलिए ऐसे राजनीतिक दल के साथ खड़े होना, जिसकी नीतियाँ उसे सबसे ज़्यादा प्रभावित करती हैं, वह अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी भी मानता है।

अब प्रश्न यह है कि कोई राजनीतिक दल अपने संगठन से जुड़े लेखकों को निर्देश दे, उसे अपनी नीतियों को न्यायसंगत ठहराने के लिये कलम चलाने पर बाध्य करे तो ऐसे संगठनों के साथ कोई भी लेखक कहाँ तक जुड़ा रह सकता है? क्या राजनीतिक दल की नीतियों के बदलने के साथ लेखक को अपने विचार भी बदल देने चाहिए ? सी0पी0आई0(एम) ने सबसे बड़ी संख्या में लेखकों और कलाकारों को आकर्षित किया है, इसलिए पिछले दिनों नंदीग्राम और सिंगूर की घटनाओं ने सबसे ज़्यादा लेखकों और कलाकारों को आहत किया। कोलकाता की सड़कों पर विरोध में निकलने वाला लेखकों-कलाकारों का ऐतिहासिक मौन जुलूस वर्षों तक याद किया जायेगा। यहाँ प्रेमचंद की प्रासंगिकता स्पष्ट परिलक्षित होती है जब हम देखते हैं कि बंगाल सरकार ने लेखकों-कलाकारों की भावनाओं और विचारों का आदर करते हुए उसके आलोक में अपनी अगली नीतियाँ तय कीं जो जनवाद की पहली शर्त है। हमने देखा कि बंगाल में हुए संपूर्ण घटनाक्रम पर सी0पी0एम0 ने खेद व्यक्त किया। अपनी भूल को स्वीकार करना प्रगतिशील राजनीति की प्राथमिकता होनी चाहिए।

अब सवाल यह उठता है कि एक हमदर्द लेखक पार्टी की नीति का पालन कहाँ तक कर सकता है ? ऊपर मैंने प्रो0 कुँवरपाल सिंह के कथन के हवाले से यह बताने की कोशिश की है कि जनवादी लेखकों की परंपरा जलेस के गठन से काफ़ी पहले से ही चली आ रही है। ऐसी दशा में जनवादी लेखन की पुरानी परंपरा को किसी भी तर्क से सिर्फ जलेस की नीतियों के फ्रेम में बाँध लेना नामुमकिन है। इसलिए जनवादी लेखन और जलेस के विकास के संदर्भ में तथा सीपीएम की नीतियों के हित में मुझे रमेश उपाध्याय की तुलना में प्रो0 कुँवरपाल सिंह के विचार ज़्यादा समीचीन लगते हैं।

मैं जनवादी लेखक संघ के साथ प्रारंभिक दिनो से ही सक्रिय रूप से जुड़ा रहा हूँ। लगभग एक दशक तक गोरखपुर की एक इकाई का सचिव रहा। सन् 1992 से ही जलेस की केन्द्रीय समिति का सदस्य रहा। वाराणसी, जयपुर, कोलकाता, पटना, धनबाद आदि के राष्ट्रीय अधिवेशनों में सक्रिय भागीदारी कर चुका हूँ। मार्क्सवाद में मेरी आस्था है, और इस आस्था के पीछे मेरा गंभीर अध्ययन और सामाजिक जीवन का अनुभव है। पटना के राष्ट्रीय सम्मेलन में मैंने एक सवाल किया था। वास्तव में जनवादी लेखक संघ हिन्दी-उर्दू लेखकों का संगठन है। पटना के सम्मेलन के पहले ही केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों ने निर्णय लिया कि जलेस चूँकि हिन्दी-उर्दू लेखकों का संगठन है इसलिए आगे से इसका नाम जनवादी लेखक संघ के साथ-साथ 'अंजुमन जम्हूरियत पसंद मुसन्नफ़ीन' भी होगा। मेरा यह मानना है कि हिन्दी-उर्दू में व्याकरणिक भेद बहुत कम है। दोनों का क्षेत्र एक ही है। दोनों की क्रियाएँ और सर्वनाम एक ही हैं। दोनों का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। दिल्ली की खड़ी बोली ही दोनों का आधार है। इसलिए दोनों वस्तुतः एक ही भाषा की अलग-अलग शैलियाँ हैं। लिपि का जो भेद दिखायी देता है, वह निर्णायक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि लिपि सिर्फ लिखने के काम आती है, बोलने के नहीं। हमारे देश की आधी आबादी जो लिखना-पढ़ना नहीं जानती, उनके लिए भाषा का निर्धारण कैसे किया जाएगा कि वह हिन्दी बोलती है या उर्दू ? क्योंकि अनपढ़ होने के कारण लिपि से तो वह परिचित नहीं है और बोलचाल के स्तर पर उनमें कोई भेद नहीं है। हल, बैल, खेत, खलिहान, किसान, मजदूर, गाय, बकरी, गेहूँ, धान, रोटी, दाल, नमक, मिर्च आदि के लिए दोनों में अलग-अलग शब्द नहीं हैं। खाना, पीना, रोना, हँसना, गाना, नाचना, कूदना, उठना, बैठना, आना, जाना आदि वही क्रियाएँ दोनों में व्यवहृत होती हैं। इनके कोई पर्याय नहीं है। इसलिए हिन्दी-उर्दू का भेद कृत्रिम भेद है। वैसे भी लिपि का भाषा से

सिर्फ इतना ही संबंध होता है कि कोई ख़ास भाषा किसी लिपि में लिखने की परंपरा बन जाती है। एक लिपि में कई भाषाएँ लिखी जाती हैं जैसे रोमन में अंग्रेज़ी, लैटिन, रूसी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाएँ लिखी जाती हैं। ठीक इसी तरह भारत में भी हिन्दी, संस्कृत, मराठी नेपाली आदि भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाती हैं। इसी तरह एक भाषा कई लिपियों में भी लिखी जाती हैं। देश के सबसे पुराने कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा बांग्ला लिपि में दी जाती है। सैकड़ों संस्कृत की किताबें बांग्ला लिपि में उपलब्ध हैं और बांग्ला लिपि में लिखी जाने के बावजूद उनकी भाषा संस्कृत बनी हुई है। वास्तविकता यह है कि आरंभ में अंग्रेज़ों द्वारा और बाद में हमारे देश के स्वार्थी राजनीतिज्ञों द्वारा वोट की कुत्सित राजनीति के लिए हिन्दी-उर्दू का यह भेद बढ़ा-चढ़ा कर फैलाया गया है और आज भी यह काम अबाध गति से जारी है। उर्दू और हिन्दी को अघोषित रूप से मज़हब से जोड़ने का काम भी इन्हीं नेताओं ने किया है, वर्ना भाषा का संबंध कभी मज़हब से नहीं होता। उर्दू यदि मुसलमानों की भाषा होती तो बांग्ला देश के मुसलमान उर्दू के खिलाफ बांग्ला की प्रतिष्ठा के लिए शानदार कुर्बानियाँ क्यों देते हैं ? और हिन्दी यदि हिन्दुओं की भाषा होती तो दक्षिण भारत के हिन्दू एक स्वर से हिन्दी का विरोध क्यों करते ? सच तो यह है कि भ्रष्ट राजनीतिज्ञों द्वारा की गयी तमाम साज़िशों के बावजूद हमारे देश की आम जनता इस कृत्रिम भेद को नहीं मानती। आज भी हिन्दी और उर्दू फ़िल्में अलग-अलग नहीं होती जबकि, आधी से अधिक हिन्दी फिल्मों की पाण्डुलिपियाँ उर्दू लिपि में ही होती हैं। अभी तक हमारे यहाँ हिन्दुस्तानी संगीत ही प्रतिष्ठित है, हिन्दी संगीत या उर्दू संगीत नहीं।

बहरहाल, लेनिन ने लिखा है कि एक जाति एक साथ कभी दो भाषाएँ नहीं बोल सकती। हमारे देश के राजनीतिज्ञों ने इस असंभव काम को संभव कर दिखाया है। उनकी कृपा से एक ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी जाति, एक ही साथ दो भाषाएँ बोलती है। यह एक ऐसा ही झूठ है जिसे सौ बार बोलकर सच की तरह प्रतिष्ठित कर दिया गया है। राजनीति के लोग वोट के लिए कुछ भी कर सकते हैं, किन्तु लेखक ? मैंने पटना के राष्ट्रीय सम्मेलन में यह सवाल उठाया और सुझाव दिया कि जनवादी लेखक संघ एक संस्था का नाम है और नाम नहीं बदला करता। क्या हम प्रेमचंद को मोहब्बतचंद कह सकते हैं? अथवा लालकृष्ण अडवानी को सुर्ख स्याह अडवानी कह सकते हैं? वैसे भी, शायद ही कोई उर्दू लेखक हो जिसे जनवादी लेखक संघ समझने में कठिन लगे और अंजुमन जम्हूरियत पसंद मुसन्नफीन आसान। मैंने सुझाव दिया कि हमारा प्रयास हिन्दी-उर्दू भाषा और उसके साहित्य को एक दूसरे के नज़दीक लाने का होना चाहिए न कि उनमें दूरी बढ़ाने का।

मेरे सुझाव का अधिसंख्य श्रोताओं ने समर्थन किया किन्तु हमारे संगठन के नेताओं को मेरा सुझाव मंजूर नहीं हुआ। आज भी मैं उक्त विचारों पर कायम हूँ। उल्लेखनीय है कि जो जनवादी खेमे के नहीं हैं वे 'जनवादी' शब्द से बचने की बात करते हैं। प्रसिद्ध आलोचक खगेन्द्र ठाकुर ने एक विमर्श में कहा है, "हम कहानी की चर्चा में प्रगतिशील और जनवादी जैसे विशेषणों से बचें तो अच्छा है, क्योंकि ये कोई बुनियादी विशेषण नहीं है। मैं समझता हूँ कि हिन्दी कहानी की मुख्य धारा यथार्थवाद की है और वह अपने दायरे में प्रगतिशील और जनवादी दोनों को समेटती है।" (जनवादी कहानी : पृष्ठभूमि से पुनर्विचार तक, पृष्ठ 339)

जनवादी कहानीकारों में जिनको गिना जाता है उनमें भैरव प्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, हरिशंकर परसाई, रमेश उपाध्याय, शेखर जोशी, असग़र वजाहत, अरुण प्रकाश, स्वयं प्रकाश, उदय प्रकाश, संजीव आदि प्रमुख हैं। क्या प्रगतिशील कथाकारों अथवा यथार्थवादी कथाकारों की सूची बनायी जायेगी तो उसमें ये नाम शामिल नहीं होंगे ? क्या प्रगतिशील अथवा यथार्थवादी कथाकार जनवाद में विश्वास नहीं करते?

वस्तुतः यथार्थवादी धारा या प्रगतिशील धारा ही हिन्दी कहानी की स्वाभाविक धारा है। इससे भिन्न जनवादी जैसी कोई भी धारा यदि बनेगी तो उसमें तात्त्विक अंतर नहीं होगा और वह हमें भ्रमित ही अधिक करेगी।

ईई-164/402, सेक्टर-2
साल्टलेक, कोलकाता-700091



पंजाबी कविता

प्रीतम सिंह राही

तिलोत्तमा

मैंने कल्पना में
जिस तिलोत्तमा की रचना की थी
वह कायनात की समूची सुंदरता की
फुलझड़ी थी
जिससे रंगों सुगंधों की
एक बहार लिखी थी
जिसमें इंद्र धनुषों की
झिलमिल बसी थी
वह मेरा कल्पना के समुद्र में तैरती
एक जलपरी थी
परंतु मेरी कल्पना से बाहर
वह कहाँ थी ?

प्रत्येक पुरुष के अंदर
एक औरत छुपी होती है
प्रत्येक औरत के अंदर
एक मर्द छुपा होता है
परंतु वह औरत मुझे तो
न कभी बाहर
न कभी अंदर मिली है।



मैं अपने इस अर्द्ध की तलाश में
युगों से भटक रहा हूँ
पशु-पक्षियों, वृक्षों-पत्तों से
उसका पता पूछा है
न ही हवाओं ने, न ही बादलों ने
उसका खुरा-खोज बताया है
मालूम नहीं कौन से मरुस्थल ने
उसकी पैड़ दबा रखी है
वह हीर है, सोहनी है
या कोई सस्सी है
किसी ने भी मेरी बात
न जानी न बतायी है
किसी भी औरत में
मुझे उसका चेहरा दिखायी नहीं दिया

वह जो कायनात की समूची सुंदरता थी
एक फुलझड़ी थी
वह कि जिसका चेहरा
समुद्र के झाग-सा
मुलायम और सफ़ेद था
वह कि जिसकी आँखों में
चाँद और सूरज सजे थे
जिसकी छातियों पर
हिमालय की चोटियों की बर्फ़ जमी थी
जो सरू के वृक्ष-सी
ऊँची और लंबी थी
जिसकी चाल में
मुर्गाबियों की सी चाल बंधी थी
जिसके नाजुक होठों से
हँसी के फूल झरते थे
जैसे वह पानियों, बादलों, हवाओं से
घुलमिल गयी हो
उसके पद-चिह्न धरा में
कहीं नहीं मिलते
उड़ते पंछियों ने ख़लाओं में
अपने पद-चिह्न कब छोड़े हैं ?
ख़लाओं में गुम गयी आवाज़ें
भला कब लौटकर आयी हैं ?

फिर भी वह मेरे चौगिर्द
खुशबू बनकर फैल गयी है
वह मेरे अंदर, मेरे बाहर
जहाँ कहीं भी होती है
वह मेरे साथ होती है

मैंने अपनी कल्पना में
जिस तिलोत्तमा की रचना की थी
वह मेरे 'मैं' की एक कड़ी थी
वह एक जलपरी थी
जो मेरी साँसों में
खुशबू बनकर बिखरी थी।

लेखक द्वारा अनुदित, साहित्य मार्ग, बरनाला (पंजाब) 148101

कविता

वैद्यनाथ झा

एक कली का बयान

माइ लार्ड
एक गुज़ारिश हुजूर
कलमबंद कर लें मेरा
यह इकबालिया बयान
(शायद काम आए मुकद्दमे में),
मैं एक कली
नाम मासूम वल्द भटकटैया/ कनेर/ गेंदा/ बबूल
कुछ भी
(मगर डहेलिया/ क्राइसेंथम/ बोगेनवेलिया/ क्रोटन नहीं)
...साकिन मोहल्ला बगीची निठारी/नोएडा/मुक्तसर/अल्मोड़ा
हिन्दुस्तान का कोई बगीचा/ झाड़-झंखड़ वाला
इल्तज़ा जनाब/ न लिखें गलत पता
क्योंकि/ कभी नहीं रही मैं
किसी राजा/नेता/ अफ़सर/कारपोरेट चीफ के बाग-ए-चमन में।
हुजूर
मेरा जुर्म/कि/मैंने देखे सपने
सारी पंखुड़ियों को खोल
दुनिया भर की उजास पी लेने का
और हुजूर/ सपना देखना/ जुर्म
ताजीराते हिन्द दफा तीन सौ दो के अंदर
मैं नादान/नासमझ/पुल्लिंग-स्त्रीलिंग के पचड़े से दूर
समझ न सकी
मायावी दुनिया का कपट
पहचान न सकी
स्नेहिल/कोमल स्पर्श से ललचाती/ बुलाती
दस्ताने में छिपी/ क्रूर उंगलियों के इरादे
रुई के फाहे में छिपे/ सर्जिकल ब्लेड
और
मुझ कली की सारी पंखुड़ियाँ
फेंक दी गई गिन-गिन कर/ चुन चुनकर
गंदे नाले में/ जो बहता है हमेशा
राजाओं के महलों के पिछवाड़े
इज़लास तक तो आ नहीं सकती
सम्मन क्यों/ उठवा लेना किसी कारिंदे से
सजा तो मिल ही चुकी
मुकद्दमे से पहले
हाँ/ पता बदल गया अब/ हमारा
शायद स्वर्ग/ शायद नर्क/ शायद.... दोनों से परे,
पड़ी होंगी/ किसी गंदे नाले में
नुची-खुची/ कटी-फटी/ सड़ी गली हमारी लाशें।

सी-2/सी, पाकेट-2,
म0नं0 180 (दू मंजिल)
जनकपुरी, नई दिल्ली-58



दो कविताएँ

यमक

यास

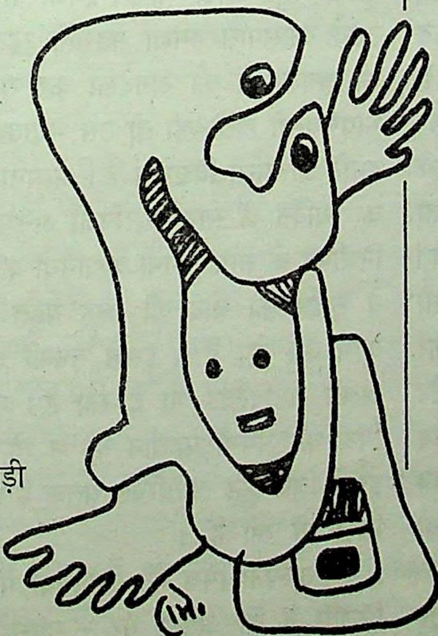
ये की पगडंडियों में
ती होती है
र की लंबाई
नहीं कर सकता आदमी।

पँख फड़फड़ाने लगते हैं
त सपनों के
र से
र की प्यास
यें ही गुदगुदा आती है
नुवों में सोई आग को।

खिलखिलाकर
डलियां को जगाती है आग
र पर फिर एक बार
निकलता है, आदमी
झने लगती है
आग से प्यास !!

तंग उड़ाती लड़की

संत की गुलाबी सर्दी की
क छोटी सी दोपहरी में
छोटी-छोटी मुंडेरों वाली
अपनी छोटी-सी छत पर खड़ी
क बेख़ौफ लड़की
तरंगी पतंग उड़ा रही थी
लड़कों से लड़ा कर पेंच
पास खड़ी
अपनी पीली-सी माँ को
उलझी डोर सुलझाना सिखा रही थी।
दंग के सुरक्षित और खूबसूरत



केबिन में बैठे हम
कविता में बात कर रहे थे
कभी जर्जर देश कभी बेचारे दलित और
कभी नारी अस्मिता का पाठ कर रहे थे
मुझे लगा
पतंग तो हम लोग उड़ा रहे थे
कविता तो
पतंग उड़ाती लड़की लिख रही है।

19, न्यू दिलबाग नगर, जालंधर शहर-144002

ग़ज़ल

ग़ज़लें

शम्मी-शम्स-वारसी

दिल में जो आपके कभी बालू नहीं मिले।
बच्चों के हाथ में यहाँ झाड़ू नहीं मिले।
आँधी चली है इस तरह बारूद की यहाँ,
सर पर दुपट्टा आँख में आँसू नहीं मिले।
माँयें तलाशती रहीं बेटों के अपने सर,
बहनों को भाई के कहीं बाजू नहीं मिले।
सूरज की चाह में किसी तितली के पर जले,
छूने गये थे चाँद को जुगनू नहीं मिले।
ज़ालिम को मारना कोई आसांन काम है,
लगता है बिल में साँप के बिच्छू नहीं मिले।
आसेब-ज़िन भगा दें जो, मिलते तो हैं यहाँ,
बेकारियाँ भगायें वो साधू नहीं मिले।
'ऐ शम्स' बस्तियों के ये मंजर बदल दो अब,
आँखों में खौफ़, हाथ में चाकू नहीं मिले।

छोटी मस्जिद के पास, आबूरोड-307026 (राज0)

मुक्ति के अनुपम राग की कामना

सूरज पालीवाल

स्त्री विमर्श हिंदी में बहुत हो रहा है पर स्त्री की वास्तविक समस्याओं से अलग गौण बिंदुओं पर बात करने से कोई विमर्श समकालीन और प्रासंगिक नहीं बनता। दरअसल, हमें गाँव और शहर की स्त्री की समस्याओं में अंतर करना होगा क्योंकि भारत में गाँव और शहर में अब भी चौदहवीं और इक्कीसवीं शताब्दी का अंतर है। जिन गाँवों में यह अंतर कम है वे या तो शहर के पास हैं या किन्हीं विशेष राजनीतिक कारणों से आगे आ गये हैं। गाँव में जो बदलाव आया है या जिसे हम बदलाव कह रहे हैं वह केवल दिखावा है। यह दिखावा गाँव की ज़िंदगी में कोई अर्थ नहीं रखता। गाँव में पारिवारिक संबंध या स्त्री पुरुष संबंध आज भी सामंतीकाल की परंपराओं से संचालित हैं। स्त्री के लिये वे सुविधाएँ जो शहर में सहज उपलब्ध हैं गाँव में अब भी दूर की कौड़ी है। सास बहू नाते रिश्तेदार और पति पत्नी के संबंधों के परिवर्तन में ही हमें बदलावों का मूल्यांकन करना चाहिये। गाँव की अपेक्षा शहर में परिवर्तन हुये हैं, हमारी शिक्षा और संचार माध्यमों ने संस्कारों को बदला है, सामाजिक जीवन को बदला है तथा हमारे विचारों को बदला है। लेकिन बहुत उम्मीद के साथ नहीं-यह सचाई है। यदि वह बदलाव है तो उच्च मध्यवर्ग या मध्यवर्ग के बहुत कम प्रतिशत घरों में है। इसकी वजह यह है कि सामाजिक चिंताओं को लेकर हमारे यहाँ कोई आंदोलन नहीं हुये। नवजागरण काल या स्वाधीनता आंदोलन में भी इन बिंदुओं पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। गया शिक्षा परिवर्तन का सबल माध्यम हुआ करती है पर ऐसी शिक्षा का क्या लाभ जो केवल उपाधि देने भर तक सीमित कर दी गई हो, जिसमें कभी अध्यापक और विद्यार्थी सामाजिक परिवर्तन या विश्व परिवर्तनों पर खुले दिमाग से विमर्श करते हों। सब बँधा बँधा-सा है, सब परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं। जिस समाज में आज भी कन्या दान प्रचलित हो, उस समाज में स्त्री की क्या स्थिति होगी, यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

स्त्री लेखन की सीमा एक समय तक घर परिवार थी और अब वह सीमा देह संबंधों में सिमटकर रह गई है। जो स्त्री देह संबंधों को खुलकर लिख रही है, वह स्त्री विमर्श की सबसे प्रबल-सबल लेखिका मानी जाती हैं पर जो मूल प्रश्नों को उठा रही है, घर परिवार की उन समस्याओं को उठा रही है जो समस्याएँ आज भी जस की तस बनी हुई हैं वे हाशिये पर हैं। बाढ़ के पानी के निथरने के बाद स्थिर और शांत जल में जो है वही दिखाई देता है। वास्तविक समस्याएँ ही एक समय बाद मूल्यांकन का आधार बनेंगी और उन्हीं से समय का मूल्यांकन होगा। किसी भी कृति या लेखक का मूल्यांकन अपने समय की नब्ज़ को पकड़ उसके बहुआयामी चित्र उकेरने के कारण होता है-होना चाहिये। अल्पना मिश्र की कहानियों को पढ़ते हुये मुझे बार-बार यह लगा कि वे स्त्री विमर्श और देह विमर्श के हवाई मुद्दों से अलग हटकर स्त्री की उन तकलीफों को अपने लेखन का आधार बनाती हैं जिन तकलीफों से एक स्त्री का रोजाना मुकाबला होता है। इस प्रकार की तकलीफें तथाकथित स्त्री विमर्श में पीछे छोड़ दी जाती हैं या फैशन के नाम पर अपने आप पीछे छूट जाती हैं क्योंकि वहाँ होड़ कुछ नया कर दिखाने की है। कुछ ऐसा जिससे प्रगतिशील छवि उभरती हो। जीवन में कई बार बहुत बड़ी समस्याएँ व्यक्ति के भविष्य को नहीं बदलती बल्कि बहुत छोटी लेकिन निजी समस्याएँ समाधान के लिये उसके आसपास हमेशा मंडराती रहती हैं। यदि इन आसपास की समस्याओं की अनदेखी कर राष्ट्रीय बनने के चक्कर में भाषणवाजी होती रही तो उस भयावह यथार्थ का क्या होगा जो हमारे आसपास विद्यमान है। अल्पना मिश्र इसी भयावह यथार्थ को व्यक्ति के स्तर पर, निजी अनुभव के आधार पर और पूरे निजीपन के साथ अपनी कहानियों का आधार बनाती हैं इसलिये वे सुनार की चोट की तरह बहुत धीरे पर बहुत रचनात्मक काम कर रही हैं । इससे उनकी अलग पहचान बनी है जो अलग से दिखाई भी दे रही है। मुझे लगता है कि अल्पना मिश्र को अपनी पहचान की न तो बहुत चिंता है और न वे इसके लिये कुछ अतिरिक्त सतर्क हैं इसलिये बढ़िया और निरंतर लिख भी रही हैं ।

अल्पना मिश्र की कहानियों में एक ऐसी स्त्री साँस लेती मिलती है जो अपनी घर - गृहस्थी के लिये दिन रात एक किये हुये है पर उसी गृहस्थी में उसका पति उसके इस श्रम और त्याग पर कुंडली मारकर बैठा है। यह अनायास नहीं है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अग्निगर्भा' में इसकी बानगी देखी जा सकती है कि कैसे कॉलेज में प्राध्यापकी और बाद में प्राचार्य

र पर बैठी सीता नाम की स्त्री को उसी का पति जीवन से अलग कर देता है। जब तक पत्नी का शोषण कर सकता था, किया और जब बात विद्रोह तक पहुंची तो उसे रास्ते से हटाने उस पति को देर नहीं लगी। यह कहानी यहीं समाप्त नहीं जैसे शोषण समाप्त नहीं होता। जैसे शोषण के हजार रास्ते वैसे ही उसके बचने के रास्ते भी हो सकते हैं पर ये रास्ते अकेले में नहीं मिलते और न अकेले तैयार किये जा सकते हैं। न रास्तों पर अकेले चला भी नहीं जा सकता। सीता का विद्रोह उसकी पराजय के साथ समाप्त नहीं होता, यह एक संदेश है। ता संदेश जो आगे आने वाली पीढ़ियों को दिया गया है। कई बार अपनी कुर्बानी देकर भी संदेश दिया जा सकता है - सीता ऐसा ही संदेश दिया है। जीवन संघर्ष में जीतना ज़रूरी नहीं संघर्ष करते हुये पराजित होने से भी संघर्ष की ही जीत होती । यह जीत अल्पना मिश्र की कहानियों के अंत में एक उजास और कौंध की तरह देखी जा सकती है। भूमंडलीकरण के बाद सबसे अधिक नुकसान संगठित शक्ति का हुआ है। सातवें आठवें दशक में पढ़ते हुये हम लोग नारे लगाते थे, मजदूर एकता की बातें करते थे और टाटा - बिड़ला को और उनकी सरकार को अंगूठा दिखाते हुये दिल्ली की सड़कों पर मजे से नये भारत के निर्माण के सपनों को खोजते फिरते थे। पर भूमंडलीकरण ने उस संगठित शक्ति को समाप्त कर दिया। हर आदमी के मन में आगे बढ़ने और दूसरों का हक छीनकर करोड़पति बनने के सपने दिखा दिये। विश्व बैंक ने जो आंकडे दिये हैं उनके अनुसार पाकिस्तान और बांग्लादेश से भी अधिक गरीबी हमारे देश में है। हमसे नीचे कुछ अफ्रीकी देश ही हैं।

अल्पना मिश्र की कहानियाँ इसी आम आदमी या आम स्त्री के लिये जगह ढूंढने की कहानियाँ हैं। उनकी अधिकांश कहानियाँ स्त्री के संघर्ष की कहानियाँ हैं, अपने परिवार के लिये निष्ठा के साथ जीने की कहानियां हैं पर मन का एक कोना है जो हमेशा खाली रहता है। मैं उनकी कहानी 'मुक्ति-प्रसंग' का उदाहरण देना चाहूंगा जिसमें वे यानी एक विवाहित और कामकाजी स्त्री रोजाना की भागदौड़ और रोजाना अनेक लोगों की दृष्टि कुदृष्टि का सामना करते हुये एक ऐसे लड़के से मिलती है जो चाहकर भी दुबारा नहीं मिल पाता। कहानी के अंत में वे लिखती हैं 'वह उतर गया। वे मन ही मन आकर्षित हुईं। अपनी इस कुंठा को वे कुंठातक नहीं कह पाईं, बल्कि इसे मन ही मन उन्होंने कुछ अलग तरह की मुक्ति का अनुपम राग माना। बरसोंवे टिहरी से आने-जाने वाली बसों में उसकी एक झलक पाने को आतुर रहीं। पर पता नहीं, वह कभी इधरआया ही नहीं या आया और वे पहचान नहीं पाईं या उन्हें झुठलाा कर वो दूसरी बस से आकर चला भी गया? कुछ भी हो , वक्त उनके हाथ से चिड़िया की तरह उड़ गया था।' ये शब्द गहरी पीड़ा से उपजे हैं। वे चाहती थीं कि रोजाना की बस यात्रा में कोई ऐसा साथी हो जो बहुत सलीके से उनके साथ बैठे और अच्छी बातें करे। मैं इस कहानी को यहाँ से पढ़ना चाहूंगा इसलिये पाठ भी यहीं से आरंभ करूँगा। यदि पहले और बातों को ले लिया जाये तो कहानी अपने मंतव्य से भटक सकती है इसलिये कहानीकार के साथ चलकर ही कहानी को समझा जा सकता है और यही सरल उपाय भी है । मुझे लगता है कि कहानी का शीर्षक 'मुक्तिप्रसंग' भी इसी संदर्भ से समझ में आता है बाकी कहानी तो प्रसंग के तौर पर कही गई है। कहानी की नायिका अर्थात् वे ऋषिकेश के सरकारी डिग्री कॉलेज में प्राध्यापिका हैं। पति डॉक्टर हैं जो देहरादून में बच्चों के साथ रहते हैं। पत्नी देहरादून से ऋषिकेश रोजाना जाना-आना करती हैं। घर में और कोई नहीं है। मध्यवर्गीय परिवारों की तरह छोटा परिवार है। अब ऐसे परिवारों में आप चाहें भी कि हारी-बीमारी कोई रिश्तेदार-नातेदार सहायता करने आ जाये तो नहीं आता, सबकी अपनी-अपनी व्यस्तताएँ हैं। बच्चे अब कहीं तालमेल नहीं बैठा पाते क्योंकि मध्यवर्ग के बच्चे अपने घरों में जिस मस्ती के साथ रहते खाते पीते हैं उसे छोड़कर वे कहीं नहीं जाना चाहते। इसलिये जो भी है, जैसा भी है आपका परिवार है। उसे संभालने का काम भी आपका ही है। उन्होंने जब नौकरी का निर्णय लिया था तब भी यही स्थितियाँ थीं इसलिये वह निर्णय अपने बलबूते पर था जिस पर वे आज भी अडिग हैं और मुक्ति की सांस ले रही हैं ।

अतः बड़े आत्मविश्वास से कहती हैं 'अब वे उन्हें घर बैठने को कहें भी तो वे नहीं बैठेंगी। वह मुक्ति की सांस क्या घर बैठे मिलेगी ? अब तो वे जान की बाजी लगाकर भी नौकरी करेंगी। यह उन्होंने आज नहीं, बल्कि उसी दिन ठान लिया था, जब देहरादून से ऋषिकेश तक इसी बस में बैठकर पहले दिन गई थीं । यह पहला दिन ही उन्हें मुक्ति का एक हल्का-सा अहसास करा गया था।' उसी दिन डॉ. साहब ड्यूटी पर लेट होने के चक्कर में बस स्टेंड पर छोड़कर ही चले गये थे यह निर्देश देकर कि 'ऋषिकेश वाली बस जो आ रही है इसी में बैठ जाना।' तब भी उनके मन में कुछ खटका था 'क्या डॉ. साहब के लिये अपनी नौकरी इतनी महत्वपूर्ण है, जिसके आगे वे नातों, रिश्तों, व्यक्ति और समाज को बौना करके देखते हैं? तो फिर उनके लिये भी नौकरी यानी महाविद्यालय की मास्टरी महत्वपूर्ण होनी चाहिये। बस स्टेशन पर खड़े ही खड़े उन्होंने अचानक अपने जीवन को संशोधित करता एक निहायत ज़रूरी फैसला ले डाला।' पहले दिन के दो निर्णय-घर से निकलकर नौकरी के लिये बाहर आने तक में मुक्ति का अहसास तथा नौकरी की महत्ता का विचार। दोनों निर्णयों में डॉ. साहब यानी पति साथ भी हैं और नहीं भी हैं। वे साथ आते हैं पर बीच में ही छोड़कर चले जाते हैं। पत्नियाँ ये तो चाहती ही हैं कि जिस परिवार के लिये वे रात-दिन एक किये हुये हैं, जिस

परिवार की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये वे अप-डाउन की नौकरी कर रही हैं, उस परिवार में उनको वाजिब हक मिले, उनका पति कम से कम पहले दिन तो उन्हें बस में बैठाकर जाता। यह इच्छा केवल उनकी नहीं है बल्कि हर उस स्त्री की है जो घर से पहली बार निकल रही है। दो बच्चों के होने तक घर गृहस्थी में ही सिमटी रहने वाली वे जब घर से नौकरी के लिये पहली निकली हैं तो उनकी यह उम्मीद अनुचित नहीं है। इसलिये पहले दिन ही आदर्श ज़मीन पर धड़ाम से आ गिरे। उनके दोनों निर्णय इसी मनःस्थिति की देन हैं।

नौकरी पेशा स्त्री की विडम्बना यहीं समाप्त नहीं होती। पहले वे भावुकता में सारा हिसाब पति को देती हैं और बाद में पति अधिकारपूर्वक उनसे हिसाब लेता है। कहा जाता था कि स्त्री जिस दिन आर्थिक रूप से सुदृढ़ हो जायेगी उस दिन वह अपने निर्णय खुद लेने के लिये स्वतंत्र होगी लेकिन भारतीय परिवारों में ऐसा नहीं होता। स्त्री और पुरुष दोनों के संस्कार उसे ऐसा नहीं करने देते। उसका दुहरा शोषण होता है, वह नौकरी भी कर रही है और आर्थिक अधिकारों से वंचित भी है। उम्र में ग्यारह साल बड़े डॉ. साहब का मानना है कि 'रोटी-कपड़ा -छत के बाद और इन उपर्युक्त चीजों के बाद भला उन्हें अलग से पैसा किस लिये चाहिये? वैसे भी औरत के हाथ में पैसा रखने से औरत बिगड़ जाती है। हवाले से डॉ. साहब तो ज़ब से उन्हें इस भाग-दौड़ का इनाम मिलना शुरू हुआ अर्थात् वेतन, तो पहले दो चेक डॉ. साहब ने अपने एकाउंट में जमा करवाये, लेकिन तीसरे महीने विद्यालयीय अनिवार्यता के चलते उन्हें अपना एकाउंट ऋषिकेश में खोलना पड़ा। उनके वेतन से संबंधित सारे मामले डॉ. साहब ही देखा करते। यहाँ तक कि सारी इनकमटैक्स बचत ज्वाइंट होती। सोचा था उन्होंने, इस नौकरी में आते ही उनके दुख- दारिद्र्य के दिन समाप्त हो जायेंगे। घूरे के भी दिन फिरते हैं पर कहाँ ? डॉ. साहब इतने चुपचाप उनकी नौकरी पर कुंडली मारकर बैठे कि वे देखती रह गईं। अगर पैसा न दें तो घर में टेंशन, पारिवारिक अशांति का कारण पैसा ? छिः वे कभी सोच भी नहीं सकती थीं, लो ले जाओ पैसा, पर शांति बने रहने दो, पर शांति किसका ? डॉ. साहब की या उनकी ?' बस में तरह तरह की परेशानियाँ, लोगों की नजरें, पास में बैठ स्पर्श कर दुखी करने की पुरुष मानसिकता, अतृप्त संबंध और हर नयी चीज को पाने की पुरुष लालसा-सब कुछ घटित-अघटित को वे इसलिये सहन कर जाती हैं कि अपना परिवार चलाना है, सुख और शांति बनी रहे इसलिये किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं और प्रतिरोध है भी तो वह स्त्रियोचित ही है। हर स्त्री अपने सम्मान और परिवार की मर्यादा को बचाये रखने के लिये ऐसा करना चाहती है। पर क्या उसका सम्मान और परिवार की मर्यादा इससे भी सुरक्षित रह पाती हैं ? स्त्री जैसा सोचती है वैसा हो नहीं पाता, वह जिस पति से प्रेम की उम्मीद करती है क्या उसे वह प्रेम मिलता है 'एक दोस्त और प्रियतम का जो स्वप्न देखा था उन्होंने...।' खाली बिंदियाँ बता रही हैं कि वह उन्हें नहीं मिला। वे परेशान होकर सोचती हैं 'उन्होंने अपना सिर पकड़ लिया। क्यों नहीं वे एक सामान्य खाती-पीती-सोती औरत की तरह रह पातीं? क्यों उन्हीं के दिमाग में ऐसे ख्याल चक्कर काट-काटकर बेचैन करते रहते हैं? आखिर अगर प्रेम जैसा कोई अलग अहसास नहीं, तो उसकी अतृप्ति इतनी बड़ी क्यों है?'

कहानी के बीच में गुनगुनाती धूप में रतिक्रीड़ा करने का डॉ. साहब का प्रस्ताव है, 'इसके लिये चाहो तो थोड़ा-सा ड्रिंक कर सकती हो।' यह प्रस्ताव प्रेम पर विमर्श करने के लिये है। अल्पना मिश्र ऐसे प्रसंग कहानियों में अक्सर ले आती हैं इसलिये कि एक ओर पुरुष स्त्री की स्वतंत्रता का हरण कर रहा है और दूसरी ओर चाहता है कि उसकी स्त्री उसके साथ जब चाहे तब प्रेम प्रदर्शन करे, रतिक्रीड़ा करे और वह जैसे चाहे वैसे नाचे। मैं इस प्रसंग को इसी अर्थ में देखता हूँ। कहानी में जो स्थितियाँ हैं उनमें डॉ. साहब इस कदर हावी हैं कि स्त्री के लिये स्वतंत्रता के साथ साँस भी लेना दूभर है। ऐसे में प्रेम और बराबरी के अहसास की बात तो सोची भी नहीं जा सकती। इसलिये प्रेम और देह पर विमर्श स्त्री पुरुष की स्थितियों को बताने भर का साधन है लेक़िन स्थिति तो घटनाक्रम से स्वतः ही रूपाकार हो गई है। इसके लिये बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी। टिहरी जाने वाले बैंक मैनेजर युवक से फिर मिलने की इच्छा मन की खाली जगह को भरने की अविरल इच्छा का ही परिणाम है। जो डॉ. साहब से नहीं मिला उसे किसी खूसट और प्रौढ़ आदमी में नहीं बल्कि उस मधुर सलोनेपन से निहारते युवक में पाने की आकांक्षा है। कहानी का यह संदेश उनके पूरे अभावों को भरने के लिये काफी है। यह संदेश बहुत कम शब्दों में अंकित किया गया है इसलिये और भी भव्य है।

मैं फिर से कहना चाहूंगा कि स्त्री विमर्श के मानदंड स्त्री के अपने छोटे-छोटे संघर्षों से ही निर्मित किये जा सकते हैं, बहुत बड़े और भारी भरकम शब्दों से या देह की क्रांति से स्त्री के जीवन को नहीं बदला जा सकता। स्त्री के अपने निर्णय ही उसे जीवनी शक्ति देते हैं। वह हर विपरीत परिस्थिति में अपनी शक्ति तलाश कर लेती है 'मुक्ति प्रसंग' की वे भी अपनी जीवनी शक्ति उस युवक में तलाश करती हैं जो उन्हें बस की उकताऊ भीड़ में एक दिन मिला था, जिसकी याद अब भी उनके मन को हरा बनाये हुये हैं ।

71, सेंट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर-3420

हिना चली गयी

रेशमा खान

आज इंगलिश की टेस्ट कॉपियाँ जाँचते-जाँचते मेरे सामने एक कापी आयी जिस पर कल लिया गया टेस्ट नहीं किया हुआ था। मेरे अंदर एक अजीब सी बेचैनी का एहसास जगा जो मुझे उस वक़्त की याद दिला गया जब मैं खुद स्कूल में पढ़ती थी। उस वक़्त दिल में बस यही डर बैठा होता था कि अगर कोई टेस्ट या इम्तेहान छूट गया तो क्या होगा।

फिर ख़्याल आया कि कल टेस्ट के दिन मैंने सब बच्चों को देखा था और इस बात से खुश भी थी कि इस बार सभी बच्चे टेस्ट दे पाए हैं। जब उस कापी पर नाम पढ़ा तो पता चला कि यह तो हिना की कापी है, जिसको मैं शायद दो महीने पहले बिल्कुल भूल चुकी थी। यह वही हिना थी जो आखिरी बार दिसंबर में हुए तिमाही इम्तेहान के दौरान मुझे नज़र आई थी। इस मेहनत का जब नतीजा दिया जा रहा था उस दिन स्कूल में पेरेन्ट टीचर मीटिंग थी। इस स्कूल में मैं पिछले चार महीने से पढ़ा रही थी। इन बच्चों के इतने रंग थे जैसे बगीचे में कई तरह के फूल खिले हों। हर रंग में कई रंग, हर नमूने में कई नमूने। जिस रंग और जिस नमूने को देखूँ वही लाजवाब दिखता है। हर रंग दिल में ऐसा समाता है कि मेरे दिल को ही बगीचा बना देता है। इन चालीस बच्चों के क्लास में हर बच्चे का अलग रंग और अलग रूप है। कुछ शैतान हैं तो कुछ खामोश, कुछ रोज़ आते हैं तो कुछ मौक़ा मिलते ही छुट्टियाँ मनाते हैं। कुछ रोज़ अपना काम कर लेते हैं और कुछ की कापी कभी मिलती ही नहीं। इन सबने इंद्रधनुष की तरह मेरे ऊपर ऐसी छाप छोड़ी है कि इन सबके बारे में और जानना चाहती हूँ। शायद इसीलिए इस पेरेन्ट टीचिंग का मुझे बहुत बेचैनी से इन्तज़ार रहता है। उस दिन हिना का भाई नतीजा लेने आया। मेरे पूछने पर कि हिना कहाँ है, उन्होंने बताया कि वह दिल्ली चली गयी है। मुझे बहुत हैरानी हुई इस बात पर कि साल के बीचों बीच इन लोगों ने उसे दिल्ली क्यों भेज दिया। कम से कम उसने यह क्लास तो पूरा कर लिया होता। मेरा किया हुआ हर सवाल या तो वह समझना नहीं चाहते थे या सुनना ही नहीं चाहते थे। उनके दिए हुए जवाब में कोई तबदीली नहीं आयी। हर सवाल बस एक ही जवाब पर ख़त्म हो रहा था कि 'हिना तो दिल्ली चली गयी।'

चालीस बच्चों के माँ-बाप से मिलकर आज मुझे थकान नहीं बल्कि तसल्ली और सुकून का एहसास हो रहा था कि आज मैं बच्चों को उनके माहौल के साथ ब़ेहतर समझने में कामयाब रही हूँ। लेकिन हिना एक सवालिया निशान बनकर मेरे ज़हन को छोड़ नहीं पा रही थी।

हिना इसी तरह मेरे ज़हन के किसी कोने में जलती-बुझती जुगनू की रौशनी की तरह बसी रही और इसी कशमकश में मैं मिस शमा (स्कूल की प्रिंसीपल) के पास पहुँची। वहाँ पता चला कि हिना की एक और बड़ी बहन थी 'हया' जो कि इसी स्कूल में पढ़ा करती थी। हया यहाँ से आठवीं पास करके किसी दूसरे स्कूल में चली गयी। इसी दौरान उसकी दोस्ती एक लड़के से हो गयी। कुछ दिन बाद हया की शादी उसके बाप की बहन, यानी फूपी की ससुराल में कर दी गयी और इस शादी से लड़की को ज़रा सा भी एतराज़ नहीं था। शादी के तीसरे दिन हया अपने मायके आयी और दो दिन बाद अचानक गायब हो गयी। लड़की वाले अपनी इज़्ज़त की ख़ातिर खामोश थे और दुआ कर रहे थे कि हया अपनी ससुराल चली गयी हो। मगर पता चला कि वह तो ससुराल भी नहीं पहुँची। छानबीन करने पर पता चला कि हया दो लाख का जेवर जो उसकी शादी पर चढ़ाया गया था, सब लेकर वह उस लड़के के साथ फ़रार हो चुकी थी, जिसके साथ उसकी दोस्ती पढ़ते वक़्त चल रही थी। यह लड़का सात भाई बहनों का सबसे बड़ा भाई था और कुछ काम नहीं करता था। इस बात के बाद तो हया अपने माँ-बाप के लिए मर चुकी थी मगर उसकी ससुराल में फूपी की इज़्ज़त का सवाल था। इस इज़्ज़त को बचाने की खातिर हिना की शादी उसके बहनोई के साथ करा दी गयी। यह शादी न जाने कितने सवाल अधूरे छोड़ गयी। क्या हिना भी इस शादी के लिए तैयार थी? क्या उससे उसकी मर्जी पूछी गयी? उसने अपने ऊपर थोपा गया फैसला हँसी-खुशी कुबूल किया था? हिना ने शायद गुमसुम हालत में ही ज़िंदगी के इस नए मोड़ पर क़दम रख दिया। सातवीं क्लास में पढ़ रही एक बच्ची की उम्र कितनी होती है? जहाँ तक उसकी खुशियों का सवाल है इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता था।

वैसे उसके ससुराल वाले धनी लोग थे। लड़के के बारे में भी किसी को कुछ नहीं मालूम था कि वह कैसा है, उसकी उम्र क्या है और उसका मिजाज़ कैसा है। वह क्योंकि लड़का है इसलिए उसके बारे में यह सब जानने की ज़रूरत ही नहीं थी। उसके बारे में सिर्फ इतना जानना ही काफ़ी था कि वह अच्छी कमाई करता है।

मेरा क्लास तो अधूरा था हिना के बग़ैर। काश मैं उसको सातवीं क्लास पास करने का नतीजा दे पाती।

समनज़ार, डिग्गी रोड, अलीगढ़

गीतमाला की छाँव में

राजीव श्रीवास्तव

संगीत मानव जीवन का अभिन्न हिस्सा अपने पुरातन समय से ही रहा है जो आज न सिर्फ़ एक अनिवार्यता बन चुकी है बल्कि श्वास की आवन-जावन में पूरी तौर पर रच-बस गयी है। एक समय था जब विभिन्न प्रांत, अंचलों, जाति, धर्म, समुदाय तथा अलग-अलग सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठ भूमि के लोगों तथा भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों की पहचान और परिचय उनका अपना ही गीत-संगीत हुआ करता था। कबीलों एवं कस्बों से निकलकर जब लोक संगीत का दायरा धीरे-धीरे बढ़ने लगा तब इन सबको एक प्रभावी धरातल देने का काम भारत में हिन्दी सिनेमा ने किया।

विश्व सिनेमा में हिन्दी सिनेमा ही पहला और अकेला माध्यम रहा है जिसने कहानी के साथ-साथ गीत-संगीत की संगत में ही अपना कारवाँ आगे बढ़ाया है। संगीत के अलग-अलग रूपों, भिन्न-भिन्न शैलियों, तरह-तरह की बोलियों एवं भाषाओं के विभिन्न साँचों में ढले गीतों के बेशुमार रंगों को समेट कर इन्हें राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मुखर होने का अवसर हिन्दी फिल्मों ने ही दिया। भारत की पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' (1931) से जिस सुर सारिता का प्रवाह प्रारंभ हुआ था वह आज संगीत का महासागर बन चुका है।

भारत में आज़ादी के पश्चात् पचास के दशक के पूर्वार्द्ध में सिनेमाई गीतों को सहेजकर पहली बार आम जन मानस के बीच सुरीलेपन की सौगात पेश करने का काम अपने अनोखे स्वर माधुर्य से करने वाले शख़्स थे, अमीन सायानी। हिन्दी सिने गीतों को अपने सुरीले अंदाज़ से अपने खास रेडियो कार्यक्रम 'गीत माला' के ज़रिये प्रस्तुत करने वाले अमीन सायानी ने इस बार सिने गीतों को उसके ऐतिहासिक सन्दर्भो के संग कहानीनुमा शक्ल में एक ख़ास एलबम के रूप में परोसा है। 'गीत माला की छाँव में' के नाम का यह संगीत एलबम पाँच सी0डी0 का एक ऐसा सेट है जो हिन्दी सिने गीतों की दास्तान बड़े ही मन मोहक अंदाज़ में पेश करती हैं। दिसंबर 1952 से रेडियो सीलोन (श्रीलंका) से 'बिनाका गीतमाला' कार्य' शुरू होने के पूर्व के डेढ दशक के सिने गीतों से इस एलबम को सजाया गया है जो सन् 1955 तक के बेहद कामयाब और दिलकश गीतों पर जा कर रुकता है।

पाँच सी0डी0 में बटे हिन्दी सिने गीतों में तीस तथा चालीस के दशकों के बेहद मकबूल गीतों में के0एल0 सहगल, पंकज मलिक, सुरेन्द्र, नूरजहाँ, शमशाद बेगम के गाये गीतों के साथ-साथ देविकारानी और अशोक कुमार का गाया युगल गीत 'मैं वन की चिड़िया' फिल्म 'अछूत कन्या' (1936), प्रदीप का लिखा फिल्म 'झूला' (1942) में नायक अशोक कुमार का गाया गीत 'ना जाने किधर आज मेरी नाँव चली' और नौशाद के संगीत से सज़ा फिल्म 'दर्द (1947) के लिये उमा देवी का गाया बेहद लोकप्रिय गीत 'अफसाना लिख रही हूँ दिले बेकरार का' भी शामिल हैं। फिल्मों में पार्श्व गायन शुरू होने के पहले नायक-नायिका अपना गीत स्वयं अपनी ही आवाज़ में गाया करते थे। सहगल, अशोक कुमार, देविकारानी, मोतीलाल, सुरेन्द्र, नूरजहाँ ने तब अपने लिये खुद ही गीत गाये थे। यह वह दौर था जब फिल्मों के साथ-साथ गीत-संगीत भी अपने शैशव काल में था। प्रतिभा सम्पन्न संगीतकारों और काबिल गीतकारों की संगत ने यादगार गीतों की झड़ी लगा दी जो आने वाले सालों में अपने पूरे शबाव पर दिखा। इसी दरम्यान पार्श्व गायक-गायिकाओं की पहली पौध ने भी अपनी पहचान बना ली थी। मुकेश, मु0 रफी, मन्ना डे, तलत महमूद, गीतादत्त, लता मंगेशकर, किशोर कुमार, आशा भोसले की आवाजों में ढले गीत हिन्दुस्तान की गली-गली में गुनगुनाये जाने लगे। इस एलबम में अमीन सायानी की आवाज़ जिस लहजे से सिने गीतों का इतिहास बयान करती है वह सुनने वालों को और भी मदहोश कर देता है। तमाम सुरीले गीतों को सुनते हुये जब अमीन साहब की बोलती आवाज़ कानो को छूती है तो एहसास होता है कि बात-चीत करता हुआ भी कोई शख़्स सुर में हो सकता है। जी हाँ, अपनी उम्र के 77 वर्ष की पायदान पर क़दम रख चुके अमीन सायानी की आवाज का जादू अब भी न सिर्फ क़ायम है बल्कि पूरी तरह सुर में भी है, जो निःसन्देह किसी सुखद आश्चर्य जैसा है।

इस एलबम का विशेष आकर्षण है कई मशहूर संगीत की हस्तियों और नायक-नायिकाओं के बात-चीत के वो खास अंश जिसे अमीन सायानी ने अपने अब तक के सफर के दरम्यान रेकार्ड किये थे। अशोक कुमार, निरूपा रॉय, अनिल विश्वास, सुरैया, मुकेश, सुरेन्द्रनाथ, श्यामा, मीना कुमार, किशोर कुमार, तलत महमूद, नूतन, सुनील दत्त, हेमन्त कुमार, सी0 रामचन्द्र तथा कई और कलाकारों को सुनना दिलचस्प तो है ही साथ में पुरानी यादों का तसव्वुर मन को खुशनुमे अहसास से सराबोर

कर जाती है। 1936 से लेकर 1955 तक के सिने गीतों के ख़ज़ाने से बेहद कामयाब, लोकप्रिय एवं सदाबहार गीतों के साथ झलकियों के रूप में उन तमाम गीतों को भी इस एलबम में स्थान दिया गया है जो लोकप्रियता की दौड़ में जरा पीछे रह गये थे। बावजूद इसके फिल्म 'आवारा' (1951) का शीर्षक गीत 'आवारा हूँ या गर्दिश में हूँ आसमान का तारा हूँ; का इस एलबम में कोई ज़िक्र नहीं है। हिन्दी सिने गीतों के इतिहास में शैलेन्द्र के लिखे इस कालजयी गीत ने तब के युवा और बेहद प्रतिभा सम्पन्न संगीतकार जोड़े शंकर-जयकिशन की ख़ूबसूरत धुनों पर सजकर गायक मुकेश की सुनहरी आवाज़ में जिस जादू को जगाया था, उसने पहली बार हिन्दुस्तान की सरहद लांघ कर दक्षिण-पूर्व एशिया और सोवियत रूस तक में कामयाबी की जो इबारत लिखी वह सिने गीतों के इतिहास की पहली करिश्माई घटना थी। अमीन साहब का ध्यान जब मैंने इस ओर दिलाया तो वो भी सकते में आ गये। उन्हें अपनी इस चूक पर बेहद अफसोस हुआ जिसे उन्होंने इस श्रृंखला के अगले सेट में सुधार लेने का भरोसा दिलाया है।

किताबों और आलेखों की शक्ल में हिन्दी फिल्मी गीतों का इतिहास तो लिखा गया है पर पहली बार श्रव्य (ऑडियो) रूप में सिने गीतों की कहानी को दिलचस्प रूप में बयान किया गया है जिसकी अगली कड़ी भी जल्द जारी की जायेगी। आम संगीत प्रेमियों के अलावा फिल्म तथा उसके गीतों पर शोध एवं अध्ययन कर रहे लोगों के लिये यह एलबम एक नायाब तोहफा है।

एस0 275, ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली -110048

एलबम : गीत माला की छांव में (पाँच सी0डी0 सेट), कम्पनी : सा रे गा मा,
प्रस्तुतकर्ता : अमीन सायानी, मूल्य : रु0 545/-

ग़ज़ल

ग़ज़लें

ख़याल खन्ना

(1)

जो सच कहने वाले हैं,
उनके मुँह पर ताले हैं।

कोई किस का यार यहाँ,
सब ख़ुशफ़हमी पाले हैं।

अम्न का लब पर है ना'रा,
हाथ में बरछी-भाले हैं।

काँटों का सम्मान करो,
फूलों के रखवाले हैं।

हम जैसे दरवेशों ने,
कितने ताज उछाले हैं।

शब का पर्दा चाक करो,
उसके बाद उजाले हैं।

दुनिया के दुःख-दर्द 'ख़याल',
घर में डेरा डाले हैं।



(2)

देखी तेरी चोरी भी,
उस पर सीना ज़ोरी भी।

चूसो ख़ून ग़रीबों का,
भर लो यार तिजोरी भी।

काम नहीं रुकता कोई,
ख़ूब है रिश्वतख़ोरी भी।

भूखे बच्चे सो न सके,
सुनकर माँ की लोरी भी।

औरत मर्द की ताक़त है,
और वही कमज़ोरी भी।

करती है बंधन मज़बूत,
कच्ची प्रेम की डोरी भी।

1090, जनकपुरी, बरेली (उ0प्र0) 243122

यहाँ जड़े हैं समय के पत्थर

रजनी गुप्त

('जड़ पत्थर के सहारे लोग समय को बाँध लेना चाहते हैं और समय है कि हाँफ़ता दौड़ता चला जा रहा है और अपने साथ खींचे लिये जा रहा है शहर को।'-नमिता सिंह)

वरिष्ठ कथाकार नमिता सिंह एवं कथाकार क्षमा शर्मा की कहानियाँ पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे हम समय के शिलालेख पर जड़ी सार्थक इबारतों को पढ़ रहे हों। इन कहानियों की सहज संवेदना के सामाजिक निहितार्थ पुरज़ोर असर डालते हैं।

कथाकार नमिता सिंह की सार्थक कहानियाँ सहज मानवीय संबंधों को व्यापक सामाजिक संदर्भों में विस्तारित करते हुए समग्र परिवेश को जीवंत बना देती हैं। 'मिशन जंगल और गिनीपिग' संग्रह की कहानियाँ परिवर्तनशील मध्यवर्गीय जीवन के पारिवारिक-सामाजिक सवालों को तीखेपन से उठाती हैं और बड़ी बारीक़ी से स्त्री-पुरुष के बीच के अंतराल के बाद क्रमशः विघटित होते संबंधों की जड़ों तक पहुँच जाती हैं। सांप्रदायिकता, जातिवाद और अल्पसंख्यक वर्ग से जुड़ी सामाजिक चुनौतियों से आँखें मिलाते हुए वे विगत और भावी समय के विचलन को बखूबी पढ़ लेती हैं। शीर्षस्थ कहानी 'मिशन जंगल और गिनीपिग' में फैंटेसी को पूरी कलात्मकता के साथ पिरोते हुए आने वाले कल की भयावह तस्वीर प्रस्तुत करती है। 'बीस सौ इक्यावन का एक दिन' कहानी में व्यक्त चिंताएँ कितनी सार्थक बन पड़ी हैं–'क्या तुम्हें नहीं मालूम कि लड़कियों की संख्या कितनी कम रह गयी है। कहाँ से मिलेगी हर लड़के को एक दुल्हन ? अब तो किराये की कोख का भी चलन हो गया है। अच्छा खासा बिजनिस है यह... विदेशी पूँजी से सब काम हो सकते थे, आसानी से। इलाज हो सकता था... पढ़ाई हो सकती थी-दिल का बदलना, अंतरिक्ष में जाना और हमेशा सुंदर जवान बने रहना सब कुछ हो सकता था।' पृष्ठ 42 नवपूँजीवाद की चपेट में बदल रहे संबंधों के बीच पनपती दूरियों की कहानी है 'बबली यहीं रहती है।' भौतिकतावाद की चकाचौंध में किस क़दर एक आम व्यक्ति का जीवन स्तर, उसकी सोच और रहन-सहन बदलता जाता है लेकिन अंदरूनी पुराने मूल्य नहीं बदल पाते। धीरे-धीरे क्षरित होते सामाजिक संबंधों के बीच उगती वैयक्तिकता को बढ़ावा देती यह कहानी स्त्री-पुरुष के सहज संबंधों को कुतरने वाले कारकों की शिनाख़्त करने में सफल हुई है। इसी तरह 'ये बेटियाँ' कहानी भी आसपास की मध्यवर्गीय लड़कियों की आर्थिक आज़ादी के परिणामस्वरूप उपजते उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व और दिनोंदिन बढ़ते वजूद को उभारती है। 'डाल से टूटे पत्ते' कहानी मजहबी जुनून और दंगों की आड़ में हो रहे जुर्म को बेबाकी से उद्घाटित करती है। आतंकवाद और आए दिन बढ़ते दंगों की दरिंदगी तले न जाने कितने बेगुनाह बेमौत मारे जाते हैं। हिंदू-मुस्लिम विद्यार्थियों के बीच बढ़ते तनाव और आए दिन होते हादसों के बीच दहशत में दिन गुज़ारते मुस्लिम लड़कों की मनोदशा का मार्मिकता से वर्णन झकझोर कर रख देता है। यूँ भी आम व्यक्ति को हर काश्मीरी आतंकवादी नज़र आता है, ऐसे में हिन्दू-मुस्लिम के बीच बढ़ते तनाव को वे पैनेपन से पकड़ती है।

'सियासत सिर्फ यूनीवर्सिटी के कश्मीरी लड़कों पर ही क्यों होती है ? नये प्राइवेट कॉलेजों में भी तो हमारे लड़के पढ़ रहे हैं। पूरे इंडिया से क्या हमारे लड़के निकाल देंगे ?'

श्रीनगर से आए दिन होते बंद, आगजनी, अपहरण, हत्याएँ और अक्सर होती मुठभेड़ों और जंगजूओं के आतंक के बीच साँस लेते आम आदमी की तकलीफ़ को पूरी शिद्दत से महसूस करती लेखिका इन नौजवान बच्चों की मासूमियत और निश्छलता को बचा लेना चाहती है। जातिवाद और संप्रदायवाद की हिंसक चपेट में किस क़दर इंसानियत धीरे-धीरे चुकती जा रही है, इस अनुभव को संवेदनशील आँख और साहसिकता से दर्ज करने में कतई नहीं हिचकती वे।

'समयचक्र' और 'खेल' जैसी कहानियाँ दो पीढ़ी को आमने-सामने रखकर विगत और वर्तमान के फ़ासले को तय करते हुए अंततोगत्वा साफ़ सुथरे भविष्य की कल्पना बुनती है। 'लाइन ऑफ़ कन्ट्रोल' कहानी में पुराने समय के अक्स को बरक्स देखते हुए आज के समय के बदलावों को निरूपित किया गया है। कई कहानियों में सहज सरल ढंग से पारिवारिक बदलावों पर कलम चलाते हुए वे पुराने और नए समय की सीढ़ियों पर निधड़क से चढ़ती उतरती हैं। संग्रह की उत्कृष्ट कहानियाँ हैं–"बेताबियों का नाम इसाँ हो गया" और 'घर चलते हैं डार्लिंग' जिसमें लेन-देन पर टिके संबंधों से परे एक सहज, स्वाभाविक, स्वस्थ और स्वतःस्फूर्त मानवीय संबंधों की ऊष्मा एवं रिश्तों के संस्पर्श को महसूस किया जा सकता है।

संवेदना को दृष्टि देती इन कहानियों की भावुकता और संतुलित जीवन-दृष्टि सुखद अहसास जगाती हैं लेकिन बीच-बीच में इनमें पिरोयी फार्मूलाबद्ध आदर्शवादी बातें कहीं-कहीं खटकने लगती हैं। इतना सधा और विवेकपूर्ण नज़रिया कहानियाँ रचने के लिए कोई अच्छी बात नहीं। कहानी तेज़ गति एवं प्रवाहपूर्ण

...के जरिए ही पाठकों के बीच खुद को पढ़वा सकती है। ...गति, त्वरा, ऊर्जा और समुद्री लहरों जैसी उठापटक और ...ली लय यहाँ कहीं नज़र नहीं आती।

'कूचे यार' और 'बीस सौ इक्यावन का एक दिन'-जैसी ...नियों में आजकल तेज़ी से बदलते समय की आहटों को ...ना जा सकता है। इन कहानियों में दर्ज है—आज की ...मुक्की, आये दिन होती दुर्घटनाएँ और असमय काल-कलवित ...जनों के प्रति गहरी संवेदना का लेप। बेशक तेज़ रफ़्तार ...की चाल कुचाल को कलमबंद करने की कला उन्हें बखूबी ...ती है लेकिन स्थूल नैरेशन की अधिकता के चलते अमूर्तन ...लिए कहीं कोई स्पेस नहीं बचता मसलन- 'अलख'-एक ...ही कहानी है जिसमें निम्नवर्गीय गरीब स्त्री का एकालाप ...की अंदरूनी बर्फ को पिघलने का अवकाश मुहैया नहीं ...ता जिसके परिणामस्वरूप अपेक्षित कथारस संबंधित नहीं हो ...। लेखिका प्रचुर वर्णनों को व्याख्यायित करने में इतनी ...जाती है कि पात्रों की खामोशी या अनकहेपन के लिए ...गुंजाइश ही नहीं। इस तरह कहानी कथानक, संवाद, ...काल-वातावरण जैसी परंपरागत लीक पर चल पड़ती है जिसके ...में से खुद-ब-खुद अंदरूनी रस निःस्रत नहीं हो पाता और ...ही अमूर्तन की अंतर्ध्वनियाँ सुनायी पड़ती हैं।

बावजूद इसके, ये कहानियाँ आज के संक्रमणशील समाज ...ऐसा आईना हैं जिनमें हर वर्ग के लगभग हर पात्र का ...बखूबी देखा जा सकता है।

जानी मानी कथाकार क्षमा शर्मा के नये संग्रह-'रास्ता छोड़ो ...' की कहानियों का संसार खासा सुपरिचित मध्यवर्ग है ...में विचरण करते हुए पात्रों के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, ...-बिखरते सपने और सरोकारों से हम सभी को किसी न ...रोज़ गुज़रना ही पड़ता है लेकिन रचनाकार की खूबी यह ...कि वे इन सरोकारों से हम सभी को किसी-न-किसी रोज़ ...ना ही पड़ता है और वे इस यथार्थ/ यथास्थितिवादी स्थितियों ...प्रतिवाद करते हुए एक प्रतिसंसार सृजित करने के प्रति ...द्ध हैं। अधिकांश कहानियों में 'जैसे-खेल, फादर, अलविदा, ...हे सुमन, व्यूह, डोर, नेमप्लेट, रसोईघर, सेमिनार आदि' वे ...ों की पारिवारिक स्थितियों को जस-का-तस स्वीकारने के ...य पूरी सतर्कता के साथ बदलाव की मुहिम छेड़ देती हैं। ...ार की चकाचौंध का प्रतिफलन है-स्वार्थ के दलदल में धँसते ...। दादी माँ का बटुआ, जय श्री राम, नेमप्लेट, रास्ता छोड़ो ...ोरी, एक शहर अजनबी-संग्रह की उत्कृष्ट कहानियाँ हैं जिनके ...ए वे तकनीक की आपाधापी के बीच मनुष्यता की रक्षा की ...म छेड़ सकती हैं। हताशा से आशा की तरफ सकारात्मक ...लेती कहानियों में विवरणों की प्रचुरता और पात्रों की मनोदशा ...अतिशय विश्लेषण कहानी की प्राणवत्ता का क्षरण करते हैं। ...कई कहानियों में तो लंबे लंबे प्रवचननुमा आप्त वाक्य भी हैं मसलन-'माफ़ करना, मैं कभी किसी तीर्थ में नहीं जाऊँगी। मैं किसी धर्म का झंडाबरदार नहीं बनूँगी' (पृ० 203)। कहानी जहाँ से निर्णयात्मक या नतीजाबताऊ मोड़ लेने लगती है, दरअसल वहीं से कहानी की प्राणवायु न जाने किस रंध्र से बाहर फिंक जाती हैं।

कुछेक छोटी-छोटी कहानियों के संसार में (लौटते हुए, और अब, बिंदास, यहीं कहीं है स्वर्ग) शुमार हैं घरेलू ज़िम्मेदारियों के बीच संवर्धित होते कॉलेज के ज़माने के प्रेम-प्रसंग और उनकी परिणतियाँ-'पर अब इस उम्र में पीछे मुड़कर देखना, लौटना, लौटो तो कहाँ तक जा सकते हो ? बीते हुए वर्ष!' (पृ० 255)

पारिवारिक जीवन की हल्की फुल्की बतकहियों के बीच रचनाकार रोज़मर्रा के प्रसंगों में से कोई न कोई प्रसंग छाँट बीनकर (पड़ोसियों से उपजी परेशानी 'मोर्चा' जैसी कहानी) आज के समाज की झाँकी दिखा देती हैं। जाति, धर्म और सांप्रदायिकता के खिलाफ़ आवाज़ उठाती एक सशक्त कहानी है-'कौन है कि जो रोता है' जिसे पढ़कर मौजूदा दौर के तीखे सवालों की लपट से झुलस जाता है अंतस्। कुछेक कहानियाँ तो आपसी बतकही या अखबारी रपटनुमा ब्यौरा बनकर आती है लेकिन 'कैसी हो सुष्मिता' कहानी में रचनाकार एक तटस्थ निर्वैयक्तिकता बरतती हैं लेकिन लड़कियों-स्त्रियों को लेकर अति सतर्कता और चौकन्नापन कथ्य के तेज़ प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है।

सामाजिकता के निर्वाह में निपुण कथाकार इन कहानियों में (मातृऋण, घरघर, पिता, बया, एक शहर, अजनबी) नॉस्टेल्जिक होकर कस्बों या छोटे शहरों में रहने वाले मध्यवर्गीय तबके की प्रचलित समस्याओं से पूरी ताक़त से टकराती हैं लेकिन इन प्रसंगों में गहरे उतर उत्खनन करने के बजाए वे विवेकसम्मत समाधान सुझाने लगती हैं। कहानियों के सफेद-स्याह पृष्ठों के बीच का 'ग्रे' शेड या तो धुँधला हो गया है या फिर कहीं नेपथ्य में चला गया है। कई बार तो वे घूमफिरकर उसी पारिवारिक-सामाजिक सुपरिचित मुद्दों के वृत्त पर चक्कर लगाती रहती हैं। स्थूल नैरेशन के चलते वे पात्रों की उहापोह या उद्विग्नता को पर्याप्त स्थान मुहैया नहीं करा पाती। जबकि बाहरी स्थितियाँ-परिस्थितियाँ यदि कहानी रचने का आधारस्तंभ है तो कहानी की नींव में निहित है पात्रों की अंदरूनी उठापटक यानी वर्जनाएँ, निषेध, उमंग-तरंग के बीच ऊभ-चूभ करते संवाद। दोनों का गठजोड़ ही कथ्य का अनिवार्य रसायन है। सहज सरल संप्रेषणीय भाषिक संरचना में सूत्रात्मक दार्शनिक उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं मसलन-'उम्र की ढलवाँ सड़क कहाँ से कहाँ तक ले जाती है?'

धर्म, देश, समाज, राजनैतिक स्वार्थपरता, बाज़ारवादी चकाचौंध तले बदलती स्त्री की स्थिति यानी मुद्दे वही पुराने. .. सुने सुनाए। बकौल लेखिका-'ऐसा तो होता ही है या इसमें ऐसा नया क्या है जो पहले कभी सुना न गया हो, पढ़ा न गया

हो, जाना न गया हो, महसूस न किया गया हो।'

उनकी कहानी से निःसृत उक्त वाक्यांश पढ़कर अगर पाठकों को भी यही अहसास हो तो यह बात कहीं अत्युक्तिपूर्ण तो नहीं ?

बावजूद इसके, आज के आपाधापी भरे समय में जिजीविषा एवं मानवता को बचाने की ललक सँजोए लेखिका हर अन्याय का रचनात्मक प्रतिवाद करने का जोखिम उठाती है जिसे कैसे भी कमतर करके नहीं आँका जा सकता।

18, अधिकारी आवास,
3, प्रागनारायण रोड, लखनऊ (उ0प्र0)

मिशन जंगल और गिनीपिग, नमिता सिंह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
रास्ता छोड़ो डार्लिंग, क्षमा शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली

■

'बुन्देलखंड की लोककथाएँ'

आर0एस0 तिवारी 'शिखरेश'

मूलतः बुंदेलखंड की ज़मीं राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रीयता, शौर्य एवं स्वाभिमान के लिए जानी जाती है। ऐसे क्षेत्र विशेष पर साहित्य सृजन कर डा0 लाल बहादुर सिंह चौहान ने देश के प्रति एवं बुंदेलखंड क्षेत्र के प्रति उपकार किया है।

इस पुस्तक में लेखक ने 11 लोक कथाओं को शब्दाकार दिया है। लोक-कथाएँ इतिहास, समाज व संस्कृतिपरक तो होती है। साथ ही साथ, यंत्र-तंत्र लोक विश्वास व परंपरा की संवाहक भी मानी गयी हैं।

डा0 चौहान की लोक कथाओं में मूलतः सत्य, अच्छाई, धैर्य, कर्मठता, शौर्य एवं करनी का फल आदि की शिक्षा मिलती है। 'भक्षकरानी' में परिकल्पना एवं अंधविश्वास तथा चमत्कार का मिश्रण है, लेकिन प्रस्तुति अत्यंत उच्चकोटि की हैं।

कथा 'अपना-अपना भाग्य' में लेखक ने बलिदान, साहस, ईश्वर में आस्था एवं अंत में 'विजय सत्य की होती है' का संदेश इतनी सादगी से दिया गया है कि पाठक मंत्रमुग्ध हो जाता है। 'सूर्य की महिमा' में कर्म करना, सेवा भावना, पूजा-अर्चना व दीन-दुखियों की मदद आदि का लाभ बताने के साथ-साथ सत्कर्म करने की शिक्षा दी गई है। 'फूल दे रानी' में कपोल-कल्पित कल्पना का अद्भुत समन्वय है। 'भूल' मनोविनोद से भरपूर है एवं विवेक की कम पर नुकसान की गवाही देती है। विवेक की कमी इंसान को कितना दर्द एवं वेदना सहने पर मजबूर करती है, यह तथ्य इस कहानी में उजागर होता है।

'मंत्री की विजय' नामक कहानी एक दार्शनिक लोक-कथा है। जिसमें जीवन की व्यवस्थाएँ एवं सांसारिकता तथा अलौकिक जगत का सामंजस्य बताया गया है। 'पतिव्रता बंदरिया' निष्ठा एवं समर्पण की अद्भुत दास्तान है। 'अपनी करनी अपनी भरनी' में करनी के फल पर प्रकाश डाला गया है। भगवद्गीता का 'जो होता है, अच्छा होता है' संदेश दिया गया है। 'लालन का फल' नामक कहानी में लेखक ने यह बताने का सफल प्रयास किया है कि लालच बुरी बला है एवं किसी भी परिस्थिति में इसका फल अच्छा हो ही नहीं सकता।

कथा-संग्रह की भाषा सरल है। भाषा एवं शब्दचयन लोक-साहित्य पर खरा उतरता है। बुन्देलखंड की लोक-कथाओं का पुनराख्यान अति सराहनीय व रोचक है। विशिष्ट बात है कि यह कथा-संग्रह पांडित्य के आरोप से परे है। आशा की जाती है कि आने वाली पीढ़ियाँ इन कथाओं से लाभान्वित होंगी एवं बालमन पर अमिट छाप छोड़ेंगी।

95, कृष्णा बाग, दयाल बाग, आगरा-282005

रचनाकारों के लिए

1. रचनायें टाइप कराकर ही भेजें, यदि सी.डी. भेज सकें तो सुविधा होगी।
2. रचनायें ई-मेल द्वारा भी भेजी जा सकती हैं।

नारी-जीवन से साक्षात्कार करती 'संपूर्ण कहानियाँ'

आशिक़ बालौत

न्नू भंडारी हिंदी कहानी में अत्यंत महत्वपूर्ण नाम है। वे हिन्दी कहानी को नयी दिशा और ठोस आधार देने वाले कारों की अग्रिम पंक्ति के कहानीकारों में से हैं जिन्होंने कहानी को नयी ऊँचाइयाँ दीं। आज़ादी के बाद देश में होने वाली मोहभंग की स्थिति और उससे उपजी दिशाहीनता समाज को गहरे रूप से प्रभावित किया है। यह मोहभंग की ति और दिशाहीनता हमें पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और राष्ट्रीय प्रत्येक स्तर पर दिखाई देती है। नये कहानीकारों साठोत्तरी कहानीकारों की कहानियों ने इस मोहभंग की और परम्परागत धारणाओं से मुक्त होकर इस बदलते दृश्य और सामाजिक परिवेश को तटस्थता के साथ चित्रित है। ये नयी परिस्थितियाँ और टकराहट बड़े बदलाव का करती हैं। वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ ही वर्षो भारतीय सामाजिक परिवेश और जीवन में कुछ ऐसा घटित जिसने सारे संबंधों को बदलकर रख दिया। पारिवारिक सामाजिक संबंध मूल्यहीन होने के साथ-साथ अर्थहीन भी गये थे। इससे जीवन में तनाव बढ़ा। ये तनाव पति-पत्नी, पुत्र, प्रेमी-प्रेमिका आदि के संबंधों में भी दिखायी देता है। भंडारी ने इन तनावों को अपनी कहानियों में न केवल त्रित किया है बल्कि वे इन तनावों के बीच उच्चतर जीवन दृष्टि की शिनाख़्त भी करती हैं।

मन्नू भंडारी विगत पाँच-छः दशकों से हिन्दी कथा-साहित्य क्षेत्र में सक्रिय हैं। वे किसी विशेष गुट या दल में शामिल होकर अपनी रचनाओं में सामाजिक जीवन संदर्भों को परखने रचना के कलात्मक सौंदर्य को महत्व देकर हिन्दी कहानी मानवीय आदर्शों से जोड़ती रही हैं। इस प्रकार वे कहानी जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हुए मानव अंतर्द्वंद एवं मनः स्थिति का चित्रण करते हुए अमानवीय और सड़ी-गली सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करती यही कारण है कि उन्होंने अपनी कहानियों में कथ्य और के नए क्षितिज प्रदान किये हैं।

मन्नू भंडारी के कई कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत कहानी संग्रह 'सम्पूर्ण कहानियाँ' में उनकी समग्र नियाँ संकलित हैं। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों का क्रम कहानी यात्रा का भी क्रम है। यदि हम उनकी आरंभिक 'मैं हार गई' से लेकर अंतिम कहानी 'यात्रा' तक की यात्रा पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि उन्होंने समाज अंदर पाये जाने वाले अंतर्विरोधों और विसंगतियों को यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया है। वे अपनी प्रत्येक कहानी में जीवन से सीधा साक्षात् करती हैं। उनकी कहानियों में अनुभव का ठोस आधार और प्रमाणिकता हिन्दी कहानी को नये आयाम देने के साथ ही समाजोन्मुखी जीवन दृष्टि भी प्रदान करती है। निश्चय ही मन्नू भंडारी की कहानियाँ कथ्य की दृष्टि से महानगरीय जीवन और हमारी अपनी बदलती परिस्थितियों की पहचान हैं। मन्नू भंडारी की कहानियाँ उन नई सामाजिक परिस्थितियों और मध्यवर्ग की समस्याओं पर केंद्रित हैं जिनसे पहले हमारा परिचय नहीं था।

'यही सच है', 'तीसरा आदमी', 'रानी माँ का चबूतरा', 'शायद', त्रिशंकु', 'एक प्लेट सैलाब', 'सज़ा' या 'नई नौकरी' आदि कहानियों में उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के बनते बिगड़ते रिश्तों समीकरणों और विरोधाभासों को यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया। इन कहानियों में मध्यवर्ग की विवशता, महत्वाकांक्षा, हताशा और क्षुद्रता को बारीकी से उद्घाटन करने के साथ-साथ पात्रों के अंतर्द्वंद का गहन चित्रण भी है। उन्होंने प्रस्तुत कहानी संग्रह की भूमिका में अपनी रचना यात्रा के विषय में लिखा है- ''जब अपनी संपूर्ण कहानियों को एक जिल्द में प्रस्तुत करने का प्रस्ताव आया तो मैंने अपनी कहानियों के रचनाक्रम में कोई उलट-फेर नहीं किया। जिस क्रम से संकलन छपे थे, उनकी कहानियों को उसी क्रम में रखा है- जिससे पाठक मेरी कथा-यात्रा से गुजरते हुए मेरे रचना-विकास को भी जान सकें। मुझे खुद अपनी आरम्भ की 'उगली' हुई कहानियों का कच्चापन.. हर स्तर का कच्चापन देखकर कभी-कभी हँसी भी आती है तो कभी संतोष भी होता है कि ऐसी कच्ची-पक्की पगडंडियों से गुज़रकर ही मैं इस मुकाम तक पहुँची हूँ (यदि कहीं पहुँची हूँ तो)।''

हिन्दी के आरंभिक कहानीकार माधवराव सप्रे ने 'टोकरी भर मिट्टी' और प्रेमचन्द ने 'मिस पद्मा' एवं 'कुसुम' आदि कहानियों में जिस नारी अन्याय के विरोध में अपना स्वर मुखर किया था उसी परम्परा का विकास करते हुए मन्नू भंडारी नारी अस्मिता और अस्तित्व के लिए स्वर मुखर करती हैं। उनकी नारी पात्र-नारी अन्याय के विरोध में तनकर खड़ी हैं तो अपने अधिकारों के प्रति सजग भी हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों की नारी पात्र संघर्ष को व्यक्त करने वाले चरित्र व्यक्तिगत परिधियों में न सिमटकर नारी-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखायी देती हैं।

यद्यपि, पिछले दिनों महिला लेखकों की संख्या में बड़ी

वृद्धि हुई है। परंतु, नारी मन के द्वंद्व और नारी-जीवन से साक्षात् करती एवं आधुनिक भाव-बोध को आत्मसात् करती हुई जैसी कहानियाँ मन्नू भंडारी ने लिखी हैं वैसी जीवन-दृष्टि कम ही लेखिकाओं की कहानियों में दिखायी देती है। यही विशिष्टता उनकी कहानियों की तरफ ध्यानाकर्षण करती है।

'सम्पूर्ण कहानियाँ' संकलन की कहानियाँ-हिन्दी कहानी के इतिहास में विशिष्ट मानी जाएँ तो अनुचित नहीं होगा, क्योंकि इन कहानियों में जीवन के प्रति विशेष दृष्टि का बोध होता है। कहानियों के पात्र मात्र व्यक्ति न रहकर अपने-अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करते दिखायी देते हैं। कहानी-लेखिका की जीवन-दृष्टि सामाजिक प्रतिवद्धता से ओत-प्रोत है।

रीडर, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

संपूर्ण कहानियाँ, मन्नू भंडारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2008, मूल्य : 550 रुपये

■

'साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल : शिल्प और संवेदना'

नग़मा जावेद

डॉ. सादिका नवाब 'सहर' की यह पुस्तक हिन्दी ग़ज़ल विधा की एक उपलब्धि कही जा सकती है। लेखिका ने बड़े मनोयोग से ग़ज़ल की तमाम नज़ाकतों, बारीकियों से अवगत कराते हुए अपनी शोधपरक दृष्टि का परिचय दिया है। सूर ने जैसे बाल-मन का कोना-कोना झाँका है वैसे ही सादिका जी ने ग़ज़ल का कोना-कोना झाँका है। चार सौ से अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक में ग़ज़ल की परिभाषा, स्वरूप विशेषताओं पर गहनता से विचार करते हुए फ़ारसी ग़ज़ल के स्वरूप और इतिहास को भी कलम बद्ध किया है।

जिन लोगों को ग़ज़ल का चस्का है या वह ग़ज़ल विधा को गहराई से जानना चाहते हैं उनके लिए यकीनन यह पुस्तक एक अनमोल तोहफ़ा है। ग़ज़ल के छंद शास्त्र अथवा अरुज के नियमों पर बारीक बीनी से चर्चा की गयी है क्योंकि यही चीज ग़ज़ल को ग़ज़ल बनाती है, इसे जाने बिना ग़ज़ल कहना नामुमकिन है।

लेखिका ने शेरों के अलग-अलग प्रकारों को भी उल्लेखित करते हुए उनके भीतर के बारीक फर्क को रेखांकित किया है। शेर के दोषों को भी विस्तारपूर्वक समझाया है। कहाँ किस शब्द के इस्तेमाल से शेर में दोष पैदा हो जाता है। शे'र में वज़न का ख्याल रखना क्यों ज़रूरी है ? लय और ताल शे'र में क्या मानी रखते हैं ? सादिका ने न केवल स्वयं ग़ज़ल का समंदर खंगाला है बल्कि ग़ज़ल प्रेमियों को भी डुबकी लगाने के लिए प्रेरित किया है। मेरा ख्याल है कि ग़ज़ल के विषय को लेकर अब तक लिखी जाने वाली पुस्तकों में यह पुस्तक अपनी एक अलग पहचान ज़रूर बनायेगी।

हिन्दी ग़ज़ल के इतिहास को भी लेखिका ने बड़े विस्तार से विश्लेपित किया है। अमीर खुसरो से लेकर राजेश रेड्डी तक के ग़ज़लकारों को इसमें समेटा है। साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल की संवेदना और शिल्प पर तो तमाम पहलुओं से विचार किया गया है। इसमें सबसे पहले साठोत्तरी परिवेश के अंतर्गत सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक परिवेश का ब्योरा दिया गया है। इस कालावधि में राजनीतिक परिदृश्य और आर्थिक व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने लोगों को झकझोड़ कर रख दिया। सादिका जी परिवेश को आईना दिखाते हुए इस दौर के प्रमुख ग़ज़लकारों की चर्चा करती हैं। 'दुष्यंत कुमार की भाषा हिन्दुस्तानी है, जहाँ उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं के बीच की सीमा टूट जाती है और दूरी मिट जाती है। इसका मतलब हिन्दुस्तानी भाषा और हिन्दुस्तानी हृदय के साथ दुष्यंत कुमार ने ऐसे ग़ज़ल के संसार का निर्माण किया, जिसमें आने वाले ग़ज़लकारों के लिए प्रेरणा ही प्रेरणा दी।''

लेखिका ने सूर्यभानुगुप्त, चन्द्रसेन विराट, कुँवर बेचैन, भवानी शंकर, ज़हीर कुरैशी, शिव ओम अंबर, हनुमंत नायडू, कुलदीप सलिल, रामावतार त्यागी, बालस्वरूप राही, अवधनारायण मुद्गल, शेरजंग गर्ग, नन्दलाल पाठक, राजेश रेड्डी, अदम गोंडवी, आर०पी० शर्मा महर्षि आदि की ग़ज़लों पर प्रकाश डालते हुए सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

रामावतार त्यागी दर्द को ग़ज़ल के लिए आवश्यक समझते हैं—

''रोशनी तो चाहिए पर लौ ज़रा मद्दम रखो,
चाहिए मुझसे ग़ज़ल तो आँख मेरी नम रखो।''

रामकुमार कृषक जानते हैं कि अब सच बोलने का ज़माना नहीं है—

''इस देश के हर चौक पे लटकेगी अब सलीब
सच बोलने का सिर्फ़ यही तो इनाम है।''

नेता लोग दावा करते हैं कि वे गाँवों के लिए बहुत कुछ कर रहे हैं लेकिन यह सब आँकड़े बाजी का खेल होता है—

''तुम्हारी फाइलों में गाँव का मौसम गुलाबी है,
मगर ये आँकड़े झूठे हैं ये दावा किताबी है।''
(अदम गोंडवी)

स्वयं सादिका नवाब 'सहर' भी अच्छी शायरा हैं—

"दुख तो बहुत हुआ है मगर फिर भी जाने क्यों
चूमा है दिल के दाग़ को मैंने कभी-कभी।"

शेरों का चयन लेखिका की गहरी काव्यात्मक समझ और संवेदनशील हृदय का परिचायक है। साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल में वर्णित संवेदना को सादिका जी ने मनोविज्ञान की तुला पर भी तोला है, समाज के चश्मे से भी देखा है, धर्म की कसौटी पर भी कसा है, व्यंग्य के बाणों से भी छेदा है। कहने का तात्पर्य यह है क्योंकि वह स्वयं शायरा हैं इसीलिए गहराई में उतर कर उन्होंने ग़ज़लों से अनुस्यूत संवेदना के विभिन्न रूपों से साक्षात्कार कराया है।

लेखिका का कहना है कि साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल एक सशक्त, सुदृढ़, प्रभावोत्पादक, लयात्मक विधा के रूप में उभरी है। पुस्तक में साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल का शिल्पगत अनुशीलन भी किया गया है। शिल्पगत परख करते हुए सादिका जी ने ग़ज़लों की बड़ी महीन पड़ताल की है। उनका कहना है कि ग़ज़ल तभी बनती है जब वह भीतर से निकले। सायास लिखी जाने वाली ग़ज़लें मन पर कोई प्रभाव नहीं छोड़तीं।

इस पुस्तक में दुष्यंतकुमार की ग़ज़लों का विशेष अनुशीलन हुआ है, बड़ी गहराई और विस्तार से। साथ ही 'हिन्दी ग़ज़ल को दुष्यंत कुमार की देन' और 'दुष्यंत कुमार : शक्ति और सीमा' के अंतर्गत लेखिका ने ग़ज़ल के सशक्त हस्ताक्षर दुष्यंत की ग़ज़लों पर हर पहलू से जायज़ा लिया है। उनका कहना है कि दुष्यंतकुमार ने हिन्दी ग़ज़ल को हिन्दी ग़ज़ल का मुहावरा दिया है। वह संपूर्ण जीवन के कवि हैं। उन्होंने ग़ज़ल को सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों से तो जोड़ा पर उनकी दृष्टि बहुत दूर तक न जा सकी। कुछ कमियों के बावजूद उनकी ग़ज़लें लोगों को अभिभूत करती हैं।

कुल मिलाकर देखें तो सादिका जी की यह कृति ग़ज़ल को लेकर लिखी जाने वाली एक सशक्त, महत्त्वपूर्ण और उपयोगी कृति है। लेखिका उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं पर अधिकार रखती हैं इसीलिए बेहतर तौर पर ग़ज़लों की परख करने, उनका विवेचन-विश्लेषण करने में सफल हुई हैं। ग़ज़ल के आशिक यकीनन इसका स्वागत करेंगे। लेखिका का कहना है कि छंद विधान के संबंध में सतर्क रहकर ग़ज़ल की संप्रेषणीयता को नई संभावनाओं से जोड़ा जा सकता है।

रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
एस०एन०डी०टी० महिला विश्वविद्यालय, मुंबई-20

साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल : शिल्प और संवेदना, डा० सादिका असलम नवाब 'सहर', संस्थान प्रकाशन, मूल्य : 500/-, 2007

■

जीवन का बहुरंगी यथार्थ उकेरती कहानियाँ

फ़ैयाज़ अहमद

'बहुरंगी' नताशा अरोड़ा का पहला कहानी-संग्रह है। संग्रह की कहानियों में लेखिका ने एक आम स्त्री की दृष्टि से अपने दायरे में देखे, भोगे और महसूसे यथार्थ को भावनाओं के धरातल पर अभिव्यक्त किया है- रूढ़ अर्थों में किसी भी विमर्श या विचारधारा से बचते हुए। इन कहानियों में चमत्कृत करने वाले आंकड़े या विवरण अथवा सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के किताबी विश्लेषण ढूंढने वालों और उन्हें ही कसौटी मानने वालों को निराशा ही हाथ लगेगी। किंतु ऐसा भी नहीं है कि लेखिका समकालीन परिदृश्य और विमर्शों से अपरिचित है, बल्कि वह वर्तमान विमर्श और बहस-मुबाहिसों को सैद्धांतिक या किताबी बयानबाज़ी में न देखकर व्यवहार के स्तर पर देखती हैं और अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्याख्यायित करती हैं।

चाहे 'अतीत के पन्ने' हो, 'निर्माणकार्य प्रगति पर हैं' हो या 'एक सड़क-एक हादसा-एक युवती' कहानी हो, पाठक का ध्यान सहज ही अपनी तरफ खींच लेती हैं।

'अतीत के पन्ने' की केन्द्रीय पात्र सरला दिद्दा की घुटन भरी बेबस ज़िंदगी अंत तक पहुंचते-पहुंचते जैसे पूरी नारी-जाति की त्रासद महागाथा बन जाती है। तमाम प्रगतियों और विकासों की इस नई सदी में भी पुरूष के लिए स्त्री का अर्थ देह से अधिक नहीं है। मरकर भी जैसे सरला की त्रासद कहानी का अंत नहीं होता। समाज में आज भी ऐसी अनेक सरलाएँ घुट-घुटकर मरने को विवश हैं। इसीलिए कहानी के निष्कर्ष को सरलीकृत करता लेखिका का यह कथन पाठक को अस्वाभाविक नहीं लगता - "हाथ का पत्र फड़फड़ाया और मैं दिद्दा की कहानी से स्वयं को झकझोर कर वर्तमान में आ गई। टीवी पर, चेहरा धुँधला किये किसी बलात्कार पीड़िता का इन्टरव्यू आ रहा था। मुझे लगा दिद्दा की कहानी कभी ख़त्म होगी क्या?" (पृ०-60)

'निर्माण कार्य प्रगति पर है' की नायिका 'तोड़ती पत्थर' की स्थिति देखकर बेचैन होती है और उस दृश्य से आँख हटा लेना चाहती है और मज़े की बात यह कि आँख हटाकर वह सुकून भी पा लेती है। मध्यवर्गीय सुविधाजीविता के चलते वह बीच की सड़क पार नहीं करना चहती है। वह मन के किसी कोने में भी उठने वाली सहानुभूति और संवेदनाओं को

स्वार्थ व सुविधा जनित तर्कों से मिटा देना चाहती है। पर वह जैसे-जैसे स्वयं को संवेदनहीन बनाती जाती है, पाठक के हृदय में संवेदना घनीभूत होती जाती है। यही इस कहानी की कला है।

'एक सड़क-एक हादसा-एक युवती' में एक सड़क और एक हादसा तो ज़रूर है पर युवती की भूमिका को यथार्थ की जटिलताओं के साथ देखा-परखा नहीं गया है। इन स्थितियों में किसी पुरुष के साथ भी वही दुश्वारियाँ आतीं, जो अंततः उस युवती को झेलनी पड़ीं। युवती होने के नाते उसके आगे अलग से जो दिक़्क़ते आईं, और जो आती ही हैं, उनका उल्लेख नहीं किया गया है। इसके बावजूद कहानी अपनी सूक्ष्म चित्रात्मकता और यथातथ्य यथार्थ चित्रण के कारण प्रभावित करती है।

ज़िंदगी के बहुरंगी कैनवस को कहानियों का आधार बनाये जाने के कारण इसमें हास्य कहानियाँ भी शामिल की गई हैं। 'हुकुम' और 'क़िस्सा दावत-ए-ख़ास इस दृष्टि से संग्रह की पठनीय और आकर्षक रचनाएँ हैं। 'हुक्म' में सास-बहू की चिर-प्रतिद्वन्द्विता को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'क़िस्सा दावते ख़ास' में लखनऊ के नवाब साहब की दावत का रोचक और व्यंग्यपरक चित्रण है। पेट भर दावत उड़ाने के मंसूबे बाँधे बेचारे मुसद्दीलाल आम की एक फाँक पर सब्र कर लौट जाते हैं और अपनी इज़्ज़त को पुरानी अचकन की तरह संभाले दुनिया को छप्पन भोग की दावत उड़ाने की कथा सुनाते हैं।

किंतु, इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि अपनी वैचारिक चेतना और ईमानदार प्रगतिशीलता के बावजूद कहीं न कहीं लेखिका पर मध्यवर्गीय सोच का विरोधाभास भी दिखाई देता है।

'उजली भोर' में जहाँ वह एक ओर अछूत समाज के उत्थान के लिए किए जा रहे प्रयासों का खोखलापन उजागर करती है और समाज के तथाकथित प्रगतिशीलों के चेहरे बेनक़ाब करती है तो वहीं फुलवा को पुष्पा और अन्ततः पुष्पा मिश्रा बना देना और इस परिवर्तन के पीछे परिस्थितियों के व्यंग्य या विडम्बना की सम्भावनाओं को रेखांकित न करके अन्ततः सत्यादेवी के नाभिनाल बद्ध जातिगत संस्कार को ही प्रदर्शित करती है। यही नहीं फुलवा का पढ़-लिखकर डी0एम0 बन जाना और सवर्ण आनंद, जो कि इन्कम टैक्स विभाग में आफीसर है, से उसका विवाह करा देना लेखिका के आरोपित सुखान्तवाद या रोमांटिक दृष्टि का ही परिचय देता है। फुलवा डी0एम0 बनकर अपने सवर्ण ससुर के जनपद में पदासीन होती है, तो सोचती है- "वह पिता जी के सम्मान को ठेस नहीं पहुँचने देगी वरन् उनको अपनी पुत्रवधू पर गर्व करने के अवसर देगी।" पाठक सहज ही अनुमान कर सकता है कि सवर्ण विचारधारा के पके हुए ससुर को किस राह पर चलकर गर्व प्रदान कर सकती है। सरसरी निगाह में ही यह साफ़ हो जाता है कि लेखिका दलित या नारी विमर्श से परे रहकर (हालाँकि दोनों के लिए पर्याप्त अवसर था) एक मध्यवर्गीय प्रगतिशील नारी के रूप में अपने उदात्त मानवतावादी विचारों की ईमानदार अभिव्यक्ति करना चाहती है।

इसी रूप में 'रिश्ते' कहानी में औपन्यासिक कलेवर के कारण उपजी विवरणात्मकता, आरोपित आदर्शवाद, भावनाओं के स्तर पर ही समस्याओं को सुलझाने का प्रयास तथा हृदय-परिवर्तन की युक्तियाँ पाठक को भावुक तो करती हैं, पर वर्तमान में हिंदू-मुस्लिम संबंधों के बदलते राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय परिदृश्यों और जटिल यथार्थ को देखते-महसूसते पाठक कहानी का वास्तविक आनंद शायद ही ले पाता है।

'वह रिक्शा वाला' यथार्थ की नई परतों का उद्घाटन करने वाली कहानी है। यदि थोड़ी-सी मेहनत और की जाती तो यथार्थ की जटिलता और सच के बहुफलकीय चरित्र को उभारने वाली एक श्रेष्ठ कहानी हो सकती थी।

इन कहानियों की एक और विशेषता है, और शायद बड़ी विशेषता है कि इनमें परिवेश चित्रण पर विशेष ध्यान दिया गया है। इतिहासज्ञ होने के नाते लेखिका ने काल, स्थान एवं पात्र के चयन एवं उनकी संगति का विशेष ध्यान रखा है। कहना न होगा कि यही विशेषताएँ कहानी की जीवंतता, सम्प्रेषणीयता और रोचकता में वृद्धि करती हैं। किंतु इसमें भी कहीं-कहीं लेखिका से चूक हो गई है। 'हुक्म' और 'उजली भोर' कहानियों का परिवेश क्रमशः बरेली और रामपुर का है किंतु इन दोनों कहानियों के पात्र अवधी बोलते-बतियाते सहज ही दिख जाते हैं। 'एक था महतिया' में सीतापुर की पृष्ठभूमि होने के कारण महतिया द्वारा अवधी का व्यवहार जहाँ कहानी का गुण बन गया है, वहीं इन कहानियों में सजग पाठक को यह चूक खटकने लगती है। वैसे, कुल मिलाकर भाषा पर लेखिका की पकड़ मज़बूत है। पात्रों की भाषा उनके मुख से सहज ही निकली प्रतीत होती है। उसमें कहीं बनाव या गढ़ाव नहीं लगता। कहानियों में जहाँ आदर्श-स्थापना के बहाने या उपदेश वृत्ति की मजबूरी में लेखिका प्रवेश करती है, वहाँ भाषा कमज़ोर पड़ी है, किंतु जहाँ घटनाक्रम या संवादों के सहारे सहज रूप से आगे बढ़ती हैं, पाठक को प्रभावित करती है।

आशा है, जीवन के अनेक रंगों में रँगा यह 'बहुरंगी' पाठकों को पसंद आएगा।

रीडर, हिन्दी विभाग, जी0एफ0 कॉलेज, शाहजहाँपुर (उ0प्र0)

बहुरंगी, नताशा अरोड़ा, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली- 110002

'प्रवासी आवाज़....' एक अनूठा संकलन

देवी नागरानी

डॉ. अंजना संधीर की संपादन क्षमता में एक अनोखा चमत्कार है। 'प्रवासी आवाज़' के रूप में एक अनूठा संकलन अमरीका के साहित्यकारों के कहानी लेखन को प्रवाहित धारा बनाकर हिन्दी के साहित्य जगत में जोड़ने का प्रयास किया है। इससे पहले उनका पहला संकलन 'प्रवासिनी के बोल' था जिसमें तमाम प्रवासी लेखक और लेखिकाओं की रचनाओं को एक अनोखा मंच मिला।

'प्रवासी आवाज़' का आगमन इस बात का प्रतीक है कि प्रवासी लेखक और लेखिकाएँ दो राष्ट्र के नागरिक बने हैं और उसी बुनियाद पर उनकी रचनाओं में मातृभूमि से दूर रहकर हासिल किये गये तजुर्बों से साक्षात्कार होता है। उनके लेखन में मिली जुली भावनाओं, नई परिस्थितियों को सामना करने की जो शक्ति उपजती है, उनका विवरण उनकी कहानियों से अपने आप जाहिर होता है। इस उखड़ने और फिर से बस जाने के कठिन दौर में, अपने आपको स्थापित करने की मुठभेड़ में अपने देश की भाषा, साहित्य और संस्कृति को आराध्य स्थान देना एक उपलब्धि है। इस पुस्तक में शामिल प्रशस्त कहानीकार हैं उषा प्रियंवदा, स्वर्गीया सोमा वीरा, उमेश अग्निहोत्री, श्री अमरेंद्र, सुषम बेदी, इला प्रसाद एवं अनिल प्रभा कुमार जो इस लेखन विधा में दक्षता प्राप्त पा चुके हैं।

कई कहानियाँ भाव-भाषा और शैली के स्तर पर पाठकों के साथ संवाद कर पाती हैं। जीवन के पक्षों का सजीव चित्रण होते हुए सफलता से मानव मन को प्रकट कर पाती हैं। वे अनेक विसंगतियों और रीति रिवाजों के विद्रोह को अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्त करती है जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि नारी अबला नहीं, सबला है और हो भी क्यों न, अपने वजूद की पहचान पा लेने के लिये शिक्षा उनकी राहें रौशन कर चुकी है। कहानी चाहे छोटी हो या बड़ी, अपने अंदर एक सार्थक उद्‌देश्य से एक संकल्प की ओर संकेत करती है जो मानवता को एक दिशा दे सकता है। अमरेंद्र जी की कहानी "गांधी जी खड़े बाज़ार में" रोज़मर्रा ज़िंदगी की एक व्यंग्यपूर्ण अवस्था को दर्शाती हुई अपनी चरम सीमाओं से वाकिफ़ करा रही है। भूदेव शर्मा की कहानी 'प्रवासी की माँ' जीवन की उलझनों के बीच समाधान पाले की कशमकश में अभी तक मुक्ति की तलाश में है, शायद इसलिये कि माँ, एक जन्मदाता होकर अपने स्नेह के आंचल में हर हाल, हर अवस्था में अपने बच्चों का पोषण सहजता से कर पाती है, पर बच्चे शायद एक माँ की भली-भांति देख-रेख भी नहीं कर पाते।

उषा प्रियवंदा की कहानी 'पुनरावृत्ति' एक दारूण पीड़ा से गुज़रते हुए अपने अस्तित्व की जड़ें हिलाने वाला जो चित्र शब्दों में अंकित किया है उसे पढ़ने के बाद यादों से निकाल पाना आसान नहीं है, जैसे खुरच-खुरच कर खाल ही माँस से अलग करने जैसा है। नारी मन की समस्त भावनाओं का साक्षात्कार होता है। प्रकृति, उल्लास, क्षोम, आक्रोश और अनेकों मनोभावनाओं से बहती हुई एक ऐसी वागूधारा जिसमें मनुष्य मन की तमाम भावनाओं से साक्षात्कार होता है। अपनी रचनात्मकता में हर भावना उनके विचारों से अवगत कराती है जिसमें समस्त संसार की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति में समेट लेती है।

शब्दों की सत्यता साकार हो चुकी है, कड़ी से कड़ी मिलकर श्रृंखला बन चुकी है। न्यूयार्क में सन् 2006 में 13 जुलाई-विश्व हिन्दी सम्मेलन में विदेश राज्य मंत्री श्री आनंद शर्मा ने 'प्रवासी पुस्तक प्रदर्शनी' का उद्‌घाटन किया और उसी शाम को पच्चीस अमरीकी महिला रचनाकारों की 33 पुस्तकों का विमोचन भी किया, जिसमें मेरा ग़ज़ल संग्रह 'चराग़े दिल' भी शामिल था। यह लोकार्पण प्रवासी महिलाओं के लिये अति गर्वपूर्ण एवं महत्वपूर्ण पल रहा।

विदेशों में साहित्य सृजन विस्मित करता है, देश से दूर अपने वतन से सौंधी महक से फिर भी अपनी भावनाओं में ओत-पोत कर रचनाकार प्रस्तुत करते हैं। 'प्रवासी आवाज़' के रूप में यह एक ऐसा कहानी संकलन है जो अपने अछूते अहसासों के कारण हिन्दी साहित्य की समृद्धि करेगा और इन अनुभूतियों के निर्माता कहानीकारों को हिन्दी की मुख्य धारा में प्रविष्टि देगा। यह एक धारावाहिक प्रवाह है। ये जुड़वां संकलन 'प्रवासिनी के बोल' और 'प्रवासी आवाज़' अंजना संधीर की लगन, मेहनत और साहस का रचनात्मक प्रतिफल है।

9-डी कॉर्नर व्यू सोसायटी, 15/33 रोड, बांद्रा, मुंबई- 400050

प्रवासी आवाज़, संपादक : डॉ0 अंजना सँधीर, मूल्य : 500 रूपये, प्रकाशक : खुशबू ग्रंथ भंडार, अहमदाबाद

रामविलास शर्मा आज की युवा पीढ़ी के रोल मॉडल हो सकते हैं

विजय मोहन शर्मा

डॉ0 रामविलास शर्मा फाउन्डेशन द्वारा उनके 96वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में, 21 फरवरी, 2009 को एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसका विषय था, 'सन सत्तावन की राज्यक्रांति और रामविलास शर्मा।' अपने स्वागत भाषण में रामविलास जी के छोटे भाई राम शरण शर्मा मुंशी ने कहा कि यह फाउन्डेशन, परिवार द्वारा बनायी गयी है, जिसका मुख्य उद्देश्य उनकी पुस्तकों, पत्रों, डायरियों आदि का रख रखाव करना है। फाउन्डेशन पिछले कई वर्षों से उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के विभिन्न पहलुओं पर कार्यक्रम करती आ रही है। ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा लिखित पुस्तकों में सन् सत्तावन की राज्यक्रांति को महज़ एक सिपाही विद्रोह बताया गया है। रामविलास जी ने इसके महत्व को पहचानते हुए इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा। भूमण्डलीकरण और बाजारवाद की आड़ में बढ़ रहे नव-उपनिवेशवाद के ख़तरे को देखते हुए, आज इस विषय पर चर्चा करना उतना ही प्रासंगिक है, जितना इससे पहले कभी था।

विषय प्रवेश करते हुए अरूण कुमार त्रिपाठी ने कहा कि सत्तावन की राज्यक्रांति भारत के ही नहीं, विश्व इतिहास के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी, जिसके साथ अभी तक न्याय नहीं हो सका है। हमारे अपने इतिहासकार भी मार्क्सवाद और अंबेडकरवाद की भूल भुलैया में उलझ कर इस विद्रोह को समझने में नाकाम रहे हैं। रामविलास शर्मा ने पहली बार सन सत्तावन की क्रांति को सही नज़रिये से देखा और इसके महत्व को रेखांकित करते हुए एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसकी स्थापनाओं को आज बहुत से इतिहासकार दोहरा रहे हैं।

संगोष्ठी के मुख्य वक्ता, प्रो0 शंभुनाथ ने कहा कि प्रायः हर बड़े लेखक का ऐसा कोई एक सशक्त प्रेरणाबिंदु होता है जो उसके साहित्यिक बोध को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वैचारिक आलोक देता है। रामविलास जी का प्रेरणाबिंदु सन सत्तावन का गदर था जो उनके साहित्यिक मूल्यांकन और चिंतन में ही नहीं, उनके जीवन में भी किसी न किसी रूप में धधकता रहा है। उन्होंने दिखाया कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति की तरह ही सन सत्तावन की राज्यक्रांति से भी एकता, समानता और बंधुत्व पैदा हुआ। आज की युवा पीढ़ी के सामने कोई रोल मॉडल नहीं है, जो उन्हें सही मार्ग दर्शन दे सके। रामविलास जी युवा पीढ़ी के सामने एक आदर्श रोल मॉडल हो सकते हैं। रामविलास जी के 1857 को इतना महत्व देने का एक कारण यह भी था कि वह हिन्दी जाति के मानवतावाद को अभिचिन्हित करना चाहते थे।

अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रो0 विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि अभी सन सत्तावन पर और काम करने की आवश्यकता है। कुछ लोगों ने इस क्रांति में दलितों और सिखों के योगदान पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं, जिन पर अभी और विचार करने की आवश्यकता है।

डॉ0 विजय मोहन शर्मा ने कार्यक्रम का संचालन करते हुए कहा कि रामविलास जी एक निहायत ईमानदार व्यक्ति थे, अपने लेखन में, अपने जीवन में और अपने आचरण में। उनका चिंतन मौलिक था। वह स्थापनाओं पर प्रश्न चिह्न लगाते थे और कहते थे कि ज़रूरी नहीं है कि जो कुछ वह कहते हैं, सब सही हो। उनका कहना था कि चीजों को देखने का एक नजरिया यह भी है। वे चाहते थे कि लोग उसे भी पढ़ें और बहस करें ताकि सच्चाई उभरकर ऊपर आ जाये।

मुकुल शर्मा के धन्यवाद ज्ञापन के साथ कार्यक्रम संपन्न हुआ। सभागार में उपस्थित साहित्यकारों में प्रो0 नित्यानंद तिवारी, प्रो0 अजय तिवारी, श्री भगवान सिंह, रणनीत साहा, अशोक त्रिपाठी, देवेन्द्र चौबे, जसबीर त्यागी, रमेश चन्द्र शर्मा, द्वारिका प्रसाद चारूमित्र, वेद रमण और वेद प्रकाश भी थे।

नई दिल्ली- 110010

आतंकवाद और लोकतंत्र की चुनौतियाँ

प्रज्ञा पाण्डेय

लखनऊ के अम्बेडकर सभागार में डा0 राही मासूम रज़ा साहित्य ऐकेडमी के अन्तर्गत एक संगोष्ठी आयोजित हुई जिसमें आस-पास के ज़िलों से भी लोगों ने बड़ी उत्सुकता से शिरकत की। लेखक, विचारक और बुद्धिजीवियों ने 'आतंकवाद और लोकतंत्र की चुनौतियाँ' विषय पर खुलकर अपने-अपने विचार व्यक्त किये।

सख़्त हालात के तेज तूफ़ानों में/घिर गया है हमारा जुनूने-वफ़ा/ हम चिराग़े-तमन्ना जलाते रहे/ वे चिराग़े-तमन्ना बुझाते रहे।

संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन करते हुए समाजवादी विचारक एवं वरिष्ठ पत्रकार मधुकर त्रिवेदी ने आतंकवाद की भयावहता पर चिन्ता जतायी और कहा कि धर्म का आतंकवाद से जुड़ना परिभाषित नहीं किया जा सकता। चर्चित आलोचक एवं चिंतक राजेन्द्र वर्मा

आतंकवाद पर चर्चा करते हुए कहा कि आतंकवादी को कोई ...र्म नहीं होता है परन्तु आतंकवाद के लिए कहीं न कहीं हम भी ...ी हैं।

उर्दू के मशहूर शायर और डा0 राही मासूम रज़ा साहित्य एकेडमी के उपाध्यक्ष डा0 अली बाक़र ज़ैदी ने चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि हम एक ही बाग़ के अनेक रंगीन फूल बनकर नहीं ...तो यहधरती मुहब्बत करने वालों से महरूम हो जायेगी।

लखनऊ विश्वविद्यालय के पाश्चात्य इतिहास विभागाध्यक्ष डा0 प्रमोद कुमार ने कहा कि राज्य ताक़तवर हो गया है और व्यक्ति ...की इकाई कमज़ोर पड़ गयी है। हिन्दी-उर्दू के चर्चित लेखक ...कील सिद्दीक़ी ने मीडिया की निन्दा करते हुए कहा कि मीडिया का रोल पूरी तरह से नकारात्मक है। वह पूरे लोकतांत्रिक व्यवस्था को निकम्मा साबित करने में लगी है।

प्रख्यात नाटककार एवं संस्कृतिकर्मी राजेश कुमार ने कहा कि यह मीडिया का भ्रामक प्रचार है कि लोकतंत्र समाप्त हो गया है। यदि लाकतंत्र समाप्त हो गया तो आयेगा क्या? उन्नाव से ...ारे वरिष्ठ कवि- कुमार दिनेश प्रियमन ने कहा कि अपेक्षित ...रोकारों की अनदेखी करने का ही नतीजा है आतंकवाद। हमने ...ाज तक सामाजिक स्तर पर वैचारिक मुद्दों को नहीं उठाया। ...सिद्ध संस्कृतिकर्मी एवं आलोचक कौशल किशोर ने कहा कि आतंकवादी तब पैदा होता है, जब उसे अपना आक्रोश व्यक्त करने ...े रोका जाता है। उन्होंने कहा कि हमें अमेरिका के साथ-साथ ...की विचारधारा से भी लड़ना है। कवि भगवान स्वरूप कटियार ...े कहा कि जब वोट व्यक्ति से बड़ा हो जायेगा तब देश को बचाना ...ुश्कर होगा। श्री ओंकार सिंह ने श्रम शक्ति के आधार पर बेरोज़गारी को समाप्त करने पर बल देते हुए कहा कि लोकतंत्र की ख़ामियों को हम भाषा, जाति और सम्प्रदायों की एकता के माध्यम से दूर कर सकते हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र के प्रोफ़ेसर डा0 ...मेश दीक्षित ने कहा कि जब कमज़ोर वर्ग की बात नहीं सुनी जाती है तब वह विद्रोह करने पर मजबूर हो जाता है। आशीष अवस्थी ने अल्पसंख्यकों के दर्द को बेबाकी से बयान करते हुए कहा कि जब तक एक ख़ास समुदाय को आतंकवाद के लिए दोषी ठहराया जायेगा तब तक हम इंसान-इंसान के बीच बढ़ती खाईं ...ो पाटने में समर्थ नहीं हो पायेंगे।

संगोष्ठी के अंत में वरिष्ठ कथाकार, आलोचक एवं डा0 राही मासूम रज़ा साहित्य एकेडमी के अध्यक्ष डा0 गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा कि आतंकवाद का मूल स्रोत अमेरिका है। भारत सरकार लोकतंत्र को पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत चला रहे हैं। डा0 गिरीशचन्द्र जी ने लोकतंत्र को समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित करने पर बल दिया।

कार्यक्रम के अंत में चर्चित कवयित्री सुशीला पुरी ने सभी वक्ताओं और श्रोताओं को धन्यवाद देते हुए कहा कि यदि इसी तरह हम जागरूक चेतना का एहसास करते रहेंगे तो समस्याओं का काई न कोई हल अवश्य निकलेगा। संगोष्ठी का कुशल एवं सफल संचालन चर्चित लेखिका डा0 उशा राय ने किया।

अंत में मुम्बई में आतंकवादी हमले में शहीद हुए लोगों के शोक में दो मिनट का मौन रखकर सभा समाप्त हुई । संगोष्ठी में जिन अन्य लोगों ने सक्रिय भागीदारी की उनमें प्रमुख थे सर्वश्री लक्ष्मीकांत, राम किशोर, पूनम सिंह, मधु श्रीवास्तव, प्रज्ञा पाण्डेय, प्रभात कुमार, शबनम रिज़्वी आदि।

89 लेखराज नगीना सी-ब्लॉक, इन्दिरा नगर, लखनऊ

सफ़दर हाशमी स्मृति आयोजन की रिपोर्ट

एम. हनीफ मदार

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ केवल बोलने की आज़ादी नहीं है, बल्कि सुनने की भी आज़ादी है। क्योंकि सच तो यह है कि सुनने की आज़ादी के बिना बोलने की आज़ादी का कोई अर्थ नहीं है तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता केवल लेखकों या कलाकारों को ही नहीं बल्कि उनके पाठकों को भी होनी चाहिए। उक्त वक्तव्य 'संकेत रंग टोली' द्वारा आयोजित सफ़दर हाशमी आयोजन के अवसर पर का0 धर्मेन्द्र सभागार कैंट, मथुरा में 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और वर्तमान समय' विषय पर व्याख्यान करते हुए दिल्ली से पधारे 'उद्भावना' के संपादक अजेय कुमार ने व्यक्त किए। उन्होंने नाटक करते समय क़ातिलाना हमले में हुई सफ़दर की मौत को भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बड़ा कुठाराघात बताते हुए कहा कि पहली जनवरी को साहिबाबाद में केवल 'जन नाट्य मंच' के कलाकारों पर ही हमला नहीं था बल्कि वहाँ उपस्थित दर्शकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी हमला था। उन्होंने कहा स्थितियाँ आज भी कहाँ बदल पाई हैं, चुनौतियाँ आज भी कम कहाँ हैं ? आज भी शोषण और दमन के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वाले का गला आसानी से घौंट दिया जा रहा है। और इसके लिए सांस्कृतिक एकजुटता तथा कलाकर्म की महती ज़रूरत है। लेखक, पत्रकार या कलाकारों पर भी महती ज़िम्मेदारी है। अपने दर्शक, पाठक एवं आमजन को उनके जनवादी अधिकार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति जागरुक करने की, क्योंकि हमें अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी जनता की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने पर ही मिल सकती है।

तीन चरणों में संपन्न होने वाले कार्यक्रम का शुभारंभ मथुरा के दिवंगत वयोवृद्ध शायर एवं आज के रसखान शमीम मथुरावी एवं साहित्यकार विष्णु प्रभाकर को श्रद्धांजलि से हुआ। मथुरा के लगभग सभी सांस्कृतिक संगठनों एवं लेखकों, कलाकारों, शिक्षाविदों एवं अन्य प्रबुद्धजनों की उपस्थिति से खचाखच भरे धर्मेन्द्र सभागार

में आयोजित इस कार्यक्रम के प्रथम चरण में 'सहमत' द्वारा बनी सफ़दर हाशमी पर डॉक्यूमेंट्री फिल्म 'जुलमतों के दौर में' का प्रदर्शन किया गया। इससे पूर्व जनवादी लेखक संघ के सचिव टीकेन्द्र शाद ने सफ़दर हाशमी के जीवनवृत्त पर विस्तृत जानकारी दी। आयोजन का द्वितीय चरण 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं वर्तमान समय' विषय पर व्याख्यान को समर्पित रहा जहाँ 'उद्भावना' के संपादक मुख्य वक्ता अजेय कुमार के अलावा किसान सभा, मथुरा के जिला सचिव दिगंबर सिंह ने मौजूदा विषय के संदर्भ में सफ़दर के साथ बीते दिनों के कुछ संस्मरण प्रस्तुत कर विषय की गंभीरता की ओर ध्यान आकर्षित किया एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को वर्तमान समय की बड़ी समस्या कहा। सफ़दर हाशमी को कलाओं का ऐसा संगम कहा जहाँ स्वस्थ राजनैतिक प्रतिबद्धता, रचनाशीलता हास्य की ज़बर्दस्त क्षमता, दोस्तानापन एवं गर्मजोशी का अद्भुत संगम था। एक कवि कलाकार एवं अभिनेता के रूप में।

कार्यक्रम का तीसरा चरण सफ़दर हाशमी के विराट् व्यक्तित्व को श्रद्धांजलि का रहा जहाँ रंगकर्मी एम. ग़नी द्वारा निर्देशित सुभाष पंत द्वारा लिखित कहानी 'श्रीमान जी' का नुक्कड़ नाटक शैली में मंचन किया गया। मंच पर कहानी को एकल जीते हुए अभिनेता आशीष राजपूत ने अपनी साँसें तक थमा लेने को विवश कर दिया। युवा होता किशोर घर की माली हालत ख़राब होने के चलते महज़ चालीस रुपये में युवा सपनों को बेचकर मजदूर बन जाता है। एक हादसे में उसके पैर कट जाने पर मालिक उसे अस्पताल भेजने के बजाय इसलिए मरवा देता है कि वह मुआवज़े की माँग न कर बैठे। नाटक मंचन के दौरान मथुरा के प्रबुद्धजनों, कलाकारों, साहित्यकार एवं गणमान्य व्यक्तियों से भरा धर्मेंद्र सभागार कितनी ही बार तालियों की गड़गड़ाहट से गूँजता रहा। इस अवसर पर कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे टोली के अध्यक्ष राहुल गुप्ता ने सफ़दर हाशमी की मौत को शहीद भगत सिंह के समतुल्य शहादत बताया। इस अवसर पर प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के पूर्व उपाध्यक्ष, मोहनस्वरूप भाटिया, सीपीएम के जिला सचिव कॉ0 नसीर शाह, डा0 हरिशंकर, महेन्द्र सक्सेना 'हुमा', राम सरीन, जन सांस्कृतिक मंच के डा0 आर0के0 चतुर्वेदी, डा0 अशोक बंसल, मथुरा इप्टा के पूर्व निदेशक देवेन्द्र पाल, धारा सिंह, कैलाश वर्मा, रवि भारद्वाज, सुधा अरोड़ा, मीनाक्षी पाण्डया, शिवदत्त चतुर्वेदी, उपेन्द्र चतुर्वेदी, आर0सी0 भाटिया, विपिन कुमार, विनोद आर्य, प्रमोद कुमार आदि प्रमुख रूप से उपस्थित थे। कार्यक्रम सहयोग रामू पण्डित, संजय गुप्ता, जफर अंसारी, अनीता चौधरी, सनीफ मदार आदि का रहा। कार्यक्रम संयोजन प्रवीण भारद्वाज एवं एम. गनी ने किया। संचालन संकेत रंग टोली के सचिव कथाकार एम. हनीफ मदार ने तथा धन्यवाद ज्ञापन टोली के उपाध्यक्ष निर्मल के. पोनिया ने किया।

मथुरा

'मलमूत्र ढोता भारत' और 'दलित दर्शन' का लोकार्पण

अभिषेक कश्यप

साहित्य अकादमी सभागार नई दिल्ली में 'युद्धरत आम आदमी' के विशेषांक 'मलमूत्र ढोता भारत : विचार की कसौटी पर' और 'दलित दर्शन' पुस्तक के लोकार्पण समारोह का आयोजन रमणिका फाउंडेशन, युद्धरत आम आदमी और शिल्पायन के संयुक्त तत्त्वावधान में किया गया। 'मलमूत्र ढोता भारत' सफाई कामगार समुदाय की समस्याओं पर केंद्रित है। विशेषांक का लोकार्पण वामसेफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष और समारोह के मुख्य अतिथि वामन मेश्राम ने किया। 'दलित दर्शन' पुस्तक का लोकार्पण साहित्यकार और संपादक 'हंस' राजेन्द्र यादव ने किया।

वामन मेश्राम ने अपने विचारोत्तेजक संबोधन में कहा कि दलित समाज को सवर्ण समाज के पूर्वाग्रहों की वजह से अपमान सहना पड़ता है, तो क्यों न इनकी ही समस्या का पहले समाधान किया जाए, जिससे संपूर्ण दलित समाज को अपमान न सहना पड़े। विशेषांक 'मलमूत्र ढोता भारत' में अछूतों की विकराल समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। दलित चिंतक भगवान दास ने कहा-'जब तक यह समाज इस गंदे पेशे से जुड़ा रहेगा तब तक उनकी इज़्ज़त नहीं होगी।' वरिष्ठ साहित्यकार और 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव ने विशेषांक पर अपनी राय प्रकट करते हुए कहा कि दलित सिर्फ़ सवर्णों का ही नहीं, एक दूसरे का मैला भी ढो रहे हैं। यह वेद-शास्त्रों का, वर्ण-व्यवस्था और मनुस्मृति का मैला है, जो ज़्यादा ख़तरनाक है। मैला ढ़ोने वाले दलितों की मानसिक आज़ादी ज़्यादा ज़रूरी है। विशेषांक की संपादक रमणिका गुप्ता ने कहा कि झाड़ू बुहारते लोगों में जब चेतना जाग जाएगी तब यह दुनिया बदल जायगी। मैला ढोने वाले लोग यह सोचते हैं कि यह सब उनके भाग्य में लिखा है।' राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आंदोलन के अध्यक्ष विल्सन बैजवाड़ा ने भारत के केन्द्र एवं राज्य सरकारों की मानसिकता पर प्रहार करते हुए कहा कि सरकार अपने दस्तावेज में यह शपथ लेती है कि अब कहीं भी मैला ढोने का काम नहीं होता, लेकिन आज भी भारत में लगभग 13 लाख अति-दलित समाज के लोग मैला ढोने का काम कर रहे हैं।

श्री ब्रजेन्द्र त्रिपाठी ने मैला ढोने वाले लोगों की व्यथा विशेषांक में प्रकाशित केस हिस्ट्री पर चर्चा करते हुए सुनाई।

लोकार्पण समारोह का शुभारंभ करते हुए अतिथि संपादक सुशीला टाकभौरे ने कहा कि सफाई कामगारों की समस्या दलितों की पीड़ा है, यह राष्ट्रीय शर्म का मुद्दा है। इस समाज को शिक्षा की आवश्यकता है। अंधेरे में भटक रहे इस समाज के लोगों को बैसाखी नहीं विकास का रास्ता चाहिए। साहित्यकार अजय नावरिया ने 'मलमूत्र ढोता भारत' विशेषांक पर आलेख पढ़ते हुए कहा कि यह कैसी विचित्र व्यवस्था है कि लोग जाति के नाम से जाने

...और मर जाते हैं। मलमूत्र ढोने का दंश सिर्फ एक समाज ...हीं, बल्कि यह समस्या संपूर्ण भारत की है।' साहित्यकार ...चौबे ने समकालीन इतिहास पर जोर देते हुए कहा कि अब ...साहित्य और विचार साहित्य के केन्द्र में समकालीन इतिहास ...की आवश्यकता है।

...अंत में डा0 सुधीर सागर ने समारोह में उपस्थित साहित्यकारों, ...यों का हार्दिक धन्यवाद देते हुए आभार प्रकट किया। ...में तेज सिंह, अर्चना वर्मा, असग़र वजाहत, रामशरण जोशी, ...बैस, मुरारी लाल लोहरा, हरियाणा से रमेश पुहाल, नफे सिंह ...मदन कश्यप, सुशील, शीलू, अनीता भारती सहित देश के ...साहित्यकार उपस्थित थे।

नई दिल्ली

...के सरोकारों से संवेदनात्मक रिश्ता रखने ...कहानियाँ

...त्रिवेदी

...की दो प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं 'साहित्य संगम' और 'हिन्दी ...' द्वारा सम्मलित रूप से ख्यात लेखक भालचंद्र जोशी की ...यों पर केंद्रित आयोजन को किया गया।

...हिन्दी परिवार के अध्यक्ष लेखक हरेराम वाजपेयी ने भालचंद्र ...की कहानियों को कलात्मक-सृजनात्मकता का नवीन प्रतिरूप ...उन्होंने कहा कि इन कहानियों में भाषा का एक ऐसा लयात्मक ...है जिसकी अनुगूँज पाठ से गुज़रने के बाद भी स्मृतियों में ...रहती है।

...पठित एवं अन्य कहानियों पर चर्चा करते हुए आयोजन ...अतिथि सुप्रसिद्ध लेखिका मेहरुन्निसा परवेज़ ने रचनात्मकता ...संदर्भों में प्रतिबद्धता की बात कही और भाषा की जटिलता ...भाषा रचना और पाठक के सवाल भी उठाए। सुश्री मेहरुन्निसा ...ने भालचंद्र जोशी की कहानी 'पहाड़ों पर रात' के संदर्भ ...के वन-जीवन को भी याद किया। सुप्रसिद्ध कहानीकार ...कुमार ने भालचंद्र जोशी की चरसा, राजा गया दिल्ली, पालवा, ...कहीं भी अंधेरा, कोई एक धुन और पहाड़ों पर रात कहानियों ...उदाहरण देकर कहा कि ये कहानियाँ रचनात्मक प्रतिबद्धता का ...उदाहरण है। आदिवासी जीवन के दुख-दर्द, पीड़ा और उनके ...का भयावह यथार्थ जिस करुणा के साथ प्रकट हुआ है वह ...भावुक विलाप या अबोध आक्रोश की तरफ नहीं जाता बल्कि ...यथार्थ के रेशे-रेशे को उधेड़कर पूरी मानवीय मार्मिकता में ...दित करता है। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे चर्चित लेखक ...समीक्षक कैलाश मंडलेकर ने कहा कि भालचंद्र जोशी की कहानियाँ दलित विमर्श के प्रचलित आग्रह से भिन्न दलित जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं। खासकर 'चरसा' कहानी दलित विमर्श की बँधी बँधाई लीक से भिन्न दलित जीवन के सारे धूसर रंगों को पूरी तल्ख़ी और करुणा से प्रकट करती है। 'कहीं भी अंधेरा' कहानी की चर्चा करते हुए श्री मंडलेकर ने कहा कि इस कहानी में भाषा की एक ऐसी तरलता है जिसमें संवेदना की कोमल छवि अमिट बनी रहती है।

संस्था अध्यक्ष सदाशिव कौतुक ने कार्यक्रम के अंत में आभार व्यक्त करते हुए कहा कि भालचंद्र जोशी की क़हानियाँ हमारे समय के यथार्थ का एक ऐसा उद्‌घाटन है जहाँ तमाम सामाजिक विसंगतियाँ और आम आदमी के दुख मिलते हैं।

इंदौर प्रेस क्लब में आयोजित इस कार्यक्रम में वरिष्ठ लेखक कृष्णकांत निलोसे, व्यंग्यकार जवाहर चौधरी, कवि उत्पल बनर्जी, कहानीकार मंगला रामचंद्रन, शरद पगारे, कामरेड अतुल लागू, जितेंद्र चौहान, जनवादी लेखक संघ से प्रदीप मिश्र, प्रदीप कांत, देवेंद्र शर्मा के अतिरिक्त नगर के अनेक साहित्यकार, रंगकर्मी और बुद्धिजीवी उपस्थित थे।

इंदौर

डा0 विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

डा0 हिमांशु कुमार

इटावा, सोवियत लैंड पुरस्कार, भारत-भारती तथा मीरां पुरस्कार प्राप्त हिन्दी के सुधी समीक्षक, प्रख्यात उपन्यासकार तथा कवि को 7 जनवरी 09 को देश भर से विद्वानों ने श्रद्धांजलि अर्पित की।

श्रद्धांजलि कार्यक्रम की अध्यक्षता डा0 उपाध्याय के परम मित्र तथा प्रसिद्ध आलोचक-विचारक डा0 रमेश कुंतल मेघ ने की। श्री नंदकिशोर नौटियाल इस कार्ययर्क्रम में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। कार्यक्रम में शामिल होने आए विद्वानों में डा0 ऊषा शाजापुरकर (नागपुर), डा0 हेतु भारद्वाज (जयपुर), डा0 राघव प्रकाश (जयपुर), डा0 जयसिंह नीरद (आगरा), प्रो0 वी0के0 सिंह (आगरा), डा0 कृष्ण गोपाल मिश्र (भोपाल), डा0 वेद प्रकाश 'अमिताभ' (अलीगढ़), डा0 यतीन्द्र तिवारी, डा0 राम सनेही लाल शर्मा (फिरोजाबाद) प्रमुखतः उपस्थित थे।

श्रद्धांजलि कार्यक्रम की शुरूआत डा0 उपाध्याय की ज्येष्ठ पुत्रवधू श्रीमती वीना उपाध्याय ने उनके तैल चित्र पर परिवार की ओर से स्मृति पुष्प अर्पित किए। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे प्रो0 रमेश कुंतल मेघ ने इस अवसर पर डा0 उपाध्याय द्वारा लिखित पत्र, जो प्रो0 सूर्यप्रसाद दीक्षित के नाम है-की प्रथम प्रति श्रीमती वीना उपाध्याय को प्रदान की। उन्होंने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा कि डा0 विश्वंभर नाथ उपाध्याय हमारे समय के

सर्वश्रेष्ठ मेधावी लेखक थे। उनकी सृजन क्षमता असीमित और अद्वितीय थी। प्रमुख अतिथि श्री नंदकिशोर नौटियाल ने कहा कि डा0 उपाध्याय मेरे लिए अग्रज तथा सच्चे पथ-प्रदर्शक थे। वैचारिक स्तर पर असहमति व्यक्त करने वालों के साथ भी वे मित्र की तरह मिलते थे।

इटावा (उ0प्र0)

शमीम मथुरावी को श्रद्धांजलि

टीकेन्द्र शाद

मथुरा जनपद के मशहूर शायर शमीम 'मथुरावी' (78) के आकस्मिक निधन से (12.03.2009) पूरे शहर के कवि/ शायरों और उनेक प्रशंसकों में शोक की लहर दौड़ गयी। वे पिछले एक दशक से जनवादी लेखक संघ, मथुरा के संरक्षक थे और विगत 40-50 वर्षों से वामपंथी विचारों को जनता के मध्य अपनी शायरी द्वारा फैला रहे थे। गंगा जमुनी तहज़ीब भाईचारे के वे पक्के हिमायती थे और ब्रजभाषा में भी लिखते थे। उन्हें मथुरा का 'रसखान' कहा जाता था।

शहर की अनेक संस्थाओं ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की प्रमुख गणमान्य लोगों में डा0 हरीशंकर, डा0 वेदवर्मा, कैलाश वर्मा, टीकेन्द्र शाद, एम0 गनी, हनीफ मदार, नसीर शाह, गफ़्फ़ार अब्बास (एडवोकेट), सईद आज़मी, शिवदत्त चतुर्वेदी आदि थे।

मथुरा

लघु-कथा

दीपक बना-ट्यूब लाइट नहीं

सत्यनारायण भटनागर

एक दीपक कमरे के कोने में ध्यानस्थ योगी की तरह टिमटिमाते हुए जल रहा था। उसका प्रकाश अन्धकार को ललकार रहा था। तभी वहाँ ट्यूब लाइट ने प्रवेश किया। प्रकाश से कमरा भर गया। ट्यूब लाइट ने घृणा से दीपक को देखा। उसे लगा कि मेरे होते हुए इस दीपक का क्या काम? ट्यूब लाइट ने दीपक से कहा-'ज़माना बदल गया है, हम विज्ञान के युग में प्रवेश कर गए हैं। तुम्हारा अब क्या काम। तुम बीते ज़माने की वस्तु हो।'

दीपक ने चुपचाप सुना। वह ट्यूब लाइट के अहंकार को देख रहा था। दीपक बोला-'दोस्त तुम सच कहते हो पर अंधकार को ललकारने में हम कभी पीछे नहीं रहे। दूर-दूर तक हमारा ही निर्मल प्रकाश फैल रहा है। जहाँ तुम्हारी पहुँच नहीं है, वहाँ भी मैं उपस्थित हूँ। तुम्हारा अहंकार व्यर्थ है।'

ट्यूब लाइट को दीपक का उत्तर सहन नहीं हुआ। ट्यूब लाइट ने फिर अहंकार से कहा-'देखते हो मेरे प्रकाश को, कमरा कैसे प्रकाशित हो रहा है। अंधकार जाने कहाँ दुबक गया है। कहाँ मैं, कहाँ तुम? तुम व्यर्थ अपना महत्व बता रहे हो।'

दीपक योगी की तरह ध्यानस्थ था, ध्यानस्थ बना रहा। उसने मुस्कुराते हुए ट्यूब लाइट से प्रश्न किया-'भाई मेरे, मैं एक दीपक हूँ। पर मैं हजारों दीपकों को जला सकता हूँ। पर क्या तुम किसी एक ट्यूब लाइट को जलाकर प्रकाशित कर सकते हो? समाज और देश को दीपक की आवश्यकता है जो दूर-दूर तक प्रकाश फैला कर अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करे। मुझ जैसे युवक ही संसार में प्रकाश फैलाने में सफल हुए हैं। ट्यूब लाइट यह काम नहीं कर सकती। तुम दीपक को घृणा से मत देखो। दीपक का भी अपना महत्व है। दीपक बना और हजारों नये दीपकों में निर्मल ज्योति फैलाओ, तभी जीवन धन्य है।

ट्यूब लाइट ने सुना, उसे अपनी अयोग्यता समझ में आ गयी। वह स्वयं तो प्रकाशित हो सकती है किन्तु उसमें शक्ति नहीं है कि अन्य को प्रेरणा दे, प्रकाशित करने में सहयोग दे।

दीपक बनो, ट्यूब लाइट नहीं।

2, एम. आई. जी., देवरा देव नगर, रतलाम, (म.प्र.) 457001

कबिरा ई घर प्रेम का

कबीर को आज हमारे विश्वविद्यालय और शिक्षण-संस्थान बहुत कम याद करते हैं। कबीर के रहस्य को जो लोग नहीं समझते, वे उन्हें बहुत ज़ोरों से याद करते हैं। मठों ने कबीर को अवतार बना दिया है। पाखंडों और सामाजिक विद्रूपताओं का जिन कबीर ने जीवन-भर विरोध किया, उन्हीं कबीर को बनारस के मठों में मूर्ति के रूप में स्थापित कर दिया गया है। उन्होंने जन्म नहीं लिया, वे प्रकट हुए। हर क्रांतिकारी विचारक के साथ यही हुआ, उसके अनुयायियों ने उसे मंदिर-मठों में बंद कर दिया। विचारों को छोड़कर चमत्कारों को प्रचारित किया। जिन्होंने समाज में जातिवाद और धार्मिक विद्वेष के विरुद्ध आवाज़ उठायी, उन्हीं के आधुनिक शिष्यों ने उन्हें संकीर्ण और जातिवादी बना दिया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण नाम महान समाज सुधारक और हिन्दी के आदि कवि गुरु गोरखनाथ का है। उनके तथाकथित आधुनिक शिष्य महंत योगी आदित्य नाथ ने जिस तरह घृणा का प्रचार-प्रसार किया है, उससे गुरु गोरखनाथ की आत्मा अवश्य ही तड़पती होगी। गुरु गोरखनाथ का वचन था :

साधो, हम न हिन्दू न मुसलमान
0 0 0
हिन्दू-मुसलमान खुदा के बंदे
हम जोगी, करैं न काहू के धंधे।

कबीर के शिष्यों ने भी अपने गुरु के साथ यही व्यवहार किया। कबीर को केवल अध्यात्म और रहस्य के कवि-रूप में देखा गया, उनके सामाजिक सरोकारों की अनदेखी की गयी। साधारण-जन के बीच कबीर की छवि एक मूर्तिभंजक और पाखंड-विरोधी की है। कोई मठ-मंदिर इतना बड़ा नहीं बना है, जो कबीर की इस छवि को क़ैद कर सके। कबीर काव्य के अनेक पक्ष हैं, जिनमें उन्होंने समाज के उपेक्षित शिल्पी वर्ग को सामाजिक और धार्मिक समानता और सम्मान देने का संदेश दिया है। क़बीर उस वर्ग के प्रतिनिधि थे, जिसने हिन्दू और मुसलमान दोनों को धार्मिक ग्रंथों, कर्मकांडों और दिखावों की व्यर्थता का बोध कराया। प्रेम और भाई-चारे का संदेश दिया। उन्होंने कहा :

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।

कबीर का यह प्रेम सामाजिक है, आध्यात्मिक नहीं। कबीर प्रेम को मानव-जीवन का सार-तत्त्व मानते हैं :

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय,
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय।

प्रेम की बेल अमर-फल देती है, घृणा की बेल से तो अविश्वास, संदेह और भय उपजते हैं। ये मानव-संबंधों में विष घोलते हैं। घृणा की राजनीति का वातावरण ज़्यादा ज़िंदा नहीं रह सकता। उसकी उम्र कम होती है। कबीर को स्मरण करते हुए हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि प्रेम सामाजिक संबंधों को दृढ़ बनाता है, सद्भाव पैदा करता है। घृणा व्यक्ति, समाज और देश को कमज़ोर करके दुर्भाव और अविश्वास पैदा करती है।

आज घृणा की राजनीति के दौर में कबीर का स्मरण होना स्वाभाविक है। राजनीतिक वातावरण धर्म और जाति की स्थापना कर रहा है। इसके विरुद्ध हर व्यक्ति को लड़ने की ज़रूरत है। संघर्ष करने की ज़रूरत है। इसके लिए कबीर हमारा मार्गदर्शन करते हैं। उन्होंने संकटकाल में बुद्धिजीवियों की स्थिति बयान करते हुए कहा था :

सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।।

यह जागने और चिंतन करने का काल है। अपने घर को फूँकने का काल है। फिर तो साथ चलने वाले मिल ही जाएँगे।

अलीगढ़ से 'वर्तमान साहित्य' के प्रकाशन के पाँच वर्ष पूरे होने पर

जब, हम लोगों ने वर्तमान साहित्य को अलीगढ़ से निकालने का निश्चय किया, तब हम नहीं जानते थे कि हम इसे यहाँ तक ले आएँगे। हमारे इष्ट-मित्र और ख़ैरख़्वाह ने प्रोत्साहन की जगह कहा—'अरे, साहब कितने अंक निकलेंगे? संपादक के हाथ लड़खड़ाते हैं, डेढ़ आदमी एक राष्ट्रीय-पत्रिका कैसे निकालेंगे? चलो, अच्छा है, कुछ दिनों में शौक पूरा हो

जाएगा।' पत्रिका निकालने की घोषणा के बाद दिल्ली के कुछ मित्रों ने कहा—'देखिए साहब, इन 48 स्टार-लेखकों के नाम, पते भेज रहा हूँ, जिनके बिना हिन्दी की कोई पत्रिका सफल नहीं हो सकती।' सुझाव हमें अच्छा नहीं लगा। हमने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि यदि आवश्यकता पड़ेगी तो इन स्टार्स को कष्ट देंगे। हमने ख़ामोशी अख़्तियार कर ली और पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। इस बीच हमें कमलेश्वर ने बहुत मदद की। उन्होंने अपने मित्रों से कहकर लिखवाया और स्वयं भी लिखा। उन 48 नामों में कमलेश्वर का नाम कहीं नहीं था। शुरू के छह महीने में पत्रिका की आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब रही, लगता था कि पत्रिका बंद करनी पड़ेगी। जिन लोगों ने आरंभ में आश्वस्त किया था कि हम सहयोग करेंगे, उन्होंने चुप्पी साध ली। दिल्ली के ख़ेमे से वे भी डरते थे।

जिनपे तकिया था, वही पत्ते हवा देने लगे।

इस बीच अनेक सहृदय मित्रों, रचनाकारों ने सक्रिय सहयोग दिया। श्री राम मेश्राम, श्री मनोज श्रीवास्तव और डा0 बुद्धिनाथ मिश्र ने हमें रचनात्मक-आर्थिक सहयोग दिया।

'वर्तमान साहित्य' परिवार के सदस्य श्री अजय बिसारिया, डा0 राजीवलोचन नाथ शुक्ल, डा0 आशिक़ बालौत, श्री राजीव श्रीवास्तव (मुंबई), डा0 परवेज़ फ़ातिमा, श्री वेद शर्मा (बीकानेर), बिसारत अली, ब्रजेश कुमार के सहयोग के बिना पत्रिका का प्रकाशन-संचालन संभव नहीं था।

जिन रचनाकारों का प्रगतिशील विचारों का प्रचार-प्रसार करने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उनमें यशपाल और राही के बाद उपेक्षित रहे रांगेय राघव पर विशेषांक की योजना बनायी। यह काम सरल नहीं था। उनका प्रकाशित साहित्य भी लुप्त प्राय है। उनकी किताबों की तलाश में हमें कलकत्ते के श्री राम अहलाद चौधरी, सागर के प्रो0 वीरेन्द्र मोहन, अलीगढ़ के डा0 रमेश कुमार तथा भरतपुर के श्री अशोक सक्सेना का सहयोग मिला। प्रकाशन के उपरांत अंक को साहित्य-प्रेमियों ने हाथों-हाथ लिया, सराहा। उसके बाद हमने प्रेमचंद पर एक विशेषांक छापा, उसकी भी कोई प्रति नहीं बची। प्रवासी साहित्य पर महाविशेषांक की योजना बनी। प्रो0 असग़र वजाहत व श्री रहमान मुसव्विर ने पूर्ण मनोयोग से मदद की और इतनी सामग्री एकत्रित हुई कि दो भारी भरकम अंकों में भी पूर्णतः नहीं समा सकी। दुनियाभर में आजकल लिखे जा रहे हिन्दी साहित्य को विविध विधाओं और भाषा-रूपों में देखना सुधी पाठकों को अच्छा लगा। भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की 150वीं वर्षगाँठ पर 'वर्तमान साहित्य' ने न केवल सबसे पहले विशेषांक निकाला, बल्कि पूरे साल लगभग हर अंक में यथेष्ट सामग्री दी।

इसके अतिरिक्त वर्तमान साहित्य ने सुभद्रा कुमारी चौहान, दुष्यंत कुमार, जैनेन्द्र कुमार, प्रकाशचंद्र गुप्त पर केंद्रित अंक प्रकाशित किये और यथासंभव हिन्दी के मूर्धन्य रचनाकारों एवं समाजशास्त्रियों का स्मरण किया। हर साल मार्च का अंक तो स्त्री-लेखन को समर्पित रहता ही है, इस वर्ष अप्रैल में प्रकाशित दलित-साहित्य विशेषांक को भी पाठकों की भरपूर सराहना मिली। साथी लेखकों और सुधी पाठकों का सहयोग हमारे उत्साह को बढ़ाता है, इसके लिए हम उनके शुक्रगुज़ार हैं। भविष्य में भी यह क्रम जारी रहेगा, इसी शुभेच्छा के साथ,

(कुँवरपाल सिंह)

सदस्यों से

पिछले पाँच सालों में क़ीमतों में बेतहाशा वृद्धि हुई है। विवश होकर हमें 'वर्तमान साहित्य' का मूल्य जुलाई-2009 से 18 रुपये से 20 रुपये करना पड़ रहा है।
आशा है पाठकों का और विक्रेताओं का सहयोग पूर्ववत प्राप्त होता रहेगा।

—संपादक

वर्तमान साहित्य

साहित्य, कला और सोच की पत्रिका

र्तमान साहित्य–कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009



वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार-2009 के लिए मौलिक, अप्रकाशित कहानियाँ आमंत्रित हैं। पुरस्कार राशि रु0 11,000=00 है, जो कमलेश्वर जी के परिवार ने इस प्रयोजन हेतु 'वर्तमान साहित्य' को प्रदान की है।

कहानियाँ साफ़ टाइप की हुई हों तथा तीन प्रतियों में हों। कहानी की प्रति पर लेखक का नाम व पता अवश्य हो। 3.कहानी भेजने की अंतिम तिथि 30 ंबर, 2009 है। लिफाफे पर **'वर्तमान साहित्य-कमलेश्वर कहानी पुरस्कार'** अवश्य लिखें।

हानियों का चयन एक निर्णायक-मंडल द्वारा किया जायेगा। चयनित कहानी पर पुरस्कार वरी, 2010 में प्रदान किया जाएगा।

हानियाँ संपादक, वर्तमान साहित्य को निम्नलिखित पते पर भेजें।

संपादक **'वर्तमान साहित्य'**

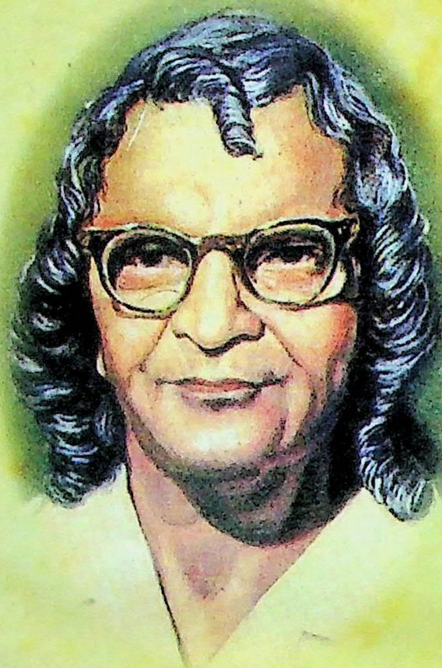
28, एमआईजी, अवन्तिका-I, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001

दूरभाष : 0571-2742038, 94122-72762

ई-मेल से भेजी कहानी प्रतियोगिता में स्वीकार नहीं की जायेगी।

RNI पंजीकरण संख्या 40342/83 डाक पंजीयन संख्या ए.एल.जी./63

सृजन स्मरण



आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अंधकार अज्ञात!

सुमित्रानंदन पंत
(1900 - 1977)





सूचना एवं प्रचार निदेशालय

प्रकाशक, मुद्रक डॉ. नमिता सिंह की ओर से रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-32 से मुद्रित त
28, एम.आई.जी., अवन्तिका-।, रामघाट रोड, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। स्वामित्व : प्रदीप नारायण राय, संपादक : कुँवरपाल


131839